LAKṢAṆĀVALI

dictionary of Jaina philosophical tern

जैन-लक्षणावली

(जैन पारिभाषिक शब्द-कोश)

तृतीय भाग (प्रकरणसमाजाति-ह्रस्व तक)

सम्पादक
बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

वी. नि. सं० २५०५
विक्रम संवत् २०३६
सन् १९७९

मुद्रक
प्रिंट आर्ट प्रेस
नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२
कम्पोजिंग गीता प्रिंटिंग एजेंसी

JAINA LAKṢAṆĀVALI

(An authentic discriptive dictionary of Jaina philosophical ter

EDITED BY

BĀLCHANDRA SIDDHĀNTA SHĀSTRI

VIR SEWA MANDIR

21, Daryaganj, New Delhi-2

४. **स्व० श्री साहू शान्तिप्रसाद जी जैन**—स्व० साहू जी न केवल इस ग्रन्थ की रचना में निरन्तर प्रेरणा, सुझाव व सहायता देते रहे; अपितु "वीर सेवा मन्दिर" के अध्यक्ष के पद पर सदा

सोसायटी के मन-प्राण ही रहे। आर्थिक योगदान "जैन लक्षणावली" के प्रकाशन में मूलरूप से उन्हीं का रहा। यहां तक कि इस अन्तिम भाग के प्रकाशन में भी उनकी प्रेरणा से "भारतीय ज्ञानपीठ ट्रस्ट" से दस हजार रुपये की राशि प्राप्त हुई, जिसके विना कार्य में अवरोध उत्पन्न होना अवश्यम्भावी था।

मेरे पास शब्द नहीं हैं कि मैं इन चार महान् व्यक्तियों का समुचित रूप से आभार प्रकट कर सकूं। 'वीर सेवा मन्दिर' चिरकाल तक इनका हृदय से आभारी रहेगा।

महेन्द्र सेन
महासचिव

नई दिल्ली
७-४-७९

सम्पादकीय

प्रस्तुत जैन लक्षणावली का दूसरा भाग लगभग ५ वर्ष पूर्व (१९७३) में प्रकाशित हुआ था। अब उसका यह अन्तिम तीसरा भाग कुछ विलम्ब से जिज्ञासु पाठकों के हाथों में पहुंच रहा है। इतना लम्बा समय लग जाने का कारण यह है कि सितम्बर १९७४ में मैं अस्वस्थ हो गया था। दिल्ली में अकेले रहते हुए स्वास्थ्यसुधार की आशा कुछ कम रह गई थी। इससे मुझे दिल्ली छोड़कर घर चला जाना पड़ा। इधर प्रस्तुत लक्षणावली के शेष कार्य के कराने की कोई अन्य व्यवस्था नहीं हो सकी। इसके लिए मुझे प्रेरणा की गई। इस सम्बन्ध में मुझे जो स्व. साहू शान्तिप्रसाद जी जैन (अध्यक्ष वीर सेवा मन्दिर) का दि. १८-११-७४ का पत्र मिला, उससे मुझे यह निश्चय करना पड़ा कि स्वास्थ्य के कुछ ठीक होते ही मुझे दिल्ली पहुंच कर जिस किसी भी प्रकार से उसके शेष कार्य को पूरा अवश्य करा देना है। तदनुसार स्वास्थ्य के कुछ ठीक हो जाने पर मैं दि. १३ नवम्बर १९७५ को पुनः दिल्ली पहुंचा और लगभग १० मास वहां रहकर उसके शेष कार्य को सम्पन्न करते हुए उसकी पाण्डुलिपि तैयार करा दी। मुद्रण कार्य में विलम्ब होते देख मैं पुनः घर वापिस चला आया। मुद्रण कार्य के चालू हो जाने पर उसके दूसरे प्रूफों को मैं यहां मंगाकर देखता रहा तथा प्रथम और अन्तिम प्रूफों को वहीं देखकर श्री पं. पद्मचन्द्रजी शास्त्री मुद्रण का कार्य सुचारु रूप से कराते रहे। इस प्रकार से उसके इस अन्तिम भाग का कार्य सम्पन्न हो सका।

इस समय मुझे उन स्व. साहू शान्तिप्रसाद जी का विशेष स्मरण हो रहा है, जिनकी सद्भावना-पूर्ण प्रेरणा से मैं इस कार्य को सम्पन्न करा सका। दुःख इस बात का है कि जिनका इस कार्य के कराने में इतना महत्त्वपूर्ण योगदान रहा वे साहू जी इसे सम्पन्न होता न देख सके और बीच में ही काल-कवलित हो गये।

जैसी कि प्रथम भाग की प्रस्तावना में (पृ. ६९) सूचना की गई थी, इस भाग की प्रस्तावना में शेष ग्रन्थों का परिचय कराना अभीष्ट था, पर स्वास्थ्य की शिथिलता और यहां (हैदराबाद) उन ग्रन्थों की अनुपलभ्यता के कारण उनका परिचय नहीं कराया जा सका।

इस भाग में नयविवरण, रयणसार और वसुदेवहिंडी जैसे २-४ ग्रन्थों को छोड़कर अन्य नये ग्रन्थों का उपयोग नहीं हुआ है। इसी से इस भाग के अन्त में प्रथम और द्वितीय भाग के समान ग्रन्थ और ग्रन्थकारों की अनुक्रमणिका नहीं दी गई है।

आभार—

इस भाग के सम्पादन कार्य में श्री पन्नालाल जी अग्रवाल और पं. परमानन्द जी शास्त्री का सहयोग पूर्ववत् रहा है। बीच में परिस्थिति वश कार्य के कुछ रुक जाने पर उसे पूरा करा देने के सम्बन्ध में अग्रवाल जी के तो मुझे कई प्रेरणात्मक पत्र भी मिले हैं।

स्व. साहू शान्तिप्रसाद जी की सद्भावनापूर्ण प्रेरणा के अतिरिक्त वीर सेवा मन्दिर के उपाध्यक्ष ला. इन्द्रसेन जी, महासचिव श्री महेन्द्रसेन जी और साहित्यसचिव श्री गोकुलप्रसाद जी एम्. ए., साहित्य-रत्न की अत्यधिक प्रेरणा से जो मुझे बल मिला उसके आश्रय से ही मेरे द्वारा यह रुका हुआ कार्य सम्पन्न हो सका है।

श्री प्रकाशचन्द्र जी एम. ए. प्राचार्य समन्तभद्र विद्यालय से पाण्डुलिपि के तैयार करने में सहयोग मिला है।

श्री विद्यावारिधि डा. ज्योतिप्रसाद जी जैन लखनऊ ने हमारे निवेदन पर अंग्रेजो में फोरवर्ड लिख देने की कृपा की है। आपने यह महत्त्वपूर्ण सुझाव भी दिया है कि जो बहुत से लक्ष्य शब्द इस संस्करण में संगृहीत नहीं हो सके हैं उनका संकलन करके परिशिष्ट के रूप में एक पुस्तिका को प्रकाशित कराया जाय, जिसमें जिन शेष ग्रन्थों का परिचय नहीं कराया जा सका है उनके परिचय के साथ ग्रन्थकारों के संशोधित समय आदि के सम्बन्ध में भी प्रकाश डाला जाय। आपका यह सुझाव बहुत उपयोगी है, पर उसके लिये अनुकूल कभी वैसी परिस्थिति निर्मित होगी, इस विषय में अभी कुछ कहा नहीं जा सकता।

श्री पं. पद्मचन्द्र जी शास्त्री एम्. ए. ने पहिले और अन्तिम प्रूफों को देखकर मुद्रण के कार्य में सहायता की है, साथ ही प्रसंगवश यदि कभी किसी ग्रन्थ के सन्दिग्ध स्थलविशेष को देखना पड़ा तो वे उसे यथासम्भव देखकर उसकी सूचना मुझे करते रहे हैं।

श्री सत्यनारायण जी शुक्ला (कंपोजिंग गीता प्रिंटिंग एजेंसी) ने ग्रन्थ के मुद्रण कार्य में काफी रुचि दिखलायी है। यदि कभी संशोधन कार्य कुछ बढ़ भी गया तो इसके लिये उन्होंने कभी विमनस्कता नहीं प्रगट की।

इस प्रकार इन उपर्युक्त सभी महानुभावों के यथायोग्य सहयोग के बल पर ही यह कार्य सम्पन्न हुआ है। अतः मैं इन सभी का हृदय से आभार मानता हूं।

महावीर जयन्ती
१०-४-७६

बालचन्द्र शास्त्री
हैदराबाद

Jainism represents a fully developed, very comprehensive and one of the oldest living religious and cultural systems indigenous to India. It possesses a vast and varied literature of its own, most of the early and basic works being composed in the Prakrit language; supplemented by those in Sanskrit and Apabhramsha. Thanks to the patient and painstaking work done by a number of eminent orientalists, both Indian and Western, during the past two hundred years or so, Jainology has now come to be recognised as a distinct, rich and important branch of Indology or oriental studies. In the Indian, as also in several foreign universities, dozens of scholars have done research work or undertaken specialised studies in various aspects of the Jaina religion, philosophy, culture, tradition, history, art and literature, during the past several decades, and the number is daily on the increase. If no more in its infancy, Jainology is still in its adolescence; there is yet immense scope and new vistas open to those who delve deeper in any of its branches.

Most of the available ancient works, written in different languages have been published. Many of these are well-edited, are often accompanied by vernacular or English translations and commentaries, useful appendices and indices, and usually carry a learned and critical introduction. But all the manuscripts preserved in the numerous Jaina Shastra Bhandars, which are scattered over the country, have not been exhausted, and of the published ones many are such as need be produced in revised, improved and standard editions by specialists in the subjects concerned. The number of independent modern treatises and dissertations is also not small, but some aspects or branches still remain unrepresented or poorly represented.

In order to facilitate the work of the students and researchers of Jainology, what are most needed are the suitable, authentic and up-to-date reference books of different categories, such as, reports of manuscript libraries, catalogues of manuscripts and of published books, comprehensive index of authors and works, classified histories of literature, bibliographies, well-edited collections of Pattavalis (pontifical genealogies), colophons, other historical documents and inscriptions, reports of the survey of Jaina archaeological sites and cultural and pilgrim centres, regionwise and periodwise catalogues of Jaina antiquities, art and architecture, directories, geographical and biographical dictionaries, index of verses of the ancient texts, topical dictionaries, dictionaries of technical terms and a good encyclopaedia Jainica.

Considerable work has been already done in this sphere and we do not now suffer from a lack of reference books, one or more of which are available in all but a few of the categories hinted above. But not all of these books are complete, com-

prehensive, systematic, authentic or of the requisite standard, wherefor much has yet to be done.

In the present context, we are chiefly concerned with the glossaries or the dictionaries of technical terms. Every science, art, skill, profession or department of knowledge possesses its own set of technical terms which have a significance peculiar to that subject, different from their ordinary dictionary meanings or common usages. Naturally, therefore, a well-developed and comprehensive religious, cultural and philosophical system with a long standing tradition as Jainism is, possesses numerous technical terms, related to its metaphysics, ontology, cosmology, mythology, epistemology, psychology, philosophy, diolectics, dogmatics, ethics and ritual. One not knowing the real import of such a term with reference to the context will find great difficulty in grasping the meaning of the text and is likely to misunderstand and misinterpret it.

There are certain terms which are exclusively used in the Jaina system, some others are such as are common to both, the Jaina and non-Jaina systems, but are used in the Jaina in an altogether different sense, or even if the sense is the same or similar, the philosophical concept implied in the term differs materially, and there are also terms which are current in common usage but have been adopted in Jainism and given a peculiar meaning. Moreover, there are certain terms, each conveying more than one sense which differ from context to context, in Jainism itself; and cases are not wanting when the definitions of the same term, given by several ancient writers, differ from one another. Many a time this helps in tracing the development in the meaning of a term and consequently in the concept, philosophical or otherwise, implied by that term. Then there are also some terms the definitions of which have a wider import and are interesting as well as valuable for the cultural, social, economic and even political history of ancient India. Hence the need for compilation of glossaries containing independent definitions and precise explanations of the words and expressions used in the Jaina system with technical and specialised meaning has been imperative.

Happily, it was early realised by the pioneers of the Jaina renaissance in the modern age. As early as 1909, Pt. Gopaldas Baraiya published his glossary, the **Jain Siddhanta Praveshika**, in 1908 J.L. Jaini brought out his **Jaina Gem Dictionary** and in 1925, Bihari Lal Chaitanya's **Jain Shabda Maharnava**, Part I, was published from Barabanki, the second part of which was compiled by Br. Sital Prasad and published from Surat in 1934. In the mean time, Vijaya Rajendra Suri's famous **Abhidhana-Rajendra**, in seven volumes, was published from Ratlam in 1913-34, the **Ardhmagadhi Kosha** of Ratanchandra Shatavadhani from Ajmer-Bombay in 1923-32 and the **Paiya-sadda-mahannavo** of Hargovindadas, T. Shah from Calcutta in 1928. The **Alpa-parichita-saiddhantic-sabda-Kosha**, Part I, of Anandsagar Suri came out from Surat in 1954 and the two excellent topical dictionaries, the **Leshya Kosha** and the **Kriya-Kosha**, by the joint efforts of Mohanlal Banthia and Srichand Chorariya from Calcutta, in 1966 and 1969 respectively. **A Dictionary of Prakrit Proper Names**, Part I (1970) and Part II (1972), has been published by the L.D. Institute of Indology, Ahmedabad, and the four volumes of Jinendra Varni's **Jainendra Siddhanta Kosha**, by the Bharatiya Jnanpith, New Delhi in 1970-73.

All these works have proved very useful for the students of Jainology, and remain so for time to come. But whereas the Abhidhana Rajendra and the Jinendra Siddhanata Kosha aim at being veritable encyclopaedias, the former drawing upon mainly the Shvetambara literature and tradition and the latter upon the Digambara, the other dictionaries are either incomplete, partial, sectarian, or confined to a particular topic or section of literature. The need for a comprehensive, methodical, authentic and precise dictionary giving original definitions, in chronological sequence, of each of the Jaina technical terms, gleaned from a wide range of literature including almost all the ancient Jaina works, both Digambara and Shvetambara, and accepted as basic and authentic, therefore, remained unfilled.

It was the late Pt. Jugal Kishore Mukhtar (1877-1968) who, as early as 1932, conceived the idea of and later chalked out a detailed scheme for the compilation of exactly such a dictionary under the title Jaina Lakshanavali. He was a doyen of learning and an eminent pioneer researcher in the field of Jainology, who devoted the major part of his ninety-one years' life to the service of Jaina literature, and produced many valuable works including critical editions, translations and commentaries of several old texts, a number of scathing critiques, lists of mss., collections of colophons, a valuable index of verses of 64 important Prakrit texts, and historical discussions on most of the ancient authors and their works. In 1936, he founded the Vir Sewa Mandir, started its research journal the Anekant, and began in right earnest, work on his cherished scheme of the Jaina Lakshanavali. For about a year the work went on smoothly, but thereafter laxity crept in and, for several reasons, it was ultimately put off, though not wholly given up. After the Vir Seva Mandir was shifted, in the fifties, from Sarsawa to Delhi and a new registered society was formed to run it, Babu Chhote Lal Jain, its chairman, who had great respect for and interest in the work of Mukhtar Sahib, revived the scheme.

The task of compiling the dictionary was stupendous and required the devoted services of a very mature, experienced and learned scholar, quite at home with the whole range of ancient Jaina literature. Fortunately, the man most suited ,to this undertaking was Pt. Balchandra Shastri who had been associated with this work in its early stages in the late thirties. During the intervening 25 years or so, he had ably assisted in the editing and translating of the Dhavala volumes (VI to XVI), and himself edited and translated about a dozen other important Sanskrit and Prakrit texts. He was, therefore, entrusted, in the early sixties, with the completion and finalisation of the **Jaina Lakshanavali**. He took it as a labour of love. The result was that the first volume saw the light of the day in 1972, the second in 1973, and the present is the third and last volume.

This marvellous dictionary amply illustrates all the characteristics of Jaina technical terms, as indicated above. Each term, its Sanskrit form, carries with it its definitions in the original, with reference to the texts from which they have been gleaned, followed by an illuminating substance in Hindi, which enhances the usefulness of the work. Moreover, volume I also contains a list of the 390 texts used for the purpose. Their approximate chronology, a descriptive account of 102

प्रस्तावना

प्रस्तुत 'जैन लक्षणावली' भाग १ की प्रस्तावना में उस भाग में संग्रहीत लक्ष्य शब्दों में से कुछ के अन्तर्गत विशिष्ट लक्षणों के सम्बन्ध में आलोचनात्मक दृष्टि से 'लक्षण वैशिष्ट्य' शीर्षक में पृ. ७०-८५ में विचार किया गया है। अब यहां भाग २ व ३ में संग्रहीत लक्ष्य-शब्दों में से कुछ चुने हुए लक्ष्य शब्दों के अन्तर्गत विशिष्ट लक्षणों के सम्बन्ध में प्रकाश डाला जा रहा है। यह स्मरण रहे कि विवक्षित लक्ष्य शब्द के अन्तर्गत जितने ग्रन्थों से लक्षणों का संग्रह किया जा सका है उनके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी जो पीछे प्रकृत लक्षण दृष्टिगत हुए हैं, समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करते हुए यहां उन लक्षणों को तथा उनके पूर्वापर सम्बन्ध को भी विचार कोटि में ले लिया गया है।

कपित्थ दोष—इसका लक्षण मूलाचार वृत्ति (७-१७) और प्रवचनसारोद्धार आदि में उपलब्ध होता है। मूलाचार वृत्ति के रचयिता आ. वसुनन्दी और प्रवचनसारोद्धार के निर्माता नेमिचन्द्र हैं। दोनों का समय वि. की १२वीं शती रहा दिखता है। उनमें पूर्वोत्तर समयवर्ती कौन है, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। वसुनन्दी के द्वारा जो उसका लक्षण वहां निबद्ध किया गया है उसमें कहा गया है कि जो कपित्थ (कैंथ) के फल के समान मुट्ठी को बांधकर कायोत्सर्ग से स्थित होता है वह कायोत्सर्ग के इस कपित्थ नामक दोष का भागी होता है।

प्रवचन सारोद्धार (२५९) में उसके विषय में कहा गया है कि जो षट्पदों (मधुमक्खियों) के भय से शरीर को कपित्थ के समान वस्त्र से वेष्टित करके कायोत्सर्ग में स्थित होता है वह प्रकृत कपित्थ दोष का भाजन होता है। इसकी वृत्ति में और योगशास्त्र के स्वो. विवरण में भी मतान्तर को प्रगट करते हुए किंचित् अभिप्रायभेद के साथ यह विशेष निर्देश किया गया है कि मधुमक्खियों के भय से कपित्थ के समान चोलपट्ट से शरीर को ढककर व उसे मुट्ठी में ग्रहण करके अथवा जंघा आदि के मध्य में करके स्थित होना, यह कपित्थदोष का लक्षण है। अन्य आचार्यों के मत का उल्लेख करते हुए यहां यह भी निर्देश किया गया है—इसी प्रकार मुट्ठी को बांधकर स्थित होना, इसे अन्य आचार्य कपित्थ दोष का लक्षण कहते हैं।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में चूंकि प्रायः वस्त्र का विधान है, अतः वहां उसका उक्त प्रकार का लक्षण संगत ही प्रतीत होता है। मूला. वृत्ति और अनगारधर्मामृत में जो लक्षण निर्दिष्ट किया गया है उसका आधार सम्भवतः शीत आदि की वेदना रहा होगा।

पर्व-पर्वांग—ये काल विशेष हैं। इनके विषय में भाग १ की प्रस्तावना पृ. ७१-७२ पर 'अटटांग' शब्द को देखिये।

काङ्क्षा व कांक्षा—यह सम्यग्दर्शन का एक अतिचार है। तत्त्वार्थाधिगमभाष्य (७-१८) में इसके लक्षण का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि इस लोक और पर लोक सम्बन्धी विषयों की इच्छा करना, इसका नाम कांक्षा है। हरिभद्र सूरि और सिद्धसेन गणि विरचित उसकी वृत्तियों में विकल्प रूप में यह भी कहा गया है—अथवा विभिन्न दर्शनों (सम्प्रदायों) को स्वीकार करना, इसे काङ्क्षा कहा जाता है। इसकी पुष्टि में वहां 'तथा चागमः' ऐसा निर्देश करते हुए 'कंखा अण्णण्णदंसणग्गाहो' इस आगमवाक्य को भी उद्धृत किया गया है। यह आगमवाक्य श्रावकप्रज्ञप्ति की ८७वीं गाथा के अन्तर्गत है।

of them, and a very learned introduction, running into 87 pages and yet incomplete, is completed in the present volume. A perusal of the introduction reveals the difficulties and stupendousness of task, the method adopted in the compilation, and the value and importance of the glosses, through a critical discussion of some 25 typical specimens.

This is, no doubt, a monumental work, an authentic reference book, extremely useful not only for the students of Jainology, but also those of Indology and of philosophy, eastern and western, in general, All those associated with the initiation, preparation and publication of the work : Pt. Jugal Kishore Mukhtar, B. Chhote Lal Jain, Sahu Shanti Prasad Jain, the authorities of the Vir Seva Mandir, and Pt. Balchandra Shastri, its very competent editor, deserve our warm thanks. Unfortunately, B. Chhote Lal Jain (died 1966) and Mukhtar Sahib (died 1968) could not live to see it in print, and Sahu Shanti Prasad (died 1977) could have the satisfaction of seeing only the first two volumes published. We gratefully cherish the memory of all these noble servers of the cause of Jainology.

Jyoti Nikunj,
Charbagh, Lucknow-1
24 December, 1978

—Jyoti Prasad Jain

प्रस्तावना

प्रस्तुत 'जैन लक्षणावली' भाग १ की प्रस्तावना में उस भाग में संग्रहीत लक्ष्य शब्दों में से कुछ के अन्तर्गत विशिष्ट लक्षणों के सम्बन्ध में आलोचनात्मक दृष्टि से 'लक्षण वैशिष्ट्य' शीर्षक में पृ. ७०–८५ में विचार किया गया है। अब यहां भाग २ व ३ में संग्रहीत लक्ष्य-शब्दों में से कुछ चुने हुए लक्ष्य शब्दों के अन्तर्गत विशिष्ट लक्षणों के सम्बन्ध में प्रकाश डाला जा रहा है। यह स्मरण रहे कि विवक्षित लक्ष्य शब्द के अन्तर्गत जितने ग्रन्थों से लक्षणों का संग्रह किया जा सका है उनके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी जो पीछे प्रकृत लक्षण दृष्टिगत हुए हैं, समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करते हुए यहां उन लक्षणों को तथा उनके पूर्वापर सम्बन्ध को भी विचार कोटि में ले लिया गया है।

कपित्थ दोष—इसका लक्षण मूलाचार वृत्ति (७-१७) और प्रवचनसारोद्धार आदि में उपलब्ध होता है। मूलाचार वृत्ति के रचयिता आ. वसुनन्दी और प्रवचनसारोद्धार के निर्माता नेमिचन्द्र हैं। दोनों का समय वि. की १२वीं शती रहा दिखता है। उनमें पूर्वोत्तर समयवर्ती कौन है, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। वसुनन्दी के द्वारा जो उसका लक्षण वहां निबद्ध किया गया है उसमें कहा गया है कि जो कपित्थ (कैंथ) के फल के समान मुट्ठी को बांधकर कायोत्सर्ग से स्थित होता है वह कायोत्सर्ग के इस कपित्थ नामक दोष का भागी होता है।

प्रवचन सारोद्धार (२५६) में उसके विषय में कहा गया है कि जो षट्पदों (मधुमक्खियों) के भय से शरीर को कपित्थ के समान वस्त्र से वेष्टित करके कायोत्सर्ग में स्थित होता है वह प्रकृत कपित्थ दोष का भाजन होता है। इसकी वृत्ति में और योगशास्त्र के स्वो. विवरण में भी मतान्तर को प्रगट करते हुए किंचित् अभिप्रायभेद के साथ यह विशेष निर्देश किया गया है कि मधुमक्खियों के भय से कपित्थ के समान चोलपट्ट से शरीर को ढककर व उसे मुट्ठी में ग्रहण करके अथवा जंघा आदि के मध्य में करके स्थित होना, यह कपित्थदोष का लक्षण है। अन्य आचार्यों के मत का उल्लेख करते हुए यहां यह भी निर्देश किया गया है—इसी प्रकार मुट्ठी को बांधकर स्थित होना, इसे अन्य आचार्य कपित्थ दोष का लक्षण कहते हैं।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में चूंकि प्राय: वस्त्र का विधान है, अत: वहां उसका उक्त प्रकार का लक्षण संगत ही प्रतीत होता है। मूला. वृत्ति और अनगारधर्मामृत में जो लक्षण निर्दिष्ट किया गया है उसका आधार सम्भवत: शीत आदि की वेदना रहा होगा।

पर्व-पर्वांग—ये काल विशेष हैं। इनके विषय में भाग १ की प्रस्तावना पृ. ७१-७२ पर 'अटटांग' शब्द को देखिये।

काङ्क्षा व कांक्षा—यह सम्यग्दर्शन का एक अतिचार है। तत्त्वार्थाधिगमभाष्य (७-१८) में इसके लक्षण का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि इस लोक और पर लोक सम्बन्धी विषयों की इच्छा करना, इसका नाम कांक्षा है। हरिभद्र सूरि और सिद्धसेन गणि विरचित उसकी वृत्तियों में विकल्प रूप में यह भी कहा गया है—अथवा विभिन्न दर्शनों (सम्प्रदायों) को स्वीकार करना, इसे काङ्क्षा कहा जाता है। इसकी पुष्टि में वहां 'तथा चागम:' ऐसा निर्देश करते हुए '**कंखा अण्णण्णदंसणग्गाहो**' इस आगमवाक्य को भी उद्धृत किया गया है। यह आगमवाक्य श्रावकप्रज्ञप्ति की ८७वीं गाथा के अन्तर्गत है।

रत्नकरण्डक (१२) में प्रकृत कांक्षा के विपरीत अनाकांक्षा या निःकांक्षित अंग के लक्षण में कहा गया है कि जो सांसारिक सुख कर्म के अधीन, विनश्वर एवं दुख का कारण है उस पाप के बीजभूत सुख में आस्था न रखना—उसकी स्थिरता पर विश्वास न करते हुए अभिलाषा न करना—इसका नाम निः-कांक्षित है। इससे यह फलित हुआ कि ऐसे सांसारिक सुख की इच्छा करना, यह उक्त कांक्षा का लक्षण है। भगवती आराधना की विजयो. टीका (४४) में आसक्ति को कांक्षा कहा गया है। आगे इसे स्पष्ट करते हुए वहां यह कहा गया है कि दर्शन, व्रत, दान, देवपूजा एवं दान से उत्पन्न पुण्य के प्रसाद से मेरे लिए यह कुल, रूप, धन और स्त्री-पुत्रादि अतिशय को प्राप्त हों; इस प्रकार की जो अभिलाषा होती है उसे कांक्षा कहा जाता है। तत्त्वार्थवार्तिक (६, २४, १) में निःकांक्षित अंग के स्वरूप को प्रगट करते हुए कहा गया है कि उभय लोक सम्बन्धी विषयोपभोग की आकांक्षा न रखना अथवा मिथ्या दर्शनान्तरों की अभिलाषा न करना, इसे निःकांक्षित अंग कहा जाता है। तदनुसार उभय लोक सम्बन्धी विषयोपभोग की इच्छा को अथवा मिथ्या दर्शनों के ग्रहण की अभिलाषा को कांक्षा अतिचार समझना चाहिए।

इस प्रकार तत्त्वार्थाधिगम भाष्य में जहां केवल विषयोपभोग की आकांक्षा को कांक्षा का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है वहां उसकी वृत्ति में हरिभद्र सूरि और सिद्धसेन गणि ने इस लोक व परलोक सम्बन्धी विषयों की इच्छा के साथ विकल्प रूप में पूर्वोक्त आगमवचन के अनुसार विभिन्न दर्शनों के ग्रहण की अभिलाषा को भी कांक्षा कहा है। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, उक्त आगम वाक्य श्रावकप्रज्ञप्ति की ८७वीं गाथा के अन्तर्गत उपलब्ध है जो किसी अन्य प्राचीन ग्रन्थ का होना चाहिए।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है तत्त्वार्थवार्तिककार को कांक्षा के लक्षण में विषयोपभोग की इच्छा और दर्शनान्तरों के ग्रहण की इच्छा दोनों ही अभिप्रेत रहे हैं। अमृतचन्द्र सूरि को तत्त्वार्थवार्तिक-कार के समान कांक्षा के लक्षण स्वरूप इस भव में वैभव आदि की अभिलाषा तथा पर भव में चक्रवर्ती आदि पदों की अभिलाषा के साथ एकान्तवाद से दूषित अन्य सम्प्रदायों के ग्रहण की अभिलाषा भी अभीष्ट रही है (पु. सि. २४)। उक्त त. वा. का अनुसरण चारित्रसार (पृ. ३) में भी किया गया है।

उक्त त. भा. को छोड़कर जहां प्रायः अन्य श्वेताम्बर ग्रन्थकारों को कांक्षा से विभिन्न दर्शनों का ग्रहण अभीष्ट रहा है वहां अधिकांश दि. ग्रन्थकारों को उससे विषयोपभोगाकांक्षा अभिप्रेत रही है। श्वे. ग्रन्थों में इसके दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—देशकांक्षा और सर्वकांक्षा। देशकांक्षा से उन्हें बौद्धादि किसी एक ही दर्शन की अभिलाषा अभिप्रेत रही है (देखिए दशवै. नि. १८२ की हरि. वृत्ति, श्रा. प्र. की टीका ८ और धर्मबिन्दु की वृत्ति २-११ आदि)।

गच्छ व गण—धवला (पु. १३, पृ. ६३) के अनुसार तीन पुरुषों के समुदाय का नाम गण और इससे अधिक पुरुषों के समुदाय का नाम गच्छ है। मूलाचार की वृत्ति (४-३२) में तीन पुरुषों के समुदाय को गण और सात पुरुषों के समुदाय को गच्छ कहा गया है। तत्त्वा. भाष्य की सिद्धसेन विर-चित वृत्ति (९-२४) व योगशास्त्र के स्वो. विवरण (४-९०) में एक आचार्य के नेतृत्व में रहने वाले साधुओं के समूह को गच्छ कहा गया है।

सर्वार्थसिद्धि (९-२४), तत्त्वार्थाधिगम भाष्य (९-२४) और तत्त्वार्थवार्तिक (९, २४, ८) आदि के अनुसार स्थविरों की सन्तति को गण कहा जाता है। आवश्यक निर्युक्ति (२११) की हरिभद्र व मलयगिरि विरचित वृत्ति के अनुसार एक वाचना, आचार व क्रिया में स्थित रहने वालों के समुदाय का नाम गण है। औपपातिक सूत्र की अभय. वृत्ति (२०) और योगशास्त्र के स्वो. विवरण (४-९०) में कुलों के समुदाय को गण कहा गया है।

ग्रन्थि—विशेषावश्यक भाष्य (११९३) में ग्रन्थि के लक्षण का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि जिस प्रकार वृक्ष या रस्सी की कठोर व सघन गांठ अतिशय दुर्भेद्य होती है उसी प्रकार जीव का जो कर्मजनित राग-द्वेषरूप परिणाम अतिशय दुर्भेद्य होता है उसे उक्त ग्रन्थि के समान होने से ग्रन्थि कहा गया है। जब तक इस ग्रन्थि को नहीं भेदा जाता है तब तक जीव को सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता।

इस ग्रन्थि का भेदन अपूर्वकरण परिणामों के द्वारा होता है। यथाप्रवृत्तकरण जीव के अनादि काल से प्रवृत्त रहता है। जिस प्रकार नदी में पड़े हुए पत्थरों में से कोई घिसते-घिसते स्वयमेव गोल हो जाता है उसी प्रकार अनादि से प्रवृत्त इस करण में घर्षण-घूर्णन के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्मों की स्थिति में केवल एक कोड़ाकोड़ि को छोड़ शेष समस्त कोड़ाकोड़ियां क्षय को प्राप्त हो जाती हैं। पश्चात् शेष रही उस एक कोड़ाकोड़ि मात्र स्थिति में भी जब पल्योपम का असंख्यातवां भाग और भी क्षीण हो जाता है तब तक पूर्वोक्त ग्रन्थि अभिन्नपूर्व ही रहती है। उसका भेदन अपूर्वकरण परिणाम के द्वारा होता है। अनन्तर अनिवृत्तिकरण के अन्त में जीव को मोक्षपद के कारणभूत उस सम्यक्त्व का लाभ होता है। इस ग्रन्थि का प्रसंग विशेषा. भाष्य (११८८-१२१५) व अन्य भी श्वे. ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। पर वह किसी दि. ग्रन्थ में मुझे दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

तत्त्वार्थवार्तिक (९, १, १३) में यथाप्रवृत्त के समानार्थक 'अथाप्रवृत्त' का निर्देश करते हुए कहा गया है कि जीव कर्मों को अन्तःकोड़ाकोड़ि प्रमाण स्थिति से युक्त करके कालादिलब्धिपूर्वक अथाप्रवृत्त करण के प्रथम समय में प्रविष्ट होता है। यह करण चूंकि पूर्व में उस प्रकार से कभी भी प्रवृत्त नहीं हुआ, अतः उसकी 'अथाप्रवृत्त' यह सार्थक संज्ञा है।

दि. ग्रन्थों में 'षट्खण्डागम' यह एक प्राचीनतम ग्रन्थ है। उसके प्रथम खण्डभूत जीवस्थान की नौ चूलिकाओं में आठवीं चूलिका के द्वारा सम्यक्त्व की उत्पत्ति की प्ररूपणा की गई है (देखिए पु. ६, पृ. २०३ से २६७)। उसके अनुसार पंचेन्द्रिय, संज्ञी, मिथ्यादृष्टि, पर्याप्तक सर्वविशुद्ध जीव जब कर्मों की शेष स्थिति को क्षीण करके उसे संख्यात हजार सागरोपमों से हीन अन्तःकोड़ाकोड़ि प्रमाण कर देता है तब वह प्रथम सम्यक्त्व के उत्पादन में समर्थ होता है (सूत्र १, ९-८, ३-५)। सर्वार्थसिद्धि (२-३) और तत्त्वार्थवार्तिक (२, ३, २) में प्रायः उक्त षट्खण्डागम के सूत्रों का शब्दशः अनुसरण किया गया है। जैसा कि पूर्व में निर्देश किया गया है त. वा. (९, १, १३) में सूचित 'कालादिलब्धि' की विशेष प्ररूपणा यहां की जा चुकी है।

उस समय उसके क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण ये पांच लब्धियां होती हैं। इनमें प्रथम चार लब्धियां तो साधारण हैं—वे भव्य के समान अभव्य के भी हो सकती हैं, किन्तु अन्तिम करणलब्धि सम्यक्त्व के उन्मुख हुए भव्य जीव के ही होती है। इस करणलब्धि में क्रम से अधःप्रवृत्त-करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणों को करते हुए जीव के अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय में प्रथम सम्यक्त्व का लाभ होता है (इन लब्धियों का स्वरूप धवला पु. ६, पृ. २०४-३० पर देखा जा सकता है)।

छेद—आचार्य कुन्दकुन्द ने छेद के अभिप्राय को प्रगट करते हुए प्रवचनसार (३-१६) में कहा है कि शयन, आसन, स्थान और गमनादि कार्यों में जो श्रमण की प्रयत्न से रहित चर्या—असावधानता-पूर्ण प्रवृत्ति—होती है उसका नाम छेद है। यद्यपि मूल गाथा में प्रकृत छेद शब्द का प्रयोग न करके पूर्वोक्त प्रवृत्ति को हिंसा कहा गया है, तो भी उसकी व्याख्या करते हुए अमृतचन्द्र सूरि ने यह स्पष्ट कहा है कि अशुद्ध उपयोग का नाम छेद है, और चूंकि अनाचारपूर्ण प्रवृत्तिरूप मुनि का वह अशुद्ध उपयोग श्रमणधर्म का छेदन करता है—उसका विनाशक है, इसलिए उसे छेद कहना युक्तिसंगत है।

त. सूत्र (९-२२) और स. सि. आदि ग्रन्थों के अनुसार छेद यह नौ प्रकार के अथवा मूलाचार (५-१६५) के अनुसार दस प्रकार के प्रायश्चित्त के अन्तर्गत है। स. सि. में उसके लक्षण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि अपराध के होने पर साधु की दीक्षा को यथायोग्य एक दिन, पक्ष व मास आदि से हीन कर देना, इसका नाम छेद प्रायश्चित्त है। त. वा. और (धवला पु. १३, पृ. ६१) आदि में प्रायः इसी का अनुसरण किया गया है। विशेषरूप से धवला में यह कहा गया है कि दिवस, पक्ष, मास, ऋतु, अयन और संवत्सर आदि प्रमाण दीक्षापर्याय को छेदकर अभीष्ट पर्याय से नीचे की भूमि में स्थापित करना, यह छेद नाम का प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त अपराध करने वाले उस अभिमानी साधु के

रत्नकरण्डक (१२) में प्रकृत कांक्षा के विपरीत अनाकांक्षा या निःकांक्षित अंग के लक्षण में कहा गया है कि जो सांसारिक सुख कर्म के अधीन, विनश्वर एवं दुख का कारण है उस पाप के बीजभूत सुख में आस्था न रखना—उसकी स्थिरता पर विश्वास न करते हुए अभिलाषा न करना—इसका नाम निः-कांक्षित है। इससे यह फलित हुआ कि ऐसे सांसारिक सुख की इच्छा करना, यह उक्त कांक्षा का लक्षण है। भगवती आराधना की विजयो. टीका (४४) में आसक्ति को कांक्षा कहा गया है। आगे इसे स्पष्ट करते हुए वहां यह कहा गया है कि दर्शन, व्रत, दान, देवपूजा एवं दान से उत्पन्न पुण्य के प्रसाद से मेरे लिए यह कुल, रूप, धन और स्त्री-पुत्रादि अतिशय को प्राप्त हों; इस प्रकार की जो अभिलाषा होती है उसे कांक्षा कहा जाता है। तत्त्वार्थवार्तिक (६, २४, १) में निःकांक्षित अंग के स्वरूप को प्रगट करते हुए कहा गया है कि उभय लोक सम्बन्धी विषयोपभोग की आकांक्षा न रखना अथवा मिथ्या दर्शनान्तरों की अभिलाषा न करना, इसे निःकांक्षित अंग कहा जाता है। तदनुसार उभय लोक सम्बन्धी विषयोपभोग की इच्छा को अथवा मिथ्या दर्शनों के ग्रहण को अभिलाषा को कांक्षा अतिचार समझना चाहिए।

इस प्रकार तत्त्वार्थाधिगम भाष्य में जहां केवल विषयोपभोग की आकांक्षा को कांक्षा का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है वहां उसकी वृत्ति में हरिभद्र सूरि और सिद्धसेन गणि ने इस लोक व परलोक सम्बन्धी विषयों की इच्छा के साथ विकल्प रूप में पूर्वोक्त आगमवचन के अनुसार विभिन्न दर्शनों के ग्रहण की अभिलाषा को भी कांक्षा कहा है। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, उक्त आगम वाक्य श्रावकप्रज्ञप्ति की ८७वीं गाथा के अन्तर्गत उपलब्ध है जो किसी अन्य प्राचीन ग्रन्थ का होना चाहिए।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है तत्त्वार्थवार्तिककार को कांक्षा के लक्षण में विषयोपभोग की इच्छा और दर्शनान्तरों के ग्रहण की इच्छा दोनों ही अभिप्रेत रहे हैं। अमृतचन्द्र सूरि को तत्त्वार्थवार्तिक-कार के समान कांक्षा के लक्षण स्वरूप इस भव में वैभव आदि की अभिलाषा तथा पर भव में चक्रवर्ती आदि पदों की अभिलाषा के साथ एकान्तवाद से दूषित अन्य सम्प्रदायों के ग्रहण की अभिलाषा भी अभीष्ट रही है (पु. सि. २४)। उक्त त. वा. का अनुसरण चारित्रसार (पृ. ३) में भी किया गया है।

उक्त त. भा. को छोड़कर जहां प्रायः अन्य श्वेताम्बर ग्रन्थकारों को कांक्षा से विभिन्न दर्शनों का ग्रहण अभीष्ट रहा है वहां अधिकांश दि. ग्रन्थकारों को उससे विषयोपभोगाकांक्षा अभिप्रेत रही है। श्वे. ग्रन्थों में इसके दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—देशकांक्षा और सर्वकांक्षा। देशकांक्षा से उन्हें बौद्धादि किसी एक ही दर्शन की अभिलाषा अभिप्रेत रही है (देखिए दशवै. नि. १८२ की हरि. वृत्ति, श्रा. प्र. की टीका ८ और धर्मबिन्दु की वृत्ति २-११ आदि)।

गच्छ व गण—धवला (पु. १३, पृ. ६३) के अनुसार तीन पुरुषों के समुदाय का नाम गण और इससे अधिक पुरुषों के समुदाय का नाम गच्छ है। मूलाचार की वृत्ति (४-३२) में तीन पुरुषों के समुदाय को गण और सात पुरुषों के समुदाय को गच्छ कहा गया है। तत्त्वा. भाष्य की सिद्धसेन विर-चित वृत्ति (६-२४) व योगशास्त्र के स्वो. विवरण (४-६०) में एक आचार्य के नेतृत्व में रहने वाले साधुओं के समूह को गच्छ कहा गया है।

सर्वार्थसिद्धि (६-२४), तत्त्वार्थाधिगम भाष्य (६-२४) और तत्त्वार्थवार्तिक (६, २४, ८) आदि के अनुसार स्थविरों की सन्तति को गण कहा जाता है। आवश्यक निर्युक्ति (२११) की हरिभद्र व मलयगिरि विरचित वृत्ति के अनुसार एक वाचना, आचार व क्रिया में स्थित रहने वालों के समुदाय का नाम गण है। औपपातिक सूत्र की अभय. वृत्ति (२०) और योगशास्त्र के स्वो. विवरण (४-६०) में कुलों के समुदाय को गण कहा गया है।

ग्रन्थि—विशेषावश्यक भाष्य (११९३) में ग्रन्थि के लक्षण का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि जिस प्रकार वृक्ष या रस्सी की कठोर व सघन गांठ अतिशय दुर्भेद्य होती है उसी प्रकार जीव का जो कर्मजनित राग-द्वेषरूप परिणाम अतिशय दुर्भेद्य होता है उसे उक्त ग्रन्थि के समान होने से ग्रन्थि कहा गया है। जब तक इस ग्रन्थि को नहीं भेदा जाता है तब तक जीव को सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता।

इस ग्रन्थि का भेदन अपूर्वकरण परिणामों के द्वारा होता है। यथाप्रवृत्तकरण जीव के अनादि काल से प्रवृत्त रहता है। जिस प्रकार नदी में पड़े हुए पत्थरों में से कोई घिसते-घिसते स्वयमेव गोल हो जाता है उसी प्रकार अनादि से प्रवृत्त इस करण में घर्षण-घूर्णन के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्मों की स्थिति में केवल एक कोड़ाकोड़ि को छोड़ शेष समस्त कोड़ाकोड़ियां क्षय को प्राप्त हो जाती हैं। पश्चात् शेष रही उस एक कोड़ाकोड़ि मात्र स्थिति में भी जब पल्योपम का असंख्यातवां भाग और भी क्षीण हो जाता है तब तक पूर्वोक्त ग्रन्थि अभिन्नपूर्व ही रहती है। उसका भेदन अपूर्वकरण परिणाम के द्वारा होता है। अनन्तर अनिवृत्तिकरण के अन्त में जीव को मोक्षपद के कारणभूत उस सम्यक्त्व का लाभ होता है। इस ग्रन्थि का प्रसंग विशेषा. भाष्य (११८८-१२१५) व अन्य भी श्वे. ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। पर वह किसी दि. ग्रन्थ में मुझे दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

तत्त्वार्थवार्तिक (९, १, १३) में यथाप्रवृत्त के समानार्थक 'अथाप्रवृत्त' का निर्देश करते हुए कहा गया है कि जीव कर्मों को अन्तःकोड़ाकोड़ि प्रमाण स्थिति से युक्त करके कालादिलब्धिपूर्वक अथाप्रवृत्त करण के प्रथम समय में प्रविष्ट होता है। यह करण चूंकि पूर्व में उस प्रकार से कभी भी प्रवृत्त नहीं हुआ, अतः उसकी 'अथाप्रवृत्त' यह सार्थक संज्ञा है।

दि. ग्रन्थों में 'षट्खण्डागम' यह एक प्राचीनतम ग्रन्थ है। उसके प्रथम खण्डभूत जीवस्थान की नौ चूलिकाओं में आठवीं चूलिका के द्वारा सम्यक्त्व की उत्पत्ति की प्ररूपणा की गई है (देखिए पु. ६, पृ. २०३ से २६७)। उसके अनुसार पंचेन्द्रिय, संज्ञी, मिथ्यादृष्टि, पर्याप्तक सर्वविशुद्ध जीव जब कर्मों की शेष स्थिति को क्षीण करके उसे संख्यात हजार सागरोपमों से हीन अन्तःकोड़ाकोड़ि प्रमाण कर देता है तब वह प्रथम सम्यक्त्व के उत्पादन में समर्थ होता है (सूत्र १, ९-८, ३-५)। सर्वार्थसिद्धि (२-३) और तत्त्वार्थवार्तिक (२, ३, २) में प्रायः उक्त षट्खण्डागम के सूत्रों का शब्दशः अनुसरण किया गया है। जैसा कि पूर्व में निर्देश किया गया है त. वा. (९, १, १३) में सूचित 'कालादिलब्धि' की विशेष प्ररूपणा यहां की जा चुकी है।

उस समय उसके क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण ये पांच लब्धियां होती हैं। इनमें प्रथम चार लब्धियां तो साधारण हैं—वे भव्य के समान अभव्य के भी हो सकती हैं, किन्तु अन्तिम करणलब्धि सम्यक्त्व के उन्मुख हुए भव्य जीव के ही होती है। इस करणलब्धि में क्रम से अधःप्रवृत्त-करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणों को करते हुए जीव के अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय में प्रथम सम्यक्त्व का लाभ होता है (इन लब्धियों का स्वरूप धवला पु. ६, पृ. २०४-३० पर देखा जा सकता है)।

छेद—आचार्य कुन्दकुन्द ने छेद के अभिप्राय को प्रगट करते हुए प्रवचनसार (३-१६) में कहा है कि शयन, आसन, स्थान और गमनादि कार्यों में जो श्रमण की प्रयत्न से रहित चर्या—असावधानता-पूर्ण प्रवृत्ति—होती है उसका नाम छेद है। यद्यपि मूल गाथा में प्रकृत छेद शब्द का प्रयोग न करके पूर्वोक्त प्रवृत्ति को हिंसा कहा गया है, तो भी उसकी व्याख्या करते हुए अमृतचन्द्र सूरि ने यह स्पष्ट कहा है कि अशुद्ध उपयोग का नाम छेद है, और चूंकि अनाचारपूर्ण प्रवृत्तिरूप मुनि का वह अशुद्ध उप-योग श्रमणधर्म का छेदन करता है—उसका विनाशक है, इसलिए उसे छेद कहना युक्तिसंगत है।

त. सूत्र (९-२२) और स. सि. आदि ग्रन्थों के अनुसार छेद यह नौ प्रकार के अथवा मूलाचार (५-१६५) के अनुसार दस प्रकार के प्रायश्चित्त के अन्तर्गत है। स. सि. में उसके लक्षण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि अपराध के होने पर साधु की दीक्षा को यथायोग्य एक दिन, पक्ष व मास आदि से हीन कर देना, इसका नाम छेद प्रायश्चित्त है। त. वा. और (धवला पु. १३, पृ. ६१) आदि में प्रायः इसी का अनुसरण किया गया है। विशेषरूप से धवला में यह कहा गया है कि दिवस, पक्ष, मास, ऋतु, अयन और संवत्सर आदि प्रमाण दीक्षापर्याय को छेदकर अभीष्ट पर्याय से नीचे की भूमि में स्थापित करना, यह छेद नाम का प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त अपराध करने वाले उस अभिमानी साधु के

र्तक कर्म को त्रसनामकर्म कहा गया है। यहां भी त्रसभाव का कोई असाधारण लक्षण नहीं प्रगट किया गया। पर त. सू. की पूर्वोक्त स. सि. (८-११) आदि व्याख्याओं में त्रसनामकर्म उसे कहा गया है जिसके कि उदय से प्राणी का जन्म द्वीन्द्रिय आदि जीवों में होता है।

त. भा. की हरिभद्र विरचित वृत्ति (२-१२) में 'त्रस्यन्तीति त्रसाः' ऐसी निरुक्ति करते हुए त्रस नामकर्म के उदय से परिस्पन्दन आदि से युक्त जीवों को त्रस कहा गया है। आगे उसी त. भाष्य की हरिभद्र व सिद्धसेन विरचित वृत्ति (८-१२) में 'त्रस्यन्तीति त्रसाः' इस प्रकार की निरुक्ति के साथ द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय लक्षण प्राणियों को त्रस कहा गया है। कारण का निर्देश करते हुए वहां यह भी कहा गया है कि क्योंकि उस (त्रस) कर्म के उदय से उपर्युक्त प्राणियों में परिस्पन्दन देखा जाता है। जिस कर्म के उदय से गमनादि क्रिया रूप उस प्रकार की विशेषता होती है वह त्रसभाव का निर्वर्तक त्रसनामकर्म कहलाता है। श्रावकप्रज्ञप्ति की टीका (२२) में भी यही निर्देश किया गया है कि जिसके उदय से चलन वा स्पन्दन होता है वह त्रसनामकर्म कहलाता है। दशवैकालिक की चूर्णि में (४-१, पृ. १३६) 'तसंतीति तसा' ऐसी निरुक्ति मात्र की गई है। सूत्रकृतांग की शीलांक वृत्ति (२, ६, ४, पृ. १४०) में भी लगभग पूर्वोक्त अभिप्राय को ही व्यक्त किया गया है।

दशवैकालिक सूत्र (४-१, पृ. १३६) में छठे जीवनिकायस्वरूप त्रस जीवों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदिम, सम्मूर्च्छिम, उद्भिज और औपपातिक जीवों का निर्देश किया गया है। आगे वहां कहा गया है कि जिन किन्हीं त्रस प्राणियों का ज्ञान उनके अभिमुख गमन, प्रतिकूल गमन, संकोचन, प्रसारण, रुत (शब्द), भंत (भ्रमण), पीड़ित होकर पलायन एवं गमनागमन से होता है। साथ ही यह भी कहा गया है कि कीट-पतंग, कुन्थु, पिपीलिका, सब दो इन्द्रिय, सब तीन इन्द्रिय, सब चार इन्द्रिय, सब पंचेन्द्रिय ये सब तिर्यंच; सब नारक, सब मनुष्य, सब देव और परमाधार्मिक प्राणी; इस छठे निकाय को त्रसकाय कहा जाता है। जीवाभिगम की वृत्ति (६) में कहा गया है कि जो जीव उष्ण आदि की वेदना से सन्तप्त होकर विवक्षित स्थान से छाया आदि के आसेवनार्थ अन्य स्थान को प्राप्त होते हैं वे त्रस कहलाते हैं। आगे इसे और भी स्पष्ट करते हुए विशेष रूप से यह निर्देश किया गया है कि (त्रसन्ति···इति त्रसाः) इस व्युत्पत्ति से त्रसनामकर्म के उदय के वशवर्ती जीवों को ही त्रस जानना चाहिए, शेष जीवों को त्रसरूप में नहीं ग्रहण करना चाहिए।

इस प्रकार दशवैकालिक सूत्र में कुछ त्रस जीवों का नामोल्लेख करते हुए उनका परिज्ञान गमनागमनादि क्रियाओं से कराया गया है। श्वे. मान्य तत्त्वार्थसूत्र (२, १३-१४) में पृथिवी, जल और वनस्पति जीवों को स्थावर बतलाते हुए तेज, वायु और द्वीन्द्रिय जीवों को त्रस कहा गया है। यहां तेज और वायु जीवों का निर्देश जो त्रस जीवों के अन्तर्गत किया गया है वह सम्भवतः क्रिया के आश्रय से किया गया है, न कि त्रसनामकर्म के उदय के आश्रय से। कारण यह कि उक्त दोनों प्रकार के जीवों के त्रसनामकर्म का उदय न रहकर स्थावरनामकर्म का ही उदय रहता है। यही कारण प्रतीत होता है जो उसकी व्याख्या में सिद्धसेन गणि ने क्रिया के आश्रय से तेज और वायु जीवों को त्रस बतलाते हुए लब्धि से स्थावरनामकर्म के उदय के वशीभुत होने से उन्हें भी उक्त पृथिवी आदि के साथ स्थावर बतलाया है। अन्यथा, पूर्वोक्त सूत्रकृतांग और स्थानांग की वृत्तियों में द्वीन्द्रियादि जीवों को ही त्रस बतलाना असंगत ठहरेगा।

दि. मान्य त. सू. (२, १३-१४) के पाठ के अनुसार पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति इनको स्थावर और द्वीन्द्रिय आदि जीवों को त्रस कहा गया है। यहां त्रसनाम के अन्तर्गत ग्रन्थों का सन्दर्भ भी द्रष्टव्य है।

दर्शन—दर्शन शब्द से यहां उपयोगविशेष विवक्षित है। सन्मतिसूत्र (२-१), त. भा. की हरिभद्र विरचित वृत्ति (२-६), अनुयोगद्वार की हरिभद्र विरचित वृत्ति (पृ. १०३), पंचास्तिकाय की अमृत-

चन्द्र विरचित वृत्ति (४१), अमितगति विरचित पंचसंग्रह (१-२४९), स्थानांग की अभयदेव विरचित वृत्ति (२-१०५) औपपातिक की अभयदेव विरचित वृत्ति (१०, पृ. १५), आवश्यक निर्युक्ति की मलयगिरि विरचित वृत्ति (पृ. २७७ व पृ. ५९८ निर्युक्ति १०५१ की वृत्ति), प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति (१२४९) और जीवाभिगम की मलय. वृत्ति (१-१३, पृ. १८) आदि ग्रन्थों में प्रकृत दर्शन का लक्षण सामान्यग्रहण निर्दिष्ट किया गया है।

तत्त्वार्थवार्तिक (२, ९, १), महापुराण (२४, १०१-२), अष्टसहस्री (१५, पृ. १३२), त. भा. की सिद्धसेन विरचित वृत्ति (२-९), तत्त्वार्थसार (२-१२), सन्मतिसूत्र वृत्ति (२-१, पृ. ४५८), स्याद्वादरत्नाकर (२-१०), मोक्षपंचाशिका (३) और प्रतिष्ठासार (२-९०) में उक्त दर्शन का लक्षण अनाकार या निराकार कहा गया है।

उक्त तत्त्वार्थवार्तिक में आगे (९, ७, ११) तथा पूर्वनिर्दिष्ट तत्त्वार्थसार में भी आगे (२-८६) दर्शनावरण के क्षयोपशम से प्रादुर्भूत आलोचन को दर्शन कहा गया है।

ललितविस्तरा में (पृ. ६३) इस दर्शन के स्वरूप का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि सामान्य को प्रधान और विशेष को गौण करके जो पदार्थ का ग्रहण होता है उसे दर्शन कहा जाता है।

प्रकृत दर्शन का विचार आ. वीरसेन के द्वारा धवला टीका में यथाप्रसंग अनेक स्थलों में शंका-समाधानपूर्वक विस्तार से किया गया है। यथा— पु. १, पृ. १४५ पर 'दृश्यते अनेनेति दर्शनम्' इस निरुक्ति के साथ जिसके द्वारा देखा जाता है उसे दर्शन कहा गया है। इस सामान्य लक्षण के निर्देश से नेत्र व प्रकाश में जो अतिव्याप्ति का प्रसंग प्राप्त था उसका निराकरण करते हुए वहीं पर आगे अन्तर्मुख चित्प्रकाश को दर्शन कहा गया है। इसी पुस्तक में आगे (पृ. १४७) अनेक शंका-समाधानपूर्वक सामान्य-विशेषात्मक आत्मा के स्वरूप के ग्रहण को दर्शन सिद्ध किया गया है। ऐसी स्थिति में "जं सामण्णं गहणं तं दंसणं" इस आगमवचन के साथ जो विरोध की सम्भावना थी उसका निराकरण करते हुए उसका समन्वय किया गया गया है। वह सम्पूर्ण आगमवचन इस प्रकार है—

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसिऊण अत्थे दंसणमिति भण्णदे समए॥[1]

इसके साथ समन्वय करते हुए वहां यह कहा गया है कि 'सामान्य' शब्द से यहां समस्त बाह्य पदार्थों में साधारण होने से आत्मा को ग्रहण किया गया है। उक्त गाथा की व्याख्या करते हुए वहीं यह सूचित किया गया है कि गाथागत 'भाव' शब्द से बाह्य अर्थ विवक्षित हैं। उन बाह्य अर्थों के प्रतिकर्मव्यवस्थारूप आकार को ग्रहण न करके तथा 'यह अमुक पदार्थ है' इस प्रकार से पदार्थों की विशेषता को न करके जो सामान्य का—सामान्य-विशेषात्मक आत्मस्वरूप का—ग्रहण होता है उसे आगम में दर्शन कहा गया है। आगे यहीं पर (पृ. १४८) विकल्प रूप में आलोकनवृत्ति को दर्शन कहते हुए उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है—'आलोकते इति आलोकनम्' इस निरुक्ति के अनुसार आलोकन का अर्थ आत्मा और वृत्ति का अर्थ वर्तन है। तदनुसार आलोकन की वृत्ति को—स्वात्मसंवेदन को—दर्शन समझना चाहिए।

आगे यहां (पृ. १४९) प्रकारान्तर से प्रकाशवृत्ति को दर्शन कहते हुए प्रकाश का अर्थ ज्ञान किया गया है। तदनुसार उस प्रकाश के निमित्त आत्मा की जो प्रवृत्ति होती है उसे दर्शन कहा गया है जो विषय और विषयी के सम्पात से पूर्व की अवस्थारूप है। इसी पुस्तक में आगे (पृ. ३८४-८५) पुनः स्वरूपसंवेदन को दर्शन स्वीकार करने की प्रेरणा करते हुए अपने से भिन्न वस्तु के परिच्छेद को ज्ञान और अपने से अभिन्न वस्तु के परिच्छेद को दर्शन कहा गया है। इस प्रकार से ज्ञान और दर्शन में भेद भी प्रगट कर दिया गया है।

---

१. यह गाथा अनुयोगद्वार की हरिभद्र विरचित वृत्ति (पृ. १०३) में उद्धृत है।

प्रकृत धवला में ही आगे (पु. ६, पृ. ६) में पुनः आत्मविषयक उपयोग को दर्शन बतलाते हुए ज्ञान के बाह्य पदार्थविषयक होने से इसकी भिन्नता भी प्रगट कर दी गई है। इसी पुस्तक में आगे (पु. ६, ३२-३३) ज्ञानोत्पादक प्रयत्न से अनुगत आत्मसंवेदन को दर्शन कहा है, जिसका अभिप्राय आत्मविषयक उपयोग ही रहा है। इस प्रकार से विचार करते हुए यहां (पृ. ३४) आत्मा को समस्त पदार्थों में साधारण होने से सामान्य सिद्ध करके तद्विषयक उपयोग को ही दर्शन कहा है। इससे ज्ञान और दर्शन में यह भेद भी प्रगट हो जाता है कि ज्ञान जहां बाह्य पदार्थों को विषय करता है वहां दर्शन अन्तरंग (आत्मा) को विषय करता है।

पूर्व में (पु. १, पृ. १४६) प्रकाशवृत्ति को दर्शन कहा जा चुका है। उसे पु. ७ (पृ. ७) में पुनः दोहराया गया है। पूर्व पु. १ (पृ. १४७) के समान इस पुस्तक (७, पृ. १००) में भी 'सामान्य' शब्द को आत्मार्थक बतलाते हुए पूर्वोक्त 'जं सामण्णग्गहणं' आदि आगमवाक्य के साथ प्रसंगप्राप्त विरोध का परिहार करके उसके साथ समन्वय प्रगट किया गया है।

प्रकृत धवला में ही आगे (पु. १३, पृ. २०७) अनाकार उपयोग को दर्शन बतलाते हुए आकार का अर्थ कर्म-कर्तृभाव प्रगट किया गया है और यह निर्देश किया गया है कि इस आकार के साथ जो उपयोग रहता है उसे साकार उपयोग (ज्ञान) कहा जाता है। इस साकार उपयोग से भिन्न—अनाकार उपयोग—दर्शन कहलाता है। यहीं पर आगे (पु. १३, पृ. २१६) विषय और विषयी के सन्निपातरूप ज्ञानोत्पत्ति से पूर्व की अवस्था को दर्शन कहते हुए उसका काल अन्तर्मुहूर्त निर्दिष्ट किया गया है आगे पु. १५ (पृ. ६) में भी यह निर्देश किया गया है कि बाह्य अर्थ से सम्बद्ध आत्मस्वरूप के संवेदन का नाम दर्शन है।

दिव्यध्वनि—इस दिव्य वाणी की विशेषता को प्रगट करते हुए आ. समन्तभद्र ने उसे सर्वभाषास्वभाववाली कहा है। वे अपने स्वयम्भूस्तोत्र में (९६) अर जिनकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे भगवन्! समस्त भाषाओं के स्वभाव से परिणत होने वाली आपकी दिव्यवाणी समवसरण सभा में व्याप्त होकर प्राणियों को अमृत के समान प्रसन्न व सुखी करती है। उक्त स्वामी समन्तभद्र ने उसकी अलौकिकता को दिखलाते हुए अन्यत्र (रत्नकरण्डक ८) भी यह कहा है—जिस प्रकार वादक के हाथ के स्पर्श से ध्वनि करता हुआ मृदंग बिना किसी प्रकार के स्वार्थ या अनुराग के ही श्रोताजनों को मुग्ध किया करता है उसी प्रकार वीतराग सर्वज्ञ प्रभु आत्मप्रयोजन और जनानुराग के बिना ही अपनी दिव्यवाणी के द्वारा सत्पुरुषों को हित का उपदेश किया करते हैं।

तिलोयपण्णत्ती (१-७४) में अर्थकर्ता के प्रसंग में कहा गया है कि छद्मस्थ अवस्था से सम्बद्ध मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययरूप ज्ञान के विनष्ट हो जाने तथा अनन्तज्ञान (केवलज्ञान) के उत्पन्न हो जाने पर अरहंत की जो दिव्यध्वनि—अलौकिक वाणी—निकलती है वह नौ प्रकार के पदार्थों के रहस्य को सूत्र के रूप में निरूपण करती है। प्रकृत तिलोयपण्णत्ती में ही आगे (४, ९०१-५) केवलज्ञान के साथ प्रगट होने वाले ग्यारह अतिशयों का निरूपण करते हुए कहा गया है कि अरहंत देव अक्षर-अनक्षरस्वरूप अठारह महाभाषाओं और सात सौ क्षुद्र भाषाओं में तालु, दांत, ओष्ठ और कण्ठ के व्यापार से रहित होते हुए जिस दिव्य भाषा के द्वारा भव्य जीवों को उपदेश करते हैं वह दिव्यध्वनि के नाम से प्रसिद्ध है। स्वभावतः स्खलन से रहित वह दिव्य वाणी तीनों सन्ध्याकालों में नौ मुहूर्त निकलती है जो एक योजन तक फैलती है। गणधर, इन्द्र और चक्रवर्ती के प्रश्न के अनुसार वह दिव्यध्वनि उक्त तीन सन्ध्याकालों के अतिरिक्त अन्य समयों में भी सात भंगों के आश्रय से अर्थ का व्याख्यान करती है।

धवला (पु. १, पृ. ६४) में भी तिलोयपण्णत्ती के ही समान अभिप्राय प्रगट करते हुए वहां जो गाथा उद्धृत की गई है वह तिलोयपण्णत्ती की उस गाथा (१-७४) से प्रायः मिलती-जुलती ही है। इस धवला के निर्माता आ. वीरसेन उस दिव्यध्वनि के स्वरूप को प्रगट करते हुए जयधवला (१, १२६) में कहते हैं कि समस्त भाषास्वरूप वह दिव्यध्वनि अक्षर-अनक्षरात्मक होती हुई अनन्त अर्थ से गर्भित बीज पदों के द्वारा तीनों सन्ध्याकालों में छह घड़ी निरन्तर प्रवर्तमान होकर अर्थ का निरूपण करती है।

इसके अतिरिक्त संशय, विपर्यय व अनध्यवसाय को प्राप्त गणधर को लक्ष्य कर अन्य समय में भी प्रवृत्त होती है। विशद स्वरूप वाली वह दिव्य वाणी शंकर-व्यतिकर दोष से रहित उन्नीस धर्मकथाओं का निरूपण करती है।

भक्तामर स्तोत्र (३५) में उक्त दिव्यध्वनि की विशेषता को प्रगट करते हुए कहा गया है कि वह जिनेन्द्र की अनुपम वाणी स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त कराने वाले मार्ग के खोजने में कुशल होकर तीनों लोकों के प्राणियों को समीचीन धर्म का निरूपण करती है। विशद अर्थ की प्ररूपक उस वाणी का गुण समस्त भाषाओं में परिणत होने का है। भक्तामर का यह कथन पूर्वोक्त स्वयंभूस्तोत्र से प्रभावित रहा प्रतीत होता है।

हरिवंशपुराण (५८-९) में इस अनुपम जिनवाणी को मधुर, स्निग्ध, गम्भीर, दिव्य, उदात्त एवं स्पष्ट अक्षरस्वरूप निर्दिष्ट किया गया है। जीवन्धरचम्पू (६-१९) में इस दिव्य भाषा को समस्त वचन-भेदों की अकारक कहा गया है।

जिनेन्द्र का उपदेश अर्धमागधी भाषा में होता है। निशीथचूर्णि के अनुसार आधे मगध देश से सम्बद्ध भाषा को अर्धमागधी कहा जाता है, अथवा अठारह देशी भाषाओं में नियत भाषा अर्धमागधी कहलाती है। समवायांग की अभयदेव विरचित वृत्ति (३४, पृ. ५९) के अनुसार प्राकृत आदि छह भाषा-भेदों में मागधी नाम की भाषा है। (यह सम्भवतः समस्त मगध देश की भाषा रही होगी)। र के स्थान में ल और श, ष एवं स इन तीनों के स्थान में एक मात्र स; इत्यादि व्याकरण नियमों से युक्त वह मागधी भाषा अपने समस्त नियमों का आश्रय न लेने से अर्धमागधी कही जाती है।

धर्म—आ. कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार (१, ७-८) में चारित्र को धर्म कहा है जो समस्वरूप है। इस सम को उन्होंने मोह (दर्शनमोह) और क्षोभ (चारित्रमोह) से रहित आत्मपरिणति बतलाया है। आगे उन्होंने 'जो द्रव्य जिस रूप से परिणत होता है वह उस काल में तन्मय कहा जाता है' इस नियम के अनुसार धर्मस्वरूप से परिणत आत्मा को धर्म कहा है। यहीं पर आगे (१-११) उन्होंने यह भी कहा है कि इस प्रकार के धर्म से परिणत आत्मा यदि शुद्धोपयोग से सहित होता है तो वह निर्वाणसुख को प्राप्त करता है और यदि शुभोपयोग से संयुक्त होता है तो फिर स्वर्गसुख को प्राप्त करता है। उक्त कुन्द-कुन्दाचार्य ने सागार और निरागार के भेद से संयमचरण को दो प्रकार का बतलाकर (चा. प्रा. २१) उनमें सागार संयमचरण को श्रावकधर्म और शुद्ध (निरागार) संयमचरण को यतिधर्म कहा है (चा. प्रा. २७)। उक्त आ. कुन्दकुन्द ने भावप्राभृत (८३-८५) में भी प्रवचनसार के समान पुनः मोह और क्षोभ से रहित आत्मा के परिणाम को धर्म कहा है। यहां इतना विशेष कहा गया है कि व्रत सहित पूजा आदि में जो प्रवृत्ति होती है उससे उपार्जित पुण्य भोग का कारण होता है, कर्मक्षय का कारण वह नहीं होता। मोक्ष का कारण तो वह आत्मा है जो समस्त दोषों से रहित होता हुआ रागादि में निरत न होकर आत्मा में ही रत होता है। ऐसे आत्मा को ही यहां धर्म कहा गया है। इन्हीं आ. कुन्दकुन्द ने बोधप्राभृत (२४) में दया से विशुद्ध आचरण को भी धर्म कहा है। पूर्वोक्त प्रवचनसार (३, ४५-५४) में आ. कुन्दकुन्द ने श्रमणों को शुद्धोपयोग और शुभोपयोग इन दोनों से युक्त बतलाते हुए अरहन्तादि में जो भक्ति और प्रवचनाभियुक्तों में जो वात्सल्यभाव होता है उसे शुभोपयोगयुक्त चर्या बतलाया है। आचार्य आदि को आते देखकर वन्दना व नमस्कार के साथ उठकर खड़े हो जाना, पीछे-पीछे चलना और श्रमणों के श्रम को पादमर्दनादि के द्वारा दूर करना; इस सबको यहां सराग चारित्र में निन्द्य नहीं कहा गया, अतः उसे उपादेय ही समझना चाहिए। इतना यहां विशेष कहा गया है कि वैयावृत्त्य में उद्यत होकर श्रमण यदि प्राणियों को पीड़ा पहुंचाता है तो वह श्रमण नहीं रहता, किन्तु गृहस्थ हो जाता है; क्योंकि वह श्रावकों का धर्म है। श्रमणों की अथवा गृहस्थों की इस प्रशस्तभूत चर्या को यहां 'पर (उत्कृष्ट)' कहा गया है, कारण यह कि उससे साक्षात् अथवा परम्परा से मोक्षसुख प्राप्त होता है। आगे उन्होंने यहां (३-६०) यह भी स्पष्ट कह दिया है कि अशुभोपयोग से रहित होकर जो शुद्धोपयोग अथवा शुभोपयोग से युक्त होते

हैं वे लोक का कल्याण करते हैं। उनकी भक्ति करने वाला प्रशस्त (पुण्य) को प्राप्त करता है।

इस प्रकार आ. कुन्दकुन्द के उपर्युक्त विवेचन को देखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वे व्यवहार धर्म के सर्वथा विरुद्ध नहीं रहे। उनकी दृष्टि में जो शुद्धोपयोग की भूमिका पर आरूढ़ होने में असमर्थ हैं वे उसके ऊपर आरूढ़ होने की उत्कट अभिलाषा रखते हुए शुभोपयोगी होकर सम्यग्दर्शन के साथ उस व्यवहार धर्म का भी आचरण कर सकते हैं जो परम्परया मोक्षसुख का साधक है। इसी अभिप्राय को हृदयंगम करते हुए अमृतचन्द्र सूरि ने भी समयसारकलश (६) में प्राक्पदवी में—शुद्धोपयोग से पूर्व की शुभोपयोगरूप भूमिका में—व्यवहारनय को भी सहारा देने वाला बतलाया है। यह अवश्य है कि शुद्धोपयोग की उपेक्षा कर जो शुभोपयोग में ही निमग्न रहना चाहता है वह परम्परा से भी मोक्षसुख को प्राप्त नहीं कर सकता।

रत्नकरण्डक (३), धवला टीका (पु. ८, पृ. ९२) और तत्त्वानुशासन (५१) में जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को जो धर्म कहा गया है वह प्रवचनसार (१-७) का ही अनुसरण है। तत्त्वानुशासन (५१) में तो उक्त रत्नकरण्डक के श्लोक ३ के पूर्वार्द्ध को जैसा का तैसा आत्मसात् किया गया है।

विमलसूरि ने अपने पउमचरिउ (२६-३४) में मुनिजन के द्वारा निर्दिष्ट जीवदया और कषायों के निग्रह को धर्म बतलाते हुए यह भी कहा है कि इन प्रवृत्तियों में रत हुआ प्राणी सघन कर्मबन्ध से छूटता है—मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

दशवैकालिक (१-१), सर्वार्थसिद्धि (६-१३ व ९-७) तत्त्वार्थवार्तिक (६, १३, ५) और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (६-१३) आदि में धर्म का लक्षण अहिंसा कहा गया है। स. सि. (९-२) और त. वा. (९, २, ३) आदि में 'इष्टस्थाने धत्ते इति धर्मः' इस निरुक्ति के साथ यह कहा गया है कि जो जीवों को इष्ट स्थान (मोक्ष) को प्राप्त कराता है उसे धर्म कहते हैं। यहां त. वा. में 'इष्ट स्थान' को स्पष्ट करते हुए स. सि. से इतना विशेष कहा गया है कि जो आत्मा को चक्रवर्ती, देवेन्द्र और मुनीन्द्र आदि के पद को प्राप्त कराता है उसका नाम धर्म है। इस निरुक्ति में पूर्वोक्त रत्नक. (२) का अनुसरण किया गया प्रतीत होता है। आगे रत्नक. (३) में धर्म को सम्यग्दर्शनादि स्वरूप बतलाकर सम्यग्दर्शन के माहात्म्य को दिखलाते हुए उसे इन्द्रादि पदों का प्रापक भी कहा गया है (४१)। उक्त त. वा. (९, २, ३) का अनुसरण करते हुए चारित्रसार (पृ. २) में नरेन्द्र (चक्रवर्ती) पदादि के साथ 'मुक्तिस्थान' को भी ग्रहण कर लिया है जो त. वा. में नहीं है। त. वा. (९, ७, १२) में अनुप्रेक्षा के प्रसंग में धर्म के लक्षण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि जीवस्थान और गुणस्थान इनके स्वतत्त्व का गति-इन्द्रियादि मार्गणास्थानों में जो विचार किया जाता है वह धर्म का लक्षण है। इस प्रकार के लक्षणयुक्त धर्म को भगवान् अरहन्त ने मोक्ष का हेतु कहा है। इसका अनुसरण त. श्लो. वा. (९-७) और चा. सा. (पृ. ८९) में भी किया गया है।

दशवै. चूर्णि में (पृ. १५) धर्म के लक्षण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि जो नारक, तिर्यंच, कुमानुष और कुदेव पर्यायों में पड़ते हुए जीव का उनसे उद्धार करता है वह धर्म कहलाता है। रत्नक. (२) में निर्दिष्ट धर्म के लक्षण से इसके अभिप्राय में बहुत कुछ समानता है। इस कथन की पुष्टि वहां (द. चूर्णि) किसी प्राचीन ग्रन्थगत एक श्लोक को उद्धृत करते हुए उसके द्वारा की गई है। ललितविस्तरा (पृ. ९०), स्थानांग की अभयदेव विरचित वृत्ति (१-४०, पृ. २१) और आव. निर्युक्ति की मलयगिरि विरचित वृत्ति (पृ. ५९२) में भी उक्त श्लोक को उद्धृत करते हुए उसी अभिप्राय को व्यक्त किया गया है। ललितविस्तरा में उसके पूर्व (पृ. १६) धर्म को सम्यग्दर्शनादि स्वरूप तथा दान, शील एवं तपोभावनारूप भी बतलाते हुए उसे आस्रव से सहित और उनसे रहित भी निर्दिष्ट किया गया है।

इस प्रकार विविध ग्रन्थकारों ने अपनी रुचि के अनुसार प्रकृत धर्म को प्रायः अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थों

का अनुसरण करते हुए कहीं मैत्री आदि भावनाओं स्वरूप, कहीं अभ्युदय व निश्रेयस का साधक, कहीं उत्तमक्षमादिरूप, कहीं श्रुत-चारित्रस्वरूप, कहीं दयाप्रधान और कहीं वस्तुस्वभावरूप कहा है।

नय—यह जैनागम का एक दृढ़तम आधार रहा है। विविध ग्रन्थों में इसके स्वरूप का विचार अनेक प्रकार से किया गया है व उपयोगिता भी उसकी अत्यधिक प्रगट की गई है। यथा—स्वयम्भूस्तोत्र (५२) में श्रेयान् जिनकी स्तुति करते हुए आ. समन्तभद्र ने कहा है—प्रतिषेधसापेक्ष विधि प्रमाण है। उक्त विधि व प्रतिषेध में एक प्रधान व दूसरा गौण हुआ करता है। उनमें जो मुख्य का नियमन करता है उसे नय कहा जाता है। इसी स्तुति में आगे (६५) यह भी कहा गया है कि 'स्यात्' पद से चिह्नित वे नय यथार्थ होते हुए इस प्रकार अभीष्ट गुणवाले हैं जिस प्रकार कि रसायन से अनुविद्ध लोह धातु प्रयोक्ता को अभीष्ट गुणवाली हुआ करती है। इसके पूर्व प्रकृत स्तुति में ही (६१) उसकी उपयोगिता और अनुपयोगिता को प्रगट करते हुए यह भी सूचित कर दिया गया है कि ये द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय तभी स्व-पर के लिए उपकारक होते हैं जब वे परस्पर सापेक्ष हुआ करते हैं। इसके विपरीत—परस्पर की अपेक्षा के बिना—वे यथार्थता से दूर रहते हुए स्व-पर के घातक ही हुआ करते हैं। उक्त समन्तभद्राचार्य ने अपनी आप्तमीमांसा (१०६) में हेतुपरक नय के स्वरूप को दिखलाते हुए कहा है कि साध्य का सधर्मा होने से जो बिना किसी प्रकार के विरोध के स्याद्वादस्वरूप नीति से विभक्त अर्थविशेष (साध्य) का व्यंजक होता है वह नय कहलाता है। लगभग इसी अभिप्राय को प्रगट करते हुए सर्वार्थसिद्धि (१-३३) में कहा गया है कि वस्तु अनेकान्तात्मक—नित्यत्व-अनित्यत्व, एकत्व-अनेकत्व, भावरूप-अभावरूप और भिन्नत्व-अभिन्नत्व आदि परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले अनेक धर्मोंस्वरूप है। उनमें जो प्रयोग बिना किसी प्रकार के विरोध के हेतु की मुख्यता से साध्यविशेष की यथार्थता की प्राप्ति में कुशल होता है उसे नय कहा जाता है।

तत्त्वार्थाधिगम भाष्य (१-३५) में नय के प्रापक, कारक, साधक, निर्वर्तक, उपलम्भक और व्यंजक इन समानार्थक नामों का निर्देश करते हुए कहा गया है कि जो जीवादि पदार्थों को ले जाते हैं, प्राप्त कराते हैं, कारक हैं, सिद्ध कराते हैं, निर्वर्तित करते हैं, उपलब्ध कराते हैं और व्यक्त कराते हैं उनका नाम नय है। लगभग इसी अभिप्राय को उत्तराध्ययन चूर्णि (पृ. ४७) में भी प्रगट किया गया है। आवश्यक नि. (१०६६) और दशवैकालिक नि. (१४९) में नय के स्वरूप को प्रगट करते हुए कहा गया है कि ग्रहण करने योग्य अथवा नहीं ग्रहण करने योग्य ज्ञात पदार्थ के विषय में प्रयत्न करना चाहिए, इस प्रकार का जो उपदेश है उसे नय कहा जाता है। न्यायावतार (२९) के अनुसार जो एक देश विशिष्ट पदार्थ को विषय करता है उसे नय माना गया है।

भट्टाकलंकदेव ने सिद्धिविनिश्चय (१०,१-२), लघीयस्त्रय (५२) और प्रमाणसंग्रह (८७) में ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहा है। इसके पूर्व लघीयस्त्रय (३०) में वे प्रकारान्तर से यह भी कहते हैं कि प्रमाण के विषयभूत (ज्ञेय) वस्तु भेदाभेदात्मक—सामान्य-विशेषस्वरूप है उसके विषय में पुरुषों के जो अपेक्षा और उसके बिना सामान्य व विशेष विषयक अभिप्राय हुआ करते हैं उन्हें यथाक्रम से नय और दुर्नय कहा जाता है। इस कारिका की स्वो. वृत्ति में भी उन्होंने ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहा है। इसी अभिप्राय को उन्होंने आगे भी इस लघीयस्त्रय की स्वो. वृत्ति (७१) में पुनः प्रगट किया है। उक्त लघीयस्त्रय की ६२वीं कारिका में उन्होंने श्रुत के दो उपयोग (व्यापार) बतलाये हैं—एक स्याद्वाद और दूसरा नय। इनमें स्याद्वाद को—अनेकान्तात्मक पदार्थ के कथन को—सकलादेश—सम्पूर्ण पदार्थ का कथन करने वाला—और नय को विकलसंकथा—वस्तु के एक देश का कथन करने वाला—कहा है। प्रकृत लघीयस्त्रय में आगे (६६) उन्होंने कहा है कि श्रुत के भेदभूत जो नय हैं वे नैगम-संग्रहादि के भेद से सात हैं। उनका मूल आधार द्रव्य व पर्याय है। इसका अभिप्राय यह है कि मूल में नय के दो भेद हैं—एक द्रव्यार्थिक नय और दूसरा पर्यायार्थिक नय। पूर्वनिर्दिष्ट नैगमादि सात में पूर्व के तीन द्रव्यार्थिक और अन्तिम चार पर्यायार्थिक नय के अन्तर्गत हैं। यह पूर्वोक्त

ज्ञाता के अभिप्रायस्वरूप नय के लक्षण का स्पष्टीकरण है। इन्हीं अकलंकदेव ने अपने तत्त्वार्थवार्तिक (१, ६, ३) में नय के लक्षण में कहा है कि जो अवयव को विषय करता है उसका नाम नय है। यह लघीयस्त्रय की ६२वीं कारिका में निर्दिष्ट 'विकलसंकथा' का ही स्पष्टीकरण है। यहीं पर आगे (१, ६, ६) उन्होंने सम्यक् एकान्त को नय का लक्षण कहा है। हेतुविशेष के सामर्थ्य की अपेक्षा रखकर जो प्रमाण के द्वारा प्ररूपित पदार्थ के एक देश का कथन किया करता है उसे सम्यक् एकान्त कहा जाता है। यहीं पर आगे (१, ३३, १) प्रकारान्तर से पुनः यह कहा गया है कि जो प्रमाण से प्रकाशित अस्तित्व-नास्तित्वादिरूप अनन्तधर्मात्मक जीवादि पदार्थों के विशेषों (पर्यायों) का निरूपण करने वाला है उसे नय कहा जाता है।

उत्तरा. चूर्णि (पृ. ९) और आव. निर्युक्ति की हरिभद्र विरचित वृत्ति (७९) में वस्तु की पर्यायों के अधिगम को नय का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है। दोनों में प्रायः शब्दशः समानता है। अनुयो. की हरिभद्रविरचित वृत्ति (पृ. २७ व ९९) में अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एक अंश के ग्रहण करने को नय कहा गया है। इसी वृत्ति में आगे (पृ, १०५) प्रकारान्तर से यह भी निर्दिष्ट किया गया है कि जो अनेक धर्मात्मक वस्तु को विवक्षित किसी एक धर्म से ले जाता है उसे नय कहते हैं।

धवला (पु. १, पृ. ८३ व पु. ९, पृ. १६४) में कहा गया है कि प्रमाण से परिगृहीत वस्तु के एक देश में जो वस्तु का निश्चय होता है उसे नय कहा जाता है। आगे इस धवला (पु. ९, पृ. १६२ व १६३) में लघीयस्त्रय की ५२वीं कारिका के अनुसार ज्ञाता के अभिप्राय को नय का लक्षण बतलाते हुए उसके स्पष्टीकरण में कहा गया है कि प्रमाण से परिगृहीत पदार्थ के एक देश में जो वस्तु का अध्यवसाय होता है, इसे नय जानना चाहिए। लधीय. की प्रकृत कारिकागत 'युक्तितोऽर्थपरिग्रहः' इसे हृदयंगम कर कहा गया है कि युक्ति का अर्थ प्रमाण है, इस प्रमाण से जो अर्थ का परिग्रह होता है—द्रव्य और पर्याय में से विवक्षा के अनुसार जो किसी एक का वस्तु के रूप में ग्रहण होता है उसे नय कहते हैं। यहीं पर आगे (पु. ९, पृ. १६५-६६) पूज्यपाद भट्टारक द्वारा निर्दिष्ट लक्षण को उद्धृत करते हुए यह कहा गया है कि प्रमाण से प्रकाशित अनेकधर्मात्मक पदार्थों के विशेषों (पर्यायों) की जो प्ररूपणा किया करता है उसे नय कहते हैं। इसे वीरसेनाचार्य ने धवला में जहां पूज्यपाद के अभिप्रायानुसार सामान्य नय का लक्षण बतलाया है वहीं उन्होंने उसे जयधवला (१, पृ. २१०) में तत्त्वार्थभाष्यगत (त. वा. १, ३३, १) वाक्यनय का लक्षण कहा है। त. वा. में उसकी उत्थानिका में उसे सामान्य नय का ही लक्षण निर्दिष्ट किया गया है—*तत्र सामान्यनयलक्षणमुच्यते*। इसी पु. ९ में आगे (पृ. १६६) प्रभाचन्द्र भट्टारक के द्वारा निर्दिष्ट 'प्रमाणव्यपाश्रय' इत्यादि वाक्य को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि प्रमाण के आश्रय से होने वाले परिणामविकल्पों के—अभिप्रायविशेषों के—वशीभूत पदार्थगत विशेषों के निरूपण में जो प्रयोग अथवा प्रयोक्ता समर्थ होता है उसे नय समझना चाहिए। आगे (पृ. १६७) आ. पूज्यपाद विरचित सारसंग्रहगत 'अनन्तपर्यायात्मकस्य' इत्यादि वाक्य को उद्धृत करते हुए तदनुसार यह कहा गया है कि अनन्तपर्यायस्वरूप वस्तु की उन पर्यायों में से किसी एक पर्याय को ग्रहण करते समय उत्तम हेतु की अपेक्षा करके जो निर्दोष प्रयोग किया जाता है उसका नाम नय है। जयधवला (१, पृ. २१०) में पूर्वोक्त धवला (पु. ९, पृ. १६६-६७) के ही अभिप्राय को व्यक्त करते हुए जहां धवला में सारसंग्रहोक्त नय के उस लक्षण को विशेषरूप में वाक्यनय का लक्षण कहा गया है। इसी प्रकार प्रभाचन्द्र के द्वारा निर्दिष्ट पूर्वोक्त नय के लक्षण को धवला में जहां सामान्य से नय का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है वहां जयधवला में उसे प्रभाचन्द्रीय वाक्यनय का लक्षण कहा गया है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (१, ६, ४) और नयविवरण (४) में स्वार्थ के—प्रमाण के विषयभूत पदार्थ के—एक देश के निर्णय को नय का लक्षण प्रगट किया गया है। यहां आगे (१, ३३, २) नय के लक्षण में जो यह कहा गया है कि स्याद्वाद से विभक्त अर्थविशेष का जो व्यंजक होता है वह नय कहलाता है, यह शब्दशः आप्तमीमांसा १०६ का अनुसरण है। यहां आगे (१, ३३, ६ व नयवि. १८) यह

निर्देश किया गया है कि श्रुत के विषयभूत अर्थ के एक देश को जो ग्रहण किया करता है उसका नाम नय है। सम्भवतः इसी का अनुसरण करते हुए प्रमाणनयतत्त्वालोक (७-१) में यह कहा गया है कि जो श्रुत नामक प्रमाण के विषयभूत पदार्थ के अन्य अंशों की ओर से उदासीन होकर एक अंश को ले जाता है उस प्रतिपत्ता के अभिप्रायविशेष को नय कहते हैं। यह पूर्वोक्त त. श्लोकवार्तिक (१, ३३, ६) के उस संक्षिप्त लक्षण का ही स्पष्टीकरण दिखता है।

नयचक्र (२) और द्रव्यस्वभावप्रकाशनयचक्र (१७४) में कहा गया है कि वस्तु के अंश को ग्रहण करने वाला जो श्रुत का भेदभूत ज्ञानियों का विकल्प (अभिप्राय) है उसे नय कहा गया है। इसका अभिप्राय पूर्वोक्त त. श्लो. वा. (१, ३३, ६) में निर्दिष्ट लक्षण से भिन्न नहीं है। लगभग यही अभिप्राय आलापपद्धति (पृ. १४५) में निर्दिष्ट नय के लक्षण में देखा जाता है। विकल्परूप में यहां इतना विशेष कहा गया है कि अथवा जो वस्तु को नाना स्वभावों से पृथक् करके एक किसी विवक्षित स्वभाव में ले जाता है—प्राप्त कराता है उसे नय जानना चाहिए।

सूर्यप्रज्ञप्ति की मलयगिरि विरचित वृत्ति (१-७, पृ. ३६) में कहा गया गया है कि वक्ता का जो विशेष अभिप्राय वस्तु के प्रतिनियत एक अंश को विषय करता है उसका नाम नय है। इसकी पुष्टि में वहां समन्तभद्रादि के नाम निर्देशपूर्वक 'नयो ज्ञातुरभिप्रायः' (लघीय. ५२) इस वाक्य को उद्धृत किया गया है।

इस प्रकार विविध ग्रन्थकारों ने अपनी रुचि के अनुसार पूर्ववर्ती ग्रन्थों का अनुसरण कर प्रकृत नय के लक्षण को व्यक्त किया है। निष्कर्ष रूप में कुछ लक्षण इस प्रकार हैं—

१ समन्तभद्र—विधि-प्रतिषेध में मुख्य का नियामक।
 ,, स्याद्वाद से विभक्त अर्थ के विशेष का व्यंजक।

२. पूज्यपाद—अनेकान्तात्मक वस्तु में विना किसी विरोध के हेतु की प्रमुखता से साध्यविशेष
 ,, की यथार्थता प्रगट करने वाला प्रयोग।
 ,, अनन्तपर्यायात्मक वस्तु की अन्यतम पर्यायविषयक अधिगम के समय निर्दोष हेतु अपेक्षा निरवद्य प्रयोग (सारसंग्रह)।
 ,, प्रमाणप्रकाशित अर्थ के विशेष (नित्यानित्यत्वादि) का प्ररूपक।

३ तत्त्वार्थाधिगमभाष्यकार—प्रापक, कारक, साधक, निर्वर्तक, निर्भासक, उपलम्भक अथवा व्यंजक।

४ निर्युक्तिकार—ग्राह्याग्राह्य अर्थ के विषय में यत्नविषयक उपदेश।

५ उत्तरा. चूर्णिकार—वस्तु की पर्यायों में सम्भव पर्याय की अपेक्षा वस्तु का अधिगमन।

६ सिद्धसेन दिवाकर—एकदेशविशिष्ट अर्थ को विषय करने वाला।

७ अकलंकदेव—भेदाभेदात्मक ज्ञेय के विषय में भेदाभेदविषयक सापेक्ष अभिप्राय।
 ,, ज्ञाता का अभिप्राय।
 ,, अवयव को विषय करने वाला।
 ,, सम्यक् एकान्त।
 ,, प्रमाणप्ररूपित अर्थ की पर्यायों का प्ररूपक।

८ हरिभद्र सूरि—अनन्त पर्यायात्मक वस्तु के एक अंश का परिच्छेद।
 ,, अनेक धर्मात्मक ज्ञेय के अध्यवसायान्तर का हेतु।

९ वीरसेन—प्रमाणपरिगृहीत अर्थ के एक देश में वस्तु का अध्यवसाय।

१० विद्यानन्द—स्वार्थ के एकदेश का निर्णय।
 ,, श्रुतार्थांश का ज्ञापक।

११ स्वामिकुमार—लोकव्यवहार का प्रसाधक श्रुतज्ञान का विकल्प।

ज्ञाता के अभिप्रायस्वरूप नय के लक्षण का स्पष्टीकरण है। इन्हीं अकलंकदेव ने अपने तत्त्वार्थवार्तिक (१, ६, ३) में नय के लक्षण में कहा है कि जो अवयव को विषय करता है उसका नाम नय है। यह लघीयस्त्रय की ६२वीं कारिका में निर्दिष्ट 'विकलसंकथा' का ही स्पष्टीकरण है। यहीं पर आगे (१, ६, ६) उन्होंने सम्यक् एकान्त को नय का लक्षण कहा है। हेतुविशेष के सामर्थ्य की अपेक्षा रखकर जो प्रमाण के द्वारा प्ररूपित पदार्थ के एक देश का कथन किया करता है उसे सम्यक् एकान्त कहा जाता है। यहीं पर आगे (१, ३३, १) प्रकारान्तर से पुनः यह कहा गया है कि जो प्रमाण से प्रकाशित अस्तित्व-नास्तित्वादिरूप अनन्तधर्मात्मक जीवादि पदार्थों के विशेषों (पर्यायों) का निरूपण करने वाला है उसे नय कहा जाता है।

उत्तरा. चूर्णि (पृ. ९) और आव. निर्युक्ति की हरिभद्र विरचित वृत्ति (७९) में वस्तु की पर्यायों के अधिगम को नय का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है। दोनों में प्रायः शब्दशः समानता है। अनुयो. की हरिभद्रविरचित वृत्ति (पृ. २७ व ९९) में अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एक अंश के ग्रहण करने को नय कहा गया है। इसी वृत्ति में आगे (पृ, १०५) प्रकारान्तर से यह भी निर्दिष्ट किया गया है कि जो अनेक धर्मात्मक वस्तु को विवक्षित किसी एक धर्म से ले जाता है उसे नय कहते हैं।

धवला (पु. १, पृ. ८३ व पु. ९, पृ. १६४) में कहा गया है कि प्रमाण से परिगृहीत वस्तु के एक देश में जो वस्तु का निश्चय होता है उसे नय कहा जाता है। आगे इस धवला (पु. ९, पृ. १६२ व १६३) में लघीयस्त्रय की ५२वीं कारिका के अनुसार ज्ञाता के अभिप्राय को नय का लक्षण बतलाते हुए उसके स्पष्टीकरण में कहा गया है कि प्रमाण से परिगृहीत पदार्थ के एक देश में जो वस्तु का अध्यवसाय होता है, इसे नय जानना चाहिए। लघीय. की प्रकृत कारिकागत 'युक्तितोऽर्थपरिग्रहः' इसे हृदयंगम कर कहा गया है कि युक्ति का अर्थ प्रमाण है, इस प्रमाण से जो अर्थ का परिग्रह होता है—द्रव्य और पर्याय में से विवक्षा के अनुसार जो किसी एक का वस्तु के रूप में ग्रहण होता है उसे नय कहते हैं। यहीं पर आगे (पु. ९, पृ. १६५-६६) पूज्यपाद भट्टारक द्वारा निर्दिष्ट लक्षण को उद्धृत करते हुए यह कहा गया है कि प्रमाण से प्रकाशित अनेकधर्मात्मक पदार्थों के विशेषों (पर्यायों) की जो प्ररूपणा किया करता है उसे नय कहते हैं। इसे वीरसेनाचार्य ने धवला में जहां पूज्यपाद के अभिप्रायानुसार सामान्य नय का लक्षण बतलाया है वहीं उन्होंने उसे जयधवला (१, पृ. २१०) में तत्त्वार्थभाष्यगत (त. वा. १, ३३, १) वाक्यनय का लक्षण कहा है। त. वा. में उसकी उत्थानिका में उसे सामान्य नय का ही लक्षण निर्दिष्ट किया गया है—तत्र सामान्यनयलक्षणमुच्यते। इसी पु. ९ में आगे (पृ. १६६) प्रभाचन्द्र भट्टारक के द्वारा निर्दिष्ट 'प्रमाणव्यपाश्रय' इत्यादि वाक्य को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि प्रमाण के आश्रय से होने वाले परिणामविकल्पों के—अभिप्रायविशेषों के—वशीभूत पदार्थगत विशेषों के निरूपण में जो प्रयोग अथवा प्रयोक्ता समर्थ होता है उसे नय समझना चाहिए। आगे (पृ. १६७) आ. पूज्यपाद विरचित सारसंग्रहगत 'अनन्तपर्यायात्मकस्य' इत्यादि वाक्य को उद्धृत करते हुए तदनुसार यह कहा गया है कि अनन्तपर्यायस्वरूप वस्तु की उन पर्यायों में से किसी एक पर्याय को ग्रहण करते समय उत्तम हेतु की अपेक्षा करके जो निर्दोष प्रयोग किया जाता है उसका नाम नय है। जयधवला (१, पृ. २१०) में पूर्वोक्त धवला (पु. ९, पृ. १६६-६७) के ही अभिप्राय को व्यक्त करते हुए जहां धवला में सारसंग्रहोक्त नय के उस लक्षण को विशेषरूप में वाक्यनय का लक्षण कहा गया है। इसी प्रकार प्रभाचन्द्र के द्वारा निर्दिष्ट पूर्वोक्त नय के लक्षण को धवला में जहां सामान्य से नय का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है वहां जयधवला में उसे प्रभाचन्द्रीय वाक्यनय का लक्षण कहा गया है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (१, ६, ४) और नयविवरण (४) में स्वार्थ के—प्रमाण के विषयभूत पदार्थ के—एक देश के निर्णय को नय का लक्षण प्रगट किया गया है। यहां आगे (१, ३३, २) नय के लक्षण में जो यह कहा गया है कि स्याद्वाद से विभक्त अर्थविशेष का जो व्यंजक होता है वह नय कहलाता है, यह शब्दशः आप्तमीमांसा १०६ का अनुसरण है। यहां आगे (१, ३३, ६ व नयवि. १८) यह

हैं। धवलाकार ने साधारण जीवों का लक्षण एक शरीर में निवास करने वाले निर्दिष्ट किया है (पु. १४, पृ. २२७)। एक ही शरीर में अवस्थित ये साधारण बादर व सूक्ष्म निगोदजीव एकमेक के साथ परस्पर में बद्ध और स्पृष्ट होते हैं। उदाहरण यहां मूली व थूहर आदि का दिया गया है। इन निगोद जीवों में ऐसे भी अनन्त (नित्यनिगोद) जीव हैं जिन्होंने संक्लेश की प्रचुरता के कारण कभी त्रस पर्याय को नहीं प्राप्त किया है (षट्खं. ५, ६, १२६-२७—पु. १४, पृ. २२६–३४ द्रष्टव्य हैं)।

जीवाजीवाभिगम की मलयगिरि विरचित वृत्ति (५, २, २३८, पृ. ४२३) में जीवों के आश्रय-विशेषों को निगोद कहा गया है।

गो. जीवकाण्ड की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका (१९१) और कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका (१३१) में समानरूप से 'नियतां गां भूमिं क्षेत्रं निवासं अनन्तानन्तजीवानां ददातीति निगोदम्' इस प्रकार की निरुक्ति के साथ यह अभिप्राय प्रगट किया गया है कि जो अनन्तानन्त जीवों को नियमित निवास देता है उसका नाम निगोद है।

ये निगोदजीव दो प्रकार के माने गये हैं—नित्यनिगोदजीव और अनित्यनिगोदजीव। तत्त्वार्थ-वार्तिक २, ३२, २७) में योनिभेदों की प्ररूपणा के प्रसंग में इन दो प्रकार के निगोदजीवों के स्वरूप का निर्देश करते हुए कहा गया है कि जो जीव तीनों ही कालों में त्रस पर्याय प्राप्त करने के योग्य नहीं हैं उन्हें नित्यनिगोत और जो त्रस पर्याय को प्राप्त कर चुके हैं तथा आगे भी उसे प्राप्त करने वाले हैं उन्हें अनित्यनिगोत कहा जाता है। यहां 'निगोत' शब्द का उपयोग 'निगोद' के समानार्थक रूप में हुआ है। इसे प्राकृत 'णिगोद' का संस्कृत में रूपान्तर हुआ समझना चाहिये। इस निगोत शब्द का उपयोग अनगारधर्मामृत की स्वो. टीका (४-२२) में उद्धृत एक श्लोक में भी हुआ है।

धवला (पु. १४, पृ. २३६) में 'अनित्यनिगोत' के स्थान में 'चतुर्गतिनिगोद' शब्द का उपयोग हुआ है। वहां इनके स्वरूप का निर्देश करते हुए कहा गया है कि चतुर्गतिनिगोद जीव वे हैं जो देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्यों में उत्पन्न होकर पुनः निगोदों में प्रविष्ट होकर रहते हैं तथा जो जीव सदा निगोदों में ही रहते हैं उन्हें नित्यनिगोदजीव जानना चाहिए। यही अभिप्राय अनगारधर्मामृत की स्वो. टीका (४-२२) में भी प्रगट किया गया है।

पूर्वोक्त षट्खण्डागम के जिस गाथासूत्र (५, ६, १२७) के अनुसार ऐसे अनन्त जीवों का उल्लेख किया गया है जिन्होंने कभी त्रस पर्याय को प्राप्त नहीं किया, उस गाथासूत्र को गो. जीवकाण्ड में (१९१) उसी रूप में आत्मसात् किया गया है। उसकी जी. प्र. टीका में यह अभिप्राय प्रगट किया गया है कि प्रकृत गाथा में उपयुक्त 'प्रचुर' शब्द एकदेशाभाव से विशिष्ट समस्त अर्थ का वाचक है। अतः उसके आश्रय से यह सूचित किया गया है कि आठ समय अधिक छह मासों के भीतर चतुर्गतिरूप जीवराशि से निकल कर छह सौ आठ जीवों के मुक्त हो जाने पर उतने (६०८) ही जीव नित्यनिगोदभव को छोड़कर चतु-र्गतिभव को प्राप्त होते हैं। उपर्युक्त आठ समय अधिक छह मासों में छह सौ आठ जीवों के मुक्त (क्षपक-श्रेणिप्रायोग्य) होने का उल्लेख धवला (पु. ३, पृ. ९२-९३) में भी किया गया है।

निर्ग्रन्थ—नाग्न्यपरीषहजय के प्रसंग में निर्ग्रन्थता अपेक्षित है, यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। प्रकृत में निर्ग्रन्थ की विशेषता को प्रगट करते हुए सूत्रकृतांग (१, १६, ४) में कहा गया है कि जो एक है, एकवित्—एक आत्मा को ही जानता है, प्रबुद्ध है, कर्मागम के स्रोतों (आस्रवों) को नष्ट कर चुका है, अतिशय संयत है, समितियों का दृढ़ता से पालन करता है, सुसामायिक—शत्रु-मित्रादि के विषय में समभाव रखता है, आत्मवाद को प्राप्त है, विज्ञ है, द्रव्य व भावरूप दोनों स्रोतों को नष्ट कर चुका है, पूजा-सत्कार की अपेक्षा नहीं करता है, धर्मार्थी है, धर्म का वेत्ता है और नियागप्रतिपन्न है—मोक्ष-मार्ग को प्राप्त है; उसे निर्ग्रन्थ कहा जाता है। ऐसा निर्ग्रन्थ इन्द्रियों व कषायों का दमन करके शरीर से निःस्पृह होता हुआ समित—समतास्वरूप आचरण करता है। इस प्रकार यहां बाह्य व अभ्यन्तर परिग्रह से रहित साधु की सामान्य से प्रशंसा की गई है।

१२ प्रभाचन्द—प्रतिपक्ष का निराकरण न करके वस्त्वंश का ग्राहक ज्ञाता का अभिप्राय।

१३ मलयगिरि—विशेषाकांक्ष सामान्य का ग्राहक अथवा सामान्यापेक्ष विशेष का ग्राहक।
(लघीयस्त्रयगत कारिका ३० का फलितार्थ)।

इन नयलक्षणों में उत्तरोत्तर कुछ विकास हुआ प्रतीत होता है। अन्य ग्रन्थकारों के द्वारा निर्दिष्ट लक्षण इन्हीं लक्षणों में से किसी के आधार पर होना चाहिए।

नाग्न्यपरीषहजय—सर्वार्थसिद्धि (९-९) और तत्त्वार्थवार्तिक (९, ९, १०) आदि में प्रार्थना की सम्भावना से रहित; याचना (दीनता), रक्षण व हिंसा आदि दोषों से विहीन तथा परिग्रह से रहित होने के कारण निर्वाणपद की प्राप्ति के प्रति अद्वितीय साधनभूत ऐसे बाधा से रहित बालक की नग्नता के समान स्वाभाविक नग्नवेष को धारण करने वाला साधु मानसिक विकार से युक्त हो जाने के कारण स्त्रियों के रूप को अपवित्र व घृणास्पद देखता हुआ दिन-रात अखण्डित ब्रह्मचर्य पर अधिष्ठित रहकर निर्दोष अचेलव्रत को जो धारण करता है उसे उसका नाग्न्यपरीषहजय कहा गया है।

उत्तराध्ययन (२-१३) में इसके स्वरूप का विचार करते हुए कहा गया है कि तत्त्वज्ञानी साधु कभी अचेल (निर्वस्त्र) और कभी सचेल (सवस्त्र) होता है। पर निर्वस्त्र होने पर जो अनेक प्रकार की शैत्य आदि की उसे बाधा होती है उससे वह खेद को प्राप्त नहीं होता व उसे धर्म के लिए हितकर मानता है। यदि वह सवस्त्र है, पर वस्त्र अनुकूल नहीं है अथवा वह जीर्ण हो गया है तो उसके लिए याचना करते हुए वह दीनता को प्रगट नहीं करता। इस प्रकार से वह उपर्युक्त दोनों ही अवस्थाओं में खेदखिन्न नहीं होता। यह उसके नाग्न्यपरीषह या अचेलपरीषहजय का लक्षण है। आव. निर्युक्ति की हरिभद्र विरचित वृत्ति (९१८, पृ. ४०३) में परीषहों से सम्बद्ध श्लोकों को किसी पूर्वकालीन ग्रन्थ से उद्धृत कर प्रकृत परीषह के विषय में कहा गया है कि लाभ-अलाभ की विचित्रता को जानता हुआ साधु नग्नता से उपद्रवित होकर 'मेरा वस्त्र अशुभ या नहीं' इस विचार से उत्तम या निकृष्ट वस्त्र की इच्छा न करे। त. भा. की सिद्धसेन विरचित वृत्ति (९-९) में कहा गया है कि दिगम्बर या भौत आदि के समान उपकरणों से रहित होना ही नाग्न्यपरीषह नहीं है। तो फिर वह क्या है, इसके उत्तर में वहां कहा गया है कि प्रवचन में उसका जो विधान कहा गया है तदनुसार नग्नता को जानना चाहिए।

इस नग्नता का पर्यायवाची शब्द अचेलकता है। प्रकृत लक्षणावली के प्रथम भाग की प्रस्तावना में (पृ. ७०-७१) आचारांग आदि के आश्रय से अचेलकता के विषय में विशेष विचार किया जा चुका है। विशेष जिज्ञासुओं को उसे वहां पर देखना चाहिए।

निगोदजीव—धवला पु. ३ (पृ. ३५७) में निगोद जीवों के स्वरूप को दिखलाते हुए कहा गया है कि जिन अनन्तानन्त जीवों का साधारणरूप से एक ही शरीर होता है उन्हें निगोदजीव कहा जाता है। इसी धवला में आगे (पु. ७, पृ. ५०६) कहा गया है कि जो जीव निगोदों में अथवा निगोदभाव से जीते हैं वे निगोदजीव कहलाते हैं। यहीं पर आगे (पु १४, पृ. ८५ और पृ. ४९२) पुलवियों को निगोद कहा गया है। इसी पुस्तक में पृ. ८६ पर पुलवियों के स्वरूप को प्रगट करते हुए कहा गया है कि स्कन्ध, अण्डर, आवास, पुलविया और निगोदशरीर ये पांच होते हैं। यहां पृथक्-पृथक् पांचों के स्वरूप का भी निर्देश किया है। पूर्व में यहां (धवला पु. ३, पु. ३५७) में निगोद जीवों के स्वरूप को दिखलाते हुए उन अनन्तानन्त जीवों का एक ही साधारण शरीर निर्दिष्ट किया गया है। ऐसे साधारण शरीर वाले जीव नियम से वनस्पतिकायके अन्तर्गत हैं (षट्खं. ५, ६, १२०—पु. १४, पृ. २२५)। इन साधारण जीवों के लक्षण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि साधारण जीव वे हैं जिनका आहार और आन-पानग्रहण साधारण है, अर्थात् एक जीव के द्वारा आहार ग्रहण करने पर सभी अनन्तानन्त जीवों का वह साधारण आहार होता है। यही प्रक्रिया उनके श्वासोच्छ्वास की भी जानना चाहिए (षट्खं. ५, ६, १२२—पु. १४, पृ. २२६)। जहां एक का मरण होता है वहां एक साथ अनन्त साधारण जीवों का मरण होता है, इसी प्रकार जहां एक उत्पन्न होता है वे वहां सभी एक साथ उत्पन्न होते

इस व्रत में अंगार, वन, शकट, भाटक, स्फोटन तथा दांत, लाख, रस, केश और विष विषयक व्यापार; यंत्र-पीडन, निर्लांछन, दवदान, तालाब-ह्रद-तडाग का शोषण और असतीपोष इन पन्द्रह सावद्य कर्मों को निषिद्ध प्रगट किया गया है।

दि. सम्प्रदाय के श्रावकाचारविषयक ग्रन्थों में इनका उल्लेख किया गया नहीं दिखता। हां, पं. आशाधर विरचित सागारधर्मामृत (५, २१-२३) में इनका निर्देश तो किया गया है, पर वह पूर्वोक्त मान्यता के निराकरण के रूप में किया गया है। पं. आशाधर का कहना है कि ऐसे सावद्य कर्म निषिद्ध तो हैं, पर जब वे अगणित हैं तब वैसी अवस्था में पूर्वोक्त पन्द्रह कर्मों का ही परित्याग कराना उचित प्रतीत नहीं होता। अथवा, अतिशय मन्दमतियों को लक्ष्य करके यदि उनका परित्याग कराया जाता है तो वह अनुचित भी नहीं है। यहां यह स्मरणीय है कि श्रावकप्रज्ञप्ति की टीका में हरिभद्र सूरि ने भी इसी प्रकार के अभिप्राय को प्रगट करते हुए यह कहा है कि इन बहुसावद्य कर्मों का यहां प्रदर्शन मात्र किया गया है, क्योंकि इनके अतिरिक्त अन्य भी कितने ही ऐसे सावद्य कर्म हो सकते हैं जिनकी गणना नहीं की जा सकती है। अतएव उनकी यहां गणना की गई नहीं समझना चाहिये।

इसी प्रकार प्रकृत व्रत के अतिचारों के विषय में भी मतभेद देखा जाता है। यथा—त. सू. (दि. ७-३५ और श्वे. ७-३०) में उक्त व्रत के ये पांच अतिचार निर्दिष्ट किये गये हैं—सचित्ताहार, सचित्तसंबद्धाहार, सचित्तमिश्राहार, अभिषवाहार और दुष्पक्वाहार। किन्तु रत्नकरण्डक (९०) में विषयरूप विष की उपेक्षा न करना, विषयों का पुनः पुनः स्मरण करना, उनके सेवन में अतिशय लोलुपता, उनके सेवन की अतिशय आकांक्षा और अतिशय आसक्ति के साथ उनका उपभोग; ये पांच अतिचार निर्दिष्ट किये गये हैं। श्रा. प्र. (२८६) में उसके जो अतिचार निर्दिष्ट किये गये हैं उनमें तीन अतिचार तो त. सू. के समान हैं, पर दो में कुछ उससे भिन्नता है। यथा—सचित्ताहार, सचित्तप्रतिबद्धाहार, अपक्वभक्षण, दुष्पक्व-भक्षण और तुच्छ औषधिभक्षण। पं. आशाधर ने अपने सा. ध. (५-२०) में त. सू. के समान उसके अतिचारों का निर्देश करके स्वो. टीका में 'अत्राह स्वामी' ऐसा कहते हुए रत्नक. में निर्दिष्ट पूर्वोक्त अतिचारों का भी निर्देश कर दिया है व उनकी व्याख्या भी की है। यहीं पर उन्होंने 'तद्वच्चेमेऽपि श्रीसोमदेवविबुधाभिमताः' ऐसी सूचना करके प्रकृतव्रतातिचारविषयक उपासकाध्ययन के श्लोक (७६२) को भी उद्धृत कर दिया है। तदनुसार वे अतिचार ये हैं—दुष्पक्वभक्षण, निषिद्धभक्षण, जन्तुसम्बद्धभक्षण, जन्तुसम्मिश्रभक्षण और अवीक्षितभक्षण। इस प्रकार उक्त व्रत के जो भी अतिचार निर्दिष्ट किये गये हैं वे सब भोजन से ही सम्बद्ध हैं, कर्म से सम्बन्धित अतिचारों का कहीं कोई निर्देश नहीं किया गया। यह व्रत बहुत व्यापक है। यही कारण है जो रत्नक. (८४-८९) में त्रसघात के परिहार के लिये इस व्रत में मद्य-मांस आदि कितने ही अन्य विषयों का भी नियम कराया गया है।

पादपोपगमन—आगम में त्यक्त शरीर के प्रायोपगमन, इंगिनीमरण और भक्तप्रत्याख्यान ये तीन भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। प्राकृत में प्रायोपगमन के वाचक पाओवगमण, पाओवगमन और पाउग्गगमण ये शब्द उपलब्ध होते हैं। इनके संस्कृत रूप भी अनेक हुए हैं। जैसे—पादपोपगमन, पादोपगमन, प्रायोगमन, प्रायोग्यगमन और प्रायोपगमन। शब्दभेद होने से कुछ अर्थभेद भी हुआ है, पर अभिप्राय प्रायः सबका समान ही रहा है। यथा—

पण्डित मरण के प्रसंग में भगवती आराधना (२०६८-६९) में कहा गया है कि क्षपक (आराधक) शरीर से निर्ममत्व होकर उसे जहां जिस प्रकार से रखता है जीवन पर्यन्त वह उसे स्वयं नहीं चलाता है—हलन-चलन क्रिया से रहित उसी प्रकार से उसे स्थिर रखता है। इस प्रकार निष्प्रतिकर्म—स्व-परप्रतीकार से रहित—मरण को प्रायोपगमन मरण कहा जाता है। इसी भ. आ. की विजयोदया और मूलाराधना-दर्पण टीकाओं (२९) में इसके स्वरूप को दिखलाते हुए कहा गया है कि संघ को छोड़कर अपने पावों से अन्यत्र चले जाने पर आराधक का जो अपनी व अन्य की वैयावृत्ति से रहित मरण होता है उसे पादोप-गमन मरण कहते हैं। यह उसकी सार्थक संज्ञा है। प्रकारान्तर से वहां यह भी संकेत किया गया है—अथवा

दशवैकालिक वृत्ति आदि में मतिभ्रम या चित्तविप्लुतिको प्रथम विकल्प के रूप में निर्दिष्ट किया गया है और विद्वज्जुगुप्सा या साधुजुगुप्सा को द्वितीय विकल्प के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। जैसा कि पूर्व में निर्देश किया जा चुका है आ. अमितगति और भट्टारक शुभचन्द्र (कार्ति. टीकाकार) ने भी निर्विचिकित्सा के प्रसंग में साधुजुगुप्सा का निषेध किया है। हरिभद्र सूरि ने तो विचिकित्साविषयक इन दोनों अभिप्रायों की पुष्टि में पृथक्-पृथक् दो कथानक भी दिये हैं (श्रा. प्र. टीका ९३)।

परिभोग—श्रावक के १२ व्रतों में एक भोगोपभोगपरिमाण या उपभोग-परिभोगपरिमाण व्रत भी है। तत्त्वार्थसूत्र (दि. ७-२१, श्वे. ७-१६) में इस व्रतका उल्लेख जहां उपभोग-परिभोगपरिमाण व्रत के नाम से किया गया है (श्वे. त. सू में 'उपभोग-परिभोगव्रत' के नाम से ही उसका निर्देश किया गया है) वहां रत्नकरण्डक (८२) में उसका निर्देश भोगोपभोगपरिमाण व्रत के नाम से किया गया है। तदनुसार भोग, उपभोग व परिभोग के लक्षण में भी भेद रहा है। यथा—त.सू. की व्याख्या स्वरूप सर्वार्थसिद्धि में अशन, पान, और गन्ध-माल्यादि को उपभोग तथा आच्छादन, प्रावरण, अलंकार, शयन, आसन, गृह और वाहन आदि को परिभोग कहा गया है। त. भाष्य में भी लगभग इसी अभिप्राय को प्रकट करते हुए अशन, पान खाद्य, स्वाद्य और गन्धमाल्य आदि के साथ आच्छादन, प्रावरण, अलंकार, शयन, आसन, गृह, यान और वाहन आदि में जो बहुत सावद्य से युक्त हैं उनके परित्याग को उपभोग-परिभोगव्रत कहा गया है। इसके साथ वहां यह सूचना की गई है कि उनमें जो अल्प सावद्य से युक्त हैं उनका परिमाण करना भी इस व्रत में अभिप्रेत है। यहां 'गन्धमाल्यादि' तथा 'वाहनादि' में जो 'च' शब्द के साथ पृथक् पृथक् षष्ठी बहुवचन का निर्देश किया गया है उससे यही प्रतीत होता है कि भाष्यकार को अशन-पान आदि भोगरूप से और आच्छादन-प्रावरण आदि परिभोग रूप से अभिप्रेत हैं। यहां स. सि. से यह विशेषता रही है कि स. सि. में उपभोग के लक्षण में जिन खाद्य व स्वाद्य शब्दों का निर्देश नहीं किया गया है वे यहाँ उसके अन्तर्गत उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार परिभोग के लक्षण में यहां स. सि. की अपेक्षा 'गृह' और 'वाहन' के मध्य में 'यान' शब्द अधिक पाया जाता है।

त. वा. (७, २१, ८) में 'उपेत्य भुज्यते इत्युपभोगः' इस निरुक्ति के साथ जिन अशन-पानादि को आत्मसात् करके भोगा जाता है उन्हें उपभोग तथा 'परित्यज्य भुज्यते इति परिभोगः' इस निरुक्ति के साथ जिन आच्छादन-प्रावरण आदि को एक बार भोगकर पुनः भोगा जाता है उन्हें परिभोग कहा गया है। श्रावकप्रज्ञप्ति (२८४) की टीका में भी उक्त दोनों शब्दों की इसी प्रकार से निरुक्ति करते हुए लगभग इसी अभिप्राय को व्यक्त किया गया है। त. वा. से यहां इतनी विशेषता है कि विकल्प रूप में यहां 'उप' शब्द को अन्तर्वचन मानकर तदनुसार विषय और विषयी में अभेदोपचार से अन्तर्भोगको उपभोग और 'परि' शब्द को बहिर्वाचक मानकर तदनुसार बहिर्भोगको परिभोग कहा गया है। इसके पूर्व इसी श्रा. प्र. (२६) टीका में भोगान्तराय और उपभोगान्तराय के प्रसंग में एक बार भोगे जाने वाले आहार आदि को भोग और पुनः पुनः भोगे जाने वाले भवन-वलय आदि को उपभोग कहा गया है। अपने इस अभिप्राय की पुष्टि में वहां "सइभुज्जइत्ति भोगो" आदि एक गाथा भी उद्धृत की गई है। इस प्रकार एक ही ग्रन्थ में यह अभिप्राय भेद देखा जाता है।

रत्नकरण्डक (८२-८३) आदि में जहां इस व्रत को भोगोपभोगपरिमाण व्रत के नाम से निर्दिष्ट किया गया है वहां एक ही बार भोगे जाने वाले आहार आदि को भोग और पुनः पुनः भोगे जानेवाले वस्त्रादि को उपभोग कहा गया है। इस प्रकार से यदि कहीं (स. सि. आदि) एक ही बार भोगे जाने वाले भोजन आदि को उपभोग और पुनः-पुनः भोगे जाने वाले आच्छादन व प्रावरण आदि को परिभोग के अन्तर्गत किया है तो अन्यत्र (रत्नक. आदि में) उन्हें क्रम से भोग और उपभोग के अन्तर्गत किया गया है।

प्रकृत उपभोग-परिभोगपरिमाण व्रत के प्रसंग में श्वे. सम्प्रदाय के श्रावकाचारविषयक ग्रन्थों में—जैसे उवासगदसाओ (५१) और श्रावकप्रज्ञप्ति (२८५ व २८७-८८) आदि में—एक यह विशेषता देखी जाती है कि वहां इस व्रत के भोजन व कर्म की अपेक्षा दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। उनमें कर्म की अपेक्षा

इस व्रत में अंगार, वन, शकट, भाटक, स्फोटन तथा दांत, लाख, रस, केश और विष विषयक व्यापार; यंत्र-पीडन, निर्लाञ्छन, दवदान, तालाव-ह्रद-तडाग का शोषण और असतीपोष इन पन्द्रह सावद्य कर्मो को निषिद्ध प्रगट किया गया है।

दि. सम्प्रदाय के श्रावकाचारविषयक ग्रन्थों में इनका उल्लेख किया गया नहीं दिखता। हां, पं. आशाधर विरचित सागारधर्मामृत (५, २१-२३) में इनका निर्देश तो किया गया है, पर वह पूर्वोक्त मान्यता के निराकरण के रूप में किया गया है। पं. आशाधर का कहना है कि ऐसे सावद्य कर्म निषिद्ध तो हैं, पर जब वे अगणित हैं तब वैसी अवस्था में पूर्वोक्त पन्द्रह कर्मो का ही परित्याग कराना उचित प्रतीत नहीं होता। अथवा, अतिशय मन्दमतियों को लक्ष्य करके यदि उनका परित्याग कराया जाता है तो वह अनुचित भी नहीं है। यहां यह स्मरणीय है कि श्रावकप्रज्ञप्ति की टीका में हरिभद्र सूरि ने भी इसी प्रकार के अभिप्राय को प्रगट करते हुए यह कहा है कि इन बहुसावद्य कर्मों का यहां प्रदर्शन मात्र किया गया है, क्योंकि इनके अतिरिक्त अन्य भी कितने ही ऐसे सावद्य कर्म हो सकते हैं जिनकी गणना नहीं की जा सकती है। अतएव उनकी यहां गणना की गई नहीं समझना चाहिये।

इसी प्रकार प्रकृत व्रत के अतिचारों के विषय में भी मतभेद देखा जाता है। यथा—त. सू. (दि. ७-३५ और श्वे. ७-३०) में उक्त व्रत के ये पांच अतिचार निर्दिष्ट किये गये हैं—सचित्ताहार, सचित्तसंबद्धाहार, सचित्तमिश्राहार, अभिषवाहार और दुष्पक्वाहार। किन्तु रत्नकरण्डक (९०) में विषयरूप विष की उपेक्षा न करना, विषयों का पुनः पुनः स्मरण करना, उनके सेवन में अतिशय लोलुपता, उनके सेवन की अतिशय आकांक्षा और अतिशय आसक्ति के साथ उनका उपभोग; ये पांच अतिचार निर्दिष्ट किये गये हैं। श्रा. प्र. (२८६) में उसके जो अतिचार निर्दिष्ट किये गये हैं उनमें तीन अतिचार तो त. सू. के समान हैं, पर दो में कुछ उससे भिन्नता है। यथा—सचित्ताहार, सचित्तप्रतिबद्धाहार, अपक्वभक्षण, दुष्पक्व-भक्षण और तुच्छ औषधिभक्षण। पं. आशाधर ने अपने सा. ध. (५-२०) में त. सू. के समान उसके अतिचारों का निर्देश करके स्वो. टीका में 'अत्राह स्वामी' ऐसा कहते हुए रत्नक. में निर्दिष्ट पूर्वोक्त अतिचारों का भी निर्देश कर दिया है व उनकी व्याख्या भी की है। यहीं पर उन्होंने 'तद्वच्चेमेऽपि श्रीसोमदेवविबुधाभिमताः' ऐसी सूचना करके प्रकृतव्रतातिचारविषयक उपासकाध्ययन के श्लोक (७६३) को भी उद्धृत कर दिया है। तदनुसार वे अतिचार ये हैं—दुष्पक्वभक्षण, निषिद्धभक्षण, जन्तुसम्बद्धभक्षण, जन्तुसम्मिश्रभक्षण और अवीक्षितभक्षण। इस प्रकार उक्त व्रत के जो भी अतिचार निर्दिष्ट किये गये हैं वे सब भोजन से ही सम्बद्ध हैं, कर्म से सम्बन्धित अतिचारों का कहीं कोई निर्देश नहीं किया गया। यह व्रत बहुत व्यापक है। यही कारण है जो रत्नक. (८४-८९) में त्रसघात के परिहार के लिये इस व्रत में मद्य-मांस आदि कितने ही अन्य विषयों का भी नियम कराया गया है।

पादपोपगमन—आगम में त्यक्त शरीर के प्रायोपगमन, इंगिनीमरण और भक्तप्रत्याख्यान ये तीन भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। प्राकृत में प्रायोपगमन के वाचक पाओवगमण, पाओवगमन और पाउग्गगमण ये शब्द उपलब्ध होते हैं। इनके संस्कृत रूप भी अनेक हुए हैं। जैसे—पादपोपगमन, पादोपगमन, प्रायोगमन, प्रायोग्यगमन और प्रायोपगमन। शब्दभेद होने से कुछ अर्थभेद भी हुआ है, पर अभिप्राय प्रायः सबका समान ही रहा है। यथा—

पण्डित मरण के प्रसंग में भगवती आराधना (२०६८-६९) में कहा गया है कि क्षपक (आराधक) शरीर से निर्ममत्व होकर उसे जहां जिस प्रकार से रखता है जीवन पर्यन्त वह उसे स्वयं नहीं चलाता है—हलन-चलन क्रिया से रहित उसी प्रकार से उसे स्थिर रखता है। इस प्रकार निष्प्रतिकर्म—स्व-परप्रतीकार से रहित—मरण को प्रायोपगमन मरण कहा जाता है। इसी भ. आ. की विजयोदया और मूलाराधना-दर्पण टीकाओं (२९) में इसके स्वरूप को दिखलाते हुए कहा गया है कि संघ को छोड़कर अपने पावों से अन्यत्र चले जाने पर आराधक का जो अपनी व अन्य की वैयावृत्ति से रहित मरण होता है उसे पादोप-गमन मरण कहते हैं। यह उसकी सार्थक संज्ञा है। प्रकारान्तर से वहां यह भी संकेत किया गया है—अथवा

'पाउग्गगमण मरण' ऐसा पाठ है। तदनुसार 'प्रायोग्य' शब्द से संसार का अन्त करने योग्य संहनन और संस्थान को ग्रहण किया गया है तथा 'गमन' का अर्थ प्राप्ति है, इस प्रकार के संहनन और संस्थान की प्राप्ति के आश्रय से जो मरण होता है वह प्रायोग्य मरण कहलाता है। यह भी उसकी सार्थक संज्ञा है। मूलाराधनादर्पण में इतना विशेष कहा गया है कि इसे 'प्रायोगमन' भी कहा जाता है। तदनुसार वहां 'प्राय' शब्द से संन्यास युक्त अनशन को ग्रहण किया गया है। प्रकृत मरण चूंकि संन्यास युक्त अनशन की प्राप्ति होने पर सिद्ध किया जाता है, इसीलिए उसे 'प्रायोगमन' कहा गया है। यह नाम भी उसका सार्थक है।

पुलाक—तत्त्वार्थसूत्र (दि. ९-४६, श्वे. ९-४८) में जिन पांच निर्ग्रन्थों का निर्देश किया गया है उनमें पुलाक प्रथम हैं। उसके स्वरूप का निर्देश करते हुए स. सि. और त. वा. (९, ४६, १) आदि में कहा गया है कि जिन निर्ग्रन्थ मुनियों का मन उत्तरगुणों की भावनाओं से दूर रहता है तथा जो कहीं व कभी व्रतों की परिपूर्णता से भी रहित होते हैं उन्हें पुलाक निर्ग्रन्थ कहा जाता है। पुलाक नाम तुच्छ धान्य का है। ये निर्ग्रन्थ चूंकि शुद्धि से रहित होते हुए उस तुच्छ धान्य के समान होते हैं, इसीलिए उनका उल्लेख 'पुलाक' नाम से किया गया है। त. भाष्य (९-४८) में पुलाक उन निर्ग्रन्थों को कहा गया है जो जिनप्रणीत आगम से निरन्तर विचलित नहीं होते। इसी भाष्य में आगे (९-४९) प्रतिसेवना के प्रसंग में यह भी कहा गया है कि जो दूसरे के अभियोग (आक्षेप या कहने) से अथवा दवाव से पांच मूलगुणों और छठे रात्रि-भोजनव्रत इनमें से किसी एक का सेवन करता है उसे पुलाक कहते हैं। यहां मतान्तर को प्रगट करते हुए यह भी कहा गया है कि किन्हीं आचार्यों के अभिमतानुसार पुलाक नाम उसका है जो मैथुन का प्रतिसेवन करता है। इस भाष्य की सिद्ध. वृत्ति (९-४९) में भाष्योक्त इस लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'सम्यग्दर्शनपूर्वक होने वाले ज्ञान और चारित्र मोक्ष के हेतु हैं' इस प्रकार के आगम से जो कभी भ्रष्ट न होकर—उसपर दृढ़ रहते हुए—ज्ञान के अनुसार क्रिया का अनुष्ठान करते हैं, साथ ही जो तप और श्रुत के आश्रय से उत्पन्न हुई लब्धि (ऋद्धि) को उपजीवित रखते हुए—उसमें अनुरक्त रहकर—सकल संयम (महाव्रत) के गलने से अपने आपको तन्दुल कणों से शून्य धान्य के समान निःसार करते हैं उन्हें पुलाक कहा जाता है। कारण यह कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये सारभूत हैं, उनके विनाश से ही उक्त पुलाक निर्ग्रन्थों को निःसार कहा गया है। लगभग यही अभिप्राय प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति (७२३) में भी प्रगट किया गया है।

प्रवचनवत्सलत्व—सर्वार्थसिद्धि (६-२४) और तत्त्वार्थवार्तिक (६, २४, १३) आदि में इसके लक्षण में यह कहा गया है कि जिस प्रकार गाय अपने बछड़े से स्नेह करती है उसी प्रकार से साधर्मी जन के साथ जो स्नेह किया जाता है उसका नाम प्रवचनवत्सलत्व है। त. भा. (६-२३) में उसके स्वरूप को दिखलाते हुए कहा गया है कि जो जिनशासन में विहित अनुष्ठान के करने वाले व श्रुत के पारंगत हैं उनका तथा बाल, वृद्ध, तपस्वी, शैक्ष और ग्लान आदिकों का संग्रह, उपग्रह और अनुग्रह करना; यह प्रवचनवत्सलत्व का लक्षण है। स. सि. की अपेक्षा इस भाष्य में 'सधर्मा' को उक्त प्रकार से स्पष्ट किया गया है। धवला (पु. ८, पृ. ९०) व चारित्रसार (पृ. ३६) में समान रूप से कहा गया है कि प्रवचन तथा देशव्रती, महाव्रती और सम्यग्दृष्टि इनके विषय में जो अनुराग, आकांक्षा एवं ममेदंभाव होता है उसका नाम प्रवचनवत्सलता है।

बकुश—पांच प्रकार के निर्ग्रन्थ मुनियों में बकुश दूसरे हैं। सर्वार्थसिद्धि में उनके लक्षण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि जो निर्ग्रन्थता के प्रति स्थित [प्रस्थित] हैं—उसपर आरूढ़ हैं—व अखण्डित (निरतिचार) व्रतों का पालन करते हैं, पर जो शरीर और उपकरणों (पीछी व कमण्डलु) की विभूषा की अपेक्षा रखते हैं तथा जिनका परिवार से मोह नहीं छूटा है; ऐसे मोह की विचित्रता से युक्त निर्ग्रन्थ बकुश कहलाते हैं। 'बकुश' शब्द का अर्थ विचित्र है। उनका यह लक्षण कुछ विशेषता के साथ तत्त्वार्थभाष्य (९-४८) और तत्त्वार्थवार्तिक (९, ४६, २) इन दोनों में प्रायः शब्दशः समान पाया जाता है। वहां कहा गया है कि जो निर्ग्रन्थता के प्रति प्रस्थित हैं—प्रस्थान कर चुके हैं (उसपर आरूढ़ हैं), शरीर और उपकरणों की विभूषा (संस्कार या स्वच्छता) की अपेक्षा करते हैं, ऋद्धि व यश के अभिलाषी हैं, सात गौरव के आश्रित हैं, परिवार

के मोह से रहित नहीं हुए हैं, तथा छेद (प्रायश्चित्तविशेष) की विचित्रता से संयुक्त होते हैं; उन्हें बकुश कहा जाता है। स. सि. की अपेक्षा इनदोनों में 'ऋद्धि-यशस्कामाः, सातगौरवाश्रिताः, छेदशबलयुक्ताः' (स. सि. में 'मोहशबलयुक्ताः' ऐसा विशेषण है) ये विशेषण अधिक हैं। त. वा. में 'अखण्डितव्रताः' यह पद भी स. सि. के समान है, पर वह त. भाष्य में नहीं है। प्रकृत लक्षण के प्रसंग में स. सि. में 'नैर्ग्रन्थ्यं प्रति स्थिताः' त. भा. में 'नैर्ग्रन्थ्यं प्रति प्रस्थिताः' और त. वा. में 'नैर्ग्रन्थ्यं प्रस्थिताः' ऐसा पाठभेद पाया जाता है। इनमें त. भा. का पाठ अधिक संगत दिखता है। सम्भवतः प्रतिलेखकों के आश्रय से यह पाठभेद हुआ है।

ब्रह्मचर्यअणुव्रत—श्रावक के पांच अणुव्रतों में यह चौथा है। इसके स्वरूप का निर्देश करते हुए चारित्रप्राभृत (२३) में कहा गया है कि परसे प्रेमका परिहार करना—उससे निवृत्त होना—इसका नाम ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। रत्नकरण्डक (३-१३)के अनुसार जो पाप के भय से—न कि राजदण्डादि के भय से—न तो स्वयं परस्त्री के साथ समागम करता है और न उसके लिए दूसरे को प्रेरित करता है, इसे परदार-निवृत्ति कहा जाता है। दूसरे नाम से इसे वहां स्वदार सन्तोष भी कहा गया है। सर्वार्थसिद्धि(७-२०) के अनुसार जिसका अनुराग उपात्त और अनुपात्त अन्य स्त्री के संग से हट चुका है ऐसा गृहस्थ प्रकृत अणुव्रत का धारक होता है। लगभग यही अभिप्राय प्रायः उन्हीं शब्दों में त. वार्तिक(७, २०, ४), त. श्लोकवार्तिक और चरित्रसार (पृ. ६) में भी प्रगट किया गया है।

श्रावकप्रज्ञप्ति (२७०) और पंचाशक प्रकरण (१-१५) में पर-स्त्री के परित्याग और स्वदार-सन्तोषको चतुर्थ (ब्रह्मचर्य)अणुव्रत का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है। यहां औदारिक और वैक्रियिक के भेद से पर-स्त्री को दो प्रकार कहा गया है। श्रा. प्र. की प्रकृत टीका में वैक्रियिक से विद्याधरी आदि को ग्रहण किया गया है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (१०७-१०) में अब्रह्म के स्वरूप को दिखलाकर उसे हिंसा का कारण बतलाते हुए यह कहा गया है कि जो मोह के वश अपनी स्त्री मात्र को नहीं छोड़ सकते हैं उन्हें भी अन्य सभी स्त्रियों का सेवन नहीं करना चाहिए। कार्तिकेयानुप्रेक्षा (३३७-३८) में कहा गया है कि जो अशुचिस्वरूप व दुर्गन्धित स्त्री के शरीर की ओर से विरक्त होता हुआ उसके रूप-लावण्य को भी मन के मोहित करने का कारण मानता है तथा जो मन, वचन व काय से परस्त्री को माता, बहिन और पुत्री के समान मानता है वह स्थूल ब्रह्मचारी—ब्रह्मचर्य अणुव्रत का धारक—होता है। यही अभिप्राय सुभाषितरत्नसन्दोह (७७८) में भी प्रगट किया गया है।

योगशास्त्र (२-७६) में प्रकृत अणुव्रत के लक्षण का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि ब्रह्मचर्याणुव्रती गृहस्थ को अब्रह्म के फलभूत नपुंसकता और इन्द्रियछेद को देखकर स्व-स्त्री में सन्तुष्ट रहते हुए अन्य स्त्रियों का परित्याग करना चाहिये। इसके स्वो. विवरण में विशेष रूप से यह निर्देश किया गया है कि अपनी धर्मपत्नी में सन्तुष्ट रहना, गृहस्थ का यह एक ब्रह्मचर्य है तथा अन्य से सम्बन्धित स्त्रियों का छोड़ना, यह उसका दूसरा ब्रह्मचर्य है।

सागारधर्मामृत (४, ५१-५२) में स्वदारसन्तोष अणुव्रत(ब्रह्मचर्याणुव्रत) के प्रसंग में रत्नकरण्डक का अनुसरण करते हुए कहा गया है कि स्वदारसन्तोषी वह गृहस्थ होता है जो पाप के भय से—न कि राजदण्डादि के भय से—अन्य स्त्रियों और प्रगट स्त्रियों के साथ न तो स्वयं समागम करता है और न दूसरों को कराता है। इसकी स्वो. टीका में अन्य स्त्री और प्रगट स्त्री का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि अन्य स्त्री से अभिप्राय उन परस्त्रियों से है जो चाहे परिगृहीत हों और चाहे अपरिगृहीत हों। इनमें परिगृहीत स्त्रियां वे हैं जो स्वामी से सनाथ है। स्वेच्छाचारिणी, जिसका पति प्रवास में है अथवा अनाथ कुलांगना इनको अपरिगृहीत माना जाता है। भविष्य में पति से सम्बद्ध होने के कारण अथवा पिता आदि के अधीन होने के कारण कन्या को भी सनाथ माना जाता है—उसे अनाथ नहीं माना जा सकता।

यहां आ. कुन्दकुन्द ने प्रकृत ब्रह्मचर्याणुव्रत के प्रसंग में जो संक्षेप से 'परिहारो परपिम्मे' इतना मात्र कहा है उसमें उनका यही अभिप्राय रहा दिखता है कि परस्त्रीविषयक प्रेम को छोड़ना, यह ब्रह्मचर्य

अणुव्रत का लक्षण है। रत्नकरण्डककार को इस अणुव्रत में कृत व कारित रूप में पर स्त्री संसर्ग का परित्याग अभीष्ट रहा है। वह राजदण्डादिके भय से न होकर पाप के भय से होना चाहिये। इसका उन्होंने दूसरा नाम स्वदारसन्तोष भी दिया है। कारण यह कि स्वदारसन्तोष होने के विना परदारपरित्याग सम्भव नहीं है। सर्वार्थसिद्धिकार ने अन्य स्त्री को स्पष्ट करते हुए उसे उपात्त और अनुपात्त विशेषणों से विशिष्ट किया है। उपात्त-अनुपात्त से उनका क्या अभिप्राय रहा है, यह प्रकृत में स्पष्ट नहीं है। फिर भी आगे उसके अतिचारों के प्रसंग (७-२८) में सूत्रनिर्दिष्ट इत्वरिका के परिगृहीत व अपरिगृहीत विशेषण दृष्टिगोचर होते हैं। सम्भव है सर्वार्थसिद्धिकारका अभिप्राय उपात्त से परिगृहीत और अनुपात्त से अपरिगृहीत अन्य स्त्री का रहा हो। यहां परिगृहीत और अपरिगृहीत को स्पष्ट करते हुए स. सि. में परिगृहीत उस स्त्री को कहा गया है जिसका एक पुरुष भर्ता (पति) है। स्वामिविहीन वेश्या अथवा दुश्चरित्र होने से स्वभावतः पर पुरुष से समागम करने वाली स्त्री का निर्देश यहां अपरिगृहीता के रूप में किया गया है। सर्वार्थसिद्धिकारका 'अन्य स्त्री' से अभिप्राय विधिपूर्वक परिणीत अपनी पत्नी से भिन्न स्त्री मात्रका रहा है, ऐसा प्रतीत होता है; उससे उनका अभिप्राय 'अन्य की स्त्री' नहीं रहा।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है हरिभद्र सूरि ने परस्त्री के दो भेद निर्दिष्ट किये हैं—औदारिक और वैक्रियिक। औदारिक से उन्होंने मनुष्यनी व तिर्यंचनी तथा वैक्रियिक से विद्याधरी आदि को ग्रहण किया है। हरिभद्र के पूर्व इन भेदों का उल्लेख कहां व किसके द्वारा किया गया है, यह अन्वेषणीय है। इसके अतिरिक्त हरिभद्र सूरिने इत्वरपरिगृहीतागमन और अपरिगृहीतागमन इनको प्रकृत व्रत का अतिचार माना है। इनमें इत्वरपरिगृहीतागमन को स्पष्ट करते हुए उन्होंने अपनी टीका में कहा है कि जिस वेश्या को भाड़ा देकर कुछ काल के लिए अपने वश कर लिया है उसका सेवन करने पर व्रत भंग न होकर इत्वरपरिगृहीतागमन नाम का अतिचार ही होता है। जिस वेश्या ने किसी दूसरे से भाड़ा नहीं ग्रहण किया है उसको तथा स्वामिविहीन कुलांगना को उन्होंने अपरिगृहीता माना है। इनके साथ समागम करने पर भी उक्त व्रत का अतिचार ही होता है। प्रकृत व्रत को हरिभद्र सूरिने परदारपरित्याग और स्वदारसन्तोष के भेद से दो प्रकार का निर्दिष्ट किया है। तदनुसार इस चतुर्थ अणुव्रत का धारी गृहस्थ इस व्रत को विकल्प के रूप में स्वीकार करता है—वह या तो परस्त्री का ही त्याग करता है या फिर केवल स्वदारसन्तोष को ही स्वीकार करता है। यही कारण है जो उन्होंने आगे प्रकृत व्रत के पांच अतिचारों के प्रसंग (२७३) में उपर्युक्त इत्वरपरिगृहीतागमन अतिचार को स्वदारसन्तोषी के लिए और अपरिगृहीतागमन अतिचार को परदारपरित्यागी के लिये निर्दिष्ट किया है। इन अतिचारों के सम्बन्ध में लगभग इसी अभिप्राय को विशेष विशदीकरण के साथ हेमचन्द्र सूरिने अपने योगशास्त्र के स्वो. विवरण (३-९४) में तथा पं. आशाधर ने अपने सा. ध. की स्वो. टीका (४-५८) में भी व्यक्त किया है।

भोगोपभोगपरिमाणव्रत—देखिये पीछे पृ. १८-२० 'परिभोग' शब्द।

यथाप्रवृत्तकरण—इसके अथाप्रवृत्तकरण और अधःप्रवृत्तकरण ये अन्य पर्यायनाम भी उपलब्ध होते हैं। प्रथम सम्यक्त्वकी प्राप्ति के प्रसंग में षट्खण्डागम (१, ९-८, ३-४, पु. ६, पृ. २०३ व २०६) में कहा गया है कि जीव जब कर्मों की अन्तःकोड़ाकोड़ि प्रमाण स्थिति को बांधता है तब वह उस प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है—उसकी प्राप्ति के योग्य होता है। यह सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाला जीव कैसा होना चाहिये, इसे स्पष्ट करते हुए वहां यह कहा गया है कि वह पंचेन्द्रिय, संज्ञी, मिथ्यादृष्टि, पर्याप्तक और सर्वविशुद्ध—अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप तीन प्रकार की विशुद्धियों से परिणत—होना चाहिए। षट्खण्डागमगत इस अभिप्राय को सर्वार्थसिद्धि (२-३) और तत्त्वार्थवार्तिक (२, ३, २) में भी प्रायः वैसे ही शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है। त. वा. (९, १, ११) में 'सर्वविशुद्ध' पद के स्पष्टीकरण में जिन तीन प्रकार की विशुद्धियों का उल्लेख किया गया है उनमें प्रकृत अथाप्रवृत्त (अधःप्रवृत्त) करण प्रथम है। वहां सामान्य से अथाप्रवृत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीनों करणों को समस्त ही कर्म

अणुव्रत का लक्षण है। रत्नकरण्डककार को इस अणुव्रत में कृत व कारित रूप में पर स्त्री संसर्ग का परित्याग अभीष्ट रहा है। वह राजदण्डादिके भय से न होकर पाप के भय से होना चाहिये। इसका उन्होंने दूसरा नाम स्वदारसन्तोष भी दिया है। कारण यह कि स्वदारसन्तोष होने के विना परदारपरित्याग सम्भव नहीं है। सर्वार्थसिद्धिकार ने अन्य स्त्री को स्पष्ट करते हुए उसे उपात्त और अनुपात्त विशेषणों से विशिष्ट किया है। उपात्त-अनुपात्त से उनका क्या अभिप्राय रहा है, यह प्रकृत में स्पष्ट नहीं है। फिर भी आगे उसके अतिचारों के प्रसंग (७-२८) में सूत्रनिर्दिष्ट इत्वरिका के परिगृहीत व अपरिगृहीत विशेषण दृष्टिगोचर होते हैं। सम्भव है सर्वार्थसिद्धिकारका अभिप्राय उपात्त से परिगृहीत और अनुपात्त से अपरिगृहीत अन्य स्त्री का रहा हो। यहां परिगृहीत और अपरिगृहीत को स्पष्ट करते हुए स. सि. में परिगृहीत उस स्त्री को कहा गया है जिसका एक पुरुष भर्ता (पति) है। स्वामिविहीन वेश्या अथवा दुश्चरित्र होने से स्वभावतः पर पुरुष से समागम करने वाली स्त्री का निर्देश यहां अपरिगृहीता के रूप में किया गया है। सर्वार्थसिद्धिकारका 'अन्य स्त्री' से अभिप्राय विधिपूर्वक परिणीत अपनी पत्नी से भिन्न स्त्री मात्र का रहा है, ऐसा प्रतीत होता है; उससे उनका अभिप्राय 'अन्य की स्त्री' नहीं रहा।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है हरिभद्र सूरि ने परस्त्री के दो भेद निर्दिष्ट किये हैं—औदारिक और वैक्रियिक। औदारिक से उन्होंने मनुष्यनी व तिर्यञ्चनी तथा वैक्रियिक से विद्याधरी आदि को ग्रहण किया है। हरिभद्र के पूर्व इन भेदों का उल्लेख कहां व किसके द्वारा किया गया है, यह अन्वेषणीय है। इसके अतिरिक्त हरिभद्र सूरिने इत्वरपरिगृहीतागमन और अपरिगृहीतागमन इनको प्रकृत व्रत का अतिचार माना है। इनमें इत्वरपरिगृहीतागमन को स्पष्ट करते हुए उन्होंने अपनी टीका में कहा है कि जिस वेश्या को भाड़ा देकर कुछ काल के लिए अपने वश कर लिया है उसका सेवन करने पर व्रत भंग न होकर इत्वरपरिगृहीतागमन नाम का अतिचार ही होता है। जिस वेश्या ने किसी दूसरे से भाड़ा नहीं ग्रहण किया है उसको तथा स्वामिविहीन कुलांगना को उन्होंने अपरिगृहीता माना है। इनके साथ समागम करने पर भी उक्त व्रत का अतिचार ही होता है। प्रकृत व्रत को हरिभद्र सूरिने परदारपरित्याग और स्वदारसन्तोष के भेद से दो प्रकार का निर्दिष्ट किया है। तदनुसार इस चतुर्थ अणुव्रत का धारी गृहस्थ इस व्रत को विकल्प के रूप में स्वीकार करता है—वह या तो परस्त्री का ही त्याग करता है या फिर केवल स्वदारसन्तोष को ही स्वीकार करता है। यही कारण है जो उन्होंने आगे प्रकृत व्रत के पांच अतिचारों के प्रसंग (२७३) में उपर्युक्त इत्वरपरिगृहीतागमन अतिचार को स्वदारसन्तोषी के लिए और अपरिगृहीतागमन अतिचार को परदारपरित्यागी के लिये निर्दिष्ट किया है। इन अतिचारों के सम्बन्ध में लगभग इसी अभिप्राय को विशेष विशदीकरण के साथ हेमचन्द्र सूरिने अपने योगशास्त्र के स्वो. विवरण (३-९४) में तथा पं. आशाधर ने अपने सा. ध. की स्वो. टीका (४-५८) में भी व्यक्त किया है।

भोगोपभोगपरिमाणव्रत—देखिये पीछे पृ. १८-२० 'परिभोग' शब्द।

यथाप्रवृत्तकरण—इसके अथाप्रवृत्तकरण और अधःप्रवृत्तकरण ये अन्य पर्यायनाम भी उपलब्ध होते हैं। प्रथम सम्यक्त्वकी प्राप्ति के प्रसंग में षट्खण्डागम (१, ९-८, ३-४, पु. ६, पृ. २०३ व २०६) में कहा गया है कि जीव जब कर्मों की अन्तःकोड़ाकोड़ि प्रमाण स्थिति को बांधता है तब वह उस प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है—उसकी प्राप्ति के योग्य होता है। यह सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाला जीव कैसा होना चाहिये, इसे स्पष्ट करते हुए वहां यह कहा गया है कि वह पंचेन्द्रिय, संज्ञी, मिथ्यादृष्टि, पर्याप्तक और सर्वविशुद्ध—अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप तीन प्रकार की विशुद्धियों से परिणत—होना चाहिए। षट्खण्डागमगत इस अभिप्राय को सर्वार्थसिद्धि (२-३) और तत्त्वार्थवार्तिक (२, ३, २) में भी प्रायः वैसे ही शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है। त. वा. (९, १, ११) में 'सर्वविशुद्ध' पद के स्पष्टीकरण में जिन तीन प्रकार की विशुद्धियों का उल्लेख किया गया है उनमें प्रकृत अथाप्रवृत्त (अधःप्रवृत्त) करण प्रथम है। वहां सामान्य से अथाप्रवृत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीनों करणों को समस्त ही कर्म

तियों की स्थिति को हीन करने वाले तथा अशुभ प्रकृतियों के अनुभागबन्ध को हीन और शुभ प्रकृतियों नुभागबन्ध को वृद्धिंगत करनेवाले कहा गया है। वहां यह स्पष्ट किया गया है कि प्रथम सम्यक्त्व के मुख हुआ जीव कर्मों को अन्तःकोड़ाकोड़ि प्रमाण स्थिति से युक्त करके कालादिलब्धि को प्राप्त होता त अथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय में प्रविष्ट होता है। यह करण चूंकि पूर्व में कभी प्रवृत्त नहीं हुआ, सीलिए इसका 'अथाप्रवृत्त' यह सार्थक नाम है। इस अथाप्रवृत्तकरण के अन्तिम समय तक नाना जीवों के धस्तन व उपरिम परिणाम सम भी होते हैं और विषम भी। इन असंख्यात लोक प्रमाण परिणामों के मुदाय का नाम अथाप्रवृत्त है। लगभग इसी अभिप्राय को अमितगति विरचित पंचसंग्रह (पृ. ३०) में भी गट किया गया है। इतनी यहां विशेषता है कि विकल्प के रूप में उसके 'अधःप्रवृत्तकरण' इस नामान्तर का भी निर्देश किया गया है। इस करण में चूंकि उपरितन जीवों के परिणाम अधस्तन समयवर्ती जीवों के परिणामों से समान प्रवृत्त होते हैं, इस प्रकार से उसकी उक्त संज्ञा की भी यहां सार्थकता दिखलायी गई है।

धवला (पु. ६, पृ. २१७) के अनुसार उत्तरोत्तर अनन्तगुणित अधःप्रवृत्त रूप विशुद्धियों का नाम अधःप्रवृत्तकरण है। इस करण में चूंकि ऊपर के परिणाम नीचे के परिणामों में प्रवृत्त होते हैं, अतएव यह उनका सार्थक नाम है। इन परिणामों का उल्लेख 'करण' नाम से क्यों किया गया, इसे स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि इन परिणामों में तलवार व वसूला आदि के समान करण का लक्षण (साधकतमत्व) पाया जाता है, इसीसे उन्हें करण कहा गया है। पूर्वोक्त पंचसंग्रह में विकल्प रूप में 'अधःप्रवृत्तकरण' इस नाम का भी जो निर्देश किया गया है उसे प्रकृत धवला का अनुसरण समझना चाहिये। सामान्य से इसी प्रकार का अभिप्राय जो गो. जीवकाण्ड (४८) और लब्धिसार (३५) में प्रगट किया गया है वह भी धवला का अनुसरण है।

सम्यक्त्वकी प्राप्ति के प्रसंग में विशेषावश्यक भाष्य में कहा गया है कि आयु को छोड़कर शेष सात कर्मों की उत्कृष्ट अथवा जघन्य स्थिति के होने पर सम्यक्त्व, श्रुत, देशव्रत और सर्वव्रत इन चार सामायिकों में से कोई भी नहीं प्राप्त होता। उन कर्मों की स्थिति जब अन्तःकोड़ाकोड़ि प्रमाण होकर उसमें भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन हो जाती है तब कहीं उसकी प्राप्ति सम्भव है। कर्मों की इस स्थिति तक घन राग-द्वेष परिणाम स्वरूप ग्रन्थि अभिन्न ही रहती है। उसका भेदन जब अपूर्वकरण परिणाम के द्वारा कर दिया जाता है तब कहीं उक्त सम्यक्त्व आदि का लाभ हो सकता है। अथाप्रवृत्त, अपूर्व और अनिवृत्ति के भेद से करण तीन प्रकार का है। इनमें अथाप्रवृत्तकरण भव्य और अभव्य दोनों के सम्भव है, किन्तु अपूर्व-करण और अनिवृत्तिकरण ये दोनों भव्य के ही सम्भव हैं, अभव्य के नहीं। प्रथम अथाप्रवृत्तकरण अनादि काल से रहकर उक्त ग्रन्थिस्थान तक रहता है। जिस प्रकार पहाड़ी नदी के भीतर पड़े हुए पत्थर प्रवाह में परस्पर के संघर्षण से स्वयमेव अनेक आकारों में परिणत हो जाते हैं उसी प्रकार अनादिसिद्ध उस अथा-प्रवृत्तकरण के आश्रय से उक्त ग्रन्थिस्थान तक पूर्वोक्त कर्मों की स्थिति स्वयमेव हीन हो जाती है। उक्त सम्यक्त्व आदि की प्राप्ति के विषय में वहाँ पल्य, गिरिसरित्पाषाण एवं पिपीलिका आदि के कितने ही उदाहरण भी दिये गये हैं। विशेष के लिए देखिये विशेषावश्यक भाष्य (द. ला. भारतीय विद्यामन्दिर, अहमदाबाद) ११८८-१२१३ आदि। विशेषावश्यकभाष्यगत सम्यक्त्व प्राप्ति विषयक इस अभिप्राय का अनुसरण संक्षेप में श्रावकप्रज्ञप्ति (३१-३७) में भी किया गया है। गाथा ३२ की टीका में वहां विशेषावश्यक भाष्य की 'गंठित्ति सुदुब्भेओ' आदि गाथा (११९३) को भी उद्धृत किया गया है।

आवश्यक निर्युक्ति की मलयगिरि विरचित वृत्ति (१०६) में यथाप्रवृत्तकरण के लक्षण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि अनादिसिद्धि प्रकार से जो करण प्रवृत्त है उसका नाम यथाप्रवृत्त है, 'क्रियते कर्मक्षपणमनेनेति करणम्' इस निरुक्ति के अनुसार जिसके द्वारा कर्म का क्षय किया जाता है उसे यहां करण कहा गया है। अभिप्राय यह हुआ कि पहाड़ी नदी में अवस्थित पाषाणों की घोलना के समान जो अध्यवसाय-विशेष अनादि काल से कर्मक्षय में प्रवृत्त है उसे यथाप्रवृत्तकरण जानना चाहिये।

याचनापरीषहजय—प्रकृत परीषह के स्वरूप का विचार करते हुए सर्वार्थसिद्धि (९-९) और

तत्त्वार्थवार्तिक (६, ६, १६) में कहा गया है कि बाह्य और अभ्यन्तर तप का आचरण करते हुए साधु का शरीर यद्यपि अतिशय दुर्बल व कान्ति से हीन हो जाता है, फिर भी वह प्राण निकल जाने पर भी दीन वचन कहकर या मुख की विवर्णता को प्रगट करके भोजन, वसति और ओषध आदि की याचना नहीं करता तथा भिक्षा के समय भी वह दुरुपलक्ष्य रहकर शीघ्रता से निकल जाता है—किसी गृहस्थ के द्वार पर विशेष रुकता नहीं है। इस प्रकार से वह याचनापरीषह पर विजय प्राप्त करता है।

आव. निर्युक्ति की हरिभद्र विरचित वृत्ति (६१८) में कहा गया है कि साधु दूसरों के द्वारा दिये गये भोजन आदि पर जीवित रहता है। उसे चूंकि विना याचना के कुछ प्राप्त होता नहीं है, इसीलिए उसे याचनाजनित दुख को सहन करना चाहिये और गृहस्थपने की इच्छा नहीं करना चाहिये। यह अभिप्राय हरिभद्र सूरि ने वहां एक प्राचीन पद्य को उद्धृत कर उसके आश्रय से प्रगट किया है। यहीं पर उन्होंने आगे चतुर्थ अध्ययन की वृत्ति (पृ. ६५७) में पुनः यह कहा है कि याचना का अर्थ अन्वेषण है। भिक्षु को वस्त्र, पात्र, अन्न-पान एवं वसति आदि सब दूसरों से प्राप्त करना पड़ते हैं। जो शालीन—धृष्टता से रहित—होता है वह याचना के प्रति आदरभाव नहीं रखता, पर प्रतिभासम्पन्न साधु को कार्य के उपस्थित होने पर अपने धर्म और शरीर के संरक्षण के लिये याचना अवश्य करना चाहिये। इस प्रकार से याचना करता हुआ साधु याचनापरीषह पर विजय प्राप्त करता है।

यहां सर्वार्थसिद्धि के कर्ता आ. पूज्यपाद और आव. निर्युक्ति के वृत्तिकार हरिभद्र सूरि के अभिप्राय में यह विशेषता है कि पूज्यपाद जहां भोजन आदि के अलाभ में कष्ट के होने पर साधु के लिए किसी भी प्रकार की याचना न करने की प्रेरणा करते हैं वहां हरिभद्र सूरि याचना को अनिवार्य वतलाकर उसके लिए प्रेरित करते हुए साधु को तज्जन्य दुख के सहन करने का उपदेश करते हैं।

रसत्याग, रसपरित्याग—यह अनशन आदि छह बाह्य तपों में चौथा है। इसके स्वरूप को प्रगट करते हुए मूलाचार (५-१५५) में कहा गया है कि दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और नमक इनका तथा तिक्त, कटुक, कषाय, आम्ल और मधुर इन रसों का जो परित्याग किया जाता है उसका नाम रसपरित्याग तप है। इसी अभिप्राय को भगवती आराधना (२१५-१७) में भी कुछ विस्तार से प्रगट करते हुए वहां इतना विशेष निर्देश किया गया है कि इस तप का आराधन विशेष कर सल्लेखना करने वाले के लिए समझना चाहिये।

त. भाष्य (६-१६) में रसपरित्याग को अनेक प्रकार का कहा गया है। जैसे—मद्य रस के विकृति-भूत मांस, मधु और नवनीत आदि का परित्याग करते हुए नीरस व रूखे भोजन का नियम करना आदि। इसका कुछ स्पष्टीकरण योगशास्त्र के स्वो. विवरण में किया गया है। वहां यह अभिप्राय प्रगट किया गया है कि 'रसपरित्याग' के अन्तर्गत 'रस' शब्द से रसवान् अभिप्रेत है, कारण कि यहां 'मतुप्' प्रत्यय का लोप हो गया है। तदनुसार विशिष्ट रस से संयुक्त गरिष्ठ व विकार के हेतुभूत मद्य, मांस, मधु और नवनीत तथा अभिग्रह के योग्य दूध, दही, तेल व गुड़ आदि के परित्याग को रसपरित्याग तप जानना चाहिये।

यहां यह विचारणीय है कि जिन मद्य, मांस और मधु आदि से गृहस्थ भी परहेज करता है उनका परित्याग साधु के द्वारा अनुष्ठेय प्रकृत रसपरित्याग तप के अन्तर्गत क्यों कराया गया। आ. समन्तभद्र ने तो रत्नकरण्डक (६६) में उक्त मद्य, मांस और मधुके परित्याग को श्रावक के मूलगुणों में गर्भित किया है। इसके अतिरिक्त भोगोपभोगपरिमाणव्रत के प्रसंग में भी उन्होंने उनके परित्याग को अनिवार्य समझते हुए कहा है कि श्रावक को त्रसहिंसा के परिहारार्थ मधु और मांस का तथा प्रमादपरिहार के लिए मद्य का भी परित्याग करना चाहिये (रत्नक. ८४)। इसी प्रकार अमृतचन्द्र सूरि ने भी अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में उक्त मद्य, मांस और मधु के साथ पांच उदुम्बर फलों के भी दोषों को दिखलाते हुए उनका परित्याग गृहस्थ को अहिंसाणुव्रत के अन्तर्गत कराया है। उन्होंने तो यहां तक कह दिया है कि जो निर्मलबुद्धि भव्य जीव दुस्तर पाप के स्थानभूत उन आठों का परित्याग कर देते हैं वे ही जिनधर्मदेशना के पात्र होते हैं (पु. सि. ६१-७४)। इसी प्रकार हेमचन्द्र सूरि ने भी अपने योगशास्त्र (३,६-७) में उक्त मद्य, मांस, मधु और नवनीत को हेय वतलाकर उनके परित्याग के लिये गृहस्थ को प्रेरित किया है।

वलन्मरण, वलाकामरण, वलायमरण—ये प्रायः समान अभिप्राय के सूचक हैं। इनके लक्षण का निर्देश करते हुए उत्तराध्ययनचूर्णि (५ पृ., १२८) में कहा गया है कि जो संयमयोगसे—संयम के सम्बन्ध से अथवा संयम व योग (ध्यान-समाधि) के अनुष्ठान से—विषाद को प्राप्त होकर मरते हैं उनके इस मरण को वलायमरण या वलाकामरण कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि जिनके संयमयोग है वे मरण को तो स्वीकार करते हैं, किन्तु संयम को सर्वथा नहीं छोड़ते, यह वलायमरण का लक्षण है। अथवा क्षुधादिपरीषहों से वलते हुए—भ्रष्ट होकर—जो मरते हैं उनके मरण को वलायमरण समझना चाहिये। उपसर्गमरण को वलायमरण नहीं कहा जा सकता। भ. आ. की विजयोदया टीका (२५, पृ. ८६) के अनुसार जो विनय व वैयावृत्य आदि के विषय में आदर नहीं करते, प्रशस्त योग के धारण करने में आलस्य करते हैं, प्रमाद से युक्त रहते हैं; व्रतों, समितियों एवं गुप्तियों के परिपालन में अपनी शक्ति को छिपाते हैं; तथा धर्म के चिन्तन में निद्रा से झूमते हुए के समान उपयोग से रहित होकर ध्यान व नमस्कार आदि से दूर भागते हैं, उनके मरण को वलायमरण कहा जाता है। प्रवचनसारोद्धार (१०१०) में उक्त उत्तरा. चूर्णि के समान ही अभिप्राय को व्यक्त किया गया है। स्थानांगकी अभयदेव विरचित वृत्ति (१०२) और समवायांग की भी अभयदेव विरचित वृत्ति (१७) में प्रायः समान रूप से यह कहा गया है कि परीषहादि से पीड़ित होकर जो संयम से निवर्तमान होते हैं उनके मरण को वलन्मरण कहते हैं।

पं. आशाधर ने भ. आ. की मूलाराधनादर्पण टीका (२५) में पार्श्वस्थ रूप से होने वाले मरण को वलाकामरण कहा है।

विहायोगति नामकर्म—स. सिद्धि (८-११) त. वा. (८, ११, १८), धवला (पु. ६, पृ. ६१) और मूलाचार वृत्ति (१२-१९५) में कहा गया है कि विहायस् नाम आकाश का है, जिस नामकर्म के उदय से जीव का आकाश में गमन होता है उसे विहायोगति नामकर्म कहा जाता है। धवला में आगे (पु. १३, पृ. ३६५) कुछ विशेष रूप में यह कहा गया है कि जिसके उदय से पृथ्वी का आश्रय लेकर अथवा बिना उसका आश्रय लिये भी जीवों का आकाश में गमन होता है वह विहायोगति नामकर्म कहलाता है।

त. भाष्य (८-१२) के अनुसार जो कर्म लब्धिनिमित्तक, शिक्षानिमित्तक अथवा ऋद्धिनिमित्तक आकाशगमन का कारण है उसे विहायोगति नामकर्म कहते हैं। समवायांग की वृत्ति (४२) में कहा गया है कि जिसके आश्रय से जीव शुभ या अशुभ गति से युक्त होता है उसका नाम विहायोगति नामकर्म है।

वृत्तिपरिसंख्यान तप—यह छह बाह्य तपों में तीसरा है। मूलाचार (५-१५८) में कहा गया है कि गोचर (गृह) के प्रमाण के साथ दाता—जैसे पुरुष, स्त्री, वृद्ध अथवा युवक आदि; पात्र और भोजनविषयक विशेषता के नियम को ग्रहण करके तदनुसार भोजन के प्राप्त होने पर उसे ग्रहण करना, अन्यथा उपवास करना, इसका नाम वृत्तिपरिसंख्यान तप है। लगभग इसी प्रकार का अभिप्राय स. सि. (९-१९) व त. वा. (९, १९, ४) आदि में भी प्रगट किया गया है।

भगवती आराधना (२१८-२१) में इसके लक्षण को प्रगट करते हुए ऋजु व गोमूत्रिका आदि अनेक प्रकार की वीथी (गली) की विशेषता; पाटक, णियंसण एवं भिक्षा के प्रमाण और ग्रास के प्रमाण, इत्यादि कितनी ही विशेषताओं को प्रगट करते हुए तदनुसार ही भोजन के प्राप्त होने पर उसके ग्रहण करने को वृत्तिपरिसंख्यान तप कहा गया है।

त. भाष्य (९-१९) में प्रकृत तप को अनेक प्रकार का बतलाया गया है। जैसे—उत्क्षिप्तचर्या, अन्तचर्या अथवा प्रान्तचर्या आदि में तथा सत्तू, कल्माष अथवा ओदन आदि में से किसी एक का नियम करके शेष सबका परित्याग करना।

व्यवहारनय—स. सिद्धि (१-३३), त. वा. (१, ३३, ६), धवला (पु. १, पृ. ८४ व पु. ६, पृ. १७१), त. श्लो. वा. (१, ३३, ५८), नयविवरण (७४), ह. पुराण (५८-४५) और त. सार (१-४६) आदि में प्रकृत नय के लक्षण का निर्देश करते हुए प्रायः समान रूप में यही कहा गया है कि संग्रहनय के द्वारा गृहीत पदार्थों का जो विधिपूर्वक अवहरण (विभाग) किया जाता है, इसे व्यवहारनय कहते हैं। आगे धवला में (पु. ६,

पृ. १७१) इतना विशेष कहा गया है कि पर्यायरूप कलंक से रहित शुद्ध द्रव्यार्थिक स्वरूप संग्रहनय के विषयभूत अद्वैत से शेष दो-तीन आदि अनन्त विकल्परूप संग्रह प्रस्तार का आलम्बन लेने वाला जो व्यवहारनय है उसे पर्यायरूप कलंक से दूषित होने के कारण अशुद्ध द्रव्यार्थिक जानना चाहिये। यही अभिप्राय जयधवला (१, पृ. २९९) में भी प्रगट किया गया है।

आव. निर्युक्ति (७५६) में उसके स्वरूप को दिखलाते हुए कहा गया है कि जो विनिश्चयार्थ—सामान्याभाव के निमित्त—जाता है, अर्थात् सामान्याभावस्वरूप विशेष को विषय करता है, उसे व्यवहारनय कहते हैं। इस निर्युक्ति (वच्चइ विणिच्छयत्थं ववहारो सव्वदव्वेसु।) की व्याख्या करते हुए आ. मलयगिरि ने 'विनिश्चय' के अन्तर्गत 'निर्' का अर्थ अधिकता किया है, इस प्रकार अधिकता से होनेवाले चय को निश्चय मानकर उन्होंने यह अभिप्राय प्रगट किया है कि जो उस निश्चय (सामान्य) से विगत है—सामान्य को विषय न करके उसके अभावस्वरूप विशेष को विषय करता है—उसका नाम व्यवहारनय है। आगे उन्होंने 'विशेषतोऽवह्रियते निराक्रियते सामान्यमनेनेति व्यवहारः' ऐसी निरुक्ति करते हुए निष्कर्ष रूप में उसी अभिप्राय को व्यक्त किया है कि जो नय विशेष के प्रतिपादन में तत्पर रहता है उसे व्यवहारनय समझना चाहिए।

त. भाष्य (१-३५) में उक्त नय के लक्षण को प्रगट करते हुए प्रारम्भ में यह कहा गया है कि जो नय लौकिक जन के समान उपचारप्राय विस्तृत अर्थ को विषय करता है वह व्यवहारनय कहलाता है। तत्पश्चात् प्रसंगानुरूप एक शंका का समाधान करते हुए वहां उसके लक्षण में पुनः यह कहा गया है कि नामस्थापनादि विशेषणों से विशिष्ट वर्तमान, अतीत और भविष्यत् कालीन एक अथवा बहुत से घट जो संग्रहनय के विषयभूत रहे हैं, लौकिक (व्यवहारी) जन और परीक्षक जन के द्वारा ग्राह्य उपचारगम्य उन्हीं घटों के विषय में स्थूल पदार्थों के समान जो बोध होता है उसे व्यवहारनय समझना चाहिये।

अमृतचन्द्र सूरि प्रसंगानुसार प्रकृत व्यवहारनय के लक्षण में यह कहते हैं कि पुद्गलपरिणामरूप जो आत्मा का कर्म है वह पुण्य और पाप के भेद से दो प्रकार का है। उस पुद्गलपरिणाम का कर्ता आत्मा उसको ग्रहण करता है व छोड़ता है, इस प्रकार से जो अशुद्ध द्रव्य का निरूपण किया करता है उसे व्यहारनय जानना चाहिये (प्रव. सा. वृत्ति २-९७)। तत्त्वानुशासन (२९) के अनुसार व्यवहारनय वह है जो भिन्न कर्ता व कर्म आदि को विषय करता है।

सूत्रकृतांग की शीलांक विरचित वृत्ति (२, ७, ८१, पृ. १८८) में कहा गया है कि जो लोकव्यवहार के अनुसार वस्तु को ग्रहण किया करता है उसका नाम व्यहारनय है। स्थानांगकी अभयदेव विरचित वृत्ति (१८६) में सम्भवतः आव. निर्युक्ति का अनुसरण करते हुए निरुक्तिपूर्वक यही कहा गया है कि जो सामान्य का निराकरण करके विशेष रूप से वस्तु को ग्रहण करता है उसका नाम व्यवहारनय है। अथवा लोकव्यवहार में तत्पर होकर विशेष मात्र को जो स्वीकार करता है उसे व्यवहारनय समझना चाहिये।

श्रमण—प्राचीन काल में जैन ऋषियों के लिए श्रमण शब्द का उपयोग होता रहा है। प्रवचनसार (३, ४०-४१) के अनुसार पांच समितियों और तीन गुप्तियों का पालन करने वाले, पांचों इन्द्रियों व कषायों के विजेता, दर्शन व ज्ञान से परिपूर्ण तथा शत्रु व मित्र, सुख व दुख, प्रशंसा व निन्दा, मिट्टी व सोना एवं जीवन व मरण; इनमें सम—राग-द्वेष से रहित—होते हैं ऐसे मुनियों को श्रमण कहा गया है।

सूत्रकृतांग (१, १६, २) में श्रमण की अनेक विशेषताओं को प्रगट करते हुए कहा गया है कि जो शरीर आदि विषयक प्रतिबन्ध से व निदान से रहित होता है, आदान, अतिपात, मृषावाद, बहिद्ध (मैथुन), क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष इत्यादि जो स्व और पर का अहित करनेवाले हैं उनको ज्ञ परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से जो परित्याग करता है; इसके अतिरिक्त जो जिस जिस अनुष्ठान से अपने प्रद्वेष के कारणों को देखता है—उस सबसे विरत होता है; तथा जो दान्त, द्रविक (संयमी) व शरीर से निःस्पृह होता है, उसे श्रमण जानना चाहिये। उत्तरा. चूर्णि (पृ. ७२) के अनुसार जिसका मन सर्वत्र—शत्रु-मित्र आदि के विषय में, सम—राग-द्वेष से रहित—होता है वह समण (श्रमण) कहलाता है।

पद्मपुराण (१४-५०) में श्रमण उन्हें कहा गया है जो सब प्रकार के परिग्रह से रहित होकर घोर तपश्चरण में निरत होते हुए तत्त्व के चिन्तन में परायण रहते हैं। ऐसे श्रमणों को उत्कृष्ट पात्र समझना चाहिये।

भ. आराधना की विजयोदया टीका (७१), सूत्रकृ. की शीलांक विरचित वृत्ति (२, ६, ४) और योगशास्त्र के स्वो. विवरण (३-१३०) में लगभग समान रूप से 'श्राम्यति तपस्यतीति श्रमणः, इस प्रकार की निरुक्तिपूर्वक यह कहा गया है कि जो तपश्चरण में तत्पर रहता है उसे श्रमण कहा जाता है। उपासकाध्ययन (८५६) में कहा गया है कि जो श्रान्ति से श्रान्त नहीं होता उसे श्रमण जानना चाहिये। 'भिक्षु' को श्रमण का ही पर्यायवाची समझना चाहिए। सूत्रकृतांग (१, १६, ३) और उत्तराध्ययन (१५, १ से १६) में इसी प्रकार के अनेक महत्त्वपूर्ण विशेषणों द्वारा भिक्षु की विशेषता प्रगट की गई है (देखिये 'भिक्षु' शब्द)।

सत्य—यह दस प्रकार के धर्म तथा पांच प्रकार के अणुव्रत और पांच प्रकार के महाव्रत के अन्तर्गत है। द्वादशानुप्रेक्षा में (७४) इसके स्वरूप का निर्देश करते हुए कहा गया है कि जो वचन दूसरों के सन्ताप का कारण न होकर स्व और पर के लिये हितकर हो उसका नाम सत्य है। सत्यधर्म का धारक भिक्षु ऐसे ही वचन को बोलता है। स. सिद्धि (९-६) और त. वार्तिक (९, ६, ६) आदि में कहा गया है कि प्रशस्त जनों के मध्य में जो साधु (उत्तम या निरवद्य) वचन बोला जाता है उसे सत्य कहते हैं।

त. भाष्य (९-६) में इसके लक्षण का निर्देश करते हुए 'सत्यार्थे भवं वचः सत्यम्, सद्भ्यो वा हितं सत्यम्' इस प्रकार की निरुक्ति के साथ कहा गया है कि जो वचन यथार्थ वस्तु को विषय करता है अथवा सत्पुरुषों के लिए हितकर होता है उसका नाम सत्य है। वह असत्यता, कठोरता, पिशुनता, असभ्यता, चपलता, कलुषता और भ्रान्ति से रहित होता हुआ मधुर, अभिजात—कुलीनता का सूचक, असंदिग्ध, स्पष्ट, औदार्य गुण से सहित, ग्राम्य दोष से रहित और राग-द्वेष से मुक्त होता है। इसके अतिरिक्त आगमानुसार प्रवृत्त होने वाला वह वचन यथार्थ, श्रोता जनों के लिये अभिप्राय के ग्रहण कराने में समर्थ, अपना व दूसरों का अनुग्राहक, उपाधि से रहित, देश-काल के योग्य, निर्दोष, जैनागम में प्रशस्त, संयत, मित, याचन, पृच्छन और प्रश्न के अनुसार समाधान करनेवाला होता है। वसुदेवहिंडी (पृ. २६७) में सत्यवचन उसे कहा गया है जो भावतः विशुद्ध, यथार्थ, अहिंसा से अनुगत तथा पिशुनता व कठोरता से रहित होता है।

भ. आ. की विजयोदया टीका (५७) में असत् (असमीचीन) वचन से विरत होने को सत्य कहा गया है। यह तत्त्वार्थसूत्र का (७-१४) का अनुसरण है।

मूलाचार (५-१११) में भाषा समिति के प्रसंग में सत्य वचन के ये दस भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—जनपद, सम्मत, स्थापना, नाम, रूप, प्रतीत्य, सम्भावना, व्यवहार, भाव और औपम्य सत्य। आगे वहां (५,,११२-१६) सोदाहरण पृथक्-पृथक् उनके लक्षणों का भी निर्देश कर दिया गया है। इनसे बहुत कुछ मिलते जुलते उस सत्य वचन के दस ही भेद सत्यप्रवाद पूर्व के प्रसंग में त. वार्तिक (१, २०, १२) में भी उपलब्ध होते हैं जैसे—नाम, रूप, स्थापना, प्रतीत्य, संवृति, संयोजना, जनपद, देश, भाव और समय सत्य। यहां भी उनके पृथक्-पृथक् लक्षण निर्दिष्ट किये गये हैं। पूर्वोक्त मूलाचार के समान उसके वे दस भेद योग मार्गणा के प्रसंग में गो. जीवकाण्ड (२२१-२३) में भी उदाहरणपूर्वक कहे गये हैं।

असत्य—पूर्वोक्त सत्य का प्रतिपक्षी अनृत या असत्य है। तत्त्वार्थसूत्र (७-१४) में इसके पर्यायवाची 'अनृत' शब्द का उपयोग करते हुए असत् वचन के बोलने को अनृत कहा है। उसकी व्याख्या करते हुए स. सिद्धि आदि में 'सत्' शब्द को प्रशंसावाची मानकर 'असत्' का अर्थ अप्रशस्त किया गया है। ऋत का अर्थ सत्य और अनृत का अर्थ असत्य है। त. भाष्य (७-९) में असत् शब्द से सद्भाव के प्रतिषेध, अर्थान्तर और गर्हा को ग्रहण किया गया है। इनका विशेष विचार प्रस्तुत जैन लक्षणावली के प्र. भाग की प्रस्तावना पृ. ७९ में 'अनृत' के अन्तर्गत किया जा चुका है।

भगवती आराधना (८२५-२९) में असत्य के चार भेद कहे गये हैं—(१) द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से पदार्थ के सत् होते हुए भी अपनी बुद्धि से विचार न करके उसका प्रतिषेध करना। जैसे—यहां घट नहीं है। इत्यादि प्रकार के वचन को प्रथम असत्य जानना चाहिये। इसे भूतनिह्नव या सदपलाप कहा जा सकता है। (२) जो असद्भूत है—जिसका होना सम्भव नहीं है—उसके उद्भावन को द्वितीय असत्य कहा गया है। जैसे—देवों का अकाल में मरण होता है। अथवा जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से असत् (अविद्यमान) है उसका विचार न करके उसके अस्तित्व को प्रगट करना। जैसे—यहां घट है। इत्यादि प्रकार का वचन। इसे अभूतोद्भावन या असदुद्भावन कहा जा सकता है। (३) एक जाति का जो पदार्थ विद्यमान है उसे अविचारपूर्वक अन्य जाति का बतलाना। जैसे—गाय को घोड़ा कहना। इत्यादि प्रकार के वचन को तीसरा असत्य कहा गया है। इसे अर्थान्तर वचन कहा जा सकता है। जो वचन गर्हित, सावद्य संयुक्त अथवा अप्रिय है उसे चौथा असत्य माना गया है। इन गर्हित आदि वचनों का सोदाहरण लक्षण भी वहां प्रगट किया गया है।

ध्यानशतक की हरिभद्र सूरि विरचित वृत्ति (२०) में द्वितीय रौद्र ध्यान के प्रसंग में पिशुन, असभ्य, असद्भूत और भूतघात इन असत्य वचनों की व्याख्या करते हुए पूर्वोक्त त. भाष्य (देखिये प्र. भाग की प्रस्तावना पृ. ७९) के अनुसार असद्भूत को अभूतोद्भावन, भूतनिह्नव, और अर्थान्तर के भेद से तीन प्रकार का निर्दिष्ट किया गया है। यहां क्रम से उन तीनों के लिए ये उदाहरण दिये गये हैं—यह आत्मा सर्वगत है, आत्मा है ही नहीं, तथा गाय को अश्व कहना। इनके अतिरिक्त यहां मूल में निर्दिष्ट पूर्वोक्त पिशुन, असभ्य और भूतघात इन असत्य वचनों के स्वरूप को भी प्रगट किया गया है।

पूर्वोक्त भ. आराधना के अनुसार पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (९१-१००) में भी प्रकृत असत्य वचन के वे ही चार भेद स्वरूपनिर्देश के साथ उपलब्ध होते हैं। विशेष इतना है कि भ. आ. में जहां प्रथम व द्वितीय असत्य वचनों का स्वरूप दो दो विकल्पों में निर्दिष्ट किया गया है वहां पु. सि. में उनके विषय में कोई विकल्प न करके सामान्य से भ. आ. गत द्वितीय विकल्प को ही अपनाया गया है तथा उदाहरण भी क्रम से देवदत्त व घट के दिये गये हैं। इतनी विशेषता यहां और भी है कि प्रकृत असत्य वचन व चौर्य कर्म आदि सभी पापों को वहां हिंसा का रूप दिया गया है।

सागारधर्मामृत (४, ३९-४५) में सत्याणुव्रत के प्रसंग में सत्याणुव्रती को कन्यालीक, गायविषयक अलीक, पृथिवी विषयक अलीक, कूटसाक्ष्य और न्यासापलाप इन पांच असत्य वचनों के परित्याग के साथ जो सत्य वचन स्व और पर को आपत्ति जनक है ऐसे सत्य वचन का भी परित्याग कराया गया है। इसमें जो कन्यादिविषयक पांच असत्य वचनों का परित्याग कराया गया है उसका आधार सम्भवतः श्रावक-प्रज्ञप्ति की २६०वीं गाथा रही है। इस प्रसंग में यहां सामान्य से वचन के इन चार भेदों का निर्देश किया गया है—सत्य-सत्य, सत्याश्रित असत्य, असत्याश्रित सत्य और असत्यासत्य। इनका स्वरूप वहां संक्षेप में इस प्रकार कहा गया है—जो वस्तु जिस देश, काल, प्रमाण और आकार में प्रतिज्ञात है उसके विषय में उसी प्रकार के कथन को सत्यसत्य कहा जाता है। वस्त्र बुनो, भात पकाओ, इत्यादि प्रकार के वचन को सत्याश्रित असत्य माना गया है। विवक्षित वस्तु को प्रयोजनवश किसी अन्य से लेकर जितने समय में उसे वापिस कर देने की प्रतिज्ञा की थी उतने समय में न देकर कुछ काल के बाद उसे वापिस करने पर तीसरा असत्याश्रितसत्य वचन होता है। जो वस्तु अपने पास नहीं है 'उसे मैं कल दूंगा' इस प्रकार के वचन का नाम असत्यासत्य है। यह वचन लोक व्यवहारका विरोधी होने से सत्याणुव्रती के लिये सर्वथा हेय कहा गया है, शेष प्रथम तीन वचनों का प्रयोग वह कर सकता है।

समभिरूढ़नय—जैन सम्प्रदाय में नयों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। विविध जैन ग्रन्थों में उनका विस्तार से विवेचन किया गया है। कहीं-कहीं तो वह जटिल और दुरूह भी हो गया है। इसके अतिरिक्त तद्विषयक मतभेद भी कुछ परस्पर में हो गया है। प्रकृत में समभिरूढ़नयविषयक विचार विविध ग्रन्थों में जिस प्रकार से किया गया है उसका दिग्दर्शन यहां कराया जाता है।

स. सिद्धिसम्मत सूत्रपाठ के अनुसार त. सू. (१-३३) में नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द समभिरूढ़ और एवंभूत ये नय के सात भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। पर त. भाष्य सम्मत सूत्रपाठ के अनुसार उसी त. सू (१-३४) में उसके ये पांच भेद कहे गये हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द। उसके भाष्य (१-३५) में देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी के भेद से नैगमनय को दो प्रकार का तथा साम्प्रत, समभिरूढ़ और एवंभूत के भेद से शब्दनय को तीन प्रकार का कहा गया है।

प्रकृत समभिरूढ़नय के लक्षण का निर्देश करते हुए स. सि. (१-३३) में कहा गया है कि जो शब्द के अनेक अर्थों को छोड़कर प्रमुखता से एक ही अर्थ में रूढ़ होता है उसे समभिरूढ़नय कहते हैं। जैसे—'गो' शब्द के वाणी व इन्द्रिय आदि अनेक अर्थ हैं, फिर भी वह इस नय की अपेक्षा अन्य अर्थों की उपेक्षा करके पशुविशेष (गाय) में रूढ़ है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, त. भाष्यसम्मत सूत्रपाठ में यद्यपि इस नय को प्रमुख स्थान प्राप्त नहीं है, फिर भी उसे शब्दनय के एक भेद के रूप में स्वीकार किया हो गया है। वहां उसके लक्षण में कहा गया है कि अनेक अर्थों के होने पर भी इस नय की अपेक्षा उनमें संक्रमण नहीं होता—अनेक अर्थों में प्रवृत्त न होकर वह प्रमुखता से एक ही अर्थ को स्वीकार करता है। आगे यहीं पर वहां एक प्रसंगप्राप्त शंका का समाधान करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि साम्प्रत शब्दनय के विषयभूत उन्हीं साम्प्रत (वर्तमान) घटों में जो अध्यवसाय का असंक्रमण होता है उसे समभिरूढ़नय समझना चाहिए। इसका स्पष्टीकरण करते हुए वहां वितर्क ध्यान का उदाहरण देकर यह अभिप्राय प्रगट किया गया है कि जिस प्रकार वितर्क—एकत्ववितर्क शुक्लध्यान का—अर्थ, व्यंजन और योगों में संक्रमण नहीं होता, किन्तु उनमें से किसी एक के ऊपर ही वह आरूढ़ रहता है, उसी प्रकार प्रकृत समभिरूढ़नय का शब्द के अनेक अर्थों में संक्रमण नहीं होता—एक ही अर्थ को वह प्रमुखता से ग्रहण करता है।

यहां यह स्मरणीय है कि धवला (पु. १, पृ. ८५-८६) में अर्थनय और व्यंजननय के भेद से पर्यायार्थिकनय को दो प्रकार का निर्दिष्ट किया गया है। उनमें ऋजुसूत्र को अर्थनय तथा शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत को शब्दनय कहा गया है।

आगे इसी धवला (पु.९, पृ. १८१) और नयविवरण (९५) में नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र इन चार को अर्थनय तथा शेष तीन को शब्दनय कहा गया है।

विशेषा. भाष्य (२७२७) के अनुसार शब्द जिस जिस अर्थ को कहता है, शब्दान्तर के अर्थ से विमुख होकर वह चूंकि उसी अर्थ पर आरूढ़ रहता है, इसीलिए उसका समभिरूढनय यह सार्थक नाम है।

त. वार्तिक (१, ३३, १०), त. भाष्य की हरि. वृत्ति (१-३५), अनुयोग. की हरि. वृत्ति (पृ. १०८), धवला (पृ. १, पृ. ८९ व पु. ९, पृ. १७९), जयध. (१, पृ. २४०), हरिवंशपुराण (५८-४८), त. श्लो. वार्तिक (१, ३३, ७६), सूत्रकृतांग की शीलांक. वृत्ति (२, ७, ८१, पृ. १८८) और प्रमेयकमलमार्तण्ड (६-७४, पृ. ६८०) आदि में प्रायः सवार्थसिद्धि के लक्षण (नानार्थसमभिरोहणात् समभिरूढः) का अनुसरण किया गया है। त. वा. में विशेषता यह है कि वहां पूर्वोक्त त. भा. के समान वस्त्वन्तर में असंक्रमण तो बतलाया गया है, पर वहां तृतीय अवितर्क व अविचार सूक्ष्मक्रिय नामक शुक्लध्यान का उदाहरण दिया गया है। त. वा. का यह विवेचन उक्त त. भा. से प्रभावित रहा दिखता है। त. भा. में जहां सामान्य से अवितर्क ध्यान का उदाहरण दिया गया है वहां त. वा. में सामान्य से 'अवितर्क ध्यानवत्' ऐसा निर्देश करके भी आगे उसे स्पष्ट करते हुए तीसरे सूक्ष्मक्रिय-अवितर्क-अविचार शुक्लध्यान की ही सूचना की गई है।

लघुनयचक्र (४२) द्रव्यस्व. प्र. नयचक्र (२१४) और आलापपद्धति (पृ. १४६) के अनुसार जिस नय के आश्रय से अर्थ शब्द में और शब्द अर्थ में रूढ़ होता है वह समभिरूढ़नय कहलाता है।

स्थानांग की अभय. वृत्ति (१८६) में कहा गया है कि समभिरूढनय वह है जो प्रत्येक वाचक के आश्रय से वाच्यभेद का आश्रय लेता है वह अनन्तर उक्त विशेषण से युक्त भी वस्तु के शक्र व पुरंदर आदि वाचकों के भेद से भेद को स्वीकार करता है, जैसे घट-पटादि विभिन्न शब्द। जैसे—'घटते चेष्टते इति घटः'

सम्यक्त्व—दर्शन, सद्दर्शन, सद्दृष्टि, सम्यग्दर्शन और सम्यग्दृष्टि ये प्रायः प्रकृत सम्यक्त्व के समानार्थक शब्द हैं। बोधप्राभृत (१४) में दर्शन के लक्षण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि जो सम्यक्त्व, संयम और उत्तम धर्मस्वरूप मोक्षमार्ग को दिखलाता है तथा परिग्रह से रहित होता हुआ ज्ञानस्वरूप है उसे जैन मार्ग में दर्शन कहा गया है। पंचास्तिकाय (१०७) में भावों--जीव-अजीव आदि नौ पदार्थों--के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा गया है। आगे इसी पंचास्तिकाय की गा. १६० और तत्त्वानुशासन (३०) में धर्मादिकों के श्रद्धान को सम्यक्त्व का लक्षण प्रगट किया गया है। समयप्राभृत (११) में सम्यग्दृष्टि उसे कहा गया है जो भूतार्थ (शुद्धनय) के आश्रित हैं। आगे इसी समयप्राभृत (१५) और मूलाचार (५-६) में भी समान शब्दों में भूतार्थस्वरूप से अधिगत जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इनको ही अभेद विवक्षा से सम्यक्त्व कहा गया है। आगे उक्त समयप्राभृत (१६५) मेंजीवादि के श्रद्धान को भी सम्यक्त्व का लक्षण प्रगट किया गया है। नियमसार गा. ५ में आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान को; गा. ५१ में विपरीत अभिप्राय से रहित श्रद्धान को, तथा गा. ५२ में चल, मलिन और अगाढता दोषों से रहित श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा गया है। दर्शनप्राभृत (१९) में छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पांच अस्तिकाय और सात तत्त्व इनके स्वरूप के श्रद्धान करने वाले को सम्यग्दृष्टि तथा यहीं पर आगे (गा. २०) जीवादि के श्रद्धान को व्यवहार से सम्यक्त्व एवं आत्मा के श्रद्धान को निश्चय से सम्यक्त्व कहा गया है। मोक्षप्राभृत (१४) के अनुसार सम्यग्दृष्टि वह श्रमण होता है जो स्वद्रव्य में निरत रहता है। आगे इस मोक्षप्राभृत (३८) और उपासकाध्ययन (२६७) में तत्त्वरुचि को तथा उसके आगे इसी मोक्षप्राभृत की गा. ९० और भावसंग्रह की गा. २६२ में समान शब्दों द्वारा हिंसा से रहित धर्म, अठारह दोषों से रहित देव, निर्ग्रंथ गुरु और प्रावचन —प्रवचन से होने वाले ज्ञान अथवा द्रव्यश्रुत—विषयक श्रद्धान को सम्यक्त्व का लक्षण कहा गया है। यहां यह स्मरणीय है कि मूलाचार, उपासकाध्ययन और भावसंग्रह को छोड़कर उपर्युक्त सभी ग्रन्थ कुन्दकुन्दाचार्य के द्वारा रचे गये हैं।

जैसा कि पूर्व में निर्देश किया जा चुका है, मूलाचार (५-६) में समयप्राभृत की १५वीं गाथा को आत्मसात् कर तदनुसार भूतार्थस्वरूप से अधिगत जीवादि नौ पदार्थों को ही सम्यक्त्व कहा गया है। इसके पूर्व (५-५) यहां मार्ग (मोक्षमार्ग) को भी सम्यक्त्व कहा जा चुका है। आगे यहां (५-६८) यह भी कहा गया है कि 'जो जिन देव के द्वारा उपदिष्ट है वही यथार्थ है', इस प्रकार भावतः—परमार्थ से-ग्रहण करना, यह सम्यग्दर्शन का लक्षण है। वृत्तिकार ने इसे आज्ञा सम्यक्त्व का लक्षण कहा है। ध्यान रहे कि ये लक्षण यहां दर्शनाचार के प्रसंग में निर्दिष्ट किये गये हैं। इस प्रकार यहां सम्यग्दर्शन के लिये दर्शन (५-३) सम्यक्त्व (५,५-६) और सम्यग्यदर्शन (५-६८) ये तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

उत्तराध्ययन (२८-१४-१५) में कहा गया है कि जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये नौ पदार्थ जिस रूप में अवस्थित हैं उसी रूप में उनका जो श्रद्धान करता है उसके वह सम्यक्त्व जानना चाहिए। यहां यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि पूर्वोक्त समयप्राभृत (१५) में जहां भूतार्थ से अधिगत इन्हीं नौ पदार्थों को ही अभेदविवक्षा से सम्यक्त्व कहा गया है वहां प्रकृत उत्तराध्ययन में उनके श्रद्धान को सम्यक्त्व का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है। प्रकृत उत्तरा. की चूर्णि (पृ. २७२) में कहा गया है कि शुद्ध पदार्थों के विषय में जो निसर्ग अथवा अधिगम से रुचि होती है उसका नाम सम्यग्दर्शन है। यह स्पष्टतः त. सू. (१,२-३) का अनुसरण है।

तत्त्वानुशासन (२५) के अनुसार जो जीवादि नौ पदार्थ जिन देव के द्वारा जिस प्रकार से उपदिष्ट हैं वे उसी प्रकार हैं, ऐसी जो श्रद्धा होती है उसे सम्यग्दर्शन माना गया है। इसमें सम्भवतः मूलाचार (५-६८) का अनुसरण किया गया है। लगभग यही अभिप्राय धर्मपरीक्षा (१९-१०) में भी प्रगट किया गया है, जो शब्द और अर्थ से भी प्रकृत तत्त्वानुशासन से बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

तत्त्वार्थसूत्र १-२ में तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा गया है। इसके भाष्य (१-१) में प्रशस्त अथवा संगत दर्शन को सम्यक्त्व कालक्षण निर्दिष्ट किया गया है। आगे इसी भाष्य (१-२)

में तत्त्वार्थश्रद्धान को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि तत्त्वों के अर्थों के श्रद्धान अथवा तत्त्व रूप से अर्थों के श्रद्धान का नाम तत्त्वार्थश्रद्धान है और यही तत्त्वार्थश्रद्धान उस सम्यग्दर्शन का लक्षण है जो प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य स्वरूप है। प्रशमरतिप्रकरण(२२२)में जीवादिकों के विषय में जो निश्चय से 'तत्त्व' इस प्रकार का अध्यवसाय होता है उसे सम्यग्दर्शन कहा गया है। बृहत्कल्पसूत्र (१३४) के अनुसार सुन करके······जो तत्त्वरुचि होती है उसे सम्यक्त्व कहा जाता है। पउमचरिउ(१०२,१२१) में सम्यग्दृष्टि उसे कहा गया है जो लौकिक श्रुतियों से रहित होकर जीवादि नौ पदार्थों का श्रद्धान करता है।

रत्नकरण्डक(४) के अनुसार परमार्थभूत आप्त, आगम और गुरु का जो तीन मूढ़ताओं से रहित, आठ अंगों से सहित एवं आठ मदों से रहित श्रद्धान होता है उसका नाम सम्यग्दर्शन है। परमात्मप्रकाश (१-७६) के अनुसार सम्यग्दृष्टि वह जीव होता है जो आत्मा को आत्मा मानता है। योगसार(८९)में भी लगभग इसी अभिप्राय को प्रगट करते हुए कहा गया है कि जो सब व्यवहार को छोड़कर आत्मस्वरूप में रमता है उसे सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव शीघ्र ही संसार के पार को पा लेता है—वह मुक्त हो जाता है। दि. पंचसंग्रह (१-१५९) और भावसंग्रह (२७८) में प्रायः समान रूप में यह कहा गया है कि जिन भगवान् के द्वारा उपदिष्ट छह, पांच और नौ प्रकार के पदार्थों का आज्ञा और अधिगम से जो श्रद्धान होता है उसे सम्यक्त्व कहते हैं। तत्त्वार्थवार्तिक (१, १, १) में कहा गया है कि उपयोगविशेष से प्रादुर्भूत निसर्ग व अधिगम रूप दो प्रकार के व्यापार से युक्त जो तत्त्वार्थश्रद्धान होता है उसका नाम सम्यग्दर्शन है। इसका अनुसरण करते हुए त. श्लो. वार्तिक (१, १, १) में भी प्रायः इसी अभिप्राय को व्यक्त किया गया है।

श्रावकप्रज्ञप्ति (६२) में पूर्वोक्त तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य का अनुसरण करते हुए तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यक्त्व का लक्षण बतलाकर यह कहा गया है कि उसके होने पर नियम से प्रशम आदि (संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य) प्रगट होते हैं।

धवला (पु. १, पृ. १५१ व पु. ७, पृ. ७) तथा मूलाचार की वृत्ति (१२-१५६) में प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इनकी अभिव्यक्ति को सम्यक्त्व का लक्षण प्रगट किया गया है। आगे इस धवला (पु. ६, पृ. ३८ तथा पु. १३, पृ. ३५७-५८) में आप्त, आगम और पदार्थ विषयक रुचि को दर्शन का लक्षण बतलाते हुए रुचि, प्रत्यय, श्रद्धा और स्पर्शन इन शब्दों को समानार्थक निर्दिष्ट किया गया है। यहीं पर (पु. ७, पृ. ७) तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन अथवा तत्त्वरुचिको सम्यक्त्व कहा गया है। पु. १३ (पृ. २८६-८७) में 'सम्यग् दृश्यन्ते परिच्छिद्यन्ते जीवादयः पदार्थाः अनया इति सम्यग्दृष्टिः' इस निरुक्ति के साथ यह अभिप्राय प्रगट किया गया है कि जिस दृष्टि के द्वारा जीवादि पदार्थ यथार्थ रूप में जाने जाते हैं उस दृष्टि का नाम सम्यग्दृष्टि है। प्रकारान्तर से यहां यह भी कहा गया है कि अथवा सम्यग्दृष्टि के अविनाभाव से सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये। पु. १५ (पृ. १२) में छह द्रव्य और नौ पदार्थ विषयक श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा गया है।

वरांगचरित (२६-६१) में सम्यग्दृष्टि उन्हें कहा गया है जो जिनप्रणीत प्रवचन पर श्रद्धा करते हैं, भावतः वृद्धिगत होते हैं और प्रत्यय भी करते हैं। हरिवंशपुराण (५८-१६) में तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार तत्त्वार्थश्रद्धानको तथा महापुराण (९-१२१ व २४-११७) में धवला (पु. ६, पृ. ३८) के अनुसार आप्त, आगम और पदार्थ विषयक रुचि या श्रद्धान को दर्शन या सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा गया है।

त. भाष्य (१-२, पृ. २६) की सिद्धसेन विरचित वृत्ति में कहा गया है कि सम्यग्दर्शन के घातक मिथ्यादर्शन और अनन्तानुबन्धी कषायों के क्षय आदि से जिनदेव के द्वारा उपदिष्ट समस्त द्रव्यों और पर्यायों को विषय करने वाली जो जीव की रुचि प्रादुर्भूत होती है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। आगे यहां (पृ. ३०) यह भी कहा गया है कि अविपरीत (यथार्थ) पदार्थों को ग्रहण करने वाली जो दृष्टि जीवादि विषय का उल्लेख करती हुई सी प्रवृत्त होती है उसका नाम सम्यग्दर्शन है। यहीं पर आगे (१-७, पृ. ५५) मुख्य वृत्ति से जो रुचि—श्रद्धा-संवेगादि रूप ज्ञानलक्षण आत्मपरिणाम—होता है उसे सम्यग्दर्शन कहा

गया है। यहां सम्यग्दृष्टि उस जीव को कहा गया है जिसकी सुन्दर दृष्टि समीचीन पदार्थों का अवलोकन किया करती है। आगे इसी वृत्ति (२-३) में तत्त्वरुचि को और तत्त्वार्थश्रद्धान (७-६ व ८-१०) को भी सम्यक्त्व का लक्षण कहा गया है। सूत्र ६-४ की वृत्ति में प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य की अभिव्यक्ति को सम्यग्दर्शन का लक्षण बतलाया गया है।

भ. आराधना की विजयोदया टीका (१६) के अनुसार वस्तु की यथार्थता के श्रद्धान का नाम दर्शन है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (२१६) में आत्मविनिश्चिति—पर से भिन्न आत्मा के निर्णय—को दर्शन कहा गया है। तत्त्वार्थसार १-४ व २-९१ में तत्त्वार्थश्रद्धान को क्रम से दर्शन व सम्यक्त्व कहा गया है। पंचास्तिकाय की अमृतचन्द्र विरचित वृत्ति (१६०) में द्रव्य व पदार्थ के विकल्प युक्त धर्मादिकों के श्रद्धान नामक तत्त्वार्थश्रद्धानभावस्वभाव भावान्तर को सम्यक्त्व का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है। योगसारप्राभृत (१-१६) के अनुसार जिसके आश्रय से जैसी वस्तु है उसका उसी रूप में जो ज्ञान होता है उसे जिन भगवान् के द्वारा सम्यक्त्व कहा गया है, वह सिद्धि (मुक्ति) के सिद्ध करने में समर्थ है। उपासकाध्ययन (२६७) में सम्यक्त्व का लक्षण तत्त्वविषयक रुचि कहा गया है। सावयधम्मदोहा (१६) व वसुनन्दिश्रावकाचार (६) में प्रायः समान शब्दों में यह कहा गया है कि आप्त, आगम और तत्त्वों का शंकादि दोषों से रहित जो निर्मल श्रद्धान होता है उसे सम्यक्त्व जानना चाहिये। जीवन्धरचम्पू (७-६) में आप्त, आगम और पदार्थों के श्रद्धान को दर्शन का लक्षण कहा गया है। जैसा कि धवला (पु. ६, पृ. ३८) में निर्दिष्ट किया जा चुका है तदनुसार आचारसार (३-३) में भी आप्त, आगम और पदार्थ विषयक रुचि को सम्यक्त्व कहा गया है। द्रव्यसंग्रह (४१) में सम्यक्त्व का लक्षण जीवादि का श्रद्धान प्रगट किया गया है।

स्थानांग की अभय. वृत्ति (१-४३) में 'दृश्यन्ते श्रद्धीयन्ते पदार्था अनेनास्मादस्मिन् वेति दर्शनम्' इस निरुक्ति के अनुसार दर्शनमोहनीय के क्षय या क्षयोपशम को तथा 'दृष्टिर्वा दर्शनम्' इस निरुक्ति के अनुसार उक्त दर्शनमोहनीय के क्षय आदि के आश्रय से प्रादुर्भूत तत्त्वश्रद्धानरूप आत्मपरिणाम को दर्शन कहा गया है। लगभग इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए आव. निर्युक्ति की मलयगिरि विरचित वृत्ति (१२१) में भी आत्मपरिणतिस्वरूप तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन का लक्षण प्रगट किया गया है।

इस प्रकार संक्षेप में उक्त सम्यग्दर्शन के लक्षणों को निम्न रूपों में देखा जा सकता है—

१. सम्यक्त्व, संयम या उत्तम धर्मस्वरूप मोक्षमार्ग का दर्शक (बोधप्राभृत)
२. जीवादि नौ पदार्थों का श्रद्धान (पंचास्तिकाय)
३. धर्मादिकों का श्रद्धान (पंचास्तिकाय)
४. भूतार्थ का आश्रय (समयप्राभृत)
५. भूतार्थ स्वरूप से अधिगत जीवादि (समयप्राभृत)
६. जीवादि का श्रद्धान (समयप्राभृत)
७. आप्त, आगम और पदार्थों का श्रद्धान (समयप्राभृत)
८. आप्त, आगम और तत्त्वों का श्रद्धान (नियमसार)
९. विपरीत अभिनिवेश से रहित श्रद्धान (,,)
१०. चल, मलिन और अगाढ़ता से रहित श्रद्धान (नियमसार)
११. छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पांच अस्तिकाय और सात तत्त्व इनके स्वरूप का श्रद्धान (दर्शनप्राभृत)
१२. जीवादिका श्रद्धान (व्यवहार सम्यग्दर्शन), आत्मा का श्रद्धान (निश्चय सम्यग्दर्शन)—दर्शनप्राभृत
१३. तत्वरुचि (मोक्षप्राभृत व बृहत्कल्प)
१४. हिंसारहित धर्म, अठारह दोषरहित देव, निर्ग्रन्थ गुरु और प्रवचन विषयक श्रद्धान (मोक्षप्राभृत)
१५. जिनोपदिष्ट ही यथार्थ है, ऐसा भावतः ग्रहण (मूलाचार)
१६. मार्ग ही सम्यक्त्व है (मूलाचार)

गया हैं। यहां सम्यग्दृष्टि उस जीव को कहा गया है जिसकी सुन्दर दृष्टि समीचीन पदार्थों का अवलोकन किया करती है। आगे इसी वृत्ति (२-३) में तत्त्वरुचि को और तत्त्वार्थश्रद्धान (७-६ व ८-१०) को भी सम्यक्त्व का लक्षण कहा गया है। सूत्र ६-४ की वृत्ति में प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य की अभिव्यक्ति को सम्यग्दर्शन का लक्षण बतलाया गया है।

भ. आराधना की विजयोदया टीका (१६) के अनुसार वस्तु की यथार्थता के श्रद्धान का नाम दर्शन है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (२१६) में आत्मविनिश्चिति—पर से भिन्न आत्मा के निर्णय—को दर्शन कहा गया है। तत्त्वार्थसार १-४ व २-९१ में तत्त्वार्थश्रद्धान को क्रम से दर्शन व सम्यक्त्व कहा गया है। पंचास्तिकाय की अमृतचन्द्र विरचित वृत्ति (१६०) में द्रव्य व पदार्थ के विकल्प युक्त धर्मादिकों के श्रद्धान नामक तत्त्वार्थश्रद्धानभावस्वभाव भावान्तर को सम्यक्त्व का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है। योगसारप्राभृत (१-१६) के अनुसार जिसके आश्रय से जैसी वस्तु है उसका उसी रूप में जो ज्ञान होता है उसे जिन भगवान् के द्वारा सम्यक्त्व कहा गया है, वह सिद्धि (मुक्ति) के सिद्ध करने में समर्थ है। उपासकाध्ययन (२६७) में सम्यक्त्व का लक्षण तत्त्वविषयक रुचि कहा गया है। सावयधम्मदोहा (१६) व वसुनन्दिश्रावकाचार (६) में प्रायः समान शब्दों में यह कहा गया है कि आप्त, आगम और तत्त्वों का शंकादि दोषों से रहित जो निर्मल श्रद्धान होता है उसे सम्यक्त्व जानना चाहिये। जीवन्धरचम्पू (७-६) में आप्त, आगम और पदार्थों के श्रद्धान को दर्शन का लक्षण कहा गया है। जैसा कि धवला (पु. ६, पृ. ३८) में निर्दिष्ट किया जा चुका है तदनुसार आचारसार (३-३) में भी आप्त, आगम और पदार्थ विषयक रुचि को सम्यक्त्व कहा गया है। द्रव्यसंग्रह (४१) में सम्यक्त्व का लक्षण जीवादि का श्रद्धान प्रगट किया गया है।

स्थानांग की अभय. वृत्ति (१-४३) में 'दृश्यन्ते श्रद्धीयन्ते पदार्था अनेनास्मादस्मिन् वेति दर्शनम्' इस निरुक्ति के अनुसार दर्शनमोहनीय के क्षय या क्षयोपशम को तथा 'दृष्टिर्वा दर्शनम्' इस निरुक्ति के अनुसार उक्त दर्शनमोहनीय के क्षय आदि के आश्रय से प्रादुर्भूत तत्त्वश्रद्धानरूप आत्मपरिणाम को दर्शन कहा गया है। लगभग इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए आव. निर्युक्ति की मलयगिरि विरचित वृत्ति (१२१) में भी आत्मपरिणतिस्वरूप तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन का लक्षण प्रगट किया गया है।

इस प्रकार संक्षेप में उक्त सम्यग्दर्शन के लक्षणों को निम्न रूपों में देखा जा सकता है—

१. सम्यक्त्व, संयम या उत्तम धर्मस्वरूप मोक्षमार्ग का दर्शक (बोधप्राभृत)
२. जीवादि नौ पदार्थों का श्रद्धान (पंचास्तिकाय)
३. धर्मादिकों का श्रद्धान (पंचास्तिकाय)
४. भूतार्थ का आश्रय (समयप्राभृत)
५. भूतार्थ स्वरूप से अधिगत जीवादि (समयप्राभृत)
६. जीवादि का श्रद्धान (समयप्राभृत)
७. आप्त, आगम और पदार्थों का श्रद्धान (समयप्राभृत)
८. आप्त, आगम और तत्त्वों का श्रद्धान (नियमसार)
९. विपरीत अभिनिवेश से रहित श्रद्धान („)
१०. चल, मलिन और अगाढ़ता से रहित श्रद्धान (नियमसार)
११. छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पांच अस्तिकाय और सात तत्त्व इनके स्वरूप का श्रद्धान (दर्शनप्राभृत)
१२. जीवादिका श्रद्धान (व्यवहार सम्यग्दर्शन), आत्मा का श्रद्धान (निश्चय सम्यग्दर्शन)—दर्शनप्राभृत
१३. तत्वरूचि (मोक्षप्राभृत व बृहत्कल्प)
१४. हिंसारहित धर्म, अठारह दोषरहित देव, निर्ग्रन्थ गुरु और प्रवचन विषयक श्रद्धान (मोक्षप्राभृत)
१५. जिनोपदिष्ट ही यथार्थ है, ऐसा भावतः ग्रहण (मूलाचार)
१६. मार्ग ही सम्यक्त्व है (मूलाचार)

१७. यथावस्थित जीवादिकों का भावतः श्रद्धान (उत्तराध्ययन)
१८. यथार्थ शुद्ध भावों की निसर्ग अथवा अधिगम से होनेवाली रुचि (उत्तराध्ययन चूर्णि)
१९. तत्त्वार्थ श्रद्धान (तत्त्वार्थसूत्र)
२०. निश्चय से यही तत्त्व है, ऐसा अर्थविषयक अध्यवसाय (प्रशमरति प्रकरण)
२१. परमार्थभूत आप्त, आगम और गुरु का निर्दोष श्रद्धान (रत्नकण्डक)
२२. आत्मा को आत्मा समझना (परमात्मप्रकाश)
२३. जिनोपदिष्ट छह, पांच और नौ प्रकार के पदार्थों का आज्ञा व अधिगम से होनेवाला श्रद्धान (दि. पंचसंग्रह)
२४. प्रणिधानविशेष से आहित निसर्ग व अधिगम रूप दो प्रकार के व्यापार से होने वाला श्रद्धान (तत्त्वार्थवार्तिक)
२५. प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, और आस्तिक्य की अभिव्यक्ति (धवला)
२६. जिस दृष्टि से भली भांति जीवादि पदार्थों का श्रद्धान होता है वह दृष्टि (धवला)
२७. जिनप्रणीत प्रवचन पर श्रद्धा (वरांगचरित)
२८. दर्शनविघातक कर्मों के क्षयादि से होनेवाली जिनोपदिष्ट समस्त द्रव्य-पर्यायविषयकरुचि (त. भा. सिद्ध. वृत्ति)
२९. अविपरीत पदार्थों को ग्रहण करने वाली दृष्टि (त. भा. सिद्ध. वृत्ति)
३०. आत्मविनिश्चिति (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)
३१. द्रव्य व पदार्थ के विकल्पयुक्त धर्मादिकों के तत्त्वार्थश्रद्धानभावस्वभाव श्रद्धान नामक भावान्तर (पंचा. अमृत. वृत्ति)
३२. शुद्ध नय की अपेक्षा एकत्व में नियत, व्यापक एवं पूर्ण ज्ञानघनस्वरूप आत्मा को द्रव्यान्तरों से पृथक् देखना (समयसारकलश)
३३. जैसी वस्तु है उसी प्रकार का ज्ञान जिसके आश्रय से आत्मा के होता है (योगसारप्राभृत)
३४. विपरीतता से रहित जिन प्रणीत तत्त्वप्रतिपत्ति (प्रज्ञापना मलय वृत्ति)

संग्रहनय—इसके लक्षण का निर्देश करते हुए सर्वार्थसिद्धि (१-३३) में कहा गया है कि जो अपनी जातिका विरोध न करके अनेक भेद युक्त पर्यायों को सामान्य से एक रूप में ग्रहण करता है उसे संग्रहनय कहते हैं। समस्तको ग्रहण करने के कारण इसका संग्रहनय यह सार्थक नाम है।

त. भाष्य (१-३५, पृ. ११८) के अनुसार पदार्थों का जो सर्वदेश अथवा एकदेश रूप से संग्रहण होता है उसका नाम संग्रहनय है। यहीं पर आगे (पृ. १२३) एक शंका के समाधान रूप में पुनः यह कहा गया है कि नाम-स्थापनादि से विशिष्ट एक अथवा बहुत साम्प्रत, अतीत व अनागत घटों में जो सम्प्रत्यय—सामान्य बोध—होता है उसे संग्रहनय कहा जाता है। आगे वहाँ नयविषयक विरोध की आशंका का निराकरण करते हुए 'आह च' ऐसा निर्देश करके ४ कारिकायें उद्धृत की गई हैं। उनमें से दूसरी कारिका में संग्रहनय के लक्षण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि जो सामान्यविषयक अथवा देशतः विशेषविषयक संगृहीतवचन है उस संग्रहनय से नियत ज्ञान को संग्रहनय जानना चाहिए।

अनुयोगद्वार गाथा १३७ (पृ. २६४) व आव. निर्युक्ति १३७ के अनुसार जो संग्रहवचन पदार्थों को पिण्डित रूप में ग्रहण करता है उसे संग्रहनय जानना चाहिये। विशेषा. भाष्य (७६ व २६९९) में भावसाधन, कर्तृसाधन और करणसाधन के आश्रय से कहा गया है कि सामान्य से भेदों के पिण्डित अर्थ के रूप में होने वाले संग्रह को, जो उनका संग्रह करता है, अथवा जिसके द्वारा उनका संग्रह किया जाता है उसका नाम संग्रहनय है। यह उसका सार्थक नाम है।

त. वार्तिक (१, ३३, ५) में पूर्वोक्त सर्वार्थसिद्धिगत लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि अपनी चेतन-अचेतन रूप जाति से च्युत न होकर जो एकता को प्राप्त कराकर भेदों का संग्रह—समस्त रूप

ग्रहण होता है, इसका नाम संग्रहनय है। जैसे—'सत् द्रव्य' ऐसा कहने पर द्रव्य, पर्याय व उनके भेद-प्रभेद जो सत्ता सम्बन्ध के योग्य हैं उन सबको द्रव्यत्व से अविरुद्ध होने के कारण एक रूप में ग्रहण किया गया है। अतएव इसे संग्रहनय जानना चाहिये। दूसरा उदाहरण यहां घट का दिया गया है, 'घट' ऐसा कहने पर यद्यपि प्रकृत घट नाम-स्थापनादि के भेद से, सुवर्ण व मिट्टी आदि उपादान के भेद से, रक्त-पीतादिरूप वर्ण के भेद से, तथा आकार के भेद से अनेक प्रकार के हैं; तो भी वे सब ही 'घट' शब्द के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। अतः वाचक के अभिन्न होने से उन सबको यह नय एक रूप में ग्रहण करता है। यहां जो 'सत् द्रव्य व घट' ये दो उदाहरण दिये गये हैं उन्हें क्रम से पूर्वोक्त त. भाष्य में निर्दिष्ट सर्वदेश व एकदेश के स्पष्टीकरण स्वरूप समझना चाहिए।

पूर्वोक्त त. भाष्यगत 'अर्थानां सर्वैकदेशग्रहणं संग्रहः' इस लक्षण को स्पष्ट करते हुए उसकी हरि. वृत्ति में 'सर्व' शब्द से सामान्य और 'देश' शब्द से विशेष को ग्रहण करके उसका यह अभिप्राय प्रगट किया है कि पदार्थों का सामान्य व विशेष रूप से जो एक रूप में ग्रहण होता है उसे संग्रहनय कहा जाता है। यही अभिप्राय प्रायः उन्हीं शब्दों में उक्त त. भाष्य की अपनी वृत्ति में सिद्धसेन गणि ने भी व्यक्त किया है। अनुयोगद्वार की हरि. वृत्ति (पृ. ३६) में प्रकृत संग्रहनय को स्वभावतः सामान्य मात्र को ग्रहण करने वाला निर्दिष्ट किया गया है।

धवला (पु. १, पृ. ८४) में प्रकृत संग्रहनय के स्वरूप को दिखलाते हुए कहा गया है कि विधि को छोड़कर चूंकि प्रतिषेध उपलब्ध नहीं है, इसलिये 'विधि मात्र ही तत्त्व है' इस प्रकार का जो अध्यवसाय होता है उसे समस्त को ग्रहण करने के कारण संग्रहनय कहा जाता है, अथवा द्रव्य को छोड़कर पर्याय चूंकि पाई नहीं जाती, इसलिए 'द्रव्य ही तत्त्व है' इस प्रकार का जो अध्यवसाय होता है उसे संग्रहनय समझना चाहिये। अन्यत्र यहीं पर (पु. ६, पृ. १७०) पर्याय कलंक से रहित होने के कारण जो सत्तादि के द्वारा सबमें अद्वैतता—द्वैत के अभाव स्वरूप एकत्व—का अध्यवसाय होता है उसे शुद्ध द्रव्यार्थिक संग्रहनय का लक्षण कहा गया है।

पश्चात्कालीन ग्रन्थों में प्रायः सर्वार्थसिद्धिगत लक्षण का अथवा त. भाष्यगत लक्षण का ही हीनाधिक रूप में अनुसरण किया गया है।

संयम—प्राकृत पंचसंग्रह (दि. १-१२७) में व्रतों के धारण, समितियों के पालन, कषायों के निग्रह, दण्डों के त्याग और इन्द्रियों के जय को संयम का लक्षण कहा गया है। प्रकृत पंचसंग्रह की यह गाथा धवला (पु. १, पृ. १४५) में उद्धृत की गई है तथा गो. जीवकाण्ड (४६५) में वह उसी रूप में आत्मसात् की गई है। उक्त लक्षण का अनुसरण प्रायः उन्हीं शब्दों में त. वार्तिक (६, ७, ११), धवला (पु. १, पृ. १४४ व पु. ७, पृ. ७), उपासकाध्ययन (६२४), चारित्रसार (पृ. ३८) अमितगति विरचित पंचसंग्रह (१-२३८), मूलाचार वृत्ति (१२-१५६) और कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका (३६६) में किया गया है। सर्वार्थसिद्धि (६-१२) के अनुसार प्राणियों और इन्द्रियविषयों में जो अशुभ प्रवृत्ति हुआ करती है उससे निवृत्त होने का नाम संयम है। इसका अनुसरण त. वार्तिक (६, १२, ६), तत्त्वार्थसार (२-८४) और पद्मनन्दिपंचविंशति (१-६६) में किया गया है।

त. भाष्य (६-६) में योगों के निग्रह को संयम का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है। यहां यह स्मरणीय है कि मूल तत्त्वार्थसूत्र (६-४) में सम्यक् प्रकार से किये जाने वाले योगनिग्रह को गुप्ति कहा गया है;। प्रकृत भाष्य में संयम को सत्तरह प्रकार का निर्दिष्ट किया गया है— १-५ पृथिवीकायिकादि के भेद से (पृथिवीकायिकसंयम आदि) ६-६ द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय के भेद से, १० प्रेक्ष्यसंयम, ११ उपेक्ष्यसंयम, १२ अपहृत्यसंयम, १३ प्रमृज्यसंयम, १४ कायसंयम, १५ वाक्संयम १६ मनसंयम १७ उप-

करणसंयम।

त. वार्तिक में अन्यत्र (९, ६, १४) संयम के लक्षण में यह भी कहा गया है कि समितियों में प्रवर्तमान मुनि उनके परिपालन के लिए जो प्राणिपीड़ा और इन्द्रियविषयों का परिहार करता है वह संयम कहलाता है। इसका अनुसरण मूलाचार की वृत्ति (११-५) और तत्त्वार्थवृत्ति (९-६) में भी किया गया है।

ध्यानशतक की हरि. वृत्ति (६८) में प्राणातिपातादिकी निवृत्ति को संयम का लक्षण कहा गया है। इसका अनुसरण त. भाष्य (६-१३ व ६-२०) की वृत्ति में भी किया गया है; उक्त हरिभद्र सूरि के द्वारा दशवै. की वृत्ति (१-१ पृ. २१) में आस्रवद्वारों के उपरम को तथा त. भाष्य (६-२०) की वृत्ति में विषय-कषायों की उपरति को संयम का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है।

धवला में इसका लक्षण पांच स्थलों पर उपलब्ध होता है—जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, पु. १, पृ. १४४ पर व्रत, समिति, कषाय, दण्ड और इन्द्रिय इनके यथाक्रम से धारण, अनुपालन, निग्रह, त्याग और जय को संयम कहा गया है। यहीं पर आगे (पृ. १७६) गुप्तियों और समितियों से अनुरक्षित मुनि जो हिंसादि पांच पापों से विरत होता है, इसे संयम का लक्षण प्रगट किया गया है। आगे (पृ. ३७४) कहा गया है कि बुद्धिपूर्वक सावद्य से विरत होने का नाम संयम है। पु. ७, पृ. ७ पर पूर्वोक्त व्रतादि के रक्षण आदि को संयम का लक्षण कहा गया है। पु. १४, पृ. १२ पर विपाकप्रत्ययिक जीवभावबन्ध के प्रसंग में संयम और विरति में भेद को दिखलाते हुए कहा गया है कि समितियों के साथ महाव्रतों और अणुव्रतों को संयम और समितियों के विना उक्त महाव्रतों और अणुव्रतों को विरति कहा जाता है।

भ. आराधना की विजयो. टी. (६) में कर्मादान की कारणभूत क्रियाओं से उपरत होना, इसे संयम का लक्षण कहा गया है। यही अभिप्राय उसकी मूलाराधनादर्पण टीका (४) में भी व्यक्त किया गया है। अमितगतिश्रावकाचार (३-६१) के अनुसार धार्मिक, उपशान्त, गुप्तियों से सुरक्षित और परीषहों का विजेता अनुप्रेक्षाओं में तत्पर होता हुआ जो कर्म का संवरण करता है वह संयम कहलाता है, प्रवचनसार की जय. वृत्ति (१-७९) में कहा गया है कि बाह्य इन्द्रियों व प्राणों के संयम के बल से अपनी शुद्ध आत्मा में संयमन होने के कारण जो समरसीभाव से परिणमन होता है उसे संयम कहते हैं। आचारसार (५-१४८) में निरुक्तिपूर्वक संयम के लक्षण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान से पवित्र व पाप का विघातक जो द्वन्द्वद्वितय—प्राणिपीडा व इन्द्रियविषय इन दोनों का—यम (त्याग) किया जाता है उसका नाम संयम है।

प्रज्ञापना की मलयगिरि विरचित वृत्ति (३१६ की उत्थानिका) में निरवद्य योग में प्रवृत्ति और इतर (सावद्य) योग से निवृत्ति को संयम कहा गया है। आव. निर्युक्ति की मलय. वृत्ति (८३१) के अनुसार समीचीन अनुष्ठान (सदाचरण) का नाम संयम है।

संसारपरीत—संसारपरीत और परीतसंसार ये दोनों शब्द समान अभिप्राय के बोधक हैं। मूलाचार (२-३६) के अनुसार जो जिनागम में अनुरक्त रहते हैं, गुरु की आज्ञा का भावतः परिपालन करते हैं, तथा अशबल—मिथ्यात्व की कलुपता से रहित—होते हुए संक्लेश से रहित होते हैं वे परीतसंसार—परिमित संसार वाले होते हैं। प्रज्ञापना (१८-२४७) में संसारपरीत का स्वरूप क्या है, इस गौतम गणधर के प्रश्न का समाधान करते हुए श्रमण महावीर के द्वारा कहा गया है कि संसारपरीत का अभिप्राय है संसार का कम से कम अन्तर्मुहूर्त मात्र और अधिक से अधिक अपार्ध पुद्गलपरिवर्त मात्र शेष रह जाना। प्रकृत सूत्र के अभिप्राय को व्यक्त करते हुए मलयगिरि ने अपनी वृत्ति में कहा है कि जिसने सम्यक्त्व आदि के द्वारा संसार को परिमित कर दिया है वह संसारपरीत है। ऐसा जीव जघन्य से अन्तर्मुहूर्त मात्र संसार में रहता है, तत्पश्चात् अन्तकृत्केवलित्व के योग से वह मुक्त हो जाता है। उत्कर्ष से वह अनन्त काल—अपार्ध पुद्गलपरिवर्त प्रमाण—संसार में रहता है, तत्पश्चात् वह नियम से मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।

धवला (पु. ४, पृ. ३३५) में सादि-सपर्यवसित मिथ्यादृष्टि के काल की प्ररूपणा के प्रसंग में अपरीतसंसार और परीतसंसार का विवेचन करते हुए कहा गया है कि एक अनादि मिथ्यादृष्टि अपरीत-

संसारी जीव अध.प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणों को करके सम्यक्त्वग्रहण के प्रथम समय में ही उस सम्यक्त्व गुण के द्वारा पूर्व के अपरीत संसार से हटकर अर्धपुद्गलपरिवर्त मात्र परीतसंसारी होता हुआ उतने काल ही उत्कर्ष से संसार में रहता है। जघन्य से वह अन्तर्मुहूर्त मात्र ही संसार में रहता है।

सामायिक—इसका विधान मुनियों के छह आवश्यकों, चारित्रभेदों, प्रतिमाओं, शिक्षाव्रतों तथा संयतभेदों या संयमभेदों के अन्तर्गत उपलब्ध होता है। पर उसके स्वरूप का विचार करते हुए तदनुसार उसका पृथक्-पृथक् विश्लेषण नहीं किया गया है—सर्वत्र उसका स्वरूप प्रायः समान रूप में ही दृष्टि-गोचर होता है।

नियमसार के नौवें परमसमाधि अधिकार (१२५-३३) में सामायिकव्रत के योग्य कौन होता है, इसका विचार करते हुए कहा गया है कि जो समस्त जीवों में सम—राग-द्वेष से रहित, संयम, नियम और तप में निरत; राग-द्वेषजनित विकार से विहीन, आर्त व रौद्र रूप दुर्ध्यान से दूरवर्ती, पुण्य-पापरूप कर्म के विकार से विमुक्त, हास्यादि रूप नोकषायों से रहित, निरन्तर धर्म व शुक्लरूप प्रशस्त ध्यानों का ध्याता और ज्ञान एवं चारित्र में बुद्धि को लगाने वाला है उसके जिनशासन में सामायिकव्रत कहा गया है, अर्थात् उपर्युक्त विशेषताओं से विशिष्ट जीव ही उस सामायिक का अधिकारी होता है।

मूलाचार (१-२३) में मुनि के २८ मूलगुणों के अन्तर्गत सामायिक आवश्यक के लक्षण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि साधु जो जीवित और मरण, लाभ और अलाभ, संयोग और वियोग, मित्र और शत्रु तथा सुख और दुःख आदि में समता—राग-द्वेष से रहित समानता—का भाव रखता है, इसका नाम सामायिक है। यहीं पर आगे (७,१८-३२) मुनि के छह आवश्यकों के अन्तर्गत उस सामायिक का पुनः विस्तार से विवेचन करते हुए कहा गया है कि सम्यक्त्व, ज्ञान, संयम और तप के साथ जो जीवका प्रशस्त समागम—उनके साथ एकरूपता—होती है उसे समय कहा गया है; इस समय को ही सामायिक जानना चाहिए। यह सामायिक का निरुक्त लक्षण है। जो जीव उपसर्ग व परीषहों पर विजय प्राप्त करके भावनाओं और समितियों में उपयुक्त होता हुआ यम व नियम में बुद्धि को संलग्न करता है वह सामायिक से परिणत होता है, जो श्रमण स्व व पर में सम—राग-द्वेष से रहित—होता है, माता और समस्त महिलाओं के विषय में सम होता है—उन्हें माता के समान मानता है, तथा अप्रिय व प्रिय एवं मान व अपमान में समण (समान) रहता है उसे ही सामायिक जानना चाहिए। जो द्रव्य, गुण और पर्यायों के समवाय को—उनकी अपेक्षाकृत समानता को—जानता है उसे उत्तम सामायिक जानना चाहिए। राग और द्वेष का निरोध करके समस्त कर्मों में जो समता और सूत्रों में—द्वादशांग श्रुत के विषय में—जो परिणाम होता है उसे उत्तम सामायिक जानना चाहिए। समस्त सावद्य से विरत, तीन गुप्तियों से सुरक्षित और जितेन्द्रिय जीव का नाम ही सामायिक है जो उत्तम संयमस्थानस्वरूप है। जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप में स्थित है; जो त्रस और स्थावर समस्त जीवों के विषय में सम—राग-द्वेष से रहित है, जिसके राग और द्वेष विकार को उत्पन्न नहीं करते, जिसने क्रोधादि चारों कषायों को जीत लिया है, जिसके आहारादि संज्ञायें और कृष्णादि लेश्यायें विकार को उत्पन्न नहीं करतीं, जो रस व स्पर्शस्वरूप काम को तथा रूप, गन्ध और शब्दरूप भोगों को सदा छोड़ता है, तथा आर्त-रौद्र रूप दुर्ध्यानों को छोड़कर सदा धर्म व शुक्ल रूप समीचीन ध्यानों को ध्याता है उसके जिनागम के अनुसार सामायिक स्थित रहती है[1]। योगींदु विरचित योगसार (९९-१००) में उक्त नियमसार के समान संक्षेप में समभाव को सामायिक का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है।

---

१. इस प्रसंग से सम्बद्ध नियमसार के पद्य १२५-२९ व १३३ और मूलाचारगत पद्य क्रम से २३, २५,२४,२६,३१ और ३२ ये उभय ग्रन्थों में समान रूप में उपलब्ध होते हैं। (नि. सा. के पद्य १२५ और मूला. के पद्य २३ का उत्तरार्ध भिन्न है)। नि. सा. के पद्य १२६ व १२७ तथा आवश्यक नि. के पद्य ७९७ व ७९६ भी परस्पर में समान हैं।

रत्नकरण्डक (४-७) में शिक्षाव्रत के प्रसंग में नियमित समय पर्यन्त पांचों पापों के पूर्णतया परित्याग को सामायिक का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है। आगे यहां (४-८) उपर्युक्त समय को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि बालों के बन्धन, मुट्ठी के बन्धन और वस्त्र के बन्धन को अथवा स्थान (कायोत्सर्ग) व उपवेशन को आगम के ज्ञाता समय—काल अथवा आचारविशेष—जानते हैं। यहीं पर आगे (५-१८) तीसरी सामायिक प्रतिमा के प्रसंग में कहा गया है कि जो गृहस्थ यथाजात—बालक के समान दिगम्बर वेष में स्थित होकर अथवा समस्त प्रकार की परिग्रह की ओर से निर्ममत्व होकर—चार बार तीन-तीन आवर्त पूर्वक कायोत्सर्ग में स्थित होता हुआ चार प्रणाम करता है तथा दो उपवेशन से युक्त होकर तीनों योगों से शुद्ध होता हुआ तीनों सन्ध्याकालों में देववन्दना किया करता है उसे सामयिक—तीसरी सामायिक प्रतिमा का धारक श्रावक—जानना चाहिए।

सर्वार्थसिद्धि (७-२१) में शिक्षाव्रतों के प्रसंग में निरुक्तिपूर्वक सामायिक के लक्षण को दिखलाते हुए कहा गया है कि 'सम्' का अर्थ एकीभाव और 'अय' का अर्थ गमन है, तदनुसार एकीभाव स्वरूप से जो गमन (प्रवृत्ति) होता है- उसका नाम समय है और उस समय को ही सामायिक कहा जाता है। अथवा 'समयः प्रयोजनमस्येति वा विगृह्य सामायिकम्' इस प्रकार के विग्रहपूर्वक यह भी निर्देश किया गया है कि उक्त प्रकार का 'समय' हो जिसका प्रयोजन है उसे सामायिक जानना चाहिए। सर्वार्थसिद्धिगत इस लक्षण को कुछ स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थवार्तिक (७, २१, ६) में कहा गया है कि प्रतिनियत काय, वचन और मन की क्रिया रूप पर्याय से निवृत्त होकर द्रव्यार्थस्वरूप से जो आत्मा का एकीभाव (अभिन्नता) को प्राप्त होना है, यह सामायिक का लक्षण है। सर्वार्थसिद्धिगत शेष सभी अभिप्राय को यहां प्रायः शब्दशः आत्मसात् किया गया है। आगे यहां चारित्र के प्रसंग में (६,१८,२) में कहा गया है कि समस्त सावद्य योग का जो अभेद रूप से—हिंसा आदि भेदों के विना—प्रत्याख्यान का आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है, इसका नाम सामायिक चारित्र है। सर्वार्थसिद्धि (९-१८) में इस सामायिक को नियतकाल और अनियतकाल के भेद से दो प्रकार कहा गया है। इनमें स्वाध्यायादि रूप सामायिक को नियतकालिक और ईर्यापथ आदि रूप सामायिक को अनियतकालिक जानना चाहिए।

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य (७-१६) में शिक्षाव्रत के प्रसंग में कहा गया है कि कालका नियम करके जो तब तक के लिए समस्त सावद्य योग का परित्याग किया जाता है उसे सामायिक कहते हैं। प्रकृत त. भा. (९.१८) में चारित्र के प्रसंग में उस सामायिक संयम के नाम मात्र का निर्देश किया गया है, स्वरूप के सम्बन्ध में वहां कुछ नहीं कहा गया। आवश्यकसूत्र (अ. ६) के अनुसार सावद्य योग के परित्याग और निरवद्य योग के प्रतिसेवन का नाम सामायिक है। आवश्यक भाष्य (१४९) में कहा गया है कि सावद्य योग से विरत, तीन गुप्तियों से विभूषित, छह काय के जीवों के विषय में संयत—उन्हें पीड़ा न पहुंचाने वाला, उपयुक्त एवं प्रयत्नशील आत्मा ही सामायिक होता है (पूर्वोक्त नि. सा. गत पद्य १२५-२६ और आव. भाष्य का प्रकृत पद्य ये परस्पर एक-दूसरे से कुछ प्रभावित रहे प्रतीत होते हैं)। विशेषावश्यकभाष्य (४२२०-२६) में सामायिक के लक्षण का निर्देश निरुक्तिपूर्वक अनेक प्रकार से किया गया है। यथा—'सम' का अर्थ राग-द्वेष से रहित और 'अय' का अर्थ गमन है, इस प्रकार समगमनका नाम 'समाय' और यह समाय ही सामायिक है। अथवा उक्त 'समाय' में होनेवाली, उससे निर्वृत्त, तन्मय अथवा उक्त प्रयोजनन की साधक सामायिक जानना चाहिए। अथवा 'सम' से सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र अभिप्रेत हैं; उनके विषय में या उनके द्वारा जो अय—गमन या प्रवर्तन है—उसका नाम 'समय' और उस समय को ही सामायिक कहा जाता है। अथवा समके—राग-द्वेष से रहित जीव के—जो आय—गुणों की प्राप्ति होती है—उसका नाम समय है, अथवा समों का—सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र का—जो आय (लाभ) है उसे सामायिक जानना चाहिए। अथवा 'साम' का अर्थ मैत्रीभाव और 'अय' का अर्थ गमन है, इस प्रकार उस मैत्रीभाव में या उसके द्वारा जो प्रवृत्ति होती है उसे सामायिक कहा जाता है। अथवा उक्त मैत्रीभावरूप जो साम है उसके आय (लाभ) को सामायिक जानना चाहिए। इस प्रकार यहां सामायिक शब्द की निष्पत्ति की प्रमुखता से अर्थ को बैठाया गया है।

त. भाष्य (६-१८) की हरिभद्र व सिद्धसेन विरचित वृत्तियों में तथा अनुयोगद्वार की हरिभद्र विरचित वृत्ति में (पृ. १०३) में पूर्वोक्त त. वार्तिक के समान समस्त सावद्य योग से विरत होने को सामायिक कहा गया है। इसके पूर्व उस अनुयोगद्वार की हरि. वृत्ति (पृ. २६) और आवश्यकसूत्र (६,६,पृ. ८३१) की भी हरि. वृत्ति में पूर्वोक्त विशेषावश्यकभाष्य के समान निरुक्त्यर्थ को भी प्रगट किया गया है। इसी अभिप्राय को हरिभद्र सूरि ने अपने पंचाशक (४६६) में भी संक्षेप में व्यक्त किया है। श्रावकप्रज्ञप्ति (२६२) में शिक्षाव्रत के प्रसंग में पूर्वोक्त आवश्यकसूत्र के समान सावद्य योग के परित्याग और निरवद्य योग के आसेवन को सामायिक का लक्षण प्रगट किया गया है। इसकी टीका में हरिभद्र सूरिने 'एत्थ पुण सामायारी' ऐसा निदश करते हुए श्रावक को सामायिक कहां, कब और किस प्रकार से करना चाहिए; इत्यादि बातों का स्पष्टीकरण करते हुए ऋद्धिप्राप्त और अनृद्धिप्राप्त इन दो प्रकार के श्रावकों के आश्रय से विचार अभिव्यक्त किया है। तत्पश्चात् यहां यह शंका उठाई गई है कि सामायिक में अधिष्ठित श्रावक जब साधु ही होता है तब वह उतने काल के लिए पूर्ण रूप से समस्त सावद्य योग का परित्याग मन, वचन व काय से क्या नहीं करता है ? करता ही है। इस शंका के समाधान में वहां श्रावक के लिए मन, वचन व काय से पूर्णतया उस समस्त सावद्य योग के परित्याग को असम्भव बतलाकर साधु और श्रावक इन दोनों में अनुमति की प्रधानता से दो प्रकार की शिक्षा, गाथा (सामाइयंमि उ कए ····॥२९९॥), उपपात, स्थिति, गति, कषाय, बन्ध, उदय, प्रतिपत्ति और अतिक्रम इन अधिकारों के आश्रय से भेद प्रगट किया गया है (श्रा, प्र. २९३-३११)।

वरांगचरित (१५, १२१-२२) में शिक्षाव्रत के प्रसंग में सामायिक के लक्षण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि व्रत की वृद्धि के लिए निरन्तर दोनों सन्ध्याकालों में नमस्कारपूर्वक हृदय में शरण, उत्तम और मांगल्य इनका ध्यान करना चाहिए। सब जीवों में समता—राग-द्वेष का अभाव, संयम, उत्तम भावनाएं और आर्त-रौद्र रूप दुर्ध्यानों का परित्याग; यह सामायिक शिक्षाव्रत का लक्षण है। जयधवला (१, पृ. ९८) के अनुसार तीनों सन्ध्याकालों में, अथवा पक्ष, मास व सन्धिदिनों में, अथवा अपने अभीष्ट समयों में बाह्य और अभ्यन्तर समस्त पदार्थविषयक जो कषाय का निरोध किया जाता है उसका नाम सामायिक है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा (३५६-५७) में कहा गया है कि जो पल्यंक आसन बांधकर अथवा खड़ा होकर काल के प्रमाण को करके इन्द्रियों के व्यापार से रहित होता हुआ जिनागम में मन को लीन करता है तथा शरीर को स्थिर रखता हुआ अंजलिपूर्वक—मुकुलित दोनों हाथों के साथ—आत्मस्वरूप में लीन होता है व वन्दना के अर्थ का चिन्तन करता है; इस प्रकार से जो देश प्रमाण को करके सामायिक को करता है वह तब तक के लिए मुनि जैसा होता है। सागारधर्मामृत (५-२८) में सामायिक शिक्षाव्रत के स्वरूप को दिखलाते हुए कहा गया है कि एकान्त स्थान में बालों के बन्धन आदि के छूटने तक मुनि के समान आत्मा का ध्यान करते हुए जो समस्त हिंसादि पापों का त्याग किया जाता है, यह सामायिक शिक्षाव्रत का लक्षण है।

यहां सागारधर्मामृत में जो बालों के बन्धन आदि के छूटने रूप समय का निर्देश किया गया है वह स्पष्टतया पूर्वोक्त रत्नकरण्डक (४-८) के आधार से किया गया है। पर जैसे रत्नकरण्डक मूल व उसकी प्रभाचन्द्र-विरचित टीका में भी उसके अभिप्राय को स्पष्ट नहीं किया गया है वैसे ही इस सागारधर्मामृत व उसकी स्वो. टीका में भी उसका कुछ स्पष्टीकरण नहीं किया गया। प्रकृत में 'समय' से काल अभिप्रेत है या आचारविशेष अभिप्रेत है, इसका स्पष्ट बोध नहीं होता। पूर्वोक्त कार्तिकेयानुप्रेक्षा (३५६) में भी जो 'बंधित्ता पज्जंकं अहवा उड्ढेण उब्भओ ठिच्चा' यह कहा गया है वह भी पूर्वोक्त रत्नक. के 'पर्यङ्कबन्धनं चापि। स्थानमुपवेशनं वा' से प्रभावित रहा ही प्रतीत होता है। पर यहां रत्नकरण्डक के 'मूर्द्धरुह-मुष्टि-बासोबन्धं' को सम्भवतः बुद्धिपुरस्सर छोड़ दिया गया है जबकि सागारधर्मामृत में 'केशबन्धादिमोक्ष' के रूप में उसे ग्रहण कर लिया गया है। पर उसका स्पष्टीकरण नहीं किया गया।

इनके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में जो प्रकृत सामायिक का लक्षण उपलब्ध होता है उसमें नियमसार, मूलाचार, सर्वार्थसिद्धि, अथवा विशेषावश्यकभाष्य इनमें से किसी न किसीका अनुसरण किया गया है।

सामायिक प्रतिमा—इसके स्वरूप का निर्देश करते हुए रत्नकरण्डक (५-१८) में कहा गया है कि जो श्रावक तीन-तीन आवर्तों को—मन, वचन व काय के संयमनरूप तीन-तीन शुभ योगरूप प्रवृत्तियों को—चार बार करता है, चार प्रणाम करता है, यथाजात रूप से—दिगम्बर होकर अथवा समस्त परिग्रह की ओर से निर्ममत्व होकर—कायोत्सर्ग में स्थित होता है व दो उपवेशन करता है; इस प्रकार की क्रिया को करता हुआ तीनों सन्ध्याकालों में तीनों योगों से शुद्ध होकर वन्दना किया करता है वह सामयिक—तीसरी सामायिक प्रतिमा का अनुष्ठाता—होता है।

षट्खण्डागम (५,४,४—पु. १३, पृ. ३८) में निर्दिष्ट दस कर्मभेदों में ६वां क्रियाकर्म है। इसके स्वरूप का निर्देश करते हुए वहां आत्माधीन, प्रदक्षिण, त्रिःकृत्वा (तीन बार करना), तीन अवनमन, चार शिर और बारह आवर्त; इस सबको क्रियाकर्म (कृतिकर्म) कहा गया है (५,४,२७-२८—पु. १३, पृ. ८८) पूर्वोक्त रत्नकरण्डक में जो बारह आवर्त (४-३) और चार प्रणामों का उल्लेख किया गया है सम्भव है वह इस षट्खण्डागम के ही आधार से किया गया हो। दोनों ही ग्रन्थों में 'आवर्त' शब्द तो समान रूप से व्यवहृत हुआ है, पर षट्खण्डागम में जहां 'चतुःशिरस्' का उपयोग किया गया है वहां रत्नकरण्डक में 'चतुःप्रणाम' का उपयोग किया गया है। वीरसेनाचार्य विरचित इस षट्खण्डागमसूत्र की टीका (पु. १३, पृ.६१ व ६२) में 'चतुःशिर' का स्पष्टीकरण करते हुए यह कहा गया है कि समस्त क्रियाकर्म चतुःशिर होता है। वह इस प्रकार से—सामायिक के आदि में जो जिनेन्द्र के प्रति शिर नमाया जाता है वह एक शिर है, उसी के अन्त में जो शिर नमाया जाता है वह दूसरा शिर है, 'थोस्सामि' दण्डक के आदि में जो शिर नमाया जाता है, वह तीसरा शिर है तथा उसीके अन्त में जो नमन किया जाता है वह चौथा शिर है। इस प्रकार एक क्रियाकर्म चार शिर से युक्त होता है। यहीं पर आगे प्रकारान्तर से उस चतुःशिर' को स्पष्ट करते हुए यह भी कहा गया है कि अथवा सब ही क्रियाकर्म चतुःशिर—चतुःप्रधान (चार की प्रधानता से)—होता है, क्योंकि अरहंत, सिद्ध, साधु और धर्म को ही प्रधानभूत करके सब क्रियाकर्मों की प्रवृत्ति देखी जाती है। बारह आवर्तों को स्पष्ट करते हुए यहां यह कहा गया है कि सामायिक और थोस्सामि दण्डक के आदि और अन्त में मन, वचन व काय की विशुद्धि के परावर्तन के वार (आवर्त) बारह (३+३+३+३) होते हैं।

मूलाचार के अन्तर्गत षडावश्यक अधिकार में वन्दना का विवेचन करते हुए नामवन्दना के प्रसंग में कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म इनको वन्दना का समानार्थक कहा गया है। इस प्रसंग में वहां ये प्रश्न उठाये गये हैं—वह कृतिकर्म किसके द्वारा किया जाना चाहिए, किसके प्रति किया जाना चाहिए किस प्रकार से किया जाना चाहिए, कहां किया जाना चाहिए, कितने बार किया जाना चाहिए, कितने उसमें अवनत—हाथ जोड़कर शिर से भूमिका स्पर्श करते हुए नमस्कार—किये जाने चाहिये, कितने शिर—हाथ जोड़कर शिर को नमाते हुए नमस्कार—किये जाने चाहिये; तथा वह कितने आवर्तों से शुद्ध और कितने दोषों से रहित होना चाहिए (७, ७८-८०)। इन प्रश्नों का वहां यथाक्रम से समाधान करते हुए वह कितने अवनत, कितने आवर्त और कितने शिर से युक्त होना चाहिए; इन प्रश्नों के समाधान में वहां यह कहा गया है—उस कृतिकर्म का प्रयोग दो अवनतों से सहित, यथाजात रूप से संयुक्त, बारह आवर्तों से युक्त, चार शिर से सहित और मन, वचन और काय रूप तीनों योगों से शुद्ध किया जाना चाहिए (७-१०४) यह मूलाचार का विवरण निश्चित ही पूर्वोक्त षट्खण्डागम से प्रभावित रहा प्रतीत होता है। विशेष इतना है कि षट्खण्डागम में जहां तीन 'अवनत' का निर्देश किया गया है वहां मूलचार में 'दो अवनत' का निर्देश किया गया है।

पूर्वोक्त रत्नकरण्डक का वह अभिप्राय मूलाचार के इस कथन से अत्यधिक प्रभावित रहा प्रतीत होता है। दोनों ग्रन्थों में बारह (४×३) आवर्त, चार प्रणाम (शिर), यथाजात, दो निषद्य (अवनत) और त्रियोगशुद्ध (विशुद्ध) इनका समान रूप में व्यवहार हुआ है। यथा—

दोणदं तु जधाजादं बारसावत्तमेव य।
चदुसिरं तिसुद्धं च किदियम्मं पउंजदे ॥ मूला. ७-१०४.
चतुरावर्त्तत्रितयश्चतुःप्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी ॥ रत्नकरण्डक, १३९

मूलाचारगत प्रकृत पद्य से अतिशय समान यह पद्य समवायांग में भी उपलब्ध होता है—

दुओणयं जहाजायं कितिकम्मं बारसावयं।
चउसिरं तिगुत्तं च दुपवेसं एगणिक्खमणं ॥ समवायांग. १२.

धवला (पु. ९, पृ. १८७-८९) में चौदह प्रकार के अनंगश्रुत के नामोल्लेखपूर्वक कृतिकर्म के प्रसंग में मूलाचारगत उपर्युक्त पद्य को 'एत्थुववुज्जंती गाहा' ऐसा निर्देश करते हुए यत्किंचित् वर्णभेद के साथ उद्धृत किया गया है।

उपर्युक्त प्रसंग से सम्बद्ध मूलाचार और रत्नकरण्डक में इतनी विशेषता रही है कि मूलाचार का वह प्रसंग जहां मुनि के छह आवश्यकों के अन्तर्गत वन्दना आवश्यक से सम्बद्ध है वहां रत्नकरण्डक में वह श्रावक के ग्यारह पदों में से तीसरे पदभूत सामायिक प्रतिमा के धारक से सम्बन्ध रखता है। किन्तु ऐसा होने पर भी उसमें कुछ विरोध नहीं समझना चाहिए। कारण यह कि उसके पूर्व उक्त रत्नकरण्डक (४-१२) में ही यह कहा जा चुका है कि श्रावक के सामायिक में अवस्थित होने पर चूंकि वह उस समय समस्त आरम्भ और परिग्रह से रहित होता है, इसीलिये वह उपसर्ग के वश वस्त्र से आच्छादित मुनि के समान यतिभाव को—महाव्रतित्व को—प्राप्त होता है। यह अभिप्राय केवल रत्नकरण्डक में ही नहीं, वलिक उक्त मूलाचार (७-३४), आवश्यकनिर्युक्ति (५८४), विशेषावश्यकभाष्य (३१७३) और श्रावकप्रज्ञप्ति (२९९) में भी समानरूप से व्यक्त किया गया है। इतना ही नहीं, इन चारों ग्रन्थों में प्रकृत गाथा भी अभिन्न रूप में ही उपलब्ध होती है।

रत्नकरण्डक में निर्दिष्ट उपर्युक्त सामायिक प्रतिमाधारी के स्वरूप को कार्तिकेयानुप्रेक्षा (३७१ व ३७२) और वामदेव विरचित भावसंग्रह (५३२-३३) में भी समान रूप से प्रगट किया गया है।

सावयधम्मदोहा (१२) में भी पूर्वाचार्यपरम्परा के अनुसार तीनों संध्याकालों में बत्तीस दोषों से रहित जिनवन्दना का विधान किया गया है।

वसुनन्दिश्रावकाचार (२७४-७५) में उक्त सामायिक के प्रसंग में कहा गया है कि स्नानादि से पवित्र होकर चैत्यालय में व अपने गृह में प्रतिमा के अभिमुख होकर अथवा अन्यत्र पवित्र स्थान में पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख होकर जिनवाणी, धर्म, चैत्य, परमेष्ठी और जिनालय की जो तीनों कालों में वन्दना की जाती है, यह सामायिक कहलाती है।

योगशास्त्र के स्वो. विव. (३-१४८) में कहा गया है कि तीसरी सामायिक प्रतिमा का धारक श्रावक प्रमाद से रहित होकर तीन मास तक उभय सन्ध्याकालों में पूर्वोक्त प्रतिमाओं के अनुष्ठान के साथ सामायिक का पालन करता है। लगभग यही अभिप्राय आचारदिनकर (पृ. ३२) में भी प्रगट किया गया है।

अन्य ग्रन्थों में प्रायः पूर्वनिर्दिष्ट इन्हीं ग्रन्थों में से किसी न किसी का अनुसरण किया गया है।

सूत्र—मूलाचार (५-८०) में सूत्र के लक्षण का निर्देश करते हुए कहा गया है, जो गणधरों के द्वारा, प्रत्येकबुद्धों के द्वारा, श्रुतकेवलियों के द्वारा और अभिन्नदशपूर्वियों के द्वारा कहा गया हो उसे सूत्र जानना चाहिए। आवश्यकनिर्युक्ति (८८०) के अनुसार सूत्र नाम उसका है जो ग्रन्थ से अल्प होकर अर्थ से महान् हो, बत्तीस दोषों से रहित हो, लक्षण—व्याकरणनियमों—से सहित हो, और आठ गुणों से सम्पन्न हो। इसी आव. नि. में आगे (८८६) पुनः कहा गया है कि जो थोड़े से अक्षरों से सहित, सन्देह से रहित, सारयुक्त, विश्वतःमुख—अनुयोगों से सहित, अर्थोपम—व्याकरणविहित निपातों से रहित—और अनवद्य होकर

अपवर्तन के योग्य नहीं होती है उन्हें निरुपक्रम निर्दिष्ट किया गया है। इसी भाष्य की सिद्धसेन विरचित वृत्ति (२-५१) में प्रत्यासन्नीकरण के कारण को उपक्रम कहा गया है। इसे स्पष्ट करते हुए वहां यह कहा गया है कि जिस अध्यवसान आदि रूप कारणविशेष से अतिशय दीर्घकाल की स्थिति वाली भी आयु अल्प काल की स्थिति से युक्त हो जाती है उस कारणकलाप का नाम उपक्रम है। आगे (२-५२) यहां उदाहरण के रूप में विष, अग्नि और शस्त्र आदि को उपक्रम बतलाते हुए कहा गया है कि देव व नारक आदि के चूंकि आयु के भेदक प्राणापान निरोध, आहारनिरोध, अध्यवसान, निमित्त, वेदना, पराघात और स्पर्श नामक सात वेदनाविशेष रूप उपक्रम सम्भव नहीं है, इसलिये वे निरुपक्रम ही होते हैं।

धवला (पु. १०, पृ. २३३-३४) में सोपक्रमायुष्क और निरूपक्रमायुष्क इनके लक्षण का तो कुछ निर्देश नहीं किया गया, पर वे पर भव सम्बन्धी आयु को किस प्रकार से बांधते हैं, इसे स्पष्ट करते हुए वहां कहा गया है कि जो जीव सोपक्रमायुष्क होते है वे अपनी भुज्यमान आयु के दो त्रिभागों (२/३) के बीत जाने पर असंक्षेपाद्धा काल तक पर भव सम्बन्धी आयु के बांधने के योग्य होते हैं, अर्थात् दो त्रिभागों के बीत जाने पर प्रथमादि आठ अपकर्षकालों में से यथासम्भव किसी एक अपकर्षकाल में उसे बांधा जा सकता है। पर उक्त आठ अपकर्षकालों में से यदि वह किसी में भी न बंध सकी तो फिर आवली के असंख्यातवें भाग मात्र असंक्षेपाद्धा काल में वे अवश्य ही पर भव सम्बन्धी आयु को बांध लेते हैं। इनसे विपरीत जो निरुपक्रमायुष्क होते हैं वे अपनी भुज्यमान आयु में छह मास शेष रह जाने पर पर भव सम्बन्धी आयु के बांधने योग्य होते हैं। इसमें भी अपकर्षों का नियम पूर्ववत् रहता है। आगे यहां (पृ. २३७-३८) शंकाकार के द्वारा इस प्रसंग से सम्बद्ध व्याख्याप्रज्ञप्ति के सन्दर्भ को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि उपर्युक्त कथन का इस व्याख्याप्रज्ञप्तिगत सूत्र के साथ कैसे विरोध न होगा? इसका समाधान यहां आचार्यों के मध्यगत मतभेद को प्रगट करते हुए किया गया है। धवला के प्रकृत भाग का हिन्दी अनुवाद करते समय हमने वर्तमान में उपलब्ध व्याख्याप्रज्ञप्ति में उस सूत्र के खोजने का यथासम्भव प्रयत्न किया था, पर वह उस रूप में हमें वहां उपलब्ध नहीं हुआ।

स्तनदोष या स्तनदृष्टिदोष—यह कायोत्सर्ग का एक दोष है। मूलाचार की वृत्ति (७-१७१) में इसके स्वरूप का निर्देश करते हुए कहा गया है कि जो कायोत्सर्ग में स्थित होकर अपने स्तनों पर दृष्टि रखता है उसके यह कायोत्सर्ग का स्तनदृष्टि नामक दोष होता है। योगशास्त्र के स्वो. विवरण में (३, १३०) कहा गया है कि डांस-मच्छर आदि के निवारण के लिए अथवा अज्ञानता से स्तनों को चोलपट्ट से बांधकर कायोत्सर्ग में स्थित होना, यह एक कायोत्सर्ग के स्तनदोष का लक्षण है। आगे यहां इस सम्बन्ध में मतभेद को दिखलाते हुए यह भी कहा गया है कि अथवा जिस प्रकार धाय स्तनों को ऊपर उठाकर बालक के लिए दिखलाती है उसी प्रकार स्तनों को ऊंचा करके कायोत्सर्ग में स्थित होना, यह उस स्तनदोष का लक्षण है, ऐसा किन्हीं अन्य आचार्यों का अभिमत है। सम्भव है यह लक्षणभेद साम्प्रदायिकता के व्यामोह-वश हुआ हो।

स्त्रीवेद—इसके स्वरूप का निर्देश करते हुए सर्वार्थसिद्धि (८-९) में कहा गया है कि जिसके उदय से जीव स्त्री जैसे भावों को प्राप्त होता है वह स्त्रीवेद कहलाता है। इसे कुछ और स्पष्ट करते हुए त. वार्तिक (८,९-४) में कहा गया है कि जिसके उदय से जीव मृदुता, अस्पष्टता, क्लीवता (कायरता), कामावेश; नेत्रविभ्रम, आस्फालनसुख और पुरुषेच्छा, इन स्त्री जैसे भावों को प्राप्त होता है उसे स्त्रीवेद कहा जाता है। पश्चात्कालीन प्रायः सभी ग्रन्थों में—जैसे श्रावकप्रज्ञप्ति टीका (१८), धवला (पु. १, पृ. ३४०, ३४१; पु. ६, पृ. ४७; पु, ७, पृ. ७९ और पु. १३, पृ. ३६१), मूलाचारवृत्ति (१२-१९२) और प्रज्ञापना मलय. वृत्ति (२९३) आदि—यही कहा गया है कि जिसके उदय से स्त्री के पुरुषविषयक अभिलाषा होती है उसका नाम स्त्रीवेद है।

लगभग इसी पद्धति में नपुंसकवेद और पुरुषवेद या पुंवेद का भी लक्षण देखा जाता है। विशेषता यह है कि त. वा. में जैसे स्त्रीवेद के लक्षण में स्त्रैण भावों को स्पष्ट किया गया है वैसे वहां नपुंसक और पौस्न भावों को कुछ स्पष्ट नहीं किया गया (देखिए नपुंसक और पुरुषवेद व पुंवेद शब्द)।

स्थावर—पीछे (पृ. ५-६) 'त्रस' के प्रसंग में त्रस जीवों के स्वरूप व भेद आदि के विषय में विचार किया जा चुका है। प्रस्तुत स्थावर उक्त त्रस का विपक्षभूत है। सर्वार्थसिद्धि (२-१२) में स्थावर जीवों के स्वरूप का विचार करते हुए कहा गया है कि जो जीव स्थावर नामकर्म के वशीभूत होते हैं वे स्थावर कहलाते हैं। त. वार्तिक (२,१२,३) और त. श्लो. वार्तिक (२-१२) के अनुसार जिन जीवों के जीवविपाकी स्थावर नामकर्म के उदय से विशेषता उत्पन्न हुई है उन्हें स्थावर कहा जाता है। जो जीव स्वभावतः एक स्थान पर रहते हैं उन्हें स्थावर कहना चाहिए, इस शंका का समाधान करते हुए पूर्वोक्त स. सि. में कहा गया है कि वैसा मानने पर आगम में जो यह कहा गया है कि 'कायानुवाद से द्वीन्द्रिय से लेकर अयोगिकेवलियों तक त्रस जीव होते हैं' उससे विरोध का प्रसंग प्राप्त होगा। त. वार्तिक (२,१२, ४-५) में भी स्थानशील—एक ही स्थान में स्थित रहने वाले—जीवों को स्थावर क्यों न माना जाय, इस शंका का समाधान करते हुए कहा गया है कि वैसा स्वीकार करने पर वायु, तेज एवं जलकायिक जीवों के अस्थावरत्व—स्थावरभिन्न त्रसता—का प्रसंग दुर्निवार होगा, क्योंकि उनका गमन एक स्थान से दूसरे स्थान में देखा जाता है। यदि कहा जाय कि वह तो अभीष्ट ही है, तो वैसा कहने वालों के प्रति यह कहा गया है कि उन्होंने समय के अर्थ को नहीं समझा, क्योंकि सत्प्ररूपणा में कायानुवाद के प्रसंग में द्वीन्द्रिय से लेकर अयोगिकेवलों पर्यन्त जीवों को त्रस कहा गया है। ऊपर स. सि. में जिस आगम की ओर तथा त. वा. में जिस सत्प्ररूपणासूत्र की ओर संकेत किया गया है वह सूत्र इस प्रकार है—

तसकाइया बीइंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलित्ति। षट्खं. १,१,४४ (पु. १, पृ. २७५).

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए धवला टीका में 'स्थावर जीव कौन हैं' ऐसा पूछने पर एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर कहा गया है। इस पर वहां (पृ. २७६) यह शंका उठाई गई है कि सूत्र में तो ऐसा निर्देश नहीं किया गया, फिर यह कैसे जाना जाता है कि एकेन्द्रिय जीव स्थावर है? इसके उत्तर में वहां यह कहा गया है कि उक्त सूत्र में जब यह स्पष्ट निर्देश किया गया है कि द्वीन्द्रिय से लेकर अयोगिकेवली तक त्रस हैं; तब परिशेष से यह स्वयं सिद्ध है कि एकेन्द्रिय जीव स्थावर हैं। इसपर आगे स्थावर नामकर्म का क्या कार्य है, ऐसा पूछने पर यह कहा गया है कि उसका कार्य एक स्थान में अवस्थापित करने का है। इस पर यह शंका उपस्थित हुई कि वैसा होने पर तो तेज, वायु और जल इन चलने वाले स्थावर जीवों के स्थावरपने का अभाव प्राप्त होगा? इस शंका के समाधान में कहा गया है कि ऐसा नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार स्थिर पत्ते प्रयोग से—वायु की प्रेरणा से—वृक्ष से टूटने पर इधर-उधर चलते हैं उसी प्रकार स्थिर तेज और जल जीव भी प्रयोग के वश चलते हैं, न कि स्वतः, अतएव उनके गमन में कोई विरोध नहीं है। इनके अतिरिक्त गति पर्याय से परिणत वायु का तो शरीर ही वैसा है।

इस प्रसंग से सम्बद्ध तत्त्वार्थसूत्र के स. सि. सिद्धिसम्मत और भाष्यसम्मत सूत्रों में भी कुछ भिन्नता रही है। यथा—

पृथिव्यप्तेजोवायु-वनस्पतयः स्थावराः ।तेजोवायू द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः। स. सि. सूत्र २,१३,१४.

पृथिव्यम्बु-वनस्पतयः स्थावराः। तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः। भाष्य सूत्र २,१३,१४.

स. सि. और त. वा. के अन्तर्गत उपर्युक्त शंकासमाधान को देखते हुए सर्वार्थसिद्धिकार के सामने उक्त भाष्यसम्मत सूत्र रहे हैं या नहीं, यह सन्देहास्पद है। पर तत्त्वार्थवार्तिककार के समक्ष वे भाष्य-सम्मत सूत्र अवश्य रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है। कारण इसका यह है कि उन्होंने प्रकृत शंका के समाधान में वायु, तेज और जल कायिक जीवों के अस्थावरत्व का प्रसंग दिया है, जब कि स. सि. में केवल आगमविरोध ही प्रगट किया गया है, वहां वायु, तेज और जल कायिक जीवों का कुछ भी निर्देश नहीं किया गया।

दशवैकालिक चूर्णि (पृ. १४७) के अनुसार जो जीव एक स्थान में अवस्थित रहते हैं उन्हें स्थावर कहा जाता है। त. भा. की हरिभद्र विरचित वृत्ति (२-१२) में कहा गया है कि जो जीव परिस्पन्दन आदि से रहित होते हुए स्थावर नामकर्म के उदय से अवस्थित रहते हैं वे स्थावर कहलाते हैं। श्रावकप्रज्ञप्ति की टीका (२२) में भी उक्त हरिभद्र सूरि के द्वारा प्रायः इसी अभिप्राय को प्रगट करते हुए कहा गया है कि जिसके उदय से जीव स्पन्दन से रहित होता है उसे स्थावर नामकर्म कहते हैं। उक्त त. भा. की सिद्धसेन विरचित वृत्ति (२-१२) में कहा गया है कि स्थावर नामकर्म के उदय से जिन जीवों के सुख-दुःखादि के अनुमापक चिह्न स्पष्ट नहीं रहते वे स्थावर कहलाते हैं। सूत्रकृतांग की शीलांक विरचित वृत्ति (२,१,३ पृ. ३३ व २,६,४ पृ. १४०) में 'तिष्ठन्तीति स्थावराः' इस निरुक्ति के साथ पृथिवी आदिकों को स्थावर कहा गया है। पर 'आदि' शब्द से वृत्तिकार को अन्य और कौन से जीव अभिप्रेत हैं, यह वहां स्पष्ट नहीं है। यही अभिप्राय प्रायः स्थानांग की अभयदेव विरचित वृत्ति (५७ व ७५) में भी प्रगट किया गया है। विशेष इतना है कि वहां 'पृथिवी आदिक' यह निर्देश नहीं किया गया। योगशास्त्र के स्वो. विवरण (१-१६) में स्पष्ट रूप से भूमि , अप्, तेज, वायु और महीरुह (वनस्पति) इन पांच एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर कहा गया है।

स्थिरनामकर्म—इसके स्वरूप का निर्देश करते हुए सर्वार्थसिद्धि (८-११) तत्त्वार्थाधिगम भाष्य (८-१२) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (८-११) और भगवती आराधना की मूला· टीका (२१२४) में प्रायः समान रूप से यही कहा गया है कि स्थिरभाव (स्थिरता) के जनक नामकर्म को स्थिर नामकर्म कहा जाता है। त. वार्तिक (८,११,३४) में सर्वार्थसिद्धिगत इस लक्षण को शब्दशः आत्मसात् करके उसे स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि जिसके उदय से दुष्कर उपवास आदि तपों के करने पर भी अंग व उपांगों की स्थिरता रहती है वह स्थिर नामकर्म कहलाता है। त. भा. की हरि. वृत्ति और श्रावकप्रज्ञप्ति (२३) की हरि. टीका में कहा गया है कि जिसके उदय से सिर, हड्डियां और दाँत आदि शरीरगत अव-यवों की स्थिरता होती है उसे स्थिर नामकर्म कहते हैं। त· भा. की हरि. वृत्तिगत इस लक्षण को उसकी सिद्धसेन विरचित वृत्ति और प्रज्ञापना की मलय. वृत्ति (२५३) में ज्यों का त्यों ले लिया गया है। धवला (पु. ६, पृ. ६३) में कहा गया है कि जिसके उदय से रस, रुधिर, मेदा, मज्जा, हड्डियां, मांस और शुक्र इन सात धातुओं की स्थिरता होती है—उनका विनाश या गलन नहीं होता है—उसका नाम स्थिर नाम-कर्म है। धवलागत यह लक्षण मूलाचार की वृत्ति (१२-१९५) में प्रायः उसी रूप में उपलब्ध होता है। आगे इसी धवला (पु. १३, पृ· ३६५) में उसके लक्षण को पुनः दोहराते हुए यह कहा गया है कि जिस कर्म के उदय से रसादि धातुओं का अवस्थान कुछ काल तक अपने स्वरूप से होता है उसे स्थिर नाम कर्म कहते है। समवायांग की अभयदेव विरचित वृत्ति (४२) में कहा गया है कि जिसके आश्रय से स्थिर दांत आदि अवयवों की उत्पत्ति होती है वह स्थिर नामकर्म कहलाता है।

—बालचन्द्र शास्त्री
हैदराबाद
१६-१-७६

प्रस्तावनागत विशिष्ट लक्ष्य शब्दों की अनुक्रमणिका

लक्ष्यशब्द	पृष्ठ	लक्ष्यशब्द	पृष्ठ
कपित्थदोष	१	याचनापरीषहजय	२३
पर्व-पर्वांग	१	रसत्याग, रसपरित्याग	२४
कांक्षा व काङ्क्षा	१	वलन्मरण, वलाकामरण, वलायमरण	२५
गण व गच्छ	२	विहायोगति नामकर्म	२५
ग्रन्थि	२	वृत्तिपरिसंख्यानतप	२५
छेद	३	व्यवहारनय	२५
छेदोपस्थापक	४	श्रमण	२६
तद्भवमरण	५	सत्य	२७
त्रस	५	असत्य	२७
दर्शन	६	समभिरूढनय	२८
दिव्यध्वनि	८	सम्यक्त्व	३०
धर्म	६	संग्रहनय	३३
नय	११	संयम	३४
नाग्न्यपरीषहजय	१४	संसारपरीत	३५
निगोद जीव	१४	सामायिक	३६
निर्ग्रन्थ	१५	सामायिक प्रतिमा	३६
निर्विचिकित्स	१६	सूत्र	४०
परिभोग	१८	सूत्ररुचि	४१
पादपोपगमन	१६	सोपक्रमायु	४१
पुलाक	२०	स्तनदोष	४२
प्रवचनवत्सलता	२०	स्त्रीवेद	४२
बकुश	२०	स्थापनाकर्म	४३
ब्रह्मचर्याणुव्रत	२१	स्थावर	४३
भोगोपभोगपरिमाण	२२	स्थिरनामकर्म	४४
यथाप्रवृत्तकरण	२२	ह्रस्व	४४

—: ० :—

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	कालम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२६	१	३४	कल्पाः । सौ	कल्पाःसौ
४०५	२	२६	४-१५३	४-३२
४२४	१	२४	पन्द्र	पन्द्रह्
४५१	२	३८	२७२	३७२
४५२	१	३०	तीर्थान्तररस-	तीर्थान्तरस-
,,	२	२६	(निवृ[र्वृ]त्ति-	निवृत्ति-
,,	२	२७	निवृ[र्वृ]त्ति-	निवृत्ति-
४६१	२	६	जम्म.	जस्स
४६७	२	२४	३७ ३	३७, २
५००	१	३२	तजस	तैजस
५०२	१	३२	११	१२
५४२	१	२२	दव	दैव
५६६	१	१४	२५	२४
,,	१	१५	८१	८५
,,	१	२५	धास्यते	धारयते
५७४	१	२	१०	१२
५८७	२	१७	१. गुणो	१. × × × अत्रान्यतरत् प्रधानम् । गुणो
,,	२	१६	। (स्वयम्भू.	। भवन्त्यभिप्रेतगुणाः × × × ॥ (स्वयम्भू.
५६३	१	३०	पृ.	वृ.
६०२	१	३	ना क	नारक
६१७	२	२७	निर्ग्रताः	निर्गताः
६२५	१	२५	२४६	२३१
७१७	२	३५	पञ्जलि	पलञ्जि
७७४	२	३५	प्रमादादि	प्रसादादि
७७५	१	१३	यमोद्युक्तः चेतसां	यमोद्युक्तचेतसां
७६७	१	२	आत्मोपकार	आत्म-परोपकार
८१८	१	३३	तपः। (त. भा.	तपः। तत्राग्निप्रवेश-मरुत्प्रपात-जलप्रवेशादि । (त. भा.
८२७	१	१४	यंतु सा	यंतु । सा
,,	१	१७	गृहीति	गृंहीति
,,	१	१६	परदारस्य	परदारस्स
६१६	१	१५	सिच्छा	मिच्छा
६४३	१	२२	स्वरूप…कथित	स्वरूपं… कथितं
६४५	१	२६	६, ११	८, ११

६४५	२	६	पृ. ६६	पृ. ६५-६६
६५५	१	१८	भा. सिद्ध	भा.
६६३	१	२१	रोग:ज्वराति	रोग: ज्वराति
१००१	१	३२	क्रिया:	क्रिया
१००२	१	२१	तस्से	तस्से [तिस्से]
१००३	१	२०	निमित्तानिनि-	निमित्तानि नि-
,,	२	२१	विद्यामहा	विद्या महा
१००८	१	२१	२१ व १४३	२१-१४३
१००९	२	२४	परकीयमनगतो	परकीयमतिगतो
१०११	१	२३	चारित	चरित
१०१९	१	४	आदि	व विष्ठा आदि
१०२४	१	३६	दरिद्र···एवभूतेन	दरिद्र ··एवंभूतेन
१०२५	१	१३	कानूजात	कानुजात
,,	२	२२	तदानुवेदिकम्	[तदा तु वेदकम्]
१०२८	१	१	कर्म-	कर्म
,,	१	२	भवनदं स्व-	भवनस्व-
,,	१	३०	जससकम्म-	जस्स कम्म-
१०३४	१	२३	मस्रक्षी	मस्राक्षी
१०३९	२	३५	३६	३३
१०४१	२	३९	१४०	२-१४
१०८३	१	६	तदनृतम्	तदननृतम्
१११०	२	६	चर्या सराग	चर्या व सराग
१११३	२	५	सर्वे चैव चैपा	सर्वे चैपा-
१११६	१	१२	भेदे संभूते	भेदैः संभूते
१११९	२	१६	तेणगं	तेण जं
११२७	२	३५	सयम	संयम
,,	२	३६	६); व्रत-	६); समितिषु प्रवर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहारः संयमः (त. वा. ६, ६, १४); व्रत-
११२८	१	८	); सम्यक्	); व्रत-समिति-कषाय-दण्डेन्द्रियाणां रक्षण-पालन-निग्रह-त्याग-जयाः संयमः, सम्यक्
११२८	१	३५	त्यागजय:	त्याग-जया:
११३०	१	२५	अक्षर समूहवाह्य	अक्षरसमूह वाह्य
,,	१	३३	कर्म	१ कर्म
,,	१	३६	संयोजणा	संजोयणा
,,	१	३७	सजोएदि	संजोएदि
११३२	१	१५	संवर-	संवर:
११३३	१	१०	निरोध: संवर:	निरोध: संवरो
११३५	२	१	त्रयात्मक धर्मा	त्रयात्मकधर्मा

११५१	१	२३	इकमप्पए	इकमप्पए
,,	१	२८	संगनं	संगतं
११५८	१	३९	स्वासादन	सास्वादन
११६०	१	७	पुत्तयकम्मेण	पुग्गलकम्मेण
११६८	२	२५	वितंक	वितर्क
,,	२	३२	करके और बादर	करके बादर
११७२	२	१२	पु. १	पु. ९
११७३	१	६	चतुष्टचादि	चतुष्टयादि
११८१	१	२७	ति. ४	ति. प. ४
११८४	२	३३	तवपहावेण	[तह पहावेण]
११८८	२	८	पुस्तककर्म	पुस्तकर्म
११९५	१	२२	ना घर्मे	नाधर्मे
११९९	१	१७	स्नेहा (···स्नेहवि-.	स्नेह (···स्नेहावि-
१२००	२	१५	संपत्त-फांसिसदियसु	संपत्तफंसिसदिएसु
१२०१	१	२७	कुएँ के खोदने	कुएँ आदि के खोदने,
,,	१	२८	आदि	×××
,,	१	३३	जीविकाक केर ने	जीविका के करने
१२०३	१	१३	सर्वथा	×××
१२०४	१	२२	तप-श्रुत	तपःश्रुत
	१	२४	,,	,,
,,				
१२०८	२	३०	झाणवस	झाण-
१२०९	२	१६	सन्निवेशकर	सन्निवेशकरं
,,	२	१७	वल्भीक	वल्मीक
,,	२	२१	वाल्मीक:	वंल्मीक:
१२१०	१	२०	योग. शा.	योगशा.
,,	२	२२	वसति आहार	वसति—आहार
१२११	२	२४	को (स्वेद—पसीना)	को स्वेद (पसीना)
१२१४	२	३	प्राणानां परस्य च	प्राणानां [स्वस्य] परस्य च
१२१५	१	४	योगद्धि	योगार्द्ध
१२१६	१	५	करोत्येवशीलं	करोत्येवंशीलं
,,	२	३२	लग्न वह्नि	लग्नवह्नि

जैन-लक्षणावली

(जैन पारिभाषिक शब्द-कोष)

प्रकरणसमा जाति—१. अथानित्येन नित्येन साधर्म्यादुभयेन वा। प्रक्रियायाः प्रसिद्धिः स्यात्ततः प्रकरणे समा ॥ तत्रानित्येन सावर्म्यान्निःप्रयत्नोद्भवत्वतः। शब्दस्यानित्यतां कश्चित् साधयेदपरः पुनः ॥ तस्य नित्येन गोत्वादिसामान्येन हि नित्यता। ततः पक्षे विपक्षे च समाना प्रक्रिया स्थिता ॥ (त. श्लो. १, ३३, ३८०–८२)। २. तस्य (प्रकरणसमस्य) हि लक्षणम्—यस्मात् प्रकरणचिन्ता स प्रकरणसमः [न्यायसू. १।२।७] इति। प्रक्रियेते साध्यत्वेनाधिक्रियेते अनिश्चितौ पक्ष-प्रतिपक्षौ यौ तौ प्रकरणम्, तस्य चिन्ता संशयात् प्रभृत्याऽऽनिश्चयात् पर्यालोचना यतो भवति स एव, तन्निश्चयार्थं प्रयुक्तः प्रकरणसमः, पक्षद्वयेऽप्यस्य समानत्वादुभयत्राप्यन्वयादिसद्भावात्। (प्र. क. मा. ३–१५, पृ. ३५७)।

१ अनित्य की नित्य से और नित्य से अनित्य की समानता से जो प्रकरणसिद्धि की जाती है, इसे प्रकरणसमा जाति जानना चाहिए। जैसे कोई एक वादी जब 'प्रयत्न के अविनाभावित्व' हेतु के द्वारा शब्द की अनित्यता को सिद्ध करना चाहता है तब दूसरा प्रतिवादी गोत्व आदि सामान्य के साथ साधर्म्य होने से उसकी नित्यता के सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार पक्ष-विपक्ष में प्रक्रिया के समान होने से इसे प्रकरणसमा जाति कहा जाता है।

प्रकाश—प्रकाशयति घनतिमिरपटलावगुण्ठितमपि घटादि प्रकटयतीति प्रकाशः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. २०६, पृ. २१२)।

जो सघन अन्धकार से आच्छादित भी घटादि पदार्थों को प्रकट करता है उसे प्रकाश कहते हैं।

प्रकाशन, प्रकाशना—१. पगासणा चरमाहारप्रकाशनम्। (भ. आ. विजयो. ६६)। २. पयासणाचरणं आहारप्रकटनम्। (भ. आ. मूला. ६६)। ३. प्रकाशनं चरमाहारप्रकटनम्। (अन. ध. स्वो. टी. ७–९८)।

१ अन्तिम आहार के प्रगट करने को प्रकाशन या प्रकाशना कहा जाता है। यह भक्तप्रत्याख्यानमरण के अर्हादिभावों के अन्तर्गत है।

प्रकीर्णक—१. प्रकीर्णकाः पौर-जानपदकल्पाः। (स. सि. ४–४)। २. प्रकीर्णकाः पौर-जनपदस्थानीयाः। (त. भा. ४–४)। ३. प्रकीर्णकाः पौर-ज[ा]नपदकल्पाः। यथेह राज्ञां पौरा जानपदाश्च प्रीतिहेतवः तथा तत्रेन्द्राणां प्रकीर्णकाः प्रत्येतव्याः। (त. वा. ४, ४, ८)। ४. पौर-जानपदप्रख्याः सुरा ज्ञेयाः प्रकीर्णकाः। (म. पु. २२–२९)। ५. प्रकीर्णा एव प्रकीर्णकाः, ते पौर-जानपदकल्पाः। (त. श्लो. ४, ४)। ६. समुद्र इव प्रकीर्णक-सूक्त-रत्नविन्यासनिबन्धनं प्रकीर्णकम्। (नीतिवा. ३२–१, पृ. ३७९)। ७. ××× प्रकीर्णा ग्राम्य-पौरवत्। (त्रि. श. पु. च. २, ३, ७७४)। ८. तथा प्रकीर्णकाः पौर-जनपदस्थानीयाः, प्रकृतिसदृशा इत्यर्थः। (बृहत्सं. मलय. वृ. २)। ९. प्रकीर्णकाः पौर-जनपदादिप्रकृतिसदृशाः। (संग्रहणी. दे. वृ. १–२, पृ. ५)। १०. प्रकीर्णकाः पौर-जनपदसमानाः। (त. वृत्ति श्रुत. ४–४)।

१ देवों में जो पुरवासी और जनपद निवासी मनुष्यों के समान हुआ करते हैं वे प्रकीर्ण या प्रकीर्णक देव कहलाते हैं। ६ जिस प्रकार समुद्र बिखरे हुए रत्नों का कारण है उसी प्रकार जो काव्य विविध प्रकार

के सूक्तिरूप रत्नों की रचना का कारण है उसे प्रकीर्णक कहा जाता है।

प्रकृति—१. प्रकृतिशब्देन स्वभावो भेदश्चाभिधीयते। (उत्तरा. चू. पृ. २७७)। २. प्रक्रियते अज्ञानादिकं फलमनया आत्मन इति प्रकृतिशब्दव्युत्पत्तेः। (धव. पु. १२, पृ. ३०३); पयडी सील सहावो इच्चेयट्ठो। (धव. पु. १२, पृ. ४७८); प्रकृतिः स्वभावः शीलमित्यनर्थान्तरम्। (धव. पु. १३, पृ. १९७)। ३. प्रकृतिर्मौलं कारणं मृदिव घटादिभेदानामेकरूपपुद्गलग्रहणम्, अतः प्रक्रियन्तेऽस्य सकाशादिति अकर्तरीत्यनुवृत्तेरपादानसाधना प्रकृतिः। स्वभाववचनो वा प्रकृतिशब्दः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-४)। ४. पयडी सील सहावो × × ×। (गो. क. २)। ५. प्रकृतिस्तु स्वभावः स्यात् ज्ञानावृत्यादिरष्टधा॥ (योगशा. स्वो. विव. १-१६, ६०, पृ. ११४)। ६. इदमुक्तं भवति—प्रकृतिर्नाम ज्ञानावारकत्वादिलक्षणः स्वभावः। (पंचसं. मलय. वृ. सं. क. ३३)। ७. प्रीत्यप्रीति-विषादात्मकानां लाघवोपष्टम्भ-गौरवधर्माणां परस्परोपकारिणां त्रयाणां गुणानां सत्त्व-रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। (स्याद्वादम. १५, पृ. १८४)। ८. पयइ सहावो वुत्तो × × ×। (नवत. ३७)।

१ प्रकृति का अर्थ स्वभाव अथवा भेद होता है। २ प्रकृति, शील और स्वभाव ये समानार्थक शब्द हैं। जो आत्मा के अज्ञानादि रूप फल को उत्पन्न करती है उसे प्रकृति कहते हैं। वह मूल में ज्ञानावरणादि के भेद से आठ प्रकार की है। ७ सत्त्व रज और तम इन तीन गुणों की समता का नाम प्रकृति (सांख्याभिमत) है। क्रमशः लाघव, उपष्टम्भ और गौरव धर्म वाले उक्त तीनों गुण प्रीति, अप्रीति और विषाद स्वरूप होते हुए परस्पर के उपकारक हैं।

प्रकृतिपतद्ग्रह—१. यस्यां प्रकृतौ जीवस्तत्स्वभावेन परिणमयति सो प्रकृतिः पगतीए संकममाणाए पडिग्गहो वुच्चति। (कर्मप्र. चू. सं. क. २)। २. यस्यां प्रकृतौ आधारभूतायां तत्प्रकृत्यन्तरस्थं दलिकं परिणमयति—आधारभूतप्रकृतिरूपतामापादयति—एषा प्रकृतिराधारभूता पतद्ग्रह इव पतद्ग्रहः, संक्रम्यमाणप्रकृत्याधार इत्यर्थः। (कर्मप्र. मलय. वृ. सं. क. २)। ३. तत्र यदा एका प्रकृतिरेकस्यां प्रकृतौ संक्रामति, यथा सातमसाते असातं वा साते, तदा या संक्रामति सा प्रकृतिसंक्रमः, यस्यां तु संक्रामति सा प्रकृतिपतद्ग्रहः। (पंचसं. मलय. वृ. सं. क. ४)।

१ जीव जिस प्रकृति में विवक्षित कर्मप्रकृति के प्रदेशों को तत्स्वरूप से परिणमाता है उस आधारभूत प्रकृति को प्रकृतिपतद्ग्रह कहा जाता है।

प्रकृतिबन्ध—१. अविसेसियरसपगईउ पगइबंधो मुणेयव्वो। (कर्मप्र. १-२४, पृ. ६६)। २. प्रकृतिः स्वभावः। × × × तदेवंलक्षणं (अर्थानवगमादिरूपं) कार्यं प्रक्रियते प्रभवत्यस्या इति प्रकृतिः। (स. सि. ८-३; त. वा. ८, ३, ४)। ३. यथोक्तप्रत्ययसद्भावे सति पुद्गलादानं प्रकृतिबन्धः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८-४)। ४. प्रकृतिबन्धो ज्ञानावरणादिप्रकृतिरूपः। (श्रा. प्र. टी. ८०)। ५. प्रकृतिः स्यात् स्वभावोऽत्र निम्बादेस्तिक्ततादिवत्। कर्मणामिह सर्वेषां यथास्वं नियता स्थिता॥ (ह. पु. ५८-२०४)। ६. प्रकृतिः स्वभाव इत्यनर्थान्तरम्। × × × बन्धव्यानि च कर्माणि प्रकृत्यावस्थितानि प्रकृतिबन्धव्यपदेशं लभन्ते। (त. श्लो. ८-३)। ७. बन्धो नाम यदात्मा राग-द्वेष-स्नेहलेशावलीढसकलात्मप्रदेशो भवति तदा येष्वेवाकाशप्रदेशेष्ववगाढस्तेष्वेवावस्थितान् कार्मणविग्रहयोग्याननेकरूपान् पुद्गलान् स्कन्धीभूतानाहारवदात्मनि परिणामयति सम्बन्धयतीति स्वात्मा ततस्तानध्यवसायविशेषाज्ज्ञानादीनां गुणानामात्मावरणतया विभजते हंसः क्षीरोदके यथा, यथा वा आहारकाले परिणतिविशेषक्रमवशादाहर्ता रस-खलतया परिणतिमानयत्यनाभोगवीर्यसामर्थ्यात्, एवमिहाप्यध्यवसायविशेषात् किञ्चिद् ज्ञानावरणीयतया किञ्चिद् दर्शनाच्छादकत्वेनापरं सुख-दुःखानुभवयोग्यतया परं च दर्शन-चरणव्यामोहकारितयाऽन्यन्नारक-तिर्यङ्मनुष्यामरायुष्केनान्यद् गतिशरीराद्याकारेणापरमुच्च-नीचगोत्रानुभावेनाऽन्यद् दानाद्यन्तरायकारितया व्यवस्थापयति। एषः प्रकृतिबन्धः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-३, पृ. ३८)। ८. × × × तस्समुदाओ पगतिबंधो। (पंचसं. बं. क. ४०); तेषां त्रयाणामपि स्थित्यनुभाग-प्रदेशबन्धानां यः समुदायः स प्रकृतिबन्धः। (पंचसं. स्वो. वृ. बं. क. ४०)। ९. प्रकृतयः कर्मणोंऽशा भेदाः ज्ञानावरणीयादयोऽष्टौ, तासां बन्धः प्रतिबन्धः। (समवा. अभय. वृ. ४)। १०. कर्मणः

प्रकृतयः अंशा भेदाः ज्ञानावरणीयादयोऽष्टौ, तासां प्रकृतेर्वा अविशेषितस्य कर्मणो बन्धः प्रकृतिबन्धः। (स्थाना. अभय. वृ. ४, २, २९६)। ११. कार्मण-वर्गणागतपुद्गलानां ज्ञानावरणादिभावेन परिणामः प्रकृतिबन्धः। (मूला. वृ. ५-४७); प्रकृतिर्ज्ञाना-वरणादिस्वरूपेण पुद्गलपरिणामः। (मूला. वृ. १२-३)। १२. ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मणां तत्तद्योग्य-पुद्गलद्रव्यस्वीकारः प्रकृतिबन्धः। (नि. सा. वृ. १-४०)। १३. रसः स्नेहोऽनुभाग इत्येकार्थः, तस्य प्रकृतिः स्वभावः, अविशेषिताऽविवक्षिता रसप्रकृतिः, उपलक्षणत्वात् स्थित्यादयोऽपि यस्मिन्नविवक्षिताः स बन्धोऽविशेषितरसप्रकृतिः प्रकृतिबन्धो ज्ञातव्यः। (कर्मप्र. मलय. वृ. १-२४, पृ. ६६)। १४. ज्ञानावरणाद्यात्मा प्रकृतिः × × ×। (अन. ध. २-३९)। १५. यः पुनस्तत्समु-दायः—स्थित्यनुभाग-प्रदेशसमुदायः— स प्रकृति-बन्धः। (पंचसं. मलय. वृ. बं. क. ४०; कर्मवि. दे. स्वो. वृ. २; शतक. दे. स्वो. वृ. २१)। १६. प्रकृतिः समुदायः स्यात् × × ×। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. २, उद्.; शतक. दे. स्वो. वृ. २१ उद्.)। १७. प्र-कृतिस्तत्स्वभावात्मा × × ×। (पञ्चाध्यायी २-९३३)।

१ तीव्र-मन्द अथवा शुभाशुभरूप विशेषता से रहित रस की प्रकृति—अनुभाग के स्वभाव को—प्रकृति-बन्ध कहते हैं। ५ प्रकृति नाम स्वभाव का है, जैसे नीम की प्रकृति तिक्तता अथवा गुड़ की प्रकृति मधुरता। इस प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मों की जो ज्ञानादि के आवरणरूप प्रकृति है उसे प्रकृतिबन्ध कहा जाता है।

प्रकृतिमरण—एवमेकस्यायुष्कर्मण एकैव प्रकृति-रुदेत्येकस्यात्मनस्तस्मादेकैकायुष्कप्रकृतिगलनरूपमिव मृतिमुपैति। तदेतत्प्रकृतिमरणम्। (भ. आ. विजयो. २५, पृ. ८६)।

एक जीव के एक ही आयुकर्म की प्रकृति उदय को प्राप्त होती है। इसी से जीव एक आयुकर्म की प्रकृति के गलनेरूप मृत्यु को प्राप्त होता है। यही प्रकृतिमरण है।

प्रकृतिमोक्ष—जा पयडी णिज्जरिज्जदि अण्ण-पयडिं वा संकामिज्जदि एसो पयडिमोक्खो णाम। (धव. पु. १६, पृ. ३३७)।

जो प्रकृति निर्जीर्ण होती है अथवा अन्य प्रकृतिरूप परिणत होती है, इसका नाम प्रकृतिमोक्ष है।

प्रकृतिसंक्रम—१. जा पयडी अण्णपयडिं णिज्जदि एसो पयडिसंकमो। (धव. पु. १६, पृ. ३४०)। २. एकस्यां प्रकृतावेका संक्रामति यदा तदा प्रकृति-संक्रमः प्रकृतिप्रतिग्रहता चेति। (पंचसं. च. स्वो. वृ. सं. क. ४)। ३. यां प्रकृतिं बध्नाति जीवः तद-नुभावेन प्रकृत्यन्तरस्थं दलिकं वीर्यविशेषेण यत्परि-णमयति स सङ्क्रमः। (स्थाना. अभय. वृ. ४, २, २९६)। ४. तत्र यदा एका प्रतिरेकस्यां प्रकृतौ संक्रामति यथा सातमसाते, असातं वा साते, तदा या संक्रामति सा प्रकृतिसंक्रमः। (पंचसं. मलय. वृ. सं. क. ४); पतद्ग्रहरूपतापादनं प्रकृतिसंक्रमः। (पंचसं. मलय. वृ. सं. क. ३३)।

१ जो प्रकृति अन्य प्रकृतिरूपता को प्राप्त करायी जाती है, यह प्रकृतिसंक्रम कहलाता है। ४ जब एक प्रकृति अन्य एक प्रकृति में संक्रमण को प्राप्त होती है—जैसे साता असाता में अथवा असाता साता में, इत्यादि—तब जो संक्रान्त होती है उसे प्रकृतिसंक्रम कहा जाता है।

प्रकृतिस्थान— द्वि-आदीनां प्रकृतीनां समुदायः प्रकृतिस्थानम्। (पंचसं. मलय. वृ. सं. क. ४)।

दो तीन आदि प्रकृतियों के समुदाय को प्रकृति-स्थान कहते हैं।

प्रकृतिस्थानपतद्ग्रह—यदा तु प्रभूतासु प्रकृतिस्वे-का संक्रामति, यथा मिथ्यात्वं सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्या-त्वयोः, तदा प्रकृतिस्थानपतद्ग्रहः। (पंचसं. मलय. वृ. सं. क. ४)।

जब बहुत सी प्रकृतियों में एक प्रकृति संक्रमण को प्राप्त होती है, जैसे सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व में एक मिथ्यात्व प्रकृति, तब वह प्रकृतिस्थानपतद्ग्रह कहलाता है।

प्रकृतिस्थानसंक्रम—तत्र यदा प्रभूता प्रकृतय एकस्यां संक्रामन्ति, यथा यशःकीर्तावेकस्यां शेषा नामप्रकृतयः, तदा प्रकृतिस्थानसंक्रमः। (पंचसं. मलय. वृ. सं. क. ४)।

जब एक प्रकृति में बहुत सी प्रकृतियां संक्रमण को प्राप्त होती हैं, जैसे एक यशःकीर्ति में शेष नाम कर्मप्रकृतियां, तब वह प्रकृतिस्थानसंक्रम कह-लाता है।

प्रकृत्यन्तरनयनसंक्रम—१. यत्पुनः सङ्क्रमप्रकृतिस्थितिसमयस्था कर्मपरमाणवः प्रतिग्रहप्रकृती सङ्क्रमप्रकृतितुल्यासु स्थितिपु नीत्वा निवेश्यन्त इत्येषः प्रकृत्यन्तरनयनसंक्रमः। (पंचसं. स्वो. वृ. सं, क. ३५, पृ. १५४)। २. विवक्षितायाः प्रकृतेः समाकृष्य प्रकृत्यन्तरे नीत्वा निवेशनं प्रकृत्यन्तरनयनसंक्रमः। (पंचसं. मलय. वृ. सं. क. ५२)।

१ संक्रमप्रकृति सम्बन्धी स्थिति के समयों में अवस्थित कर्मपरमाणुओं को प्रतिग्रहप्रकृति में संक्रमप्रकृति की समान स्थितियों में ले जाकर जो रखा जाता है, इसका नाम प्रकृत्यन्तरनयनसंक्रम है। २ विवक्षित प्रकृति के रस को उससे खींचकर व अन्य प्रकृति में ले जाकर रखना, इसका नाम प्रकृत्यन्तरनयनसंक्रम है।

प्रकृत्यर्थता—पयडी सीलं सहावो इच्चेयट्ठो। अट्ठो पयोजणं, तस्स भावो अट्ठदा, पयडीए अट्ठदा पयडिअट्ठदा। (धव. पु. १२, पृ. ४७८)।

प्रकृति, शील और स्वभाव ये समानार्थक शब्द हैं। अर्थ से प्रयोजन का अभिप्राय रहा है। इस प्रकार प्रकृति की अर्थता को प्रकृत्यर्थता कहते हैं।

प्रक्षेपक—यत्पुनर्मुखे प्रवेशनं स प्रक्षेपकः। (बृहत्क. क्षे. वृ. ९८)।

लटकते हुए पत्र-पुष्पादि के मुख में रखने का नाम प्रक्षेपक है।

प्रक्षेपाहार—१. पक्खेवाहारो पुण कावलिओ होइ नायव्वो। (सूत्रकृ. नि. २, ३, १७१; बृहत्सं. १९७)। २. प्रक्षेपाहारस्तु कावलिकः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ५–२०)। ३. प्रक्षेपाहारः ओदनादिकवल-पानाभ्यवहारलक्षणः। (त. भा. सिद्ध. वृ. २–३१)। ४. प्रक्षेपेण कवलादेराहारः प्रक्षेपाहारः, प्रक्षेपाहारस्तु कावलिकः, कवलप्रक्षेपनिष्पादित इति ज्ञातव्यो भवति। (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. २, ३, १७०)। ५. प्रक्षिप्यतेऽर्थात् मुखे इति प्रक्षेपः, स चासावाहारश्च प्रक्षेपाहारः, ××× कावलिकमुखप्रक्षेपाहारः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २८–३०६)। ६. प्रक्षेपाहारः पुनः कावलिको मुखे कवलप्रक्षेपरूपो भवति ज्ञातव्यः। (बृहत्सं. मलय. वृ. १९७)। ७. यः पुनराहारः कावलिकः कवलैर्निष्पन्नो भवति, स मुखे कवलादेः प्रक्षेपात् प्रक्षेपाहारो ज्ञातव्यः। (संग्रहणी दे. वृ. १४०)।

१ कवल या ग्रासरूप आहार को प्रक्षेपाहार कहा जाता है, कारण कि उसे उठाकर मुख में रखना पड़ता है।

प्रचला—१. या क्रिया आत्मानं प्रचलयति सा प्रचला शोक-श्रम-मदादिप्रभवा आसीनस्यापि नेत्र-गात्रविक्रियासूचिका। (स. सि. ८–७)। २. पयला होइ ठियस्सा ××× ॥ (बृहत्क. २४००)। ३. किंचिदुन्मिपितो जीवः स्वपित्येव मुहुर्मुहः। ईषदीषद्विजानाति प्रचलालक्षणं हि तत्॥ (वरांगच. ४–५४)। ४. प्रचलयत्यात्मानमिति प्रचला। या क्रिया आत्मानं प्रचलयति सा प्रचलेत्युच्यते। ××× सा पुनः शोक-श्रम-मदादिप्रभवा विनिवृत्तेन्द्रियव्यापारस्यान्तःप्रीतिलवमात्रहेतुः आसीनस्यापि नेत्र-गात्रविक्रियासूचिता। (त. वा. ८, ७, ४)। ५. पयलाए तिव्वोदएण वालुवाए भरियाइं व लोयणाइं होंति, गरुवभारोड्ढव्वं व सीसं होदि, पुणो पुणो लोयणाइं उम्मिल्ल-णिमिल्लणं कुणंति, णिद्दाभरेण पडंतो लहु अप्पाणं साहारेदि, मणा मणा कंपदि, सचेयणो सुवदि। (धव. पु. ६, पृ. ३२); जिस्से पयडीए उदएण अद्धसुत्तस्स सीसं मणा मणा चलदि सा पयला णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३५४)। ६. श्रमादिप्रभवात्मानं प्रचला प्रचलयत्यलम्। (ह. पु. ५८–२२८)। ७. या स्थितस्याप्येति प्रतिबोधविघातेन सा प्रचला। (पंचसं. च. स्वो. वृ. ३–४, पृ. ११०)। ८. उपविष्टः ऊर्ध्वस्थितो वा प्रचलति विघूर्णयत्यस्यां स्वापावस्थायामिति प्रचला। (शतक. मल. हेम. वृ. ३८)। ९. उपविष्ट ऊर्ध्वस्थितो वा प्रचलति घूर्णते यस्यां स्वापावस्थायां सा प्रचला। तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचला। (पंचसं. मलय. वृ. ३–४, पृ. ११०; सप्तति. मलय. वृ. ६)। १०. तथा उपविष्ट ऊर्ध्वस्थितो वा प्रचलयति घूर्णयति यस्यां स्वापावस्थायां सा प्रचला, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचला। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४६७)। ११. ऊर्ध्वस्थितस्यापि या पुनश्चैतन्यमस्फुटीकुर्वती समुपजायते निद्रा सा प्रचला। (जीवाजी. मलय. वृ. ८९)। १२. उपविष्ट ऊर्ध्वस्थितो वा प्रचलति यस्यां स्वापावस्थायां सा प्रचला, सा हि उपविष्टस्य ऊर्ध्वस्थितस्य वा स्वप्तुर्भवति। (धर्मसं. मलय. वृ. ६१०)। १३. उपविष्ट ऊर्ध्वस्थितो वा प्रचलत्यस्यां स्वप्ता स्वापाव-

स्थायामिति प्रचला, सा ह्युपविष्टस्योर्ध्वस्थितस्य वा घूर्णमानस्य स्वप्तुर्भवति, तथाविधविपाकवेद्या कर्मप्रकृतिः प्रचलेति तथैव। (कर्मस्त. गो. वृ. ६, पृ. ८३)। १४. या क्रियात्मानं प्रचलयति घूर्णयति सा प्रचला, प्रचलाख्यदर्शनावरणकर्मविशेषविपाकवशस्य जीवस्यासीनस्यापि शोक-श्रम-मदादिप्रभवो नेत्र-गात्रविक्रियासूचितः स्वापपरिणामः। (भ. आ. मूला. २०६४)। १५. पयला ठिओवविट्ठस्स ×× ×॥ (कर्मवि. दे. ११); प्रचलति विघूर्णते यस्यां स्वापावस्थायां प्राणी सा प्रचला, सा च स्थितस्योर्ध्वस्थानेन उपविष्टस्य आसीनस्य भवति, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचला। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ११)। १६. स्थितो नाम उपविष्ट ऊर्ध्वस्थितो वा, तस्य या स्वापावस्था सा प्रचला। (बृहत्क. क्षे. वृ. २४००)। १७. यदुदयात् या क्रिया आत्मानं प्रचलयति तत्प्रचलादर्शनावरणमिति। (गो. क. जी. प्र. ३३)। १८. यत्कर्म आत्मानं प्रचलयति सा प्रचलेत्युच्यते। प्रचलावान् पुमान् उपविष्टोऽपि स्वपिति, शोक-श्रम-मद-खेदादिभिः प्रचला उत्पद्यते, सा नेत्र-गात्रविक्रियाभिः सूच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ८-७)। १९. उपविष्ट ऊर्ध्वस्थितो वा प्रचलति घूर्णते यस्यां स्वापावस्थायां सा प्रचला। (कर्मप्र. यशो. वृ. १, पृ. ४)।

१ जो क्रिया जीव को चलायमान करती है, उसे प्रचला (निद्राविशेष) कहा जाता है। वह शोक, थकावट एवं मद आदि से उत्पन्न होती हुई बैठे हुए जीव के भी आ जाती है तथा नेत्र व शरीर के विकार की सूचक है या उनके द्वारा सूचित होती है। ५ प्रचला के तीव्र उदय से नेत्र वालु से भरे हुए के समान प्रतीत होते हैं, शिर भारी बोझ से आक्रान्त सा हो जाता है, नेत्र बार-बार खुलते और मिचते हैं तथा नींद के भार से गिरते हुए अपने को संभाल लेता है। ७ बैठे-बैठे या खड़े-खड़े भी जो विशेष जाति की नींद आकर बोध का विघात करती है वह प्रचला कहलाती है।

प्रचला-प्रचला—१. सैव पुनः पुनरावर्तमाना प्रचलाप्रचला। (स. सि. ८-७)। २. ××× पयलापयला य (कर्मवि. 'उ') चंकमओ॥ (बृहत्क. २४००; कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ११)। ३. स्यन्दते मुखतो लाला तनुं चालयते मुहुः। शिरो नमयतेऽत्यर्थं प्रचलाप्रचलाक्रमः॥ (वरांगच. ४-५१)। ४. पौनःपुन्येन संवाहिता वृत्तिः प्रचलाप्रचला। सैव प्रचला पुनः पुनरावर्तमाना प्रचलाप्रचलेत्युच्यते। (त. वा. ८, ७, ५)। ५. पयलापयलाए तिव्वोदएण वइट्ठओ वा उब्भवो वा मुहेण गलमाणलालो पुणो पुणो कंपमाणसरीर-सिरो णिब्भरं सुवदि। (धव. पु. ६, पृ. ३१-३२); जिस्से उदएण ट्ठियो णिसण्णो वा सोवदि, गहगहियो व सीसं धुणदि, वायाहयलया व चदुसु वि दिसासु लोट्टदि सा पयलापयला णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३५४)। ६. सा (प्रचला) पुनः पुनरावृत्ता प्रचलाप्रचलाभिधा। (ह. पु. ५८-२२८)। ७. एवं या भ्रमतोऽप्येति सा प्रचलाप्रचला। (पंचसं. स्वो. वृ. ३-४)। ८. प्रचलातिशायिनी प्रचला प्रचलाप्रचला, सा हि चंक्रमणादि कुर्वतः स्वप्तुर्भवति इति। स्थानस्थितस्वप्तृप्रभवां प्रचलामपेक्ष्यास्या अतिशायिनीत्वम्, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचलाप्रचला। (शतक. मल. हेम. वृ. ३८, पृ. ४५; कर्मस्त. गो. वृ. ६, पृ. ८३)। ९. प्रचलातोऽतिशायिनी प्रचलाप्रचला ××× सा हि चंक्रमणादिकमपि कुर्वतः उदयमधिगच्छति, ततः स्थानस्थितस्वप्तृप्रभवप्रचलापेक्षया तस्या अतिशायिनीत्वम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४६७)। १०. प्रचलातोऽभिहितस्वरूपाया अतिशायिनी प्रचला प्रचलाप्रचला, सा पुनरध्वानमपि गच्छतो भवति। (धर्मसं. मलय. वृ. ६१०)। ११. तथा प्रचलातोऽतिशायिनी प्रचला प्रचलाप्रचला, ××× एषा हि चंक्रमणमपि कुर्वत उपतिष्ठते (पंचसं. 'उदयमधिगच्छति') तथा स्थानस्थितस्वप्तृभवप्रचलापेक्षया अस्या अतिशायिनीत्वम्, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचलाप्रचला। (सप्तति. मलय. वृ. ६; पंचसं. मलय. वृ. ३-४, पृ. ११०; कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ११, पृ. २८)। १२. या तु चंक्रमतः गतिपरिणतस्य निद्रा सा प्रचलाप्रचला। (बृहत्क. क्षे. वृ. २४००)। १३. प्रचलेव पुनः पुनरावर्तमाना प्रचलाप्रचला चंक्रमणस्यापि आत्मनः प्रचलाप्रचलाख्यदर्शनावरणकर्मविकल्पविपाकवशाज्जायते। (भ. आ. मूला. २०६४)। १४. यदुदयात् या क्रिया आत्मानं पुनः पुनः प्रचलयति तत्प्रचलाप्रचलादर्शनावरणम्। शोक-श्रम-मदादिप्रभवा आसीनस्यापि नेत्र-गात्रविक्रियासूचिका, सैव पुनः पुनरावर्तमाना प्रचला-

प्रचलेत्यर्थः । (गो. क. जी. प्र. ३३) । १५. प्रचलावान् पुमान् उपविष्टोऽपि स्वपिति शोक-श्रम-मद-स्वेदादिभिः प्रचला उत्पद्यते, सा नेत्र-गात्रविक्रियाभिः सूच्यते, प्रचलैव पुनः पुनरागच्छन्तीति प्रचलाप्रचला। (त. वृत्ति श्रुत. ८-७) । १६. प्रचलातोऽतिशायिनी प्रचलाप्रचला, इयं हि चंक्रमणादिकुर्वतोऽप्युदयमागच्छतीति प्रचलातोऽस्या अतिशायिनीत्वम् । (कर्मप्र. यशो. वृ. १, पृ. ४) ।

१ बार बार प्रचला के आवर्तन का नाम प्रचलाप्रचला है। २ चलते चलते भी जो विशेष जाति की निद्रा आती है उसे प्रचलाप्रचला कहते हैं ।

प्रच्छना—देखो पृच्छना । १. संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा परानुयोगः प्रच्छना । (स. सि. ९-२५) । २. सन्देहनिवृत्तये निश्चितबलाधानाय वा सूत्रार्थविषयः प्रश्नः । (भ. आ. विजयो. १०४); प्रश्नो हि ग्रन्थेऽर्थे वा संशयच्छेदाय इत्थमेवैतदिति निश्चितार्थबलाधानाय वा पृच्छनम् । (भ. आ. विजयो. १३९) । ३. तत्संशयापनोदाय तन्निश्चयबलाय वा । परं प्रत्यनुयोगाय प्रच्छनां तद्विदुर्जिनाः ॥ (त. सा. ७-१८) । ४. प्रच्छना संशयोच्छित्त्यै प्रश्नः सप्रश्रयो मुनेः । स्वोन्नत्याख्यापनार्थं वा प्रहासोद्धर्पवर्जितः ॥ (आचा. सा. ४, ९०) । ५. प्रच्छनं ग्रन्थार्थयोः सन्देहच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा परानुयोगः । (योगशा. स्वो. विव. ४-९०) । ६. प्रच्छनं संशयोच्छित्त्यै निश्चितद्रढनाय वा । प्रश्नोऽधीतिप्रवृत्त्यर्थत्वादधीतिरसावपि । (अन. ध. ७-८४) । ७. संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा ग्रन्थार्थोभयस्य परं प्रत्यनुयोगः आत्मोन्नतिपरातिसन्धानोपहासादिवर्जितः प्रच्छना । (भावप्रा. टी. ७८) ।

१ संशय के दूर करने तथा निश्चित अर्थ के दृढ़ करने के लिए जो दूसरे विद्वान् से प्रश्न किया जाता है, इसे प्रच्छन या प्रच्छना कहा जाता है ।

प्रच्छन्नदोष—१. इय पच्छण्णं पुच्छिय साधू जो कुणइ अप्पणो सुद्धिं । तो सो जिणेहिं वुत्तो छट्ठो आलोयणादोसो ॥ (भ. आ. ५८६) । २. प्रच्छन्नं व्याजेन दोषकथनं कृत्वा स्वतः प्रायश्चित्तं यः करोति तस्य षष्ठं प्रच्छन्नं नामालोचनदोषजातं भवति । (मूला. वृ. ११-१५) ।

१ जो साधु गुप्तरूप से पूछ कर अपने अपराध की शुद्धि करता है उसके आलोचना का छठा दोष उत्पन्न होता है ।

प्रजननपुरुष—प्रजन्यतेऽपत्यं येन तत्प्रजननं शिश्नं लिङ्गम्, तत्प्रधानः पुरुषः, अपरपुरुषकार्यरहितत्वात् प्रजननपुरुषः । (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. १, ४, ५५, पृ. १०३) ।

जिसके द्वारा सन्तान उत्पन्न की जाती है उस पुरुषेन्द्रिय का नाम प्रजनन है, प्रजनन की प्रधानता वाले पुरुष को प्रजननपुरुष कहा जाता है । अभिप्राय यह है कि जो पुरुषोचित अन्य कार्य को न करके केवल सन्तान को उत्पन्न करता है उसे प्रजननपुरुष समझना चाहिए ।

प्रज्ञा—देखो प्रज्ञापरीषह । १. प्रज्ञायते अनया प्रज्ञा, प्रगता ज्ञा प्रज्ञा । (उत्तरा. चू. २, पृ. ८२) । २. प्रज्ञानं प्रज्ञा, विशिष्टतरक्षयोपशमाहितप्रभूतवस्तुगतयथावस्थितधर्मालोचनरूपा मतिरेव । (विशेषा. को. वृ. ३९७, पृ. १५३) । ३. प्रज्ञानं प्रज्ञा विशिष्टक्षयोपशमजन्या, प्रभूतवस्तुगतयथावस्थितधर्मालोचनरूपा मतिरित्यर्थः । (आव. नि. हरि. व मलय. वृ. १२) । ४. अदिट्ठ-अस्सुदेसु अट्ठेसु णाणुप्पायणजोगत्तं पण्णा णाम । × × × णाणहेदुजीवसत्ती गुरूवएसणिरवेक्खा पण्णा णाम । (धव. पु. ९, पृ. ८३-८४) । ५. ऊहापोहात्मिका प्रज्ञा । (अन. ध. ३-३) ।

१ जिसके द्वारा जाना जाता है उसे अथवा प्रकर्षप्राप्त ज्ञान को प्रज्ञा कहते हैं । २ विशिष्ट क्षयोपशम के आश्रय से प्रचुर वस्तुगत यथावस्थित धर्मों के आलोचनरूप जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसका नाम प्रज्ञा है । ४ नहीं देखे-सुने गये पदार्थों के विषय में जो ज्ञान के उत्पादन की योग्यता होती है उसे प्रज्ञा कहा जाता है ।

प्रज्ञापक—चारित्रस्य प्रवर्तकः प्रज्ञापक उच्यते । (व्यव. मलय. वृ. १०-३४६) ।

चारित्र के प्रवर्तक को प्रज्ञापक कहा जाता है ।

प्रज्ञापना—देखो प्रज्ञापनी । १. जीवादीनां प्रज्ञापनं प्रज्ञापना । (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ९०) । २. प्रकर्षेण निःशेषकुतीर्थितीर्थकरासाध्येन यथावस्थितस्वरूपनिरूपणलक्षणेन, ज्ञाप्यन्ते—शिष्यबुद्धावारोप्यन्ते, जीवादयः पदार्था अनयेति प्रज्ञापना, इयं च समवायाख्यस्य चतुर्थांगस्योपांगम् । (प्रज्ञाप.

मलय. वृ. पृ. १); प्रज्ञाप्यन्ते प्ररूप्यन्ते जीवादयो भावा अनया शब्दसंहत्या इति प्रज्ञापना। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. गा. २)।

१ जीवादि पदार्थों के ज्ञापन कराने को प्रज्ञापना कहते हैं। २ यथावस्थित वस्तुस्वरूप के निरूपक जिस श्रुत के द्वारा जीवादि पदार्थों को शिष्य की बुद्धि में आरोपित किया जाता है उसका नाम प्रज्ञापना है। वह समवायांग नामक चौथे अंग का उपांग माना जाता है।

प्रज्ञापनी भाषा—१. पण्णवणी नाम धम्मकहा। सा बहूनिर्दिश्य प्रवृत्ता केश्चिन्मनसि करणमितरैरकरणं चापेक्ष्य [करणा-] करणत्वाद् द्विरूपा। (भ. आ. विजयो. ११९५)। २. मत्पृष्टं यत्तदादेश्यमिति प्रज्ञापना गुरौ। (आचा. सा. ५-८८)। ३. प्रज्ञापनी यथा तवं किंचित् कथयिष्यामि। (भ. आ. मूला. ११९५)। ४. प्रज्ञापनी विनीतविनयस्य विनेयजनस्योपदेशदानम्, यथा प्राणिवधान्निवृत्ता भवन्ति, भवन्ति भवान्तरे प्राणिनो दीर्घायुष इत्यादि। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. २२५)।

१ धर्म की जो चर्चा की जाती है उसका नाम प्रज्ञापनी भाषा है। उसकी प्रवृत्ति बहुतों को लक्ष्य करके होती है, जिनमें से कितने ही मन में उसका निर्धारण करते हैं और कितने नहीं भी करते हैं। इससे उक्त भाषा के दो रूप हो जाते हैं। २ जो मैंने पूछा है उसके विषय में आदेश दीजिये, इस प्रकार गुरु से विज्ञापन करने का नाम प्रज्ञापनी भाषा है। ४ विनम्र शिष्य जन के लिए जो उपदेश दिया जाता है उसे प्रज्ञापनी भाषा कहा जाता है। जैसे—जो प्राणिहिंसा से निवृत्त होते हैं वे अगले जन्म में दीर्घायु होते हैं।

प्रज्ञापरीषह—देखो प्रज्ञा व प्रज्ञापरीषहजय। प्रज्ञापरीषहो नाम सो[यो]हि सति प्रज्ञाने तेण गव्वितो भवति तस्य प्रज्ञापरीषहः। प्रतिपक्षे ण प्रज्ञापरीषहो भवति। (उत्तरा. चू. २, पृ. ८२)।

विशिष्ट ज्ञान के होने पर जो उससे गर्व को प्राप्त होता है उसके प्रज्ञापरीषह होती है, इसके विपरीत जो उसका गर्व नहीं करता है उसके वह नहीं होती है।

प्रज्ञापरीषहजय—देखो प्रज्ञापरीषह। १. अङ्ग-पूर्व-प्रकीर्णकविशारदस्य शब्द-न्यायाध्यात्मनिपुणस्य मम पुरस्तादितरे भास्करप्रभाभिभूतखद्योतोद्योतवन्नितरां नावभासन्त इति विज्ञानमदनिरासः प्रज्ञापरीषहजयः प्रत्येतव्यः। (स. सि. ९-९)। २. प्रज्ञाप्रकर्षावलेपनिरासः प्रज्ञाविजयः। अङ्ग-पूर्व-प्रकीर्णकविशारदस्य कृत्स्नग्रन्थार्थावधारिणोऽनुत्तरवादिनस्त्रिकालविषयार्थविदः शब्द-न्यायाध्यात्मनिपुणस्य मम पुरस्तादितरे भास्करप्रभाभिभूतोद्योतखद्योतवन्नितरामवभासन्त इति विज्ञानमदनिरासः प्रज्ञापरीषहजयः प्रत्येतव्यः। (त. वा. ९, ९, २९; चा. सा. पृ. ५९)। ३. अजानन् वस्तु जिज्ञासुर्न मुह्येत् कर्मदोषवित्। ज्ञानिनां ज्ञानमुद्वीक्ष्य तथैवेत्यन्यथा न तु॥ (आव. नि. हरि. वृ. ९१८, पृ. ४०३, उद्. २०)। ४. प्रज्ञोत्कर्षाप[व]लेपनिरासः प्रज्ञाविजयः। (त. श्लो. ९-९)। ५. प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा बुद्धयतिशयः, तत्प्राप्तौ न गर्वमुद्वहत इति प्रज्ञापरीषजयः। प्रज्ञाप्रतिपक्षेणाल्पबुद्धिकत्वेन परीषहो भवति—नाहं किञ्चिज्जाने मूर्खोऽहं सर्वपरिभूत इत्येवं परितापमुपागतस्य परीषहः, तदकरणात् कर्मविपाकोऽयमिति परीषहजयः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-९)। ६. प्रत्यक्षाऽऽक्रमविश्ववस्तुविषयज्ञानात्मनः स्वात्मनो गर्वः सर्वमतश्रुतज्ञ इति यः प्राप्ते परोक्षे श्रुते। सर्वस्मिन्नपि नो तनोति हृदये लज्जां स किं तामिति, प्रज्ञोत्कर्षमदापनोदनपरः प्रज्ञातिजित्तत्त्ववित्॥ (आचा. सा. ७-१८)। ७. अङ्गोपाङ्ग-पूर्व-प्रकीर्णकविशारदस्य शब्द-तर्काध्यात्मनिपुणस्य मम पुरस्तादन्ये सर्वेऽपि भास्करस्य पुरः खद्योता इव निष्प्रभा इति ज्ञानानन्दस्य[ज्ञानमदस्य]यन्निरसनं स प्रज्ञापरीषहजयः। (पंचसं. मलय. वृ. ४-२२, पृ. १८९)। ८. विद्याः समस्ता यदुपज्ञमस्ताः प्रवादिनो भूपसभेषु येन। प्रज्ञोर्मिजित्सोऽस्तु मदेन विप्रो गरुत्मता यद्वदवाध्यमानः॥ (अन. ध. ६-१०८)। ९. अङ्गपूर्वप्रकीर्णकविशारदस्य अनुत्तरवादिनो मम पुरस्तादितरे भास्करप्रभाभिभूतोद्योतखद्योतवन्नितरामवभासन्त इति ज्ञानमदनिरासः प्रज्ञापरीषहजयः। (आरा. सा. टी. ४०)।

१ मैं अंग, पूर्व और प्रकीर्णक ग्रन्थों के रहस्य को जानता हूं तथा व्याकरण, न्याय और अध्यात्मशास्त्र में भी प्रवीण हूं; मेरे सामने दूसरे विद्वान् इस प्रकार से निःश्रीक हैं जिस प्रकार कि सूर्य के प्रकाश के आगे जुगनूं; इस प्रकार के ज्ञानविषयक

अभिमान को उत्पन्न न होने देना, इसका नाम प्रज्ञापरीषहजय है। ३ जो ज्ञान का अभिलाषी होकर भी उसके प्राप्त न होने पर मोह को प्राप्त होता हुआ खिन्न नहीं होता, किन्तु कर्म का दोष समझता है; ऐसा साधु प्रज्ञापरीषहविजयी होता है।

प्रज्ञापारमित—ते खलु प्रज्ञापारमिताः पुरुषा ये कुर्वन्ति परेषां प्रतिबोधनम्। (नीतिवा. १७-६६)। दूसरों को प्रतिबोधित करने वाले पुरुषों को प्रज्ञापारमित कहते हैं।

प्रज्ञाभावच्छेदना—मदि-सुद-ओहि-मणपज्जय-केवलणाणेहि छद्दव्वावगमो पण्णभावच्छेदणा णाम। (धव. पु. १४, पृ. ४३६)।

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के द्वारा छह द्रव्यों को जानना; इसका नाम प्रज्ञाभावछेदना है। यह दस प्रकार की छेदना में अन्तिम है।

प्रज्ञावशार्तमरण—तीक्ष्णा मम बुद्धिः सर्वत्राप्रतिहता इति प्रज्ञामत्तस्य मरणं प्रज्ञावशार्तमरणमुच्यते। (भ. आ. विजयो. २५)।

मेरी बुद्धि तीक्ष्ण है, उसकी गति सर्वत्र अप्रतिहत (निर्बाध) है, इस प्रकार से प्रज्ञामद से मत्त पुरुष के मरण को प्रज्ञावशार्तमरण कहते हैं।

प्रज्ञाश्रवण—देखो प्राज्ञश्रमण। १.पगडीए सुदणाणावरणाए वीरियंतरायाए। उक्कस्सक्खओवसमे उप्पज्जइ पण्णसमणद्धी ॥ पण्णासमणद्धिजुदो चोद्दसपुव्वीसु विसयसुहुमत्तं। सव्वं हि सुदं जाणदि अकअज्झयणो वि णियमेण ॥ भासंति तस्स बुद्धी पण्णासमणद्धि सा च चउभेदा। (ति. प. ४, १०१७ से १०१९)। २. अतिसूक्ष्मार्थतत्त्वविचारगहने चतुर्दशपूर्विण एव विषयेऽनुपयुक्ते (चा. सा. '—क्ते पृष्टे') अनधीतद्वादशांग-चतुर्दशपूर्वस्य प्रकृष्टश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भूतासाधारणप्रज्ञाशक्तिलाभान्निःसंशयं निरूपणं प्रज्ञाश्रवणत्वम्। (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०२, पं. २२-२४; चा. सा. पृ. ९६)। ३. प्रज्ञा एव श्रवणं येषां ते प्रज्ञाश्रवणाः। ××× अदिट्ठ-अस्सुदेसु अट्ठेसु णाणुप्पायणजोग्गत्तं पण्णा णाम। (धव. पु. ९, पृ. ८३)।

१ श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर प्रज्ञाश्रवण ऋद्धि उत्पन्न होती है। इस ऋद्धि से युक्त साधु अध्ययन के विना भी चौदह पूर्वगत विषय की सूक्ष्मता को लिए हुए सभी श्रुत को जानता है। ३ अदृष्ट एवं अश्रुत अर्थविषयक ज्ञान उत्पन्न कराने की योग्यतारूप बुद्धि ही जिनके श्रवण (कान) होते हैं वे प्रज्ञाश्रवण कहलाते हैं।

प्रणिधान—१. प्रणिधानं विशिष्टश्चेतोधर्मः। (दशवै. नि. हरि. वृ. १-२३, पृ. २४)। २. प्रणिधानं चेतःस्वास्थ्यम्। (व्यव. भा. मलय. वृ. (पी.) १-६५, पृ. २८)।

१ चित्त के विशिष्ट—एकाग्रतारूप—धर्म को प्रणिधान कहा जाता है।

प्रणिधानयोग—प्रणिधानं चेतःस्वास्थ्यम्, तत्प्रधानयोगाः प्रणिधानयोगाः। (व्यव. भा. मलय. वृ. (पी.) १-६५, पृ. २८)।

चित्त की स्वस्थता युक्त योग प्रणिधानयोग कहलाते हैं।

प्रणिधि—प्रणिधिः व्रतापरिणतावासक्तिः प्रणिधानम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-१०, पृ. १४६)।

व्रतों की अपरिणति में—उनके पालन न करने की ओर—जो आसक्ति या अरुचि होती है, उसका नाम प्रणिधि है। यह माया कषाय का नामान्तर है।

प्रणिधिमाया—प्रतिरूपद्रव्यमानकरणानि ऊनातिरिक्तमानं संयोजनया द्रव्यविनाशनमिति प्रणिधिमाया। (भ. आ. विजयो. २५, पृ. ९०)।

बहुमूल्य द्रव्य में तत्सम अल्प मूल्य के द्रव्य को मिलाना, तौलने व नापने के उपकरणों (बांटों) को हीनाधिक रखना, तथा संयोग के द्वारा वस्तु को नष्ट करना; यह प्रणिधिमाया कहलाती है। यह माया के पांच भेदों में एक है।

प्रणिपातमुद्रा—जानु-हस्तोत्तमाङ्गादिसंप्रणिपातेन प्रणिपातमुद्रा। (निर्वाणक. पृ. ३३)।

जानु (घुटने), हाथ और मस्तक के झुकाने को प्रणिपातमुद्रा कहते हैं।

प्रतनुकर्मा—प्रकर्षेण तनु प्रकृति-स्थिति-प्रदेशानुभावैरल्पीयः कर्म यस्यासौ प्रतनुकर्मा लघुकर्मा। (बृहत्क. क्षे. वृ. ७१४)।

जिसके प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाग स्वरूप

से कर्म अतिशय हीनता को प्राप्त हुआ है वह प्रतनुकर्मा कहलाता है।

प्रतर—१. प्रतरोऽभ्रपटलादीनाम्। (स. सि. ५, २४; त. वा. ५, २४, १४; कार्तिके. टी. २०६)। २. तद्वर्गः—तस्याः शूचिस्वरूपायाः श्रेणेः वर्गः शूच्या शूचिगुणनलक्षणस्तद्वर्गः (प्रतरः)। (शतक. दे. स्वो. वृ. ९७)। ३. मेघपटलादीनां विघटनं प्रतरम्। (त. वृत्ति श्रुत. ५-२४)।

१ मेघपटलादिकों के भेद (विघटन) का नाम प्रतर है। यह भेद के उत्कर-चूर्णादिरूप छह भेदों में पांचवां है। २ सूचिरूप श्रेणि—एक-एक आकाश-प्रदेशात्मक पंक्ति—के वर्ग को प्रतर कहते हैं।

प्रतरगतकेवलिक्षेत्र—वादरुद्धक्खेत्तं घणलोगम्हि अवणिदे पदरगदकेवलिखेत्तं देसूणलोगो होदि। (धव. पु. ४, पृ. ५६)।

वायु से रोके गये क्षेत्र को घनलोक में से घटा देने पर शेष कुछ कम पूरा लोक प्रतर (समुद्घात)-गत केवली का क्षेत्र होता है।

प्रतरभेद—से किं तं पयराभेदे ? जण्णं वंसाण वा वेत्ताण वा णलाण वा कदलीथंभाण वा अब्भपडलाण वा पयरेणं भेदे भवंति, से तं पयरभेदे। (प्रज्ञाप. १७३, पृ. २६६)।

बांस, वेत, नड (एक प्रकार का घास), केला का स्तम्भ और मेघपटल; इन सबका जो भेद होता है उसे प्रतरभेद कहा जाता है। यह भेद के पांच भेदों में दूसरा है।

प्रतरलोक—सा (जगच्छ्रेणी) अपरया जगच्छ्रेण्याऽभ्यस्ता प्रतरलोकः। (त. वा. ३, ३८, ७)।

जगश्रेणी को दूसरी जगश्रेणी से गुणित करने पर प्रतरलोक होता है।

प्रतरसमुद्घात—पदरसमुग्धादो णाम केवलिजीवपदेसाणं वादवलयरुद्धलोगखेत्तं मोत्तूण सव्वलोगापूरणं। (धव. पु. ४, पृ. २९)।

केवली के आत्मप्रदेश वातवलयों के द्वारा रोके गये क्षेत्र को छोड़कर जो शेष सब लोक को व्याप्त करते हैं, इसे प्रतरसमुद्घात कहा जाता है।

प्रतरांगुल—१. तं वग्गे पदरंगुल ××× । (ति. प. १-१३२)। २. तदेवापरेण सूच्यंगुलेन गुणितं प्रतरांगुलम्। (मूला. वृ. १२-८५)। ३. सूची सूच्यैव गुणिता भवति प्रतरांगुलम्। नवप्रादेशिकं कल्प्यं तद्दैर्घ्य-व्यासयोः समम्। (लोकप्र. १-४०)।

२ सूच्यंगुल को दूसरे सूच्यंगुल से गुणित करने पर प्रतरांगुल होता है।

प्रतिकुञ्चनमाया—आलोचनं कुर्वतो दोषविनिगूहनं प्रतिकुञ्चनमाया। (भ. आ. विजयो. २५, पृ. ९०)।

आलोचना करते हुए अपने दोष के छिपाने को प्रतिकुञ्चनमाया कहते हैं।

प्रतिक्रमण—१. कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं। तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं॥ (समयप्रा. ४०३)। २. मोत्तूण वयणरयणं रागादिभाववारणं किच्चा। अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदित्ति पडिकमणं॥ आराहणाइ वट्टइ मोत्तूण विराहणं विसेसेण। सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा॥ मोत्तूण अणायारं आयारे जो दु कुणदि थिरभावं। सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा॥ उम्मग्गं परिचत्ता जिणमग्गे जो दु कुणदि थिरभावं। सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा॥ मोत्तूण सल्लभावं णिस्सलें जो दु साहु परिणमदि। सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा॥ चत्ता ह्यगुत्तिभावं तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू। सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा॥ मोत्तूण अट्ट-रुद्दं झाणं जो झादि धम्म-सुक्कं वा। सो पडिकमणं उच्चइ जिणवरणिद्दिट्ठसुत्तेसु॥ मिच्छादंसण-णाण-चरित्तं चइऊण णिरवसेसेण। सम्मत्तणाण-चरणं जो भावइ सो पडिक्कमणं॥ उत्तमअट्ठं आदा तम्हि ठिदा हणदि मुणिवरा कम्मं। तम्हा दु झाणमेव हि उत्तमअट्ठस्स पडिकमणं॥ झाणणिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं। तम्हा दु झाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमणं॥ पडिकमणणामधेये सुत्ते जह वण्णिदं पडिक्कमणं। तह णादा जो भावइ तस्स तदा होदि पडिकमणं॥ (नि. सा. ८३-८९ व ९१-९४)। ३. दव्वे खेत्ते काले भावे य कयावराहसोहणयं। णिंदण-गरहणजुत्तो मण-वच-कायेण पडिक्कमणं॥ (मूला. १-२६)। ४. मिथ्यादुष्कृताभिधानाद(त. श्लो. 'द')भिव्यक्तप्रति-

अभिमान को उत्पन्न न होने देना, इसका नाम प्रज्ञापरीषहजय है। ३ जो ज्ञान का अभिलाषी होकर भी उसके प्राप्त न होने पर मोह को प्राप्त होता हुआ खिन्न नहीं होता, किन्तु कर्म का दोष समझता है; ऐसा साधु प्रज्ञापरीषहविजयी होता है।

प्रज्ञापारमित—ते खलु प्रज्ञापारमिताः पुरुषा ये कुर्वन्ति परेषां प्रतिबोधनम्। (नीतिवा. १७–६६)। दूसरों को प्रतिबोधित करने वाले पुरुषों को प्रज्ञापारमित कहते हैं।

प्रज्ञाभावच्छेदना—मदि-सुद-ओहि-मणपज्जय-केवलणाणेहि छद्दव्वावगमो पण्णभावच्छेदणा णाम। (धव. पु. १४, पृ. ४३६)।
मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के द्वारा छह द्रव्यों को जानना; इसका नाम प्रज्ञाभावछेदना है। यह दस प्रकार की छेदना में अन्तिम है।

प्रज्ञावशार्तमरण—तीक्ष्णा मम बुद्धिः सर्वत्राप्रतिहता इति प्रज्ञामत्तस्य मरणं प्रज्ञावशार्तमरणमुच्यते। (भ. आ. विजयो. २५)।
मेरी बुद्धि तीक्ष्ण है, उसकी गति सर्वत्र अप्रतिहत (निर्बाध) है, इस प्रकार से प्रज्ञामद से मत्त पुरुष के मरण को प्रज्ञावशार्तमरण कहते हैं।

प्रज्ञाश्रवण—देखो प्राज्ञश्रमण। १. पगडीए सुदणाणावरणाए वीरियंतरायाए। उक्कस्सक्खओवसमे उप्पज्जइ पण्णसमणद्धी॥ पण्णासमणद्धिजुदो चोद्दसपुव्वीसु विसयसुहुमत्तं। सव्वं हि सुदं जाणदि अकअज्झयणो वि णियमेण॥ भासंति तस्स बुद्धी पण्णासमणद्धि सा च चउभेदा। (ति. प. ४, १०१७ से १०१९)। २. अतिसूक्ष्मार्थतत्त्वविचारगहने चतुर्दशपूर्विण एव विषयेऽनुपयुक्ते (चा. सा. '—क्ते पृष्टे') अनधीतद्वादशांग-चतुर्दशपूर्वस्य प्रकृष्टश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भूतासाधारणप्रज्ञाशक्तिलाभान्निःसंशयं निरूपणं प्रज्ञाश्रवणत्वम्। (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०२, पं. २२–२४; चा. सा. पृ. ९६)। ३. प्रज्ञा एव श्रवणं येषां ते प्रज्ञाश्रवणाः। ××× अदिट्ठ-अस्सुदेसु अट्ठेसु णाणुप्पायणजोग्गत्तं पण्णा णाम। (धव. पु. ९, पृ. ८३)।
१ श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर प्रज्ञाश्रवण ऋद्धि उत्पन्न होती है। इस ऋद्धि से युक्त साधु अध्ययन के विना भी चौदह पूर्वगत विषय की सूक्ष्मता को लिए हुए सभी श्रुत को जानता है। ३ अदृष्ट एवं अश्रुत अर्थविषयक ज्ञान उत्पन्न कराने की योग्यतारूप बुद्धि ही जिनके श्रवण (कान) होते हैं वे प्रज्ञाश्रवण कहलाते हैं।

प्रणिधान—१. प्रणिधानं विशिष्टश्चेतोधर्मः। (दशवै. नि. हरि. वृ. १–२३, पृ. २४)। २. प्रणिधानं चेतःस्वास्थ्यम्। (व्यव. भा. मलय. वृ. (पी.) १–६५, पृ. २८)।
१ चित्त के विशिष्ट—एकाग्रतारूप—धर्म को प्रणिधान कहा जाता है।

प्रणिधानयोग—प्रणिधानं चेतःस्वास्थ्यम्, तत्प्रधानयोगाः प्रणिधानयोगाः। (व्यव. भा. मलय. वृ. (पी.) १–६५, पृ. २८)।
चित्त की स्वस्थता युक्त योग प्रणिधानयोग कहलाते हैं।

प्रणिधि—प्रणिधिः व्रतापरिणतावासक्तिः प्रणिधानम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१०, पृ. १४६)।
व्रतों की अपरिणति में—उनके पालन न करने की ओर—जो आसक्ति या अरुचि होती है, उसका नाम प्रणिधि है। यह माया कषाय का नामान्तर है।

प्रणिधिमाया—प्रतिरूपद्रव्यमानकरणानि ऊनातिरिक्तमानं संयोजनया द्रव्यविनाशनमिति प्रणिधिमाया। (भ. आ. विजयो. २५, पृ. ९०)।
बहुमूल्य द्रव्य में तत्सम अल्प मूल्य के द्रव्य को मिलाना, तौलने व नापने के उपकरणों (बांटों) को हीनाधिक रखना, तथा संयोग के द्वारा वस्तु को नष्ट करना; यह प्रणिधिमाया कहलाती है। यह माया के पांच भेदों में एक है।

प्रणिपातमुद्रा—जानु-हस्तोत्तमाङ्गादिसंप्रणिपातेन प्रणिपातमुद्रा। (निर्वाणक. पृ. ३३)।
जानु (घुटने), हाथ और मस्तक के झुकाने को प्रणिपातमुद्रा कहते हैं।

प्रतनुकर्मा—प्रकर्षेण तनु प्रकृति-स्थिति-प्रदेशानुभावैरल्पीयः कर्म यस्यासौ प्रतनुकर्मा लघुकर्मा। (बृहत्क. क्षे. वृ. ७१४)।
जिसके [illegible] प्रदेश और अनुभाग स्वरूप

से कर्म अतिशय हीनता को प्राप्त हुआ है वह प्रतनुकर्मा कहलाता है।

प्रतर—१. प्रतरोऽभ्रपटलादीनाम्। (स. सि. ५, २४; त. वा. ५, २४, १४; कार्तिके. टी. २०६)। २. तद्वर्गः—तस्याः शूचिस्वरूपायाः श्रेणेः वर्गः शूच्या शूचिगुणनलक्षणस्तद्वर्गः (प्रतरः)। (शतक. दे. स्वो. वृ. ६७)। ३. मेघपटलादीनां विघटनं प्रतरम्। (त. वृत्ति श्रुत. ५-२४)।

१ मेघपटलादिकों के भेद (विघटन) का नाम प्रतर है। यह भेद के उत्कर-चूर्णादिरूप छह भेदों में पांचवां है। २ सूचिरूप श्रेणि—एक-एक आकाशप्रदेशात्मक पंक्ति—के वर्ग को प्रतर कहते हैं।

प्रतरगतकेवलिक्षेत्र—वादरूद्धक्खेत्तं घणलोगम्हि अवणिदे पदरगदकेवलिखेत्तं देसूणलोगो होदि। (धव. पु. ४, पृ. ५६)।

वायु से रोके गये क्षेत्र को घनलोक में से घटा देने पर शेष कुछ कम पूरा लोक प्रतर (समुद्घात)-गत केवली का क्षेत्र होता है।

प्रतरभेद—से किं तं पयराभेदे? जण्णं वंसाण वा वेत्ताण वा णलाण वा कदलीथंभाण वा अब्भपडलाण वा पयरेणं भेदे भवति, से तं पयरभेदे। (प्रज्ञाप. १७३, पृ. २६६)।

बांस, वेत, नड (एक प्रकार का घास), केला का स्तम्भ और मेघपटल; इन सबका जो भेद होता है उसे प्रतरभेद कहा जाता है। यह भेद के पांच भेदों में दूसरा है।

प्रतरलोक—सा (जगच्छ्रेणी) अपरया जगच्छ्रेण्याऽभ्यस्ता प्रतरलोकः। (त. वा. ३, ३८, ७)।

जगश्रेणी को दूसरी जगश्रेणी से गुणित करने पर प्रतरलोक होता है।

प्रतरसमुद्घात—पदरसमुग्घादो णाम केवलिजीवपदेसाणं वादवलयरुद्धलोगखेत्तं मोत्तूण सव्वलोगापूरणं। (धव. पु. ४, पृ. २९)।

केवली के आत्मप्रदेश वातवलयों के द्वारा रोके गये क्षेत्र को छोड़कर जो शेष सब लोक को व्याप्त करते हैं, इसे प्रतरसमुद्घात कहा जाता है।

प्रतरांगुल—१. तं वग्गे पदरंगुल × × ×। (ति. प. १-१३२)। २. तदेवापरेण सूच्यंगुलेन ... । (मूला. वृ. १२-८५)। ३. सूची सूच्यैव गुणिता भवति प्रतरांगुलम्। नरप्रादेशिकं कल्प्यं तद्दैर्घ्य-व्यासयोः समम्। (लोकप्र. १-५०)।

२ सूच्यंगुल को दूसरे सूच्यंगुल से गुणित करने पर प्रतरांगुल होता है।

प्रतिकुञ्चनमाया—आलोचनं कुर्वतो दोषविनिगूहनं प्रतिकुञ्चनमाया। (भ. आ. विजयो. २५, पृ. ६०)।

आलोचना करते हुए अपने दोष के छिपाने को प्रतिकुञ्चनमाया कहते हैं।

प्रतिक्रमण—१. कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं। तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं॥ (समयप्रा. ४०३)। २. मोत्तूण वयणरयणं रागादिभाववारणं किच्चा। अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदित्ति पडिकमणं॥ आराहणाइ वट्टइ मोत्तूण विराहणं विसेसेण। सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा॥ मोत्तूण अणायारं आयारे जो दु कुणदि थिरभावं। सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा॥ उम्मग्गं परिचत्ता जिणमग्गे जो दु कुणदि थिरभावं। सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा॥ मोत्तूण सल्लभावं णिस्सले जो दु साहु परिणमदि। सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा॥ चत्ता ह्यगुत्तिभावं तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू। सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा॥ मोत्तूण अट्ट-रुद्दं झाणं जो झादि धम्म-सुक्कं वा। सो पडिकमणं उच्चइ जिणवरणिद्दिट्ठसुत्तेसु॥ मिच्छादंसण-णाण-चरित्तं चइऊण णिरवसेसेण। सम्मत्त-णाण-चरणं जो भावइ सो पडिक्कमणं॥ उत्तमअट्ठं आदा तम्हि ठिदा हणदि मुणिवरा कम्मं। तम्हा दु झाणमेव हि उत्तमअट्ठस्स पडिकमणं॥ झाणणिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं। तम्हा दु झाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमणं॥ पडिकमणणामधेये सुत्ते जह वण्णिदं पडिक्कमणं। तह णादा जो भावइ तस्स तदा होदि पडिकमणं॥ (नि. सा. ८३-८९ व ९१-९४)। ३. दव्वे खेत्ते काले भावे य कयावराहसोहणयं। णिंदण-गरहणजुत्तो मण-वच-कायेण पडिक्कमणं॥ (मूला. १-२६)। ४. मिथ्यादुष्कृताभिधानाद(त. श्लो. 'द')भिव्यक्तप्रति-

अभिमान को उत्पन्न न होने देना, इसका नाम प्रज्ञापरीषहजय है। ३ जो ज्ञान का अभिलाषी होकर भी उसके प्राप्त न होने पर मोह को प्राप्त होता हुआ खिन्न नहीं होता, किन्तु कर्म का दोष समझता है; ऐसा साधु प्रज्ञापरीषहविजयी होता है।

प्रज्ञापारमित—ते खलु प्रज्ञापारमिताः पुरुपा ये कुर्वन्ति परेषां प्रतिबोधनम् । (नीतिवा. १७–६६)। दूसरों को प्रतिबोधित करने वाले पुरुषों को प्रज्ञापारमित कहते हैं।

प्रज्ञाभावच्छेदना—मदि-सुद-ओहि-मणपज्जय-केवलणाणेहि छद्द्व्वावगमो पण्णभावच्छेदणा णाम। (धव. पु. १४, पृ. ४३६)।
मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के द्वारा छह द्रव्यों को जानना; इसका नाम प्रज्ञाभावछेदना है। यह दस प्रकार की छेदना में अन्तिम है।

प्रज्ञावशार्तमरण—तीक्ष्णा मम बुद्धिः सर्वत्राप्रतिहता इति प्रज्ञामत्तस्य मरणं प्रज्ञावशार्तमरणमुच्यते। (भ. आ. विजयो. २५)।
मेरी बुद्धि तीक्ष्ण है, उसकी गति सर्वत्र अप्रतिहत (निर्बाध) है, इस प्रकार से प्रज्ञामद से मत्त पुरुष के मरण को प्रज्ञावशार्तमरण कहते हैं।

प्रज्ञाश्रवण—देखो प्राज्ञश्रमण। १.पगडीए सुदणाणावरणाए वीरियंतरायाए। उक्कस्सक्खओवसमे उप्पज्जइ पण्णसमणद्धी ॥ पण्णासमणद्धिजुदो चोद्द-सपुव्वीसु विसयसुहुमत्तं। सव्वं हि सुदं जाणदि अक-अज्झयणो वि णियमेण ॥ भासंति तस्स बुद्धी पण्णा-समणद्धि सा च चउभेदा। (ति. प. ४, १०१७ से १०१९)। २. अतिसूक्ष्मार्थतत्त्वविचारगहने चतुर्दशपूर्विण एव विपयेऽनुपयुक्ते (चा. सा. '—क्ते वृष्टे') अनधीतद्वादशांग-चतुर्दशपूर्वस्य प्रकृष्टश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भूतासाधारणप्रज्ञाशक्ति-लाभान्निःसंशयं निरूपणं प्रज्ञाश्रवणत्वम्। (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०२, पं. २२–२४; चा. सा. पृ. ९६)। ३. प्रज्ञा एव श्रवणं येषां ते प्रज्ञाश्रवणाः। ××× अदिट्ठ-अस्सुदेसु अट्ठेसु णाणुप्पायणजोग्गत्तं पण्णा णाम। (धव. पु. ९, पृ. ८३)।
१ श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर प्रज्ञाश्रवण ऋद्धि उत्पन्न होती है। इस ऋद्धि से युक्त साधु अध्ययन के विना भी चौदह पूर्वगत विषय की सूक्ष्मता को लिए हुए सभी श्रुत को जानता है। ३ अदृष्ट एवं अश्रुत अर्थविषयक ज्ञान उत्पन्न कराने की योग्यतारूप बुद्धि ही जिनके श्रवण (कान) होते हैं वे प्रज्ञाश्रवण कहलाते हैं।

प्रणिधान—१. प्रणिधानं विशिष्टश्चेतोधर्मः। (दशवै. नि. हरि. वृ. १–२३, पृ. २४)। २. प्रणिधानं चेतःस्वास्थ्यम्। (व्यव. भा. मलय. वृ. (पी.) १–६५, पृ. २८)।
१ चित्त के विशिष्ट—एकाग्रतारूप—धर्म को प्रणिधान कहा जाता है।

प्रणिधानयोग—प्रणिधानं चेतःस्वास्थ्यम्, तत्प्रधानयोगाः प्रणिधानयोगाः। (व्यव. भा. मलय. वृ. (पी.) १–६५, पृ. २८)।
चित्त की स्वस्थता युक्त योग प्रणिधानयोग कहलाते हैं।

प्रणिधि—प्रणिधिः व्रतापरिणतावासक्तिः प्रणिधानम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१०, पृ. १४६)।
व्रतों की अपरिणति में—उनके पालन न करने की ओर—जो आसक्ति या अरुचि होती है, उसका नाम प्रणिधि है। यह माया कषाय का नामान्तर है।

प्रणिधिमाया—प्रतिरूपद्रव्यमानकरणानि ऊनातिरिक्तमानं संयोजनया द्रव्यविनाशनमिति प्रणिधिमाया। (भ. आ. विजयो. २५, पृ. ९०)।
बहुमूल्य द्रव्य में तत्सम अल्प मूल्य के द्रव्य को मिलाना, तौलने व नापने के उपकरणों (बांटों) को हीनाधिक रखना, तथा संयोग के द्वारा वस्तु को नष्ट करना; यह प्रणिधिमाया कहलाती है। यह माया के पांच भेदों में एक है।

प्रणिपातमुद्रा—जानु-हस्तोत्तमाङ्गादिसंप्रणिपातेन प्रणिपातमुद्रा। (निर्वाणक. पृ. ३३)।
जानु (घुटने), हाथ और मस्तक के झुकाने को प्रणिपातमुद्रा कहते हैं।

प्रतनुकर्मा—प्रकर्पेण तनु प्रकृति-स्थिति-प्रदेशानुभावैरल्पीयः कर्म यस्यासौ प्रतनुकर्मा लघुकर्मा। (बृहत्क. क्षे. वृ. ७१४)।
जिसके प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाग स्वरूप

से कर्म अतिशय हीनता को प्राप्त हुआ है वह प्रतनु-कर्मा कहलाता है।

प्रतर—१. प्रतरोऽभ्रपटलादीनाम्। (स. सि. ५, २४; त. वा. ५, २४, १४; कार्तिके. टी. २०६)। २. तद्वर्गः—तस्याः शूचिस्वरूपायाः श्रेणेः वर्गः शूच्या शूचिगुणनलक्षणस्तद्वर्गः (प्रतरः)। (शतक. दे. स्वो. वृ. ९७)। ३. मेघपटलादीनां विघटनं प्रतरम्। (त. वृत्ति श्रुत. ५-२४)।

१ मेघपटलादिकों के भेद (विघटन) का नाम प्रतर है। यह भेद के उत्कर-चूर्णादिरूप छह भेदों में पांचवां है। २ सूचिरूप श्रेणि—एक-एक आकाश-प्रदेशात्मक पंक्ति—के वर्ग को प्रतर कहते हैं।

प्रतरगतकेवलिक्षेत्र—वादरुद्धक्खेत्तं घणलोगम्हि अवणिदे पदरगदकेवलिखेत्तं देसूणलोगो होदि। (धव. पु. ४, पृ. ५६)।

वायु से रोके गये क्षेत्र को घनलोक में से घटा देने पर शेष कुछ कम पूरा लोक प्रतर (समुद्घात)-गत केवली का क्षेत्र होता है।

प्रतरभेद—से किं तं पयराभेदे? जण्णं वंसाण वा वेत्ताण वा णलाण वा कदलीथंभाण वा अब्भपडलाण वा पयरेणं भेदे भवति, से तं पयरभेदे। (प्रज्ञाप. १७३, पृ. २६६)।

बांस, वेत, नड (एक प्रकार का घास), केला का स्तम्भ और मेघपटल; इन सबका जो भेद होता है उसे प्रतरभेद कहा जाता है। यह भेद के पांच भेदों में दूसरा है।

प्रतरलोक—सा (जगच्छ्रेणी) अपरया जगच्छ्रे-ण्याऽभ्यस्ता प्रतरलोकः। (त. वा. ३, ३८, ७)।

जगश्रेणी को दूसरी जगश्रेणी से गुणित करने पर प्रतरलोक होता है।

प्रतरसमुद्घात—पदरसमुग्घादो णाम केवलिजीव-पदेसाणं वादवलयरुद्धलोगखेत्तं मोत्तूण सव्वलोगा-पूरणं। (धव. पु. ४, पृ. २९)।

केवली के आत्मप्रदेश वातवलयों के द्वारा रोके गये क्षेत्र को छोड़कर जो शेष सब लोक को व्याप्त करते हैं, इसे प्रतरसमुद्घात कहा जाता है।

प्रतरांगुल—१. तं वग्गे पदरंगुल × × ×। (ति. प. १-१३२)। २. तदेवापरेण सूच्यंगुलेन गुणितं प्रतरांगुलम्। (मूला. वृ. १२-८५)। ३. सूची सूच्यैव गुणिता भवति प्रतरांगुलम्। नभ-प्रादेशिकं कल्प्यं तद्दैर्घ्य-व्यासयोः समम्। (लोकप्र. १-५०)।

२ सूच्यंगुल को दूसरे सूच्यंगुल से गुणित करने पर प्रतरांगुल होता है।

प्रतिकुञ्चनमाया—आलोचनं कुर्वतो दोषविनिगू-हनं प्रतिकुञ्चनमाया। (भ. आ. विजयो. २५, पृ. ९०)।

आलोचना करते हुए अपने दोष के छिपाने को प्रतिकुञ्चनमाया कहते हैं।

प्रतिक्रमण—१. कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेय-वित्थरविसेसं। तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं॥ (समयप्रा. ४०३)। २. मोत्तूण वयणरयणं रागादिभाववारणं किच्चा। अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदित्ति पडिकमणं॥ आराहणाइ वट्टइ मोत्तूण विराहणं विसेसेण। सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा॥ मोत्तूण अणायारं आयारे जो दु कुणदि थिरभावं। सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा॥ उम्मग्गं परि-चत्ता जिणमग्गे जो दु कुणदि थिरभावं। सो पडि-कमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा॥ मोत्तूण सल्लभावं णिस्सले जो दु साहु परिणमदि। सो पडि-कमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा॥ चत्ता ह्यगुत्तिभावं तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू। सो पडि-कमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा॥ मोत्तूण अट्ट-रुद्दं झाणं जो झादि धम्म-सुक्कं वा। सो पडि-कमणं उच्चइ जिणवरणिद्दिट्ठसुत्तेसु॥ मिच्छा-दंसण-णाण-चरित्तं चइऊण णिरवसेसेण। सम्मत्त-णाण-चरणं जो भावइ सो पडिक्कमणं॥ उत्तमअट्ठं आदा तम्हि ठिदा हणदि मुणिवरा कम्मं। तम्हा दु झाणमेव हि उत्तमअट्ठस्स पडिकमणं॥ झाणणिली-णो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं। तम्हा दु झाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमणं॥ पडिकमण-णामधेये सुत्ते जह वण्णिदं पडिक्कमणं। तह णादा जो भावइ तस्स तदा होदि पडिकमणं॥ (नि. सा. ८३-८९ व ९१-९४)। ३. दव्वे खेत्ते काले भावे य कयावराहसोहणयं। णिंदण-गरहणजुत्तो मण-वच-कायेण पडिक्कमणं॥ (मूला. १-२६)। ४. मि-थ्यादुष्कृताभिधानाद(त. श्लो. 'द')भिव्यक्तप्रति-

क्रिया प्रतिक्रमणम् । (स. सि. ६–२२; त. श्लो. ६–२२) । ५. गुत्ती-समिइ-पमाए गुरुणो आसायणा विणय-भंगे । इच्छाईणमकरणे लहुस मुसाऽदिन्न-मुच्छासु ॥ अविहीइ कास-जंभिय-खुय-वायासंकिलिट्ठकम्मेसु । कंदप्प-हास-विगहा-कसाय-विसयाणुसंगेसु ॥ खलियस्स य सव्वत्थ वि हिंसमणावज्जओ जयन्तस्स । सहसाऽणाभोगेण व मिच्छाकारो पडिक्कमणं ॥ आभोगेण वि तणुएसु नेह-भय-सोग-बाउसाईसु । कंदप्प-हास-विगहाईएसु नेयं पडिक्कमणं ॥ (जीतक. सू. ६–१२) । ६. **मिथ्यादुष्कृताभिधानाद्यभिव्यक्तप्रतिक्रिया प्रतिक्रमणम्** । कर्मवशप्रमादोदयजनितं मिथ्या मे दुष्कृतमित्येवमाद्यभिव्यक्तः प्रतीकारः प्रतिक्रमणमुच्यते । (त. वा. ६, २२, ३)। ७. असंयमस्थानं प्राप्तस्य यतेस्तस्मात् प्रतिनिवर्तनं यत्र वर्ण्यते तत्प्रतिक्रमणम् । (त. भा. हरि. वृ. १–२०) । ८. प्रतीपं क्रमणम् प्रतिक्रमणम्, सहसाऽसमितादौ मिथ्यादुष्कृतकरणम् । (आव. नि. हरि. वृ. १४१८) । ९. पडिक्कमणं कालं पुरिसं च अस्सिऊण सत्तविहपडिक्कमणाणि वण्णेइ । (धव. पु. १, पृ. ९७); पंचमहव्वएसु चउरासीदिलक्खगुणगणकलिएसु समुप्पण्णकलंकपक्खालणं पडिक्कमणं णाम । (धव. पु. ८, पृ. ८४); पडिक्कमणं देवसिय-राइय-इरियावह-पक्खिय-चाउम्मासिय-संवच्छरिय-उत्तमट्ठमिदि सत्तपडिक्कमणाणि भरहादिखेत्ताणि दुस्समादिकाले छसंघडणसमण्णियपुरिसे च अप्पिदूण परूवेदि । (धव. पु. ९, पृ. १८८) । १०. पच्चक्खाणादो अपच्चक्खाणं गंतूण पुणो पच्चक्खाणस्सागमणं पडिक्कमणं । (जयध. १, पृ. ११५); पडिक्कमणं दिवसिय-राइय - पक्खिय-चाउम्मासिय- संवच्छरिय-इरियावहिय-उत्तमट्ठाणियाणि चेदि सत्त पडिक्कमणाणि । एदेसिं पडिक्कमणाणं लक्खणं विहाणं च वण्णेदि पडिक्कमणं । (जयध. १, पृ. ११६) । ११. द्रव्ये क्षेत्रे भावे च कृतप्रमादनिर्हरणम् । वाक्काय-मनःशुद्धया प्रणीयते तु प्रतिक्रमणम् ॥ (ह. पु. ३४–१४५) । १२. स्वकृतादशुभयोगात् प्रतिनिवृत्तिः प्रतिक्रमणम् । (भ. आ. विजयो. ६); कृतातिचारस्य यतेस्तदतिचारपराङ्मुखतो योगत्रयेण हा दुष्टं कृतं चिन्तितमनुमतं चेति परिणामः प्रतिक्रमणम् । (भ. आ. विजयो. १०) । १३. अभिव्यक्तप्रतीकारं मिथ्या मे दुष्कृतादिभिः । प्रतिक्रान्तिस्तदुभयं संसर्गे सति शोधनात् ॥ (त. सा. ७–२३)। १४. प्रतिक्रमणमतीतदोषनिवर्तनमिति । (चा. सा. पृ. २६); आस्थितानां योगानां धर्मकथादिव्याक्षेपहेतुसन्निधानेन विस्मरणे सत्यालोचनं पुनरनुष्ठायकस्य संवेगं निर्वेदपरस्य गुरुर्विरहितस्याल्पापराधस्य पुनर्न करोमि मिथ्या मे दुष्कृतमित्येवमादिभिर्दोषान्निवर्तनं प्रतिक्रमणम् । (चा. सा. पृ. ६२) । १५. कृतानां कर्मणां पूर्वं सर्वेषां पाकमीयुषाम् । आत्मीयत्वपरित्यागः प्रतिक्रमणमीर्यते ॥ (योगसा. प्रा. ५–५०) । १६. प्रतिक्रमणं प्रतिगच्छति पूर्वसंयमं येन तत् प्रतिक्रमणं स्वकृतादशुभयोगात् प्रतिनिवृत्तिः, दैवसिकादयः सप्त कृतापराधशोधनानि । मूला. वृ. १–२२); प्रतिक्रमणं स्वकृतादशुभयोगात् प्रतिनिवृत्तिः, अशुभपरिणामपूर्वककृतदोषपरित्यागः। निन्दन-गर्हणयुक्तस्य मनो-वाक्काय-क्रियाभिर्द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावविषये तैर्वा कृतस्यापराधस्य व्रतविषयस्य शोधनं यत्तत्प्रतिक्रमणमिति । (मूला. वृ. १–२६); प्रतिक्रमणं व्रतातिचारनिर्हरणम् । (मूला. वृ. ११, १६) । १७. निन्दनं गर्हणं कृत्वा द्रव्यादिषु कृतागसाम् । शोधनं वाङ्मनःकायैस्तत्प्रतिक्रमणं मतम् ॥ (आचा. सा. १–३७); मिथ्यामदाऽऽगोऽस्त्वित्याद्यैर्यद्दोषेभ्यो निवर्तनम् । प्रतिक्रमणमल्पापराधस्यैकाकिनो मुनेः ॥ (आचा. सा. ६–४१) । १८. प्रतिक्रमणं मिथ्यादुःकृताद्यभिव्यक्तीकरणम् । (प्रायश्चित्तस. टी. ७, २१) । १९. अतीतदोषपरिहारार्थं यत्प्रायश्चित्तं क्रियते तत्प्रतिक्रमणम् । (नि. सा. वृ. ८२) । २०. प्रतिक्रमणं मिथ्यादुष्कृतदानम् । (स्थाना. अभय. वृ. १६८) । २१. प्रतीत्युपसर्गः प्रतीपे प्रतिकूल्ये वा; क्रमू पादविक्षेपे, अस्य प्रतिपूर्वस्य भावानडन्तस्य प्रतीपं क्रमणं प्रतिक्रमणम् । अयमर्थः— शुभयोगेभ्योऽशुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेष्वेव क्रमणात् प्रतीपं क्रमणम् । यदाह—स्वस्थानाद् यत् परस्थानं प्रमादस्य वशाद् गतः । तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते । प्रतिकूलं वा गमनं प्रतिक्रमणम् । ××× प्रति प्रतिक्रमणं वा प्रतिक्रमणम् । (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०, पृ. २४७) । २२. प्रतिक्रमणं दोषात् प्रतिनिवर्तनमपुनःकरणतया, *मिथ्यादुष्कृतप्रदानमित्यर्थः, तदर्हं प्रायश्चित्तमपि* प्रतिक्रमणम् । (व्यव. भा. मलय. वृ. (पी.)५३);

प्रायश्चित्तं प्रतिक्रमणं मिथ्यादुष्कृतप्रदानलक्षणम्। ××× मिथ्यादुष्कृतप्रदानात्मकं प्रतिक्रमणं प्रायश्चित्तमिति। (व्यव. भा. मलय. वृ. (पी.) १, ६०)। २३. पडिक्कमणारिहं—जं मिच्छा-दुक्कड-मेत्तेण चेय सुज्झइ न आलोइज्जइ, जहा सहसा अणुवउत्तेणं खेल-सिंघाणाइयं परिट्ठवियं, न य हिंसाइयं दोसमावन्नो तत्थ मिच्छादुक्कडं भणइ एयं पडिक्कमणारिहं। (जीतक. चू. पृ. ६)। २४. मिथ्या मे दुष्कृतमिति प्रायोऽपायैर्निराकृतिः। कृतस्य संवेगवता प्रतिक्रमणमागसः॥ (अन. ध. ७–४७); प्रतिक्रमणं भूतकर्मणा पूर्वोपार्जितशुभाशुभकर्मविपाकभवेभ्यो भावेभ्यः स्वात्मानं विनिवर्त्यात्मना तत्कारणभूतप्राक्तनकर्मनिवर्तनम्। (अनध. स्वो. टी. ८–६४)। २५. पडिक्कमणे ऐर्यापथिक-रात्रिदिवा-पाक्षिक-चतुर्मासिक-सांवत्सरिकोत्तमार्थभेदात् सप्तधा कृतदोषनिराकरणम्। (भ. आ. मूला. ११२)। २६. दिवस-रात्रि-पक्ष-मास-संवत्सरेर्यापथिकोत्तमार्थप्रभवसप्तप्रतिक्रमणप्ररूपकं प्रतिक्रमणम्। (सं. श्रुत-भ. टी. २४, पृ. १७६)। २७. प्रतिक्रम्यते प्रमादकृतदैवसिकादिदोषो निराक्रियते अनेनेति प्रतिक्रमणम्। ××× तत्प्रतिपादकं शास्त्रमपि प्रतिक्रमणम्। (गो. जी. मं. प्र. ३६७)। २८. प्रतिक्रम्यते प्रमादकृतदैवसिकादिदोषो निराक्रियते अनेनेति प्रतिक्रमणम्, तच्च दैवसिक-रात्रिक-पाक्षिक-चतुर्मासिक-सांवत्सरिकैर्यापथिकभेदात् सप्तविधम्, भरतादिक्षेत्रं दुःषमादिकालं षट्संहनन-सस्थिरास्थिरादिपुरुषभेदांश्च आश्रित्य, तत्प्रतिपादकं शास्त्रमपि प्रतिक्रमणम्। (गो. जी. जी. प्र. ३६७)। २९. कृतदोषनिराकरणं प्रतिक्रमणम्। (भावप्रा. टी. ७७); दोषमुच्चार्योच्चार्य मिथ्या मे दुष्कृतमस्तु इत्येवमादिरभिप्रेतः प्रतीकारः प्रतिक्रमणम्। (भावप्रा. टी. ७८)। ३०. कृतदोषनिराकरणहेतुभूतं प्रतिक्रमणम्। (त. वृत्ति श्रुत. १–२०); निजदोषमुच्चार्योच्चार्य मिथ्या मे दुष्कृतमस्त्विति प्रकटीकृतप्रतिक्रियं प्रतिक्रमणम्। (त. वृत्ति श्रुत. ९–२२; कार्तिके. टी. ४५१)। ३१. पडिकमणं कयदोसनिरायरणं होदि तं च सत्तविहं। देवसिय-राइ-पक्खिय-चउमासियमेव वच्छरियं॥ (अंगप. ३–१७, पृ. ३०७)।

१ पूर्व में जो शुभ-अशुभ अनेक प्रकार के कर्म किये गये हैं उनसे अपने को अलग करना, अर्थात् पूर्वकृत कर्म के विपाकरूप शुभ-अशुभ भावों से आत्मा को पृथक् करना, इसका नाम प्रतिक्रमण है जो आत्मस्वरूप ही है—उससे भिन्न नहीं है। ३ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रय से जो अपराध (दोष) किये गये हैं उनको निन्दा और गर्हा से युक्त होकर मन-वचन-कायपूर्वक शुद्ध करना; इसे प्रतिक्रमण कहा जाता है। यह समता आदि छह आवश्यकों में चौथा है। ५ तीन गुप्तियों व पांच समितियों के विषय में प्रमाद करना; गुरु की आसादना—तिरस्कार करना, विनय का भंग करना—अविनीत आचरण करना; इच्छाकार व मिथ्याकार आदि का न करना; सूक्ष्म असत्यभाषण, सूक्ष्म अदत्तग्रहण एवं सूक्ष्म ममत्वबुद्धि आदि; तथा विधि के बिना काश (खांसी), जंभाई, छींक, वातकर्म—ऊर्ध्ववायु व अपानवायु और असंक्लिष्टकर्म—छेदन-भेदन आदि में तथा कन्दर्प (अशिष्टभाषण), हास्य, विकथा, कषाय एवं विषयानुसंग में शीघ्रता के कारण अथवा उपयोग न होने से स्खलित होने पर मिथ्याकार करना; यह प्रतिक्रमण कहलाता है। ६ कर्म के वश प्रमाद के उदय से जो मेरे द्वारा दुष्कृत्य हुआ है वह मिथ्या हो, इस प्रकार प्रतीकार को प्रगट करना; इसे प्रतिक्रमण कहते हैं। यह प्रायश्चित्त के नौ भेदों में दूसरा है। ७ असंयम-स्थान को प्राप्त हुए साधु के पुनः उससे लौटनेरूप प्रतिक्रमण का जिस अंगबाह्य श्रुत में वर्णन किया जाता है उसका नाम प्रतिक्रमणश्रुत है। ९ जो श्रुत दैवसिक, रात्रिक, ईर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक वार्षिक और उत्तमार्थ इन सात प्रतिक्रमणों को भरतादि क्षेत्रों, दुषमादि कालों तथा छह संहननयुक्त पुरुषों की प्रधानता से प्ररूपणा करता है उसे प्रतिक्रमण (अनंगश्रुत) कहा जाता है।

प्रतिक्षणवर्तिनी उत्पत्ति— प्रतिक्षणवर्तिनी च अविभाव्यान्त्यप्रलयानुमेया, प्रतिक्षणमन्यथाऽन्यथा चोत्पद्यन्ते परिणमन्ते भावा अस्तिकायाः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–७, पृ. २२१)।

प्रत्येक समय में पदार्थ जो अन्य-अन्य प्रकार से उत्पन्न व परिणत होते हैं, यह उनकी प्रतिक्षणवर्तिनी उत्पत्ति कहलाती है।

प्रतिग्रह—देखो पतद्ग्रह। १. परिणमइ जीसे तं पगईइ पडिग्गहो एसा। (कर्मप्र. सं. क. २)।

२. प्रतिग्रहः स्वगृहद्वारे यतिं दृष्ट्वा प्रसादं कुरुतेत्यभ्यर्थ्य नमोऽस्तु तिष्ठतेति त्रिर्भणित्वा स्वीकरणम्। (सा. ध. स्वो. टी. ५-४५)

१ जिस प्रकृति में विवक्षित प्रकृति का दलिक (कर्मप्रदेशपिण्ड) परिणमित होता है उसे प्रतिग्रह या पतद्ग्रह कहा जाता है। २ अपने घर के द्वार पर आते हुए साधु को देख कर 'प्रसन्न होइए' इस प्रकार प्रार्थना करते हुए 'नमस्कार हो, ठहरिये' ऐसा तीन वार कह कर पात्र के स्वीकार करने को प्रतिग्रह (पडिगाहन) कहते हैं।

प्रतिगृहीता—देखो पात्र। सुदृष्टयस्तप्तमहातपस्का ध्यानोपवासव्रतभूषिताङ्गाः। ज्ञानाम्बुभिः संशमितोरुतृष्णाः प्रतिगृहीतार उदाह्रियन्ते॥ (वरांगच. ७-३१)।

जो सम्यग्दृष्टि होकर महान् तप का आचरण करते हैं; जिनका शरीर ध्यान, उपवास और व्रतों से विभूषित हैं; तथा जिन्होंने ज्ञानरूप जल के द्वारा भारी तृष्णा को शान्त कर दिया है उन्हें प्रतिगृहीता या पात्र कहा जाता है।

प्रतिघात—१. मूर्तिमतो मूर्त्यन्तरेण व्याघातः प्रतिघातः। (स. सि. २-४०)। २. प्रतिघातो मूर्त्यन्तरेण व्याघातः। मूर्तिमतो मूर्त्यन्तरेण व्याघात प्रतिघात इत्युच्यते। (त. वा. २, ४०, १)। ३. प्रतीघातो मूर्त्यन्तरव्याघातः। (त. श्लो. २, ४०)। ४. मूर्तस्य मूर्तान्तरेण प्रतिहननं प्रतिघातः प्रतिस्खलनम्, व्याघात इत्यर्थः। (त. सुखबो. २-४०)।

१ एक मूर्तिमान् द्रव्य का जो अन्य मूर्तिमान् द्रव्य के साथ व्याघात (रुकावट) होता है, इसका नाम प्रतिघात है।

प्रतिज्ञा—१. प्रतिज्ञा हि धर्मि-धर्मसमुदायलक्षणा। (आप्तप. ११८)। २. धर्म-धर्मिसमुदायः प्रतिज्ञा। (प्रमाणप. पृ. ६७; प्रमेयर. २-३, पृ. ६४)। ३. व्याप्तिवचनं प्रतिज्ञाम् अतिशेते, तद्वचनं प्रतिज्ञैव स्यात् इत्यभिप्रायः। (सिद्धिवि. वृ. ५-१५, पृ. ३४६)। ४. साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा। (प्रमाणमी. २, १, ११)। ५. धर्म-धर्मिसमुदायस्य पक्षस्य वचनं प्रतिज्ञा। (न्यायदी. पृ. ७६)।

१ धर्म और धर्मी के समुदायको प्रतिज्ञा कहते हैं।

प्रतिज्ञार्थ—देखो प्रतिज्ञा। साध्यधर्म-धर्मिसमुदायः प्रतिज्ञार्थः। (त. श्लो. १, पृ. १०)।

साध्य धर्म और धर्मी के समुदाय को प्रतिज्ञार्थ कहा जाता है।

प्रतिज्ञाविरोध—प्रतिज्ञायाः विरोधो यो हेतुना संप्रतीयते। स प्रतिज्ञाविरोधः स्यात् ××× ॥ (त. श्लो. १, ३३, १४०)।

हेतु से जो प्रतिज्ञा का विरोध प्रतीत होता है, यह प्रतिज्ञाविरोध कहलाता है।

प्रतिज्ञाहानि—प्रतिज्ञायाः प्रतिज्ञात्वे हेतुना हि निराकृते। प्रतिज्ञाहानिरेवेयं प्रकारान्तरतो भवेत्॥ (त. श्लो. १, ३३, १४१)।

हेतु के द्वारा प्रतिज्ञा के स्वरूप के निराकृत हो जाने पर इसे प्रतिज्ञाहानि कहा जाता है।

प्रतिनीतदोष—१. प्रतिनीतं देव-गुर्वादीनां प्रतिकूलो भूत्वा यो वन्दनां विदधाति तस्य प्रतिनीतदोषः। (मूला. वृ. ७-१०८)। २. प्रतिनीतं गुरोराज्ञाखण्डनं प्रतिकूल्यतः॥ (अन. ध. ८-१०४)।

१ जो देव-गुरु आदि की आज्ञा के प्रतिकूल होकर वन्दना करता है उसके प्रतिनीतदोष होता है।

प्रतिपक्षपद—१. से किं तं पडिवक्खपएणं? नवेसु गामागर-णगर-खेड-कव्वड-मडंब-दोणमुह-पट्टणासम-संवाह-सन्निवेसेसु संनिविस्समाणेसु असिवा सिवा, अग्गी सीअलो, विसं महुरं, कल्लालघरेसु अंबिलं साउअं जे रत्तए से अलत्तए जे लाउए से अलाउए जे सुंभए से कुसुंभए आलवंते विवलीअभासए, से तं पडिवक्खपएणं। (अनुयो. सू. १३०, पृ. १४२)। २. प्रतिपक्षपदानि कुमारी बन्ध्येत्येवमादीनि, आदानपदप्रतिपक्षनिबन्धनत्वात्। (धव. पु. १, पृ. ७६); विहवा रंडा पोरो दुव्विहो इच्चाईणि पडिवक्खपदानि अगब्भिणी अमउडी इच्चादीणि वा, इदमेदस्स णत्थि त्ति विवक्खाणिबंधणादो। (धव. पु. ६, पृ. १३६)। ३. विहवा रंडा पोरा दुव्विहा इच्चाईणि णामाणि पडिवक्खपदानि, इदमेदस्स णत्थि त्ति विवक्खाणिबंधणत्तादो। (जयध. १, पृ. ३२)।

१ ग्राम, आकर, नगर, खेट, कर्वट, मटम्ब, द्रोणमुख, पट्टन, आश्रम, संवाह और सन्निवेश; इनको रचनाके समय अशिवा—शृगाली—को शिवा, अग्नि को शीतल, विष को मधुर और कलार के घरों में आंवले को स्वादु, तथा रक्त को अलक्तक (र और ल में अभेद विवक्षा से); लावु—जल आदिक

लाने वाली तूंबी को—अलाबु, सुम्भकको—उत्तम वर्ण करने वाले को—कुसुम्भक, तथा आलपन्—बहुत बोलने वाले को—विपरीत भाषण या व्यर्थ भाषण करने के कारण अभाषक; इत्यादि नाम विपक्ष-वाची पदों से सिद्ध होने के कारण प्रतिपक्षपद कहलाते हैं। २ कुमारी और वन्ध्या इत्यादि नामों को प्रतिपक्षपद कहा जाता है। कारण यह कि आदानपदों में—वधू व अन्तर्वत्नी आदि में—जहां गृहीत द्रव्य (पति व गर्भस्थ बच्चा आदि) कारण हैं वहां इन (कुमारी व वन्ध्या आदि) प्रतिपक्षपदों में उनका (पति व गर्भस्थ बालक का) अभाव कारण है।

प्रतिपत्ति — १. श्रवणेन्द्रियावधानेनोपदेशग्रहणं प्रतिपत्तिः। (त. भा. सिद्ध. ७–६, पृ. ५६)। २. प्रतिपत्तिरुपचारो हितप्रकारशिक्षण-यथावसरान्न-पानादिप्रदानरूपः। (श्राद्धगु. १६, पृ. ४५)। ३. प्रतिपत्तिः—मीमांसोत्तरकालभाविनी निश्चयाकारा परिच्छित्तिरिदमित्थमेवेति तत्त्वविषयैव। (षोडश. वृ. १६–१४)।

१ कान लगाकर सावधानी से उपदेश के ग्रहण करने को प्रतिपत्ति कहते हैं। २ हितरूप शिक्षा देना और यथावसर अन्न-पानादि प्रदान करना, इसे प्रतिपत्ति कहा जाता है। ३ किसी पदार्थ की मीमांसा के पश्चात् होने वाले 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार के निश्चयात्मक बोध का नाम प्रतिपत्ति है।

प्रतिपत्तिश्रुतज्ञान—१. जत्तिएहि पदेहि एयगइ-इंदिय-काय-जोगादओ परूविज्जंति तेसिं पडिवत्ती-सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. २४); पुणो एत्थ (संघा-दसमाससुदणाणे) एगक्खरे वड्ढिदे पडिवत्तिसुदणाणं होदि। होंतं पि संखेज्जाणि संघादसुदणाणाणि घेत्तूण एयं पडिवत्तिसुदणाणं होदि। (धव. पु. १३, पृ. २६६)। २. एक्कदरगदिणिरूवयसंघादसुदादु उवरि पुव्वं वा। वण्णे संखेज्जे संघादे उड्ढम्हि पडिवत्ती॥ चउगइसरूवरूवयपडिवत्तीदो × × ×। (गो. जी. ३३८–३६)। ३. गत्यादिद्वाराणामन्यतरैकपरिपूर्णगत्यादिद्वारे (कर्मवि. 'द्वारेण') जीवादि-मार्गणा प्रतिपत्तिः। (शतक. मल. हेम. वृ. ३८, ६, पृ. ४३; कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ७)। ४. पूर्वोक्त-प्रमाणस्य एकतमगतिनिरूपकं संघातश्रुतस्योपरि पूर्वोक्तप्रकारेण एकैकवर्णवृद्धिसहचरितैकैकपदवृद्धि-क्रमेण संख्यातसहस्रपदमात्रसंघातेषु संख्यातसहस्रेषु रूपोनेषु संघातसमासविकल्पेषु गतेषु तच्चरमस्य संघातसमासोत्कृष्टविकल्पस्य × × × एतस्यो-परि एकस्मिन्नक्षरे वृद्धे सति प्रतिपत्तिकनामश्रुतज्ञानं भवति। (गो. जी. मं. प्र. टी. ३३८)।

१ जितने पदों के द्वारा एक गति, इन्द्रिय, काय और योग आदिकों की प्ररूपणा की जाती है उनका नाम प्रतिपत्ति है। संघातसमास श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि के होने पर प्रतिपत्तिश्रुतज्ञान होता है। ऐसा होते हुए संख्यात संघातश्रुतज्ञानों को लेकर एक प्रतिपत्तिश्रुतज्ञान होता है। ३ गति आदि द्वारों में से किसी एक परिपूर्ण गत्यादि द्वार में जीवादि के अन्वेषणको प्रतिपत्तिश्रुतज्ञान कहा जाता है।

प्रतिपत्तिसमासश्रुतज्ञान—१. पडिवत्तिसुदणाण-स्सुवरि एगक्खरे वड्ढिदे पडिवत्तिसमाससुदणाणं होदि। एवमेगेगक्खरवड्ढिकमेण पडिवत्तिसमाससुद-णाणं वड्ढमाणं गच्छदि जाव एगक्खरेणूणअणिओग-द्दारसुदणाणेत्ति। (धव. पु. १३, पृ. २६६)। २. द्वारद्वयादिमार्गणासु प्रतिपत्तिसमासः। (शतक. मल. हेम. वृ. ३८–६, पृ. ४३; कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ७)।

१ प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि के होने पर प्रतिपत्तिसमासश्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार एक-एक अक्षर की वृद्धि के क्रम से यह प्रति-पत्तिसमासश्रुतज्ञान बढ़ता हुआ एक अक्षर से हीन अनियोगश्रुतज्ञान तक जाता है। २ दो द्वार आदि मार्गणाविषयक ज्ञान को प्रतिपत्तिसमासश्रुतज्ञान कहते हैं।

प्रतिपत्तिसमासावरणीयकर्म— पडिवत्तिसमास-सुदणाणस्स जमावारयं कम्मं तं पडिवत्तिसमासावर-णीयं कम्मं। (धव. पु. १३, पृ. २७८)।

जो प्रतिपत्तिसमासश्रुतज्ञान को आच्छादित करता है उसे प्रतिपत्तिसमासावरणीय कर्म कहते हैं।

प्रतिपत्त्यावरणीयकर्म—पडिवत्तिसुदणाणस्स ज-मावारयं कम्मं तं पडिवत्तिआवरणीयं कम्मं। (धव. पु. १३, पृ. २७८)।

जो प्रतिपत्तिश्रुतज्ञान को आच्छादित करता है उसे प्रतिपत्त्यावरणीयकर्म कहते हैं।

प्रतिपद्यमान—प्रतिपद्यमाना अभिधीयन्ते ते ये

तत्प्रथमतयाऽऽभिनिवोधिकं प्रतिपद्यन्ते, प्रथमसमय एव। (आव. नि. १४, पृ. १६)।

जो आभिनिवोधिक ज्ञान को लब्धि-उपयोग स्थिति की अपेक्षा सर्वप्रथम ग्रहण करते हैं वे प्रथम समय में ही प्रतिपद्यमान होते हैं, शेष समयों में तो वे पूर्वप्रतिपन्न ही होते हैं।

प्रतिपात—१. प्रतिपतनं प्रतिपातः। (स. सि. १-१४)। २. प्रतिपतनं प्रतिपातः। उपशान्तकषायस्य चारित्रमोहोद्रेकात् प्रच्युतसंयमशिखरस्य प्रतिपातो भवति। (त. वा. १-२४)। ३. प्रतिपातः सम्यक्त्व-चारित्राभ्यां प्रच्युत्य मिथ्यात्वासंयमयोः प्राप्तिः प्रतिपातः। (गो. जी. मं. प्र. व जी. प्र. ३७५)। ४. प्रतिपातो वहिरन्तरंगकारणवशेन संयमात्प्रच्यवः। (ल. सा. टी. १८८)। ५. संयमात्प्रच्यवनं प्रतिपातः। (त. वृत्ति श्रुत. १-२४)।

२ चारित्रमोह के उदय से उपशान्तकषाय संयत का जो संयम से पतन होता है, यह प्रतिपात कहलाता है।

प्रतिपातसाम्परायिक—उवसमसेढीदो पडिवदमाणो सुहुमसांपराइयो पडिवादसांपराइयो त्ति उच्चदे। (जयध. १, पृ. ३४५)।

जो सूक्ष्मसांपरायिक संयत उपशमश्रेणी से गिर रहा है उसे प्रतिपातसांपरायिक कहा जाता है।

प्रतिपातस्थान—पडिवादट्ठाणं णाम[जहा]जम्हि ट्ठाणे मिच्छत्तं वा असंजमसम्मत्तं वा संजमासंजमं वा गच्छइ तं पडिवादट्ठाणं। (कसायपा. चू. पृ. ६७२; धव. पु. ६, पृ. २८३)।

संयत जीव जिस स्थान में मिथ्यात्व, असंयमसम्यक्त्व अथवा संयमासंयम को प्राप्त होता है उसका नाम प्रतिपातस्थान है।

प्रतिपाति—प्रतिपतितुं शीलं यस्य तत् प्रतिपाति। (धव. पु. १३, पृ. ८३)।

अधःपतन ही जिस ज्ञान या ध्यान का स्वभाव हो वह प्रतिपाति कहलाता है।

प्रतिपाति अवधिज्ञान—१. से किं पडिवाइ ओहिणाणं? पडिवाइ ओहिनाणं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखिज्जयभागं वा संखिज्जयभागं वा वालग्गं वा वालग्गपुहुत्तं वा लिक्खं वा लिक्खपुहुत्तं वा जूअं वा जूयपुहुत्तं वा जवं वा जवपुहुत्तं वा अंगुलं वा अंगुलपुहुत्तं वा पायं वा पायपुहुत्तं वा विहत्थिं वा विहत्थिपुहुत्तं वा रयणिं वा रयणिपुहुत्तं वा कुच्छिं वा कुच्छिपुहुत्तं वा धणुं वा धणुपुहुत्तं वा गाउअं वा गाउअपुहुत्तं वा जोअणं वा जोअणपुहुत्तं वा जोअणसयं वा जोअणसयपुहुत्तं वा जोअणसहस्सं वा जोअणसहस्सपुहुत्तं वा जोअणलक्खं वा जोअणलक्खपुहुत्तं वा उक्कोसेणं लोगं वा पासित्ता णं पडिवइज्जा, से तं पडिवाइ ओहिनाणं। (नन्दी. सू. १४, पृ. ६६)। २. प्रतिपतनशीलानि प्रतिपातीनि। ××× तथा प्रतिपतत्येव प्रतिपाति। (आव. नि. हरि. वृ. ६१)। ३. प्रतिपाति प्रतिपतनशीलं प्रतिपाति, कथंचिदापादिता जात्यमणिप्रभाजालवदिति गर्भार्थः। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ३१); यदवधिज्ञानं जघन्येन सर्वस्तोकतयाऽङ्गुलस्यासंख्येयभागमात्रं वा, उत्कर्षेण सर्वप्रचुरतया यावल्लोकं दृष्ट्वा लोकमुपलभ्य तथाविधक्षयोपशमजन्यत्वात् प्रतिपतेत्, न भवेदित्यर्थः, तदेतत् प्रतिपात्यवधिज्ञानमिति। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ३६)। ४. प्रतिपतनशीलः प्रतिपाती, य उत्पन्नः सन् क्षयोपशमानुरूपं कियत्कालं स्थित्वा प्रदीप इव सामस्त्येन-विध्वंसमुपयाति। ××× प्रतिपातं तु निर्मूलमेककालं विध्वंसमुपगच्छत् अभिधीयते। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३१७, पृ. ५३८-३६; नन्दी. सू. मलय. वृ. १०, पृ. ८२)। ५. यत्पुनः प्रदीप इव निर्मूलमेककालमपगच्छति तत्प्रतिपातीति। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ८)। ६. तद्युतः (प्रतिपातयुतः) प्रतिपाती। (गो. जी. मं. प्र. व जी. प्र. ३७५)। ७. उत्पत्त्यनन्तरं निर्मूलनश्वरं प्रतिपाति। (जैनत. पृ. ११८)।

१ जो अवधिज्ञान जघन्य से अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कर्ष से लोक को जानकर पतन को प्राप्त होने वाला है उसे प्रतिपाति अवधिज्ञान कहा जाता है। ४ अपने क्षयोपशम के अनुरूप उत्पन्न हुआ जो अवधिज्ञान कुछ काल तक स्थिर रहकरके दीपक के समान निर्मूल विनाश को प्राप्त हो जाता है उसे प्रतिपाति अवधिज्ञान कहते हैं।

प्रतिपृच्छा—१. जं किंचि महाकज्जं करणीयं पुच्छिऊण गुरुआदी। पुणरवि पुच्छदि साहू तं जाणसु होदि पडिपुच्छा॥ (मूला. ४-१३६)। २. ××× पुव्वनिसिद्धेण होइ पडिपुच्छा। (आव. नि. ६६७)। ३. अनवगतार्थादी गुरुं प्रति प्रश्नः प्रतिप्रश्नः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १०); सकृदाचार्य-

णोक्त इदं त्वया कर्तव्यमिति पुनः प्रच्छनं प्रतिप्रच्छनम्। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ५८)। ४. पूर्वनिषिद्धेन सता भवतेदं न कार्यमिति, उत्पन्ने च प्रयोजने कर्तुकामेन होति पडिपुच्छत्ति प्रतिपृच्छा कर्तव्या भवति। पाठान्तरं वा—पुव्वनिउत्तेन होइ पडिपुच्छा पूर्वनियुक्तेन सता यथा भवतेदं कार्यमिति तत्कर्तुकामेन गुरोः प्रतिपृच्छा कर्तव्या भवति—अहं तत् करोमीति, तत्र हि कदाचिदसौ कार्यान्तरमादिशति, समाप्तं वा तेन प्रयोजनमिति। (आव. नि. हरि. वृ. ६९७)। ५. एकदा पृष्टेन गुरुणा नेदं कर्तव्यमित्येवं निषिद्धस्य विनेयस्य किञ्चिद् विलम्ब्य ततश्चेदं चेदं चेह कारणमस्त्यतो यदि पूज्या आदिशन्ति तदा करोमीत्येवं पुनः प्रच्छनं प्रतिप्रच्छना, अथवा ग्रामादौ प्रेषितस्य गमनकाले पुनः प्रच्छनं प्रतिप्रच्छना। (अनुयो. मलय. वृ. ११८, पृ. १०३)। ६. यत्किंचन्महत्कार्यं कार्यं पृष्ट्वा यतीश्वरान्। विनयेन पुनः प्रश्नः प्रतिप्रश्नः प्रकीर्तितः॥ (आचा. सा. २-१४)।

१ जो कार्य करने योग्य है उसके विषय में गुरु आदि से पूछ कर फिर से भी साधुओं से पूछना, इसका नाम प्रतिपृच्छा है। (गाथोक्त 'साहू' पद को यदि प्रथमान्त माना जाय तो साधु जी उसके विषय में फिर से भी पूछता है, यह प्रतिपृच्छा का लक्षण जानना चाहिए)। ४ 'आपको यह कार्य नहीं करना है' ऐसा पूर्व में निषेध कर देने पर यदि प्रयोजन के वश उसका करना आवश्यक हो जाता है तो प्रतिपृच्छा करना चाहिए—उसका पूछना आवश्यक होता है। अथवा गाथा में 'निषिद्धेन के स्थान पर 'निउत्तेन' पाठ की सम्भावना में—'आप यह कार्य कीजिये' इस प्रकार जिस कार्य में पहले नियुक्त किया गया है उसे जब करने लगे तब पूछ लेना चाहिये कि 'मैं उसे कर रहा हूं'। कारण इसका यह है कि तब किसी अन्य ही कार्य का आदेश किया जा सकता है, अथवा यह भी हो सकता है कि पूर्व निर्दिष्ट कार्य का प्रयोजन समाप्त हो चुका हो।

प्रतिपृच्छचैकसंग्रह— प्रतिपृच्छचैकसंग्रहः संघं पुनः पृष्ट्वा तदनुमतेनैकस्य क्षपकस्य स्वीकारः। (अन. ध. स्वो. टी. ७-९८)।

संघ से पूछ कर उसकी अनुमति से किसी एक क्षपक के स्वीकार करने को प्रतिपृच्छचैकसंग्रह कहते हैं। यह भक्तत्यागमरण को स्वीकार करने वाले क्षपक के अर्हादि लिंगों में से एक है।

प्रतिप्रच्छना—देखो प्रतिपृच्छा।

प्रतिप्रश्न—देखो प्रतिपृच्छा।

प्रतिबद्धशय्या—१. तं चेव य सागरियं जस्स अदूरे स पडिबद्धो। (बृहत्क. २५८३)। २. तदेव च सागारिकं यस्योपाश्रयस्य अदूरे आसन्ने स प्रतिबद्ध उच्यते। (बृहत्क. क्षे. वृ. २५८३)।

जिस उपाश्रय के पास में सागारिक (गृहस्थगृह युक्त) प्रतिश्रय हो वह प्रतिबद्धशय्या कहलाती है। वहां निर्ग्रन्थों का रहना उचित नहीं है।

प्रतिबुद्ध— प्रतिबुद्धं मिथ्यात्वाज्ञान-निद्रापगमेन सम्यक्त्वविकाशं प्राप्तम् × × ×। (दशवै. हरि. वृ. १-१४, पृ. १०)।

मिथ्यात्व और अज्ञानरूप निद्रा के हट जाने से जो सम्यक्त्व के विकाश को प्राप्त कर चुका है उसे प्रतिबुद्ध कहा जाता है। प्रकृत विशेषण के द्वारा निर्युक्तिकार ने शय्यम्भव सूरि की विशेषता प्रगट की है।

प्रतिबुद्धजीवी— जस्सेरिसा जोग जिइंदिअस्स धिईमओ सप्पुरिसस्स निच्चं। तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी सो जीअई संजमजीविएणं॥ (दशवै. सू. चूलिका २-१५)।

जिस धैर्यशाली जितेन्द्रिय महापुरुष के ऐसे—अपने हित के विचार व प्रवृत्तिरूप—योग सदा रहते हैं, उसे प्रतिबुद्धजीवी कहा जाता है। उसका जीवन संयमप्रधान होता है।

प्रतिबोधनता — सम्मद्दंसण-णाण-वद-सीलगुणाणमुज्जालणं कलंकपक्खालणं संधुक्खणं वा पडिबुज्झणं णाम, तस्स भावो पडिबुज्झणदा। (धव. पु. ८, पृ. ७५)।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, व्रत और शील इन गुणों को निर्मल करना; इसका नाम प्रतिबोधनता है।

प्रतिबोधी—यत् कथ्यते अभिधीयते तत्सर्वं यः प्रतिबुध्यते स प्रतिबोधी। (बृहत्क. क्षे. वृ. ७३६)।

जो कुछ भी कहा जाता है उसे जो पूर्णरूप से ग्रहण करता है उसे प्रतिबोधी कहते हैं।

प्रतिभा—१. प्रसन्नपद-नव्यार्थयुक्त्युद्बोधविधायिनी। स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी॥

(वाग्भ. १–४) । २. प्रतिभा नव-नवोल्लेखशालिनी प्रज्ञा । (काव्यानु. वृ. १, १, ४; अलंका. चिं. १-६)। ३. रात्रौ दिवा वाऽकस्माद् बाह्यकारणमन्तरेण श्वो मे भ्रातागमिष्यतीत्येवं रूपं यद्विज्ञानमुत्पद्यते सा प्रतिभा । (अन. ध. स्वो. टी. ३–४) । ४. रात्रौ दिवा वा अकस्माद् बाह्यकारणं विना 'व्युष्टे ममेष्टः समेष्यति' इति एवंरूपं यद्विज्ञानमुत्पद्यते सा प्रतिभा । (त. वृत्ति श्रुत. १–१३) ।

२ नवीन-नवीन उल्लेखों से शोभायमान बुद्धि को प्रतिभा कहा जाता है । ३ रात अथवा दिन में बाह्य कारण के विना 'कल मेरा भाई आवेगा' इस प्रकार का जो विशेष ज्ञान उत्पन्न होता है उसे प्रतिभा कहते है ।

प्रतिमा—प्रतिमा यावज्जीवं नियमस्य स्थिरीकरण-प्रतिज्ञा । (आ. दि. पृ. ५१) ।

ग्रहण किये गये नियम को जीवन पर्यन्त स्थिर रखने की प्रतिज्ञा को प्रतिमा कहते हैं ।

प्रतिमान—१. से किं पडिमाणे ? जण्णं पडिमिणिज्जइ । तं जहा—गुंजा कागणी निप्फावो कम्ममासओ मंडलओ सुवण्णो । पंच गुंजाओ कम्ममासओ, कागण्यपेक्षया चत्तारि कागणीओ कम्ममासओ, तिण्णि निप्फावा कम्ममासओ, एवं चउक्को कम्ममासओ काकण्यपेक्षयेत्यर्थः, बारसकम्ममासया मंडलओ एवं अडयालीसं कागणीओ मंडलओ सोलस कम्ममासया सुवण्णो एवं चउसट्ठिकागणीओ सुवण्णो । एएणं पडिमाणपमाणेणं किं पओअणं ? एएणं पडिमाणप्पमाणेणं सुवण्ण-रजत-मणि-मोत्तिअ - संख-सिलप्पवालाईणं दव्वाणं पडिमाणप्पमाणनिव्वित्ति-लक्खणं भवइ, से तं पडिमाणे । से तं विभागणिप्फण्णे । से तं दव्वपमाणे । (अनुयो. सू. १३२, पृ. १५५) । २. पूर्वमानापेक्षं मानं प्रतिमानं प्रतिमल्लवत् । चत्वारि महिधिकातृणफलानि श्वेतसर्षप एकः, षोडशसर्षपफलानि धान्यमाषफलमेकम्, द्वे धान्यमाषफले गुञ्जाफलमेकम्, द्वे गुंजाफले रूप्यमाष एकः, षोडशरूप्यमाषका धरणमेकम्, अर्धतृतीयधरणानि सुवर्णः, स च कंसः, चत्वारः कंसाः पलम्, पलशतं तुला, अर्धकंसः त्रीणि च पलानि कुडवः, चतुःकुडवः प्रस्थः, चतुःप्रस्थमाढकम्, चतुराढकं द्रोणः, षोडश-द्रोणा खारी, विंशति खार्यो वाह इत्यादि मागधक-प्रमाणम् । (त. वा. ३, ३८, ३) । ३. प्रतिमीयतेऽनेन गुंजादिना, प्रतिरूपं वा मानं प्रतिमानम् । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ७६) ।

१ सदृश मान का नाम प्रतिमान है। जैसे—गुंजा, काकणी, निष्पाव, कर्ममाषक, मण्डलक और सुवर्ण ये प्रतिमान हैं। इनसे सुवर्ण आदि का प्रमाण किया जाता है। एक कर्ममाषक पांच गुंजा, अथवा चार काकणी, अथवा तीन निष्पाव का होता है। बारह कर्ममाषकों का, अथवा अड़तालीस काकनियों का एक मण्डलक होता है। सोलह कर्ममाषकों का अथवा चौसठ काकणियों का एक सुवर्ण होता है। ($1\frac{1}{4}$ गुंजा=काकणी, $1\frac{1}{3}$ काकणी=निष्पाव, अथवा $1\frac{2}{3}$ गुंजा=निष्पाव) इस प्रतिमान के द्वारा सुवर्ण, चांदी, मणि, मोती, शंख, शिला और प्रवाल आदि का प्रमाण जाना जाता है। यह द्रव्यप्रमाण गुंजा आदि के विभाग से सिद्ध होने के कारण विभागनिष्पन्न द्रव्यप्रमाण माना गया है। २ पूर्व की अपेक्षा रखने वाले मान को प्रतिमान कहते हैं। जैसे—चार महिधिका तृणफलों का एक सफेद सर्षप होता है, सोलह सर्षप फलों का एक धान्यमाषफल (उड़द), दो धान्यमाषफलों का एक गुंजाफल, दो गुंजाफलों का एक रूप्यमाष, सोलह रूप्यमाषों का एक धरण, अढ़ाई ($2\frac{1}{2}$) धरणों का एक सुवर्ण या कंस इत्यादि 'वाह' पर्यन्त मगधदेश प्रसिद्ध प्रमाण जानना चाहिए।

प्रतिमोद्वहनयोग्य मुनि—सम्पूर्णविद्यो धृतिमान् वज्रसंहननं वहन् । महासत्त्वो जिनमते सम्यग्ज्ञाता स्थिराशयः ॥ गुर्वनुज्ञां वहन् चित्ते श्रुताभिगमतत्त्ववित् । विसृष्टदेहो धीरश्च जिनकल्पार्हशक्तिभाक् ॥ परीषहसहो दान्तो गच्छेऽपि ममतां त्यजन् । दोष-धातुप्रकोपेऽपि न वहन् रागसंभवम् ॥ अव्यञ्जनं रसत्यक्तं पानान्नं क्वापि कल्पयन् । ईदृशोऽर्हति शुद्धात्मा प्रतिमोद्वहनं मुनिः ॥ (आचा. दि. १–२६, पृ. ११७) ।

जो सम्पूर्ण विद्याओं का ज्ञाता, धैर्यवान्, वज्रसंहनन का धारक, जिनमतविषयक सम्यग्ज्ञानवान्, स्थिर आशय वाला, गुरु की आज्ञानुसार चलने वाला, आगमोक्त तत्त्वों का ज्ञाता, शरीर से निःस्पृह, जिन-कल्प के योग्य शक्ति से सहित तथा परीषहों को सहने वाला हो; इत्यादि गुणों से सम्पन्न महामुनि

हो मुनि की बारह प्रतिमाओं को धारण करने के योग्य होता है।

प्रतिरूपकक्रिया—देखो प्रतिरूपकव्यवहार।

प्रतिरूपकव्यवहार—१. कृत्रिमैर्हिरण्यादिभिर्वंचनापूर्वको व्यवहारः प्रतिरूपकव्यवहारः। (स. सि. ७-२७; चा. सा. पृ. ६)। २. प्रतिरूपकव्यवहारो नाम सुवर्ण-रूप्यादीनां द्रव्याणां प्रतिरूपकक्रिया व्याजीकरणानि च। (त. भा. ७-२२)। ३. कृत्रिमहिरण्यादिकरणं प्रतिरूपकव्यवहारः। कृत्रिमैः हिरण्यादिभिः वञ्चनापूर्वको व्यवहारः प्रतिरूपकव्यवहार इति व्यपदिश्यते। (त. वा. ७, २७, ५)। ४. शुद्धेन व्रीह्यादिना घृतादिना वा प्रतिरूपकं सदृशं पलञ्ज्यादि वसादि वा द्रव्यम्, तेन व्यवहारो विक्रयरूपः स प्रतिरूपकव्यवहारः। (ध. बि. मु. वृ. ३, २५)। ५. तथा प्रतिरूपं सदृशम्—व्रीहीणां पलञ्जिः, घृतस्य वसा, हिङ्गोः खदिरादिवेष्टः, तैलस्य मूत्रम्, जात्यसुवर्ण-रूप्ययोर्युक्तिसुवर्ण-रूप्ये, इत्यादिप्रतिरूपेण क्रिया व्यवहारः, व्रीह्यादिषु पलञ्ज्यादि प्रक्षिप्य तत्तद्विक्रीणीते। यद्वा, अपहृतानां गवादीनां सशृङ्गाणामग्निपक्वकालिंगीफलस्वेदादिना शृंगाण्यधोमुखानि प्रगुणानि तिर्यग्वलितानि वा यथारुचि विधायान्यविधत्वमिव तेषामापाद्य सुखेन धारण-विक्रयादि करोति। इति चतुर्थः। (योगशा. स्वो. विव. ३-९२)। ६. प्रतिरूपकव्यवहृतिः—प्रतिरूपकं सदृशम्—व्रीहीणां पलञ्जि, घृतस्य वसा, हिङ्गोः खदिरादिवेष्टः, तैलस्य मूत्रम्, जात्यसुवर्ण-रूप्ययोर्युक्तसुवर्ण-रूप्ये, इत्यादि प्रतिरूपकेण व्यवहृतिर्व्यवहारो व्रीह्यादिषु पलञ्ज्यादि प्रक्षिप्य तद्विक्रयणम्। (सा. ध. स्वो. टी. ४-५०)। ७. ताम्रेण घटिता रूप्येण च सुवर्णेन च घटिताः ताम्र-रूप्याभ्यां च घटिता ये द्रम्माः तत् हिरण्यमुच्यते, तत्सदृशाः केनचित् लोकवंचनार्थं घटिता द्रम्माः प्रतिरूपकाः, तैर्व्यवहारः क्रय-विक्रयः प्रतिरूपकव्यवहारः कथ्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७-२७)। ८. निक्षेपणं समर्थस्य महार्घे वञ्चनाशया। प्रतिरूपकनामा स्याद् व्यवहारो व्रतक्षतौ॥ (लाटीसं. ६-५६)।

१ बनावटी सोना-चांदी आदि के द्वारा धोखादेही का व्यवहार करना, यह प्रतिरूपकव्यवहार कहलाता है, जो अचौर्याणुव्रत को मलिन करने वाला है। २ सोना और चांदी आदि द्रव्यों में जो प्रतिरूपक क्रिया की जाती है—उनमें उन्हीं के समान अल्प मूल्य वाले तांबा आदि अन्य द्रव्यों का मिश्रण किया जाता है, इसे प्रतिरूपकव्यवहार कहा जाता है। इसके अतिरिक्त व्याजीकरण भी प्रतिरूपकव्यवहार कहलाता है। चुरायी गई गायों आदि के सींगों को अग्नि से पकाये गये कालिंगी फल से स्वेदित कर जो उन्हें अधोमुख या कुटिल (टेढ़ा-मेढ़ा) किया जाता है, इसका नाम व्याजीकरण है। यह अचौर्याणुव्रत का एक अतीचार है।

प्रतिलेखक—प्रतिलेखतीति प्रतिलेखकः, प्रवचनानुसारेण स्थानादिनिरीक्षकः, साधुरित्यर्थः। (ओघनि. वृ. ५, पृ. २८)।

आगम के अनुसार योग्य स्थान आदि के निरीक्षण करने वाले साधु को प्रतिलेखक कहते हैं।

प्रतिलेखना — एतदुक्तं भवति—अक्षरानुसारेण प्रतिनिरीक्षणमनुष्ठानं च यत् सा प्रतिलेखना, सा च चोलपट्टादेरुपकरणस्येति। (ओघनि. भा. वृ. ३, पृ. १३-१४); एतदुक्तं भवति—आगमानुसारेण या निरूपणा क्षेत्रादेः सा प्रतिलेखनेति। (ओघनि. वृ. ३, पृ. २५); प्रतिलेखनं प्रतिलेखना, प्रति प्रत्यागमानुसारेण निरूपणमित्यर्थः, सा च प्रतिलेखना भवति॥ (ओघनि. वृ. ४, पृ. २७)।

अक्षरों के अनुसार निरीक्षण करना व अनुष्ठान करना, इसका नाम प्रतिलेखना है। यह प्रतिलेखना चोलपट्ट (कटिवस्त्र) आदि उपकरणों की की जाती है। आगम के अनुसार क्षेत्रादि की प्ररूपणा करने को प्रतिलेखना कहते हैं।

प्रतिलेखा—१. पडिलेहा आराधनाया व्याक्षेपेण विना सिद्धिर्भवति न वा राज्यस्य देशस्य ग्राम-नगरादेस्तत्र प्रधानस्य वा शोभनं वा नेति निरूपणम्। (भ. आ. विजयो. ६८)। २. पडिलेहा आराधनानिर्विघ्नसिद्धयर्थं देवतोपदेशाष्टांगनिमित्तादिगवेषणम्। (भ. आ. मूला. ६८)।

१ आराधना की सिद्धि निर्विघ्न होगी या नहीं, इसके लिए राज्य, देश एवं ग्राम-नगर आदि तथा वहां के प्रमुख की उत्तमता व हीनता का विचार करना; इसे प्रतिलेखा कहते हैं।

प्रतिलोम—१. ××× अणभिप्पेओ अ पडि-

(वाग्भ. १–४)। २. प्रतिभा नव-नवोल्लेखशालिनी प्रज्ञा। (काव्यानु. वृ. १, १, ४; अलंका. चि. १-९)। ३. रात्रौ दिवा वाऽकस्माद् वाह्यकारणमन्तरेण श्वो मे भ्रातागमिष्यतीत्येवं रूपं यद्विज्ञानमुत्पद्यते सा प्रतिभा। (अन. ध. स्वो. टी. ३–४)। ४. रात्रौ दिवा वा अकस्माद् वाह्यकारणं विना 'व्युष्टे ममेष्टः समेष्यति' इति एवंरूपं यद्विज्ञानमुत्पद्यते सा प्रतिभा। (त. वृत्ति श्रुत. १–१३)।

२ नवीन-नवीन उल्लेखों से शोभायमान वुद्धि को प्रतिभा कहा जाता है। ३ रात अथवा दिन में वाह्य कारण के विना 'कल मेरा भाई आवेगा' इस प्रकार का जो विशेष ज्ञान उत्पन्न होता है उसे प्रतिभा कहते है।

प्रतिमा—प्रतिमा यावज्जीवं नियमस्य स्थिरीकरण-प्रतिज्ञा। (आ. दि. पृ. ५१)।

ग्रहण किये गये नियम को जीवन पर्यन्त स्थिर रखने की प्रतिज्ञा को प्रतिमा कहते हैं।

प्रतिमान—१. से किं पडिमाणे? जण्णं पडिमिणिज्जइ। तं जहा—गुंजा कागणी निप्फावो कम्ममासओ मंडलओ सुवण्णो। पंच गुंजाओ कम्ममासओ, कागण्यपेक्षया चत्तारि कागणीओ कम्ममासओ, तिण्णि निप्फावा कम्ममासओ, एवं चउक्को कम्ममासओ काकण्यपेक्षयेत्यर्थः, बारसकम्ममासया मंडलओ एवं अडयालीसं कागणीओ मंडलओ सोलस कम्ममासया सुवण्णो एवं चउसट्ठिकागणीओ सुवण्णो। एएणं पडिमाणपमाणेणं किं पओअणं? एएणं पडिमाणप्पमाणेणं सुवण्ण-रजत-मणि-मोत्तिअ-संख-सिलप्पवालाईणं दव्वाणं पडिमाणप्पमाणनिव्वित्ति-लक्खणं भवइ, से तं पडिमाणे। से तं विभागणिप्फण्णे। से तं दव्वपमाणे। (अनुयो. सू. १३२, पृ. १५५)। २. पूर्वमानापेक्षं मानं प्रतिमानं प्रतिमल्लवत्। चत्वारि महिधिकातृणफलानि श्वेतसर्षप एकः, षोडशसर्षपफलानि धान्यमाषफलमेकम्, द्वे धान्यमाषफले गुञ्जाफलमेकम्, द्वे गुंजाफले रूप्यमाष एकः, षोडशरूप्यमाषका धरणमेकम्, अर्धतृतीयधरणानि सुवर्णः, स च कंसः, चत्वारः कंसाः पलम्, पलशतं तुला, अर्धकंसः त्रीणि च पलानि कुडवः, चतुःकुडवः प्रस्थः, चतुःप्रस्थमाढकम्, चतुराढकं द्रोणः, षोडशद्रोणा खारी, विंशति खार्यो वाह इत्यादि मागधकप्रमाणम्। (त. वा. ३, ३८, ३)। ३. प्रतिमीयतेऽनेन गुंजादिना, प्रतिरूपं वा मानं प्रतिमानम्। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ७६)।

१ सदृश मान का नाम प्रतिमान है। जैसे—गुंजा, काकणी, निष्पाव, कर्ममाषक, मण्डलक और सुवर्ण ये प्रतिमान हैं। इनसे सुवर्ण आदि का प्रमाण किया जाता है। एक कर्ममाषक पांच गुंजा, अथवा चार काकणी, अथवा तीन निष्पाव का होता है। वारह कर्ममाषकों का, अथवा अड़तालीस काकणियों का एक मण्डलक होता है। सोलह कर्ममाषकों का अथवा चौसठ काकणियों का एक सुवर्ण होता है। ($1\frac{1}{4}$ गुंजा=काकणी, $1\frac{1}{3}$ काकणी=निष्पाव, अथवा $1\frac{2}{3}$ गुंजा=निष्पाव) इस प्रतिमान के द्वारा सुवर्ण, चांदी, मणि, मोती, शंख, शिला और प्रवाल आदि का प्रमाण जाना जाता है। यह द्रव्यप्रमाण गुंजा आदि के विभाग से सिद्ध होने के कारण विभागनिष्पन्न द्रव्यप्रमाण माना गया है। २ पूर्व की अपेक्षा रखने वाले मान को प्रतिमान कहते हैं। जैसे—चार महिधिका तृणफलों का एक सफेद सर्षप होता है, सोलह सर्षप फलों का एक धान्यमाषफल (उड़द), दो धान्यमाषफलों का एक गुंजाफल, दो गुंजाफलों का एक रूप्यमाष, सोलह रूप्यमाषों का एक धरण, अढ़ाई ($2\frac{1}{2}$) धरणों का एक सुवर्ण या कंस इत्यादि 'वाह' पर्यन्त मगधदेश प्रसिद्ध प्रमाण जानना चाहिए।

प्रतिमोद्वहनयोग्य मुनि—सम्पूर्णविद्यो धृतिमान् वज्रसंहननं वहन्। महासत्त्वो जिनमते सम्यग्ज्ञाता स्थिराशयः॥ गुर्वनुज्ञां वहन् चित्ते श्रुताभिगमतत्त्ववित्। विसृष्टदेहो धीरश्च जिनकल्पार्हशक्तिभाक्॥ परीषहसहो दान्तो गच्छेऽपि ममतां त्यजन्। दोष-धातुप्रकोपेऽपि न वहन् रागसंभवम्॥ अव्यञ्जनं रसत्यक्तं पानान्नं क्वापि कल्पयन्। ईदृशोऽर्हति शुद्धात्मा प्रतिमोद्वहनं मुनिः॥ (आचा. दि. १–२६, पृ. ११७)।

जो सम्पूर्ण विद्याओं का ज्ञाता, धैर्यवान्, वज्रसंहनन का धारक, जिनमतविषयक सम्यग्ज्ञानवान्, स्थिर आशय वाला, गुरु की आज्ञानुसार चलने वाला, आगमोक्त तत्त्वों का ज्ञाता, शरीर से निःस्पृह, जिनकल्प के योग्य शक्ति से सहित तथा परीषहों को सहने वाला हो; इत्यादि गुणों से सम्पन्न महामुनि

ही मुनि को बारह प्रतिमाओं को धारण करने के योग्य होता है।

प्रतिरूपकक्रिया—देखो प्रतिरूपकव्यवहार।

प्रतिरूपकव्यवहार—१. कृत्रिमैर्हिरण्यादिभिर्वचनापूर्वको व्यवहारः प्रतिरूपकव्यवहारः। (स. सि. ७-२७; चा. सा. पृ. ६)। २. प्रतिरूपकव्यवहारो नाम सुवर्ण-रूप्यादीनां द्रव्याणां प्रतिरूपकक्रिया व्याजीकरणानि च। (त. भा. ७-२२)। ३. कृत्रिमहिरण्यादिकरणं प्रतिरूपकव्यवहारः। कृत्रिमैः हिरण्यादिभिः वञ्चनापूर्वको व्यवहारः प्रतिरूपकव्यवहार इति व्यपदिश्यते। (त. वा. ७, २७, ५)। ४. शुद्धेन व्रीह्यादिना घृतादिना वा प्रतिरूपकं सदृशं पलञ्ज्यादि वसादि वा द्रव्यम्, तेन व्यवहारो विक्रयरूपः स प्रतिरूपकव्यवहारः। (ध. बि. मु. वृ. ३, २५)। ५. तथा प्रतिरूपं सदृशम्—व्रीहीणां पलञ्जिः, घृतस्य वसा, हिङ्गोः खदिरादिवेष्टः, तैलस्य मूत्रम्, जात्यसुवर्ण-रूप्ययोर्युक्तिसुवर्ण-रूप्ये, इत्यादिप्रतिरूपेण क्रिया व्यवहारः, व्रीह्यादिषु पलञ्ज्यादि प्रक्षिप्य तत्तद्विक्रीणीते। यद्वा, अपहृतानां गवादीनां सशृङ्गाणामग्निपक्वकालिंगीफलस्वेदादिना शृंगाण्यधोमुखानि प्रगुणानि तिर्यग्वलितानि वा यथारुचि विधायान्यविधत्वमिव तेषामापाद्य सुखेन धारणविक्रयादि करोति। इति चतुर्थः। (योगशा. स्वो. विव. ३-९२)। ६. प्रतिरूपकव्यवहृतिः—प्रतिरूपकं सदृशम्—व्रीहीणां पलञ्जि, घृतस्य वसा, हिङ्गोः खदिरादिवेष्टः, तैलस्य मूत्रम्, जात्यसुवर्ण-रूप्ययोर्युक्तसुवर्ण-रूप्ये, इत्यादि प्रतिरूपकेण व्यवहृतिर्व्यवहारो व्रीह्यादिषु पलञ्ज्यादि प्रक्षिप्य तद्विक्रयणम्। (सा. ध. स्वो. टी. ४-५०)। ७. ताम्रेण घटिता रूप्येण च सुवर्णेन च घटिताः ताम्र-रूप्याभ्यां च घटिता ये द्रम्माः तत् हिरण्यमुच्यते, तत्सदृशाः केनचित् लोकवंचनार्थं घटिता द्रम्माः प्रतिरूपकाः, तैर्व्यहारः क्रय-विक्रयः प्रतिरूपकव्यवहारः कथ्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७-२७)। ८. निक्षेपणं समर्थस्य महार्घे वञ्चनाशया। प्रतिरूपकनामा स्याद् व्यवहारो व्रतक्षतौ ॥ (लाटीसं. ६-५६)।

१ बनावटी सोना-चांदी आदि के द्वारा धोखादेही का व्यवहार करना, यह प्रतिरूपकव्यवहार कहलाता है, जो अचौर्याणुव्रत को मलिन करने वाला है। २ सोना और चांदी आदि द्रव्यों में जो प्रतिरूपक क्रिया की जाती है—उनमें उन्हीं के समान अल्प मूल्य वाले तांबा आदि अन्य द्रव्यों का मिश्रण किया जाता है, इसे प्रतिरूपकव्यवहार कहा जाता है। इसके अतिरिक्त व्याजीकरण भी प्रतिरूपकव्यवहार कहलाता है। चुरायी गईं गायों आदि के सींगों को अग्नि से पकाये गये कालिंगी फल से स्वेदित कर जो उन्हें अधोमुख या कुटिल (टेढ़ा-मेढ़ा) किया जाता है, इसका नाम व्याजीकरण है। यह अचौर्याणुव्रत का एक अतीचार है।

प्रतिलेखक—प्रतिलेखतीति प्रतिलेखकः, प्रवचनानुसारेण स्थानादिनिरीक्षकः, साधुरित्यर्थः। (ओघनि. वृ. ५, पृ. २८)।

आगम के अनुसार योग्य स्थान आदि के निरीक्षण करने वाले साधु को प्रतिलेखक कहते हैं।

प्रतिलेखना — एतदुक्तं भवति—अक्षरानुसारेण प्रतिनिरीक्षणमनुष्ठानं च यत् सा प्रतिलेखना, सा च चोलपट्टादेरुपकरणस्येति। (ओघनि. भा. वृ. ३, पृ. १३-१४); एतदुक्तं भवति—आगमानुसारेण या निरूपणा क्षेत्रादेः सा प्रतिलेखनेति। (ओघनि. वृ. ३, पृ. २५); प्रतिलेखनं प्रतिलेखना, प्रति प्रत्यागमानुसारेण निरूपणमित्यर्थः, सा च प्रतिलेखना भवति ॥ (ओघनि. वृ. ४, पृ. २७)।

अक्षरों के अनुसार निरीक्षण करना व अनुष्ठान करना, इसका नाम प्रतिलेखना है। यह प्रतिलेखना चोलपट्ट (कटिवस्त्र) आदि उपकरणों की की जाती है। आगम के अनुसार क्षेत्रादि की प्ररूपणा करने को प्रतिलेखना कहते हैं।

प्रतिलेखा—१. पडिलेहा आराधनाया व्याक्षेपेण विना सिद्धिर्भवति न वा राज्यस्य देशस्य ग्रामनगरादेस्तत्र प्रधानस्य वा शोभनं वा नेति निरूपणम्। (भ. आ. विजयो. ६८)। २. पडिलेहा आराधनानिर्विघ्नसिद्धयर्थं देवतोपदेशाष्टांगनिमित्तादिगवेषणम्। (भ. आ. मूला. ६८)।

१ आराधना की सिद्धि निर्विघ्न होगी या नहीं, इसके लिए राज्य, देश एवं ग्राम-नगर आदि तथा वहां के प्रमुख की उत्तमता व हीनता का विचार करना; इसे प्रतिलेखा कहते हैं।

प्रतिलोम—१. × × × अणभिप्पेओ अ पडि-

लोमो। (उत्तरा. नि. ४३)। २. अनभिप्रेतश्च प्रतिलोम उक्तविपरीतकाकस्वरादिरिति। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ४३)।

१ कौए के स्वर आदि के समान जो इन्द्रियविषय अभीष्ट नहीं हैं उन्हें प्रतिलोम कहा जाता है।

प्रतिश्रवण—उवओगंमि य लाभं कम्मग्गाहिस्स चित्तरक्खट्ठा। आलोइए सुलद्धं भणइ भणंतस्स पडिसुणणा॥ (पिण्डनि. ११६)।

आधाकर्म ग्रहण के लिए प्रवृत्त शिष्य के चित्त की रक्षा के लिए—वह मन में खेद को प्राप्त न हो, इस विचार से—गुरु उपयोग के समय 'लाभ' शब्द का उच्चारण करता है तथा जब उक्त शिष्य गृहस्थ के यहां से लाकर उसकी आलोचना करता है, तब गुरु जो यह कहता है कि 'तुमने जो यह प्राप्त किया है सो ठीक हुआ', इस प्रकार कहने वाले गुरु के प्रतिश्रवण नाम का दोष होता है।

प्रतिश्रवणानुमति—१. पुत्ताईहिं कयं पावं सुणइ, सुच्चा अणुमोएइ न पडिसेहेइ सो पडिसुणणाणुमई। (कर्मप्र. चू. उप. क. २९)। २. पुत्रादिभिरुदितं सावद्यं योगं शृणोति, न च प्रतिषेव[ध]ते प्रतिश्रवणानुमतिः। (पंचसं. स्वो. वृ. उप. क. ३०, पृ. १६७)। ३. यदा तु पुत्रादिभिः कृतं पापं शृणोति, श्रुत्वा चानुमनुते, न च प्रतिषेधति, तदा प्रतिश्रवणानुमतिः। (पंचसं. मलय. वृ. उप. क. ३०, पृ. १६८)।

१ पुत्रादि के द्वारा किये गये पाप को सुन कर जब उसका अनुमोदन करता है, पर प्रतिषेध नहीं करता है, तब इसे प्रतिश्रवणानुमति कहा जाता है।

प्रतिश्रोतःपदानुसारिबुद्धि—अन्त्यपदस्यार्थं ग्रन्थं च परत उपश्रुत्य ततः प्रातिकूल्येनादिपदादा अर्थ-ग्रन्थविचारपटवः प्रतिश्रोतःपदानुसारिबुद्धयः। (योग-शा. स्वो. विव. १-८, पृ. ३८)।

किसी ग्रन्थ के अन्तिम पद के अर्थ और ग्रन्थ को दूसरे से सुनकर अन्तिम पद से लेकर आदि पद तक अर्थ और ग्रन्थ के विचार में जो साधु कुशल हैं वे प्रतिश्रोतःपदानुसारिबुद्धिऋद्धि के धारक होते हैं।

प्रतिषेध—प्रतिषेधोऽसदंशः। (प्र. न. त. ३-५३); सदसदंशात्मके एव वस्तुन्यसदंशोऽभावांशापरनामा प्रतिषेधः प्रतिपत्तव्यः। (स्याद्वादर. ३-५३)।

सत्-असदात्मक वस्तु में असत् अंश को प्रतिषेध कहते हैं।

प्रतिषेधप्रत्याख्यान—विवक्षितद्रव्याभावाद् विशिष्टसम्प्रदानकारकाभावाद्वा सत्यामपि दित्सायां यः प्रतिषेधस्तत्प्रतिषेधप्रत्याख्यानम्। (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. २-११६, पृ. १०७)।

देने की इच्छा होने पर भी विशिष्ट द्रव्य अथवा सम्प्रदानकारक (पात्रविशेष) के अभाव से जो उसका प्रतिषेध किया जाता है उसे प्रतिषेधप्रत्याख्यान कहते हैं।

प्रतिषे(से)वक—१. प्रतिषिद्धं सेवत इति प्रतिषेवकः प्रतिषेवणक्रियाकारी। (व्यव. भा. पी. मलय. वृ. १-३७); प्रतिषेवको नामाकल्पं सेवमानः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १-३८); लघु शीघ्रमुत्तरगुणानां सेवकः प्रतिसेवकः। (व्यव. भा. पी. मलय. वृ. १-५१)। २. ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपांस्युपजीवन् तत्प्रतिसेवक उच्यते। (प्रव. सारो. वृ. ७२५)।

१ जो निषिद्ध (अकल्प्य) वस्तु का सेवन करता है उसे प्रतिषेवक कहा जाता है। २ ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का आश्रय लेने वाला तत्प्रतिसेवक—क्रम से ज्ञान-दर्शनादि का प्रतिसेवक (ज्ञानादिप्रतिसेवनाकुशील) कहलाता है।

प्रतिषेवणा—प्रतिषेवणा अकल्प्यसमाचरणम्। (व्यव. भा. पी. मलय. वृ. १-३७ व ३८)।

जो आचरण साधु पद के योग्य नहीं है, ऐसे अकल्प्य आचरण का नाम प्रतिषेवणा है।

प्रतिषेवणादोष—अन्नेणाहाकम्मं उवणीयं असइ चोइओ भणइ। परहत्थेणंगारे कड्ढंतो जह न डज्झइ हु॥ एवं खु अहं सुद्धो दोसो देंतस्स कूड-उवमाए। समयत्थमजाणंतो मूढो पडिसेवणं कुणइ॥ (पिण्डनि. ११४-१५)।

दूसरेके द्वारा लाकर दिये गये अधःकर्म-संयुक्त आहार को जो खाता है तथा इसके लिए दूसरे के द्वारा निन्दा की जाने पर जो यह कहता है कि जिस प्रकार दूसरे के हाथ से अंगारों को खिंचवाने वाला नहीं जलता है, किन्तु उसका खींचने वाला ही जलता है, उसी प्रकार दूसरे के द्वारा लाये गये आधाकर्म का सेवन करने पर भी मैं निर्दोष हूं, दोष तो उसे देने वाले का है, इस प्रकार अनुचित

उपमा देता हुआ जो आगम को नहीं जानता है वह मूर्ख प्रतिषेवणादोष को करता है।

प्रतिष्ठा—१. प्रतितिष्ठन्ति विनाशेन विना अस्या-मर्था इति प्रतिष्ठा। (धव. पु. १३, पृ. २४३)। २. श्रुतेन सम्यग्ज्ञातस्य व्यवहारप्रसिद्धये। स्थाप्यस्य कृतनाम्नोऽन्तः स्फुरतो न्यासगोचरे॥ साकारे वा निराकारे विधिना यो विधीयते। न्यासस्तदिदमित्युक्त्वा प्रतिष्ठा स्थापना च सा॥ (प्रतिष्ठासा. १, ८४-८५)।

१ जिसमें पदार्थ विनाश के विना प्रतिष्ठित रहते हैं, अर्थात् जिस संस्कार के आश्रय से पदार्थों का स्मरण बना रहता है, उसे प्रतिष्ठा कहते हैं। यह धारणाज्ञान का नामान्तर है। २ श्रुत के द्वारा समीचीन रूप से जाने गये स्थाप्य को—स्थापना के विषयभूत वृषभादि तीर्थंकर को—जो विधि-पूर्वक साकार अथवा निराकार पाषाण आदि में स्थापना की जाती है उसका नाम प्रतिष्ठा है। दूसरे नाम से उसे स्थापना और न्यास भी कहा जाता है।

प्रतिष्ठाचार्य—१. देश-जाति-कुलाचारैः श्रेष्ठो दक्षः सुलक्षणः। त्यागी वाग्मी शुचिः शुद्धसम्यक्त्वः सद्व्रतो युवा॥ श्रावकाध्ययनज्योतिर्वास्तुशास्त्र-पुराणवित्। निश्चय-व्यवहारज्ञः प्रतिष्ठाविधिवित् प्रभुः॥ विनीतः सुभगो मन्दकषायो विजितेन्द्रियः। जिनेज्यादिक्रियानिष्ठो भूरिसत्त्वार्थवान्धवः॥ दृष्ट-सृष्टक्रियो वार्तः सम्पूर्णाङ्गः परार्थकृत्। वर्णी गृही वा सद्वृत्तिरशूद्रो याजको धुराट्॥ (प्रतिष्ठासा. १, १११-१४)। २. स्याद्वादधुर्योऽक्षरदोषवेत्ता निरा-लसो रोगविहीनदेहः। प्रायः प्रकर्ता दम-दानशीलो जितेन्द्रियो देव-गुरुप्रमाणः॥ शास्त्रार्थसंपत्तिविदीर्ण-वादो धर्मोपदेशप्रणयः क्षमावान्। राजादिमान्यो नययोगभाजी तपोव्रतानुष्ठितपूतदेहः॥ पूर्वं निमि-त्ताद्यनुमापकोऽर्थसन्देहहारी यजनैकचित्तः। सद्-ब्राह्मणो ब्रह्मविदां पटिष्ठो जिनैकधर्मा गुरुदत्तमंत्रः॥ भुक्त्वा हविष्यान्नमरात्रिभोजी निद्रां विजेतुं विहि-तोद्यमश्च। गतस्पृहो भक्तिपरात्मदुःखप्रहाणये सिद्ध-मनुविधिज्ञः॥ कुलक्रमायातसुविद्यया यः प्राप्तोपसर्गं परिहर्तुमीशः। सोऽयं प्रतिष्ठाविधिषु प्रयोक्ता श्ला-घ्योऽन्यथा दोषवती प्रतिष्ठा॥ (प्रतिष्ठापाठ जय. ८१-८५)।

१ जो देश, जाति, कुल और आचार से श्रेष्ठ हो; उत्तम लक्षणों से संयुक्त हो, त्यागी हो, वक्ता हो, शुद्ध सम्यग्दर्शन से सहित हो, उत्तम व्रतों का पालन करने वाला हो, युवा हो; श्रावकाचार, ज्योतिषशास्त्र, वास्तुशास्त्र और पुराण का वेत्ता हो; निश्चय व व्यवहार का ज्ञाता हो, प्रतिष्ठा-विधि का जानने वाला हो, विनयशील हो, सुन्दर हो, मन्दकषायी हो, जितेन्द्रिय हो, जिनपूजा आदि में निष्ठावान् हो, तथा सम्पूर्ण अंगों वाला हो; इत्यादि गुणों से जो विभूषित हो वह प्रतिष्ठाचार्य या याजक (यज्ञ कराने वाला) होता है। वह ब्रह्म-चारी अथवा गृहस्थ भी हो सकता है। विशेष इतना है कि वह शूद्र नहीं होना चाहिए।

प्रतिष्ठापक—आत्मसम्पत्तिद्रव्येण व्ययं कृत्वा महोत्सुकः। यः करोति प्रतिष्ठां च स प्रतिष्ठापको मतः॥ (प्रतिष्ठापाठ जय. ७४)।

अपनी सम्पत्ति को खर्च करके जो अतिशय उत्सुक-तापूर्वक प्रतिष्ठा को करता है उसे प्रतिष्ठापक कहा जाता है।

प्रतिष्ठापनशुद्धि — प्रतिष्ठापनशुद्धिपरः संयतः नख-रोम-सिंघाणक-निष्ठीवन-शुक्रोच्चार-प्रस्रवणशो-धने देहपरित्यागे च विदितदेश-कालो जन्तूपरोधमन्त-रेण प्रयतते (च. सा. 'न यत्नं कुर्यात् प्रयतते')। (त. वा. ६, ६, १६; चा. सा. पृ. ३६)।

जो नख, रोम, नाक का मल, थूक, वीर्य और मल-मूत्र की शुद्धि में तथा शरीर के परित्याग में देश-काल को जानता हुआ जीवों को पीड़ा न पहुंचा कर प्रयत्न करता है वह प्रतिष्ठापनशुद्धि में तत्पर रहता है।

प्रतिष्ठापनसमिति—देखो उच्चारप्रस्रवणसमिति व उत्सर्गसमिति। १. पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण। उच्चारादिच्चागो पइट्ठासमिदी हवे तस्स॥ (नि. सा. ३-६५)। २. एगंते अच्चित्ते दूरे गूढे विसालमविरोहे। उच्चारादिच्चाओ पदिठावणिया हवे समिदी॥ (मूला. १-१५)। ३. एदेण चेव पदिट्ठावणसमिदी वि वण्णिया होदि। वोसरणिज्जं दव्वं थंडिल्ले वोसरितस्स॥ (भ. आ. ११९९)। ४. शरीरान्तर्मलत्यागः प्रगतासुभू-मिषु। यत्तत्समितिरेषा तु प्रतिष्ठापनिका मता॥ (ह. पु. २-१२६)। ५. उच्चार-प्रश्रवण-खेल-

सिंघाण-जल्लानां परिस्थापनिका तद्विषया समितिः, सुन्दरचेष्टेत्यर्थः, तया, उच्चारः पुरीषम्, प्रश्रवणं मूत्रम्, खेलः श्लेष्मा, सिंघानं नासिकोद्भवः श्लेष्मा, जल्लः मलः ××× । (आव. सू. हरि. वृ. ४, पृ. ६१६) । ६. समितिर्दर्शितानेन प्रतिष्ठापनगोचरा । त्याज्यं मूत्रादिकं द्रव्यं स्थंडिले त्यजतो यतेः ॥ (त. सा. ६–११) । ७. प्रतिष्ठापनासमितिर्जन्तुविवर्जितप्रदेशे सम्यगवलोक्य मलाद्युत्सर्गः । तथैव उच्चारादीनां मूत्र-पुरीषादीनां प्रतिष्ठापना सम्यक्परित्यागो यः सा प्रतिष्ठापनासमितिः । (मूला. वृ. १–१०) । ८. प्रतिष्ठापननाम्नी च विख्याता समितिर्यथा । श्वदद्गुर्दशद्वारा मल-मूत्रादिगोचरा ॥ निश्छिद्रं प्रासुकं स्थानं सर्वदोषविवर्जितम् । दृष्ट्वा प्रमार्ज्य सागारो वर्चोमूत्रादि निक्षिपेत् ॥ (लाटीसं. २५५–५६) ।

१ जो स्थान जीव-जन्तुओं से रहित, गूढ़—जहां जाने-आने वालों की दृष्टि न पहुंचती हो—और दूसरों की बाधा से रहित हो, ऐसे प्रासुक स्थान में मल-मूत्रादि का त्याग करना, इसका नाम प्रतिष्ठापनासमिति है । ५ मल, मूत्र, कफ, नाक का मल और पसीना से संलग्न धूलिरूप मल आदिविषयक सुन्दर प्रवृत्ति को—प्राणिपीडा के परिहार को—प्रतिष्ठापनसमिति या उच्चार-प्रश्रवण-खेल-सिंघाण-जल्लपरिस्थापनिका समिति कहते हैं ।

प्रतिष्ठापनसमितिअतिचार— १. कायभूम्यशोधनं मलसंपातदेशानिरूपणादि पवनसन्निवेशदिनकरादिपूर्वक्रमेण वृत्तिश्च प्रतिष्ठापनासमित्यतिचारः । (भ. आ. विजयो. १६) । २. प्रतिष्ठापनसमितेः (अतिचारः) काय-भूम्यशोधनं मलसंपातदेशानिरूपणमित्यादिकः । (भ. आ. मूला. १६) ।

२ शरीर व भूमि को शुद्ध नहीं करना, मलत्याग के स्थान का निरीक्षण नहीं करना, इत्यादि आचरण प्रतिष्ठापनासमिति को मलिन करने वाला है ।

प्रतिसारी—१. आदि-अवसाण-मज्झे गुरूवदेसेण एक्कबीजपदं । गेण्हिय हेट्ठिमगंथं बुज्झदि जा सा च पडिसारी ॥ (ति. प. ४–९८२) । २. बीजपदादो हेट्ठिमपदाइं चेव बीजपदट्ठियलिंगेण जाणंती पदिसारी णाम । (धव. पु. ६, पृ. ६०) ।

१ गुरु के उपदेश से ग्रन्थ के आदि, मध्य या अन्त के किसी एक बीजपद को ग्रहण करके उससे अधस्तनवर्ती शेष ग्रन्थ को जो बुद्धि जान लेती है उसे प्रतिसारी बुद्धिऋद्धि कहते हैं ।

प्रतिसूर्यगमन—१. पडिसूरी अपरस्या दिशः आदित्याभिमुखं गमनम् । (भ. आ. विजयो. २२२) । २. पडिसूरिं सूर्याभिमुखं गमनम् । (भ. आ. मला. २२२) ।

१ प्रखर सूर्य ताप के समय पश्चिम दिशा से पूर्व दिशा की ओर जाने को प्रतिसूरीगमन या प्रतिसूर्यगमन कहते हैं । यह एक कायक्लेश का प्रकार है ।

प्रतिसेवनाकुशील—१ः अविविक्तपरिग्रहाः परिपूर्णोभयाः कथञ्चिदुत्तरगुणविराधिनः प्रतिसेवनाकुशीलाः । (स. सि. ९–४६; त. वा. ९, ४६, ३) । २. प्रतिसेवनाकुशीलाः नैर्ग्रन्थ्यं प्रति प्रस्थिता अनियमितेन्द्रियाः कथञ्जित् किञ्चिदुत्तरगुणेषु विराधयन्तश्चरन्ति ते प्रतिसेवनाकुशीलाः । (त. भा. ९–४८) । ३. प्रतिसेवनाकुशीलो मूलगुणानविराधयन् उत्तरगुणेषु काञ्चिद् विराधनां प्रतिसेवते । (त. वा. ९, ४७, ४) । ४. परिपूर्णोभयाः जातूत्तरगुणविरोधिनः । प्रतिसेवनाकुशीला ये अविविक्तःपरिग्रहाः ॥ (ह. पु, ६४–६१) । ५. आसेवनं भजनं प्रतिसेवना, तया कुत्सितं शीलमेषामिति प्रतिसेवनाकुशीलाः । (त. भा. हरि. वृ. ९–४९) । ६. कथंचिदुत्तरगुणविराधनं प्रतिसेवना ग्रीष्मे जंघाप्रक्षालनवत् । (त. श्लो. ९–४६) । ७. आसेवनं भजनं प्रतिसेवना, तया कुत्सितं शीलं येषामिति प्रतिसेवनाकुशीलाः, ××× तत्र तयोः (प्रतिसेवना-कषायकुशीलयोः) प्रतिसेवनाकुशीला नैर्ग्रन्थ्यं प्रति प्रस्थिता अनियमितेन्द्रियाः—इन्द्रियनियमशून्या रूपादिविषये क्षणकृतादराः कथञ्चित्—केनचित्प्रकारेण व्याजमुपदिश्य किञ्चिदेवोत्तरगुणेषु पिण्डविशुद्धि-समिति-भावना-तपः-प्रतिमाऽभिग्रहादिषु विराधयन्तः—खण्डयन्तोऽतिचरन्तः सर्वज्ञाज्ञोल्लंघनमाचरन्ति ते प्रतिसेवनाकुशीलाः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–४८) । ८. तत्राविविक्तपरिग्रहाः परिपूर्णमूलोत्तरगुणाः कथञ्चिदुत्तरगुणविरोधिनः प्रतिसेवनाकुशीला ग्रीष्मे जंघाप्रक्षालनादिसेवनवदिति । (चा. सा. पृ. ४५) । ९. प्रतिसेवनाकुशीला अविविक्तपरिग्रहाः सम्पूर्णमूलोत्तरगुणाः कदाचिद् कथंचिदुत्तरगुणानां विराधनं विदधतः प्रतिसेवनाकुशीला भवन्ति । (त. वृत्ति श्रुत. ९–४६) ।

औपशमिक आदि भावों की अपेक्षा जो वचन कहा जाता है वह प्रतीत्यसत्य कहलाता है।

प्रत्यक्ष—१. जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिदियं च पच्छण्णं। सकलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं॥ (प्रव. सा. १–५४); जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं॥ (प्रव. सा. १–५८)। २. मुत्तममुत्तं दव्वं चेयणमियरं सगं च सव्वं च। पेच्छंतस्स दु णाणं पच्चक्खमणिदियं होइ॥ (नि. सा. १६६)। ३. अश्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा, तमेव प्राप्तक्षयोपशमं प्रक्षीणावरणं वा प्रति नियतं प्रत्यक्षम्। (स. सि. १–१२)। ४. अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम्। प्रत्यक्षं ×××॥ (न्यायाव. ४; षड्द. स. ५६, पृ. २२३); प्रत्यक्षप्रतिपन्नार्थप्रतिपादि च यद्वचः। प्रत्यक्षं प्रतिभासस्य निमित्तत्वात्तदुच्यते। (न्यायाव. १२२)। ५. जीवो अक्खो अत्थव्वावण-भोयणगुणण्णिओ जेणं। तं पइ वट्टइ नाणं जं पच्चक्खं तयं तिविहं॥ (विशेषा. ८९)। ६. जीवो अक्खो तं पइ जं वट्टति तं तु होइ पच्चक्खं। (बृहत्क. २५); अपरायत्तं नाणं पच्चक्खं तयं तिविहमोहिमाईयं। (बृहत्क. २९)। ७. **इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षम्।** इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि पञ्च, अनिन्द्रियं मनः, तेष्वपेक्षा यस्य न विद्यते। अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं व्यभिचारः, सोऽतीतोऽस्य। आकारो विकल्पः, यत् सह आकारेण वर्तते तत्प्रत्यक्षमित्युच्यते। (त. वा. १, १२, १)। ८. ज्ञानस्यैव विशदनिर्भासिनः प्रत्यक्षत्वम्। (लघीय. स्वो. वि. ३)। ९. प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं ×××। (प्रमाणसं. २); आत्मनियतं प्रत्यक्षम्। (प्रमाणसं. स्वो. वृ. ८५)। १०. प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा। द्रव्य-पर्यायि-सामान्य-विशेषार्थात्मवेदनम्॥ (न्यायवि. १–३; त. श्लो. १, १२, ४)। ११. यत्पुनरिन्द्रियादिनिमित्तनिरपेक्षमात्मन एवोपजायते अवध्यादि तत्प्रत्यक्षम्। (त. भा. हरि. वृ. १–१०)। १२. तत्र प्रतिगतमक्षं प्रत्यक्षम्। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ६९)। १३. जीवोऽक्षः। कथं? अशू व्याप्तावित्यस्य ज्ञानात्मनाऽश्नुतेऽर्थानित्यक्षः, व्याप्नोतीत्यर्थः, अश भोजन इत्यस्य वा अश्नाति सर्वानर्थानित्यक्षः, पालयति भुंक्ते चेत्यर्थः, तमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षम्, आत्मनः अपरनिमित्तमवध्याद्यतीन्द्रियमिति भावार्थः। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. २७)। १४. अक्षाणीन्द्रियाणि, अक्षमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षं विषयोऽक्षजो बोधो वा। (धव. पु. १, पृ. १३५); अक्ष आत्मा, अक्षमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षमवधि-मनःपर्यय-केवलानीति। (धव. पु. ९, पृ. १४३); परेषामायत्तं ज्ञानं परोक्षम्, तदन्यत् प्रत्यक्षमिति। (धव. पु. १३, पृ. २१२)। १५. प्रत्यक्षस्य वैशद्यं स्वरूपम्। (अष्टस. पृ. १३२)। १६. विशदज्ञानात्मकं प्रत्यक्षम्। (प्रमाणप. पृ. ६७)। १७. प्रत्यक्षं पुनरश्नाति अश्नुते वाऽर्थानित्यक्षः आत्मा, तस्याक्षस्येन्द्रिय-मनांस्यनपेक्ष्य यत् स्वत एवोपजायते तत्प्रत्यक्षम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–६)। १८. इन्द्रियानिन्द्रियापेक्षमुक्तमव्यभिचारि च। साकारग्रहणं यत्स्यात् तत्प्रत्यक्षं प्रचक्ष्यते। (त. सा. १–१७)। १९. यत्पुनरन्तःकरणमिन्द्रियं परोपदेशमुपलब्धिसंस्कारमालोकादिकं वा समस्तमपि परद्रव्यमनपेक्ष्यात्मस्वभावमेवैकं कारकत्वेनोपादाय सर्वद्रव्य-पर्यायजातमेकपद एवाभिव्याप्य प्रवर्तमानं परिच्छेदनं तत्केवलादेवात्मनः सम्भूतत्वात् प्रत्यक्षमित्यालक्ष्यते। (प्रव. सा. अमृत. वृ. १–५८)। २०. स्वार्थसंवेदनं स्पष्टमध्यक्षं मुख्य-गौणतः। (सन्मति. अभय. वृ. पृ. ५५२ उद्.)। २१. विशदं प्रत्यक्षम्। (परीक्षा. २-३)। २२. प्रत्यक्षं स्वार्थव्यवसायात्मकम्, प्रमाणत्वादनुमानवत्। (न्यायकु. १–३, पृ. ४८); विशदनिर्भासिनः—परमुखाऽपेक्षितया स्व-परस्वरूपयोः स्पष्टप्रतिभासस्य प्रत्यक्षत्वं प्रत्यक्षप्रमाणता। (न्यायकु. १–३, पृ. ६७)। २३. स्वयं दृष्टं प्रत्यक्षम्। (नीतिवा. १५–३)। २४. यत्स्पष्टावभासं तत्प्रत्यक्षम्। (प्रमाणनि. पृ. १४)। २५. यदि पुनः पूर्वोक्तसमस्तपरद्रव्यमनपेक्ष्य केवलाच्छुद्ध-बुद्धैकस्वभावात् परमात्मनः सकाशात् समुत्पद्यते ततोऽक्षनामानमात्मानं प्रतीत्योत्पद्यमानत्वात् प्रत्यक्षं भवतीति सूत्राभिप्रायः। (प्रव. सा. जय. वृ. १–५८)। २६. ज्ञानेनाक्ष्णोति व्याप्नोतीत्यक्ष आत्मा स्वगोचरम्। तमेवाक्षं प्रति गतं प्रत्यक्षमिति वर्ण्यते॥ (आचा. सा. ४–५६)। २७. स्पष्टं प्रत्यक्षम्। (प्र. न. त. २–२); स्पष्टं विशदं यद्विज्ञानं तत्प्रत्यक्षमिति। (स्याद्वादर. २–२)। २८. अश्नाति भुङ्क्ते अश्नुते वा व्याप्नोति ज्ञानेनार्थानित्यक्ष आत्मा, तं प्रति यद् वर्तते इन्द्रिय-मनोनिरपेक्षत्वेन

च गच्छमाणे अणुव्वजणं ।। कायाणुरूवमद्दणकरणं कालाणुरूवपडियरणं । संथारभणियकरणं उवयरणाणं च पडिलिहणं ।। इच्चेवमाइ काइय विणओ रिसि-सावयाण कायव्वो । जिणवयणमणुगणंतेण देसविरएण जहजोग्गं ।। इय पच्चक्खो एसो भणिओ × × ×। (वसु. श्रा. ३२८-३१)। ३. अभ्युत्थानं नतिः सूरावागच्छति सति स्थिते । स्थानं नीचैर्निविष्टेऽपि शयनोच्चासनोज्झनम् ।। गच्छत्यनुगमो वक्तर्येनुकूलं वचो मनः । प्रमोदीत्यादिकं चैवं पाठकादिचतुष्टये ।। आचार्यादिष्वसत्स्वेवं स्थविरस्य मुनेर्गणे। प्रतिरूपकालयोग्या क्रिया चान्येषु साधुषु ।। आर्या-देश-यमाऽसंयतादिपूचितसत्क्रिया ।। कर्तव्या चेत्यदः प्रत्यक्षोपचारोपलक्षणम् ।। (आचा. सा. ६, ७८-८१) ।

१ आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक और गणधर आदि गुरुजनों के सम्मुख आनेपर उठ खड़े होना; उनके सम्मुख जाना, हाथ जोड़ना, वन्दना करना, उनके जानेपर पीछे जाना, रत्नत्रय के प्रति बहुत आदर रखना, सब काल के योग्य अनुकूल क्रियाओं को यथाक्रम से करना, मन, वचन व काय को वश में रखना, उत्तम शील से युक्त होना, धर्मानुकूल कथा को कहना, उसके सुनने में भक्ति रखना; अरहन्त, धर्मायतन और गुरु में भक्ति रखना, दोषों को छोड़ना, तथा जो गुणों में वृद्ध हैं उनकी सेवा करना, उनके साथ सम्भाषण करना, उनका अनुसरण एवं पूजा करना; यह सब प्रत्यक्षोपचारविनय कहलाता है ।

प्रत्यनीक—१. आहारस्स उ काले नीहारस्सावि होइ पडिणीयं । (प्रव. सारो. १६५) । २. प्रत्यनीकमाहारादिकाले वन्दनम् । (योगशा. स्वो. विव. ३-१३०) । ३. आहारस्स नीहारस्स वा—उच्चारादेः काले वन्दमानस्य भवति प्रत्यनीकवन्दनकमिति (प्रव. सारो. वृ. गा. १६५) ।

१ आहार-नीहार आदि के समय गुरु जनों की वन्दना करने में प्रत्यनीक नामक दोष होता है । कृतिकर्म के ३२ दोषों में यह १७वां है ।

प्रत्यभिज्ञा—देखो प्रत्यभिज्ञान ।

प्रत्यभिज्ञान—१. तदेवेमित्याकारं ज्ञानं संज्ञा प्रत्यभिज्ञा, तादृशमेवेदमित्याकारं वा विज्ञानं संज्ञा । (प्रमाणप. पृ. ६९) । २. तदेवेदं तत्सदृशम् इति वा प्रत्यभिज्ञा । (सिद्धिवि. वृ. १-२३, पृ. १०६) । ३ दर्शन-स्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि । (परीक्षा. ३-५) । ४. स एवायं तेन सदृशोऽयमिति वा एकत्व-सादृश्याभ्यां पदार्थानां सङ्कलनं प्रत्यवमर्शः । × × × पूर्वं ज्ञातस्य पुनः कालान्तरे 'स एवायम्' इति ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् । (न्यायकु. ३-१०, पृ. ४११) । ५. दर्शन-स्मरणकारणकम्—दर्शन-स्मरणे कारणे यस्य तत्तथोक्तम्, सङ्कलनं विवक्षितधर्मयुक्तत्वेन प्रत्यवमर्शनं प्रत्यभिज्ञानम् । (प्र. क. मा. ३-५, पृ. ३३८) । ६. अनुभव-स्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं सङ्कलनात्मकज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् । (प्र. न. त. ३-५, जैनत. पृ. ११६) । ७. प्रत्यभिज्ञा स एवायमिति ज्ञानम् । (आ. मी. वसु. वृ. ४०); वस्तुनः पूर्वापरकालव्याप्तिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् । (आ. मी. वसु. वृ. ५६) । ८ दर्शन-स्मरणसम्भवं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम् । (प्रमाणमी. २-४) । ९. प्रत्यक्ष-स्मृतिहेतुकं सङ्कलनमनुसन्धानं प्रत्यभिज्ञानम् संज्ञा । (लघीय. अभय. वृ.,पृ. २९) । १०. अनुभव-स्मृतिहेतुकं सङ्कलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् । (न्यायदी. ३, पृ. ५६) । ११. अनुभवस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम् । (षड्द. स. वृ. ५५, पृ. २०९) ।

१ 'वही यह है' इस प्रकार के आकारवाले ज्ञान को अथवा 'यह उसी प्रकार का है' इस प्रकार के आकारवाले ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं । प्रत्यभिज्ञान, प्रत्यवमर्श और संज्ञा ये उसीके नामान्तर हैं । ३ दर्शन (प्रत्यक्ष) और स्मरण के निमित्त से होनेवाले संकलनात्मक ज्ञान को—जैसे यह वही है, यह उसके समान है, यह उससे भिन्न है, अथवा यह उसका प्रतियोगी है; इत्यादि आकारवाले ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । ६ अनुभव और स्मरण के निमित्त से जो तिर्यक् सामान्य व ऊर्ध्वता सामान्य आदि को विषय करनेवाला संकलनात्मक ज्ञान होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहा जाता है ।

प्रत्यभिज्ञानाभास—१. सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम् । (परीक्षा. ६-९) । २. तुल्ये पदार्थे स एवायमित्येकस्मिश्च तेन तुल्य इत्यादि ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानाभा-

सम्। (प्र. न. त. ६-३३)। ३. अतत्सदृशे तत्सदृशमिदमतस्मिंस्तदेवेदमित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासः। लघीय. अभय. वृ. पृ. ४६)।

१ सदृश वस्तु में 'यह वही है' इस प्रकार के ज्ञान को, तथा उसी पदार्थ में 'यह उसके सदृश है' इस प्रकार के ज्ञान को प्रत्यभिज्ञानाभास कहते हैं।

प्रत्यय—प्रतीयतेऽनेनार्थ इति प्रत्ययः—ज्ञानकारणं घटादि। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ६०)।

'प्रतीयते अनेन अर्थ इति प्रत्ययः' इस निरुक्ति के अनुसार जिसके द्वारा—जिसके आश्रय से—पदार्थ की प्रतीति होती है यह प्रत्यय कहलाता है। अभिप्राय यह है कि ज्ञान के विषयभूत घट आदि को प्रत्यय कहा जाता है।

प्रत्ययकषाय—१. पच्चयकसाओ णाम कोहवेयणीयस्स कम्मस्स उदएण जीवो कोहो होदि, तम्हा तं कम्मं पच्चयकसाएण कोहो। (कसायपा. चू. १-४५, पृ. २१)। २. होंति कसायाणं बन्धकारणं जं स पच्चयकसायो। सद्दातियो त्ति केई ण समुप्पत्तीय भिण्णो सो॥ (विशेषा. भा. ३५३०, पृ. ६६६, ला. द. सीरीज)। ३. प्रत्ययकषायः खल्वान्तरकारणविशेषः तत्पुद्गललक्षणः। (आव. नि. हरि. वृ. ९१८, पृ. ३६०)। ४. जीवादो अभिण्णो होदूण जो कसाए समुप्पादेदि सो पच्चयो णाम। (जयध. १, पृ. २८६)। ५. प्रत्ययकषायाः कसायाणं ये प्रत्ययाः—यानि कारणानि, ते चेह मनोज्ञेतरभेदा शब्दादयः, अत एवोत्पत्ति-प्रत्यययोः कार्यकारणगतो भेदः। (आचारा. नि. शी. वृ. १९०, पृ. ८२)।

१ क्रोधवेदनीय कर्म के उदय से जीव क्रोध होता है—क्रोधरूप परिणत होता है, इसी कारण उसे प्रत्ययकषाय की अपेक्षा क्रोध कहा जाता है। २ कर्मरूप कषायों के बन्ध का कारण जो अभिप्रायविशेष है उसका नाम प्रत्ययकषाय है।

प्रत्ययक्रिया—१. प्रत्ययक्रिया अपूर्वाद्युत्पादनेन। (त. भा. हरि. वृ. ६–६)। २. प्रत्ययक्रिया तु यदपूर्वस्य पापादानकारिणोऽधिकरणस्योत्प्रेक्ष्य स्व-स्वबुद्धया निष्पादनम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–६)।

२ पापास्रव के कारणभूत अपूर्व अधिकरण की कल्पना करके अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार उत्पन्न करना, इसका नाम प्रत्ययक्रिया है।

प्रत्यवस्थापन—प्रति इति परोक्तदूषणप्रातिकूल्येनावस्थीयते अन्तर्भूतण्यर्थत्वादवस्थाप्यते—युक्तिपुरस्सरं निर्दोषमेतदिति शिष्यबुद्धावारोप्यते येन तत् प्रत्यवस्थापनम्—प्रतिवचनम्। (बृहत्क. क्षे. वृ. ८०८)।

'प्रत्यवस्थापन' में 'प्रति' का अर्थ दूसरों के द्वारा दिये गये दोषों की प्रतिकूलता है तथा 'अवस्थापन' का अर्थ युक्तिपूर्वक 'यह निर्दोष है' इस प्रकार शिष्य की बुद्धि में आरोपित करना है। तदनुसार अभिप्राय यह हुआ कि दूसरों के द्वारा दिये गये दूषणों का युक्तिपूर्वक निराकरण करके शिष्य को यह विश्वास करा देना कि यह सर्वथा निर्दोष है, इसका नाम प्रत्यवस्थापन है।

प्रत्यवेक्षण—१. प्रत्यवेक्षणं चाक्षुषो व्यापारः। जन्तवः सन्ति न सन्ति वेति प्रत्यवेक्षणं चाक्षुषो व्यापारः प्रतीयते। (त. वा. ७, ३४, १)। २. प्रत्यवेक्षणं—चक्षुषा निरीक्षणं स्थण्डिलस्य सचित्ताचित्त-मिश्र-स्थावर-जङ्गमजन्तुशून्यता। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–२६)। ३. तत्र जन्तवः सन्ति न सन्ति वेति प्रत्यवेक्षणं चक्षुषो व्यापारः। (चा. सा. पृ. १२)। ४. अत्र प्राणिनो विद्यन्ते न वा विद्यन्ते इति निजबुद्ध्या निजचक्षुषा पुनर्निरीक्षणं प्रत्यवेक्षितमुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७–३४)। ५. जीवाः सन्ति न वा सन्ति कर्तव्यं प्रत्यवेक्षणम्। चक्षुर्व्यापारमात्रं स्यात् सूत्रात्तल्लक्षणं यथा॥ (लाटीसं. ६–२०६)।

१ जन्तु हैं या नहीं हैं, इस प्रकार का जो चक्षु का व्यापार है—उसके द्वारा निरीक्षण करना है, इसका नाम प्रत्यवेक्षण है।

प्रत्यवेक्षित—देखो प्रत्यवेक्षण।

प्रत्याख्यातसेवा— × × × प्रत्याख्यातसेवोज्झितांशनम्। (अन. ध. ५–४८); प्रत्याख्यातसेवा नाम अन्तरायः स्यात् × × × उज्झितस्य देव-गुरुसाक्षिकं प्रत्याख्यातस्य वस्तुनोऽशनं खादनम्। (अन. ध. स्वो. टी. ५–४८)।

देव या गुरु की साक्षीपूर्वक छोड़ी हुई वस्तु के खा लेने पर प्रत्याख्यातसेवा नामक भोजन का अन्तराय होता है।

च गच्छमाणे अणुव्वजणं ।। कायाणुरूवमद्दणकरणं कालाणुरूवपडियरणं । संथारभणियकरणं उवयरणाणं च पडिलिहणं ।। इच्चेवमाइ काइय विणओरिसि-सावयाण कायव्वो । जिणवयणमणुगणंतेण देसविरएण जहजोग्गं ।। इय पच्चक्खो एसो भणिओ × × × ।(वसु. श्रा. ३२८-३१)। ३. अभ्युत्थानं नतिः सूरावागच्छति सति स्थिते । स्थानं नीचैर्निविष्टेऽपि शयनोच्चासनोज्झनम् ।। गच्छत्यनुगमो वक्तर्यनुकूलं वचो मनः । प्रमोदीरयादिकं चैवं पाठकादिचतुष्टये ।। आचार्यादिष्वसत्स्वेवं स्थविरस्य मुनेर्गणे। प्रतिरूपकालयोग्या क्रिया चान्येषु साधुषु ।। आर्या-देश-यमाऽसंयतादिषूचितसत्क्रिया ।। कर्तव्या चेत्यदः प्रत्यक्षोपचारोपलक्षणम् ।। (आचा. सा. ६, ७८-८१) ।

१ आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक और गणधर आदि गुरुजनों के सम्मुख आनेपर उठ खड़े होना; उनके सम्मुख जाना, हाथ जोड़ना, वन्दना करना, उनके जानेपर पीछे जाना, रत्नत्रय के प्रति बहुत आदर रखना, सब काल के योग्य अनुकूल क्रियाओं को यथाक्रम से करना, मन, वचन व काय को वश में रखना, उत्तम शील से युक्त होना, धर्मानुकूल कथा को कहना, उसके सुनने में भक्ति रखना; अरहन्त, धर्मायतन और गुरु में भक्ति रखना, दोषों को छोड़ना, तथा जो गुणों में वृद्ध हैं उनकी सेवा करना, उनके साथ सम्भाषण करना, उनका अनुसरण एवं पूजा करना; यह सब प्रत्यक्षोपचारविनय कहलाता है ।

प्रत्यनीक—१. आहारस्स उ काले नीहारस्सावि होइ पडिणीयं । (प्रव. सारो. १६५) । २. प्रत्यनीकमाहारादिकाले वन्दनम् । (योगशा. स्वो. विव. ३-१३०) । ३. आहारस्स नीहारस्स वा—उच्चारादेः काले वन्दमानस्य भवति प्रत्यनीकवन्दनकमिति (प्रव. सारो. वृ. गा. १६५) ।

१ आहार-नीहार आदि के समय गुरु जनों की वन्दना करने में प्रत्यनीक नामक दोष होता है । कृतिकर्म के ३२ दोषों में यह १७वां है ।

प्रत्यभिज्ञा—देखो प्रत्यभिज्ञान ।

प्रत्यभिज्ञान—१. तदेवेमित्याकारं ज्ञानं संज्ञा प्रत्यभिज्ञा, तादृशमेवेदमित्याकारं वा विज्ञानं संज्ञा। (प्रमाणप. पृ. ६९) । २. तदेवेदं तत्सदृशम् इति वा प्रत्यभिज्ञा । (सिद्धिवि. वृ. १-२३, पृ. १०६) । ३ दर्शन-स्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि । (परीक्षा. ३-५) । ४. स एवायं तेन सदृशोऽयमिति वा एकत्व-सादृश्याभ्यां पदार्थानां सङ्कलनं प्रत्यवमर्शः । × × × पूर्व ज्ञातस्य पुनः कालान्तरे 'स एवायम्' इति ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् । (न्यायकु. ३-१०, पृ. ४११) । ५. दर्शन-स्मरणकारणकम्—दर्शन-स्मरणे कारणे यस्य तत्तथोक्तम्, सङ्कलनं विवक्षितधर्मयुक्तत्वेन प्रत्यवमर्शनं प्रत्यभिज्ञानम् । (प्र. क. मा. ३-५, पृ. ३३८) । ६. अनुभव-स्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं सङ्कलनात्मकज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् । (प्र. न. त. ३-५, जैनत. पृ. ११९) । ७. प्रत्यभिज्ञा स एवायमिति ज्ञानम् । (आ. मी. वसु. वृ. ४०); वस्तुनः पूर्वापरकालव्याप्तिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् । (आ. मी. वसु. वृ. ५६) । ८ दर्शनस्मरणसम्भवं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम् । (प्रमाणमी. २-४) । ९. प्रत्यक्ष-स्मृतिहेतुकं सङ्कलनमनुसन्धानं प्रत्यभिज्ञानम् संज्ञा । (लघीय. अभय. वृ.,पृ. २९) । १०. अनुभव-स्मृतिहेतुकं सङ्कलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्। (न्यायदी. ३, पृ. ५६) । ११. अनुभवस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम् । (षड्द. स. वृ. ५५, पृ. २०९) ।

१ 'वही यह है' इस प्रकार के आकारवाले ज्ञान को अथवा 'यह उसी प्रकार का है' इस प्रकार के आकारवाले ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं । प्रत्यभिज्ञान, प्रत्यवमर्श और संज्ञा ये उसीके नामान्तर हैं । ३ दर्शन (प्रत्यक्ष) और स्मरण के निमित्त से होनेवाले संकलनात्मक ज्ञान को—जैसे यह वही है, यह उसके समान है, यह उससे भिन्न है, अथवा यह उसका प्रतियोगी है; इत्यादि आकारवाले ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । ६ अनुभव और स्मरण के निमित्त से जो तिर्यक् सामान्य व ऊर्ध्वता सामान्य आदि को विषय करनेवाला संकलनात्मक ज्ञान होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहा जाता है ।

प्रत्यभिज्ञानाभास—१. सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम् । (परीक्षा. ६-९) । २. तुल्ये पदार्थे स एवायमित्येकस्मिश्च तेन तुल्य इत्यादि ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानाभा-

सम् । (प्र. न. त. ६-३३)। ३. अतत्सदृशे तत्सदृशमिदमतस्मिंस्तदेवेदमित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासः । लघीय. अभय. वृ. पृ. ४६) ।

१ सदृश वस्तु में 'यह वही है' इस प्रकार के ज्ञान को, तथा उसी पदार्थ में 'यह उसके सदृश है' इस प्रकार के ज्ञान को प्रत्यभिज्ञानाभास कहते हैं ।

प्रत्यय—प्रतीयतेऽनेनार्थ इति प्रत्ययः—ज्ञानकारणं घटादि । (उत्तरा. नि. शा. वृ. ६०) ।

'प्रतीयते अनेन अर्थ इति प्रत्ययः' इस निरुक्ति के अनुसार जिसके द्वारा—जिसके आश्रय से—पदार्थ की प्रतीति होती है वह प्रत्यय कहलाता है । अभिप्राय यह है कि ज्ञान के विषयभूत घट आदि को प्रत्यय कहा जाता है ।

प्रत्ययकषाय—१. पच्चयकसाओ णाम कोहवेयणीयस्स कम्मस्स उदएण जीवो कोहो होदि, तम्हा तं कम्मं पच्चयकसाएण कोहो । (कसायपा. चू. १-४५, पृ. २१) । २. होंति कसायाणं बन्धकारणं जं स पच्चयकसायो । सद्दातियो त्ति केई ण समुप्पत्तीय भिण्णो सो ॥ (विशेषा. भा. ३५३०, पृ. ६६६, ला. द. सीरीज) । ३. प्रत्ययकषायः खल्वान्तरकारणविशेषः तत्पुद्गललक्षणः । (आव. नि. हरि. वृ. ९१८, पृ. ३९०) । ४. जीवादो अभिण्णो होदूण जो कसाए समुप्पादेदि सो पच्चयो णाम । (जयध. १, पृ. २८६) । ५. प्रत्ययकषायाः कसायाणं ये प्रत्ययाः—यानि कारणानि, ते चेह मनोज्ञेतरभेदा शब्दादयः, अत एवोत्पत्ति-प्रत्यययोः कार्यकारणगतो भेदः । (आचारा. नि. शी. वृ. १९०, पृ. ८२) ।

१ क्रोधवेदनीय कर्म के उदय से जीव क्रोध होता है—क्रोधरूप परिणत होता है, इसी कारण उसे प्रत्ययकषाय की अपेक्षा क्रोध कहा जाता है । २ कर्मरूप कषायों के बन्ध का कारण जो अभिप्रायविशेष है उसका नाम प्रत्ययकषाय है ।

प्रत्ययक्रिया—१. प्रत्ययक्रिया अपूर्वाधिकरणोत्पादनेन । (त. भा. हरि. वृ. ६-६) । २. प्रत्ययक्रिया तु यदपूर्वस्य पापादानकारिणोऽधिकरणस्योत्प्रेक्ष्य स्व-स्वबुद्धया निष्पादनम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-६) ।

२ पापास्रव के कारणभूत अपूर्व अधिकरण की कल्पना करके अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार उत्पन्न करना, इसका नाम प्रत्ययक्रिया है ।

प्रत्यवस्थापन—प्रति इति परोक्तदूषणप्रातिकूल्येनावस्थीयते अन्तर्भूतण्यर्थत्वादवस्थाप्यते—युक्तिपुरस्सरं निर्दोषमेतदिति शिष्यबुद्धावारोप्यते येन तत् प्रत्यवस्थापनम्—प्रतिवचनम् । (बृहत्क. क्षे. वृ. ८०८) ।

'प्रत्यवस्थापन' में 'प्रति' का अर्थ दूसरों के द्वारा दिये गये दोषों की प्रतिकूलता है तथा 'अवस्थापन' का अर्थ युक्तिपूर्वक 'यह निर्दोष है' इस प्रकार शिष्य की बुद्धि में आरोपित करना है । तदनुसार अभिप्राय यह हुआ कि दूसरों के द्वारा दिये गये दूषणों का युक्तिपूर्वक निराकरण करके शिष्य को यह विश्वास करा देना कि यह सर्वथा निर्दोष है, इसका नाम प्रत्यवस्थापन है ।

प्रत्यवेक्षण—१. प्रत्यवेक्षणं चाक्षुषो व्यापारः । जन्तवः सन्ति न सन्ति चेति प्रत्यवेक्षणं चाक्षुषो व्यापारः प्रतीयते । (त. वा. ७, ३४, १) । २. प्रत्यवेक्षणं—चक्षुषा निरीक्षणं स्थण्डिलस्य सचित्ताचित्त-मिश्र-स्थावर-जङ्गमजन्तुशून्यता । (त. भा. सिद्ध. वृ. ७-२९) । ३. तत्र जन्तवः सन्ति न सन्ति वेति प्रत्यवेक्षणं चक्षुषो व्यापारः । (चा. सा. पृ. १२) । ४. अत्र प्राणिनो विद्यन्त न वा विद्यन्त इति निजबुद्धया निजचक्षुषा पुनर्निरीक्षणं प्रत्यवेक्षितमुच्यते । (त. वृत्ति श्रुत. ७-३४) । ५. जीवाः सन्ति न वा सन्ति कर्तव्यं प्रत्यवेक्षणम् । चक्षुर्व्यापारमात्रं स्यात् सूत्रात्तल्लक्षणं यथा ॥ (लाटीसं. ६-२०६) ।

१ जन्तु हैं या नहीं हैं, इस प्रकार का जो चक्षु का व्यापार है—उसके द्वारा निरीक्षण करना है, इसका नाम प्रत्यवेक्षण है ।

प्रत्यवेक्षित—देखो प्रत्यवेक्षण ।

प्रत्याख्यातसेवा—× × × प्रत्याख्यातसेवोज्झिताशनम् । (अन. ध. ५-४८); प्रत्याख्यातसेवा नाम अन्तरायः स्यात् × × × उज्झितस्य देवगुरुसाक्षिकं प्रत्याख्यातस्य वस्तुनोऽशनं खादनम् । (अन. ध. स्वो. टी. ५-४८) ।

देव या गुरु की साक्षीपूर्वक छोड़ी हुई वस्तु के खा लेने पर प्रत्याख्यातसेवा नामक भोजन का अन्तराय होता है ।

प्रत्याख्यान—१. णाणं सव्वे भावे पच्चक्खादि य परेत्ति णादूण । तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं ॥ (समयप्रा. ३६); कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावेण वज्झदि भविस्सं । तत्तो णियत्तदे जो सो पच्चक्खाणं हवे चेदा ॥ (समयप्रा. ४०४) । २. मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुहवारणं किच्चा । अप्पाणं जो झायदि पच्चक्खाणं हवे तस्स ॥ (नि. सा. ६५) । ३. णामादीणं छण्णं अजोगपरिवज्जणं तियरणेण । पच्चक्खाणं णेयं अणागयं चागमे काले ॥ (मूला. १–२७) । ४. आगन्तुकदोषाणां प्रत्याख्यानं तु वर्ण्यतेऽपोहः । (ह. पु. ३४–१४६) । ५. प्रत्याख्यानं यत्र मूलगुणा उत्तरगुणाश्च धारणीया इत्ययमर्थः ख्याप्यते तत्प्रत्याख्यानम् । (त. भा. हरि. वृ. १–२०) । ६. प्रत्याख्यानं सर्वविरतिलक्षणम् ××× । (श्राव. नि. हरि. व मलय. वृ. ११०; कर्मप्र. यशो. १, पृ. ४); परिहरणीयं वस्तु वस्तु प्रति आख्यानं प्रत्याख्यानम् । (श्राव. नि. हरि. वृ. ८६४) । ७. प्रत्याख्यानं संयमः । (धव. पु. ६, पृ. ४३); पच्चक्खाणं संजमो महव्वयाइं ति एयट्ठो । (धव. पु. ६, पृ. ४४); महव्वयाणं विणासण-मलारोहणकारणाणि जहा ण होसंति तहा करेमि त्ति मणेणालोचिय चउरासीदिलक्खवदसुद्धिपडिग्गहो पच्चक्खाणं णाम । (धव. पु. ८, पृ. ८५); पच्चक्खाणं महव्वयाणि । (धव. पु. १३, पृ. ३६०) । ८. सगंगट्ठियदोसाणं दव्व-खेत्त-काल-भावविसयाणं परिच्चाओ पच्चक्खाणं णाम । (जयध. १, पृ. ११५) । ९. प्रत्याख्यानं नाम अनागतकालविषयां क्रियां न करिष्यामीति संकल्पः । (भ. श्रा. विजयो. ११६) । १०. आगाम्यागोनिमित्तानां भावानां प्रतिषेधनम् । प्रत्याख्यानं समादिष्टं विविक्तात्मविलोकिनः ॥ (योगसारप्रा. अमित. ५–५१) । ११. प्रत्याख्यानमनागतदोषापोहनमिति । (चा. सा. पृ. २६) । १२. प्रत्याख्यानमयोग्यद्रव्यपरिहारः, तपोनिमित्तं योग्यद्रव्यस्य वा परिहारः । (मूला. वृ. १–२२); नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानां षण्णाम् अनागतानां त्रिकरणैर्यदेतत्परिवर्जनम्, आगते चोपस्थिते च यदेतद्दोषपरिवर्जनं तत्प्रत्याख्यानं ज्ञातव्यम् । ××× अनागते वर्तमाने च काले द्रव्यादिदोषपरिहरणं प्रत्याख्यानम् ××× । तपोऽर्थं निरवद्यस्यापि द्रव्यादेः परित्यागः प्रत्याख्यानम् । (मूला. वृ. १–२७) । १३. यन्नाम-स्थापनादीनामयोग्यपरिवर्जनम् । त्रिशुद्धयाऽनागते काले तत्प्रत्याख्यानमीरितम् ॥ (आचा. सा. १–३८) । १४. प्रत्याख्यानं आ मर्यादया सर्वविरतिरूपम् ××× । (स्थाना. अभय. वृ. २४६, पृ. १८३)। १५. प्रत्याख्यानं सर्वविरतिरूपम् ××× । (शतक. मल. हेम. वृ. ३८) । १६. प्रति प्रवृत्तिप्रतिकूलतया, आ मर्यादया, ख्यानं प्रकथनं प्रत्याख्यानम् । (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०, पृ. २५१) । १७. तथा परिहरणीयं वस्तु प्रति आख्यानं—गुरुसाक्षिकनिवृत्तिकथनं । (श्राव. नि. मलय. वृ. ८६४)। १८. प्रत्याख्यानं सर्वविरत्याख्यं ××× । (कर्मस्त. गो. वृ. ६, पृ. ८४) । १९. प्रत्याख्यानं त्रिविधाहारपरित्यागः । (अन. ध. स्वो. टी. २–६८; भ. आ. मूला. ७०); प्रत्याख्यानं भाविकर्मणां शुभाशुभकर्मविपाकानामात्मनोऽत्यन्तभेदेनोपलम्भनम् । (अन. ध. स्वो. टी. ८–६४) । २०. सर्वसावद्यविरतिः प्रत्याख्यानमिहोच्यते । (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. १७, उद्.) । २१. प्रत्याख्यानं सकलसंयमः । (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. २८३) । २२. आगामिदोषनिराकरणं प्रत्याख्यानम् । (भावप्रा. टी. ७७) ।

१ ज्ञान सब भावों को जानकर—आत्मस्वरूप से भिन्न समझकर—उनका प्रत्याख्यान (परित्याग) करता है, इसी से ज्ञान को ही नियम से प्रत्याख्यान जानना चाहिए । शुभाशुभ कर्मों के बन्धक मिथ्यात्वादि भावों से निवृत्त होने वाला आत्मा ही निश्चय से प्रत्याख्यान कहलाता है । ३ नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव के भेद से छह प्रकार के अयोग्य का—पाप के कारणों का—वर्तमान व भविष्यकाल की अपेक्षा मन-वचन-काय से जो परित्याग किया जाता है, इसका नाम प्रत्याख्यान है । ४ आगन्तुक दोषों का जो परित्याग किया जाता है, इसे प्रत्याख्यान कहा जाता है । ५ जिस अंगबाह्य श्रुत में 'मूलगुणों और उत्तरगुणों को धारण करना चाहिए' यह अर्थ कहा जाता है उसका नाम प्रत्याख्यान श्रुत (अंगबाह्य श्रुत का एक भेद) है । ७ संयम अथवा महाव्रतों को प्रत्याख्यान कहते हैं । १९. तीन प्रकार के आहार का परित्याग करना, इसका नाम प्रत्याख्यान है । यह प्रत्याख्यान भक्तप्रत्याख्यानमरण को स्वीकार करने

वाला क्षपक जिन अर्हादिलिंगों का आराधक होता है उनके अन्तर्गत है।

प्रत्याख्यानकषाय—१. प्रत्याख्यानस्वभावाः स्युः संयमस्य विनाय[श]काः। (उपासका. ९२६)। २. प्रत्याख्यानं सकलसंयमम् आवृण्वन्तीति प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधादयः कृत्स्नसंयमशक्तिविघातिविपाकाः। (भ. आ. मूला. २०९६)। ३. प्रत्याख्यानावरणास्ते सकलचारित्रे महाव्रतपरिणामं कषन्ति, प्रत्याख्यानं सकलसंयममावृण्वन्तीति प्रत्याख्यानावरणा इति निरुक्तिवशात्। (गो. जी. म. प्र. व जी प्र. २८३)।

१ जो कषायें संयम—सकलसंयम—का विघात करती हैं उन्हें प्रत्याख्यान या प्रत्याख्यानावरण कषाय कहा जाता है।

प्रत्याख्यानकुशल—सीयालं भंगसयं पच्चक्खाणम्मि जस्स उवलद्धं। सो खलु पच्चक्खाणे कुसलो सेसा अकुसला उ॥ (श्राव. नि. अभिधा. ५, पृ. ९०, गा. १५)।

श्रावक धर्म के अन्तर्गत प्रत्याख्यानभेदों में एक सौ सैंतालीस (१४७) भंग होते हैं। वे जिसके उपलब्ध होते हैं वह प्रत्याख्यान में कुशल माना जाता है। (देखो श्रावकप्रज्ञप्ति गा. ३२९–३१)।

प्रत्याख्यानपूर्व—देखो प्रत्याख्यानप्रवाद। १. व्रत-नियम-प्रतिक्रमण - प्रतिलेखन-तपःकल्पोपसर्गाचार-प्रतिमाविराधनाराधनाविशुद्ध्युपक्रमाः श्रामण्यकारणं च परिमितापरिमितद्रव्य-भावप्रत्याख्यानं च यत्राख्यातं तत्प्रत्याख्याननामधेयम्। (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७६; धव. पु. ६, पृ. २२२)। २. पच्चक्खाणणामधेयं तीसण्हं वत्थूणं ३० छस्सयपाहुडाणं ६०० चउरासीदिलक्खपदेहि ८४००००० दव्व-भावपरिमियापरिमियपच्चक्खाणं उववासविहिं पंचसमिदीओ तिण्णि गुत्तीओ च परूवेदि। (धव. पु. १, पृ. १२१)। ३. पच्चक्खाणपवादो णाम-ट्ठवणा-दव्व-खेत्त-काल-भावभेदभिण्णं परिमियापरिमियं च पच्चक्खाणं वण्णेदि। (जयध. १, पृ. १४४)। ४. चतुरशीतिलक्षपदं द्रव्य-पर्यायाणां प्रत्याख्यानस्य निर्वृत्तेर्व्यावर्णकं प्रत्याख्यानं नामध्येयं संज्ञा यस्य तत् प्रत्याख्याननामध्येयम् ८४०००००। (श्रुतभ. टी. १२, पृ. १७६)। ५. द्रव्य-पर्यायरूपप्रत्याख्याननिश्चलनकथकं चतुरशीतिलक्षपदप्रमाणं प्रत्याख्यानपूर्वम्। (त. वृत्ति श्रुत. १२०)। ६. पच्चक्खाणं णवमं चउसीदिलक्खपयप्पमाणं तु। तत्थ वि पुरिसविसेसा परिमिदकालं च इदरं च॥ णाम ट्ठवणा दव्वं खेत्तं कालं पडुच्च भावं च। पच्चक्खाणं किज्जइ सावज्जाणं च बहुलाणं॥ उववासविहिं तस्स वि भावणभेयं च पंचसमिदिं च। गुत्तितियं तह वण्णदि उववासफलं विसुद्धस्स॥ अणागदमदिक्कंतं कोडिजुदमखंडिदं। सायारं च णिरायारं परिमाणं तहेतरं॥ तहा च वत्तणीयातं सहेदुगमिदि ठिदं। पच्चक्खाणं जिणेंदेहि दहभेयं पकित्तिदं॥ (अंगप. ९५–९९, पृ. २९८)।

१ जिसमें व्रत, नियम, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, तप, कल्प, उपसर्ग, आचार, प्रतिमाविराधन, प्रतिमा-आराधन और अविशुद्धि के उपक्रम का; साध्वाचार के कारण का तथा परिमित व अपरिमित द्रव्य-भावरूप प्रत्याख्यान का निरूपण किया गया है उसका नाम प्रत्याख्यानपूर्व है।

प्रत्याख्यानप्रवाद—देखो प्रत्याख्यानपूर्व। प्रत्याख्यानं नवमम्, तत्र सर्वं प्रत्याख्यानस्वरूपं वर्ण्यते इति प्रत्याख्यानप्रवादम्, तत्परिमाणं चतुरशीतिः पदशतसहस्राणीति। (समवा. अभय. वृ. १४७)।

जहां समस्त प्रत्याख्यानस्वरूप का वर्णन किया जाता है उसे प्रत्याख्यानप्रवाद कहते हैं। यह नौवां पूर्वगत-श्रुत है, जिसके पदों का प्रमाण चौरासी लाख है।

प्रत्याख्यानावरण—देखो प्रत्याख्यानकषाय। १. यदुदयाद्विरतिं कृत्स्नां संयमाख्यां न शक्नोति कर्तुं ते कृत्स्नं प्रत्याख्यानमावृण्वन्तः प्रत्याख्यानावरणाः क्रोध-मान-माया-लोभाः। (स. सि. ८–९)। २. प्रत्याख्यानावरणकषायोदयाद् विरताविरतिर्भवत्युत्तमचारित्रलाभस्तु न भवति। (त. भा. ८-१०)। ३. प्रत्याख्यानं सर्वविरतिलक्षणम्, तस्यावरणाः प्रत्याख्यानावरणाः। (श्राव. नि. हरि. वृ. ११०)। ४. प्रत्याख्यानमावृण्वन्ति मर्यादया ईषद्वेति प्रत्याख्यानावरणाः। आङ्मर्यादायामीषदर्थे वा, मर्यादायां सर्वविरतिमावृण्वन्ति न देशविरतिम्, ईषदर्थेऽपि ईषद् वृण्वन्ति सर्वविरतिमेव, न देशविरतिम्। (श्रा. प्र. टी. १७)। ५. पच्चक्खाणं संजमो महव्वयाइं ति एयट्ठो। पच्चक्खाणमावरेंति त्ति पच्चक्खाणावरणीया कोह-माण-माया-लोहा। (धव. पु. ६, पृ. ४४)। ६. मूलगुणप्रत्या-

ख्यानविघातवर्तिनः प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधादयः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१०)। ७. प्रत्याख्यानं मर्यादयाऽऽवृण्वन्ति ये ते प्रत्याख्यानावरणाः ते सर्वविरतिमावृण्वन्ति, न तु देशविरतिम्। (पंचसं. स्वो. वृ. ३–५)। ८. प्रत्याख्यानं संयममावृण्वन्तीति प्रत्याख्यानावरणाः। (मूला. वृ. १२–१९१)। ९. प्रत्याख्यानम् आ मर्यादया सर्वविरतिरूपमेवेत्यर्थो वृणोतीति प्रत्याख्यानावरणः। (स्थाना. अभय. वृ. ४, १, २४९)। १०. सर्वविरतिगुणविघाती प्रत्याख्यानावरणः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १४–१८८, पृ. २९१); तथा प्रत्याख्यानं सर्वविरतिरूपमाव्रियते यैस्ते प्रत्याख्यानावरणाः। आह च—सर्वसावद्यविरतिः प्रत्याख्यानमुदाहृतम्। तदावरणसंज्ञाऽतस्तृतीयेषु निवेशिता॥ (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३–२९३, पृ. ४६८; पंचसं. मलय. वृ. ३–५, पृ. ११२; कर्मप्र. यशो. वृ. १, पृ. ४)। ११. प्रत्याख्यानमावृण्वन्तीति प्रत्याख्यानावरणाः। (धर्मसं. मलय. वृ. ६१४)। १२. प्रत्याख्यानं सर्वविरतिरूपमावृण्वन्तीति प्रत्याख्यानावरणाः। (षडशी. मलय. वृ. ७६; कर्मवि. दे. स्वो. वृ. १७)। १३. सर्वविरतिरूपं हि प्रत्याख्यानमावृण्वन्तीति प्रत्याख्यानावरणा उच्यन्त इति। (कर्मस्त. गो. वृ. २, पृ. ७१); त एव क्रमेण रेणुरेखा-काष्ठ-गोमूत्रिका-खञ्जनरागसमानाश्चतुर्मासानुबन्धिनः प्रत्याख्यानावरणाः, प्रत्याख्यानं सर्वविरत्याख्यमावृण्वन्तीति कृत्वा ४। (कर्मस्त. गो. वृ. ९, पृ. ८४)। १४. प्रत्याख्यानावरणास्ते सकलचारित्रं महाव्रतपरिणामं कषन्ति, प्रत्याख्यानं सकलसंयममावृण्वन्ति घ्नन्ति इति प्रत्याख्यानावरणाः। (गो. जी. म. प्र. २८३)। १५. येषामुदयाज्जीवो महाव्रतं पालयितुं न शक्नोति ते प्रत्याख्यानावरणक्रोध-मान-माया-लोभाः। (त. वृत्ति श्रुत. ८–१०)।

१ जिनके उदय से जीव संयम नामक समस्त विरति (सकल चारित्र) के धारण करने में समर्थ नहीं होता है वे समस्त प्रत्याख्यान (संयम) का आवरण करने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ प्रत्याख्यानावरण कहलाते हैं। २ प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से विरताविरति (संयमासंयम) तो होती है, पर उत्तम चारित्र की प्राप्ति नहीं होती।

प्रत्याख्यानी (भाषा)—१. पच्चक्खाणी नाम केनचिद् गुरुमननुज्ञाप्य इदं क्षीरादिकं इयन्तं कालं मया प्रत्याख्यातम् इत्युक्तम्, कार्यान्तरमुद्दिश्य तत्कुर्विति उदितं गुरुणा, प्रत्याख्यानावधिकालो न पूर्ण इति नैकान्ततः सत्यता, गुरुवचनात् प्रवृत्तो न दोषायेति न मृषैकान्तः। (भ. आ. विजयो. ११९५)। २. प्रत्याख्यानमहं किंचित्त्यजामीति निवृत्तिवाक्। (आचा. सा. ५–८८)। ३. याचमानस्य प्रतिषेधवचनं प्रत्याख्यानी। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ११–१६५, पृ. २५९)। ४. पच्चक्खाणी प्रत्याख्यापनी यथा त्वां किञ्चित् त्याजयिष्यामि। (भ. आ. मूला. ११९५)। ५. प्रत्याख्यानी परिहरणभाषा इदं वर्जनीयमित्यादि। (गो. जी. म. प्र. २२५)। ६. इदं वर्जयामीत्यादि परिहरणभाषा प्रत्याख्यानी। (गो. जी. जी. प्र. २२५)।

१ किसी ने गुरु को अनुज्ञापित न करके यह कहा कि मैंने इतने काल के लिए इस दूध आदि का परित्याग किया है। इस प्रकार के वचन का नाम प्रत्याख्यानी भाषा है। कार्यान्तराय को उद्देश्य करके गुरु ने कहा—वह करो। प्रत्याख्यान का समय पूर्ण नहीं हुआ, इससे सर्वथा वह सत्य भी नहीं है, तथा गुरु की आज्ञा से प्रवृत्त हुआ, इसलिए दोषजनक नहीं होने से वह सर्वथा असत्य भी नहीं है। २ मैं कुछ का त्याग करता हूं, इस प्रकार के त्यागरूप वचन को प्रत्याख्यानी भाषा कहते हैं।

प्रत्यागाल—१. प्रत्यागलनं प्रत्यागालः, पढमट्ठिदिपदेसाणं विदियट्ठिदीए उक्कड्डुणावसेण गमणमिदि भणिदं होइ। (जयध. अ. प. ९५४)। २. प्रथमस्थितिद्रव्यस्योत्कर्षणवशात् द्वितीयस्थितौ गमनं प्रत्यागालः। (ल. सा. टी. ८८)।

१ प्रथम स्थिति के प्रदेशों के उत्कर्षण वश द्वितीय स्थिति में ले जाने को प्रत्यागाल कहते हैं।

प्रत्यामुण्डा—प्रत्यर्थमामुण्ड्यते सङ्कोच्यते मीमांसितोऽर्थः अनयेति प्रत्यामुण्डा। (धव. पु. १३, पृ. २४३)।

मीमांसित पदार्थ का जिस बुद्धि के द्वारा संकोच किया जाता है उसका नाम प्रत्यामुण्डा है। यह अवाय का नामान्तर है।

प्रत्यालीढस्थान—१. पच्चालीढं वामपायं अग्गतो हुत्तं काऊणं दाहिणपायं पच्छतो हुत्तं ऊसारेइ, एत्थवि अंतरा दोण्हवि पायाणं पंच पया। (आव. नि. मलय. वृ. १०३६, पृ. ५६७ उद्.)। २. यत्पुनर्वा-

ममूरुमग्रतोमुखमाचाय दक्षिणमूरं पश्चान्मुखमपसारयति अन्तरा वा [चा] आपि द्वयोरपि पादयोः पञ्चपादास्ततः पूर्वप्रकारेण युध्यते तत्प्रत्यालीढं स्थानमालीढस्य प्रतिपंथि विपरीतत्वात् प्रत्यालीढम् । (व्यव. भा. मलय. वृ. पी. द्वि. वि. २–३५) ।

१ प्रत्यालीढस्थान में बायें पांव को आगे की ओर करके दाहिने पांव को पीछे की ओर रखा जाता है। उन दोनों के बीच में पांच पदों का अन्तर रहता है।

प्रत्यावलिका—पडिआवलिया त्ति एदेण वि उदयावलियादो उवरिमविदियावलिया गहेयव्वा। (जयध. अ. प. ६५४)।

आवली से उपरिम आवली अर्थात् द्वितीय आवली को प्रत्यावली कहते हैं।

प्रत्याहार—१. समाकृष्येन्द्रियार्थेभ्यः साक्षं चेतः प्रशान्तधीः। यत्र यत्रेच्छया धत्ते स प्रत्याहार उच्यते। (ज्ञाना. ३०–१, पृ. ३०४)। २. स्थानात् स्थानान्तरोत्कर्षः प्रत्याहारः प्रकीर्तितः। (योगशा. ५–८)। ३. प्रत्याहारस्त्विन्द्रियाणां विषयेभ्यः समाहृतिः। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. ८, उद्. ४)।

१ ध्याता इन्द्रियों के साथ मन को इन्द्रियविषयों की ओर से हटा कर उसे इच्छानुसार जहां-जहां धारण करता है उसे प्रत्याहार कहा जाता है। २ तालु आदि स्थान से वायु को खींचकर जो उसका हृदयादि अन्य स्थान में उत्कर्षण (वृद्धिगत) किया जाता है उस को नाम प्रत्याहार है।

प्रत्युत्क्षेप—मुरज-कांसिकादिगीतोपकारकातोद्यानां ध्वनिः प्रत्युत्क्षेपः नर्तकीपदप्रक्षेपलक्षणो वा प्रत्युत्क्षेपः। (अनुयो. मल. हेम. वृ. १२७, १३२)।

मृदंग और कांसिक आदि गीतोपकारक बाजों की ध्वनि को प्रत्युत्क्षेप कहते हैं। अथवा नाचने वाली स्त्री के नृत्यकाल में पदप्रक्षेप को प्रत्युक्षेप कहते हैं।

प्रत्येककाय—देखो प्रत्येकाङ्ग।

प्रत्येकजीव—१. मूलग्ग-पोर-बीजा कंदा तह खंदबीज-बीजरुहा। समुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य। (मूला. ५–१६; प्रा पंचसं. १–८१; गो. जी. १८५); ××× तव्विरीयं च पत्तेयं॥ (मूला. ५–१६; गो. जी. १८६)। २. पत्र-पुष्प-मूल-फल-स्कन्धादीन् प्रति एको जीवो येषां ते प्रत्येकजीवाः। (आचारा. नि. शी. वृ. १२८, पृ. ५१)। ३. प्रत्येकशरीरिणश्च नारकामर-मनुष्य-द्वीन्द्रियादयः पृथिव्यादयः कपित्थादितरवश्च। (पंचसं. मलय. वृ. ३–८, पृ. ११६)। ४. एगसरीरे एगो जीवो जेसिं तु ते य पत्तेया। (जीववि. गा. १३, पृ. १)।

१ मूलबीज, अग्रबीज, पोरबीज, स्कन्ध; स्कन्धबीज, बीजरुह (बीज से उत्पन्न होने वाले गेहूं आदि) और सम्मूर्छिम; ये वनस्पतिकायिक जीव प्रत्येक भी होते हैं और अनन्तकाय (साधारण) भी। प्रत्येक साधारण से विपरीत होते हैं—उनकी शिरा, सन्धियां और पोर आदि प्रगट दिखते हैं। २ पत्ता, फूल, जड़, फल और स्कन्ध आदि के आश्रित जो एक एक जीव रहते हैं वे प्रत्येकजीव कहलाते हैं। ३ नारक, देव, मनुष्य, द्वीन्द्रिय आदि विकलेन्द्रिय, पृथिवी आदि तथा कैथ आदि वृक्ष ये प्रत्येकजीव माने जाते हैं।

प्रत्येकनाम—देखो प्रत्येकशरीरनाम। १. प्रत्येकनाम यदुदयादेको जीव एकमेव शरीरं निर्वर्तयति। (श्रा. प्र. टी. २३)। २. एक्किक्कयम्मि जीवे इक्किक्कं जस्स होइ उदएणं। ओरालाइसरीरं तं नामं होइ पत्तेयं॥ (कर्मवि. ग. १३८)। ३. स्वप्रदेशैरेकं शरीरमौदारिक-वैक्रियिकान्यतरद्व्याप्तं यदुदयाज्जीवेन तत्प्रत्येकनाम। (पंचसं. स्वो. ३, १२७, पृ. ३८)। ४. यस्योदयात् प्रत्येकं शरीरं भवत्येकैकस्य जीवस्यैकैकं शरीरं तत्प्रत्येकनाम। (शतक. मल. हेम. वृ. ३८)। ५. यदुदयात् जीवं जीवं प्रतिभिन्नं शरीरं तत्प्रत्येकनाम। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३–२९३, पृ. ४७४; पंचसं. मलय. वृ. ३–८, पृ. ११६; प्रव. सारो. वृ. १२७२)। ६. प्रत्येकनाम यदुदयादेको जीव एकं शरीरं निर्वर्तयति। (धर्मसं. मलय. वृ. ६२०)। ७. एकं एकं प्रति प्रत्येकम्, यस्योदये प्रत्येकजीवो भवति पृथग्जीवो भवति तत्प्रत्येकनाम। (कर्मवि. पू. व्या. ७४, पृ. ३३)। ८. यदुदयात् प्रतिजीवं भिन्नशरीरमुपजायते तत्प्रत्येकनाम। (कर्मप्र. यशो. वृ. १, पृ. ७)।

१ जिस नामकर्म के उदय से एक जीव एक ही शरीर की रचना करता है उसे प्रत्येकनामकर्म कहते हैं। २ जिसके उदय से एक एक जीव के एक

एक औदारिक आदि शरीर होता है उसका नाम प्रत्येकनामकर्म है।

प्रत्येकबुद्ध—देखो प्रत्येकबुद्धिऋद्धि। १. पत्तेय-बुद्धा पत्तेयं बाह्यं वृषभादिकारणमभिसमीक्ष्य बुद्धाः प्रत्येकबुद्धाः, बहिःप्रत्ययं प्रतिबुद्धानां च पत्तेयं णियमा विहारो जम्हा तम्हा य ते पत्तेयबुद्धा, जधा करकंडुमादतो। (नन्दी. चू. पृ. १६)। २. प्रत्येकमेकमात्मानं प्रति केनचिन्निमित्तेन सञ्जात-जातिस्मरणात् बल्कलचीरिप्रभृतयः करकण्ड्वाद-यश्च प्रत्येकबुद्धाः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १०-७, पृ. ३१०)। ३. प्रत्येकबुद्धास्तु बाह्यप्रत्ययेन वृषभा-दिना (बुध्यन्ते) करकण्ड्वादिवत्। (योगशा. स्वो. विव. ३-१२४, पृ. २३१)। ४. प्रत्येकबुद्धास्तु बाह्यप्रत्ययमपेक्ष्य—प्रत्येकं बाह्यवृषभादिकं कार-णमभिसमीक्ष्य—बुद्धाः प्रत्येकबुद्धा इति व्युत्पत्तेः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ७, पृ. १६)।

१ प्रत्येक अर्थात् बैल आदिरूप बाह्य कारण को देखकर जो प्रबोध को प्राप्त होते हैं वे प्रत्येकबुद्ध कहलाते हैं। जैसे—करकण्डु आदि।

प्रत्येकबुद्धसिद्ध—देखो प्रत्येकबुद्ध। प्रत्येकबुद्धाः सन्तो ये सिद्धाः ते प्रत्येकबुद्धसिद्धाः। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ५०); योगशा. स्वो. विव. ३-१२४, पृ. २३१; प्रज्ञाप. मलय. वृ. ७, पृ. १६)।

प्रत्येकबुद्ध होते हुए जो सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त हुए हैं वे प्रत्येकबुद्धसिद्ध कहलाते हैं।

प्रत्येकबुद्धसिद्धकेवलज्ञान—प्रत्येकबुद्धाः सन्तो ये सिद्धास्तेषां केवलज्ञानं प्रत्येकबुद्धसिद्धकेवलज्ञानम्। (आव. नि. मलय. वृ. ७८, पृ. ८४)।

प्रत्येकबुद्ध होकर सिद्ध होने वाले जीवों के केवल-ज्ञान को प्रत्येकबुद्धसिद्धकेवलज्ञान कहते हैं।

प्रत्येकबुद्धि-ऋद्धि—१. कम्माण उवसमेण य गुरू-वदेसं विणा वि पावेदि। सण्णाण-तवप्पगमं जीए पत्तेयबुद्धी सा॥ (ति. प. ४-१०२२)। २. परोप-देशमन्तरेण स्वशक्तिविशेषादेव ज्ञान-संयमविधाननि-पुणत्वं प्रत्येकबुद्धता। (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०२; चा. सा. पृ. ६)। ३. श्रुतज्ञानावरण-क्षयोपशमात् परोपदेशमन्तरेणाधिगतज्ञानातिशयाः प्रत्येकबुद्धाः। (भ. आ. विजयो. ३४)। ४. एकं केवलं परोपदेशनिरपेक्षं श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशम-विशेषं प्रतीत्य बुद्धाः संप्राप्तज्ञानातिशयाः प्रत्येक-बुद्धाः। (भ. आ. मूला. ३४)।

१ जिस ऋद्धि के प्रभाव से जीव गुरु के उपदेश के विना कर्मों के उपशम से ज्ञान और तप में अति-शय को प्राप्त करता है, वह प्रत्येकबुद्धिऋद्धि कहलाती है। २ परोपदेश के विना अपनी शक्ति विशेष से ही जो ज्ञान और संयम में निपुणता प्राप्त होती है इसका नाम प्रत्येक बुद्धिऋद्धि है।

प्रत्येकशरीर—देखो प्रत्येकाङ्ग व प्रत्येकजीव। १. प्रत्येकं पृथक् शरीरं येषां ते प्रत्येकशरीराः खदि-रादयो वनस्पतयः। (धव. पु. १, पृ. २३८); एक-मेकं प्रति प्रत्येकम्, प्रत्येकं शरीरं येषां ते प्रत्येक-शरीराः। (धव. पु. ३, पृ. ३३१); जेण जीवेण एक्केण चेव एक्कसरीरट्ठिएण सुह-दुःखमणुभवेदव्व-मिदि कम्ममुवज्जिदं सो जीवो पत्तेयसरीरो। × × × अहवा पत्तेयसरीरणामकम्मोदयवंतो वणप्फ-दिकाइया पत्तेयसरीरा। (धव. पु. ३, पृ. ३३३); एक्कस्सेव जीवस्स जं सरीरं तं पत्तेयसरीरं, तं [जेसिं] जीवाणं अत्थि ते पत्तेयसरीरा णाम। × × × अथवा पत्तेयं पुधभूदं सरीरं जेसिं ते पत्तेयसरीरा। (धव. पु. १४, पृ. २२५)। २. एकं जीवं प्रतिगतं यच्छरीरं प्रत्येकशरीरनामकर्मोदयात् तत्प्रत्येकं तदेव प्रत्येककम्। × × × शीर्यत इति शरीरं देहः × × ×। (स्थाना. अभय. वृ. १७, पृ. १८)।

१ जिन जीवों का पृथक् शरीर होता है वे प्रत्येक-शरीर कहलाते हैं। जैसे—खैर आदि वनस्पति। जिस एक जीव ने 'एक ही शरीर में स्थित रहकर सुख-दुःख का अनुभवन करना चाहिए' इस प्रकार के कर्म को उपार्जित किया है उसे प्रत्येकशरीरजीव कहते हैं।

प्रत्येकशरीरद्रव्यवर्गणा—देखो प्रत्येकशरीरि-द्रव्यवर्गणा। १. एक्कस्स जीवस्स एक्कम्हि देहे उवचिदकम्म-णोकम्मक्खंधो पत्तेयशरीरदव्ववग्गणा णाम। (धव. पु. १४, पृ. ६५)। २. पत्तेयशरीर-दव्ववग्गणा णाम पत्तेयसरीराणं उरालादीणं उरा-लिय-वेउव्वित-आहारग-तेय-कम्मतिगेसु विस्ससापरि-णामोपचिता पोग्गला एक्केकंमि सरीरकम्मपदेसे सव्वजीवाणं अणंतगुणओवचितातो. ताओ पत्तेयसरी-रदव्ववग्गणातो वुच्चंति। (कर्मप्र. चू. २०, पृ. ४२)।

१ एक जीव के एक शरीर में जो कर्म व नोकर्मरूप

स्कन्धों का उपचय होता है उसका नाम प्रत्येकशरीर-द्रव्यवर्गणा है।

प्रत्येकशरीरनाम—देखो प्रत्येकनाम। १. शरीरनामकर्मोदयान्निर्वर्त्यमानं शरीरमेकात्मोपभोगकारणं यतो भवति तत्प्रत्येकशरीरनाम। (स. सि. ८–११; मूला. वृ. १२–१६५; भ. आ. मूला. २१२४; गो. क. जी प्र. ३३)। २. पृथक्-शरीरनिर्वर्तकं प्रत्येकशरीरनाम। (त. भा. ८–१२)। ३. एकात्मोपभोगकारणशरीरता यतस्तत्प्रत्येकशरीरनाम। शरीरनामकर्मोदयात् निर्वर्त्यमानं शरीरमेकात्मोपभोगकारणं यतो भवति तत्प्रत्येकशरीरनामकर्म। एकमेकमात्मानं प्रति प्रत्येकम्, प्रत्येकं शरीरं प्रत्येकशरीरम्। (त. वा. ८, ११, १९)। ४. जस्स कम्मस्स उदएण जीवो पत्तेयसरीरो होदि तस्स कम्मस्स पत्तेयसरीरमिदि सण्णा। (धव. पु, ६, पृ. ६२); जस्स कम्मस्सुदएण एक्कसरीरे एक्को चेव जीवो जीवदि तं कम्मं पत्तेयसरीरणामं। (धव. पु. १३, पृ. ३६५)। ५. एकात्मोपभोगकारणं शरीरं यतस्तत्प्रत्येकशरीरनाम। (त. श्लो. ८–११)। ६. यस्य कर्मण उदयादेकैको जीवः प्रति प्रत्येकैकं शरीरं निर्वर्तयति तत्प्रत्येकनाम। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१२)। ७. स्वप्रदेशैरेकं शरीरमौदारिक-वैक्रियिकाहारकान्यतरद्व्याप्तं यदुदयाज्जीवेन तत्प्रत्येकनाम। (पंचसं. स्वो. वृ. ३–६, पृ. ११६)। ८. प्रत्येकनाम यदुदयादेकैकस्य जन्तोरेकैकमौदारिकं वैक्रियं वा शरीरं भवति। (षष्ठ क. मलय. वृ. ५, पृ. १२६; सप्तति. मलय. वृ. ६, पृ. १५३)। ९. यस्योदयात् प्रत्येकं शरीरं भवति, एकैकस्य जीवस्यैकैकं शरीरमित्यर्थः, तत्प्रत्येकनाम। (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. ८७)। १०. शरीरनामकर्मोदयेन निष्पाद्यमानं शरीरं एकजीवोपभोगकारणं यदुदयेन भवति तत्प्रत्येकशरीरनाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८–११)।

१ शरीरनामकर्म के उदय से जो शरीर रचा जाता है वह जिस कर्म के उदय से एक जीव के उपभोग का कारण होता है उसे प्रत्येकशरीर नामकर्म कहते हैं। २ जो कर्म पृथक् शरीर की रचना करता है उसे प्रत्येकशरीर नामकर्म कहा जाता है।

प्रत्येकशरीरिद्रव्यवर्गणा—अथ केयं प्रत्येकशरीरिद्रव्यवर्गणा नाम? उच्यते—प्रत्येकशरीरिणां यथासम्भवमौदारिक-वैक्रियाहारक-तैजस-कार्मणेषु शरीरनामकर्मसु ये प्रत्येकं विश्रसापरिणामेनोपचयमापन्नाः सर्वजीवानन्तगुणाः पुद्गलास्ते प्रत्येकशरीरिद्रव्यवर्गणा। (कर्मप्र. मलय. व यशो. वृ. २०, पृ. ४७ व ५०)।

प्रत्येकशरीर वाले प्राणियों के यथासम्भव औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीरनामकर्मों में से प्रत्येक में जो स्वभावतः सब जीवों से अनन्तगुणे पुद्गल उपचय को प्राप्त होते हैं उनका नाम प्रत्येकशरीरिद्रव्यवर्गणा है।

प्रत्येकाङ्ग (शरीर)—१. एकमेकस्य यस्याङ्गं प्रत्येकाङ्गः स कथ्यते। (पंचसं. अमित. १–१०५, पृ. १४)। २. एकमेकं प्रति प्रत्येकं पृथक्कायादयः शरीरं येषां ते प्रत्येककायाः। (मूला. वृ. ५–१६)।

१ जिस एक जीव का एक शरीर होता है उसे प्रत्येकाङ्ग या प्रत्येककाय कहा जाता है।

प्रत्येषण (पडिच्छण)—१. पडिच्छणमेगस्स प्रतिचारकैरभ्यनुज्ञातस्यैकस्य संग्रह आराधकस्य। (भ. आ. विजयो. ६९)। २. पडिच्छणमियकस्स संघानुमतेनैकस्य क्षपकस्य स्वीकारः। (भ. आ. मूला. ६९)।

१ परिचर्या करने वाले साधुओं (संघ) के द्वारा अनुज्ञात किसी एक आराधक के ग्रहण करने का नाम पडिच्छण (प्रत्येषण) है।

प्रथम असत्य—देखो असत्य (प्रथम)।

प्रथम मूलगुण—सुहुमादीजीवाणं सव्वेसिं सव्वहा सुपणिहाणं। पाणाइवायविरमणमिह पढमो होइ मूलगुणो॥ (धर्मसं. हरि. ८५८)।

सूक्ष्म व बादर आदि सभी जीवों के प्राणविघात से उत्तम अभिप्रायपूर्वक सब प्रकार से—कृत-कारितादिरूप से—निवृत्त होना, यह मुनियों का प्रथम मूलगुण (अहिंसामहाव्रत) है।

प्रथमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञान — तत्र यस्मिन् समये केवलज्ञानमुत्पन्नं तस्मिन् समये तत्प्रथमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञानम्। (आव. नि. मलय. वृ. ७८, पृ. ८३)।

जिस समय में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ हो उस समय में वह प्रथमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञान कहलाता है।

प्रथम सम्यक्त्व—१. एदेसिं चेव सव्वकम्माणं जावे अंतोकोडाकोडिट्ठिदिं बंधदि तावे पढमसम्मत्तं

लभदि ।। सो पुण पंचिदिओ सण्णी मिच्छाइट्ठी पज्जत्तओ सव्वविसुद्धो ।। एदेसिं चेव कम्माणं जाधे अंतोकोडाकोडिट्ठिदिं ठवेदि संखेज्जेहि सागरोवमसहस्सेहि ऊणियं ताधे पढमसम्मत्तमुप्पादेदि । (षट्खं. १, ९–८, ३–५—पु. ६, पृ. २०३ आदि) । २. भव्यः पञ्चेन्द्रियः संज्ञी पर्याप्तकः सर्वविशुद्धः प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयति । (स. सि. २–३) । ३. स पुनर्भव्यः पञ्चेन्द्रियः संज्ञी मिथ्यादृष्टिः पर्याप्तकः सर्वविशुद्धः प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयति । (त. वा. २, ३, २)।

१ अनादिमिथ्यादृष्टि जीव जब सब कर्मों की अन्तःकोडाकोडि प्रमाण स्थिति को बांधता है तथा उन्हीं कर्मों की जब संख्यात हजार सागरोपमों से हीन अन्तःकोडाकोडि प्रमाण स्थिति को स्थापित करता है तब वह प्रथम सम्यक्त्व प्राप्त करने के योग्य होता है । विशेष इतना है कि वह पंचेन्द्रिय, संज्ञी, मिथ्यादृष्टि, पर्याप्तक और सर्वविशुद्ध होना चाहिए ।

प्रथमानुयोग—१. प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् । बोधि-समाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ।। (रत्नक. २–२) । २. प्रथमानुयोगे पञ्चपदसहस्रे ५००० चतुर्विंशतेस्तीर्थकराणां द्वादशचक्रवर्तिनां बलदेव-वासुदेव-तच्छत्रूणां चरितं निरूप्यते । अत्रोपयोगी गाथा—बारसविहं पुराणं जं दिट्ठं जिणवरेहि सव्वेहि । तं सव्वं वण्णेदि हु जिणवंसे रायवंसे य ।। पढमो अरहंताणं विदिओ पुण चक्कवट्टिवंसो दु । तदिओ वसुदेवाणं चउत्थो विज्जाहराणं तु ।। चारणवंसो तह पंचमो दु छट्ठो य पण्णसमणाणं । सत्तमगो कुरुवंसो अट्ठमओ चापि हरिवंसो ।। णवमो अइक्खुवाणं वंसो दसमो हु कासियाणं तु । वाई एकारसमो वारसमो णाहवंसो दु ।। (धव. पु. ९, पृ. २०८) । ३. जो पुण पढमाणिओओ सो चउवीसतित्थयर-बारहचक्कवट्टि-णवबलणवणारायण-णवपडिसत्तूणं पुराणं जिण-विज्जाहरचक्कवट्टि-चारण-रायादीणं वंसे य वण्णेदि । (जयध. १, पृ. १३८) । ४. तेषामाद्यानुयोगोऽयं सतां सच्चरिताश्रयः ।। (म. पु. २–९८) । ५. गृही यतः स्वसिद्धान्तं साधु बुध्येत धर्मधीः । प्रथमः सोऽनुयोगः स्यात् पुराणचरिताश्रयः ।। (उपासका. ९१६) । ६. वृषभादिचतुर्विंशतितीर्थकर-भरतादिद्वादशचक्रवर्ति-विजयादिनवबलदेव-त्रिपिष्टादिनववासुदेव - सुग्रीवादिनवप्रतिवासुदेवसम्बन्धित्रिषष्टिपुरुषपुराणभेदभिन्नः प्रथमानुयोगो भण्यते । (बृ. द्रव्यसं. टी. ४२)। ७. पञ्चसहस्रपदपरिमाणः त्रिषष्ठिशलाकापुरुषपुराणानां प्ररूपकः प्रथमानुयोगः । (सं. श्रुतभ. टी. ९, पृ. १७४) । ८. पुराणं चरितं चार्थाख्यानं बोधिसमाधिदम् । तत्त्वप्रथार्थी प्रथमानुयोगं प्रथयेत्तराम् ।। (अन. ध. ३–९) । ९. प्रथमं मिथ्यादृष्टिमतिकमव्युत्पन्नं वा प्रतिपाद्यमाश्रित्य प्रवृत्तोऽनुयोगः अधिकारः चतुर्विंशतितीर्थंकर-द्वादशचक्रवर्ति-नवबलदेव-नववासुदेव-नवप्रतिवासुदेवानां त्रिषष्टिपुराणानि वर्णयति । (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. ३६१) । १०. त्रिषष्टिशलाकामहापुरुषचरित्रकथकः पंचसहस्रपदप्रमाणः प्रथमानुयोगः । (त. वृत्ति श्रुत. १-२०) । ११. पढमं मिच्छादिट्ठिं अव्वदिकं आसिदूण पडिवज्जं । अणुयोगो अहियारो वुत्तो पढमानुयोगो सो ।। (अंगप. २–३५, पृ. २८३) ।

१ चरित्र और पुराणरूप श्रुत का नाम प्रथमानुयोग है । यह पवित्र अनुयोग श्रोता की बोधि और समाधि का कारण है । एक किसी विशिष्ट पुरुष के आश्रित कथा का नाम चरित्र और तिरेसठ शलाकापुरुषों के आश्रित कथा का नाम पुराण है । २ प्रथमानुयोग में २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव; इनके चरित्र का निरूपण किया जाता है । पुराण बारह प्रकार का है, जो इन १२ वंशों की प्ररूपणा करता है—१ अरहन्त, २ चक्रवर्ती, ३ वसुदेव, ४ विद्याधर, ५ चारण ऋषि, ६ श्रमण, ७ कुरुवंश, ८ हरिवंश, ९ ऐक्ष्वाकुवंश, १० कासियवंश, ११ वादी और १२ नाथवंश ।

प्रथमा प्रतिमा—देखो दर्शनप्रतिमा । शङ्कादिदोषरहितं प्रशमादिलिङ्गं स्थैर्यादिभूषणं मोक्षमार्गप्रासादपीठभूतं सम्यग्दर्शनं भय-लोभ-लज्जादिभिरप्यनतिचरन् मासमात्रं सम्यक्त्वमनुपालयति, इत्येषा प्रथमा प्रतिमा । (योगशा. ३–१४८, पृ. २७१) ।

शंका-कांक्षादि दोषों से रहित, प्रशम-संवेगादि चिह्नों से सहित और स्थैर्य आदि गुणों से विभूषित ऐसे सम्यक्त्व को भय, लोभ, और लज्जा आदि के वश भी मलिन न करते हुए उसका एक मास तक परिपालन करना; यह श्रावक की प्रथम प्रतिमा का लक्षण है । उक्त सम्यक्त्व मोक्षमार्ग

रूप भवन की पीठ—भूमिका अथवा नीव—के समान है।

प्रथमा स्थिति—अन्तरकरणाच्चाधस्तनी स्थितिः प्रथमा स्थितिरित्युच्यते। (कर्मप्र. मलय. व यशो. वृ. उप. क. १७, पृ. १४ व १५)।

अन्तःकरण से नीचे की स्थिति को प्रथम स्थिति कहा जाता है।

प्रथमोपशमसम्यक्त्व—देखो प्रथम सम्यक्त्व। तत्रौपशमिकं भिन्नकर्मग्रन्थेः शरीरिणः। सम्यक्त्वलाभे प्रथमेऽन्तर्मुहूर्तं प्रजायते॥ (त्रि. श. पु. च. १, ३, ६००)।

कर्मरूप ग्रन्थि के भेद देने पर सर्वप्रथम जो सम्यक्त्व प्राप्त होता है वह प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहलाता है, जो अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है।

प्रदक्षिण (पदाहिण) क्रियाकर्म—वंदणकाले गुरु-जिण-जिणहराणं पदक्खिणं कादूण णमंसणं पदाहिणं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ८९)।

वन्दना के समय गुरु, जिनदेव और जिनालय की प्रदक्षिणा करके नमस्कार करना, यह छह प्रकार के कृतिकर्म में प्रदक्षिणा नाम का दूसरा कृतिकर्म है।

प्रदुष्टदोष—१. प्रदुष्टोऽन्यैः सह प्रद्वेषं वैरं कलहादिकं विधाय क्षन्तव्यमकृत्वा यः करोति क्रियाकलापं तस्य प्रदुष्टदोषः। (मूला. वृ. ७–१०८)। २. प्रदुष्टं वन्दमानस्य द्विष्ठेऽकृत्वा क्षमां त्रिधा। (अन. ध. ८–१०५)।

१ दूसरों के साथ प्रकृष्ट द्वेष, वैर व कलह आदि करके उससे क्षमा कराने के विना वन्दनादि रूप कृतिकर्म के करने पर प्रदुष्ट नाम का वन्दनादोष उत्पन्न होता है।

प्रदेश—१. अद्धद्धं च पदेसो × × ×॥ (पंचा. का. ७५; मूला. ५–३४; भावसं. दे. ३०४; गो. जी. ६०४)। २ सः (परमाणुः) यावति क्षेत्रे व्यवतिष्ठते स प्रदेशः। (स. सि. ५–८)। ३. प्रदेशो नामापेक्षिकः सर्वसूक्ष्मस्तु परमाणोरवगाहः। (त. भा. ५–७)। ४. प्रदेशाः परमाणवः। प्रदिश्यन्ते इति प्रदेशाः परमाणवः, ते हि घटादिष्ववयवत्वेन प्रदिश्यन्ते। प्रदिश्यन्ते एभिरिति वा प्रदेशाः तैर्हि आकाशादीनां क्षेत्रादिविभागः प्रदिश्यते। (त. वा. २, ३८, १)। ५. प्रदेशोऽसंख्येयतमोऽनन्ततमो वा प्रदेशः। (उत्तरा. चू. पृ. २८१)। ६. प्रकृष्टो देशः प्रदेशः, परमनिरुद्धो निरवयव इति यावत्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५–७); पुनस्तस्यैव कणिकादिद्रव्यपरिमाणान्वेषणं प्रदेशः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–४)। ७. × × × अर्द्धार्द्धं प्रदेशः परिकीर्तितः। (त. सा. ३–५७)। ८. जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुवट्ठद्धं। तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं॥ (द्रव्यसं. २७)। ९. जेत्तियमेत्तं खेत्तं अणुणा रुद्धं खु गयणदव्वस्स। तं च पएसं भणियं जाण तुमं सव्वदरसीहि॥ (द्रव्यस्व. नयच. १४०)। १०. परमाणुव्याप्तक्षेत्रं प्रदेशः। (प्रव. सा. जय. वृ. २, ४५)। ११. × × × पएसमद्धंद्धं। (वसु. श्रा. १७)। १२. प्रदेशाश्च जीवस्य कर्माणवोऽभिधीयन्ते। (आव. हरि. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ९२)। १३. प्रकृष्टः—सर्वसूक्ष्मः पुद्गलास्तिकायस्य देशो निरंशो भागः प्रदेशः इति व्युत्पत्तेः। (अनुयो. सू. मल. हेम. वृ. ८९, पृ. ६८); तत्र प्रदेशा इह क्षेत्रस्य निर्विभागा भागाः। (अनुयो. सू. मल. हेम. वृ. १३३, पृ. १५७)। १४. प्रदेशा निरंशावयवाः। (समवा. अभय. वृ. १४०, पृ. १०७)। १५. प्रकृष्टो निरंशो धर्माधर्माकाश-जीवानां देशः—अवयवविशेषः। स चैकः स्वरूपतः, सद्वितीयत्वादौ देशव्यपदेशत्वेन प्रदेशत्वाभावप्रसंगात्। (स्थाना. अभय. वृ. ४५, पृ. २२); प्रदेशो धर्माधर्माकाश-जीव-पुद्गलानां निरवयवोंऽशः। (स्थाना. अभय. वृ. १६५, पृ. १२९)। १६. शुद्धपुद्गलपरमाणुना गृहीतंनभस्थलमेव प्रदेशः। (नि. सा. वृ. ३५)। १७. अर्धस्यार्धं प्रदेशः। (गो. जी. जी. प्र. ६०४)।

१ स्कन्ध के आधे के आधे भाग को या देश के आधे भाग को प्रदेश कहते हैं। २ जितने क्षेत्र में एक परमाणु रहता है उसका नाम प्रदेश है। ३ अपेक्षानिर्मित परमाणु के सबसे सूक्ष्म अवगाह को प्रदेश कहते हैं। ५ असंख्यातवें अथवा अनन्तवें भाग को प्रदेश कहा जाता है।

प्रदेशछेदना—पदेसो वि छेदणा होदि उड्ढाहो-मज्झादिपदेसेहि सव्वदव्वाणं छेददंसणादो। (धव. पु. १४, पृ. ४३६)।

प्रदेश को छेदना इसलिए कहा जाता है कि ऊर्ध्व, मध्य और अधः प्रदेशों के द्वारा सब द्रव्यों का छेद

देखा जाता है। यह छेदना के दस भेदों में पांचवां है।

प्रदेशतः इतरेतरसंयोग—तत्थ धम्मत्थिकाइयाईणं पंचण्हं अत्थिकायाणं यः स्वैः स्वैः प्रदेशैरन्यद्रव्यप्रदेशैश्च सह संयोगः स प्रदेशतः इतरेतरसंयोगो भवति। (उत्तरा. चू. पृ. २०)।

धर्मास्तिकाय आदि पांच अस्तिकायों का जो अपने अपने प्रदेशों से तथा अन्य द्रव्यों के प्रदेशों के साथ भी संयोग है वह प्रदेशतः—प्रदेशों की अपेक्षा—इतरेतरसंयोग है।

प्रदेशदीर्घ—सव्वासिं पयडीणं सग-सगपाओग्गउक्कस्सपदेसे बंधमाणस्स पदेसदीहं। (धव. पु. १६, पृ. ५०६)।

सब प्रकृतियों के अपने अपने योग्य उत्कृष्ट प्रदेशों के बांधने वाले जीव के प्रदेशदीर्घ होता है।

प्रदेशनामनिधत्तायु—१. प्रदेशानां—प्रमितपरिमाणानामायुःकर्मदलिकानां नाम—परिणामो यः तथाऽऽत्मप्रदेशेषु सम्बन्धनं स प्रदेशनाम, जाति-गत्यवगाहनाकर्मणां वा यत्प्रदेशरूपं नामकर्म तत्प्रदेशनाम, तेन सह निधत्तमायुः प्रदेशनामनिधत्तायुरिति। (समवा. अभय. वृ. १५४, पृ. १३६-३७)। २. प्रदेशाः कर्मपरमाणवः, ते च प्रदेशाः संक्रमतोऽप्यनुभूयमानाः परिगृह्यन्ते, तत्प्रधानं नाम प्रदेशनाम। किमुक्तं भवति? यद्यस्मिन् भवे प्रदेशतो अनुभूयते तत्प्रदेशनामेति, अनेन विपाकोदयमप्राप्तमपि नाम गृहीतम्, तेन प्रदेशनाम्ना सह निधत्तायुः प्रदेशनामनिधत्तायुः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १४५, पृ. २१८)।

१ परिमित प्रमाण वाले आयुकर्म के प्रदेशों का जो परिणमन है तथा आत्मा के प्रदेशों से सम्बद्ध होना है उसे प्रदेशनाम कहते हैं, अथवा जाति, गति और अवगाहना कर्मों का जो प्रदेशरूप नामकर्म है उसे प्रदेशनाम कहा जाता है। इस प्रदेशनाम के साथ जो निषिक्त आयु है, वह प्रदेशनामनिधत्तआयुबन्ध कहलाता है।

प्रदेशनिष्पन्नक्षेत्रप्रमाण—एगपएसोगाढे दुपएसोगाढे तिपएसोगाढे संखिज्जपएसोगाढे असंखिज्जपएसोगाढे से तं पएसणिप्फण्णे। (अनुयो. सू. १३३, पृ. १५६)।

एकप्रदेश अवगाहवाला क्षेत्र, दो प्रदेश अवगाहवाला, तीन प्रदेश अवगाहवाला, इस क्रम से संख्यात व असंख्यात प्रदेश अवगाहवाला क्षेत्र; यह सब प्रदेशनिष्पन्न क्षेत्रप्रमाण कहलाता है।

प्रदेशबन्ध—१. सुहुमे जोगविसेसेण एगखेत्तावगाढठिदियाणं। एक्केक्के दु पदेसे कम्मपदेसा अणंता दु॥ (मूला. १२-२०४)। २. नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः। (त. सू. ८-२४)। ३. इयत्तावधारणं प्रदेशः। (स. सि. ८-३); ते खलु पुद्गलस्कन्धाः अभव्यानन्तगुणाः सिद्धानन्तभागप्रमितप्रदेशाः घनाङ्गुलस्यासंख्येयभागक्षेत्रावगाहिनः एक-द्वि-त्रि-चतुः-संख्येयासंख्येयसमयस्थितिकाः पञ्चवर्ण-पञ्चरस-द्विगन्ध-चतुःस्पर्शस्वभावा अष्टविधकर्मप्रकृतियोग्याः योगवशादात्मसात् क्रियन्त इति प्रदेशबन्धः समासतो वेदितव्यः। (स. सि. ८-२४; त. वा. ८, २४, ८)। ४. प्रदेशबन्धः जीवप्रदेशानां कर्मपुद्गलानां च सम्बन्धः। (उत्तरा. चू. पृ. २७७)। ५. इयत्तावधारणं प्रदेशः। कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परमाणुपरिच्छेदेनावधारणं प्रदेश इति व्यपदिश्यते। (त. वा. ८, ३, ७)। ६. कर्मत्वपरिणतात्मपुद्गलस्कन्धसंहतेः। प्रदेशः परमाण्वात्मपरिच्छेदावधारणा॥ (ह- पु. ५८-२१३)। ७. तस्यैव कणिकादिपरिमाणान्वेषणं प्रदेशः, कर्मणोऽपि पुद्गलपरिमाणनिरूपणं प्रदेशबन्ध इति। यथोक्तम्—तेषां पूर्वोक्तानां स्कन्धानां सर्वतोऽपि जीवेन। सर्वैर्देशैर्योगविशेषाद् ग्रहणं प्रदेशाख्यम्॥ (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८-४)। ८. प्रदेशबन्धस्त्वात्मप्रदेशैर्योगस्तया कालेनैव विशिष्टविपाकरहितं वेदनमिति। (श्रा. प्र. टी. ८०)। ९. इति प्रदेशैर्यो बन्धः कर्मस्कन्धादिभिर्मतः। स नुः प्रदेशबन्धः स्यादेव बन्धो विलक्षणः। (त. श्लो. ८, २४, ११)। १०. प्रदेशबन्धस्तु अनन्तानन्तप्रदेशान् स्कन्धानादायैकैकस्मिन् प्रदेशे एकैकस्य कर्मणो ज्ञानावरणादिकस्य व्यवस्थापयतीत्येषः प्रदेशबन्ध इति। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-३)। ११. सर्वेष्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशकान्। आत्मसात्कुरुते जीवः स प्रदेशोऽभिधीयते॥ (त. सा. ५-५०)। १२. ××× पएसबंधो पएसगहणं जं। (पंचसं. च. ब. क. ४०, पृ. ३४); प्रदेशबन्धः प्रदेशानां कर्मपुद्गलानां यद् ग्रहणं स्थिति-रसनिरपेक्षं तत् संख्याप्राधान्येनैव करोति। (पंचसं. स्वो.

वृ. बं. क. ४०)। १३. योगभेदादनन्ता ये प्रदेशाः कर्मणः स्थिताः। सर्वेष्वात्मप्रदेशेषु स प्रदेश इति स्थितः॥ (चन्द्र. च. १८-१०४)। १४. परस्परप्रदेशानुप्रवेशो जीव-कर्मणोः। यः संश्लेषः स निर्दिष्टो बन्धो विध्वस्तबन्धनैः॥ (ज्ञानार्णव ६-४६, पृ. १०१)। १५. तेषां कर्मस्वरूपपरिणतानामनन्तानन्तानां जीवप्रदेशैः सह संश्लेषः प्रदेशबन्धः। (मूला. वृ. ५-४७); प्रदेशः कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परमाणुपरिच्छेदेनावधारणम्। (मूला. वृ. १२-३); आत्मनो योगवशादष्टविधकर्महेतवोऽनन्तानन्तप्रदेशा एकैकप्रदेशे ये स्थितास्ते प्रदेशबन्धा इति। (मूला. वृ. १२-२०४)। १६. जीवप्रदेशेषु कर्मप्रदेशानामनन्तानन्तानां प्रतिप्रकृति प्रतिनियतपरिमाणानां बन्धः—सम्बन्धनं प्रदेशबन्धः। (समवा. अभय. वृ. ४; स्थाना. अभय. वृ. २९६)। १७. तस्यैव मोदकस्य यथा कणिकादिद्रव्याणां परिमाणवत्त्वम् एवं कर्मणोऽपि पुद्गलानां प्रतिनियतप्रमाणता प्रदेशबन्ध इति। (स्थाना. अभय. वृ. २९६)। १८. ये सर्वात्मप्रदेशेषु सर्वतो बन्धभेदतः। प्रदेशाः कर्मणोऽनन्ताः सः प्रदेशः स्मृतो बुधैः। (धर्मश. २१-११५)। १९. अशुद्धान्तस्तत्त्व-कर्मपुद्गलयोः परस्परप्रदेशानुप्रवेशः प्रदेशबन्धः। (नि. सा. वृ. ४०)। २०. त्रयाणां (प्रकृति-स्थित्यनुभागानां) आधारभूतास्च परमाणवः प्रदेशाः। (पंचसं. मलय. वृ. सं. क. ३३)। २१. ××× अणुगणना कर्मणां प्रदेशश्च॥ (अन. ध. २-३९)। २२. कर्मपुद्गलानामेव यद् ग्रहणं स्थिति-रसनिरपेक्षदलिकसंख्याप्राधान्येनैव करोति स प्रदेशबन्धः। उक्तं च—××× प्रदेशो दलसञ्चयः। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. २, शतक. दे. स्वो. वृ. २१)। २३. कर्मत्वपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परिमाणपरिच्छेदनेन इयत्तावधारणं प्रदेशः। (त. वृत्ति श्रुत. ८-३)। २४. ××× प्रदेशो देशसंश्रयः। (पञ्चाध्यायी २, ९३३)।

१ योगविशेष के द्वारा आकर जो सूक्ष्म अनन्त—अभव्यों से अनन्तगुणे व सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण—कर्मप्रदेश एक एक आत्मप्रदेश पर एक क्षेत्रावगाह रूप से स्थित होते हैं, यह प्रदेशबन्ध कहलाता है। २ ज्ञानावरणादिरूप नाम के कारणभूत अथवा गति-जात्यादिभेदरूप अनेक प्रकार का नामकर्म जिनका कारण है, ऐसे जो अनन्तानन्त सूक्ष्म पुद्गल योगविशेष के आश्रय से सभी भवों में अथवा सब ओर से आकर सूक्ष्म एक क्षेत्र का अवगाहन करते हुए सभी आत्मप्रदेशों पर स्थित होते हैं, यह प्रदेशबन्ध का लक्षण है। ४ जीवप्रदेशों का और कर्मप्रदेशों का जो सम्बन्ध होता है उसका नाम प्रदेशबन्ध है।

प्रदेशबन्धस्थान—जाणि चेव जोगट्ठाणाणि ताणि चेव पदेसबंधट्ठाणाणि। (षट्खं. ४, २, ४, २१३—पु. १०, पृ. ५०५)।

जो योगस्थान हैं वे ही प्रदेशबन्धस्थान कहे जाते हैं।

प्रदेशमोक्ष—अधट्ठिदिगलणाए पदेसाणं णिज्जरा पदेसाणमण्णपयडीसु संकमो वा पदेसमोक्खो। (धव. पु. १६, पृ. ३३८)।

अधःस्थिति के गलन से जो कर्मप्रदेशों की निर्जरा या उनका अन्य प्रकृतियों में संक्रमण होता है उसे प्रदेशमोक्ष कहते हैं।

प्रदेशवत्त्व—प्रदेशवत्त्वं तु लोकाकाशप्रदेशपरिमाणप्रदेश एक आत्मा भवति। (त. भा. सिद्ध. वृ. २-८)।

लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर प्रदेशों वाला जो एक आत्मा होता है, यह जीव का प्रदेशवत्त्व गुण है जो साधारण है; क्योंकि वह धर्म-अधर्म द्रव्यों में भी पाया जाता है।

प्रदेशविपरिणामना—जं पदेसग्गं णिज्जिण्णं अण्णपयडिं वा संकामिदं सा पदेसविपरिणामणा णाम। (धव. पु. १५, पृ. २८४)।

जो प्रदेशपिण्ड निर्जीर्ण हो चुका है या अन्य प्रकृति में संक्रमण को प्राप्त हो चुका है उसका नाम प्रदेशविपरिणामना है।

प्रदेशविरच—कर्मपुद्गलप्रदेशो विरच्यते अस्मिन्निति प्रदेशविरचः, कर्मस्थितिरिति यावत्। अथवा विरच्यते इति विरचः, प्रदेशश्चासौ विरचश्च प्रदेशविरचः, विरच्यमानकर्मप्रदेशा इति यावत्। (धव. पु. १४, पृ. ३५२)।

कर्मरूप पुद्गलप्रदेश की जिसमें रचना की जाती है उसे प्रदेशविरच कहते हैं, दूसरे शब्द से उसे कर्मस्थिति कहा जाता है। अथवा रचे जाने वाले कर्मप्रदेशों को ही प्रदेशविरच समझना चाहिए।

देखा जाता है। यह छेदना के दस भेदों में पांचवां है।

प्रदेशतः इतरेतरसंयोग—तत्थ धम्मत्थिकाइयाईणं पंचण्हं अत्थिकायाणं यः स्वैः स्वैः प्रदेशैरन्यद्रव्यप्रदेशैश्च सह संयोगः स प्रदेशत इतरेतरसंयोगो भवति। (उत्तरा. चू. पृ. २०)।

धर्मास्तिकाय आदि पांच अस्तिकायों का जो अपने अपने प्रदेशों से तथा अन्य द्रव्यों के प्रदेशों के साथ भी संयोग है वह प्रदेशतः—प्रदेशों की अपेक्षा—इतरेतरसंयोग है।

प्रदेशदीर्घ—सव्वासि पयडीणं सग-सगपाओग्गउक्कस्सपदेसे बंधमाणस्स पदेसदीहं। (धव. पु. १६, पृ. ५०६)।

सब प्रकृतियों के अपने अपने योग्य उत्कृष्ट प्रदेशों के बांधने वाले जीव के प्रदेशदीर्घ होता है।

प्रदेशनामनिधत्तायु—१. प्रदेशानां—प्रमितपरिमाणानामायुःकर्मदलिकानां नाम—परिणामो यः तथाऽऽत्मप्रदेशेषु सम्बन्धनं स प्रदेशनाम, जाति-गत्यवगाहनाकर्मणां वा यत्प्रदेशरूपं नामकर्म तत्प्रदेशनाम, तेन सह निधत्तमायुः प्रदेशनामनिधत्तायुरिति। (समवा. अभय. वृ. १५४, पृ. १३६–३७)। २. प्रदेशाः कर्मपरमाणवः, ते च प्रदेशाः संक्रमतोऽप्यनुभूयमानाः परिगृह्यन्ते, तत्प्रधानं नाम प्रदेशनाम। किमुक्तं भवति? यद्यस्मिन् भवे प्रदेशतो अनुभूयते तत्प्रदेशनामेति, अनेन विपाकोदयमप्राप्तमपि नाम गृहीतम्, तेन प्रदेशनाम्ना सह निधत्तायुः प्रदेशनामनिधत्तायुः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १४५, पृ. २१८)।

१ परिमित प्रमाण वाले आयुकर्म के प्रदेशों का जो परिणमन है तथा आत्मा के प्रदेशों से सम्बद्ध होना है उसे प्रदेशनाम कहते हैं, अथवा जाति, गति और अवगाहना कर्मों का जो प्रदेशरूप नामकर्म है उसे प्रदेशनाम कहा जाता है। इस प्रदेशनाम के साथ जो निधिक्त आयु है, वह प्रदेशनामनिधत्तआयुबन्ध कहलाता है।

प्रदेशनिष्पन्नक्षेत्रप्रमाण—एगपएसोगाढे दुपएसोगाढे तिपएसोगाढे संखिज्जपएसोगाढे असंखिज्जपएसोगाढे से तं पएसणिप्फण्णे। (अनुयो. सू. १३३, पृ. १५६)।

एकप्रदेश अवगाहवाला क्षेत्र, दो प्रदेश अवगाहवाला, तीन प्रदेश अवगाहवाला, इस क्रम से संख्यात व असंख्यात प्रदेश अवगाहवाला क्षेत्र; यह सब प्रदेशनिष्पन्न क्षेत्रप्रमाण कहलाता है।

प्रदेशबन्ध—१. सुहुमे जोगविसेसेण एगखेत्तावगाढठिदियाणं। एक्केक्के दु पदेसे कम्मपदेसा अणंता दु॥ (मूला. १२–२०४)। २. नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः। (त. सू. ८–२४)। ३. इयत्तावधारणं प्रदेशः। (स. सि. ८–३); ते खलु पुद्गलस्कन्धाः अभव्यानन्तगुणाः सिद्धानन्तभागप्रमितप्रदेशाः घनाङ्गुलस्यासंख्येयभागक्षेत्रावगाहिनः एक-द्वि-त्रि-चतुः-संख्येयासंख्येयसमयस्थितिकाः पञ्चवर्ण-पञ्चरस-द्विगन्ध-चतुःस्पर्शस्वभावा अष्टविधकर्मप्रकृतियोग्याः योगवशादात्मसात् क्रियन्त इति प्रदेशबन्धः समासतो वेदितव्यः। (स. सि. ८–२४; त. वा. ८, २४, ८)। ४. प्रदेशबन्धः जीवप्रदेशानां कर्मपुद्गलानां च सम्बन्धः। (उत्तरा. चू. पृ. २७७)। ५. इयत्तावधारणं प्रदेशः। कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परमाणुपरिच्छेदेनावधारणं प्रदेश इति व्यपदिश्यते। (त. वा. ८, ३, ७)। ६. कर्मत्वपरिणत्यात्मपुद्गलस्कन्धसंहतेः। प्रदेशः परमाण्वात्मपरिच्छेदावधारणा॥ (ह- पु. ५८–२१३)। ७. तस्यैव कणिकादिपरिमाणान्वेषणं प्रदेशः, कर्मणोऽपि पुद्गलपरिमाणनिरूपणं प्रदेशबन्ध इति। यथोक्तम्—तेषां पूर्वोक्तानां स्कन्धानां सर्वतोऽपि जीवेन। सर्वैर्देशैर्योग विशेषाद् ग्रहणं प्रदेशाख्यम्॥ (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८–४)। ८. प्रदेशबन्धस्त्वात्मप्रदेशैर्योगस्तथा कालेनैव विशिष्टविपाकरहितं वेदनमिति। (श्रा. प्र. टी. ८०)। ९. इति प्रदेशैर्यो बन्धः कर्मस्कन्धादिभिर्मतः। स नुः प्रदेशबन्धः स्यादेष बन्धो विलक्षणः। (त. श्लो. ८, २४, ११)। १०. प्रदेशबन्धस्तु अनन्तानन्तप्रदेशान् स्कन्धानादायैकैकस्मिन् प्रदेशे एकैकस्य कर्मणो ज्ञानावरणादिकस्य व्यवस्थापयतीत्येषः प्रदेशबन्ध इति। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–३)। ११. सर्वेष्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशकान्। आत्मसात्कुरुते जीवः स प्रदेशोऽभिधीयते॥ (त. सा. ५–५०)। १२. ××× पएसबंधो पएसगहणं जं। (पंचसं. च. ब. क. ४०, पृ. ३४); प्रदेशबन्धः प्रदेशानां कर्मपुद्गलानां यद् ग्रहणं स्थिति-रसनिरपेक्षं तत् संख्याप्राधान्येनैव करोति। (पंचसं. स्वो.

बृ. बं. क. ४०)। १३. योगभेदादनन्ता ये प्रदेशाः कर्मणः स्थिताः। सर्वेष्वात्मप्रदेशेषु स प्रदेश इति स्थितः॥ (चन्द्र. च. १८-१०४)। १४. परस्परप्रदेशानुप्रवेशो जीव-कर्मणोः। यः संश्लेषः स निर्दिष्टो बन्धो विध्वस्तबन्धनैः॥ (ज्ञानार्णव ६-४६, पृ. १०१)। १५. तेषां कर्मस्वरूपपरिणतानामनन्तानन्तानां जीवप्रदेशैः सह संश्लेषः प्रदेशबन्धः। (मूला. वृ. ५-४७); प्रदेशः कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परमाणुपरिच्छेदेनावधारणम्। (मूला. वृ. १२-३); आत्मनो योगवशादष्टविधकर्महेतवोऽनन्तानन्तप्रदेशा एकैकप्रदेशे ये स्थितास्ते प्रदेशबन्धा इति। (मूला. वृ. १२-२०४)। १६. जीवप्रदेशेषु कर्मप्रदेशानामनन्तानन्तानां प्रतिप्रकृति प्रतिनियतपरिमाणानां बन्धः—सम्बन्धनं प्रदेशबन्धः। (समवा. अभय. वृ. ४; स्थाना. अभय. वृ. २९६)। १७. तस्यैव मोदकस्य यथा कणिकादिद्रव्याणां परिमाणवत्त्वम् एवं कर्मणोऽपि पुद्गलानां प्रतिनियतप्रमाणता प्रदेशबन्ध इति। (स्थाना. अभय. वृ. २९६)। १८. ये सर्वात्मप्रदेशेषु सर्वतो बन्धभेदतः। प्रदेशाः कर्मणोऽनन्ताः सः प्रदेशः स्मृतो बुधैः। (धर्मश. २१-११५)। १९. अशुद्धान्तस्तत्त्व-कर्मपुद्गलयोः परस्परप्रदेशानुप्रवेशः प्रदेशबन्धः। (नि. सा. वृ. ४०)। २०. त्रयाणां (प्रकृति-स्थित्यनुभागानां) आधारभूताश्च परमाणवः प्रदेशाः। (पंचसं. मलय. वृ. सं. क. ३३)। २१. × × × अणुगणना कर्मणां प्रदेशश्च॥ (अन. ध. २-३९)। २२. कर्मपुद्गलानामेव यद् ग्रहणं स्थिति-रसनिरपेक्षदलिकसंख्याप्राधान्येनैव करोति स प्रदेशबन्धः। उक्तं च—× × × प्रदेशो दलसञ्चयः। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. २, शतक. दे. स्वो. वृ. २१)। २३. कर्मत्वपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परिमाणपरिच्छेदेनेन इयत्तावधारणं प्रदेशः। (त. वृत्ति श्रुत. ८-३)। २४. × × × प्रदेशो देशसंश्रयः। (पञ्चाध्यायी २, ९३३)।

१ योगविशेष के द्वारा आकर जो सूक्ष्म अनन्त—अभव्यों से अनन्तगुणे व सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण—कर्मप्रदेश एक एक आत्मप्रदेश पर एक क्षेत्रावगाह रूप से स्थित होते हैं, यह प्रदेशबन्ध कहलाता है। २ ज्ञानावरणादिरूप नाम के कारणभूत अथवा गति-जात्यादिभेदरूप अनेक प्रकार का नामकर्म जिनका कारण है, ऐसे जो अनन्तानन्त सूक्ष्म पुद्गल योगविशेष के आश्रय से सभी भवों में अथवा सब ओर से आकर सूक्ष्म एक क्षेत्र का अवगाहन करते हुए सभी आत्मप्रदेशों पर स्थित होते हैं, यह प्रदेशबन्ध का लक्षण है। ४ जीवप्रदेशों का और कर्मप्रदेशों का जो सम्बन्ध होता है उसका नाम प्रदेशबन्ध है।

प्रदेशबन्धस्थान—जाणि चेव जोगट्ठाणाणि ताणि चेव पदेसबंधट्ठाणाणि। (षट्खं. ४, २, ४, २१३—पु. १०, पृ. ५०५)।

जो योगस्थान हैं वे ही प्रदेशबन्धस्थान कहे जाते हैं।

प्रदेशमोक्ष—अधट्ठिदिगलणाए पदेसाणं णिज्जरा पदेसाणमण्णपयडीसु संकमो वा पदेसमोक्खो। (धव. पु. १६, पृ. ३३८)।

अधःस्थिति के गलन से जो कर्मप्रदेशों की निर्जरा या उनका अन्य प्रकृतियों में संक्रमण होता है उसे प्रदेशमोक्ष कहते हैं।

प्रदेशवत्त्व—प्रदेशवत्त्वं तु लोकाकाशप्रदेशपरिमाणप्रदेश एक आत्मा भवति। (त. भा. सिद्ध. वृ. २-८)।

लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर प्रदेशों वाला जो एक आत्मा होता है, यह जीव का प्रदेशवत्त्व गुण है जो साधारण है; क्योंकि वह धर्म-अधर्म द्रव्यों में भी पाया जाता है।

प्रदेशविपरिणामना—जं पदेसग्गं णिज्जिण्णं अण्णपयडिं वा संकामिदं सा पदेसविपरिणामणा णाम। (धव. पु. १५, पृ. २८४)।

जो प्रदेशपिण्ड निर्जीर्ण हो चुका है या अन्य प्रकृति में संक्रमण को प्राप्त हो चुका है उसका नाम प्रदेशविपरिणामना है।

प्रदेशविरच—कर्मपुद्गलप्रदेशो विरच्यते अस्मिन्निति प्रदेशविरचः, कर्मस्थितिरिति यावत्। अथवा विरच्यते इति विरचः, प्रदेशश्चासौ विरचश्च प्रदेशविरचः, विरच्यमानकर्मप्रदेशा इति यावत्। (धव. पु. १४, पृ. ३५२)।

कर्मरूप पुद्गलप्रदेश की जिसमें रचना की जाती है उसे प्रदेशविरच कहते हैं, दूसरे शब्द से उसे कर्मस्थिति कहा जाता है। अथवा रचे जाने वाले कर्मप्रदेशों को ही प्रदेशविरच समझना चाहिए।

प्रदेशसंक्रम—१. जं दलियमन्नपगइं निज्जइ सो संकमो पएसस्स । उव्वलणो विज्झाओ अहापवत्तो गुणो सव्वो ॥ (कर्मप्र. सं. क. ६०) । २. जं पदेसग्गमण्णपयडिं णिज्जदे जत्तो पयडीदो तं पदेसग्गं णिज्जदि तिस्से पयडीए सो पदेससंकमो । जहा मिच्छत्तस्स पदेसग्गं सम्मत्ते संछुहदि तं पदेसग्गं मिच्छत्तस्स पदेससंकमो । (कसायपा. चू. पृ. ३९७)। ३. जं पदेसग्गं अण्णपयडिं संकामिज्जदि एसो पदेससंकमो । (धव. पु. १६, पृ. ४०८) । ४. विज्झाउव्वलण-अहापवत्त-गुण-सव्वसंकमेहि अणू । जं णेइ अण्णपगइं पएससंकामणं एयं ॥ (पंचसं. सं. क. ६८); विध्यातसंक्रम उद्वलनासंकमो यथाप्रवृत्तसंक्रमो गुणसंक्रमः सर्वसंक्रमश्च एतैः पंचभिः संक्रमैः कर्मपरमाणून् यन्नयत्यन्यप्रकृतिम्—तत्स्वरूपेण व्यवस्थापयति प्रदेशसंक्रमणमेतदुच्यते । (पंचसं. स्वो, वृ. सं. क. ६८) । ५. यत्कर्मद्रव्यमन्यप्रकृतिस्वभावेन परिणाम्यते स प्रदेशसंक्रमः। (स्थाना. अभय. वृ. ४, २, २९६, पृ. २२२) । ६. यत् संक्रमप्रायोग्यं दलिकम्—कर्मद्रव्यं अन्यप्रकृतिं नीयते—अन्यप्रकृतिरूपतया परिणाम्यते स प्रदेशसंक्रमः । (कर्मप्र. मलय. वृ. सं. क. ६०)। ७. परमाणुसंक्रमो हि प्रदेशसंक्रमो भवति । ××× परमाणूनां च प्रक्षेपणं प्रदेशसंक्रमः । (पंचसं. मलय. वृ. सं. क. ३३); विध्यातसंक्रमः, उद्वलनसंक्रमः, यथा प्रवृत्तसंक्रमः, गुणसंक्रमः, सर्वसंक्रमश्च एतैः पंचभिः संक्रमणैरणून्—कर्मपरमाणून्—अन्यां प्रकृतिं नयति—अन्यस्यां पतद्ग्रहप्रकृतौ नीत्वा निवेशयति यत एतत् कर्मपरमाणूनां *विध्यातसंक्रमादिभिरन्यप्रकृतौ नयनम्*—प्रदेशसंक्रमणं प्रदेशसंक्रम उच्यते । विध्यातसंक्रमादिभिरणून् अन्यप्रकृतिं यन्नयति स प्रदेशसंक्रमः । (पंचसं. मलय. वृ. सं. क. ६८) ।

१ विवक्षित कर्मप्रकृति का जो कर्मद्रव्य अन्य प्रकृति को प्राप्त कराया जाता है—तद्रूप परिणमाया जाता है—यह उसका प्रदेशसंक्रम कहलाता है। २ जो प्रदेशपिण्ड जिस प्रकृति से अन्य प्रकृति को प्राप्त कराया जाता है उसका वह प्रदेशसंक्रम कहलाता है। ६ संक्रमण के योग्य जो कर्मप्रदेशपिण्ड जिस किसी विवक्षित प्रकृति से ले जाकर अन्य प्रकृति के स्वभाव से परिणमित किया जाता है, उसे प्रदेशसंक्रमण कहते हैं।

प्रदेशसंहार-विसर्प—कार्मणशरीरवशात् उपात्त-सूक्ष्म-बादरशरीरानुवर्तनं प्रदेशसंहार-विसर्पः । अमूर्तस्वभावस्याप्यात्मनः अनादिसम्बन्धं प्रत्येकत्वात् कथंचिन्मूर्ततां बिभ्रतः लोकाकाशतुल्यप्रदेशस्यापि कार्मणशरीरवशात् उपात्तसूक्ष्मशरीरमधितिष्ठतः शुष्कचर्मवत् संकोचनं प्रदेशसंहारः, बादरशरीरमधितिष्ठतो जले तैलवत् विसर्पणं विसर्पः । (त. वा. ५, १६, १) ।

कार्मणशरीर के वश से प्राप्त हुए छोटे या बड़े शरीर का अनुसरण करना, अर्थात् छोटे शरीर के अनुसार आत्मप्रदेशों का संकुचित होकर उसमें रहना तथा बड़े शरीर के अनुसार उक्त आत्मप्रदेशों का विस्तृत होकर रहना, इसे प्रदेशसंहार-विसर्प कहा जाता है।

प्रदेशह्रस्व—सव्वासिं पयडीणं सग-सगजहण्णपदेसे बंधमाणस्स पदेसरहस्सं । संतं पडुच्च खविदकम्मंसियलक्खणेणागंतूण गुणसेडिणिज्जरं काऊण सव्वजहण्णीकयपदेसस्स पदेसरहस्सं । (धव. पु. १६, पृ. ५११) ।

जो जीव सब प्रकृतियों के अपने अपने जघन्य प्रदेशों को बांध रहा हो उसके प्रदेशह्रस्व होता है, सत्त्व की अपेक्षा क्षपितकर्मांशिक स्वरूप से आकर गुणश्रेणिनिर्जरा के द्वारा जिसने कर्मप्रदेश को सबसे जघन्य कर दिया है उसके प्रदेशह्रस्व होता है।

प्रदेशाग्र—पदेसग्गा अणंताणंता आयुगकम्मपोग्गला जेहिं एगमेगो जीवपदेसो वेढियपरिवेढितो। (उत्तरा. चू. ५, पृ. १२९) ।

आयुकर्म के उन अनन्तानन्त पुद्गलों को प्रदेशाग्र कहा जाता है जो एक एक जीवप्रदेश को वेष्टित करते हैं।

प्रदेशावीचिकामरण—आयुःसंज्ञितानां पुद्गलानां प्रदेशा जघन्यनिषेकादारभ्य एकादिवृद्धिक्रमेणावस्थितवीचय इव तेषां गलनं प्रदेशावीचिकामरणम् । (भ. आ. विजयो २५) ।

आयुकर्म सम्बन्धी पुद्गलपरमाणुओं के जघन्य-निषेक से लगाकर एक-दो आदि की वृद्धि के क्रम से अवस्थित वीचियों (लहरों) के समान क्रमशः गलने या झड़ने को प्रदेशावीचिकामरण कहते हैं।

प्रदेशोदय— तत्रानुदयवतीनां प्रकृतीनामबाधाकालक्षये सति दलिकं प्रतिसमयमुदयवतीषु मध्ये स्ति-

वुकसंक्रमेण संक्रमय्य यदनुभवति स प्रदेशोदयः। (पंचसं. मलय. वृ. ४८, पृ. २५५)।
उदय में नहीं आने वाली प्रकृतियों के अबाधाकाल के बीत जाने पर उनके कर्मप्रदेशों को स्तिवुक संक्रमण के द्वारा प्रतिसमय उदय में आने वाली प्रकृतियों में संक्रमित करके अनुभव करने को प्रदेशोदय कहते हैं।

प्रदोष—१. तत्त्वज्ञानस्य मोक्षसाधनस्य कीर्तने कृते कस्यचिदनभिव्याहरतः अन्तःपैशून्यपरिणामः प्रदोषः। (स. सि. ६–१०)। २. ज्ञानकीर्तनानन्तरमनभिव्याहरतोऽन्तःपैशून्यं प्रदोषः। मत्यादिज्ञानपञ्चकस्य मोक्षप्रापणं प्रति मूलसाधनस्य कीर्तने कृते कस्यचित् अनभिव्याहरतः अन्तःपैशून्यपरिणामो यो भवति स प्रदोष इति कथ्यते। (त. वा. ६, १०, १)। ३. कस्यचित्तत्कीर्तनानन्तरमनभिव्याहरतोऽन्तःपैशून्यं प्रदोषः। (त. श्लो. ६–१०)। ४. सम्यग्ज्ञानस्य सम्यग्दर्शनस्य च सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शनयुक्तस्य पुरुषस्य वा त्रयाणां मध्ये अन्यतमस्य केनचित्पुरुषेण प्रशंसा विहिता, तां प्रशंसामाकर्ण्य अन्यः कोऽपि पुमान् पैशून्यदूषितः स्वयमपि ज्ञान-दर्शनयोस्तद्युक्तपुरुषस्य वा प्रशंसां न करोति श्लाघनं न व्याहरति, कत्थनं नोच्चारयते, तदन्तःपैशून्यम् अन्तर्दुष्टत्वं प्रदोष उच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ६–१०)।
१ किसी पुरुष के द्वारा मोक्ष के साधनभूत तत्त्वज्ञान के कीर्तन करने पर जो व्यक्ति कुछ भाषण नहीं कर रहा है उसके अन्तःकरण में जो मत्सरभाव या दुष्ट परिणाम उत्पन्न होता है वह प्रदोष कहलाता है।

प्रद्वेष—इष्टदार-वित्तहरणादिनिमित्तः कोपः प्रद्वेषः। (भ. आ. विजयो. ८०७)।
प्रिय स्त्री और धन आदि के हरण करने के निमित्त से जो क्रोध उत्पन्न होता है, उसका नाम प्रद्वेष है।

प्रधानतया नामपद—देखो प्राधान्यपद। से किं तं पाहण्णयाए? असोगवणे सत्तवण्णवणे चंपगवणे चूअवणे नागवणे पुन्नागवणे उच्छुवणे दक्खवणे सालिवणे, से तं पाहण्णयाए। (अनुयो. सू. १३०, पृ. १४२)।
अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक, आम्र, नाग, पुन्नाग, इक्षु, द्राक्षा और शालि आदि की प्रधानता से जो अशोकवन व सप्तपर्णवन इत्यादि नाम बोले जाते हैं, उन्हें प्रधाननामपद कहा जाता है।

प्रधानद्रव्यकाल — तत्थ पहाणदव्वकालो णाम लोगागासपदेसपमाणो सेसपंचदव्वपरिणमणहेदुभूदो रयणरासि व्व पदेसपचयविरहिदो अमुत्तो अणादिणिहणो। (धव. पु. ११, पृ. ७५)।
जो लोकाकाश के समान असंख्यात प्रदेश प्रमाण है, शेष पांच द्रव्यों के परिवर्तन का कारण है, रत्नों की राशि के समान प्रदेशसमूह से रहित है तथा अमूर्त व अनादि-निधन है उसे तद्व्यतिरिक्त नोआगम प्रधान द्रव्यकाल कहा जाता है।

प्रधानभावशुद्धि—१. दंसण-नाण-चरित्ते तवोविसुद्धी पहाणमाएसो। जम्हा उ विसुद्धमलो तेण विसुद्धो हवइ सुद्धो॥ (दशवै. नि. २८७)। २. दर्शन-ज्ञान-चारित्रेषु— दर्शन-ज्ञान-चारित्रविषया— तथा तपोविशुद्धिः प्राधान्यादेश इति यद्दर्शनादीनामादिश्यमानानां प्रधानं सा प्रधानभावशुद्धिः। (दशवै. नि. हरि. वृ. २८७)।
२ दर्शन, ज्ञान एवं चारित्रविषयक शुद्धि और तप की शुद्धि को प्रधानता की अपेक्षा से प्रधानभावशुद्धि कहा जाता है। प्रधानता जैसे—क्षायोपशमिक की अपेक्षा क्षायिक दर्शनादि के तथा तप में अभ्यन्तर तप के आराधन को प्रधानता प्राप्त है। इससे साधु निर्मल होता है।

प्रध्वंसाभाव—१. कार्यस्यैव × × × परेण (कालेन) विशिष्टः (अर्थः) प्रध्वंसाभावः। (अष्टस. १–१०, पृ. ६६)। २. यदुत्पत्तौ कार्यस्यावश्यं विपत्तिः सोऽस्य प्रध्वंसाभावः। (प्र. न. त. ३–५७)। ३. नास्तिता पयसो दध्नि प्रध्वंसाभावलक्षणम्। (प्रमाल. ३८५)।
१ आगामी काल से—अगली पर्याय से—विशिष्ट जो कार्य है वह प्रध्वंसाभाव कहलाता है। ३ दही में जो दूध का अभाव है वह प्रध्वंसाभाव स्वरूप है।

प्रपातनकुशील—त्रसानां कीटादीनां वृक्षादीनां पुष्प-फलादीनां गर्भस्य परिशातनं अभिसारिकं च यः करोति शापं च प्रयच्छति स प्रपातनकुशीलः। (भ. आ. विजयो. १९५०)।
जो त्रस जीवों; वृक्षादिकों और पुष्प-फलादिकों के गर्भ का विनाश करता है, अभिसरण क्रिया (प्रियसमागम) को करता है, तथा शाप देता है उसे प्रपातनकुशील कहा जाता है।

× । (सिद्धिवि. १०-२); यथास्वं प्रमेयस्य व्यवसायो यतस्तदेव स्वतः प्रमाणम् । ज्ञानं प्रमाणम् ××× । सिद्धिवि. स्वो. वृ. १-३, पृ. १२); सिद्धं यन्न परापेक्षं सिद्धौ स्व-पररूपयोः । तत् प्रमाणं ××× ॥ (सिद्धिवि. १-२३); तद् यतः सम्पद्यते तत्प्रमाणम् । (सिद्धिवि. स्वो. वृ. १-२३, पृ. ९६); तस्मादिदं स्पष्टं व्यवसायात्मकं ज्ञानं स्वार्थसन्निधानान्वय-व्यतिरेकानुविधायि प्रतिसंख्यानिरोध्यविसंवादकं प्रमाणं युक्तम् । (सिद्धिवि. स्वो. वृ. १-२५, पृ. ११२) । ८. तथा चोक्तम्—अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं ××× । तदनेकान्तप्रतिपत्तिः प्रमाणम् । (अष्टश. १०६) । ९. प्रमीयत इति प्रमितिर्वा प्रमीयते वाऽनेनेति प्रमाणम् । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ७५); प्रमितिः प्रमीयतेऽनेन प्रमा[मि]णोतीति वा प्रमाणम् । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ९९) । १०. निर्बाधबोधविशिष्टः आत्मा प्रमाणम् । (धव. पु. ९, पृ. १४१); अथवा प्रवानीकृतबोधः पुरुषः प्रमाणम् । (धव. पु. ९, पृ. १६४) । ११. प्रमाणं सकलादेशि ××× । (त. श्लो. १, ६, ३) । १२. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् । (प्रमाणप. पृ. ५१); प्रमाणलक्षणं व्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानम् । (प्रमाणप. पृ. ६३) । १३. स्वार्थव्यवसायात्मकं तत्त्वज्ञानं प्रवृद्धं मानं प्रमाणमिति । (युक्त्यनु. टी. पृ. १०) । १४. प्रमीयतेऽनेन तत्त्वमिति प्रमाणम् । ××× प्रमिणोत्यवगच्छतीति प्रमाणम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. ६) । १५. प्रमीयते संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम् । (सिद्धि. वि. वृ. १-२३, पृ. ९७); स्वतो यतः प्रमेयव्यवसायस्तत्प्रमाणम् । (सिद्धि. वि. वृ. १, ४२); स्व-परव्यवसायस्वभावज्ञानं प्रमाणमित्यर्थः । (सिद्धिवि. वृ. ३, पृ. (लि.) ५२२) । १६. सकलवस्तुग्राहकं प्रमाणम्, प्रमीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन ज्ञानेन तत्प्रमाणम् । (आलापप. पृ. १४५) । १७. सम्यग्ज्ञानात्मकं तत्र प्रमाणमुपवर्णितम् । (त. सा. १-१५) । १८. ××× प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानमिति । (सन्मति. अभय. वृ. २-१, पृ. ५१८) । १९. प्रमीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेति प्रमाणम् । (उत्तरा. नि. शा. वृ. २८, पृ. १४) । २०. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् । (परीक्षा. १-१) । २१. प्रकर्षेण हि संशयादिव्यवच्छेदलक्षणेन मीयते अव्यवधानेन परिच्छिद्यते येनार्थः तत्प्रमाणम् । (न्यायकु. १-३, पृ. २८ व १-३, पृ. ४८) । २२. क्षयोपशमविशेषवशात् स्व-परप्रमेयस्वरूपं प्रमिमीते यथावज्जानातीति प्रमाणमात्मा । ××× साधकतमत्वादिविवक्षायां तु प्रमीयते येन तत्प्रमाणं प्रमितिमात्रं वा, प्रतिबन्धकापाये प्रादुर्भूतविज्ञानपर्यायस्य प्राधान्येनाश्रयणात् प्रदीपादेः प्रभाभारात्मकप्रकाशवत् । (प्र.क.मा. पृ. ४); मा अन्तरंगबहिरंगानन्तज्ञान-प्रातिहार्यादिश्रीः, अण्यते शब्द्यते येनार्थोऽसावाणः शब्दो मा चाणश्च माणौ, प्रकृष्टौ महेश्वराद्यसम्भविनौ माणौ यस्यासौ प्रमाणो भगवान् सर्वज्ञो दृष्टेष्टाविरुद्धवाक् च । (प्र. क. मा. पृ. ७); परनिरपेक्षतया वस्तुतथाभावप्रकाशकं हि प्रमाणम् । (प्र.क.मा. १-३, पृ. २७) । २३. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् । (प्रमाणनि. पृ. १) । २४. प्रमाणम् अवितथनिर्भासं ज्ञानम् । (न्यायवि. विव. १-५०, पृ. ३१२) । २५. गेण्हइ वत्थुसहावं अविरुद्धं सम्मरूव जं णाणं । भणियं खु तं पमाणं पच्चक्ख-परोक्खभेएहिं ॥ (द्रव्यस्व. प्र. नयच. १६९) । २६. प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणं स्व-परावभासकं ज्ञानम् । (आ. मी. वसु. वृ. १२); अनेकान्तप्रतिपत्तिः प्रमाणम् । (आ. मी. वसु. वृ. १०६) । २७. प्रमितिः प्रमीयते वा—परिच्छिद्यते येनार्थस्तत्प्रमाणम् ।(स्था. ना. अभय. वृ. ४, १, २५८)। २८. स्व-परव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् । (प्र. न. त. १-२); प्रकर्षेण सन्देहाद्यपनयनस्वरूपेण मीयते परिच्छिद्यते वस्तु येन तत्प्रमाणम् । (स्याद्वादर. १-१) । २९. अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं ××× । (त्रि. श. पु. च. २, ३, ४४३) । ३०. सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् । (प्रमाणमी. १-२) । ३१. प्रमाणं स्व-परव्यवसायि ज्ञानम् । (रत्नाकराव. १-२, पृ. १२) । ३२. प्रमाणं च तदभिधीयते येन वस्तु परिच्छिद्यते; प्रमीयते परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति प्रमाणमिति व्युत्पत्तेः । (आव. नि. मलय. वृ. ७५८, पृ. ३७८) । ३३. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् । (न्यायदी. पृ. ९) । ३४. स्व-परव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणमिति प्रकर्षेण संशयाभावस्वभावेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तु येन तत्प्रमाणम् । (षड्द. स. वृ. ५४, पृ. २०३); यथार्थैवाविसंवादि

करने वाला प्रमाद भी साथ में रहता है; इसीलिए उसे प्रमत्तविरत या प्रमत्तसंयत कहते हैं।

प्रमत्तसंयत—१. वत्तावत्तपमाए जो वसइ पमत्तसंजश्रो होइ। सयलगुण-सीलकलिश्रो महव्वई चित्तलायरणो ॥ (प्रा. पंचसं. १–१४; धव. पु. १, पृ. १७८ उद्.; भावसं. ६०१; गो. जी. ३३)। २. परिप्राप्तसंयमः प्रमादवान् प्रमत्तसंयतः। अनन्तानुबन्धिकषायेषु क्षीणेष्वक्षीणेषु वा प्राप्तोदयक्षयेषु अष्टानां च कषायाणां उदयक्षयात् तेषामेव सदुपशमात् संज्वलन-नोकषायाणाम् उदये संयमलब्धिर्भवति। तन्मूलसाधनोपपादितोपजननं बाह्यसाधनसन्निधानाविर्भावमापद्यमानं प्राणेन्द्रियविषयभेदात् द्वितयीं वृत्तिमास्कन्दन्तं संयमोपयोमात्मसात्कुर्वन् पञ्चदशविधप्रमादवशात् किञ्चित्प्रस्खलितचारित्रपरिणामः प्रमत्तसंयत इत्याख्यायते। (त. वा. ६, १, १७)। ३. प्रकर्षेण मत्ताः प्रमत्ताः, सं सम्यक्, यताः विरताः, प्रमत्ताश्च ते संयताश्च प्रमत्तसंयताः। (धव. पु. १, पृ. १७५–७६)। ४. प्रमत्तसंयतो हि स्यात् प्रत्याख्याननिरोधिनाम्। उदयक्षयतः प्राप्तः संयमर्द्धि प्रमादवान् ॥ (त. सा. २–२३)। ५. न यस्य प्रतिपद्यन्ते कषाया द्वादशोदयम्। व्यक्ताव्यक्तप्रमादोऽसौ प्रमत्तः संयतः स्मृतः ॥ (पंचसं. अमित. १–२८)। ६. स एव सद्दृष्टिर्धूलिरेखादिसदृशक्रोधादितृतीयकषायोदयाभावे सत्यभ्यन्तरे निश्चयनयेन रागाद्युपाधिरहितस्वशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतानुभवलक्षणेषु बहिर्विषयेषु पुनः सामस्त्येन हिंसानृतस्तेयाब्रह्म-परिग्रहनिवृत्तिलक्षणेषु च पंचमहाव्रतेषु वर्तते यदा तदा दुःस्वप्नादिव्यक्ताव्यक्तप्रमादसहितोऽपि षष्ठगुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयतो भवति। (बृ. द्रव्यसं. टी. १३, पृ. २८)। ७. प्रमत्तसंयतः प्राप्तसंयमो यः प्रमाद्यति ॥३३॥ (योगशा. स्वो. विव. १–१६, पृ. १११ उद्.)। ८. विगहा-कसाय-निद्दा-सद्दाइरश्रो भवे पमत्तो त्ति। (शतक. भा. ६–८७, पृ. २१; गु. गु. षट्. स्वो. वृ. १७, उद्.)। ९. ××× संज्वलनकषाय-नोकषायाणां सर्वघातिस्पर्द्धकोदयाभावलक्षणे क्षये तेषामेव सदवस्थालक्षणे उपशमे च सति सकलसंयमो भवति, तेषां देशघातिस्पर्द्धकतीव्रोदयात् संयममलजननप्रमादोऽपि भवति। (गो. जी. मं. प्र. ३२)। १०. यस्मात्करणात् (संज्वलनदेशघातिस्पर्द्धकानां क्रोध-मान-माया-लोभानां नोकषायाणां च हास्य-रत्यरति-शोक-भयजुगुप्सा-स्त्री-पुंनपुंसकवेदानां तीव्रोदयात् यस्य संयमः सकलचारित्रे मलजननप्रमादोऽपि च भवेत्तस्मात् कारणात् प्रमादसंयमवान् स जीवः खलु स्फुटं प्रमत्तविरतो भवति) संज्वलनकषाय-नोकषायाणां सर्वघातिस्पर्द्धकोदयाभावलक्षणक्षये द्वादशकषायाणामनुदयप्राप्तसंज्वलननोकषायनिषेकाणां च सदवस्थालक्षणोपशमे च संज्वलन-नोकषायदेशघातिस्पर्द्धकतीव्रोदयात् संयमो मलजननप्रमादश्चोत्पद्यते, तस्मात्कारणात् प्रमत्तश्चासौ विरतश्चेति स षष्ठगुणस्थानवर्ती जीवः प्रमत्तसंयत इत्युच्यते। (गो. जी. जी. प्र. ३२)।

१ जो व्यक्त (स्थूल) और अव्यक्त (सूक्ष्म) प्रमाद में वर्तमान होता हुआ सम्यक्त्व आदि समस्त गुणों व व्रतरक्षक शीलों से सहित होकर महाव्रतों का पालन करता है उसे प्रमत्तसंयत कहते हैं। प्रमाद से सहित होने के कारण उसका आचरण चित्रल (चीता) के समान विचित्र होता है—वह विशुद्ध नहीं होता। २ जो संयम को प्राप्त करके भी विकथादि प्रमादों से युक्त होता है वह प्रमत्तसंयत कहलाता है।

प्रमदा—पुरिसं सदा पमत्तं कुणदि त्ति य उच्चदे पमदा। (भ. आ. ९७८)।

जो पुरुष को निरन्तर प्रमादयुक्त—कामोन्मत्त—करती है उसका नाम प्रमदा (स्त्री) है।

प्रमाण—१. विधिर्विपक्तप्रतिषेधरूपः प्रमाण— ×××। (स्वयम्भू. ५२); परस्परेक्षान्वयभेदलिङ्गतः प्रसिद्धसामान्य-विशेषयोस्तव। समग्रतास्ति स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम् ॥ (स्वयम्भू. ६३)। २. तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्। (आप्तमी. १०१)। ३. प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्। (न्यायाव. १; प्रमाल. १); प्रमाणं स्वान्यनिश्चायि द्वयसिद्धौ प्रसिद्ध्यति ॥ (न्यायाव. ७)। ४. प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्। (उत्तरा. चू. १, पृ. ११)। ५. प्रमीयत इति प्रमाणं प्रमितिर्वा प्रमाणं प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम् (अनुयो. चू. पृ. ५०)। ६. ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः ×××। (लघीय. ५२); तदुभयात्मार्थज्ञानं प्रमाणम्। (लघीय. स्वो. वृ. ४८), प्रमाणं त्रिकालगोचरसर्वजीवादि-पदार्थनिरूपणम्। (लघीय. स्वो. वृ. ७३)। ७. ज्ञानं प्रमाणमित्याहुः ××

× । (सिद्धिवि. १०-२); यथास्वं प्रमेयस्य व्यवसायो यतस्तदेव स्वतः प्रमाणम् । ज्ञानं प्रमाणम् ××× । सिद्धिवि. स्वो. वृ. १-३, पृ. १२); सिद्धं यन्न परापेक्षं सिद्धौ स्व-पररूपयोः । तत् प्रमाणं ××× ॥ (सिद्धिवि. १-२३); तद् यतः सम्पद्यते तत्प्रमाणम् । (सिद्धिवि. स्वो. वृ. १-२३, पृ. ९६); तस्मादिदं स्पष्टं व्यवसायात्मकं ज्ञानं स्वार्थसन्निधानान्वय-व्यतिरेकानुविधायि प्रतिसंख्यातिरोध्यविसंवादकं प्रमाणं युक्तम् । (सिद्धिवि. स्वो. वृ. १-२५, पृ. ११२) । ८. तथा चोक्तम्—अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं ××× । तदनेकान्तप्रतिपत्तिः प्रमाणम् । (अष्टश. १०६) । ९. प्रमीयत इति प्रमितिर्वा प्रमीयते वाऽनेनेति प्रमाणम् । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ७५); प्रमितिः प्रमीयतेऽनेन प्रमा[मि]णोतीति वा प्रमाणम् । (अनुयो. हरि. वृ. पृ, ९९) । १०: निर्बाधबोधविशिष्टः आत्मा प्रमाणम् । (धव. पु. ९, पृ. १४१); अथवा प्रधानीकृतबोधः पुरुषः प्रमाणम् । (धव. पु. ९, पृ. १६४) । ११. प्रमाणं सकलादेशि ××× । (त. श्लो. १, ६, ३) । १२. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् । (प्रमाणप. पृ. ५१); प्रमाणलक्षणं व्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानम् । (प्रमाणप. पृ. ६३) । १३. स्वार्थव्यवसायात्मकं तत्त्वज्ञानं प्रवृद्धं मानं प्रमाणमिति । (युक्त्यनु. टी. पृ. १०) । १४. प्रमीयतेऽनेन तत्त्वमिति प्रमाणम् । ××× प्रमिणोत्यवगच्छतीति प्रमाणम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. ६) । १५. प्रमीयते संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम् । (सिद्धि. वि. वृ. १-२३, पृ. ९७); स्वतो यतः प्रमेयव्यवसायस्तत्प्रमाणम् । (सिद्धि. वि. वृ. १, ४२); स्व-परव्यवसायस्वभावज्ञानं प्रमाणमित्यर्थः । (सिद्धिवि. वृ. ३, पृ. (लि.) ५२२) । १६. सकलवस्तुग्राहकं प्रमाणम्, प्रमीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन ज्ञानेन तत्प्रमाणम् । (आलापप. पृ. १४५) । १७. सम्यग्ज्ञानात्मकं तत्र प्रमाणमुपवर्णितम् । (त. सा. १-१५) । १८. ××× प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानमिति । (सन्मति. अभय. वृ. २-१, पृ. ५१८) । १९. प्रमीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेति प्रमाणम् । (उत्तरा. नि. शा. वृ. २८, पृ. १४) । २०. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् । (परीक्षा. १-१) । २१. प्रकर्षेण हि संशयादिव्यवच्छेदलक्षणेन मीयते अव्यवधानेन परिच्छिद्यते येनार्थः तत्प्रमाणम् । (न्यायकु. १-३, पृ. २८ व १-३, पृ. ४८) । २२. क्षयोपशमविशेषवशात् स्व-परप्रमेयस्वरूपं प्रमिमीते यथावज्जानातीति प्रमाणमात्मा । ××× साधकतमत्वादिविवक्षायां तु प्रमीयते येन *तत्प्रमाणं प्रमितिमात्रं वा, प्रतिबन्धकापाये प्रादुर्भूतविज्ञानपर्यायस्य प्राधान्येनाश्रयणात् प्रदीपादेः प्रभाभारात्मकप्रकाशवत् । (प्र.क.मा. पृ. ४); मा अन्तरंग-बहिरंगानन्तज्ञान-प्रातिहार्यादिश्रीः, अण्यते शब्द्यते येनार्थोऽसावाणः शब्दो मा चाणश्च माणौ, प्रकृष्टौ महेश्वराद्यसम्भविनौ माणौ यस्यासौ प्रमाणो भगवान् सर्वज्ञो दृष्टेष्टाविरुद्धवाक्* च । (प्र. क. मा. पृ. ७); परनिरपेक्षतया वस्तुतथाभावप्रकाशकं हि प्रमाणम् । (प्र.क.मा. १-३, पृ. २७) । २३. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् । (प्रमाणनि. पृ. १) । २४. प्रमाणम् अवितथनिर्भासं ज्ञानम् । (न्यायवि. विव. १-५०, पृ. ३१२) । २५. गेण्हइ वत्थुसहावं अविरुद्धं सम्मरूव जं णाणं । भणियं खु तं पमाणं पच्चक्ख-परोक्खभेएहिं ॥ (द्रव्यस्व. प्र. नयच. १६६) । २६. प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणं स्व-परावभासकं ज्ञानम् । (आ. मी. वसु, वृ. १२); अनेकान्तप्रतिपत्तिः प्रमाणम् । (आ. मी. वसु. वृ. १०६) । २७. प्रमितिः प्रमीयते वा—परिच्छिद्यते येनार्थस्तत्प्रमाणम् ।(स्थाना. अभय. वृ. ४, १, २५८) । २८. स्व-परव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् । (प्र. न. त. १-२); प्रकर्षेण सन्देहाद्यपनयनस्वरूपेण मीयते परिच्छिद्यते वस्तु येन तत्प्रमाणम् । (स्याद्वादर. १-१) । २९. अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं ××× । (त्रि. श. पु. च. २, ३, ४४३) । ३०. सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् । (प्रमाणमी. १-२) । ३१. प्रमाणं स्व-परव्यवसायि ज्ञानम् । (रत्नाकराव. १-२, पृ. १२) । ३२. प्रमाणं च तदभिधीयते येन वस्तु परिच्छिद्यते; प्रमीयते परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति प्रमाणमिति व्युत्पत्तेः । (आव. नि. मलय. वृ. ७५८, पृ. ३७८) । ३३. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् । (न्यायदी. पृ. ९) । ३४. स्व-परव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणमिति प्रकर्षेण संशयाभावस्वभावेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तु येन तत्प्रमाणम् । (षड्द. स. वृ. ५४, पृ. २०३); यथार्थेनाविसंवादि

प्रमाणं तत्तथा मतम् । (षड्द., स. वृ. ५५, पृ. २११, उद्) । ३५. प्रमाणं सम्यग्ज्ञानम् । (प्रमाल. वृ. ३६५) । ३६. प्रमाणं च स्वपरावभासि ज्ञानम् । (स्या. मं. १७); प्रमाणं तु सम्यगर्थनिर्णयलक्षणं सर्वनयात्मकम् । (स्या. मं. २८) । ३७. प्रकर्षेण संशय-विपर्यासानध्यवसायव्यवच्छेदेन मिमीते जानाति स्व-परस्वरूपम्, मीयतेऽनेनेति मितिमात्रं वा प्रमाणमिति व्युत्पत्तेः । (लघीय. अभय. वृ., पृ. ७) । ३८. अर्थविकल्पो ज्ञानं प्रमाणमिति ××× । (पंचाध्या. १–५४१); विधिपूर्वः प्रतिषेधः प्रतिषेधपुरस्सरो विधिस्त्वनयोः । मैत्री प्रमाणमिति वा स्व-पराकारावगाहि यज्ज्ञानम् ॥ (पञ्चाध्या. १, ६६५) । ३९. सकलवस्तुग्राहकं प्रमाणम्, प्रमीयते परिच्छिद्यते येन ज्ञानेन तत्प्रमाणम् । (कार्तिके. टी. २६१) । ४०. प्रमीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम् (समय. क. टी. ९) । ४१. सप्तभङ्ग्यात्मकं वाक्यं प्रमाणं पूर्वबोधकृत् । (नयोप. ६)। ४२. स्व-परव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् । (जैनत. पृ. ११३) ।

१ प्रतिषेधरूप से सम्बद्ध (सापेक्ष) विधि को प्रमाण कहा जाता है । स्व और पर के प्रकाशित करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं । ३ स्व और पर के प्रकाशक निर्बाध ज्ञान को प्रमाण जानना चाहिये । ६ आत्मा आदि के ज्ञान को—जीव-पुद्गलादि के अथवा स्व और अर्थ के ज्ञान को—प्रमाण कहा जाता है ।

प्रमाणकाल—१. प्रमाणकालो पल्लोवम-सागरोवम-उस्सप्पिणी-ओसप्पिणी-कप्पादिभेदेन बहुप्पयारो । (धव. पु. ११, पृ. ७७) । २. प्रमीयते परिच्छिद्यते येन वर्षशत-पल्योपमादि तत्प्रमाणम्, तदेव कालः प्रमाणकालः, स च अद्धाकालविशेष एव दिवसादिलक्षणो मनुष्यक्षेत्रान्तवर्तीति । उक्तं च—दुविहो प्रमाणकालो दिवसप्रमाणं च होइ राई य । चउपोरिसिओ दिवसो राई चउपोरिसी चेव ॥ (स्थाना. अभय. वृ. ४, १, २६४) । ३. प्रमाणकालः अद्धाकालविशेषो दिवसादिलक्षणो वाच्यः । (आव. नि. मलय. वृ. ६६०); अद्धाकालविशेष एव मनुष्यलोकान्तर्वर्ती विशिष्टव्यवहारहेतुरहर्निशारूपः प्रमाणकालः । तथा च आह भाष्यकृत्—अद्धाकालविसेसो पत्थयमाणं व माणुसे खेत्ते । सो संववहारत्थं प्रमाणकालो अहोरत्तं ॥ (आव. नि. मलय. वृ. ७२९) ।

१ पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी अवसर्पिणी और कल्प आदि के भेद से प्रमाणकाल बहुत प्रकार का है । २ जिसके आश्रय से सौ वर्ष और पल्योपम आदि का परिज्ञान होता है वह प्रमाणस्वरूप काल प्रमाणकाल कहलाता है ।

प्रमाणगव्यूति—द्विसहस्रदण्डैर्मपिता एका प्रमाणगव्यूतिः । (त. वृत्ति श्रुत. ३–३८) ।

दो हजार धनुष प्रमाण मापविशेष को एक प्रमाणगव्यूति कहते हैं ।

प्रमाणदोष—१. अदिमत्तो आहारो पमाणदोसो हवदि एसो । (मूला. ६–५७) । २. द्वात्रिंशत्कवलप्रमाणातिरिक्तमाहारयतः प्रमाणदोषः । (आचारा. सू. शी. वृ. २, १, २७३, पृ. ३२१) । ३. अन्नेनार्द्धं तृतीयांशं कुक्षेः पानेन पूरयेत् । वायोः सुखप्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेत् ॥ प्रमाणादतिरिक्तोऽस्मात् प्रमाणागो भवेद्यतः । ध्यानाध्ययनभंगार्ति-निद्रालस्यादयोऽगिनः ॥ (आचा. सा. ८, ५५–५६)। ४. कुक्षेरर्धमंशमन्नेन पूरयेत्, तृतीयमंशं कुक्षेः पानेन पूरयेत्, कुक्षेश्चतुर्थमंशं वायोः सुखप्रचारार्थमवशेपयेत् रिक्तं रक्षेत्, अस्मात् प्रमाणादतिरेकोऽधिकग्रहणं प्रमाणदोषः । (भावप्रा. टी. ९९) ।

१ अत्यधिक आहार के ग्रहण करने से प्रमाणदोष होता है । २ बत्तीस ग्रास प्रमाण आहार से अधिक होने पर वह प्रमाणदोष से दूषित होता है । ३ साधु अपने उदर के अर्ध भाग को अन्न से और तृतीय भाग को जल से भरे, शेष चतुर्थ भाग को वायु के संचार के लिए खाली रखे । यह साधु के आहार का प्रमाण है । इस प्रमाण का उल्लंघन करके उससे अधिक आहार करने पर वह आहार सम्बन्धी प्रमाणदोष का भागी होता है ।

प्रमाणपद — प्रमाणपदानि शतं सहस्रं द्रोणः खारी पलं तुला कर्षादीनि । (धव. पु. १, पृ. ७७); सदं सहस्समिच्चादीणि पमाणपदणामाणि । (धव. पु. ६, पृ. १३६); अट्ठक्खरणिप्फण्णं पमाणपदं । (धव. पु. १३, पृ. २६६; जयध. १, पृ. ९०) ।

सौ, हजार, द्रोण, खारी, पल, तुला और कर्ष आदि प्रमाणपद माने जाते हैं । आठ अक्षरों का एक प्रमाणपद—श्लोक का एक चरण—होता है ।

प्रमाणप्राप्त आहार—देखो अवमौदर्य व प्रमाण-दोष। १. बत्तीसं किर कवला आहारो कुक्खि-पूरणो होइ। पुरिसस्स महिलियाए अट्ठावीसं हवे कवला॥ (भ. आ. २११)। २. प्रमाणप्राप्त आहारो द्वात्रिंशत्कवलाः। (योगशा. स्वो. विव. ४, ६६, पृ. ३११)।

१ पुरुष का प्रमाणप्राप्त आहार बत्तीस ग्रास प्रमाण और महिला (स्त्री) का अट्ठाईस ग्रास प्रमाण होता है।

प्रमाणप्राप्तात् किंचिदूनौनोदर्य—देखो प्रमाण-प्राप्त आहार। आहारः पुंसो द्वात्रिंशत्कवलप्रमाणः। कवलश्चोत्कृष्टापकृष्टौ वर्जयित्वा मध्यम इह गृह्यते। स चाविकृतस्वमुखविवरप्रमाणः। स च एकादिकवलैरूनश्चतुर्विंशतिकवलान् यावत् प्रमाण-प्राप्तात् किंचिदूनौनोदर्यम्। (योगशा. स्वो. विव. ४–६६, पृ. ३११)।

पुरुष का प्रमाणप्राप्त आहार बत्तीस ग्रास प्रमाण माना गया है। यहां उत्कृष्ट और जघन्य को छोड़ कर मध्यम ग्रासों को ग्रहण किया गया है। प्रमाणप्राप्त आहार से एक दो आदि ग्रासों से हीन चौबीस ग्रास तक ग्रहण करने पर किंचित् ऊन औनोदर्य होता है।

प्रमाणफल—१. प्रमाणस्य फलं साक्षात् सिद्धिः स्वार्थविनिश्चयः। (सिद्धिवि. १, ३, पृ. १२)। २. अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्। (परीक्षा. ५–१)।

१ प्रमाण का साक्षात् फल स्व और अर्थ के निश्चय-रूप सिद्धि है। २ अज्ञान का विनाश, परित्याग, ग्रहण अथवा उपेक्षा यह प्रमाण का फल है।

प्रमाणयोजन—ताभिश्चतुर्गव्यूति (प्रमाणगव्यूति) भिर्निर्मितं एकं प्रमाणयोजनम्। मानवानां पञ्चशत-योजनैरेकं प्रमाणयोजनमित्यर्थः। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३८)

चार प्रमाणगव्यूति मात्र मापविशेष को प्रमाणयोजन कहते हैं। वह मनुष्यों के—उत्सेधांगुलसिद्ध—पांच सौ योजन के बराबर होता है।

प्रमाणसप्तभंगी—सकलादेशस्वभावा तु प्रमाण-सप्तभंगी, यथावद्वस्तुरूपप्ररूपकत्वात्। (प्र. क. मा. ६–७४, पृ. ६८२)।

सकलादेश स्वभाववाली—अनेकान्तात्मक वस्तु की प्रतिपादक—सप्तभंगी को प्रमाणसप्तभंगी कहा जाता है।

प्रमाणसंप्लव—प्रमाणसंप्लव एकत्रार्थे प्रवृत्तिर-नेकप्रमाणस्य। (अष्टस. यशो. वृ. २, पृ. ५)।

एक ही पदार्थ के विषय में अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति को प्रमाणसंप्लव कहते हैं।

प्रमाणसंवत्सर—१. युगस्य प्रमाणहेतु संवत्सरः प्रमाणसंवत्सरः। (सूर्यप्र. मलय, वृ. १०, १६, ५४, पृ. १५४)। २. प्रमाणं परिमाणं दिवसादीनाम्, तेनोपलक्षितो वक्ष्यमाण एव नक्षत्रसंवत्सरादिः प्रमाणसंवत्सरः। (जम्बूद्वी. शा. वृ. १५१)।

१ जो संवत्सर (वर्ष) युग के प्रमाण का कारण है उसे प्रमाणसंवत्सर कहा जाता है। २ दिवस-रात्रि आदि के प्रमाण से उपलक्षित नक्षत्रसंवत्सरादि को प्रमाणसंवत्सर कहते हैं।

प्रमाणाङ्गुल—१. से किं तं पमाणांगुले? पमाणांगुले एगमेगस्स रण्णो चाउरंतचक्कवट्टिस्स अट्ठसोवण्णिए कागिणीरयणे छत्तले दुवालसंसिए अट्ठकण्णिए अहिग-रणसंठाणसंठिए पं०, तस्स णं एगमेगा कोडी उस्सेहंगु-लविक्खंभा, तं समणस्स भगवओ महावीरस्स अद्धं-गुलं, तं सहस्सगुणं पमाणांगुलं भवइ। (अनुयो. सू. १३३, पृ. १७१)। २. उस्सेहंगुलमेगं हवइ पमाणं-गुलं दु पंचसयं। ओसप्पिणीए पढमस्स अंगुलं चक्क-वट्टिस्स॥ (जीवस. १०१)। ३. तं चिय पंचस-याइं अवसप्पिणिपढमभरहचक्किस्स। अंगुल एक्कं चेव य तं तु पमाणंगुलं णाम॥ (ति. प. १-१०८)। ४. प्रमाणाङ्गुलमेकं स्यात्तत्पञ्चशतसंगुणम्। प्रथम-स्यावसर्पिण्यामङ्गुलं चक्रवर्तिनः॥ (ह. पु. ७–४२)। ५. तदेव (उत्सेधांगुलमेव) पंचशतगुणितं प्रमाणां-गुलं भवति। (त. वा. ३, ३८, ६, पृ. २०७-८)। ६ उच्छ्रयांगुलं सहस्रगुणितं प्रमाणांगुलमुच्यते × × ×। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ८१)। ७ सहस्रगु-णितादुत्सेधाङ्गुलप्रमाणाज्जातं प्रमाणाङ्गुलम्, अथ-वा परमप्रकर्षरूपं प्रमाणं प्राप्तमङ्गुलं प्रमाणाङ्गु-लम्, नातः परं बृहत्तरमंगुलमस्तीति भावः। यदि वा—समस्तलोकव्यवहारराज्यादिस्थितिप्रथमप्रयोक्तृत्वेन प्रमाणभूतोऽस्मिन्नवसर्पिणीकाले तावद्युगादिदेवो भर-तो वा तस्यांगुलम् प्रमाणाङ्गुलम्। (अनुयो. सू. मल. हेम. वृ. १३३, पृ. १७१)। ८. उच्छेह-अंगुलेहि य पंचेव सदेहि तह य घेत्तूणं। णामेण समु-

दिट्ठो होदि पमाणंगुलो एक्को ।। (जं. दी. प. १३, २५) । ६. अवसर्पिण्याः सम्बन्धी प्रथमचक्रवर्ती, तस्यांगुलं प्रमाणांगुलम् । अथवा उत्सर्पिण्याः सम्बन्धी चरमचक्रवर्ती, तस्यांगुलं प्रमाणांगुलम् । (त. वृत्ति श्रुत. ३-३८, पृ. १५२)। १०. चत्वार्युत्सेधाङ्गुलानां शतान्यायामतो मतम् । तत्सार्द्धद्वयङ्गुलव्यासं प्रमाणाङ्गुलमिष्यते ॥ प्रमाणं भरतश्चक्री युगादौ वाऽऽदिमो जिनः । तदङ्गुलमिदं यत्तत् प्रमाणाङ्गुलमुच्यते ॥ वस्तुतः पुनरौत्सेधात् सार्द्धद्विगुणविस्तृतम् । चतुःशतगुणं दैर्घ्ये प्रमाणाङ्गुलमास्थितम् ॥(लोकप्र. १-३१, ३२ व ३८) ।

२ पांच सौ उत्सेधांगुल प्रमाण एक प्रमाणांगुल होता है। इसे अवसर्पिणीके प्रथम चक्रवर्ती का अंगुल समझना चाहिए । ६ एक हजार से गुणित उच्छ्रयांगुलके बराबर एक प्रमाणांगुल होता है ।

प्रमाणातिक्रम — तीव्रलोभाभिनिवेशादतिरेकाः प्रमाणातिक्रमाः । एतावानेव परिग्रहो मम, नातोऽन्य इति परिच्छिन्नात् क्षेत्र-वास्त्वादिविषयादतिरेकाः अतिलोभवशात् प्रमाणातिक्रम इति प्रत्याख्यायते । (त. वा. ७, २६, २) ।

तीव्र लोभ के वश होकर स्वीकृत परिग्रहप्रमाण के उल्लंघन करने को प्रमाणातिक्रम कहते हैं। यह प्रमाणातिक्रम क्षेत्र-वास्तु आदि के विषय में सम्भव है, जो क्रम से परिग्रहपरिमाणव्रतके क्षेत्र-वास्तु-प्रमाणातिक्रम आदि पांच अतिचाररूप होता है।

प्रमाणातिरिक्तता—देखो प्रमाणदोष । १ धृति-बल-संयम-योगा यावता न सीदन्ति तदाहारप्रमाणम् । अधिकाहारस्तु वमनाय मृत्यवे व्याधये चेति तं परिहरेदिति प्रमाणातिरिक्ततादोषः । योगशा. स्वो. विव. १—३८, पृ. १३८) । २. प्रमाणातिरिक्तं षड्भागोनमात्राधिकम् । (गु. गु. षट्. २५, पृ. ५८ उद्.) ।

१ जितने आहार के द्वारा धैर्य, बल, संयम और योग खेद को प्राप्त नहीं होते हैं उतने आहार के ग्रहण का प्रमाण आगम में कहा गया है। उससे अधिक ग्रहण करने पर प्रमाणातिरिक्तता दोष उत्पन्न होता है। अधिक आहार का लेना वमन, मृत्यु, अथवा रोग का कारण होता है।

प्रमाणातिरेक दोष—अधिकवितस्तिमात्राया भूमेरधिकाया अपि भुवो ग्रहणं प्रमाणातिरेकदोषः । (भ. आ. विजयो. २३०; कार्तिके. टी. १४८–४६, पृ. ३३६) ।

साधु के लिए जितनी भूमिका प्रमाण आगम में कहा गया है उससे एक वितस्ति (१२ अंगुल) मात्र भी अधिक लेने पर प्रमाणातिरेक दोष होता है ।

प्रमाणाभास— १. अस्वसंविदित-गृहीतार्थ-दर्शन-संशयादयः प्रमाणाभासाः । (परीक्षा. ६-२)। २. तदिव स्व-परप्रमेयस्वरूपप्रतिभासिप्रमाणमिव आभासत इति तदाभासम् । सकलमतसम्मताऽवबुद्धयक्षणिकाद्येकान्ततत्त्वज्ञान -सन्निकर्षाऽविकल्पकज्ञानाप्रत्यक्षज्ञान-ज्ञानान्तरप्रत्यक्षज्ञानाऽनाप्तप्रणीतागमाऽविनाभावविकललिङ्गनिबन्धनाऽभिनिवोधादिकं संशय-विपर्यासाऽनध्यवसायज्ञानं च । (प्र. क. मा. पृ. ५) ।

१ अस्वसंविदितज्ञान—स्व को न जानकर जो अन्य मतानुसार ज्ञानान्तर से वेद्य है, गृहीतार्थज्ञान (धारावाहिकज्ञान), दर्शन—बौद्धों के द्वारा स्वीकृत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और संशय इत्यादि प्रमाणाभास हैं—प्रमाण के समान प्रतीत होते हैं, पर वस्तुतः वे प्रमाण नहीं हैं ।

प्रमाता—१. प्रमाता चेतनः परिणामी वक्ष्यमाणो जीवः । (सिद्धिवि. वृ. १-२३, पृ. ६७)। २. प्रमाता प्रत्यक्षादिप्रसिद्ध आत्मा । (प्र. न. त. ७–५४) ।

१ चेतन व परिणमन स्वभाववाला जीव प्रमाता—प्रमिति क्रिया का कर्ता—होता है।

प्रमाद—१. स च प्रमादः कुशलेष्वनादरः । (स.सि. ८–१) २. प्रमादः स्मृत्यनवस्थानं कुशलेष्वनादरो योगदुःप्रणिधानं चेत्येष प्रमादः । (त. भा. ८–१) । ३. स च प्रमादः कुशलेष्वनादरः मनसोऽप्रणिधानम् । (त. वा. ८, १, ३)। ४. प्रमादस्वरूपं महाकर्मेन्धनप्रभवाविध्यातदुःखानलज्वालाकलापपरीतमशेषमेव संसारवासगृहं पश्यंस्तन्मध्यवर्त्यपि सति तन्निर्गमनोपाये वीतरागप्रणीतधर्मचिन्तामणौ यतो विचित्रकर्मोदयसाचिव्यजनितात् परिणामविशेषादपश्यन्निव तद्भयमविगणय्य विशिष्टपरलोकक्रियाविमुख एवास्ते सत्त्वः, स खलु प्रमाद इति । (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ६०)। ५. को पमादो णाम ? चदुसंजलण-णवणोकसायाणं तिव्वोदओ । (धव. पु. ७, पृ. ११)। ६. प्रमादस्त्विन्द्रिय-विकथा-विकट-निद्रालक्षणः । (त.भा. सिद्ध. वृ. ८-१)। ७. शुद्धयष्टके तथा धर्मे क्षान्त्यादि-

दशलक्षणे। योऽनुत्साहः स सर्वज्ञैः प्रमादः परिकीर्तितः ॥ (त. सा. ५–१०)। ८. प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः, कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः।(समय. क. ६-११)। ९. संज्वलन-नोकषायाणामुदये सत्यनुद्यमः। धर्मे शुद्धचष्टके वृत्ते प्रमादो गदितो यतेः॥ (पंचसं. अमित. १-२६)। १०. अभ्यन्तरे निष्प्रमादशुद्धात्मानुभूतिचलनरूपः बहिर्विषये तु मूलोत्तरगुणमलजनकश्चेति प्रमादः। (बृ. द्रव्यसं. टी. ३०)। ११. प्रमादश्चायत्नाचरणं विकथादिस्वरूपम्। (मूला. वृ. ११–१०)। १२. प्रमाद्यति मोक्षमार्गं प्रति शिथिलोद्यमो भवत्यनेन प्राणीति प्रमादः। (प्रव. सारो. वृ. २०७)। १३. स च प्रमादः कुशलकर्मस्वनादरः उच्यते। (त. सुखबो. वृ. ८–१)। १४. प्रमाद्यति जीवः कुशलानुष्ठानेभ्यः प्रच्यवतेऽनेनेति प्रमादः। सम्यग्दर्शनादिषु गुण-शीलेषु कुशलानुष्ठानेषु अनवधानमनादरः प्रमादः। (गो. जी. मं. प्र. ३४)। १५. पञ्चसु समितिषु तिसृषु गुप्तिषु विनय-काय-वाङ्मनईर्यापथव्युत्सर्ग-भैक्ष्य-शयनासन-शुद्धिलक्षणास्वष्टसु शुद्धिषु दशलक्षणधर्मेषु चानुद्यमः प्रमादोऽनेकप्रकारः। (त. वृत्ति श्रुत. ८–१)। १६. प्रमदनं प्रमादः प्रमत्तता, सदुपयोगाभाव इत्यर्थः। (सम्बोधस. वृ. ५५, पृ. ४२)।

१ उत्तम क्रियाओं में—व्रत-संयमादि के विषय में—अनादर करना, यह प्रमाद कहलाता है। २ कर्तव्य कार्यविषयक स्मरण का अभाव, आगमोक्त क्रियानुष्ठानों के करने में अनुत्साह और योगों की दुष्प्रवृत्ति; इसे प्रमाद कहा जाता है। ५ चार संज्वलन और नौ नोकषायों के तीव्र उदय का नाम प्रमाद है।

प्रमादचरित—१. क्षिति-सलिल-दहन-पवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदम्। सरणं सारणमपि च प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते॥ (रत्नक. ३–३४)। २. प्रयोजनमन्तरेण वृक्षादिच्छेदन-भूमिकुट्टन-सलिलसेचनाद्यवद्यकार्यं प्रमादाचरितम्। (स. सि. ७–२१)। ३. वृक्षादिच्छेदनं भूमिकुट्टनं जलसेचनम्। इत्याद्यनर्थकं कर्म प्रमादाचरितं तथा। (ह. पु. ५८-१५०)। ४. प्रयोजनमन्तरेणापि वृक्षादिच्छेदन-भूमिकुट्टन-सलिलसेचनाद्यवद्यकर्म प्रमादाचरितमिति कथ्यते। (त. वा. ७, २१, २१)। ५. प्रमादाचरितो मद्यादिप्रमादेनासेवितः, अनर्थदण्डत्वं चास्योक्तशब्दार्थद्वारेण स्वबुद्धया भावनीयम्। (श्रा. प्र. टी. २८६)। ६. निष्प्रयोजनवृक्षादिच्छेदन-भूमिकुट्टनादिलक्षणात् प्रमादाचरितात् × × ×। (त. श्लो. ७–२१)। ७. भूखनन-वृक्षमोटन-शाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि। निष्कारणं न कुर्याद्दल-फल-कुसुमोच्चयानपि च॥ (पु. सि. १४३)। ८. प्रयोजनमन्तरेण भूमिकुट्टन-सलिलसेचनाग्निविध्यापन-वातप्रतिघात-वनस्पा[स्प]तिच्छेदनाद्यवद्यकर्म प्रमादाचरितम्। (चा. सा. पृ. १०)। ९. विहलो जो वावारो पुढवी-तोयाण अग्गि-वाऊणं। तह वि वणप्फदिछेदो अणत्थदंडो हवे तिदिओ॥ (कार्तिके. ३४६)। १०. प्रमादेन—घृत-गुडादिद्रव्याणां स्थगनादिकरणे आलस्यलक्षणेन—आचरितो यस्तस्य वा यदाचरितं सोऽनर्थदण्डः प्रमादाचरितः प्रमादाचरितं वेति। (औपपा. अभय. वृ. ४०, पृ. १०१)। ११. प्रमादानां गीत-नृत्तादीनामाचरणं चतुर्थः। (योगशा. स्वो. विव. ३–७३, पृ. ४६७); कुतूहलाद् गीत-नृत्त-नाटकादिनिरीक्षणम्। कामशास्त्रप्रसक्तिश्च द्यूत-मद्यादिसेवनम्॥ जलक्रीडाऽन्दोलनादिविनोदो जन्तुयोधनम्। रिपोः सुतादिना वैरं भक्त-स्त्री-देश-राट्कथाः॥ रोग-मार्गश्रमौ मुक्त्वा स्वापश्च सकलां निशाम्। एवमादि परिहरेत् प्रमादाचरणं सुधीः॥ (योगशा. ३, ७८–८०, पृ. ४६६)। १२. प्रमादचर्या विफलक्ष्मानिलाग्न्यम्बु-भूरुहाम्। खात-व्याघात-विध्याप-सेकच्छेदादि नाचरेत्॥ (सा. ध. ५–१०)। १३. भूमिकुट्टन-दावाग्नि-वृक्षमोटन-सिञ्चनम्(?)। स्वार्थं विनापि तज्जैयं प्रमादचरितं बुधैः॥ (धर्मसं. श्रा. ७–१२)। १४. प्रयोजनं विना भूमिकुट्टनं जलसेवनम् अग्निसंधुक्षणं व्यजनादिवातक्षेपणं वृक्ष-वल्लीदल-मूल-कुसुमादिच्छेदनम् इत्याद्यवद्यकर्मनिर्माणं प्रमादचरितमुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत.७–२१)।

१ निष्प्रयोजन पृथिवी, जल, अग्नि व वायु का आरम्भ करना—पृथिवी का खोदना, जल का फैलाना, अग्नि का जलाना या बुझाना एवं वायु का करना या रोकना इत्यादि; तथा वनस्पति का छेदना, स्वयं में गमन करना व दूसरे को गमन कराना; इसे प्रमादचर्या कहते हैं। प्रमादचरित व प्रमादाचरित ये उसी के नामान्तर हैं। यह एक अनर्थदण्ड का भेद है। ५ मद्य आदि के प्रमाद से जो आचरण किया जाता है उसे प्रमादाचरित कहा जाता है।

पूजाजनितः सर्वेन्द्रियाभिव्यक्तो मनःप्रहर्ष इति। (त. भा. ७-६)। ४. वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरागः प्रमोदः। वदनप्रसादेन नयनप्रह्लादनेन रोमाञ्चोद्भवेन स्तुत्यभीक्ष्णसंज्ञासंकीर्तनादिभिश्च अभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरागः प्रकर्षेण मोदः प्रमोद इत्युच्यते। (त. वा. ७, ११, २)। ५. परसुखतुष्टिर्मुदिता × × ×॥ (षोडश. ४-१५)। ६. मुदिता नाम यतिगुणचिन्ता—यतयो हि विनीता विरागा विभया विमाना विरोषा विलोभा इत्यादिकाः। (भ. आ. विजयो. १६६६)। ७. तपोगुणाधिके पुंसि प्रश्रयाश्रयनिर्भरः। जायमानो मनोरागः प्रमोदो विदुषां मतः॥ (उपासका. ३३६)। ८. तपःश्रुत-यमोद्युक्तः चेतसां ज्ञान-चक्षुषाम्। विजिताक्ष-कषायाणां स्वतत्त्वाभ्यासशालिनाम्॥ जगत्त्रयचमत्कारिचरणाधिष्ठितात्मनाम्। तद्गुणेषु प्रमोदो यः सद्भिः सा मुदिता मता॥ (ज्ञाना. २७, ११-१२, पृ. २७३)। ९. प्रमोदनं प्रमोदो वदनप्रसादादिभिर्गुणाधिकेष्वभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरनुरागः। (योगशा. स्वो. विव. ४-११६, पृ. ३३५); अपास्ताशेषदोषाणां वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्। गुणेषु पक्षपातो यः स प्रमोदः प्रकीर्तितः। (योगशा. ४, ११९, पृ. ३३६)। १०. मनोनयन-वदनप्रसन्नतया विक्रियमाणोऽन्तर्भक्तिरागः प्रमोद इत्युच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७-११) ११. नमन-प्रसादादिभिर्गुणाधिकेष्वभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरनुरागः प्रमोदः। (धर्मसं. यशो. टि. ३, पृ. २)।

१ मुनिजनों के गुणों के चिन्तन को प्रमोदभावना कहते हैं। २ मुख की प्रसन्नता आदि के द्वारा अन्तरंग भक्तिरूप अनुराग का प्रगट होना, यह प्रमोदभावना कहलाती है। ३ जो गुणों में अधिक हैं, ऐसे व्रती जनों में प्रमोद का विचार करना चाहिए। प्रमोद का अभिप्राय है विनय का प्रयोग, जो साधुजन सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र व तप में अधिक हैं उनकी वन्दना, स्तुति, प्रशंसा और वैयावृत्त्य आदि के आश्रय से स्वयं, दूसरों के द्वारा या दोनों के द्वारा की गई पूजा से सर्व इन्द्रियों के द्वारा अन्तःकरण का हर्ष प्रगट होना, इसे प्रमोदभावना कहा जाता है।

प्रयत्न—१. कर्मविशिष्टात्मप्रदेशपरिस्पन्दः प्रयत्नः। (सिद्धिवि. वृ. ७-२७, पृ. ५०८)। २. प्रयत्नः परनिमित्तको भावः। (नीतिवा. ६-२६, पृ. ७५)। ३. परार्थेऽन्यकृते यो भावश्चित्तं मयास्यैतदवश्यं करणीयमिति स प्रयत्नः। तथा च ग(ग)र्गः—परस्य करणीये यश्चित्तं निश्चित्य धार्यते। प्रयत्नः स च विज्ञेयो गर्गस्य वचनं यथा॥ (नीतिवा. टी. ६-२६)।

१ कर्मविशिष्ट आत्मा के प्रदेशों के हलन-चलन को प्रयत्न कहते हैं। ३ मुझे यह अवश्य करना है, इस प्रकार दूसरे के द्वारा किये गये परार्थ में जो चित्त दिया जाता है उसका नाम प्रयत्न है।

प्रयुत— चतुरशीतिः प्रयुताङ्गशतसहस्राणि एकं प्रयुतम्। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १७८, पृ. ३४५)।

चौरासी लाख प्रयुतांगों का एक प्रयुत होता है।

प्रयुताङ्ग—चतुरशीतिरयुतशतसहस्राणि एकं प्रयुताङ्गम्। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १७८, पृ. ३४५)।

चौरासी लाख अयुतों का एक प्रयुताङ्ग होता है।

प्रयोग—मण-वचि-कायजोगा पओओ। (धव. पु. १२, पृ. २८६)।

मन, वचन और काय योगों को प्रयोग कहा जाता है। यह ज्ञानावरण की वेदना के कारणों में से एक है।

प्रयोगकरण—१. प्रयोगः जीवव्यापारः, तद्धेतुकं करणं प्रयोगकरणम्। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १८५, पृ. १९५)। २. तत्र प्रयोगो नाम जीवव्यापारः, तेन यद् विनिर्माप्यते सजीवमजीवं वा तत् प्रयोगकरणम्। उक्तं च—होइ पओगो जीववावारो तेण जं विणिम्मायं। सज्जीवमजीवं वा पयोगकरणं तयं बहुहा॥ (आव. भा. मलय. वृ. १५५, पृ. ५५९)।

२ जीव के व्यापार को प्रयोग कहते हैं, उस प्रयोग के द्वारा जो सजीव और अजीव का निर्माण किया जाता है उसे प्रयोगकरण कहा जाता है।

प्रयोगक्रिया—१. गमनागमनादिप्र(त. वा. 'गमनप्र')वर्तनं कायादिभिः प्रयोगक्रिया। (स. सि. ६-५; त. वा. ६, ५, ७)। २. कायाज्ञादिस[भि]स्त्वेषां गमनादिप्रवर्तनम्। सा प्रयोगक्रिया वेद्या प्रायोऽसंयमवर्धिनी॥ (ह. पु. ५८-६३)। ३. प्रयोगक्रिया त्रिविधः कायादिव्यापारो वचनादिः। (त.

प्रमादचर्या—देखो प्रमादचरित ।

प्रमादाचरित—देखो प्रमादचरित ।

प्रमादाप्रमाद—प्रमादाप्रमादस्वरूप-भेद-फल-विपाकप्रतिपादकमध्ययनं प्रमादाप्रमादम् । (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ६०) ।

प्रमाद और अप्रमाद के स्वरूप, भेद, फल और विपाक के प्रतिपादन करने वाले अध्ययन का नाम प्रमादाप्रमाद है। यह उत्कालिक श्रुत के अन्तर्गत है।

प्रमार्जन—१. प्रमार्जनमुपकरणोपकारः । मृदुनोपकरणेन यत् क्रियते प्रयोजनं तत् प्रमार्जनं प्रत्येतव्यम् । त, वा. ७, ३४, २) । २. प्रमार्जनमुपकरणोपकारः। (त. श्लो. ७–३४) । ३. मृदुनोपकरणेन यत्क्रियते प्रयोजनं तत्प्रमार्जनम् । (चा. सा. पृ. १२) । ४. प्रमार्जनं मृदुनोपकरणेन प्रतिलेखनम् । (सा. ध. स्वो. टी. ५–४०) । ५. कोमलोपकरणेन यत्प्रतिलेखनं क्रियते तत्प्रमार्जितम् ।(त. वृत्ति श्रुत. ७-३४)। ६. प्रमार्जनं च मृदुभिः यथोपकरणैः कृतम् । उत्सर्गादान-संस्तरविषयं चोपवृंहणम् ॥ (लाटीसं. ६, २०७) ।

१ जीवों के संरक्षणार्थ मृदु उपकरण (वस्त्र आदि) के द्वारा जो पुस्तक व कमण्डलु आदि उपकरणों के झाड़ने आदि रूप कार्य किया जाता है उसका नाम प्रमार्जन है।

प्रमार्जनासंयम—देखो प्रमृज्यसंयम । प्रेक्षितेऽपि स्थण्डिले रजोहरणादिना प्रमृज्य शयनासनादीन् कुर्वतः स्थण्डिलाच्च स्थण्डिलं संक्रामतः सचित्ताचित्त-मिश्रासु पृथिवीषु रजोऽवगुण्ठितौ चरणौ प्रमार्ज्य गच्छतो वा प्रमार्जनासंयमः । (योगशा. स्वो. विव. ४–९३, पृ. ३१६) ।

शुद्ध भूमि के देख लेने पर भी रजोहरण आदि से प्रमार्जन करके सोने व बैठने आदि रूप काम के करने तथा एक शुद्ध भूमि से अन्य शुद्ध भूमि को प्राप्त होते हुए अथवा सचित्त, अचित्त व सचित्ताचित्त पृथिवी पर धूलि से आच्छादित चरणों का प्रमार्जन करके गमन करने को प्रमार्जनासंयम कहते हैं।

प्रमार्जित—देखो प्रमार्जन ।

प्रमिति— अव्युत्पत्ति-संशय-विपर्यासलक्षणाज्ञाननिवृत्तिः प्रमितिः । (सिद्धिवि. वृ. १–२३, पृ, ९६); प्रमितिः स्वार्थविनिश्चयः अज्ञाननिवृत्तिः साक्षात् प्रमाणस्य फलम् । (सिद्धिवि. वृ. १–२३. पृ. ९७); प्रमितिः प्रमाणफलम् । (सिद्धिवि. वृ. १–२३, पृ. १००) ।

अव्युत्पत्ति (विशेष ज्ञान का अभाव), संशय और विपरीत ज्ञानस्वरूप अज्ञान के हट जाने का नाम प्रमिति है।

प्रमृज्यसंयम—देखो प्रमार्जनासंयम । परित्यजतः (सिद्ध. वृ. 'प्रमृज्यसंयम') इति—प्रेक्षिते स्थण्डिले रजोहृत्या प्रमार्जनमनुविधाय स्थानादि कार्यम्, पथि वा गच्छन्तः सचित्त-(सिद्ध. वृ. 'सचित्ताचित्त'-) मिश्रपृथिवीकायरजोऽनुरंजितचरणस्य स्थण्डिलात् स्थण्डिलं क्रामतो (सिद्ध. वृ. 'संक्रामतो')ऽस्थण्डिलाद् वा स्थण्डिलं प्रमृज्य चरणौ संयमभावत्वमा-(सिद्ध. वृ. 'म'-) गार्यादिरहिते अन्यथा त्वप्रमार्जयत एव संयम(?) इति । (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ९–६) ।

शुद्ध भूमि के देख लेने पर रजोहरण के द्वारा प्रमार्जन करके—झाड़कर—बैठने व शयन आदि कार्य का करना तथा मार्ग में जाते हुए सचित्त, अचित्त व मिश्र पृथिवी काय की धूलि से लिप्त पांवों से युक्त होकर जब शुद्ध भूमि से शुद्ध भूमि पर अथवा अशुद्ध भूमि से शुद्ध भूमि पर जाता है तब वह यदि गृहस्थ आदि नहीं है तो पांवों का प्रमार्जन करने पर संयम का परिपालक होता है, अन्यथा प्रमार्जन न करने पर भी संयम परिपालक होता है।

प्रमेय—१. प्रमाणविषयः प्रमेयम् । (सिद्धिवि. वृ. १–२३, पृ. ९७) । २. प्रमाणेन परिच्छेद्यं प्रमेयं प्रणिगद्यते । (द्रव्यानु. त. ११–३, पृ. १८५) ।

१ प्रमाण के विषयभूत पदार्थ को प्रमेय कहते हैं।

प्रमोक्ष— × × × बंधविओओ पमोक्खो दु । (धव. पु. ८, पृ. ३ उद्.) ।

बन्ध के वियोग का नाम प्रमोक्ष है।

प्रमोदभावना— १. मुदिदा जदिगुणचिंता × × × । (भ. आ. १६९६) । २. वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरागः प्रमोदः । (स. सि. ७–११; त. श्लो. ७–११) । ३. प्रमोदं गुणाधिकेषु । प्रमोदो नाम विनयप्रयोगः । वन्दन-स्तुति-वर्णवाद-वैयावृत्यकरणादिभिः सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र-तपोधिकेषु साधुषु परात्मोभयकृत-

पूजाजनितः सर्वेन्द्रियाभिव्यक्तो मनःप्रहर्ष इति। (त. भा. ७-६)। ४. वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरागः प्रमोदः। वदनप्रसादेन नयनप्रह्लादनेन रोमाञ्चोद्भवेन स्तुत्यभीक्ष्णसंज्ञासंकीर्तनादिभिश्च अभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरागः प्रकर्षेण मोदः प्रमोद इत्युच्यते। (त. वा. ७, ११, २)। ५. परसुखतुष्टिर्मुदिता × × ×॥ (षोडश. ४-१५)। ६. मुदिता नाम यतिगुणचिन्ता—यतयो हि विनीता विरागा विभया विमाना विरोषा विलोभा इत्यादिकाः। (भ. आ. विजयो. १६९६)। ७. तपोगुणाधिके पुंसि प्रश्रयाश्रयनिर्भरः। जायमानो मनोरागः प्रमोदो विदुषां मतः॥ (उपासका. ३३६)। ८. तपःश्रुत-यमोद्युक्तः चेतसां ज्ञान-चक्षुषाम्। विजिताक्ष-कषायाणां स्वतत्त्वाभ्यासशालिनाम्॥ जगत्त्रयचमत्कारिचरणाधिष्ठितात्मनाम्। तद्गुणेषु प्रमोदो यः सद्भिः सा मुदिता मता॥ (ज्ञाना. २७, ११-१२, पृ. २७३)। ९. प्रमोदनं प्रमोदो वदनप्रसादादिभिर्गुणाधिकेष्वभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरनुरागः। (योगशा. स्वो. विव. ४-११९, पृ. ३३५); अपास्ताशेषदोषाणां वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्। गुणेषु पक्षपातो यः स प्रमोदः प्रकीर्तितः। (योगशा. ४, ११९, पृ. ३३६)। १०. मनोनयन-वदनप्रसन्नतया विक्रियमाणोऽन्तर्भक्तिरागः प्रमोद इत्युच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७-११) ११. नमन-प्रसादादिभिर्गुणाधिकेष्वभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरनुरागः प्रमोदः। (धर्मसं. यशो. टि. ३, पृ. २)।

१ मुनिजनों के गुणों के चिन्तन को प्रमोदभावना कहते हैं। २ मुख की प्रसन्नता आदि के द्वारा अन्तरंग भक्तिरूप अनुराग का प्रगट होना, यह प्रमोदभावना कहलाती है। ३ जो गुणों में अधिक हैं, ऐसे व्रती जनों में प्रमोद का विचार करना चाहिए। प्रमोद का अभिप्राय है विनय का प्रयोग, जो साधुजन सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र व तप में अधिक हैं उनकी वन्दना, स्तुति, प्रशंसा और वैयावृत्य आदि के आश्रय से स्वयं, दूसरों के द्वारा या दोनों के द्वारा की गई पूजा से सब इन्द्रियों के द्वारा अन्तःकरण का हर्ष प्रगट होना, इसे प्रमोदभावना कहा जाता है।

प्रयत्न—१. कर्मविशिष्टात्मप्रदेशपरिस्पन्दः प्रयत्नः। (सिद्धिवि. वृ. ७-२७, पृ. ५०८)। २. प्रयत्नः परनिमित्तको भावः। (नीतिवा. ६-२९, पृ. ७५)। ३. परार्थेऽन्यकृते यो भावश्चित्तं मयास्यैतदवश्यं करणीयमिति स प्रयत्नः। तथा च ग(ग)र्गः—परस्य करणीयं यश्चित्तं निश्चित्य धार्यते। प्रयत्नः स च विज्ञेयो गर्गस्य वचनं यथा॥ (नीतिवा. टी. ६-२९)।

१ कर्मविशिष्ट आत्मा के प्रदेशों के हलन-चलन को प्रयत्न कहते हैं। ३ मुझे यह अवश्य करना है, इस प्रकार दूसरे के द्वारा किये गये परार्थ में जो चित्त दिया जाता है उसका नाम प्रयत्न है।

प्रयुत— चतुरशीतिः प्रयुताङ्गशतसहस्राणि एकं प्रयुतम्। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १७८, पृ. ३४५)।

चौरासी लाख प्रयुतांगों का एक प्रयुत होता है।

प्रयुताङ्ग—चतुरशीतिरयुतशतसहस्राणि एकं प्रयुताङ्गम्। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १७८, पृ. ३४५)।

चौरासी लाख अयुतों का एक प्रयुताङ्ग होता है।

प्रयोग—मण-वचि-कायजोगा पओगो। (धव. पु. १२, पृ. २८६)।

मन, वचन और काय योगों को प्रयोग कहा जाता है। यह ज्ञानावरण की वेदना के कारणों में से एक है।

प्रयोगकरण—१. प्रयोगः जीवव्यापारः, तद्धेतुकं करणं प्रयोगकरणम्। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १८५, पृ. १९५)। २. तत्र प्रयोगो नाम जीवव्यापारः, तेन यद् विनिर्माप्यते सजीवमजीवं वा तत् प्रयोगकरणम्। उक्तं च—होइ पयोगो जीवव्वावारो तेण जं विणिम्मायं। सज्जीवमजीवं वा पयोगकरणं तयं बहुहा॥ (आव. भा. मलय. वृ. १५५, पृ. ५५९)।

२ जीव के व्यापार को प्रयोग कहते हैं, उस प्रयोग के द्वारा जो सजीव और अजीव का निर्माण किया जाता है उसे प्रयोगकरण कहा जाता है।

प्रयोगक्रिया—१. गमनागमनादिप्र(त. वा. 'गमनप्र')वर्तनं कायादिभिः प्रयोगक्रिया। (स. सि. ६-५; त. वा. ६, ५, ७)। २. कायाद्यादिस[भि]रन्येषां गमनादिप्रवर्तनम्। सा प्रयोगक्रिया वेद्या प्रायोऽसंयमवर्धिनी॥ (ह. पु. ५८-६३)। ३. प्रयोगक्रिया विचित्रः कायादिव्यापारो वचनादिः। (त.

भा. हरि. वृ. ६–६) । ४. कायादिभिः परेषां यद्-गमनादिप्रवर्तनम् । सदसत्कार्यसिद्ध्यर्थं सा प्रयोगक्रिया मता ॥ (त. श्लो. ६, ५, ४) । ५. आत्माधिष्ठितकायादिव्यापारः प्रयोगः, तत्र योगत्रयकृता (तं) पुद्गलानां ग्रहणं प्रयोगक्रिया, धावन-वलनादिः कायव्यापारो वा प्रयोगक्रिया । (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–६) । ६. गमनागमनादिषु मनोवाक्कायैः परप्रयोजकत्वं प्रयोगक्रिया । (त. वृत्ति श्रुत. ६–५) ।

१ शरीरादि के द्वारा जाने-आने में प्रवृत्त होना, इसका नाम प्रयोगक्रिया है । ५ जीव से अधिष्ठित शरीर आदि के व्यापार को प्रयोग कहा जाता है, तीन योगों के द्वारा जो पुद्गलों का ग्रहण होता है उसे प्रयोगक्रिया कहते हैं । अथवा दौड़ने व मुड़ने आदि रूप शरीर के व्यापार को, हिंसाजनक या कठोर वचन की प्रवृत्ति को; तथा द्रोह, अभिमान और ईर्ष्या आदिरूप मन के व्यापार को प्रयोगक्रिया जानना चाहिए ।

प्रयोगगति—१. इषु-चक्र-कणयादीनां प्रयोगगतिः । (त. वा. ५, २४, २१) । २. प्रयोगगतिः जीवगतिपरि-(सिद्ध. वृ. 'जीवपरि')णामसम्प्रयुक्ता शरीराहार-वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-संस्थानविषया । (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ५–२२) ।

१ बाण, चक्र और कणय (बाण) आदि की जो गति होती है वह प्रयोगगति कहलाती है । २ जीव के गति परिणाम से सम्बद्ध शरीर सम्बन्धी आहार, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श और आकृतिविषयक गति का नाम प्रयोगगति है ।

प्रयोगज परिणाम—चेतनस्य × × × ज्ञान-शील-भावनादिलक्षणः आचार्यादिपुरुषप्रयोगनिमित्तत्वात् प्रयोगजः । अचेतनस्य च मृदादेः घटसंस्थानादिपरिणामः कुलालादिप्रयोगनिमित्तत्वात् प्रयोगजः । (त. वा. ५, २२, १०) ।

दूसरे के प्रयोग के निमित्त से चेतन या अचेतन पदार्थ में जो परिणमन होता है उसे प्रयोगज परिणाम कहते हैं । जैसे—जीव में आचार्य आदि पुरुषविशेष के प्रयोग के आश्रय से ज्ञान, शील व भावना आदिरूप परिणाम होता है तथा अचेतन मिट्टी आदि का कुम्हार आदि के प्रयोग के निमित्त से घटाकारादिरूप परिणाम होता है ।

प्रयोगज शब्द—देखो प्रायोगिक शब्द । प्रयोगजो जीवव्यापारनिष्पन्नः षोढा ततादिः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ५–२४, पृ. ३६०) ।

जीव के व्यापार से उत्पन्न होने वाले तत-विततादि छह प्रकार के शब्द प्रयोगज शब्द कहलाते हैं ।

प्रयोगपरिणाम—प्रयोगो वीर्यान्तरायक्षयोपशमात् क्षयाद्वा चेष्टारूपः परिणामः प्रयोगपरिणामः । (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. १०–५) ।

वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से अथवा क्षय से उत्पन्न होने वाले चेष्टारूप परिणाम को प्रयोगपरिणाम कहते हैं ।

प्रयोगप्रत्ययस्पर्द्धकप्ररूपणा—१. पओगपच्चयफड्ढगस्स परूवणा णाम वीरितकारणत्ताए चेट्ठंतस्स कज्जाभासातिणा विसमवीरितप्परिणामवद्धाणं जीवप्पदेसाणं परूवणा पओगपच्चयफड्ढगपरूवणा । (कर्मप्र. चू. बं. क. २२–उत्थानिका) । २. तथा प्रकृष्टो योगः प्रयोगः, तेन प्रत्ययभूतेन कारणभूतेन ये गृहीताः कर्मपुद्गलास्तेषां स्नेहमधिकृत्य स्पर्द्धकप्ररूपणा प्रयोगप्रत्ययस्पर्द्धकप्ररूपणा । (पंचसं. मलय. वृ. बं. क. १६, पृ. २१) ।

२ प्रयोग का अर्थ है प्रकृष्ट (तीव्र) योग, इस प्रयोग के निमित्त से ग्रहण किये गये कर्म-पुद्गलों के स्नेह के आश्रय से जो स्पर्द्धकों की प्ररूपणा की जाती है उसे प्रयोगप्रत्ययस्पर्द्धकप्ररूपणा कहते हैं ।

प्रयोगबन्ध—१. पुरुषप्रयोगनिमित्तः प्रायोगिकः अजीवविषयो जतु-काष्ठादिलक्षणः, जीवाजीवविषयः कर्म-नोकर्मबन्धः । (स. सि. ५–२४) । २. प्रयोगप्रयोजनो बन्धः प्रायोगिकः । स द्वेधा अजीवविषयो जीवाजीवविषयश्चेति । तत्राजीवविषयो जतु-काष्ठादिलक्षणः, जीवाजीवविषयः कर्म-नोकर्मबन्धः । (त. वा. ५, २४, ६) । ३. प्रयोगबन्धो जीवव्यापारनिर्वर्तितः औदारिकादिशरीर-जतु-काष्ठादिविषयः । (त. भा. हरि. वृ. ५–२४) । ४. जीववावारेण जो समुप्पण्णो बंधो सो पओअबंधो णाम । (धव. पु. १४, पृ. ३७) । ५. प्रयोगो जीवव्यापारः, तेन घटितो बन्धः प्रायोगिकः—औदारिकादिशरीर-जतु-काष्ठादिविषयः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–२४) ।

१ पुरुषप्रयोग के निमित्त से जो अजीवविषयक—जैसे लाख और लकड़ी का बन्ध—और जीवाजीवविषयक—कर्म-नोकर्म का बन्ध—होता है वह प्रायोगिक बन्ध कहलाता है । ३ जीव के व्यापार से जो

श्रौदारिक आदि शरीरों का तथा लाख और लकड़ी आदि का बन्ध होता है उसे प्रयोगबन्ध कहते हैं। ४ जीवों के व्यापार से जो कर्मबन्ध और नोकर्मबन्ध (आलापनबन्ध आदि) उत्पन्न होता है उसे प्रयोग-बन्ध कहा जाता है।

प्रयोगस्पर्द्धक—होति पओगो जोगो तट्ठाणविवड्ढणाए जो उ रसो। परिवड्ढेई जीवो पओगफड्डं तयं वेंति ॥ (पंचसं. वं. क. ३६)।

प्रकृष्ट योग का नाम प्रयोग है, योग के स्थानों की वृद्धि के अनुसार जीवों के द्वारा बांधे जाने वाले कर्म-परमाणुओं में स्पर्धक के रूप से जीव जो रस (अनुभाग) को बढ़ाता है, यह प्रयोगस्पर्द्धक कहलाता है।

प्रयोगस्पर्द्धकप्ररूपणा— वैसादृश्याज्जीवप्रदेशानां स्ववीर्यहेतुगृहीतकर्मपुद्गलानां स्नेहप्ररूपणा प्रयोग-स्पर्द्धकप्ररूपणा। प्रकृष्टो वा योगो व्यापारः, तद्धेतु-गृहीतपुद्गलस्नेहस्य प्ररूपणा प्रयोगस्पर्द्धकप्ररूपणा। (पंचसं. मलय. वृ. वं. क. १६—उत्थानिका, पृ. २१)।

जीवप्रदेशों की विसदृशता से अपने वीर्य के निमित्त से ग्रहण किये गये कर्मपुद्गलों के स्नेह (रस या अनुभाग) की प्ररूपणा को *प्रयोगस्पर्द्धकप्ररूपणा* कहते हैं। अथवा प्रकृष्ट योग के आश्रय से ग्रहण किये गये पुद्गलों के स्नेह की प्ररूपणा को प्रयोगस्पर्द्धक-प्ररूपणा जानना चाहिए।

प्ररूपणा—ओघादेसेहि गुणेसु जीवसमासेसु पज्जत्तीसु पाणेसु सण्णासु गदीसु इंदिएसु ××× पज्जत्तापज्जत्तविसेसणेहि विसेसिऊण जा जीवपरिक्खा सा परूवणा णाम। (धव. पु. २, पृ. ४११)।

ओघ और आदेश की अपेक्षा गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, गति-इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणा और उपयोग; इन बीस में पर्याप्त-अपर्याप्त की विशेषता के साथ जो जीवों की परीक्षा की जाती है, इसका नाम प्ररूपणा है।

प्ररोहण—कर्माणि प्ररोहन्ति अस्मिन्निति प्ररोहणं कार्मणशरीरम्। (धव. पु. १४, पृ. ३२८)।

जिसमें कर्म अंकुरित होते हैं उस कार्मण शरीर को प्ररोहण कहा जाता है।

प्रवचन—१. प्रवचनं श्रुतज्ञानं तदुपयोगानन्यत्वाद्वा सङ्घ इति। (आव. नि. हरि. वृ. १७६)। २. तच्च (तीर्थ) यथाऽवस्थितसकलजीवाजीवादिपदार्थप्ररूपकं अत्यन्तानवद्यान्याविज्ञातचरण-करणक्रियाधारं अचिन्त्यशक्तिसमन्वितविसंवाद्युदुपकल्पं चतुस्त्रिंशदतिशयसमन्वितपरमगुरुप्रणीतं प्रवचनम्। एतच्च संघः प्रथमगणधरो वा। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ५०)। ३. पवयणं सिद्धंतो बारहंगाइं, तत्थ भवा देस-महव्वइणो असंजदसम्माइट्ठिणो च पवयणा। (धव. पु. ८, पृ. ९०); उच्यते भण्यते कथ्यते इति वचनं शब्द-कलापः, प्रकृष्टं वचनं प्रवचनम्। (धव. पु. १३, पृ. २८०); प्रकर्षेण कुतीर्थ्यानालीढतया उच्यन्ते जीवादयः पदार्थाः अनेनेति प्रवचनं वर्णपंक्त्यात्मकं द्वादशाङ्गं अथवा प्रमाणाद्यविरोधेन उच्यतेऽर्थोऽनेन करणभूतेनेति प्रवचनं द्वादशाङ्गम् भाव-श्रुतम्। (धव. पु. १३, पृ. २८३)। ४. प्रकर्षेण नामादि-नय-प्रमाण-निर्देशादिभिश्च यत्र जीवादयो व्याख्यातास्तत् प्रवचनम्, जिना रागादि-सन्तानविजि(वजि ?) तास्तेषामिदं वचनमिति। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–२०)। ५. प्रोच्यन्ते जीवादयः पदार्था अनेनास्मिन्निति वा प्रवचनं जिनागमः। (भ. आ. विजयो. ३२)। ६. प्रकृष्टं वचनं प्रवचनम्, प्रकृष्टस्य वा वचनं प्रवचनं सिद्धान्तो द्वादशाङ्गमित्यनर्थान्तरम्। तत्र भवा देश-महाव्रतिनः असंयतसम्यग्दृष्टयश्च प्रवचनम्। (चा. सा. पृ. २६)। ७. इह प्रवचनं सामान्यं श्रुतज्ञानम्, सूत्रार्थौ तु तद्विशेषौ। उक्तं च—जमिह पगयं पसत्थं पहाण-वयणं च पवयणं तं च। सामन्नं सुयनाणं विसेसतो सुत्तमत्थो य ॥ (आव. नि. मलय. वृ. १२६, पृ. १२६); प्रवचनं द्वादशाङ्गं तदुपयोगानन्यत्वात् सङ्घो वा प्रवचनम्। (आव. नि. मलय. वृ. पृ. १६१)। ८. पगय-वयणं ति वा, पहाण-वयणं ति वा, पसत्थ-वयणं ति वा पवयणं। पवुच्चंति तेण जीवादयो पयत्था इति पवयणं। तहिं वा अहिगरण-भूए पवदतीति पवयणं—चउव्विहो सङ्घो। पइट्ठवयणं ति वा, तदुवओगाण पण्णत्ताओ संघोत्ति जं भणियं होइ। जेण तं सुयं, तम्मि पइट्ठियं, अणण्णं—तदुवओगाओ त्ति। तं च सामाइयाइ-बिन्दुसारपज्जवसाणं अंगाणं-गपविट्ठं सव्वं सुयणाणं पवयणं ति। (जीतक. चू. पृ. २)।

१ श्रुतज्ञान को प्रवचन कहते हैं, तद्विषयक उपयोग

से अभिन्न होने के कारण संघ अथवा प्रथम गणधर को भी प्रवचन कहा जाता है। ३ बारह अंगस्वरूप सिद्धान्त(श्रुत) का नाम प्रवचन है। उस प्रवचन में होने वाले देशव्रती, महाव्रती और असंयतसम्यग्दृष्टियों को भी प्रवचन कहा जाता है।

प्रवचनप्रभावना—आगमट्ठस्स पवयणमिदि सण्णा, तस्स पहावणं णाम वण्णजणणं तव्वुड्ढिकरणं च। (धव. पु. ८, पृ. ९१)।

आगमार्थ का नाम प्रवचन है, उसकी प्रशंसा व वृद्धि करना, इसे प्रवचनप्रभावना कहते हैं।

प्रवचनभक्ति—१. तम्हि (पवयणम्मि) भत्ती तत्थ पदुप्पादिदत्थाणुट्ठाणं। (धव. पु. ८, पृ. ९०)। २. प्रवचने जिनसूत्रेऽनुरागो भक्तिः। (भावप्रा. टी. ७७)। ३. प्रवचने रत्नत्रयादिप्रतिपादकलक्षणे मनःशुद्धियुक्तोऽनुरागः प्रवचनभक्तिः। (त. वृत्ति श्रुत. ६–२४)।

१ बारह अंगस्वरूप प्रवचन में प्रतिपादित अर्थ का अनुष्ठान करना—तदनुसार आचरण करना—इसे प्रवचनभक्ति कहते हैं।

प्रवचनवत्सलत्व—देखो प्रवचन। १. वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वम्। (स. सि. ६, २४)। २. अर्हच्छासनानुष्ठायिनां श्रुतधराणां बाल-वृद्ध-तपस्वि-शैक्ष-ग्लानादीनां च संग्रहोपग्रहानुग्रहकारित्वं प्रवचनवत्सलत्वमिति। (त. भा. ६–२३)। ३. वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वम्। यथा धेनुर्वत्से अकृत्रिमस्नेहमुत्पादयति तथा सधर्माणमवलोक्य स्नेहार्द्रीकृतचित्तता प्रवचनवत्सलत्वमित्युच्यते। (त. वा. ६, २४, १३)। ४. तेसु (पवयणे देस-महव्वइ-असंजदसम्माइट्ठीसु च) अणुरागो आकंखा ममेदंभावो पवयणवच्छलदा णाम। (धव. पु. ८, पृ. ९०)। ५. धेनोरिव निजवत्से सौत्सुक्यधियः सधर्मणि स्नेहः। प्रवचनवत्सलता स्यात् सस्नेहः प्रवचने यस्मात्॥ (ह. पु. ३४–१४८)। ६ तेषु (प्रवचने देश-महाव्रतिषु असंयतसम्यग्दृष्टिषु च) अनुरागः आकांक्षा ममेदंभावः प्रवचनवत्सलत्वमित्युच्यते। (चा. सा. पृ. २६)। ७. यथा सद्यःप्रसूता धेनुः स्ववत्से स्नेहं करोति तथा प्रवचने सधर्मिणि जने स्नेहत्वं प्रवचनवत्सलत्वमभिधीयते। (त. वृत्ति श्रुत. ६–२४)। ८. सधर्मिणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वम्। (भावप्रा. टी. ७७)।

१ जिस प्रकार गाय बछड़े से स्नेह करती है उसी प्रकार से साधर्मिक जन के विषय में प्रेम करना, इसे प्रवचनवत्सलता कहते हैं। ४ बारह अंग स्वरूप प्रवचन में तथा देशव्रती, महाव्रती और सम्यग्दृष्टि जीवों में ममत्वबुद्धिपूर्वक अनुराग रखना व उनकी अभिलाषा करना, इसका नाम प्रवचनवत्सलता है।

प्रवचनविराधना—यदि श्वादयो बालमृतकलेवरादिभक्षयन्तस्तिष्ठन्ति तदा महती प्रवचनकुत्सेति प्रवचनविराधना। (व्यव. भा. मलय. वृ. ४–२५, पृ. ६)।

भिक्षा आदि के निमित्त से सूनी वसति के छोड़ जाने पर यदि उसमें बाल निर्जीव शरीर (शव) आदि का भक्षण करते हुए कुत्ता आदि स्थित रहते हैं तो यह प्रवचन की भारी विराधना मानी जाती है।

प्रवचनसन्निकर्ष—उच्यन्ते इति वचनानि जीवाद्यर्थाः, प्रकर्षेण वचनानि सन्निकृष्यन्तेऽस्मिन्निति प्रवचनसन्निकर्षो द्वादशाङ्गश्रुतज्ञानम्। (धव. पु. १३, पृ. २८४)।

'उच्यन्ते इति वचनानि' इस निरुक्ति के अनुसार जिनका कथन किया जाता है उन जीवादि पदार्थों को वचन कहा जाता है। जिसमें प्रकर्षरूप से वचनों का सन्निकर्ष किया जाता है वह प्रवचनसन्निकर्ष कहलाता है। यह एक श्रुतज्ञान का नामान्तर है। वस्तु में अनेक धर्म होते हैं, उनमें किसी एक की विवक्षा के होने पर शेष धर्मों के सत्त्व व असत्त्व के विचार तथा किसी एक के उत्कर्ष को प्राप्त होने पर शेष धर्मों के उत्कर्ष व अनुत्कर्ष के विचार का नाम सन्निकर्ष है।

प्रवचनसंन्यास—देखो प्रवचनसन्निकर्ष। प्रकर्षेण वचनानि जीवाद्यर्थाः संन्यस्यन्ते प्ररूप्यन्ते अनेकान्तात्मतया अनेनेति प्रवचनसंन्यासः। (धव. पु. १३, पृ. २८४)।

जिसके द्वारा जीवादि पदार्थों का प्रकर्ष से संन्यास किया जाता है—उनकी अनेकान्तरूप से प्ररूपणा की जाती है—उस श्रुतज्ञान का नाम प्रवचनसंन्यास है।

प्रवचनाद्धा—अद्धा कालः, प्रकृष्टानां शोभनानां वचनानामद्धा कालः यस्यां श्रुतौ सा पवयणद्धा श्रुतज्ञानम्। (धव. पु. १३, पृ. २८४)।

जिस श्रुति में प्रकृष्ट—शोभायमान—वचनों का काल है उसे प्रवचनाद्धा कहते हैं। यह श्रुतज्ञान का नामान्तर है।

प्रवचनार्थ—द्वादशाङ्गवर्णकलापो वचनम्, अर्यते गम्यते परिच्छिद्यत इति अर्थो नव पदार्थाः, वचनं च अर्थश्च वचनार्थौ, प्रकृष्टौ निरवद्यौ वचनार्थौ यस्मिन्नागमे स प्रवचनार्थः। × × × अथवा प्रकृष्टवचनैरर्यते गम्यते परिच्छिद्यत इति प्रवचनार्थो द्वादशाङ्गभावश्रुतम्। (धव. पु. १३, पृ. २८१–२८२)।

जिसमें प्रकृष्ट (निर्दोष) वचन—द्वादशांग का वर्णसमूह—और नौ पदार्थरूप अर्थ हैं उस आगम का नाम प्रवचनार्थ है। अथवा 'प्रकृष्टैर्वचनैः अर्यते गम्यते इति प्रवचनार्थः' इस निरुक्ति के अनुसार द्वादशांग भावश्रुत को प्रवचनार्थ कहा जाता है।

प्रवचनी—१. प्रकृष्टानि वचनानि अस्मिन् सन्तीति प्रवचनी भावागमः। अथवा प्रोच्यते इति प्रवचनोऽर्थः, सोऽत्रास्तीति प्रवचनी द्वादशाङ्गग्रन्थः वर्णोपादानकारणः। (धव. पु. १३, पृ. २८३–२८४)। २. तत्र प्रवचनं द्वादशाङ्गं गणिपिटकम्, तदस्यास्त्यतिशयवदिति प्रवचनी युगप्रधानागमः। (योगशा. स्वो. विव. २–१६, पृ. १८५)।

१ प्रकृष्ट वचन जिसमें रहते हैं उस भावागम को प्रवचनी कहा जाता है। अथवा 'प्रोच्यते इति प्रवचनः' इस निरुक्ति के अनुसार प्रवचन शब्द का वाच्यार्थ पदार्थ है, वह जिसमें रहता है उस द्वादशांग ग्रन्थ का नाम प्रवचनी है। उक्त द्वादशाङ्ग का उपादान कारण वर्ण हैं। २ प्रवचन नाम द्वादशांग का है, जिसे गणिपिटक भी कहा जाता है। वह प्रवचन जिसके अतिशययुक्त होता है उसे प्रवचनी या युगप्रधानागम कहा जाता है।

प्रवचनीय—प्रबन्धेन वचनीयं व्याख्येयं प्रतिपादनीयमिति प्रवचनीयम्। (धव. पु. १३, पृ. २८१)। 'प्रबन्धेन वचनीयम्' इस निरुक्ति के अनुसार जिसका सन्दर्भ के साथ व्याख्यान किया जाता है उस श्रुत को प्रवचनीय कहते हैं।

प्रवरवाद—स्वर्गापवर्गमार्गत्वात् रत्नत्रयं प्रवरः, स उद्यते निरूप्यतेऽनेनेति प्रवरवादः। (धव. पु. १३, पृ. २८७)।

स्वर्ग व मोक्ष के मार्गभूत रत्नत्रय को प्रवर कहा जाता है, उसका जिसके द्वारा निरूपण किया जाता है उस श्रुतज्ञान का एक नाम प्रवरवाद है।

प्रवर्तिनीपदार्हा व्रतिनी—जितेन्द्रिया विनीता च कृतयोगा धृतागमा। प्रियंवदा प्राञ्जला च दयार्द्रीकृतमानसा॥ धर्मोपदेशनिरता सस्नेहा गुरु-गच्छयोः। शान्ता विशुद्धशीला च क्षमावत्यतिनिर्मला॥ निःसंगा लिखनाद्येषु कार्येषु सततोद्यता। धर्मध्वजाद्युपधिषु करणीयेषु सत्तमा॥ विशुद्धकुलसम्भूता सदा स्वाध्यायकारिणी। प्रवर्तिनीपदं सा तु व्रतिनी ध्रुवमर्हति॥ (आ. दि. पृ. ११६ उद्.)।

जितेन्द्रिय, विनम्र, मन की एकाग्रता से सहित, आगम में निपुण, प्रिय बोलने वाली, सरल, दयालु, धर्म के उपदेश में उद्यत, गुरु व गच्छ के विषय में स्नेह से संयुक्त, शान्त, निर्मल शील की धारक, क्षमाशील, परिग्रह से रहित, लेखन आदि कार्यों में निरन्तर उद्यत, करने योग्य धर्मध्वज आदि उपाधियों के विषय में अतिशय श्रेष्ठ, निर्दोष कुल में उत्पन्न हुई और निरन्तर स्वाध्याय करने वाली; इन गुणों से सम्पन्न व्रतिनी (साध्वी) प्रवर्तनीपद के योग्य—साध्वियों की अधिष्ठात्री—होती है।

प्रवाद—दर्शनमोहोदयपरवशैः सर्वथैकान्तवादिभिः प्रकल्पिता वादाः प्रवादाः। (युक्त्यनु. टी. ६)।

दर्शनमोहनीय कर्म के परवश हुए सर्वथा एकान्तवादियों के द्वारा कल्पित वादों का नाम प्रवाद है।

प्रविचक्षण—प्रविचक्षणाः चरणपरिणामवन्तः, अन्ये तु व्याचक्षते—× × × प्रविचक्षणाः अवद्यभीरवः। (दशवै. सू. हरि. वृ. २–११, पृ. ९९)।

जो चारित्र परिणाम से युक्त होते हैं वे प्रविचक्षण कहलाते हैं। मतान्तर से पाप से डरने वालों को प्रविचक्षण कहते हैं।

प्रविचार—देखो प्रवीचार। १. प्रविचारो मैथुनोपसेवनम्। (स. सि. ४–७)। २. कायप्रवीचारो नाम मैथुनविषयोपसेवनम्। (त. भा. ४–८)। ३. मैथुनोपसेवनं प्रवीचारः। × × × प्रविचरणं प्रवीचारः, मैथुनव्यवहार इत्यर्थः। (त. वा. ४, ७, १)। ४. प्रवीचरणं प्रवीचारो मैथुनोपसेवनम्। (त. श्लो. ४–७)। ५. प्रवीचारो मैथुनोपसेवा। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४–८)। ६. प्रवीचारः स्पर्शनेन्द्रियाद्यनुरागसेवा। (मूला. वृ. १२–२)।

१ मैथुनसेवन का नाम प्रवीचार है।

प्रविद्धदोष—१. पव्विद्धमणुवयारं जं अप्पितो णिजंतिओ होइ। जत्थ व तत्थ व उज्झइ कियकिच्चोवक्खरं चेव। (प्रव. सारो. १५६)। २. प्रविद्धं वन्दनं ददत एव पलायनम्। (योगशा. स्वो. विव. ३-१३०, पृ. २३६)।

जो उपचार (भक्ति) के विना ही अनियंत्रित—अनवस्थितचित्त—होकर गुरु की वन्दना करता हुआ समाप्ति के पूर्व ही उसे छोड़ कर चला जाता है वह प्रविद्ध नामक वन्दनादोष का भागी होता है। जैसे—कोई कुली किसी के वर्तनों को अन्य नगर में ले जाता है। वहां पहुंचने पर जब वर्तनों का स्वामी उससे यह कहता है कि थोड़ी देर ठहरो, मैं योग्य स्थान देखकर अभी आता हूं, तब उक्त कुली यह कहता है कि मुझे यहीं तक ले आने को कहा था, अब मैं रुक नहीं सकता; यह कहता हुआ वह अस्थान में ही वर्तनों को छोड़कर चला जाता है। इसी प्रकार उक्त वन्दना का क्रम जानना चाहिए।

प्रविष्टदोष—देखो प्रविद्धदोष। १. प्रविष्टः पंचपरमेष्ठिनामत्यासन्नो भूत्वा यः करोति कृतिकर्म तस्य प्रविष्टदोषः। (मूला. वृ. ७-१०६)। २. × × × अत्यासन्नभावः प्रविष्टं परमेष्ठिनाम्॥ (अन. ध. ८-६८)।

१ जो पंच परमेष्ठियों के अत्यन्त निकट होकर कृतिकर्म करता है उसके कृतिकर्म का प्रविष्ट नाम का दोष उत्पन्न होता है।

प्रवीचार—देखो प्रविचार।

प्रवृत्ति—१. सव्वत्थुवसमसारं तप्पालणमो पवत्ती उ॥ (योगवि. ५)। २. प्रवर्तनं प्रवृत्तिः अनुष्ठानरूपा परिशुद्धप्रतिपत्त्यनन्तरभाविनी तत्त्वविषयैव। (षोडश. वृ. १६-१४)। ३. प्रवृत्तिः यथायोगं वैयावृत्त्यादौ साधूनां प्रवर्तकः। (आचारा. शी. वृ. २, १२७, पृ. ३२२)। ४. × × × प्रवृत्तिः पालनं परम्। (ज्ञा. सा. २७-४); सम्यग्दर्शनादिगुणप्रवृद्धिभूतं क्रिया-श्रुताभ्यासपालनं परम्परा उत्कृष्टा सा प्रवृत्तिः। (ज्ञा. सा. टी. २७-४)।

१ उपशम की प्रधानता से विधिपूर्वक स्थान व आलम्बन आदिरूप पांच प्रकार के योग का परिपालन करना, इसका नाम प्रवृत्ति है। ३ जो बल-वीर्य के अनुसार अथवा योग्यता के अनुसार साधुओं को वैयावृत्ति आदि में प्रवृत्त कराता है उसे प्रवृत्ति (प्रवर्तक) कहा जाता है।

प्रव्रजित—प्रकर्षेण व्रजितो गतः प्रव्रजितः, आरम्भपरिग्रहादिति गम्यते। (दशवै. नि. हरि. वृ. २, १५८)।

जो आरम्भ व परिग्रह से अतिशय दूर जा चुका है—सर्वथा उन्हें छोड़ चुका है, उसे प्रव्रजित कहा जाता है।

प्रव्रज्या—१. × × × पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता। (बो. प्रा. २५); गिह-गंथ-मोहमुक्का वावीसपरीसहा जिअकसाया। पावारंभविमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया॥ धण-धण्ण-वत्थदाणं हिरण्ण-सयणासणाइ छत्ताइ। कुद्दाणविरहरहिया(?) पव्वज्जा एरिसा भणिया॥ सत्तू-मित्ते व समा पसंस-णिंदाअलद्धि-लद्धिसमा। तण-कणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया॥ उत्तम-मज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा। सव्वत्थ गिहिदपिंडा पव्वज्जा एरिसा भणिया॥ णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा। णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया॥ णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा। णिब्भय णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया॥ जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुअ णिराउहा संता। परकियणिलयणिवासा पव्वज्जा एरिसा भणिया॥ उवसम-खम-दमजुत्ता सरीरसक्कारवज्जिया रुक्खा। मय-राय-दोसरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया॥ विवरीयमूढभावा पणट्ठकम्मट्ठ णट्ठमिच्छत्ता। सम्मत्तगुणविसुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया॥ तिलओसत्तनिमित्तं समवाहिरगंथसंगहो णत्थि। पावज्ज हवइ एसा जह भणिया सव्वदरिसीहिं॥ पसु-महिल-संढसंगं कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ। सज्झाय-झाणजुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया॥ तव-वयगुणेहिं सुद्धा संजम-सम्मत्तगुणविसुद्धा य। सुद्धा गुणेहिं सुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया॥ (बो. प्रा. ४५-५३, ५५ व ५७-५८)। २. आह विरइपरिणामो पव्वज्जा भावओ जिणाएसो। (पंचव. १६४); विरतिपरिणामः सकलसावद्ययोगविनिवृत्तिरूपः प्रव्रज्या। (पंचव. स्वो. वृ. १६४)।

१ गृह, परिग्रह व मोह से रहित; बाईस परीषहों से सहित; कषायों को जीतने वाली, पापजनक

आरम्भ से रहित; धन, धान्य, वस्त्र, हिरण्य, शयन, आसन और छत्र इत्यादि के दूषित दान से रहित शत्रु-मित्र, प्रशंसा-निन्दा, लाभ-अलाभ और तृण-सुवर्ण इनमें रहने वाले समता भाव से सहित; आहार के निमित्त उत्तम व मध्यम एवं दरिद्र व सम्पन्न घर की अपेक्षा न करके सभी जगह ग्रहण किये जाने वाले आहार से सहित; बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह से रहित, मान व आशा से विहीन, राग-द्वेष से विरहित, ममता व अहंकार से रहित; स्नेह, लोभ, मोह, विकार, पाप, भय और आशा से रहित; जन्मजात (नग्न) रूप से उपलक्षित; लम्बायमान भुजाओं से संयुक्त, आयुधों से रहित, परकृत गृह में निवास से सहित, उपशम, क्षमा एवं दम—इन्द्रिय व कषायों के दमन—से युक्त; शरीरसंस्कार से रहित, मद, राग व दोष से विरहित; मूढता, आठ कर्म व मिथ्यात्व की विघातक; सम्यक्त्व से विशुद्ध, तिल-तुष मात्र परिग्रह से रहित; पशु, स्त्री, नपुंसक एवं कुशील जन के संग से रहित; विकथाओं विहीन, स्वाध्याय एवं ध्यान से युक्त, तप व व्रत एवं गुणों से विशुद्ध; तथा संयम एवं सम्यक्त्व गुणों से विशुद्धि को प्राप्त ऐसी प्रव्रज्या—जिनदीक्षा—हुआ करती है। २ भावतः समस्त सावद्ययोग के परित्यागरूप विरतिपरिणाम—संयमस्वीकृति—का नाम प्रव्रज्या है।

प्रव्रज्यार्ह—प्रव्रज्यार्हः आर्यदेशोत्पन्नः १ विशिष्ट-जाति-कुलान्वितः २ क्षीणप्रायकर्ममलः ३ तत एव विमलबुद्धिः ४ दुर्लभं मानुष्यं जन्म मरणनिमित्तं सम्पदश्चपला विषयाः दुःखहेतवः संयोगे वियोगः प्रतिक्षणं मरणं दारुणो विपाकः इत्यवगतसंसारनैर्गुण्यः ५ तत एव तद्विरक्तः ६ प्रतनुकषायः ७ अल्पहास्यादिः ८ कृतज्ञः ९ विनीतः १० प्रागपि राजामात्य-पौरजनबहुमतः ११ अद्रोहकारी १२ कल्याणांगः १३ श्राद्धः १४ स्थिरः १५ समुपसम्पन्नः १६ चेति। (ध. बि. ४-३)।

जो आर्य देश में उत्पन्न हुआ हो, उत्तम कुल व जाति से युक्त हो, जिसका कर्मरूप मल क्षीण हो रहा हो, इसी से जो निर्मल बुद्धि से सहित हो; मनुष्य पर्याय दुर्लभ है, जन्म मरण का कारण है, सम्पत्ति चंचल (विनश्वर) है, विषय दुःख के कारण हैं, संयोग वियोग का अविनाभावी है, मरण (आवीचिमरण) प्रतिसमय होने वाला है, तथा विपाक भयानक है; इस प्रकार जिसने संसार की निर्गुणता को जान लिया है व इसीलिए जो उससे विरक्त हो चुका है; कषायें जिसकी कृशता को प्राप्त हो चुकी हैं, जिसके परिहास आदि अल्प हैं, जो उपकार का मानने वाला है, विनीत है, जो पूर्व में राजा, मंत्री एवं नागरिक जनों के द्वारा बहुमान्य रहा है, द्रोह का करने वाला नहीं है, कल्याण का अंग है, श्रद्धालु है, स्थिर है, प्रारब्ध कार्य का अन्त तक निर्वाह करने वाला है, तथा जो समुपसंपन्न है—आत्मसमर्पणरूप सम्यक् आचरण द्वारा समीपता को प्राप्त हो चुका है; ऐसा महापुरुष प्रव्रज्यार्ह—मुनिदीक्षा के योग्य होता है।

प्रव्राजक—१. प्रव्राजकः—सामायिकव्रतादेरारोपयिता। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-६, पृ. २०८)। २. तत्र सामायिकव्रतादेरारोपयिता प्रव्राजकाचार्यः। (योगशा. स्वो. विव. ४-९०, पृ. ३१४)।

१ जो संयम के अभिमुख हुए किसी अन्य के सामायिकादि व्रतों का आरोपण कराता है—उनमें दीक्षित करता है—उसे प्रव्राजक—प्रव्रज्यादायक—कहते हैं। यह पांच प्रकार के आचार्यों में प्रथम है।

प्रशम—१. रागादीनामनुद्रेकः प्रशमः। (त. वा. १, २, ३०)। २. तत्रानन्तानुबन्धिनां रागादीनां मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोश्चानुद्रेकः प्रशमः। (त. श्लो. १, २, १२, पृ. ८६)। ३. यद्रागादिषु दोषेषु चित्तवृत्तिनिबर्हणम्। तं प्राहुः प्रशमं प्राज्ञाः समस्तव्रतभूषणम्॥ (उपासका. २२८)। ४. प्रशमः स्वभावत एव क्रोधादिक्रूरकषाय-विषविकारकटुफलावलोकनेन वा तन्निरोधः। (ध. वि. मु. वृ. ३-७)। ५. प्रशमो रागादीनां विगमोऽनन्तानुबन्धिनां ××× । (अन. ध. २-५२)। ६. रागादिदोषेभ्यश्चेतोनिवर्तनं प्रशमः। (त. वृत्ति श्रुत. १-२)। ७. प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च। लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः॥ (लाटीसं. ३-७१; पंचाध्या. २-४२६)। ८. प्रशमः कषायाभावः। (ज्ञा. सा. वृ. २७-३, पृ. ९०)।

१ रागादि दोषों की तीव्रता के अभाव का नाम प्रशम है।

प्रशस्त करणोपशामना—१. जा सा सव्वकरणोव-

सामणा तिस्से वि दुवे णामाणि सव्वकरणोवसामणा-त्ति वि पसत्थकरणोवसामणा त्ति वि। (क. पा. चू. पृ. ७०८)। २. सव्वकरणुवसामणाए अण्णाणि दुवे णामाणि गुणोवसामणा त्ति च पसत्थुवसामणा त्ति च (धव. पु. १५, पृ. २७५)।

२ सर्वकरणोपशामना को ही प्रशस्त करणोपशामना कहते हैं। अर्थात् प्रशस्त परिणामों के द्वारा उदीरणादि आठों करणों के उपशान्त होने को प्रशस्त करणोपशामना कहते हैं।

प्रशस्त ध्यान—पुण्याशयवशाज्जातं शुद्धलेश्यावलम्बनात्। चिन्तनाद्वस्तुतत्त्वस्य प्रशस्तं ध्यानमुच्यते॥ (ज्ञाना. ३–२९, पृ. ६६); अस्तरागो मुनिर्यत्र वस्तुतत्त्वं विचिन्तयेत्। तत् प्रशस्तं मतं ध्यानं सूरिभिः क्षीणकल्मषैः॥ (ज्ञाना. २५–१८, पृ. २५६)।

पुण्य आशय—शुभ उपयोग—के वश शुद्ध लेश्या के आलम्बन से वस्तुतत्त्व के चिन्तन करने को प्रशस्त ध्यान कहते हैं।

प्रशस्त निदान—१. संजमहेदुं पुरिसत्त-सत्त-बल-वीरिय-संघदणवुद्धी। सावअ-बंधुकुलादीणि णिदाणं होदि हु पसत्थं॥ (भ. आ. १२१६)। २. परिपूर्णं संयममाराधयितुकामस्य जन्मान्तरे पुरुषादिप्रार्थना प्रशस्तं निदानम्। (भ. आ. विजयो. २५); एतानि पुरुषत्वादीनि संयमसाधनानि मम स्युरिति चित्तप्रणिधानं प्रशस्तनिदानम्, सावयवंधुकुलादिनिदानं अदरिद्रकुले वन्धुकुले वा उत्पत्तिप्रार्थना प्रशस्तनिदानम्। (भ. आ. विजयो. १२१६)।

१ संयम के हेतुभूत मनुष्य-पर्याय, सत्त्व (उत्साह), बल (शारीरिक), वीर्य और संहनन; इनकी प्रार्थना करना तथा श्रावककुल व वन्धुकुल में उत्पन्न होने की प्रार्थना करना, यह प्रशस्त निदान कहलाता है।

प्रशस्त निस्सरणतैजस—देखो तैजस व तैजस-समुद्धात। जं तं पसत्थं तं पि एरिसं (वारहजोयणायामं णवजोयणविरथरं सूचिअंगुलस्स संखेज्जदिभागवाहल्लं) चेव। णवरि हंसधवलं दक्खिणंस-संभवं अणुकंपाणिमित्तं मारिरोगादिपसमणक्खमं। (धव. पु. ४, पृ. २८); अणुकंपादो दक्खिणंस-विणिग्गयं डमरमारीदिपसमक्खमं दोसयरहिदं सेदवण्णं णव-वारहजोयणसंदायामं पसत्थं णाम तेयासरीरं। (धव. पु. ७, पृ. ३००)।

बारह योजन आयत, नौ योजन विस्तृत, सूच्यंगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण बाहल्य से सहित और हंस के समान धवल वर्ण वाला जो तैजस शरीर अनुकम्पावश साधु के दाहिने कन्धे से निकल कर मारी आदि रोगों के शान्त करने में समर्थ होता है उसे प्रशस्त निस्सरणतैजस कहते हैं।

प्रशस्त नोआगमभावोपक्रम—१. प्रशस्तं श्रुतादिनिमित्तमाचार्यभावोपक्रमः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १, पृ. २)। २. परश्च (प्रशस्तः) श्रुतादिनिमित्तमाचार्यभावावधारणरूपः। (जम्बूद्वी. शा. वृ. पृ. ६)।

१ श्रुत आदि के निमित्त आचार्यत्व के निर्धारण को प्रशस्त नोआगमभावोपक्रम कहते हैं।

प्रशस्त प्रभावना—तित्थयर-पवयण-निव्वाणमग्ग-पभावणा पसत्था। (जीतक. चू. २८, पृ. १३)।

तीर्थंकर, प्रवचन और मोक्षमार्ग के प्रभाव को प्रगट करना; इसे प्रशस्त प्रभावना कहा जाता है।

प्रशस्त भावपिण्ड—मुच्चइ य जेण सो उण पसत्थओ नवरि विन्नेओ। (पिण्डनि. ६४)।

जिसके आश्रय से जीव कर्म से छुटकारा पाता है उसे प्रशस्त भावपिण्ड कहते हैं। वह क्रमशः एक-दो आदि के भेद से दस प्रकार का है। यथा—एक संयम, दो ज्ञान व चारित्र, तीन ज्ञान, दर्शन व चारित्र; इत्यादि के क्रम से दस—उत्तम क्षमा-मार्दवादि।

प्रशस्त भावयोग— × × × सम्मत्ताई पसत्थ × × ×। (आव. नि. १०३८)।

सम्यग्दर्शनादिरूप उत्तम भावों को प्रशस्त भावयोग कहते हैं।

प्रशस्त भावसंयोग—नाणेणं नाणी दंसणेणं दंसणी चरित्तेणं चरित्ती, से तं पसत्थे। (अनुयो. सू. १३०, पृ. १४४)।

ज्ञान के संयोग से ज्ञानी, दर्शन के संयोग से दर्शनी और चारित्र के संयोग से चारित्री इत्यादि प्रशस्त भावसंयोग पद कहलाते हैं।

प्रशस्त राग—१. अरहंत-सिद्ध-साहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा। अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति॥ (पंचा. का. १३६)। २. अरहंतेसु य राओ ववगदरागेसु दोसरहिएसु।

धम्मम्मि य जो रागो सुदे य जो बारसविधम्मि ॥ आयरिएसु य राओ समणेसु य बहुसुदे चरित्तड्ढे । एसो पसत्थराओ हवदि सरागेसु सव्वेसु ॥ (मूला. ७, ७३-७४) । ३. प्रशस्तस्त्वर्हदादिविषय: । यथोक्तम्—अरहंतेसु य रागो रागो साहूसु बंभयारीसु । एस पसत्थो रागो अज्जसरागाण साहूणं ॥ (आव. नि. हरि. वृ. ९१८, पृ. ३८९) । ४. प्रशस्तरागो नाम पंचगुरुषु प्रवचने च वर्तमानस्तद्गुणानुरागात्मक: । (भ. आ. विजयो. ५१) । ५. रागो यस्य प्रशस्त:—वीतरागपरमात्मद्रव्याद्विलक्षण: पंचपरमेष्ठिनिर्भरगुणानुरागरूप: प्रशस्तधर्मानुराग: × × × । (पंचा. का. जय. वृ. १३५) । ६. दानशीलोपवास-गुरुजनवैयावृत्त्यादिसमुद्भव: प्रशस्तराग: । नि. सा. वृ. ६) ।

१ अरहन्त, सिद्ध और साधुओं में भक्ति; धर्म में—व्यवहार धर्मानुष्ठान में—प्रवृत्ति और गुरुओं का अनुकरण; इस सब को प्रशस्त राग कहा जाता है। ३ अरहन्तों में राग, साधुओं में राग एवं ब्रह्मचारियों में राग; यह श्रेष्ठ सराग साधुओं का प्रशस्त राग कहलाता है।

प्रशस्त वात्सल्य— आयरिय-गिलाण-पाहुण-असहु-बाल-वुड्ढाईणं आहारोवहिमाइणा समाहिकरणं पसत्थं । (जीतक. चू. २८, पृ. १३) ।

आचार्य, ग्लान, अतिथि, अशक्त, बाल और वृद्ध आदि को आहार एवं उपाधि आदि के द्वारा समाहित करना—उनके संक्लेश को दूर करना—यह प्रशस्त वात्सल्य कहलाता है।

प्रशस्त विहायोगति—१. वरवृषभ-द्विरदादिप्रशस्तगतिकारणं प्रशस्तविहायोगतिनाम ।(त. वा. ८, ११, १८)। २. जस्स कम्मस्स उदएण जीवाणं सीह-कुंजर-वसहाणं व पसत्थगई होज्ज तं पसत्थविहायगदी णाम । (धव. पु. ६, पृ. ७७) । ३. जस्सुदएणं जीवो वरवसहगईए गच्छइ गइए । सा सुहिया विहगगई हंसाईणं भवे सा उ ॥ (कर्मवि. ग. १२८) । ४. यस्य कर्मण उदयेन सिंह-कुंजर-हंस-वृषभादीनामिव प्रशस्ता गतिर्भवति तत्प्रशस्तविहायोगतिनाम । (मूला. वृ. १२-१९५) । ५. तत्र यदुदयाज्जन्तो: प्रशस्ता विहायोगतिर्भवति, यथा हंसादीनाम्, तत्प्रशस्तविहायोगतिनाम । (सप्तति. मलय. वृ. ५, पृ. १५३) । ६. गज-वृषभ-हंस-मयूरादिवत् प्रशस्तविहायोगतिनाम । (त. वृत्ति श्रुत. ८-११) ।

१ जो कर्म उत्तम बैल व हाथी आदि की प्रशस्त गति के समान उत्तम गति (गमन) का कारण है उसे प्रशस्त विहायोगतिनामकर्म कहते हैं।

प्रशस्त स्थिरीकरण—विसीयमाणस्स चरित्ताइसु थिरीकरणं पसत्थं । (जीतक. चू. गा. २८, पृ. १३) ।

चारित्र आदि के विषय में खेद को प्राप्त होने वाले प्राणी को उसमें स्थिर करना, इसे प्रशस्त स्थिरीकरण कहते हैं।

प्रशस्ता भावशीति—यै: पुनर्हेतुभिस्तेषामेव संयमादिस्थानानामुपरितनेषूपरितनेषु विशेषेष्वध्यारोहति सा प्रशस्तोच्चोपरितन एव क्रमेण भावशीतिस्तावद् द्रष्टव्यं यावत् केवलज्ञानम् । (व्यव. भा. मलय. वृ. १०-४०९) ।

जिन हेतुओं के द्वारा जीव संयमादिस्थानों के उपरितन उपरितन विशेष स्थानों पर आरोहण करता है इसे क्रम से प्रशस्त उपरितन भावशीति कहते हैं। उक्त आरोहणक्रम केवलज्ञान की प्राप्ति तक जानना चाहिए।

प्रशस्तेन्द्रियप्रणिधि — १. सद्देसु अ रूवेसु अ गंधेसु रसेसु तह य फासेसु । न वि रज्जइ न वि दुस्सइ एसा खलु इंदियप्पणिही॥ (दशवै. नि. २९५); तं (अट्ठविहं कम्म-रयं) चेव खवेइ पुणो पसत्थपणिही समाउत्तो ॥ (दशवै. नि. ३०४) । २. तेसु सद्दादिसु विसएसु मणुन्नामणुन्नेसु जो रागद्दोसविणिग्गहो सो पसत्थो इंदियपणिधी । (दशवै. चू. पृ. २६६); जो धम्मणिमित्तं इंदियविसयपयारनिरोधो इंदियविसयपत्ताणं च अत्थाणं राग-दोसविणिग्गहो कसायोदयनिरोधो उदयपत्ताणं कसायाणं विणिग्गहो सा पसत्था पणिधी भण्णई । (दशवै. चू. पृ. २६९) ।

१ शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन इष्ट व अनिष्ट इन्द्रियविषयों में राग-द्वेष नहीं करना; यह प्रशस्त इन्द्रियप्रणिधि कहलाती है। इसके आश्रय से जीव आठ प्रकार के कर्म-रज को नष्ट करता है। २ इन्द्रियों के विषयसंचार को रोकना, इन्द्रियविषयता को प्राप्त पदार्थों में राग-द्वेष नहीं करना, कषायों के उदय को रोकना, तथा उदयगत कषायों

का निग्रह करना; इसे प्रशस्त इन्द्रियप्रणिधि कहा जाता है।

प्रशस्तोपबृंहण — पसत्था साहूसु नाण-दंसण-तव-संजम-खमण-वेयावच्चाइसु अब्भुज्जयस्स उच्छाहवड्ढणं उववूहणं ॥ (जीतक. चू. २८, पृ. १३)। साधुओं में ज्ञान, दर्शन, तप, संयम, क्षमण (उपवास) और वैयावृत्य आदि में उद्यत साधु के उत्साह के बढ़ाने को प्रशस्त उपबृंहण कहते हैं।

प्रशंसा—१. गुणोद्भावनाभिप्रायः प्रशंसा। (स. सि. ६–२५; त. श्लो. ६–२५); मनसा मिथ्यादृष्टेर्ज्ञान-चारित्रगुणोद्भावनं प्रशंसा। (स. सि. ७, २३; त. वा. ७, २३, १; चा. सा. पृ. ४)। २. ज्ञान-दर्शन-गुणविशेषोद्भावनं भावतः प्रशंसा। (त. भा. ७–१८)। ३. गुणोद्भावनाभिप्रायः प्रशंसा। सद्भूतस्याऽसद्भूतस्य वा गुणस्योद्भावनं प्रत्यभिप्रायः प्रशंसेत्युपदिश्यते। (त. वा. ६, २५, २)।

१ गुणों के प्रगट करने के अभिप्राय का नाम प्रशंसा है। २ ज्ञान व दर्शनरूप विशेष गुणों को भावतः प्रगट करना, यह प्रशंसा कहलाती है।

प्रशान्तरस—१. निद्दोसमणसमाहाणसंभवो जो पसंतभावेणं। अविकारलक्खणो सो रसं पसंतोत्ति णायव्वो ॥ (अनुयो. गा. ८०, पृ. १३६)। २. हिंसानृतादिदोषरहितस्य क्रोधादित्यागेन प्रशान्तस्य इन्द्रियविषयविनिवृत्तस्य स्वस्थमनसः हास्यादिविकारवर्जितः अविकारलक्षणः प्रशान्तो रसो भवति। (अनुयो. चू. पृ. ४६)। ३. निर्दोषमनःसमाधानसम्भवः, हिंसादिदोषरहितस्य इन्द्रियविषयविनिवृत्त्या स्वस्थमनसो यः प्रशान्तभावेन क्रोधादित्यागेन अविकारलक्षणः हास्यादिविकारवर्जितः असौ रसः प्रशान्तो ज्ञातव्यः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ७१)। ४. प्रशाम्यति क्रोधादिजनितौत्सुक्यरहितो भवत्यनेनेति प्रशान्तः, परमगुरुवचःश्रवणादिहेतुसमुल्लसितः उपशमप्रकर्षात्मा प्रशान्तो रसः। (अनुयो. गा. मल. हेम. वृ. ६३, पृ. १३५)।

१ निर्दोष—हिंसादि दोषों से रहित, मन के समाधान से—उस की विषयविमुखतारूप स्वस्थता से, होने वाले निर्विकार—हास्यादि विकारों से रहित—रसको प्रशान्तरस कहते हैं। यह क्रोधादि के परित्यागरूप शान्तभाव से उत्पन्न होता है, इसीलिए उसका प्रशान्तरस नाम सार्थक है।

प्रश्न—१. पण्हो उ होइ पसिणं जं पासइ वा सयं तु तं पसिणं। अंगुट्ठुच्चिट्ठ-पडे दप्पण-असि-तोय-कुड्डाई ॥ (बृहत्क. १३११)। २. प्रश्नः संशयापत्तौ असंशयार्थं विद्वत्सन्निधौ स्वविवक्षासूचकं वाक्यमिति। (आव. नि. हरि. वृ. ६१)। ३. नामनि निर्ज्ञाते लक्षणनिर्णयार्थः प्रश्नो भवति, लक्षणे वा निर्ज्ञाते नामनिर्ज्ञानार्थः इति। तत्र पूर्वस्मिन् 'किंलक्षणं जीवादिद्रव्यम्' इति प्रश्नः, 'उपयोगादिलक्षणम्' इति प्रतिवचनम्। अपरस्मिन् पक्षे 'उपयोगादिलक्षणः किन्नामा पदार्थः' इति प्रश्नः, 'जीवादिनामा' इत्युत्तरम्। (न्यायकु. ७–७६, पृ. ८०२)। ४. अर्थिजनेन शुभाशुभं पृष्टो दैवज्ञः स्वप्नादिषु तत्परिज्ञानार्थं विद्यादिदेवतां यत्पृच्छति स प्रश्नः। (श्राव. हरि. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ८३)। ५. या विद्या मन्त्रा वा विधिना जप्यमानः पृष्टा एव सन्तः शुभाशुभं कथयन्ति ते प्रश्नाः। (नन्दी. मलय. वृ. १५४, पृ. २३४)। ६. प्रश्नः किमयमस्माभिरनुगृहीतव्यो न वेति संघमुद्दिश्य पृच्छा। (अन. ध. स्वो. टी. ७–६८)।

१ देवता आदि से पूछने को प्रश्न कहा जाता है, अथवा स्वयं व वहां पर स्थित अन्य जन भी जो देखते हैं उसे पसिण (प्राकृत शैली से) कहते हैं। यथा—अंगूठे—कंसार (क्षुद्र कीड़ा) आदि से भक्षित वस्त्र, दर्पण, तलवार, पानी और भित्ती आदि में अवतीर्ण देवता आदि से जो पूछा जाता है उसे प्रश्न समझना चाहिये। २ किसी पदार्थ के विषय में सन्देह के उत्पन्न होने पर उसे दूर करने के लिए विद्वान् के समीप में अपनी विवक्षा के सूचक जिस वाक्य का उपयोग किया जाता है उसका नाम प्रश्न है। ६ इसके ऊपर हमें अनुग्रह करना चाहिये या नहीं, इस प्रकार संघ को लक्ष्य करके जो पूछा जाता है उसे प्रश्न कहते हैं। यह भक्तप्रत्याख्यान मरण का इच्छुक जिन अर्हादि लिंगों का आराधक होता है उनमें से एक है।

प्रश्नकुशल—चैत्यसंयतानार्यिकाः श्रावकांश्च बाल-मध्यम-वृद्धांश्च पृष्ट्वा कृतगवेषणो याति इति प्रश्नकुशलः। (भ. आ. विजयो. व मूला. टी. ४०३)। जो साधु चैत्यवासी संयतों, आर्यिकाओं, श्रावकों तथा बाल, मध्यम और वृद्धों से पूछकर निर्यापका-

चार्य के अन्वेषण के लिए जाता है वह प्रश्नकुशल कहलाता है।

प्रश्नव्याकरण—१. पण्हावागरणेसु णं अट्ठुत्तरं पसिणसयं अट्ठुत्तरं अपसिणसयं अट्ठुत्तर पसिणापसिणसयं, तं जहा—अंगुट्ठपसिणाइं बाहुपसिणाइं अद्दागपसिणाइ अन्नेवि विचित्ता विज्जाइसया नागसुवण्णेहिं सद्धिं दिव्वा संवाया आघविज्जंति, पण्हावागरणाणं परित्ता वायणा संखेज्जा अणुप्रोगदारा संखेज्जा वेढा संखेज्जा सिलोगा संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ संखेज्जाओ संगहणीओ संखेज्जाओ पडिवत्तीओ, से णं अंगट्ठयाए दसमे अंगे एगे सुअक्खंधे पणयालीसं अज्झयणा पणयालीसं उद्देसणकाला पणयालीसं समुद्देसणकाला संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं *संखेज्जा अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा परित्ता* तसा अणंता थावरा सासयगडनिबद्धनिकाइया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति, से एवं आया से एवं नाया एवं विन्नाया एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ, सेत्तं पण्हावागरणाइं १०। (नन्दी. सू. ५४, पृ. २३४)। २. आक्षेपविक्षेपैर्हेतु-नयाश्रितानां प्रश्नानां व्याकरणं प्रश्नव्याकरणम्, तस्मिल्लौकिक-वैदिकानामर्थानां निर्णयः। (त. वा. १, २०, १२)। ३. प्रश्नितस्य जीवादेर्यत्र प्रतिवचनं भगवता दत्तं तत्प्रश्नव्याकरणम्। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. १–२०)। ४. प्रश्नः प्रतीतस्तन्निर्वचनं व्याकरणम्। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. १०५)। ५. पण्हवायरणं णाम अंगं तेणउदिलक्ख-सोलहसहस्सपदेहि ९३१६००० अक्खेवणी विक्खेवणी संवेयणी णिव्वेयणी चेदि चउव्विहाओ कहाओ वण्णेदि। (धव. पु. १, पृ. १०४); प्रश्नानां व्याकरणं प्रश्नव्याकरणम्, तस्मिन् सत्रिनवतिलक्ष-षोडशपदसहस्रैः ९३१६००० प्रश्नान्नष्ट-मुष्टि-चिन्ता-लाभालाभ-सुखदुःख-जीवितमरण - जयपराजय-नाम-द्रव्यायुस्संख्यानानि लौकिक-वैदिकानामर्थानां निर्णयश्च प्ररूप्यते, आक्षेपणी-विक्षेपणी-संवेदनी-निर्वेदन्यश्चेति चतस्रः कथा एताश्च निरूप्यन्ते। (धव. पु. ९, पृ. २०२)। ६. पण्हवायरणं णाम अंगं अक्खेवणी-विक्खेवणी-संवेयणी-णिव्वेयणीणामाओ चउव्विहं कहाओ पण्हादो णट्ठि-मुट्ठि-चिंता-लाहालाह-सुखदुक्ख-जीवियमरणाणि च वण्णेदि। (जयध. १, पृ. १३१)। ७. षोडशसहस्र-त्रिनवतिलक्षपदपरिमाणं नष्ट-मुष्ट्यादीन् परप्रश्नानाश्रित्य यथावत्तदर्थ-प्रतिपादक प्रश्नानां व्याकर्तृ प्रश्नव्याकरणम्। (सं. श्रुतभ. ८, पृ. १७३)। ८. प्रश्नस्य दूतवाक्य-नष्ट-मुष्टि-चिन्तादिरूपस्य अर्थः त्रिकालगोचरो धनधान्यादि-लाभालाभ-सुखदुःख-जीवितमरण-जयपराजयादिरूपो व्याक्रियते व्याख्यायते यस्मिंस्तत्प्रश्नव्याकरणम्। (गो. जी. जी. प्र. ३५७)। ९. नष्ट-मुष्ट्यादिकप्रश्नानामुत्तरप्रदायकं षोडशसहस्राधिक-त्रिनवतिलक्षपदप्रमाण प्रश्नव्याकरणम्। (त. वृत्ति श्रुत. १–२०)। १०. पण्हाणं वायरणं अंगपयाणि तियसुण्ण सोलसियं। तेणवदिलक्खसंखा जत्थ जिणा बेंति सुणह जणा॥ पण्हस्स दूदवयणणट्ठमुट्ठिमत्थत्थ-सव्वस्स। धादुणरमूलजस्स वि अत्थो तियकालगोचरयो॥ धणधण्णजयपराजयलाहालाहादिसुहदुहं णेयं। जीवियमरणत्थो वि य जत्थ कहिज्जइ सहावेण। (अंगप. ५६–५८, पृ. २६८–६९)।

१ जिसमें एक सौ आठ प्रश्नों, एक सौ आठ अप्रश्नों, एक सौ आठ प्रश्नाप्रश्नों, तथा अंगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न एवं आदर्शप्रश्नरूप विचित्र विद्यातिशयों के निरूपण के साथ नागकुमार व सुवर्णकुमारों के साथ होने वाले दिव्य संवादों का भी निरूपण किया जाता है उसे प्रश्नव्याकरण (दसवां अंग) कहा जाता है। २ जिस अंगश्रुत में शंका-समाधानपूर्वक हेतु और नयों के आश्रित प्रश्नों का व्याख्यान किया जाता है वह प्रश्नव्याकरणांग कहलाता है। इसमें लौकिक व वैदिक अर्थों का निर्णय भी किया जाता है।

प्रश्नाप्रश्न—१. पसिणापसिणं सुमिणे विज्जासिट्ठं कहेइ अन्नस्स। अहवा आइंखिणिया घंटियसिट्ठं परिकहेइ॥ (बृहत्क. भा. १३१२)। २. सुविणय-विज्जाकहियं आइंखणिघंटियाकहियं वा। जं सासइ अन्नेसि पसिणापसिणं हवइ एयं॥ (आव. नि. हरि. वृ. ११०७, पृ. ५१८ उद्.)। ३. अधिजनप्रश्नाद्देवतायाः प्रश्नः प्रश्नाप्रश्नः। ××× स्वप्ने विद्यया—विद्यादेवतया—कथितं स्वप्नविद्याकथितम्, अथवा स्वप्नस्य विद्या स्वप्नविद्या, तया कथितं स्वप्नविद्याकथितम्, आख्याति शुभाशुभमित्याख्यायि-

का देवताविशेषरूपा तया कर्णद्वारे वादितघण्टिका द्वारेण कथितम्, आख्यायिका देवता हि मन्त्रेणाहूता घण्टिकाद्वारेण शुभाशुभं दैवज्ञस्य कथयति, एतच्च देवताकथितं यदन्येभ्यः शिष्यते कथ्यते स प्रश्नाप्रश्नः। (आव. हरि. वृ. मल. टि. पृ. ८३)। ४. ये पृष्टा अपृष्टाश्च कथयन्ति ते प्रश्नाप्रश्नाः। (नन्दी. मल. हेम. वृ. ५४, पृ. २३४)। ५. प्रश्नाप्रश्नं नाम यत् स्वप्नविद्यादिभिः शिष्टस्यान्येभ्यः कथनम्। (व्यव. भा. मलय. वृ. पृ. ११७)।

१ स्वप्न में अवतीर्ण विद्या—अधिष्ठात्री देवता—के द्वारा जो कहा गया है उसे अन्य प्रश्नकर्ता के लिए कहना, अथवा शुभाशुभ का कथन करने वाली देवताविशेष के द्वारा घण्टा बजाकर जो कुछ कान में कहा गया है उसे अन्य प्रश्नकर्ता के लिये कहना, इसे प्रश्नाप्रश्न कहा जाता है।

प्रश्वास—कोष्ठस्य वायोर्निश्वसनं प्रश्वासः। (योगशा. स्वो. विव. ५–४)।

उदररूप कोठे की वायु के निःश्वसन को प्रश्वास कहते हैं।

प्रसङ्गसाधन—१. यत्र हि व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयकः प्रदर्श्यते तत्प्रसङ्गसाधनम्। (सिद्धिवि. वृ. ३–६, पृ. ४३)। २. प्रसङ्गसाधनं परस्येष्टया अनिष्टापादनात्। (प्र. क. मा. पृ. ५४४)।

१ जिस साधन में व्याप्य की स्वीकृति को व्यापक की अविनाभाविनी—व्यापक की स्वीकृति के विना न होने वाली—दिखलाया जाता है उसे प्रसंगसाधन कहते हैं। २ पर के मन्तव्य से ही जो उसे अनिष्ट का प्रसंग दिया जाता है, उसे प्रसंगसाधन कहा जाता है।

प्रसन्ना—प्रसन्ना द्राक्षादिद्रव्यजन्या मनःप्रसत्तिहेतुः। (विपाक. अभय. वृ. २–१०, पृ. २३)।

द्राक्षा (अंगूर या मुनक्का) आदि द्रव्यों से उत्पन्न होने वाली और मन को प्रसन्न करने वाली मदिरा को प्रसन्ना कहते हैं।

प्रसेनिकाकुशील — अंगुष्ठप्रसेनिका अक्षरप्रसेनी प्रदीपप्रसेनी शशिप्रसेनी सूर्यप्रसेनी स्वप्नप्रसेनीत्येवमादिभिर्जनं रंजयति यः सोऽभिधीयते प्रसेनिकाकुशीलः। (भ. आ. विजयो. १९५०)।

अंगुष्ठप्रसेनिका, अक्षरप्रसेनिका, प्रदीपप्रसेनी, शशिप्रसेनी, सूर्यप्रसेनी और स्वप्नप्रसेनी आदि विद्याओं के द्वारा लोक को अनुरंजित करने वाले साधु को प्रसेनिकाकुशील कहते हैं।

प्रस्थ— १. ××× पलाणि पुण अद्धतेरस उ पत्थो। (ज्योतिष्क. १९)। २. चतुःकुडवः प्रस्थः। (त. वा. ३, ३८, ३, पृ. २०६)। ३. अर्द्धत्रयोदशपलानि सार्द्धानि द्वादशपलानि प्रस्थः। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. १९)। ४. ××× प्रस्थो द्वादशभिश्च तैः (पलैः)। (लोकप्र. २८–२५७)।

१ साढ़े बारह पलों का एक प्रस्थ होता है। २ चार कुडव प्रमाण माप को प्रस्थ कहते हैं।

प्रहार—प्रहारोऽस्यादिना स्वस्य प्रहारे निकटस्य वा। (अन. ध. ५–५७)।

साधु के भोजन करते समय उसके ऊपर या निकटवर्ती किसी अन्य के ऊपर तलवार आदि से आघात किये जाने पर प्रहार नाम का भोजनविषयक अन्तराय होता है।

प्राकाम्य—१. सलिले वि य भूमीए उम्मज्ज-णिमज्जणाणि जं कुणदि। भूमीए वि य सलिले गच्छदि पाकम्मरिद्धी सा॥ (ति. प. ४–१०२९)। २. अप्सु भूमाविव गमनं भूमौ जल इवोन्मज्जन-निमज्जनकरणं प्राकाम्यम्। (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०३; चा. सा. पृ. ९८)। ३. कुल-सेल-मेरु-महीहर-भूमीणं बाहमकाऊण तासु गमणसत्ती तवच्छरणवलेणुप्पण्णा पागम्मं णाम। (धव. पु. ९, पृ. ७६); घणपुढवि-मेरु-सायराणमंतो सव्वसरीरेण पवेससत्ती पागम्मं णाम। (धव. पु. ९, पृ. ७६)। ४. प्राकाम्यं यत्प्रचुरकामो भवति, विषयान् भोक्तु शक्नोति इत्यर्थः। (न्यायकु. १–४, पृ. १११)। ५. प्राकाम्यमप्सु भूमाविव प्रविशतो गमनशक्तिः तथा अप्स्विव भूमावुन्मज्जन-निमज्जने। (योगशा. स्वो. विव. १-८, पृ. ३७; प्रव. सारो. वृ. १५०५, पृ. ४३२)। ६. भूमाविव जलादौ सर्वत्राप्रतिहतगमनं प्रागम्यम्। न सर्वत्र गमनम् अगमः, प्रगतोऽगमो यस्मात् प्रकृष्टो वा आ समन्तात् गमो यस्मादसौ प्रागमस्तस्य भावः प्रागम्यम्। (प्रा. योगिभ. टी. ६, पृ. १९९)। ७. प्राकाम्यवान् भुवीवाप्सु भुवि वाप्स्विव चङ्क्रमेत्॥ (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. ८, पृ. ३० उद्.)। ८. जले भूमाविव गमनं भूमौ जले इव मज्जनोन्मज्जनविधानं प्राकाम्यम्। अथवा जाति-क्रिया-गुण-द्रव्य-सैन्यादिकरणं

च प्राकाम्यम् । (त. वृत्ति श्रुत. ३–३६) ।

१ जिस ऋद्धि के प्रभाव से स्थल में जल के समान उन्मज्जन-निमज्जन किया जा सकता है तथा भूमि के समान जल पर गमन किया जा सकता है वह प्राकाम्य ऋद्धि कहलाती है। ४ प्राकाम्य ऋद्धि का धारक जीव प्रचुर अभिलाषायुक्त होता है—वह विषयों के भोगने में समर्थ होता है। ६ भूमिके समान जल पर निर्बाध गमन कर सकने का नाम प्रागम्य ऋद्धि है। जिस ऋद्धि के होने पर सर्वत्र अगम—गमनाभाव—समाप्त हो जाता है, अर्थात् सर्वत्र जाया जा सकता है, उसे प्रागम्य ऋद्धि कहते हैं।

प्राकार—जिणहरादीणं रक्खट्ठं पासेसु ट्ठविदओलित्तीओ [ट्ठविदाओ भित्तीओ] पागारा णाम। (धव. पु. १४, पृ. ४०)।

जिनगृहादिकों की रक्षा के लिये जो उनके पार्श्वभागों में भीतें स्थापित (निर्मापित) की जाती हैं उन्हें प्राकार कहा जाता है।

प्राकृत भाषा—१. प्रकृतौ भवं प्राकृतम्, स्वभावसिद्धमित्यर्थः। (बृहत्क. मलय. वृ. २)। २. प्राकृतं तज्ज-तत्तुल्य-देश्यादिकमनेकधा। (अलं. चि. २–१२०)।

१ जो भाषावचन प्रकृति (स्वभाव) से सिद्ध हैं उन्हें प्राकृत कहा जाता है। २ संस्कृत से उत्पन्न, उसके सदृश और देशी आदि के भेद से प्राकृत भाषा अनेक प्रकार की है।

प्रागभाव—१. कार्यस्यात्मलाभात् प्रागभवनं प्रागभावः। (अष्टस. १०, पृ. ९७)। २. उत्पत्तेः पूर्वमभावः प्रागभावः। (सिद्धिवि. वृ. ३–१६, पृ. २०४)। ३. क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति प्रागभावः स उच्यते। (प्रमाल. ३८५)। ४. यन्निवृत्तावेव कार्यस्य समुत्पत्तिः सोऽस्य प्रागभावः। (प्र. न. त. ३–५५)।

१ कार्य के उत्पन्न होने से पूर्व जो उसका अभाव रहता है उसे प्रागभाव कहते हैं। ४ जिसकी निवृत्ति होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है वह प्रागभाव कहलाता है।

प्रागम्य—देखो प्राकाम्य।

प्राग्भारवसुधा—देखो ईषत्प्राग्भार। तन्वी मनोज्ञा सुरभिः पुण्या परमभास्वरा। प्राग्भारा नाम वसुधा लोकमूर्ध्नि व्यवस्थिता॥ नृलोकतुल्यविष्कम्भा सितच्छत्रनिभा शुभा। ऊर्ध्वं तस्याः क्षितेः सिद्धाः लोकान्ते समवस्थिताः॥ (त. भा. १०, १९–२०, पृ. ३२२)।

जो प्राग्भार नाम की पृथिवी पतली—मध्य में आठ योजन मोटी होकर सब ओर क्रम से हीन होती हुई अन्त में मक्खी के पंख के समान पतली, मनोहर, सुगन्धित, पवित्र और देदीप्यमान होकर मनुष्यलोक के समान पैंतालीस लाख योजन विस्तृत व सफेद छत्र के समान आकार वाली है। उसके ऊपर लोक के अन्त में सिद्ध जीव अवस्थित हैं।

प्राचीनदेशावकाशिक—प्राचीनं पूर्वाभिमुखम्, प्राच्यां दिश्येतावन्मयाऽद्य गन्तव्यम् × × × इत्येवंभूतं सः (देशावकाशिकव्रती) प्रतिदिनं प्रत्याख्यानं विधत्ते। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ७, ७९, पृ. १८२)।

पूर्व दिशा में मैं आज इतनी दूर जाऊंगा, इस प्रकार से जो देशावकाशिकव्रती पूर्व दिशा में आने जाने का प्रतिदिन नियम करता है, इसे प्राचीनदेशावकाशिकव्रत कहते हैं।

प्राजापत्यविवाह—१. विनियोगेन कन्याप्रदानात् प्राजापत्यः। (नीतिवा. ३१–७, पृ. ३७५)। २. विनियोगेन विभवस्य कन्याप्रदानात् प्राजापत्यः। (ध. बि. मु. वृ. १–१२)। ३. विभवविनियोगेन कन्यादानं प्राजापत्यः। (योगशा. स्वो. विव. १–४७; श्राद्धगु. पृ. १४; धर्मसं. मान. १, पृ. ५)। ४. तथा च गुरुः—धनिनो धनिनं यत्र विषये कन्यकामिह। सन्तानाय स विज्ञेयः प्राजापत्यो मनीषिभिः॥ (नीतिवा. टी. ३१–७ उद्.)।

१ जिस विवाह में सम्पत्ति के विनियोग के साथ कन्या को प्रदान किया जाता है उसे प्राजापत्य विवाह कहा जाता है।

प्राज्ञश्रमण—देखो प्रज्ञाश्रवण। प्रकृष्टश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भूतासाधारणमहाप्रज्ञर्द्धिलाभा अनधीतद्वादशांग-चतुर्दशपूर्वा अपि सन्तो यमर्थं चतुर्दशपूर्वी निरूपयति तस्मिन् विचारकृच्छ्रेऽप्यर्थेऽतिनिपुणप्रज्ञाः प्राज्ञश्रमणाः। (योगशा. स्वो. विव. १–८, पृ. ३७–३८)।

श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के प्रकृष्ट क्षयोपशम से प्रगट हुई असाधारण महाबुद्धि ऋद्धि से युक्त होकर जो बारह अंगों और चौदह पूर्वों का अध्ययन न

करके भी चौदह पूर्वों का धारक जिस अर्थ का निरूपण करता है उस सूक्ष्म भी पदार्थ के विषय में अतिशय निपुणबुद्धि से युक्त होते हैं वे प्राज्ञश्रमण कहलाते हैं।

प्राण—१. ××× पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो ॥ (पंचा. का. ३०)। २. वीर्यान्तराय-ज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामोदयापेक्षिणाऽऽत्मना उदस्यमानः कोष्ठ्यो वायुरुच्छ्वासलक्षणः प्राण इत्युच्यते। (स. सि. ५–१९)। ३. तौ उच्छ्वास-निःश्वासौ) बलवतः पट्विन्द्रियस्य कल्पस्य मध्यमवयसः स्वस्थमनसः पुंसः प्राणः। (त. भा. ४-१५)। ४. हट्ठस्स अणवगल्लस्स निरुवकिट्ठस्स जंतुणो। एगे ऊसास-णीसासे एस पाणुत्ति वुच्चइ। (भगवती. पृ. ८२४; अनुयो. गा. १०४, पृ. १७८–७९; जम्बूद्वी. १८, पृ. ८९; ध्यानश. हरि. वृ. ३, पृ. ५८३ उद्.)। ५. उस्सासो निस्सासो य दो (दुवे) वि पाणुत्ति भन्नए एक्को। (ज्योतिष्क. ६)। ६. हट्ठऽणगल्लुस्सासो एसो पाणुत्ति सन्निओ एक्को। (जीवस. १०७)। ७. बाहिरपाणेहिं जहा तहेव अब्भंतरेहिं पाणेहिं। जीवंति जेहिं जीवा पाणा ते होंति बोद्धव्वा ॥ (प्रा. पंचसं. १–४५; धव. पु. १, पृ. २५६ उद्. गो. जी. १२८)। ८. आहि-वाहिविमुक्कस्स नीसासूसास एगगो। पाणू ××× (बृहत्सं. १७९; संग्रहणी. १६६)। ९. ××× तावुभौ प्राण इष्यते ॥ (ह. पु. ७–१९)। १०. कोष्ठ्यो वायुरुच्छ्वासलक्षणः प्राणः। वीर्यान्तराय-ज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामोदयापेक्षिणः आत्मना उदस्यमानः कोष्ठ्यो वायुरुच्छ्वासलक्षणः प्राण इत्युच्यते।(त. वा. ५, १९, ३५)। ११. तावुच्छ्वास-निःश्वासौ, बलवतः शरीरबलेन, पट्विन्द्रियस्यानुपहतकरणग्रामस्य, कल्पस्य नीरुजस्य, मध्यमवयसः भद्रयौवनवतः, स्वस्थमनसो अनाकुलचेतसः, पुंसः पुरुषस्य प्राणो नाम कालभेदः। (त. भा. हरि. वृ. ४–१५); ऊर्ध्वगामी समीरणः प्राणः। (त. भा. हरि. वृ. ८–१२)। १२. संखेज्जाओ आवलिआओ आणुत्ति—ऊसासो, संखेज्जाओ आवलिआओ णिस्सासो, दोण्हवि कालो एगो पाणू। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ५४)। १३. प्राणिति एभिरात्मेति प्राणः पञ्चेन्द्रिय-मनोवाक्कायानापानायूंषि इति। (धव. पु. २, पृ. २५६); प्राणिति जीवति एभिरिति प्राणः। (धव. पु. २, पृ. ४१२); उस्सासो णिस्सासो एगो पाणो त्ति आहिदो एसो ॥ (धव. पु. ३, पृ. ६६ उद्.)। १४. तावुच्छ्वास-निःश्वासावितथंप्रमाणौ शरीरबलयुक्तस्यानुपहतकरणग्रामस्य नीरुजस्य मध्यं वयोऽनुप्राप्तस्य मनोदुःखेनानभिभूतस्य पुरुषस्य प्राणो नाम कालविशेषो भवति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४–१५)। १५. प्राणन्ति यैः सदा जीवाः प्राणैर्बाह्यैरिवान्तरैः। प्राणाः प्रवर्तमानास्ते प्राणिनां जीवितावधि ॥ (पंचसं. अमित. १–१२३, पृ. १९)। १६. प्रकर्षेण नयतीति प्राणः, ××× अथवा प्रसरणेनापसरणेन समन्तात् प्रसरणादूर्ध्वव्याप्त्या अनिति अनेनेति घञन्तः प्राणम्।(योगशा. स्वो. विव. ५–१३); प्राणो नासाग्रहृन्नाभिपादाङ्गुष्ठांतगो हरित्। (योगशा. ५–१४)। १७. तौ द्वावपि समुदितावेकः प्राणो भण्यते। यथोक्तपुरुषगतोच्छ्वास-निःश्वासप्रमितः कालविशेषः प्राणः। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ६)। १८. द्वयोरपि (उच्छ्वास-निःश्वासयोः) कालः प्राणः। (षडशी. दे. स्वो. वृ. ६६)। १९. संख्येयाभिश्चावलीभिः प्राणो भवति निश्चितम् ॥ नीरोगस्यानुपहतकरणस्य बलीयसः। प्रशस्ते यौवने वर्तमानस्याव्याकुलस्य च ॥ अप्राप्तस्याध्वनः खेदमाश्रितस्य सुखासनम्। स्याद्यदुच्छ्वास-निःश्वासमानं प्राणः स कीर्तितः ॥ उच्छ्वास ऊर्ध्वगमनस्वभावः परिकीर्तितः। अधोगमनशीलश्च निःश्वास इति कीर्तितः ॥ संख्येयावलिकामानौ प्रत्येकं तावुभावपि। द्वाभ्यां समुदिताभ्यां स्यात्कालः प्राण इति स्मृतः ॥ (लोकप्र. २८, २१२–१६)।

१ बल, इन्द्रिय, आयु और उच्छ्वास ये प्राण कहलाते हैं। २ वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म के उदय से ऊपर जाने वाली उच्छ्वासरूप कोष्ठ (उदर) की वायु को प्राण कहा जाता है। ३ शारीरिक बल से सहित, अविनष्ट इन्द्रियों से संयुक्त, रोग से रहित एवं मध्यम अवस्था से युक्त—न बाल और न वृद्ध—ऐसे स्वस्थ मन वाले पुरुष के संख्यात आवलियों प्रमाण उच्छ्वास व निःश्वास इन दोनों रूप कालविशेष का नाम प्राण है।

प्राणवादपूर्व—देखो प्राणायु। १. कायचिकित्साद्यष्टांग आयुर्वेदः भूतिकर्मजाङ्गुलिकप्रक्रमः प्राणापानविभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत्प्राणावायम्। (त. वा. १-२०, १२, पृ. ७७; धव. पु. ६, पृ. २२२,

२२३)। २. पाणावायं णाम पुव्वं दसण्हं वत्थूणं १० विसदपाहुडाणं २०० तेरसकोडिपदेहि १३००००००० काय-चिकित्साद्यष्टाङ्गमायुर्वेदंभूतिकर्मजाङ्गुलिप्रक्रमं प्राणापानविभागं च विस्तरेण कथयति। (धव. पु. १, पृ. १२२)। ३. पाणावायपवादो दसविधपाणाणं हाणिवड्ढीओ वण्णेदि। ××× करि-तुरय-णरधि-संबद्धमट्ठंगमाउव्वेयं भणदि त्ति वुत्तं होदि। (जयध. १, पृ. १४६)। ४. त्रयोदशकोटिपदं प्राणापानविभागायुर्वेद-मंत्रवाद-गारुडवादादीनां प्ररूपकंप्राणावायम् १३००००००० । (श्रुतभ. टी. १३, पृ. १७६)। ५. अष्टांगवैद्यविद्या-गारुडविद्या-मंत्रतंत्रादिनिरूपकं त्रयोदशकोटिपदप्रमाणं प्राणावायपूर्वम्। (त. वृत्ति श्रुत. १-२०)। ६ पाणावायं पुव्वं तेरहकोडीपयं णमंसामि। जत्थ वि कायचिकिच्छा पमुहट्ठंगायुवेयं च ॥ भूदीकम्मं जंगुलिपवकमाणासाहया परे भेया। ईडापिंगलादिपाणा पुढवी-आउग्गिवायूणं ॥ तच्चाणं बहुभेयं दहपाणपरूवणं च दव्वाणि। उवयारयावयारयरूवाणि य तेसिमेवं खु ॥ वण्णिज्जइ गइभेया जिणवरदेवेहि सव्वभासाहि। (अंगप. २, १०७-१०, पृ. ३००-३०१)।

१. शरीरचिकित्सादि अष्टांग आयुर्वेद, भूतिकर्म—शरीर की रक्षा के लिए किये जाने वाले भस्मलेपन—जांगुलिप्रक्रम (विषविद्या) और प्राणापानविभाग—प्राण व अपानरूप वायुओं के विभाग—का भी वर्णन करने वाले श्रुत को प्राणवाद या प्राणावादपूर्व कहते हैं।

प्राणातिपात—१. पाणादिवादो णाम पाणेहिंतो पाणीणं विजोगो। सो जत्तो मण-वयण-कायवावारादीहिंतो ते वि पाणादिवादो। ××× पाणादिवादो णाम हिंसाविसयजीववावारो। (धव. पु. १२, पृ. २७५-७६)। २. प्राणा उच्छ्वासादयः, तेषामतिपातनं प्राणवता सह वियोजनं प्राणातिपातो हिंसेत्यर्थः। उक्तं च—पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च उच्छ्वास-निःश्वासमथान्यदायुः। प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥ (स्थाना. अभय. वृ. १-४८, पृ. २४)।

१. प्राणों से प्राणियों के वियोग करने का नाम प्राणातिपात है। वह प्राणवियोग जिन मन, वचन व कायके व्यापार आदि से होता है उन्हें भी प्राणातिपात कहा जाता है। २ पांच इन्द्रियां, तीन बल, उच्छ्वास-निःश्वास और आयु; इन दस प्राणों को प्राणधारी (जीव) से अलग करना, इसका नाम प्राणातिपात है।

प्राणातिपातक्रिया—देखो प्राणातिपातिकी।

प्राणातिपातिकी क्रिया—१. आयुरिन्द्रिय-बल-प्राणानां वियोगकरणात् प्राणातिपातिकी क्रिया। (स. सि. ६-५, त. वा. ६, ५, ८)। २. इन्द्रियायुर्बलप्राणवियोगकरणात् क्रिया। प्राणातिपातिकी नाम्ना ××× ॥ (ह. पु. ५८-६८)। ३. आयुरिन्द्रिय-बलप्राणानां वियोगकारिणी प्राणातिपातिकीक्रिया। (भ. आ. विजयो. ८०७)। ४. प्राणा इन्द्रियादयस्तेषामतिपातो विनाशस्तद्विषया, प्राणातिपात एव वा क्रिया प्राणातिपातक्रिया। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २७६, पृ. ४३५); प्राणातिपातक्रिया जीविताद् व्यपरोपणम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २८१, पृ. ४४०)। ५. दशप्राणवियोगकरणं प्राणातिपातिकीक्रिया। (त. वा. श्रुत. ६-५)।

१ आयु, इन्द्रिय और बल प्राणों का वियोग करना; इसे प्राणातिपातिकी क्रिया कहते हैं।

प्राणातिपातविरमण— सुहुमादीजीवाणं सव्वेसिं सव्वहा सुपणिहाणं। पाणाइवायविरमणमिह पढमो होइ मूलगुणो ॥ (धर्मसं. हरि. ८५८)।

उत्तम विचारों के साथ सभी सूक्ष्मादि जीवों के प्राणघात का परित्याग करना, यह मुनियों का प्रथम (अहिंसामहाव्रत) मूलगुण है।

प्राणापान—१. प्राणिति जीवति येन जीवः स प्राणः, अपअनिति हर्षेण जीवति विकृत्या वा जीवति येन जीवः स अपानः, कोष्ठाद्बहिर्निर्गच्छति यः स प्राण उछ्वास इत्यर्थः, बहिर्वायुरभ्यन्तरमायाति यः स अपानः निःश्वासः, प्राणश्च अपानश्च प्राणापानौ। ××× वीर्यान्तरायस्य ज्ञानावरणस्य च क्षयोपशमम् अङ्गोपाङ्गनामकर्मोदयं चापेक्षमाणो जीवोऽयं कोष्ठवातं बहिरुदस्यति प्रेरयति स वातः प्राणः उच्छ्वासापरनामधेयः। तथा तादृग्विधो जीवः बहिर्वातमभ्यन्तरे करोति गृह्णाति नासिकादिद्वारेण सोऽपानः निःश्वासापरनामधेयः। (त. वृत्ति श्रुत. ५-१६, पृ. १६० व १६२)। २. वीर्यान्तराय-ज्ञानावरणक्षयोपशमांगोपांगनामोदयापेक्षेणात्मनोदस्यमानकम्प्रवायुरुच्छ्वासलक्षणः स प्राणः, तेनैव वायुनात्मनो बाह्यवायुरभ्यन्तरीक्रियमाणो निःश्वास-

लक्षणोऽपानः। (कार्तिके. टी. २०६)।

१ वीर्यान्तराय और ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम तथा अंगोपांगनामकर्म के उदय की अपेक्षा से जीव जिस उदरगत वायु को बाहिर निकालता है उसे प्राण या उच्छ्वास कहा जाता है तथा वही जीव बाहिरी वायु को नाक आदि के द्वारा भीतर करता है उसे अपान या निःश्वास कहा जाता है।

प्राणापानपर्याप्ति—१. प्राणापानक्रियायोग्यद्रव्यग्रहण-निसर्गशक्तिनिवर्तनक्रियापरिसमाप्तिः प्राणापानपर्याप्तिः। (त. भा. ८-१२; नन्दी. हरि. वृ. पृ. ४४)। २. प्राणापानौ उच्छ्वास-निःश्वासौ, तद्योग्यकरणनिष्पत्तिः प्राणापानपर्याप्तिः। (त. भा. हरि. वृ. ८-१२)। ३. प्राणापानावुच्छ्वास-निःश्वासक्रियालक्षणौ, तयोर्वर्गणाक्रमेण योग्यद्रव्यग्रहणशक्तिः—सामर्थ्यम्, तन्निवर्तनक्रियापरिसमाप्तिः प्राणापानपर्याप्तिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-१२)। ४. यया पुनरुच्छ्वासयोग्यवर्गणादलिकमादाय उच्छ्वासरूपतया परिणमय्यालम्ब्य च मुञ्चति सा प्राणापानपर्याप्तिः। (प्रव. सारो. वृ. १३१७; बृहत्क. क्षे. वृ. १११२)। ५. प्राणापानपर्याप्तिः—यया उच्छ्वास-निःश्वासयोग्यं दलिकमादाय तथा परिणमय्यालम्ब्य च निःस्रष्टुं समर्थो भवति। (संग्रहणी. दे. वृ. २६८; विचारस. वृ. ४३, पृ. ६)।

१ प्राणापान—श्वास और उच्छ्वास क्रिया के योग्य द्रव्य के ग्रहण व त्याग शक्ति के रचनेरूप क्रिया की समाप्ति को प्राणापानपर्याप्ति कहते हैं।

प्राणायाम—१. प्राणायामो भवेद्योगनिग्रहः शुभभावनः। (म. पु. २१-२२७)। २. सुनिर्णीतसुसिद्धान्तैः प्राणायामः प्रशस्यते। मुनिभिर्ध्यानसिद्धचर्थं स्थैर्यार्थं चान्तरात्मनः॥ त्रिधा लक्षणभेदेन संस्मृतः पूर्वसूरिभिः। पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम्॥ (ज्ञाना. २६-१ व ३, पृ. २८४-८५)। ३. प्राणस्य मुख-नासान्तरसंचारिणो वायोः आसमन्तात् यमनं गतिविच्छेदः प्राणायामः। (योगशा. स्वो. विव. ५-१); प्राणायामो गतिच्छेदः श्वास-प्रश्वासयोर्मतः। (योगशा. ५-४)। ४. प्राणायामः प्राणयमः, श्वास-प्रश्वासरोधनम्॥ (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. ८ उद्.)।

१ उत्तम भावनापूर्वक मन, वचन और काय इन तीनों योगों के निग्रह करने को प्राणायाम कहते हैं। २ जिसके द्वारा ध्यान की सिद्धि और अन्तरात्मा की स्थिरता होती है उसका नाम प्राणायाम है। वह पूरक, कुम्भक और रेचक के भेद से तीन प्रकार का है। ४ श्वास और प्रश्वास के निरोध को प्राणायाम कहा जाता है।

प्राणायु—देखो प्राणवादपूर्व। प्राणायुर्द्वादशं तत्राप्यायुःप्राणविधानं सर्वं सभेदमन्ये च प्राणा वर्णितास्तत्परिमाणमेका पदकोटी षट्पञ्चाशच्च पदशतसहस्राणीति। (समवा. अभय. वृ. १४७, पृ. १२२)। जिस श्रुत में भेदों के साथ आयु प्राण की विधि तथा अन्य प्राणों का भी वर्णन किया जाता है वह प्राणायु या प्राणवादपूर्व कहलाता है।

प्राणावायपूर्व—देखो प्राणवादपूर्व।

प्राणासंयम—१. पाणासंजमो वि छव्विहो पुढवि-आउ-तेउ-वाउ-वणप्फदि-तसासंजमभेएण। (धव. पु. ८, पृ. २१)। २. रसजजन्तुपीडा प्राणासंयमः। (भ. आ. विजयो. २१३)। ३. यच्च पृथिव्यप्तेजोवायु-वनस्पतिलक्षणपंचस्थावराणां द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पंचेन्द्रियलक्षणत्रसानां च प्रमादचारित्रत्वाज्जीवितव्यपरोपणं सः प्राणासंयमः। (आरा. सा. टी. ६)।

१ पृथिवी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस इन छह प्रकार के जीवों के असंयम—प्राणपीडन—का नाम प्राणासंयम है। वह उक्त जीवभेदों के कारण छह प्रकार का है।

प्राणिवध—प्राणिवधः प्रमादवतो जीवहिंसनम्। (मूला. वृ. ११-६)।

प्रमाद के वश होकर जीवों के घात करने को प्राणिवध कहते हैं।

प्राणिसंयम—१. एकेन्द्रियादिप्राणिपीडापरिहारः प्राणिसंयमः। (त. वा. ६, ६, १४; चा. सा. पृ. ३२)। २. षड्जीवनिकायबाधाऽकरणादपरः प्राणिसंयमः। (भ. आ. विजयो. ४६)।

१ एकेन्द्रियादि जीवों को किसी भी प्रकार से पीडा न पहुंचाना, इसका नाम प्राणिसंयम है।

प्राणी—१. पाणा एयस्स संति त्ति पाणी। (धव. पु. १, पृ. ११६); प्राणा अस्य सन्तीति प्राणी। (धव. पु. ६, पृ. २२०)। २. णयदुगुत्तपाणा अस्स अत्थि इदि पाणी। (अंगप. पृ. २६५)।

१ जिसके इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास

ये चार प्राण पाये जाते हैं उसे प्राणी कहते हैं।

प्रातराशः—प्रातरशनं प्रातराशः प्रातर्भोजनकालम्। (आव. नि. हरि. वृ. २१७)।

प्रातःकाल सम्बन्धी भोजन के काल का नाम प्रातराश है।

प्रात्ययिकी क्रिया—१. अपूर्वाधिकरणोत्पादनात् प्रात्ययिकी क्रिया। (स. सि. ६–५; त. वा. ६, ५, ६)। २. उत्पादनादपूर्वस्य पापाधिकरणस्य तु। पापास्रवकरी प्रायः प्रोक्ता प्रात्ययिकी क्रिया॥ (ह. पु. ५८–७१)। ३. अपूर्वप्राणिघातार्थोपकरणप्रवर्तनम्। क्रिया प्रात्ययिकी ज्ञेया हिंसाहेतुस्तथापरा॥ (त. श्लो. ६, ५, १४)। ४. अपूर्वहिंसादिप्रत्ययविधानं प्रतीतिजननं प्रात्ययिकी क्रिया। (त. वृत्ति श्रुत. ६–५)।

१ हिंसा के कारणभूत नये नये उपकरणों के बनाने को प्रात्ययिकी क्रिया कहते हैं।

प्रादुष्करण—देखो प्रादुष्कार। १. साधूनुद्दिश्य गवाक्षादिप्रकाशकरणं बहिर्वा प्रकाशे आहारस्य व्यवस्थापनं प्रादुष्करणम्। (आचारा. सू. शी. वृ. २, १, २६६, पृ. ३१७)। २. यदन्धकारव्यवस्थितस्य द्रव्यस्य वह्नि-प्रदीप-मण्यादिना भित्त्यपनयनेन वा बहिर्निष्कास्य द्रव्यधारणेन वा प्रकटकरणं तत्प्रादुष्करणम्। (योगशा. स्वो. विव. १–३८, पृ. १३३)। ३. यन्महान्धकारस्थितस्य यतिनिमित्तं दीपादिना प्रकटनं बहिरालोके नयनं वा तत्प्रादुष्करणम्। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २०)।

१ साधुओं के उद्देश से गवाक्ष (खिड़की) आदि का प्रकाश करना, अथवा बाहिर प्रकाश में आहार को स्थापित करना, यह प्रादुष्करण नाम का उत्पादनदोष कहलाता है।

प्रादुष्कारदोष—देखो प्रादुष्कृत व प्राविष्कृत। १. पादुक्कारो दुविहो संकमण पयासणा य बोधव्वो। भायण-भोयणदीणं मंडवविरलादियं कमसो॥ (मूला. ६–१५)। २. यद् गृहम् अन्धकारबहुलं तत्र बहुलप्रकाशसम्पादनाय यतीनां छिद्रीकृतकुड्यम् अपाकृतफलकं सुविन्यस्तप्रदीपकं वा तत्प्रादुष्कारशब्देन भण्यते। (भ. आ. विजयो. व मूला. २३०; कार्तिके. टी. ४४८–४९)। ३. पात्रादेः संक्रमः साधौ कटाद्याविष्क्रियाऽऽगते। प्रादुष्कारः ×× ×॥ (अन. ध. ५–१३); साधौ संयते, आगते गृहमायाते सति, पात्रादेः संक्रमो भाजनादीनामन्यस्थानादन्यतरस्थाने नयनं संक्रमाख्यः प्रादुष्कारो दोषः स्यात्॥ (अन. ध. स्वो. टी. ५–१३)।

१ प्रादुष्कार उत्पादनदोष संक्रमण और प्रकाशन के भेद से दो प्रकार का है। इनमें पात्र व भोजन आदि को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाना, यह संक्रमण नाम का प्रादुष्कार दोष कहलाता है। उक्त पात्र व भोजन आदि को प्रकाशित करना—प्रकाश को रोकने वाले कपाट आदि को हटाना या दीपक आदि का प्रकाश करना, इसे प्रकाशन नाम का दूसरा प्रादुष्कारदोष जानना चाहिये। २ जो घर प्रचुर अन्धकार से युक्त हो उसे मुनियों के निमित्त प्रकाश उपलब्ध करने के लिए भित्तियों में छेद कराना, पटियेको हटाना, अथवा दीपक रखना; इस प्रकार से संस्कारित वसति (घर) प्रादुष्कार दोष से दूषित होती है।

प्रादुष्कृतदोष—देखो प्रादुष्कार। तदागमानुरोधेन गृहसंस्कारकालापह्रासं कृत्वा वा संस्कारिता वसतिः प्रदीपकं वा तत्प्रादुष्कृतमित्युच्यते। (भ. आ. विजयो. २३०)।

अथवा मुनियों के आगमन को जानकर गृहसंस्कार के काल में कमी करके पूर्व में संस्कारित की गई अथवा प्रकाशयुक्त की गई वसति प्रादुष्कार या प्रादुष्कृत दोष से दूषित मानी जाती है।

प्रादेशिक प्रत्यक्ष—१. इन्द्रियार्थज्ञानं स्पष्टं हिताहितप्राप्ति-परिहारसमर्थं प्रादेशिकं प्रत्यक्षम् अवग्रहेहावाय-धारणात्मकम्। (लघीय. स्वो. वृ. ६१)। २. इन्द्रियाणां कार्यमात्मनः—संविदां स्वरूपस्य ज्ञानं स्पष्टं हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं प्रादेशिकं प्रत्यक्षम्। (न्यायकु. ६१, पृ. ६८३)।

१ हित की प्राप्ति और अहित के परिहार में समर्थ ऐसे इन्द्रियों के कार्यरूप अर्थज्ञान को तथा ज्ञानों के स्वकीय स्वरूप के स्पष्ट ज्ञान को प्रादेशिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

प्रादोषिकी क्रिया—१. क्रोधावेशवशात् प्रादोषिकी क्रिया. (स. सि. ६–५; त. वा. ६, ५, ८)। २. क्रोधावेशवशात् प्रादुर्भूता प्रादोषिकी क्रिया। (ह. पु. ५८–६६)। ३. क्रोधावेशात्प्रदोषो यः सान्तप्रादोषिकी क्रिया। (त. श्लो. ६, ५, ८)। ४. क्रोधाविष्टस्य दुष्टत्वं प्रादोषिकी क्रिया। (त.

लक्षणोऽपानः। (कार्तिके. टी. २०६)।

१ वीर्यान्तराय और ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम तथा अंगोपांगनामकर्म के उदय की अपेक्षा से जीव जिस उदरगत वायु को बाहिर निकालता है उसे प्राण या उच्छ्वास कहा जाता है तथा वही जीव बाहिरी वायु को नाक आदि के द्वारा भीतर करता है उसे अपान या निःश्वास कहा जाता है।

प्राणापानपर्याप्ति—१. प्राणापानक्रियायोग्यद्रव्य-ग्रहण-निसर्गशक्तिनिवर्तनक्रियापरिसमाप्तिः प्राणापानपर्याप्तिः। (त. भा. ८-१२; नन्दी. हरि. वृ. पृ. ४४)। २. प्राणापानौ उच्छ्वास-निःश्वासौ, तद्योग्य-करणनिष्पत्तिः प्राणापानपर्याप्तिः। (त. भा. हरि. वृ. ८-१२)। ३. प्राणापानावुच्छ्वास-निःश्वासक्रियालक्षणौ, तयोर्वर्गणाक्रमेण योग्यद्रव्यग्रहणशक्तिः—सामर्थ्यम्, तन्निवर्तनक्रियापरिसमाप्तिः प्राणापानपर्याप्तिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-१२)। ४. यया पुनरुच्छ्वासयोग्यवर्गणादलिकमादाय उच्छ्वासरूपतया परिणमय्यालम्ब्य च मुञ्चति सा प्राणापान-पर्याप्तिः। (प्रव. सारो. वृ. १३१७; वृहत्क. क्षे. वृ. १११२)। ५. प्राणापानपर्याप्तिः—यया उच्छ्वास-निःश्वासयोग्यं दलिकमादाय तथा परिणमय्यालम्ब्य च निःस्रष्टुं समर्थो भवति। (संग्रहणी. दे. वृ. २६८; विचारस. वृ. ४३, पृ. ६)।

१ प्राणापान—श्वास और उच्छ्वास क्रिया के योग्य द्रव्य के ग्रहण व त्याग शक्ति के रचनेरूप क्रिया की समाप्ति को प्राणापानपर्याप्ति कहते हैं।

प्राणायाम—१. प्राणायामो भवेद्योगनिग्रहः शुभभावनः। (म. पु. २१-२२७)। २. सुनिर्णीतसुसिद्धान्तैः प्राणायामः प्रशस्यते। मुनिभिर्ध्यानसिद्ध्यर्थं स्थैर्यार्थं चान्तरात्मनः॥ त्रिधा लक्षणभेदेन संस्मृतः पूर्वसूरिभिः। पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम्॥ (ज्ञाना. २६-१ व ३, पृ. २८४-८५)। ३. प्राणस्य मुख-नासान्तरसंचारिणो वायोः आसमन्तात् यमनं गतिविच्छेदः प्राणायामः। (योगशा. स्वो. विव. ५-१); प्राणायामो गतिच्छेदः श्वास-प्रश्वासयोर्मतः। (योगशा. ५-४)। ४. प्राणायामः प्राणयमः, श्वास-प्रश्वासरोधनम्॥ (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. ८ उद्.)।

१ उत्तम भावनापूर्वक मन, वचन और काय इन तीनों योगों के निग्रह करने को प्राणायाम कहते हैं। २ जिसके द्वारा ध्यान की सिद्धि और अन्तरात्मा को स्थिरता होती है उसका नाम प्राणायाम है। वह पूरक, कुम्भक और रेचक के भेद से तीन प्रकार का है। ४ श्वास और प्रश्वास के निरोध को प्राणायाम कहा जाता है।

प्राणायु—देखो प्राणवादपूर्व। प्राणायुद्वादिशं तत्राप्यायुःप्राणविधानं सर्वं सभेदमन्ये च प्राणा वर्णितास्तत्परिमाणमेका पदकोटी षट्पञ्चाशच्च पदशत-सहस्राणीति। (समवा. अभय. वृ. १४७, पृ. १२२)। जिस श्रुत में भेदों के साथ आयु प्राण की विधि तथा अन्य प्राणों का भी वर्णन किया जाता है वह प्राणायु या प्राणवादपूर्व कहलाता है।

प्राणावायपूर्व—देखो प्राणवादपूर्व।

प्राणासंयम—१. पाणासंजमो वि छव्विहो पुढवि-आउ-तेउ-वाउ-वणप्फदि-तसासंजमभेएण। (धव. पु. ८, पृ. २१)। २. रसजजन्तुपीडा प्राणासंयमः। (भ. आ. विजयो. २१३)। ३. यच्च पृथिव्यप्तेजोवायु-वनस्पतिलक्षणपंचस्थावराणां द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पंचेन्द्रियलक्षणत्रसानां च प्रमादचारित्रत्वाज्जीवितव्यपरोपणं सः प्राणासंयमः। (आरा. सा. टी. ६)।

१ पृथिवी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस इन छह प्रकार के जीवों के असंयम—प्राणपीडन—का नाम प्राणासंयम है। वह उक्त जीवभेदों के कारण छह प्रकार का है।

प्राणिवध—प्राणिवधः प्रमादवतो जीवहिंसनम्। (मूला. वृ. ११-६)।

प्रमाद के वश होकर जीवों के घात करने को प्राणिवध कहते हैं।

प्राणिसंयम—१. एकेन्द्रियादिप्राणिपीडापरिहारः प्राणिसंयमः। (त. वा. ६, ६, १४; चा. सा. पृ. ३२)। २. षड्जीवनिकायबाधाऽकरणादपरः प्राणिसंयमः। (भ. आ. विजयो. ४६)।

१ एकेन्द्रियादि जीवों को किसी भी प्रकार से पीडा न पहुंचाना, इसका नाम प्राणिसंयम है।

प्राणी—१. पाणा एयस्स संति त्ति पाणी। (धव. पु. १, पृ. ११६); प्राणा अस्य सन्तीति प्राणी। (धव. पु. ६, पृ. २२०)। २. णयदुगुत्तपाणा अस्स अत्थि इदि पाणी। (अंगप. पृ. २६५)।

१ जिसके इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वा—

कवारप्राभृतकात्परं तस्योपरि पूर्वोक्तप्रकारेण प्रत्येकमेकैकवर्णवृद्धिसहचरितपदादिवृद्धया चतुर्विंशतिप्राभृतप्राभृतकेषु वृद्धेषु रूपोनतावन्मात्रेषु प्राभृतकप्राभृतकसमासज्ञानविकल्पेषु गतेषु तच्चरमस्य उत्कृष्टविकल्पस्योपरि एकस्मिन्नक्षरे वृद्धे सति प्राभृतकं नाम श्रुतज्ञानं भवति। (गो. जी. म. प्र. टी. ३४२)। ७. वस्तुनामश्रुतज्ञानस्याधिकारः प्राभृतकं वेति द्वौ एकार्थौ। (गो. जी. जी. प्र. टी. ३४१); द्विकवारप्राभृतकात्परं तस्योपरि पूर्वोक्तक्रमेण प्रत्येकमेकैकवर्णवृद्धिसहचरितपदादिवृद्धिभिः चतुर्विंशतिप्राभृतप्राभृतकेषु रूपोनतावन्मात्रेषु प्राभृतकप्राभृतकज्ञानविकल्पेषु गतेषु तच्चरमसमासोत्कृष्टविकल्पकस्य उपरि एकाक्षरवृद्धौ सत्यां प्राभृतकं नाम श्रुतज्ञानं भवति। (गो. जी. जी. प्र. ३४२)।

१ जो पदों से पृथक् अथवा स्पष्ट है उसे प्राभृत कहते हैं। २ जो प्रकृष्ट (तीर्थंकर) के द्वारा प्रस्थापित है, अथवा विद्यारूप धन के धारक प्रकृष्ट आचार्यों के द्वारा धारित, व्याख्यात अथवा लाया गया है उसे प्राभृत कहते है। ३ प्राभृतप्राभृतसमास श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि के होने पर प्राभृत श्रुतज्ञान होता है। ५ वस्तु के अन्तर्गत अधिकारविशेष का नाम प्राभृत श्रुतज्ञान है।

प्राभृत(पाहुड, पाहुडिग, पाहुडिह) दोष—देखो प्राभृतिका। १. पाहुडिहं पुण दुविहं बादर सुहुमं च दुविहमेक्केक्कं। ओसक्कणमुक्कस्सणमह कालो वट्टणावड्ढी॥ दिवसे पक्खे मासे वास परत्तीय बादरं दुविहं। पुव्व-पर-मज्झवेलं परियत्तं दुविह सुहुमं च॥ (मूला. ६, १३-१४)। २. संयतः स च यावद्भिर्दिनैरागमिष्यति तत्प्रवेशदिने गृहसंस्कारं सकलं करिष्याम इति चेतसि कृत्वा यत्संस्कारितं वेश्म तत्पाहुडिगमित्युच्यते। (भ. आ. विजयो. २३०; कार्तिके. टी. ४४८-४४९)। ३. वेला-दिवस-मासर्तु-वर्षादिनियमेन यत्। यतिभ्यो दीयमानान्नं प्राभृतं परिकीर्तितम्॥ (आचा. सा. ८-२८)। ४. संयता इयद्भिर्दिनैरागमिष्यन्ति, तत्प्रवेशदिने गृहसंस्कारं सकलं करिष्याम इति चेतसि कृत्वा यत्संस्कारितं वेश्म तत्पाहुडिदं। (भ. आ. मूला. २३०)। ५. अस्यां वेलायां दास्यामि, अस्मिन् दिवसे दास्यामि, अस्मिन् मासे दास्यामि, अस्यामृतौ दास्यामि, अस्मिन् वर्षादौ दास्यामीति नियमेन यदन्नं मुनिभ्यो दीयते तत्प्राभृतं कथ्यते। (भावप्रा. टी. ९९)।

१ दिन, पक्ष व मास आदि काल का परिवर्तन करके (बादर), अथवा पूर्वाह्ण व अपराह्ण आदि वेला का परिवर्तन करके (सूक्ष्म), जो दान दिया जाता है वह क्रम से बादर और सूक्ष्म प्राभृत दोष से दूषित होता है।

प्राभृतप्राभृत—१. तस्स (अणियोगसमासस्स) उवरि एगक्खरसुदणाणे वड्ढिदे पाहुडपाहुडं होदि। संखेज्जेहि अणियोगसुदणाणेहि एगं पाहुडपाहुडं णाम सुदणाणं होदि। (धव. पु. ६, पृ. २४); संखेज्जाणि अणियोगद्दाराणि घेत्तूण एगं पाहुडपाहुडसुदणाणं होदि। (धव. पु. १३, पृ. २७०)। २. चोद्दसमग्गणसंजुदअणियोगादुवरि वड्ढिदे वण्णे। चउरादीअणियोगे दुगवार पाहुडं होदि॥ ××× पाहुडस्स अहियारो। पाहुडपाहुडणामं होदि त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं॥ (गो. जी. ३४०-४१)। ३. प्राभृतान्तर्वर्ती अधिकारविशेषः प्राभृतप्राभृतम्। (शतक. मल. हेम. वृ. ३८, पृ. ४३; शतक. दे. स्वो. वृ. ७)। ४. चतुर्दशमार्गणासंयुतानुयोगात्परं तस्योपरि पूर्वोक्तक्रमेण प्रत्येकमेकैकवर्णवृद्धिसहचरितपदादिवृद्धया चतुरादिषु अनुयोगेषु वृद्धेषु रूपोनतावन्मात्रेष्वनुयोगसमासज्ञानविकल्पेषु गतेषु तच्चरमस्य अनुयोगसमासोत्कृष्टविकल्पस्योपरि एकस्मिन्नक्षरे वृद्धे सति द्विकवारप्राभृतकम्—प्राभृतप्राभृतकं भवति। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. ३४०)।

१ अनुयोगसमास ज्ञान के ऊपर एक अक्षररूप श्रुतज्ञान की वृद्धि होने पर प्राभृतप्राभृत श्रुतज्ञान होता है। अभिप्राय यह कि संख्यात अनुयोग श्रुतज्ञानों से एक प्राभृतप्राभृत नाम का श्रुतज्ञान होता है। ३ प्राभृत श्रुतज्ञान के अन्तर्गत अधिकारविशेष का नाम प्राभृतप्राभृत है।

प्राभृतप्राभृतज्ञानावरणीय — पाहुडपाहुडसुदणाणस्स जमावारयं तं पाहुडपाहुडणाणावरणीयं। (धव. पु. १३, पृ. २७८)।

प्राभृतप्राभृत श्रुतज्ञान को आवृत करने वाला कर्म प्राभृतप्राभृतज्ञानावरणीय कहलाता है।

प्राभृतप्राभृतसमासश्रुतज्ञान—१. एदस्स (पाहुडपाहुडसुदणाणस्स) उवरि एगक्खरे वड्ढिदे पाहुड-

वृत्ति श्रुत. ६-५)।

१ क्रोध के आवेश से होने वाली क्रिया को प्रादोषिकी क्रिया कहते हैं।

प्राद्वेषिकी क्रिया— देखो प्रादोषिकी क्रिया । १. प्रद्वेषो मत्सरस्तेन निर्वृत्ता प्राद्वेषिकी। (समवा. अभय. वृ. ५)। २. प्रद्वेषो मत्सरः कर्मबन्धहेतुरकुशलो जीवपरिणामविशेष इत्यर्थः, तत्र भवा तेन वा निर्वृत्ता, सा एव वा प्राद्वेषिकी। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २७६, पृ. ४३५); प्राद्वेषिकी मारयाम्येनमित्यशुभमनःसंप्रधारणमिति। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २८१, पृ. ४४०)।

२ कर्मबन्ध का कारणभूत जो जीव का अशुभ परिणाम (मत्सरभाव) है उसके आश्रय से होने वाली क्रिया प्राद्वेषिकी क्रिया कहलाती है।

प्राधान्यद्रव्यशुद्धि—१. वण्ण-रस-गंध-फासे समणुण्णा सा पहाणओ सुद्धी। तत्थ उ सुक्किल-महुरा उ संमया चेव उक्कोसा॥ (दशवै. नि. २८५)। २. वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शेषु या मनोज्ञता—सामान्येन कमनीयता, अथवा मनोज्ञता—यथाभिप्रायमनुकूलता, सा प्राधान्यतः शुद्धिरुच्यते। (दशवै. नि. हरि. वृ. २८५)।

१ रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में जो मनोज्ञता—सुन्दरता अथवा अनुकूलता—होती है उसे प्राधान्यद्रव्यशुद्धि कहते हैं। जैसे—वर्ण में शुक्ल वर्ण, रस में मधुर, रस और गन्ध में सुगन्ध आदि।

प्राधान्यपद—देखो प्रधानतया नामपद। प्राधान्यपदानि आम्रवनं निम्बवनमित्यादीनि। (धव. पु. १, पृ. ७६); अण्णेहि वि रुक्खेहि सहियाणं कयंबणिबंबरुक्खाणं बहुत्तं पेक्खिय जाणि कयंब-णिबंबवणणामाणि ताणि पाधण्णपदाणि। (धव. पु. ६, पृ. १३६)।

अन्यान्य वृक्षों के साथ अवस्थित कदम्ब, नीम और आम आदि वृक्षों की अधिकता को देख कर जो कदम्ब वन, नीम वन और आम वन आदि नाम प्रसिद्ध होते हैं वे प्राधान्यपद कहलाते हैं।

प्रान्तापना—१. कर-पाय-दंडमाइसु पंतावण × × ×। (बृहत्क. भा. ६००)। २. प्रान्तापना यष्टि-मुष्ट्यादिभिस्ताडना। (बृहत्क. भा. क्षे. वृ. ८६६)।

१ लाठी और मुट्ठी आदि से ताड़ना करने को प्रान्तापना कहते हैं। यह प्रतिषेधना व खरण्टना आदि छह भेदों में एक है।

प्राप्ति—१. भूमीए चिट्ठंतो अंगुलिअग्गेण सूर-ससिपहुदिं। मेरुसिहराणि अण्णे जं पावदि पत्तिरिद्धी सा॥ (ति. प. १०२८)। २. भूमौ स्थित्वांगुल्यग्रेण मेरुशिखर-दिवाकरादिस्पर्शनसामर्थ्यं प्राप्तिः। (त. वा. ३, ३६. ३, पृ. २०३; चा. सा. पृ. ६८)। ३. भूमिट्ठियस्स करेण चंदाइच्चबिंबच्छिवणसत्ती पत्ती णाम। (धव. पु. ६, पृ. ७५)। ४. प्राप्तिः यद् यद् मनसा चिन्तयति तत्तत्प्राप्नोति। (न्यायकु. १-४, पृ. १११)। ५. प्राप्तिर्यद्यन्मनसा चिन्तयति तत्तत्प्राप्नोति, भुवि स्थितस्यांगुल्यादिना मेरुशिखरादिप्रापणशक्तिर्वा प्राप्तिः। (प्रा. योगिभ. टी. ६, पृ. १६६)। ६. प्राप्तिर्भूमिस्थस्य अंगुल्यग्रेण मेरुपर्वताग्र-प्रभाकरादिस्पर्शसामर्थ्यम्। (योगशा. स्वो. विव. १-८, पृ. ३७; प्रव. सारो. वृ. १५०५)। ७. प्राप्तिप्रभावतोऽर्कादीन् स्पृशेद् भूस्थोऽपि हेलया। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. ८)। ८. भूमिस्थितोऽप्य-(तस्याप्य-)ङ्गुल्यग्रेण मेरुशिखर-चन्द्र-सूर्यादिस्पर्शनसामर्थ्यं प्राप्तिः। (त. वृत्ति श्रुत. ३-३६)।

१ जिस ऋद्धि के प्रभाव से भूमि पर रहते हुए ही अंगुलि के अग्रभाग से सूर्य-चन्द्रमा, मेरुशिखर तथा अन्य भी वस्तुओं का स्पर्श कर सके या उन्हें पा सके उसका नाम प्राप्ति ऋद्धि है।

प्राभृत, प्राभृतक (पाहुड)—१. जम्हा पदेहि पुदं (फुडं) तम्हा पाहुडं। (क. पा. चू. पृ. २६)। २. प्रकृष्टेन तीर्थकरेण आभृतं प्रस्थापितं इति प्राभृतम्। प्रकृष्टैराचार्यैर्विद्या-वित्तवद्भिराभृतं धारितं व्याख्यातमानीतमिति वा प्राभृतम्। (जयध. १, पृ. ३२५); एदेहि पदेहि (मज्झिमत्थपदेहि) पुदं वत्तं सुगममिदि पाहुडं। (जयध. १, पृ. ३२६)। ३. तस्स (पाहुडपाहुडसमासस्स) उवरि एगक्खरे वड्ढिदे पाहुडो होदि। (धव. पु. ६, पृ. २५)। ४. अहियारो पाहुडयं एयट्ठो × × ×॥ दुगवारपाहुडादो उवरिं वण्णे कमेण चउवीसे। दुगवारपाहुडे संउड्ढे खलु होदि पाहुडयं॥ (गो. जी. ३४१-४२)। ५. वस्त्वन्तर्वर्ती अधिकारविशेषः प्राभृतम्। (शतक. मल. हेम. वृ. ३८, पृ. ४३; कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ७)। ६. वस्तुनः अधिकारः प्राभृतकम्। (गो. जी. म. प्र. टी. ३४१); द्वि-

कवारप्राभृतकात्परं तस्योपरि पूर्वोक्तप्रकारेण प्रत्येकमेकैकवर्णवृद्धिसहचरितपदादिवृद्धया चतुर्विंशतिप्राभृतप्राभृतकेषु वृद्धेषु रूपोनतावन्मात्रेषु प्राभृतकप्राभृतकसमासज्ञानविकल्पेषु गतेषु तच्चरमस्य उत्कृष्टविकल्पस्योपरि एकस्मिन्नक्षरे वृद्धे सति प्राभृतकं नाम श्रुतज्ञानं भवति। (गो. जी. म. प्र. टी. ३४२)। ७. वस्तुनामश्रुतज्ञानस्याधिकारः प्राभृतकं चेति द्वौ एकार्थौ। (गो. जी. जी. प्र. टी. ३४१); द्विकवारप्राभृतकात्परं तस्योपरि पूर्वोक्तक्रमेण प्रत्येकमेकैकवर्णवृद्धिसहचरितपदादिवृद्धिभिः चतुर्विंशतिप्राभृतप्राभृतकेषु रूपोनतावन्मात्रेषु प्राभृतकप्राभृतकज्ञानविकल्पेषु गतेषु तच्चरमसमासोत्कृष्टविकल्पकस्य उपरि एकाक्षरवृद्धौ सत्यां प्राभृतकं नाम श्रुतज्ञानं भवति। (गो. जी. जी. प्र. ३४२)।

१ जो पदों से पृथक् अथवा स्पष्ट है उसे प्राभृत कहते हैं। २ जो प्रकृष्ट (तीर्थंकर) के द्वारा प्रस्थापित है, अथवा विद्यारूप धन के धारक प्रकृष्ट आचार्यों के द्वारा धारित, व्याख्यात अथवा लाया गया है उसे प्राभृत कहते हैं। ३ प्राभृतप्राभृतसमास श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि के होने पर प्राभृत श्रुतज्ञान होता है। ५ वस्तु के अन्तर्गत अधिकारविशेष का नाम प्राभृत श्रुतज्ञान है।

प्राभृत (पाहुड, पाहुडिग, पाहुडिह्) दोष—देखो प्राभृतिका। १. पाहुडिहं पुण दुविहं बादर सुहुमं च दुविहमेक्केकं। ओसक्कणमुक्कस्सणमह कालो वट्टणावड्ढी॥ दिवसे पक्खे मासे वास परत्तीय बादरं दुविहं। पुव्व-पर-मज्झवेलं परियत्तं दुविह सुहुमं च॥ (मूला. ६, १३-१४)। २. संयतः स च यावद्भिर्दिनैरागमिष्यति तत्प्रवेशदिने गृहसंस्कारं सकलं करिष्याम इति चेतसि कृत्वा यत्संस्कारितं वेश्म तत्पाहुडिगमित्युच्यते। (भ. आ. विजयो. २३०; कार्तिके. टी. ४४८-४४९)। ३. वेला-दिवस-मासर्तु-वर्षादिनियमेन यत्। यतिभ्यो दीयमानान्नं प्राभृतं परिकीर्तितम्॥ (आचा. सा. ८-२८)। ४. संयता इयद्भिर्दिनैरागमिष्यन्ति, तत्प्रवेशदिने गृहसंस्कारं सकलं करिष्याम इति चेतसि कृत्वा यत्संस्कारितं वेश्म तत्पाहुडिदं। (भ. आ. मूला. २३०)। ५. अस्यां वेलायां दास्यामि, अस्मिन् दिवसे दास्यामि, अस्मिन् मासे दास्यामि, अस्यामृतौ दास्यामि, अस्मिन् वर्षादौ दास्यामीति नियमेन यदन्नं मुनिभ्यो दीयते तत्प्राभृतं कथ्यते। (भावप्रा. टी. ९९)।

१ दिन, पक्ष व मास आदि काल का परिवर्तन करके (बादर), अथवा पूर्वाह्न व अपराह्न आदि वेला का परिवर्तन करके (सूक्ष्म), जो दान दिया जाता है वह क्रम से बादर और सूक्ष्म प्राभृत दोष से दूषित होता है।

प्राभृतप्राभृत—१. तस्स (अणियोगसमासस्स) उवरि एगक्खरसुदणाणे वड्ढिदे पाहुडपाहुडं होदि। संखेज्जेहि अणियोगसुदणाणेहि एगं पाहुडपाहुडं णाम सुदणाणं होदि। (धव. पु. ६, पृ. २४); संखेज्जाणि अणियोगद्दाराणि घेत्तूण एगं पाहुडपाहुडसुदणाणं होदि। (धव. पु. १३, पृ. २७०)। २. चोद्दसमग्गणसंजुदअणियोगादुवरि वड्ढिदे वण्णे। चउरादीअणियोगे दुगवारं पाहुडं होदि॥ × × × पाहुडस्स अहियारो। पाहुडपाहुडणामं होदि त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं॥ (गो. जी. ३४०-४१)। ३. प्राभृतान्तर्वर्ती अधिकारविशेषः प्राभृतप्राभृतम्। (शतक. मल. हेम. वृ. ३८, पृ. ४३; शतक. दे. स्वो. वृ. ७)। ४. चतुर्दशमार्गणासंयुतानुयोगात्परं तस्योपरि पूर्वोक्तक्रमेण प्रत्येकमेकैकवर्णवृद्धिसहचरितपदादिवृद्धया चतुरादिषु अनुयोगेषु वृद्धेषु रूपोनतावन्मात्रेष्वनुयोगसमासज्ञानविकल्पेषु गतेषु तच्चरमस्य अनुयोगसमासोत्कृष्टविकल्पस्योपरि एकस्मिन्नक्षरे वृद्धे सति द्विकवारप्राभृतकम्—प्राभृतप्राभृतकं भवति। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. ३४०)।

१ अनुयोगसमास ज्ञान के ऊपर एक अक्षररूप श्रुतज्ञान की वृद्धि होने पर प्राभृतप्राभृत श्रुतज्ञान होता है। अभिप्राय यह कि संख्यात अनुयोग श्रुतज्ञानों से एक प्राभृतप्राभृत नाम का श्रुतज्ञान होता है। ३ प्राभृत श्रुतज्ञान के अन्तर्गत अधिकारविशेष का नाम प्राभृतप्राभृत है।

प्राभृतप्राभृतज्ञानावरणीय — पाहुडपाहुडसुदणाणस्स जमावारयं तं पाहुडपाहुडणाणावरणीयं। (धव. पु. १३, पृ. २७८)।

प्राभृतप्राभृत श्रुतज्ञान को आवृत करने वाला कर्म प्राभृतप्राभृतज्ञानावरणीय कहलाता है।

प्राभृतप्राभृतसमास श्रुतज्ञान—१. एदस्स (पाहुडपाहुडसुदणाणस्स) उवरि एगक्खरे वड्ढिदे पाहुड-

पाहुडसमाससुदणाणं होदि। एवमेगेगक्खर-उत्तर-वड्ढीए पाहुडपाहुडसमाससुदणाणं वड्ढमाणं गच्छदि जाव एगक्खरेणूणपाहुडसुदणाणेत्ति। (धव. पु. १३, पृ. २७०)। २. तद्द्वयादिसंयोगस्तु प्राभृतप्राभृतसमासः। (शतक. मल. हेम. वृ. ३८, पृ. ४२; कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ७)।

१ प्राभृतप्राभृत श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर के बढ़ने पर प्राभृतप्राभृतसमास श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक एक अक्षर की वृद्धि के होने पर एक अक्षर से हीन प्राभृतश्रुतज्ञान के प्राप्त होने तक प्रकृत प्राभृतप्राभृतसमास श्रुतज्ञान के विकल्प चलते हैं।

प्राभृतप्राभृतसमासावरणीय—पाहुडपाहुडसमाससुदणाणस्स जमावारयं कम्मं तं पाहुडपाहुडसमासावरणीयं। (धव. पु. १३, पृ. २७८)।

जो कर्म प्राभृतप्राभृतसमास श्रुतज्ञान का आवरण करता है उसे प्राभृतप्राभृतसमासावरणीय कहते हैं।

प्राभृतिका—देखो प्राभृतदोष। १. प्रकरणस्य साध्वर्थमुत्सर्पणमवसर्पणं वा प्राभृतिका। (आचा. शी. वृ. २, १, २६६, पृ. ३१७)। २. कालान्तरभाविनो विवाहादेरिदानीं सन्निहिताः साधवः सन्ति, तेषामप्युपयोगे भवत्विति बुद्धया इदानीमेव करणं समयपरिभाषया प्राभृतिका, सन्निकृष्टस्य विवाहादेः कालान्तरे साधुसमागमनं संचिन्त्योत्कर्षणं वा। (योगशा. स्वो. विव. १-३८, पृ. १३३)। ३. यत्स्वनिमित्तमपि गृही व्रतिनः आजिगमिषून् जिगमिषून् वा ज्ञात्वा अर्वाक् परतो वा तदर्थमारभते तत्प्राभृतिका। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २०)।

१ साधु के निमित्त प्रकृत कार्य को बढ़ा लेना या घटा लेना, यह प्राभृतिका दोष है। २ कुछ काल के पश्चात् होने वाले पुत्रविवाहादि की अपेक्षा साधुओं का आगमन समीपवर्ती है, अतः उनके उपयोग में भी आ जावे, इस विचार से इसी समय विवाहादि का करना ठीक है, इस प्रकार समय के पूर्व में उनका करना; अथवा विवाहादि यदि समीपवर्ती हों और साधुओं का आगम पीछे होने वाला हो तो उक्त विचार से उनके समय को बढ़ा लेना; यह प्राभृतिका नामक उत्पादनदोष कहलाता है।

प्राभृतिकास्थापना— भिक्खग्गाही एगत्थ कुणइ बिइओ उ दोसु उवओगं। तेण परं उक्खित्ता पाहुडिया होइ ठवणा उ॥ (पिण्डनि. २८४)।

भिक्षा का ग्राहक एक साधु एक घर में उपयोग करता है—उपयोग से पर्यालोचन करके एक पंक्ति में स्थित तीन घरों में से एक घर में हस्तगत भिक्षा को ग्रहण करता है। दूसरा साधु दो घरों में उपयोग करता है—उक्त रीति से दो घरों में हस्तगत दो भिक्षाओं को ग्रहण करता है। तीन घरों के अतिरिक्त जहां तक अन्य घर नहीं है वहां तक भिक्षा के ग्रहण में स्थापना दोष नहीं होता है। आगे गृहान्तर में साधु के निमित्त हस्तगत भिक्षा के ग्रहण में उपयोग के असम्भव होने से प्राभृति का स्थापना दोष होता है।

प्रामाण्य—१. प्रमाणस्य भावः अर्थपरिच्छेदिका शक्तिः कर्म वा अर्थपरिच्छेदः प्रामाण्यम्। (न्यायकु. १-६, पृ. १६५)। २. इदमेव हि प्रमाणस्य प्रामाण्यं यत्प्रमितिक्रियां प्रति साधकतमत्वेन करणत्वम्। (प्रमाणनि. पृ. १)। ३. ज्ञानस्य प्रमेयाऽव्यभिचारित्वं प्रामाण्यम्। (प्र. न. त. १-१८)। ४. प्रमीयमाणार्थाऽव्यभिचरणशीलत्वं यज् ज्ञानस्य तत् प्रामाण्यम्। (रत्नाकरा. पृ. १-१६)। ५. किमिदं प्रमाणस्य प्रामाण्यम् नाम ? प्रतिभातविषयाव्यभिचारित्वम्। (न्यायदी. पृ. १४-१५)।

१ मीमांसक मत के अनुसार प्रमाण के भाव को—पदार्थ के जानने की शक्ति को—अथवा उसके जाननेरूप कर्म को प्रामाण्य कहते हैं। २ प्रमिति क्रिया के प्रति अतिशय साधक रूप से कारण होना, यही प्रमाण का प्रामाण्य है। ३ ज्ञान का अपने विषयभूत पदार्थ का व्यभिचारी (अन्यथा) न होना—पदार्थ यथार्थ में जैसा है उसी रूप से उसे जानना—इसका नाम प्रामाण्य या प्रमाणता है।

प्रामित्य (पामिच्च, पामिच्छ)—१. उद्दरियं रिणं तु भणियं पामिच्छं ओदणादिअण्णदरं। तं पुण दुविहं भणिदं सवड्ढियमवड्ढियं चावि॥ (मूला. ६-१७)। २. पामिच्चं पि य दुविहं लोइय लोगुत्तरं समासेण। लोइय सज्झिलगाई लोगुत्तर वत्थमाईसु॥ (पिण्डनि. ३१६)। ३. प्रामित्यं साध्वर्थमुच्छिद्य दानलक्षणम्। (दशवै. सू. हरि. वृ. ५-५५, पृ. १७४)। ४. अल्पमृणं कृत्वा वृद्धिसहितं अवृद्धिकं वा गृहीतं संयतेभ्यः पामिच्छमुच्यते। (भ. आ. विजयो. २३०; कार्तिके. टी. ४४८-४९)।

५. विद्या-द्रव्यादिभिः क्रीतं क्रीतं प्रामृष्यमिष्यते। स्तोकर्णं वृद्धयवृद्धिभ्यां यतिदानार्थमर्जितम् ॥ (आचा. सा. ८-३०)। ६. यत्साध्वर्थमन्नादि उद्यतकं गृहीत्वा दीयते तत्प्रामित्यकम्। (योगशा. स्वो. विव. १-३८, पृ. १३४)। ७. उद्धारानीतमन्नादि प्रामित्यं वृद्धयवृद्धिमत्। (अन. ध. ५-१४); उक्तं च—भक्तादिकमृणं यच्च तत्प्रामित्यमुदाहृतम्। तत्पुनर्द्विविधं प्रोक्तं सवृद्धिकमथेतरत् ॥ प्रमीयते स्म प्रमितम्, प्रमितमेव प्रामित्यम्। चातुर्वर्णादिभ्यः स्वार्थेऽप्यण्। (अन. ध. स्वो. टी. ५-१४)। ८. अल्पमृणं कृत्वा सवृद्धिकमवृद्धिकं वा संयतार्थं गृहीतं पामिच्छम्। (भ. आ. मूला. २३०)। ९. यदुच्छिन्नं याचित्वा गृही दत्ते तत्प्रामित्यम्। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २०)। १०. कालान्तरेणाव्याजेन वा स्तोकमृणं कृत्वा यतीनां दानार्थं यदर्जितं तत्प्रामृष्यं मृष्यते। (भावप्रा. टी. ९९)।

१ वृद्धि (व्याज) से युक्त या वृद्धि से रहित थोड़ा सा ऋण करके साधु को देने के लिए जो भात व अन्य मण्डक (खाद्यविशेष) आदि लिया जाता है वह प्रामृष्य या प्रामित्य नामक उद्गमदोष से दूषित होता है। २ प्रामित्य दोष लौकिक और लोकोत्तर के भेद से दो प्रकार का है। उनमें भी प्रत्येक उसी द्रव्यविषयक व अन्य द्रव्यविषयक के भेद से दो प्रकार का है। भगिनी आदि के द्वारा खरीदी गई भोज्य वस्तु के देने पर लौकिक प्रामित्य दोष होता है तथा परस्पर साधुओं के ही वस्त्रादिविषयक लोकोत्तर प्रामित्य दोष होता है। लौकिक प्रामित्य के विषय में भगिनी (सज्झिल्लगा) शब्द से जिस कथानक की सूचना की गई है उसका निर्देश संक्षेप में स्वयं निर्युक्तिकार ने (३१७-१९) किया है तथा विस्तार से टीका में मलयगिरि आचार्य ने उसे प्रगट किया है।

प्रामृष्य—देखो प्रामित्य।

प्रायश्चित्त—१. पायच्छित्तं त्ति तवो जेण विसुज्झदि हु पुव्वकयपावं। पायच्छित्तं पत्तो त्ति तेण वुत्तं दसविहं तु ॥ (मूला. ५-१६४)। २. पावं छिंदइ जम्हा पायच्छित्तं तु भन्नई तेणं। पाएण वावि चित्तं विसोहए तेण पच्छित्तं ॥ (आव. नि. १५०३)। ३. प्रमाददोषपरिहारः प्रायश्चित्तम्। (स. सि. ९-२०)। ४. पापं छिनत्तीति पापच्छित्, अथवा यथावस्थित प्रायश्चित्तं शुद्धमस्मिन्निति प्रायश्चित्तमिति ॥ (दशवै. नि. हरि. वृ. ४८)। ५. कयावराहेण ससंवेय-णिव्वेएण सगावराहणिराकरणट्ठं जमणुट्ठाणं कीरदि तप्पायच्छित्तं णाम तवोकम्मं। (धव. पु. १३, पृ. ५९); प्राय इत्युच्यते लोकस्तस्य चित्तं मनो भवेत्। तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ॥ (धव. पु. १३, पृ. ५९ उद्.; उपासका. ३५०; अन. ध. स्वो. टी. ७-३७ उद्.)। ६. प्रायश्चित्तं तपः प्राज्यं येन पापं पुरातनम्। क्षिप्रं संक्षीयते तस्मात् × × ×॥ (प्रायश्चित्तस. १-४)। ७. पाओ लोओ चित्तं तस्स मणो चित्तगाहयं कम्मं। लोयस्स जं तमेव हि पायच्छित्तं ति जिणवुत्तं ॥ (छेदपिण्ड ३१८)। ८. कर्तव्यस्याकरणे वर्जनीयस्यावर्जने यत्पापं सोऽतीचारस्तस्य शोधनं प्रायश्चित्तम्। (चा. सा. पृ. ६०)। ९. तत्र ज्ञानमेव प्रायश्चित्तम्, यतः तदेव पाप छिनत्ति प्रायः चित्तं वा शोधयतीति निरुक्तिवशात् ज्ञानप्रायश्चित्तमिति। (स्थाना. अभय. वृ. २६३, पृ. २००)। १०. येनागो गलति प्रत्तं प्रायश्चित्तं तदुच्यते। कर्म प्रायो जनस्तस्य चित्त चेतोहरं यतः ॥ (आचा. सा. ६-२२)। ११. पावं छिन्दन्तीति पायच्छित्तं। चित्तं वा जीवो भण्णइ। पाएण वा वि चित्तं सोहइ अइयार-मल-मइलियं, तेण पायच्छित्तं। (जीतक. चू. पृ. २)। १२. प्रकर्षेण अयते गच्छत्यस्मादाचारधर्म इति प्रायो मुनिलोकस्तेन विचिन्त्यते स्मर्यतेऽतिचारविशुद्धयर्थमिति निरुक्तात् प्रायश्चित्तमनुष्ठानविशेषः। अथवा प्रायो बाहुल्येन व्रतातिक्रमं चेतसि संजानीते चेतश्च न पुनराचरत्यतः प्रायश्चित्तम्। अथवा प्रायोऽपराध उच्यते, स येन चेतति विशुद्धयति तत् प्रायश्चित्तम्। (योगशा. स्वो. विव. ४-९०, पृ. ३१२)। १३. शुभं प्रशस्तं कर्म अनुष्ठानम्, तस्माच्च्युतवतः तत्परित्यक्तवतः संप्रत्यवस्थापनं सम्यक्पुनः स्वस्थापनं चिरन्तनभावेष्वारोपणं प्रायश्चित्तमित्यर्थः। (चारित्रभ. टी. ५, पृ. १८८)। १४. यत्कृत्याकरणे वर्ज्याऽवर्जने च रजोर्जितम्। सोऽतिचारोऽत्र तच्छुद्धिः प्रायश्चित्तं दशात्म तत् ॥ प्रायो लोकस्तस्य चित्तं मनस्तच्छुद्धिकृत्क्रिया। प्राये तपसि वा चित्तं निश्चयस्तन्निरुच्यते। (अन. ध. ७-३४ व ३७); प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चयनं युतम्। तपो निश्चयसंयोगात् प्रायश्चित्तं

निगद्यते ॥ (अन. ध. स्वो. टी. ७-३७ उद्.) । १५. प्रकृष्टो यः शुभावहो विधिर्यस्य साधुलोकस्य स प्रायः प्रकृष्टचारित्रः, प्रायस्य साधुलोकस्य चित्तं यस्मिन् कर्मणि तत्प्रायश्चित्तम् आत्मशुद्धिकरं कर्म, अथवा प्रगतः प्रणष्टः अयः प्रायः अपराधः तस्य चित्तं शुद्धिः प्रायश्चित्तम् । (त. वृत्ति श्रुत. ९-२०) । १६. अपराधं प्राप्तः सन् येन तपसा पूर्वकृतात् पापात् विशुद्धयते पूर्वव्रतैः संपूर्णो भवतीति प्रायश्चित्तम् । (कार्तिके. टी. ४४९) । १७. प्रायो द्वोषेऽप्यतीचारे गुरौ सम्यग्निवेदिते । उद्दिष्टं तेन कर्तव्यं प्रायश्चित्तं तपः स्मृतम् ॥ (लाटीसं. ७, ८२) ।

१ प्रायश्चित्त यह एक तप है, अपराध को प्राप्त होकर जीव जिस तप के द्वारा पूर्वकृत पाप से शुद्धि को प्राप्त होता है उसे प्रायश्चित्त तप कहा गया है । वह आलोचनादि के भेद से दस प्रकार का है । **२** प्रायश्चित्त चूंकि पाप को नष्ट करता है, इसीलिए उसे प्रायश्चित्त (पापच्छित्) कहा जाता है । अथवा उससे प्रायः चित्त शुद्धि को प्राप्त होता है, इसलिये वह प्रायश्चित्त कहलाता है ।

प्रायश्चित्तप्रद — द्वादशांगधरोऽप्येको न कृच्छ्रं दातुमर्हति । तस्माद् बहुश्रुताः प्राज्ञाः प्रायश्चित्तप्रदाः स्मृताः ॥ (उपासका. ३५१) ।

द्वादशांग का धारक भी एक आचार्य प्रायश्चित्त देने के योग्य नहीं होता, इसलिए बहुत श्रुत के पारंगत अनेक विद्वान् प्रायश्चित्तप्रद—प्रायश्चित्त के देने वाले माने गये हैं ।

प्रायश्चित्तानुलोम्य — प्रायश्चित्तानुलोम्यं च गीतार्थस्य शिष्यस्य भवति । स हि पञ्चक-दशक-पञ्चदशकक्रमेण प्रायश्चित्तानि गुरु-लघ्वपराधानुरूपाणि विज्ञाय योऽपराधो गुरुस्तं प्रथममालोचयति, पश्चाल्लघुं लघुतरं च । (योगशा. स्वो. विव. ४, ९०, पृ. ३१२) ।

प्रायश्चित्तानुलोम्य गीतार्थ (विद्वान्) साधु के होता है । कारण कि वह पंचक, दशक और पंचदशक के क्रम से गुरु और लघु अपराध के अनुकूल प्रायश्चित्त को जानकर जो अपराध गुरु (महान्) होता है, उसकी आलोचना प्रथम करता है, तत्पश्चात् लघु और लघुतर अपराध की आलोचना करता है ।

प्रायोगमनमरण—देखो पादोपगमनमरण ।

प्रायोगिक बन्ध—देखो प्रयोगबन्ध ।

प्रायोगिक भाषात्मकशब्द—भाषात्मकः सर्वोऽपि साक्षरानक्षररूपः प्रायोगिकः इत्युच्यते, पुरुषप्रयोगहेतुत्वात् × × × प्रायोगिकः (अभाषात्मकः) चतुष्प्रकारः तत-वितत-घन-सुषिरभेदात् । (त. वृत्ति श्रुत. ५-२४) ।

पुरुष के प्रयोग से उत्पन्न हुए अक्षरात्मक व अनक्षरात्मक शब्दों को प्रायोगिक भाषात्मक व अभाषात्मक शब्द कहते हैं ।

प्रायोग्यगमनमरण—देखो पादोपगमनमरण ।

प्रायोग्यलब्धि—१. सव्वकम्माणमुक्कस्सट्ठिदिमुक्कस्साणुभागं च घादिय अंतोकोडाकोडिट्ठिदिम्हि वेट्ठाणाणुभागे च अवट्ठाणं पाओग्गलद्धी णाम । (धव. पु. ६, पृ. २०४) । २. अंतोकोडाकोडी विट्ठाणे ठिदि-रसाण जं करणं । पाउग्गलद्धिणामा भव्वाभव्वेसु सामण्णा ॥ (लब्धिसा. ७) । ३. अन्तःकोटीकोटीसागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बन्धमापद्यमानेषु विशुद्धपरिणामयोगेन सत्कर्मसु संख्येयसागरोपमसहस्रोनायामन्तःकोटीकोटीसागरोपमस्थितौ स्थापितेषु आद्यसम्यक्त्वयोग्यता भवतीति प्रायोगिकी लब्धिः । (पंचसं. अमित. १-३७; अन. ध. स्वो. टी. २-४६) । ४. कश्चिज्जीवो लब्धित्रयसम्पन्नः प्रतिसमयं विशुद्धयन् आयुर्वर्जितसप्तकर्मणां तत्कालीनस्थितिमेककांडकघातेन छित्त्वा कांडकद्रव्यमन्तःकोटाकोटिमात्रावशिष्टस्थितौ निक्षिपति । अप्रशस्तानां घातिनामनुभागं वानन्तबहुभागप्रमाणं खंडयित्वा तद् द्रव्यं लता-दारुसमाने द्विस्थानमात्रे अघातिनां च निंब-कांजीरसमाने अवशिष्टानुभागे निक्षिपति तदा जीवस्य तत्करणं प्रायोग्यतालब्धिर्नाम । (ल. सा. टी. ७) ।

१ सब कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को घात कर अन्तःकोडाकोडी प्रमाण स्थिति में तथा अनुभाग को घातकर द्विःस्थान अनुभाग में—पापस्वरूप घातिया कर्मों के लता और दारुरूप अनुभाग में तथा अघातिया कर्मों के नीम और कांजीररूप अनुभाग में—स्थापित करने का नाम प्रायोग्यलब्धि है ।

प्रायोपगमन (पाओवगमण)—देखो पादोपगमनमरण । १. वोसट्ठचत्तदेहो दु णिक्खिवेज्जो जहिं जधा अंगं । जावज्जीवं तु सयं तहिं तमंगं ण चालेज्ज ॥ एवं णिप्पडियम्मं भणंति पाओवगमणमर-

हंता। णियमा अणिहारं तं सिया य णीहारमुवसग्गे ॥ (भ. आ. २०६८–६९)। २. आत्मोपकार-निरपेक्षं प्रायोपगमनम्। (धव. पु. १, पृ. २३)। ३. स-परोवयारहीणं मरणं पाओवगमणमिदि। (गो. क. ६१)। ४. स्व-परोपचाररहितं तन्मरणं प्रायोपगमनमिति। (गो. क. जी. प्र. टी. ६१)। ५. उभयोपकार- (स्व-परोपकार-) निरपेक्षं प्रायोपगमनम्। (कार्तिके. टी. ४९७)।

१ पण्डितमरण में आराधक शरीर से ममत्व को छोड़कर उसे जहां जिस प्रकार से रखता है जीवन पर्यन्त उसे वहीं पर स्थिर—हलन-चलन क्रिया से रहित—रखता है। इस प्रकार स्व और पर के प्रतीकार (सेवा-शुश्रूषा) से रहित जो उसका मरण होता है उसे प्रायोपगमनमरण कहा जाता है। पादपोपगमन और पादोपगमन ये इसी के नामान्तर हैं।

प्रारम्भक्रिया—देखो आरम्भक्रिया। प्राणिच्छेदन-भेदन-हिंसादिकर्मपरत्वं प्राणिच्छेदनादौ परेण विधीयमाने वा प्रमोदनं प्रारम्भक्रिया। (त. वृत्ति श्रुत. ६–५)।

प्राणियों के छेदन, भेदन और हनन आदि क्रियाओं में स्वयं प्रवृत्त होने तथा अन्य के उनमें प्रवृत्त होने पर हर्षित होने को प्रारम्भक्रिया कहते हैं।

प्रावचन—१. सुयधम्म तित्थ मग्गो पावयणं पवयणं च एगट्ठा। (आव. नि. १३०)। २. प्रगतं अभिविधिना जीवादिषु पदार्थेषु वचनं प्रावचनम्। (आव. नि. हरि. वृ. १३०)। ३. प्रवचने प्रकृष्टशब्दकलापे भवं ज्ञानं द्रव्यश्रुतं वा प्रावचनं नाम। (धव. पु. १३, पृ. २८०)।

१ श्रुतधर्म, तीर्थ, मार्ग, प्रावचन और प्रवचन ये समानार्थक शब्द हैं। २ जीवादि पदार्थविषयक वचन (श्रुत) को प्रावचन कहा जाता है। ३ प्रकृष्ट शब्दसमूह में होने वाले ज्ञान को अथवा द्रव्यश्रुत को प्रावचन कहते हैं।

प्रावर्तित—देखो प्राभृतदोष।

प्राविष्कृत—देखो प्रादुष्कार दोष। १. गेहप्रकाशकरणं यत्प्राविष्कृतमीरितम्। संस्कारो भाजनादीनां वा स्थानान्तरवारणम् ॥ (आचा. सा. ८–२९)। २. भगवन्निदं मदीयं गृहं वर्तते, यत्रैवं गृहप्रकाशकरणं भवति, निजगृहस्य गृहिणा प्रकटनं क्रियते, अथवा भाजनादीनां स्थानान्तरकरणं वा प्राविष्कृतमुच्यते। (भावप्रा. टी. ९९)।

१ साधु के निमित्त से घर में प्रकाश करना तथा बर्तनों आदि का संस्कार करना—भस्म आदि से उन्हें स्वच्छ करना—और उन्हें स्थानान्तरित करना, यह प्राविष्कृत नाम का एक उद्गमदोष है।

प्रासाद—१. पक्कमइला सकूला अथवा पासादा णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३९)। २. प्रासादः स्वगतायामापेक्षया द्विगुणोच्छ्रयः। (विपाकसू. अभय. वृ. २–१, पृ. ५९)। ३. राज्ञां देवतानां च भवनानि प्रासादाः, उत्सेधबहुला वा प्रासादाः, ते चोभयेऽपि पर्यन्तशिखराः। (जीवाजी. मलय. वृ. १४७)। ४. नरेन्द्राध्यासितः सप्तभूमादिरावासविशेषः प्रासादः। (बृहत्क. क्षे. ८२६)।

२ जो भवन अपने आयाम की अपेक्षा ऊंचाई में दुगुना होता है वह प्रासाद कहलाता है। ३ राजाओं और देवताओं के भवनों को प्रासाद कहा जाता है, अथवा जो ऊंचाई में अधिक होते हैं उन्हें भी प्रासाद जानना चाहिए, वे दोनों ही शिखरों से सुशोभित होते हैं।

प्रासुक—१. पगदा ओसरिदा आसवा जम्हा तं पासुअं, अथवा जं णिरवज्जं तं पासुअं। किं ? णाण-दंसण-चरित्तादि। (धव. पु. ८, पृ. ८७)। २. अतिप्रशस्तं मनोहरं हरितकायात्मकं[क-] सूक्ष्मप्राणिसंचारागोचरं प्रासुकमित्यभिहितम्। (नि. सा. टी. ६३)।

१ जो कर्मास्रवों से रहित अथवा निष्कलंक है उसे प्रासुक कहते हैं। ऐसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र हो सकते हैं। २ जो अत्यन्त प्रशस्त, मनोहर एवं वनस्पतिकाय आदि सूक्ष्म जीवों के संचार से रहित होता है उसे प्रासुक कहा जाता है।

प्रासुक जल—मुहूर्तात् गालितं तोयं प्रासुकं प्रहरद्वयम्। उष्णोदकमहोरात्रं ततः सम्मूर्च्छितो भवेत् ॥ तिल-तण्डुलतोयं च प्रासुकं भ्रामरीगृहे। न पानाय मतं तस्मान्मुखशुद्धिर्न जायते ॥ पाषाणोत्स्फुटितं तोयं घटीयन्त्रेण ताडितम्। सद्यःसन्तप्तवापीनां प्रासुकं जलमश्नुते ॥ (रत्नमाला ६१–६३)।

योग्य वस्त्र से छाना गया जल दो पहर तक प्रासुक रहता है तथा गरम किया हुआ जल एक दिन-रात प्रासुक रहता है, इसके पश्चात् वह सम्मूर्च्छन जीवों

से युक्त हो जाता है। तिलों का अथवा चावलों का प्रासुक पानी पीने के योग्य नहीं माना गया है, क्योंकि उससे मुख की शुद्धि नहीं होती। पत्थरों से विदीर्ण अथवा अरहट से ताडित जल तथा वापिकाओं का तपा हुआ जल प्रासुक माना जाता है।

प्रासुकमार्ग—सयडं जाण जुग्गं वा रहो वा एवमादिया। बहुसो जेण गच्छंति सो मग्गो फासुओ भवे॥ हत्थी अस्सो खरोढो वा गो-माहिस-गवेलया। बहुसो जेण गच्छंति सो मग्गो फासुओ भवे॥ इत्थी पुंसा व गच्छंति आदवेण य जं हदं। सत्थपरिणदो चेव सो मग्गो फासुओ हवे॥ (मूला. ५, १०७-९)।

शकट (बैलगाड़ी), यान—मत्तवारणयुक्त पल्यंकजात जो हाथी, घोड़ा एवं मनुष्यादिकों के द्वारा खींचा जाता है; युग्य (पालकी) और रथ इत्यादि बहुत प्रकार के वाहन जिस मार्ग से जाते हैं वह प्रासुक माना जाता है। हाथी, घोड़ा, गधा, ऊंट, गाय, भैंस और गवेलक (भेड़-बकरी) ये पशु जिस मार्ग से बहुतायत से निकल जाते हैं वह मार्ग प्रासुक होता है। जिस मार्ग से पुरुष व स्त्रियों का आवागमन चालू हो चुका है तथा जो सूर्य के ताप आदि से सन्तप्त हो चुका है, जो शस्त्रपरिणत हैं—जहां खेती की गई है—उसे प्रासुकमार्ग जानना चाहिए।

प्रिय—स्वरुचिविषयीकृतं वस्तु प्रियम्, यथा पुत्रादिः। (जयध. १, पृ. २७१)।

अपनी रुचि के विषयभूत पुत्रादि पदार्थों को प्रिय समझा जाता है।

प्रिय वचन—तत्र प्रियं यत् श्रुतमात्रं प्रीणयति। (योगशा. स्वो. विव. १-२१)।

जिस वचन के सुनने मात्र से प्रसन्नता होती है वह प्रिय माना जाता है, यह सत्य वचन की एक विशेषता है। अप्रिय वचन यथार्थ होते हुए भी सत्य में नहीं गिना जाता।

प्रीतिदान—यत्पुनः स्वनगरे भगवदागमननिवेदकाय नियुक्तायानियुक्ताय वा हर्षप्रकर्षाविरुढमानसैर्दीयते तत्प्रीतिदानम्। (बृहत्क. क्षे. वृ. १२०७ उत्थानिका)।

अपने नगर में भगवान् के—तीर्थंकर या केवली के—आगमनविषयक समाचार देने वाले नियुक्त या अनियुक्त पुरुष के लिए जो हर्षपूर्वक दान दिया जाता है उसे प्रीतिदान कहते हैं।

प्रीति-भक्तिगतकृत्य—अत्यन्तवल्लभा खलु पत्नी तद्वद्धिता च जननीति। तुल्यमपि कृत्यमनयोर्ज्ञातं स्यात् प्रीति-भक्तिगतम्॥ (षोडशक. १०-५; ज्ञा. सा. टी. २७-७ उद्.)।

अत्यन्त प्यारी पत्नी के प्रति किये जाने वाले कार्य को प्रीतिगतकृत्य कहते हैं तथा प्यारी और हितैषिणी जननी के प्रति किये जाने वाले कार्य को भक्तिगतकृत्य कहते हैं।

प्रीत्यनुष्ठान—१. यत्रादरोऽस्ति परमः प्रीतिश्च हितोदया भवति कर्तुः। शेषत्यागेन करोति यच्च तत्प्रीत्यनुष्ठानम्॥ (षोडशक. १०-३)। २. यत्रादरोऽस्ति परमः, प्रीतिः स्वहितोदयात् भवेत्कर्तुः। शेषत्यागेन करोति यत्तु तत्प्रीत्यनुष्ठानम्॥ (ज्ञा. सा. वृ. ७-७ उद्.)।

१ जिस अनुष्ठान में कर्ता का अतिशय आदर—अधिक प्रयत्न—और हितोत्पादक होने से उसका प्रेम भी रहता है, तथा जिसे वह अन्य कार्य को छोड़कर करता है, उसे प्रीति-अनुष्ठान कहते हैं।

प्रेक्षा-असंयम—प्रेक्षायामसंयमो यः स तथा (प्रेक्षासंयमः), स च स्थानोपकरणादीनामप्रत्युपेक्षणमविधिप्रत्युपेक्षणं वा। (समवा. अभय. वृ. १७)।

देखने में जो असंयम होता है वह प्रेक्षा-असंयम कहलाता है और वह स्थान एवं उपकरण आदि के न देखने पर अथवा आगमोक्त विधि के विना देखने पर होता है।

प्रेक्षासंयम—देखो प्रेक्ष्यसंयम।

प्रेक्ष्यसंयम—१. प्रेक्ष्यसंयम इत्यत्र क्रियाध्याहारः—प्रेक्ष्य क्रियामाचरन् संयमेन युज्यते। प्रेक्ष्येति चक्षुषा दृष्ट्वा स्थण्डिलं बीज-जन्तु-हरितादिरहितं पश्चादूर्ध्वनिषद्या-त्वग्वर्तन-स्थानानि विदधीतेत्येवमाचरतः संयमो भवति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-६, पृ. १९८)। २. तथा प्रेक्ष्य चक्षुषा दृष्टं वा स्थण्डिलं बीज-जन्तु-हरितादिरहितम्, तत्र शयनासनादीनि कुर्वीतेति प्रेक्षासंयमः। (योगशा. स्वो. विव. ४, ९३, पृ. ३१६)।

१ देख करके आवश्यक कार्य का करने वाला संयम से युक्त होता है—प्रेक्ष्य अर्थात् बीज, जन्तु और हरितकाय आदि से रहित शुद्ध भूमि को आंख से

देखकर तत्पश्चात् बैठना, सोना व स्थित होना; इस प्रकार आचरण करने वाले के जो संयम होता है वह प्रेक्षासंयम या प्रेक्ष्यसंयम कहलाता है।

प्रेत्यभाव—मृत्वाऽमुत्र प्राणिनः प्रादुर्भावः प्रेत्यभावः। (आ. मी. वसु. वृ. २६)।

मर करके जो परभव में प्राणी का जन्म होता है, इसका नाम प्रेत्यभाव है।

प्रेम—१. प्रियत्वं प्रेम। (धव. पु. १२, पृ. २८४)। २. प्रीतिलक्षणं प्रेम, पुत्र-कलत्र-धन-धान्याद्यात्मीयेषु रागः। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ५, २२, पृ. १२६)। ३. प्रेमशब्देनाभिष्वङ्गलक्षणो रागोऽभिधीयते। (बृहत्क. क्षे. वृ. ८३१)।

१ प्रियभाव का नाम प्रेम है। २ पुत्र, स्त्री, धन और धान्य आदि स्वकीय पदार्थों में जो राग होता है उसे प्रेम कहा जाता है। वह प्रीतिस्वरूप है।

प्रेष्यप्रयोग—१. (आत्मनः संकल्पितदेशे स्थितस्य) एवं कुर्विति नियोगः प्रेष्यप्रयोगः। (स. सि. ७–३१; त. श्लो. ७–३१)। २. एवं कुर्विति विनियोगः प्रेष्यप्रयोगः। परिच्छिन्नदेशाद् बहिः स्वयमगत्वा अन्यमप्यनानीय प्रेष्यप्रयोगेणैवाभिप्रेतव्यापारसाधनं प्रेष्यप्रयोगः। (त. वा. ७, ३१, २)। ३. बलात् विनियोज्यः प्रेष्यः, तस्य प्रयोगः यथाभिगृहीतप्रविचारदेशव्यतिक्रमभयात् त्वयाऽवश्यमेव गत्वा मम गवाद्यानेयमिदं वा तत्र कर्तव्यमित्येवंभूतः प्रेष्यप्रयोगः। (श्राव. हरि. वृ. अ.६, पृ. ८३५; श्रा. प्र. टी. ३२०)। ४. परिच्छिन्नदेशात् बहिः स्वयमगत्वाऽन्यप्रेष्यप्रयोगेणैवाभिप्रेतव्यापारसाधनं प्रेष्यप्रयोगः। (चा. सा. पृ. ६)। ५. प्रेष्यस्य आदेश्यस्य प्रयोगो विवक्षितक्षेत्राद् बहिः प्रयोजनाय स्वयं गमने व्रतभङ्गभयादन्यस्य व्यापारणं प्रेष्यप्रयोगः। (ध. बि. मु. वृ. ३–३२)। ६. मर्यादीकृते देशे स्वयं स्थितस्य ततो बहिरिदं कुर्विति विनियोगः प्रेषणम्। (रत्नक. टी. ४६)। ७. प्रेष्यस्याऽऽदेश्यस्य प्रयोगो विवक्षितक्षेत्राद् बहिः प्रयोजनाय व्यापारणम्, स्वयं गमने हि व्रतभङ्गः स्यादिति प्रेष्यप्रयोगः। (योगशा. स्वो. विव. ३, ११७)। ८. प्रैषं मर्यादीकृतदेशे स्थित्वा ततो बहिः प्रेष्यं प्रत्येवं कुर्विति व्यापारणम्। (सा. ध. स्वो. टी. ५–२७)। ९. प्रतिषिद्धदेशे प्रेष्यप्रयोगेणैव अभिप्रेतव्यापारसाधनं प्रेष्यप्रयोगः। (त. वृत्ति श्रुत. ७–३१)। १०. उक्तं केनाप्यनुक्तेन स्वयं तच्चानयाम्यहम्। एवं कुर्विति नियोगो प्रेष्यप्रयोग उच्यते॥ (लाटीसं. ६–१३०)।

१ अपने द्वारा प्रतिज्ञात देश में स्थित रहकर—स्वयं उसके बाहिर न जाकर—'ऐसा करो' इस प्रकार से सेवक को आदेश देकर मर्यादित क्षेत्र के बाहिर अभीष्ट कार्य कराना, यह देशव्रत का प्रेष्यप्रयोग नाम का एक अतिचार है। ३ जिसे बलपूर्वक आदेश दिया जा सकता है वह प्रेष्य कहलाता है, देशावकाशिकव्रत में क्षेत्र का जितना प्रमाण स्वीकार किया गया है उसके बाहिर व्रतभङ्ग के भय से 'तुम्हें वहां जाकर अवश्य ही मेरे लिये गाय आदि को लाना है, अथवा यह कार्य करना है' इस प्रकार से प्रेष्य को प्रेरित करना, यह प्रेष्यप्रयोग कहलाता है जो उक्त व्रत को मलिन करने वाला है।

प्रोषध— × × × प्रोषधः सकृद्भुक्तिः। (रत्नक. ४–१६)।

एक बार भोजन करने (एकाशन) का नाम प्रोषध है।

प्रोषधोपवास—देखो पौषधोपवास। १. पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु। चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः॥ चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः। स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति॥ (रत्नक. ४-१६ व १९)। २. प्रोषधशब्दः पर्वपर्यायवाची, शब्दादिग्रहणं प्रति निवृत्तौत्सुक्यानि पञ्चापीन्द्रियाण्युपेत्य तस्मिन् वसन्तीत्युपवासः, चतुर्विधाऽऽहारपरित्याग इत्यर्थः, प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः। (स. सि. ७–२१)। ३. मासे चत्वारि पर्वाणि तान्युपोष्याणि यत्नतः। मनोवाक्कायसंगुप्त्या स प्रोषधविधिः स्मृतः॥ (वरांगच. १५–१२३)। ४. चतुराहारहानं यन्निरारम्भस्य पर्वसु। स प्रोषधोपवासोऽक्षाण्युपेत्यास्मिन् वसन्ति यत्। (ह. पु. ५८-१५४)। ५. उपेत्य तस्मिन् वसन्तीन्द्रियाणि इत्युपवासः। शब्दादिग्रहणं प्रति निवृत्तौत्सुक्यानि पञ्चापीन्द्रियाणि उपेत्य तस्मिन् वसन्तीत्युपवासः, अशन-पान-भक्ष्य-लेह्यलक्षणचतुर्विधाहारपरित्याग इत्यर्थः। प्रोषधशब्दः पर्वपर्यायवाची, प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः। (त. वा. ७, २१, ८)। ६. उपेत्य स्वस्मिन् वसन्तीन्द्रियाणीत्युपवासः, स्वविषयं प्रत्यव्यावृत्तत्वात् प्रोषधे पर्वण्यु-

पवासः प्रोषधोपवासः । (त. श्लो. ७-२१)। ७. सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम् । पक्षार्धयोर्द्वयोरपि कर्तव्योऽवश्यमुपवासः ।। मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्धे । उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ ।। श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय । सर्वेन्द्रियार्थविरतः काय मनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ।। धर्मध्यानाश[स]क्तो वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधिः । शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत् स्वाध्यायजितनिद्रः ।। प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम् । निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ।। उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च । अतिवाहयेत् प्रयत्नादर्धं च तृतीयदिवसस्य ।। इति यः षोडश यामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः । तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति ।। (पु. सि. १५१-५७)। ८. ण्हाण-विलेवण-भूषण-इत्थीसंसग्ग-गंध-धूवादी । जो परिहरेदि णाणी वेरग्गाभूसणं किच्चा ।। दोसु वि पव्वेसु सया उववासं एयभत्त-णिव्वियडी । जो कुणदि एवमाई तस्स वयं पोसहं बिदियं ।। (कार्तिके. ३५८-५६)। ६. प्रोषधः पर्वपर्यायवाची, शब्दादिग्रहणं प्रति निवृत्तौत्सुक्यानि पंचापीन्द्रियाणि उपेत्य तस्मिन् वसन्तीत्युपवासः । उक्तं च—उपेत्याक्षाणि सर्वाणि निवृत्तानि स्वकार्यतः । वसन्ति यत्र स प्राज्ञैरुपवासोऽभिधीयते ।। पर्वणि चतुर्विधाहारनिवृत्तिः प्रोषधोपवासः । (चा. सा. पृ. १२)। १०. चत्वारि सन्ति पर्वाणि मासे तेषु विधीयते । उपवासः सदा यस्तत्प्रोषधव्रतमीर्यते ।। (सुभाषित. ८०८)। ११. सदनारम्भनिवृत्तैराहारचतुष्टयं सदा हित्वा । पर्वचतुष्के स्थेयं संयम-यमसाधनोद्युक्तैः ।। ताम्बूल-गन्ध-माल्य-स्नानाभ्यंगादिसर्वसंस्कारम् । ब्रह्मव्रतगतचित्तैः स्थातव्यमुपोषितैस्त्यक्त्वाः ।। उपवासानुपवासैकस्थानेष्वेकमपि विधत्ते यः । शक्त्यनुसारपरोऽसौ प्रोषधकारी जिनैरुक्तः ।। (अमित. श्रा. ६, ८८-९०)। १२. निवृत्तिर्भुक्तभोगानां या स्यात् पर्वचतुष्टये । प्रोषधाख्यं द्वितीयं तच्छिक्षाव्रतमितीरितम् ।। (धर्मश. २१-१५०)। १३. स प्रोषधोपवासो यच्चतुष्पर्व्यां यथागमम् । साम्यसंस्कारदार्ढ्याय चतुर्भुक्त्युज्झनं सदा ।। (सा. ध. ५-३४)। १४. अष्टमी चतुर्दशी च पर्वद्वयं प्रोषध इत्युपचर्यते, प्रोषधे उपवासः स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दलक्षणेषु पंचसु विषयेषु परिहृतौत्सुक्यानि पंचापीन्द्रियाण्युपेत्य आगत्य तस्मिन् उपवासे वसन्ति इत्युपवासः । अशन-पान-खाद्य-लेह्यलक्षणचतुर्विधाहारपरिहार इत्यर्थः । सर्वसावद्यारम्भ-स्वशरीरसंस्कारकरण-स्नान-गन्धमाल्याभरण-नस्यादिविवर्जितः पवित्रप्रदेशे मुनिवासे चैत्यालये स्वकीयप्रोषधोपवासमन्दिरे वा धर्मकथां कथयन् शृण्वन् चिन्तयन् वा अवहितान्तःकरण एकाग्रमनाः सन् उपवासं कुर्यात्, स श्रावकः प्रोषधोपवासव्रतो भवति । (त. वृत्ति श्रुत. ७-२१)। १५. प्रोषधः पर्ववाचीह चतुर्धाहारवर्जनम् । तत्प्रोषधोपवासाख्यं व्रतं साम्यस्य सिद्धये ।। (धर्मसं. श्रा. ७-६०)। १६. चतुर्दश्यामथाष्टम्यां प्रोषधः क्रियते सदा । शिक्षाव्रतं द्वितीयं स्यान्मुनिमार्गविधानतः ।। (पू. उपासका. ३२, पृ. २२)। १७. स्यात्प्रोषधोपवासाख्यं व्रतं च परमौषधम् । जन्म-मृत्यु-जरातङ्कविध्वंसनविचक्षणम् ।। चतुर्धाशनसंन्यासो यावद् यामांश्च षोडश । स्थितिर्निरवद्यस्थाने व्रतं प्रोषधसंज्ञकम् ।। (लाटीसं. ६, १६६-६७)।

१ चतुर्दशी और अष्टमी के दिन अशन, पान खाद्य और लेह्य इन चार प्रकार के भोज्य पदार्थों का सदा उत्सुकतापूर्वक प्रत्याख्यान करना—उनका परित्याग करना, इसे प्रोषधोपवास जानना चाहिए। २ प्रोषध शब्द का अर्थ पर्व है, 'उपेत्य वसन्ति तस्मिन् इन्द्रियाणि इति उपवासः' इस निरुक्ति के अनुसार जिस चार प्रकार के आहार के परित्याग स्वरूप उपवास में पांचों ही इन्द्रियां अपने अपने विषयग्रहण की ओर से विमुख होकर निवास करती हैं उसका नाम उपवास है, प्रोषध (अष्टमी-चतुर्दशी आदि पर्व दिन) के समय में जो उपवास किया जाता है, वह प्रोषधोपवास कहलाता है। अभिप्राय यह है कि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए जो पर्व दिनों में चार प्रकार के आहार का परित्याग किया जाता है उसे प्रोषधोपवास जानना चाहिए।

प्रोषधोपवासप्रतिमा—१. पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य । प्रोषधनियमविधायी प्रणधिपरः प्रोषधानशनः । (रत्नक. ५-१६)। २. सत्तमि-तेरसिदिवसे अवरण्हे जाइऊण जिणभवणे । किच्चा किरियाकम्मं उववासं चउविहं गहिय ।। गिहवावारं चत्ता रत्तिं गमिऊण धम्मचिंताए ।

पच्चूहे उट्ठित्ता किरियाकम्मं च कादूण ॥ सत्थब्भासेण पुणो दिवसं गमिऊण वंदणं किच्चा। रत्तिं णेदूण तहा पच्चूहे वंदणं किच्चा ॥ पुज्जणविहिं च किच्चा पत्तं गहिऊण णवरि तिविहं पि। भुंजाविऊण पत्तं भुंजंतो पोसहो होदि ॥ (कार्तिके. ३७३ से ३७६)। ३. मासे चत्वारि पर्वाणि तेषु यः कुरुते सदा। उपवासं निरारम्भः प्रोषधी स मतो जिनैः ॥ (सुभार्स. ८-३६)। ४. मन्दीकृताक्षार्थसुखाभिलाषः करोति यः पर्वचतुष्टयेऽपि। सदोपवासं परकर्म मुक्त्वा स प्रोषधी शुद्धधियामभीष्टः ॥ (अमित. श्रा. ७-७०)। ५. प्रोषधोपवासः मासे मासे चतुर्ष्वपि पर्वदिनेषु स्वकीयां शक्तिमनिगूह्य प्रोषधनियमं मन्यमानो भवतीति व्रतिकस्य यदुक्तं शीलं प्रोषधोपवासस्तदस्य व्रतमिति। (चा. सा. पृ. १)। ६. उत्तम-मज्झ-जहण्णं तिविहं पोसहविहाणमुद्दिट्ठं। सगसत्तीए मासम्मि चउस्सु पव्वेसु कायव्वं ॥ सत्तमि-तेरसिदिवसम्मि अतिहिजणभोयणावसाणम्मि। भोत्तूण भुंजणिज्जं तत्थवि काऊण मुहसुद्धिं ॥ पक्खालिऊण वयणं कर-चरणे णियमिऊण तत्थेव। पच्छा जिणिंदभवणं गंतूण जिणं णमंसित्ता ॥ गुरुपुरओ किदियम्मं वंदणपुव्वं कमेण काऊण। गुरुसक्खियमुववासं गहिऊण चउव्विहं विहिणा ॥ वायण-कहाणुपेहण-सिक्खावण-चिंतणोवओगेहिं। णेऊण दिवससेसं अवराण्हियवंदणं किच्चा ॥ रयणिसमयम्हि ठिच्चा काउस्सग्गेण णिययसत्तीए। पडिलेहिऊण भूमिं अप्पपमाणेण संथारं ॥ दाऊण किंचि रत्तिं सइऊण जिणालए णियघरे वा। अहवा सयलं रत्तिं काउस्सग्गेण णेऊण ॥ पच्चूसे उट्ठित्ता वंदणविहिणा जिणं णमंसित्ता। तह दव्व-भावपुज्जं जिण-सुय-साहूण काऊण ॥ उत्तविहाणेण तहा दियहं रत्तिं पुणो वि गमिऊण। पारणदिवसम्मि पुणो पूयं काऊण पुव्वं व ॥ गंतूण णिययगेहं अतिहिविभागं च तत्थ काऊण। जो भुंजइ तस्स फुडं पोसहविहि उत्तमं होइ ॥ वसु. श्रा. २८०-८९)। ७. स प्रोषधोपवासी स्याद्यः सिद्धः प्रतिमात्रये। साम्यान्न च्यवते यावत् प्रोषधानशनव्रतम् ॥ (सा. ध. ७-४)। ८. उहयचउद्दसि-अट्ठमिहि जो पालइ उववासु। सो चउत्थु सावउ भणिउ दुक्कियकम्मविणासु ॥ (सावयध. दो. १३)। ९. यः प्राग्धर्मत्रयारूढः प्रोषधानशनव्रतम्। यावन्न च्यवते साम्यात्स भवेत्प्रोषधव्रती ॥ (धर्मसं. श्रा. ८-९)।

१ प्रत्येक मास के चारों ही पर्वों (दो अष्टमी और दो चतुर्दशी) में अपनी शक्ति को न छिपाकर नियमपूर्वक उपवास करते हुए ध्यान में रत रहना, यह श्रावक की तीसरी प्रोषधोपवास प्रतिमा है।

प्रोषधोपवासव्रतातिचार—१. *अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादान-संस्तरोपक्रमणानादर-स्मृत्यनुपस्थानानि*। (त. सू. ७-३४)। २. ग्रहण-विसर्गास्तरणान्यदृष्ट-मृष्टान्यनादरास्मरणे। यत्प्रोषधोपवासव्यतिलङ्घनपंचक तदिदम् ॥ (रत्नक. ४-२०)। ३. अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सर्गः। स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पञ्चोपवासस्य ॥ (पु. सि. १९२)। ४. अनवेक्षा प्रतिलेखनदुष्कर्मारम्भदुर्मनस्काराः। आवश्यकविरतियुताश्चतुर्थमेते विनिघ्नन्ति ॥ (उपासका. ७५६)।

१ भूमि आदि के विना देखे व किसी कोमल उपकरण के द्वारा विना झाड़े मल-मूत्रादि का त्याग करना, पूजोपकरण आदि को ग्रहण करना, बिस्तर व आसन आदि बिछाना व उस पर सोना-बैठना, भूख से पीड़ित होकर प्रोषधोपवास के प्रति अनादरभाव रखना और उसकी विधि का स्मरण न रहना; ये पांच प्रोषधोपवासव्रत के अतिचार हैं।

प्लुत—त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो × × × ॥ (धव. पु. १३, पृ. २४८ उद्.)।

तीन मात्रा वाले स्वर को प्लुत कहा जाता है।

फलचारण—१. अविराहिदूण जीवे तल्लीणे वणफलाण विविहाणं। उवरिम्मि जं पधावदि स च्चिय फलचारणा रिद्धी ॥ (ति. प. ४-१०३८)। २. नानाद्रुमफलान्युपादाय फलाश्रयप्राण्यविरोधेन फलतले पादोत्क्षेप-निक्षेपकुशलाः फलचारणाः। (योगशा. स्वो. विव. १-९, पृ. ४१)। ३. फलमस्पृश्य फलोपरि गमनं फलचारणत्वम्। (त. वृत्ति श्रुत. ३-३६)।

१ जिस ऋद्धि के प्रभाव से अनेक प्रकार के वनफलों में स्थित जीवों की विराधना न करके—उन्हें पीड़ा न पहुंचा कर—साधु उनके ऊपर से दौड़ सकता है वह फलचारण ऋद्धि कहलाती है।

फिरिक्की—देखो गिल्ली। चुंदेण वट्टुलागारेण घडिदणेमि-तुंबाधारसरलट्ठकट्ठा फिरिक्की णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३८)।

गोल चुंद से सम्बद्ध नेमि (पहिये का घेरा) और तुम्ब (गाड़ी का मध्य) की आधारभूत सीधी आठ लकड़ियों से युक्त गाड़ी को फिरक्की कहा जाता है। इसका दूसरा नाम गिल्ली भी है।

बकुश—१. नैर्ग्रन्थ्यं प्रति स्थिता अखण्डितव्रताः शरीरोपकरणविभूषानुवर्तिनोऽविविक्तपरिवारा मोह-शबलयुक्ता बकुशाः। शबलपर्यायवाची बकुशशब्दः। (स. सि. ९-४६)। २. नैर्ग्रन्थ्यं प्रति प्रस्थिताः शरीरोपकरणविभूषानुवर्तिनः ऋद्धि-यशस्कामाः सात-गौरवाश्रिता अविविक्तपरिवाराः छेदशबलयुक्ताः निर्ग्रन्था बकुशाः। (त. भा. ९-४८)। ३. अख-ण्डितव्रताः कायभूषोपकरणानुगाः। अविविक्तपरि-वाराः शबला बकुशाः स्मृताः॥ बकुशः सोपकरणो बहूपकरणप्रियः। शरीरबकुशः कायसंस्कारं प्रति-सेवते॥ (ह. पु. ६४-६० व ७२)। ४. अखण्डित-व्रताः शरीरसंस्कारर्द्धि-सुख-यशोविभूतिप्रवणा बकु-शाः। नैर्ग्रन्थ्यं प्रस्थिताः अखण्डितव्रताः शरीरोप-करणविभूषानुवर्तिनः ऋद्धि-यशस्कामाः सातगौरवा-श्रिताः अविविक्तपरिवाराः छेदशबलयुक्ताः बकुशाः। शबलपर्यायवाची बकुशशब्दः॥ (त. वा. ९, ४६, २)। ५. अखण्डितव्रताः शरीरसंस्कारर्द्धि-सुख-यशो-विभूतिप्रवणाः बकुशाः, छेदशबलयुक्तत्वात्। बकुश-शब्दो हि शबलपर्यायवाचीह। (त. श्लो. ९-४६)। ६. नैर्ग्रन्थ्यमुपस्थिता अखण्डितव्रताः शरीरोपकरण-विभूषणानुवर्तिनो वृद्धि-यशःकामाः सातगौरवाश्रिता अविविक्तपरदाराश्च[परिवाराश्च] छेदशबलयुक्ता बकुशाः। शबलपर्यायवाची बकुशशब्द इति। (चा. सा. पृ. ४५)। ७. उवगरण-देहचोक्खा रिद्धी-जसगा-रवा सिया निच्चं। बहुसबलछेयजुत्ता णिग्गंथा बाउसा भणिया॥ (धर्मरत्नप्र. १३५, पृ. ८४ उद्.); बकुशाः शरीरोपकरणविभूषाकारिणः। (धर्मरत्नप्र. १३५, पृ. ८४)। ८. बकुशत्वं कश्मलचारित्रत्वम्। (जीतक. चू. वि. व्या. पृ. ४३)। ९. निर्ग्रन्थ-त्वे स्थिता अविध्वस्तव्रताः शरीरोपकरणर्द्धि-भूषण-यशःसुखविभूत्याकांक्षिणः अविविक्तपरिच्छिदानुमो-दनशबलयुक्ता ये ते बकुशाः उच्यन्ते। (त. वृत्ति श्रुत. ९-४६)। १०. बकुशः शुद्धयशुद्धिव्यतिकीर्ण-चरणः। (धर्मसं. मान. ३-५६, पृ. १५२)।

१ जो निर्ग्रन्थता (मुनिधर्म) पर आरूढ होकर अखण्डित रूपमें व्रतों का पालन करते हुए शरीर और उपकरणों की स्वच्छता का अनुसरण करते हैं तथा जिनका परिवार से मोह नहीं छूटा है वे साधु बकुश कहलाते हैं। बकुश शब्द का अर्थ अनेक वर्ण वाला होता है। तदनुसार अभिप्राय यह हुआ कि जो अनेक प्रकार के मोह से संयुक्त होते हुए विचित्र संयम वाले होते हैं, उन्हें बकुश मुनि जानना चाहिए। २ जो निर्ग्रन्थता के प्रति प्रस्थान कर चुके हैं—मुनिधर्म को स्वीकार कर चुके हैं, साथ ही शरीर और उपकरणों की सुन्दरता के अभिलाषी हैं, ऋद्धि एवं यश के इच्छुक हैं, सातगौरव—सुख-शीलता के आश्रित हैं; जांघों के घिसने, तेल आदि से शरीर का मार्जन करने व बालों को कैंची से काटे गये के समान रखने आदि रूप जिनका परि-वार संयम के प्रतिकूल है; तथा जो छेद प्रायश्चित्त के योग्य अतीचार जनित विचित्रता से युक्त होते हैं उन्हें बकुश कहा जाता है।

बद्धप्रलाप—भाषा बद्धप्रलापाख्या चतुर्वर्गविवर्जि-ता॥ (ह. पु. १०-९३)।

चतुर्वर्ग से रहित—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों के वर्णन से रहित—भाषा का नाम बद्धप्रलाप है।

बद्धरागवेदनीयपुद्गल — निर्वृत्तबन्धपरिणामाः सत्कर्मतया स्थिता जीवेनाऽऽत्मसात्कृता बद्धाः। (आव. नि. हरि. वृ. ९१८, पृ. ३८७)।

जो रागवेदनीयपुद्गल (कर्मद्रव्यराग) बन्ध परि-णाम को प्राप्त होकर सत्कर्मरूप से स्थित होते हुए जीव के द्वारा आत्मसात् कर लिए गये हैं—जीव के आत्मप्रदेशों से एकक्षेत्रावगाहरूप में सम्बद्ध हो चुके हैं—उन्हें बद्धरागवेदनीयपुद्गल कहा जाता है।

बद्धश्रुत—××× बद्धं तु दुवालसंगनिद्दिट्ठं। (आव. नि. १०२०)।

गद्य-पद्यरूप बन्धन से बद्ध आचारादिरूप द्वादशांग श्रुत बद्धश्रुत कहलाता है। यह जीवभावकरण का एक भेद है।

बन्ध—देखो बन्धन। १. जं सुहमसुहमुदिण्णं भावं रत्तो करेदि जदि अप्पा। सो तेण हवदि बंधो

पोग्गलकम्मेण विविहेण ॥ (पंचा. का. १४७)। २. जीवो कसायजुत्तो जोगादो कम्मणो दु जे जोग्गा। गेण्हइ पोग्गलदव्वे बंधो सो होदि णायव्वो ॥ (मूला. १२-१८३)। ३. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः। (त. सू. ८, २)। ४. आत्मकर्मणोरन्योऽन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बन्धः। (स. सि. १-४); ××× अतो मिथ्यादर्शनाद्यावेशादार्द्रीकृतस्यात्मनः सर्वतो योगविशेषात् तेषां सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनामनन्तानन्तप्रदेशानां पुद्गलानां कर्मभावयोग्यानामविभागेनोपश्लेषो बन्ध इत्याख्यायते। (स. सि. ८-२; त. वा. ८, २, ८; मूला. वृ. १२-१८३)। ५. कम्मयदव्वेहि समं संजोगो होइ जो उ जीवस्स। सो बंधो नायव्वो ××× ॥ (आचारा. नि. २६०, पृ. २६६)। ६. बध्यतेऽनेन बन्धनमात्रं वा बन्धः। बध्यते येन अस्वतंत्रीक्रियते येन, अस्वतंत्रीकरणमात्रं वा बन्धः। (त. वा. १, ४, १०); आत्मकर्मणोरन्योऽन्यप्रदेशानुप्रवेशलक्षणो बन्धः। मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययोपनीतानां कर्मप्रदेशानात्मप्रदेशानां च परस्परानुप्रवेशलक्षणो बन्धः। (त. वा. १, ४, १७); अतस्तदुपश्लेषो बन्धः। (त. वा. ८, २, ८)। ७. चेतनस्य हीनस्थानप्रापणं बन्धः। (प्रमाणसं. स्वो. वृ. ६६)। ८. बन्धः कर्मणो योगः। (त. भा. हरि. वृ. १-३); आश्रवैरात्तस्य कर्मणः आत्मना संयोगो बन्धः। (त. भा. हरि. वृ. १-४); बन्धनं बन्धः परस्पराश्लेषः। (त. भा. हरि. वृ. ५-२४); बन्धः कर्मवर्गणायोग्यस्कन्धानामात्मप्रदेशानां चान्योऽन्यानुगतिलक्षणः क्षीरोदकादेरिव सम्पर्को बन्धः। (त. भा. हरि. वृ. ८-१); आत्मप्रदेशानां कर्मपुद्गलानां चान्योऽन्यानुगतिलक्षणः क्षीरोदकवद् बन्धः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. १०-२); बध्यते येन रज्ज्वादिना स बन्धः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. १०-६)। ९. तस्य (कर्मणः) बन्धो विशिष्टरचनयाऽऽत्मनि स्थापनं तेन वा आत्मनो बन्धः स्वरूपतिरस्कारलक्षणः कर्मबन्धः। (आव. नि. हरि. वृ. ११०८)। १०. ××× बन्धो जीवस्य कर्मणः। अन्योऽन्यानुगमात्मा तु यः सम्बन्धो द्वयोरपि ॥ (षड्द. स. ५१, पृ. १८०)। ११. कषायाः क्रोधादयः, सह कषायैः सकषायः, तद्भावः [सकषायत्वम्] तस्मात् सकषायत्वाज्जीवो योग्यानुचितान् कर्मणः ज्ञानावरणादेः पुद्गलान् परमाणून्, लात्यादत्ते गृह्णातीत्यनर्थान्तरम्, स बन्धः। योऽसौ तथा स्थित्वा त्वादानविशेषः स बन्ध इत्युच्यते। (श्रा. प्र. टी. ८०)। १२. कषायकलुषो ह्यात्मा कर्मणो योग्यपुद्गलान्। प्रतिक्षणमुपादत्ते स बन्धो नैकधः मतः ॥ (ह. पु. ५८-२०२)। १३. जीव-कम्माणं मिच्छत्तासंजम-कषाय-जोगेहि एयत्तपरिणामो बंधो। उत्तं च—बंधेण य संजोगो पोग्गलदव्वेण होइ जीवस्स। बंधो पुण विण्णेओ × ×× ॥ (धव. पु. ८, पृ. २-३); बंधो णाम दुभावपरिहारेण एयत्तावत्ती। (धव. पु. १३, पृ. ७); बन्धनं बन्धः, बध्यतेऽनेनास्मिन्निति वा बन्धः। (धव. पु. १३, पृ. ३४७); जीव-कम्माणं समवाओ बंधो णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३५२); बंधो बंधणं, तेण बंधो सिद्धो। बध्नातीति बन्धनः, तदो बंधगाणं गहणं। बध्यते इति कर्मसाधने समाश्रीयमाणे बंधणिज्जस्स गहणं। बध्यते अनेनेति करणसाधने शब्दनिप्पत्ती सत्तां बन्धविधानोपलब्धिः। तेण बंधणस्स चउव्विहा चेव कम्मविभासा होदि। दव्वस्स दव्वेण दव्व-भावाणं वा जो संजोगो समवाओ वा सो बंधो णाम। (धव. पु. १४, पृ. १-२)। १४. कम्मइयवग्गणादो आवूरियसव्वलोगादो मिच्छत्तासंजम-कसाय-जोगवसेण लोगमेत्तजीवपदेसेसु अक्कमेण आगंतूण सबंध[संबद्धा]कम्मक्खंधा अणंताणंतपरमाणुसमुदयसमागमसमुप्पण्णा कम्मपज्जाएण परिणयपढमसमए बंधववएसं पडिवज्जंति। (जयध. १, पृ. २९१)। १५. कर्मणो योग्यानां सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनामनन्तानामादानादात्मनः कषायार्द्रीकृतस्य प्रतिप्रदेशं तदुपश्लेषो बन्धः, स एव बन्धो नान्यः संयोगमात्रं स्वगुणविशेषसमवायो वेति तात्पर्यार्थः। (त. श्लो. ८-२)। १६. बंधो नाम यदाऽऽत्मा राग-द्वेष-स्नेहलेशावलीढसकलात्मप्रदेशो भवति तदा तेष्वेवाकाशदेशेष्ववगाढस्तेष्वेवावस्थितान् कार्मणविग्रहयोग्याननेकरूपान् पुद्गलान् स्कन्धीभूतानाहारवदात्मनि परिणामयति सम्बन्धयतीति स्वात्मा ततस्तानध्यवसायविशेषाज्ज्ञानादीनां गुणानामावरणतया विभजते हंसः क्षीरोदके यथा, वा यथा आहारकाले परिणतिविशेषक्रमविशेषादाहृतो रस-खलतया परिणतिमानयत्यनाभोगवीर्यसामर्थ्यात् एवमिहाप्यध्यवसायविशेषात् किञ्चिद् ज्ञानावरणीयतया किञ्चिद् दर्शनाच्छादकत्वेनापरं सुख-दुःखानुभवयोग्यतया परं

फिरिक्की—देखो गिल्ली। चुंदेण वट्टुलागारेण घडिदणेमि-तुंबाधारसरलट्ठकट्ठा फिरिक्की णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३८)।

गोल चुंद से सम्बद्ध नेमि (पहिये का घेरा) और तुम्ब (गाड़ी का मध्य) की आधारभूत सीधी आठ लकड़ियों से युक्त गाड़ी को फिरक्की कहा जाता है। इसका दूसरा नाम गिल्ली भी है।

बकुश—१. नैर्ग्रन्थ्यं प्रति स्थिता अखण्डितव्रताः शरीरोपकरणविभूषानुवर्तिनोऽविविक्तपरिवारा मोह-शवलयुक्ता बकुशाः। शवलपर्यायवाची बकुशशब्दः। (स. सि. ९–४६)। २. नैर्ग्रन्थ्यं प्रति प्रस्थिताः शरीरोपकरणविभूषानुवर्तिनः ऋद्धि-यशस्कामाः सात-गौरवाश्रिता अविविक्तपरिवाराः छेदशवलयुक्ताः निर्ग्रन्था बकुशाः। (त. भा. ९–४८)। ३. अख-ण्डितव्रताः कायभूषोपकरणानुगाः। अविविक्तपरि-वाराः शवला बकुशाः स्मृताः॥ बकुशः सोपकरणो बहूपकरणप्रियः। शरीरबकुशः कायसंस्कारं प्रति-सेवते॥ (ह. पु. ६४–६० व ७२)। ४. अखण्डित-व्रताः शरीरसंस्कारर्द्धि-सुख-यशोविभूतिप्रवणा बकु-शाः। नैर्ग्रन्थ्यं प्रस्थिताः अखण्डितव्रताः शरीरोप-करणविभूषानुवर्तिनः ऋद्धि-यशस्कामाः सातगौरवा-श्रिताः अविविक्तपरिवाराः छेदशवलयुक्ताः बकुशाः। शवलपर्यायवाची बकुशशब्दः॥ (त. वा. ९, ४६, २)। ५. अखण्डितव्रताः शरीरसंस्कारर्द्धि-सुख-यशो-विभूतिप्रवणाः बकुशाः, छेदशवलयुक्तत्वात्। बकुश-शब्दो हि शवलपर्यायवाचीह। (त. श्लो. ९–४६)। ६. नैर्ग्रन्थ्यमुपस्थिता अखण्डितव्रताः शरीरोपकरण-विभूषणानुवर्तिनो वृद्धि-यशःकामाः सातगौरवाश्रिता अविविक्तपरदाराश्च[परिवाराश्च] छेदशवलयुक्ता बकुशाः। शवलपर्यायवाची बकुशशब्द इति। (चा. सा. पृ. ४५)। ७. उवगरण-देहचोक्खा रिद्धी-जसगा-रवा सिया निच्चं। बहुसवलछेयजुत्ता णिग्गंथा बाउसा भणिया॥ (धर्मरत्नप्र. १३५, पृ. ८४ उद्.); बकुशाः शरीरोपकरणविभूषाकारिणः। (धर्मरत्नप्र. १३५, पृ. ८४)। ८. बकुशत्वं कश्मलचारित्रत्वम्। (जीतक. चू. वि. व्या. पृ. ४३)। ९. निर्ग्रन्थ-त्वे स्थिता अविध्वस्तव्रताः शरीरोपकरणर्द्धि-भूषण-यशःसुखविभूत्याकांक्षिणः अविविक्तपरिच्छिदानुमो-दनशवलयुक्ता ये ते बकुशाः उच्यन्ते। (त. वृत्ति श्रुत. ९–४६)। १०. बकुशः शुद्ध्यशुद्धिव्यतिकीर्ण-चरणः। (धर्मसं. मान. ३–५६, पृ. १५२)।

१ जो निर्ग्रन्थता (मुनिधर्म) पर आरूढ होकर अखण्डित रूपमें व्रतों का पालन करते हुए शरीर और उपकरणों की स्वच्छता का अनुसरण करते हैं तथा जिनका परिवार से मोह नहीं छूटा है वे साधु बकुश कहलाते हैं। बकुश शब्द का अर्थ अनेक वर्ण वाला होता है। तदनुसार अभिप्राय यह हुआ कि जो अनेक प्रकार के मोह से संयुक्त होते हुए विचित्र संयम वाले होते हैं, उन्हें बकुश मुनि जानना चाहिए। २ जो निर्ग्रन्थता के प्रति प्रस्थान कर चुके हैं—मुनिधर्म को स्वीकार कर चुके हैं, साथ ही शरीर और उपकरणों की सुन्दरता के अभिलाषी हैं, ऋद्धि एवं यश के इच्छुक हैं, सातगौरव—सुख-शीलता के आश्रित हैं; जांघों के घिसने, तेल आदि से शरीर का मार्जन करने व बालों को कैंची से काटे गये के समान रखने आदि रूप जिनका परि-वार संयम के प्रतिकूल है; तथा जो छेद प्रायश्चित्त के योग्य अतीचार जनित विचित्रता से युक्त होते हैं उन्हें बकुश कहा जाता है।

बद्धप्रलाप—भाषा बद्धप्रलापाख्या चतुर्वर्गविवर्जि-ता॥ (ह. पु. १०–९३)।

चतुर्वर्ग से रहित—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों के वर्णन से रहित—भाषा का नाम बद्धप्रलाप है।

बद्धरागवेदनीयपुद्गल — निर्वृत्तबन्धपरिणामाः सत्कर्मतया स्थिता जीवेनाऽऽत्मसात्कृता बद्धाः। (आव. नि. हरि. वृ. ९१८, पृ. ३८७)।

जो रागवेदनीयपुद्गल (कर्मद्रव्यराग) बन्ध परि-णाम को प्राप्त होकर सत्कर्मरूप से स्थित होते हुए जीव के द्वारा आत्मसात् कर लिए गये हैं—जीव के आत्मप्रदेशों से एकक्षेत्रावगाहरूप में सम्बद्ध हो चुके हैं—उन्हें बद्धरागवेदनीयपुद्गल कहा जाता है।

बद्धश्रुत— × × × बद्धं तु दुवालसंगनिद्दिट्ठं। (आव. नि. १०२०)।

गद्य-पद्यरूप बन्धन से बद्ध आचारादिरूप द्वादशांग श्रुत बद्धश्रुत कहलाता है। यह जीवभावकरण का एक भेद है।

बन्ध—देखो बन्धन। १. जं सुहमसुहमुदिण्णं भावं रत्तो करेदि जदि अप्पा। सो तेण हवदि बंधो

पोग्गलकम्मेण विविहेण ॥ (पंचा. का. १४७)। २. जीवो कसायजुत्तो जोगादो कम्मणो दु जे जोग्गा। गेण्हइ पोग्गलदव्वे बंधो सो होदि णायव्वो ॥ (मूला. १२-१८३)। ३. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः। (त. सू. ८, २)। ४. आत्मकर्मणोरन्योऽन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बन्धः। (स. सि. १-४); ××× अतो मिथ्यादर्शनाद्यावेशादार्द्रीकृतस्यात्मनः सर्वतो योगविशेषात् तेषां सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनामनन्तानन्तप्रदेशानां पुद्गलानां कर्मभावयोग्यानामविभागेनोपश्लेषो बन्ध इत्याख्यायते। (स. सि. ८-२; त. वा. ८, २, ८; मूला. वृ. १२-१८३)। ५. कम्मयदव्वेहिं समं संजोगो होइ जो उ जीवस्स। सो बंधो नायव्वो ××× ॥ (आचारा. नि. २६०, पृ. २६६)। ६. बध्यतेऽनेन बन्धनमात्रं वा बन्धः। बध्यते येन अस्वतंत्रीक्रियते येन, अस्वतंत्रीकरणमात्रं वा बन्धः। (त. वा. १, ४, १०); आत्मकर्मणोरन्योऽन्यप्रदेशानुप्रवेशलक्षणो बन्धः। मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययोपनीतानां कर्मप्रदेशानात्मप्रदेशानां च परस्परानुप्रवेशलक्षणो बन्धः। (त. वा. १, ४, १७); अतस्तदुपश्लेषो बन्धः। (त. वा. ८, २, ८)। ७. चेतनस्य हीनस्थानप्रापणं बन्धः। (प्रमाणसं. स्वो. वृ. ६६)। ८. बन्धः कर्मणो योगः। (त. भा. हरि. वृ. १-३); आश्रवैरात्तस्य कर्मणः आत्मना संयोगो बन्धः। (त. भा. हरि. वृ. १-४); बन्धनं बन्धः परस्पराश्लेषः। (त. भा. हरि. वृ. ५-२४); बन्धः कर्मवर्गणायोग्यस्कन्धानामात्मप्रदेशानां चान्योऽन्यानुगतिलक्षणः क्षीरोदकादेरिव सम्पर्को बन्धः। (त. भा. हरि. वृ. ८-१); आत्मप्रदेशानां कर्मपुद्गलानां चान्योऽन्यानुगतिलक्षणः क्षीरोदकवद् बन्धः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. १०-२); बध्यते येन रज्ज्वादिना स बन्धः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. १०-६)। ९. तस्य (कर्मणः) बन्धो विशिष्टरचनयाऽऽत्मनि स्थापनं तेन वा आत्मनो बन्धः स्वरूपतिरस्कारलक्षणः कर्मबन्धः। (आव. नि. हरि. वृ. ११०८)। १०. ××× बन्धो जीवस्य कर्मणः। अन्योऽन्यानुगमात्मा तु यः सम्बन्धो द्वयोरपि ॥ (षड्द. स. ५१, पृ. १८०)। ११. कषायाः क्रोधादयः, सह कषायैः सकषायः, तद्भावः [सकषायत्वम्] तस्मात् सकषायत्वाज्जीवो योग्यानुचितान् कर्मणः ज्ञानावरणादेः पुद्गलान् परमाणून्, लात्यादत्ते गृह्णातीत्यनर्थान्तरम्, स बन्धः। योऽसौ तथा स्थित्वा त्वादानविशेषः स बन्ध इत्युच्यते। (श्रा. प्र. टी. ८०)। १२. कषायकलुषो ह्यात्मा कर्मणो योग्यपुद्गलान्। प्रतिक्षणमुपादत्ते स बन्धो नैकधः मतः ॥ (ह. पु. ५८-२०२)। १३. जीव-कम्माणं मिच्छत्तासंजम-कषाय-जोगेहिं एयत्तपरिणामो बंधो। उत्तं च—बंधेण य संजोगो पोग्गलदव्वेण होइ जीवस्स। बंधो पुण विण्णेओ ××× ॥ (धव. पु. ८, पृ. २-३); बंधो णाम दुभावपरिहारेण एयत्तावत्ती। (धव. पु. १३, पृ. ७); बन्धनं बन्धः, बध्यतेऽनेनास्मिन्निति वा बन्धः। (धव. पु. १३, पृ. ३४७); जीव-कम्माणं समवाओ बंधो णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३५२); बंधो बंधणं, तेण बंधो सिद्धो। बध्नातीति बन्धनः, तदो बंधगाणं गहणं। बध्यते इति कर्मसाधने समाश्रीयमाणे बंधणिज्जस्स गहणं। बध्यते अनेनेति करणसाधने शब्दनिप्पत्ती सत्यां बन्धविधानोपलद्धिः। तेण बंधणस्स चउव्विहा चेव कम्मविभासा होदि। दव्वस्स दव्वेण दव्व-भावाणं वा जो संजोगो समवाओ वा सो बंधो णाम। (धव. पु. १४, पृ. १-२)। १४. कम्मइयवग्गणादो आवूरियसव्वलोगादो मिच्छत्तासंजम-कसाय-जोगवसेण लोगमेत्तजीवपदेसेसु अक्कमेण आगंतूण सबंध[संबद्धा]कम्मक्खंधा अणंताणंतपरमाणुसमुदयसमागममुप्पण्णा कम्मपज्जाएण परिणयपढमसमए बंधववएसं पडिवज्जंति। (जयध. १, पृ. २९१)। १५. कर्मणो योग्यानां सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनामनन्तानामादानादात्मनः कषायार्द्रीकृतस्य प्रतिप्रदेशं तदुपश्लेषो बन्धः, स एव बन्धो नान्यः संयोगमात्रं स्वगुणविशेषसमवायो वेति तात्पर्यार्थः। (त. श्लो. ८-२)। १६. बंधो नाम यदाऽऽत्मा राग-द्वेष-स्नेहलेशावलीढसकलात्मप्रदेशो भवति तदा तेष्वेवाकाशदेशेष्ववगाढस्तेष्वेवावस्थितान् कार्मणविग्रहयोग्याननेकरूपान् पुद्गलान् स्कन्धीभूतानाहारयदात्मनि परिणामयति सम्बन्धयतीति स्वात्मा ततस्तानध्यवसायविशेषाज्ज्ञानादीनां गुणानामावरणतया विभजते हंसः क्षीरोदके यथा, वा यथा आहारकाले परिणतिविशेषक्रमविशेषादाहर्ता रस-खलतया परिणतिमानयत्यनाभोगवीर्यसामर्थ्यात् एवमिहाप्यध्यवसायविशेषात् किञ्चिद् ज्ञानावरणीयतया किञ्चिद् दर्शनाच्छादकत्वेनापरं सुख-दुःखानुभवयोग्यतया परं

च दर्शन-चरणव्यामोहकारितयाऽन्यन्नारक-तिर्यग्मनुष्यामरायुष्केनान्यद् गति-शरीराद्याकारेणाऽपरमुच्चनीचगोत्रानुभावेनाऽन्यद् दानाद्यन्तरायकारितया व्यवस्थापयति । (त. भा. सिद्ध. वृ. १–३); बन्धो नाम तैः (शुभाशुभकर्मादानहेतुभिः) आस्रवैर्हेतुभिरात्तस्य कर्मणः आत्मना सह संयोगः प्रकृत्यादिविशेषितः । ××× बन्धस्तु कर्म पुद्गलात्मकमात्मप्रदेशसंश्लिष्टम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. १–४); ××× बन्धः पुनरन्योऽन्याङ्गाङ्गिभावपरिणामः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ५–२६, पृ. ३६८); बन्धनं बन्धः परस्पराश्लेषः प्रदेशपुद्गलानां क्षीरोदकवद् प्रकृत्यादिभेदः बध्यते वा येनाऽऽत्मा अस्वातंत्र्यमापद्यते ज्ञानावरणादिना स बन्धः पुद्गलपरिणामः । ××× आत्मप्रदेशानां पुद्गलानां चान्योन्यानुगतिलक्षण एव बन्धो भवति । (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–३) । १७. बध्यन्ते अस्वतंत्रीक्रियन्ते कार्मणद्रव्याणि येन परिणामेन आत्मनः स बन्धः, अथवा बध्यते परवशतामापद्यते आत्मा येन स्थितिपरिणतेन कर्मणा तत्कर्म बन्धः । (भ. आ. विजयो. व मूला. ३८) । १८. यज्जीवः सकषायत्वात् कर्मणो योग्यपुद्गलान् । आदत्ते सर्वतो योगात् स बन्धः कथितो जिनैः ॥ (त. सा. ५–१३) । १९. मोह-राग-द्वेषस्निग्धपरिणामो जीवस्य, तन्निमित्तेन कर्मत्वपरिणतानां जीवेन सहान्योऽन्यसम्मूर्च्छनं पुद्गलानां च बन्धः । (पंचा. का. अमृत. वृ. १०८); बन्धस्तु कर्मपुद्गलानां विशिष्टशक्तिपरिणामेनावस्थानम् । (पंचा. का. अमृत. वृ. १४८) । २०. तत्र बन्धः स हेतुभ्यो यः संश्लेषः परस्परम् । जीव-कर्मप्रदेशानां स प्रसिद्धश्चतुर्विधः ॥ (तत्त्वानु. ६) । २१. जीवकम्माण उहयं अण्णोण्णं जो पएसपवेसो हु । सो जिणवरेहिं बंधो भणिओ इय विगयमोहेहिं ॥ जीवपएसेक्केक्के कम्मपएसा हु अंतपरिहीणा । होंति घणा निविडभूया सो बंधो होइ णायव्वो ॥ (भावसं. ३२४–२५) । २२. अप्पपएसा मुत्ता पुग्गलसत्ती तहाविहा णेया । अण्णोण्णं मिल्लंता बंधो खलु होइ णिद्धाइ ॥ (द्रव्यस्व. प्र. नयच. पृ. ८८ उद्.) । २३. प्रकृति-स्थित्यनुभाव-प्रदेशात्मकतया कर्मपुद्गलानां जीवेन सव्यापारतः स्वीकरणम् । (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ५, १५, पृ. १२७) । २४. कम्माणं संबंधो बंधो ××× । (गो. क. ४३८) । २५. जो अण्णोण्णपवेसो जीवपएसाण कम्मखंधाणं । सव्वबंधाण वि लओ सो बंधो होदि जीवस्स ॥ (कार्तिके. २०३) । २६. बन्धः आत्मकर्मणोरत्यन्तसंश्लेषः । (उत्तरा. नि. शा. वृ. ४) । २७. सकषायतया जन्तोः कर्मयोग्यैर्निरन्तरम् । पुद्गलैः सह सम्बन्धो बन्ध इत्यभिधीयते ॥ (च. च. १८–९६) । २८. परस्परं प्रदेशानां प्रवेशो जीव-कर्मणोः । एकत्वकारको बन्धो रुक्म-काञ्चनयोरिव ॥ (पंचसं. अमित. ३–६, पृ. ५४) । २९. ये गृह्यन्ते पुद्गलाः कर्मयोग्याः क्रोधाद्याढ्यैश्चेतनैरेष बन्धः । (अमित. श्रा. ३–५४) । ३०. बन्धातीतशुद्धात्मोपलम्भभावनाच्युतजीवस्य कर्मप्रदेशैः सह संश्लेषो बन्धः । (बृ. द्रव्यसं. टी. २८) । ३१. अन्योऽन्यानुप्रवेशेन बन्धः कर्मात्मनो मतः । अनादिः सावसानश्च कालिका-स्वर्णयोरिव ॥ (उपासका. १११) । ३२. सकषायत्वाज्जीवस्य कर्मणो योग्यानां पुद्गलानां बन्धनम् आदानं बन्धः । (स्थाना. अभय. वृ. २९६; समवा. अभय. वृ. ४, पृ. ९) । ३३. बन्धो जीवस्य कर्मपुद्गलसंश्लेषः । (समवा. अभय. वृ. १, पृ. ५) । ३४. बध्यतेऽनेन बन्धनमात्रं वा बन्धो जीवकर्मप्रदेशान्योऽन्यसंश्लेषोऽस्वतंत्रीकरणम् । (मूला. वृ. ५–६) । ३५. अण्णोण्णाणुपवेसो जो जीवपएसकम्मखंधाणं । सो पयडि-ट्ठिदि-अणुभाव-पएसदो चउव्विहो बंधो ॥ (वसु. श्रा. ४१) । ३६. बन्धः कर्मणाऽस्वतंत्रीकरणम् । (आ. मी. वसु. वृ. ४०) । ३७. मिथ्यात्वादिभिर्बन्धहेतुभिरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवन्निरन्तरं पुद्गलनिचिते लोके कर्मयोग्यवर्गणापुद्गलैरात्मनो वह्न्ययःपिण्डवदन्योऽन्यानुगमपरिणामात्मकः सम्बन्धो बन्धः । (शतक. मल. हेम. वृ. ३, पृ. ६; षडशी. ह. वृ. १२) । ३८. मिथ्यात्वाविरति-प्रमाद-कषाय-योगलक्षणहेतुवशादुपार्जितेन कर्मणा सहात्मनः संश्लेषो बन्धः । (रत्नक. टी. २-५) । ३९. बन्धो नाम कर्मपुद्गलानां जीवप्रदेशैः सह वह्न्ययःपिण्डवदन्योऽन्यानुगमः । (कर्मप्र. मलय. वृ. ब. क. २, पृ. १८) । ४०. बन्धो हि जीव-कर्मसंयोगलक्षणः । (आव. नि. मलय. वृ. ६२०, पृ. ३२९) । ४१. ततस्तैः कर्मपुद्गलैः सहात्मनो वह्न्ययःपिण्डवदन्योऽन्यानुगमलक्षणः सम्बन्धो बन्धः । (षडशी. मलय. वृ. २, पृ. १२२; पंचसं. मलय. वृ. १–३, पृ. ४) । ४२. बन्धो मिथ्यात्वादिहेतुभ्यो जीवस्य

कर्मपुद्गलानां च वह्न्‍यय:पिण्डयोरिव नीर-क्षीरयोरिव वा परस्परमविभागपरिणामेनावस्थानम् । (धर्मसं. मलय. वृ. १६) । ४३. कर्मणां बन्धनाद् बन्धो ××× ॥ (विवेकवि. ८–२५२, पृ. १८८)। ४४. स बन्धो बध्यन्ते परिणतिविशेषेण विवशीक्रियन्ते कर्माणि प्रकृतिविदुषो येन यदि वा । स तत्कर्माम्नातो नयति पुरुषं यत्सुवशतां प्रदेशानां यो वा स भवति मिथः श्लेष उभयोः ॥ (अन. ध. २, ३८); ××× कर्मपुद्गलानां जीवप्रदेशवर्तिकर्मस्कन्धान् योगद्वारेणानुप्रविष्टानां कषायादिवशाद्विशिष्टशक्तिपरिणामेनावस्थानमित्यर्थः । (अन. ध. स्वो. टी. २–३८) । ४५. मिथ्यात्वादिभिर्बन्धहेतुभिरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवत् निरन्तरं पुद्गलनिचिते लोके कर्मयोग्यवर्गणापुद्गलैरात्मनो वह्न्‍यय:पिण्डवदन्योऽन्यानुगमाभेदात्मकः सम्बन्धो बन्धः । (कर्मस्त. गो. वृ. १, पृ. ६६) । ४६. बन्धः कर्मपुद्गलैः सह प्रतिप्रदेशमात्मनो वह्न्‍यय:पिण्डवद् अन्योऽन्यसंश्लेषः । (स्या. मं. म. वृ. २७) । ४७. मिथ्यात्वादिभिर्बन्धहेतुभिरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवद् निरन्तरं पुद्गलनिचिते लोके कर्मयोग्यवर्गणापुद्गलैरात्मनः क्षीर-नीरवद् वह्न्‍यय:पिण्डवद्वाऽन्योऽन्यानुगमाभेदात्मकः सम्बन्धो बन्धः । (कर्मस्त. दे. स्वो. वृ. १; षडशी. दे. स्वो. वृ.१; शतक. दे. स्वो. वृ. १); अभिनवकम्मग्गहणं बन्धो ××× । (कर्मस्त. दे. ३); मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभिरभिनवस्य नूतनस्य, कर्मणः ज्ञानावरणादेर्ग्रहणम् उपादानं बन्ध इत्युच्यते । (कर्मस्त. दे. स्वो. वृ. ३) । ४८. शुभाशुभानां ग्रहणं कर्मणां बन्ध इष्यते । (षड्द. स. रा. १५) । ४९. योगनिमित्तः सकषायस्यात्मनः कर्मवर्गणापुद्गलैः संश्लेषविशेषो बन्धः । (षड्द. स. वृ. ४७); बन्धः परस्पराश्लेषलक्षणः प्रयोग-विस्रसादिजनित औदारिकादिशरीरेषु जतु-काष्ठादिश्लेषवत् परमाणुसंयोगवद् वेति । (षड्द. स. वृ. ४६, पृ. १६६); तत्र बन्धः परस्पराश्लेषो जीवप्रदेश-पुद्गलानां क्षीर-नीरवत्, अथवा बध्यते येनात्मा पारतन्त्र्यमापद्यते ज्ञानावरणादिना सम्बन्धः[स बन्धः]पुद्गलपरिणामः । (षड्द. स. वृ. ५१, पृ. १८०) । ५०. मिथ्यात्वादिपरिणामैर्यत्पुद्गलद्रव्यं ज्ञानावरणादिरूपेण परिणमति तच्च ज्ञानादीन्यावृणोतीत्यादिसम्बन्धो बन्धः । (गो. क. जी. प्र. टी. ४३८) । ५१. जीव-कर्मणोरन्योन्यप्रदेशप्रवेशात्मको बन्धः । (आरा. सा. टी. ४) । ५२. आत्मनः कर्मणश्च परस्परप्रदेशानुप्रवेशस्वभावो बन्धः । (त. वृत्ति श्रुत. १–४); मिथ्यादर्शनादिभिरार्द्रीकृतस्य जीवस्य सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थितानामनन्तानन्तप्रदेशानां कर्मभावयोग्यानां जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यमुपश्लेषो बन्धः । (त. वृत्ति श्रुत. ८–२) । ५३. आत्मप्रदेशेषु आस्रवानन्तरं द्वितीयसमये कर्मपरमाणवः श्लिष्यन्ति स बन्धः । (भावप्रा. टी. ६५) । ५४. बन्धः परगुणाकारा क्रिया स्यात् पारिणामिकी । (पंचाध्या. २, १३०) । ५५. बन्धः कर्मात्मसंश्लेषः ××× । (अध्यात्मसार १८–१६६) ।

१ रागी जीव उदयप्राप्त जिस शुभ या अशुभ भाव को करता है व उसके आश्रय से जो अनेक प्रकार के पौद्गलिक कर्म से सम्बन्ध होता है उसका नाम बन्ध है । २ कषाय से संयुक्त प्राणी योग के आश्रय से कर्मरूप परिणत होने के योग्य जो पुद्गलों को ग्रहण करता है वह बन्ध कहलाता है । ५ जीव का जो कर्मद्रव्यों के साथ संयोग होता है उसे बन्ध जानना चाहिए ।

बन्ध (अतिचारविशेष)—१. अभिमतदेशगतिनिरोधहेतुर्बन्धः । (स. सि. ७–२५; त. श्लो. ७–२५) । २. अभिमतदेशगतिनिरोधहेतुर्बंधः । अभिमतदेशगमनं प्रत्युत्सुकस्य तत्प्रतिबन्धहेतुः कीलादिषु रज्ज्वादिभिर्व्यतिषंगो बन्ध इत्युच्यते । (त. वा. ७, २५, १) । ३. गतिरोधकरो बन्धः ××× । (ह. पु. ५८–१६) । ४. बन्धनं बन्धः संयमनं रज्जुदामनकादिभिः । (श्रा. प्र. टी. २५८) । ५. अभिमतदेशगमनं प्रत्युत्सुकस्य तत्प्रतिबन्धहेतोः कीलादिषु रज्ज्वादिभिर्व्यतिषंगो बन्धः । (चा. सा. पृ. ५) । ६. बन्धो रज्जु-दामनकादिना संयमनम् । (ध. बि. मु. वृ. ३–२३) । ७. अभिमतदेशे गतिनिरोधहेतुर्बन्धनम् । (रत्नक. टी. ३–८) । ८. बन्धो रज्ज्वादिना गो-मनुष्यादीनां नियन्त्रणम् । (सा. ध. स्वो. टी. ४–१५) । ९. उष्ट्र-गजादिधरणार्थमवष्टब्धगर्तमुखकीलितग्रन्थिविशिष्टवारी रज्जुरचनाविशेषो बन्धः । (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. ३०३) । १०. जनेष्टदेशगमनप्रतिबन्धकारणं बन्धनं बन्धः । (त. वृत्ति. श्रुत. ७–२५) । ११. बन्धो मात्राधिको गाढं दुःखदं शृंखलादिभिः । आततायी (?) प्रमा-

दाद्वा न कुर्याच्छ्रावकोत्तमः ॥ (लाटीसं. ५-२६४) । १२. (क्षुधः) बन्धो रज्ज्वादिना नियन्त्रणम् । (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. १-४३, पृ. १००) ।

१ अभीष्ट स्थान में जाने से रोकने में जो कारण है उसे बन्ध कहते हैं, वह अहिंसाणुव्रत का एक अतिचार है । ४ रस्सी अथवा सांकल आदि के द्वारा गाय व भैंस आदि को बांध कर जो नियंत्रित किया जाता है यह बन्ध नाम का एक अहिंसाणुव्रत का अतिचार है । ९ ऊंट और हाथी आदि के पकड़ने के लिये खोदे गये गड्ढे के मुख को ढकने के लिये जो रस्सियों की गांठों से विशिष्ट वारी—गजबन्धनी—बनायी जाती है उसे बन्ध कहा जाता है । इस प्रकार के बन्ध, यन्त्र व पिंजरा आदि विषयक ज्ञान को मिथ्याज्ञान जानना चाहिए ।

बन्धक—बन्धस्स दव्व-भावभेदभिण्णस्स जे कत्तारा ते बंधया णाम । (धव. पु. १४, पृ. २) ।

द्रव्य और भाव के भेद से दो भेदों में विभक्त बन्ध के जो कर्ता हैं उन्हें बन्धक कहा जाता है ।

बन्धकाद्धा—१. करणाइए अपुव्वो जो बन्धो सो न होइ जा अन्नो । बंधगद्धा सा तुल्लिगा उ ठिइकंडगद्धाए ॥ (पंचसं. उप. क. १५); अपूर्वकरणस्यादौ यो बन्धः प्रारब्धः यावदन्यो न भवति, प्रारब्धं समाप्ति न नयति यावता कालेन सा बन्धकाद्धोच्यते, सा च तुल्या स्थितिघातकालेन । (पंचसं. उप. क. स्वो. वृ. १५)। २. अपूर्वकरणस्यादौ प्रथमसमये यो बन्धः प्रारब्धः स बन्धकाद्धा उच्यते । × × × इदमुक्तं भवति—स्थितिघात-स्थितिबन्धौ युगपदारभ्येते, युगपदेव च निष्ठां यात इति । (पंचसं. मलय. वृ. उप. क. १५) ।

१ अपूर्वकरण के आदि में—प्रथम समय में—जो बन्ध प्रारम्भ किया गया है, जब तक अन्य बन्ध नहीं होता है—प्रारम्भ किया हुआ बन्ध समाप्त नहीं होता है—उतने काल को बन्धकाद्धा कहा जाता है । वह स्थितिकाण्डककाल के समान है ।

बन्धन—देखो बन्ध । १. बन्धनं संयमनं रज्जु-निगडादिभिः । (ध्यानश. हरि. वृ. १९)। २. बन्धनं तस्यैव ज्ञानावरणीयादितया निषिक्तस्य पुनरपि कषायपरिणतिविशेषान्निकाचनमिति । (स्थानां. अभय. वृ. ४, १, २५०); बन्धनं कर्मपुद्गलानां जीवप्रदेशानां च परस्परं सम्बन्धनम् । × × × आसकलितावस्थस्य वा कर्मणो बद्धावस्थीकरणं बन्धनम् । (स्थाना. अभय. वृ. ४, २, २९६) । ३. बन्धनं नाम—ज्ञानावरणीयादिकर्मपुद्गलानां यथोक्तप्रकारेण स्व-स्वाबाधाकालोत्तरकालं निषिक्तानां यद् भूयः कषायपरिणतिविशेषान्निकाचनम् । (प्रज्ञाप. १४-१९०); तथा बध्यतेऽनेनेति बन्धनम्, यदौदारिकपुद्गलानां गृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्पर तैजसादिपुद्गलैर्वा सह सम्बन्धजनकं तद् बन्धनं नाम । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७०) । ४. बध्यतेऽष्टप्रकारं कर्म येन तद्बन्धनम् । (कर्मप्र. मलय. वृ. बं. क. २, पृ. १९) । ५. बध्यते अष्टप्रकारं कर्म येन वीर्यविशेषेण तद् बन्धनम् । (पंचसं. मलय. वृ. १) ।

१ रस्सी अथवा सांकल आदि के द्वारा परतंत्र करना, इसका नाम बन्धन है । २ ज्ञानावरणादिरूप से निषिक्त—निषेकरूपता को प्राप्त—उसी कर्म-दलिक का जो कषायपरिणाम की विशेषता से फिर से भी निविडबन्ध होता है, उसका नाम बन्धन है ।

बन्धनकरण—देखो बन्ध । बंधणकरणं ति बन्धनक्रिया—पगति-ठिति-अणुभाग-पएसतया पुग्गलाण परिणामक्रिया तब्भावेण तं बन्धनकरणं जोगकसाए-हिंसा बंधणक्रिया भवति । × × × तत्थ 'बंधण-करणं' ति कम्मपोग्गलाण जीवप्पतेसाण य परोप्परं संबंधणं बंधणकरणं । (कर्मप्र. चू. १-२, पृ. १८) । पुद्गलों की प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप से परिणमाने की जो क्रिया है, उसे बन्धनकरण कहते हैं । यह कर्मप्रकृतिग्रन्थगत आठ करणों में प्रथम है ।

बन्धनगुण—पोग्गलाणं जेण गुणेण परोप्परं बंधो होदि सो बंधणगुणो णाम । (धव. पु. १४, पृ. ४३५) ।

जिस गुण के द्वारा पुद्गलों का परस्पर में बन्ध होता है वह बन्धनगुण कहलाता है ।

बन्धननाम—१. शरीरनामकर्मोदयवशादुपात्तानां पुद्गलानामन्योऽन्यप्रदेशसंश्लेषणं यतो भवति तद् बन्धननाम । (स. सि. ८-११) । २. सत्यां प्राप्तौ निर्मितानामपि शरीराणां बन्धकं बन्धननाम, अन्यथा वालुकापुरुषवदबद्धानि शरीराणि स्युः । (त. भा.

८–१२)। ३. शरीरनामकर्मोदयोपात्तानां यतोऽन्योऽन्यसंश्लेषणं तद् बन्धनम्। शरीरनामकर्मोदयवशादुपात्तानां पुद्गलानामन्योऽन्यसंश्लेषणं यतो भवति तद् बन्धनमित्याख्यायते। (त. वा. ८, ११, ६)। ४. शरीरनामकर्मोदयात् गृहीतेषु गृह्यमाणेषु वा तद्योग्यपुद्गलेष्वात्मप्रदेशस्थितेषु शरीराकारेण परिणामितेष्वपि परस्परमवियोगलक्षणं बन्धननाम। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८–१२)। ५. बन्धननाम यत्सर्वात्मप्रदेशैर्गृहीतानां गृह्यमाणानां च पुद्गलानां सम्बन्धजनकं अन्यशरीरपुद्गलैर्वा जतुकल्पमिति। (श्रा. प्र. टी. २०)। ६. कर्मोदयवशोपात्तपुद्गलान्योऽन्यबन्धनम्। शरीरेषूदयाद्यस्य भवेद् बन्धननाम तत्॥ (ह. पु. ५८–२५०)। ७. शरीरनामकर्मोदयोपात्तानां यतोऽन्योन्यसंश्लेषणं तद् बन्धननाम। (त. इलो. ८–११)। ८. एतेषां च पुद्गलानामौदारिकादिशरीरनाम्नः सामर्थ्याद् गृहीतानां संघातनामसामर्थ्यादन्योऽन्यसन्निधानेन संघातितानामन्योऽन्यसंश्लेषकारि बन्धननाम। (शतक. मल. हेम. वृ. ३८, पृ. ४८)। ९. बन्धननाम यत्सर्वात्मप्रदेशैर्गृहीतानां गृह्यमाणानां च पुद्गलानामन्योऽन्यशरीरैर्वा सम्बन्धजनकं जतुकल्पम्। (धर्मसं. मलय. वृ. ६१७)। १०. बध्यतेऽनेनेति बन्धनम्—औदारिकादिपुद्गलानां गृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परसंश्लेषकारि। (प्रव. सारो. वृ. १२७४)। ११. बध्यत इति बन्धनमौदारिकबन्धनादि, तद्येन कर्मणा क्रियते तदौदारिक(कादि)बन्धनं नाम भवति। (कर्मवि. ग. पू. व्या. ७१)। १२. औदारिकादिशरीरनामकर्मोदयवशादुपात्तानां पुद्गलानामन्योन्यप्रदेशसंश्लेषणं यतो भवति तद् बन्धनं नाम। (भ. आ. मूला. २१२४)। १३. शरीरनामकर्मोदयवशात् उपात्तानामाहारवर्गणायातपुद्गलस्कन्धानाम् अन्योन्यप्रदेशसंश्लेषणं यतो भवति तद् बन्धनं नाम। (गो. क. जी. प्र. ३३)। १४. बध्यन्ते—गृह्यमाणपुद्गलाः पूर्वगृहीतपुद्गलैः सह श्लिष्टाः क्रियन्ते—येन तद् बन्धनम्, तदेव नाम बन्धनं नाम। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. २४)। १५. शरीरनामकर्मोदयाद् गृहीतानां पुद्गलानां परस्परं प्रदेशसंश्लेषणं बन्धनम्। (त. वृत्ति श्रुत. ८–११)।

१ शरीरनामकर्म के उदय से प्राप्त पुद्गलों के प्रदेशों का परस्पर में सम्बन्ध (एकरूपता) जिस कर्म के आश्रय से होता है उसे बन्धननामकर्म कहते हैं। ४ शरीरनामकर्म के उदय से गृहीत और गृह्यमाण शरीरयोग्य पुद्गलों के शरीराकार परिणत हो जाने पर भी जिस कर्म के उदय से उनका वियोग नहीं होता है उसका नाम बन्धन है। इस प्रकार का यदि बन्धन न हो तो वालु के पुरुष के समान वे पुद्गल सम्बन्ध से रहित होकर बिखर जाएंगे।

बन्धविमोचनगति—जण्णं अंबाण वा अंबाडगाण वा माउलुंगाण वा बिल्लाण वा कविट्ठाण वा [भव्वाण वा] फणसाण वा दालिमाण वा पारेवताण वा अक्खोलाण वा चाराण वा बोराण वा तिंदुयाण वा पक्काणं परियागयाण बंधणातो विप्पमुक्काणं णिव्वाघातेणं अहे वीससाए गती पवत्तइ, से तं बंधणविमोयणगती। (प्रज्ञाप. २०५, पृ. ३२८)।

आम, आंवला, बिजौरा, बेल, कैथ, कटहल, अनार, पारापत, अखरोट, अचार (चिरौंजी), बेर अथवा तेंदू आदि पर्यायगत पके हुए फलों की बन्धनमुक्त होकर बिना किसी व्याघात के स्वभाव से जो नीचे की ओर गति होती है वह बन्धनविमोचन गति कहलाती है।

बन्धनीय—बन्धणिज्जं णाम अहियारो तेवीसवग्गणाहि बंधजोग्गमबंधजोग्गं च पोग्गलदव्वं परूवेदि। (धव. पु. ८, पृ. २); बंधपाओग्गपोग्गलदव्वं बंधणिज्जं णाम। (धव. पु. १४, पृ. २); जीवादो पुधभूदा कम्म-णोकम्मबंधपाओग्गखंधा बंधणिज्जा णाम। (धव. पु. १४, पृ. ४८)।

महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के कृति-वेदनादिरूप चौबीस अनुयोगद्वारों में छठा बन्धन नाम का अनुयोगद्वार है। वह बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान के भेद से चार प्रकार का है। उनमें से प्रकृत बन्धनीय अनुयोगद्वार में बन्ध के योग्य व अयोग्य पुद्गल द्रव्य की प्ररूपणा तेईस वर्गणाओं के द्वारा की जाती है। जीव से पृथग्भूत कर्म-नोकर्मबन्ध के योग्य पुद्गल स्कन्धों को बन्धनीय कहा जाता है।

बन्धविधान — पयडि-ट्ठिदि- अणुभाग-पदेसभेदभिण्णा बंधवियप्पा बंधविहाणं णाम। (धव. पु. १४, पृ. २)।

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से भेद

को प्राप्त बन्ध के विकल्पों का नाम बन्धविधान है।

बन्धस्थान—एगजीवम्मि एक्कम्हि समए जो दीसदि कम्माणुभागो तं ठाणं णाम। ××× तत्थ जं बंधेण णिप्फण्णं तं बंधट्ठाणं णाम। पुव्वबंधाणुभागे घादिज्जमाणे जं बंधाणुभागेण सरिसं होदूण पददि तं पि बंधट्ठाणं चेव, तस्सरिसअणुभागबंधुवलंभादो। (धव. पु. १२, पृ. १११-११२)।

एक जीव के एक समय में जो अनुभाग दिखता है उसका नाम स्थान है। बन्ध से जो स्थान निर्मित होता है वह बन्धस्थान कहलाता है। पूर्वबद्ध अनुभाग का घात करते समय जो बन्धानुभाग के समान स्थान होता है उसे भी बन्धस्थान ही कहा जाता है।

बन्धोत्कृष्ट—यासां उत्तरप्रकृतीनां 'मूलपगईणं' ति मूलप्रकृतीनामनुसारेण 'बंधनिमित्तो' बन्धहेतुकः उत्कृष्टो बन्धः—स्थितिबन्धो भवति ता बन्धोत्कृष्टाः। इदमुक्तं भवति—यावती मूलप्रकृतीनां उत्कृष्टस्थितिरभिहिता तावत्येव यासामुत्तरप्रकृतीनां बन्धनिमित्ता उत्कृष्टा स्थितिर्भवति ता बन्धोत्कृष्टाः। (पंचसं. मलय. वृ. सं. क. ३६)।

मूल प्रकृतियों की जितनी उत्कृष्ट स्थिति बतलाई गई है उतनी ही जिन उत्तर प्रकृतियों की बन्धनिमित्तक उत्कृष्ट स्थिति होती है उन्हें बन्धोत्कृष्ट प्रकृति कहते हैं।

बल—१. द्रविणदान-प्रियभाषणाभ्यामरातिनिवारणेन यद्धि हितं स्वामिनं सर्वावस्थासु बलते संवृणोतीति बलम्। (नीतिवा. २२-१, पृ. २०७)। २. बलं जम्बूद्वीपपरावर्तनलक्षणं सत्त्वं प्रतीन्द्रादिकं देवसैन्यम् अतिमनोहरं रूपं वा विद्यतेऽस्येति बलः॥ (त्रि. सा. टी. १)। ३. ××× तथा च शुक्रः—धनेन प्रियसंभाषैर्यतश्चैव पुराजितम्। आपद्भ्यः स्वामिनं रक्षेत्ततो बलमिति स्मृतम्। (नीतिवा. टी. २२-१ उद्.)।

१ धनदान और प्रियभाषण के द्वारा जो शत्रु का निवारण करते हुए सभी अवस्थाओं में स्वामी को बल प्रदान करता है—उसका हित करता है—उसका नाम बल (सैन्य) है। २ जम्बूद्वीप के परावर्तनरूप बल, प्रतीन्द्रादिरूप सैन्यबल अथवा अतिशय मनोहर रूप बल जिसके है उस इन्द्र को बल कहा जाता है।

बलमानवशार्तमरण—वृक्ष-पर्वताद्युत्पाटनक्षमोऽहं योधवानहं मित्राणां च बलं ममास्ति इति बलाभिमानोद्वहनान्मानवशार्तमरणम्। (भ. आ. विजयो. २५)।

मैं वृक्ष और पर्वत आदि के उखाड़ने में समर्थ व सुभट हूं तथा मेरे पास मित्रों का भी बल है, इस प्रकार बल के अभिमानपूर्वक जो मरण होता है वह बलमानवशार्तमरण कहलाता है।

बलवाहनकथा—बलं हस्त्यादि, वाहनं वेगसरादि, तत्कथा बलवाहनकथा। यथा—हेसंतहयं गज्जंतमयगलं घणघणंतरहलक्खं। कस्सऽन्नस्स वि सेन्नं णिन्नासियसत्तुसिन्नं भो॥ (स्थना. अभय. वृ. २८२, पृ. २००)।

हाथी आदि का नाम बल और वेगसर आदि का नाम वाहन है, इनकी चर्चा को बल-वाहनकथा कहा जाता है।

बलिशेषदोष—१. जक्खय-णागादीणं बलिसेसं स बलित्ति पण्णत्तं। संजदआगमणट्ठं बलियम्मं वा बलिं जाणे॥ (मूला. ६-१२)। २. यक्षादिबलिशेषोऽर्चासावद्यं वा यतो बलिः। (अन. ध. ५, १२)। ३. यक्ष-नाग-मातृका-कुलदेवताद्यर्थं कृतं गृहं तेभ्यश्च यथास्वं दत्तं तद्वृत्तावशिष्टं यतिभ्यो दीयमानं बलिरित्युच्यते। (भ. आ. मूला. २३०)। ४. यक्षादीनां बलिदानोद्धृतमन्नं बलिरुच्यते, अथवा संयतागमनार्थं बलिकरणं बलिः। (भावप्रा. टी. ९९)।

यक्ष व नाग आदि के लिए जो बलि (उपहार) दी गई है उससे शेष रहे भाग को मुनि के लिए देना, यह बलिशेषनामक उत्पादनदोष माना गया है। अथवा साधुओं के आगमनार्थ किये जाने वाले बलिकर्म को—पूजा आदि को—बलिदोष जानना चाहिए।

बहिरङ्गच्छेद—परप्राणव्यपरोपो बहिरङ्गः(छेदः)॥ (प्रव. सा. अमृ. वृ. ३-१७)।

दूसरों के प्राणों का विघात करना, इसे बहिरंगच्छेद कहा जाता है।

बहिरङ्ग धर्मध्यान—पञ्चपरमेष्ठिभक्त्यादि-तदनुकूलशुभानुष्ठानं पुनर्बहिरङ्गधर्मध्यानम्। (बृ. द्रव्यसं. टी. ४८, पृ. १८५)।

पांच परमेष्ठियों की भक्ति आदि के साथ उनके अनुकूल उत्तम आचरण का नाम बहिरंग धर्मध्यान है।

बहिरात्मा—१. अंतर-बाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा। (नि. सा. १५०)। २. देह कलत्तं पुत्तं मित्ताइ विहावचेदणारूवं। अप्पसरूवं भावइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा॥ इंदियविसयसुहाइसु मूढमई रमइ ण लहइ तच्चं। बहुदुक्खमिदि ण चिंतइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा॥ जं जं अक्खाण सुहं तं तं तिव्वं करेइ बहुदुक्खं। अप्पाणमिदि ण चिंतइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा॥ (रयणसार १३७–३९)। ३. बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिः × × ×। (समाधि. ५)। ४. देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढु हवेइ॥ (परमा. १–१३)। ५. मिच्छा-दंसणमोहियउ परु अप्पा ण मुणेइ। सो बहिरप्पा जिणभणिउ पुण संसार भमेइ॥ (योगसार ७)। ६. मिच्छत्तपरिणदप्पा तिव्वकसाएण सुट्ठु आविट्ठो। जीवं देहं एक्कं मण्णंतो होदि बहिरप्पा॥ (कार्तिके. १९३)। ७. आत्मबुद्धिः शरीरादौ यस्य स्यादात्म-विभ्रमात्। बहिरात्मा स विज्ञेयो मोह-निद्रास्तचेत-नः॥ (ज्ञाना. ३२–६, पृ. ३१७)। ८. बहिरात्मा-ऽऽत्मविभ्रान्तिः शरीरे मुग्धचेतसः। (अमित. श्रा. १५–५८)। ९. स्वशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नवास्तव-सुखात्प्रतिपक्षभूतेन्द्रियसुखेनासक्तो बहिरात्मा। (बृ. द्रव्यसं. टी. १४)। १०. मय-मोह-माणसहिओ राय-द्दोसेहिं णिच्चसंतत्तो। विसयेसु तहा गिद्धो बहि-रप्पा भण्णए एसो॥ (ज्ञा. सा. ३०)। ११. आत्म-धिया समुपात्तः कायादिः कीर्त्यतेऽत्र बहिरात्मा। (योगशा. १२–७)। १२. हेयोपादेयवैकल्यान्न च वेत्त्यहितं हितम्। निमग्नो विषयाक्षेपु बहिरात्मा विमूढधीः॥ (भावसं. वाम. ३५३)। १३. बहि-र्द्रव्यविषये शरीर-पुत्र-कलत्रादिचेतनाचेतनरूपे आत्मा येषां ते बहिरात्मानः। (कार्तिके. टी. १९२)। १४. विषय-कषायावेशः तत्त्वाश्रद्धा गुणेषु च दोषः। आत्माज्ञानं च यदा बाह्यात्मा स्यात्तदा व्यक्तः॥ (अध्यात्मसार २०–२२)। १५. यस्य देह-मनोवच-नादिषु आत्मत्वभास देह एवात्मा एवं सर्वपौद्ग-लिकप्रवर्तनेषु आत्मनिष्ठेषु आत्मत्वबुद्धिः स बाह्या-त्मा। (ज्ञा. सा. वृ. १५–२, पृ. ५३)।

१ जो स्वाध्याय, प्रत्याख्यान एवं स्तवनादिविषयक बाह्य जल्प (कथन) तथा अनशनादिविषयक सत्-कारादि का इच्छुक होकर अभ्यन्तर जल्प में मन को लगाता है उसे बहिरात्मा कहते हैं। २ जो शरीर, स्त्री, पुत्र, मित्रादि एवं विभावचेतनारूप—राग-द्वेषादिरूप विभावपरिणति—को आत्मस्वरूप मानता है; इन्द्रियविषयजनित सुखादिक में मूढ़-बुद्धि होकर रमता है व वस्तुस्वरूप को नहीं प्राप्त करता हुआ 'यह सब अतिशय कष्टदायक है' ऐसा विचार नहीं करता है; तथा जो कुछ भी इन्द्रियों का सुख है, वह आत्मा को बहुत दुख देने वाला है; यह भी विचार नहीं करता है उसे बहिरात्मा जानना चाहिए। १४ विषय-कषायों में संलग्न रहना, जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान न करना, गुणों में द्वेष करना और आत्मस्वरूप को न जानना; ये बहिरात्मा के लक्षण हैं।

बहिर्मल— एकत्र बहिर्मलः शरीरेन्द्रियादिकम्, अन्यत्र बहिर्मलः किट्टमादिकम्। (आ. मी. वसु. वृ. ४)।

एक स्थान में—आत्मा के विषय में—शरीर व इन्द्रियों आदि को बाह्य मल कहा जाता है, तथा अन्यत्र—आत्मभिन्न सुवर्णादि में—कीट आदि को बाह्य मल कहा जाता है।

बहिर्योग—बाह्यक्रिया बहिर्योगः × × ×। (द्रव्या-नु. त. १–५, पृ. ६)।

बाहिरी क्रिया को बहिर्योग कहते हैं।

बहिर्व्याप्ति—दृष्टान्ते व्याप्तिः बहिर्व्याप्तिः × × ×। (सिद्धिवि. वृ. ५–१५, पृ. ३४६ पं. ३–४); पक्षादन्यत्र व्याप्तिः बहिर्व्याप्तिः। (सिद्धि-वि. वृ. ६–५, पृ. ३८२)।

पक्ष को छोड़कर अन्यत्र (दृष्टान्त में) साध्य-साधन के अविनाभाव के दिखलाने को बहिर्व्याप्ति कहते हैं।

बहिःपुद्गलक्षेप— देखो पुद्गलक्षेप। बहिःपुद्-गलक्षेपोऽभिगृहीतदेशाद् बहिः प्रयोजनभावे परेषां प्रबोधनाय लेष्टवादिक्षेपः पुद्गलप्रक्षेप इति। (श्रा. प्र. टी. ३२०)।

मर्यादित देश के बाहिर प्रयोजन के उपस्थित होने पर दूसरों को संबोधित करने के लिए कंकड़ आदि के फेंकने पर देशावकाशिक व्रत का बहिःपुद्गलक्षेप नामक एक अतिचार होता है।

बहिःशम्बूका—यस्यां तु क्षेत्रबहिर्भागात् तथैव

भिक्षामटन् मध्यभागमायाति सा बहिःशम्बूका। (बृहत्क. क्षे. वृ. १६४६)।

जिस गोचरभूमि में साधु भिक्षार्थ क्षेत्र के बाह्य भाग से गोलरूप में परिभ्रमण करता हुआ मध्य-भाग में आता है उसे बहिःशम्बूका भूमि कहते हैं। यह ऋज्वी आदि आठ गोचरभूमियों में अन्तिम है।

बहु—१. बहुशब्दस्य संख्या-वैपुल्यवाचिनो ग्रहणमविशेषात्। संख्यावाची यथा एको द्वौ बहव इति, वैपुल्यवाची यथा बहुरोदनो बहुसूप इति। (स. सि. १-१६; त. वा. १, १६, १)। २. बहुशब्दो हि संख्यावाची वैपुल्यवाची च। (धव. पु. ६, पृ. १४६; धव. पु. १३, पृ. २३५)।

१ बहु यह शब्द संख्या का और विपुलता (प्रचुरता) का वाचक है।

बहु-अवग्रह—देखो बहुज्ञान। बहूणमेगवारेण गहणं बहुअवग्गहो। (धव. पु. ६, पृ. १६)।

बहुत पदार्थों का जो एक बार में ग्रहण होता है उसे बहु-अवग्रह कहते हैं।

बहुजनदोष—१. णवमम्मि य जं पुव्वे भणिदं कप्पे तहेव ववहारो। अंगेसु सेसएसु य पइण्णए चावि तं दिण्णं॥ तेसिं असद्दहंतो आइरियाणं पुणो वि अण्णाणं। जइ पुच्छइ सो आलोयणाए दोसो दु अट्ठमओ॥ (भ. आ. ५६५-६६)। २. गुरूपपादितं प्रायश्चित्तं किमिदं युक्तमागमे स्यान्न वेति शंकमानस्यान्यसाधुपरिप्रश्नोऽष्टमः। (त. वा. ६, २२,२)। ३. किमिदं गुरूपपादितं प्रायश्चित्तं युक्तमागमे न वेत्यनुगुरुप्रश्नः॥ (त. श्लो. ६-२२)। ४. गुरूपपादितं प्रायश्चित्तं किमिदं युक्तमागमे स्यान्न वेति यावल्लघु प्रतिपादयति तावद्वा शङ्कमानस्यान्यसाधुपरिप्रश्नोऽष्टमो बहुजनदोषः। (चा. सा. पृ. ६१)। ५. एकस्मै आचार्यायात्मदोषनिवेदनं कृत्वा प्रायश्चित्तं प्रगृह्य पुनरश्रद्दधानोऽपरस्मै आचार्याय निवेदयति यस्तस्य बहुजनं नामाष्टममालोचनादोषजातं स्यात्। (मूला. वृ. ११-१५)। ६. प्रायश्चित्तमिदं गुक्तं न वेत्यल्पतदाशया। बहुसूरिपरिप्रश्नो यावदल्पं स बह्विति॥ (आचा. सा. ६-३५)। ७. बहुजनमध्ये यद्वालोचनं तद् बहुजनम्। अथवा बहवो जना आलोचना गुरवे यत्र तत् बहूजनमालोचनम्। किमुक्तं भवति—एकस्य पुरतः आलोच्य तदेवापराधजातमन्यस्यान्यस्य पुरत आलोचयति एषोऽष्टम आलोचनादोषः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १-३४२, पृ. ३१६)। ८. दोषो बहुजनं सूरिदत्तान्यक्षुण्णतत्कृतिः। (अन. ध. ७-४३)। ९. यदा बहवः श्रावकादयो मिलिता भवन्ति तदा पापं प्रकाशयतीति बहुजनदोषः। (भावप्रा. टी. ११८)।

१ नौवें प्रत्याख्यानपूर्व, कल्पव्यवहार (अंगबाह्य), शेष अंगों और प्रकीर्णक श्रुत में वर्णित प्रायश्चित्त दिया गया है, फिर भी जो उस प्रायश्चित्त के देने वाले आचार्यों पर श्रद्धा न रखकर अन्य आचार्यों से उसके विषय में पूछता है उसके बहुजन नामक आलोचना का आठवां दोष होता है। ९ जब बहुत श्रावक आदि सम्मिलित होते हैं तब जो पाप को प्रकाशित करता है वह आलोचना के बहुजन नामक आठवें दोष का पात्र होता है।

बहुज्ञान—१. प्रकृष्टश्रोत्रेन्द्रियावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामोपष्टम्भात् संभिन्नसंश्रोतान्यो वा युगपत्तत-वितत-घन-सुषिरादिशब्दश्रवणाद् बहुशब्दमवगृह्णाति। (त. वा. १, १६, १६)। २. बह्वीः संख्याविशेषस्यावग्रहो विपुलस्य वा। क्षयोपशमतो नुः स्यात् ××× ॥ (त. श्लो. १, १६, २)। ३. बहु च युगपत्समानजातीयानां बहूनां ग्रहणम्। (सिद्धिवि. वृ. १-२७, पृ. ११६)। ४. बहुवत्ति-जादिगहणे बहु-बहुविह ××× । (गो. जी. जी. ३११)। ५. बहूनामेकवारेण ग्रहणं बह्ववग्रहः युगपत् पंचांगुलिग्रहणवत्। (मूला. वृ. १२-१८७)। ६. बह्वेकव्यक्तिविज्ञानं स्याद् बह्वेकं च क्रमाद्यथा। बहवस्तरवः सूपो बहुश्चैकं वनं नरः॥ (आचा. सा. ४-१७)। ७. बहुव्यक्तीनां ग्रहणे मतिज्ञाने तद्विषयो बहुरित्युच्यते यथा खंड-मुंड-शबलादिबहुगोव्यक्तयः। (गो. जी. जी. प्र. ३११)।

१ संभिन्नश्रोतृत्व ऋद्धि का धारक अथवा अन्य भी कोई श्रोता श्रोत्रेन्द्रियावरण और वीर्यान्तराय के उत्कृष्ट क्षयोपशम के साथ अंगोपांगनामकर्म के उदय के होने पर जो तत, वितत, घन और सुषिर आदि शब्दों को सुन कर बहुत शब्दों को एक साथ ग्रहण करता है वह श्रोत्रेन्द्रियजन्य बहु-अवग्रह कहलाता है। २ बहुत संख्याविशेष का अथवा प्रमाण में बहुत पदार्थों का जो ग्रहण होता है उसे बहु-अवग्रह कहते हैं।

बहुबीजक—अत्थिय तेंदु कविट्ठे अंबाडगमाउ-

लिग बिल्ले या। आमलग फणिस दालिम आसोठे उंबर वडे य॥ णग्गोह णंदिरुक्खे पिप्परी सयरी पिलुक्खरुक्खे य। काउंबरि कुत्थुंभरि बोद्धव्वा देवदाली य॥ तिलए लउए छत्तोह सिरीस सत्तवन्न दहिवन्ने। लोद्धद्धव चंदणज्जुण णीमे कुडए कयंबे या॥ जे यावन्ने तहप्पगारा एतेसि णं मूलावि असंखेज्जजीविया कंदावि खंधावि सालावि पत्ता पत्तेगजीविया पुप्फा अणेगजीविया फला बहुबीयगा से त्तं बहुबीयगा, सेत्तं रुक्खा। (प्रज्ञाप. सू. २३, गा. १५-१७)।

अस्थिक, तिन्दुक, कपित्थ, अम्बाडक, मातुलिंग, बेल, आंवला, कटहल, अनार, अश्वत्थ (पीपल), ऊमर, वट, न्यग्रोध, नन्दिवृक्ष, पिप्पली, शतरी, प्लक्ष, कादुम्बरि, कुस्तुम्भरि, देवदालि, तिलक, लवक, छत्रोपग, शिरीष, सप्तपर्ण, दधिपर्ण, लोध्र, धव, चन्दन, अर्जुन, नीप, कुटज और कदम्बक ये तथा इसी प्रकार के अन्य वृक्ष भी जो फलान्तर्गत बहुत बीजों वाले हैं, वे बहुबीजक कहलाते हैं। आ. मलयगिरि के अनुसार इस देश में प्रसिद्ध अमलक (आंवला) आदि बहुबीजक नहीं हैं, अतः देशान्तर्गत आंवला आदि को बहुबीजक समझना चाहिए, एतद्देशीय वे एकास्थिक हैं न कि बहुबीजक।

बहुव्रीहि—अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ७३)।

जिस समास में अन्य पदार्थ प्रधान हो उसे बहुव्रीहि कहते हैं।

बहुमान—१. सुत्तत्थं जप्पंतो वायंतो चावि णिज्जराहेदुं। आसादणं ण कुज्जा तेण किदं होदि बहुमाणं॥ (मूला. ५-८६)। २. बहुमानो नामाऽऽन्तरो भावप्रतिबन्धः। (दशवै. नि. हरि. वृ. १८३; व्यव. भा. मलय. वृ. १-१६२, पृ. २५)। ३. बहुमानः आन्तरः प्रीतिविशेषो भावप्रतिबन्धः सदन्तःकरणलक्षणो न मोहः, मोहो हि ससङ्गप्रतिपत्तिरूपः शास्त्रे निवार्यते, गुरुषु गौतमस्नेहन्यायेन तस्य मोक्षं प्रत्यनुपकारकत्वात्, मोक्षानुकूलस्य तु प्रतिबन्धस्यानिषेधात्, ततः सकलकल्याणसिद्धेः। (षोडश. वृ. १३-२)। ४. बहुमानं पूजा-सत्कारादिकेन पाठादिकं बहुमानाचारः। (मूला. वृ. ५-७२)।

१ निर्जरा के कारणभूत सूत्रार्थ का उच्चारण व वाचन करते हुए गुरु आदि का अनादर न करना, इसका नाम बहुमान है। यह आठ प्रकार के ज्ञानाचार में चौथा है। २ गुरु आदि के प्रति हृदय से अतिशय आदर का भाव रखना, इसे बहुमान नामक ज्ञानाचार कहा जाता है। ३ गुरुविनय, स्वाध्याय, ध्यानाभ्यास, परार्थकरण और इतिकर्तव्यता; इस प्रकार की साधुजन की प्रवृत्ति हुआ करती है। इनमें गुरुविनय के अन्तर्गत बहुमान है। निर्मल अन्तःकरण से गुरु के प्रति अनुराग का भाव रखना, इसे बहुमान कहते हैं। ससंग प्रतिपत्तिरूप—आसक्तिस्वरूप—जो मोह होता है वह बहुमान का लक्षण नहीं है, क्योंकि उसका शास्त्र में निषेध किया गया है।

बहुविधज्ञान—१. प्रकृष्टश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमादिसन्निधाने सति, ततादिशब्दविकल्पस्य प्रत्येकमेक-द्वि-त्रि-चतुःसंख्येयासंख्येयानन्तगुणस्यावग्राहकत्वात् बहुविधमवगृह्णाति। (त. वा. १, १६, १६)। २. बहुपयाराणं हय-हत्थि-गो-महिसादीणं गहणं बहुविहावग्गहो। (धव. पु. ६, पृ. २०); बहुविधं बहुप्रकारमित्यर्थः। जातिगतभूयःसंख्याविषयः प्रत्ययो बहुविधः। (धव. पु. ९, पृ. १५१); प्रकारार्थे विधशब्दः, बहुविधं बहुप्रकारमित्यर्थः। जातिगतभूयःसंख्याविशिष्टवस्तुप्रत्ययो बहुविधः। (धव. पु. १३, पृ. २३७)। ३. बहुविधस्य त्र्यादिप्रकारस्य विपुलप्रकारस्य वावग्रहः। (त. श्लो. १, १६, पृ. २२४)। ४. बहुविधं भिन्नजातीयानां ग्रहणम्। (सिद्धिवि. वृ. १-२७, पृ. ११६)। ५. बहुवत्ति-जादिगहणे बहुविहं ××× । (गो. जी. जी. ३११)। ६. बहुप्रकाराणां हस्त्यश्व-गो-महिष्यादीनां नानाजातीयानां ग्रहणं बहुविधावग्रहः। (मूला. वृ. १२-१८७)। ७. बह्वेकजातिविज्ञानं स्याद् बह्वेकविधं यथा। वर्णा नृणां बहुविधा गौर्जात्येकविधेति च॥ (आचा. सा. ४-१८)। ८. बहुजातीनां ग्रहणे मतिज्ञाने तद्विषयो बहुविध इत्युच्यते, यथा गो-महिषाश्वादयो बहुजातयः। (गो. जी. जी. प्र. ३११)।

१ श्रोत्रेन्द्रियावरण और वीर्यान्तराय के उत्कृष्ट क्षयोपशम के साथ अंगोपांग नामकर्म के उदय का सहकार होने पर तत-विततादि शब्दों का एक-दो-तीन आदि संख्यात, असंख्यात व अनन्तगुणे विकल्पों से संयुक्त ग्रहण करना; इसका नाम बहुविध अवग्रह

(श्रोत्रेन्द्रियजनित) है। २ बहुत प्रकार के घोड़ा, हाथी, गाय और भैंस आदि का जो ग्रहण होता है, इसे बहुविध-अवग्रह कहा जाता है।

बहुश्रुतता—बहुश्रुतता युगप्रधानागमता। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ५८, पृ. ३९)।

युगश्रेष्ठ आगमों की जानकारी को बहुश्रुतता कहते हैं।

बहुश्रुतभक्ति—१. बारसंगपारया बहुसुदा णाम, तेसु भत्ती तेहि वक्खाणिदआगमगंथाणुवत्तणं तदणुट्ठाणपासो वा बहुसुदभत्ती। (धव. पु. ८, पृ. ८९)। २. स्व-परसमयविस्तरनिश्चयेषु बहुश्रुतेषु विशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः। (चा. सा. पृ. २६)। ३. बहुश्रुतेष्वनुरागो भक्तिः। (भावप्रा. टी. ७७)।

१ जो बारह अंगों के पारगामी हैं वे बहुश्रुत कहलाते हैं, उनके द्वारा व्याख्यात (उपदिष्ट) आगम ग्रन्थों का पारायण करना व तदनुसार आचरण करना, यह उन बहुश्रुतों की भक्ति कहलाती है। २ जो स्व-पर समयों (सिद्धान्तों) के ज्ञाता हैं उन्हें बहुश्रुत कहा जाता है, उनके विषय में निर्मल परिणाम के साथ अनुराग रखना, इसे बहुश्रुतभक्ति कहते हैं।

बादर—१. बादरशब्दः स्थूलपर्यायः। (धव. पु. १, पृ. २४९); बादरसद्दो कम्मक्खंधस्स स्थूलत्तं भणदि। (धव. पु. १३, पृ. ५०)। २. छिन्नाः स्वयं संधानसमर्थाः क्षीर-घृत-तैल-तोय-रसप्रभृतयो बादराः। (पंचा. का. अमृत. वृ. ७६)। ३. ये तु छिन्नाः सन्तः तत्क्षणादेव संधानेन स्वयमेव समर्थास्ते स्थूलाः (बादराः) सर्पिस्तैल-जलादयः। (पंचा. का. जय. वृ. ७६)। ४. जलं बादरम्, यत् छेत्तुं भेत्तुमशक्यमन्यत्र नेतुं शक्यं तद्बादरमित्यर्थः। (कार्तिके. टी. २०६)।

१ बादर शब्द स्थूल का पर्यायवाची है। २ छिन्न होकर जो स्वयं जुड़ने में समर्थ हैं वे दूध, घी, तेल और पानी आदि बादर माने जाते हैं।

बादर अद्धापल्योपम—१. तत्रोक्तलक्षणं भाष्ये (तद्यथा हि नाम योजनविस्तीर्णं योजनोच्छ्रायं वृत्तं पल्यमेकरात्राद्युत्कृष्टसप्तरात्रजातानामङ्गलोम्नां गाढं पूर्णं स्यात्, वर्षशताद् वर्षशताद् एकैकस्मिन्नुद्ध्रियमाणे शुद्धिनियमतो यावता कालेन तद्रिक्तं स्यादेतत् पल्योपमम्।) बादराद्धापल्यं संख्येयवर्षकोटिव्यतिक्रान्तिसमकालम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४-१५, पृ. २९४)। २. तत्र स एवोत्सेधाङ्गुलप्रमितयोजनप्रमाणायाम-विष्कम्भोद्वेधः पल्यो मुण्डिते शिरसि यानि संभाव्यमानानि एकाहोरात्र-द्व्यहोरात्रयावत्सप्ताहोरात्रप्ररूढानि बालाग्राणि, तैः प्राग्वन्निचितो भ्रियते ततो वर्षशते वर्षशतेऽतिक्रान्ते एकैकबालाग्रापहारेण यावता कालेन स पल्यो निर्लेपो भवति तावान् कालविशेषः संख्येयवर्षकोटीप्रमाणो बादरमद्धापल्योपमम्। (बृ. संग्रहणी मलय. वृ. ४)। ३. तस्मिन्नेवोत्सेधाङ्गुलप्रमितयोजनप्रमाणायाम-विष्कम्भोद्वेधे पल्ये पूर्वोक्तसहजबादरबालाग्रैर्निभृतं भृते सति प्रतिवर्षशतमेकैकं बालाग्रमपह्रियते यावता कालेन स पल्यो निर्लेपीक्रियते तावान् कालो बादरमद्धापल्योपमं विज्ञेयम्। तत्र बादरेऽद्धापल्योपमे संख्येया वर्षकोट्यो भवन्तीति। (प्रव. सारो. वृ. १०२४)। ४. तथा वर्षशते वर्षशते अतिक्रान्ते पूर्वोक्तपल्यादेकैकबालाग्रापहारेण निर्लेपनाकालः संख्येयवर्षकोटीमानो बादरमद्धापल्योपमम्। (संग्रहणी दे. वृ. ४)। ५. एकादिसप्तान्तदिनोद्गतैः केशाग्रराशिभिः। भृतादुक्तप्रकारेण पल्यात् पूर्वोक्तमानतः॥ प्रतिवर्षशतं खण्डमेकमेकं समुद्धरेत्। निःशेषं निष्ठिते चास्मिन्नद्धापल्यं हि बादरम्॥ (लोकप्र. १, ८८-८९)।

१ एक योजन विस्तीर्ण और एक योजन गहरे गोल गड्ढे को एक दिन से लेकर अधिक से अधिक सात दिन के उत्पन्न शरीरगत रोमों से ठसाठस भरने पर उनसे परिपूर्ण वह पल्य कहलाता है; उसमें से सौ सौ वर्षों में एक एक रोम के निकालने पर जितने समय में वह रिक्त होता है उतने समय का नाम बादर अद्धापल्य है। २ उत्सेधांगुल के प्रमाण से एक योजन लम्बे, चौड़े व गहरे गड्ढे को बालाग्रों से भरकर उनमें से सौ सौ वर्ष में एक एक बालाग्र के निकालने पर जितने समय में वह रिक्त होता है उतने काल को बादर अद्धापल्योपम कहते हैं, जो संख्यात कोटि वर्ष प्रमाण होता है।

बादर अद्धासागरोपम—१. तथा वर्षशते वर्षशते अतिक्रान्ते पूर्वोक्तपल्यादेकैकबालाग्रापहारेण निर्लेपनाकालः संख्येयवर्षकोटीमानो बादरमद्धापल्योपमम्। तद्दशकोटीकोट्यो बादरमद्धासागरोपमम्। (संग्रहणी दे. वृ. ४)। २. तेषां च बादराद्धापल्यो-

पमानां दश कोटीकोटचः एकं बादरमद्धासागरोपमम्। (बृ. संग्रहणी मलय. वृ. ४)। ३. एतेषामथ पल्यानां दशभिः कोटिकोटिभिः। भवेद् बादरमद्धाख्यं जिनोक्तं सागरोपमम्॥ (लोकप्र. १–१००)।

१ दश कोड़ाकोड़ी बादर श्रद्धापल्योपम प्रमाण काल को बादर श्रद्धासागरोपम कहते हैं।

बादर आलोचनादोष—१. ××× इय जो दोसं लहुगं समालोचेदि गूहदे थूलं। भय-मय-माया-हिदग्रो जिणवयणपरंमुहो होदि॥ (भ. आ. ५८१)। २. आलस्यात् प्रमादाद्वाल्पापराधावबोधनिरुत्सुकस्य स्थूलदोषप्रतिपादनं चतुर्थः। (त. वा. ९, १२, २)। ३. प्रमादालस्याभ्यामल्पदोषावज्ञानेन स्थूलदोषप्रतिपादनम्। (त. श्लो. ९–२२)। ४. बादरं च स्थूलं च—व्रतेष्वहिंसादिकेषु य उत्पद्यते दोषस्तमालोचयति सूक्ष्मं नालोचयति यस्तस्य चतुर्थो बादरनामालोचनादोषः स्यात्। (मूला. वृ. ११–१५)। ५. ××× बादरं स्मृतम्। स्थूलानामेव दोषाणामालस्याद्यैर्निवेदनम्। (आचा. सा. ६–३१)। ६. बादरं दोषजातमालोचयति न सूक्ष्मम्, तत्रावज्ञापरत्वादेषः चतुर्थः बादर आलोचनादोषः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १–३४३, पृ. १६)। ७. बादरं बादरस्यैव (गुरोः प्रथा) ×××। (अन. ध. ७–४१)। ८. स्थूलं पापं प्रकाशयति, सूक्ष्मं न कथयतीति बादरदोषः। (भावप्रा. टी. ११८)।

१ जो अन्तःकरण में भय, मद अथवा माया से युक्त होकर सूक्ष्म दोष को तो आलोचना करता है, पर स्थूल दोष को छिपाता है, वह बादर नामक आलोचनादोष से लिप्त होता है। ६ स्थूल दोषों की आलोचना करना, पर सूक्ष्म दोष की आलोचना न करना; यह अवज्ञा में तत्पर होने से आलोचना का बादर नामक चौथा दोष है।

बादर उद्धारपल्योपम—१. उद्धारपल्योपमं तु बादरं स्थूलवालाग्रापहारे प्रतिसमयमेकैकस्मिन् सति भवति, तच्च संख्येयसमयपरिमाणं वेदितव्यम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४–१५)। २. तत्रायाम-विष्कम्भाभ्यामवगाहेन चोत्सेधाङ्गुलप्रमितयोजनप्रमाणः पल्यः समुण्डिते शिरसि यान्यनेकाहोरात्रप्ररूढानि यावत्सप्ताहोरात्रप्ररूढानि संभाव्यन्ते वालाग्राणि तैराकर्णं भ्रियते, स च तथा कथंचनापि प्रचयविशेषमापाद्य भरणीयो यथा न तानि वालाग्राणि वायुरपहरति नापि वह्निस्तानि दहति, नापि तेषु सलिलं प्रविश्य कोथमापादयति। तथा चाचार्य अनुयोगद्वारसूत्रम्—से णं पल्ले एगाहियवेहिय-तेहियाणं उक्कोसेणं सत्तरत्तपरूढाणं समट्ठेणं संनिचिए भरिए वालग्गकोडीणं तेणं वालग्गा नो अग्गी डहिज्जा, नो वाउ हरिज्जा, नो कुथिज्जा इत्यादि। तत एवं बालाग्रैस्तं पल्यमापूर्य समये समये तत एकैकं वालाग्रमपहरेत्। यावता च कालेन स पल्यो निर्लेपो भवति तावान् कालविशेषः संख्येयसमयप्रमाणो बादरमुद्धारपल्योपमम्। (बृ. संग्रहणी मलय. वृ. ४)। ३. तत्रायाम-विस्ताराभ्यामवगाहेन चोत्सेधाङ्गुलनिष्पन्नैकयोजनप्रमाणो वृत्तत्वाच्च परिधिना किञ्चिन्न्यूनषड्भागाधिकयोजनत्रयमानः पल्यो मुण्डिते सिरसि एकेनाह्ना द्वाभ्यामहोभ्यां यावदुत्कर्षतः सप्तभिरहोभिः प्ररूढानि यानि वालाग्राणि तैः प्रचयविशेषान्निबिडतरमाकर्णं तथा भ्रियते यथा तानि वालाग्राणि वह्निर्न दहति, वायुर्नापहरति, जलं च न कोथयति, ततः समये समये एकैकवालाग्रापहारेण यावता कालेन स पल्यः सकलोऽपि सर्वात्मना निर्लेपो भवति तावान् कालः संख्येयसमयमानो बादरमुद्धारपल्योपमम्। (संग्रहणी दे. वृ. ४)। ४. उत्सेधाङ्गुलसिद्धैकयोजनप्रमितोऽवटः। उण्डत्वायामविष्कम्भैरेष पल्य इति स्मृतः॥ परिधिस्तस्य वृत्तस्य योजनत्रितयं भवेत्। एकस्य योजनस्योनषष्ठभागेन संयुतम्॥ सम्पूर्य उत्तरकुरुनॄणां शिरसि मुण्डिते। दिनैरेकादिसप्तान्तै रूढकेशाग्रराशिभिः॥ क्षेत्रसमास-बृहद्वृत्ति-जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्त्यभिप्रायोऽयम्, प्रवचनसारोद्धारवृत्ति-संग्रहणीबृहद्वृत्त्योस्तु मुण्डिते शिरसि एकेनाह्ना द्वाभ्यामहोभ्यां यावदुत्कर्षतः सप्तभिरहोभिः प्ररूढानि वालाग्राणीत्यादि सामान्यतः कथनादुत्तरकुरुनरवालाग्राणि नोक्तानीति ज्ञेयम्। वीरंजयसेहरक्षेत्रविचारसत्कस्वोपज्ञवृत्तौ तु देवकुरूत्तरकुरूद्भवसप्तदिनजातोरणस्योत्सेधाङ्गुलप्रमाणं रोम सप्तकृत्वोऽष्टखण्डीकरणेण विंशतिलक्ष-सप्तनवतिसहस्रैकशत-द्वापंचाशत्प्रमितखण्डभावं प्राप्यते, तादृशै रोमखण्डैरेष पल्यो भ्रियते इत्यादिरर्थतः सम्प्रदायो दृश्यत इति ज्ञेयम्। ××× तथा निबिडमाकण्ठं भ्रियते स यथा हि तत्। नाग्निर्दहति वालाग्रं सलिलं च न कोथयेत्॥ तथा च चक्रिसैन्येन तमाक्रम्य प्रसर्पता। न मनाक् क्रियते नीचैरेवं निबिडता

गतात् ।। समये समये तस्माद् वालखण्डे समुद्धृते । कालेन यावता पल्यः स भवेन्निष्ठितोऽखिलः ।। कालस्य तावतः संज्ञा पल्योपममिति स्मृता । तत्राप्युद्धारमुख्यत्वादिदमुद्धारसंज्ञितम् ।। इदं वादरमुद्धारपल्योपममुदीरितम् । प्रमाणमस्य संख्याताः समयाः कथिताः जिनैः ।। (लोकप्र. ७१–७३ व ८१-८५)।

१ प्रत्येक समय में एक एक स्थूल बालाग्र के निकालने पर संख्येय समय प्रमाण बादर उद्धारपल्योपम होता है। २ उत्सेधांगुल के प्रमाण से निष्पन्न एक योजन विस्तृत, आयत और गहरे गड्ढे को शिखापर्यन्त एक दिन से सात दिन तक के उत्पन्न रोमों से इस प्रकार सघन भरा जाय कि उन बालाग्रों को वायु उड़ा न सके, अग्नि जला न सके, और जल उनमें प्रविष्ट होकर सड़ा-गला न सके। तत्पश्चात् उसमें से प्रत्येक समय में एक एक बालाग्र के निकालने पर जितने काल में वह रिक्त होता है उतना काल बादर उद्धारपल्योपम कहलाता है।

बादर उद्धारसागरोपम—१. एतेषां (बादरोद्धारपल्योपमानां) च दशकोटिकोटयो वादरमुद्धारसागरोपमम् । (संग्रहणी दे. वृ. ४) । २. इत्थंभूतानां च बादरोद्धारपल्योपमानां दशकोटिकोटयो वादरमुद्धारसागरोपमम् । (बृ. संग्रहणी मलय. वृ. ४) । ३. एतेषामथ पल्यानां दशभिः कोटिकोटिभिः । भवेद् बादरमुद्धारसंज्ञकं सागरोपमम् ।। (लोकप्र. १–८७) ।

१ दश कोड़ाकोड़ी बादर उद्धारपल्योपम प्रमाण काल को बादर उद्धारसागरोपम कहते हैं।

बादर कालपुद्गलपरावर्त—१. उसप्पिणिसमएसु अणंतर-परंपराविभत्तीहिं । कालम्मि बायरो सो × × × ।। (पंचसं. २–४०, पृ. ७५); उत्सर्पिणीग्रहणादवसर्पिण्यपि ग्राह्या । × × × उत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयेसु निकृष्टकालविभागेसु अनन्तरपरम्परप्रकाराभ्याम् एको जीवो यावता कालेन मृतो भवति स बादरः कालपुद्गलपरावर्तः । (पंचसं. स्वो. वृ. २–४०) । २. ओसप्पिणीय समया जावइया ते य नियमरणेणं । पुट्ठा कमुक्कमेणं कालपरट्टो भवे थूलो ।। (प्रव. सारो. १०४७) । ३. उत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयेषु सर्वेष्वपि अनन्तर-परम्पराविभक्तिभ्यां अनन्तरप्रकारेण परम्पराप्रकारेण च मृतस्य यावान् कालो भवति तावान् बादरः—बादरकालपुद्गलपरावर्तः । एतदुक्तं भवति—यावता कालेनैको जीवः सर्वानप्युत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयान् क्रमेणोत्क्रमेण वा मरणेन व्याप्तान् करोति तावान् कालविशेषो बादर-(काल-)पुद्गलपरावर्तः । (पंचसं. मलय. वृ. ३–४०) । ४. अवसर्पिण्या उपलक्षणत्वादुत्सर्पिण्याश्च यावन्तः समयाः परमसूक्ष्माः कालविभागास्ते यदा एकजीवेन निजमरणेन क्रमेणोत्क्रमेण स्पृष्टा भवन्ति तदा कालपुद्गलपरावर्तो भवेत्स्थूलः । अयमर्थः—यावता कालेनैको जीवः सर्वानवसर्पिण्युत्सर्पिणीसमयान् क्रमेणोत्क्रमेण वा मरणेन व्याप्तान् करोति तावान् कालविशेषो बादरः कालपुद्गलपरावर्तः । (प्रव. सारो. वृ. १०४७) ।

१ उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालों के जितने समय हैं उनमें एक जीव अनन्तर अथवा परम्परा प्रकारों से—क्रम से अथवा अक्रम से भी—जितने काल में मरण को प्राप्त होता है उतने काल का नाम बादर कालपरावर्त है।

बादर क्षेत्रपरावर्त—१. लोगागासपएसा जया मरंतेण एत्थ जीवेणं । पुट्ठा कमुक्कमेणं खेत्तपरट्टो भवे थूलो ।। (प्रव. सारो. १०४४) । २. लोकस्य चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्याकाशप्रदेशा निर्विभागा नभोभागा यदा म्रियमाणेनात्र जगति जीवेन स्पृष्टा व्याप्ताः क्रमेण तदन्तरभावलक्षणेनोत्क्रमेण वा अर्दं-वितर्दमरणाक्रान्तक्षेत्रप्रदेशरूपेण तदा क्षेत्रपुद्गलपरावर्तो भवेत् स्थूलो बादरः । किमुक्तं भवति ? यावता कालेनैकेन जीवेन क्रमेणोत्क्रमेण वा यत्र तत्र म्रियमाणेन सर्वेऽपि लोकाकाशप्रदेशा मरणे संस्पृष्टा क्रियन्ते स तावान् कालविशेषो बादरः क्षेत्रपुद्गलपरावर्तः । (प्रव. सारो. वृ. १०४४) ।

१ जितने काल में एक जीव अपने मरण के द्वारा क्रम या व्युत्क्रम से लोकाकाश के समस्त प्रदेशों को स्पृष्ट करता है उतने काल को बादर क्षेत्रपुद्गलपरावर्त कहते हैं।

बादर क्षेत्रपल्योपम—१. स एवोत्सेधाङ्गुलप्रमितयोजनप्रमाणविष्कम्भायामावगाढः पल्यः पूर्ववदेकाहोरात्रयावत्सप्ताहोरात्रप्ररूढैर्वालाग्रैराकर्णं निचितो भ्रियते, ततस्तैर्वालाग्रैर्ये नभःप्रदेशाः स्पृष्टास्ते समये समये एकैकनभःप्रदेशप्रतिसमयापहारेण यावता कालेन सर्वात्मना निष्ठामुपयाति[न्ति] तावान् कालविशेषो बादरं क्षेत्रपल्योपमम्, एतच्चासंख्योत्स-

पिण्यवसर्पिणीमानम् ×××। (प्रव. सारो. वृ. १०२६; वृ. संग्रहणी मलय. वृ.४)। २. तथा प्राग्वत् पल्याद् वालाग्रस्पृष्टनभःप्रदेशानां प्रतिसमयमेकैकापहारेण निर्लेपनाकालोऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानो बादरं क्षेत्रपल्योपमम्। (संग्रहणी वृ.४)।

१ एक योजन लम्बे चौड़े गहरे गड्ढे को एक दिन से सात दिन तक के उत्पन्न बालाग्रों से ठसाठस भरने पर उन बालाग्रों से जितने आकाशप्रदेश स्पृष्ट हैं उनमें एक एक आकाशप्रदेश के प्रत्येक समय में निकाले जाने पर जितने काल में वे समाप्त होते हैं उतने कालविशेष को बादर क्षेत्रपल्योपम कहा जाता है।

बादर क्षेत्रपुद्गलपरावर्त—१. लोगस्स पएसेसु अणंतर-परंपराविभत्तीहिं। खेत्तंमि बायरो सो ××× । (पंचसं. च. २–३६); लोकस्य चतुर्दशरज्जुप्रमाणाकाशखण्डस्य प्रदेशेषु निर्विभागखण्डेषु अनन्तर-परम्पराप्रकाराभ्यां मृतस्यैकजीवस्य, किमुक्तं भवति? प्रत्येकं सर्वप्रदेशेषु यावता कालेन एको जीवो मृतो भवति स बादरः क्षेत्रपुद्गलपरावर्तः। (पंचसं. स्वो. वृ. २–३६)। २. लोकस्य चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्यानन्तर - परम्पराविभक्तिभ्यां अनन्तरप्रकारेण परम्पराप्रकारेण च सर्वेषु प्रदेशेष्वेकजीवस्य मृतस्य यावान् कालविशेषो भवति, स तावान् क्षेत्रविषयो बादरपुद्गलपरावर्तः। किमुक्तं भवति? यावता कालेन एकेन जीवेन क्रमेणोत्क्रमेण वा यत्र तत्र म्रियमाणेन सर्वेऽपि लोकाकाशप्रदेशा मरणसंस्पृष्टाः क्रियन्ते स तावान् कालविशेषः क्षेत्रबादरपुद्गलपरावर्तः। (पंचसं. मलय. वृ. २-३६)।

१ चौदह राजु प्रमाण लोक के समस्त प्रदेशों पर एक जीव क्रम या अक्रम से मरकर जितने काल में उन सबका स्पर्श करता है उतने कालविशेष को बादर क्षेत्रपुद्गलपरावर्त कहते हैं।

बादर क्षेत्रसागरोपम—१. तेषां च बादरक्षेत्रपल्योपमानां दशकोटीकोटयः एकं बादरक्षेत्रसागरोपमम्। (वृ. संग्रहणी मलय. वृ. ४)। २. तद्दश [तेषां बादरक्षेत्रपल्योपमानां दश] कोटीकोटयो बादरं क्षेत्रसागरोपमम्। (संग्रहणी दे. वृ. ४)।

१ दश कोडाकोडी बादर क्षेत्रपल्योपम प्रमाण काल को बादर क्षेत्रसागरोपम कहते हैं।

बादर जीव—१. बादरनामकर्मोदयोपजनितविशेषाः बादराः। (धव. पु. १, पृ. २६७); बादरणामकम्मोदयसहिदपुढविकाइयादओ बादरा। (धव. पु. ३, पृ. ३३०); (अण्णेहि पुग्गलेहि) पडिहम्ममाणसरीरो बादरो। (धव. पु. ३, पृ. ३३१)। २. बादरनामकर्मोदयाद् बादराः। (पंचसं. स्वो. वृ. ३–६)। ३. बादरत्वं परिणामविशेषः, यद्वशात् पृथिव्यादेरेकैकस्य जन्तुशरीरस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वाभावेऽपि बहूनां समुदाये चक्षुषा ग्रहणं भवति। (पंचसं. मलय. वृ. ३–८, पृ. ११६; प्रज्ञाप. मलय. वृ. २६३, पृ. ४७४)। ४. बादरनामकर्मोदयवर्तिनो बादराः। (बृहत्क. भा. क्षे. वृ. १११२)।

१ जिनके बादर नामकर्म का उदय पाया जावे ऐसे आधार के आश्रित जीवों को बादर कहते हैं।

बादर द्रव्यपुद्गलपरावर्त—१. संसारंमि अडंतो जाव य कालेण फुसिय सव्वाणू। इग जीवु मुयइ बायर ××× ॥ (पंचसं. २–३८); संसारे अटन् भ्राम्यन् यावता कालेन स्पृष्ट्वा आत्मभावेन परिणमय्य सर्वानिष्पणून् परमाणून् एको जीवो मुञ्चति, एषोऽद्धाविशेषो बादरो द्रव्यपुद्गलपरावर्तः। (पंचसं. स्वो. वृ. ३–३८)। २. ओराल-विउव्वा-तेय-कम्म-भासाणपाण-मणएहिं। फासेवि सव्वपोग्गल मुक्का अह बायरपरट्टो॥ अहव इमो दव्वाइ ओराल-विउव्व-तेय-कम्मेहिं। नीसेसदव्वगहणंमि बायरो होइ परियट्टो॥ (प्रव. सारो. १०४१–४२)। ३. एकेन जन्तुना विकटां भवाटवीं पर्यटता अनन्तेषु भवेषु औदारिक-वैक्रिय-तैजस-कार्मण-भाषाऽऽनप्राण-मनोलक्षणपदार्थसप्तकरूपतया चतुर्दशरज्ज्वात्मक-लोकवर्तिनः सर्वेऽपि पुद्गलाः स्पृष्ट्वा परिभुज्य यावता कालेन मुक्ता भवन्ति एष बादरद्रव्यपुद्गलपरावर्तः। किमुक्तं भवति? यावता कालेनैकेन जीवेन सर्वेऽपि जगद्वर्तिनः परमाणवो यथायोगमौदारिकादिसप्तकस्वभावत्वेन परिभुज्य २ परित्यक्तास्तावान् कालविशेषो बादरद्रव्यपुद्गलपरावर्तः, आहारकशरीरं चोत्कृष्टतोऽप्येकजीवस्य वारचतुष्टमेव सम्भवति ततस्तस्य पुद्गलपरावर्तं प्रत्यनुपयोगान्न ग्रहणं कृतमिति। ××× अथवा—अन्येषामाचार्याणां मतेनौदारिक-वैक्रिय-तैजस-कार्मणशरीरचतुष्टयरूपतया निःशेषद्रव्यग्रहणे एकजीवेन सर्वलोकपुद्गलानां परिभुज्य २ परित्यजनेऽयं बादरः—स्थूलः पुद्गलपरावर्तो भवति। (प्रव. सारो. वृ. १०४१,

१०४२)। ४. संसारे अटन् परिभ्रमन्नेको जीवः सकलेऽपि संसारे ये केचन परमाणवस्तावान् सर्वानपि यावता कालेन स्पृष्ट्वा मुञ्चति—औदारिकादिरूपतया परिभुज्य परिभुज्य परित्यजति, तावान् कालविशेषो बादरद्रव्यपुद्गलपरावर्तः। किमुक्तं भवति ? यावता कालेनैकेन जीवेन सर्वेऽपि जगद्वर्तिनः परमाणवो यथायोगमौदारिक-वैक्रिय-तैजस-कार्मण-भाषा-प्राणापान-मनस्त्वेन परिभुज्य परित्यक्तास्तावान् कालविशेषो बादरद्रव्यपुद्गलपरावर्तः। (पंचसं. मलय. वृ. २–३८)।

१ एक जीव संसार में परिभ्रमण करता हुआ जितने काल में समस्त परमाणुओं को स्पर्श करके छोड़ता है उतने काल को बादर द्रव्यपुद्गलपरावर्त कहा जाता है।

बादरनाम—१. अन्यबाधाकरशरीरकारणं बादरनाम। (स. सि. ८–११; त. श्लो. ८–११; भ. आ. मूला. २२२१)। २. अन्यबाधाकरशरीरकारणं बादरनाम। अन्यबाधानिमित्तं स्थूलं शरीरं यतो भवति तद् बादरनाम। (त. वा. ८, ११, ३०)। ३. बादरं स्थूलम्, केषाञ्चिज्जीवानां यस्य कर्मण उदयात् स्थूलशरीररता भवति तत् बादरनाम। (त. भा. हरि. वृ. ८–१२)। ४. बादरनाम यदुदयाद् बादरो भवति, स्थूर इत्यर्थः। इन्द्रियगम्य इत्यन्ये। (श्रा. प्र. टी. २२)। ५. तद्विपरीत-(परैर्मूर्तद्रव्यैः प्रतिहन्यमान-) शरीरनिर्वर्तकं बादरकर्म। (धव. पु. १, पृ. २५३); जस्स कम्मस्स उदएण जीवो बादरेसु उप्पज्जदि तस्स कम्मस्स बादरमिदि सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ६१); जस्स कम्मस्स उदएण जीवा बादरा होंति तं बादरणाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६५)। ६. बायरनामुदएणं बायरकाओ उ होइ सो नियमा। (कर्मवि. १३५)। ७. बादरनाम यदुदयाज्जीवा बादरा भवन्ति। (पंचसं. मलय. वृ. ३–८, पृ. ११६)। ८. तथा बादरनाम यदुदयाज्जीवा बादरा भवन्ति। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७४; प्रव. सारो. वृ. १२६५)। ९. बादरः स्थूलस्तल्लक्षणं नाम बादरनाम, यदुदये जीवो बादरपरिणामपरिणतो भवति। (कर्मवि. पू. व्या. ७३)। १०. यदुदयाज्जीवानां चक्षुर्ग्राह्यशरीरत्वलक्षणं बादरत्वं भवति तद् बादरनाम। (कर्मप्र. यशो. वृ. १, पृ. ७)।

१ जो कर्म दूसरों को बाधा पहुंचाने वाले शरीर का कारण है उसे बादरनामकर्म कहते हैं। ३ बादर शब्द का अर्थ स्थूल होता है, जिस कर्म के उदय से किन्हीं जीवों के शरीर में स्थूलता होती है वह बादर नामकर्म कहलाता है। १० जिस कर्म के उदय से जीवों का शरीर चक्षु से ग्रहण करने के योग्य होता है उसे बादर नामकर्म कहा जाता है।

बादर निगोदद्रव्यवर्गणा—बादरणिओददव्ववग्गणाणाम बादरणियोदाणं जीवाणं उरालिय-तेया-कम्मतिगेसु विस्ससापरिणामोपचिता पोग्गला एक्केक्कस्स जीवस्स एक्केक्कंमि सरीरकम्मप्पदेसे सव्वजीवाणं अणंतगुणउवचिता तातो बादरणियोयदव्ववग्गणातो कुव्वंति। (कर्मप्र. चू. ब. क. २०, पृ. ४२)।

बादरनिगोदिया जीवों के औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरों में जो पुद्गल स्वाभाविक परिणाम से उपचय को प्राप्त होते हैं वे एक एक जीव के एक एक शरीरकर्मप्रदेश में सर्व जीवों से अनन्तगुणी उपचयप्राप्त पुद्गलवर्गणाएं बादर निगोदद्रव्यवर्गणायें कहलाती हैं।

बादरनिगोदप्रतिष्ठित — जे बादरणिगोदाणं जोणीभूदसरीरपत्तेगसरीरजीवा ते बादरणिगोदपदिट्ठिदा भण्णंति। (धव. पु. ३, पृ. ३४८)।

बादर निगोदजीवों के योनिभूत प्रत्येक शरीर वाले जीव बादर निगोदप्रतिष्ठित कहलाते हैं।

बादर प्राभृतकदोष—दिवसे पक्खे मासे वास परत्तीय बादरं दुविहं। (मूला. ६–१४)।

दिन, पक्ष, मास अथवा वर्ष को परिवर्तित कर जो साधु को दान दिया जाता है वह बादर प्राभृतक दोष से दूषित होता है।

बादर-बादर—१. तत्र छिन्नाः स्वयं सन्धानासमर्थाः काष्ठ-पाषाणादयो बादर-बादराः। (पंचा. का. अमृत. वृ. ७६)। २. ये छिन्नाः सन्तः स्वयमेव सन्धातुमसमर्थाः स्थूल-स्थूलाः भू-पर्वतादयः। (पंचा. का. जय. वृ. ७६)। ३. पृथ्वीरूपपुद्गलद्रव्यं बादरबादरम्, छेत्तुं भेत्तुमन्यत्र नेतुं शक्यं तद् बादरबादरमित्यर्थः। (गो. जी. जी. प्र. ६०३; कार्तिके. टी. २०६)।

१ जो पुद्गलस्कन्ध टूटने या खण्डित होने पर स्वयं जुड़ने में असमर्थ होते हैं वे बादर-बादर कहलाते

हैं। जैसे—काष्ठ व पत्थर आदि। स्थूल-स्थूल यह उक्त बादर-बादर स्कन्धों का समानार्थक है। ३ जो पृथिवीरूप पुद्गल द्रव्य छेदा-भेदा जा सकता है तथा अन्यत्र भी ले जाया जा सकता है उसे बादर-बादर कहते हैं।

बादर भावपुद्गलपरावर्त—१. अणुभागट्ठाणेसुं अणंतर-परंपराविभत्तीहिं। भावंमि बायरो सो × × × ॥ (पंचसं. च. २-४१); तेषु (अनुभागस्थानेषु) बन्धकत्वेन वर्तमानो जीवोऽनन्तर-परम्पर-प्रकाराभ्यां यावता कालेन सर्वेष्वनुभागस्थानेषु मृतो भवति स बादरः भावपुद्गलपरावर्तो भवति। (पंचसं. स्वो. वृ. २-४१)। २. तानि अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि सर्वाण्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि म्रियमाणेन यदा जीवेनैकेन क्रमेण—आनन्तर्येणोत्क्रमेण च—पारम्पर्येण—स्पृष्टानि भवन्ति एष बादरभावपुद्गलपरावर्तः। किमुक्तं भवति? यावता कालेन क्रमेणोत्क्रमेण वा सर्वेष्वप्यनुभागबन्धाध्यवसायेसु वर्तमानो मृतो भवति तावान् कालो बादरभावपुद्गलपरावर्तः। (प्रव. सारो. वृ. १०५२)। ३. अनुभागस्थानेषु अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानेषु असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणेषु सर्वेष्वपि यावता कालेनैको जीवोऽनन्तर-परम्पराविभक्तिभ्याम्—अनन्तर-परम्परारूपे ये विभक्ती विभागौ ताभ्याम्—आनन्तर्येण पारम्पर्येण चेत्यर्थः, मृतो भवति, तावान् कालविशेषो बादरभावपुद्गलपरावर्तः। किमुक्तं भवति? यावता कालेन क्रमेणोत्क्रमेण वा सर्वेष्वप्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानेषु वर्तमानो मृतो भवति, तावान् कालो बादरभावपुद्गलपरावर्तः। (पंचसं. मलय. वृ. २-४१, पृ. ७५)। ४. अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि मन्द-प्रवृद्ध-प्रवृद्धतरादिभेदेनासंख्येयानि वर्तन्ते। × × × ततो यदैकैकस्मिन्ननुभागबन्धाध्यवसायस्थाने क्रमेणोत्क्रमेण च म्रियमाणेन जन्तुनाऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि सर्वाण्यपि तानि स्पृष्टानि भवन्ति तदा बादरो भावपुद्गलपरावर्तो भवति। (शतक. दे. स्वो. वृ. ८८)।

१ एक जीव उन अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानों में बन्धकस्वरूप से रहते हुए क्रम से या व्युत्क्रम से जितने काल में सब अनुभागस्थानों में मरण को प्राप्त होता है उतने काल को बादर भावपुद्गलपरावर्त कहते हैं।

बादर युग्मराशि—जम्हि रासिम्हि (चदुहि अवहिरिज्जमाणे) दोण्णि ट्ठांति तं बादरजुम्मं। (धव. पु. ३, पृ. २४९); जो रासी चदुहि अवहिरिज्जमाणो दोरूवग्गो होदि सो बादरजुम्मं। (धव. पु. १०, पृ. २३); जत्थ (चदुहि अवहिरिज्जमाणे) दो एंति तं बादरजुम्मं। (धव. पु. १४, पृ. १४७)।

जिस राशि में ४ का भाग देने पर २ शेष रहते हैं उसे बादर युग्मराशि कहते हैं।

बादरसम्पराय—१. साम्परायः कषायः, बादरः साम्परायो यस्य स बादरसाम्परायः। (स. सि. ९, १२; त. सुखबो. वृ. ९-१२)। २. साम्परायाः कषायाः, बादराः स्थूलाः, बादराश्च ते साम्परायाश्च बादरसाम्परायाः। (धव. पु. १, पृ. १८४)। ३. संपरैति पर्यटति संसारमनेनेति संपरायः कषायोदयः, बादरः सूक्ष्मकिट्टीकृतसंपरायापेक्षया स्थूरः संपरायो यस्य स बादरसंपरायः। (पंचसं. मलय. वृ. १-१५, पृ. २३; कर्मस्त. दे. स्वो. वृ. २)। ४. तथा किट्टीकृतसूक्ष्मसंपरायव्यपेक्षया। स्थूलो यस्यास्त्यसौ स स्याद् बादरसंपरायकः॥ (लोकप्र. ३-११८८)।

१ साम्पराय नाम कषाय का है, जिस जीव के बादर (स्थूल) सांपराय होता है उसे बादरसांपराय कहा जाता है। तदनुसार उससे प्रमत्तादि अनिवृत्तिकरणान्त गुणस्थानवर्ती संयत जीव विवक्षित हैं। ३ 'संपरैति पर्यटति संसारमनेनेति संपरायः' इस निरुक्ति के अनुसार संसार में परिभ्रमण कराने वाले कषायोदय का नाम संपराय है। जिसके सूक्ष्म किट्टियोंरूप किये गये संपराय की अपेक्षा स्थूल संपराय होता है उसे बादरसंपराय—स्थूल कषाय वाला—कहा जाता है। संपराय और सांपराय ये दोनों समानार्थक शब्द हैं।

बादरसाम्पराय—देखो बादरसम्पराय।

बादरसूक्ष्म—१. स्थूलोपलम्भा अपि छेत्तुं भेत्तुमादातुमशक्याः छायाऽऽतप-तमोज्योत्स्नादयो बादरसूक्ष्माः। (पंचा. का. अमृत. वृ. ७६)। २. ये तु हस्तेनादातुं देशान्तरं नेतुम् अशक्यास्ते स्थूल-सूक्ष्माः छायातपादयः। (पंचा. का. जय. वृ. ७६)। ३. छाया बादरसूक्ष्मम्, यच्छेत्तुं भेत्तुं अन्यत्र नेतुम-

शक्यं तद् बादरसूक्ष्ममित्यर्थः। (गो. जी. जी. प्र. ६०३; कार्तिके. टी. २०६)।

१ स्थूलता से उपलब्धि के होने पर भी जिनका छेदन, भेदन एवं ग्रहण नहीं हो सकता है वे छाया, आतप, अन्धकार एवं चांदनी आदि बादर-सूक्ष्म माने जाते हैं।

बादरस्थिति—कम्मट्ठिदिमावलियाए असंखेज्जदिभागेण गुणिदे बादरट्ठिदी जादा। (धव. पु. ४, पृ. ३९०); के वि आइरिया कम्मट्ठिदीदो बादरट्ठिदी परियम्मे उप्पण्णा त्ति कज्जे कारणोवयारमवलंबिय बादरट्ठिदीए चेव कम्मट्ठिदिसण्णमिच्छंति ×××। (धव. पु. ४, पृ. ४०३)।

कर्मस्थिति को आवली के असंख्यातवें भाग से गुणित करने पर बादरस्थिति उत्पन्न होती है।

बाल—१. बालो ह्यसदारम्भो ×××। (षोडशक. १–३)। २. कुतश्चिदसूक्ष्मादसंयमादनिवृत्तित्वाद् बालः। ××× यतश्च सर्वत्रासंयतोऽसंयतसम्यग्दृष्टिस्ततो यथोक्तपाण्डित्यवियुक्तत्वाद् बालः। (भ. आ. मूला. २६)। ३. बालः विशिष्टविवेकविकलो ×××। (षोडषक. वृ. १)। ४. बालो वर्षाष्टकादर्वाक्। (आ. दि. पृ. ७४)। ५. द्वाभ्याम्—बुभुक्षया तृषा वा ऽऽगलितो बालः। (बृहत्क. मलय. वृ. १९६)।

१ जिसकी प्रवृत्ति असत् (निकृष्ट) होती है, अथवा जो असत्—आगम में अविद्यमान—आचरण करता है, अथवा जो अपनी शक्ति व समय के अनुसार सदा आचरण नहीं करता है; उसे बाल कहा जाता है। २ जो स्थूल असंयम से भी निवृत्त नहीं होता है उसे बाल कहते हैं।

बालतप—१. बालतपो मिथ्यादर्शनोपेतमनुपायकायक्लेशप्रचुरं निकृतिबहुलव्रतधारणम्। (स. सि. ६, २०)। २. बालो मूढः इत्यनर्थान्तरम्, तस्य तपो बालतपः। (त. भा. ६–२०)। ३. यथार्थप्रतिपत्त्यभावादज्ञानिनो बाला मिथ्यादृष्ट्यादयस्तेषां तपः बालतपः अग्निप्रवेश-कारीषसाधनादि प्रतीतम्। (त. वा. ६, १२, ७)। ४. मिथ्याज्ञानोपरक्ताशया बालाः—शिशव इव हिताहितप्राप्ति-परिहारविमुखाः, तपो जलानलप्रवेशेहिनोसाधन-गिरिशिखर-भृगुप्रपातादिलक्षणं ××× अथवा बालं तपो येषां ते बालतपसः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–१३)। ५. बालानां मिथ्यादृष्टितापस-सांन्यासिक-पाशुपत-परिव्राजकैकदण्ड-त्रिदण्ड-परमहंसादीनां तपः कायक्लेशादिलक्षणं निकृतिबहुलव्रतधारणं च बालतपः। (त. वृत्ति श्रुत. ६–२०)।

१ मिथ्यादर्शन से युक्त जो तप मोक्ष का साधक न होकर अधिक कायक्लेश से परिपूर्ण होता है तथा जिसमें मायाचार से युक्त व्रतों को धारण किया जाता है वह बालतप कहलाता है। २ बाल और मूढ़ (मूर्ख) ये समानार्थक शब्द हैं, बाल के तप को बालतप कहा जाता है।

बाल-पण्डितमरण—१. देसेक्कदेसविरदो सम्मादिट्ठी मरिज्ज जो जीवो। तं होदि बाल-पंडिदमरणं जिणसासणे दिट्ठं॥ (भ. आ. २०७८)। २. मिस्सा णाम बाल-पण्डिताः, संयतासंयता इत्यर्थः, तस्य मरणं बाल-पण्डितमरणम्॥ (उत्तरा. चू. पृ. १२८, १२९)। ३. ××× बाल्यं पाण्डित्यं च यस्य स भवति बालपण्डितः, तस्य मरणं बाल-पण्डितमरणम्। (भ. आ. विजयो. २९)। ४. बालपण्डिताः देशविरताः, तेषां मरणं बालपण्डितमरणं। (समवा. अभय. वृ. १७)।

१ जो समस्त असंयम के परित्याग में असमर्थ होता हुआ हिंसादि पापों से एकदेश विरत होता है—स्थूल हिंसादि पापों का ही त्याग करता है—वह देशविरत कहलाता है। इस देशविरत में भी जो देशतः विरत होता है उसे एकदेशविरत (सम्यग्दृष्टि) कहा जाता है। उसके मरण को बालपण्डितमरण कहते हैं। २ बाल का अर्थ असंयतसम्यग्दृष्टि और पंडित का अर्थ संयत है, इनके—असंयत-संयत के—मिश्रणरूप (संयतासंयत) बालपण्डित कहलाते हैं। उनके मरण को बाल-पण्डितमरण जानना चाहिए।

बालप्रयोगाभास—बालप्रयोगाभासः पञ्चावयवेषु कियद्धीनता। (परीक्षा. ६–४६)।

प्रतिज्ञा व हेतु आदि पांच अवयवों में से कुछ की हीनता का नाम बालप्रयोगाभास है।

बालबाल—अत एव (यथोक्तपाण्डित्यवियुक्तत्वादेव) मिथ्यादृष्टिर्बालबाल इत्युच्यते, सम्यक्त्वस्याप्यभावेन प्राप्तबाल्यातिशयत्वात्। (भ. आ. मूला. २६)।

चारित्र के साथ सम्यग्दर्शन और सम्यज्ञान से भी रहित होने के कारण मिथ्यादृष्टि को बालबाल कहा जाता है।

वालवालमरण—सर्वतो न्यूनो वालवालस्तस्य मरणं वालवालमरणम् । (भ. आ. विजयो. २६) ।
जो व्यवहारपाण्डित्य, सम्यक्त्वपाण्डित्य, ज्ञानपाण्डित्य और चारित्रपाण्डित्य इन सबसे रहित होता है उसे वालवाल और उसके मरण को वालवालमरण कहा जाता है ।

बालमरण—१. बालमरणम् असंजममरणमित्यर्थः । (उत्तरा. चू. पृ. १२८) । २. बाला इव बालाः अविरताः, तेषां मरणं बालमरणम् । (समवा. अभय. वृ. १७) ।
१ असंयमी के मरण को बालमरण कहते हैं ।

बाहिर—देखो बाह्य ।

बाह्य—वाहिरो नाम अत्ताणं मोत्तूण जो सो लोगो सो वाहिरो भण्णइ । (दशवै. चू. पृ. २८४) ।
अपने को छोड़कर जो अन्य जन हैं उन्हें बाह्य (वाहिर) कहा जाता है। उनके तिरस्कार का प्रकृत में (सू. ८–३०) निषेध किया गया है ।

बाह्य अनात्मभूतहेतु — प्रदीपादिरनात्मभूतः । (त. वा. २, ८, १) ।
उपयोग के हेतुभूत, जो अपने से असम्बद्ध दीपक आदि हैं, वे बाह्य अनात्मभूत हेतु माने जाते हैं ।

बाह्य आत्मभूतहेतु—तत्रात्मना सम्बन्धमापन्नविशिष्टनामकर्मोपात्तपरिच्छिन्नस्थान-परिमाणनिर्माणश्चक्षुरादिकरणग्राम आत्मभूतः । (त. वा. २, ८, १) ।
विशिष्ट नामकर्म के उदय से नियत स्थान और प्रमाणसे युक्त जो आत्मासे सम्बद्ध चक्षु आदि इन्द्रियों का समुदाय है वह उपयोग का बाह्य आत्मभूत हेतु है ।

बाह्य उपकरण—१. बाह्यमक्षिपत्र-पक्ष्मद्वयादि । (स. सि. २–१७; त. वा. २, १७, ६) । २. बाह्योपकरणं त्वक्षिपक्ष्मपत्रद्वयादिकम् । (त. सा. २–१३) । ३. तत्र बाह्यमुपकरणं शुक्ल-कृष्ण-गोलकादीन्द्रियोपकारकं पक्ष्मपटल-कर्णपालिकादिरूपं बाह्यमुपकरणम् । (त. वृत्ति श्रुत. २–१७) ।
१ आंखों के पलक व रोम आदि बाह्य उपकरण (निर्वृत्ति के उपकारक) माने गये हैं ।

बाह्य उपधि—१. अनुपात्तं वास्तु-धन-धान्यादि बाह्योपधिः । (स. सि. ९–२६) । २. आत्मनाऽनुपात्तस्य एकत्वमनापन्नस्य वस्तुनस्त्यागो बाह्योपधिव्युत्सर्गोऽवगन्तव्यः । (त. वा. ९, २६, ३) । ३. स्वयमात्मनाऽनुपात्तोऽर्थो बाह्योपधिः । (त. सुख-बो. वृ. ९–२६) ।
१ जो गृह और धन-धान्यादि आत्मा के साथ एकता को प्राप्त नहीं है उन्हें बाह्य उपधि कहा जाता है ।

बाह्य-उपधिव्युत्सर्ग—१. बाह्यो (व्युत्सर्गो) द्वादशरूपकस्योपधेः । (त. भा. ९–२६) । २. अनुपात्तवस्तुत्यागो बाह्योपधिव्युत्सर्गः । आत्मनानुपात्तस्य एकत्वमनापन्नस्य वस्तुनस्त्यागो बाह्योपधिव्युत्सर्गोऽवगन्तव्यः । (त. वा. ९, २६, ३) । ३. अनुपात्तवस्तुत्यागो बाह्योपधिव्युत्सर्गः । (त. श्लो. ९–२६) । ४. बाह्यस्य तावद् द्वादशरूपकस्योपधेः पात्र-तद्वन्ध-पात्रस्थापनादीनि द्वादशरूपाण्यस्येति द्वादशरूपकः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-२६)। ५. बाह्यान्तरोपधित्यागाद् व्युत्सर्गो द्विविधो भवेत् । क्षेत्रादिरुपधिर्बाह्यः क्रोधादिरपरः पुनः ॥ (त. सा. ७–२९) । ६. आत्मना अनुपात्तस्य एकत्वमनापन्नस्य आहारादेस्त्यागो बाह्योपधिव्युत्सर्गः । (चा. सा. पृ. ६८; कार्तिके. टी. ४६९) ।
१ पात्रादिरूप बारह रूपों वाली उपधि के त्याग को बाह्य व्युत्सर्ग कहा जाता है । २ जो वस्तु अपने साथ एकता को प्राप्त नहीं है उसके त्याग को बाह्य उपधिव्युत्सर्ग कहते हैं ।

बाह्य चारित्राचार—देखो चारित्राचार । पञ्च-महाव्रत-पञ्चसमिति-त्रिगुप्तिनिर्ग्रन्थरूपो बाह्यचारित्राचारः । (परमा. वृ. १–७) ।
पांच महाव्रतों, पांच समितियों और तीन गुप्तियों-रूप निर्ग्रन्थ (मुनि) के स्वरूप को बाह्य चारित्राचार कहा जाता है ।

बाह्य ज्ञानाचार—देखो ज्ञानाचार । काल-विनयाद्यष्टभेदो बाह्यज्ञानाचारः । (परमा. वृ. १–७) ।
काल व विनयादिरूप आठ प्रकार के ज्ञानविषयक आचार को बाह्य ज्ञानाचार कहते हैं ।

बाह्य तप—१. सो णाम बाहिरतवो जेण मणो दुक्कडं ण उट्ठेदि । जेण य सद्धा जायदि जेण य जोगा ण हीयंते ॥ (मूला. ५–१६१; भ. आ. २३६) । २. बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात् परप्रत्यक्षत्वाच्च बाह्यत्वम् । (स. सि. ९–१९) । ३. बाह्यद्रव्यापेक्षत्वाद् बाह्यत्वम् । बाह्यमशनादिद्रव्यमपेक्ष्य क्रियत

इति बाह्यत्वमस्य ग्राह्यम् । परप्रत्यक्षत्वात् । परेषां खल्वप्यनशनादि प्रत्यक्षं भवति, ततश्चास्य बाह्यत्वम् । तीर्थ्य-गृहस्थकार्यत्वाच्च । अनशनादि हि तीर्थ्यैर्गृहस्थैश्च क्रियते ततोऽस्य बाह्यत्वम् । (त. वा. ९, १९, १७-१९) । ४. एतदनशनादि बाह्यं कृत्वा बाह्यमित्युच्यते, विपरीतग्राहेण वा कुतीर्थिकैरपि क्रियते इति कृत्वा तपो भवति, लौकिकैरप्यासेव्यमानं ज्ञायते इति कृत्वा (बाह्यमित्युच्यते) । (दशवै. नि. हरि. वृ. ४७, पृ. २९) । ५. अनशनादि बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात् परप्रत्यक्षलक्षणत्वाच्च बाह्यम् । (चा. सा. पृ. ५९) । ६. एते (अनशनादयः) षडपि भेदा बाह्यमस्मदादिकरणग्राह्यं तपः कर्मनिर्दहनसमर्थमवबोद्धव्यम् । (त. सुखबो. वृ. ९-१९) । ७. यत्र संक्लिश्यते कायस्तत्तपो बहिरुच्यते । (धर्मसं. श्रा. ९-१६६) ।

१ जिस तप के द्वारा मन में दुष्ट विचार नहीं उत्पन्न होता है, तत्त्वविषयक श्रद्धा प्रादुर्भूत होती है, तथा योग—मूलगुण—हीनता को प्राप्त नहीं होते हैं; उसका नाम बाह्य तप है। २ जो तप बाह्य द्रव्य की अपेक्षा करता है तथा दूसरों के देखने में भी आता है उसे बाह्य तप कहते हैं। ४ जिस तप के सेवन को लौकिक जन भी जान लेते हैं, अथवा जिसका आचरण कुतीर्थिक—अन्यमतानुयायी मिथ्यादृष्टि—भी किया करते हैं उस अनशनादिरूप तप को बाह्य तप कहा जाता है।

बाह्य तपश्चरणाचार—देखो तप-आचार । अनशनादि द्वादशभेदरूपो बाह्यतपश्चरणाचारः । (परमा. वृ. १-७) ।

अनशनादिरूप बारह प्रकार तप के अनुष्ठान को बाह्य तपश्चरणाचार कहा जाता है।

बाह्य दर्शनाचार—देखो दर्शनाचार । निःशंकाद्यष्टगुणभेदो बाह्यदर्शनाचारः । (परमा. वृ. १-७) ।

निःशंकित आदि आठ अंग स्वरूप सम्यग्दर्शन के आराधन का नाम बाह्य दर्शनाचार है।

बाह्य द्रव्यमल—१. सेद-मल-रेणु-कद्दमपहुदी बाहिरमलं समुद्दिट्ठं । (ति. प. १-११) । २. स्वेद-रजो-मलादि बाह्यम् (मलम्) । (धव. पु. १, पृ. ३२) ।

१ पसीना, मैल, धूलि और कीचड़ आदि को बाह्य द्रव्यमल कहा जाता है।

बाह्य निर्वृत्ति—१. तेष्वात्मप्रदेशेष्विन्द्रियव्यपदेशभाक्षु यः प्रतिनियतसंस्थानो नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयः सा (धव. 'स') बाह्या निर्वृत्तिः । (स. सि. २-१७; धव. पु. १, पृ. २३७) । २. तत्र नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयो बाह्या । तेष्वात्मप्रदेशेष्विन्द्रियव्यपदेशभाक् यः प्रतिनियतसंस्थानो नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयः स बाह्या निर्वृत्तिः । (त. वा. २, १७, ४)। ३. तस्यां (अभ्यन्तरायां निर्वृत्तौ) कर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयो बाह्या । (त. श्लो. २-१७) । ४. तेष्वात्मप्रदेशेष्विन्द्रियव्यपदेशभाक् यः प्रतिनियतसंस्थानो निर्म्माणनाम्ना पुद्गलविपाकिना वर्द्धकिसंस्थानीयेन आरचितः कर्णशष्कुल्यादिविशेषः अङ्गोपाङ्गनाम्ना च निष्पादित इति बाह्या निर्वृतिः । (आचारा. सू. शी. वृ. १, २, ६४, पृ. ६४) । ५. तेष्वात्मप्रदेशेषु करणव्यपदेशिषु । नामकर्मकृतावस्थः पुद्गलप्रचयोऽपरा ॥ (त. सा. २-४२) । ६. तेष्वात्मप्रदेशेषु इन्द्रियव्यपदेशभाग् यः प्रतिनियतसंस्थाननामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयः सा बाह्या निर्वृतिः । (मूला. वृ. १-१६) । ७. तत्र बाह्या कर्णपर्पट (प्रव. वृ. 'कर्पटि') कादिरूपा । सापि विचित्रा न प्रतिनियतरूपतयोपदेष्टुं शक्यते । (नन्दी. सू. मलय. वृ. ३, पृ. ७५; प्रव. सारो. वृ. ११०५) । ८. चक्षुरादिमसूरिकादिसंस्थानरूपः आत्मप्रदेशेषु इन्द्रियव्यपदेशश्चाक्षुपः प्रतिनियतसंस्थानो नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयः यः सा बाह्या निर्वृत्तिः । (त. वृत्ति श्रुत. २-१७) । ९. ××× बाह्या तु स्फुटमीक्ष्यते । प्रतिजातिपृथग्रूपा श्रोत्रपर्पटिकादिका ॥ नानात्वान्नोपदेष्टुं सा शक्या नियतरूपतः । नानाकृतीनीन्द्रियाणि यतो वाजि-नरादिषु ॥ (लोकप्र. ३, ४६९-७०) ।

१ इन्द्रिय के आकार व इन्द्रिय नाम वाले आत्मप्रदेशों में नामकर्म के उदय से विशेष अवस्था को प्राप्त जो प्रतिनियत आकार वाला पुद्गलों का समूह होता है उसे बाह्य निर्वृत्ति कहा जाता है। ४ उन आत्मप्रदेशों में बढ़ई के समान पुद्गलविपाकी नामकर्म के द्वारा जो कर्णविवरादिरूप विशेष रचना की जाती है तथा अंगोपांग नामकर्म से भी जो निष्पन्न है उसका नाम बाह्य निर्वृत्ति है।

बाह्य परमशुक्लध्यान— गात्र-नेत्रपरिस्पन्दविरहितं जम्भ-जृम्भोद्गारादिवर्जितमनभिव्यक्तप्राणापानप्रचारत्वमुच्छिन्नप्राणापानप्रचारत्वमपराजितत्वं बाह्यम्, तदनुमेयं परेषाम्। (चा. सा. पृ. ९०-९१)।
जो शुक्लध्यान शरीर व नेत्रों के हलन-चलन से रहित होकर जंभाई और डकार के शब्द आदि से हीन होता है, तथा जिसमें श्वासोच्छ्वास की क्रिया प्रगट न होकर नष्ट हो जाती हैं ऐसे पराजय से रहित ध्यान को बाह्य परमशुक्लध्यान कहा जाता है।

बाह्य योग—लेसा-कसायवेयण-वेओ अन्नाणमिच्छमीसं च। जावइया ओदइया सव्वो सो बाहिरो जोगो॥ (उत्तरा. नि. ५२)।
लेश्या, कषाय, साता-असातारूप वेदना, पुरुषादि की अभिलाषारूप वेद, अज्ञान, मिथ्यात्व और मिश्र—शुद्ध-अशुद्ध पुद्गलप्रदेशरूप सम्यग्मिथ्यात्व; इत्यादि जितने भी औदयिक परिणाम हैं उन सबको बाह्य योग—बाह्यार्पित सम्बन्धरूप संयोग—कहा जाता है।

बाह्य वीर्याचार—बाह्यशक्त्यनवगूहनरूपो बाह्यवीर्याचारः। (परमा. वृ. १-७)।
बाहिरी शक्ति को न छिपाना, इसे बाह्य वीर्याचार कहा जाता है।

बाह्य व्युत्सर्ग—देखो बाह्य उपधिव्युत्सर्ग। तत्र बाह्यो द्वादशादिभेदस्योपधेरतिरिक्तस्य अनेषणीयस्य संसक्तस्य वा ऽन्न-पानादेर्वा त्यागः। (योगशा. स्वो. विव. ४-९०, पृ. ३१४)।
बारह आदि भेदभूत उपधि को छोड़कर अन्य जो सम्बद्ध अनेषणीय—साधु के लिए अग्राह्य—है उसका अथवा अन्न-पानादि हैं उनके त्याग को बाह्य व्युत्सर्ग कहते हैं।

बाह्य सल्लेखना—१. × × × बाहिरा होदि हु सरीरे॥ (भ. आ. २०६)। २. बाह्या भवति सल्लेखना शरीरविषया। (भ. आ. विजयो. २०६)। ३. सत् सम्यक् लेखना कायस्य कषायाणां च कृशीकरणं तनूकरणं सल्लेखना, कायस्य सल्लेखना बाह्यसल्लेखना। (त. वृत्ति श्रुत. ७-२२)।
१ शरीरविषयक सल्लेखना को—उसके कृश करने को—बाह्य सल्लेखना कहते हैं।

बिडालीसमान शिष्य—यथा बिडाली भाजनसंस्थं क्षीरं भूमौ विनिपात्य पिबति, तथा दुष्टस्वभावत्वात् शिष्योऽपि यो विनयकरणादिभीततया न साक्षात् गुरुसमीपे गत्वा शृणोति, किन्तु व्याख्यानादुत्थितेभ्यः केभ्यश्चित्, स बिडालीसमानः, स चायोग्यः। (आव. नि. मलय. वृ. १३६, पृ. १४४)।
जैसे बिल्ली अपने वैसे स्वभाव के कारण पात्र में रखे हुए दूध को भूमि पर गिरा करके पीती है उसी प्रकार से जो शिष्य विनयादि करने के भय से प्रत्यक्ष में गुरु के समीप जा करके धर्मोपदेश नहीं सुनता है, किन्तु व्याख्यान से उठ कर आये हुए किन्हीं दूसरों से उसे सुनता है, उसे बिडाली समान शिष्य कहते हैं। ऐसा शिष्य योग्य नहीं माना जाता।

बिभ्यद्वन्दन—१. गुर्वादिभ्यो बिभ्यतो भयं प्राप्नुवतः परमार्थात् परस्य बालस्वरूपस्य वन्दनाभिधानं बिभ्यद्दोषः। (मूला. वृ. ७-१०७)। २. बिभ्यतः सङ्घात् कुलात् गच्छात् क्षेत्राद्वा निष्कासयिष्येऽहमिति भयाद् वन्दनम्। (योगशा. स्वो. विव. ३-१३०, पृ. २३६)। ३. × × × बिभ्यत्ता बिभ्यतो गुरोः॥ (अन. ध. ८-१०२)।
१ गुरु आदि से भय को प्राप्त होकर परमार्थ से बाह्यभूत बालस्वरूप की वन्दना करने पर वन्दनाविषयक बिभ्यत् नामके दोषसे लिप्त होता है। २ संघ, कुल, गच्छ अथवा क्षेत्र से मुझे निकाल देंगे; इस प्रकार के भय से वन्दना करना, यह वन्दना का बिभ्यत् नामक दोष है। ३ गुरु से भयभीत होकर जो वन्दना करता है वह वन्दनाविषयक बिभ्यत्ता (बिभ्यत्व) दोष का भागी होता है।

बिम्बमुद्रा— पद्ममुद्रैव प्रसारिताङ्गुष्ठसंलग्नमध्यमाङ्गुल्यग्रा बिम्बमुद्रा। (निर्वाणक पृ. ३३)।
पद्ममुद्रा के समान अंगुष्ठ को पसारकर उससे मध्यमा अंगुली के अग्रभाग के संलग्न करने को बिम्बमुद्रा कहते हैं।

बिलस्थगन— बिलस्थगनं कीलादिकृतबिलेष्विष्टकाशकलादि प्रक्षिप्योपरि गोमय-मृत्तिकादिना पिधानम्। (व्यव. भा. मलय. वृ. ४-२७)।
चूहों आदि के द्वारा किये गये बिलों में ईंट के टुकड़ों आदि को भरकर ऊपर से गोबर या मिट्टी आदि से ढक देना, यह बिलस्थगन कहलाता है।

यह अपने लिए अथवा संयत जनों के सुखपूर्वक स्वाध्यायादि के निमित्त किये जाने वाले वसति सम्बन्धी परिकर्म के अन्तर्गत है।

बीजपद—बीजमिव बीजम्, जहा बीजं मूलंकुर-पत्त-पोरक्खंद-पसव-तुस - कुसुम-खीर - तंदुलादीणमाहारं तहा दुवालसंगत्थाहारं जं पदं तं बीजतुल्लत्तादो बीजं। (धव. पु. ६, पृ. ५६); संखित्तसद्दरयणमणंतत्थावगमहेदुभूदाणेगलिंगसंगयं बीजपदं णाम। (धव. पृ. ६, पृ. १२७)।

जिस प्रकार बीज मूल, अंकुर, पत्र पोर, स्कन्ध, फूल, तुष, कुसुम, क्षीर और तन्दुल आदि का आधार होता है उसी प्रकार जो पद्द्वादशांग के अर्थ का आधार है उसे बीज के समान होने से बीजपद कहा जाता है।

बीजबुद्धि—१. णोइंदिय-सुदणाणावरणं वीरिअंतरायाए। तिविहाणं पगदीणं उक्कस्सखउवसमविसिट्ठस्स॥ संखेज्जसरूवाणं सद्दाणं तत्थ लिंगसंजुत्तं। एक्कं चिय बीजपदं लद्धूण परोपदेसेणं॥ तम्मि पदे आधारे सयलसुदं चिंतिऊण गेण्हेदि। कस्स वि महेसिणो जा बुद्धी सा बीजबुद्धि त्ति॥ (ति. प. ४, ९७५-७७)। २. बीजबुद्धित्वं पद-प्रकरणोद्देशाध्याय-प्राभृत-वस्तु-पूर्वाङ्गानुसारित्वम्। (त. भा. १०-७, पृ. ३१६)। ३. जो अत्थपएणत्थं अणुसरई स बीजबुद्धी उ॥ (विशेषा. ८०३; प्रव. सा. १५०३)। ४. सुकृष्ट-सुमथीकृते क्षेत्रे सारवति कालादिसहायापेक्षं बीजमेकमुप्तं यथानेकबीजकोटिप्रदं भवति तथा नोइन्द्रियावरण-श्रुतावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षे सति एकबीजपदग्रहणादनेकपदार्थप्रतिपत्तिर्बीजबुद्धिः। (त. वा. ३, ३६, ३)। ५. बीजमिव बीजं—जहा बीजं मूलंकुर-पत्त-पोरक्खंद-पसव-तुस-कुसुम-खीर-तंदुलादीणमाहारं तहा दुवालसंगत्थाहारं जं पदं तं बीजतुल्लत्तादो बीजं, बीजपदविसयमदिणाणं पि बीजं कज्जे कारणोवयारादो। संखेज्जसद्द-अणंतत्थपडिबद्धअणंतलिंगेहि सह बीजपदं जाणंती बीजबुद्धि त्ति भणिदं होदि। (धव. पु. ६, पु. ५६); बीजपदपरिच्छेदकारिणी बीजबुद्धि त्ति। (धव. पु. ६, पृ. ५७); बीजपदसरूवावगमो बीजबुद्धी। (धव. पु. ६, पृ. ५६)। ६. बीजबुद्धित्वं स्वल्पमपि दर्शितं वस्तु अनेकप्रकारेण गमयति। तद्यथा—पदेन प्रदर्शितेन प्रकरणेनोद्देशकादिना सर्वमर्थं ग्रन्थं चानुधावति। (त. भा. सिद्ध. वृ. १०-७, पृ. ३१७)। ७. सुकृष्टवसुमती-[ष्ट-सुमथी-] कृते क्षेत्रे सारवति कालादिसहायापेक्षं बीजमेकमुप्तं यथाऽनेककोटिबीजप्रदं भवति तथा नोइन्द्रिय-श्रुतावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षे सति संख्येयशब्दस्यानन्तार्थप्रतिबद्धस्यानन्तलिङ्गैः सहैकपदस्य ग्रहणादनेकार्थप्रतिपत्तिर्बीजबुद्धिः। (चा. सा. पृ. ९५-९६)। ८. सर्वश्रुतमध्ये एकं बीजं प्रधानाक्षरादिकं सम्प्राप्य सर्वमवबुध्यन्ते बीजबुद्धयः। (मूला. वृ. ९-९६)। ९. बीजमिव विविधार्थाधिगमरूपमहातरुजननाद् बुद्धिर्येषां ते तथा (बीजबुद्धयः)। (औपपा. अभय. वृ. १५, पृ. २८)। १०. विशिष्टक्षेत्रे कालादिसाहाय्यमेकमप्युप्तं बीजमनेकबीजप्रदं भवति यथा तथैकबीजपदग्रहणादनेकपदार्थप्रतिपत्तिर्यस्यां बुद्धौ सा बीजबुद्धिः। (श्रुतभ. टी. ३, पृ. १६९-७०)। ११. ज्ञानावरणादिक्षयोपशमातिशयप्रतिलम्भादेकार्थबीजश्रवणे सति अनेकार्थबीजानां प्रतिपत्तारो बीजबुद्धयः। (योगशा. स्वो. विव. १-८)। १२. या पुनरेकमर्थपदं तथाविधमनुस्मृत्य शेषमश्रुतमपि यथावस्थितं प्रभूतमर्थमवगाहते सा बीजबुद्धिः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २७३, पृ. ४२४; नन्दी. मलय. वृ. १७, पृ. १०६)। १३. येषां पुनर्बुद्धिः एकमर्थपदं तथाविधमनुसृत्य शेषमश्रुतमपि यथावस्थितं प्रभूतमर्थपदमवगाहते ते बीजबुद्धयः। (आव. नि. मलय. वृ. ७५)। १४. एकबीजाक्षरात् शेषशास्त्रज्ञानं बीजबुद्धिः। (त. वृत्ति श्रुत. ३-३६)।

१ नोइन्द्रियमतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय इन तीन प्रकृतियों के उत्कृष्ट क्षयोपशम से युक्त किसी महर्षि की जो बुद्धि संख्यात शब्दों में लिंगयुक्त एक ही बीजपद को दूसरे के उपदेश से प्राप्त करके उसके आश्रय से जो समस्त श्रुत को विचारपूर्वक ग्रहण करती है उसे बीजबुद्धि ऋद्धि कहा जाता है। २ दिखलाये गये पद, प्रकरण, उद्देश और अध्याय आदि के आश्रय से जो बुद्धि समस्त अर्थ का अनुसरण किया करती है उसका नाम बीजबुद्धि ऋद्धि है।

बीजमान—कुडवादि बीजमानम्। (त. वा. ३, ३८, ३)।

कुडव, प्रस्थ एवं आढक आदि बीजमान कहे जाते हैं, क्योंकि उनसे धान्य मापा जाता है।

वीजरुचि—१. एगेण अणेगाइं (प्रज्ञाप. व प्रव. 'एग-पएणेगाइं') पदाइं जो पसरइ उ सम्मत्तं । उदए व्व तेल्लविंदू सो वीजरुइ त्ति नायव्वो ॥ (उत्तरा. सू. २८–१२; प्रज्ञाप. गा. १२१, पृ. ५६; प्रव. सारो. ६५५) । २. वीजपदग्रहणपूर्वकसूक्ष्मार्थतत्त्वार्थश्रद्धाना वीजरुचयः । (त. वा. ३, ३६, २) । ३. × × × दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य वीजैः ॥ कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमसमवशाद् वीजदृष्टिः पदार्थात् × × × ॥ (आत्मानु. १३) । ४. या तु वीजपदादानपूर्वसूक्ष्मार्थजा रुचिः । वीजजासौ पदार्थानां × × × । (म. पु. ७४–४४४) । ५. सकलसमयदलसूचनाव्याजं वोजम् । (उपासका. पृ. ११४; अन. ध. स्वो. टी. २–६२) । ६. एगपयाणेगपए जस्स मई पसरए स वीयरुई । (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. १४, पृ. ३६) । ७. उपलब्धिवशाद् दुरभिनिवेशविध्वंसान्निरुपमोपशमाभ्यन्तरकारणाद्विज्ञातदुर्व्याख्येयजीवादिपदार्थवीजभूतशास्त्राद्युदुत्पद्यते तद् वीजसम्यक्त्वं प्ररूप्यते । (दर्शनप्रा. टी. १२) । ८. एकेन पदेनानेकपद-तदर्थप्रतिसंधानद्वारोदके तैलबिन्दुवत् प्रसरणशीला रुचिर्वीजरुचिः । (धर्मसं. मान. २–२२, पृ. ३८) ।

१ जाने हुए एक पद के आश्रय से जल में तेल की बूंद के समान जो रुचि या तत्त्वश्रद्धा फैलती है उसे वीजरुचि या वीजसम्यक्त्व कहते हैं । २ वीजपदके परिज्ञानपूर्वक जिनके सूक्ष्म पदार्थों के परमार्थ स्वरूप का श्रद्धान प्रादुर्भूत होता है वे वीजरुचि—वीजसम्यक्त्व के धारक—कहलाते हैं ।

वीजसम्यक्त्व—देखो वीजरुचि ।

वीभत्सरस—१. असुइ-कुणिम-दुद्दंसणसंजोगब्भासगंधनिप्फण्णो । निव्वेअऽविहिंसालक्खणो रसो होइ वीभत्सो ॥ (अनुयो. गा. ७४, पृ. ३८) । २. अशुचि-कुणपदर्शनसंयोगाभ्यासगन्धनिष्पन्नः, कारणाशुचित्वादशुचि शरीरम्, तदेव प्रतिक्षणमासन्नकुणपभावात् कुणपम्, तदेव च विकृतप्रदेशत्वाद् दुर्दर्शनम्, तेन संयोगाभ्यासात्तद्गन्धोपलब्धेर्वा समुत्पन्न इति निर्वेदाद् विहिंसालक्षणो रसो भवति वीभत्स इति । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ७०) । ३. वीभत्सः स्याज्जुगुप्सातः सोऽहृद्यश्रवणेक्षणात् । निष्ठीवनास्यभङ्गादि स्यादत्र महतां न च । (वाग्भ. ५–३०) । ४. शुक्र-शोणितोच्चार-प्रश्रवणाद्यनिष्टमुद्वेजनीयं वस्तु वीभत्समुच्यते, तद्दर्शन-श्रवणादिप्रभवो जुगुप्साप्रकर्षस्वरूपो रसोऽपि वीभत्सः । (अनुयो. मू. मल. हे. वृ. ६३, पृ. १३५)। ५. अहृद्यदर्शनादिविभावाङ्गसंकोचाद्यनुभावापस्मारादिव्यभिचारिणी जुगुप्सा वीभत्सः । (काव्यानु. २, पृ. ७६) ।

१ मल-मूत्रादि अशुचि पदार्थ, सड़े-गले शव (निर्जीव शरीर) और दूसरे भी ऐसे घृणित पदार्थ जिनका देखना भी कष्टकर होता है; उनके बार-बार देखने व दुर्गन्ध के ग्रहण से जो रस—घृणात्मक भाव—उदित होता है उसका नाम वीभत्स रस है। उसके अनुभवन से शरीर के स्वभाव का विचार कर जो उद्वेग या विरक्ति होती है उससे विवेकी जन हिंसादि पापों से निवृत्त हुआ करते हैं।

बुद्ध—१. बुद्धस्त्वमेव विवुधार्चितबुद्धिबोधात् × × × । (भक्तामर २५) । २. अज्ञान-निद्राप्रसुप्ते जगत्यपरोपदेशेन जीवाजीवादिरूपं तत्वं बुद्धवन्तो बुद्धाः । (ललितवि. पृ. ५८) । ३. केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहितत्वाद् बुद्धः । (बृ. द्रव्यसं. टी. २७) । ४. मति-श्रुतावधिज्ञानं सहजं यस्य बोधनम् । मोक्षमार्गे स्वयं बुद्धस्तेनासौ बुद्धसंज्ञितः ॥ केवलज्ञानबोधेन बुद्धवान् स जगत्त्रयम् । अनन्तज्ञानसंकीर्णं तं तु बुद्धं नमाम्यहम् ॥ (आप्तस्व. ३८–३६) ।

१ जिनके बुद्धिबोध की देवों व पण्डित जनों के द्वारा पूजा की जाती है वे बुद्ध कहलाते हैं। २ अज्ञानरूप नींद में सोये हुये लोक में जिन्होंने बिना किसी अन्य के उपदेश के जीव-अजीवादिरूप तत्त्व के परिज्ञान को स्वयं ही प्राप्त किया है उन्हें बुद्ध कहा जाता है ।

बुद्धजागरिका—जे इमे अरहंता भगवंतो उप्पण्णणाण-दंसणधरा जहा खंदए जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी एए णं बुद्धा बुद्धजागरियं जागरंति । (भगवती १२, १, ११—खण्ड ३) ।

उत्पन्न हुए ज्ञान-दर्शन के धारक जो अरिहंत भगवान् हैं, वे स्कन्धक अधिकार (खण्ड १, पृ. २७८) में कहे अनुसार सर्वज्ञ व सर्वदर्शी होते हैं, ये निश्चय से बुद्ध होते हुए बुद्धजागरिका जागते हैं ।

बुद्धबोधित—१. बुद्धा आचार्यास्तैर्बोधिताः × × × । (श्रा. प्र. टी. ७६) । २. बुद्धेन ज्ञातसिद्धान्तेन विदितसंसारस्वभावेन बोधितो बुद्धबोधितः । (त. भा. सिद्ध. वृ. १०–७) ।

१ बुद्ध का अर्थ आचार्य है, आचार्यों के द्वारा जो प्रबोध को प्राप्त हुए हैं वे बोधितबुद्ध कहलाते हैं। २ जिसने सिद्धान्त और संसार के स्वभाव को जान लिया है उसे बुद्ध कहते हैं, उसके द्वारा प्रबोध को प्राप्त हुए बुद्धबोधित कहलाते हैं।

बुद्धबोधितकेवलज्ञान — बुद्धैराचार्यादिभिर्बोधितस्य यत्केवलज्ञानं तत् बुद्धबोधितकेवलज्ञानम्। (आव. नि. मलय. वृ. ७८, पृ. ८४)।

बुद्धों—आचार्य आदि—के द्वारा बोध को प्राप्त हुए जीवोंके केवलज्ञान को बुद्धबोधितकेवलज्ञान कहते हैं।

बुद्धबोधितसिद्ध—१. बुद्धा आचार्यास्तैर्बोधिताः सन्तो ये सिद्धास्ते इह गृह्यन्ते। (श्रा. प्र. टी. ७६)। २. बुद्धा आचार्या अवगततत्त्वाः, तैर्बोधिताः सन्तो ये सिद्धाः ते बुद्धबोधितसिद्धाः। (योगशा. स्वो. विव. ३-१२४)। ३. बुद्धा आचार्याः तैर्बोधिताः सन्तो ये सिद्धास्ते बुद्धबोधितसिद्धाः (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ७, पृ. २०)।

१ जो आचार्यों द्वारा प्रबोध को प्राप्त होकर सिद्ध हुए हैं उन्हें बुद्धबोधितसिद्ध कहा जाता है।

बुद्धि—१. ऊहितोऽर्थो बुध्यते अवगम्यते अनया इति बुद्धिः। (धव. पु. १३, पृ. २४३)। २. बुद्धिः इह-परलोकान्वेषणपरा। (भ. आ. मूला. ४३१, पृ. ६४३)। ३. अर्थग्रहणशक्तिर्बुद्धिः। (अन. ध. स्वो. टी. ३-४; त. वृत्ति श्रुत. १-१३)।

१ जिसके द्वारा ऊहित—ईहा के द्वारा तर्कित—पदार्थ का निश्चय होता है उसका नाम बुद्धि है। यह अवाय ज्ञान का समानार्थक शब्द है। २ जो इस लोक और पर लोक के खोजने में तत्पर रहती है उसे बुद्धि कहा जाता है। ३ पदार्थ के ग्रहण करने—जानने—की शक्ति को बुद्धि कहते हैं।

बुद्धि-आकार—देखो आकार व ज्ञानाकार। स्व-परप्रकाशकत्वं हि बुद्धेराकारः। (न्यायकु. १-५, पृ. ११७)।

स्व को और अन्य पदार्थों को प्रकाशित करना, यही बुद्धि या ज्ञान का आकार माना जाता है।

बुद्धिपूर्वविपाक—बुद्धिः पूर्वा यस्य कर्म शाटयामीत्येवंलक्षणा बुद्धिः प्रथमं यस्य विपाकस्य स बुद्धिपूर्वविपाकः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-७, पृ. २२०)।

विपाक का अर्थ निर्जरा है, 'मैं कर्म को निर्जीर्ण करता हूं' इस प्रकार की बुद्धि जिस विपाक के पूर्व में हुआ करती है उसे बुद्धिपूर्व विपाक कहते हैं।

बुद्धिमान्—१. तथोत्पत्तिक्यादिचतुर्विधबुद्ध्युपेता बुद्धिमन्तः। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ६, १६, पृ. १४५)। २. क्रम-विक्रमयोरधिष्ठानं बुद्धिमानाहार्यबुद्धिर्वा। यो विद्याविनीतमतिः स बुद्धिमान्। (नीतिवा. ५, ३०-३१)।

१ जो औत्पत्तिकी व पारिणामिकी आदि चार प्रकार की बुद्धि से सम्पन्न होते हैं उन्हें बुद्धिमान् कहा जाता है। २ बुद्धिमान् राजा वह कहलाता है जो क्रम और विक्रम का स्थान होता है तथा जिसकी बुद्धि आहार्य—मंत्री के उपदेश के ग्रहण योग्य—होती है। पिता-पितामह आदि की परम्परा से राज्य की प्राप्ति को क्रम और शूरवीरता को विक्रम कहा जाता है। ये दोनों राज्य की स्थिरता के कारण माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त जिसकी बुद्धि विद्या से विशेष नम्रता को प्राप्त होती है उस राजा को बुद्धिमान जानना चाहिए।

बुद्धिवैशद्य—१. अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्। तद् वैशद्यं मतं बुद्धेः × × ×॥ (लघीय. ४)। २. अनुमानादिभ्योऽतिरेकण—आधिक्येन वर्ण-संस्थानादिरूपतया अर्थग्रहणलक्षणेन प्रचुरतरविशेषान्वितार्थावधारणरूपेण वा—यद् विशेषाणाम् नियतदेश-काल-संस्थानाद्यर्थाकाराणां प्रतिभासनं तद् बुद्धिवैशद्यम्। (न्यायकु. १-४, पृ. ७४)।

१ अनुमान आदि की अपेक्षा जो नियत देश, काल, एवं आकार आदि की विशेषता के साथ पदार्थों का प्रतिभास होता है, यह बुद्धि का वैशद्य कहलाता है।

बुद्धिसिद्ध—विउला विमला सुहुमा जस्स मई जो चउव्विहाए व। बुद्धीए संपन्नो स बुद्धिसिद्धो × × ×॥ (आव. नि. ६३७)।

जिसकी बुद्धि विपुल—एक पद से अनेक पदों का अनुसरण करने वाली; संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप मल से रहित तथा सूक्ष्म—अतिशय दुरवबोध पदार्थों के जानने में समर्थ—होती है उसे बुद्धिसिद्ध कहा जाता है। अथवा जो औत्पत्तिकी, पारिणामिकी, वैनयिकी और कर्मजा के भेद से

चार प्रकार की बुद्धि से सम्पन्न होता है उसे बुद्धि-सिद्ध जानना चाहिए।

बुध—ज्ञेय इह तत्त्वमार्गे बुधस्तु मार्गानुसारी यः। (षोडश. १–३)।

जो तत्त्वमार्ग—प्रवचन की उन्नति के निमित्तभूत परमार्थ मार्ग—में स्थित होता हुआ मार्गानुसारी—रत्नत्रय का अनुसरण करने वाला—होता है उसे बुध जानना चाहिए।

बोध—देखो ज्ञान। ××× आत्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः। (पु. सि. २१६)।

आत्मस्वरूप का जो परिज्ञान होता है उसे बोध कहते हैं।

बोधि—१. इह बोधिः जिनप्रणीतधर्मप्राप्तिः, इयं पुनर्यथाप्रवृत्तापूर्वानिवृत्तिकरणत्रयव्यापाराभिन्नयमभिन्नपूर्वग्रन्थिभेदतः पश्चानुपूर्व्या प्रशम-संवेग-निर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्, विज्ञप्तिरित्यर्थः। (ललितवि. पृ. ४४)। २. बोधिश्च जिनशासनाववोधलक्षणा सकलदुःखविरेकभूता। (आव. नि. हरि. वृ. ११०६)। ३. अप्राप्तानां हि सम्यग्दर्शनादीनां प्राप्तिर्बोधिः। (रत्नक. टी. २–२)।

१ जिनोपदिष्ट धर्म की प्राप्ति का नाम बोधि है। यह उस सम्यग्दर्शनस्वरूप है जो यथाप्रवृत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणों के व्यापार के द्वारा पूर्व में नहीं भेदी गई ग्रन्थिके भेदन से प्रगट होता है तथा जिसके आविर्भूत हो जाने पर प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण प्रगट हो जाते हैं। ३ पूर्व में नहीं प्राप्त हुए सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति को बोधि कहा जाता है।

बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा—१. उप्पज्जदि सण्णाणं जेण उवाएण तस्सुवायस्स। चिंता हवेइ बोही अच्चंतं दुल्लहं होदि॥ (द्वादशानु. ८३)। २. लद्धेसु वि एदेसु य बोधी जिणसासणम्हि ण हु सुलहा। कुपहाणमाकुलत्ता जं बलिया राग-दोसा य॥ (मूला. ८–६७)। ३. दंसण-सुद-तव-चरणमइयम्मि धम्मम्मि दुल्लहा बोही। जीवस्स कम्मसत्तस्स संसरंतस्स संसारे॥ (भ. आ. १८६६)। ४. एकस्मिन् निगोतशरीरे जीवाः सिद्धानामनन्तगुणा, एवं सर्वलोको निरन्तरं निचितः स्थावरैरतस्तत्र त्रसता वालुकासमुद्रे पतिता वज्रसिकताकणिकेव दुर्लभा। ××× तस्मिन् सति बोधिलाभः फलवान् भवतीति चिन्तनं बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य भावयतो बोधिं प्राप्य प्रमादो न कदाचिदपि भवति। (स. सि. ९–७)। ५. अनादौ संसारे नरकादिषु तेषु तेषु भवग्रहणेष्वनन्तकृत्वः परिवर्तमानस्य जन्तोर्विविधदुःखाभिहतस्य मिथ्यादर्शनाद्युपहतमतेर्ज्ञानदर्शनावरणमोहान्तरायोदयाभिभूतस्य सम्यग्दर्शनादिविशुद्धो बोधिर्दुर्लभो भवतीत्यनुचिन्तयेत्। एवं ह्यस्य बोधिदुर्लभत्वमनुचिन्तयतो बोधिं प्राप्य प्रमादो न भवतीति बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा। (त. भा. ९–७)। ६. त्रसभावादिलाभस्य कृच्छ्रप्रतिपत्तिः बोधिदुर्लभत्वम्। उक्तं च—एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा। सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेणवि तीदकालेण॥ इत्यागमप्रामाण्यादेकस्मिन् निगोतशरीरे जीवाः सिद्धानामनन्तगुणाः। ××× तस्मिन् सति बोधिलाभः भवतीति चिन्तनं बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा। (त. वा. ९, ७, ९)। ७. मोक्षारोहणनिःश्रेणिः कल्याणानां परम्परा। अहो कष्टं भवाम्भोधौ बोधिर्जीवस्य दुर्लभा॥ (त. सा. ६–४१)। ८. बोधिर्बोधनमित्युक्तमनन्यमनसात्मनः। दुर्लभा सा हि जीवानां बोधिदुर्लभ इष्यते॥ (जम्बू. च. १३–१३९)। ९. अनन्तकालदुर्लभमनुष्यभावादिसामग्रीयोगेऽपि दुष्प्रापं प्रायो बोधिबीजं जीवानामित्यादिचिन्तनं बोधिदुर्लभभावना। (सम्बोधस. १६, पृ. १८)।

१ जिस उपाय के द्वारा सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है उस उपाय की चिन्ता का नाम बोधि है, यह अत्यन्त दुर्लभ है। इस प्रकार से जो निरन्तर चिन्तन होता है उसे बोधिदुर्लभ भावना कहते हैं। ५. अनादि संसार में उन उन नरकादि भवों में अनन्त वार परिवर्तन करने वाला यह जीव अनेक दुःखों से अभिभूत होता है, उसकी बुद्धि मिथ्यादर्शनादि के द्वारा विपरीतता को प्राप्त होती है तथा वह ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों के उदय से आक्रान्त रहता है; इसी से उसे सम्यग्दर्शनादि से विशुद्ध बोधि दुर्लभ होती है। इस प्रकार से चिन्तन करने वाला जीव बोधि को प्राप्त करके कभी प्रमाद को प्राप्त नहीं होता। यही बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा है।

बोधिलाभ— जिनप्रणीतधर्मप्राप्तिर्बोधिलाभोऽभिधीयते। (ललिवि. पृ. ८०)।

जिनदेव के द्वारा उपदिष्ट धर्म की प्राप्ति को बोधिलाभ कहा जाता है।

बोधिसत्त्व—सर्वार्थभाषया सम्यक् सर्वक्लेशप्रघातिनाम्। सत्त्वानां बोधको यस्तु बोधिसत्त्वस्ततो हि सः॥ (आप्तस्व. ४०)।

जो समस्त क्लेशों के नष्ट करने वाले प्राणियों के लिए सर्वार्थभाषा—समस्त भाषाओंरूप दिव्य भाषा—के द्वारा प्रबोधित करने वाला हो उसे बोधिसत्त्व कहा जाता है।

बोल—बोलो नाम मुखे हस्तं दत्वा महता शब्देन पूत्करणम्। (जीवाजी. मलय. वृ. १७१, पृ. ३४६, ३४७)।

मुंह में हाथ देकर महान् शब्द के साथ पूत्कार करना—बुलाना, इसे बोल कहते हैं। इस प्रकार की ध्वनि मेरु की प्रदक्षिणा करते हुए सूर्य-चन्द्रमादि ज्योतिषी देव किया करते हैं।

ब्रह्म—१. अहिंसादिगुणबृंहणाद् ब्रह्म। अहिंसादयो गुणा यस्मिन् परिपाल्यमाने बृंहन्ति वृद्धिमुपयान्ति तद् ब्रह्मेत्युच्यते। (त. वा. ७, १६, १०)। २. मेहुणसण्णाविजएण पंचपरियारणापरिच्चाओ। बंभे मणवत्तीए जो सो बंभं सुपरिसुद्धं॥ (यतिध. विं. १४, पृ. १३)। ३. अहिंसादिगुणा यस्मिन् बृंहन्ति ब्रह्म तत्त्वतः। (ह. पु. ५८-१३२)। ४. दिव्यौदारिककामानां कृतानुमति-कारितैः। मनोवाक्कायतस्त्यागो ब्रह्माष्टादशधा मतम्॥ (योगशा. १-२३; त्रि. श. पु. च. १, ३, ६२५); नवब्रह्मगुप्तिसनाथमुपस्थसंयमो ब्रह्म। 'भीमो भीमसेनः' इति न्यायाद् ब्रह्मचर्यम्, बृहत्वाद् ब्रह्मात्मा, तत्र चरणं ब्रह्मचर्यमात्मारामतेत्यर्थः। (योगशा. स्वो. विव. ४-९३, पृ. ३१६)। ५. बृंहन्ति अहिंसादयो गुणा यस्मिन् सति तद् ब्रह्म ब्रह्मचर्यम्। (त. वृत्ति श्रुत. ७-१); अहिंसादयो गुणा यस्मिन् परिरक्षमाणे बृंहन्ति वृद्धिं प्रयान्ति तद् ब्रह्मोच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७-१६)। ६. नवब्रह्मचर्यगुप्तिसनाथ उप[स्थ]संयमो ब्रह्म। (सम्बोधस. १६, पृ. १७)।

१ जिसके परिपालन से अहिंसादि गुण वृद्धि को प्राप्त होते हैं उसका नाम ब्रह्म है। ४ वैक्रियिक और औदारिक शरीर से सम्बन्धित जो विषयभोगों की अभिलाषा होती है उसका मन-वचन-काय व कृत-कारित-अनुमति से त्याग करना, इसका नाम ब्रह्म या ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य—देखो ब्रह्म। १. व्रतपरिपालनाय ज्ञानाभिवृद्धये कषायपरिपाकाय च गुरुकुलवासो ब्रह्मचर्यम्। (त. भा. ९-६, पृ. २०७)। २. अब्रह्मासेवननिवृत्तिः ब्रह्मचर्यम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७, ३); तच्च ब्रह्मचर्यं गुरुकुलवासलक्षणम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-६)। ३. × × × बंभं मेहुणवज्जणं। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. १३, पृ. ३८)। ४. ब्रह्मचर्यं मैथुनविरतिः। (जम्बूद्वी. शा. वृ. १६२)।

१ व्रतों के परिपालन, ज्ञान की वृद्धि और कषायों के शान्त करने के लिए गुरुकुल में रहना, इसे ब्रह्मचर्य कहा जाता है।

ब्रह्मचर्य—१. सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावं॥ सो बम्हचेरभावं सु[स]क्कदि खलु दुद्धरं धरदि[दु]॥ (द्वादशानु. ८०)। २. जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरिया हविज्ज जा जदिणो। तं जाण बंभचेरं विमुक्कपरदेहतित्तिस्स॥ (भ. आ. ८७८)। ३. मैथुनाद्विरतिर्ब्रह्म। (भ. आ. विजयो. ५७); जीवो बंभा—ब्रह्मशब्देन जीवो भण्यते, ज्ञान-दर्शनादिरूपेण वर्द्धते इति वा, यावल्लोकाकाशं वर्धते लोकपूरणाख्यायां क्रियायाम् इति वा। जीवम्मि चेव ब्रह्मण्येव चर्या—जीवस्वरूपमनन्तपर्यायात्मकम् एवं निरूपयतो वृत्तिर्या। तं जाण जानीहि बंभचरियं ब्रह्मचर्यम्। विमुत्तपरिदेहतित्तिस्स विमुक्तपरदेहव्यापारस्य। (भ. आ. विजयो. ८७८)। ४. निरस्ताङ्गांगरागस्य स्वदेहेऽपि विरागिणः। जीवे ब्रह्मणि या चर्या ब्रह्मचर्यं तदीर्यते॥ (भ. आ. अमित. ८९०)। ५. ज्ञानं ब्रह्म दया ब्रह्म ब्रह्म कामविनिग्रहः। सम्यगत्र वसन्नात्मा ब्रह्मचारी भवेन्नरः॥ (उपासका. ८७२)। ६. आत्मा ब्रह्म विविक्तबोधनिलयो यत्तत्र चर्यं परं स्वाङ्गासंगविवर्जितैकमनसस्तद् ब्रह्मचर्यं मुनेः। एवं सत्यबलाः स्वमातृ-भगिनी-पुत्रीसमाः प्रेक्षते वृद्धाद्या विजितेन्द्रियो यदि तदा स ब्रह्मचारी भवेत्॥ (पद्म. पंच. १२-२)। ७. या ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धेश्चर्या परद्रव्यमुचः प्रवृत्तिः। तद् ब्रह्मचर्यं व्रतसार्वभौमं ये पान्ति ते यान्ति परं प्रमोदम्॥ (भ. आ. मूला. ८७८)। ८. प्रादुःषन्ति यतः फलन्ति च गुणाः

सर्वेऽप्यखर्वौजसो यत्प्रह्वीकुरुते चकास्ति च यतस्तद् ब्राह्ममुच्चैर्महः। त्यक्त्वा स्त्रीविषयस्पृहादि दशधाऽब्रह्मामलं पालय स्त्रीवैराग्यनिमित्तपञ्चकपरस्तद् ब्रह्मचर्यं सदा ॥ या ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धे चर्या परद्रव्यमुचः प्रवृत्तिः। तद् ब्रह्मचर्यं व्रतसार्वभौमं ये पान्ति ते यान्ति परं प्रमोदम् ॥ (अन. ध. ४–५६ व ६०)।

१. स्त्रियों के सब अंगों को देखता हुआ भी जो उनके विषय में दुर्भाव को छोड़ता है—उनमें मुग्ध नहीं होता है—वह दुर्धर ब्रह्मचर्य के धारण में समर्थ होता है।

ब्रह्मचर्य-अणुव्रत—१. परिहारो परपिम्मे ××× ॥ (चारित्रप्रा. २३)। २. न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत् सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसन्तोषनामापि ॥ (रत्नक. ३, १३)। ३. उपात्ताया अनुपात्तायाश्च पराङ्गनायाः सङ्गान्निवृत्तरतिर्गृहीति चतुर्थमणुव्रतम्। (स. सि. ७–२०)। ४. ××× परदारसमागमात् (विरतिः) ॥ (पद्मपु. १४–१९४)। ५. परदारस्स य विरई उराल-वेउव्वभेयओ दुविहं। एयमिह मुणेयव्वं सदारसन्तोसमो एत्थ ॥ (पंचाशक १-१५)। ६. परदारपरिच्चाओ सदारसंतोसमो वि य चउत्थं। दुविहं परदारं खलु उराल-वेउव्विभेएणं ॥ (श्रा. प्र. २७०)। ७. दारेषु परकीयेषु परित्यक्तरतिस्तु यः। स्वदारेष्वेव सन्तोषस्तच्चतुर्थतणुव्रतम् ॥ (ह. पु. ५८–१४१)। ८. उपात्तानुपात्तान्याङ्गनासङ्गाद्विरतरतिः। उपात्ताया अनुपात्तायाश्च अन्याङ्गनायाः सङ्गाद्विरतरतिः विरताविरत इति चतुर्थमणुव्रतम्। (त. वा. ७, २०, ४)। ९. उपात्तानुपात्तान्याङ्गनासंगाद् विरतिः। (त. श्लो. ७–२०)। १०. ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवन्ति न हि मोहात्। निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम् ॥ (पु. सि. ११०)। ११. उपात्ताया अनुपात्तायाश्च पराङ्गनायाः सङ्गाद्विरतरतिर्विरताविरत इति चतुर्थमणुव्रतम्। (चा. सा. पृ. ६)। १२. असुइमयं दुग्गंधं महिलादेहं विरच्चमाणो जो। रूवं लावण्णं पि य मण-मोहण-कारणं मुणइ ॥ जो मण्णदि परमहिलं जणणी-बहिणी-सुआइसारिच्छं। मण-वयणे काएण वि बंभवई सो हवे थूलो ॥ (कार्तिके. ३३७–३३८)। १३. मातृ-स्वसृ-सुतातुल्या निरीक्ष्य परयोषितः। स्वकलत्रेण यस्तोषश्चतुर्थं तदणुव्रतम् ॥ (सुभा. सं. ७७८)। १४. पव्वेसु इत्थिसेवा अणंगकीडा सया विवज्जंतो। थूलयडबंभयारी जिणेहि भणिओ पवयणम्मि ॥ (वसु. श्रा. २१२)। १५. हिंसानृतवचःस्तेय-स्त्रीमैथुन-परिग्रहात्। देशतो विरतिर्ज्ञेया पञ्चधाणुव्रतस्थितिः ॥ (धर्मश. २१–१४२)। १६. षण्ढत्वमिन्द्रियच्छेदं वीक्ष्याब्रह्मफलं सुधीः। भवेत् स्वदारसन्तुष्टोऽन्यदारान् विवर्जयेत् ॥ (योगशा. २–७६); ××× स्वदारेषु धर्मपत्न्यां सन्तुष्टो भवेदित्येकं गृहस्थब्रह्मचर्यम्, अन्यदारान् वा परसम्बन्धिनीः स्त्रियो विवर्जयेत्, स्वस्त्रीसाधारणसेवीत्यर्थः, इति द्वितीयम्। (योगशा. स्वो. विव. २–७६)। १७. प्रतिपक्षभावनैव न रतौ रिरंसारुजि प्रतीकारः। इत्यप्रत्ययितमनाः श्रयत्वहिंस्रः स्वदारसन्तोषम् ॥ सोऽस्ति स्वदारसन्तोषी योऽन्यस्त्री-प्रकटस्त्रियौ। न गच्छत्यंहसो भीत्या नान्यैर्गमयति त्रिधा ॥ (सा. ध. ४–५१, ५२)। १८. परस्त्रीरमणं यत्र न कुर्वन्ति च कारयेत्। अब्रह्मवर्जनं नाम स्थूलं तुर्यं तु तद् व्रतम् ॥ (धर्मसं. श्रा. ६–६३)। १९. परेषां योषितो दृष्ट्वा निजमातृ-सुतासमाः। कृत्वा स्वदारसन्तोषं चतुर्थं तदणुव्रतम् ॥ (पू. उपासका. २६)। २०. चतुर्थं ब्रह्मचर्यं स्याद् व्रतं देवेन्द्रवन्दितम्। देशतः श्रावकैर्ग्राह्यं सर्वतो मुनिनायकैः ॥ (लाटीसं. ६, ५६)। २१. तत्र हिंसानृत-स्तेयाब्रह्म-कृत्स्नपरिग्रहात्। देशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम् ॥ (पंचाध्या. २–७२०)। २२. स्वकीयदारसन्तोषो वर्जनं वान्योषिताम्। श्रमणोपासकानां तच्चतुर्थमणुव्रतं मतम् ॥ (धर्मसं. मान. २–२८, पृ. ६७)।

१ परस्त्री विषयक अनुराग के परित्याग का नाम ब्रह्मचर्याणुव्रत है। २ परस्त्री के साथ न स्वयं समागम करना और न दूसरे से कराना, इसे ब्रह्मचर्याणुव्रत कहते हैं। दूसरे शब्दों में इसे परदारनिवृत्ति व स्वदारसन्तोष भी कहा जाता है। १६ अपनी पत्नी में सन्तुष्ट रहना, यह गृहस्थ का अणुव्रतरूप एक ब्रह्मचर्य है, अथवा पर से सम्बद्ध स्त्रियों का परित्याग करना—स्वकीय जैसी स्त्री का सेवन करना, यह गृहस्थ का दूसरा ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य धर्म—१. अनुभूताङ्गनास्मरण-कथाश्रवण-

स्त्रीसंसक्तशयनासनादिवर्जनाद् ब्रह्मचर्यं परिपूर्णमवतिष्ठते। स्वतन्त्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थो वा गुरुकुलावासो ब्रह्मचर्यम्। (स. सि. ९-६)। २. अनुभूताङ्गनास्मरण-कथाश्रवण-स्त्रीसंसक्तशयनासनादिवर्जनाद् ब्रह्मचर्यम्। मया अनुभूताङ्गना कला-गुणविशारदा इति स्मरणम्, तत्कथाश्रवणम्, रतिपरिमलादिवासितं स्त्रीसंसक्तशयनासनमित्येवमादिवर्जनात् परिपूर्णं ब्रह्मचर्यमवतिष्ठते। अस्वातन्त्र्यार्थं गुरौ ब्रह्मणि चर्यमिति वा। अथवा ब्रह्मा गुरुस्तस्मिंश्चरणं तदनुविधानमस्य अस्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थं ब्रह्मचर्यमित्याचर्यते। (त. वा. ९, ६, २२-२३)। ३. ब्रह्मचर्यं नवविधब्रह्मपालनम्। (भ. आ. विजयो. ४६); सर्षपपूर्णायां नाल्यां तप्तायसशलाकाप्रवेशनवद्योनिद्वारस्थानेकजीवपीडा साधनप्रवेशेनेति तद्बाधापरिहारार्थं तीव्रो रागाभिनिवेशः कर्मबन्धस्य महतो मूलमिति ज्ञात्वा श्रद्धावतः मैथुनाद्विरमणं चतुर्थं व्रतम्। (भ. आ. विजयो. ४२१, पृ. ६१४)। ४. स्त्रीसंसक्तस्य शय्यादेरनुभूताङ्गनास्मृतेः। तत्कथायाः श्रुतेश्च स्याद् ब्रह्मचर्यं हि वर्जनात्॥ (त. सा. ६-२१)। ५. जो परिहरेदि संगं महिलाणं णेव पस्सदे रूवम्। कामकहादिणिरीही णवविहबंभं हवे तस्स॥ (कार्तिके. ४०३)। ६. अनुज्ञाताङ्गनास्मरण-कथाश्रवण-स्त्रीसंसक्तशयनादिवर्जनं स्वतन्त्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थो वा गुरुकुलावासो ब्रह्मचर्यम्। (मूला. वृ. ११-५)। ७. पूर्वानुभुक्तवनितास्मरणं वनिताकथास्मरणं वनितासंगासक्तस्य शय्यासनादिकं च अब्रह्म, तद्वर्जनाद् ब्रह्मचर्यं पूर्णं भवति। स्वेच्छाचारप्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थं गुरुकुलवासो वा ब्रह्मचर्यमुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ९-६)।

१ अनुभूत स्त्री का स्मरण करने, उसकी कथा को सुनने और स्त्री से सम्बद्ध शयन एवं आसन आदि के छोड़ देने से पूर्ण ब्रह्मचर्य धर्म का परिपालन होता है।

ब्रह्मचर्यपोषध—ब्रह्मचर्यपोषधोऽपि देशतो दिवैव रात्रावेव वा सकृदेव द्विरेव वा स्त्रीसेवां मुक्त्वा ब्रह्मचर्यकरणम्; सर्वतस्तु अहोरात्रं यावत् ब्रह्मचर्यपालनम्। (योगशा. स्वो. विव. ३-८५, पृ. ५११)।

देश और सर्व के भेद से ब्रह्मचर्यपोषध दो प्रकार का है। दिन में ही या रात में ही स्त्री का सेवन करना, अथवा एक बार या दो बार ही स्त्रीसमागम को छोड़कर ब्रह्मचर्य का परिपालन करना; इसे देशतः ब्रह्मचर्यपोषध कहा जाता है। दिन-रात (सदा) ही ब्रह्मचर्य का परिपालन करना, यह सर्वतः ब्रह्मचर्यपोषध का लक्षण है।

ब्रह्मचर्य प्रतिमा—१. मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतगन्धि बीभत्सम्। पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः॥ (रत्नक. १४३)। २. संसारभयमापन्नो मैथुनं भजते न यः। सदा वैराग्यमारूढो ब्रह्मचारी स भण्यते॥ (सुभा. सं. ८४९)। ३. यो मन्यमानो गुण-रत्नचौरीं विरक्तचित्तस्त्रिविधेन नारीम्। पवित्रचारित्रपदानुसारी स ब्रह्मचारी विषयापहारी॥ (अमित. श्रा. ७-७३)। ४. यः कटाक्षविशिखैर्न वधूनां जीयते जितनरामरवर्गैः। मर्दितस्मरमहारिपुदर्पो ब्रह्मचारिणममुं कथयन्ति॥ (धर्मप. २०-५९)। ५. सव्वेसिं इत्थीणं जो अहिलासं ण कुव्वदे णाणी। मण-वाया-कायेण य बंभवई सो हवे सदओ॥ (कार्तिके. ३८४)। ६. ब्रह्मचारी शुक्र-शोणितबीजं रस-रुधिर-मांस-मेदोऽस्थि-मज्जा-शुक्रसप्तधातुमयमनेकस्रोतोबिलं मूत्र-पुरीषभाजनं कृमिकुलाकुलं विविधव्याधिविधुरमपायप्रायं कृमिभस्मविष्ठापर्यवसानमंगमित्यनङ्गाद् विरतो भवति। (चा. सा. पृ. १९)। ७. पुव्वुत्तणवविहाणं पि मेहुणं सव्वदा विवज्जंतो। इत्थिकहाइणिवित्तो सत्तमगुणबंभयारी सो। (वसु. श्रा. २९७)। ८. तत्तादृक्संयमाभ्यासवशीकृतमनास्त्रिधा। यो जात्वशेषा नो योषा भजति ब्रह्मचार्यसौ॥ (सा. ध. ७-१६)। ९. स्त्रीयोनिस्थानसंभूतजीवघातभयादसौ। स्त्रियं नो रमते त्रेधा ब्रह्मचारी भवत्यतः॥ (भावसं. वाम. ५३९)। १०. सूक्ष्मजन्तुगणाकीर्णं योनिरन्ध्रं मलाविलम्। पश्यन् यः संगतो नार्याः कष्टादिभयतोऽपि च॥ विरक्तो यो भवेत्प्राज्ञस्त्रियोगैस्त्रिकृतादिभिः। पूर्वषड्व्रतनिर्वाही ब्रह्मचार्यत्र स स्मृतः॥ (धर्मसं. श्रा. ८, २६-२७)। ११. सप्तमी प्रतिमा चास्ति ब्रह्मचर्याह्वया पुनः। यत्रात्मयोषितश्चापि त्यागो निःशल्यचेतसः॥ (लाटीसं. ७-२४)।

१ जो शरीर रज-वीर्यरूप मल से उत्पन्न हुआ है, मल का कारण है, मल को बहाने वाला है, और दुर्गन्धित होता हुआ घिनावना है; उसको देखकर कामभोग से जो विरक्त रहता है वह ब्रह्मचर्य प्रतिमा

का धारक होता है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत—१. अबंभचरियं घोरं पमायं दुरहिट्ठियं। नायरंति मुणी लोए भेआययणवज्जिणो॥ मूलमेयमहम्मस्स महादोससमुस्सयं। तम्हा मेहुणसंसग्गं णिग्गंथा वज्जयंति णं॥ (दशवै. सू. ६, १५–१६, पृ. १९७–९८)। २. तुरियं अबंभविरई ××× ॥ (चारित्रप्रा. २९)। ३. दट्ठूण इत्थिरूवं वांछाभावं णिवत्तदे तासु। मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो अहव तुरीयवदं॥ (नि. सा. ५९)। ४. मादु-सुदा-भगिणीविय दट्ठूणित्थित्तियं च पडिरूवं। इत्थिकहादिणियत्ती तिलोयपुज्जं हवे बंभं॥ (मूला. १–८); अच्चित्तदेव-माणुस-तिरिक्खिजादं च मेहुणं चदुधा। तिविहेण तं ण सेवदि णिच्चं पि मुणी हि पयदमणो॥ (मूला. ५–९५)। ५. अहावरे चउत्थे भन्ते महव्वए मेहुणाओ वेरमणं सव्वं भन्ते मेहुणं पच्चक्खामि से दिव्वं वा माणुसं वा तिरिक्खजोणियं वा नेव सयं मेहुणं सेविज्जा नेवन्नेहिं मेहुणं सेवावेज्जा मेहुणं सेवन्तेवि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भन्ते पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि॥ (पाक्षिकसू. पृ. २३)। ६. ××× सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं। (समवा. ५)। ७. स्त्री-पुंसंगपरित्यागः कृतानुमतकारितैः। ब्रह्मचर्यमिति प्रोक्तं चतुर्थं तु महाव्रतम्॥ (ह. पु. २–१२०)। ८. अहिंसादिगुणबृंहणाद् ब्रह्म, न ब्रह्म अब्रह्म, तिर्यङ्मनुष्य-देवाऽचेतनभेदाच्चतुर्विधस्त्रीभ्यो मातृ-सुता-भगिनीभावनया मनोवाक्कायप्रत्येककृत-कारितानुमोदितभेदेन नवविधाद् विरतिश्चतुर्थव्रतम्। (चा. सा. पृ. ४२)। ९. विन्दति परमं ब्रह्म यत्समालम्ब्य योगिनः। तद् व्रतं ब्रह्मचर्यं स्याद् धीर-धौरेयगोचरम्॥ (ज्ञाना. १, पृ. १३३)। १०. रागलौकिककथात्यागः सर्वस्त्रीस्थापनादिषु। माताऽनुजा तनूजेति मत्या ब्रह्मव्रतं मतम्॥ (आचा. सा. १–१९); तेनानुमथितं चेतो यत्तद् ब्रह्मव्रतं स्मृतम्। व्रतव्रातलतामूलं मूलं स्वर्गापवर्गयोः॥ (आचा. सा. ५–५७)। ११. दिव्यमानुष-तैरश्चमैथुनेभ्यो निवर्तनम्। त्रिविधं त्रिविधेनैव तद् ब्रह्मव्रतमीरितम्॥ (धर्मसं. मान. ३–४३)।

४ वृद्धा, बाला और युवती इन तीन प्रकार की स्त्रियों को क्रम से माता, पुत्री और बहिन के समान मानकर स्त्री सम्बन्धी कथा आदि से निवृत्त होना—रागादि के वश होकर उनका स्पर्श आदि न करना; यह ब्रह्मचर्य महाव्रत कहलाता है। उक्त सचेतन स्त्रियों के ही समान चित्रादिरूप अचेतन, स्त्रियों के विषय में भी समझना चाहिए। अचेतन देव, मनुष्य और तिर्यंच इन चार से उत्पन्न होने के कारण मैथुन चार प्रकार का है। ब्रह्मचर्य महाव्रत का धारक मुनि उक्त चारों प्रकार के मैथुन का सेवन मन, वचन व काय से कभी भी नहीं करता है। ५ मैं देव, मनुष्य व तिर्यंच सम्बन्धी सब मैथुनका त्याग करता हूं; न उसका मैं स्वयं सेवन करूंगा, न अन्य जनों से कराऊंगा, और न सेवन करने वालों की अनुमोदना करूंगा; मन, वचन, काय व कृत, कारित, अनुमोदना इन नौ प्रकार से जीवन पर्यंत त्याग करता हूं तथा इसके लिए प्रतिक्रमण, निन्दा व गर्हा करता हूं; इस प्रकार से परित्यक्त मैथुन का नाम चतुर्थ (ब्रह्मचर्य) महाव्रत है।

ब्रह्मर्षि—१. ब्रह्मर्षयो बुद्ध्यौषधिऋद्धियुक्ताः कीर्त्यन्ते। (चा. सा. पृ. २२)। २. बुद्ध्यौषधर्द्धिसम्पन्नो ब्रह्मर्षिरिह भाषितः। (धर्मसं. श्रा. ९ २८७)।

१ जो बुद्धि और औषधि ऋद्धियों से युक्त होते है वे ब्रह्मर्षि कहलाते हैं।

ब्रह्मा—प्राणिनां हितवेदोक्तं (?) नैष्ठिकः संगवर्जितः। सर्वभाषश्चतुर्वक्त्रो ब्रह्मासौ कायवर्जितः॥ (आप्तस्व. ३५)।

जो प्राणियों को हितकर उपदेश देता है, तत्त्व पर निष्ठा रखता है, परिग्रह से रहित है, सब भाषाओं में उपदेश देने वाला है तथा चतुर्मुख है—परमौदारिक शरीर के कारण जिसका मुख सब ओर देखा जाता है, ऐसे सर्वज्ञ जिन को ब्रह्मा कहा जाता है।

ब्राह्मण—१. विरए सव्वपावकम्मेहिं पिज्ज-दोस॰ कलह॰ अब्भक्खाण॰ पेसुन्न॰ परपरिवाय॰ अरति॰ रइ॰ माया-मोस॰ मिच्छादंसणसल्लविरए समिए सहिए सया जए नो कुज्झे नो माणी माहणे त्ति वच्चे। (सूत्रकृ. सू. १, १६, १, पृ. २७१)। २. जो लोए बंभणो वुत्तो, अग्गी वा महिओ जहा। सदा कुसलसंदिट्ठं, तं वयं बूम माहणं॥ जो न सज्जइ

आगंतुं, पव्वयंतो न सोअई। रमए अज्जवयणम्मि, तं वयं बूम माहणं ॥ जायरूवं जहामट्ठं, निद्धंत-मलपावगं। रागद्दोसभयातीतं, तं वयं बूम माहणं ॥ तसपाणे वियाणित्ता, संगहेण य थावरे। जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वयं बूम माहणं ॥ कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया। मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं ॥ चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं। न गिण्हई अदत्तं जो, तं वयं बूम माहणं ॥ दिव्व-माणुस्स-तेरिच्छं, जो न सेवइ मेहुणं। मणसा काय-वक्केणं, तं वयं बूम माहणं ॥ जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा। एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥ अलोलुयं मुहाजीविं, अणगारं अकिंचणं। असंसत्तं गिहत्थेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥ जहित्ता पुव्वसंजोगं, नाइसंगे य बंधवे। जो न सज्जइ एएसुं, तं वयं बूम माहणं ॥ (पाठा. २७; उत्तरा. २५, १९–२७)। ३. ××× ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यतः। (पद्मपु. ६, २०९)। ४. ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् ×××। (म. पु. ३८–४६)। ५. अहिंसः सद्व्रतो ज्ञानी निरीहो निष्परिग्रहः। यः स्यात् स ब्राह्मणः सत्यं न तु जातिमदान्धलः ॥ (उपासका. ८८६)।

१ जो समस्त पापक्रियाओं से रहित होता हुआ प्रेम, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान (असत्य आरोप) पिशुनता (चुगली), परनिन्दा, अरति—संयमसे द्वेष, रति—विषयों से अनुराग, माया, मृषा (असत्य) और मिथ्यादर्शन—अतत्त्वश्रद्धानरूप शल्य; इन सबका परित्याग करता है; ईर्या-भाषा आदि समितियों का पालन करता है, हित से—परमार्थ से—अथवा ज्ञानादि से सहित होता है, तथा सदा संयम के अनुष्ठान में प्रयत्नशील रहता है; ऐसे साधु को ब्राह्मण कहना चाहिए। ३ जो ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला है उसे ब्राह्मण कहा जाता है। ४ जो व्रतों से संस्कृत होता है वह ब्राह्मण कहलाता है। ५ जो हिंसा से दूर रहता है, समीचीन व्रतों का पालन करता है, ज्ञानवान् होता है, निःस्पृह रहता है और परिग्रह से रहित होता है उसे ब्राह्मण जानना चाहिए। जो जाति के मद से अन्धा रहता है उसे ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता।

ब्राह्मविवाह—१. स ब्राह्म्यो विवाहो यत्र वरायालङ्कृत्य कन्या प्रदीयते। (नीतिवा. ३१–४)। २. ब्राह्मो विवाहो यत्र वरायालङ्कृता कन्या प्रदीयते 'त्वं भवास्य महाभागस्य सधर्मचारिणीति'। (धर्मवि. मु. वृ. १–१२, पृ. ६)। ३. तत्रालंकृत्य कन्यादानं ब्राह्मो विवाहः। (योगशा. स्वो. विव. १–४७, पृ. १४७)। ४. तत्रालंकृत्य कन्यादानं ब्राह्म्यो विवाहः। (श्राद्धगु. पृ. १४)।

१ वर के लिए अलंकृत करके कन्या का प्रदान करना, यह ब्राह्म या ब्राह्म्य विवाह कहलाता है।

ब्राह्मीलिपि—ब्राह्मी आदिदेवस्य भगवतो दुहिता, ब्राह्मी वा संस्कृतादिभेदा वाणी, तामाश्रित्य तेनैव वा दर्शिता अक्षरलेखनप्रक्रिया सा ब्राह्मीलिपिः। (समवा. अभय. वृ. १९)।

आदिनाथ भगवान ने अपनी पुत्री ब्राह्मी का अथवा संस्कृतादिरूप विविध प्रकार की सरस्वती (वाणी) का आश्रय लेकर जिस अक्षरादिरूप लेखन की प्रक्रिया का आविष्कार किया था उसे ब्राह्मीलिपि कहा जाता है।

ब्राह्म्यविवाह—देखो ब्राह्मविवाह।

भक्तकथा—१. भक्तस्य कथा—रसनेन्द्रियलुब्धस्य चतुर्विधाहारप्रतिबद्धवचनानि—तत्र शोभनं भक्ष्यं खाद्यं लेह्यं पेयं सुरसं मिष्टमतीव रसोत्कटम्, जानाति सा संस्कर्तुं बहूनि व्यञ्जनानि, तस्या हस्तगतमशोभनमपि शोभनं भवेत्, तस्य च गृहे सर्वमनिष्टं दुर्गन्धं सर्वं स्वादुरहितं विरसमित्येवमादिकथनं भक्तकथाः। (मूला. वृ. ९–८९)। २. अतिप्रवृद्धभोजनप्रीत्या विचित्रमण्डकावलीखण्ड-दधिखण्डशिताशनपानप्रसंसा भक्तकथा। (नि. सा. वृ. ६७)। ३. तथा भक्तकथा यथा—इदं चेदं च मांस्पाकमाप-(सा. ध. 'श्यामाकपाय-') मोदकादि साधु भोज्यम्, साध्वनेन भुज्यते, अहमपि वा इदं भोक्ष्ये इत्यादिरूपा। (योगशा. स्वो. विव. ३–७९; सा. ध. स्वो. टी. ४–२२)।

१ रसना इन्द्रिय का लोलुपी पुरुष 'यह अन्न व खाद्य आदि बहुत मधुर हैं, वह अनेक व्यञ्जनों को संस्कृत करना जानती है, उसके हाथ में आया हुआ नीरस पदार्थ भी बहुत स्वादिष्ट बन जाता है, इसके विपरीत अमुक के घर पर सभी अनिष्ट, दुर्गन्ध युक्त व स्वाद से रहित हैं, इत्यादि प्रकार से जो चार प्रकार के भोजन से सम्बद्ध चर्चा की जाती है उसे भक्तकथा कहा जाता है।

भक्तपरिज्ञा—१. भक्तपरिज्ञा पुनस्त्रिविध-चतुर्विध आहारविनिवृत्तिरूपा, सा नियमात् सप्रतिकर्मशरीरस्यापि धृति-संहननवतो यथासमाधिभावतोऽवगन्तव्या। (दशवै. नि. हरि. वृ. ४७)। २. भक्तस्य भोजनस्य परिज्ञा ज्ञपरिज्ञया परिज्ञानं प्रत्याख्यानपरिज्ञया च प्रत्याख्यानं भक्तपरिज्ञा। (धर्मसं. मान. ३–१४६, पृ. १७४)।

१ तीन अथवा चार प्रकार के आहार के परित्याग का नाम भक्तपरिज्ञा है। जिसका शरीर कुछ रुग्ण है, पर जो धैर्य व संहनन से युक्त है, उसको भी समाधि के अनुसार इस भक्तपरिज्ञा को समझना चाहिए।

भक्त-पानविवेक—भक्त-पानयोरनशनं वा कायेन भक्तपानविवेकः। एवंभूतं भक्तं पानं वा न गृह्णामीति वचनं वाचा भक्तपानविवेकः। (भ. आ. विजयो. व मूला. १६६)।

शरीर से भोजन-पान का परित्याग करना अथवा इस प्रकार के भोजन या पान (दूध आदि) को मैं ग्रहण नहीं करूंगा, इस प्रकार के वचन को भी भक्तपानविवेक कहा जाता है।

भक्त-पानसंयोग—सम्मूर्छनादिसम्भवे पानं पानेन पानं भोजनेन भोजनं पानेनेत्यादिसंयोजनं भक्तपानसंयोगः। (अन. ध. स्वो. टी. ४–२८)।

सम्मूर्छन आदि जीवों की सम्भावना होने पर पान (दूध आदि) का पान के साथ, पान का भोजन के साथ, भोजन का भोजन के साथ और भोजन का पान के साथ; इत्यादि प्रकार से किये जाने वाले संयोग का नाम भक्तपानसंयोग है।

भक्तप्रतिज्ञा—देखो भक्तप्रत्याख्यान।

भक्तप्रत्याख्यान—१. भत्तपच्चक्खाणं णाम केवलमेव भत्तं पच्चक्खातं, ण तु चंकमणादिकिरिया, पाणं वा ण णिरुंभति। (उत्तरा. चू. पृ. १२६)। २. आत्म-परोपकारसव्यपेक्षं भक्तप्रत्याख्यानमिति। (धव. पु. १, पृ. २४)। ३. भक्तप्रत्याख्यानं तु गच्छमध्यवर्तिनः, स कदाचित् त्रिविधाहारप्रत्याख्यायीति, कदाचिच्चतुर्विधाहारप्रत्याख्यायी, पर्यन्ते कृतसमस्तप्रत्याख्यानः समाश्रितमृदुसंस्तारकः समुत्सृष्टशरीराद्युपकरणममत्वः स्वयमेवोद्ग्राहितनमस्कारः समीपवर्तिसाधुदत्तनमस्कारो वा उद्वर्तन-परिवर्तनादिकुर्वाणः समाधिना करोति कालमेतद् भक्तप्रत्याख्यानं मरणमिति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–१६)। ४. भज्यते सेव्यते इति भक्तम्, तस्य पइण्णा त्यागो भत्तपइण्णा। (भ. आ. विजयो. २६)। ५. भक्तं भोजनम्, तस्यैव न चेष्टाया अपि पादपोपगमन इव प्रत्याख्यानं वर्जनं यस्मिंस्तद्भक्तप्रत्याख्यानमिति। (स्थाना. अभय. वृ. २, ४, १०२)। ६. यस्तु गच्छमध्यवर्ती समाश्रितमृदुसंस्तारकः समुत्सृष्टशरीरोपकरणममत्वस्त्रिविधं चतुर्विधं वाऽऽहारं प्रत्याख्याय स्वयमेवोद्ग्राहितनमस्कारः समीपवर्तिसाधुदत्तनमस्कारो वोद्वर्तन-परिवर्तनादि कुर्वाणः समाधिना कालं करोति, तस्य भक्तप्रत्याख्यानमनशनम्। (योगशा. स्वो. विव. ४-८९)। ७. यस्मिन् समाश्रये स्वान्यवैयावृत्त्यमपेक्ष्यते। तद्द्वादशाब्दानीषेऽन्तर्मुहूर्तं चाशनोज्झनम्॥ (अन. ध. ७–१०१)। ८. भज्यते देहस्थित्यर्थमिति भक्तमाहारस्तस्य प्रतिज्ञा प्रत्याख्यानं त्यागः। भक्तप्रतिज्ञा स्व-परवैयावृत्त्यसापेक्षं मरणम्। (भ. आ. मूला. २६)। ९. उभयोपकारसापेक्षं भक्तप्रत्याख्यानं मरणम्। (कार्तिके. टी. ४६७)।

१ केवल भोजन का परित्याग करना, इसका नाम भक्तप्रत्याख्यानमरण है। इसमें न तो गमनादि-क्रिया का त्याग किया जाता है और न पान का ही निरोध किया जाता है। २ अपने और अन्य के उपकार की अपेक्षा रखते हुए जो मरण प्राप्त होता है वह भक्तप्रत्याख्यानमरण कहलाता है। दूसरा नाम इसका भक्तप्रतिज्ञा भी है। इसे भक्तप्रत्याख्यानमरण भी कहा जाता है।

भक्तप्रत्याख्यान-अनशन—देखो भक्तप्रत्याख्यान।

भक्तप्रत्याख्यानमरण—देखो भक्तप्रत्याख्यान।

भक्तयुतक्षेत्र—भक्तयुतमोदनक्षेत्रं यत्र तुषधान्यानि प्राचुर्येणोत्पद्यन्ते, सर्वकालमोदनोऽभ्यवह्रियते। (प्राय. समु. चू. ४–१३८)।

जहां तुच्छ धान्य—जैसे कोद्रव आदि—अधिक मात्रा में उत्पन्न होते हैं, उसे भक्तयुत ओदनक्षेत्र कहा जाता है।

भक्ति—१. अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः। (स. सि. ६, २४)। २. अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः। अर्हदाचार्येषु केवलश्रुतज्ञानादिदिव्यनयनेषु परहितकरप्रवृत्तेषु स्व-पर-

समयविस्तरनिश्चयज्ञेषु च बहुश्रुतेषु प्रवचने च श्रुतदेवतासन्निधिगुणयोगदुरासदे मोक्षपदभवनारोहणसुरचितसोपानभूते भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागः भक्तिः त्रिविधा (चतुर्विधा) कल्प्यते। (त. वा. ६, २४, १०)। ३. अर्हत्सु योऽनुरागो यश्चाचार्ये बहुश्रुते यच्च। प्रवचनविनयश्चासौ चातुर्विध्यं भजति भक्तिः ॥ (ह. पु. ३४-१४१)। ४. अर्हत्स्वाचार्यवर्येषु बहुश्रुतयतिष्वपि। जैने प्रवचने चापि भक्तिः प्रत्युपवर्णिता ॥ भावशुद्धया नुता शश्वदनुरागपरैरलम्। विपर्यासितचित्तस्याप्यन्यथाभावहानितः ॥ (त. श्लो. ६, २४, १२-१३)। ५. अर्हदादिगुणानुरागो भक्तिः। (भ. आ. विजयो. ४७); वदननिरीक्षणादिप्रसादेनाभिव्यज्यमानोऽन्तर्गतोऽनुरागो भक्तिः। (भ. आ. विजयो. ११७)। ६. जिने जिनागमे सूरौ तपःश्रुतपरायणे। सद्भावशुद्धि सम्पन्नोऽनुरागो भक्तिरुच्यते ॥ (उपासका. २१५)। ७. अनन्तगुणयुक्तेष्वर्हत्सिद्धेषु गुणानुरागयुक्ता भक्तिः। (प्रव. सा. जय. वृ. ३-४६)। ८. भक्तिः प्रवचने विनयवैयावृत्त्यरूपा प्रतिपत्तिः। (योगशा. स्वो. विव. २-१६)। ९. भक्तिः पात्रगुणानुरागः। (सा. ध. स्वो. टी. ५-४७)। १०. भक्तिः भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागः। (भ. आ. मूला. ४७)। ११. तत्र भक्तिरनौद्धत्यं वाग्वपुश्चेतसां शमात्। (पञ्चाध्यायी २-४७०)।

१ अरहंत, आचार्य, बहुश्रुत (उपाध्याय) और प्रवचन के विषय में जो विशुद्ध परिणाम युक्त अनुराग होता है उसका नाम भक्ति है।

भक्ति-अनुष्ठान—देखो भक्त्यनुष्ठान।

भक्तिचैत्य—भक्त्या क्रियमाणं जिनायतनम्। (जीतक. चू. वि. व्या. पृ. ४०)।

भक्तिपूर्वक किये जाने वाले जिनायतन को भक्तिचैत्य कहा जाता है।

भक्त्यनुष्ठान—गौरवविशेषयोगाद् बुद्धिमतो यद्विशुद्धतरयोगम्। क्रिययेतरतुल्यमपि ज्ञेयं तद्भक्त्यनुष्ठानम्। (षोडशक. १०-४; ज्ञा. सा. सू. दे. वृ. २६-७, पृ. ९२)।

गुरुता (पूज्यता) के अधिक सम्बन्ध से बुद्धिमान् पुरुष का जो अतिशय विशुद्ध व्यापार होता है उसे भक्त्यनुष्ठान जानना चाहिए। वह यद्यपि क्रिया की अपेक्षा इतर अनुष्ठान के समान ही होता है, फिर भी उसे भक्त्यनुष्ठान कहा जाता है।

भगवान्—१. भगः समग्रैश्वर्यादिलक्षणः। उक्तं च—ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशसः श्रियः। धर्मस्याथ प्रयत्नस्य षण्णां भग इतीङ्गना ॥ समग्रैश्वर्यादिभगयोगाद्भगवन्तोऽर्हन्त इति। (आव. नि. हरि. वृ. ८०, पृ. ५९); भगः खल्वैश्वर्यादिलक्षणः, सोऽस्यास्तीति भगवान्। (आव. नि. हरि. वृ. ३१८, पृ. १४४; जम्बूद्वी. शा. वृ. १-२, पृ. १५)। २. भगः समग्रैश्वर्यादिलक्षणः, तथा चोक्तम्—ऐश्वर्यस्य .... ॥ भगोऽस्यास्तीति भगवान्। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ८१; पंचसू. हरि. वृ. पृ. २)। ३. भगः समग्रैश्वर्यादिलक्षणः। उक्तं च—ऐश्वर्यस्य ....॥ सोऽस्यास्तीति भगवान्। (दशवै. सू. हरि. वृ. ४-१, पृ. १३६)। ४. ज्ञान-धर्ममाहात्म्यानि भगः, सोऽस्यास्तीति भगवान्। (धव. पु. १३, पृ. ३४६)। ५. भगः समग्रैश्वर्यादिलक्षणः, स एषामस्तीति भगवन्तः। (जीवाजी. मलय. वृ. २-१४२)। ६. भगः समग्रैश्वर्यादिरूपः, भगोऽस्यास्तीति भगवान्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १-२)।

१ समस्त ऐश्वर्य का नाम भग है, उसके सम्बन्ध से अरहन्तों को भगवान् कहा जाता है। ४ ज्ञान और धर्म के माहात्म्य का नाम भग है, इस भग से जो युक्त होते हैं वे भगवान् कहलाते हैं।

भजमानवन्दन—देखो भयवन्दनदोष।

भजमानवन्दनक—१. भयइ व भयिस्सइत्ति य इय वन्दइ ण्होरयं निवेसंतो। (प्रव. सारो. १६२)। २. स्मर्त्तव्यं भो आचार्य! भवन्तं वन्दमाना वयं तिष्ठाम इत्येवं निहोरकं निवेशयन् वन्दते। किमितीत्याह—भयइ व भइस्सइ व ममेति हेतोः, किमुक्तं भवति? एष तावद्भजते—अनुवर्तयति माम्, सेवायां पतितो मे वर्तत इत्यर्थः, अग्रे वा मम भजनं करिष्यत्यसौ ततश्चाहमपि वन्दनकसत्कं निहोरकं निवेशयामीत्यभिप्रायवान् यत्र वन्दते तत् भजमानवन्दनकमिधीयते। (आव. हरि. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ८८)। ३. भजमानं भजते मां सेवायां पतितो मम अग्रे वा मम भजनं करिष्यति ततोऽहमपि वन्दनसत्कं निहोरकं निवेशयामीति बुद्धया वन्दनम्। (योगशा. स्वो. विव. ३-१३०)। ४. भो आचार्य, भवन्तं वन्दमाना वयं तिष्ठाम इत्येवं निहोरकं निवेशयन् वन्दते। किमर्थम्? भजते वा मां भजनं वा मे

करिष्यतीति हेतोः। किमुक्तं भवति ? एष तावद्भजते—अनुवर्तते मां सेवायां पतितो वर्तते ममेत्यर्थः, अग्रे च मम भजनं करिष्यत्यसौ, ततश्चाहमपि वन्दनसत्कं निहोरकं निवेशयामीत्याभिप्रायेण वा यत्र वन्दते तद्भजमानवन्दनकमभिधीयते। (प्रव. सारो. वृ. १६२)।

१ यह मेरी सेवा करता है व आगे भी मेरी सेवा करेगा; इस कारण से हे आचार्य, मैं आपकी वन्दना करता हुआ स्थित हूं इस प्रकार से निहोरक स्थापित करते हुए जो वन्दना की जाती है वह भजमानवन्दनक दोष से दूषित होती है यह ३२ वन्दनादोषों में १२वां दोष है।

भट्टारक—१. सर्वशास्त्रकलाभिज्ञो नानागच्छाभिवर्द्धकः। महामनाः प्रभाभावी भट्टारक इतीष्यते। (नी. सा. १८)। २. भट्टान् पण्डितान् अरयति प्रेरयतीति भट्टारकः। (जिनसह. आशा. टी. ३-६, पृ. १५५)।

१ जो समस्त शास्त्रों एवं कलाओं से परिचित व अनेक गच्छों का बढ़ाने वाला है, ऐसे प्रभावशाली महामनस्वी को भट्टारक कहा जाता है। २ जो भट्ट अर्थात् पण्डितों को प्रेरित किया करता है उसका नाम भट्टारक है।

भद्र—१. भाति शोभते स्वगुणैर्ददाति च प्रेरयितुश्चित्तनिर्वृतिमिति भद्रः, स एव भद्रकः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ६४, पृ. ४६)। २. कुधर्मस्थोऽपि सद्धर्मं लघुकर्मतयाऽद्विषन्। भद्रः × × ×(सा. ध. १-६)।

१ जो अपने गुणों से सुशोभित होता हुआ प्रेरक के चित्त को निर्वृत्ति को देता है वह भद्र कहलाता है। २ जो मिथ्या धर्म में अवस्थित रहकर भी कर्म की अल्पता से समीचीन धर्म से द्वेष नहीं करता है उसे भद्र कहा जाता है।

भद्रा प्रतिमा—भद्रा पूर्वादिदिक्चतुष्टये प्रत्येकं प्रहरचतुष्टयकायोत्सर्गकरणरूपा अहोरात्रद्वयमानेति। (स्थाना. अभय. वृ. २, ३, ८४)।

पूर्वादि चार दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में दो दिन रात प्रमाण चार प्रहर तक कायोत्सर्ग करना, इसका नाम भद्रा प्रतिमा है।

भद्रा व्याख्या—युक्तिभिः प्रत्यवस्थाय पूर्वापरविरोधपरिहारेण तत्रस्थाशेषार्थव्याख्या भद्रा। (धव. पु. ६, पृ. २५२)।

युक्तिपूर्वक समाधान करके पूर्वापर विरोध का परिहार करते हुए सिद्धान्तगत समस्त पदार्थों को जो व्याख्या की जाती है उसका नाम भद्रा व्याख्या है। यह चार प्रकार की वाचना में दूसरी है।

भद्रासन—सम्पुटीकृत्य मुष्काग्रे तलपादौ तथोपरि। पाणिकच्छपिकां कुर्यात् यत्र भद्रासनं तु तत्॥ (योगशा. ४-१३०)।

अण्डकोश के आगे दोनों पांवों के तलभाग को मिलाकर ऊपर हाथों की कच्छपिका के करने पर भद्रासन होता है।

भय—देखो भयसंज्ञा। १. परचक्कादओ भय णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३३६)। २. सनिमित्तमनिमित्तं वा यद् बिभेति तद् भयम्। (बृहत्क. क्षेम. वृ. ८३१)।

१ शत्रु के आक्रमण आदि का नाम भय है। २ किसी निमित्त अथवा विना निमित्त के भी जो भीति (डर) उत्पन्न होती है उसे भय कहा जाता है।

भय (नोकषायविशेष)—१. यदुदयादुद्वेगस्तद्भयम्। (स. सि. ८-९; त. वा. ८, ९, ४)। २. भीतिर्भयम्, जेहि कम्मक्खंधेहि उदयमागदेहि जीवस्स भयमुप्पज्जइ तेसिं भयमिदि सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ४७); जस्स कम्मस्स उदएण जीवस्स सत्त भयाणि समुप्पज्जंति तं कम्मं भयं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६१)। ३. भीतिर्यस्माद् बिभेति वा भयम्, यैः कर्मस्कन्धैरुदयमागतैर्जीवस्य भयमुत्पद्यते तेषां भयमिति संज्ञा। (मूला. वृ. १२, १९२)। ४. येन सनिमित्तमनिमित्तं वा बिभेति तद्भयमोहनीयम्। (शतक. मल. हेम. वृ. ३८)। ५. यदुदयेन सनिमित्तमनिमित्तं वा बिभेति तद् भयवेदनीयम्। (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. ८४)। ६. यदुदयात् सनिमित्तमनिमित्तं वा भयमुपगच्छति तत् भयवेदनीयम्। (धर्मसं. मलय. वृ. ६१५)। ७. यदुदयवशात् सनिमित्तमनिमित्तं वा तथारूपस्वसंकल्पतो बिभेति तद्भयमोहनीयम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३-२९३, पृ. ४६९; पंचसं. मलय. वृ. ३-५, पृ. ११३)। ८. यदुदयात् सनिमित्तमनिमित्तं वा तथा रूपस्वसंकल्पतः "जीवस्य इह १ परलोया २ ऽऽदाण ३ मकम्हा ४ आजीव ५ मरण ६ मसिलोय

७" [आव. सं. गा. पत्र ६४५-२] इति गाथार्थोक्तं सप्तविधं भयं भवति तद् भयमोहनीयम्। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. २१)। ६. यदुदयात् त्रासलक्षण उद्वेग उत्पद्यते तद् भयम्। (त. वृत्ति श्रुत. ८-७)।

१ जिस कर्म के उदय से प्राणी को उद्वेग हुआ करता है उसे भय अकषायवेदनीय कहा जाता है। भयनोकषाय, भयमोहनीय और भयवेदनीय आदि उसके नामान्तर हैं। ४ जिसके उदय से कुछ निमित्त पाकर अथवा बिना निमित्त के भी प्राणी डरता है उसका नाम भयमोहनीय है।

भयनिःसृता असत्या भाषा—सा य भयणिस्सिया खलु जं भासइ भयवसेण विवरीयं। जह णिवगहिओ चोरो नाहं चोरोत्ति भणइ नरो॥ (भाषार. ४६)। भयभीत होकर जो विपरीत (असत्य) भाषण किया जाता है वह भयनिःसृत असत्य भाषा कहलाती है। जैसे— राजा के द्वारा पकड़ा गया चोर जो यह कहता है कि मैं चोर नहीं हूं।

भयमोहनीय—देखो भय (नोकषायविशेष)।

भयवन्दनादोष—देखो भजमानवन्दनक। १. भयेन चैव मरणादिभीतस्य भयसंत्रस्तस्य यद्वन्दनाका[क]-रणं भयदोषः। (मूला. वृ. ७-१०७)। २. ××× भयंति निज्जूहणाईअं॥ (प्रव. सारो. १६१)। ३. निर्ज्जूहणम्—गच्छान्निष्कासनं तदादिकं यद्भयं तेन यत्र वन्दते तद्भयवन्दनकमाख्यायते। (आव. ह. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ८८; प्रव. सारो. वृ. १०७)। ४. भयं क्रिया सप्तभयात् ×××॥ (अन. ध. ८-१०२)।

१ मरण आदि के भय से पीड़ित होकर जो वन्दना की जाती है वह भय नामक वन्दनादोष से कलुषित होती है। उसे भयवन्दनक भी कहा जाता है।

भयविनय—दुष्प्रधर्षन्नृपति-सामन्तादेः प्राणादिभयेनानुवर्तनं भयविनयः। (उत्तरा. शा. वृ. २६१७)। मरण आदि के भय से जो दुर्योध्य राजा के सामन्त आदि के प्रति अनुकूल प्रवृत्ति की जाती है उसे भयविनय कहा जाता है।

भयवेदनीय—देखो भय (नोकषायविशेष)।

भयसंज्ञा—१. अइभीमदंसणेण य तस्सुवओगेण ऊणसत्तेण। भयकम्मुदीरणाए भयसण्णा जायदे चउहिं। (प्रा. पंचसं. १-५३; गो. जी. १३५)। २. मोहनीयोदयात् सात्म-(अस्वास्थ्य-) लक्षणा भयसंज्ञा भयपरिज्ञानं बिभेमीति। (त. भा. हरि. वृ. २-२५)। ३. भयसंज्ञा भयाभिनिवेशः भयमोहोदयजो जीवपरिणाम एव। इयमपि चतुर्भिः स्थानैः समुत्पद्यते। तद्यथा—हीणसत्तयाए १ भयमोहणिज्जोदएण २ मइए ३ तयट्ठोवओगेणं तया। (आव. सू. अ. ४, हरि. वृ. पृ. ५८०)। ४. भयसंज्ञा भयात्मिका। (धव. पु. २, पृ. ४१४)। ५. साध्वसलक्षणा भयसंज्ञा भयपरिज्ञानं बिभेमीति। (त. भा. सिद्ध. वृ. २-२५)। ६. भयसंज्ञा त्रासरूपा। (आचारा. नि. शी. वृ. १, १, १, ३६, पृ. ११)। ७. भयसंज्ञा भयमोहनीयसम्पाद्यो जीवपरिणामः। (स्थाना. अभय. वृ. ४, ४, ३५६)। ८. भयसंज्ञा भयवेदनीयोदयजनितत्रासपरिणामरूपा। (जीवाजी. मलय. वृ. १३, पृ. १५)। ९. भयसंज्ञा भयं त्रासरूपं यदनुभूयते। (लोकप्र. ३-४४५)। १०. भयसंज्ञा मोहनीयोदयात् भयोत्पादः। (धर्मसं. मान. ३-२७, पृ. ८०)।

१ अतिशय भयानक पदार्थ के देखने से, उधर उपयोग के जाने से, बल की हीनता से और भयकर्म की उदीरणता से जो भीतिरूप परिणाम होता है उसका नाम भयसंज्ञा है। ३ भय मोहनीय के उदय से भय के अभिप्रायरूप जो जीवपरिणाम होता है उसे भयसंज्ञा कहते हैं। वह इन चार स्थानों से होती है— बल की हीनता, भयमोह का उदय, उस प्रकार की बुद्धि और ओर उस उपयोग की वर्तमानता।

भलन—तत्र भलनं न भेतव्यं भवता, अहमेव तद्विषये भलिष्यामीत्यादिवाक्यैश्चौर्यविषयं प्रोत्साहनम्। (प्रश्नव्या. अभय. वृ. पृ. १६३; श्राद्धगु. पृ. १०)।

'आपको डरना नहीं चाहिए, उसके विषय में मैं ही सम्हालूंगा' इत्यादि वाक्यों द्वारा चोरी के विषय में जो प्रोत्साहित किया जाता है उसका नाम भलन है।

भव—१. अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवम्। (रत्नक. १०४)। २. आयुर्नामकर्मोदयनिमित्त आत्मनः पर्यायो भवः। (स. सि. १, २१)। ३. भवन्त्यस्मिन् कर्मवशवर्तिनः प्राणिनः इति भवः। (आव. नि. हरि. वृ. २५; नन्दी हरि.

वृ. पृ. २६; श्रा. प्र. टी. ४८; पंचसू. हरि. व्या. पृ. २)। ४. आयुर्नामकर्मोदयविशेषापादितपर्यायो भवः। आत्मनो यः पर्यायः आयुषो नाम्नश्चोदयविशेषाच्छेपकारणापेक्षादाविर्भवति साधारणलक्षणो भव इत्युच्यते। (त. वा. १, २१, १)। ५. उत्तरोत्तरदेहस्य पूर्वपूर्ववियोगो भवः। (न्यायवि. २-७२, पृ. १०२)। ६. पूर्वशरीरपरित्यागद्वारेणोत्तरशरीरोपादानं भवः। (धव. पु. १४, पृ. ४२५); उप्पण्णपढमसमयप्पहुडि जाव चरिमसमओ त्ति जो अवत्थाविसेसो सो भवो णाम। (धव. पु. १५, पृ. ६-७)। ७. नामायुरुदयापेक्षो नुः पर्यायो भवः स्मृतः। (त. श्लो. १, २१, २)। ८. आयुष्कर्मोदयनिमित्तको जीवस्य पर्यायः भवः। (त. वृत्ति श्रुत. १-२१)।

१ जीव की जो अवस्था रक्षण से रहित, अशुभ, विनश्वर, दुःखस्वरूप और आत्मस्वरूप से भिन्न होती है उसका नाम भव (संसार) है। २ आयु नामक कर्म के उदय के निमित्त से जो जीव की अवस्था होती है उसे भव कहते हैं। ३ जिसमें प्राणी कर्म के वशीभूत होते हैं उसे भव कहा जाता है।

भवक्षयनिबन्धन प्रतिपात—तत्थ भवक्खयणिबंधणो णाम उवसमसेढिसिहरमारूढस्स तत्थेव खीणाउअस्स कालं कादूण कसाएसु पडिवादो। (जयध.—कसायपा. पृ. ७१४, टि. २)।

उपशमश्रेणी के शिखर पर चढ़े हुए, अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती, जीव का आयु का क्षय हो जाने से मरण को प्राप्त होकर जो कषायों में पतन होता है उसे भवक्षयप्रतिपात कहते हैं।

भवग्रहणभव — गलिदभुज्जमाणाउअस्स उदिण्णअपुव्वाउकम्मस्स पढमसमए उप्पण्णजीवपरिणामो वंजणसण्णिदो पुव्वसरीरपरिच्चाएण उत्तरसरीरगहणं वा भवग्गहणभवो णाम। (धव. पु. १६, पृ. ५१२)।

जीवनकाल का नाम भवनग्रहण है। जिसकी भुज्यमान आयु क्षीण हो चुकी है तथा अपूर्व आयु उदयको प्राप्त हो चुकी है उसके प्रथम समय में जो व्यञ्जन नामक परिणाम होता है उसको, अथवा पूर्वशरीर को छोड़कर नवीन शरीर के ग्रहण करने को भवग्रहणभव कहा जाता है।

भवधारणीय अनुयोगद्वार—भवधारणीय त्ति अणुयोगद्दारं केण कम्मेण णेरइय-तिरिक्ख-मणुस-देवभवा धरिज्जति त्ति परूवेदि। (धव. पु. ६, पृ. २३५)।

किस कर्म के उदय से जीव नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव की पर्याय को धारण किया करते हैं; इसकी प्ररूपणा जिस अनुयोगद्वार में की जाती है उसका नाम भवधारणीय अनुयोगद्वार है। यह कर्मप्रकृतिप्राभृत के कृति आदि चौबीस अनुयोगद्वारों में अठारहवां अनुयोगद्वार है।

भवन—१. वलहि-कूडविवज्जिया सुर-णरावासा भवणाणि णाम। (धव. पु. १४, पृ. ४९५)। २. भवनं त्वायामापेक्षया पादोनसमुच्छ्रयमेव। (विपाक. अभय. वृ. २-१)।

१ जो देवों और मनुष्यों के निवासस्थान छज्जे और कूट से रहित होते हैं उन्हें भवन कहा जाता है। २ लम्बाई की अपेक्षा जिसकी ऊँचाई एक चौथाई कम हुआ करती है वह भवन कहलाता है।

भवनवासी—१. भवनेषु वसन्तीत्येवं शीला भवनवासिनः। (स. सि. ४-१०; बृहत्सं. मलय. वृ. २; प्रज्ञाप. मलय. वृ. १-३८)। २. भवनेषु वसन्तीति भवनवासिनः। (त. भा. ४-११)। ३. भवनेषु वसनशीला भवनवासिनः। भवनेषु वसन्तीत्येवंशीला भवनवासिन इति प्रथमनिकायस्येयं सामान्यसंज्ञा। (त. वा. ४, १०, १)। ४. भवनवासिनामकर्मोदये सति भवनेषु वसनशीला भवनवासिनः। (त. श्लो. ४-१०)। ५. भवनेषु वसन्तीत्येवंस्वभावाः भवनवासिनः। (त. वृत्ति श्रुत. ४-१०)।

१ जो देव स्वभावतः भवनों में निवास करते हैं वे भवनवासी कहलाते हैं। ४ भवनवासी नामकर्म के उदय से भवनों में रहने वाले देवों को भवनवासी कहा जाता है।

भवपरिवर्तन—देखो भवसंसार। १. नरकगतौ सर्वजघन्यमायुर्दशवर्षसहस्राणि, तेनायुषा तत्रोत्पन्नः पुनः परिभ्रम्य तेनैवायुषा जातः, एवं दशवर्षसहस्राणां यावन्तः समयास्तावत्कृत्वस्तत्रैव जातो मृतः पुनरेकैकसमयाधिकभावेन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि। ततः प्रच्युत्य तिर्यग्गतावन्तर्मुहूर्तायुः समुत्पन्नः पूर्वोक्तेनैव क्रमेण त्रीणि पल्योपमानि तेन परिसमापितानि। एवं मनुष्यगतौ च। देवगतौ नारकवत्। अयं तु विशेषः—एकत्रिंशत्सागरोपमाणि परि-

समापितानि यावत्तावद्भवपरिवर्तनम्। (स. सि. २-१०; मूला. वृ. ८-१४)। २. णिरआउआ जहण्णा जाव दु उवरिल्लओ दु गेवज्जो। जीवो मिच्छत्तवसा भवट्ठिदिं हिंडिदो बहुसो। (धव. पु. ४, पृ. ३३३ उद्.)। ३. णेरइयादिगदीणं अवरट्ठिदिदो वरट्ठिदी जाव। सव्वट्ठिदिसु वि जम्मदि जीवो गेवज्जपज्जंतं। (कार्तिके. ७०)। ४. नरकगतौ सर्वजघन्यायुर्दशसहस्रवर्षाणि, तेनायुषा तत्रोत्पन्नः पुनः संसारे भ्रान्त्वा तेनैवायुषा तत्रैवोत्पन्नः, एवं दशसहस्रवर्षसमयवारं तत्रैवोत्पन्नो मृतः, पुनः एकैकसमयाधिकभावेन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमाप्यन्ते। पश्चात् तिर्यग्गतौ अन्तर्मुहूर्तायुषा उत्पन्नः, प्राग्वत् अन्तर्मुहूर्तसमयवारमुत्पन्न उपरि समयाधिकभावेन त्रिपल्योपमानि तेनैव जीवेन परिसमाप्यन्ते। एवं मनुष्यगतावपि त्रिपल्योपमानि तेनैव जीवेन परिसमाप्यन्ते। नरकगतिवद्देवगतावपि दशसहस्रवर्षसमयसमाप्तेरुपरि समयोत्तरक्रमेण एकत्रिंशत्सागरोपमाणि समाप्यन्ते। एवं भ्रान्त्वागत्य पूर्वोक्तजघन्यस्थितिको नारको जायते। तदा तदेतत्सर्वं भवपरिवर्तनं भवति। (गो. जी. जी. प्र. ५६०)।

१ नरकगति में सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्ष है। इस आयु के साथ कोई जीव वहां उत्पन्न हुआ, पश्चात् परिभ्रमण करके फिर से भी उसी आयु के साथ वहीं पर उत्पन्न हुआ, इस प्रकार से १०००० वर्षों के जितने समय हैं उतने बार वहीं उत्पन्न हुआ और मरा, फिर एक एक समय अधिक के क्रम से तेतीस सागरोपमों को वहाँ समाप्त किया। तत्पश्चात् नरकगति से निकल कर अन्तर्मुहूर्त आयु के साथ तिर्यञ्चगति में उत्पन्न हुआ, वहां पूर्वोक्त क्रम से तीन पल्योपमों को उसने समाप्त किया। तिर्यञ्चगति के समान मनुष्यगति में भी उसने तीन पल्योपमों को समाप्त किया। देवगति में उत्पन्न होने व मरने का क्रम नरकगति के समान है। विशेष इतना है कि वहां पर ३३ सागरोपमों के स्थान में ३१ सागरोपमों को समाप्त किया। इस परिभ्रमण में जितना समय व्यतीत हुआ उतने समय का नाम भवपरिवर्तन है।

भवप्रत्यय अवधिज्ञान—१. भवन्त्यस्मिन् कर्मवशवर्तिनः प्राणिन इति भवः, नरकादिजन्मेति भावः, भव एव प्रत्ययः कारणं यस्य तद्भवप्रत्ययम्। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. २६)। २. भव उत्पत्तिः प्रादुर्भावः, स प्रत्ययः कारणं यस्य अवधिज्ञानस्य तद् भवप्रत्ययकम्। (धव. पु. १३, पृ. २९०)। ३. स (भवः) बहिःप्रत्ययो यस्य स भवप्रत्ययोऽवधिः। (त. श्लो. १, २१, २)। ४. भवप्रत्ययं बहिरंगदेवभव-नारकभवप्रत्ययनिमित्तत्वात्, तद्भावे भावात् तदभावेऽभावात्, तत्तु देशावधिज्ञानमेव। (प्रमाणप. पृ. ६९)। ५ भवः प्रत्ययो यस्य स भवप्रत्ययः। अवश्यं ह्युत्पन्नमात्रस्यैव देवस्य नारकस्य वा सोऽवधिरुद्भवति, एतावता स भवप्रत्यय इत्यभिधीयते, तद्भावे भावात् तदभावे चाभावात् इति। (त. भा. सिद्ध. वृ. १, २१)। ६. तत्र भवन्ति कर्मवशवर्तिनः प्राणिनोऽस्मिन्निति भवो नारकादिजन्म ×××, भव एव प्रत्ययः कारणं यस्य स भवप्रत्ययः। प्रत्ययशब्दश्चेह कारणपर्यायः, ××× स एव स्वार्थिकक-प्रत्यय विधानात् भवप्रत्ययकः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३१७, पृ. ५३९)।

१ प्राणी जिसमें कर्म के वशीभूत होते हैं उसका नाम भव है जो नारकादि अवस्थास्वरूप है, यह भव जिस अवधिज्ञान का कारण है वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है।

भवप्रत्यय-प्रकृतियां—भवप्रत्ययाः भवन्ति अस्मिन् कर्मवशवर्तिनः प्राणिन इति भवः, स च नारकादिलक्षणः, स एव प्रत्ययः कारणं यासां अवधिज्ञानप्रकृतीनां ताः भवप्रत्ययाः पक्षिणां गगनगमनवत्, ताश्च नारकामराणामेव। (आव. नि. हरि. वृ. २५)।

जिन अवधिज्ञानप्रकृतियों का कारण नारकादि जन्म हुआ करता है वे कर्मप्रकृतियां भवप्रत्ययप्रकृतियां कहलाती हैं।

भव-मरण—यस्मिन् भवे तिर्यग्मनुष्यभवलक्षणे वर्तते जन्तुस्तद्भवयोग्यमेवायुर्बद्ध्वा पुनः तत्क्षयेण म्रियमाणस्य यद्भवति। (समवा. अभय. वृ. १७)।

जीव जिस नारकादि भव में रह रहा है उसके योग्य आयु को बांधकर पश्चात् उसके क्षीण होने पर जो मरण होता है वह विवक्षित भवमरण कहलाता है।

भवलोक — १. णेरइय-देव-माणुसतिरिक्खजोणि गदा य जे सत्ता। णियभवे वट्टंता भवलोगं तं विआणाहि॥ (मूला. ७-५२)। २. नेरइय-देव-

मणुआ तिरिक्खजोणीगया य जे सत्ता। तम्मि भवे वट्टंता भवलोगं तं वियाणाहि ॥ (आव. भा. २०१, पृ. ५६३)। ३. नैरयिक-देव-मनुष्यास्तिर्यग्योनिगताश्च ये सत्त्वाः प्राणिनस्तस्मिन् भवे वर्तमाना यदनुभावमनुभवन्ति तं भवलोकं जानीहि, भव एव लोको भवलोक इति व्युत्पत्तेः। (आव. भा. मलय. वृ. २०१, पृ. ५६३)।

१ नारक, देव, मनुष्य और तिर्यंच अवस्था को प्राप्त प्राणी जो अपने उस भव में रहते हैं उसे भवलोक जानना चाहिए।

भवविचय धर्मध्यान—१. प्रेत्यभावो भवोऽमीषां चतुर्गतिषु देहिनाम्। दुःखात्मेत्यादिचिन्ता तु भवादिविचयं पुनः ॥ (ह. पु. ५६–४७)। २. भवविचयं सचित्ताचित्त-मिश्र-शीतोष्ण-मिश्र-संवृत-विवृत-मिश्रभेदासु योनिषु जरायुजाण्डज-पोतोपपाद-सम्मूर्च्छनजन्मनो जीवस्य भवाद्भवान्तरसंक्रमण इषुगति-पाणिमुक्ता-लांगलिका-गोमूत्रिकाश्चतस्रो गतयो भवन्ति। × × × एवमनादिसंसारे सन्धावतो जीवस्य गुणविशेषानुपलब्धितस्तस्य भवसंक्रमणं निरर्थकमित्येवमादिभवसंक्रमणदोषानुचिन्तनं सप्तमं धर्म्यम्। (चा. सा. पृ. ७८; कार्तिके. टी. ४८२)।

१ चार गतियों में परिभ्रमण करने वाले प्राणियों का जो परलोकगमन—अन्य-अन्य जन्म की प्राप्ति रूप भव है—वह दुखरूप है, इस प्रकार के चिन्तन का नाम भवविचय धर्मध्यान है। यह धर्मध्यान के दस भेदों में सातवां है।

भवविपाक—भवे नारकादिरूपे स्व-स्वयोग्ये विपाकः फलदानाभिमुखता भवविपाकः। (पंचसं. मलय., वृ. ३–२४; पृ. १२६)।

अपने-अपने योग्य नारक आदि भव में जो कर्मगत फल देने की अभिमुखता है उसका नाम भवविपाक है।

भवविपाकिनी प्रकृतियाँ—१. उचितभवप्राप्तावेव विपाको यासां ता भवविपाकिन्यः। (पंचसं. च. स्वो. वृ. ३–४६)। २. भवे नारकादिरूपे स्वयोग्ये विपाकः फलदानाभिमुख्यं यासां ता भवविपाकिन्यः। (कर्मप्र. यशो. वृ. १, पृ. १२)।

१ जिन कर्मप्रकृतियों का विपाक—फलदानोन्मुखता—उचित भव की प्राप्ति होने पर ही होती है उनको भवविपाकिनी प्रकृतियाँ कहा जाता है।

भवविमोचक—भवाद् दुःखबहुलकुयोनिलक्षणाद् दुःखितजीवान् काक-शृगाल-पिपीलिका-मक्षिकादींस्तथाविध-कुत्सितसंस्कारात् प्राणव्यपरोपणेन मोचयत्युत्तारयतीति भवविमोचकः पाषण्डिविशेषः। (उपदे. प. मु. वृ. १८८)।

जो उक्त प्रकार के कुसंस्कार के वश कौवा, गीदड़, चींटी और मक्खी आदि प्राणियों को प्रचुर दुःखों से परिपूर्ण कुयोनि रूप भव से प्राणविघात के द्वारा मुक्त करता है—उनका उद्धार करता है—उसे भवविमोचक कहा जाता है। यह एक पाखण्डी सम्प्रदायविशेष है।

भवसंसार—देखो भवपरिवर्तन—१. णिरयाउजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लवा [या] दु गेविज्जा। मिच्छत्तसंसिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदा। (द्वादशानु. २८; स. सि. २–१० उद्.)। २. अभेदरत्नत्रयात्मकसमाधिबलेन सिद्धगतौ स्वात्मोपलब्धिलक्षणसिद्धपर्यायरूपेण योऽसावुत्पादो भवस्तं विहाय नारक-तिर्यग्मनुष्यभवेषु तथैव देवभवेषु च निश्चयरत्नत्रयभावनारहितभोगाकांक्षानिदानपूर्वकद्रव्यतपश्चरणरूपजिनदीक्षाबलेन नवग्रैवेयकपर्यन्तं "सक्को सक्कमहिस्सी दक्खिणइंदा य लोयवाला य। लोयंतिया य देवा तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति ॥ [मूला. १२-१४२]" इति गाथाकथितपदानि तथागमनिषिद्धान्यपदानि च त्यक्त्वा भवविध्वंसकनिजशुद्धात्मभावनारहितो भवोत्पादकमिथ्यात्व-रागादिभावनासहितश्च सन्नयं जीवोऽनन्तवारान् जीवितो मृतश्चेति भवसंसारो ज्ञातव्यः। (बृ. द्रव्यसं. टी. ३५, पृ. ९०)। ३. दशवर्षसहस्रजघन्यायुःप्रभृतिसमयोत्तरवृद्धिक्रमसमापितोत्कृष्टायुःस्थितिकपर्यायवृत्तिर्भवसंसारः। (भ. आ. मूला. ४३०)।

१ मिथ्यात्व के आश्रित होकर जीव जघन्य नारक आयु (१०००० वर्ष) से लेकर समयाधिक के क्रम से उपरिम ग्रैवेयक तक जो बहुत प्रकार से समस्त भवों की स्थिति पर्यन्त परिभ्रमण करता है, उसका नाम भवसंसार है।

भवसिद्धिक—देखो भव्य। १. भवा भाविनी सिद्धिः मुक्तिर्येषां ते भवसिद्धिका भव्याः। (समवा. अभय. वृ. २, पृ. ७)। २. भविष्यतीति भवा भाविनी सा सिद्धिर्निवृतिर्येषां ते भवसिद्धिकाः भव्याः। (स्थाना. अभय. वृ. १–५१)।

१ भविष्य में जिनको मुक्ति प्राप्त होने वाली है वे भवसिद्धिक कहलाते हैं।

भवस्थकेवलज्ञान—यद् मनुष्यभवे अवस्थितस्य चतुर्ष्वघातिकर्मस्वक्षीणेषु केवलज्ञानं तद् भवस्थकेवलज्ञानम्। (आव. नि. मलय. वृ. ७८, पृ. ८३)।

मनुष्य भव में स्थित जीव के चार अघातिया कर्मों के क्षीण न होने पर—उनके विद्यमान रहते हुए—जो केवलज्ञान होता है वह भवस्थकेवलज्ञान कहलाता है।

भवस्थिति—१. भवविषया स्थितिः भवस्थितिः। (त. वा. ३, ३९, ६)। २. का भवट्ठिदी णाम? आउट्ठिदिसमूहो। (धव. पु. ४, पृ. ३९८)।

१ भवविषयक स्थिति का नाम भवस्थिति है। २ आयुस्थितियों के समूह को भवस्थिति कहते हैं।

भवस्थितिकाल—भवे एकस्मिन् स्थितिर्भवस्थितिस्तस्याः कालो भवस्थितिकालः। (पंचसं. मलय. वृ. २-३४, पृ. ७०)।

एक भव में जो अवस्थान होता है उसके काल को भवस्थितिकाल कहते हैं।

भवाननुगामी अवधिज्ञान—१. जं (ओहिणाणं) भवंतरं ण गच्छदि, खेत्तंतरं चेव गच्छदि; तं भवाणणुगामी णाम। (धव. पु. १३, पृ. २९४)। २. यद्भवान्तरं न गच्छति स्वोत्पन्नभवे एव विनश्यति, क्षेत्रान्तरं गच्छतु मा वा, तत् भवाननुगामि। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. ३७२)।

१ जो अवधिज्ञान उत्पन्न होने के भव से अन्य भव में नहीं जाता है, क्षेत्रान्तर में ही जाता है; उसे भवाननुगामी अवधिज्ञान कहते हैं।

भवानुगामी—१. जमोहिणाणमुप्पण्णं संतं तेण जीवेण सह अण्णभवं गच्छदि तं भवाणुगामी णाम। (धव. पु. १३, २९४)। २. यत्स्वोत्पन्नभवादन्यस्मिन् भवेऽपि वर्तमानं जीवमनुगच्छति तद् भवानुगामि। (गो. जी. म. प्र. ३७२)। ३. यत् उत्पत्तिभवादन्यभवे स्वस्वामिनमनुगच्छति तद्भवानुगामी भवति। (गो. जी. जी. प्र. ३७२)।

१ जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता हुआ उस जीव के साथ अन्य भव में जाता है उसका नाम भवानुगामी है।

भवान्त—१. ××× भवं खवंतो भवंतो य। (व्यव. भा. पी. द्वि. वि. १२, पृ. ६)। २. भवं नारकादि, भवं क्षपयन् भवान्तः भवमन्तयति भवस्यान्तं करोतीति व्युत्पत्तेः। (व्यव. भा. पी. द्वि. वि. मलय. वृ. १२, पृ. ६)।

जो जीव नारकादि भव का—संसार का—क्षय कर रहा है उसे भवान्त कहते हैं।

भवाभिनन्दी—क्षुद्रो लाभरतिर्दीनो मत्सरी भयवान् शठः। अज्ञो भवाभिनन्दी स्यान्निष्फलारम्भसंगतः। (योगदृ. ७६)।

क्षुद्र, (कृपण), लाभ में अनुराग रखने वाला (याचक), दीन, ईर्ष्यालु, सदा भयभीत रहने वाला, शठ (मायावी), मूर्ख और निरर्थक आरम्भ में रत रहने वाला जीव भवाभिनन्दी—संसार को बहुत मानने वाला होता है।

भविष्यत्काल—१. तदेव वत्स्यंत्स्थितिसम्बन्धवर्तनापेक्षं भविष्यदिति व्यपदिश्यते, कालाणुश्च भविष्यन्निति। (त. वा. ५, २२, २५)। २. भविष्यतीति भविष्यत्। (धव. पु. १३, पृ. २८६)।

१ वही क्रियापरिणत द्रव्य आगे वर्तने वाली स्थिति के सम्बन्ध से वर्तना की अपेक्षा रखता हुआ भविष्यत्काल कहलाता है।

भव्य—१. सम्यग्दर्शनादिभावेन भविष्यतीति भव्यः। (स. सि. २-६); सम्यग्दर्शनादिभिर्व्यक्तिर्यस्य भविष्यतीति भव्यः। (स. सि. ८-६)। २. अर्हद्भिः प्रोक्ततत्त्वेषु प्रत्ययं संप्रकुर्वते। श्रद्धावन्तश्च तेष्वेव रोचन्ते ते च नित्यशः॥ अनादिनिधने काले निर्यास्यन्ति निभिर्युताः। भव्यास्ते च समाख्याता हेमधातुसमाः स्मृताः॥ (वरांगच. २६, १०-११)। ३. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रपरिणामेन भविष्यतीति भव्यः। भव्यादीनां प्रायेण भविष्यत्कालविषयत्वात् सम्यग्दर्शनादिपर्यायेण य आत्मा भविष्यति स भव्य इतीमं व्यपदेशमास्कन्दति। (त. वा. २, ७, ७); निर्वाणपुरस्कृतो भव्यः। (त. वा. ६, ७, ११)। ४. भव्वा जिणेहि भणिया इह खलु जे सिद्धिगमणजोगाउ। ते पुण अणाइपरिणामभावओ हुंति नायव्वा॥ (श्रा. प्र. ६६)। ५. भव्याः अनादिपारिणामिकभव्यभावयुक्ताः। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ११४)। ६. भव्यत्वं नाम सिद्धिगमनयोग्यत्वमनादिपारिणामिको भावः। (ललितवि. पृ. २८; पञ्चसूत्र हरि. वृ. पृ. ३; ध. बि. मु. वृ. २-६८)।

७. निर्वाणपुरस्कृतो भव्यः। उक्तं च—सिद्धत्तणस्स जोग्गा जे जीवा ते हवंति भवसिद्धा। ण उ मल-विगमे णियमो ताणं कणगोपलाणमिव ॥ (धव. पु. १, पृ. १५०)। ८. भव्या सिद्धिर्यस्यासौ भव्यः। (त. भा. सिद्ध. वृ. २–७)। ९. भविष्यत्सिद्धत्व-पर्याया हि भव्याः। (भ. आ. विजयो. २५)। १०. भविष्यत्सिद्धिको भव्यः सुवर्णोपलसन्निभः। (म. पु. २४–१२८; जम्बू. च. ३६६)। ११. भव्याः सिद्धत्वयोग्याः स्युः × × × ॥ (त. सा. २–६०)। १२. भविष्यति तेन तेनावस्थात्मना सत्तां प्राप्स्यति यः स भव्यो जीवः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ६६, पृ. ७२)। १३. × × × भव्वा निव्वाणगमण-रिहा ॥ (षडशी. जिन. ६२)। १४. भविष्यति विव-क्षितपर्यायेणेति भव्यः। (ललित. मु. वृ. पृ. २८)। १५. भव्यः तथाविधानादिपारिणामिकभावात् सिद्धि-गमनयोग्यः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १-१)। १६. भव्य-स्तथारूपानादिपारिणामिकभावात् सिद्धिगमनयोग्यः। (पञ्चसं. मलय. वृ. १–८, पृ. १२)। १७. भव्यः सिद्धिगमनयोग्यः। (बृहत्क. भा. क्षे. वृ. ७१४)। १८. मोक्षहेतुरत्नत्रयरूपेण भविष्यति परिणंस्यतीति भव्यः। (लघीय. अभय. वृ. पृ. ६६)। १९. रयणत्त-यसिद्धीए अणंतचउट्टयसरूवगो भविदुं। जुग्गो जीवो भव्वो × × ×। (भावत्रि. १४)। २०. सामग्री-विशेषैः रत्नत्रयानन्तचतुष्टयस्वरूपेण परिणाममितुं योग्यो भव्यः। (गो. जी. जी. प्र. ७०४)।

१ जो जीव भविष्य में सम्यग्दर्शनादिस्वरूप से परिणत होने वाला है उसे भव्य कहते हैं। ४ जो अनादि पारिणामिक भाव (भव्यत्व) से मुक्ति प्राप्त करने के योग्य होते हैं वे भव्य कहलाते हैं। १२ जो उस उस अवस्थास्वरूप से सत्ता को आगे प्राप्त करने वाला है उसे भव्य कहा जाता है। यह नोआगमद्रव्यनिक्षेप के अन्तर्गत है।

भव्यत्व—देखो भव्य।

भव्यदिवाकर—सुप्रभातं सदा यस्य केवलज्ञानर-श्मिना। लोकालोकप्रकाशेन सोऽस्तु भव्यदिवाकरः। (आप्तस्व. १२)।

जिसका सुन्दर प्रभात (सवेरा) लोक व अलोक को प्रकाशित करने वाली केवलज्ञान की किरण से—केवलज्ञानरूप सूर्योदय के साथ—होता है वह भव्य-दिवाकर कहलाता है।

भव्यद्रव्यदेव—जे भविय पंचिंदियतिरिक्खजोणिए वा मणुस्से वा देवेसु उववज्जित्तए से तेणट्ठेणं गोयमा एवं वुच्चइ भवियदव्वदेवा। (भगवती. १२, ६, १, पृ. १७६४)।

जो पंचेन्द्रिय तिर्यंच या मनुष्य देवों में उत्पन्न होने वाले होते हैं उन्हें भविक (भावी) द्रव्यदेव कहा जाता है।

भव्यनोआगमद्रव्यमङ्गल — भव्यनोआगमद्रव्यं भविष्यत्काले मङ्गलप्राभृतज्ञायको जीवः मङ्गल-पर्यायं परिणंस्यतीति वा। (धव. पु. १, पृ. २६)।

जो जीव भविष्य में मंगलप्राभृत का ज्ञाता अथवा मंगलपर्याय से परिणत होने वाला है उसे भव्य-नोआगमद्रव्यमंगल कहा जाता है।

भव्यशरीरद्रव्यमङ्गल—भव्यो योग्यः, मंगल-पदार्थं ज्ञास्यति यो न तावद्विजानाति स भव्य इति, तस्य शरीरं भव्यशरीरम्, भव्यशरीरमेव द्रव्यमंग-लम्, अथवा भव्यशरीरं च तद् द्रव्यमंगलं चेति समासः। अयं भावार्थः—भाविनीं वृत्तिमङ्गीकृत्य मङ्गलोपयोगाधारत्वात् मधुघटादिन्यायेनैव तत् बालादिशरीरं भव्यशरीरद्रव्यमङ्गलमिति। (आव. हरि. वृ. पृ. ५)।

भव्य का अर्थ योग्य होता है, जो जीव मंगल पदार्थ के जानने के योग्य है—भविष्य में उसका ज्ञान प्राप्त करने वाला है, किन्तु वर्तमान में उसे नहीं जानता है उसे भव्य और उसके शरीर को भव्य शरीर कहते हैं। इस भव्यशरीर का नाम ही भव्यशरीरद्रव्यमंगल है।

भव्यशरीरद्रव्यावश्यक—१. से किं तं भविअ-सरीरदव्वावस्सयं? जे जीवे जोणिजम्मणनि-क्खंते इमेणं चेव आत्तएणं सरीरसमुस्सएण जिणोव-दिट्ठेणं आवस्सएत्ति पयं सेयकाले सिक्खिस्सइ न ताव सिक्खइ, जहा को दिट्ठंतो अयं महुकुंभे भवि-स्सइ अयं घयकुंभे भविस्सइ, से त्तं भविअसरीरद-व्वावस्सयं। (अनुयो. सू. १७, पृ. २१)। २. भव्यो योग्यो दलं पात्रमिति पर्यायाः, तस्य शरीरं तदेव भाविभावाऽऽवश्यककारणत्वात् द्रव्यावश्यकं भव्य-शरीरद्रव्यावश्यकम्, यो जीवो योन्या अवाच्यदेशल-क्षणया जन्मत्वेन सकलनिर्वृत्तिलक्षणेन, अनेनामग-र्भव्यवच्छेदमाह, निष्क्रान्तो निर्गतोऽनेनैव शरीरस-मुच्छ्रयेणेति पूर्ववत्, आदत्तेन गृहीतेन, अन्ये त्वभि-

दधति ग्रत्तएणं त्ति ग्रात्मीयेन जिनदृष्टेन भावेनेत्यादि पूर्ववत्, ग्रथवा तदावरणक्षयोपशमलक्षणेन सेयकाले त्ति छान्दसत्वादागामिनि काले शिक्षिष्यते न तावच्छिक्षते, तदेतद् भाविनीं वृत्तिमङ्गीकृत्य भव्यशरीरद्रव्यावश्यकमित्युच्यते। (ग्रनुयो. हरि. वृ. पृ. १५)।

१ जो जीव योनिजन्मसे निकलने पर—गर्भसे बाहिर ग्राने पर—प्राप्त शरीर के ग्राश्रय से जिनोपदिष्ट भाव से ग्रावश्यक इस पद को सीखेगा—भविष्य में उसका ज्ञान प्राप्त करेगा, किन्तु वर्तमान में नहीं सीखता है; वह भव्यशरीरनोग्रागमद्रव्यावश्यक कहलाता है।

भव्यशरीरद्रव्योपक्रम—यस्तु बालको नेदानीमुपक्रमशब्दार्थमवबुध्यते, ग्रथ चाऽवश्यमायत्यां भोत्स्यते, संभावनाभाविनिबन्धनत्वाद् भव्यशरीरद्रव्योपक्रमः। (व्यव. भा. १, पृ. १; जम्बूद्वी. शा. वृ. पृ. ५)।

जो बालक उपक्रम शब्दार्थ को ग्रभी तो नहीं जान रहा है, किन्तु भविष्य में वह उसे ग्रवश्य जानेगा; इस प्रकार भविष्य में सम्भावना का कारण होने से उसे भव्यशरीरद्रव्योपक्रम कहा जाता है।

भव्यशरीरनोग्रागमद्रव्यश्रुत—से किं तं भविग्रशरीरदव्वसुग्रं? जे जीवे जोणीजम्मणनिक्खंते जहा दव्वावस्सए तहा भाणिग्रव्वं जाव से तं भविग्रसरीरदव्वसुग्रं। (ग्रनुयो. सू. ३६, पृ. ३३)।

जो जीव योनिजन्म से निकलने पर प्राप्त शरीर के ग्राश्रय से जिनोपदिष्ट भाव के ग्रनुसार श्रुत पदार्थ को नहीं जानता है, पर भविष्य में उसे जानेगा; उसे भव्यशरीरनोग्रागमद्रव्यश्रुत कहा जाता है।

भव्यशरीरनोग्रागमद्रव्यानुपूर्वी—से किं तं भवियसरीरदव्वाणुपुव्वी? जे जीवे जोणीजम्मणनिक्खंते सेसं जहा दव्वावस्सए जाव से तं भविग्रसरीरदव्वाणुपुव्वी। (ग्रनुयो. सू. ७२, पृ. ५२)।

जो जीव योनिजन्म से निकलने पर प्राप्त शरीर के ग्राश्रय से जिनोपदिष्ट भाव के ग्रनुसार ग्रानुपूर्वी पद को वर्तमान में तो नहीं जानता है, किन्तु भविष्य में उसे ग्रवश्य जानेगा, उसे भव्यशरीरनोग्रागमद्रव्यानुपूर्वी कहते हैं।

भव्यसिद्ध—१. भव्याः भविष्यन्तीति सिद्धिर्येषां ते भव्यसिद्धयः। (धव. पु. १, पृ. ३९२); भविया सिद्धी जेसिं जीवाणं ते भवंति भवसिद्धा। (धव. पु. १, पृ. ३९४ उद्.)। २. भव्या भवितुं योग्या भाविनी या सिद्धिः ग्रनन्तचतुष्टयस्वरूपोपलब्धिर्येषां ते भव्यसिद्धाः। (गो. जी. जी. प्र. ५५७)।

१ जिनको भविष्य में सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त होने वाली है वे भव्यसिद्ध कहलाते हैं।

भव्यस्पर्श—जहा विस-कूड-जंत-पंजर-कंदय-वग्गुरादीणि कत्तारो समोद्दियारो य भवियो फुसणदाए णो य पुण ताव तं फुसदि सो सव्वो भवियफासो णाम। (षट्खं. ५, ३, ३०, पु. १३, पृ. ३४)।

विष, कूट, यन्त्र, पंजर, कन्दक ग्रौर वागुरा ग्रादि; उनके कर्ता (निर्माता) तथा उन्हें इच्छित प्रदेश में रखने वाले; जो स्पर्श के योग्य हैं पर वर्तमान में स्पर्श नहीं करते हैं, उन सबको कारण में कार्य के उपचार से भव्यस्पर्श कहा जाता है।

भाक्तिक—यो धर्मधारिणां धत्ते स्वयं सेवापरायणः। निरालस्योऽशठः शान्तो भाक्तिकः स मतो बुधैः॥ (ग्रमित. श्रा. ९–४)।

जो धर्म के धारक महापुरुषों की सेवा में स्वयं तत्पर होकर उन्हें धारण करता है तथा ग्रालस्य से रहित होकर सरल व शान्त होता है वह भाक्तिक माना गया है।

भाजन-सम्पात ग्रन्तराय—१. × × × संपादो भायणाणं च॥ (मूला. ६–७८)। २. तथा सम्पातो भाजनस्य परिवेषिकहस्ताद् भाजनं यदि पतेत्। (मूला. वृ. ६–७८)।

१ परोसने वाले के हाथ से पात्र के गिर जाने पर साधु के भोजन में भाजनसम्पात नाम का ग्रन्तराय होता है।

भाटकजीविका—१. भाडीकम्मं सएण भंडोवक्खरेण भाडएण वहइ, परायगं ण कप्पति ग्रण्णेसिं वा सगडं बलद्दे य न देति। (ग्राव. ६, पृ. ८२९; श्रा. प्र. टी. २८८)। २. शकटोक्ष-लुलायोष्ट्र-खराश्वतर-वाजिनाम्। भारस्य वाहनाद् वृत्तिर्भवेद्भाटकजीविका॥ (योगशा. ३–१०५; त्रि. श. पु. च. ६, ३, ३३९)। ३. भाटकजीविका शकटादिभारवाहनमूल्येन जीवनम्। (सा. ध. स्वो. टी. ५, २१)।

२ गाड़ी, बैल, भैंसा, ऊंट, गधा, खच्चर ग्रौर घोड़ा;

इनको भाड़े के निमित्त से चलाकर आजीविका करना, यह भाटकजीविका कहलाती है।

भाटीकर्म—देखो भाटकजीविका।

भार—१. भारो य तुला वीसं ××× । (ज्योतिष्क. १६)। २. विंशतिस्तुला भारः। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. १६)। ३. घटीभिर्दशभिस्ताभिरेको भारः प्रकीर्तितः। (कल्पसू. विनय. वृ. ६, पृ. २१)।

१ बीस तुलाओं का एक भार होता है। ३ दस घटिकाओं का एक भार होता है।

भार्या—भ्रियते पोष्यते भर्त्रेति, भार्या। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ५७)।

पति के द्वारा जिसका भरण-पोषण किया जाता है उसका नाम भार्या है।

भाव—१. भावः औपशमिकादिलक्षणः। (स. सि. १-८)। २. भावो चरित्तमादी ××× ॥ (बृहत्क. २१५०)। ३. भावो विवक्षितक्रियानुभूतियुक्तो हि वै समाख्यातः। सर्वज्ञैरिन्द्रादिवदिहेन्दनादिक्रियानुभवात् ॥ अस्यायमर्थः—भवनं भावः, स हि वक्तुमिष्टक्रियानुभवलक्षणः सर्वज्ञैः समाख्यातः इन्दनादिक्रियानुभवनयुक्तेन्द्रादिवदिति। (श्राव. हरि. वृ. पृ. ५)। ४. भवनं भूतिर्वा भावो वर्णादि-ज्ञानादि। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ६६)। ५. वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः। (धव. पु. १, पृ. २६); भावो णाम जीवपरिणामो तिव्व-मंदणिज्जराभावादिरूवेण अणेयपयारो। (धव. पु. ५, पृ. १८६)। ६. भावः आत्मनो भवनं परिणामविशेषः शक्तिलक्षणः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-७)। ७. औपशमिकादिर्भावः। (न्यायकु. ७६, पृ. ८०३)। अथ को भावः? ××× विवक्षितप्रकारेण उपयोगो व्यापारः। यदि वा तथा—आगम-नोआगमरूपतया उपयोगः जीवस्योपयुक्तत्वं भावः। (न्यायकु. ७६, पृ. ८०७)। ८. भवति—विवक्षितवर्तमानसमयपर्यायरूपेण उत्पद्यते इति भावः, ××× अथवा भूतिर्भावः, वज्र-किरीटादिधारणवर्तमानपर्यायेणेन्द्रादिरूपतया वस्तुनो भवनम्, तद्गुणपर्यायेण वा ज्ञानस्य भवनम्। (सन्मति. अभय. वृ. १-६, पृ. ४०६)। ९. अर्पितेन विवर्तेन वर्तमानेन संयुतम्। द्रव्यं भावो भवेद्भावमात्रं वा विनयाश्रयः॥ (आचा. सा. ६-१७)। १०. भावो जीवस्याध्यवसायः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १-३६, पृ. १६)। ११. भवनं भावः विवक्षितरूपेण परिणमनम्, यदि वा भवतीति भावः। (श्राव. मलय. वृ. पृ. ६)। १२. भवनं भावो जीवस्यावस्थान्तरभावित्वम्। (पंचसं. मलय. वृ. ३-१६४, पृ. ५०)। १३. भावश्चारित्रादिकः परिणामः। (बृहत्क. क्षे. वृ. २१५०)। १४. भावस्तत्परिणामो ऽस्ति धारावाह्येकवस्तुनि॥ (पंचाध्या. २-२६)।

१ कर्मविशेष के उपशम आदि के आश्रय से जो जीव की परिणति होती है उसे भाव कहा जाता है। २ चारित्र आदि रूप परिणाम का नाम भाव है (इस भाव को दग्ध करने वाले वेद को प्रकृत में भावाग्नि कहा गया है।) ३ विवक्षित क्रिया के अनुभव से युक्त भाव (भावनिक्षेप) कहलाता है। जैसे इन्दन क्रिया का अनुभव करने वाले देवराज को भावनिक्षेप से इन्द्र कहा जाता है। ५ वर्तमान पर्याय से उपलक्षित द्रव्य को भाव कहते हैं।

भावकरण—यत्सामायिककरणं तद् भावकरणम्। (श्राव. नि. मलय. वृ. १०७२)।

जो सामायिक करण है उसे भावकरण कहते हैं।

भावकर्म—१. जं तं भावकम्मं णाम ॥ उवजुत्तो पाहुडजाणगो तं सव्वं भावकम्मं णाम ॥ (षट्खं. ५, ४, २९-३०—पु. १३, पृ. ६०)। २. ××× तस्सत्ती (पोग्गलपिंडसत्ती) भावकम्मं तु ॥ (गो. क. ६)।

१ कर्मप्राभृत का ज्ञाता होकर जो जीव तद्विषयक उपयोग से सहित हो उसे भावकर्म कहते हैं। २ पुद्गलपिण्डरूप द्रव्यकर्म की शक्ति को भावकर्म कहा जाता है।

भावकलङ्कल—भावकलङ्कः संक्लेशः, तं लाति आदत्त इति भावकलङ्कलः। (धव. पु. १४, पृ. २३४)।

भावकलङ्क नाम संक्लेश का है, उसे जो ग्रहण करता है वह भावकलङ्कल कहलाता है।

भावकाय—१. ××× बद्धा पुण भावओ काओ॥ (विशेषा. भा. ४२७२)। २. भावकायस्तु तत्परिणामपरिणता जीवबद्धा जीवसंयुक्ताश्च पुद्गलाः। (श्राव. सू. मलय. वृ. पृ. ५५७)।

२ जो शरीररूप से परिणत पुद्गल जीव से सम्बद्ध हैं उन्हें भावकाय कहते हैं।

भावकायोत्सर्ग—मिथ्यात्वाद्यतीचारशोधनाय भावकायोत्सर्गः, कायोत्सर्गव्यावर्णनीयप्राभृतज्ञ उपयुक्तः संज्ञानजीवप्रदेशो वा भावकायोत्सर्गः। (मूला. वृ. ७-१५१)।

मिथ्यात्वादिविषयक अतीचारों की शुद्धि के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसे भावकायोत्सर्ग कहते हैं, अथवा कायोत्सर्ग के प्ररूपक प्राभृत के ज्ञाता को भावकायोत्सर्ग जानना चाहिए।

भावकाल—१. साई सपज्जवसिओ चउभंगविभागभावणा इत्थं। उदईआईआणं तं जाणसु भावकालं तु॥ (आव. नि. ७३२)। २. भावानामौदयिकादीनां स्थितिर्भावकालः। (आव. नि. हरि. वृ. ७३१)। ३. भवत्यौदयिकादीनां या भावानामवस्थितिः। सादि-सान्तादिभिर्भङ्गैर्भावकालः स उच्यते॥ (लोकप्र. २८-१९४)।

१ औदयिक आदि भावों में सादि-सपर्यवसान आदि (सादि-अपर्यवसान, अनादि-सपर्यवसान और अनादि-अपर्यवसान) चार भंगों के विभाग की भावना के विषयभूत काल को भावकाल जानना चाहिए। २ औदयिक आदि भावों की स्थिति को भावकाल कहते हैं।

भावक्रीत—विद्या-मन्त्रादिदानेन वा क्रीतं भावक्रीतम्। (भ. आ. विजयो. २३०; कार्तिके. टी. ४४८-४९)।

विद्या व मन्त्र आदि देकर जो स्थान प्राप्त किया जाता है वह भावक्रीत दोष से दूषित होता है, कारण कि वह साधु के लिए अग्राह्य होता है।

भावक्षपणा—अट्ठविहं कम्मरयं पोराणं जं खवेइ जोगेहिं। एयं भावज्झयणं णेयव्वं आणुपुव्वीए॥ (उत्तरा. नि. ११)।

जीव योगों के द्वारा—भावाध्ययनविषयक चिन्तन आदिरूप शुभ व्यापार के द्वारा—चूंकि पूर्वसंचित कर्मरूप धूलि को नष्ट करता है, इसीलिए उस भावाध्ययन को भावक्षपणा कहा जाता है।

भावग्राम—तित्थगरा जिण चउदस, दस भिन्ने संविग्ग तह असंविग्गे। सारूविय वय दंसण, पडिमाओ भावगामो उ॥ (बृहत्क. ११११४)।

तीर्थंकर, जिन (सामान्य केवली), चतुर्दशपूर्वी, दसपूर्वी, असम्पूर्णदसपूर्वी, संविग्न (उद्यत बिहारी), असंविग्न, सारूपिक (उस्तरे से मुण्डित सिर वाले श्वेताम्बर), श्रावक, दर्शनश्रावक (अविरतसम्यग्दृष्टि) और जिनप्रतिमा; इन्हें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति के कारण होने से भावग्राम कहा जाता है।

भावचतुर्विशति—भावचतुर्विंशतिः चतुर्विंशतिर्भावसंयोगाः चतुर्विंशतिगुणकृष्णादिद्रव्यं वा भावचतुर्विंशतिः। (आव. भा. मलय. वृ. १९२, पृ. ५९०)।

चौबीस भावसंयोगों को—भावों के संयोगी भंगों को—भावचतुर्विशति कहते हैं; अथवा चौबीस गुण वाले कृष्णादि द्रव्य को भावचतुर्विशति जानना चाहिए।

भावचपल—जं जं सुयमत्थो वा उद्दिट्ठं तस्स पारमपत्तो। अन्नन्नसुय-दुमाणं, पल्लवगाही उ भावचलो॥ (बृहत्क. ७५५)।

आवश्यक या दशवैकालिक आदि ग्रन्थ के जिस जिस सूत्र या अर्थ को प्रारम्भ किया गया है उस उस के पार को प्राप्त न होकर अन्य अन्य आचारादि श्रुतरूप वृक्षों के पल्लवों के—उनके मध्यवर्ती आलापक, श्लोक या गाथा आदि रूप लेश मात्र श्रुत व अर्थ के—ग्रहण करने वाले को भावचपल कहते हैं।

भावचरण—भावचरणं गुणानां चरणम्। (उत्तरा. चू. पृ. २३९)

गुणों के आचरण का नाम भावचरण है।

भावचारित्र—देखो भावसम्यक्चारित्र।

भावजिन—१. जिणसरूवपरिच्छेदिणाणपरिणदो उवजुत्तभावजिणो। जिणपज्जायपरिणदो तप्परिणयभावजिणो। (धव. पु. ९, पृ. ८)। २. × × × भावजिणा समवसरणत्था॥ (चैत्यव. भा. दे. वृ, ५१)।

१ उपयुक्त और तत्परिणत के भेद से नोआगम भावजिन दो प्रकार के हैं। इनमें जिनस्वरूप के ज्ञापक ज्ञान से परिणत जिन उपयुक्त भावजिन कहलाते हैं। तथा जिनपर्याय से परिणत तत्परिणत भावजिन कहलाते हैं। २ समवसरण में स्थित केवली जिनों को भावजिन कहते हैं।

भावजीव—१. भावतो जीवा औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिकौदयिक-पारिणामिकभावयुक्ता उपयोगलक्षणाः × × × । (त. भा. १–५) । २. ज्ञानादिगुणपरिणतिभावत्वं तु भावजीवः । (त. भा. हरि. वृ. १–५) । ३. स एव ज्ञानादिगुणपरिणतिभावत्वेन विवक्षितो भावजीवः । (त. भा. सिद्ध. वृ. १–५, पृ. ४५); भावैः सह वर्तन्ते इति ते भावजीवाः । (त. भा. सिद्ध. वृ. १–५, पृ. ४८) । ४. भावतोऽनन्तज्ञानानन्तदर्शन-चारित्र- देशचारित्राचारित्रागुरुलघुपर्यायवान् । (आव. नि. मलय. वृ. १२६, पृ. १३१) ।

१ औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भावों से युक्त उपयोगस्वरूप जीवों को भावजीव कहा जाता है । ४ जो भावत: अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, चारित्र, देशचारित्र, अचारित्र और अगुरुलघु पर्याय से युक्त हो वह भावजीव कहलाता है ।

भावज्ञान—देखो भावसम्यग्ज्ञान ।

भावतप— भावतपः आत्मस्वरूपैकाग्रत्वरूपम् । (ज्ञा. सा. वृ. ३१–१) ।

आत्मस्वरूप में एकाग्रता का होना ही भावतप कहलाता है ।

भावतः इन्द्रियविवेक—१. भावत इन्द्रियविवेको नाम जातेऽपि विषय-विषयिसम्बन्धे रूपादिगोचरस्य विज्ञानस्य भावेन्द्रियाभिधानस्य राग-कोपाभ्यां विवेचनं राग-कोपसहचारिरूपादिविषयमानसज्ञानापरिणतिर्वा । (भ. आ. विजयो. १६८) । २. भावतस्तु जातेऽप्यक्षार्थयोगे रूपादिज्ञानस्य भावेन्द्रियाभिधानस्य राग-द्वेषाभ्यां विवेचनं तत्सहचारिरूपादिविषयमानसज्ञानापरिणतिर्वा । (भ. आ. मूला. १६८) ।

१ विषय (रूपादि) और विषयी (इन्द्रिय) का सम्बन्ध होने पर भी भावेन्द्रिय नामक रूपादिविषयक ज्ञान की राग-द्वेष से पृथक्ता को अथवा राग-द्वेष के सहचारी रूपादिविषयक मानस ज्ञान से परिणत न होने को भावतः इन्द्रियविवेक कहा जाता है ।

भावतः क्रोधविवेक—परपरिभवादिनिमित्तचित्तकलंकाभावो भावतः क्रोधविवेकः । (भ. आ. विजयो. व मूला. १६८) ।

दूसरों के अपमानादि की कारणभूत चित्त की कलुषता के अभाव को भावतः क्रोधविवेक कहते हैं ।

भावतः मानविवेक—भावतः 'एतेभ्योऽहं प्रकृष्टः' इति मनसाहंकारवर्जनं भावतो मानकषायविवेकः । (भ. आ. विजयो. व मूला. १६८) ।

"इनसे मैं श्रेष्ठ हूं" इस प्रकार का मन से अभिमान न करना, इसे भावतः मानविवेक कहते हैं ।

भावतः लोभविवेक—भावतो ममेदंभावरूपमोहजपरिणामापरिणतिः । (भ. आ. मूला. १६८) ।

'यह मेरा है' इस प्रकार के ममेदंभावरूप मोह से जो परिणाम उत्पन्न होता है उस रूप परिणत न होना; इसका नाम भावतः लोभविवेक है ।

भावतीर्थ—१. दंसण-णाण-चरित्ते णिज्जुत्ता जिणवरा दु सव्वेपि । तिहिं कारणेहिं जुत्ता तम्हा ते भावदो तित्थं । (मूला. ७–६३) । २. अट्ठविहं कम्मरयं बहुएहिं भवेहिं संचिअं जम्हा । तव-संजमेण धुव्वइ तम्हा तं भावओ तित्थं ।। दंसण नाणचरित्तेसु निउत्तं जिणवरेहिं सव्वेहिं । तिसु अत्थेसु निउत्तं तम्हा तं भावओ तित्थं ।। (आव. नि. १०६८–६९) । ३. इह भावतीर्थं क्रोधादिनिग्रहसमर्थं प्रवचनमेव गृह्यते । (आव. नि. हरि. वृ. १०६७) ।

१ सभी जिनेन्द्र (तीर्थंकर) दर्शन, ज्ञान और चारित्र से संयुक्त रहते हैं; इसीलिए दाह की शान्ति, तृष्णा का छेद और मलरूप कीचड़ का शोधन, इन तीन कारणों से उन्हें भावसतीर्थ कहा जाता है । २ बहुत भवों से संचित कर्मरूप रज (धूलि) चूंकि तप-संयम के द्वारा धोयी जाती है, इसीलिए दाहशान्ति आदि तीन अर्थों में नियुक्त प्रवचन को अथवा तप-संयम को भावतः तीर्थ कहते हैं। सभी जिनेन्द्रों ने दर्शन, ज्ञान व चारित्र में नियुक्त किया है, इसीलिए उक्त तीन अर्थों में नियुक्त उसे (प्रवचन को) भावतः तीर्थ कहा जाता है ।

भावदीप—यस्तु श्रुतज्ञानात्मको भावदीपः अक्षर-पद-पाद-श्लोकादिसंहतिनिर्वर्तितः स संयोगिमः, यस्त्वन्यनिरपेक्षो निरपेक्षतया च न संयोगिमः स केवलज्ञानात्मकोऽसंयोगिमो भावदीपः । (उत्तरा. शा. वृ. २०७, पृ. २१२) ।

भावदीप संयोगिम और असंयोगिम के भेद से दो प्रकार का है । उनमें जो अक्षर, पद, पाद और

२ जो शरीररूप से परिणत पुद्गल जीव से सम्बद्ध हैं उन्हें भावकाय कहते हैं।

भावकायोत्सर्ग—मिथ्यात्वाद्यतीचारशोधनाय भावकायोत्सर्गः, कायोत्सर्गव्यावर्णनीयप्राभृतज्ञ उपयुक्तसंज्ञानजीवप्रदेशो वा भावकायोत्सर्गः। (मूला. वृ. ७-१५१)।

मिथ्यात्वादिविषयक अतीचारों की शुद्धि के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसे भावकायोत्सर्ग कहते हैं, अथवा कायोत्सर्ग के प्ररूपक प्राभृत के ज्ञाता को भावकायोत्सर्ग जानना चाहिए।

भावकाल—१. साई सपज्जवसिओ चउभंगविभागभावणा इत्थं। उदईआईआणं तं जाणसु भावकालं तु॥ (आव. नि. ७३२)। २. भावानामौदयिकादीनां स्थितिर्भावकालः। (आव. नि. हरि. वृ. ७३१)। ३. भवत्यौदयिकादीनां या भावानामवस्थितिः। सादि-सान्तादिभिर्भङ्गैर्भावकालः स उच्यते॥ (लोकप्र. २८-१९४)।

१ औदयिक आदि भावों में सादि-सपर्यवसान आदि (सादि-अपर्यवसान, अनादि-सपर्यवसान और अनादि-अपर्यवसान) चार भंगों के विभाग की भावना के विषयभूत काल को भावकाल जानना चाहिए। २ औदयिक आदि भावों की स्थिति को भावकाल कहते हैं।

भावक्रीत—विद्या-मन्त्रादिदानेन वा क्रीतं भावक्रीतम्। (भ. आ. विजयो. २३०; कार्तिके. टी. ४४८-४९)।

विद्या व मन्त्र आदि देकर जो स्थान प्राप्त किया जाता है वह भावक्रीत दोष से दूषित होता है, कारण कि वह साधु के लिए अग्राह्य होता है।

भावक्षपणा—अट्ठविहं कम्मरयं पोराणं जं खवेइ जोगेहिं। एयं भावज्झयणं णेयव्वं आणुपुव्वीए॥ (उत्तरा. नि. ११)।

जीव योगों के द्वारा—भावाध्ययनविषयक चिन्तन आदिरूप शुभ व्यापार के द्वारा—चूंकि पूर्वसंचित कर्मरूप धूलि को नष्ट करता है, इसीलिए उस भावाध्ययन को भावक्षपणा कहा जाता है।

भावग्राम—तित्थगरा जिण चउदस, दस भिन्ने संविग्ग तह असंविग्गे। सारूविय वय दंसण, पडिमाओ भावगामो उ॥ (बृहत्क. ११९४)।

तीर्थंकर, जिन (सामान्य केवली), चतुर्दशपूर्वी, दसपूर्वी, असम्पूर्णदसपूर्वी, संविग्न (उद्यत विहारी), असंविग्न, सारूपिक (उस्तरे से मुण्डित सिर वाले श्वेताम्बर), श्रावक, दर्शनश्रावक (अविरतसम्यग्दृष्टि) और जिनप्रतिमा; इन्हें सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र की उत्पत्ति के कारण होने से भावग्राम कहा जाता है।

भावचतुर्विंशति—भावचतुर्विंशतिः चतुर्विंशतिर्भावसंयोगाः चतुर्विंशतिगुणकृष्णादिद्रव्यं वा भावचतुर्विंशतिः। (आव. भा. मलय. वृ. १९२, पृ. ५९०)।

चौबीस भावसंयोगों को—भावों के संयोगी भंगों को—भावचतुर्विंशति कहते हैं; अथवा चौबीस गुण वाले कृष्णादि द्रव्य को भावचतुर्विंशति जानना चाहिए।

भावचपल—जं जं सुयमत्थो वा उद्दिट्ठं तस्स पारमपत्तो। अन्नन्नसुय-दुमाणं, पल्लवगाही उ भावचलो॥ (बृहत्क. ७५५)।

आवश्यक या दशवैकालिक आदि ग्रन्थ के जिस जिस सूत्र या अर्थ को प्रारम्भ किया गया है उस उस के पार को प्राप्त न होकर अन्य अन्य आचारादि श्रुतरूप वृक्षों के पल्लवों के—उनके मध्यवर्ती आलापक, श्लोक या गाथा आदि रूप लेश मात्र श्रुत व अर्थ के—ग्रहण करने वाले को भावचपल कहते हैं।

भावचरण—भावचरणं गुणानां चरणम्। (उत्तरा. चू. पृ. २३९)

गुणों के आचरण का नाम भावचरण है।

भावचारित्र—देखो भावसम्यक्चारित्र।

भावजिन—१. जिणसरूवपरिच्छेदिणाणपरिणदो उवजुत्तभावजिणो। जिणपज्जायपरिणदो तप्परिणयभावजिणो। (धव. पु. ९, पृ. ८)। २. ××× भावजिणा समवसरणत्था॥ (चैत्यव. भा. दे. वृ. ५१)।

१ उपयुक्त और तत्परिणत के भेद से नोआगम भावजिन दो प्रकार के हैं। इनमें जिनस्वरूप के ज्ञापक ज्ञान से परिणत जिन उपयुक्त भावजिन कहलाते हैं। तथा जिनपर्याय से परिणत तत्परिणत भावजिन कहलाते हैं। २ समवसरण में स्थित केवली जिनों को भावजिन कहते हैं।

भावजीव—१. भावतो जीवा औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिकौदयिक-पारिणामिकभावयुक्ता उपयोगलक्षणाः × × × । (त. भा. १-५) । २. ज्ञानादिगुणपरिणतिभाक्त्वं तु भावजीवः । (त. भा. हरि. वृ. १-५) । ३. स एव ज्ञानादिगुणपरिणतिभाक्त्वेन विवक्षितो भावजीवः । (त. भा. सिद्ध. वृ. १-५, पृ. ४५); भावैः सह वर्तन्ते इति ते भावजीवाः । (त. भा. सिद्ध. वृ. १-५, पृ. ४८) । ४. भावतोऽनन्तज्ञानानन्तदर्शन-चारित्र- देशचारित्राचारित्रागुरुलघुपर्यायवान् । (आव. नि. मलय. वृ. १२६, पृ. १३१) ।

१ औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भावों से युक्त उपयोगस्वरूप जीवों को भावजीव कहा जाता है । ४ जो भावतः अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, चारित्र, देशचारित्र, अचारित्र और अगुरुलघु पर्याय से युक्त हो वह भावजीव कहलाता है ।

भावज्ञान—देखो भावसम्यग्ज्ञान ।

भावतप— भावतपः आत्मस्वरूपैकाग्रत्वरूपम् । (ज्ञा. सा. वृ. ३१-१) ।

आत्मस्वरूप में एकाग्रता का होना ही भावतप कहलाता है ।

भावतः इन्द्रियविवेक—१. भावत इन्द्रियविवेको नाम जातेऽपि विषय-विषयिसम्बन्धे रूपादिगोचरस्य विज्ञानस्य भावेन्द्रियाभिधानस्य राग-कोपाभ्यां विवेचनं राग-कोपसहचारिरूपादिविषयमानसज्ञानापरिणतिर्वा । (भ. आ. विजयो. १६८) । २. भावतस्तु जातेऽप्यक्षार्थयोगे रूपादिज्ञानस्य भावेन्द्रियाभिधानस्य राग-द्वेषाभ्यां विवेचनं तत्सहचारिरूपादिविषयमानसज्ञानापरिणतिर्वा । (भ. आ. मूला. १६८) ।

१ विषय (रूपादि) और विषयी (इन्द्रिय) का सम्बन्ध होने पर भी भावेन्द्रिय नामक रूपादिविषयक ज्ञान को राग-द्वेष से पृथक्ता को अथवा राग-द्वेष के सहचारी रूपादिविषयक मानस ज्ञान से परिणत न होने को भावतः इन्द्रियविवेक कहा जाता है ।

भावतः क्रोधविवेक—परपरिभवादिनिमित्तचित्तकलंकाभावो भावतः क्रोधविवेकः । (भ. आ. विजयो. व मूला. १६८) ।

दूसरों के अपमानादि की कारणभूत चित्त की कलुषता के अभाव को भावतः क्रोधविवेक कहते हैं ।

भावतः मानविवेक—भावतः 'एतेभ्योऽहं प्रकृष्टः' इति मनसाहंकारवर्जनं भावतो मानकषायविवेकः । (भ. आ. विजयो. व मूला. १६८) ।

"इनसे मैं श्रेष्ठ हूं" इस प्रकार का मन से अभिमान न करना, इसे भावतः मानविवेक कहते हैं ।

भावतः लोभविवेक—भावतो ममेदंभावरूपमोहजपरिणामापरिणतिः । (भ. आ. मूला. १६८) ।

'यह मेरा है' इस प्रकार के ममेदंभावरूप मोह से जो परिणाम उत्पन्न होता है उस रूप परिणत न होना; इसका नाम भावतः लोभविवेक है ।

भावतीर्थ—१. दंसण-णाण-चरित्ते णिज्जुत्ता जिणवरा दु सव्वेवि । तिहि कारणेहिं जुत्ता तम्हा ते भावदो तित्थं । (मूला. ७-६३) । २. अट्ठविहं कम्मरयं बहुएहिं भवेहिं संचिअं जम्हा । तव-संजमेण धुव्वइ तम्हा तं भावओ तित्थं ॥ दंसण नाणचरित्तेसु निउत्तं जिणवरेहिं सव्वेहिं । तिसु अत्थेसु निउत्तं तम्हा तं भावओ तित्थं ॥ (आव. नि. १०६८-६६) । ३. इह भावतीर्थं क्रोधादिनिग्रहसमर्थं प्रवचनमेव गृह्यते । (आव. नि. हरि. वृ. १०६७) ।

१ सभी जिनेन्द्र (तीर्थंकर) दर्शन, ज्ञान और चारित्र से संयुक्त रहते हैं; इसीलिए दाह की शान्ति, तृष्णा का छेद और मलरूप कीचड़ का शोधन, इन तीन कारणों से उन्हें भावसतीर्थ कहा जाता है । २ बहुत भवों से संचित कर्मरूप रज (धूलि) चूंकि तप-संयम के द्वारा धोयी जाती है, इसीलिए दाहशान्ति आदि तीन अर्थों में नियुक्त प्रवचन को अथवा तप-संयम को भावतः तीर्थ कहते हैं । सभी जिनेन्द्रों ने दर्शन, ज्ञान व चारित्र में नियुक्त किया है, इसीलिए उक्त तीन अर्थों में नियुक्त उसे (प्रवचन को) भावतः तीर्थ कहा जाता है ।

भावदीप—यस्तु श्रुतज्ञानात्मको भावदीपः अक्षर-पद-पाद-श्लोकादिसंहतिनिर्वर्तितः स संयोगिमः, यस्त्वन्यनिरपेक्षो निरपेक्षतया च न संयोगिमः स केवलज्ञानात्मकोऽसंयोगिमो भावदीपः । (उत्तरा. शा. वृ. २०७, पृ. २१२) ।

भावदीप संयोगिम और असंयोगिम के भेद से दो प्रकार का है । उनमें जो अक्षर, पद, पाद और

श्लोक आदि से रचित श्रुतज्ञान रूप भावदीप है उसे संयोगिम भावदीप तथा अन्य किसी की अपेक्षा न करने वाले केवलज्ञानरूप भावदीप को असंयोगिम भावदीप कहा जाता है।

भावदेव—जे इमे भवणवइ-वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणिया देवा देवगइ-नामगोयाइं कम्माइं वेदेंति से तेणट्ठेणं जाव भावदेवा। (भगवती. १२, ६, २, पृ. १७६६)।

जो भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देव देवगति नामगोत्र कर्मों का वेदन करते हैं वे भावदेव कहलाते हैं।

भावद्रव्य—१. भावतो द्रव्याणि धर्मादीनि सगुणपर्यायाणि प्राप्तिलक्षणाणि ××× । (त. भा. १–५)। २. अथवा भावद्रव्यमिति—द्रव्यार्थ उपयुक्तो जीवो भावद्रव्यमुच्यते। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–५, पृ. ५०)।

१ भावनिक्षेप से प्राप्ति लक्षण (परिणमन स्वभाव) वाले गुण-पर्याय युक्त धर्मादि द्रव्य ग्रहण किये जाते हैं। २ द्रव्य के अर्थ में उपयुक्त जीव को भव्यद्रव्य कहा जाता है।

भावधर्म—१. प्रशमादिलिङ्गगम्यो जीवस्वभावलक्षणो भावधर्मः। (धर्मसं. मलय. वृ. ३४)। २ स च क्षायोपशमिकादिकशुभलेश्यापरिणामविशेषाद्दानादौ सर्वत्र स्वारसिकः चित्तसमुल्लास एव भावधर्म उच्यते। यदाह—दाने शीले तपसि च यत् स्वारसिको मनःसमुल्लासः। शुभलेश्यानन्दमयो भवत्यसौ भावधर्म इति॥ (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २, पृ. ७)।

१ जो प्रशम आदि चिह्नों के द्वारा जाना जाता है जीव के स्वभावभूत उसे भावधर्म कहते हैं। २ क्षायोपशमिकादि रूप शुभलेश्या परिणामविशेष से जो दानादि कार्यों में मन को उल्लास या हर्ष होता हैं उसे भावधर्म कहा जाता है।

भावनपुंसक—नपुंसकवेदोदयेन उभयाभिलापरूपमैथुनसंज्ञाक्रान्तो जीवो भावनपुंसकम्। (गो. जी. जी. प्र. २७१)।

नपुंसक वेद के उदय से उभय (स्त्री-पुरुष) की अभिलाषा रूप जो मैथुन संज्ञा होती है उससे युक्त जीव को भावनपुंसक कहते हैं।

भावनमस्कार—नमस्कारकर्तव्यानां गुणानुरागो भावनमस्कारः। (भ. आ. विजयो. ७२२)।

जो आप्त आदि नमस्कार करने के योग्य हैं उनके गुणों में जो अनुराग होता है उसे भावनमस्कार कहते हैं।

भावना—१. भाव्यते इति भावना, भावना ध्यानाभ्यासक्रियेत्यर्थः। (ध्यानश. हरि. वृ. २)। २. अणुव्रतस्य चोपरि वन्ध-वधादिकातिचारपरिहाररूपा वक्ष्यमाणा अपायावद्यदर्शनादिकाश्च सामान्यरूपाः महाव्रतं चोपभोगा (वर्गा ?) भिलाषिभिः प्राणिभिर्धृति-संहननपरिहाण्या प्रमादवहुलैः दूरक्षमतस्तत्प्रतिपातपरिहारार्थं भाव्यन्त इति भावनाः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–३)। ३. वीर्यान्तरायक्षयोपशमचारित्रमोहोपशम-क्षयोपशमापेक्षेणात्मना भाव्यन्तेऽसकृत्प्रवर्त्यन्ते इति भावनाः। (भ. आ. विजयो. ११८५)। ४. भावना निरुपाधिको जीववासकः परिणामः। (ध. वि. मु. वृ. ६–२७)। ५. भाव्यन्ते वास्यन्ते गुणविशेषमारोप्यन्ते महाव्रतानि यकाभिस्ता भावनाः। (योगशा. स्वो. विव. १–२५)। ६. रत्नत्रयधरेष्वेका भक्तिस्तत्कार्यकर्म च। शुभैकचिन्ता संसारजुगुप्सा भावना भवेत्॥ (त्रि. श. पु. च. १–२००)।

१ ध्यान के अभ्यास की क्रिया को भावना कहते हैं। २ अणुव्रत के ऊपर बन्ध-वधादि अतिचार के परिहाररूप एवं अपाय व अवद्य के दर्शनादिरूप सामान्य तथा जो धैर्य व संहनन की हानि से प्रमाद की अधिकता से युक्त होते हुए उपभोग के अभिलाषी प्राणी हैं उनके द्वारा दूरक्ष महाव्रत से भ्रष्ट न होने के लिए जो भायी जाती हैं उन्हें भावना कहा जाता है।

भावनायोग—सर्वपरभावान् अनित्यादिभावनया विबुध्य अनुभवभावनया स्वरूपाभिमुखयोगवृत्तिमध्यस्थः आत्मानं मोक्षोपाये युंजन् भावनायोगः। (ज्ञा. सा. वृ. ६–१)।

समस्त पर भावों को अनित्यादि भावना के द्वारा जानकर अनुभव भावना से आत्मस्वरूप के अभिमुख योगवृत्ति के मध्य में स्थित होकर आत्मा को जो मोक्षमार्ग में लगाता है, इसे भावनायोग कहते हैं।

भावनिक्षेप—१. वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं

भावः। (स. सि. १-५; धव. पु. १, पृ. २९)। २. वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः। वर्तमानेन तेन जीवन-सम्यग्दर्शनपर्यायेणोपलक्षितं द्रव्यं भावजीवो भावसम्यग्दर्शनमिति चोच्यते। (त. वा. १, ५, ८)। ३. तथोपयोगलक्षणो भावनिक्षेपः। (लघीय. स्वो. वृ. ७४)। ४. वट्टमाणपज्जाएण उवलक्खियं दव्वं भावो णाम। (जयध. १, पृ. २६०)। ५. वर्तमानेन यत्नेन पर्यायेणोपलक्षितम्। द्रव्यं भवति भावं तं वदन्ति जिनपुङ्गवाः॥ (त. सा. १-१३)। ६. तत्कालपर्ययाक्रान्तं वस्तु भावो विधीयते॥ (उपासका. ८२७; परमाध्या. १-९)। ७. तथैवोपयोगपरिणामलक्षणो भावनिक्षेपः। (सिद्धिवि. वृ. १२-२, पृ. ७३९)। ८. द्रव्यमेव वर्तमानपर्यायसहितं भावः। (त. वृत्ति श्रुत. १-५)। ९. तत्पर्यायो भावो यथा जिनः समवसरणसंस्थितिकः। घातिचतुष्टयरहितो ज्ञानचतुष्टययुतो हि दिव्यवपुः॥ (पंचाध्या. १-७४४)।

१ वर्तमान विवक्षित पर्याय से उपलक्षित द्रव्य को भावनिक्षेप कहते हैं।

भावनिद्रा—भावनिद्रा तु ज्ञान-दर्शन-चरित्रशून्यता। (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. ४२, पृ. ५६)।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र से रहित होने का नाम भावनिद्रा है।

भावनिबन्धन—जं दव्वं भावस्स आलंबणमाहारो होदि तं भावनिबंधणं। जहा लोहस्स हिरण्ण-सुवण्णादीणि णिबंधणं, ताणि अस्सिऊण तदुप्पत्तिदंसणादो ×××। (धव. पु. १५, पृ. ३)।

जो द्रव्य भाव का आलम्बन या आधार होता है उसे भावनिबन्धन कहा जाता है। जैसे लोभ के निबन्धन चांदी-सोना आदि।

भावनिर्जरा—१. भावनिर्जरा कर्मपरिशाटः सम्यग्ज्ञानाद्युपदेशानुष्ठानपूर्वकः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-५, पृ. ४९)। २. भावनिर्जरा नाम कर्मत्वपर्यायविगमः पुद्गलानाम्। (भ. आ. विजयो. १८४७)। ३. जहकालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण। भावेण सडदि णेया ×××॥ (द्रव्यसं. ३६)। ४. निर्विकारपरमचैतन्यचिच्चमत्कारानुभूतिसञ्जातसहजानन्दस्वभावसुखामृतरसास्वादरूपो भावो भावनिर्जरा। (बृ. द्रव्यसं. टी. ३६)। ५. कर्मशक्तिशातनसमर्थो द्वादशतपोभिर्वृद्धिं गतः शुद्धोपयोगः संवरपूर्विका भावनिर्जरा। (पंचा. का. जय. वृ. १०८)। ६. रागादीनां विभावानां विच्छेदो भावनिर्जरा। (आचा. सा. ३-३५)। ७. आत्मनः शुद्धभावेन गलत्येतत्पुराकृतम्। वेगाद् भुक्तरसं कर्म सा भवेद्भावनिर्जरा॥ (जम्बू च. १३-१२७)। ८. या शुद्धात्मोपलब्धेः स्वसमयवपुषा निर्जरा भावसंज्ञा नाम्ना भेदोऽनयोः स्यात्करणविगतः कार्यनाशाप्रसिद्धेः॥ (अध्यात्मक. ४-६)। ९. तस्माद् ज्ञानमयः शुद्धस्तपस्वी भावनिर्जरा। (अध्यात्मसार १८-१६५)।

१ सम्यग्ज्ञानादि के उपदेश व अनुष्ठानपूर्वक जो कर्म आत्मा से पृथक् होते हैं, इसे भावनिर्जरा कहते हैं। २ पुद्गलों की कर्मत्व पर्याय का विनाश होना, इसका नाम भावनिर्जरा है।

भावपक्व— संजम-चरित्तजोगा उग्गमसोही य भावपक्कं तु। अन्नो वि य आएसो निरुवक्कमजीवमरणं तु॥ (बृहत्क. भा. १०३५)।

आंखों से देखने आदि रूप संयमयोग, मूल एवं उत्तर गुण रूप चारित्र और उद्गमदोषों की शुद्धि को भावपक्व कहते हैं। अन्य भी आदेश (उपदेश) है—जिस जीव ने जितनी आयु बांधी है उस सब का पालन करके निरुपक्रमायुष्क जीव का जो मरण होता है उसे भावपक्व जानना चाहिए।

भावपरिक्षेप—नच्चा नरवइणो सत्त-सार-बुद्धी-परक्कमविसेसे। भावेण परिक्खित्तं तेण तमन्ने परिहरंति॥ (बृहत्क. भा. ११२५)।

किसी राजा के सत्त्व (धैर्य), सार (सेना व कोश आदि), बुद्धि और पराक्रम को जानकर जो अन्य राजा उसके नगर को छोड़ देते हैं, इसे उसके सत्त्व व सार आदि रूप भाव से परिक्षिप्त जानना चाहिए।

भावपरिणाम—भावस्य जीवाजीवादिसम्बन्धिनः परिणामाः तेन तेन अज्ञानात् ज्ञानं नीलाल्लोहितमित्यादिप्रकारेण भवनानि भावपरिणामाः। (आव. भा. मलय. वृ. २०४, पृ. ५६४)।

जीव-अजीव आदि सम्बन्धी भाव के परिणामों को —उस उस प्रकार से, जैसे अज्ञान से ज्ञान व नील से लाल, होने वाले परिवर्तनों को—भावपरिणाम कहते हैं।

भावपरिवर्तन—१. पञ्चेन्द्रियः संज्ञी पर्याप्तको

मिथ्यादृष्टिः कश्चिज्जीवः स सर्वजघन्यां स्वयोग्यां ज्ञानावरणप्रकृतेः स्थितिमन्तःकोटीकोटीसंज्ञिकामापद्यते। तस्य कषायाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि तत्स्थितियोग्यानि भवन्ति। तत्र सर्वजघन्यकषायाध्यवसायस्थाननिमित्तान्यनुभागाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकप्रमितानि भवन्ति। एवं सर्वजघन्यां स्थितिं सर्वजघन्यं च कषायाध्यवसायसायस्थानं सर्वजघन्यमेवानुभागबन्धस्थानमास्कन्दतस्तद्योग्यं सर्वजघन्यं योगस्थानं भवति। तेषामेव स्थिति-कषायानुभागस्थानानां द्वितीयमसंख्येयभागवृद्धियुक्तं योगस्थानं भवति। एवं च तृतीयादिषु चतुःस्थानपतितानि श्रेण्यसंख्येयभागप्रमितानि योगस्थानानि भवन्ति। तथा तामेव स्थितिं तदेव कषायाध्यवसायस्थानं च प्रतिपद्यमानस्य द्वितीयमनुभवाध्यवसायस्थानं भवति। तस्य च योगस्थानानि पूर्ववद्वेदितव्यानि। एवं तृतीयादिष्वपि अनुभवाध्यवसायस्थानेषु आ संख्येयलोकपरिसमाप्तेः। एवं तामेव स्थितिमापद्यमानस्य द्वितीयं कषायाध्यवसायस्थानं भवति। तस्याप्यनुभवाध्यवसायस्थानानि योगस्थानानि च पूर्ववद्वेदितव्यानि। एवं तृतीयादिष्वपि कषायाध्यवसायस्थानेषु आ असंख्येयलोकपरिसमाप्तेर्वृद्धिक्रमो वेदितव्यः। उक्ताया जघन्यायाः स्थितेः समयाधिकायाः कषायादिस्थानानि पूर्ववत्। एवं समयाधिकक्रमेण आ उत्कृष्टस्थितेस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीपरिमितायाः कषायादिस्थानानि वेदितव्यानि। अनन्तभागवृद्धिः असंख्येयभागवृद्धिः संख्येयभागवृद्धिः संख्येयगुणवृद्धिः असंख्येयगुणवृद्धिः अनन्तगुणवृद्धिः इमानि षट् वृद्धिस्थानानि। हानिरपि तथैव। अनन्तभागवृद्ध्यनन्तगुणवृद्धिरहितानि चत्वारि स्थानानि। एवं सर्वेषां कर्मणां मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च परिवर्तनक्रमो वेदितव्यः, तदेतत्सर्वं समुदितं भावपरिवर्तनम्। (स. सि. २-१०; मूला. वृ. ८-१४)। २. सव्वासिं पगदीणं घणुभाग-पदेसबंधठाणाणि। जीवो मिच्छत्तवसा परिभमिदो भावसंसारे॥ (धव. पु. ४, पृ. ३३४ उद्.)। ३. परिणमदि सण्णिजीवो विविहकसाएहिं ठिदिणिमित्तेहिं। अणुभागनिमित्तेहिं य वट्टंतो भावसंसारे। (कार्तिके. ७१; भ. आ. मूला. १७८१ उद्.)।

१ किसी पंचेन्द्रिय, संज्ञी, पर्याप्तक, मिथ्यादृष्टि, जीव ने अपने योग्य ज्ञानावरण प्रकृति की अन्तःकोड़ाकोड़ि नामक सबसे जघन्य स्थिति प्राप्त की, उसके उक्त स्थिति के योग्य असंख्यात लोक प्रमाण छह स्थानपतित कषायाध्यवसायस्थान होते हैं। इनमें सबसे जघन्य कषायाध्यवसायस्थान के निमित्त अनुभागाध्यवसायस्थान असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं। इस प्रकार सर्वजघन्य स्थिति सर्वजघन्य कषायाध्यवसायस्थान और सर्वजघन्य ही अनुभागबन्धस्थान को प्राप्त करने वाले उस जीव के उसके योग्य सर्वजघन्य योगस्थान होता है। उन्हीं स्थितिस्थानों, कषायस्थानों और अनुभागस्थानों का दूसरा योगस्थान असंख्यातभागवृद्धि से युक्त होता है। इसी प्रकार तृतीय आदि योगस्थानों में वे योगस्थान चार स्थानपतित श्रेणि के असंख्यातवें भाग मात्र होते हैं। इसके पश्चात् उसी स्थिति और उसी कषायाध्यवसायस्थान को प्राप्त होने वाले उक्त जीव के द्वितीय अनुभागाध्यवसायस्थान होता है। उसके योगस्थानों का क्रम पूर्व के समान समझना चाहिए। यही क्रम असंख्यात लोक प्रमाण तृतीय आदि अनुभागाध्यवसायस्थानों में जानना चाहिए। इस प्रकार उसी स्थिति को प्राप्त उक्त जीव के द्वितीय कषायाध्यवसायस्थान होता है। उसके भी अनुभागाध्यवसायस्थानों और योगस्थानों के क्रम को पूर्वके समान ही जानना चाहिए। इस प्रकार से तृतीय आदि असंख्यात लोक प्रमाण कषायस्थानों में वृद्धि के क्रम को जानना चाहिए। पश्चात् पूर्वोक्त जघन्य स्थिति के एक समय अधिक होने पर कषायादिस्थानों का क्रम पूर्व के समान रहता है। इस प्रकार समयाधिक्रम से उक्त ज्ञानावरण प्रकृति की उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम प्रमाण स्थिति तक कषायादिस्थानों के क्रम को पूर्व के समान जानना चाहिए। अनन्तभागवृद्धि, असंख्येयभागवृद्धि, संख्येयभागवृद्धि, संख्येयगुणवृद्धि, असंख्येयगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि, ये छह वृद्धि के स्थान हैं। इसी प्रकार से हानि भी जानना चाहिए। पर उसमें अनन्तभागवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि से रहित चार ही स्थान होते हैं। इस प्रकार ज्ञानावरण के समान शेष मूल प्रकृतियों और उनकी उत्तर प्रकृतियों में भी परिवर्तन के क्रम को जानना चाहिए। इस प्रकार से यह भावपरिवर्तन

होता है।

भावपाप—१. जीवस्य कर्तुर्निश्चयकर्मतामापन्नोऽशुभपरिणामो द्रव्यपापस्य निमित्तमात्रत्वेन कारणीभूतत्वात्तदास्रवक्षणादूर्ध्वं भावपापम्। (पंचा. अमृत. वृ. १३२)। २. मिथ्यात्व-रागादिरूपो जीवस्याशुभपरिणामो भावपापम्। (पंचा. का. जय. वृ. १०८; अन. ध. स्वो. टी. २-४०)।

१ जीव के जो अशुभ परिणाम होता है उसका कर्ता जीव है व वह परिणाम कर्म है, वह अशुभ परिणाम द्रव्यपाप का निमित्त मात्र होने से कारणीभूत है, इसी से आस्रवक्षण के बाद उसे भावपाप कहा जाता है।

भावपुण्य—१. जीवस्य कर्तुः निश्चयकर्मतापन्नः शुभपरिणामो द्रव्यपुण्यस्य निमित्तमात्रत्वेन कारणीभूतत्वात्तदास्रवक्षणादूर्ध्वं भवति भावपुण्यम्। (पंचा. का. अमृत. वृ. १३२; अन. ध. स्वो. टी. २-४०)। २. दान-पूजा-षडावश्यकादिरूपो जीवस्य शुभपरिणामो भावपुण्यम्। (पंचा. जय. वृ. १०८)।

१ शुभ परिणाम का कर्ता जीव है व वह शुभ परिणाम कर्म है, यह शुभ परिणाम द्रव्य पुण्य का निमित्त है; इसी से उसे आस्रवक्षण के बाद भावपुण्य कहा जाता है।

भावपुरुष—१. भावपुरिसो उ जीवो भावे पगयं तु भावेणं॥ (आव. नि. ७३६)। २. पुंवेदोदयेन स्त्रियाम् अभिलापरूपमैथुनसंज्ञाक्रान्तो जीवो भावपुरुषः। (गो. जी. जी. प्र. २७१)।

१ 'पूः शरीरम्, पुरि शेते इति पुरुषः' इस निरुक्ति के अनुसार जो शरीर में रहता है उसे पुरुष या जीव कहा जाता है, वही भावपुरुष है। अथवा भावद्वार की प्ररूपणा में या भावनिर्गमप्ररूपणा के अधिकार में भावपुरुष—शुद्ध जीव तीर्थंकर या गणधर प्रकृत हैं।

भावपुलाक—भावपुलाए जेण मूलगुण-उत्तरगुणपदेण पडिसेविएण निस्सारो संजमो भवति सो भावपुलाओ। (दशवै. चू. पृ. ३४६)।

जिस मूल गुण व उत्तरगुण पद के सेवन द्वारा संयम निस्सार होता है उसे भावपुलाक कहते हैं।

भावपूजा—१. अभ्युत्थान-प्रदक्षिणीकरण-प्रणमनादिका कायक्रिया च, वाचा गुणसंस्तवनं च भावपूजा, मनसा तद्गुणानुस्मरणम्। (भ. आ. विजयो. ४७)। २. काऊणाणंतचउट्ठयाइगुणकित्तणं जिणाईणं। जं वंदणं तियालं कीरइ भावच्चणं तं खु॥ पंचणमोक्कारपएहिं अहवा जावं कुणिज्ज सत्तीए। अहवा जिणिंदथोत्तं वियाण भावच्चणं तं पि॥ पिंडत्थं च पयत्थं रूवत्थं रूववज्जियं अहवा। जं भाइज्जइ झाणं भावमहं तं विणिद्दिट्ठं॥ (वसु. श्रा. ४५६-५८)। ३. भावपूजा कायेनाभ्युत्थान-प्रदक्षिणीकरण-प्रणामादिका, वाचा गुणस्तवनम्, मनसा गुणानुस्मरणम्। (अन. ध. स्वो. टी. २-११०; भ. आ. मूला. ४७)। ४. यदनन्तचतुष्कादिविधाय गुणकीर्तनम्। त्रिकालं क्रियते देववन्दना भावपूजनम्॥ परमेष्ठिपदैर्जापः क्रियते यत्स्वशक्तितः। अथवाऽर्हद्गुणस्तोत्रं साप्यर्चा भावपूर्विका॥ पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्। ध्यायते यत्र तद्विद्धि भावार्चनमनुत्तरम्॥ (धर्मसं. श्रा. ६, ६८-१००)। ५. भावपूजा स्तुतिभिः सद्भूततीर्थकृद्गुणपरावर्तनपराभिर्वाग्भिः। (चैत्यव. सोम. अव. १०, पृ. ५)।

१ उठना, प्रदक्षिणा करना और प्रणाम आदि करना; इस प्रकार की कायक्रिया के साथ वचन से स्तुति करना तथा मन से उनके गुणों का स्मरण करना; इस सबको भावपूजा कहते हैं।

भावपूति—उग्गमकोडिअवयवमित्तेण वि मीसियं सुसुद्धंपि। सुद्धंपि कुणइ चरणं पूइं तं भावओ पूई॥ (पिण्डनि. २४७)।

जो भोजन आदि उद्गमदोषसमूह के विभागभूत आधाकर्मादि के अवयव (अंश) मात्र से भी मिश्रित हो वह स्वरूपतः उद्गमादिदोषों से रहित होकर भी निरतिचार चारित्र को चूंकि मलिन करता है, इसी से उसे भावपूति कहा जाता है।

भावपृथिवी जीव— × × × भावेण य होइ पुढवी जीवो उ। जो पुढविनामगोयकम्मं वेएइ सो जीवो॥ (आचा. नि. ७०, पृ. २६)।

जो जीव पृथिवी नामगोत्र कर्म का वेदन करता है—जिसके स्थावर नामकर्म से भेदभूत पृथिवी नामकर्म का उदय रहता है—वह भाव से पृथिवी जीव कहलाता है।

भावप्रकाशदीप—तथा यथैव तमसाऽन्धीकृतानामपि प्रकाशदीपः तत्प्रकाश्यं वस्तु प्रकाशयति एवमज्ञानमोहितानां ज्ञानमपीति भावप्रकाशदीप उच्यते। (उत्तरा. नि. शा. वृ. २०७)।

जिस प्रकार अन्धकार से अन्ध हुए प्राणियों के लिए प्रकाश दीप—लोकप्रसिद्ध दीपक—उससे प्रकाशित होने योग्य वस्तु को प्रकाशित करता है उसी प्रकार अज्ञान से मूढ़ता को प्राप्त हुए जीवों के लिए ज्ञान भी चूंकि वस्तुबोध कराता है इसी से उसे भाव-प्रकाश-दीप कहा जाता है।

भावप्रतिक्रमण — राग-द्वेषाद्याश्रितातीचारावर्तनं भावप्रतिक्रमणम् । (मूला. वृ. ७–११५) ।

राग-द्वेष के आश्रित अतिचार से रहित होना, इसका नाम भावप्रतिक्रमण है।

भावप्रतिसेवना—यस्तु जीवस्य तथा तथा प्रतिषेवकत्वपरिणामः, सा भावरूपा प्रतिसेवना । (व्यव. भा. मलय. वृ. पी. १–३६, पृ. १६) ।

जीव का जो प्रतिसेवन करने रूप परिणाम होता है उसे भावरूप प्रतिसेवना कहते हैं।

भावप्रतिसेवा—१. दर्पः प्रमादः अनाभोगः भयं प्रदोषः इत्यादिकेषु परिणामेषु प्रवृत्तिर्भावसेवा । (भ. आ. विजयो. ४५०) । २. भावं दर्प-प्रमादानाभोगभयाभि[हिम]का भावप्रतिसेवा । (भ. आ. मूला. ४५०) ।

१ अभिमान, प्रमाद, अनाभोग, भय और प्रदोष; इत्यादि परिणामों में जो प्रवृत्ति होती है उसे भाव-प्रतिसेवा कहते हैं।

भावप्रत्याख्यान— १. एतद्विपर्ययाद्भावप्रत्याख्यानं जिनोदितम् । सम्यक्चारित्ररूपत्वान्नियमान्मुक्तिसाधनम् ॥ (अष्टक. ८–७) । २. भावोऽशुभपरिणामस्तं न निर्वर्तयिष्यामि इति संकल्पकरणं भावप्रत्याख्यानम् । (भ. आ. विजयो. ११६) । ३. भावस्य सावद्ययोगस्य प्रत्याख्यानं भावप्रत्याख्यानम्, भावतो वा शुभात् परिणामात् प्रत्याख्यानम्, भाव एव वा सावद्ययोगविरतिलक्षणः प्रत्याख्यानं भावप्रत्याख्यानम् । (आव. नि. मलय. वृ. १०५३, पृ. ५७२) ।

१ द्रव्यप्रत्याख्यान से विपरीत जो सम्यक्चारित्र-रूप परिणाम से प्रत्याख्यान किया जाता है उसे भावप्रत्याख्यान कहा गया है।

भावप्रमाण—१. तिण्हं (दव्व-खेत्त-कालाणं) पि अधिगमो भावपमाणं । (षट्खं. १, २, ५—धव. पु. ३, पृ. ३८) । २. भावप्रमाणमुपयोगः साकारानाकारभेदः जघन्यः सूक्ष्मनिगोतस्य मध्यमोऽन्यजीवानाम् उत्कृष्टः केवलिनः । (त. वा. ४) । ३. भवनं भूतिर्वा भावो वर्णादि प्रमितिः प्रमीयते अनेन प्रमाणोतीति वा ... ततश्च भाव एव प्रमाणं भावप्रमाणम् । (... हरि. वृ. पृ. ६६) । ४. भावपमाणं णाम णा... (धव. पु. ३, पृ. ३२) ।

१ द्रव्य, क्षेत्र और काल के आश्रय से होने वाले परिज्ञान का नाम भावप्रमाण है। २ साकार और अनाकार उपयोग को भावप्रमाण कहते हैं। वह जघन्य सूक्ष्म निगोदिया जीव के, मध्यम अन्य जीवों के और उत्कृष्ट केवली के होता है।

भावप्राण—१. चित्सामान्यान्वयिनो भावप्राणाः । (पंचा. अमृत. वृ. ३०) । २. पुद्गलसामान्यानुविधायी चित्परिणामो भावप्राणाः । (अन. ध. स्वो. टी. ४–२२) ।

१ जो प्राण सामान्य चैतन्य के अविनाभावी हैं उन्हें भावप्राण कहते हैं। २ पुद्गलसामान्य के अनुसरण करने वाले चैतन्य परिणाम को भावप्राण कहा जाता है।

भावबन्ध—१. उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि । पप्पा विविधे विसए जो हि पुणो तेहिं संबंधो ॥ (प्रव. सा. २–८३) । २. तत्कृतः क्रोधादिपरिणामवशीकृतो भावबन्धः । (त. वा. २, १०, २) । ३. अयमात्मा साकार-निराकारपरिच्छेदात्मकत्वात्परिच्छेद्यतामापद्यमानमर्थजातं येनैव मोहरूपेण रागरूपेण द्वेषरूपेण वा भावेन पश्यति जानाति च तेनैवोपरज्यत एव । योऽयमुपरागः स खलु स्निग्ध-रूक्षत्वस्थानीयो भावबन्धः । (प्रव. सा. अमृत. वृ. २–८४) । ४. बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबन्धो सो । (द्रव्यसं. ३२) । ५. समस्तकर्मबन्धविध्वंसनसमर्थाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयपरमचैतन्यविलासलक्षणज्ञानगुणस्य अभेदनयेनानन्तज्ञानादिगुणाधारभूतपरमात्मनो वा सम्वन्वित्तो या तु निर्मलानुभूतिस्तद्विपक्षभूतेन मिथ्यात्व-रागादिपरिणतिरूपेण वाऽशुद्धचेतनभावेन परिणामेन बध्यते ज्ञानावरणादि कर्म येन भावेन स भावबन्धः । (बृ. द्रव्यसं. टी. ३२) । ६. प्रकृत्यादिबन्धशून्यपरमात्मपदार्थप्रतिकूलो मिथ्यात्व-रागादिस्निग्धपरिणामो भावबन्धः । (पंचा. का. जय. वृ. १०८) । ७. द्रव्यास्रवजमिथ्यात्व-योगाविरमणादिभिः । नूत-

नैरात्मनः श्लेषो भावबन्धस्तदात्मता ॥ (आचा. सा. ३–३७) । ८. बध्यते कर्म भावेन येन तद्भावबन्धनम् । (भावसं. वाम. ३८७) । ९. राग-द्वेषादिरूपो भावबन्धः । (कार्तिके. टी. २०६) । १०. रागात्मा भावबन्धः स जीवबन्ध इति स्मृतः । (पंचाध्या. २–४७) ।

१ उपयोगस्वरूप जीव अनेक प्रकार के इन्द्रियविषयों को प्राप्त करके उनमें मोहित होता है, राग करता है या द्वेष करता है। इस प्रकार उक्त मोह, राग और द्वेष के साथ जो जीव का सम्बन्ध होता है उसे भावबन्ध जानना चाहिए।

भावभाषा—१. उवउत्ताणं भाषा णायव्वा एत्थ भावभासत्ति । (भाषार. १३) । २. जेणाहिप्पाएण भासा भवइ सा भावभासा । (वाक्यशुद्धिचूर्णि—भाषार. यशो. वृ. पृ. ६ उद्.) ।

१ उपयोगयुक्त—तद्रूप अभिप्राय से सहित—जीवों की भाषा को भावभाषा जानना चाहिए।

भावमङ्गल—१. मंगलपज्जाएहिं उवलक्खियजीवदव्वमेत्तं च । भावं मंगलमेदं पढियं सत्थादिमज्झयंतेसु ॥ (ति. प. १–२७) । २. तव्विवरीयं भावे तं पि य नंदी भगवती उ । (बृहत्क. भा. १०)। ३. भावतो मङ्गलं भावमङ्गलम्, अथवा भावश्चासौ मङ्गलं चेति समासः । (आव. नि. हरि. वृ. पृ. ६)। ४. णोआगमदो भावमङ्गलं दुविहं—उपयुक्तस्तत्परिणत इति । आगममन्तरेण अर्थोपयुक्त उपयुक्तः । मंगलपर्यायपरिणतस्तत्परिणत इति । (धव. पु. १, पृ. २९) ।

१ मंगलपर्याय से परिणत जीव को भावमंगल कहते हैं। २ अनैकान्तिक और अनात्यन्तिक से भिन्न—ऐकान्तिक व आत्यन्तिक—मंगल भावमंगल कहलाता है। वह भावमंगल भगवान् नन्दी—मतिज्ञानादि पांच ज्ञानस्वरूप है। यह भावमंगल किसी के हो और किसी के न हो, ऐसा न होकर वह समान रूप से सबके होता है, इसी का नाम ऐकान्तिक है। वह किसी के द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता है, इसीलिए उसे आत्यन्तिक कहा जाता है।

भावमन—१. वीर्यान्तराय-नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षा आत्मनो विशुद्धिर्भावमनः । (स. सि. २–११; त. वा. २, ११, १; धव. पु. १, पृ. २५९; त. वृत्ति श्रुत. २–११)। २. × × × भावमणो भण्णए मंता ॥ (विशेषा. ४२६८)। ३. जीवो पुण मणपरिणामककिरियावण्णे भावमणो, एस उभयरूवो मणदव्वालंवणो जीवस्स णाणव्वावारो भावमणो भण्णति । (नन्दी. चू. पृ. २६) । ४. भावमनो ज्ञानम् । (त. वा. ५, ३, ३) । भावमनस्तावत् लब्ध्युपयोगलक्षणं पुद्गलावलम्बनत्वात् पौद्गलिकम् । (त. वा. ५, १९, २०; कार्तिके. टी. २०९)। ५. भावमनस्तु जीवस्योपयोगः चित्तचेतना—योगाध्यवसानावधानस्वान्तमनस्काररूपः परिणामः । (त. भा. सिद्ध. वृ. २–१२) । ६. भावमनो मंता जीव एव ॥ (आव. सू. मलय. वृ. पृ. ५५७) । ७. तथा द्रव्यमनोऽवष्टम्भेन जीवस्य यो मननपरिणामः स भावमनः । (नन्दी. सू. मलय. वृ. २९, पृ. १७४; प्रज्ञाप. मलय. वृ. १५–२०१) । ८. भावमनस्तु तद्द्रव्योपाधिसंकल्पात्मक आत्मपरिणामः । (योगशा. स्वो. विव. ४–३५) । ९. नोइन्द्रियावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमसन्निधाने सति द्रव्यमनसा कृतानुग्रह आत्मा मनुते जानाति मूर्तममूर्तं च वस्तु गुण-दोषविचार-स्मरणादिप्रणिधानरूपेण विकल्पयत्यनेनेति मनो गुण-दोषविचार-स्मरणादिप्रणिधानलक्षणं भावमन इत्यर्थः । भवति चात्र पद्यम्—गुणदोषविचार-स्मरणादिप्रणिधानमात्मनो भावमनः । (अन. ध. स्वो. टी. १–१, पृ. ४; भ. आ. मूला. १३५) । १०. भावमनः परिणामो भवति तदात्मोपयोगमात्रं वा । लब्ध्युपयोगविशिष्टं स्वावरणस्य क्षयात्क्रमाच्च स्यात् ॥ (पंचाध्या. १–७१४) ।

१ वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरण के क्षयोपशम की अपेक्षा से आत्मा के जो विशुद्धि होती है उसका नाम भावमन है। २ मनन करने वाला—जानने वाला—जो जीव है उसे भावमन कहा जाता है।

भावमनोयोग—*आत्मप्रदेशानां कर्म-नोकर्माकर्षणशक्तिरूपो भावमनोयोगः ।* (गो. जी. जी. प्र. २२९) ।

कर्म और नोकर्म के खींचनेरूप जो आत्म-प्रदेशों की शक्ति है उसे भावमनोयोग कहते हैं।

भावमन्द—भावमन्दोऽप्यनुपचितबुद्धिर्बालः कुशास्त्रवासितबुद्धिर्वा, अयमपि सद्बुद्धेरभावाद् बाल

एव। (आचारा. सू. शी. वृ. ५०, पृ. ६४)।
बुद्धि के उपचय (वृद्धि) से रहित बालक को भावमन्द कहा जाता है, अथवा जिसकी बुद्धि कुशास्त्रों से संस्कृत है उसे भी सद्बुद्धि के अभाव के कारण भावमन्द जानना चाहिए।

भावमल—१. भावमलं णादव्वं अण्णाण-दंसणादि परिणामो ॥ (ति. प. १–१३)। २. अज्ञानादर्शनादिपरिणामो भावमलम्। (धव. पु. १, पृ. ३२, ३३)।
१ अज्ञान व अदर्शन आदि परिणाम को भावमल जानना चाहिए।

भावमोक्ष—१. भावमोक्षः समस्तकर्मक्षयलाञ्छनः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–५, पृ. ४६)। २. सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो। णेयो स भावमुक्खो × × × ॥ (द्रव्यसं. ३७)। ३. निश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसाररूपो × × × य आत्मनः परिणामः × × × सर्वस्य द्रव्य-भावरूपमोहनीयादिघातिचतुष्टयकर्मणो यः क्षयहेतुरिति। × × × स भावमोक्षः॥ (बृ. द्रव्यसं. टी. ३७, पृ. १३५)। ४. कर्मनिर्मूलनसमर्थः शुद्धात्मोपलब्धिरूपजीवपरिणामो भावमोक्षः। (पंचा. का. जय. वृ. १०८)। ५. कर्मक्षयाय यो भावो भावमोक्षो भवत्यसौ। (भावसं. वाम. ३६१)। ६. सर्वोत्कृष्टविशुद्धिर्बोधमती कृत्स्नकर्मलयहेतुः। ज्ञेयः स भावमोक्षः कर्मक्षयजा विशुद्धिरथ च स्यात् ॥ (अध्यात्मक. ४–१५)। ७. भावमोक्षस्तु तद्धेतुरात्मा रत्नत्रयान्वयी। (अध्यात्मसार १८–१७८)।
१ समस्त कर्मों के क्षय को भावमोक्ष कहते हैं। २. जो आत्मा का परिणाम समस्त कर्मों के क्षय का कारण है उसे भावमोक्ष कहा जाता है।

भावमोह—द्विविधस्यापि मोहस्य पौद्गलिकस्य कर्मणः। उदयादात्मनो भावो भावमोहः स उच्यते ॥ (पंचाध्या. २–१०६०)।
दोनों प्रकार के पौद्गलिक मोह कर्म के उदय से जो आत्मा का भाव होता है उसे भावमोह कहते हैं।

भावयुति—कोह-माण-माया-लोहादीहि सह मेलणं भावजुडी णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३४६)।
क्रोध, मान, माया और लोभ आदि के साथ जो मिलाप होता है उसका नाम भावयुति है।

भावयोग—१. × × × अंगोपाङ्ग-शरीरनामकर्मोदयागतपुद्गलस्कन्धकर्म - नोकर्मतापरिणामहेतुः शरीर-भाषा-मनःपर्याप्तिपरिणतस्य काय-वाग्मनोवर्गणावलम्बिनः संसारिजीवस्य लोकमात्रप्रदेशगता या शक्तिः स भावयोगः। (गो. जी. म. प्र. २१६)। २. पुद्गलविपाकिनः अङ्गोपाङ्गनामकर्मणः देहस्य च शरीरनामकर्मणः उदयेन मनोवचन-कायपर्याप्तिपरिणतस्य काय-वाग्मनोवर्गणालम्बिनः संसारिजीवस्य लोकमात्रप्रदेशगता कर्मादानकारणं या शक्तिः सा भावयोगः। (गो. जी. जी. प्र. २१६)।
१ शरीर, भाषा और मन पर्याप्ति से परिणत होकर कायवर्गणा, वचनवर्गणा और मनवर्गणा का आश्रय लेने वाले संसारी जीव की जो अङ्गोपाङ्ग और शरीरनामकर्म के उदय से आये हुये पुद्गलस्कन्धों को कर्म और नोकर्मरूप परिणमाने की शक्ति होती है उसे भावयोग कहते हैं।

भावलिङ्ग—१. नोकषायोदयापादितवृत्ति भावलिङ्गम्। (स. सि. २–५२)। २. भावलिङ्गमात्मपरिणामः स्त्री-पुं-नपुंसकान्योन्याभिलाषलक्षणः। (त. वा. २. ६. ३); नोकषायोदयाद् भावलिङ्गम्। (त. वा. २, ५२, १)। ३. भावलिङ्गं ज्ञान-दर्शन-चारित्राणि। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–४६, पृ. २८६); भावलिङ्गं श्रुतज्ञान-क्षायिकसम्यक्त्व-चरणानि। (त. भा. सिद्ध. वृ. १०–७, पृ. ३०८)।
१ नोकषाय के उदय से जो स्त्री-पुरुषादि की अभिलाषास्वरूप प्रवृत्ति होती है उसे भावलिङ्ग कहा जाता है। ३ मुनिजन का भावलिङ्ग ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप माना जाता है।

भावलिङ्गी—देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो। अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ॥ (भावप्रा. ५६)।
जो जीव शरीर आदि रूप परिग्रह से—तद्विषयक ममत्वभाव से—रहित होता हुआ मानादि कषायों को पूर्ण रूप से छोड़ चुका है तथा आत्मस्वरूप में लीन रहता है उसे भावलिंगी साधु जानना चाहिए।

भावलेश्या—१. भावलेश्या कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिः। (त. वा. २, ६, ८)। २. भावलेस्सा दुविहा आगम-णोआगमभेएण। आगमभावलेस्सा सुगमा। णोआगमभावलेस्सा मिच्छत्तासंजमकसा-

याणुरंजियजोगपवुत्ती कम्मपोग्गलादाणणिमित्ता मिच्छत्तासंजम-कसायजणिदसंसकारो त्ति वुत्तं होदि। (धव. पु. १६, पृ. ४८८)। ३. भावलेश्यास्तु कृष्णादिवर्णद्रव्यावष्टम्भजनिता[ताः] परिणाम-[माः]कर्मबन्धनस्थितेर्विधातारः। (त. भा. सिद्ध. वृ. २-६)। ४. मोहुदय-खग्रोवसमोवसम-खयज-जीवफंदणं भावो ॥ (गो. जी. ५३६)। ५. योगाविरति-मिथ्यात्व-कषाय-जनिताङ्गिनाम्। संस्कारो भावलेश्यास्ति कल्मषास्रवकारणम् ॥ (पंचसं. अमित. १-२६१, पृ. ३३)। ६. असंयतान्तगुणस्थानचतुष्के मोहस्योदयेन, देशविरतत्रये क्षयोपशमेन, उपशमके उपशमेन, क्षपके क्षयेण च संजनितसंस्कारो जीवस्पन्दनसंज्ञः स भावलेश्या जीवपरिणामप्रदेशस्पन्देन कृतेत्यर्थः। (गो. जी. जी. प्र. ५३६)। ७. भावलेश्या तु तज्जन्यो जीवपरिणाम इति। (स्याना. अभय. वृ. ५१, पृ. ३२)। ८. कषायोदयानुरंजिता योगप्रवृत्तिः भावलेश्या। (त. वृत्ति श्रुत. २-६)।

१. कषाय के उदय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति को भावलेश्या कहते हैं। ३ कृष्ण आदि वर्णों वाले द्रव्यों के आश्रय से जो कर्मबन्ध की स्थिति के कारणभूत परिणाम होते हैं उन्हें भावलेश्या कहा जाता है।

भावलोक—१. तिव्वो रागो य दोसो य उदिण्णा जस्स जंतुणो। भावलोगं वियाणहि अणंतजिणदेसिदं ॥ (मूला. ७-७३)। २. तिव्वो रागो य दोसो य, उइन्नो जस्स जन्तुणो। जाणाहि भावलोगं अणंतजिणदेसिग्रं सम्मं ॥ (ग्राव. भा. २०३, पृ. ५६३)। जिस जीव के तीव्र राग व द्वेष उदय को प्राप्त है उसे भावलोक जानना चाहिए।

भाववध—जीवशङ्कयाऽजीवस्य वधे भाववधः। (पंचसं. स्वो. वृ. ४-१६)।

जीव की शंका से अजीव का वध होने पर उसे भाववध कहते हैं।

भाववाक्—१. भाववाक् तावद् वीर्यान्तराय-मति-श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभनिमित्त-त्वात् पौद्गलिकी। (त. वा. ५, १६, १५)। २. भाववाक् पुनस्त एव पुद्गलाः शब्दपरिणाममापन्नाः। (ग्राव. सू. मलय. वृ. पृ. ५५७)।

१ जो वीर्यान्तराय और मति-श्रुत ज्ञानावरण के क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म के उदय से होता है उसे भाववाक् कहते हैं। २ जीव के द्वारा ग्रहण किये गये शब्द परिणाम के योग्य वे ही पुद्गल जब शब्दरूप से परिणत हो जाते हैं तब उन्हें भाववाक् कहा जाता है।

भावविचिकित्सा—××× क्षुधादिए भावविदिगिंछा ॥ (मूला ५-५५)।

क्षुधा एवं पिपासा आदि परीषह क्लेशजनक हैं, इस प्रकार से उनके प्रति जो घृणा का भाव उत्पन्न होता है उसे भावविचिकित्सा कहते हैं।

भावविपाकिप्रकृति—भवनं भावो जीवस्यावस्थान्तरभावित्वम्, तद्धेतुर्यासां तास्तथा (भावविपाकिन्यः), जीवावस्थान्तरविशेषात् तासामुदयोपलब्धिर्भवतीति भावः। (पंचसं. स्वो. वृ. ३-४६, पृ. १४३)।

जीव की अन्य अवस्था का होना, इसका नाम भाव है। वह जिन प्रकृतियों के विपाक का कारण होता है वे भावविपाकिनी प्रकृतियाँ कहलाती हैं।

भावविवेक—१. सर्वत्र शरीरादौ अनुरागस्य ममेदंभावस्य वा मनसाऽकरणं भावविवेकः। (भ. आ. विजयो. १६६)। २. भावतस्तु कषायपरिहारात्मकं (विवेकं) ×××। (उत्तरा. सू. शा. वृ. ४, १०, पृ. २२५)।

१ शरीर आदि सब में मन से अनुराग के न करने अथवा ममेदंभाव—'यह मेरा है' इस प्रकार की बुद्धि—के न करने का नाम भावविवेक है।

भावविशुद्धप्रत्याख्यान—देखो परिणामविशुद्ध-प्रत्याख्यान।

भावविशुद्धि—१. भावविशुद्धिर्निष्कल्मषता, धर्मसाधनमात्रास्वपि अनभिष्वङ्गः। (त. भा. ६-६, पृ. १६५)। २. भावविशुद्धिर्ममत्वाभावो निःसङ्गता च, अपरद्रोहेणात्मार्थानुष्ठानम्, निष्कल्मषता—निर्मलता भाव (धर्म?) साधनमात्राः रजोहरण-मुखवस्त्रिका-चोलपट्टक-पात्रादिलक्षणाः, तास्वप्यनभिष्वङ्गो विगतमूर्च्छ इत्यर्थः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-६)।

१ निष्कल्मषता—अन्तःकरण की निर्मलता—का नाम भावविशुद्धि है, अभिप्राय यह है कि धर्म के साधन मात्र जो रजोहरणादि हैं उनके विषय में

भी आसक्ति न रखना, इसे भावविशुद्धि जानना चाहिए।

भाववेद— ××× परिसेसादो मोहणीयदव्व-कम्मक्खंधो तज्जणिदजीवपरिणामो वा [दव्व-भाव] वेदो। (धव. पु. ५, पृ. २२२)।

मोहनीयकर्मरूप पुद्गलस्कन्ध को द्रव्यवेद और उसके आश्रय से होने वाले जीव के परिणाम को भाववेद कहा जाता है।

भावव्यतिरेक—भवति गुणांशः कश्चित् स भवति नान्यो भवति स चाप्यन्यः। सोऽपि न भवति तदन्यो भवति तदन्योऽपि भावव्यतिरेकः॥ (पंचाध्या. १–१५०)।

विवक्षित जो कोई गुणांश है वह वही है, अन्य नहीं हो सकता; तथा जो अन्य गुणांश है वह वह (पूर्वोक्त) नहीं हो सकता, अन्य ही रहनेवाला है; यही भावव्यतिरेक है।

भावव्युत्सर्ग — भावव्युत्सर्गस्त्वज्ञानादिपरित्यागः, अथवा धर्म-शुक्लध्यायिनः कायोत्सर्गः। (आव. नि. मलय. वृ. १०६३, पृ. ५८५)।

अज्ञानादि के परित्याग को भावव्युत्सर्ग कहते हैं; अथवा धर्म और शुक्ल ध्यान के चिन्तन करने वाले के कायोत्सर्ग को भावव्युत्सर्ग जानना चाहिए।

भावशस्त्र— १. ××× भावे य असंजमो सत्थं॥ (आचारा. नि. १५०)। २. भावशस्त्रं पुनरसंयमः दुष्प्रणिहितमनोवाक्कायलक्षणः। (आचारा. नि. शी. वृ. १५०, पृ. ५५)।

२ मन, वचन एवं काय के दुष्प्रणिधान (दूषित प्रवृत्ति) रूप असंयम को भावशस्त्र कहा जाता है।

भावशीति—१. संजमठाणेणं कंडगाणालसाविती विसेसाणं। उवरिल्लपयकमलं भावसिती केवलं जाव॥ (व्यव. भा. १०–४०६)। २. सितिनाम ऊर्ध्वमधो वा सुखोत्तरोवतारहेतुः काष्ठादिमयः पन्थाः। ××× भावशीतिरपि द्विधा प्रशस्ताप्रशस्ता च। तत्र यैर्हेतुभिस्तेषामेव संयमस्थानानां संयमकण्डकानां लेश्यापरिणामविशेषाणां वा अधस्तात् संयमस्थानेष्वपि गच्छति सा अप्रशस्ता भावशीतिः, यैः पुनर्हेतुभिस्तेषामेव संयमादिस्थानानामुपरितनेषूपरितनेषु विशेषेष्वध्यारोहति सः प्रशस्तोच्चोपरितन एव क्रमेण भावशीतिस्तावद् द्रष्टव्यं यावत् केवलज्ञानम्। (व्यव. भा. मलय. वृ. १०–४०६)।

१ ऊपर अथवा नीचे जाने के लिए चढ़ने उतरने का कारणभूत जो लकड़ी आदि का मार्ग (नसैनी आदि) होता है उसका नाम सिति या शीति है। भावशीति प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार की है। जिन कारणों से संयमस्थानों, संयमकण्डकों और लेश्यापरिणामविशेषों में नीचे के संयमस्थानों में भी जाया जाता है वह अप्रशस्त भावशीति कहलाती है, तथा जिन कारणों से उक्त संयमादिस्थानों के ऊपर ऊपर के विशेषों में क्रम से केवलज्ञान तक अध्यारूढ़ होता है, उसे प्रशस्त भावशीति कहा जाता है।

भावशुद्ध दान—भावशुद्धं स्वनाशंसं श्रद्धया यत्प्रदीयते। (त्रि. श. पु. च. १, १, १८४)।

जो दान बिना किसी प्रकार की अपेक्षा के श्रद्धापूर्वक दिया जाता है उसे भावशुद्ध दान समझना चाहिए।

भावशुद्धि—१. मद-माण-माय-लोहविवज्जियभावो दु भावसुद्धित्ति। परिकहियं भव्वाणं लोयालोयप्पदरिसीहिं॥ (नि. सा. ११२)। २. एमेव भावसुद्धी तब्भावाएसओ पहाणे य। तब्भावगमाएसो अणण्ण-मीसा हवइ सुद्धी॥ दंसण-णाण-चरित्ते तवोविसुद्धो पहाणमाएसो। जम्हा उ विसुद्धमलो तेण विसुद्धो हवइ सुद्धो॥ (दशवै. नि. २८६–८७)। ३. भावसोधी तव-संजमादीहिं अट्ठविहकम्ममललित्तो जीवो सोविज्जति। (उत्तरा. चू. पृ. २११)। ४. भावशुद्धिः कर्मक्षयोपशमजनिता मोक्षमार्गरुच्याहितप्रसादा रागाद्युपप्लवरहिता। तस्यां सत्यामाचारः प्रकाशते परिशुद्धभित्तिगतचित्रकर्मवत्। (त. वा. ९, ६, १६; त. श्लो. ९–६; चा. सा. पृ. ३२)। ५. अवगयराग-दोसाहंकारट्ट-रुद्दज्झाणस्स पंचमहव्वयकलिदस्स तिगुत्तिगुत्तस्स णाण-दंसण-चरणादिचारणवड्ढिदस्स भिक्खुस्स भावसुद्धी होदि। (धव. पु. ९, पृ. २५४)। ६. यशःपूजापुरस्कारनिःकांक्षा निर्मदा मतिः। श्रुतामृतकृतानन्दा भावशुद्धिर्मुनेर्मता॥ (आचा. सा. ४–८४)।

१ मद, मान, माया और लोभ से रहित भाव को भावशुद्धि कहते हैं। २ भावशुद्धि तीन प्रकार की है—तद्भावशुद्धि, आदेशभावशुद्धि और प्राधान्यभावशुद्धि। अन्य भाव से असंयुक्त रहकर जो भाव शुद्ध होता है उसका नाम तद्भावशुद्धि है, जैसे—भूखे आदि की

अन्नविषयक अभिलाषा। आदेशभावशुद्धि अन्यत्व और अनन्यत्व के सम्बन्ध से दो प्रकार की है। अन्यत्वविषयक जैसे—शुद्धभाव साधु का गुरु, अनन्यत्वविषयक—शुद्ध भाव हो। दर्शन, ज्ञान और चारित्र को विषय करने वाली शुद्धि तथा अभ्यन्तर तप की शुद्धि, इसे प्रधानभावशुद्धि कहा जाता है। प्रधानभावशुद्धि कहने का कारण यह है कि उससे साधु मल से विशुद्ध होता है।

भावश्रमण—भावश्रमणो ज्ञानी चरित्रयुक्तश्च। (उत्तरा. चू. पृ. २४४)।

जो ज्ञानवान् होकर महाव्रतादिरूप चारित्र से युक्त होता है उसे भावश्रमण कहा जाता है।

भावश्रुत—१. इंदिय-मणोनिमित्तं जं विण्णाणं सुयाणुसारेणं। नियअत्थुत्ति समत्थं तं भावसुयं × × ×॥ (विशेषा. १००)। २. खयोवसमलद्धी भावसुतं। (नन्दी. चू. पृ. ३४)। ३. स्वशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं भावश्रुतम्। (बृ. द्रव्यसं. टी. ४८)। ४. भावश्रुतं द्वादशाङ्गीसमुत्पन्नोपयोगरूपम्। (दण्डकप्र. वृ. ४, पृ. ३)।

१ इन्द्रिय और मन के निमित्त से जो श्रुत के अनुसार विशेष ज्ञान होता है वह भावश्रुत कहलाता है। २ क्षयोपशमलब्धि का नाम भावश्रुत है। ३ अपनी शुद्ध आत्मा के अनुभव को भावश्रुत कहते हैं।

भावसत्य—१. हिंसादिदोसविजुदं सच्चमकप्पियवि भावदो भावं। (मूला. ५–११६)। २. भावसच्चं नाम जमहिप्पायतो, जहा घडमाणेहित्ति अभिप्पाईतो घडमाणेहित्ति भणियं, गावीअभिप्पायेण गावी, अस्सो वा अस्सो भणिओ, एवमादित्ति। (दशवै. चू. पृ. २३६; भाषार. पृ. १४ उद्.)। ३. छद्मस्थज्ञानस्य द्रव्ययाथात्म्यादर्शनेऽपि संयतस्य संयतासंयतस्य वा स्वगुणपरिपालनार्थं प्रासुकमिदमप्रासुकमित्यादि यद्वचस्तद्भावसत्यम्। (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७३; धव. पु. १, पृ. ११८; चा. सा. पृ. ३०)। ४. छद्मस्थे द्रव्ययाथात्म्यज्ञानवैकल्यवत्यपि। प्रासुकाप्रासुकत्वेऽपि भावसत्यं वचः स्थितम्॥ (ह. पु. १०–१०६)। ५. अहिंसालक्षणो भावः पाल्यते येन वचसा तद्भावसत्यं निरीक्ष्य स्वप्रयताचारो भवेत्येवमादिकम्। (भ. आ. विजयो. ११९३)। ६. छद्मस्थज्ञानिनो वस्तुयाथात्म्यादर्शनेऽप्यलम्। दृष्टदोषापहारेण गुणपोषणकृन्मनः॥ भावस्तेन वचः सत्यं भावसत्यमिदं यथा। प्रासुकं नेदमित्यादि वचो वा वृत्तिगोचरम्॥ (आचा. सा. ५, ३०–३१)। ७. भावसत्यं शुद्धान्तरात्मता। (समवा. अभय. वृ. २७, पृ. ४४)। ८. छद्मस्थज्ञानस्य द्रव्ययाथात्म्यादर्शनेऽपि संयतस्य संयतासंयतस्य वा स्वगुणपरिपालनार्थं प्रासुकमिदमप्रासुकमित्यादि यद्वचस्तद्भावसत्यमित्यर्थः। प्रगता असवः प्राणा यस्मात् तत्प्रासु, प्रासुकमित्यर्थः। निरीक्ष्य स्वप्रयताचारो भवत्येवमादिकं वा भावसत्यमहिंसालक्षणभावपालनाङ्गत्वात्॥ (अन. ध. स्वो. टी. ४–४७; भ. आ. मूला. ११९३)। ९. अतीन्द्रियार्थेषु प्रवचनोक्तविधि-निषेधसंकल्पपरिणामो भावः, तदाश्रितं वचनं भावसत्यम्। (गो. जी. जी. प्र. २२४)। १०. सा होइ भावसच्चा, जा सदभिप्पायपुव्वमेवुत्ता। जह परमत्थो कुंभो, सिया बलाया य एसत्ति॥ (भाषार. ३२)।

१ जो वचन हिंसा आदि दोषों से रहित हो उसे भावसत्य माना जाता है, वह कदाचित् अयोग्य (असत्य) भी हो तो भी भाव से—हिंसा आदि दोषों से रहित होने के कारण परमार्थ से—सत्य है। २ अभिप्राय से जो वचन बोला जाता है उसे भावसत्य कहा जाता है। जैसे—'घट ले आओ' इस अभिप्राय से 'घड़ा ले आओ' ऐसा आदेशवचन।

भावसमवाय—१. क्षायिकसम्यक्त्व-केवलज्ञान-दर्शन-यथाख्यातचारित्राणां यो भावस्तदनुभवस्य तुल्यानन्तप्रमाणत्वात् भावसमवायनात् भावसमवायः। (त. वा. १, २०, १२; धव. पु. ९, पृ. १९९, २००)। २. भावदो केवलणाणं केवलदंसणेण समं णेयप्पमाणं, णाणमेत्तचेयणोवलंभादो। (धव. पु. १, पृ. १०१)। ३. केवलणाणं केवलदंसणेण समाणं, एसो भावसमवाओ। (जयध. १, पृ. १२५)। ४. केवलज्ञानं केवलदर्शनेन सदृशमित्यादिर्भावसमवायः। (गो. जी. जी. प्र. ३५६)।

१ क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और यथाख्यात चारित्र इनका जो भाव है उसके अनुभव के तुल्य अनन्त प्रमाण होने से उन चारों में भावसमवाय है—भाव की अपेक्षा परस्पर समानता है।

भावसमाधि— भावसमाधिः ज्ञान-दर्शन-चारित्र-

तपआत्मिका। (उत्तरा. चू. पृ. २३९)।
ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूप समाधि को भावसमाधि कहा जाता है।

भावसम्यक्चारित्र—उपयुक्तस्य क्रियानुष्ठानमागमपूर्वकं भावचारित्रम्। (त. भा. १–४, पृ. ४६)।
उपयोग युक्त जीव का जो आगम के अनुसार क्रिया का अनुष्ठान है उसे भावचरित्र कहा जाता है।

भावसम्यक्त्व—देखो भावसम्यग्दर्शन।

भावसम्यग्ज्ञान—भावज्ञानमुपयोगपरिणतिविशेषावस्था। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–५, पृ. ४६)।
उपयोग के परिणमन की विशेष अवस्था का नाम भावज्ञान है।

भावसम्यग्दर्शन—१. एते (मिथ्यादर्शनपुद्गलाः) एव विशुद्धा आत्मपरिणामापन्ना भावसम्यग्दर्शनम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–५, पृ. ४६)। २. नय-निक्षेप-प्रमाणादिभिरधिगमोपायो जीवाजीवादिसकलतत्त्वपरिशोधनरूपज्ञानात्मकं भावसम्यक्त्वम्। (धर्मसं. मान. २–२२, पृ. ३५)। ३. केवलं सत्संख्यादिभार्गणास्थानैस्तन्निर्णयो भावसम्यक्त्वम्। (अध्यात्मो. पृ. १४०)।
१ आत्मपरिणाम को प्राप्त होकर विशुद्धि को प्राप्त हुए मिथ्यादर्शनरूप पुद्गलों को भावसम्यग्दर्शन कहा जाता है।

भावसंकोच—१. भावसंकोचस्तु विशुद्धस्य मनसो नियोगः। (ललितवि. पृ. ६)। २. भावसङ्कोचनं विशुद्धस्य मनसो व्यापारः। (आव. नि. मलय. वृ. ८६०, पृ. ४८७)।
१ विशुद्ध मन के व्यापार का नाम भावसंकोच है।

भावसंक्रम—कोधादिएगभावम्हि ट्ठिददव्वस्स भावंतरगमणं भावसंकमो। (धव. पु. १६, पृ. ३४०)।
क्रोध आदि किसी एक भाव में स्थित द्रव्य का अन्य भाव को प्राप्त होना, इसका नाम भावसंक्रम है।

भावसंयोगपद— भावसंयोगपदानि क्रोधी मानी मायावी लोभीत्यादीनि। (धव. पु. १, पृ. ७८); णेरइओ तिरिक्खो कोही माणी बालो जुवाणो इच्चेवमाईणि भावसंजोगपदाणि। (धव. पु. ६, पृ. १३७)।
क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी इत्यादि पदों को भावसंयोगी पद जानना चाहिए।

भावसंलेखना—यो राग-द्वेष-मोहानां कषायाणां च सर्वतः। नैसर्गिकद्विषां छेदो भावसंलेखना तु सा॥ (त्रि. श. पु. च. १, ६, ४३६)।
स्वाभाविक शत्रुस्वरूप राग, द्वेष एवं मोहरूप कषायों को नष्ट करना; इसे भावसंलेखना कहते हैं।

भावसंवर— १. संसारनिमित्तक्रियानिवृत्तिर्भावसंवरः। (स. सि. ९–१; त. श्लो. ९–१)। २. संसारनिमित्तक्रियानिवृत्तिर्भावसंवरः। आत्मनो द्रव्यादिहेतुकभवान्तरावाप्तिः संसारः, तन्निमित्तक्रियापरिणामस्य निवृत्तिर्भावसंवर इति व्यपदिश्यते। (त. वा. ९, १, ८)। ३. क्रियाणां भवहेतूनां निवृत्तिर्भावसंवरः। (ह. पु. ५८–३००)। ४. भावसंवरो गुप्त्यादिपरिणामापन्नो जीवः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–५)। ५. रोधस्तत्र कषायाणां कथ्यते भावसंवरः। (योगसारप्रा. ५–२)। ६. क्रोध-लोभ-भय-मोहरोधनं भावसंवरमुशन्ति देहिनाम्। (अमित. श्रा. ३–६०)। ७. या संसारनिमित्तस्य क्रियाया विरतिः स्फुटम्। स भावसंवरस्तज्ज्ञैर्विज्ञेयः परमागमात्। (ज्ञाना. ३, पृ. ४५)। ८. चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू। सो भावसंवरो खलु ××× ॥ (द्रव्यसं. ३४)। ९. कर्मनिरोधे समर्थो निर्विकल्पात्मोपलब्धिपरिणामो भावसंवरो। (पंचा. का. जय. वृ. १०८)। १०. भावतस्तु जीवद्रोण्यामाश्रवत्कर्मजलानामिन्द्रियादिच्छिद्राणां समित्यादिना निरोधनं संवरः। (स्थाना. अभय. वृ. १–१४)। ११. भवहेतुक्रियात्यागः स पुनर्भावसंवरः। (योगशा. ४–८०)। १२. कर्मास्रवनिरोधात्मा चिद्भावो भावसंवरः। (भावसं. वाम. ३८६)। १३. भावसंवरः भवकारणपापक्रियानिरोधः ×××। संसारकारणक्रियानिरोधलक्षणः भावसंवरः। (त. वृत्ति श्रुत. ९-१)। १४. येनांशेन कषायाणां निग्रहः स्यात् सुदृष्टिनाम्। तेनांशेन प्रयुज्येत संवरो भावसंज्ञकः। (जम्बू. च. १३–१२३)। १५. त्यागो भावास्रवाणां जिनवरगदितः संवरो भावसंज्ञो भेदज्ञानाच्च स स्यात्स्वसमयवपुषस्तारतम्यः कथंचित्। (अध्यात्मक. ४, ९)। १६. भावसंवरस्तु संसारकारणभूतायाः क्रियाया आत्मव्यापाररूपायास्त्यागः। (धर्मसं.

माल. स्वो. वृ. ३–४७, पृ. १३३)।

१ संसार की कारणभूत क्रियाओं से जो निवृत्ति होती है, इसका नाम भावसंवर है। ४ जो जीव गुप्ति आदि परिणाम को प्राप्त है उसे भावसंवर कहते हैं। १० जिन इन्द्रियरूप छेदों के द्वारा जीवरूप नौका में कर्मरूप जल आ रहा है उनको समिति आदि के द्वारा रोक देना, इसे भावसंवर कहा जाता है।

भावसंसार—१. सव्वे पयडि-ट्ठिदिओ अणुभाग-प्पदेसबंधठाणाणि। जीवो मिच्छत्तवसा भमिदो पुण भावसंसारे॥ (द्वादशानु. २९; स. सि. २-१० उद्.)। २. सव्वासि पगदीणं अणुभाग-पदेसबंधठाणाणि। जीवो मिच्छत्तवसा परिभमिदो भावसंसारे॥ (धव. पु. ४, पृ. ३३४ उद्.)। ३. जीवस्यासंख्यातलोकप्रमाणेष्वध्यवसायसंज्ञितेपु भावेपु परावृत्तिर्भावसंसारः। (भ. आ. विजयो. १७८०)। ४. अथ भावसंसारः कथ्यते—सर्वजघन्यप्रकृतिबन्ध-प्रदेशबन्धनिमित्तानि सर्वजघन्यमनोवचन-कायपरिस्पन्दरूपाणि श्रेण्यसंख्येयभागप्रमितानि चतुःस्थानपतितानि सर्वजघन्ययोगस्थानानि भवन्ति, तथैव सर्वोत्कृष्टप्रकृतिबन्ध-प्रदेशबन्धनिमित्तानि सर्वोत्कृष्टमनोवचन-कायव्यापाररूपाणि तद्योग्यश्रेण्यसंख्येयभागप्रमितानि चतुःस्थानपतितानि सर्वोत्कृष्टयोगस्थानानि च भवन्ति, तथैव सर्वजघन्यस्थितिबन्धनिमित्तानि सर्वजघन्यकपायाध्यवसायस्थानानि तद्योग्यासंख्येयलोकप्रमितानि पट्स्थानपतितानि च भवन्ति, तथैव च सर्वोत्कृष्टकपायाध्यवसायस्थानानि, तान्यप्यसंख्येयलोकप्रमितानि पट्स्थानपतितानि च भवन्ति, तथैव सर्वजघन्यानुभागबन्धनिमित्तानि सर्वजघन्यानुभागाध्यवसायस्थानानि तान्यप्यसंख्येयलोकप्रमितानि पट्स्थानपतितानि भवन्ति, तथैव च सर्वोत्कृष्टानुभागबन्धनिमित्तानि सर्वोत्कृष्टानुभागाध्यवसायस्थानानि तान्यप्यसंख्येयलोकप्रमितानि पट्स्थानपतितानि च विज्ञेयानि। तेनैव प्रकारेण स्वकीय-स्वकीयजघन्योत्कृष्टयोर्मध्ये तारतम्येन मध्यमानि च भवन्ति, तथैव जघन्यादुत्कृष्टपर्यन्तानि ज्ञानावरणादिमूलोत्तरप्रकृतीनां स्थितिबन्धस्थानानि च, तानि सर्वाणि परमागमकथितानुसारेणानन्तवारान् भ्रमितान्यनेन जीवेन, परं किन्तु पूर्वोक्तसमस्तप्रकृतिबन्धादीनाम् सद्भावविनाशकारणानि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धान- ज्ञानानुचरणरूपाणि यानि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि तान्येव न लब्धानि। इति भावसंसारः। (बृ. द्रव्यसं. ३५, पृ. ९१)। ५. संसारशब्दार्थज्ञः तत्रोपयुक्तो जीव-पुद्गलयोर्वा संसरणमात्रमुपसर्जनीकृतसम्बन्धिद्रव्यं भावानां वौदयिकादीनां वर्णादीनां वा संसरणपरिणामो भावसंसार इति। (स्थाना. अभय. वृ. २६१)। ६. कपायाध्यवसायस्थानविवर्तवृत्तिर्भावसंसारः। (भ. आ. मूला. ४३०)।

१ प्राणी मिथ्यात्व के वशीभूत होकर प्रकृतिबन्धस्थान, स्थितिबन्धस्थान, अनुभागबन्धस्थान और प्रदेशबन्धस्थानों के आश्रय से जो दीर्घकाल तक संसारमें परिभ्रमण करता है; इसका नाम भावसंसार है। ५ तद्विषयक उपयोगसे युक्त संसार पदार्थ के ज्ञाता को भावसंसार कहते हैं, अथवा जिसमें सम्बन्धी द्रव्यों को गौण किया गया है ऐसे संसरण (परिभ्रमण) मात्र को भावसंसार जानना चाहिए, अथवा जीव के औदयिकादि भावों और पुद्गलों के वर्णादि भावों को भावसंसार कहा जाता है।

भावसाधु—१. ××× भावंमि य संजत्तो साहू॥ (आव. नि. १००८, पृ. ५५१); निव्वाणसाहए जोगे, जम्हा साहेंति साहुणो। समा य सव्वभूएसु, तम्हा ते भावसाहुणो॥ (आव. नि. १०१०, पृ. ५५१)। २. जे णिव्वाणसाहए जोगे साधयंति ते भावसाधवो भण्णंति। (दशवै. चू. पृ. २६१)। ३. भावे विचार्यमाणे साधुः संयतः—सम्यक् जिनाज्ञापुरस्सरं सकलसावद्यव्यापारादुपरतः। (आव. नि. मलय. वृ. १००८)।

१ जो संयत है—जिनाज्ञापूर्वक समस्त सावद्य व्यापार को छोड़ चुका है उसे भावसाधु कहते हैं। जो मुक्ति के साधक योगों को—सम्यग्दर्शनादिरूप व्यापारों को—सिद्ध करते हैं तथा समस्त प्राणियों में सम—राग-द्वेष से रहित—होते हैं वे भावसाधु कहलाते हैं।

भावसाम—देखो भावसामायिक।

भावसामायिक—१. आयोवमाए परदुक्खमकरणं राग-दोसमज्झत्थं। नाणाइतिगं तस्सायपोअणं भावसामाई॥ (आव. नि. १०४५, पृ. ५७५)। २. णिरुद्धासेसकसायस्स वंतमिच्छत्तस्स णय-

णिउणस्स छदव्वविसश्रो वोहो बाहविवज्जिश्रो श्रक्खलिश्रो भावसामाइयं णाम। (जयध. १, पृ. ९८)। ३. सर्वजीवेषूपरि मैत्रीभावोऽशुभपरिणाम-बर्जनं भावसामायिकं नाम। (मूला. वृ. ७–१७)। ४. श्रात्मनीव परदुःखाकरणपरिणामो भावसाम, तथा राग-द्वेषमाध्यस्थ्यम् श्रनासेवनया राग-द्वेषमध्य-वर्तित्वम्, सर्वश्रात्मनस्तुल्यरूपेण वर्त्तनं भावसमम् ×××। (श्राव. नि. मलय. वृ. १०४५,पृ.५७५)। ५. भावसामायिकं सर्वजीवेपु मैत्रीभावोऽशुभपरि-णामवर्जनं वा। ××× वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः, तस्य सामायिकं भावसामायिकम्। (श्रन. ध. स्वो. टी. ८–१९, पृ. ५५२–५३)। ६. भावस्य जीवादितत्त्वविपयोपयोगरूपस्य पर्यायस्य मिथ्यादर्शन-कषायादिसंक्लेशनिवृत्तिः सामायिकशा-स्त्रोपयोगयुक्तज्ञायकः तत्पर्यायपरिणतसामायिकं वा भावसामायिकम्। (गो. जी. जी. प्र. ३६७)। ७. णामभावस्स जीयादितच्चविसयुवयोगरूवस्स पज्जायस्स मिच्छादंसण-कसायादिसंकिलेसणियट्टी सामाइयसत्थुपयुत्तणायगो तप्पज्जायपरिणदं सामाइयं वा भावसामाइयं। (श्रंगप. पृ. ३०६)।

१ श्रपने समान दूसरों को दुखित न करने का श्रभिप्राय रखना तथा राग-द्वेष के मध्य में स्थित रहना—न इष्ट से राग करना श्रौर न श्रनिष्ट से द्वेष करना, इसका नाम भावसाम या भावसामा-यिक है। ज्ञान, दर्शन श्रौर चारित्र (रत्नत्रय) रूप जो समीचीन भाव है उसका श्रात्मा में प्रवेश कराना, इसे भावसामायिक जानना चाहिए। २ जिसने समस्त कषायों को रोककर मिथ्यात्व का वमन कर दिया है—उसे नष्ट कर दिया है—तथा जो नयों के व्यवहार में कुशल है ऐसे जीव के जो निर्बाध व श्रस्खलित छह द्रव्यविषयक वोध होता है उसका नाम भावसामायिक है।

भावसिद्ध—श्रोदइयाई भावे, श्रत्थेणं सव्वहा खवि-त्ताणं। साहियवं जं खतियं, भावं तो भावसिद्धो उ॥ (सिद्धप्राभृत ५)।

जिसने श्रौदयिक श्रादि भावों को सर्वथा नष्ट करके केवलज्ञान-दर्शनादिरूप क्षयिक भाव को सिद्ध कर लिया है उसे भावसिद्ध कहते हैं।

भावसेवा—दर्पः प्रमादः श्रनाभोगः भयं प्रदोप इत्यादिकेपु परिणामेपु प्रवृत्तिर्भावसेवा। (भ. श्रा. विजयो. ४५०)।

श्रभिमान, प्रमाद, श्रसावधानी, भय श्रौर प्रदोष (द्वेष) इन परिणामों में जो प्रवृत्ति होती है उसे भावसेवा कहते हैं।

भावस्तव—१. ××× संतगुणकित्तणा भावे॥ (श्राव. भा. १९३, पृ. ५९०)। २. तेसिं जिणाण-मणंतणाण-दंसण-विरिय-सुह-सम्मत्तव्वाबाह- विराय-भावादिगुणाणुसरण-परूवणाश्रो भावत्थश्रो णाम। (जयध. १, पृ. १११)। ३. केवलज्ञान-केवलदर्श-नादिगुणानां स्तवनं भावस्तवः। (मूला. वृ. ७, ४१)। ४. वर्ण्यन्तेऽनन्यसामान्या यत्कैवल्यादयो गुणाः। भावकैर्भविसर्वस्वदिशां भावस्तवोऽस्तु सः॥ (श्रन. ध. ८–४४)। ५. भावविपयो भावस्तवः। (श्राव. भा. मलय. वृ. १९३, पृ. ५९०)।

१ विद्यमान गुणों का कीर्तन करना, इसका नाम भावस्तव है। २ तीर्थंकरों के श्रनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख, सम्यक्त्व, श्रव्याबाध श्रौर विरागता श्रादि गुणों के स्मरण व प्ररूपण करने को भाव-स्तव कहा जाता है।

भावस्त्री— स्त्रीवेदोदयेन पुरुषाभिलाषरूपमैथुन-संज्ञाक्रान्तो जीवो भावस्त्री। (गो. जी. जी. प्र. २७१)।

जो जीव स्त्रीवेद के उदय से पुरुष की श्रभिलाषा-रूप मैथुन संज्ञा से पीड़ित हो उसे भावस्त्री कहते हैं।

भावस्नान—ध्यानाम्भसा तु जीवस्य सदा यच्छु-द्धिकारणम्। मलं कर्म समाश्रित्य भावस्नानं तदु-च्यते॥ (श्रष्टक. हरि. २–६)।

जो कर्मरूप मैल का श्राश्रय लेकर सदा शुद्धि का कारण है ऐसा जो जीव का ध्यानरूप जल से स्नान है उसे भावस्नान कहा जाता है।

भावस्पर्श—१. जो सो भावफासो णाम॥ उव-जुत्तो पाहुडजाणश्रो सो सव्वो भावफासो णाम॥ (षट्खं. ५, ३, ३१–३२—पु. १३, पृ. ३५)। २. फासपाहुडं णादूण जो तत्थ उवजुत्तो सो भाव-फासो त्ति घेत्तव्वो। (धव. पु. १३, पृ. ३५)।

१ जो स्पर्शप्राभृत का ज्ञाता होकर उसके विषय में उपयोगयुक्त हो उसका नाम भावस्पर्श है।

भावागम—तेपामेव पञ्चानां (जीवाद्यस्तिकाया-नाम्) मिथ्यात्वोदयाभावे सति संशय-विमोह-विभ्रम-

रहितत्वेन सम्यगवायो बोधो निर्णयो निश्चयो ज्ञानसमयोऽर्थपरिच्छित्तिर्भावश्रुतरूपो भावागम इति यावत्। (पंचा. का. जय. वृ. ३)।

मिथ्यात्व कर्म के उदय का अभाव हो जाने पर जो जीवादि पांच अस्तिकायों का संशय, अनध्यवसाय और विपरीत ज्ञान से रहित यथार्थ बोध होता है उसे भावागम कहा जाता है।

भावागमकर्म—देखो आगमभावकर्म।

भावागार — चारित्रमोहोदये सत्यगारसम्बन्धं प्रत्यनिवृत्तः परिणामो भावागारमित्युच्यते। (स. सि. ७-१९)।

चारित्रमोह का उदय रहने पर जो परिणाम घर की ओर से निवृत्त नहीं होता है—उसके विषय में अनुरागरूप रहता है—उसे भावागार कहते हैं।

भावाग्नि—१. उदयं पत्तो वेदो, भावग्गी होइ तदुवओगेणं। भावो चरित्तमादी, तं डहई तेण भावग्गी॥ (बृहत्क. भा. २१५०)। २. 'वेदः' स्त्रीवेदादिरुदयं प्राप्तः सन् तस्य स्त्रीवेदादेः सम्बन्धी य उपयोगः—पुरुषाभिलाषादिलक्षणस्तेन हेतुभूतेन भावाग्निर्भवति। कुतः इत्याह—भावश्चारित्रादिकः परिणामः, तं भावं येन कारणेन दहति तेन भावाग्निरुच्यते, 'भावस्य दाहकोऽग्निर्भावाग्निः' इति व्युत्पत्तेः। (बृहत्क. क्षे. वृ. २१५०)।

१ उदय को प्राप्त वेद (स्त्रीवेद आदि) तद्विषयक उपयोग से—पुरुषादिविषयक अभिलाषा के द्वारा—चूंकि चारित्र आदिरूप भाव (परिणाम) को दग्ध करता है, इसीलिए उसे भावाग्नि कहा जाता है।

भावाचार्य—देखो आचार्य। आयारो नाणाई तस्सायरणा पभासणातो वा। जे ते भावायरिया भावयारोवउत्ता य॥ (आव. नि. ९९५)।

ज्ञान-दर्शनादिरूप आचार पांच प्रकार का है। जो भावाचार में उपयुक्त होकर स्वयं उस आचार का परिपालन करते हैं तथा अन्य साधुओं के लिए उसका व्याख्यान करते हैं उन्हें भावाचार्य कहा जाता है।

भावाजीव—१. भावाजीवो धर्मादिर्गत्याद्युपग्रहकारीति। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-५, पृ. ४९)। २. भावतस्त्वेकरस एकवर्ण एकगन्धो द्विस्पर्श इति। (आव. नि. मलय. वृ. १२९, पृ. १३१)।

१ गति-स्थिति आदि के उपकारक धर्म-अधर्म आदि द्रव्य भाव की अपेक्षा अजीव माने जाते हैं। २ भाव की अपेक्षा अजीव (परमाणु) वह है जो एक रस, एक वर्ण, एक गन्ध और दो स्पर्शों (स्निग्ध-रूक्ष और शीत-उष्ण में से एक-एक) से सहित हो।

भावाधःकर्म—संजमठाणाणं कंडगाण लेसा-ठिईविसेसाणं। भावं अहे करेई तम्हा तं भावहेकम्मं॥ (पिण्डनि. ९९)।

जो आचरण संयमस्थानों के काण्डकों, लेश्याविशेषों और कर्मप्रकृतियों के स्थितिविशेषों सम्बन्धी विशुद्ध व विशुद्धतर स्थानों में वर्तमान भाव (अध्यवसाय) को अधः करता है—हीन व हीनतर स्थानों में करता है—उसे भावाधःकर्म कहा जाता है। यह साधु के आहारविषयक १६ उद्गमदोषों में प्रथम है।

भावानुयोग—भावानामनुयोगो नाम बहूनामौदयिकादीनां भावानां व्याख्यानम्। (आव. नि. मलय. वृ. १२९, पृ. १३२)।

औदयिक आदि भावों में किसी एक के अथवा बहुतों के व्याख्यान को भावानुयोग कहते हैं।

भावापरिणत— दायकादेरशुद्धे भावे भावापरिणतम्। (गु. गु. षट् २५, पृ. ५८)।

दाता आदि के भाव के अशुद्ध होने पर भावापरिणत नाम का एषणादोष (८वां) होता है।

भावाभिग्रह—उक्खित्तमाइचरगा, भावजुया खलु अभिग्गहा होंति। गायंतो व रुदंतो, जं देइ निसन्नमादी वा॥ ओसक्कण अहिसक्कण परम्मुहाऽलंकिए-यरो वा वि। भावन्नयरेण जुओ, अह भावाभिग्गहो नाम॥ (बृहत्क. भा. १६५२-५३)।

उत्क्षिप्त—दाता के द्वारा पाकपात्र से पूर्व में ही निकाल कर रखे हुए—भोज्य पदार्थ का अन्वेषण करने वाले भावयुक्त अभिग्रह (भावाभिग्रह) होते हैं, अर्थात् "मैं पाकपात्र से पूर्व में निकाली गई वस्तु को ही ग्रहण करूंगा, इस प्रकार के नियम का नाम भावाभिग्रह है। अथवा गाता हुआ, रोता हुआ या बैठा हुआ आदि दाता यदि देगा तो ग्रहण करूंगा, ऐसा जो नियम किया जाता है उसे भावाभिग्रह कहते हैं। तथा हटता हुआ, सन्मुख आता

हुआ, पराङ्मुख होता हुआ, अलंकारयुक्त अथवा अलंकारों से रहित दाता यदि देगा तो ग्रहण करूंगा; इस प्रकार के अभिप्रायों में किसी भी अभिप्राय से युक्त भावाभिग्रह होता है।

भावार्त—क्रोधादिभिरभिभूतो भावार्तः। (बृहत्क. भा. क्षे. वृ. १२५१)।

जो क्रोधादि कषायों से पीड़ित है वह भावार्त कहलाता है।

भावार्द्र—१. ××× भावेणं होइ रागद्दं ॥ (सूत्रकृ. नि. २, ६, १८५)। २. भावार्द्रं तु पुनः रागः—स्नेहोऽभिष्वङ्गस्तेनार्द्रं यज्जीवद्रव्यं तद्भावार्द्रमित्यभिधीयते। (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. २, ६, १८५)।

१ राग का अर्थ स्नेह या आसक्ति है, उससे जो जीव द्रव्य आर्द्र (भीगा हुआ) है उसे भावार्द्र कहा जाता है।

भावावग्रह—चउरो ओदइअम्मी, खओवसमियम्मि पच्छिमो होइ। मणसी करणमणुन्नं, च जाण जं जत्थ ऊ कमइ ॥ भावोग्गहो अहव दुहा, मइ-गहणे अत्थ-वंजणे उ मई। गहणे जत्थ उ गिण्हे, 'मणसी कर' अकरणे तिविहं। (बृहत्क. भा. ६८४–८५)।

देवेन्द्रावग्रह, राजावग्रह, गृहपति-अवग्रह, सागारिक-अवग्रह और साधर्मिक अवग्रह इन पांच अवग्रहों में से चार तो 'यह मेरा क्षेत्र है' इत्यादि प्रकार की मूर्च्छा रहने के कारण औदयिक भाव के अन्तर्गत हैं तथा अन्तिम (पांचवां) कषायमोहनीय के क्षयोपशम से मूर्छा न होने के कारण क्षायोपशमिक भाव के अन्तर्गत है। यह भावाग्रह है। भावाग्रह मति और ग्रहण के भेद से दो प्रकार का है। इनमें मतिअवग्रह अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह के भेद से दो प्रकार का है। जिस देवेन्द्रावग्रह आदि में साधु जब किसी सचित्त, अचित्त या मिश्र वस्तु को ग्रहण करता है तब वह ग्रहणभावावग्रह कहलाता है।

भावावसन्न — भावावसन्नोऽशुद्धचरित्रः सीदति उपकरणे वसति-संस्तरप्रतिलेखने स्वाध्याये विहार-भूमिशोधने गोचारशुद्धौ ईर्यासमित्यादिषु स्वाध्याय-कालावलोकेन स्वाध्यायविसर्गे गोचरे चानुद्यतः आवश्यकेष्वलसः जनातिरिक्तो वा जनाधिकं करोति कुर्वंश्च यथोक्तमावश्यकं वाक्कायाभ्यां करोति न भावत एवम्भूतश्चारित्रेऽवसीदतीत्यवसन्नः। (भ. आ. विजयो. १९५०)।

जो साधु का वेष धारण करके शुद्ध चारित्र से रहित होता हुआ उपकरण, वसति व संस्तर के प्रतिलेखन में; स्वाध्याय में, विहारभूमि के शोधन में, गोचारशुद्धि में, ईर्यासमिति आदि में, स्वाध्याय की समाप्ति में तथा गोचर में प्रयत्नशील नहीं रहता है; आवश्यकों के परिपालन में आलस करता है या हीनाधिक रूप में करता है तथा वचन व काय से करता हुआ भी उसे मन से नहीं करता हैं; इस प्रकार से जो चारित्र में खिन्न रहता है उसे भावावसन्न साधु जानना चाहिए।

भावास्रव—१. भावास्रवास्तु ते (आत्मसमवेताः पुद्गलाः) एवोदिताः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–५, पृ. ४९)। २. मिच्छत्ताइचउक्कं जीवे भावासवो भणियं ॥ (द्रव्यस्व. प्र. नयच. १५२)। ३. आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ। भावासओ जिणुत्तो ××× ॥ (द्रव्यसं २९)। ४. कर्मास्रवनिर्मूलनसमर्थशुद्धात्मभावनाप्रतिपक्षभूतेन येन परिणामेनास्रवति कर्म, कस्य? आत्मनः स्वस्य, स परिणामो भावास्रवो विज्ञेयः। (बृ. द्रव्यसं. टी. २९)। ५. निरास्रवशुद्धात्मपदार्थविपरीतो राग-द्वेष-मोहरूपो जीवपरिणामो भावास्रवः। (पंचा. का. जय. वृ. १०८)। ६. उदयोदीरणाकर्मद्रव्यास्रवो यतः (?)। स्यान्नूत्न(?) द्रव्य-भावैर्नो भाव-द्रव्यास्रवाः क्रमात्। (आचा. सा. ३–३०)। ७. आद्यो जीवात्मको भावः ××× ॥ (जम्बू. च. ३–५३); तत्र रागादयो भावाः कर्मागमन-हेतवः ॥ तस्माद्भावाश्रवो ज्ञेयो रागभावः शरीरिणाम्। (जम्बू. च. १३, १००–१)।

१ आत्मा में समवाय को प्राप्त हुए वे ही कर्मरूप पुद्गल उदय को प्राप्त होने पर भावास्रव कहलाते हैं। २ जीव में जो मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार विद्यमान रहते हैं उन्हें भावास्रव कहते हैं।

भावाहार—भावाहारस्त्वयम्—क्षुधोदयाद् भक्ष्य-पर्यायापन्नं वस्तु यदाहरति स भावाहारः। (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. २, ३, १६६, पृ. ८७)।

क्षुधा के उदय से भक्ष्य अवस्था को प्राप्त वस्तु को जो ग्रहण किया जाता है उसे भावाहार कहते हैं।

भाविद्रव्यकृति—जा सा भवियदव्वकदी णाम जे इमे कदित्ति अणिओगद्दारा भविओवकरणदाए जो ट्ठिदो जीवो ण ताव तं करेदि सा सव्वा भविय-दव्वकदी णाम। (षट्खं. ४, १, ६४—पु. ६, पृ. २७१)।

जो जीव भविष्य में कृति अनुयोगद्वारों के उपकरण रूप से स्थित होकर वर्तमान में उसे नहीं कर रहा है उसे भावी (नोआगम) द्रव्यकृति कहते हैं।

भाविद्रव्यासंख्यात—जं तं भवियासंखेज्जयं तं भविस्सकाले असंखेज्जपाहुडजाणुगजीवो। (धव. पु. ३, पृ. १२४)।

जो जीव भविष्य में असंख्यातप्राभृत का ज्ञाता होने वाला है उसे भावी द्रव्यासंख्यात कहा जाता है।

भाविनैगमनय—१. णिप्पण्णमिव पयंपदि भावि-पयत्थं खु णरो अणिप्पण्णं। अप्पत्थे जह पत्थं भण्णइ सो भाविणइगमोत्ति णओ॥ (नयच. ३५; द्रव्यस्व. प्र. नयच. २०५)। २. भाविनि भूतवत्क-थनं यत्र स भाविनैगमो यथा अर्हन् सिद्ध एव। (आलापप. पृ. १३८)। ३. भविष्यन्तम् अर्थम् अतीतवत् कथनं भाविनि भूतवत् कथनं भाविनैगमः, यथा अर्हन् सिद्ध एव। (कार्तिके. टी. २७१)।

१ अनिष्पन्न (अनुत्पन्न) भावी पदार्थ को जो निष्पन्न के समान कहा जाता है उसे भावी नैगम-नय कहते हैं। जैसे—जो प्रस्थ (एक मापविशेष) अभी उत्पन्न नहीं हुआ है—आगे उत्पन्न होने वाला है—उसे वर्तमान में प्रस्थ कहना, अथवा अरहन्त को सिद्ध कहना।

भाविनोआगमज्ञायकशरीरद्रव्यभाव—भाव-पाहुडपज्जायपरिणदजीवस्स आहारो जं होसदि सरीरं तं भवियं णाम। (धव. ५, पृ. १८४)।

भावप्राभृतपर्यायरूप से परिणत जीव का जो शरीर आधार होगा उसे भावी नोआगमज्ञायकशरीरद्रव्य-भाव कहते हैं।

भाविनोआगमद्रव्यकाल—भवियणोआगमदव्व-कालो भविस्सकाले कालपाहुडजाणओ जीवो। (धव. पु. ४, पृ. ३१४)।

जो जीव आगामी काल में कालप्राभृत का ज्ञाता होने वाला है उसे भावी नोआगमद्रव्यकाल कहा जाता है।

भाविनोआगमद्रव्यजीव—१. जीवन-सम्यग्दर्शन-परिणामप्राप्तिं प्रत्यभिमुखं द्रव्यं भावीत्युच्यते। (त. वा. १, ५, ७)। २. गत्यन्तरे स्थितो मनुष्यभव-प्राप्तिं प्रत्यभिमुखो भाविजीवः, स एव यदा जीवा-दिप्राभृतं न जानाति केवलमग्रे ज्ञास्यति तदा भावि-नोआगमः। (न्यायकु. ७४, पृ. ८०७)। ३. अथवा यदा जीवादिप्राभृतं न जानाति अग्रे तु ज्ञास्यति तदा भाविनोआगमद्रव्यजीवः। (त. वृत्ति श्रुत. १-५)।

१ जीवन—मनुष्यादि जीवन—परिणाम और सम्यग्दर्शन परिणाम की प्राप्ति के प्रति जो अभि-मुख द्रव्य है उसे क्रम से भावी नोआगमद्रव्यजीव और भावी नोआगमसम्यग्दर्शन कहते हैं। २ अन्य गति में स्थित जो जीव मनुष्यभव की प्राप्ति के प्रति अभिमुख हो रहा है उसे भावी नोआगमद्रव्यजीव कहते हैं; वही जब जीवादिप्राभृत को वर्तमान में नहीं जानता है, किन्तु आगे अवश्य जानेगा तब उसे भावी नोआगमद्रव्यजीव कहा जाता है।

भाविनोआगमद्रव्यभाव—भावपाहुडपज्जयस-रूवेण जो जीवो परिणमिस्सदि सो णोआगमभविय-दव्वभावो णाम। (धव. पु. ५, पृ. १८४)।

जो जीव आगे भावप्राभृत पर्यायरूप से परिणत होने वाला है उसे भावी नोआगमद्रव्यभाव कहते हैं।

भाविनोआगमद्रव्यसामायिक—भाविकाले सा-मायिकप्राभृतज्ञायिजीवो भाविनोआगमद्रव्यसामायि-कम्। (अन. ध. स्वो. टी. ८-१९)।

जो जीव आगामी काल में सामायिकप्राभृत का ज्ञाता होने वाला है उसे भावी नोआगमद्रव्यसामा-यिक कहा जाता है।

भाविनोआगमद्रव्यानन्त—जं तं भवियाणंतं तं अणंतप्पाहुडजाणुगभावी जीवो। (धव. पु. ३, पृ. १४-१५)।

जो जीव भविष्य में अनन्तप्राभृत का जानकार होने वाला है उसे भावी नोआगमद्रव्यानन्त कहा जाता है।

भाविनोआगमद्रव्यान्तर—भवियणोआगमदव्वंत-रं भविस्सकाले अंतरपाहुडजाणओ। संपहि संतेवि उवजोए अंतरपाहुडअवगमरहिओ। (धव. पु. ५, पृ. २)।

जो जीव भविष्य में अन्तरप्राभृत का ज्ञाता होने वाला है, पर वर्तमान में उपयोग के होने पर भी

जो अन्तरप्राभृत के ज्ञान से रहित हैं उसे भावी नो-आगमद्रव्यान्तर कहते हैं।

भाविप्रतिक्रमण — चारित्रमोहक्षयोपशमसान्निध्ये भविष्यत्प्रतिक्रमणपर्याय आत्मा भाविप्रतिक्रमणम्। भ. आ. विजयो. ११६)।

चारित्रमोहनीय का क्षयोपशम होने पर जो जीव आगे होने वाली प्रतिक्रमण पर्याय से परिणत होने वाला है उसे भावी प्रतिक्रमण कहते हैं।

भाविव्रत—चारित्रमोहस्य क्षयात् क्षयोपशमाद्वा यस्मिन्नात्मनि भविष्यन्ति विरतिपरिणामाः स भाविव्रतम्। (भ. आ. विजयो. ११८५)।

चारित्रमोह के क्षय या क्षयोपशम से जिस आत्मा में आगे विरतिरूप परिणाम होने वाले हैं उसे भावी-व्रत कहते हैं।

भाविसामायिक—चारित्रमोहनीयक्षयोपशमविशेषसहायो य आत्मा भविष्यत्सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिपरिणामः सोऽभिधीयते भाविसामायिकशब्देन। (भ. आ. विजयो. ११६)।

चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम के आश्रय से जो जीव आगामी काल में समस्त सावद्ययोग की निवृत्तिरूप परिणाम से युक्त होने वाला है उसे 'भावीसामायिक' शब्द से कहा जाता है।

भाविसिद्ध—भविष्यत्सिद्धत्वपर्यायो जीवो भाविसिद्धः। (भ. आ. विजयो. १)।

जिस जीव को आगे सिद्धत्व पर्याय प्राप्त होने वाली है उसे भावीसिद्ध कहा जाता है।

भावी अर्हन्—देखो भाव्यर्हन्।

भावेन अनुयोग — भावेनानुयोगः संग्रहादीनां पञ्चानामध्यवसायानामन्यतरेणाध्यवसायेन योऽनुयोगः। (आव. नि. मलय. वृ. १२६, पृ. १३२)।

संग्रह आदि (संग्रहार्थता, उपग्रहार्थता, निर्जरार्थता, श्रुतपर्यवजात और अव्यवच्छित्ति) पांच अध्यवसायों में से किसी एक अध्यवसाय (अभिप्राय) के द्वारा जो व्याख्या की जाती है उसे भावेन अनुयोग कहा जाता है।

भावेन्द्र—जो पुण जहत्थजुत्तो, सुद्धनयाणं तु एस भाविंदो। इंदस्स व अहिगारं, वियाणमाणो तदुवउत्तो॥ (बृहत्क. भा. १५)।

जो परमैश्वर्यरूप यथावस्थित अर्थ से सहित हो वह शुद्ध नयों—शब्दादि नयों—के अनुसार भाव-इन्द्र कहलाता है। इन्द्र के अधिकार को—शब्दार्थ को—जो जानता है और तद्विषयक उपयोग से सहित हो उसे भाव-इन्द्र जानना चाहिए।

भावेन्द्रिय—१. लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्। (त. सू. २–१८; धव. पु. १, पृ. २३६)॥ २. लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्—अर्थग्रहणशक्तिः लब्धिः, उपयोगः पुनरर्थग्रहणव्यापारः। (लघीय. स्वो. विव. ५, पृ. ११५)। ३. श्रोत्रेन्द्रियादिविषया सर्वात्मप्रदेशानां तदावरणक्षयोपशमलब्धिरूपयोगश्च भावेन्द्रियम्। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. २८)। ४. भावेन्द्रियं तु क्षयोपशम उपयोगश्च। (ललितवि. पृ. ३६)। ५. भावेन्द्रियाणि तु भावात्मकान्यात्मपरिणतिरूपाणीति। (त. भा. सिद्ध. वृ. २–१६); लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्—लब्धिः प्रतिस्वमिन्द्रियावरणकर्मक्षयोपशमः, स्वविषयव्यापारः प्रणिधानं वीर्यमुपयोगः, एतदुभयं भावेन्द्रियमात्मपरिणतिलक्षणं भवति। (त. भा. सिद्ध. वृ. २–१८)। ६. भावेन्द्रियं नाम ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषोपलब्धिः, द्रव्येन्द्रियनिमित्तरूपाद्युपलब्धिश्च। (भ. आ. विजयो. ११५); भावेन्द्रियं ज्ञानावरणक्षयोपशम इन्द्रियजनितो रूपाद्युपयोगश्च। (भ. आ. विजयो. ३१३)। ७. लब्धिस्तथोपयोगश्च भावेन्द्रियमुदाहृतम्। (त. सा. २–४४)। ८. मदिआवरणखओवसमुत्थविसुद्धी हु तज्जबोहो वा। भाविंदियं तु ××× ॥ (गो. जी. १६५)। ९. आत्मप्रदेशावरणक्षयोपशमरूपं भावेन्द्रियम्। (सिद्धिवि. वृ. ८–२६, पृ. ५७०)। १०. भावेन्द्रियं तु लब्ध्युपयोगात्मकम्। (प्र. क. मा. २–५, पृ. २२६)। ११. लब्धिः सदोपयोगश्च स्याद् भावेन्द्रियमात्मनः। (आचा. सा. ४–२७)। १२. ××× इयरं पुण, लद्धुवओगेहिं नायव्वं॥ (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. १५, उद्.)। १३. जन्तोः श्रोत्रादिविषयस्तत्तदावरणस्य यः। स्यात् क्षयोपशमो लब्धिरूपं भावेन्द्रियं हि तत्॥ स्व-स्वलब्ध्यनुसारेण विषयेषु य आत्मनः। व्यापार उपयोगाख्यं भवेद् भावेन्द्रियं च तत्॥ (लोकप्र. ३, ४८०–८१)।

१ लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं। २. अर्थ के ग्रहण करने की शक्ति का नाम लब्धि और अर्थग्रहण के प्रति जो व्यापार होता है उसका नाम उपयोग है, इन दोनों को भावेन्द्रिय कहा जाता है। ३ समस्त आत्मप्रदेशों सम्बन्धी श्रोत्र

आदि इन्द्रियों विषयक उनके आवरण के क्षयोपशम रूप लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं।

भावैकान्त—भाव एवेति सन्नेवेति एकान्तः असहायधर्मग्रहो भावैकान्तः, सर्वथा सत्त्वाभ्युपगम इत्यर्थः। (आप्तमी. वसु. वृ. १–९)।

विवक्षित वस्तु 'सत् ही है' इस प्रकार से जो असत्त्व धर्म की अपेक्षा से रहित ग्रहण होता है—केवल सत्ता को ही स्वीकार किया जाता है, इसका नाम भावैकान्त है।

भावोज्झित—लद्धूण अन्नवत्थे, पोराणे सो उ देइ अन्नस्स। सो वि अ निच्छइ ताइं, भावुज्झियमेवमाईयं। (बृहत्क. भा. ६१४)।

कोई अन्य नवीन वस्त्रों को प्राप्त करके पुराने वस्त्र किसी दूसरे को देता है, वह (दूसरा) भी उन्हें पुराने होने के भाव (अभिप्राय) से नहीं स्वीकार करता है; इसीलिए इत्यादि प्रकार के त्याग को भावोज्झित कहा जाता है।

भावोत्थानकायोत्सर्ग—ध्येयैकवस्तुनिष्ठता ज्ञानमयस्य भावस्य भावोत्थानम्। (भ. आ. विजयो. ११६)।

ज्ञानमय भाव, जो एक ध्येय वस्तुमें रहता है, इसका नाम भावकायोत्सर्ग है।

भावोद्योत—१. भावुज्जोवो णाणं जह भणियं सव्वभावदरिसीहिं। तस्स दुपयोगकरणे भावुज्जोवोत्ति णादव्वो॥ (मूला. ७–१५६)। २. भावुज्जोवउज्जोओ लोगालोगं पगासेइ॥ (आव. नि. १०६२)।

१ भावोद्योत ज्ञान है, ऐसा सर्वज्ञ ने कहा है, उस का उपयोग करने पर भावोद्योत होता है, ऐसा जानना चाहिए। २ जो उद्योत लोक व अलोक को प्रकाशित करता है वह भावोद्योत उद्योत कहलाता है।

भावोपक्रम—भावोपक्रमो हि नाम परहृदयाकूतस्य यथावत्परिज्ञानम्। (आव. नि. मलय. वृ. ७८, पृ. ९२)।

दूसरे के हृदयगत अभिप्राय का जो यथार्थ ज्ञान होता है उसका नाम भावोपक्रम है।

भावोपयोगवर्गणा—उवजोगो णाम कोहादिकसाएहि सह जीवस्स संपजोगो, तस्स वग्गणाओ वियप्पा भेदा त्ति एगट्ठो। ××× भावदो तिव्वमंदादिभावपरिणदाणं कसायुदयट्ठाणाणं जहण्णवियप्पप्पहुडि जावुक्कस्सवियप्पो त्ति छवड्ढिकमेणावट्ठियाणं भावोवजोगवग्गणा त्ति ववएसो; भावविसेसिदाओ उवजोगवग्गणाओ भावोवजोगवग्गणाओ त्ति विवक्खियत्तादो। (जयध.—कसायपा. पृ. ५७९, टि. १)।

क्रोधादि कषायों के साथ जो जीव का संयोग होता है उसका नाम उपयोग है, इस उपयोग के विकल्पों या भेदों को उपयोगवर्गणा कहा जाता है। तीव्र-मन्द आदि भावों से परिणत कषायों के जघन्य विकल्प से लेकर उत्कृष्ट विकल्प तक षड्-वृद्धिक्रम से अवस्थित उदयस्थानों को भावोपयोगवर्गणा कहते हैं।

भाव्यर्हन्—यस्मिन्नात्मनि अरिहननादयो भविष्यन्ति गुणाः स भाव्यर्हन्। (भ. आ. विजयो. ४६)।

जिस जीव में आगे अरिहनन—कर्मरूप शत्रु का विनाश—आदि गुण होने वाले हैं उसे भावी अर्हन् कहा जाता है।

भाषक—भाषत इति भाषकः। (आव. नि. हरि. वृ. ८, पृ. १६); भाषालब्धिसम्पन्नाः भाषकाः। (आव. नि. हरि. वृ. १५, पृ. २१)।

जो भाषालब्धि से युक्त होते हैं वे भाषक कहलाते हैं।

भाषा—१. भाष्यत इति भाषा। (आव. नि. हरि. वृ. ६ व ८)। २. व्यक्तवाग्भिर्वर्ण-पद-वाक्याकारेण भाष्यत इति भाषा। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५–२४, पृ. ३६०)। ३. भाष्यते इति भाषा, तद्योग्यतया परिणामितनिसृज्यमानद्रव्यसंहतिः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १६१)।

१ जो बोली जाती है उसे भाषा कहते हैं। २ स्पष्ट वचन बोलने वाले व्यक्ति वर्ण, पद और वाक्य के आकार से जो कुछ बोलते हैं उसका नाम भाषा है।

भाषाद्रव्यवर्गणा—१. भासादव्ववग्गणा णाम चउव्विहाए भासाए गहणं पवत्तति। तं जहा—सच्चाए मोसाए सच्चामोसाए असच्चामोसाए। जाइं दव्वाइं घित्तूणं सच्चादिभासत्ताए परिणामेउ णिस्सरंति जीवा ताणि ताणि दव्वाणि भासादव्ववग्गणा। (कर्मप्र. चू. १९, पृ. ४०–४१)। २. तत एकोत्तरवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा एता अपि भाषानिष्प-

त्तिहेतुभूता अनन्ता भाषावर्गणा मन्तव्याः। (शतक. मलय. हेम. वृ. ८७, पृ. १०५)।

२ जो वर्गणाएं उत्तरोत्तर एक एक वृद्धि वाले स्कन्धों से प्रारम्भ होकर भाषा की उत्पत्ति में कारण होती हैं वे भषावर्गणाएं कहलाती हैं।

भाषापर्याप्ति—१. भाषायोग्यद्रव्यग्रहण-निसर्गशक्तिनिर्वर्तनक्रियापरिसमाप्तिर्भाषापर्याप्तिः। (त. भा. ८-१२; नन्दी. हरि. वृ. पृ. ४४)। २ भासाजोग्गगहण-णिसिरणसत्ती भासापज्जत्ती। (नन्दी. चू. पृ. १५)। ३. भाषायोग्यपुद्गलग्रहण-विसर्गसमर्थकरणनिष्पत्तिर्भाषापर्याप्तिः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८-१२, पृ. ३९८ व १६०); अत्रापि वर्गणाक्रमेणैव भाषायोग्यद्रव्याणां ग्रहण-निसर्गो तद्विषया शक्तिः सामर्थ्यं तन्निवर्तनक्रियापरिसमाप्तिर्भाषापर्याप्तिः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८, १२, पृ. ४०० व १६१)। ४. भाषावर्गणायाः स्कन्धाच्चतुर्विधभाषाकारेण परिणमनशक्तेर्निमित्तनोकर्मपुद्गलप्रचयावाप्तिर्भाषापर्याप्तिः। (धव. पु. १, पृ. २५५)। ५. तथा भाषापर्याप्तिरिति। किमुक्तं भवति? येन कारणेन सत्य-मृषा-[सत्यमृषा-]असत्यमृषाया भाषायाश्चतुर्विधाया प्रायोग्यानि पुद्गलद्रव्याण्याश्रित्य चतुर्विधाया भाषायाः स्वरूपेण परिणमय्य समर्थो भवति तस्य कारणस्य निर्वृत्तिः सम्पूर्णता भाषापर्याप्तिरुच्यते। (मूला. वृ. १२-४); भाषावर्गणायाश्चतुर्विधभाषाकारपरिणमनशक्तेः परिसमाप्तिर्भाषापर्याप्तिः। (मूला. वृ. १२-११९६)। ६. भाषापर्याप्तिर्वचोयोग्यान् पुद्गलान् गृहीत्वा भाषात्वेन परिणमय्य वाग्योग्यतया निसर्जनशक्तिः। (स्थाना. अभय. वृ. ७३)। ७. यया तु भाषाप्रायोग्यं वर्गणाद्रव्यमादाय भाषारूपतया परिणमय्य मुञ्चति सा भाषापर्याप्तिः। (शतक. मल. हेम. वृ. ३८, पृ. ५०)। ८. यया तु भाषाप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय भाषात्वेन परिणमय्यालम्ब्य च मुञ्चति सा भाषापर्याप्तिः। (जीवाजी. मलय. वृ. १२; प्रज्ञाप. मलय. वृ. १२; नन्दी. सू. मलय. वृ. १३; षड्शी. मलय. वृ. ३; सप्तति. मलय. वृ. ६; पंचसं. मलय. वृ. ५, पृ. ८; प्रव. सारो. वृ. १३१७; संग्रहणी दे. वृ. २६८; वृहत्क. क्षे. वृ. १११२; कर्मस्त. गो. वृ. १०; षडशी. दे. स्वो. वृ. २; विचारस. वृ. ४३)। ९. उचितकालायातभाषावर्गणास्कन्धान् चतुर्विधभाषारूपेण परिणमयितुं पर्याप्ति-स्वरनामकर्मोदयजनिता आहारवर्गणावष्टम्भयुक्तस्य आत्मनः शक्तिनिष्पत्तिर्भाषापर्याप्तिः। (गो. जी. म. प्र. ११२)। १०. स्वरनामकर्मोदयवशाद् भाषावर्गणायातपुद्गलस्कन्धान् सत्यासत्योभयानुभयभाषारूपेण परिणमयितुं शक्तिनिष्पत्तिः भाषापर्याप्तिः। (गो. जी. जी. प्र. ११९; कार्तिके. टी. १३४)। ११. येन करणेन सत्यादिभाषायाः प्रायोग्यद्रव्याण्यवलम्ब्य चतुर्विधभाषाया परिणमय्य भाषानिसर्ज्जनप्रभुः स्यात् तस्य करणस्य निष्पत्तिर्भाषापर्याप्तिः। (भगवती. दा. वृ. ६-४, पृ. ६२)। १२. भाषार्हं दलमानाय, गीस्त्वं नीत्वाऽवलम्ब्य च। यया शक्त्या त्यजेत् प्राणी, भाषापर्याप्तिरित्यसौ॥ (लोकप्र. ३-२९)।

१ भाषा के योग्य द्रव्य के ग्रहण और छोड़ने की शक्ति के निर्वर्तन रूप क्रिया की समाप्ति को भाषापर्याप्ति कहा जाता है। ४ भाषावर्गणा के स्कन्ध से चार प्रकार की भाषा के आकार से परिणमाने की शक्ति के कारणभूत नोकर्मरूप पुद्गलसमूह की प्राप्ति को भाषापर्याप्ति कहते हैं।

भाषार्य—१. भाषार्या नाम ये शिष्टभाषानियनवर्णं लोकरूढस्पष्टशब्दं पञ्चविधानामप्यार्याणां संव्यवहारं भाषन्ते। (त. भा. ३-१५)। २. भाषार्या नाम ते शिष्टभाषानियतवर्णकम्। पंचानामपि चार्याणां व्यवहारं वदन्ति ये॥ (त्रि. श. पु. च. २, ३, ९७८)।

१ जो शिष्टभाषा में नियत वर्णों से तथा लोकप्रसिद्ध स्पष्ट शब्दों से युक्त समीचीन व्यवहार को पांच प्रकार के आर्यों के मध्य में बोला करते हैं वे भाषार्य कहलाते हैं। सिद्धसेन गणी के अनुसार सब अतिशयों से युक्त गणधर आदि शिष्ट कहलाते हैं तथा उनकी संस्कृत व अर्धमागधी आदि भाषा शिष्टभाषा मानी गई है।

भाषासमिति—१. पेसुण्ण-हास-कक्कस-परणिदप्पपसंसियं वयणं। परिचत्ता स-परहियं भासासमिदी वदंतस्स॥ (नि. सा. ६२)। २. पेसुण्ण-हास-कक्कस-परणिदाप्पप्पसंस-विकहादी। वज्जिता स-परहियं भासासमिदी हवे कहणं॥ (मूला. १-१२); सच्चं असच्चमोसं अलियादीदोसवज्जमणवज्जं। वदमाणस्सणुवीची भासासमिदी हवे सुद्धा॥ (मूला.

५–११०; भ. श्रा. ११९२)। ३. हित-मितासंदिग्धानवद्यार्थनियतभाषणं भाषासमितिः। (त. भा. ९–५)। ४. हितमितासंदिग्धाभिधानं भाषासमितिः। (त. वा. ९, ५, ५; त. श्लो. ९–५)। ५. आत्मने परस्मै च हितमायत्यां तदात्वे चोपकारकं मुखवसनाच्छादितास्येन, नातिबहु प्रयोजनमात्रसाधकमिदम्, असंदिग्धं सूक्तवर्णमर्थप्रतिपत्तौ वा न सन्देहकारि, निरवद्यार्थमनुपघातकं षण्णां जीवनिकायानाम्, एवंविधं च नियतं सर्वदैव भाषणं भाषासमितिः। (त. भा. हरि. वृ. ९–५)। ६. भाषणं भाषा, तद्विषया समितिर्भाषासमितिः। उक्तं च—भाषासमितिर्नाम हित-मितासन्दिग्धार्थभाषणम्। (आव. हरि. वृ. पृ. ६१६)। ७. त्यक्त्वा कार्कश्य-पारुष्यं यतेर्यत्नवतः सदा। भाषणं धर्मकार्येषु भाषासमितिरिष्यते॥ (ह. पु. २–१२३)। ८. आत्मने परस्मै हितमायत्यामुपकारकं मुखवसनाच्छादितास्यता, नातिबहु प्रयोजनमात्रसाधकम् मितम्, असंदिग्धं सूक्तं अर्थ-वर्णप्रतिपत्तौ वा न सन्देहकारि निरवद्यार्थमनुपघातकं षण्णां जीवकायानाम्, एवंविधं च नियतं सर्वदैव भाषणं भाषासमितिः। आह च—त्यक्तानृतादिदोषं सत्यमसत्यानृतं च निरवद्यम्। सूत्रानुयायि वदतो भाषासमितिर्भवति साधोः॥ (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–५)। ९. व्यलीकादिविनिर्मुक्तं सत्यासत्यामृषाद्वयम्। वदतः सूत्रमार्गेण भाषासमितिरिष्यते॥ (त. सा. ६–८)। १०. दशदोषविनिर्मुक्तां सूत्रोक्तां साधुसम्मताम्। गदतोऽस्य मुनेर्भाषां स्याद्भाषासमितिः परा॥ (ज्ञानार्णव १८–६, पृ. १८९)। ११. भाषासमितिः श्रुतधर्माविरोधेन पूर्वापरविवेकसहितमनिष्ठुरादि वचनम्। (मूला. वृ. १-१०)। १२. भेद-पैशून्य-परुषप्रहासोक्त्यादिवर्जिता। हित-मिता निःसन्देहा भाषा भाषासमित्याख्या॥ (आचा. सा. १–२३); मित-सत्य-हितस्योक्तिर्मनःसन्देहभेदिनः। वचसोऽनुभयस्यापि भाषासमितिरिष्यते। (आचा. सा. ५–६१)। १३. भाषासमितिः निरवद्यवचनप्रवृत्तिः। (समवा. अभय. वृ. ५)। १४. अवद्यत्यागतः सर्वजनीनं मितभाषणम्। प्रिया वाचंयमानां सा भाषासमितिरुच्यते॥ (योगशा. स्वो. विव. १–४२)। १५. कर्कशा परुषा कट्वी निष्ठुरा परकोपिनी। छेदङ्करा मध्यकृशातिमानिन्यनयङ्करा॥ भवहिंसाकरी चेति दुर्भाषां दशधा त्यजन्। हितं मितमसन्दिग्धं स्याद् भाषासमितो वदन्। (अन. ध. ४, १६५–६६)। १६. हितं परमितमसन्दिग्धं सत्यमनसूयं प्रियं कर्णामृतप्रायमशंकाकरं कषायानुत्पादकं सभास्थानयोग्यं मृदु धर्माऽविरोधि देश-कालाद्युचितं हास्यादिरहितं वचोऽभिधानं सम्यक्भाषासमितिर्भवति। (त. वृत्ति श्रुत. ९-५)। १७. भाषासमितिः आगमानुसारेण वचनम्। (चारित्रप्रा. टी. ३६)। १८. परबाधाकरं वाक्यं न ब्रूते धर्मदूषितम्। यस्तस्य समितिर्भाषा जायते वदतो हितम्॥ (धर्मसं. ९–५)। १९. हितं यत्सर्वजीवानां निरवद्यं मितं वचः। तद्धर्महेतोर्वक्तव्यं भाषासमितिरित्यसौ॥ तदुक्तम्—सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयात् सा भाषासमितिर्भवेत्॥ (लोकप्र. ३०, ७४५–४६)। २०. वचो धर्माश्रितं वाच्यं वरं मौनमथाश्रयेत्। हिंसाश्रितं न तद्वाच्यं भाषासमितिरिष्यते॥ (लाटीसं. ५–२२७)। २१. भाषाजातवाक्यशुद्धयध्ययनप्रतिपादितां सावद्यां भाषां धूर्त-कामुक-क्रव्याद-चौर-चार्वाकादिभाषितां निर्दम्भतया वर्जयतः सर्वजनीनं स्वल्पमप्यतिप्रयोजनसाधकमसन्दिग्धं च यद्भाषणं सा भाषासमितिः। (धर्मसं. मान. ३–४७, पृ. १३१)।

१ पैशुन्य, हास्य, कर्कश, परनिन्दात्मक और आत्मप्रशंसारूप वचन को छोड़कर जो स्व और पर के लिए हितकर वचन को बोलता है उसके भाषासमिति होती है। ३ हितकर, परिमित, सन्देह से रहित और निष्पाप अर्थ के सूचक वचन के सदा बोलने का नाम भाषासमिति है।

भाषासमित्यतिचार— इदं वचनं मम गदितुं युक्तं न वेति अनालोच्य भाषणम्, अज्ञात्वा वा। अत एवोक्तम्—'अपुट्ठो दु ण भासेज्ज भासमाणस्स अंतरे' इति। अपृष्टश्रुतधर्मतया मुनिः अपृष्ट इत्युच्यते। भाषासमितिक्रमानभिज्ञो मौनं गृह्णीयात्, इत्यर्थः। एवमादिको भाषासमित्यतिचारः। (भ. आ. विजयो. १६)।

यह वचन बोलने योग्य है या नहीं, इस प्रकार का विचार न करके भाषण करना, अथवा बिना जाने भाषण करना तथा बिना पूछे भाषण करना; इत्यादि भाषासमिति के अतिचार हैं—उसे दूषित करने वाले हैं।

भाष्य—भाष्यो वर्ण-पद-वाक्याकारेण भाष्यत इति कृत्वा। (त. भा. हरि. वृ. ५–२६)।

जो शब्द वर्ण, पद और वाक्य के आकार से बोला जाता है उसे भाष्य कहते हैं। यह छह प्रकार के शब्द में अन्तिम है।

भाष्य जप—यस्तु परैः श्रूयते स भाष्यः। (निर्वाणक. पृ. ४)।

जो जप दूसरों के द्वारा सुना जाता है उसे भाष्य जप कहते हैं।

भिक्षापरिमाण—भिक्षापरिमाणम् एकां भिक्षां द्वे एव वा गृह्णामि नाधिकामिति। (भ. आ. विजयो. २१९)।

मैं एक अथवा दो ही भिक्षाओं को ग्रहण करूंगा, अधिक को नहीं; इस प्रकार के नियम का नाम भिक्षापरिमाण है।

भिक्षाशुद्धि—१. भिक्षाशुद्धिः परीक्षितोभयप्रचारा प्रमृष्टपूर्वापरस्वांगदेशविधाना आचारसूत्रोक्तकाल-देश-प्रकृतिप्रतिपत्तिकुशला लाभालाभ-मानापमान-(त. श्लो. 'मान-प्रतिमान-')समानमनोवृत्तिः लोकगर्हितकुलपरिपर्जनपरा चन्द्रगतिरिव हीनाधिकगृहा विशिष्टोपस्थाना दीनानाथ-दानशाला-विवाह-यजन-गेहादिपरिवर्जनोपलक्षिता (त. श्लो. 'त-')दीनवृत्ति-विगमा प्रासुकाहारगवेषणप्रणिधाना आगमविहित-निरवद्याशनपरिप्राप्तप्राणयात्राफला, तत्प्रतिबद्धा हि चरणसंपत् गुणसम्पदिव साधुजनसेवानिबन्धना सा लाभालाभयोः सुरस-विरसयोश्च समसन्तोषाद्भिक्षेति भाष्यते। (त. वा. ९, ६, ६; त. श्लो. ९–६; चा. सा. पृ. ३५)। २. वाक्चित्त-काय-कारित-कृतानुमतकर्मणा। नवभेदं तदेतेन कर्मणा परिवर्जिता॥ योद्गमोत्पादनैषणैर्दोषैः संयोजनेन च। प्रमाणाङ्गार-धूमाख्यैर्व्यपेता कारणान्विता॥ एषणासमितिप्रोक्त-क्रमाप्ताशनसेवना। भिक्षाशुद्धिर्गुणव्रातरक्षादक्षा स्मृता नुता॥ (आचा. सा. ८, १६–१८)।

१ भिक्षा को जाते हुए दोनों ओर देखकर गमन करना, अपने पूर्वापर शरीर के भाग का विधिपूर्वक प्रतिलेखन करना; आचारशास्त्र में निर्दिष्ट काल, देश और प्रकृति के जानने में कुशल होना; लोकनिन्द्य कुलों को छोड़ना, चन्द्रगति के समान हीन-अधिक घरों में जाना, उपस्थान की विशेषता से सहित होना; दीन, अनाथ, दानशाला, विवाह व याग आदि के घर को छोड़ना; दीनवृत्ति का त्याग करना, प्रासुक आहार के खोजने में सावधान रहना तथा आगमोक्त निर्दोष भोजन के द्वारा जीवनयात्रा को सफल करना; इस सबका नाम भिक्षाशुद्धि है। जिस प्रकार गुणरूप सम्पदा का कारण साधु जन की सेवा है उसी प्रकार चारित्ररूप सम्पदा का कारण यह भिक्षाशुद्धि है। लाभ-अलाभ और सरस-नीरस भोजन में समान सन्तोष होने से इसे भिक्षा कहा जाता है।

भिक्षु—१. भिक्खू अणुन्नए विणीए नामए दन्ते दविए वोसट्ठकाए संविधुणीय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अज्झप्पजोगसुद्धादाणे उवट्ठिए ठिअप्पा संखाए परदत्तभोई भिक्खु त्ति वच्चे। (सूत्र. कृ. १, १६, ३)। २. मोणं चरिस्सामि समेच्च धम्मं, सहिए उज्जुकडे णियाणछिन्ने। संथवं जहेज्ज अकामकामे, अन्नायएसी परिव्वए स भिक्खू॥ राओवरयं चरेज्ज लाढे, विरए वेदवियाऽऽयरक्खिए। पन्ने अभिभूय सव्वदंसी, जे कम्हि वि ण मुच्छिए स भिक्खू॥ अक्कोसवहं विइत्तु धीरे, मुणी चरे लाढे णिच्चमायगुत्ते। अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे, जे कसिणं अहियासए स भिक्खू॥ पंतं सयणासणं भइत्ता, सीउण्हं विविहं च दंसमसगं। अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे, जे कसिणं अहियासए स भिक्खू॥ णो सक्कियमिच्छती न पूयं, णो वि य वंदणगं कुओ पसंसं। से संजए सुव्वए तवस्सी, सहिए आयगवेसए स भिक्खू॥ जेण पुण जहाइ जीवियं, मोहं वा कसिणं नियच्छई। नरनारिं पजहे सया तवस्सी, ण य कोऊहलं उवेइ स भिक्खू॥ छिन्नं सरं भोमं अंतलिक्खं, सुमिणं लक्खण दंड वत्थुविज्जं। अंगवियारं सरस्सविजयं, जे विज्जाहि ण जीवई स भिक्खू॥ मंतं मूलं विविहं विज्जचिंतं, वमण-विरेयण-धूम-नेत्त-सिणाणं। आउरे सरणं तिगिच्छियं च, तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू॥ खत्तिय-गण-उग्ग-रायपुत्ता, माहणभोइय विविहा य सिप्पिणो। नो तेसिं वयइ सिलोगपूयं, तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू॥ गिहिणो जे पव्वइएण दिट्ठा, अप्पव्वइएण व संथुया हवेज्जा। तेसिं इहलोइयप्फलट्ठा, जो संथवं न करेइ स भिक्खू॥ सयणासण-पाण-भोयणं, विविहं खाइम-साइमं परेसिं। अदए पडिसेहिए नियंठे, जे तत्थ ण पउस्सई स भिक्खू॥ जं किंचि आहारपाणं विविहं

खाइम-साइमं परेसिं लद्धुं। जो तं तिविहेण णाणुकंपे, मणवयकायसुसंवुडे जे स भिक्खु ॥ आयामगं चेव जवोदणं च, सीयं सोवीरजवोदगं च। णो हीलए पिंडं णीरसं तु, पंतकुलाइं परिव्वए स भिक्खू ॥ सद्दा विविहा भवंति लोए, दिव्वा माणुस्सया तहा तिरिच्छा। भीमा भयभेरवा उराला, जो सोच्चा ण विहेज्जई स भिक्खू ॥ वायं विविहं समिच्च लोए, सहिए खेयाणुगए य कोवियप्पा। पन्ने अभिभूय सव्वदंसी, उवसंते अविहेडए स भिक्खू ॥ असिप्पजीवी अगिहे अमित्ते, जिइंदिए सव्वओ विप्पमुक्के। अणुक्कसाई लहुअप्पभक्खी, चिच्चा गिहं एगचरे स भिक्खू ॥ (उत्तरा. १५, १–१६)। ३. निक्खम्ममाणाइ अ बुद्धवयणे, निच्चं चित्तसमाहिओ हविज्जा। इत्थीण वसं न आवि गच्छे, वंतं नो पडिआयइ जे स भिक्खू ॥ पुढविं न खणे न खणावए, सीओदगं न पिए न पिआवए। अगणिसत्थं जहा सुनिसिअं, तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ॥ अनिलेण न वीए न वीयावए, हरियाणि न छिंदे न छिंदावए। बीआणि सया विवज्जयंतो, सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू ॥ वहणं तस-थावराण होइ, पुढवीतणकट्ठनिस्सिआणं। तम्हा उद्देसिअं न भुंजे, नोऽवि पए न पयावए जे स भिक्खू ॥ रोइअ नायपुत्तवयणे, अत्तसमे मन्निज्ज छप्पि काए। पंच य फासे महव्वयाइं, पंचासवसंवरे जे स भिक्खु ॥ चत्तारि वमे सया कसाए, धुवजोगी हविज्ज बुद्धवयणे। अहणे निज्जायरूवरयए, गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ॥ सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे, अत्थि हु नाणे तवे संजमे अ। तवसा धुणइ पुराणपावगं, मणवयकायसुसंवुडे जे स भिक्खू ॥ तहेव असणं पाणगं वा, विविहं खाइम-साइमं लभित्ता। होही अट्ठो सुए परे वा, तं न निहे न निहावए जे स भिक्खू ॥ तहेव असणं पाणगं वा, विविहं खाइम-साइमं लभित्ता। छंदिअ साहम्मिआण भुंजे, भुच्चा सज्झायरए जे स भिक्खू ॥ न य वुग्गहिअं कहं कहिज्जा, न य कुप्पे निहुइंदिए पसंते। संजमे धुवं जोगेण जुत्ते, उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू ॥ जो सहइ हु गामकंटए, अक्कोस-पहार-तज्जणाओ अ। भयभेरवसद्दसप्पहासे, समसुहदुक्खसहेअ जे स भिक्खू ॥ पडिमं पडिवज्जिआ मसाणे, नो भीयए भयभेरवाइं दिस्स। विविहगुणतवोरए अ निच्चं, न सरीरं चाभिकंखए जे स भिक्खू ॥ असइं वोसट्ठचत्तदेहे, अक्कुट्ठे व हए लूसिए वा। पुढविसमे मुणी हविज्जा, अनिआणे अकोउहल्ले जे स भिक्खू ॥ अभिभूअ काएण परीसहाइं, समुद्धरे जाइपहाउ अप्पयं। विइत्तु जाईमरणं महब्भयं, तवे रए सामणिए जे स भिक्खू ॥ हत्थसंजए पायसंजए, वायसंजए संजइंदिए। अज्झप्परए सुसमाहिअप्पा, सुत्तत्थं च विआणइ जे स भिक्खू ॥ उवहिंमि अमुच्छिए अगिद्धे, अन्नायउंछं पुलनिप्पुलाए। कयविक्कयसंनिहिओ विरए, सव्वसंगावगए अ जे स भिक्खू ॥ अलोल भिक्खू न रसेसु गिज्झे, उंछं चरे जीविअ नाभिकंखे। इड्ढिं च सक्कारण-पूअणं च, चए ठिअप्पा अणिहे जे स भिक्खू ॥ न परं वइज्जासि अयं कुसीले, जेणं च कुप्पिज्ज न तं वइज्जा। जाणिअ पत्तेअं पुण्णपावं, अत्ताणं ण समुक्कसे जे स भिक्खू ॥ न जाइमत्ते न य रूवमत्ते न लाभमत्ते न सुएण मत्ते। मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता, धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू ॥ पवेअए अज्जपयं महामुणी, धम्मे ठिओ ठावयई परं पि। निक्खम्म वज्जिज्ज कुसीललिङ्गं, न आविहासंकुहए जे स भिक्खू ॥ तं देहवासं असुइं असासयं, सया चए निच्चहिअट्ठिअप्पा। छिंदित्तु जाइमरणस्स बंधणं, उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं ॥ (दशवै. सू. १०, १–२१)। ४. भिंदंतो यावि खुहं भिक्खू × × ×। (व्यव. भा. पी. द्वि. वि. १२)। ५. भिक्षणशीलो भिक्षुः भिनत्ति वाऽष्टप्रकारं कर्मेति भिक्षुः। (दशवै. नि. हरि. वृ. २–१५८); आरम्भपरित्यागाद्धर्मकायपालनाय भिक्षणशीलो भिक्षुः। (दशवै. सू. हरि. वृ. ४–१०, पृ. १५२)। ६. क्षुधमष्टप्रकारं कर्म्म भिंदानो भिक्षुः। (व्यव. भा. पी. द्वि. वि. मलय. वृ. १२)। ७. विनिर्जितेन्द्रियग्रामः, सर्वजीवदयापरः। सर्वशास्त्रार्थदर्शी च, भिक्षुर्मोक्षपदं व्रजेत् ॥ (बुद्धिसा. ५२)।

१ जो शरीर से व भाव से—अभिमान से—उन्नत न हो, विनीत हो, अपने को गुरु आदि के प्रति नमाने वाला हो अथवा विनय से आठ प्रकार के कर्म को नमाने वाला हो, इन्द्रियों व मन का दमन करने वाला हो, शरीर से ममत्व को छोड़ चुका हो, अनेक प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल परीषह व उप-

सर्गों को नष्ट करके—उन्हें सहन करके—अध्यात्म-योग से—धर्मध्यान से—निर्मल आदान (चारित्र) वाला हो, सम्यक्चारित्र में उद्यत होकर उन्नति को प्राप्त हो, स्थितात्मा—जिसकी आत्मा परीषह व उपसर्ग से अधृष्य होकर मोक्षमार्ग में स्थित हो, जो संसार की असारता और बोधि की दुर्लभता को जानकर संयम के परिपालन में उद्यत हो, तथा दूसरों के द्वारा दिये गये आहार का उपयोग करने वाला हो; इन गुणों से जो सम्पन्न हो उसे भिक्षु कहना चाहिए।

भित्तिकर्म—घरकुड्डेसु तदो अभेदेण चिदपडिमाओ भित्तिकम्मं। (धव. पु. ९, पृ. २५०); कुड्डेहितो अभेदेण कदएहि णिप्पाइयपडिमाओ भित्तिकम्माणि णाम। (धव. पु. १३, पृ. १०); कुड्डेसु अभेदेण घडिदपंचलोगपालपडिमाओ भित्तिकम्माणि णाम। (धव. पु. १३, पृ. २०२); तेण चेव (मट्टियपिंडेण) कुड्डेसु घडिदरूवाणि भित्तिकम्माणि णाम। (धव. पु. १४, पृ. ६)।

घर की दीवालों पर जो उनसे अभिन्न प्रतिमायें रची जाती हैं, इसे भित्तिकर्म कहा जाता है। दीवालों पर उनसे अभिन्न रूप में रची गई पांच लोकपालों की प्रतिमाओं का नाम भित्तिकर्म है।

भिन्नदशपूर्वी— देखो अभिन्नदशपूर्वी। तत्थ एक्कारसंगाणि पढिदूण पुणो परियम्म-सुत्त-पढमाणियोग-पुव्वगय-चूलियात्ति पंचहियारणिवद्धदिट्ठिवादे पढिज्जमाणे उप्पादपुव्वमादिं कादूण पढंताणं दसपुव्वीए विज्जाणुपवादे समत्ते रोहिणीआदिपंचसयमहाविज्जाओ अंगुट्ठपसेणादिसत्तसयदहरविज्जाहि अणुगयाओ किं भयवं आणवेदि त्ति ढुक्कंति। एवं ढुक्कंताणं सव्वविज्जाणं जो लोभं गच्छदि सो भिण्णदसपुव्वी। (धव. पु. ९, पृ. ६९)।

ग्यारह अंगों को पढ़कर तत्पश्चात् परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका, इन पांच अधिकारों में विभक्त दृष्टिवाद के पढ़ते समय उत्पादपूर्व को आदि लेकर आगे के पूर्वों को पढ़ते हुए दसवें विद्यानुवाद पूर्व के समाप्त होने पर रोहिणी आदि पांच सौ महाविद्याएं तथा अंगुष्ठप्रसेनादि सात सौ लघुविद्याएं आकर पूछती हैं कि भगवन् क्या आज्ञा देते हैं, इस प्रकार से प्रार्थना करने वाली उक्त विद्याओं के लोभ को जो प्राप्त होता है उसे भिन्नदशपूर्वी कहते हैं।

भिन्नमुहूर्त—१. समऊणेक्कमुहुत्तं भिण्णमुहुत्तं × × ×। (ति. प. ४-२८८)। २. × × × वे णालिया मुहुत्तो दु। एगसमएण हीणो भिण्णमुहुत्तो भवे सेसं॥ (धव. पु. ३, पृ. ६६ उद्.); तत्थ (मुहुत्ते) एगसमए अवणिदे सेसकालपमाणं भिण्णमुहुत्तो उच्चदि। (धव. पु. ३, पृ. ६७); भिण्णमुहुत्तं समऊणमुहुत्तं। (धव. पु. १३, पृ. ३०६)। ३. एयसमएण हीणं भिण्णमुहुत्तं तदो सेसं। (जं. दी. प. १३-६; गो. जी. ५७५)। ४. एकेन समयेन न्यूनो मुहूर्तो भिन्नमुहूर्तः। (चारित्रप्रा. टी. १७)।

१ एक समय कम मुहूर्त को भिन्नमुहूर्त कहा जाता है।

भिन्नाभिन्नाक्षरचतुर्दशपूर्वधरत्व—भिन्नाक्षराणि किञ्चिन्न्यूनाक्षराणि चतुर्दशपूर्वाणि सम्पूर्णानि वा, तद्धारणत्वम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. १०-७, पृ. ३१७)।

कुछ अक्षरों से कम अथवा सम्पूर्ण चौदह पूर्वों को धारण करना, इसका नाम भिन्नाभिन्नाक्षरचतुर्दशपूर्वधरत्व ऋद्धि है।

भिषग् — भिषगायुर्वेदविद्वैद्यः शस्त्रकर्मविच्च। (नीतिवा. १४-२९, पृ. १७४)।

जो आयुर्वेद को जानता है वह भिषग् कहलाता है तथा जो आयुर्वेद और शस्त्रक्रिया को भी जानता है वह वैद्य कहलाता है।

भिषग्वृत्ति— १. गजाश्वजांगुलीबालवैद्याद्यैर्नीचवृत्तिभिः। भिषग्वृत्तिर्मता तादृगन्यैरप्यशनार्जनम्॥ (आचा. सा. ८-३८)। २. गजचिकित्सा विषचिकित्सा जांगुल्यपरनामा बालचिकित्सा तादृशान्यचिकित्साभिरशनार्जनं भिषग्वृत्तिः। (भावप्रा. टी. ८९)।

१ हाथी, घोड़ा, विष या मन्त्र और बालक आदि की चिकित्सा द्वारा तथा इसी प्रकार की दूसरी भी नीच वृत्तियों से—हीन आजीविका के साधनों से—भोजन प्राप्त करना, इसे भिषग्वृत्ति कहते हैं।

भीरु—भीरुः ऐहिकामुष्मिकापायभीलुकः। (सम्बोधस. गु. वृ. २३, पृ. २०)।

इस लोक सम्बन्धी व परलोक सम्बन्धी अपाय से

जो भयभीत रहता है उसे भीरु कहते हैं; यह श्रावक के २१ गुणों में छठा है।

भुक्त—रज्ज-महव्वयादिपरिपालणं भुत्ती णाम, तं भुत्तं ××× । (धव. पु. १३, पृ. ३५०) ।

राज्य और महाव्रतों आदि के परिपालन को भुक्त या भुक्ति कहते हैं।

भुक्ति—देखो भुक्त।

भुक्तिरोध—देखो अन्न-पाननिरोध। भुक्तिरोधोऽन्न-पानादिनिषेधः। सोऽपि दुर्भावाद् बन्धवदतिचारः। ××× । (सा. ध. स्वो. टी. ४–१५) ।

भोजन पान को रोक देना, इसका नाम भुक्तिरोध है। यह अहिंसाणुव्रत का एक अतिचार है।

भुजाकार उदय—जमेण्हि पदेसग्गमुदिण्णं तत्तो अणंतरउवरिमसमए बहुपदेसग्गे उदिदे एसो भुजगारो णाम। (धव. पु. १५, पृ. ३२५) ।

जितना प्रदेशपिण्ड इस समय उदय को प्राप्त है, अनन्तर आगे के समय में उससे अधिक प्रदेशपिण्ड के उदय को प्राप्त होने पर वह भुजाकार (भूयस्कार) प्रदेशोदय कहलाता है।

भुजाकार उदीरणा—जाओ एण्हि पयडीओ उदीरेदि तत्तो अणंतरओसक्काविदे समए अप्पदरियाओ उदीरेदि त्ति एसो भुजगारो। (धव. पु. १५, पृ. ५०) ।

जितनी प्रकृतियों की इस समय उदीरणा करता है, अनन्तर पीछे के समय में उससे कम प्रकृतियों की उदीरणा के होने पर वह भुजाकार उदीरणा कहलाती है।

भुजाकार बन्ध—देखो भूयस्कारबन्ध। तत्र प्रथमो (भुजाकारबन्धो) अल्पप्रकृतिकं बध्नतो बहुप्रकृतिबन्धे स्यात्। (गो. क. जी. प्र. ५६४) ।

थोड़ी प्रकृतियों को बांधते हुए आगे बहुत प्रकृतियों के बांधने पर उसे भुजाकार बन्ध कहा जाता है।

भुजाकार संक्रम—जे एण्हि अणुभागस्स फद्दया संकामिज्जंति ते जइ अणंतरविदिक्कंते समए संकामिदफद्दएहिंतो बहुआ होंति तो एसो भुजगारसंकमो। (धव. पु. १६, पृ. ३९८) ।

अनुभाग के जो स्पर्धक इस समय संक्रमण को प्राप्त हो रहे हैं, यदि वे अनन्तर पिछले समय में संक्रम को प्राप्त कराये गये उक्त स्पर्धकों से बहुत होते हैं तो यह भुजाकारसंक्रम कहलाता है।

भूत (व्यन्तरविशेष)—१. भूताः श्यामाः सुरूपाः सौम्याः आपीवरा नानाभक्तिविलेपनाः सुलसध्वजाः कालाः। (त. भा. ४–१२) । २. भूताः सुरूपाः सौम्या नानाभक्तिविलेपनाः। (बृहत्सं. मलय. वृ. पृ. ५८) ।

१ जो व्यन्तरदेव वर्ण से श्याम, सुन्दर, प्रियदर्शन, कुछ स्थूल, अनेक प्रकार के विलेपनों से सहित और लाल वर्ण वाली ध्वजा से युक्त होते हैं उनका नाम भूत है।

भूत (प्राणी)—१. तासु तासु गतिषु कर्मोदयवशाद्भवन्तीति भूतानि, प्राणिन इत्यर्थः। (स. सि. ६-१२)। २. आयुर्नामकर्मोदयवशाद्भवनाद् भूतानि। तासु तासु योनिष्वायुर्नामकर्मोदयवशाद् भवनाद् भूतानि, सर्वे प्राणिनः इत्यर्थः। (त. वा. ६, १२, १) । ३. आयुर्नामकर्मोदयवशाद् भवनाद् भूतानि सर्वे प्राणिनः। (त. श्लो. ६–१२) । ४. उक्तं च—प्राणा द्वि-त्रि-चतुः प्रोक्ताः भूतास्तु तरवः स्मृताः। जीवाः पञ्चेन्द्रिया प्रोक्ताः शेषाः सत्त्वा उदीरिताः ॥१॥ इति, यदि वा ××× कालत्रयभवनात् भूताः। (आचारा. सू. शी. वृ. १, १, ६, ५१) ।

१ जो कर्म के उदय के वशीभूत होकर उन उन गतियों में होते हैं उन प्राणियों का नाम भूत है। ४ तरुओं (वनस्पति जीवों) को भूत कहा जाता है। अथवा जो तीनों कालों में होते हैं वे भूत कहलाते हैं।

भूत काल—तदेव (क्रियापरिणतं द्रव्यम्) कालवशादनुभूतवर्तनासम्बन्धं भूतम्, कालाणुरपि भूतः। (त. वा. ५, २२, २५) ।

जो क्रियापरिणत द्रव्य वर्तना सम्बन्ध का अनुभव कर चुका है उसको तथा कालपरमाणु को भी भूत कहा जाता है।

भूतनैगमनय—१. णिव्वत्तदव्वकिरिया वट्टणकाले दु जं समाचरणं। तं भूयणइगमणयं जह अड णिव्वुइदिणं वीरे ॥ (नयच. दे. ३३; द्रव्यस्व. प्र. नयच. २०६) । २. अतीते वर्तमानारोपणं यत्र स भूतनैगमः, यथा अद्य दीपोत्सवदिने श्रीवर्द्धमानस्वामी मोक्षं गतः। (आलापप. पृ. २१६) । ३. अतीतं भूतम्, अतीतार्थं विकल्परूपं वर्तमानारोपणम् अर्थं पदार्थं साधयति स भूतनैगमः। (कार्तिके. टी. २७१) ।

१ जो कार्य हो चुका है उसका वर्तमान काल में जो आरोप किया जाता है उसे भूतनैगमनय कहते हैं। जैसे—आज वर्धमान जिन मुक्तिको प्राप्त हुए।

भूतविद्या—भूतानां निग्रहार्था विद्या शास्त्रं भूतविद्या, सा हि देवासुर-गन्धर्व-यक्ष-राक्षसाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्म-वलिकरणादिभिर्ग्रहोपशमनार्था। (विपाक. सू. अभय. वृ. पृ. ४९)।

जिस विद्या या शास्त्र के निमित्त से देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष और राक्षस आदि से पीड़ित जीवों की पीड़ा को शान्तिकर्म आदि के द्वारा शान्त किया जाता है उसे भूतविद्या कहा जाता है।

भूतिकर्म—१. भूईए मट्टियाए व, सुत्तेण व होइ भूइकम्मं तु। वसही-सरीर-भंडगरक्खाअभियोगमाईया॥ (बृहत्क. भा. १३१०)। २. ज्वरितादीनां तदपगमार्थं भूत्याः भस्मनोऽभिमन्त्र्य यत्प्रदानं तत् भूतिकर्म्म। (आव. हरि. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ८२–८३)।

१ विद्या से मन्त्रित भूति (भस्म), गीली मिट्टी अथवा धागे से चारों ओर वेष्टित करना; इसका नाम भूतिकर्म है। यह क्रिया वसति, शरीर और वर्तनों की रक्षा के निमित्त एवं अभियोग (वशीकरण) आदि के लिए की जाती है। २ ज्वर आदि से पीड़ित जीवों को उसे दूर करने के लिए जो मन्त्रित भस्म को दिया जाता है वह भूतिकर्म कहलाता है।

भूतिकुशील—भूत्या धूल्या सिद्धार्थकैः पुष्पैः फलैरुदकादिभिर्वा मन्त्रितै रक्षां वशीकरणं वा यः करोति स भूतिकुशीलः। (भ. आ. विजयो. १९५०)।

मन्त्रित भस्म, धूलि, सरसों, पुष्पों, फलों और जल आदि के द्वारा जो रक्षण या वशीकरण करता है उसे भूतिकुशील कहा जाता है।

भूमिकर्म्म—१. भूमिकर्म्म नाम विषमाणि भूमिस्थानानि भंक्त्वा संमार्जन्या संमार्जनम्। (व्यव. भा. मलय. वृ. ४–२७)। २. 'भूमि' त्ति समभूमिकरणम्। (बृहत्क. भा. मलय. वृ. ५८३)।

१ विषम (ऊंचे-नीचे) भू-भागों को खण्डित करके संमार्जनी (झाडू) से संमार्जन करना, इसका नाम भूमिकर्म है।

भूमिराजिसदृश क्रोध—१. भूमिराजिसदृशो नाम। यथा भूमेर्भास्कररश्मिजालादात्तस्नेहाया वाय्वभिहताया राजिरुत्पन्ना वर्षापेक्षसंरोहा परमप्रकृष्टाऽष्टमासस्थितिर्भवति, एवं यथोक्तनिमित्तो यस्य क्रोधोऽनेकवर्षस्थायी दुरनुनयो भवति स भूमिराजिसदृशः। (त. भा. ८–१०, पृ. १४४)। २. पृथ्वीभेदसमानानुत्कृष्टशक्तिविशिष्टः कोपस्तिर्यग्गतौ जीवमुत्पादयति। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. २८४)।

१ जिस प्रकार सूर्य की किरणों के समूहसे जिसकी चिक्कणता ग्रहण कर ली गई है तथा जो वायु से ताड़ित हुई है ऐसी पृथिवी के रेखा उत्पन्न हुई, वह वर्षा से भर जाती है। उसके भरने का उत्कृष्ट काल आठ मास है। इसी प्रकार यथोक्त कारण से जिसके क्रोध उत्पन्न हुआ है उसका वह क्रोध अनेक वर्ष रहता है व कष्ट से दूर होता है। इस प्रकार का वह क्रोध भूमिराजिसदृश कहलाता है। २ जो क्रोध पृथिवीभेद के समान अनुत्कृष्ट (उत्कृष्ट से भिन्न) शक्ति से युक्त होता है वह पृथिवीराजि के सदृश माना जाता है और वह जीव को तिर्यंचगति में उत्पन्न कराता है।

भूमिसंस्तर—अघसे समे असुसिरे अहिसुयअविले य अप्पपाणे य। असिणिद्धे घण-गुत्ते उज्जोवे भूमिसंथारो॥ (भ. आ. ६[illegible])।

क्षपक का भूमिगत बिछौना ऐसी भूमि में होना चाहिए जो मृदु न हो, ऊंची नीची न हो—सम हो, पोली न हो, दीमक से रहित हो, बिलों से रहित हो, जीव-जन्तुओं से शून्य हो; अथवा क्षपक के शरीर प्रमाण हो, गीली न हो, सघन हो, गुप्त हो और प्रकाश से युक्त हो।

भूमिस्पर्शान्तराय—भूस्पर्शः पाणिना भूमेः स्पर्शः ××× । (अन. ध. ५–५५)।

हाथ से भूमि का स्पर्श हो जाने पर भूस्पर्श नाम का भोजन का अन्तराय होता है।

भूम्यलीक—देखो क्ष्मालीक। भूम्यलीकं परसत्कामप्यात्मादिसत्कां विपर्ययं वा वदतः, इदं च शेषपादपाद्यपदद्रव्यविषयालीकस्योपलक्षणम्। (योगशा. स्वो. विव. २–५४, पृ. २८७)।

दूसरे की भूमि को अपनी कहना या अपनी भूमि को दूसरे की बतलाना, यह भूम्यलीक—भूमिविषयक असत्य कहलाता है। इससे चरणविहीन वृक्षादिविषयक असत्य को भी ग्रहण करना चाहिए।

भूयस्कार उदय—देखो भुजाकार उदय।

भूयस्कार बन्ध—देखो भुजाकार वन्ध। यदा स्तोकाः प्रकृतीरावध्नन् परिणामविशेषतो भूयसीः प्रकृतीर्बध्नाति, यदा सप्त बद्ध्वा अष्टौ बध्नाति, यद्वा षट् एकां च बद्ध्वा सप्त, तदा स बन्धो भूयस्कारः। (कर्मप्र. मलय. वृ. ५२)।

जब थोड़ी प्रकृतियों को बांधता हुआ परिणामविशेष से बहुत प्रकृतियों को बांधता है, जैसे—सात को बांध कर आठ को, अथवा छह या एक को बांधकर सात को, तब वह भूयस्कार बन्ध कहलाता है।

भृङ्गारमुद्रा — पराङ्मुखहस्ताभ्यामङ्गुलीर्विदर्भ्य मुष्टिं बध्वा तर्जन्यौ समीकृत्य प्रसारयेदिति भृङ्गारमुद्रा। (निर्वाणक. पृ. ३३)।

उल्टे दोनों हाथों द्वारा अंगुलियों को विदर्भित करके व मुट्ठी बांध करके दोनों तर्जनियों को समान करे व फैला दे। इस प्रकार से भृंगारमुद्रा होती है (?)।

भृत, भृतक—१. भ्रियते पोष्यते स्मेति भृतः, स एवानुकम्पितो भृतकः कर्म्मकरः। (स्थाना. २७१, पृ. २०३)। २. भृतको वस्त्र-भोजनादिमूल्येन परस्य दास्यं गतः। (प्रा. दि. पृ. ७४)। ३. भृतको वृत्तिकिङ्करः। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २२, पृ. ५३)।

१ जिसका भरण-पोषण किया जाता है वह स्वामी की अनुकम्पा से युक्त सेवक भृत या भृतक कहलाता है।

भेण्डकर्म—भेंडो सुप्पसिद्धो, तेण घडिदपडिमाओ भेंडकम्मं। (धव. पु. ९, पृ. २५०); भेंडमोएण(?) घडिदपडिमाओ भेंडकम्माणि णाम। (धव. पु. १३, पृ. १०); भेंडेसु घडिदपडिमाओ भेंडकम्माणि णाम। (धव. पु. १३, पृ. २०२); भेंडेहि घडिदरूवाणि भेंडकम्माणि णाम। (धव. पु. १४, पृ. ६)।

भेण्ड से निर्मित प्रतिमाओं को भेण्डकर्म कहते हैं।

भेद—१. समणिद्धदा समल्हुक्खदा भेदो। (षट्खं. ५, ६, ३३—पु. १४, पृ. ३०)। २. संघातानां द्वितयनिमित्तवशाद्विदारणं भेदः। (स. सि. ५–२६)। ३. संहतानां द्वितयनिमित्तवशात् विदारणं भेदः। बाह्याभ्यन्तरविपरिणामकारणसन्निधाने सति संहतानां स्कन्धानां विदारणं नानात्वं भेद इत्युच्यते। (त. वा. ५, २६, १)। ४. खंधाणं विहडणं भेदो णाम। (धव. पु. १४, पृ. १२१)। ५. भेदः स्वामिनः पदातीनां च स्वामिन्यविश्वासोत्पादनम्। (विपाक. अभय. वृ. पृ. ३९); भेदः नायक-सेवकयोश्चित्तभेदकरणम्। (विपाक. अभय. वृ. पृ. ४२)।

१ समान स्निग्धता और समान रूक्षता का नाम भेद है। ३ अभेद को प्राप्त हुए स्कन्ध जो बाह्य व अभ्यन्तर निमित्त के वश विभक्त होते हैं इसका नाम भेद है। ५ स्वामी और पादचारी सैनिकों के मध्य में भेद उत्पन्न करना—उनका स्वामी के विषय में अविश्वास उत्पन्न करना, इसका नाम भेद है।

भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक— गुण-गुणिआइचउक्के अत्थे जो णो करेइ खलु भेयं। सुद्धो सो दव्वत्थो भेदवियप्पेण णिरवेक्खो॥ (नयच. दे. ३०, द्रव्यस्व. प्र. नयच. १९२)।

गुण-गुणी आदि (स्वभाव-स्वभाववान्, पर्याय-पर्यायी और धर्म-धर्मी) चतुष्टयरूप अर्थ में जो भेद को नहीं करता है वह भेद के विकल्प से निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय कहलाता है।

भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिक— भेए सदि संबंधं गुण-गुणियाईहि कुणइ जो दव्वे। सो वि असुद्धो दिट्ठो सहिओ सो भेदकप्पेण॥ (नयच. दे. २३; द्रव्यस्व. प्र. नयच. १९५)।

जो नय भेद के होने पर गुणी-गुणी आदि के द्वारा द्रव्य में सम्बन्ध को करता है वह भेदकल्पना से सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक कहलाता है।

भेदव्यवहार—देखो अपोद्धारव्यवहार।

भेदसंघात—भेदं गंतूण पुणो समागमो भेदसंघादो णाम। (धव. पु. १४, पृ. १२१)।

भेद को प्राप्त होकर फिर से संयोग को प्राप्त होना, इसका नाम भेदसंघात है।

भोक्ता — अमर-णर-तिरिय-णारयभेएण चउव्विहे संसारे कुसलमकुसलं भुंजदि त्ति भोत्ता। (धव. पु. १, पृ. ११९); चतुर्गतिसंसारे कुसलमकुसलं भुंक्ते इति भोक्ता। (धव. पु. ९, पृ. २२०–२१)।

देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारक के भेद से चार प्रकार के संसार में कुशल-अकुशल के भोगने वाले को भोक्ता कहते हैं।

भोक्तृत्व—कर्तृत्वादेव च भोक्तृत्वं स्वप्रदेशव्यवस्थितशुभाशुभकर्मकर्तृत्वात् ××× भोक्तृत्वं यदि-

१ जो कार्य हो चुका है उसका वर्तमान काल में जो आरोप किया जाता है उसे भूतनैगमनय कहते हैं। जैसे—आज वर्धमान जिन मुक्तिको प्राप्त हुए।

भूतविद्या—भूतानां निग्रहार्था विद्या शास्त्रं भूतविद्या, सा हि देवासुर-गन्धर्व-यक्ष-राक्षसाद्युपसृष्ट-चेतसां शान्तिकर्म-बलिकरणादिभिर्ग्रहोपशमनार्था । (विपाक. सू. अभय. वृ. पृ. ४६) ।

जिस विद्या या शास्त्र के निमित्त से देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष और राक्षस आदि से पीड़ित जीवों की पीड़ा को शान्तिकर्म आदि के द्वारा शान्त किया जाता है उसे भूतविद्या कहा जाता है।

भूतिकर्म—१. भूईए मट्टियाए व, सुत्तेण व होइ भूइकम्मं तु । वसही-सरीर-भंडगरक्खाअभियोगमाईया ॥ (बृहत्क. भा. १३१०) । २. ज्वरितादीनां तदपगमार्थं भूत्याः भस्मनोऽभिमन्त्र्य यत्प्रदानं तत् भूतिकर्म । (आव. हरि. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ८२–८३) ।

१ विद्या से मन्त्रित भूति (भस्म), गीली मिट्टी अथवा धागे से चारों ओर वेष्टित करना; इसका नाम भूतिकर्म है। यह क्रिया वसति, शरीर और वर्तनों की रक्षा के निमित्त एवं अभियोग (वशीकरण) आदि के लिए की जाती है। २ ज्वर आदि से पीड़ित जीवों को उसे दूर करने के लिए जो मन्त्रित भस्म को दिया जाता है वह भूतिकर्म कहलाता है।

भूतिकुशील—भूत्या धूल्या सिद्धार्थकैः पुष्पैः फलैरुदकादिभिर्वा मन्त्रितै रक्षां वशीकरणं वा यः करोति स भूतिकुशीलः। (भ. आ. विजयो. १६५०) ।

मन्त्रित भस्म, धूलि, सरसों, पुष्पों, फलों और जल आदि के द्वारा जो रक्षण या वशीकरण करता है उसे भूतिकुशील कहा जाता है।

भूमिकर्म—१. भूमिकर्म नाम विषमाणि भूमिस्थानानि भंक्त्वा संमार्जन्या संमार्जनम् । (व्यव. भा. मलय. वृ. ४–२७) । २. 'भूमि' त्ति समभूमिकरणम् । (बृहत्क. भा. मलय. वृ. ५८३) ।

१ विषम (ऊंचे-नीचे) भू-भागों को खण्डित करके संमार्जनी (झाडू) से संमार्जन करना, इसका नाम भूमिकर्म है।

भूमिराजिसदृश क्रोध—१. भूमिराजिसदृशो नाम। यथा भूमेर्भास्कररश्मिजालादात्तस्नेहाया वाय्वभिहताया राजिरुत्पन्ना वर्षापेक्षसंरोहा परमप्रकृष्टाऽष्टमासस्थितिर्भवति, एवं यथोक्तनिमित्तो यस्य क्रोधोऽनेकवर्षस्थायी दुरनुनयो भवति स भूमिराजिसदृशः। (त. भा. ८–१०, पृ. १४४) । २. पृथ्वीभेदसमानानुत्कृष्टशक्तिविशिष्टः क्रोधस्तिर्यग्गतौ जीवमुत्पादयति । (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. २८४) ।

१ जिस प्रकार सूर्य की किरणों के समूह से जिसकी चिक्कणता ग्रहण कर ली गई है तथा जो वायु से ताड़ित हुई है ऐसी पृथिवी के रेखा उत्पन्न हुई, वह वर्षा से भर जाती है। उसके भरने का उत्कृष्ट काल आठ मास है। इसी प्रकार यथोक्त कारण से जिसके क्रोध उत्पन्न हुआ है उसका वह क्रोध अनेक वर्ष रहता है व कष्ट से दूर होता है। इस प्रकार का वह क्रोध भूमिराजिसदृश कहलाता है। २ जो क्रोध पृथिवीभेद के समान अनुत्कृष्ट (उत्कृष्ट से भिन्न) शक्ति से युक्त होता है वह पृथिवीराजि के सदृश माना जाता है और वह जीव को तिर्यंचगति में उत्पन्न कराता है।

भूमिसंस्तर—अघसे समे असुसिरे अहिसुयअविले य अप्पपाणे य । असिणिद्धे घण-गुत्ते उज्जोवे भूमिसंथारो ॥ (भ. आ. ६४[illegible]) ।

क्षपक का भूमिगत बिछौना ऐसी भूमि में होना चाहिए जो मृदु न हो, ऊंची नीची न हो—सम हो, पोली न हो, दीमक से रहित हो, बिलों से रहित हो, जीव-जन्तुओं से शून्य हो; अथवा क्षपक के शरीर प्रमाण हो, गीली न हो, सघन हो, गुप्त हो और प्रकाश से युक्त हो।

भूमिस्पर्शान्तराय—भूस्पर्शः पाणिना भूमेः स्पर्शो × × × । (अन. ध. ५–५५) ।

हाथ से भूमि का स्पर्श हो जाने पर भूस्पर्श नाम का भोजन का अन्तराय होता है।

भूम्यलीक—देखो क्ष्मालीक। भूम्यलीकं परसत्कामप्यात्मादिसत्कां विपर्ययं वा वदतः, इदं च शेषपादपाद्यपदद्रव्यविषयालीकस्योपलक्षणम् । (योगशा. स्वो. विव. २–५४, पृ. २८७) ।

दूसरे की भूमि को अपनी कहना या अपनी भूमि को दूसरे की बतलाना, यह भूम्यलीक—भूमिविषयक असत्य कहलाता है। इससे चरणविहीन वृक्षादिविषयक असत्य को भी ग्रहण करना चाहिए।

भूयस्कार उदय—देखो भुजाकार उदय।

भूयस्कार बन्ध—देखो भुजाकार बन्ध। यदा स्तोकाः प्रकृतीराबध्नन् परिणामविशेषतो भूयसीः प्रकृतीर्बध्नाति, यदा सप्त बद्ध्वा अष्टौ बध्नाति, यद्वा षट् एकां च बद्ध्वा सप्त, तदा स बन्धो भूयस्कारः। (कर्मप्र. मलय. वृ. ५२)।

जब थोड़ी प्रकृतियों को बांधता हुआ परिणामविशेष से बहुत प्रकृतियों को बांधता है, जैसे—सात को बांध कर आठ को, अथवा छह या एक को बांधकर सात को, तब वह भूयस्कार बन्ध कहलाता है।

भृङ्गारमुद्रा — पराङ्मुखहस्ताभ्यामङ्गुलीर्विदर्भ्य मुष्टिं बध्वा तर्जन्यौ समीकृत्य प्रसारयेदिति भृङ्गारमुद्रा। (निर्वाणक. पृ. ३३)।

उल्टे दोनों हाथों द्वारा अंगुलियों को विदर्भित करके व मुट्ठी बांध करके दोनों तर्जनियों को समान करे व फैला दे। इस प्रकार से भृंगारमुद्रा होती है (?)।

भृत, भृतक—१. भ्रियते पोष्यते स्मेति भृतः, स एवानुकम्पितो भृतकः कर्म्मकरः। (स्थाना. २७१, पृ. २०३)। २. भृतको वस्त्र-भोजनादिमूल्येन परस्य दास्यं गतः। (आ. दि. पृ. ७४)। ३. भृतको वृत्तिकिङ्करः। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २२, पृ. ५३)।

१ जिसका भरण-पोषण किया जाता है वह स्वामी की अनुकम्पा से युक्त सेवक भृत या भृतक कहलाता है।

भेण्डकर्म—भेंडो सुप्पसिद्धो, तेण घडिदपडिमाओ भेंडकम्मं। (धव. पु. ९, पृ. २५०); भेंडमोएण(?) घडिदपडिमाओ भेंडकम्माणि णाम। (धव. पु. १३, पृ. १०); भेंडेसु घडिदपडिमाओ भेंडकम्माणि णाम। (धव. पु. १३, पृ. २०२); भेंडेहिं घडिदरूवाणि भेंडकम्माणि णाम। (धव. पु. १४, पृ. ६)।

भेण्ड से निर्मित प्रतिमाओं को भेण्डकर्म कहते हैं।

भेद—१. समणिद्धदा समल्हुक्खदा भेदो। (षट्खं. ५, ६, ३३—पु. १४, पृ. ३०)। २. संघातानां द्वितयनिमित्तवशाद्विदारणं भेदः। (स. सि. ५-२६)। ३. संहतानां द्वितयनिमित्तवशात् विदारणं भेदः। बाह्याभ्यन्तरविपरिणामकारणसन्निधाने सति संहतानां स्कन्धानां विदारणं नानात्वं भेद इत्युच्यते। (त. वा. ५, २६, १)। ४. खंधाणं विहडणं भेदो णाम। (धव. पु. १४, पृ. १२१)। ५. भेदः स्वामिनः पदातीनां च स्वामिन्यविश्वासोत्पादनम्। (विपाक. अभय. वृ. पृ. ३९); भेदः नायक-सेवकयोश्चित्तभेदकरणम्। (विपाक. अभय. वृ. पृ. ४२)।

१ समान स्निग्धता और समान रूक्षता का नाम भेद है। ३ प्रभेद को प्राप्त हुए स्कन्ध जो बाह्य व अभ्यन्तर निमित्त के वश विभक्त होते हैं इसका नाम भेद है। ५ स्वामी और पादचारी सैनिकों के मध्य में भेद उत्पन्न करना—उनका स्वामी के विषय में अविश्वास उत्पन्न करना, इसका नाम भेद है।

भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक— गुण-गुणिय़ाइचउक्के अत्थे जो णो करेइ खलु भेयं। सुद्धो सो दव्वत्थो भेदवियप्पेण णिरवेक्खो॥ (नयच. दे. ३०, द्रव्यस्व. प्र. नयच. १९२)।

गुण-गुणी आदि (स्वभाव-स्वभाववान्, पर्याय-पर्यायी और धर्म-धर्मी) चतुष्टयरूप अर्थ में जो भेद को नहीं करता है वह भेद के विकल्प से निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय कहलाता है।

भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिक— भेए सदि संबंधं गुण-गुणियाईहिं कुणइ जो दव्वे। सो वि असुद्धो दिट्ठो सहिओ सो भेदकप्पेण॥ (नयच. दे. २३; द्रव्यस्व. प्र. नयच. १९५)।

जो नय भेद के होने पर गुणी-गुणी आदि के द्वारा द्रव्य में सम्बन्ध को करता है वह भेदकल्पना से सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक कहलाता है।

भेदव्यवहार—देखो अपोद्धारव्यवहार।

भेदसंघात—भेदं गंतूण पुणो समागमो भेदसंघादो णाम। (धव. पु. १४, पृ. १२१)।

भेद को प्राप्त होकर फिर से संयोग को प्राप्त होना, इसका नाम भेदसंघात है।

भोक्ता — अमर-णर-तिरिय-णारयभेएण चउव्विहे संसारे कुसलमकुसलं भुंजदि त्ति भोत्ता। (धव. पु. १, पृ. ११९); चतुर्गतिसंसारे कुसलमकुसलं भुंक्ते इति भोक्ता। (धव. पु. ९, पृ. २२०-२१)।

देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारक के भेद से चार प्रकार के संसार में कुशल-अकुशल के भोगने वाले को भोक्ता कहते हैं।

भोक्तृत्व—कर्तृत्वादेव च भोक्तृत्वं स्वप्रदेशव्यवस्थितशुभाशुभकर्मकर्तृत्वात् × × × भोक्तृत्वं मदि-

रादिष्वत्यन्तप्रसिद्धं भुक्तोऽनया गुड इति। (त. भा. सिद्ध. वृ, २–७)।

शुभ-अशुभ कर्मों के निर्वर्तन का नाम कर्तृत्व है, इस कर्तृत्व के कारण ही उक्त शुभ-अशुभ कर्मों के फल का जो भोगना है इसे भोक्तृत्व कहा जाता है, वह भोक्तृत्व मदिरा आदि में अत्यन्त प्रसिद्ध है। जैसे—इसने गुड़ का उपभोग किया।

भोग—१. भुक्त्वा परिहातव्यो भोगः ××× । (रत्नक. ८३)। २. सकृद् भुज्यत इति भोगः। (त. भा. हरि. वृ. २–४; श्रा. प्र. टी. २६; पंचसं. मलय. वृ. ३–३, पृ. १०६; धर्मसं. मलय. वृ. ६२३; कर्मप्र. यशो. वृ. ८)। ३. सकृद् भुज्यत इति भोगः ताम्बूलाशन-पानादिः। (धव. पु. ६, पृ. ७८); सकृद् भुज्यत इति भोगः, गन्ध-ताम्बूल-पुष्पाहारादिः। (धव. पु. १३, पृ. ३८९)। ४. शुभविविषयसुखानुभवो भोगः, अथवा भक्ष्य-पेय-लेह्यादिसकृदुपयोगाद् भोगः। (त. भा. सिद्ध. वृ. २–४); भोगो मनोहारिशब्दादिविषयानुभवनम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५–२६)। ५. सइ भुज्जइत्ति भोगो सो पुण आहार-पुप्फमाईओ। (कर्मवि. ग. १६५; प्रश्नव्या. अभय. वृ. पृ. २२० उद्.)। ६. यः सकृत्सेव्यते भावः स भोगो भोजनादिकः। (उपासका. ७५६)। ७. भोगः सुखाद्यनुभवः। (समाधि. टी. ६७)। ८. सकृदेव भुज्यते यः स भोगोऽन्नस्रगादिकः। (योगशा. ३–५)। ९. भोगः सेव्यः सकृदुप ×××। (सा. ध. ५–१४)। १०. भुज्यते—सकृदुपभुज्यत इति भोगः पुष्पाहारादिः। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ५१)। ११. भुक्त्वा संत्यज्यते वस्तु स भोगः परिकीर्त्यते। (भावसं. वाम. ५०८)। १२. एकशो भुज्यते यो हि भोगः स परिकथ्यते। (धर्मसं. श्रा. ७–१७)। १३. सकृद् भुज्यत इति भोगः, अन्न-माल्य-ताम्बूल-विलेपनोद्वर्तन-स्नान-पानादिः। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. २–३१, पृ. ७०)।

१ जिसे एक बार भोग कर छोड़ दिया जाता है उसे भोग कहते हैं। २ जो एक ही बार भोगने में आता है वह भोग कहलाता है। ४ अभीष्ट विषयजनित सुख के अनुभव का नाम भोग है; अथवा भक्ष्य, पेय और लेह्य आदि पदार्थों का जो एक बार उपयोग होता है इसे भोग जानना चाहिए।

भोगकृतनिदान—१. देविग-माणुसभोगो[गे] णारिस्सर-सिट्ठि-सत्थवाहत्तं। केसव-चक्कधरत्तं पच्छंतो होदि भोगकदं॥ (भ. आ. विजयो. १२१६)। २. इह परत्र च भोगा अपि इत्थम्भूता अस्माद् व्रतशीलादिकाद् भवन्त्विति मनःप्रणिधानं भोगनिदानम्। (भ. आ. विजयो. २५, पृ. ८६)।

१ देवों व मनुष्यों सम्बन्धी भोगों की इच्छा करना तथा स्त्रीत्व, ईश्वरत्व, श्रेष्ठीपना, सार्थवाहत्व, वासुदेवत्व और चक्रवर्तित्व इनकी इच्छा करना; इसे भोगकृतनिदान कहा जाता है। २ इस व्रतशीलादि से मुझे इस लोक या परलोक में इस प्रकार के भोग प्राप्त हों, ऐसा मन से विचार करना, इसे भोगकृतनिदान कहते हैं।

भोगपत्नी—परणीता नात्मज्ञातिर्या पितृसाक्षिपूर्वकम्। भोगपत्नीति सा ज्ञेया भोगमात्रैकसाधनात्॥ (लाटीसं. २–१८३)।

जिसके साथ पिता की साक्षीपूर्वक विवाह किया गया है, किन्तु जो अपनी जाति की नहीं है, उसे एक मात्र भोग की साधन होने से भोगपत्नी जानना चाहिए।

भोगपरिमाणक—स्नान-गन्ध-माल्यादावाहारे बहुभेदजे। प्रमाणं क्रियते यत्तु तद्भोगपरिमाणकम्॥ (धर्मसं. श्रा. ७–२८)।

स्नान व गन्ध-माला आदि तथा बहुत प्रकार के आहार के विषय में जो प्रमाण किया जाता है वह भोगपरिमाण कहलाता है।

भोगपुरुष—तथा भोगप्रधानः पुरुषो भोगपुरुषः चक्रवर्त्यादिः। (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. ५५, पृ. १०३)।

जिस पुरुष के भोग ही प्रधान हो वह भोगपुरुष कहलाता है। जैसे—चक्रवर्ती आदि।

भोगभूमिज मनुष्य-तिर्यञ्च—मंदकसायेण जुदा उदयागदसत्थपयडिसंजुत्ता। विविहविणोदासत्ता णर-तिरिया भोगजा होंति॥ (ति. प. ४–४२०)।

भोगभूमिज मनुष्य व तिर्यंच मन्द कषाय से युक्त होकर उदय को प्राप्त हुई प्रशस्त कर्मप्रकृतियों से सहित होते हुए अनेक प्रकार के विनोद में आसक्त रहते हैं।

भोगभूरिता — देखो उपभोग-परिभोगानर्थक्य। भोगस्य उपलक्षणत्वादुपभोगस्य च उक्तनिर्वचनस्य, स्नान-पान-भोजन-चन्दन-कुङ्कुम-कस्तूरिका-वस्त्राभ-

रणादेर्भूरिता स्व-स्वीयकुटुम्बव्यापारणापेक्षयाऽधिकत्वम्। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. २–५४, पृ. ११३)। भोग के साथ यहां उपभोग को भी ग्रहण करना चाहिए। स्नान, पान, भोजन, चन्दन, केसर, कस्तूरी और वस्त्र-आभरणादि रूप जो भोग-उपभोग की सामग्री है उसकी भूरिता—अधिकता—का नाम भोगभूरिता है। यह अनर्थदण्डव्रत का एक अतिचार है।

भोगान्तराय—१. भोगान्तरायं तु यदुदयात् सति विभवे अन्तरेण विरतिपरिणामं न भुंक्ते भोगान्। (श्रा. प्र. टी. २६)। २. जस्स कम्मस्स उदएण भोगस्स विग्घं होदि तं भोगंतराइयं। (धव. पु. ६, पृ. ७८); भोगविग्घयरं भोगंतराइयं। (धव. पु. १५, पृ. १४)। ३. तथा सकृदुपभुज्य यत् त्यज्यते पुनरुपभोगाक्षमं माल्य-चन्दनागुरुप्रभृति, तच्च सम्भवा[व]दपि यस्य कर्मण उदयात् यो न भुङ्क्ते तस्य भोगान्तरायकर्मोदयः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८, १४)। ४: मणुयत्ते वि हु पत्ते लद्धे वि हु भोगसाहणे विभवे। भुत्तुं नवरि न सक्कइ विरइविहूणो वि जस्सुदए॥ (कर्मवि. ग. १६३)। ५. तं भोगं ××× विद्यमानमनुपहताङ्गोऽपि यदुदयाद्भोक्तुं न शक्नोति तद्भोगान्तरायम्। (शतक. मल. हेम. वृ. ३८, पृ. ५२; कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. ८८)। ६. तथा यदुदयवशात् सत्यपि विशिष्टाहारादिसम्भवे असति च प्रत्याख्यानपरिणामे वैराग्ये वा केवलकार्पण्यान्नोत्सहते भोक्तुं तद्भोगान्तरायम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७५; पंचसं. मलय. वृ. ३–३; सप्तति. मलय. वृ. ६)। ७. सति विभवे संपद्यमाने आहार-माल्यादौ विरतिपरिणामरहितोऽपि यदुदयवशात् तत् आहार-माल्यादिकं न भुङ्क्ते तत् भोगान्तरायम्। (धर्मसं. मलय. वृ. ६२३)। ८. यत्प्रभावतो भोगान् न प्राप्नोति तद्भोगान्तरायम्। (प्रव. सारो. वृ. ६०)। ९. तस्य (अन्तरायस्य) उदयात् ××× भोक्तुमिच्छन्नपि न भुङ्क्ते। (त. सुखबो. वृ. ८–१३)। १०. यदुदयात्सति विभवादौ सम्पद्यमाने चाहार-माल्यादौ विरतिहीनोऽपि न भुङ्क्ते तद् भोगान्तरायम्। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ५१)। ११. भोगस्यान्तराये भोक्तुकामोऽपि न भुंक्ते। (त. वृत्ति श्रुत. ८–१३)। १२. यदुदयाद्विशिष्टाहारादिप्राप्तावप्यसति च प्रत्याख्यानादिपरिणामे कार्पण्यान्नोत्सहते भोक्तुं तद्भोगान्तरायम्। (कर्मप्र. यशो. वृ. १, पृ. ८)।

१ जिसके उदय से वैभव के रहते हुए तथा त्याग परिणाम के न होने पर भी जीव भोगों को नहीं भोग सकता है उसे भोगान्तराय कहते हैं। २ जिस कर्म के उदय से भोग के विषय में विघ्न होता है उसे भोगान्तराय कहा जाता है।

भोगोपभोगपरिमाण—देखो उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत। १. अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम्। अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये॥ (रत्नक. ३–३६)। २. गन्ध-ताम्बूल-पुष्पेषु स्त्री-वस्त्राभरणादिषु। भोगोपभोगसंख्यानं द्वितीयं तद् गुणव्रतम्॥ (वरांगच. १५–११८)। ३. जाणित्ता संपत्ती भोयण-तंबोल-वत्थमादीणं। जं परिमाणं कीरदि भोउवभोयं वयं तस्स॥ (कार्तिके. ३५०)। ४. यः सकृत्सेव्यते भावः स भोगो भोजनादिकः। भूषादिः परिभोगः स्यात् पौनःपुन्येन सेवनात्॥ परिमाणं तयोः कुर्याच्चित्तव्याप्तिनिवृत्तये। प्राप्ते योग्ये च सर्वस्मिन्निच्छया नियमं भजेत्॥ (उपासका. ७५९, ७६०)। ५. भोगोपभोगसंख्यानं क्रियते यद्धितात्मना। भोगोपभोगसंख्यानं तच्छित्त्वा[च्छक्त्या] व्रतमुच्यते॥ (सुभा. सं. ८१२)। ६. भोगोपभोगसंख्या विधीयते येन शक्तितो भक्त्या। भोगोपभोगसंख्या शिक्षाव्रतमुच्यते तस्य॥ (अमित. श्रा. ६–९२)। ७. कृत्यं भोगोपभोगानां परिमाणं विधानतः। भोगोपभोगसंख्यानं कुर्वता व्रतमर्चितम्॥ माल्य-गन्धान्न-ताम्बूल-भूषा-रामाम्बरादयः। सद्भिः परिमितीकृत्य सेव्यन्ते व्रतकांक्षिभिः। (धर्मप. १९, ८९–९०)। ८. वच्छच्छ-[वत्थस्थि-]भूसणाणं तंबोलाहरण-गंध-पुप्फाणं। जं किज्जइ परिमाणं तिदियं तु गुणव्वयं होइ॥ (धम्मर. १५१)। ९. भोगोपभोगयोः संख्या शक्त्या यत्र विधीयते। भोगोपभोगमानं तद् द्वैतीयिकं गुणव्रतम्॥ (त्रि. श. पु. च. १, ३, ६३६; योगशा. ३–४)। १०. भोगोऽयमियान् सेव्यः समयमियन्तं सदोपभोगोऽपि। इति परिमायानिच्छँस्तावधिकौ तत्प्रमाव्रतं श्रयतु॥ (सा. ध. ५–१३)। ११. तयोः (भोग-परिभोगयोः) यत् क्रियते मानं तत्तृतीयं गुणव्रतम्। ज्ञेयं भोगपरिभोगपरिमाणं जिनेरितम्। (धर्मसं. श्रा. ७-१८)। १२. यान-भूषण-माल्यानां ताम्बूलाहार-वाससाम्। परिमाणं भवेद् यत्तत्प्राहुः

शिक्षाव्रतं बुधाः ॥ (पू. उपासका. ३३)। १३. भोगोपभोगयोः संख्याविधानं यत्स्वशक्तितः। भोगोपभोगमानाख्यं तद् द्वितीयं गुणव्रतम्। (धर्मसं. मान. २-३१)।

१ प्रयोजन की सिद्धि के कारण होने पर भी राग-जनित आसक्ति को कम करने के लिए जो उनकी संख्या निश्चित कर ली जाती है उसे भोगोपभोग-परिमाणव्रत कहते हैं।

भोगोपभोगसंख्यान—देखो भोगोपभोगपरिमाण।

भौम निमित्त—१. घण-सुसिर-णिद्ध-लुक्खप्पहुदि-गुणे भाविदूण भूमीए। जं जाणइ खय-वड्ढि तम्मयस-कणय-रजदपमुहाणं ॥ दिसि-विदिस-अंतरेसुं चउरंग-बलं ट्ठिदं च दट्ठूणं। जं जाणइ जयमजयं तं भउ-मणिमित्तमुद्दिट्ठं ॥ (ति. प. ४, १००४-५)। २. भुवो घन-सुषिर-स्निग्ध-रूक्षादिविभावनेन पूर्वादिदिक्सूत्रनिवासेन (चा. सा. 'सूत्रविन्यासेन') वा वृद्धि-हानि-जय-पराजयादिविज्ञानं भूमेरन्तर्निहितसुवर्ण-रजतादिसंसूचनं (चा. सा. 'संस्तवनं') च भौमम्। (त. वा. ३, ३६, ३; चा. सा. पृ. ६४)। ३. भूमिगयलक्खणाणि दट्ठूण गाम-णयर-खेड-कव्वड-घर-पुरादीणं वुड्ढि-हाणिपदुप्पायणं भोम्मं णाम महाणिमित्तं। (धव. पु. ९, पृ. ७३)। ४. यं भूमिविभागं दृष्ट्वा पुरुषस्यान्यस्य शुभाशुभं ज्ञायते तद्भौमनिमित्तं नाम। (मूला. वृ. ९-३०)। ५. भौमं भूमिविकार-फलाभिधानप्रधानं निमित्तशास्त्रम्। (समवा. अभय. वृ. २९)।

१ भूमि की सान्द्रता, पोलापन, चिक्कणता और रूखेपन आदि गुणों को देखकर जो तांबा, लोहा, सुवर्ण और चांदी आदि धातुओं की हानि-वृद्धि का ज्ञान होता है उसे भौमनिमित्त कहते हैं। तथा दिशा, विदिशा और अन्तराल में स्थित चतुरंग सैना को देखकर जय-पराजय को जान लेना, यह भी भौम निमित्त कहलाता है। ३ भूमिगत लक्षणों (चिह्नों) को देखकर ग्राम, नगर, खेट, कर्वट, घर और नगर आदि की वृद्धि-हानि का कथन करना इसका नाम भौम महानिमित्त है। ५ प्रधानता से जिसमें भूमिविकार के फल का कथन किया जाता है उसे भौम निमित्तशास्त्र कहते हैं।

भौम मण्डल—पृथिवीबीजसम्पूर्णं वज्रलाञ्छन-संयुतम्। चतुरस्रं द्रुतस्वर्णप्रभं स्याद्भौममण्डलम्। (योगशा. ५-४३)।

पृथिवी बीज से परिपूर्ण, वज्र के चिह्न से संयुक्त, चौकोण और सुवर्ण जैसी कान्तिवाला भौम मण्डल होता है।

भ्रमराहार—१. दातृजनबाधया विना कुशलो मुनि-र्भ्रमरवदाहरतीति भ्रमराहार इत्यपि परिभाष्यते। (त. वा. ९, ६, पृ. ५९७; त. श्लो. ९-६; चा. सा. पृ. ३६; कार्तिके. टी. ३९९, पृ. ३०२)। २. भृङ्गः पुष्पासवं यद्वत् गृह्णात्येकगृहेऽशनम्। गृहिबाधां विना तद्वद् भुञ्जीत भ्रमराशनः। (आचा. सा. ५-१२७)। ३. भ्रमरस्येवाहारो भ्रमराहारो दातृजनपुष्पपीडानवतारात् परिभाष्यते। (अन. ध. स्वो. टी. ६-४९)।

१ जिस प्रकार भ्रमर फूलों को बाधा न पहुंचाकर उनके रस को ग्रहण करता है उसी प्रकार कुशल मुनि दाता जन को बाधा न पहुंचा कर जो उनके यहां आहार को ग्रहण करता है, उसे भ्रमराहार कहा जाता है।

भ्रान्ति—१. वस्तुन्यन्यत्र कुत्रापि तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः। निश्चयो यत्र जायेत भ्रान्तिमान् स स्मृतो बुधैः ॥ (वाग्भटा. ४-७३)। २. भ्रान्तिः अतस्मिंस्तद्ग्रह-रूपा शुक्तिकायां रजताध्यारोपवत्। (षोडश. वृ. १४-३)। ३. सदृशदर्शनाद्विपर्ययज्ञानं भ्रान्तिः। (काव्यानु. ६, पृ. २८४)।

१ किसी वस्तु में उसके समान जो अन्य वस्तु का बोध होता है उसे भ्रान्ति कहा जाता है। २ जो वह नहीं है, उसमें जो उसका ज्ञान होता है उसे भ्रान्ति कहते हैं। जैसे—जो (सीप) चांदी नहीं है उसमें चांदी का ज्ञान।

भ्रूदोष— व्यापारान्तरनिरूपणार्थं भ्रूनृत्तं कुर्वतः स्थानं भ्रूदोषः (योगशा. स्वो. विव. ३-१३०)।

अन्य व्यापार के कहने के लिए भृकुटियों को नचाते हुए स्थित होना, यह एक कायोत्सर्ग का भ्रूदोष है।

भ्रूविकारदोष—देखो भ्रूदोष। १ तथा भ्रूविकारः—कायोत्सर्गेण स्थितो यो भ्रूविक्षेपं करोति तस्य भ्रूविकारदोषः पादाङ्गुलिनर्तनं वा। (मूला. वृ. ७-१६२)। २. भ्रूक्षेपो भ्रूविकारः स्यात् × × × (अन. ध. ८-११९)।

१ जो कायोत्सर्ग से स्थित होता हुआ भृकुटियों को

चलाता है अथवा पांव की अंगुलियों को नचाता है उसके भ्रूविकार नाम का दोष होता है।

भ्रूसंस्कार—१. विकटोत्थितानां रोम्णाम् उत्पाटनम् आनुलोम्यापादनं लम्बयोरुन्नतिकरणं भ्रूसंस्कारः। (भ. आ. विजयो. ९३)। २. विकटोत्थितानां रोम्णां केशानामुत्पाटनम् आनुलोम्यापादनं च, भ्रुवोरेव वा लम्बयोरुन्नतीकरणं भ्रूसंस्कारः। (भ. आ. मूला. ९३)।

१ अस्त-व्यस्त रोमों को निकाल कर अनुरूप करना तथा लम्बी भ्रुकुटियों को उन्नत करना, इसका नाम भ्रूसंस्कार है।

मकरमुख—१. मकरस्य मुखमिव कृत्वा पादावस्थानम्। (भ. आ. विजयो. २२४)। २. मकरस्य मुखमिव कृत्वा पादावासनम्। (भ. आ. मूला. २२४)।

१ मगर के मुख के समान दोनों पांवों को करके स्थित होना, यह मकरमुख आसन (योगासन) कहलाता है।

मग्न—प्रत्याहृत्येन्द्रियव्यूहं समाधाय मनो निजम्। दधच्चिन्मात्रविश्रान्तिर्मग्न [न्ति मग्न] इत्यभिधीयते॥ (ज्ञा. सा. वृ. २-१)।

इन्द्रियसमूह को विषयों की ओर से हटाकर तथा अपने मन को समाधि में स्थित कर—आत्मस्वरूप में एकाग्र कर—चिन्मात्र (चैतन्यमात्र) में विश्रान्ति को धारण करने वाले ध्याता को मग्न कहा जाता है।

मङ्गल—देखो मंगल।

मंच—देखो मंच।

मडम्ब—१. पणसयपमाणगामप्पहाणभूदं मडंबणाम खु। (ति. प. ४-१३३९)। २. पञ्चशतग्रामपरिवारितं मडंब णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३३५)। ३. मडम्बम् अविद्यमानासन्ननिवेशनान्तरम्। (औपपा. अभय. वृ. ३२, पृ. ७४)। ४. यस्य प्रत्यासन्नं ग्राम-नगरादिकमपरं नास्ति तत्सर्वतश्छिन्नं जनाश्रयविशेषरूपं मडम्बम्। (जीवाजी. मलय. वृ. ३-१४७)। ५. मडम्बम् अर्द्धतृतीयगव्यूतान्तर्ग्रामरहितम्। (जम्बूद्वी. शा. वृ. ६६)। ६. मडंबानि सर्वतोऽर्द्धयोजनात् परतोऽवस्थितग्रामाणि। (कल्पसू. विनय. वृ. ८८, पृ. १११)।

१ पांच सौ ग्रामों में जो प्रधानभूत ग्राम हो वह मडम्ब कहलाता है। ३ जिसके समीप में अन्य गांव या नगर आदि न हों उसे मडम्ब कहते हैं।

मण—××× तेषां (गद्याणां) सार्द्धसत मणे। (कल्पसू. विनय. वृ. पृ. २१ उद्.)।

डेढ़ सौ गद्याणों का एक मण होता है।

मण्डनधात्री—देखो मंडनधात्री।

मति—देखो मतिज्ञान।

मतिज्ञान—देखो अभिनिबोध व आभिनिबोधिक।

१. तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्। (त. सू. १-१४)। २. इन्द्रियैर्मनसा यथास्वमर्थान् मन्यते अनया, मनुते, मननमात्रं वा मतिः (स. सि. १-९)। ३. उत्पन्नाविनष्टार्थग्राहकं साम्प्रतकालविषयं मतिज्ञानम्। ××× मतिज्ञानमिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्, आत्मनो ज्ञस्वाभाव्यात् पारिणामिकम्। (त. भा. १-२०)। ४. इंदियपच्चक्खंपि य अणुमाणं उवमयं च मइनाणं। (जीवस. १४२)। ५. मननं मतिः कथञ्चिदर्थपरिच्छित्तावपि अपूर्व-सूक्ष्मतरधर्मालोचनरूपा बुद्धिः। (विशेषा. को. वृ. ३९७; आव. नि. मलय. वृ. १२)। ६. तदावरणकर्मक्षयोपशमे सतीन्द्रियानिन्द्रियापेक्षमर्थस्य मननं मतिः। ××× मनुतेऽर्थान् मन्यतेऽनेनेति वा मतिः। (त. वा. १, ९, १)। ७. मननं मतिः कथञ्चिदर्थपरिच्छित्तावपि सूक्ष्मधर्मालोचनरूपा बुद्धिः। (आव नि. हरि. वृ. १२, पृ. १८)। ८. मननं मतिः इन्द्रियानिन्द्रियपरिच्छेदः, ज्ञातिर्ज्ञानम्, सामान्येन वस्तुस्वरूपावधारणम्, ज्ञानशब्दः मत्या विशेष्यते—मतिश्चासौ ज्ञानं चेति मतिज्ञानम्। (त. भा. हरि. वृ. १-९)। ९. उत्पन्नाविनष्टार्थग्राहकं साम्प्रतकालविषयं मतिज्ञानम्। ××× अथवा आत्मप्रकाशकं मतिज्ञानम्। (आव. नि हरि वृ. १, पृ. ६)। १०. विशेषिता मतिः स्वामिविशेषेण सम्यग्दृष्टेर्मतिर्मतिज्ञानम्। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ५६)। ११. पञ्चभिरिन्द्रियैर्मनसा च यदर्थग्रहणं तन्मतिज्ञानम्। (धव. पु. १, पृ. ३५४); ××× छण्णमिंदियाणं खओवसमो तत्तो समुप्पण्णणाणं वा मदिणाणं। (धव. पु. ७, पृ. ६७); अणागयत्थ-

विसयमदिणाणेण विसेसिदजीवो मदी णाम । (धव. पु. १३, पृ. ३३३) । १२. जं पंचिदिय-मणेहिंतो उप्पज्जइ णाणं तं मदिणाणं णाम । (जयध. १, पृ. १४); इंदिय-णोइंदिएहिं सद्द-रस-परिस-रूव-गंधादिविसएसु ओग्गह-ईहावाय—धारणाओ मदिणाणं । (जयध. १, पृ. ४२) । १३. इन्द्रियानिन्द्रियोत्थं स्यान्मतिज्ञानमनेकधा । परोक्षमर्थसान्निध्ये प्रत्यक्षं व्यवहारिकम् ॥ क्षयोपशमसापेक्षं निजावरणकर्मणः । अवग्रहेहावायाख्या धारणा-तश्चतुर्विधः । (ह. पु. १०, १४५-४६) । १४. मत्यावरणविच्छेदविशेषान्मन्यते यथा । मननं मन्यते यावत्स्वार्थे मतिरसौ मता ॥ (त. श्लो. १, ६, ३) । १५. परोक्षस्यापि मतिज्ञानस्येन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं स्वार्थाकारग्रहणं स्वरूपम् ।(अष्टस. १-१५, पृ. १३२) । १६. बुद्धिर्मेधादयो याश्च मतिज्ञानाभिदा हि ताः । इन्द्रियानिन्द्रियेभ्यश्च मतिज्ञानं प्रवर्तते ॥ (त. सा. १-२०) । १७. मननं मतिः, परिच्छेद इत्यर्थः । ××× ज्ञप्तिर्ज्ञानम्, वस्तुस्वरूपावधारणमित्यर्थः । ××× मतिश्च सा ज्ञानं च मतिज्ञानम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. १-९); मननं मतिस्तदेव ज्ञानं मतिज्ञानम्) । (त. भा. सिद्ध. वृ. १-१३) । १८. स्वार्थावग्रहनीतभेदविषयाकांक्षात्मिकेयं मतिः । (सिद्धिवि. वृ. २-१, पृ. १२०) । १९. इन्द्रियानिन्द्रियैरर्थग्रहणं मननं मतिः । विकल्पाः विविधास्तस्याः क्षयोपशमसम्भवाः ॥ (पंचसं. अमित. १-२१४) । २०. स (आत्मा) च व्यवहारेणानादिकर्मबन्धप्रच्छादितः सन् मतिज्ञानावरणीयक्षयोपशमाद् वीर्यान्तरायक्षयोपशमाच्च बहिरङ्गपञ्चेन्द्रिय-मनोऽवलम्बनाच्च मूर्तामूर्तवस्त्वेकदेशेन विकल्पाकारेण परोक्षरूपेण सांव्यवहारिकप्रत्यक्षरूपेण वा यज्जानाति तत्क्षायोपशमिकं मतिज्ञानम् । (बृ. द्रव्यसं टी. ५) । २१. मननं मतिरर्थस्य यत्तदिन्द्रिय-मानसैः । (आचा. सा. ४-९) । २२. मतिः—अवायो निश्चय इत्यर्थः । (समवा. अभय. वृ. १४०, पृ. १०७) । २३. द्रव्य-भावेन्द्रियालोक- मतिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमादिसामग्रीप्रभवरूपादिविषयग्रहणपरिणतिश्चात्मनोऽवग्रहादिरूपा मतिज्ञानशब्दवाच्यतामश्नुते । (सन्मति. अभय. वृ. २-१०, पृ. ६२०)। २४. 'मति (षष्ठक.-'मन') ज्ञाने' मननं मतिः, यद्वा मन्यते इन्द्रिय-मनोद्वारेण नियतं वस्तु परिच्छिद्यतेऽनयेति मतिः, योग्यदेशावस्थितवस्तुविषय इन्द्रिय-मनोनिमित्तोऽवगमविशेषः । (पञ्चसं. मलय. वृ. १-५; षष्ठक. मलय. वृ. ६; षडशी. मलय. वृ. १५; कर्मवि. ग. परमा. व्या. १३; प्रव. सारो. वृ. १२५१; कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ११) । २५. अवग्रहादिभिर्भिन्नं बह्वाद्यैरितरैरपि । इन्द्रियानिन्द्रियभवं मतिज्ञानमुदीरितम् ॥ (योगशा. १-१६; त्रि. श. पु. च. १, ३, ५८०) । २६. मतिज्ञानावरणक्षयोपशमे सतीन्द्रियमनसी अग्रे कृत्वा व्यापृतः सन्नर्थं मन्यते जानात्यात्मा यया सा मतिः, तद्भेदाः मत्यादयः । तत्र मन्यते यया बहिरन्तश्च परिस्फुटं सावग्रहाद्यात्मिका मतिः स्वसंवेदनमिन्द्रियज्ञानं च सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षम् । (अनध. स्वो. टी. ३-४) । २७. अर्थाभिमुखो नियतो बोधोऽभिनिबोधः, अभिनिबोध एवाऽऽभिनिबोधिकम्, इकणि, तच्च तज्ज्ञानं चेति समासः । उत्पन्नाविनष्टार्थग्राहकं साम्प्रतकालविषयं अवग्रहाद्यष्टाविंशतिभेदभिन्नम् आत्मप्रकाशकं आभिनिबोधिकं ज्ञानं मतिज्ञानमित्यपरपर्यायम् । (गु गु. षट्. स्वो. वृ. ३३, पृ. ६७) । २८. इन्द्रियैर्मनसा च यथायथमर्थान् मन्यते मतिः, मनुतेऽनया वा मतिः, मननं वा मतिः । (त. वृत्ति श्रुत. १-९; कार्तिके. टी. २५७) । २९. परोक्षस्यापि मतिज्ञानस्येन्द्रियानिन्द्रियजन्यत्वे सति स्वार्थाकारव्यवसायात्मकत्वं स्वरूपम् । (सप्तभं. पृ. ४७) । ३०. अनागतकालविषया मतिः । (कल्पसू. विनय. वृ. ६, पृ. १९) । ३१. इन्द्रिय-मनोनिमित्तं श्रुतानुसारिज्ञान मतिज्ञानम् । (जैनत. पृ. ११४) । ३२. मतिज्ञानत्वं श्रुताननुसार्यनतिशयितज्ञानत्वं अवग्रहादिक्रमवदुपयोगजन्यज्ञानत्व वा । (ज्ञानबि. पृ. १३६)। ३३. पञ्चभिरिन्द्रियैः षष्ठेन मनसा जीवस्य यज्ज्ञानं स्यात्तन्मतिज्ञानम् । (दण्डकप्र. टी. ४, पृ. २) ।

१ इन्द्रिय व मन के निमित्त से जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं । २ इन्द्रियों व मन के द्वारा जो यथायोग्य पदार्थों को जानता है (कर्ता), जिसके द्वारा पदार्थ जाने जाते हैं (करण) उसे, अथवा जानने मात्र (भाव) को मतिज्ञान कहा जाता है । ३ वर्तमान काल को विषय करने वाला जो ज्ञान अविनष्ट (उत्पन्न होकर नष्ट न हुए) पदार्थ को ग्रहण करता है वह मतिज्ञान कहलाता है ।

५ किसी प्रकार से पदार्थ के परिज्ञान के हो जाने पर भी अपूर्व और सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ के आलोचनरूप जो बुद्धि होती है उसका नाम मति है। ३० जो बुद्धि भविष्यत् काल को विषय करने वाली है उसे मति कहते हैं।

मतिज्ञानावरण—१. तस्स (मदिणाणस्स) आवरणं मदिणाणावरणं। (धव. पु. ७, पृ. ६७)। २. अट्ठावीसइभेयं मइनाणं इत्थ वण्णियं समए। तं (मतिज्ञानं) आवरेइ जं तं मइआवरणं हवइ पढमं॥ (कर्मवि. ग. १३)।

१ जो कर्म मतिज्ञान को आच्छादित करता है उसे मतिज्ञानावरण कहते हैं।

मत्यज्ञान—१. विस-जंत-कूड-पंजर-बंधादिसु अणुवएसकरणेण। जा खलु पवत्तए मई मइअण्णाणंत्ति णं विंति॥ (प्रा. पंचसं. १–११८; धव. पु. १, पृ. ३५८ उद्.; गो. जी. ३०३)। २. मिथ्यादृष्टेर्मतिः मत्यज्ञानम्। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ५९)। ३. मिथ्यात्वसमवेतमिन्द्रियजज्ञानं मत्यज्ञानम्। (धव. पु. १, पृ. ३५८)। ४. मिथ्यादृष्टिपरिगृहीता मतिर्मत्यज्ञानम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–३२)। ५. रूपादौ यद्विपर्यस्तं मत्यज्ञानं तदक्षजम्॥ (पंचसं. अमित. १–२३१)। ६. उपदेशक्रियां विना यदीदृशं ऊहापोहविकल्पात्मकं हिंसानृत-स्तेयाब्रह्म-परिग्रहकारणमार्त-रौद्रध्यानकारणं शल्य-दंड-गारवसंज्ञाद्यप्रशस्तपरिणामकारणं च इन्द्रिय-मनोजनितविशेषग्रहणरूपं मिथ्याज्ञानं तन्मत्यज्ञानम्। (गो. जी. मं. प्र. ३०३)।

१ विष, यन्त्र, कूट, पंजर और बन्धन आदि के विषय में जो बिना उपदेश के बुद्धि प्रवृत्त होती है उसे मत्यज्ञान कहते हैं। २ मिथ्यादृष्टि की बुद्धि को मत्यज्ञान कहा जाता है।

मत्सर—देखो मात्सर्य। १. तथा मत्सरः कोपः, यथा मार्गितः सन् कुप्यति, सदपि मार्गितं न ददाति, अथवाऽनेन तावद् द्रमकेण मार्गितेन दत्तम्, किमहं ततोऽपि हीन इति मात्सर्याद् ददाति, अत्र परोन्नतिवैमनस्यं मात्सर्यम्। यदुक्तमस्माभिरेवाऽनेकार्थसंग्रहे—मत्सरः परसम्पत्त्यक्षमायां तद्वति क्रुधि। इति चतुर्थः। (योगशा. स्वो. विव ३–११९)। २. मत्सरः कोपः, यथा मार्गितः सन् कुप्यति, सदपि वा मार्गितं न ददाति, प्रयच्छतोऽप्यादराभावो वा, अन्यदातृगुणासहिष्णुत्वं वा मत्सरः। यथाऽनेन तावच्छ्रावकेण मार्गितेन दत्तम्, किमहमस्मादपि हीनः इति परोन्नतिवैमनस्याद् ददाति। एतच्च मत्सरशब्दस्यानेकार्थत्वात् संगच्छते। तदुक्तम्—मत्सरः परसम्पत्त्यक्षमायां तद्वति क्रुधि। (सा. ध. स्वो. टी. ५–५४)। ३. मत्सरः परसंपदसहिष्णुता। (सम्बोधस. वृ. ४)।

१ मत्सर नाम क्रोध का है। जैसे—अन्वेषित होता हुआ क्रोध करता है, अन्वेषित याचित द्रव्य के होने पर भी नहीं देता है, अथवा खोजने पर इस दरिद्र ने तो दिया है, क्या मैं इससे भी हीन हूं; इस प्रकार के मात्सर्य भाव से देता है; इस प्रकार दूसरे की उन्नति में खेदखिन्न होना, इसका नाम मात्सर्य है। यह अतिथिसंविभागव्रत का एक (चौथा) अतिचार है।

मत्स्योद्वृत्तदोष—१. उट्ठित-निवेसितो उव्वत्तइ मच्छउव्व जलमज्झे। वंदिउकामो वऽन्नं झसो व परियत्तए तुरियं॥ (प्रव. सारो. १५९)। २. उत्तिष्ठन् निविशमानो वा जलमध्ये मत्स्य इवोद्वर्तते उद्वेलयति यत्र तन्मत्स्योद्वृत्तम्, अथवा एकमाचार्यादिकं वन्दित्वा तत्समीप एवापरं वन्दनार्हं कश्चन वन्दितुमिच्छंस्तत्समीपे जिगमिषुरुपविष्ट एव झष इव—मत्स्य इव त्वरितमङ्गं परावृत्य यत्र गच्छति तद्वा मत्स्योद्वृत्तम्। इत्थं च यदङ्गपरावर्तनं तद् रेचकावर्त इत्यभिधीयते। (आव. हरि. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ८८; प्रव. सारो. वृ. १५९)। ३. मत्स्योद्वर्तः पार्श्वद्वयेन वन्दनाकरणमथवा मत्स्यस्येव कटिभागेनोद्वर्त्तं कृत्वा यो वन्दनां विदधाति तस्य मत्स्योद्वर्तदोषः॥ (मूला. वृ. ७–१०७)। ४. मत्स्योद्वृत्तमुत्तिष्ठन् निविशमानो वा जलमध्ये मत्स्य इवोद्वर्तते उद्वेल्लते यत्र तत्, यद्वा एकं वन्दित्वा द्वितीयस्य साधोर्द्रुतं द्वितीयपार्श्वेन रेचकावर्तेन मत्स्यवत्परावृत्य वन्दनम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०)। ५. मत्स्योद्वर्तं स्थितिर्मत्स्योद्वर्तवत् त्वेकपार्श्वतः। (अन. ध. ८–१०१)।

१ जो जल में स्थित मछली के समान उठता-बैठता हुआ (उछलता हुआ) वन्दना करता है, अथवा अन्य आचार्य की वन्दना का इच्छुक होकर जो मत्स्य के समान पार्श्व भाग को परिवर्तित कर वन्दना करता है वह मत्स्योद्वृत्त नामक वन्दना

दोष का भागी होता है।

मद—१. मद्यादिमदवदनालापदर्शनान्मदः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-१०, पृ. १४५)। २. कुल-बलैश्वर्य-रूप-विद्यादिभिरात्माहंकारकरणं परप्रकर्ष-निबन्धनं वा मदः। (नीतिवा. ४-६); पान-स्त्री-संगादिजनितो हर्षो मदः। (नीतिवा. १०-३८, पृ. ११६)। ३. सहजचतुरकवित्वनिखिलजनताकर्णामृतस्यन्दिसहजशरीर-कुल-बलैश्वर्यैरात्माहंकारजन्मा मदः। (नि. सा. वृ. ६); तीव्रचारित्रमोहोदयबलेन पुंवेदाभिधाननोकषायविलासो मदः। (नि. सा वृ. ११२)। ४. कुल-बलैश्वर्य-रूप-विद्यादिभिरहंकारकरणं परप्रधर्षनिबन्धनं वा मदः। (योगशा. स्वो. विव. १-५६, पृ, १६०; धर्मसं. मा. स्वो. वृ. पृ ५; सम्बोधस. वृ. ४, पृ. ५)। ५. मद आनन्द-सम्मोहसम्भेदः। (काव्यानु. वृ. २, पृ. ८५); मद्यपानादानन्द-संमोहयोः संगमो मदः। (काव्यानु. वृ. २, पृ. ८८)। ६. ज्ञानं पूजा तपो लक्ष्मी रूपं जातिर्बलं कुलम्। यादृग् मेऽन्यस्य नास्तीति मानो ज्ञेयं मदाष्टकम्॥ (धर्मसं. श्रा. ४, ४३)। ७. तथा च जैमिनिः—कुल-वीर्य-स्वरूपाद्यैर्गर्वो ज्ञानसम्भवः। स मदः प्रोच्यतेऽन्यस्य येन वा कर्षणं भवेत्॥ (नीतिवा. टी. ४-६)।

१ मद्य आदि के मद के समान अनालाप (असम्भाषण) के देखने से मद होता है। २ कुल, बल, ऐश्वर्य, रूप और विद्या आदि के द्वारा जो अपना अभिमान प्रगट किया जाता है उसे; अथवा जो दूसरे के आकर्षण का कारण होता है उसे मद कहते हैं।

मदनात्याग्रह—देखो कामतीव्राभिलाष। मदने कामेऽत्याग्रहः परित्यक्तान्यसकलव्यापारस्य तदध्यवसायतः योषामुख-कक्षोपस्थान्तरेष्ववितृप्ततया प्रक्षिप्य प्रजननं महतीं वेलां निश्चलो मृत एवास्ते, चटक इव चटकायां मुहुर्मुहुर्योषायामारोहति, जातबलक्षयश्च वाजीकरणान्युपयुङ्क्ते; अनेन खल्वौषधप्रयोगेण गजप्रसेकी तुरगावमर्दीव पुरुषो भवतीति बुद्ध्या। इति चतुर्थः। (योगशा. स्वो. विव. ३-९४, पृ. ५५६-५७)।

अन्य समस्त व्यापार को छोड़कर काम (मैथुन) के विषय में अतिशय आसक्त रहना, तृप्ति के लिए अंग-अनंग का विचार न करना, तथा बलवर्धक औषधियों का प्रयोग करना; इत्यादि का नाम मदनात्याग्रह है। यह ब्रह्मचर्याणुव्रत का चतुर्थ अतिचार है।

मद्य—१. माद्यन्ति येन तत् मद्यम्, यद्वशाद् गम्यागम्य-वाच्यावाच्यादिविभागं जनो न जानाति। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १८०, पृ. १९०)। २. हृषीकज्ञानयुक्तस्य मादनान्मद्यमुच्यते। ज्ञानाद्यावृत्तिहेतुत्वात् स्यात्तदवद्यकारणम्॥ (लाटीसं. २-६७)।

१ जिसके पीने से मनुष्य गम्य-अगम्य (सेव्य-असेव्य) और वाच्य-अवाच्य का विभाग नहीं जानता है—यद्वा तद्वा बोलता है—वह मद्य कहलाता है।

मद्यव्यसन—यत्पुनर्मद्यपानकेन नित्यं मूच्छित इवाऽऽस्ते तद् मद्यव्यसनम्। (बृहत्क. भा. क्षे. वृ. ९४०)।

मद्य के पीने से प्राणी जो निरन्तर बेसुध जैसा रहता है, इसी का नाम मद्यव्यसन है।

मधु—१. मक्षिकागर्भसम्भूतबालाण्डविनिपीडनात्। जातं मधु कथं सन्तः सेवन्ते कललाकृतिम्॥ (उपासका. २९४)। २. मधु च माक्षिकनिष्पन्नम्। (विपाक. अभय. वृ. पृ. २३)। ३. मधुकृद्व्रातघातोत्थं मध्वशुच्यपि बिन्दुशः। खादन् बध्नात्यघं सप्तग्रामदाहांहसोऽधिकम्॥ (सा. ध. २-११)। ४. मक्षिकाबालकाण्डोत्थमत्युच्छिष्टं मलाविलम्। सूक्ष्मजन्तुगुणाकीर्णं तन्मधु स्यात् कथं वरम्॥ (धर्मसं. श्रा. ५-१३८)।

१ मधुमक्खियों के गर्भ से उत्पन्न बाल अण्डों के निचोड़ने से जो उत्पन्न होता है उसका नाम मधु (शहद) है।

मधुर—१. मधुरं श्रवणमनोहरम्। (आव. नि. हरि. वृ. ८८५, पृ. ३७६)। २. ह्लादनबृंहणकृन्मधुरः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ६०; त. भा. सिद्ध वृ. ५-२३)। ३. मधुरं ललिताक्षरपदवाच्यात्मकतया श्रोत्रमनोहारि। (व्यव. भा. मलय. वृ. ७-१९०)। ४. पित्तादिप्रशमकः खण्ड-शर्करायाश्रितो मधुरः। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ४०, पृ. ५१)।

१ जो वचन सुनने में मनोहर होता है उसे मधुर वचन कहते हैं। २ जो रस आनन्दवर्धक होता है उसे मधुर रस कहा जाता है। ३ जिसमें ललित अक्षर

व पद रहते हैं तथा जो सुनने में मनोहर होता है उस जिनवचन को मधुर माना जाता है।

मधुर गेय—मधुरस्वरेण गीयमानं मधुरं कोकिलारुतवत्। (रायप. मलय. वृ. पृ. १३१)।

जो कोयल के शब्द के समान मधुर स्वर से गाया जाता है उसे मधुर गेय कहते हैं।

मधुर नाम—१. एवं सेसरसाणमत्थो वत्तव्वो (जस्स कम्मस्स उदएण सरीरपोग्गला महुररसेण परिणमंति तं महुरणामं)। (धव. पु. ६, पृ. ७५)। २. यदुदयाज्जन्तुशरीरमिक्ष्वादिवद् मधुरं भवति तद् मधुरनाम। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ४०, पृ. ५१)।

१ जिस कर्म के उदय से शरीरगत पुद्गल मधुर रस रूप से परिणत होते हैं उसे मधुरनामकर्म कहा जाता है।

मधुरवचनता—देखो मधुर। मधुरं रसवद् यदर्थतो विशिष्टार्थवत्तयाऽर्थावगाढत्वेन शब्दतश्चापरुषत्व-सौस्वर्य-गाम्भीर्यत्वादिगुणोपेतत्वेन श्रोतुराह्लादमुपजनयति तदेवंविधं वचनं यस्य स तथा, तद्भावो मधुरवचनता। (उत्तरा. नि. शा. वृ, ५८, पृ. ३६)।

जो रसयुक्त मधुर वचन अर्थ की अपेक्षा विशिष्ट अर्थ से संयुक्त व अर्थ से अधिष्ठित होने के कारण तथा शब्द की अपेक्षा कठोरता से रहित, सुन्दर स्वर से सहित व गम्भीरता आदि गुणों से संयुक्त होने के कारण श्रोता को आनन्द उत्पन्न किया करता है, इस प्रकार के स्वरूप वाला वचन जिन आचार्यों का होता है वे मधुरवचन कहे जाते हैं। यह मधुरवचनता उनकी ४-४ प्रकार की आठ (४×८=३२) गणिसम्पदाओं में से एक है।

मधुस्रवी—हत्थक्खित्तासेसाहाराणं महु-गुड-खण्ड-सक्करासादसरूवेण परिणमणक्खमा महुसविणो जिणा। (धव. पु. ६, पृ. १०१)।

जिस ऋद्धि के प्रभाव से हाथों में रखे गए समस्त आहार मधु, गुड़, खांड और शक्कर आदि के स्वादस्वरूप से परिणत हो जाते हैं उसे मधुस्रवी ऋद्धि कहते हैं।

मध्य—तयोः (आद्यन्तयोः) अन्तरं मध्यमुपचर्यते। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ३२)।

आदि और अन्त के अन्तर को मध्य कहा जाता है।

मध्यगत अवधि—१. मज्झगयं से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चडुलियं वा अलायं वा मणिं वा पईवं वा जोइं वा मत्थए काउं समुव्वहमाणे २ गच्छिज्जा से तं मज्झगयं। (नन्दी. सू. १०, पृ. ८२-८३)। २. इह मध्यं प्रसिद्धं दण्डादिमध्यवत्, तच्चात्मप्रदेशानां मध्ये मध्यवर्तिष्वात्मप्रदेशेषु गतः स्थितो मध्यगतः, अयं च स्पर्द्धकरूपः सर्वदिगुपलम्भकारणं मध्यवर्तिनामात्मप्रदेशानामवधिरवसेयः। अथवा सर्वेषामप्यात्मप्रदेशानां क्षयोपशमभावेऽपि औदारिकशरीरमध्यभागेनोपलब्धिः, सः मध्ये गतो मध्यगतः. ××× अथवा तेनावधिना यदुद्योतितं क्षेत्रं सर्वासु दिक्षु तस्य मध्ये मध्यभागे स्थितो मध्यगतः, अवधिज्ञानिनः तदुद्योतितक्षेत्रमध्यवर्तित्वात्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३१७, पृ. ३३७ व ३३८)। ३. मध्यं प्रसिद्धं दण्डादिमध्यवत्, ततो मध्ये गत मध्यगतम्, इदमपि त्रिधा व्याख्येयम्—आत्मप्रदेशानां मध्ये—मध्यवर्तिष्वात्मप्रदेशेषु, गतम्—स्थितं मध्यगतम्, इदं च स्पर्द्धकरूपमवधिज्ञानं सर्वदिगुपलम्भकारणं मध्यवर्तिनामात्मप्रदेशानामवसेयम्, अथवा सर्वेषामप्यात्मप्रदेशानां क्षयोपशमभावेऽप्यौदारिकशरीरमध्यभागेनोपलब्धिस्तन्मध्ये गतं मध्यगतम् ××× अथवा तेनावधिज्ञानेन यदुद्योतितं क्षेत्रं सर्वासु दिक्षु, तस्य मध्ये मध्यभागे गतं स्थितं मध्यगतम्, अवधिज्ञानिनः तदुद्योतितक्षेत्रमध्यवर्तित्वात्। (नन्दी. सू मलय. वृ. १०, पृ. ८३-८४)।

१ जिस प्रकार कोई पुरुष उल्का (छोटा दीपक), चटुलिका (अन्त में जलते हुए तृणों की पूलिका), अलात (अग्रभाग में जलती हुई लकड़ी), मणि, प्रदीप अथवा ज्योति (शराव आदि में स्थित जलती हुई अग्नि) को मस्तक पर करके गमन करता हुआ सब दिशाओं को देखता है उसी प्रकार जिस अवधिज्ञान के द्वारा अवधिज्ञानी जीव सब दिशाओं में देखता-जानता है उसे मध्यगत अवधि कहा जाता है।

मध्यम आत्मा—देखो अन्तरात्मा। १. सिविणे वि ण भुंजइ विसयाई देहाइभिण्णभावमई। जइ णियप्परूवो सिवसुहरत्तो दु मज्झिमप्पो सो। (रयणसार १४१)। २. सावयगुणेहिं जुत्ता पमत्तविरदा य मज्झिमा होंति। जिणवयणे अणुरत्ता उवसमसीला

महासत्ता। (कार्तिके. १९६)।

१ जो विजयी—जितेन्द्रिय—जीव आत्मा को देहादि से भिन्न जानता हुआ मोक्षसुख में अनुरक्त होकर आत्मस्वरूप का अनुभव करता है और विषयों का स्वप्न में भी सेवन नहीं करता है उसे मध्यम आत्मा कहते हैं। २ श्रावक के गुणों से युक्त—पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक—और प्रमत्तविरत ये मध्यम आत्मा होते हैं।

मध्यम उपवास—साम्बुर्मध्ये × × ×॥ (अन. ध. ७–१५); उक्तं च— × × × उपवासः सपानीयस्त्रिविधो मध्यमो मतः॥ (अन. ध. स्वो. टी. ७–१५)।

धारण (सप्तमी आदि) और पारण (नवमी आदि) के दिन एकाशनपूर्वक पानी के साथ जो उपवास किया जाता है—पानी को छोड़कर अन्य सब प्रकार के आहार का परित्याग किया जाता है—उसे मध्यम उपवास कहा जाता है।

मध्यम पद—१. सोलससद-चोत्तीसकोडि-तेसीदि-लक्ख-अट्ठहत्तरिसय-अट्ठासीदिअक्खरेहिं (१६३४८—३०७८८८) एगं मज्झिमपदं होदि। (जयध. १, पृ. ९२; धव. पु. ९, पृ. १९५)। २. एकपदवर्णनमस्कारोऽयम्—षोडशशतं चतुस्त्रिंशत्कोटीनां त्र्यशीतिमेव लक्षाणि। शतसंख्याष्टामप्ततिमष्टाशीतिं च पदवर्णान्॥ (धव. पु. ९, पृ. १९५); सोलससदचोत्तीसं कोडी तेसीदि चेव लक्खाइं। सत्तसहस्सट्ठसदा अट्ठासीदा य पदवण्णा॥ एत्तियाणि अक्खराणि घेत्तूण एगं मज्झिमपदं होदि। (धव. पु. १३, पृ. २६६)।

१ सोलह सौ चौंतीस करोड़, तेरासी लाख, सात हजार, आठ सौ अठासी (१६३४८३०७८८८), इतने वर्णों का एक मध्यम पद होता है।

मध्यम पात्र—१. मध्यमं तु भवेत्पात्रं संयतासंयता जनाः। (ह. पु. ७–१०९)। २. सद्दृष्टिर्मध्यमं पात्रं निःशीलव्रतभावनः॥ (म. पु. २०–१४०; पुरु. च. ८–१९, पृ. १९२)। ३. उपासकाचारविचिप्रवीणो मन्दीकृताशेषकषायवृत्तिः। उत्तिष्ठते यो जननव्यपाये त मध्यमं पात्रमुदाहरन्ति॥ (अमित. श्रा. १०–३०)। ४. × × × मध्यमं श्रावको × × ×। (सा. ध. ५–४४)। ५. सम्यक्त्व-व्रतसम्पन्नो जिनधर्मप्रकाशकः। मध्यमं पात्रमित्याहुर्विरताविरतं बुधाः॥ (पू. उपासका. ४६)।

१ संयतासंयत—देशव्रती श्रावक—मध्यम पात्र कहे जाते हैं। २ शील और व्रतों की भावनाओं से रहित सम्यग्दृष्टि मध्यम पात्र कहलाता है।

मध्यम बुद्धि— × × × मध्यमबुद्धिस्तु मध्यमाचारः। (षोडश. १–३)।

बाल, मध्यमबुद्धि और बुध इन तीन प्रकार के परीक्षकों में मध्यम आचार वाला परीक्षक मध्यमबुद्धि कहलाता है।

मध्यम लोक—१. मज्झिमलोयायारो उब्भियमुरअद्धसारिच्छो॥ (ति. प. १–१३७)। २. मंदरपरिच्छिण्णो मज्झलोगो त्ति। (धव. पु. ४, पृ. ९); हेट्ठा मज्झे उवरिं वेत्तासण-झल्लरी-मुइंगाणहो। (धव. पु. ४, पृ. ११ उद्.); ण च एत्थ झल्लरीसंठाणं णत्थि, मज्झम्हि सयंभुरमणोदहिपरिक्खित्तदेसेण चंदमंडलमिव समंतदो असंखेज्जजोयणरुंदेण जोयणलक्खबाहल्लेण झल्लरीसमाणत्तादो। (धव. पु. ४, पृ. २१)।

१ मध्यम लोक का आकार खड़े किए हुए मृदंग के अर्ध भाग—बीच के भाग—के समान है। २ मध्य लोक मेरु पर्वत के प्रमाण है, अर्थात् वह मेरु पर्वत की ऊंचाई के बराबर (१४०००० यो.) गोल आकार में स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त अवस्थित है।

मध्यमा प्रतिष्ठा—देखो क्षेत्राख्या प्रतिष्ठा। ऋषभाद्यानां तु तथा सर्वेषामेव मध्यमा ज्ञेया। (षोडश. ८–३)।

ऋषभादि सभी (चौबीस) तीर्थंकरों के बिम्बों की प्रतिष्ठा व्यक्त्याख्य, क्षेत्राख्य और महाख्य इन तीन प्रकार की प्रतिष्ठाओं में मध्यम (क्षेत्राख्य) प्रतिष्ठा मानी जाती है।

मध्य लोक—देखो मध्यम लोक। झल्लरिसमो य मज्झे × × ×॥ (पउमच. ३-१९)।

लोक मध्य में झालर जैसे आकार वाला है, अर्थात् मध्य लोक आकार में झालर के समान है।

मध्यस्थ—१. जो णवि वट्टइ रागे णवि दोसे दोण्ह मज्झयारंमि। सो होइ उ मज्झत्थो × × ×॥ (आव. नि. ८०३)। २. राग-द्वेषयोरन्तरालं मध्यम्, तत्र स्थितो मध्यस्थः—राग-द्वेषेष्ववृत्ति-

रिति। (त. भा. हरि. वृ. ७–६)। ३. यो नापि वर्तते रागे नापि द्वेषे, किं तर्हि ? × × × द्वयोर्मध्ये इत्यर्थः, स भवति मध्यस्थः। (श्राव. नि. हरि. वृ. ८०३)। ४. मध्यस्थो राग-द्वेषरहितः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १३, पृ. ६०)। ५. मध्यस्थो राग-द्वेषरहितोऽत एवासौ सोमदृष्टिः, यथावस्थितधर्मविचारकत्वाद् दूरं दोषत्यागी। (सम्बोधस. गु. वृ. २०)। ६. नयेषु स्वार्थसत्येषु मोघेषु परचालने। समशीलं मनो यस्य स मध्यस्थो महामुनिः॥ (ज्ञा. सा. १६-३)।

१ सामायिक में स्थित जो श्रावक साधु के समान न राग में रहता है और न द्वेष में, किन्तु उन दोनों के मध्य में स्थित (उदासीन) रहता है उसे मध्यस्थ कहा जाता है। ६ जो नय अपने विषय में सत्य (यथार्थ) और इतर पक्ष में निरर्थक होते है उनमें जिसका मन सम स्वभाव वाला होता है—जो पक्षपात से रहित होकर नयविवक्षा के अनुसार अनेक धर्मस्वरूप वस्तु के विवक्षित धर्म को ग्रहण करता है—वह मध्यस्थ कहलाता है।

मध्यस्थ राजा— उदासीनवदनियतमण्डलोऽपरभूपापेक्षया समधिकबलोऽपि कुतश्चित् कारणादन्यस्मिन् नृपतौ विजिगीषुमाणे यो मध्यस्थभावमालम्बते स मध्यस्थः। (नीतिवा. २६–२२, पृ. ३१८)।

जो राजा उदासीन राजा के समान अनियतमण्डल होता हुआ विजयेच्छु राजा से अधिक बलवान् होने पर भी किसी कारण वश विजय की इच्छा रखने वाले राजा के विषय में "यदि मैं एक किसी को सहायता करूंगा तो दूसरा वैरी हो सकता है" इस विचार से मध्यस्थ भाव का आश्रय लेता है वह मध्यस्थ राजा कहलाता है।

मध्वाश्रव—देखो मध्वास्रवी

मध्वाश्रवी—१. मुणिकरणिक्खित्ताणि लुक्खाहारादियाणि होंति खणे। जीए महुररसाइं स च्चिय महुवोसवी रिद्धी॥ अहवा दुक्खप्पहुदी जीए मुणिवयणसवणमेत्तेणं। णासदि णर-तिरियाणं तच्चिय महुवासवी रिद्धी। (ति. प. ४, १०८२–१०८३)। २. येषां पाणिपुटपतित आहारो नीरसोऽपि मधुररस वीर्यपरिणामितां भजते येषां वा वचांसि श्रोतृणां दुःखादितानामपि मधुगुणं पुष्णन्ति ते मध्वास्रविणः। (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०४)। ३. येषां पाणिपुटे पतित आहारो नीरसोऽपि मधुररसवीर्यपरिणामितां भजते येषां वा वचांसि श्रोतृणां दुःखर्दितानामपि मधुरगुणं पुष्णन्ति ते मध्वाऽऽस्राविणः। (चा. सा. पृ. १००)। ४. तथा क्षीर-मधु-सर्पिरमृतास्राविणो येषां पात्रपतितं कदन्नमपि क्षीर-मधु-सर्पिरमृतरस-वीर्यविपाकं जायते, वचनं वा शरीर-मानसदुःखप्राप्तानां देहिनां क्षीरादिवत्सन्तर्पकं भवति ते क्षीरास्रविणो मध्वास्रविणः सर्पिरास्रविणोऽमृतास्रविणश्च। (योगशा. हेम. स्वो. विव. १–८, पृ. ३६)। ५. मध्वपि किमप्यतिशायि शर्करादि मधुरद्रव्य द्रष्टव्यम् × × × मध्विव वचनमाश्रवन्तीति मध्वाश्रवाः। (श्राव. नि. मलय. वृ. ७५, पृ. ८०)। ६. येषां पाणि-पात्रगतमशन नीरसमपि मधुररसपरिणामि भवति वचनानि वा श्रोतृणां मधुरस्वादं जनयन्ति ते मध्वास्राविणः प्रोच्यन्ते। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३६)।

१ जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के हाथों में रखे गये रूखे आहार आदि क्षण भर में मधुर रस युक्त हो जाते हैं उसका नाम मध्वास्रवी ऋद्धि है। अथवा जिसके प्रभाव से मुनि के वचन के सुनने मात्र से मनुष्य-तिर्यञ्चों के दुःख आदि नष्ट हो जाते हैं उसे मध्वास्रवी ऋद्धि जानना चाहिए। ५ जिनके वचन मधु—शक्कर आदि मधुर द्रव्य के समान निकलते हैं उन्हें मध्वाश्रव नाम से कहा जाता है।

मन—देखो अनिन्द्रिय। १. मनश्च मनोवर्गणापरिणतिरूपं द्रव्येन्द्रियम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–६); मनोऽपि मनोवर्गणायोग्यस्कन्धाभिनिर्वृत्तमशेषात्मप्रदेशवृत्तिद्रव्यरूप मनुते साधकतमत्वात् करणमात्मनः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७-८)। २. यतः स्मृतिः प्रत्यवमर्षणमूहापोहनं शिक्षालाप-क्रियाग्रहणं च भवति तन्मनः। (नीतिवा. ६–६)। ३. × × × समस्तशुभाशुभविकल्पातीतपरमात्मद्रव्यविलक्षणं नानाविकल्पजालरूपं मनो भण्यते × × ×। (बृ. द्रव्यसं. टी. १३)। ४. सर्वार्थग्रहणं मनः। (प्रमाणमी. १, १, २४)। ५. तत्र 'बुधी मनी ज्ञाने' मननं मन्यते वाऽनेनेति मनः, औणादिकोऽस् प्रत्ययः। (आव. सू. मलय. वृ. १, पृ. ५५७)। ६. मन्यते चिन्त्यते वस्त्वनेनेति मनः। (शतक. दे.

स्वो. वृ. ७६)।

१ मनोवर्गणा की परिणतिस्वरूप द्रव्य-इन्द्रिय को मन कहते हैं। वह समस्त आत्मप्रदेशों में रहता है तथा पर पदार्थ के प्रकाशन में अतिशय साधक होने से आत्मा का करण है। २ जिसके आश्रय से स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, ऊहापोह और शिक्षालाप क्रिया का ग्रहण होता है उसे मन कहते हैं। ४ जिसकी सहायता से सब अर्थों का ग्रहण होता है—चक्षुरादि इन्द्रियों के समान केवल नियत रूपादि का ही ज्ञान नहीं होता है—उसका नाम मन है।

मनविनय—१. इदाणिं मणविणओ—आयरियाईणं उवरिं अकुसलो मणो निरुंभियव्वो कुसलमण-उदीरणं च कायव्वं। (दशवै. चू. पृ. २७)। २.जं दुप्परिणामाओ मणं णियत्ताविऊण सुहजोए। ठाविज्जइ सो विणओ जिणेहि माणस्सिओ भणिओ॥ (वसु. श्रा. ३२६)।

१ आचार्य आदि के ऊपर—उनके विषय में—अपवित्र मन को रोकना व पवित्र मन को प्रेरित करना, इसका नाम मनविनय है। अभिप्राय यह है कि आचार्य आदि पूज्य पुरुषों के सम्बन्ध में घृणित विचार न करके उत्तम विचार रखना, यह मनविनय कहलाता है। २ मन को दुष्ट परिणामों से हटाकर शुभ योग में जो स्थापित किया जाता है उसे मनविनय या मनोविनय कहा जाता है।

मनशुद्धि—मनःशुद्धिरार्त्त-रौद्रवर्जनम्। (सा. ध. स्वो. टी. ५-४५)।

आर्त और रौद्र ध्यानों के छोड़ने से मनशुद्धि होती है।

मनसंयम—१. मणोसंजमो णाम अकुशलमण-निरोहो कुसलमणउदीरणं वा। (दशवै. चू. पृ. २१)। २. मनःसंयमोऽभिद्रोहाऽभिमानेर्ष्यादिनिवृत्तिः, धर्मध्यानादिषु च प्रवृत्तिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-६)। ३. मनसोऽभिद्रोहाभिमानेर्ष्यादिभ्यो निवृत्तिर्धर्मध्यानादिषु च प्रवृत्तिर्मनःसंयमः। (योगशा. स्वो. विव. ४-९३)। ४ मनसो द्रोहेर्ष्याभिमानादिभ्यो निवृत्तिर्धर्मध्यानादिषु च प्रवृत्तिर्मनःसंयमः। (धर्मसं. मानवि. ४६, पृ. १२६)।

१ अकुशल मन का निरोध करना—अपवित्र विचारों को उत्पन्न न होने देना—तथा पवित्र विचारों को मन में स्थान देना, इसका नाम मन-संयम है। २ द्रोह, अभिमान और ईर्ष्या आदि दुर्गुणों से दूर रह कर धर्मध्यान आदि में प्रवृत्त होना, इसे मनसंयम कहा जाता है।

मनःपर्यय—१. वीर्यान्तराय-मनःपर्ययज्ञानावरण-क्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भादात्मनः परकीय-मनःसम्बन्धेन लब्धवृत्तिरुपयोगो मनःपर्ययः। (स. सि. १-२३)। २. परमनसि स्थितमर्थं मनसा परविद्य मन्त्रिमहितगुणम्। ऋजु-विपुलमतिविकल्पं स्तौमि मनःपर्ययज्ञानम्॥ (वृ. श्रुतभ. २८, पृ. १८१)। ३. मणपज्जवणाणं पुण जणमणपरिचिंतिअत्थपागडणं। माणुसखित्तनिबद्धं गुणपच्चइयं चरित्तवओ। (नन्दी. गा. ५७, पृ. १०२; आव. नि. ७६; धर्मसं. हरि. वृ. ८२६)। ४. तं मण-पज्जवणाणं, जेण वियाणाइ सन्निजीवाणं। दट्ठुं मणिज्जमावे, मणदव्वे माणसं भावं॥ जाणइ य पिहुजणो वि हु फुडमागारेहि माणसं भावं। एमेव य तस्सुवमा मणदव्वपगासिये अत्थे। (बृहत्क. भा. ३५-३६)। ५. पज्जवणं पज्जयणं पज्जाओ वा मणम्मि मणसो वा। तस्स व पज्जायादिन्नाणं मणपज्जवं नाणं॥ (विशेषा. ८३)। ६. परि सव्वतोभावेण गमणं पज्जवणं पज्जवो मणसि मणसो वा पज्जवो २, एस एव णाणं मणपज्जवणाणं, तथा पज्जयणं पज्जयो मणसि मणसो वा पज्जयः मनः-पर्यायः, स एव णाणं मणपज्जवणाणं, तथा आयो पावणं लाभो इत्यनर्थान्तरं, सव्वओ आयो पज्जाओ मणसि मणसो वा पज्जायो मणपज्जायो स एव णाणं मणपज्जवणाणं, मणसि मणसो वा पज्जवा तेसु वा णाणं मणोपज्जवणाणं, तथा मणसि मणसो वा पज्जवा पज्जाया वा तेसिं तेसु वा णाणं मण-पज्जवणाणं—गमणपरावत्तीगो लोगो भेदादयो बहुपरावत्ता। मणपज्जवंमि णाणे निरुत्तवण्णयमेवेति। (नन्दी चू. पृ. ११)। ७. अवनं अवः, अवनं गमनं वेदनमिति पर्यायाः, परिः सर्वतोभावे, पर्यवनं पर्यवः—सर्वतः परिच्छेदनमिति भावः, ××× मनसि ग्राह्ये मनसो वा ग्राह्यस्य सम्बन्धी पर्यवो मनःपर्यवो मनःपर्यवश्चासौ ज्ञानं च मनःपर्यवज्ञानम्, अथवा ××× अयनं अयः, अयनं गमनं वेदन-मिति पर्यायाः, परिः सर्वतोभावे, पर्ययनं पर्ययः सर्वतः परिच्छेदनमिति भावः। ××× मनसि

ग्राह्ये मनसो वा ग्राह्यस्य सम्बन्धी पर्ययो मनःपर्ययः, पुनः समानाधिकरणः, अथवा 'पज्जायोत्ति' इण गतौ आयो लाभः प्राप्तिरिति पर्यायाः, परिः सर्वतोभावे समन्तादायः पर्यायः ××× मनसि ग्राह्ये मनसो वा ग्राह्यस्य सम्बन्धी पर्यायो मनःपर्यायः, मनःपर्यायश्चासौ ज्ञानं च मनःपर्यायज्ञानम्। एवं तावत् समानाधिकरणमङ्गीकृत्योक्तम्, अथ वैयधिकरणमङ्गीकृत्योच्यते—मनःपर्यवाः (पर्यायाः), पर्याया भेदा धर्मा बाह्यवस्त्वालोचनप्रकारा इत्यर्थः, ततश्च 'तस्स वेत्यादि' पच्छद्धं—तस्य वा द्रव्यमनसः सम्बन्धिषु पर्यायादिष्वधिकरणभूतेषु तेषां वा सम्बन्धि, आदिशब्दात् पर्यय-पर्यवयोर्ग्रहः। ज्ञानं परिच्छेदनमिदमनेन चिन्तितमिति मनःपर्यायज्ञानमिति वैयधिकरण्यम्। (विशेषा. भा. को. वृ. ८३)। ८. चिंतियमचिन्तियं वा अद्धं चिन्तिय अणेयभेयगयं। मणपज्जवं त्ति णाणं जं जाणइ तं खु णरलोए॥ (प्रा. पंचसं. १–१२५; धव. पु. १, पृ. ३६० उद्.; गो. जी. ४३८)। ९. चिंताए अचिंताए अद्धंचिन्ताए विविहभेयगयं। जं जाणइ णरलोए तं चिय मणपज्जवं णाणं॥ (ति. प. ४–९७३)। १०. मनः प्रतीत्य प्रतिसंधाय वा ज्ञानं मनःपर्ययः। तदावरणकर्मक्षयोपशमादिद्वितयनिमित्तवशात् परकीयमनोगतार्थज्ञानं मनःपर्ययः। (त. वा. १, ९, ४); मनःसम्बन्धेन लब्धवृत्तिर्मनःपर्ययः। वीर्यान्तराय-मनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभोपष्टम्भादात्मीय-परकीयमनःसम्बन्धेन लब्धवृत्तिरुपयोगो मनःपर्ययः। (त. वा. १, २३, १)। ११. मनसः पर्यायः मनःपर्यायः—जीवादिज्ञेयालोचनप्रकाराः, परगताः मन्यमानमनोद्रव्यधर्मा इत्यर्थः, साक्षात्कारेण तेषु तेषां वा ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्। (त. भा. हरि. वृ. १–९)। १२. अयं भावार्थः—परिः सर्वतोभावे, अवनं अवः, अवनं गमनं वेदनमिति पर्यायाः, परि अवः पर्यवः पर्यवनं वा पर्यव इति, मनसि मनसो वा पर्यवो मनःपर्यव., सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः, स एव ज्ञानं मनःपर्यवज्ञानम्, अथवा मनसः पर्यायाः मनःपर्यायाः, पर्याया भेदा धर्मा बाह्यवस्त्वालोचनप्रकारा इत्यनर्थान्तरम्, तेषु ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्, तेषां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्। (आव. नि. हरि. वृ. १, पृ. ९)। १३. मनःपर्यायज्ञानमित्यत्र परिः सर्वतोभावे, अयनं अयः गमनं वेदनमिति पर्यायाः, परि अयः पर्ययः, पर्ययनं पर्यय इत्यर्थः, मनसि मनसो वा पर्ययो मनःपर्ययः, सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः, स एव ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्, अथवा मनसः पर्याया मनःपर्याया धर्मा बाह्यवस्त्वालोचनादिप्रकारा इत्यनर्थान्तरम्, तेषु ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम् तेषां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्। इदं चार्द्धतृतीयद्वीप-समुद्रान्तर्वर्तिसंज्ञिमनोगतद्रव्यालम्बनमेवेति भावार्थः। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. २५)। १४. मणपज्जवणाणं णाम परमणोगयाइं मुत्तिदव्वाइं तेण मणेण सह पच्चक्खं जाणदि। (धव. पु. १, पृ. ९४); साक्षान्मनः समादाय मानसार्थानां साक्षात्करणं मनःपर्ययज्ञानम्। (धव. पु. १, पृ. ३५८); परकीयमनोगतार्थो मनः, तस्य पर्यायाः विशेषाः मनःपर्यायाः, तान् जानातीति मनःपर्ययज्ञानम्। (धव. पु. ६, पृ. २८); परकीयमनोगतोऽर्थो मनः, मनसः पर्यायाः विशेषाः मनःपर्यायाः, तान् जानातीति मनःपर्ययज्ञानम्। (धव. पु. १३, पृ. २१२); परकीयमनोगतोऽर्थो मनः, परि समन्तात् अयः विशेषः [पर्ययः], मनसः पर्ययः मनःपर्ययः, मनःपर्ययस्य ज्ञानं मनःपर्ययज्ञानम्। (धव. पु. १३, पृ. ३२८)। १५. मनसः पर्ययः मनःपर्ययः, तत्साहचर्याज्ज्ञानमपि मनःपर्ययः, मनःपर्ययश्च सः ज्ञानं च तत् मनःपर्ययज्ञानम्। (जयध. १, पृ. १९ व २०); ××× [चिंतिय-] अद्धचिंतिय-अचिंतियअत्थाणं पणदालीसजोयणलक्खब्भंतरे वट्टमाणाणं जं पच्चक्खेण परिच्छित्ति कुणइ, ओहिणाणादो थोवविसयं पि होदूण संजमाविणाभावित्तणेण गउरवियं तं मणपज्जवं णाम। (जयध. १, पृ. ४३)। १६. यन्मनःपर्ययावारपरिक्षयविशेषतः। ....(?) मनः पर्येति योऽपि वा॥ सः मनःपर्ययो ज्ञेयो मनोन्नार्था मनोगताः। परेषां स्वमनो वापि तदालम्बनमात्रकम्॥ (त. श्लो. १, ९, ६–७); मनः परीत्यानुसन्धाय वाऽयनं मनःपर्यय इति व्युत्पत्तौ बहिरंगनिमित्तकोऽयं मनःपर्ययः। (त. श्लो. १, २३, ६, पृ. २४६)। १७. प्रत्यक्षस्यापि विकलस्यावधि-मनःपर्ययलक्षणस्य मनोऽक्षानपेक्षं स्पष्टात्मार्थग्रहणं स्वरूपम्। (अष्टस-

१–१५, पृ. १३२)। १८. मनो द्विविधं—द्रव्यमनो भावमनश्च, तत्र द्रव्यमनो मनोवर्गणा, भावमनस्तु ता एव वर्गणा जीवेन गृहीताः सत्यो मन्यमानाश्चिन्त्यमाना भावमनोऽभिधीयते। तत्रेह भावमनः परिगृह्यते, तस्य भावमनसः पर्यायास्ते चैवंविधाः—यदा कश्चिदेवं चिन्तयेत् किंस्वभाव आत्मा? ज्ञानस्वभावोऽमूर्तः कर्ता सुखादीनामनुभविता इत्यादयो ज्ञेयविषयाध्यवसायाः परगतास्तेषु यज्ज्ञानं तेषां वा यज्ज्ञानं तन्मनःपर्यायज्ञानम्। तानेव मनःपर्यायान् परमार्थतः समवबुध्यते, बाह्यास्त्वनुमानादेवेत्यसौ तन्मनःपर्यायज्ञानम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–९); मनःपर्यायेषु ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्। ××× तथा ऽऽत्मनो मनोद्रव्यपर्यायान् निमित्तीकृत्य यः प्रतिभासो मनुष्यक्षेत्राभ्यन्तरवृत्तिपल्योपमासंख्येयभागावच्छिन्नपश्चात्पुरःकृतपुद्गलसामान्यविशेषग्राही मनःपर्यायज्ञानसंज्ञः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–७)। १९. परकीयमनःस्वार्थज्ञानमक्षानपेक्षया। स्यान्मनःपर्ययो भेदौ तस्यर्जु-विपुले मती॥ (त. सा. १–२८)। २०. यत्तदावरणक्षयोपशमादेव परमनोगतं मूर्तद्रव्यं विकलं विशेषेणावबुध्यते तन्मनःपर्ययज्ञानम्। (पंचा. का. अमृत. वृ. ४१)। २१. परमणगदाण अत्थं मणेण अवधारिदूण अववोधो। रिजु-विपुलमदिवियप्पो मणपज्जयणाणपच्चक्खो॥ (जं. दी. प. १३–५२)। २२. द्रव्यादिभेदैः प्रत्येकमवगम्यमानर्जुविपुलमतिविकल्पं मनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमकारणं रूपिद्रव्यानन्तभागविषयं मनःपर्ययज्ञानम्। (चा. सा. पृ. ९५)। २३. योऽन्यदीयमनोजातरूपिद्रव्यावबोधकः। मनःपर्ययो द्वेधा विपुलर्जुमती मतः॥ (पंचसं. अमित. १–२२७, पृ. २९)। २४. मनःपर्ययोऽपि संयमैकार्थसमवायी तदावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषनिबन्धनः परमनोगतार्थसाक्षात्कारी प्रत्ययः। (प्रमाणनि. पृ. २९)। २५. मनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशमाच्च स्वकीयमनोऽवलम्बनेन परकीयमनोगतं मूर्तमर्थमेकदेशप्रत्यक्षेण सविकल्पं जानाति तदिह मतिज्ञानपूर्वकं मनःपर्ययज्ञानम्। (बृ. द्रव्यसं. टी. ५)। २६. अर्द्धतृतीयद्वीप-समुद्रान्तर्वर्तिसकलमनोविकल्पग्रहणपरिणतिर्मनःपर्यायज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमादिविशिष्टसामग्रीसमुत्पादिता चक्षुरादिकरणनिरपेक्षस्यात्मनः मनःपर्यायज्ञानमिति वदन्ति विद्वांसः। (सन्मति. अभय. वृ. १० पृ. ६२०)। २७. संज्ञिभिर्जीवैः काययोगेन मनोवर्गणाभ्यो गृहीतानि मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणमितानि (शतक. 'परिणमय्यालम्ब्यमानानि') द्रव्याणि मनांसीत्युच्यन्ते, तेषां मनसां पर्यायाः चिन्तनानुगुणाः परिणामास्तेषु ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्, अथवा यथोक्तस्वरूपाणि मनांसि पर्येति अवगच्छतीति मनःपर्यायम्, ××× तच्च तज्ज्ञानं च मनःपर्यायज्ञानम्। (अनुयो. सू. मल. हेम. वृ. १, पृ. २; शतक. मल. हेम. पृ. ३८, पृ. ४३–४४)। २८. परकीयमनोगतार्थं मन इत्युच्यते, तत् परि समन्तात् अयते इति मनःपर्ययः। (मूला. वृ. १२–१८७)। २९. मनो देशावधेर्ज्ञेयं मध्यमं चिन्तितादिकम्। परैः पर्येति तद्यत्तन्मनःपर्ययबोधनम्। (आचा. सा. ४–५१)। ३०. मनसा गमः परिच्छेदो मनःपर्यायाणामवगम इत्यर्थः। एष च अर्द्धतृतीयद्वीप-समुद्रान्तर्गतसंज्ञिमनोगोचरः। (प्रमाल. वृ. ३, पृ. ७)। ३१. संयमविशुद्धिनिबन्धनाद्विशिष्टावरणविच्छेदाज्जातमनोद्रव्यपर्यायालम्बनं मनःपर्यायज्ञानम्। (प्र. न. त. २–२२)। ३२. मनसि मनसो वा पर्यवः परिच्छेदः, स एव ज्ञानमथवा मनसः पर्यवाः पर्यायाः पार्याया वा विशेषा अवस्था मन पर्यवादयस्तेषां तेषु वा ज्ञानं मनःपर्यवज्ञानमेवमितरत्रापि समयक्षेत्रगतसंज्ञिमन्यमानमनोद्रव्यसाक्षात्कारीति। (स्थानां. अभय. वृ. २, १, ६४, पृ. ४७)। ३३. विशिष्टचारित्रवशेन योऽसौ मनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमस्तस्मादुद्भूत मानुषक्षेत्रवर्तिसंज्ञिजीवगृहीतमनोद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारि यज्ज्ञानं तन्मनःपर्यायज्ञानमित्यर्थः। (रत्नाकरा. २–२२)। ३४. संज्ञिभिर्जीवैः काययोगेन गृहीतानि मनःप्रायोग्यवर्गणापुद्गलद्रव्याणि चिन्तनीयवस्तुचिन्तनव्यापृतेन मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणमय्यावलम्ब्यमानानि मनांसीत्युच्यन्ते, तेषां मनसां पर्यायाश्चिन्तनानुगुणाः परिणामाः, तेषु ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्। अथवाऽऽत्मभिर्वस्तुचिन्तने व्यापारितानि मनांसि पर्येति परिगच्छत्यवैतीति मनःपर्यायम्, ××× तस्य कथंचित् कर्तुरनन्यत्वात् कर्तृत्वम्। कर्ता वाऽऽत्मा यथोक्तानि मनांसि पर्येति अनेनेति मनःपर्यायम्। ××× तत्पुनस्तदावरणक्षयोपशमजो लब्धिविशेषः, तदुपयोगो

वा विषयग्रहणात्मक इति। तच्च तद् ज्ञानं च मनःपर्यायज्ञानम्। (कर्मस्त. गो. वृ. ९–१०, पृ. ८२)। ३५. पर्यवति समन्तादवगच्छतीति पर्यवम्, मनसः पर्यवं मनःपर्यवम्, तच्च तज्ज्ञानं च मनःपर्यवज्ञानम्। (कर्मवि. ग. परमा. व्या. १६)। ३६. परिः सर्वतोभावे, अवनम् अवः, अवनं गमनं वेदनमिति पर्यायाः, परि अवः पर्यवः, पर्यय इति वा पाठः, तत्र पर्ययणं पर्ययो मनसि मनसो वा पर्यवः पर्ययो वा मनःपर्यवः मनःपर्यायो वा, सर्वतस्तत्परिच्छेद इति यावत्। अथवा मनसः पर्यायाः मनःपर्यायाः, पर्याया भेदा धर्मा बाह्यवस्त्वालोचनप्रकारा इत्यनर्थान्तरम्, तेषां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्। (धर्मस. मलय. वृ. ८१६)। ३७. परि सर्वतोभावे, अवनं अवः, ××× अवनं गमनं वेदनमिति पर्यायाः, परि अवः पर्यवः, मनसि मनसो वा पर्यवः मनःपर्यवः, सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः। इदं च मनःपर्यवज्ञानमर्द्धतृतीयद्वीप - समुद्रान्तर्वर्तिसंज्ञिमनोगतद्रव्यालम्बनं मनःपर्यायज्ञानमित्येवमप्येतदभिधीयते, तत्र मनसः पर्याया बाह्यवस्त्वालोचनप्रकारा धर्मा मनःपर्यायाः, तेषु तेषां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानमिति पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराच्च मन इत्युक्तेऽपि मनःपर्यव इति मनःपर्यायज्ञानमिति व्याख्यातम्। (षडशी. मलय. वृ. १५)। ३८. परि सर्वतोभावे, अवनमवः ××× अवनं गमनं वेदनमिति पर्यायाः, परि अवः पर्यवः, मनसि मनसो वा पर्यवो मनःपर्यवः, सर्वतो मनोद्रव्यपरिच्छेद इत्यर्थः। अथवा मनःपर्यय इति पाठः, तत्र पर्ययणं पर्ययः मनसि मनसो वा पर्ययो मनःपर्ययः—सर्वतस्तत्परिच्छेद इति, स चासौ ज्ञानं च मनःपर्यवज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं वा। मणपज्जवणाणमिति पाठेऽपि मनःपर्यायज्ञानमिति शब्दसंस्कारमाचक्षते। तत्रैवं व्युत्पत्तिः—मनांसि मनोद्रव्याणि, पर्येति सर्वात्मना परिच्छिनत्ति मनःपर्यायम्, ××× मनःपर्यायं च तज्ज्ञानं च मनःपर्यायज्ञानम्। यदि वा मनसः पर्यायाः मनःपर्यायाः, पर्याया भेदा धर्मा बाह्यवस्त्वालोचनप्रकारा इत्यर्थः, तेषु तेषां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्ययज्ञानम्। इदं चार्द्धतृतीयद्वीप समुद्रान्तर्वर्तिसंज्ञिमनोगतद्रव्यालम्बनमेव। (आव. नि. १, मलय. वृ. पृ. १६)। ३९. परिः सर्वतोभावे, अवनं अवः ××× अवनं गमनं वेदनमिति पर्यायाः, परि अवः पर्यवः, मनसि मनसो वा पर्यवः मनःपर्यवः, सर्वतो मनोद्रव्यपरिच्छेद इत्यर्थः, अथवा मनःपर्यय इति पाठः, तत्र पर्ययणं पर्ययः, मनसि मनसो वा पर्ययो मनःपर्ययः, सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः, स चासौ ज्ञानं च मनःपर्ययज्ञानम्। अथवा मनःपर्यायज्ञानमिति पाठः—ततः मनांसि मनोद्रव्याणि पर्येति सर्वात्मना परिच्छिनत्ति मनःपर्यायम्, ××× मनःपर्यायं च तज्ज्ञानं च मनःपर्याय(यज्ञानम्), यद्वा मनसः पर्यायाः मनःपर्यायाः, पर्याया भेदा धर्मा बाह्यवस्त्वालोचनप्रकाराः, तेषु तेषां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्। (नन्दी. सू. मलय. वृ. १, पृ. ६५–६६)। ४०. परि सर्वतोभावे, अवनं अवः, ××× अवनं गमनं वेदनमिति पर्यायाः, परि अवः पर्यवः, मनसि मनसो वा पर्यवः, सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः, मनःपर्यवश्च स ज्ञानं च मनःपर्यवज्ञानम्, इदं चार्द्धतृतीयद्वीप-समुद्रान्तर्वर्तिसंज्ञिमनोगतद्रव्यालम्बनमवसेयम्। मनःपर्यायज्ञानमित्येवमप्येतदुच्यते, तत्र मनसः पर्यायाः बाह्यवस्त्वालोचनप्रकारा धर्मा मनःपर्यायाः, तेषु तेषां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्। (सप्तति. मलय. वृ. ६)। ४१. परि सर्वतोभावे, अवनं अवः 'तुदादिभ्योऽनर्कावित्यधिकारे अकितो च' इत्यनेन ऊणादिकोऽकार-प्रत्ययः, अवन गमनं वेदनमिति पर्यायाः। परि अवः पर्यवः, मनसि मनसो वा पर्यवः मनःपर्यवः, सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः। पाठान्तरं वा पर्यय इति—तत्र पर्ययणं पर्ययः 'भावे अल्प्रत्ययः' मनसि मनसो वा पर्ययः मनःपर्ययः, सर्वतस्तत्परिच्छेदः, स चासौ ज्ञानं च मनःपर्यवज्ञान मनःपर्ययज्ञानं वा। अथवा मनांसि पर्येति सर्वात्मना तानि परिच्छिनत्तीति मनःपर्यायम् 'कर्मणोऽणिति अण्प्रत्ययः' मनःपर्यायं च तद् ज्ञानं च मनःपर्यायज्ञानम्। यद्वा मनसः पर्याया मनःपर्यायाः, पर्याया धर्मा बाह्यवस्त्वालोचनप्रकारा इत्यप्यनर्थान्तरम्, तेषु तेषां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्। इदं चार्द्धतृतीयद्वीप-समुद्रान्तर्वर्तिसंज्ञिमनोगतद्रव्यालम्बनम्। (पंचसं. मलय. वृ. १–१, पृ. ७)। ४२. तथा परि सर्वतोभावे, अवनं अवः, ××× अवनं गमनमिति पर्यायः परि अवः पर्यवः, मनसि मनसो वा पर्यवो मनःपर्यवः, सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः। पाठान्तरं पर्यय इति—तत्र पर्ययणं पर्ययः ×××

मनसि मनसो वा पर्ययः मनःपर्ययः, सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थ, स चासौ ज्ञानं च मनःपर्यवज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं वा, अथवा मनःपर्यायेति पाठान्तरम्—तत्र मनांसि पर्येति सर्वात्मना परिच्छिनत्ति मनःपर्यायि × × × मनःपर्यायि च तत् ज्ञानं मनःपर्यायिज्ञानम्, यदि वा मनसः पर्यायाः मनःपर्यायाः, पर्याया धर्मा बाह्यवस्त्वालोचनप्रकारा इत्यनर्थान्तरम्, तेषु तेषां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्, इदं चार्द्धतृतीयद्वीप-समुद्रान्तर्वर्तिसंज्ञिमनोगतद्रव्यालम्बनम् । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३१२, पृ. ५२७)। ४३. परमनोगतोऽर्थो मन इत्युच्यते, तस्य परिस्फुटमयनं परिच्छेदनं मनःपर्ययः। तल्लक्षणं यथा—स्वमनः परीत्य यत्परमनोऽनुसंधाय वा परमनोऽर्थम् । विशदमनोवृत्तिरात्मा वेत्ति मनःपर्ययः स मतः॥ तत्स्वरूपविशेषशास्त्रं त्विदम्—चिन्तिताचिन्तिताद्धादिचिन्तिताद्यर्थवेदकम् । स्यान्मनःपर्ययज्ञानं चिन्तकश्च नृलोकगः। (अन. ध. स्वो. टी. ३–४)। ४४. तथा संज्ञिभिर्जीवैः काययोगेन मनोवर्गणाभ्यो गृहीतानि मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्यमानानि द्रव्याणि मनांसीत्युच्यन्ते, तेषां पर्यायाः—चिन्तानुगुणाः परिणामास्तेषु ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्, इदं चार्द्धतृतीयसमुद्रान्तर्वर्तिसंज्ञिमनोगतद्रव्यालम्बनम्। (प्रव. सारो. वृ. १२५१)। ४५. परिः सर्वतोभावे, अवनम् अवः, × × × अवनं गमनं वेदनमिति पर्यायाः, परि अवः पर्यवः, मनसि मनसो वा पर्यवो मनःपर्यवः—सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः, मनःपर्यवश्च स ज्ञानं च मनःपर्यवज्ञानम्, यद्वा मनःपर्यायज्ञानम्—तत्र संज्ञिभिर्जीवैः काययोगेन गृहीतानि मनःप्रायोग्यवर्गणाद्रव्याणि चिन्तनीयवस्तुचिन्तनव्यापृतेन मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणामय्यालम्ब्यमानानि मनांसीत्युच्यन्ते, तेषां मनसां पर्यायाश्चिन्तनानुगताः परिणामा मनःपर्यायाः, तेषु तेषां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्, यद्वा आत्मभिर्वस्तुचिन्तने व्यापारितानि मनांसि पर्येति अवगच्छतीति मनःपर्यायम् × × × मनःपर्यायं च तज्ज्ञानं च मनःपर्यायज्ञानम्। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ४; षडशी. दे. स्वो. वृ. ११)। ४६. मनःपर्ययज्ञानावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमसमुत्थं परमनोगतार्थविषयं मनःपर्ययज्ञानम्। (न्यायदी. पृ. ३४–३५)। ४७. परि सर्वतोभावे, अवनं अवः गमनं वेदनं वा, ततः पर्यवः, मनसि मनसो वा पर्यवः, स एव ज्ञानं मनःपर्यवज्ञानं मनुष्यक्षेत्रवर्तिसंज्ञिपंचेन्द्रियद्रव्यमनोगतभावविज्ञानविषयम्। तच्च ऋद्धिप्राप्ताप्रमत्तसंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्त-संख्यातायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याणामेव सम्भवि, नैतद्विपरीतानामिति । (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. ३३)। ४८. परकीयमनसि स्थितोऽर्थः साहचर्यान्मन इत्युच्यते, तस्य पर्ययणं परिगमनं परिज्ञानं मनःपर्ययः। (त. वृत्ति श्रुत. १–९); वीर्यान्तराय-मनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भात् आत्मनः परकीयमनोलब्धिवृत्तिरुपयोगो मनःपर्यय उच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. १–२३)। ४९. मनस्त्वेन परिणतद्रव्याणां यस्तु पर्यवः। परिच्छेदस्स हि मनःपर्यवज्ञानमुच्यते॥ यद्वा—मनोद्रव्यपर्याया नानावस्थात्मका हि ये। तेषां ज्ञानं खलु मनःपर्यायज्ञानमुच्यते। (लोकप्र. ३, ८४९ व ८५०)। ५०. प्रत्यक्षस्यापि विकलस्यावधि-मनःपर्ययलक्षणस्येन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षत्वे सति स्पष्टतया स्वार्थव्यवसायात्मकत्वं स्वरूपम्। (सप्तभं. पृ. ४७)। ५१. मनःपर्यायज्ञान सार्द्धद्वी-[द्वय-]द्वीप-समुद्रस्थितसंज्ञिपंचेन्द्रियमनोविषयं द्विभेदं ऋजुमति-विपुलमतिरूपम्। (दण्डकप्र. टी. ४, पृ. ३)। ५२. मनःपर्ययज्ञान मनसा परमनसि स्थितं पदार्थं पर्येति जानाति इति मनःपर्ययम्, तच्च तज्ज्ञानं च मनःपर्ययज्ञानं वा परकीयमनसि स्थितोऽर्थः साहचर्यान्मनः इत्युच्यते, तस्य मनसः पर्ययणं परिगमनं परिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं क्षायोपशमिकम्। (कार्तिके. टी. २५७)। ५३. मनोमात्रसाक्षात्कारि मनःपर्यवज्ञानम्, मनःपर्यायानिदं साक्षात्परिच्छेत्तुमलम्, बाह्यानर्थान् पुनस्तदन्यथाऽनुपपत्त्याऽनुमानेनैव परिच्छिनत्तीति द्रष्टव्यम्। (जैनत. पृ. ११८)।

१ वीर्यान्तराय और मनःपर्ययज्ञानावरण के क्षयोपशम तथा अंगोपांगनामकर्म के लाभ के बल से आत्मा के जो दूसरे के मन के सम्बन्ध से उपयोग उत्पन्न होता है वह मनःपर्ययज्ञान कहलाता है। ३ जो जीवों के द्वारा मन से चिन्तित अर्थ को प्रगट किया करता है उसे मनःपर्यव, मनःपर्यय अथवा मनःपर्याय ज्ञान कहते हैं। उसका सम्बन्ध मनुष्यक्षेत्र से है, अर्थात् वह मनुष्यलोक में अवस्थित संज्ञी जीवों के मन से चिन्तित अर्थ को ही जानता

है, मनुष्यलोक के बाहिर स्थित जीवों के चिन्तित अर्थ को नहीं जानता। वह चारित्रयुक्त संयत के क्षान्ति आदि गुणों के निमित्त से उत्पन्न होता है। ४ जिस ज्ञान के द्वारा जीव संज्ञी जीवों के मन्यमान —मन के द्वारा व्यापार्यमाण—मन द्रव्यों को देखकर उनके मनोगत भाव को जानता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहा जाता है। इसके लिए यह उदाहरण दिया जाता है कि जिस प्रकार व्यवहारी जन आकार के द्वारा—शरीर की चेष्टा को देखकर—स्पष्टतया लोगों के मनोगत भाव को जान लिया करते हैं उसी प्रकार मन.पर्ययज्ञान भी मन द्रव्य से प्रकाशित अर्थ को जानता है। ५ मन में अथवा मन सम्बन्धी पर्यव, पर्यय अथवा पर्यायरूप ज्ञान को मनःपर्यव मनःपर्यय, अथवा मनःपर्याय ज्ञान कहते हैं।

मनःपर्ययज्ञानावरण—देखो मनःपर्यवज्ञानावरणीय।

मनःपर्ययज्ञानावरणीय—१. मणपज्जवणाणस्स आवरणं मणपज्जवणाणावरणीयम्। (धव. पु. ६, पृ. २९); तस्स (मणपज्जवणाणस्स) आवरणीयं मणपज्जवणाणावरणीयम्। (धव. पु. १३, पृ. ३२८)। २. तस्या-(मनःपर्यायज्ञानस्या-)वरण देशघाति-मनःपर्यायज्ञानावरणम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-७)। ३. रिउमइ-विउलमईहिं, मणपज्जवनाणवण्णणं समए। तं आवरियं जेणं, तंपि हु मणपज्जवावरणं॥ (कर्मवि. ग. १६)। ४. तदेवमेतयोर्द्वयोरपि मनःपर्यायज्ञानभेदयोर्यदावरणस्वभावं कर्म तन्मनःपर्यायज्ञानावरणम्। (शतक. मल. हेम. वृ. ३८)। ५. तद् (मनःपर्यवज्ञानम्) आवृतं येन कर्मणा तज्जानीहि मनःपर्यवज्ञानावरणम्। (कर्मवि. परमा. व्या. १६, पृ. ११)।

१ मनःपर्ययज्ञान के आवारक कर्म को मनःपर्ययज्ञानावरण कहते हैं। ४ जो कर्म मनःपर्यायज्ञान के भेदभूत ऋजुमतिमनःपर्याय और विपुलमतिमनःपर्याय इन ज्ञानों का स्वभावतः आवरण करता है उसका नाम मनःपर्यायज्ञानावरण है।

मनःपर्यव—देखो मनःपर्ययज्ञान।

मनःपर्याप्ति—१. मनस्त्वयोग्यद्रव्यग्रहण-निसर्गशक्तिनिर्वर्तनक्रियासमाप्तिर्मनःपर्याप्तिरित्येके। (त. भा. ८-१२)। २. मणजोग्गे पोग्गले घेत्तूण मणत्ताए परिणामण-णिसिरणसत्ती मणपज्जत्ति। (नन्दी. चू. पृ. १५)। ३. मनस्त्वयोग्यद्रव्यग्रहण-निसर्गशक्तिनिर्वर्तनक्रियापरिसमाप्तिर्मनःपर्याप्तिरित्येके। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ४४)। ४. मनोवर्गणास्कन्धनिष्पन्नपुद्गलप्रचयः अनुभूतार्थस्मरणशक्तिनिमित्तः मनःपर्याप्तिः। द्रव्यमनोऽवष्टम्भेनानुभूतार्थस्मरणशक्तेरुत्पत्तिर्मनःपर्याप्तिर्वा। (धव. पु. १, पृ. २५५)। ५. मनस्त्वयोग्यानि मनोवर्गणायोग्यानि मनःपरिणामप्रत्ययानि यानि द्रव्याणि, तेषां ग्रहणनिसर्गसामर्थ्यस्य निर्वर्तनक्रियापरिसमाप्तिर्मनःपर्याप्तिरिति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-१२)। ६ मनःपर्याप्तिर्मनोयोग्यान् पुद्गलान् गृहीत्वा मनस्तया परिणमय्य मनोयोग्यतया निसर्जनशक्तिरिति। (स्थाना. अभय. वृ. २, १, ७३)। ७. यया तु मनःप्रायोग्यवर्गणाद्रव्यमादाय मनस्त्वेन परिणमय्य मुञ्चति सा शक्तिर्मनःपर्याप्तिः। यदुक्तम्—आहारसरीरिंदिय-ऊसास-वओमणोभिनिव्वत्ति। होइ जओ दलियाउ करण पई सा उ पज्जत्ती॥ (शतक. मल. हेम. वृ. ३८)। ८. मनोवर्गणाभिनिष्पन्नद्रव्यमनोऽवष्टम्भभेदानुभूतार्थस्मरणशक्तेरुत्पत्तिर्मनःपर्याप्तिः। (मूला. वृ. १२-१६६)। ९. यया पुनर्मनःप्रायोग्यवर्गणादिदलिकमादाय मनस्त्वेन परिणमय्यालम्ब्य च मुञ्चति सा मनःपर्याप्तिः। (जीवाजी. मलय. वृ. १२; नन्दी. सू. मलय. वृ. १३; सप्तति. मलय. वृ. ६; पंचसं. मलय. वृ. १-५; षडशी. मलय. वृ. ३; कर्मस्त. गो. वृ. १०; प्रव. सारो. वृ. १२५१; कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ४८; षडशी. दे. स्वो. वृ. २)। १०. यया पुनर्मनःप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय मनस्त्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा मनःपर्याप्तिः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १-१२)। ११. यया पुनर्मनःप्रायोग्याणि दलिकान्यादाय मनस्त्वेन वा परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा मनःपर्याप्तिः। (बृहत्क. भा. क्षे. वृ. १११२)। १२. मनोवर्गणायातपुद्गलस्कन्धान् द्रव्यमनोरूपेण परिणमयितुं गुण-दोषविचार-दृष्टाद्यर्थस्मरणादिविशिष्टस्य आत्मनः पर्याप्त्याङ्गोपाङ्गनामकर्मद्वयोदयजनिता शक्तिनिष्पत्तिर्मनःपर्याप्तिः। (गो. जी. मं. प्र. ११९)। १३. मनोवर्गणायातपुद्गलस्कन्धान् अङ्गोपाङ्गनामकर्मोदयबलाधानेन द्रव्यमनोरूपेण परिणमयितुं तद्द्रव्यमनोबलाधानेन नोइन्द्रियावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषेण गुण-दोषविचारा-

नुस्मरणप्रणिधानलक्षणभावमनःपरिणमनशक्तिनिष्पत्तिर्मनःपर्याप्तिः । (गो. जी. जी. प्र. ११९; कार्तिके. टी. १३४) । १४. येन कारणेन चतुर्विधमनोयोग्यद्रव्याणि गृहीत्वा मनसः मननसमर्थः स्यात्तस्य करणस्य निष्पत्तिर्मनःपर्याप्तिः । (भगवती. दा. वृ. ६, ४, ६२) । १५. यया मनोवर्गणादलिकमादाय मनस्त्वेन परिणमय्यालम्ब्य च मनःसमर्थो भवति सा मनःपर्याप्तिः । (विचारस. ४३) । १६. दलं लात्वा मनोयोग्यं तत्तां नीत्वाऽवलम्ब्य च । यया मननशक्तः स्यान्मनःपर्याप्तिरत्र सा । (लोकप्र. ३-३०) ।

१ मनरूप होने के योग्य द्रव्य के ग्रहण और त्याग की शक्ति जिस क्रिया से निर्मित होती है उसकी समाप्ति का नाम मनःपर्याप्ति है, ऐसा किन्हीं का मत है । ४ अनुभूत पदार्थों के स्मरण की शक्ति का निमित्तभूत जो मनोवर्गणा के स्कन्धों से पुद्गलसमूह उत्पन्न होता है उसे मनःपर्याप्ति कहते हैं । अथवा द्रव्य मन के आलम्बन से जो अनुभूत पदार्थों के स्मरण की शक्ति उत्पन्न होती है उसे मनःपर्याप्ति जानना चाहिए ।

मनःपर्यायज्ञान—देखो मनःपर्ययज्ञान ।

मनःपर्यायज्ञानलब्धि—मनःपर्यायज्ञानलब्धिर्मनोद्रव्यप्रत्यक्षीकरणशक्तिः । (योगशा. स्वो. विव. १-९) ।

मन द्रव्य के साक्षात्कार करने की जो शक्ति है उसे मनःपर्यायज्ञानलब्धि कहा जाता है ।

मनःपर्यायज्ञानावरण — देखो मनःपर्ययज्ञानावरण ।

मनःप्रणिधान—देखो नोइन्द्रियप्रणिधि । णोइंदियपणिधाणं कोहे माणे तदेव मायाए । लोहे य णोकसाए मणपणिधाणं तु तं वज्जे । (मूला. ५, १०३) ।

क्रोध, मान, माया और लोभ तथा नोकषाय के विषय में जो मन की प्रवृत्ति होती है उसे नोइन्द्रियप्रणिधान या मनःप्रणिधान कहते हैं ।

मनःप्रदुष्टवन्दन— देखो मनोदुष्टदोष । १. मनःप्रद्वेषोऽनेकोत्थानः—अनेकनिमित्तो भवति, स च सर्वोऽपि आत्मप्रत्ययेन परप्रत्ययेन वा स्यात्, तत्रात्मप्रत्ययेन यदा शिष्य एव गुरुणा किञ्चित् परुषमभिहितो भवतीति, परप्रत्ययेन तु यदा तस्यैव शिष्यस्य सम्बन्धिनः सुहृदादेः सम्मुखं सूरिणा किमप्यप्रियमुक्तं भवतीत्येवंप्रकारैरन्यैरपि स्व-परप्रत्ययैः कारणान्तरैर्मनसः प्रद्वेषो भवति यत्र तन्मनसा प्रदुष्टमुच्यते । (आव. हरि. वृ. मल हेम. टि, पृ. ८८; प्रव. सारो. वृ. १६०) । २. मनसा प्रदुष्टम् —शिष्यस्तत्सम्बन्धी वा गुरुणा किञ्चित् परुषमभिहितो यदा भवति तदा मनसो दूषितत्वाद् मनसा प्रदुष्टम्, यद्वा वन्द्यो हीनः केनचिद् गुणेन ततोऽहमेवंविधेनापि वन्दनं दापयितुमारब्ध इति चिन्तयतो वन्दनम् । (योगशा. स्वो. विव. ३, १३०) ।

१ मनःप्रद्वेष अनेक निमित्तों से उत्पन्न होता है । वह सब ही आत्मप्रत्यय से व परप्रत्यय से होता है । आत्मप्रत्यय से जैसे—जब गुरु ने केवल शिष्य से कुछ कठोर वचन कहे, परप्रत्यय जैसे—उसी शिष्य के सम्बन्धी मित्र आदि के समक्ष जब गुरु ने कुछ कठोर वचन कहा, इत्यादि प्रकारों से तथा अन्य कारणों से भी जो शिष्य के मन में द्वेष होता है उसे मनःप्रदुष्ट कहते हैं ।

मनु—देखो कुलकर । १. जादिभरणेण केई भोगमणुस्साण जीवणोवायं । भासंति जेण तेणं मणुणो भणिदा मुणिदेहिं ॥ (ति. प. ४-५०८)। २. आद्यसंस्थान-संघात-गम्भीरोदारमूर्तयः । स्वपूर्वभवविज्ञाना मनवस्ते चतुर्दश । (ह. पु. ७-१७३) ।

१ कोई जातिस्मरण के द्वारा भोगभूमि के मनुष्यों को आजीविका का उपाय बतलाते हैं, इससे उन्हें मनु कहा गया है ।

मनुज—मानुषीसु मैथुनसेवकाः मनुजा नाम । (धव. पु. १३, पृ. ३९१) ।

जो मनुष्यनियों में मैथुन सेवन किया करते हैं उनका नाम मनुज है ।

मनुष्यगतिनाम—१. अशेषमनुष्यपर्यायनिष्पादिका मनुष्यगतिः । अथवा मनुष्यगतिकर्मोदयापादितमनुष्यपर्यायकलापः कार्ये कारणोपचारान्मनुष्यगतिः । अथवा मनसा निपुणाः मनसा उत्कटा इति वा मनुष्याः, तेषां गतिः मनुष्यगतिः । (धव. पु. १, पृ. २०२-३); जस्स कम्मस्स उदएण मणुयभावो जीवाणं होदि, तं कम्मं मणुसगदि त्ति उच्चदि. कारणे कज्जुवयारादो । (धव. पु. ६, पृ. ६७); जं णिरय-तिरिक्ख-मणुस्स-देवाणं णिव्वत्तयं तं

गदिणामं (जं मणुस्सणिव्वत्तयं कम्मं तं मणुस्सगदिणामं। (धव. पु. १३, पृ. ३६३)। २. यदुदयाज्जीवो मनुष्यभावस्तन्मनुष्यगतिनाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८-११)।

१ जो कर्म मनुष्य की सब अवस्थाओं की उत्पत्ति का कारण है वह मनुष्यगतिनामकर्म कहलाता है।

मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वीनाम—एवं सेसआणुपुव्वीणं पि अत्थो वत्तव्वो (जस्स कम्मस्स उदएण मणुसगइं गयस्स जीवस्स विग्गहगईए वट्टमाणयस्स मणुसगइपाओग्गसंठाणं होदि तं मणुसगदिपाओग्गाणुपुव्वीणामं)। (धव. पु. ६, पृ. ७६)।

जिस कर्म के उदय से मनुष्यगति को प्राप्त जीव के विग्रहगति में वर्तमान होने पर मनुष्यगति के योग्य आकार रहता है उसे मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वीनामकर्म कहते हैं।

मनुष्यभाविजीव—गत्यन्तरे जीवो व्यवस्थितो मनुष्यभवप्राप्तिं प्रत्यभिमुखो मनुष्यभाविजीवः। (स. सि. १-५)।

जो जीव गत्यन्तर में स्थित रहकर मनुष्यभव की प्राप्ति के उन्मुख होता है उसे मनुष्यभावी जीव कहा जाता है।

मनुष्यलोक—१. तसणालीबहुमज्झे चित्ताय खिदीय उवरिमे भागे। अइवट्टो मणुवजगो जोयणपणदाललक्खविक्खंभो॥ (ति. प. ४-६)। २. मणुसलोगपमाणं पणदालीसजोयणसदसहस्सविक्खंभ जोयणसदसहस्सुस्सेधम्। (धव. पु. ४, पृ. ४२); पणदालीसजोयणलक्खघणो मणुवलोगो। (धव. पु. १३, पृ. ३०७)।

१ त्रसनाली के ठीक बीच में चित्रा पृथिवी के उपरिम भाग में पैंतालीस लाख योजन विस्तार वाला गोल मनुष्यलोक है।

मनुष्यायु—१. शारीर-मानससुख-दुःखभूयिष्ठेषु मनुष्येषु जन्मोदयात् मनुष्यायुषः। शारीरेण मानसेन च सुख-दुःखेन समाकुलेषु मनुष्येषु यस्योदयाज्जन्म भवति तन्मानुषमायुरवसेयम्। (त. वा. ८, १०, ७)। २. एवं मणुस-देवाउआणं पि वत्तव्वं (जेसिं कम्मक्खंधाणमुदएण जीवस्स उड्ढगमणसहावस्स मणुसभवम्मि अवट्ठाणं होदि तेसिं मणुस्साउअमिदि सण्णा)। (धव. पु. ६, पृ. ४९); जं कम्मं मणुस्सभवं धारेदि तं मणुसाउअं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६२)। ३. शारीर-मानस-सुख-दुःखभूयिष्ठेषु मनुष्येषु जन्मोदयान्मानुष्यायुषः। (त. श्लो. ८-१०)। ४. यत्प्रत्ययान्मनुष्येषु जीवति जीवः तत् मानुषमायुः। (त. वृत्ति श्रुत. ८-१०)।

१ जिस कर्म के उदय से प्रचुर शारीरिक एवं मानसिक दुःखों से युक्त मनुष्यों में जन्म होता है उसे मनुष्यायु कर्म कहते हैं।

मनोगुप्ति—१. जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणीहि तम्मणोगुत्ती। (नि. सा. ६९; मूला. ५-१३५; भ. आ. ११८७)। २. सावद्यसंकल्पनिरोधः कुशलसंकल्पः कुशलाकुशलसंकल्पनिरोध एव वा मनोगुप्तिः। (त. भा. ९-४)। ३. मनसो गुप्तिः मनोगुप्तिः मनसो रक्षणमार्तरौद्रध्यानाप्रचारः धर्मध्याने चोपयोगो मनोगुप्तिः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ७-३); तत्र राग-द्वेषपरिणतेरार्त-रौद्राध्यवसायात् मनो निवर्त्य निराकृतैहिकामुष्मिकविषयाभिलाषस्य मनोगुप्तत्वादेव न रागादिप्रत्ययं कर्मास्तिोष्यति। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ९-२); अवद्यं गर्हितं पापम्, सहावद्येन सावद्यः, सकल्पः चिन्तनमालोचनमार्त्त-रौद्रध्यायित्वं चलचित्ततया वा यदवद्यवच्चिन्तयति तस्य निरोधः अकरणमप्रवृत्तिर्मनोगुप्तिः। तथा च कुशलसंकल्पानुष्ठानं सरागसंयमादिलक्षणम् येन धर्मोऽनुबध्यते, यावान् वा ऽध्यवसायः कर्मोच्छेदाय यतते सोऽपि सर्वः कुशलसङ्कल्पो मनोगुप्तिः। अथवा न कुशले सरागसंयमादौ प्रवृत्तिः, नाप्यकुशले संसारहेतौ, योगनिरोधावस्थायामभावादेव मनसोगुप्तिः मनोगुप्तिः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ९-४); दोषेभ्यो वा हिंसादिभ्यो विरतिर्मनोगुप्तिः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ ९-४ उद्.)। ४. राग-कोपाभ्याम् अनुपप्लुता नोइन्द्रियमतिः मनोगुप्तिरिति ××× अथवा राग-द्वेष-मिथ्यात्वाद्यशुभपरिणामविरहो मनोगुप्तिः सामान्यभूता, इन्द्रिय-कषायाप्रणिधानं तद्विशेषः। (भ. आ. विजयो. ११५); ××× तेन मनसस्तत्त्वावग्राहिणो रागादिभिरसहचारिता या सा मनोगुप्तिः। मनोग्रहणं ज्ञानोपलक्षणम्, तेन सर्वो बोधो निरस्तरागद्वेषकलंको मनोगुप्तिः। ××× अथवा मनःशब्देन मनुते य आत्मा स एव भण्यते, तस्य रागादिभ्यो या निवृत्तिः राग-द्वेषरूपेण या अपरिणतिः

सा मनोगुप्तिरित्युच्यते । अथवं ब्रूपे सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः इष्टफलमनपेक्ष्य योगस्य वीर्यपरिणामस्य निग्रहो रागादिकार्यकरणनिरोधो मनोगुप्तिः । (भ. आ. विजयो. ११८७) । ५. सम्यग्दण्डो वपुषः सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य । मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तित्रितयं समनुगम्यम् । (पु. सि. २०२) । ६. विहाय सर्वसंकल्पान् राग-द्वेषावलम्बितान् । स्वाधीनं कुरुते चेतः समत्वे सुप्रतिष्ठितम् ॥ सिद्धान्तसूत्रविन्यासो शश्वत्प्रेरयतोऽथवा । भवत्यविकला नाम मनोगुप्तिर्मनीषिणः ॥ (ज्ञाना. १८, १५-१६, पृ. १९०) । ७. मनःपंचेन्द्रियैर्भेन्द्रस्वैरचारनिवारिणी । स्वगोचरे मनोगुप्तिर्ज्ञान-ध्यानरता मतिः । (आचा. सा. ५-१३८) । ८. विमुक्तकल्पनाजालं समत्वे सुप्रतिष्ठितम् । आत्मारामं मनस्तज्ज्ञैर्मनोगुप्तिरुदाहृता ॥ (योगशा. १-४१) । ९. रागादित्यागरूपामुत समयसमभ्याससद्ध्यानभूताम्, चेतोगुप्ति ××× । (अन. ध. ४-१५६) । १०. मणस्य नोइन्द्रियज्ञानलक्षणस्य मनस्तत्त्वावग्राहिणो जा रागादिणियत्ती—राग-द्वेषादिभिरात्मपरिणामैरसहचरिता सा मनोगुप्तिः । मनोग्रहणं ज्ञानोपलक्षणम्, तेन सर्वो बोधो निरस्तरागादि-कलङ्को मनोगुप्तिः स्यात्, अथवा मनुते विचारयति हेयमुपादेयं च तत्त्वं योऽसावात्मात्र मनःशब्देनोच्यते, तस्य रागादिरूपेणापरिणतिर्मनोगुप्तिरिति ग्राह्यम् । (भ. आ. मूला. ११८७) । ११. कल्पनाजालनिर्मुक्तं समभावेन पावनम् । मुनीनां यन्मनःस्थैर्यं मनोगुप्तिर्भवत्यसौ ॥ (लोकप्र. ३०-७४६) ।

१ मन से रागादि का हट जाना, इसका नाम मनोगुप्ति है । २ पापपूर्ण आर्त्त-रौद्रादि स्वरूप संकल्प (चिन्तन) को रोकना, सरागसंयमादिरूप कुशल संकल्प का अनुष्ठान करना, अथवा कुशल व अकुशल दोनों ही प्रकार के संकल्प का निरोध करना, इसे मनोगुप्ति कहते हैं ।

मनोगुप्ति-अतिचार—रागादिसहिता स्वाध्याये वृत्तिर्मनोगुप्तिरतिचारः । (भ. आ. विजयो. १६)। रागादि के साथ जो स्वाध्याय में प्रवृत्ति होती है, यह मनोगुप्ति का अतिचार है ।

मनोज्ञ (वर्णादि)—मनसा ज्ञायन्ते अनुकूलतया स्वप्रवृत्तिविषयीक्रियन्त इति मनोज्ञाः मनोऽनुकूलाः । (जीवाजी. मलय. वृ. १२६, पृ. १९०) ।

जो वर्ण-गन्धादि अनुकूल होने के कारण अपनी प्रवृत्ति के विषय किए जाते हैं वे मनोज्ञ कहलाते हैं । यह प्रसंगप्राप्त मणियों के वर्णादि का विशेषण मात्र है ।

मनोज्ञ (साधुविशेष)—१. मनोज्ञो लोकसम्मतः । (स. सि. ९-२४)। २. मनोज्ञोऽभिरूपः । अभिरूपो मनोज्ञ इत्यभिधीयते । (त. वा. ९, २४, १२) । ३. मनोज्ञोऽभिरूपः, सम्मतो वा लोकस्य विद्वत्त्व-वक्तृत्व-महाकुलत्वादिभिः, असंयतसम्यग्दृष्टिर्वा । (त. श्लो. ९-२४)। ४. अभिरूपो मनोज्ञः, आचार्याणां सम्मतो वा दीक्षाभिमुखो वा मनोज्ञः, अथवा विद्वान् वाग्मी महाकुलीन इति यो लोकस्य सम्मतः स मनोज्ञस्तस्य ग्रहणं प्रवचनस्य लोके गौरवोत्पादनहेतुत्वादसंयतसम्यग्दृष्टिर्वा संस्कारोपेतरूपत्वान्मनोज्ञः । (चा. सा. पृ. ६७)। ५. शिष्टसम्मतो विद्वत्त्व-वक्तृत्व-महाकुशलत्वादिभिर्मनोज्ञः प्रत्येतव्योऽसंयतसम्यग्दृष्टिर्वा । (त. सुखबो. वृ. ९-२४) । ६. वक्तृत्वादिगुणविराजितो लोकाभिसम्मतो विद्वान् मुनिर्मनोज्ञ उच्यते । (त. वृत्ति श्रुत. ९-२४) ।

१. जो जनसमुदाय को सम्मत (अभीष्ट) होता है। उसे मनोज्ञ कहा जाता है । २. अभिरूप (मनोहर) को मनोज्ञ कहते हैं । ३, जो विद्वत्ता, वक्तृत्व और प्रतिष्ठित कुल आदि के कारण लोकसम्मत (जनप्रिय) होता है वह मनोज्ञ कहलाता है । असंयतसम्यग्दृष्टि को भी मनोज्ञ माना जाता है ।

मनोज्ञ (आर्तध्यान)— देखो अमनोज्ञ आर्तध्यान व आर्तध्यान । १. विपरीतं मनोज्ञस्य । (त. सू. ९-३१) । २. मणुन्न-संपओगसंपउत्ते तस्स अविप्पओगसतिसमण्णागते यावि भवति २ । (स्थाना. २४७) । ३. मनोज्ञस्येष्टस्य स्वपुत्र-दार-धनादेर्विप्रयोगे तत्संप्रयोगाय संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धो द्वितीयमार्तम् । (स. सि. ९-३१) । ४. मणुण्णसंपयोगसंपउत्तो तस्स अविप्पयोगाभिकंखी सद्दसमन्नागए यावि भवइ, सद्दाइसु विसएसु परमपमोदमावन्नो अणिट्ठेसु पदोसमावण्णो तप्पच्चइयस्स राग-दोसं अजाणमाणो गओ इव सलिलउल्लियंगो पावकम्मरयमलं उवचिणोतित्ति अट्टस्स वितिओ भेदो गओ । (दशवै. चू. पृ. ३०) । ५ इट्ठाणं विसयाईण वेअणाए अ रागरत्तस्स । अवियोगज्झवसाणं तह संजोगाभिलासो अ । (ध्यानश. ८)। ६. मनो–

ज्ञस्य विषयस्य विप्रयोगे संप्रयुयुक्षां प्रति या परिख्यातिः स्मृतिसमन्वाहार-शब्दचोदिता असावप्यार्तध्यानमिति निश्चीयते। (त. वा. ६, ३१, १)। ७. मनोज्ञविप्रयोगस्य यच्चानुत्पत्तिचिन्तनम्। (ह. पु. ५६–८); पशु-पुत्र-कलत्रादि मनोज्ञं सुखसाधनम्। बाह्यं स्याद्धन-धान्यादि सचेतनमचेतनम्॥ आध्यात्मिकं च पित्तादिसाम्यादारोग्यमांगिकम्। मानसं सौमनस्यादि रत्यशोकाभयादिकम्॥ विप्रयोगश्च मे मा भूदैहिकामुत्रकस्य तु। मनोज्ञस्येति संकल्पस्तृतीयं चार्तमुच्यते॥ (ह. पु. ५६, १४–१६)। ८. प्रियस्य मनोज्ञस्य विप्रयोगे विश्लेषस्तस्मिन् सति तत्संप्रयोगाय पुनः पुनश्चिन्ताप्रबन्धः, सा मे प्रिया कथं प्रयोगिनी स्यादिति प्रबन्धेन चिन्तनमार्तध्यानमप्रशस्तम्। (त. श्लो. ६–३१)।

१ अमनोज्ञ से विपरीत मनोज्ञ पदार्थ का वियोग होने पर उसके संयोग के लिए जो अतिशय चिन्ता होती है उसे मनोज्ञविषयक आर्तध्यान कहते हैं। २ मनोज्ञ इन्द्रियविषयों का संयोग होने पर उनसे सम्बद्ध हुआ प्राणी जो उनके अवियोग का—सदा उनके संयोग के बने रहने का—निरन्तर चिन्तन करता है, यह मनोज्ञविषयक आर्तध्यान का लक्षण है।

मनोज्ञवैयावृत्य— आयरिएहि सम्मदाणं गिहत्थाणं दिक्खाभिमुहाणं वा जं कीरदे तं मणुण्णवेज्जावच्चं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ६३)।

जो आचार्यों को सम्मत हैं अथवा जो दीक्षा के अभिमुख हुए गृहस्थ हैं उनकी जो सेवा-शुश्रूषा की जाती है उसे मनोज्ञवैयावृत्य कहते हैं।

मनोदुष्टदोष—देखो मनःप्रदुष्टवन्दन। १. मनसाचार्यादीनां दुष्टो भूत्वा यो वन्दनां करोति तस्य मनोदुष्टदोषः, संक्लेशयुक्तेन मनसा यद्वा वन्दनाकरणम्। (मूला. वृ. ७–१०७)। २. मनोदुष्टं खेदकृतिर्गुर्वाद्युपरि चेतसि॥ (अन. ध. ८–१०१)।

१ जो आचार्यादिकों के प्रति मन से द्वेष युक्त होकर अथवा संक्लेश युक्त मन से वन्दना करता है वह वन्दनाविषयक मनोदुष्ट नामक दोष का भागी होता है।

मनोदुष्प्रणिधान—१. प्रणिधानं प्रयोगः परिणाम इत्यनर्थान्तरम्। दुष्टु पापं प्रणिधानं दुष्प्रणिधानम्, अन्यथा वा प्रणिधानं दुष्प्रणिधानम्। तत्र × × × मनसोऽनर्पितत्वं चेत्यन्यथाप्रणिधानम्। (त. वा. ७, ३३, २)। २. क्रोध-लोभाभिद्रोहाभिमानेर्ष्यादिकार्यव्यासङ्गजातसम्भ्रमो दुष्प्रणियत्ते मन इति मनोदुष्प्रणिधानम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–२८)। ३. मनसोऽनर्पितत्वं मनोदुःप्रणिधानम्। (चा. सा. पृ. ११)। ४. क्रोध-लोभ-द्रोहाऽभिमानेर्ष्यादिकार्यव्यासङ्गसम्भ्रमश्च मनोदुष्प्रणिधानम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–११६; सा. ध. स्वो. टी. ५–३३; धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ५५, पृ. ११४)। ५. सामायिकादितोऽन्यत्र मनोवृत्तिर्यदा भवेत्। मनोदुष्प्रणिधानाख्यो दोषोऽतीचारसंज्ञकः। (लाटीसं. ६–१६०)।

१ पापपरिपूर्ण प्रवृत्ति अथवा अन्यथा प्रवर्तन का नाम दुष्प्रणिधान है। मन को सामायिक में संलग्न न करना अथवा अन्य विषयों में लगाना, यह सामायिक को दूषित करने वाला उसका एक मनोदुष्प्रणिधान नाम का अतिचार है। २ क्रोध, लोभ, द्रोह, अभिमान, ईर्ष्या और कार्य की व्यस्तता से उत्पन्न हुआ क्षोभ मन को जो दुष्प्रवृत्त करता है, इसका नाम मनोदुष्प्रणिधान है।

मनोद्रव्यवर्गणा—१. मणदव्ववग्गणा णाम का ? मणदव्ववग्गणा चउव्विहस्स मणस्स गहणं पवत्तदि। सच्चमणस्स मोसमणस्स सच्च-मोसमणस्स असच्चमोसमणस्स जाणि दव्वाणि घेत्तूण सच्चमणत्ताए मोसमणत्ताए सच्च-मोसमणत्ताए असच्चमोसमणत्ताए परिणामेदूण परिणमंति जीवा ताणि दव्वाणि मणदव्ववग्गणा णाम। (षट्ख. ५, ६, ७४६–७५१—पु. १४, पृ. ५५१–५५२)। २. एदीए वग्गणाए दव्वमणणिव्वत्तणं कीरदे। (जीए दव्वमणणिव्वत्तणं कीरदे सा मणदव्ववग्गणा णाम)। (धव. पु. १४, पृ. ६२)।

१ जिस वर्गणा के द्वारा सत्य, असत्य, सत्य-असत्य और असत्यमृषा इन चार प्रकार के मन की रचना की जाती है उसे मनोद्रव्यवर्गणा कहते हैं।

मनोबल ऋद्धि—१. सुदणाणावरणाए पगडीए वीरियंतरायाए। उक्कस्सक्खउवसमे मुहुत्तमेत्तंतरम्मि सयलसुदं। चिंतइ जाणइ जीए सा रिद्धी

सा मनोगुप्तिरित्युच्यते। अथैवं ब्रूपे सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः इष्टफलमनपेक्ष्य योगस्य वीर्यपरिणामस्य निग्रहो रागादिकार्यकरणनिरोधो मनोगुप्तिः। (भ. आ. विजयो. ११८७)। ५. सम्यग्दण्डो वपुषः सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य। मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तित्रितयं समनुगम्यम्। (पु. सि. २०२)। ६. विहाय सर्वसंकल्पान् राग-द्वेषावलम्बितान्। स्वाधीनं कुरुते चेतः समत्वे सुप्रतिष्ठितम्॥ सिद्धान्तसूत्रविन्यासे शश्वत्प्रेरयतोऽथवा। भवत्यविकला नाम मनोगुप्तिर्मनीषिणः॥ (ज्ञाना. १८, १५–१६, पृ. १९०)। ७. मनःपंचेन्द्रियेभेन्द्रस्वैरचारनिवारिणी। स्वगोचरे मनोगुप्तिर्ज्ञान-ध्यानरता मतिः। (आचा. सा. ५–१३८)। ८. विमुक्तकल्पनाजालं समत्वे सुप्रतिष्ठितम्। आत्मारामं मनस्तज्ज्ञैर्मनोगुप्तिरुदाहृता॥ (योगशा. १–४१)। ९. रागादित्यागरूपामुत समयसमभ्याससद्ध्यानभूताम्, चेतोगुप्ति ××× । (अन. ध. ४–१५६)। १०. मणस्य नोइन्द्रियज्ञानलक्षणस्य मनस्तत्त्वावग्राहिणो जा रागादिणियत्ती—राग-द्वेषादिभिरात्मपरिणामैरसहचरिता सा मनोगुप्तिः। मनोग्रहणं ज्ञानोपलक्षणम्, तेन सर्वो बोधो निरस्तरागादि-कलङ्को मनोगुप्तिः स्यात्, अथवा मनुते विचारयति हेयमुपादेयं च तत्त्वं योऽसावात्मात्र मनःशब्देनोच्यते, तस्य रागादिरूपेणापरिणतिर्मनोगुप्तिरिति ग्राह्यम्। (भ. आ. मूला. ११८७)। ११. कल्पनाजालनिर्मुक्तं समभावेन पावनम्। मुनीनां यन्मनःस्थैर्यं मनोगुप्तिर्भवत्यसौ॥ (लोकप्र. ३०–७४९)।

१ मन से रागादि का हट जाना, इसका नाम मनोगुप्ति है। २ पापपूर्ण आर्त्त-रौद्रादि स्वरूप संकल्प (चिन्तन) को रोकना, सरागसंयमादिरूप कुशल संकल्प का अनुष्ठान करना, अथवा कुशल व अकुशल दोनों ही प्रकार के संकल्प का निरोध करना, इसे मनोगुप्ति कहते हैं।

मनोगुप्ति-अतिचार—रागादिसहिता स्वाध्याये वृत्तिर्मनोगुप्तिरतिचारः। (भ. आ. विजयो. १६)। रागादि के साथ जो स्वाध्याय में प्रवृत्ति होती है, यह मनोगुप्ति का अतिचार है।

मनोज्ञ (वर्णादि)—मनसा ज्ञायन्ते अनुकूलतया स्वप्रवृत्तिविषयीक्रियन्त इति मनोज्ञाः मनोऽनुकूलाः। (जीवाजी. मलय. वृ. १२६, पृ. १९०)।

जो वर्ण-गन्धादि अनुकूल होने के कारण अपनी प्रवृत्ति के विषय किए जाते हैं वे मनोज्ञ कहलाते हैं। यह प्रसंगप्राप्त मणियों के वर्णादि का विशेषण मात्र है।

मनोज्ञ (साधुविशेष)—१. मनोज्ञो लोकसम्मतः। (स. सि. ९-२४)। २. मनोज्ञोऽभिरूपः। अभिरूपो मनोज्ञ इत्यभिधीयते। (त. वा. ९, २४, १२)। ३. मनोज्ञोऽभिरूपः, सम्मतो वा लोकस्य विद्वत्त्व-वक्तृत्व-महाकुलत्वादिभिः, असंयतसम्यग्दृष्टिर्वा। (त. श्लो. ९-२४)। ४. अभिरूपो मनोज्ञः, आचार्याणां सम्मतो वा दीक्षाभिमुखो वा मनोज्ञः, अथवा विद्वान् वाग्मी महाकुलीन इति यो लोकस्य सम्मतः स मनोज्ञस्तस्य ग्रहणं प्रवचनस्य लोके गौरवोत्पादनहेतुत्वादसंयतसम्यग्दृष्टिर्वा संस्कारोपेतरूपत्वान्मनोज्ञः। (चा. सा. पृ. ६७)। ५. शिष्टसम्मतो विद्वत्त्व-वक्तृत्व-महाकुशलत्वादिभिर्मनोज्ञः प्रत्येतव्योऽसंयतसम्यग्दृष्टिर्वा। (त. सुखबो. वृ. ९-२४)। ६. वक्तृत्वादिगुणविराजितो लोकाभिसम्मतो विद्वान् मुनिर्मनोज्ञ उच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ९- २४)।

१. जो जनसमुदाय को सम्मत (अभीष्ट) होता है। उसे मनोज्ञ कहा जाता है। २. अभिरूप (मनोहर) को मनोज्ञ कहते हैं। ३, जो विद्वत्ता, वक्तृत्व और प्रतिष्ठित कुल आदि के कारण लोकसम्मत (जनप्रिय) होता है वह मनोज्ञ कहलाता है। असंयतसम्यग्दृष्टि को भी मनोज्ञ माना जाता है।

मनोज्ञ (आर्तध्यान)— देखो अमनोज्ञ आर्तध्यान व आर्तध्यान। १. विपरीतं मनोज्ञस्य। (त. सू. ९–३१)। २. मणुन्न-संपओगसंपउत्ते तस्स अविप्पओगसतिसमण्णागते यावि भवति २। (स्थाना. २४७)। ३. मनोज्ञस्येष्टस्य स्वपुत्र-दार-धनादेर्विप्रयोगे तत्संप्रयोगाय संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धो द्वितीयमार्तम्। (स. सि. ९–३१)। ४. मणुण्णसंपयोगसंपउत्तो तस्स अविप्पयोगाभिकंखी सइसमन्नागए यावि भवइ, सद्दाइसु विसएसु परमपमोदमावन्नो अणिट्ठेसु पदोसमावण्णो तप्पच्चइयस्स राग-दोसं अजाणमाणो गओ इव सलिलउल्लियंगो पावकम्मरयमलं उवचिणोतित्ति अट्टस्स वितिओ भेदो गओ। (दशवै. चू. पृ. ३०)। ५ इट्ठाणं विसयाईण वेअणाए अ रागरत्तस्स। अवियोगज्झवसाणं तह संजोगाभिलासो अ। (ध्यानश. ८)। ६. मनो–

श्लो. ६-३१)।

१ अमनोज्ञ से विपरीत मनोज्ञ पदार्थ का वियोग होने पर उसके संयोग के लिए जो अतिशय चिन्ता होती है उसे मनोज्ञविषयक आर्तध्यान कहते हैं। २ मनोज्ञ इन्द्रियविषयों का संयोग होने पर उनसे सम्बद्ध हुआ प्राणी जो उनके अवियोग का—सदा उनके संयोग के बने रहने का—निरन्तर चिन्तन करता है, यह मनोज्ञविषयक आर्तध्यान का लक्षण है।

मनोज्ञवैयावृत्त्य— आयरिएहि सम्मदाणं गिह-त्थाण दिक्खाभिमुहाणं वा जं कीरदे तं मणुण्ण-वेज्जावच्चं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ६३)।

जो आचार्यों को सम्मत हैं अथवा जो दीक्षा के अभिमुख हुए गृहस्थ हैं उनकी जो सेवा-शुश्रूषा की जाती है उसे मनोज्ञवैयावृत्त्य कहते हैं।

मनोदुष्टदोष—देखो मनःप्रदुष्टवन्दन। १. मन-साचार्यादीनां दुष्टो भूत्वा यो वन्दनां करोति तस्य मनोदुष्टदोषः, संक्लेशयुक्तेन मनसा यद्वा वन्दना-करणम्। (मूला. वृ. ७-१०७)। २. मनोदुष्टं खेदकृतिर्गुर्वाद्युपरि चेतसि॥ (अन. ध. ८-१०१)।

१ जो आचार्यादिकों के प्रति मन से द्वेष युक्त होकर अथवा संक्लेश युक्त मन से वन्दना करता है वह वन्दनाविषयक मनोदुष्ट नामक दोष का भागी होता है।

मनोदुष्प्रणिधान—१. प्रणिधानं प्रयोगः परिणाम

१ पापपरिपूर्ण प्रवृत्ति अथवा अन्यथा प्रवर्तन का नाम दुष्प्रणिधान है। मन को सामायिक में संलग्न न करना अथवा अन्य विषयों में लगाना, यह सामा-यिक को दूषित करने वाला उसका एक मनो-दुष्प्रणिधान नाम का अतिचार है। २ क्रोध, लोभ, द्रोह, अभिमान, ईर्ष्या और कार्य की व्यस्तता से उत्पन्न हुआ क्षोभ मन को जो दुष्प्रवृत्त करता है, इसका नाम मनोदुष्प्रणिधान है।

मनोद्रव्यवर्गणा—१. मणदव्ववग्गणा णाम का? मणदव्ववग्गणा चउव्विहस्स मणस्स गहणं पव-त्तदि। सच्चमणस्स मोसमणस्स सच्च-मोसमणस्स असच्चमोसमणस्स जाणि दव्वाणि घेत्तूण सच्च-मणत्ताए मोसमणत्ताए सच्च-मोसमणत्ताए असच्च-मोसमणत्ताए परिणामेदूण परिणमंति जीवा ताणि दव्वाणि मणदव्ववग्गणा णाम। (षट्ख. ५, ६, ७४६-७५१—पु. १४, पृ. ५५१-५५२)। २. एदीए वग्गणाए दव्वमणणिव्वत्तणं कीरदे। (जीए दव्वमणणिव्वत्तणं कीरदे सा मणदव्ववग्गणा णाम)। (धव. पु. १४, पृ. ६२)।

१ जिस वर्गणा के द्वारा सत्य, असत्य, सत्य-असत्य और असत्यमृषा इस चार प्रकार के मन की रचना की जाती है उसे मनोद्रव्यवर्गणा कहते हैं।

मनोबल ऋद्धि—१. सुदणाणावरणाए पगडीए वीरियंतरायाए। उक्कस्सक्खउवसमे मुहुत्तमेत्तं-तरम्मि सयलसुदं। चिंतइ जाणइ जीए सा रिद्धी

से सिद्ध आदि होने वाले मंत्रों का उपदेश देना, यह मंत्रोपजीवन नामक एक आहारविषयक उत्पादनदोष है।

मन्मनत्व—देखो मन्मनमूक। मन एव मन्तृ यत्र तन्मन्मनं परस्याप्रतिपादकं वचनम्, तद्योगात् पुरुषोऽपि मन्मनस्तस्य भावो मन्मनत्वम्। (योगशा. स्वो. विव. २–५३)।

जिस वचन में मन ही मन्ता होता है ऐसे पर के अप्रतिपादक वचन का नाम मन्मन है। इस वचन के योग से पुरुष को भी मन्मन कहा जाता है। इस प्रकार के पुरुष के स्वरूप को मन्मनत्व कहते हैं। यह असत्यभाषण के फलरूप है।

मन्मनमूक—यस्य तु ब्रुवतः खञ्च्यमानमिव वचनं स्खलति स मन्मनमूकः। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २२)।

बोलते हुए जिस पुरुष का वचन खींचे जाने के समान स्खलित हुआ करता है, उसे मन्मनमूक कहते हैं।

ममकार—१. सामर्थ्यादिदं मम भोग्यमित्यात्मपरिणामो ममकारः। (युक्त्यनु. टी. ५२)। २. शश्वदनात्मीयेषु स्वतनुप्रमुखेषु कर्मजनितेषु। आत्मीयाभिनिवेशो ममकारो मम यथा देहः॥ (तत्वानु. १४)। ३. कर्मजनितदेह-पुत्र-कलत्रादौ ममेदमिति ममकारः। (बृ. द्रव्यसं. टी. ४१)।

१ अहंकार परिणाम के सामर्थ्य से 'यह मेरा भोग्य है' इस प्रकार का जो जीव का परिणाम होता है उसे ममकार कहते हैं। २ कर्मोदयजनित अपने शरीर आदि आत्मभिन्न पदार्थों में जो आत्मीयत्व का अभिप्राय रहता है, उसका नाम ममकार है।

ममत्वतः आत्तपुद्गल—जे अणुराएण पडिग्गहिया ते ममत्तीदो अत्ता पोग्गला। (धव. पु. १६, पृ. ५१५)।

जो पुद्गल अनुराग से ग्रहण किये जाते हैं उन्हें ममत्वतः आत्त पुद्गल कहा जाता है। यह ग्रहण व परिणाम आदि छह प्रकार से आत्मसात् किये जाने वालों में से एक है।

मरण—देखो मृत्यु। १. आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं। (समयप्रा. २६६)। २. स्वपरिणामोपात्तस्यायुष इन्द्रियाणां बलानां च कारणवशात् संक्षयो मरणम्। (स. सि. ७–२२)। ३. तदुच्छेदो मरणम्। तस्य जीवितस्योच्छेदो जीवस्य मरणमित्यवसेयम्। (त. वा. ५, २०, ४); स्वायुरिन्द्रिय-बलसंक्षयो मरणम्। स्वपरिणामोपात्तस्यायुषः इन्द्रियाणां बलानां च कारणवशात् संक्षयो मरणम्। (त. वा. ७, २२, १)। ४. मरणं प्राणपरित्यागलक्षणम्। (श्रा. प्र. टी. ३७८; उपदे. मु. वृ. ३९६); मरणं प्राणत्यागरूपम्। (श्रा. प्र. टी. ३९७; प्रज्ञाप. मलय. वृ. १–१)। ५. तस्स (जीविदस्स) परिसमत्ती मरणं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३३३)। ६. किं मरणं मूर्खत्वम् × × × (प्रश्नो. र. मा. १७)। ७. मरणं नाम इन्द्रियादिप्राणेभ्यो विगम आत्मनः। (भ. आ. विजयो. २१); मरणं नाम उत्पन्नपर्यायविनाशः, अथवा प्राणपरित्यागो मरणम्, अथवा अनुभूयमानायुःसंज्ञकपुद्गलगलनं मरणम्। (भ. आ. विजयो. २५)। ८. मरणं प्राणत्यागः। (स्थानां. अभय. वृ. २, ३, ८५, पृ. ६७)। ९. मरणं प्राणत्यागरूपम्। (सूर्यप्र. मलय. वृ. २०–१०८, पृ. २९७)। १०. मरण च शरीरादिप्रच्युतिः। (रत्नक. टी. ५–१०)। ११. आयुःसंज्ञकपुद्गलगलनं मरणम्। मरणमनुभूयमानायुःपुद्गलगलनम्। (भ. आ. मूला. २५)। १२. आयुःपुद्गलानां प्रतिसमयं क्षया मरणम्। (भगवती. दान. वृ. १–१, पृ. ४)। १३. निजपरिणामेन पूर्वभवादुपार्जितमायुः इन्द्रियाणि च बलानि च तेषां कारणवशेन योऽसौ विनाशः संक्षयः तन्मरणमुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७–२२)।

१ आयु के क्षय से जो प्राणों का वियोग होता है, इसका नाम मरण है। २ अपने परिणामों के अनुसार जिस आयु को प्राप्त किया है उसके विनाश के साथ इन्द्रियों व बल का भी जो कारणवश विनाश होता है उसे मरण कहा जाता है। ४ प्राणों के परित्याग को मरण कहते हैं।

मरणभय—१. मरणभयं प्रतीतम्। (ललितवि. मु. वृ. पृ. ३८)। २. प्राणपरित्यागभयं मरणभयम्। (आव. भा. हरि. व मलय. वृ. १८४)। ३. मृत्युः प्राणात्ययः प्राणाः काय वागिन्द्रियं मनः। निःश्वासोच्छ्वासमायुश्च दशैते वाक्यविस्तरात्॥ तद्भीतिर्जीवितं भूयान्मा भून्मे मरणं क्वचित्। कदा लेभे न वा दैवादित्याधिः स्वे तनुव्यये॥ (पंचाध्या. २, ५३९–४०; लाटीसं. ४, ६२–६३)।

३ काय, वचन, इन्द्रिय पांच, मन, उच्छ्वास—निःश्वास और श्रायु इन १० प्राणों के परित्याग के भय को मरणभय कहते हैं।

मरणाशंसा—१. जीवनसंक्लेशान्मरणं प्रति चित्तानुरोधो मरणाशंसा। रोगोपद्रवाकुलतया प्राप्तजीवनसंक्लेशस्य मरणं प्रति चित्तस्य प्रणिधानं मरणाशंसा इति व्यपदेशमर्हति। (त. वा. ७, ३७, ३)। २. मरणाशंसाप्रयोगः न कश्चित्तं प्रतिपन्नानशनं भवेपते न सपर्यायामाद्रियते न कश्चिच्छ्लाघते ततस्तस्यैवंविधचित्तपरिणामो भवति यदि शीघ्रं म्रियेऽहम् अपुण्यकर्मेति मरणाशंसा। (श्रा. प्र. टी. ३८५)। ३. जीवितसंक्लेशान्मरणं प्रति चित्तानुरोधो मरणाशंसा। (त. श्लो. ७–३७)। ४. रोगोपद्रवाकुलतया प्राप्तजीवनसंक्लेशस्य मरण प्रति चित्तप्रणिधानं मरणाशंसा। (चा. सा. पृ. २३)। ५. मरणाशंसा रोगोपद्रवाकुलतया प्राप्तजीवनसंक्लेशस्य मरणं प्रति चित्तप्रणिधानम्, यदा न कश्चित्तं प्रतिपन्नाशनं प्रति सपर्यया आद्रियते, न च कश्चित् श्लाघते तदा तस्य यदि शीघ्रं म्रियेय तदा भद्रकं स्यादित्येवंविधपरिणामोत्पत्तिर्वा। (सा. ध. स्वो. टी. ८–४५)। ६. रुगादिभीतेर्जीवस्यासंक्लेशेन मरणे मनोरथो मरणाशंसा। (त. वृत्ति ७–३७)।

१ रोग के उपद्रव से व्याकुल होकर जीवन में संक्लेश को प्राप्त होने से मरने का जो भाव उदित होता है, इसका नाम मरणाशंसा है। यह सल्लेखना का एक अतिचार है। २ जिसने सल्लेखना में उपवास को स्वीकार किया है उसको जब न कोई खोजता है, न पूजा में आदर करता है, और न प्रशंसा ही करता है तब उसके मन में जो यह परिणाम होता है कि मुझ पापी का मरण यदि शीघ्र हो जाता है तो अच्छा है, इसे मरणाशंसा कहा जाता है।

मरालि—म्रियत इव शकटादौ योजितो ददाति च—ददाति लत्तादि, लीयते च भुवि पतनेनेति मरालिः। (उत्तरा. नि. ६४, पृ. ४९)।

जो घोड़ा अथवा बैल गाड़ी या तांगे आदि में जोतने पर मरासा हो जाता है, लातें आदि मारता है तथा जमीन पर पड़ जाता है उसे मरालि कहते हैं।

मर्कटतन्तुचारण— १. मक्कडयतंतुपंतीउवरि अदिलघुओ तुरिदपदक्खेवे। गच्छेदि मुणिमहेसी सा मक्कडतंतुचारणा रिद्धी॥ (ति. प. ४–१०४५)। २. कुब्जवृक्षान्तरालभाविनभःप्रदेशेषु कुब्जवृक्षादिसम्बद्धमर्कटतन्त्वालम्बनपादोद्धरण - निक्षेपावदाता (प्रव. वृ. 'लम्बनतः पादोत्क्षेपनिक्षेपसमा') मर्कटतन्तूनच्छिन्दन्तो यान्तो कर्कटतन्तुचारणाः। (योग. शा. स्वो. विव. १–९, पृ. ४१; प्रव. सारो. वृ. ६०१)।

१ जिस ऋद्धि के प्रभाव से महर्षि मकड़ी के तन्तुओं की पंक्ति के ऊपर से पांवों को रखते हुए शीघ्रता से गमन कर सकते हैं उसका नाम मर्कटतन्तुचारण ऋद्धि है। २ कुब्जक वृक्ष के अन्तरालवर्ती आकाशप्रदेशों में उक्त वृक्ष आदि से सम्बद्ध मकड़ी के तन्तुओं का आलम्बन लेकर जो पांवों को उठाते धरते हुए पवित्र रहते हैं—जीवों को बाधा नहीं पहुंचाते हैं—और तन्तुओं को छिन्न-भिन्न नहीं करते हैं वे मर्कटतन्तुचारणऋद्धि के धारक होते हैं।

मल—देखो मल्ल। १. स्वेद-वारिसम्पर्कात् कठिनीभूतं रजो मलोऽभिधीयते। (आव. सू. हरि. वृ. अ. ४, पृ. ६५८)। २. मलं अङ्गैकदेशप्रच्छादकम्। (मूला. वृ. १-३१)।

१. पसीना के जल के सम्बन्ध से जो धूलि कठिनता को प्राप्त हो जाती है उसे मल कहा जाता है। २ जो मैल शरीर के एक भाग को आच्छादित करता है वह मल कहलाता है।

मलधारण—देखो मलपरीषहजय।

मलपरीषहजय— १. अप्कायिकजन्तुपीडापरिहारायामरणादस्नानव्रतधारिणः, पटुरविकिरणप्रतापजनितप्रस्वेदात्तपवनानीतपांसुनिचयस्य, सिध्मकच्छू-दद्रूदीर्णकण्डूयायामुत्पन्नायामपि कण्डूयन-विमर्दन-संघट्टनविवर्जितमूर्तेः, स्वगतमलोपचय-परगतमलापचययोरसंकल्पितमनसः, सज्ज्ञान-चारित्रविमल-सलिलप्रक्षालनेन कर्ममल-पङ्कजालनिराकरणाय नित्यमुद्यतमतेर्मलपीडासहनमाख्यायते। (स. सि. ९–९)। २. स्व-परमलापचयोपचयसंकल्पाभावो मलधारणम्। जलजन्तुपीडापरिहारायास्नानप्रतिज्ञस्य स्वेदपङ्कादिघसर्वाङ्गस्य, सिध्म-कच्छू-दद्रूदीर्णकायस्य नख-रोम-श्मश्रु-केशविकृतसहजबाह्यमल-

४, ५८०)।

१ जो निधि धान्य को दिया करती है उसका नाम महाकालनिधि है। २. जिस निधि में लोहा, चांदी, सोना, मणि, मोती, शिला (स्फटिक आदि) और प्रवाल (मूंगा) इनकी खानों की उत्पत्ति होती है—उसका कथन किया जाता है, उसे हाकालनिधि कहते हैं।

महाकाव्य—१. महापुराणसम्बन्धि महानायकगोचरम्। त्रिवर्गफलसन्दर्भं महाकाव्यं तदिष्यते। (म. पु. १–९९)। २. पद्यं प्रायः संस्कृत-प्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत्तसर्गाश्वास-सन्ध्यवस्कन्धकबन्धं सत्संधिशब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यम्। (काव्यानु. ८, पृ. ३३०); छन्दोविशेषरचितं प्रायः संस्कृतादिभाषानिबद्धैर्भिन्नान्त्यवृत्तैर्यथासंख्यं सर्गादिभिर्निर्मितं सुश्लिष्टमुख-प्रतिमुख-गर्भविमर्शनिर्वहणसन्धिसुन्दरं शब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यम्। (काव्यानु. स्वो. वृ. ८, पृ. ३३०)।

१ जो अतिशय प्राचीन महापुरुषों के चरित्र से सम्बन्ध रखने वाला हो, महानायक (तीर्थंकर आदि) जिसका विषय (अभिधेय) हो, और जिसमें धर्म, अर्थ एवं काम पुरुषार्थ रूप त्रिवर्ग का सन्दर्भ (ग्रथन या वर्णन) हो वह महाकाव्य कहलाता है।

महाकुमुद—चतुरशीतिमहाकुमुदाङ्गशतसहस्राण्येकं महाकुमुदम्। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ६८)।

चौरासी लाख महाकुमुदांगों का एक महाकुमुद होता है।

महाकुमुदाङ्ग—चतुरशीतिकुमुदशतसहस्राण्येकं महाकुमुदाङ्गम्। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ६८)।

चौरासी लाख कुमुदों का एक महाकुमुदांग होता है।

महागङ्गा—से जहा वा गंगा महाणदी जओ पवूढा, जहिं वा पज्जुवत्थिया, एस णं अद्धा पंच-जोयणसयाइं आयामेणं, अद्धजोअणं विक्खंभेणं, पंचधणुसयाइं उव्वेहेणं एएणं गंगापमाणेणं सत्त गंगाओ सा एगा महागंगा। (भगवती ३, १५, १३, पृ. ३८१)।

जिसमें गंगा नदी प्रवाहित हुई है—निकली है—व जहां वह समाप्त होती है वह मार्ग पांच सौ योजन लम्बा, आधा योजन विस्तृत और पांच सौ धनुष प्रमाण ऊंचा (गहरा) है। इस प्रकार के गंगा के प्रमाण से सात गंगाएं मिलकर एक महागंगा होती है।

महातप—१. मंदरपंतिप्पमुहे महोववासे करेदि सव्वे वि। चउसण्णाणबलेणं जीए सा महतवा रिद्धी। (ति. प. ४–१०५४)। २. सिंहनिःक्रीडितादिमहोपवासानुष्ठानपरायणा यतयो महातपसः। (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०३)। ३. अणिमादिअट्ठगुणोवेदो जलचारणादिअट्ठविहचारणगुणालंकरियो फुरंतसरीरप्पहो दुविहअक्खीणलद्धिजुत्तो सव्वोसहिसरूवो पाणि-पत्तणिवदिदसव्वाहारे अमियसादसरूवेण पल्लट्टावणसमत्थो सयलिंदेहिंतो वि अणंतबलो आसी-दिट्ठिविसलद्धिसमण्णिओ तत्ततवो सयलविज्जाहरो मदि-सुद-ओहि-मणपज्जवणाणेहि मुणिदतिहुवणवावारो मुणी महातवो णाम। (धव. पु. ९, पृ. ९१)। ४. सकलविद्याधारिणो मति-श्रुतावधि-मनःपर्ययज्ञानावगतत्रिभुवनगतव्यापारा महातपसः। (चा. सा. पृ. १००)। ५. पक्ष-मासोपवासाद्यनुष्ठानपरा महातपसः। (प्रा. योगिभ. टी. १५, पृ. २०३)। ६. पक्ष-मास-षण्मास-वर्षोपवास-विधातारः ये मुनयस्ते महातपसः। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३६)।

जिस ऋद्धि के प्रभाव से जीव मतिज्ञानादि चार सम्यग्ज्ञानों के बल से मंदरपंक्ति आदि सभी महान् उपवासों को करता है उसे महातप ऋद्धि कहते हैं। इस ऋद्धि के धारक महातप (महातपस्वी) कहलाते हैं।

महात्मा—अनन्तज्ञान-वीर्ययुक्तत्वान्महानात्मा यस्य स महात्मा। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ५)।

अनन्त ज्ञान और अनन्त वीर्य से युक्त होने के कारण जिसकी आत्मा महान् है उसे महात्मा कहा जाता है।

महात्रुटितक—चतुरशीतिमहात्रुटिताङ्गशतसहस्राण्येकं महात्रुटितकम्। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ६९)।

चौरासी लाख महात्रुटितों का एक महात्रुटिक होता है।

महात्रुटिताङ्ग—चतुरशीतित्रुटितशतसहस्राण्येकं महात्रुटिताङ्गम्। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ६९)।

मर्थ्यम् । (योगशा. स्वो. विव. १–८)।
जिस ऋद्धि के प्रभाव से जीव अपने शरीर को अतिशय विशाल कर सकता है, उसका नाम महत्त्व ऋद्धि है।

महर्द्धिक देव—महती ऋद्धिर्विमान-परिवारादिका यस्य स महर्द्धिकः। (जीवाजी. मलय. वृ. १–८४)। विमान व परिवार आदि रूप ऋद्धि से सम्पन्न देवों को महर्द्धिक कहा जाता है।

महर्षि—देखो महैषि।

महाअडड — चतुरशीतिमहाअडडाङ्गशतसहस्राण्येकं महाअडडम्। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ७०)। चौरासी लाख महाअडडांग का एक महाअडड होता है।

महाअडडाङ्ग — चतुरशीतिअडडशतसहस्राण्येकं महाऽडडाङ्गम्। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ७०)। चौरासी लाख अडडों का एक महाअडडांग होता है।

महाकमल—ततः परतश्चतुरशीतिमहाकमलाङ्गशतसहस्राण्येकं महाकमलम्। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ६७)।
चौरासी लाख महाकमलांगों का एक महाकमल होता है।

महाकमलाङ्ग — चतुरशीतिकमलशतसहस्राण्येकं महाकमलाङ्गम्। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ६७)। चौरासी लाख कमलों का एक महाकमलांग होता है।

महाकल्प (कालविशेष)—एएणं सरप्पमाणेण तिण्णिसरसयसाहस्सीओ से महाकप्पे। (भगवती. ३, १५, १३, पृ. ३८१)।
तीन लाख सरप्रमाण काल का एक महाकल्प होता है। बादरबोंदिरूप उद्धार (गंगाबालुकाकण) में से सौ सौ वर्ष में एक-एक बालुकाकण के निकालने पर जितने काल में वह (बालुकाकणों का समुदाय रूप उद्धार) खाली होता है उतने काल का नाम महाकल्प है।

महाकल्प (श्रुतविशेष)—देखो महाकल्प्य।

महाकल्प्य—१. महाकप्पियं काल-संघडणाणि अस्सिऊण साहुपाओग्गदव्व-खेत्तादीणं वण्णणं कुणइ। (धव. पु. १, पृ. ९८); महाकप्पियं भरह-इरावद-विदेहाणं तत्थतणतिरिक्ख-मणुस्साणं देवाणमण्णेसि दव्वाणं च सरूवं छक्काले अस्सिदूण परूवेदि। (धव. पु. ९, पृ. १९१)। २. साहूणं गहण-सिक्खा-गणपोसणप्पसंस्करणसल्लेहणुत्तमट्ठाणगयाणं जं कप्पइ तस्स चेव दव्व-खेत्त-काल-भावे अस्सिदूण परूवणं कुणइ महाकप्पियं। (जयध. १, पृ. १२१)। ३. दीक्षा-शिक्षा-गणपोषणात्मसंस्कारभावनोत्तमार्थ-भेदेन षट्कालप्रतिबद्धयतीनामाचरणं प्रतिपादयत् महाकल्प्यम्। (श्रुतभ. टी. २५, पृ. १८०)। ४. महतां कल्प्यमस्मिन्निति महाकल्प्यम्, तन्महासाधूनां जिनकल्पानाम् उत्कृष्टसंहननादिविशिष्टद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाववर्तिनां योग्यं त्रिकालयोगाद्यनुष्ठानं स्थविरकल्पानां शिक्षा-दीक्षा-गणपोषणात्मसंस्कार-सल्लेखनोत्तमार्थस्थानगतोत्कृष्टाराधनाविशेषं च वर्णयति। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. ३६८)। ५. यति-दीक्षा-शिक्षा-भावनात्मसंस्कारोत्तमार्थगणपोषणादि-प्रकटकं महाकल्पम्। (त. वृत्ति श्रुत. १–२०)। ६. महकप्पं णायव्वं जिणकप्पाणं च सव्वसाहूणं। उत्तमसंहडणाणं दव्व-खेत्तादिवत्तीणं॥ तियकालयोग-कप्पं थविरकप्पाण जत्थ वण्णिज्जइ। दिक्खा-सिक्खा-पोसण-सल्लेहणअप्पसक्कारं॥ उत्तमठाण-गदाणं उक्किट्ठाराहणाविसेसं च। (अंगप. ३–२९, ३०, पृ. ३१०)।
१ जो आगम काल और संहननों का आश्रय लेकर साधु के योग्य द्रव्य व क्षेत्र आदि का वर्णन करता है उसे महाकल्प या महाकल्प्य कहा जाता है।

महाकवि—सुश्लिष्टपदविन्यासं प्रबन्धं रचयन्ति ये। श्रव्यबन्धं प्रसन्नार्थं ते महाकवयो मताः। (म. पु. १–९८)
जो अनेक अर्थों के सूचक श्लेष युक्त पदों की रचना से विशिष्ट एवं सुनने में मनोहर शब्दयोजना वाले प्रबन्ध (सन्दर्भ) की रचना किया करते हैं। वे महाकवि माने गये हैं।

महाकालनिधि—देखो नैसर्प व पाण्डु निधि। १. काल-महाकाल-पंडू ××× । ××× उडु-जोग्गदव्वभायण-धण्णायुह ×××॥ (ति. प. ४, ७३९–४०)। २. लोहस्स य उप्पत्ती होइ महाकालि आगराणं च। रुप्पस्स सुवण्णस्स य मणि-मुत्त-सिल-प्पवालाणं। (जम्बूद्वी. ६६, पृ. १५६)। ३. प्रवाल-रजत-स्वर्णशिला-मुक्ताफलायसाम्। तथा लोहाद्या-कराणां महाकाले समुद्भवः॥ (त्रि. श. पु. च. १,

४, ५८०)।

१ जो निधि धान्य को दिया करती है उसका नाम महाकालनिधि है। २. जिस निधि में लोहा, चांदी, सोना, मणि, मोती, शिला (स्फटिक आदि) और प्रवाल (मूंगा) इनकी खानों की उत्पत्ति होती है—उसका कथन किया जाता है, उसे महाकालनिधि कहते हैं।

महाकाव्य—१. महापुराणसम्बन्धि महानायकगोचरम्। त्रिवर्गफलसन्दर्भं महाकाव्यं तदिष्यते। (म. पु. १–९९)। २. पद्यं प्रायः संस्कृत-प्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत्तसर्गाश्वास-सन्ध्यवस्कन्धकबन्धं सत्संधिशब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यम्। (काव्यानु. ८, पृ. ३३०); छन्दोविशेषरचितं प्रायः संस्कृतादिभाषानिबद्धैर्भिन्नान्त्यवृत्तैर्यथासंख्यं सर्गादिभिर्निर्मितं सुश्लिष्टमुख-प्रतिमुख-गर्भविमर्शनिर्वहणसन्धिसुन्दरं शब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यम्। (काव्यानु. स्वो. वृ. ८, पृ. ३३०)।

१ जो अतिशय प्राचीन महापुरुषों के चरित्र से सम्बन्ध रखने वाला हो, महानायक (तीर्थंकर आदि) जिसका विषय (अभिधेय) हो, और जिसमें धर्म, अर्थ एवं काम पुरुषार्थ रूप त्रिवर्ग का सन्दर्भ (ग्रथन या वर्णन) हो वह महाकाव्य कहलाता है।

महाकुमुद—चतुरशीतिमहाकुमुदाङ्गशतसहस्राण्येकं महाकुमुदम्। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ६८)।

चौरासी लाख महाकुमुदांगों का एक महाकुमुद होता है।

महाकुमुदाङ्ग—चतुरशीतिकुमुदशतसहस्राण्येकं महाकुमुदाङ्गम्। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ६८)।

चौरासी लाख कुमुदों का एक महाकुमुदांग होता है।

महागङ्गा—से जहा वा गंगा महाणदी जओ पवूढा, जहिं वा पज्जुवत्थिया, एस णं अद्धा पंचजोयणसयाइं आयामेणं, अद्धजोअणं विक्खंभेणं, पंचधणुहुसयाइं उव्वेहेणं एएणं गंगापमाणेणं सत्त गंगाओ सा एगा महागंगा। (भगवती ३, १५, १३, पृ. ३८१)।

जिसमें गंगा नदी प्रवाहित हुई है—निकली है—व जहां वह समाप्त होती है वह मार्ग पांच सौ योजन लम्बा, आधा योजन विस्तृत और पांच सौ धनुष प्रमाण ऊंचा (गहरा) है। इस प्रकार के गंगा के प्रमाण से सात गंगाएं मिलकर एक महागंगा होती है।

महातप—१. मंदरपंतिप्पमुहे महोववासे करेदि सव्वे वि। चउसण्णाणबलेणं जीए सा महतवा रिद्धी। (ति. प. ४–१०५४)। २. सिंहनिःक्रीडितादिमहोपवासानुष्ठानपरायणा यतयो महातपसः। (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०३)। ३. अणिमादिअट्ठगुणोवेदो जलचारणादिअट्ठविहचारणगुणालंकरियो फुरंतसरीरप्पहो दुविहअक्खीणलद्धिजुत्तो सव्वोसहिसरूवो पाणि-पत्तणिवदिदमव्वाहारे अमियसादसरूवेण पल्लट्टावणसमत्थो सयलिदेहिंतो वि अणंतबलो आसी-दिट्ठिविसलद्धिसमण्णिओ तत्ततवो सयलविज्जाहरो मदि-सुद-ओहि-मणपज्जवणाणेहि मुणिदतिहुवणवावारो मुणी महातवो णाम। (धव. पु. ९, पृ. ९१)। ४. सकलविद्याधारिणो मति-श्रुतावधि-मनःपर्ययज्ञानावगतत्रिभुवनगतव्यापारा महातपसः। (चा. सा. पृ. १००)। ५. पक्ष-मासोपवासाद्यनुष्ठानपरा महातपसः। (प्रा. योगिभ. टी. १५, पृ. २०३)। ६. पक्ष-मास-षण्मास-वर्षोपवास-विधातारः ये मुनयस्ते महातपसः। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३६)।

जिस ऋद्धि के प्रभाव से जीव मतिज्ञानादि चार सम्यग्ज्ञानों के बल से मंदरपंक्ति आदि सभी महान् उपवासों को करता है उसे महातप ऋद्धि कहते हैं। इस ऋद्धि के धारक महातप (महातपस्वी) कहलाते हैं।

महात्मा—अनन्तज्ञान-वीर्ययुक्तत्वान्महानात्मा यस्य स महात्मा। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ५)।

अनन्त ज्ञान और अनन्त वीर्य से युक्त होने के कारण जिसकी आत्मा महान् है उसे महात्मा कहा जाता है।

महात्रुटितक—चतुरशीतिमहात्रुटिताङ्गशतसहस्राण्येकं महात्रुटितकम्। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ६९)।

चौरासी लाख महात्रुटितों का एक महात्रुटिक होता है।

महात्रुटिताङ्ग—चतुरशीतित्रुटितशतसहस्राण्येकं महात्रुटिताङ्गम्। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ६९)।

चौरासी लाख त्रुटितों का एक महात्रुटिताङ्ग होता है।

महादुःख—परस्पृहा महादुःखम् × × ×। (ज्ञा. सा. १३–८)।

पर पदार्थ की जो इच्छा होती है, वह अतिशय दुःखरूप है।

महादेव—महामोहादयो दोषा ध्वस्ता येन यदृच्छया। महाभवार्णवोत्तीर्णे[र्णो]महादेवः स कीर्तितः। (आप्तस्व. २६)।

जो महामोह आदि दोषों को स्वेच्छा से नष्ट कर चुका है तथा संसार रूप महासमुद्र से पार हो चुका है उसे महादेव कहा जाता है।

महाद्युतिक— महती द्युतिः शरीराभरणविषया यस्य स महाद्युतिकः। (जीवाजी. मलय. वृ. ८४)।

जिसकी शरीर व आभरण विषयक कान्ति अधिक होती है उसे महाद्युतिक कहते हैं।

महानलिन — चतुरशीतिमहानलिनाङ्गशतसहस्राण्येकं महानलिनम्। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ६६)।

चौरासी लाख नलिनांगों का एक महानलिन होता है।

महानलिनाङ्ग— चतुरशीतिनलिनशतसहस्राण्येकं महानलिनाङ्गम्। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ६६)।

चौरासी लाख नलिनों का एक महानलिनाङ्ग होता है।

महानस—महानसम् अन्नपाकस्थानं तदाश्रितत्वाद्वाऽन्नमपि महानसम्। (औपपा. अभय. वृ. पृ. २८)।

अन्न के पकाने के स्थान को—रसोईघर को—महानस कहते हैं, अथवा उसके आश्रय से अन्न को भी महानस कहते हैं।

महापद्म — चतुरशीतिमहापद्माङ्गशतसहस्राण्येकं महापद्मम्। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ६७)।

चौरासी लाख महापद्माङ्गों का एक महापद्म होता है।

महापद्मनिधि—१. वत्थाण य उप्पत्ती णिप्फत्ती चेव सव्वभत्तीणं। रंगाण य धोव्वाण य सव्वा एसा महापउमे। (जम्बूद्वी. ६६, पृ. २५६)। २. वस्त्राणां सर्वभक्तीनां शुद्धानां रागिणामपि। संजायते समुत्पत्तिर्महापद्मान्महानिधेः। (त्रि. श. पु. च. १, ४, ५७८)।

१ महापद्मनिधि से वस्त्रों, वस्त्ररचनाओं, रंगों और धोने की विधियों की उत्पत्ति होती है, यह सब महापद्मनिधि कहलाती है।

महापद्माङ्ग — चतुरशीतिपद्मशतसहस्राण्येकं महापद्माङ्गम्। (ज्योतिष्क. मलय. पृ. ६६)।

चौरासी लाख पद्मों का एक महापद्म होता है।

महापुण्डरीक—१. महापुण्डरीयं सयलिंद-पडिइंदे उप्पत्तिकारणं वण्णेई। (धव. पु. १, पृ. ६८); महापुण्डरीयं देविंदेसु चक्कवट्टि-बलदेव-वासुदेवेसु च कालमस्सिदूण उववादं वण्णेदि। (धव. पु. ६, पृ. १६१)। २. तेसिं चेव पुव्वुत्त-(चउव्विह-) देवाणं देवीसु उप्पत्तिकारणतवोववासादियं महापुण्डरीयं परूवेदि। (जयध. १, पृ. १२१)। ३. अमरामराङ्गनाप्सरःसूत्पत्तिहेतुप्रतिपादकं महापुण्डरीकम्। (श्रुतभ. टी. २५, पृ. १८०)। ४. महच्च तत् पुण्डरीकं च तत् महापुण्डरीकम्, तत् महर्धिकेषु इन्द्र-प्रतीन्द्रादिषु उत्पत्तिकारणतपोविशेषाद्याचरणं वर्णयति। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. ३६८)। ५. देवांगनापदप्राप्तिहेतुपुण्यप्रकाशकं महापुण्डरीकम्। (त. वृत्ति श्रुत. १–२०)।

१ जिस श्रुत में काल के आश्रय से समस्त इन्द्रों प्रतीन्द्रों व चक्रवतियों आदि में उत्पत्ति की प्ररूपणा की जाती है उसका नाम महापुण्डरीक है। २ भवनवासी आदि चार प्रकार के देवों की देवियों में उत्पन्न होने के कारणभूत तप व उपवास आदि का वर्णन जिस श्रुत में किया जाता है उसे महापुण्डरीक (अनंगश्रुत) कहा जाता है।

महापुरुष—१. स खलु महान् यः खल्वार्तो न दुर्वचनं ब्रूते। (नीतिवा. ३२–१२, पृ. ३८४)। २. तथा च शुक्रः—दुर्वाक्यं नैव यो ब्रूयादत्यर्थं कुपितोऽपि सन्। स महत्त्वमवाप्नोति समस्ते धरणीतले। (नीतिवा. टी. ३२–१२)।

१ जो पीड़ित होकर भी दुष्ट वचन (अपशब्द) नहीं बोलता है उसे महापुरुष कहा जाता है।

महाप्रज्ञापना — जीवादीनां प्रज्ञापनं प्रज्ञापना, बृहत्तरा (प्रज्ञापना) महाप्रज्ञापना। (नन्दी. हरि. वृ, पृ. ६०)।

जीवादिकों के ज्ञापन कराने वाले अतिशय विस्तीर्ण शास्त्रविशेष का नाम महाप्रज्ञापना है।

महाप्रतिष्ठा— सप्तत्यधिकशतस्य तु चरमेह महाप्रतिष्ठेति। (षोडश ८–३)।

एक सो सत्तर तीर्थंकरों की बिम्बप्रतिष्ठा को महाप्रतिष्ठा कहा जाता है। ५ भरत व ५ ऐरावत क्षेत्रों के ५-५ और ५ विदेह क्षेत्रों के १६० (३२×५+१०=१७०) इस प्रकार एक साथ अधिक से अधिक १७० तीर्थङ्कर रह सकते हैं।

महाभद्रा— महाभद्रापि तथैव, नवरमहोरात्रकायोत्सर्गरूपा अहोरात्रचतुष्टयमाना। (स्थानां. अभय. वृ. ८४, पृ. ६५)।

महाभद्रा नामक भिक्षुप्रतिमा भद्रा प्रतिमा के समान है। विशेष इतना है कि इसमें जो चारों दिशाओं में से प्रत्येक में चार पहर कायोत्सर्ग किया जाता है वह दिन-रात किया जाता है व उसका प्रमाण चार दिन-रात है।

महामण्डलीक—१. महमण्डलिओ णामो अट्ठसहस्साणं अहिवई ताणं। (ति. प. १–४७)। २. अष्टसहस्रमहीपतिनायकमाहुर्बुधाः महामण्डलिकम्। (धव. पु. १, पृ. ५८ उद्.)। ३. पंचसयरायसामी अहिराजो तो महाराजो॥ तह अद्धमण्डलीओ मंडलिओ तो महादिमंडलिओ। तिय-छक्खंडाणहिवा पहुणो राजाण दुगुण-दुगुणाणं॥ (त्रि. सा. ६८४–८५)। ४. अष्टसहस्रराजस्वामी महामण्डलिकः। (त्रि. सा. टी. ६८५)।

१ आठ हजार राजाओं का जो अधिपति होता है वह महामण्डलीक कहलाता है।

महामन्त्री—महामन्त्रिणस्ते एव विशेषाधिकारवन्तः। (कल्पसू. विनय. वृ. ६२' पृ. ९६)।

राज्य के अधिष्ठायक जो मंत्री होते हैं वे ही विशेष अधिकार से युक्त होने पर महामंत्री कहलाते हैं।

महामाण्डलिक—महामाण्डलिकः स एवानेकदेशाधिपतिः। (जीवाजी. मलय. वृ. ३६, पृ. ४०)।

जो राजा अनेक देशों का अधिपति होता है उसे महामाण्डलिक कहा जाता है।

महामात्य— महामात्यः स सर्वाधिकारीत्यर्थः। (त्रि. सा. वृ. ६८३)।

समस्त अधिकार से युक्त महामात्य होता है।

महामानस (कालविशेष)—चउरासीति महाकप्पसयसहस्साइं से एगे महामाणसे। (भगवती ३, १५, १३, पृ. ३८१)।

चौरासी लाख महाकल्पों का एक महामानस होता है।

महामुद्रा—प्रसारिताधोमुखाभ्यां हस्ताभ्यां पादाङ्गुलीतलामस्तकस्पर्शान्महामुद्रा। (निर्वाणक. पृ. ३१)।

फैलाये हुए अधोमुख दोनों हाथों के साथ पांवों की अंगुलियों से मस्तक का स्पर्श करने पर महामुद्रा होती है।

महायोजन— पचशतमानवयोजनैरेकं महायोजनं प्रमाणयोजनं दिव्ययोजनं भवति। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३८)।

पांच सो मानव योजनों (उत्सेधयोजनों) का एक महायोजन, प्रमाणयोजन अथवा दिव्ययोजन होता है।

महाराज—१. रायाण जो सहस्सं पालइ सो होदि महाराजो। (ति. प. १–४५)। २. राजसहस्राधिपतिः प्रतीयतेऽसौ महाराजः॥ (धव. पु. १, पृ. ५७ उद्.)। ३. सहस्रराजस्वामी महाराजः। (त्रि. सा. टी. ६८४)।

१ जो एक हजार राजाओं का परिपालन करता है—वह महाराज कहलाता है।

महार्थत्व — महार्थत्वं परिपुष्टार्थाभिधायिता। (रायप. मलय. वृ. पृ. २७)।

परिपुष्ट अर्थ के कथन से युक्त होना, इसका नाम महार्थत्व है। यह ३५ वचनातिशयों में आठवां है।

महालता—चतुरशीतिर्लताशतसहस्राण्येका महालता। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ६४)।

चौरासी लाख लताओं का एक महालता काल कहलाता है।

महावाक्य—वाक्यान्येव विशिष्टतरैकार्थचालितार्थप्रत्ययवस्थानरूपं महावाक्यम्। (उपदेशप. मु. वृ. ८५६)।

अतिशय विशिष्ट अर्थ से चलाए गये अर्थ के व्यवस्थापक वाक्यों को ही महावाक्य कहा जाता है।

महावीर—१. ईरेइ विसेसेण व खवेइ कम्माइं गमयइ सिवं वा। गच्छइ य तेण वीरो स महं वीरो महावीरो॥ (विशेषा. भा. १०६५)। २. कषायादिशत्रुजयात् महाविक्रान्तो महावीरः। (त. भा. हरि. वृ. का. १३, पृ. ८; नन्दी हरि. वृ. पृ. ५)।

३. विशेषेण ईरयति कर्म गमयति याति वा शिवमिति वीरः, महांश्चासौ वीरश्च महावीरः। (योगशा. स्वो. विव. ३–१२४)। ४ वीरयति स्म कषायादिशत्रून् प्रति विक्रामति स्मेति वीरः, महांश्चासौ वीरश्च महावीरः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १–१)।

१ जो विशेषरूप से ईरित करता है, अर्थात् कर्मों का क्षय करता है, अथवा मोक्ष को प्राप्त कराता है वह महान् वीर होने से महावीर कहलाता है।

महाव्रत—१. साहंति जं महल्ला आयरियं जं महल्लपुव्वेहिं। जं च महल्लाणि तदो महल्लया इत्तहे याइं। (चारित्रप्रा. ३०)। २. साहति जं महत्थं आचरिदाणी य जं महल्लेहिं। जं च महल्लाणि तदो महव्वयाइं भवे ताइं। (मूला. ५, ९७)। ३. देश-सर्वतोऽणुमहती। (त. सू. ७–२)। ४. एभ्यो हिंसादिभ्यः ××× सर्वतो विरतिर्महाव्रतम्। (त. भा. ७–२)। ५. साघेंति जं महत्थं आयरिदाइं च जं महल्लेहिं। ज च महल्लाइं सयं महव्वदाइं हवे ताइं॥ (भ. आ. ११८४)। ६. पंचानां पापानां हिंसादीनां मनोवचःकायैः। कृत-कारितानुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महताम्। (रत्नक. ७२)। ७. हिंसादेः सर्वतो विरतिर्महाव्रतम्। (त. वा. ७, २, २)। ८. पंच महाव्रतानि प्राणातिपातादिविनिवृत्तिलक्षणानि। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ८; आव. नि. हरि. वृ. ११९७)। ९. महाव्रतं भवेत्कृत्स्नहिंसाद्यागोविवर्जनम्। (म. पु. ६, ४)। १०. महान्ति च तानि व्रतानि प्राणातिपातविरमणादीनि। (सूत्रकृ. शी. वृ. २, ६, ६)। ११. सर्वतो विरतिर्नाम मुनियोग्यं महाव्रतम्। (लाटीसं. ५–५८)। १२. सर्वतो विरतिस्तेषां हिंसादीनां व्रतं महत्। (पचाध्या. २–७२१)।

१ जिस कारण महापुरुष उनको सिद्ध करते हैं, महापुरुषों ने उनका आचरण किया है, तथा वे स्वयं महान् हैं; इसलिए हिंसादि के पूर्णतया परित्याग को महाव्रत कहा जाता है। २ जो महान् अर्थ को —मोक्ष को—सिद्ध करते हैं जो महापुरुषों के द्वारा आचरित (परिपालित) हैं, और जो स्वयं महान् है उन हिंसादि पापों के त्यागरूप व्रतों को महाव्रत कहते हैं। ४ हिंसादि से सर्वथा विरत होने का नाम महाव्रत है।

महाश्रावक—१. एवं व्रतस्थितो भक्त्या सप्तक्षेत्र्यां धनं वपन्। दयया चातिदीनेषु महाश्रावक उच्यते। (योगशा. ३–११९)। २. एवं पालयितुं व्रतानि विदधच्छीलानि सप्तामलान्यागूर्णः समितिष्वनारतमनोदीप्राप्तवाग्दीपकः। वैय्यावृत्त्यपरायणो गुणवतां दीनानतीवोद्धरंश्चर्यां दैवसिकीमिमां चरति यः स स्यान्महाश्रावकः। (सा. ध. ५–५५); ××× एतेन सम्यग्दर्शनशुद्धत्वं व्रत-भूषणभूषितत्वं निर्मलशीलनिधित्वं संयमनिष्ठत्वं जिनागमज्ञत्वं गुरुशुश्रूषकत्वं दयादिसदाचारपरत्वं चेति सप्तगुणयोगान्महाश्रावकत्वं कस्यचित् सुकृतिनः कालादिलब्धिविशेषवशाद् भवतीति तात्पर्यार्थोऽत्र प्रतिपत्तव्य इति। (सा. ध. स्वो. टी. ५–५५)।

१ इस प्रकार जो अणुव्रतादि रूप श्रावक के व्रतों में स्थित होकर भक्तिपूर्वक जिनबिम्ब, जिनभवन, जिनागम, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका इन सात क्षेत्रों में तथा दया से प्रेरित होकर अतिशय दीन-दुखी जीवों में धन को बोता है—उसका दान करता है—उसे महाश्रावक कहा जाता है। २. पांच अणुव्रतों के पालन करने के अभिप्राय से जो व्रतों के रक्षण रूप सात शीलों को—तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों को—धारण करता हुआ निरन्तर समितियों के पालन में उद्यत रहता है तथा गुणी जनों के वैयावृत्य में तत्पर रहता है वह इस दैनिक अनुष्ठान का परिपालन करता हुआ महाश्रावक होता है।

महाश्वाक्ष—आशुगमनादश्वो मनः, अक्षाणि इन्द्रियाणि स्वविषयव्यापकत्वात्; अश्वश्चाक्षाणि च अश्वाक्षाणि, महान्ति अश्वाक्षाणि यस्यासौ महाश्वाक्षः। (जीवाजी. मलय. वृ. ८४, पृ. १०९)।

शीघ्रतापूर्ण गमन (विषयसंचार) के कारण मन को अश्व (घोड़ा) कहा जाता है, अक्ष का अर्थ व्यापक होता है, अपने विषयों में व्यापक होने के कारण इन्द्रियों को अक्ष कहा जाता है, जिसका मन और इन्द्रियां महान् होती हैं वह महाश्वाक्ष इस विशेषण से विशिष्ट होता है।

महासत्ता—१. सर्वपदार्थसार्थव्यापिनी सादृश्यास्तित्वसूचिका महासत्ता। (पंचा. का. अमृत. वृ. ८)। २. समस्तवस्तुविस्तरव्यापिनी महासत्ता, समस्तव्यापकरूपव्यापिनी महासत्ता अनन्तपर्यायव्यापिनी महासत्ता। (नि. सा. वृ. ३४)। ३.

किन्तु सदित्यभिधानं यत्स्यात्सर्वार्थसार्थसंस्पर्शि । सामान्यग्राहकत्वात् प्रोक्ता सन्मात्रतो महासत्ता । (पंचाध्या. १-२६५) ।

१ जो समस्त पदार्थसमूह में व्याप्त होती हुई सादृश्य के आस्तिक्य की सूचक है वह महासत्ता कहलाती है ।

महासुख— × × × निःस्पृहत्वं महासुखम् । (ज्ञा. सा. १२-८, पृ. ४४) ।

निःस्पृहता—बाह्य विषयों की इच्छा न करना, यह महासुख का लक्षण है ।

महास्कन्धवर्गणा—१. महाकंधवग्गणा णाम टंक-पव्वय-कूडादीण अस्सिया पोग्गला महाखंधा वुच्चंति । (कर्मप्र. चू. १-१८, पृ. ४३) । २. महास्कन्ध-वर्गणा नाम ये पुद्गलस्कन्धा विश्रसापरिणामेन टङ्क-कूट-पर्वतादिसमाश्रिताः । (कर्मप्र. मलय. वृ. १-१८, पृ. ४८) ।

१ टांकी, पर्वत और कूट (पर्वतीय शिखर आदि) के आश्रित जो पुद्गलस्कन्ध होते हैं उन्हें महास्कन्ध-वर्गणा कहा जाता है ।

महिमा—१. मेरुवमाणदेहा महिमा × × × । (ति. प. ४-१०२७) । २. मेरोरपि महत्तरशरीर-विकरणं महिमा । (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०३; चा. सा. पृ. ९७) । ३. परमाणुपमाणदेहस्स मेरु-गिरिसरिससरीरकरणं महिमा णाम । (धव. पु. ९, पृ. ७५) । ४. महिमा महतः कायस्य करणं । (प्रा. योगिभ. ६, पृ. १९९) । ५. महन्महिमवान्मेरोरपि कुर्याद्वपुः क्षणात् । (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. ८) । ६: महाशरीरविधानं महिमा । (त. वृत्ति श्रुत. ३-३६) ।

१ जिस ऋद्धि के प्रभाव से मेरुपर्वत के समान विशाल शरीर किया जा सकता है उसका नाम महिमा ऋद्धि है ।

महिला—आलं जणेदि पुरिसस्स महल्लं जेण तेण महिला सा । (भ. आ. ९८१) ।

स्त्री चूंकि पुरुष के महान् आल—दोषारोपण को—उत्पन्न करती है, इसलिए उसे महिला कहा जाता है ।

महिषसमान शिष्य—१. सयमवि न पियइ महिसो न य जूहं पियइ लोलियं उदगं । विग्गह-विकहाहि तहा अथक्कपुच्छाहि य कुसीसो । (विशेषा. १४७६) । २. यथा महिषो निपानस्थानमवाप्तः सन् उदकमध्ये तदुदकं मुहुर्मुहुः शृंगाभ्यां ताडयन्नव-गाहमानश्च सकलमपि कलुषीकरोति, ततो न स्वयं पातुं शक्नोति, नापि यूथम्, तद्वच्छिष्योऽपि यो व्याख्यानप्रबन्धावसरेऽकाण्ड एव क्षुद्रपृच्छाभिः कलह-विकथादिभिर्वा आत्मनः परेषां चानुयोगश्रवणवि-घातमाधत्ते स महिषसमानः । स चैकान्तेनायोग्यः । (आव. नि. मलय. वृ. १३६, पृ. १४४) ।

१ जिस प्रकार भैंसा पानी को गंदा करके न स्वयं पीता है और न अन्य पशुओं के समूह को पीने देता है, उसी प्रकार जो कुत्सित शिष्य कलह, विकथा और असामयिक प्रश्नों के द्वारा तात्त्विक व्याख्यान के सुनने में बाधा पहुंचाता है उसे महिष समान शिष्य कहा जाता है ।

महीशय—देखो क्षितिशयनव्रत । प्रसन्नप्रासुका-ऽऽत्मसंस्कृतला-शिलादिषु । एकपार्श्वेन कोदण्ड-दण्डशय्या महीशयः ॥ (आचा. सा. १-४४) ।

स्वच्छ, प्रासुक एवं आत्मसंस्कार से रहित पृथिवी अथवा शिला आदि के ऊपर एक पार्श्वभाग (कर-वट) से धनुष या दण्ड के समान शयन करना, यह मुनि के २८ मूल गुणों में महीशय नाम का एक मूल गुण है ।

महैषी (महेसी)—महः एकान्तोत्सवरूपत्वान्मोक्षः, तमिच्छतीत्येवंशीलो महैषी वा । (उत्तरा. सू. शा. वृ. ४-१०, पृ. २२५) ।

'मह' का अर्थ एकान्त उत्सवरूप मोक्ष है, उसकी जो अभिलाषा करता है वह महेसी कहलाता है । 'महेसी' इस प्राकृत भाषागत शब्द के संस्कृत में दो रूप होते हैं—महर्षि और महैषी । ऋषियों में जो श्रेष्ठ हो उसे महर्षि कहा जाता है ।

महोरग—१. महोरगाः श्यामावदाता महावेगाः सौम्याः सौम्यदर्शना महाकायाः पृथुपीनस्कन्ध-ग्रीवा विविधानुविलेपना विचित्राभरणभूषणा नागवृक्ष-ध्वजाः । (त. भा. ४-१२; बृहत्सं. मलय. वृ. ५८) । २. सर्पाकारेण विकरणप्रियाः महोरगाः नाम । (धव. पु. १३, पृ. ३९१) ।

१ जो व्यन्तर जाति के देव वर्ण से कृष्ण होते हुए निर्मल, अतिशय वेगशाली, सुन्दर, सौम्यदर्शन, विशाल शरीर वाले, विस्तृत कन्धों व ग्रीवा से युक्त, अनेक प्रकार के विलेपनों से सहित, विचित्र अलंकारों से विभूषित और नागवृक्ष की ध्वजा से चिह्नित होते हैं उन्हें महोरग कहा जाता है ।

२ जिनको सर्प के आकार से विक्रिया करना रुचिकर होता है उनका नाम महोरग है।

महोह— चतुरशीतिमहोहाङ्गशतसहस्राण्येकं महोहम्। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ७०)।

चौरासी लाख महा ऊहाङ्गों का एक महोह (महाऊह) होता है।

मंगल—१. गालयदि विणासयदे घादेदि दहेति हंति सोधयदे। विद्धंसेदि मलाइं जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं॥ अहवा बहुभेयगयं णाणावरणादिदव्व-भावमलभेदा। ताइं गालेदि पुढं जदो तदो मंगलं भणिदं॥ अहवा मंगं सोक्खं लादि हु गेण्हेदि मंगलं तम्हा। एदेण कज्जसिद्धिं मंगइ गच्छेदि गंथकत्तारो॥ पावं मलं ति भण्णइ उवचारसरूवएण जीवाणं। तं गालेदि विणासं णेदि त्ति भणंति मंगलं केई॥ (ति. प. १–९, १४–१५ व १७)। २. जं गालयते पावं मं लाइ व कहममंगलं तं ते। जा य अणुण्णा सव्वा, कहमिच्छसि मंगलं तं तु। (बृहत्क. भा. ८०९)। ३. मंगिज्जएऽधिगम्मइ जेण हिअं तेण मंगलं होइ। अहवा मंगो धम्मो तं लाइ तयं समादत्ते॥ अहवा निवायणाओ मंगलमिट्ठत्थपगइ-पच्चयओ। सत्थे सिद्धे जं जह तयं जहाजोगमाओज्जं॥ मं गालयइ भवाओ व मंगलमिह एवमाइनेरुत्ता। भासंति सत्थवसओ नामाइ चउव्विहं तं च॥ (विशेषा. भा. २२–२४)। ४. मंगं नारकादिषु पवडंतं सो लाति मंगलं, लाति गेण्हइत्ति वुत्तं भवति। (दशवै. चू. पृ. १५)। ५. मङ्ग्यते हितमनेनेति मङ्गलम्, मङ्ग्यतेऽधिगम्यते साध्यत इति यावत्, अथवा मंगेति धर्माभिधानम्, ××× मंगं लातीति मङ्गलम्, धर्मोपादानहेतुरित्यर्थः, अथवा मां गालयति भवादिति मंगलम्, संसारादपनयतीत्यर्थः। (आव. हरि. वृ. पृ. ४; दशवै. नि. हरि. वृ. १, पृ. ३)। ६. मङ्गलं पुण्यं पूतं पवित्रं प्रशस्तं शिवं शुभं कल्याणं भद्रं सौख्यमित्येवमादीनि मंगलपर्यायवचनानि। ××× मङ्गलस्य निरुक्तिरुच्यते—मलं गालयति विनाशयति दहति हन्ति विशोधयति विध्वंसयतीति मंगलम्। ××× अथवा मंगं सुखम्, तल्लाति आदत्ते इति वा मंगलम्। उक्तं च—मङ्गशब्दोऽयमुद्दिष्टः पुण्यार्थस्याभिधायकः। तल्लातीत्युच्यते सद्भिर्मंगलं मंगलार्थिभिः। (धव. पु. १, पृ. ३१–३३)। ७. मंगलं मलं पापं गालयति विनाशयतीति, मंगं पुण्यं लात्यादत्ते इति वा मंगलम्। (चारित्रभ. टी. ८)। ८. मथ्नाति विनाशयति शास्त्रपारगमनविघ्नान्, गमयति प्रापयति शास्त्रस्थैर्यम्, लालयति च श्लेषयति तदेव शिष्य-प्रशिष्यपरम्परायामिति मङ्गलम्। यद्वा मन्यन्ते अनापायसिद्धिं गायन्ति प्रबन्धप्रतिष्ठितिं लान्ति वा ऽव्यवच्छिन्नसन्तानाः शिष्य-प्रशिष्यादयः शास्त्रमस्मिन्निति मङ्गलम्। (उत्तरा. शा. वृ. पृ. २)। ९. मलं पापं गालयति विध्वंसयतीति मंगलम्। अथवा मंगं पुण्यं सुखम् तल्लाति आदत्ते गृह्णाति वा मंगलम्। (पंचा. का. जय. वृ. १, पृ. ५)। १०. मङ्ग्यतेऽधिगम्यते हितमनेनेति मंगलम्। अथवा मङ्ग इति धर्मस्याख्या, तं लाति आदत्ते इति मंगलम्। ××× यदि वा मां गालयति अपनयति भवादिति मंगलम्। मा भूद् गलो विघ्नो गालो वा नाशः शास्त्रस्यास्मादिति मंगलम्। (जीवाजी. मलय. वृ. पृ. २)। ११. मङ्ग्यते अधिगम्यते, प्राप्यते इति यावत्, हितमनेनेति मंगलम् ××× अथवा मङ्ग्यते प्राप्यते स्वर्गोऽपवर्गो वा अनेनेति मंगः, मंगो नाम धर्मः ××× तं लाति आदत्ते इति मंगलम्, ××× मंगो नाम धर्मः, धर्मोपादानहेतुरिति भावः, ××× अपरे पुनरेवं व्युत्पत्तिमाचक्षते—मडु भूषायाम् मण्ड्यते शास्त्रमलंक्रियतेऽनेनेति मंगलम्, ××× मन्यते ज्ञायते निश्चीयते विघ्नभावोऽनेनेति मंगलम्। यदि वा 'मदै हर्षे' माद्यन्ति, विघ्नाभावेन हृष्यन्ति शिष्या अनेन, 'मह पूजायां' वा मह्यते पूज्यते शास्त्रमनेनेति मंगलम् ×××मां गालयति—अपनयति संसारादिति मङ्गलम्, यदि वा मलं पापं गालयति स्फेटयति मंगलम्, मा भूत् गलो विघ्नोऽस्मादिति वा मंगलम्। (आव. मलय. वृ. पृ. ५)। १२. मां लाति दुर्गतौ पतन्तं गृह्णाति पापं च गालयतीति मंगलम्। (बृहत्क. क्षे. वृ. ८०९)। १३. मं मलं पापं गालयति मंगं वा पुण्यं लात्यादत्ते इति मंगलम्। (अन. ध. १–६)। १४. मलं पापं गालयति ध्वंसयति, मंगं पुण्यं लात्यादत्ते अस्मादिति मंगलम्। (लघीय. अभय. वृ. १)। १५. मलं पापं गालयन्ति मूलादुन्मूलयन्ति निर्मूलकापं कषन्तीति मंगलम्, अथवा मंगं सुखं परमानन्दलक्षणं लान्ति ददति इति मंगलम्। एते पञ्चपरमेष्ठिनो मंगल–

मित्युच्यन्ते। (भावप्रा. टी. १२२)।

१ 'मं' नाम मल का है। जो पापरूप मल को नष्ट करता है उसे मंगल कहते हैं, अथवा द्रव्य व भाव मल के भेदभूत जो अनेक प्रकार का ज्ञानावरणादि रूप मल है उसे जो गलाता है—नष्ट करता है—उसे मंगल कहा जाता है; अथवा मंग नाम सुख का है, उसको जो लाता है—प्राप्त कराता है—वह मंगल कहलाता है। ३ गमनार्थक मङ्ग धातु से अल् प्रत्यय होकर मंगल शब्द बना है, उसका अर्थ यह है कि जिसके द्वारा हित जाना जाता है या सिद्ध किया जाता है वह मंगल कहलाता है। अथवा व्याकरणप्रसिद्ध अभीष्ट प्रकृति-प्रत्ययरूप निपातन किया से मंगल शब्द सिद्ध होता है, तदनुसार यथायोग्य आयोजन करना चाहिए। अथवा 'मं' का संस्कृतरूप 'माम्' होता है—तदनुसार जो मुझे ससार से छुड़ाता है—मुक्ति प्राप्त कराता है—उसे मंगल जानना चाहिए। अथवा 'मं' का अर्थ निषेधवाचक मा और 'गल' का अर्थ विघ्न होता है। तदनुसार यह अभिप्राय हुआ कि शास्त्र परिसमाप्ति में विघ्न मत होओ, इसके लिए मंगल किया जाता है।

मंगलचैत्य—देखो मंगलकारिता जिनप्रतिमा। १. अरहंतपइट्ठाए महुरानयरीए मंगलाइं तु। गेहेसु चच्चरेसु य छन्नउईगाम अद्धेसु। (बृहत्क. १७७६)। २. मथुरापुर्यां गृहेषु कृतेषु मङ्गलनिमित्तं यद् निवेश्यते तद्मङ्गलचैत्यम्। (बृहत्क. क्षे. वृ. १७७४)। ३. मङ्गलचैत्यं गृहद्वारदेशादिनिकुट्टित-प्रतिमारूपम्। (जीतक. चू. वि. प. व्या. ७–२४, पृ. ४०)।

१ मथुरा नगरी में गृहों की रचना करते हुए घरों में और चत्वरों में—चौक या चौरास्तों में—मंगल के निमित्त जो अरहंत प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की जाती है उसे मंगलचैत्य कहा जाता है।

मंगलयकारिता जिनप्रतिमा—मङ्गल्यकारिता या गृहेषु द्वारपत्रेषु मङ्गलाय कार्यन्ते। (योगशा. स्वो. विव. ३–१२०)।

जो जिनप्रतिमायें मंगल के निमित्त घरों में और द्वारपत्रों में की जाती हैं उन्हें मंगलकारिता जिनप्रतिमा कहा जाता है।

मंचयोग—मञ्चो मञ्चसदृशः। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १२–७८, पृ. २३३)।

जिस योग में सूर्य, चन्द्र व नक्षत्र मचान के आकार में रहते हैं उसे मंचयोग कहा जाता है। यह ज्योतिष शास्त्र में प्रसिद्ध दस योगों में तीसरा है।

मंचातिमंचयोग—मञ्चात् व्यवहारप्रसिद्धात् द्वि-त्र्यादिभूमिकाभावतोऽतिशायी मञ्चो मञ्चातिमञ्चस्ततसदृशो योगोऽपि मञ्चातिमञ्चः। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १२–७८, पृ. २३३)।

जो मचान सामान्य मचान से दो-तीन खण्डों के रूप में अतिशय युक्त होता है उसे मंचातिमंच कहते हैं। जिस योग में सूर्य, चन्द्र व नक्षत्र मंचातिमंच के आकार रहते हैं उसे मंचातिमंचयोग कहा जाता है।

मंडनधात्री दोष—बालं स्वयं मण्डयति मण्डन-निमित्त वा कर्मोपदिशति यस्मै दात्रे स तेन भक्तः सन् दानाय प्रवर्तते, तद्दानं गृह्णाति साधुस्तस्य मण्डनधात्रीनामोत्पादनदोषः। (मूला. वृ. ६–२८)।

बालकों को स्वयं सजाता है तथा सजाने की विधि का जिस दाता के लिए उपदेश देता है वह दाता उससे प्रेरित होकर दान में प्रवृत्त होता है। साधु उस दाता के दान को यदि ग्रहण करता है तो उसके मण्डनधात्री नाम का उत्पादन दोष होता है।

मंडल (देश)—सर्वकामदुघात्वेन पतिहृदयं मण्डयति भूषयतीति मण्डलम्। (नीतिवा. १६–४, पृ. १६१)।

जो कामधेनु के समान पति (राजा) की इच्छाओं की पूर्ति का कारण होने से उसके हृदय को मण्डित या भूषित करता है उसे मण्डल कहा जाता है।

मंडलस्थान—१. मण्डलं नाम दोवि पाए दाहिण-वामहुत्ता ऊरुणो (दोण्हं) अन्तरा चत्तारि पया। (आव. नि. मलय. वृ. १०३६, पृ. ५६७)। २. द्वावपि पादौ समौ दक्षिण-वामतोऽपसार्य ऊरू प्रसारयति यथा मध्ये मण्डलं भवति अन्तरा चत्वारः पादास्तत् मण्डलम्। (व्यव. भा. मलय. वृ. पी. द्वि वि. १–३५, पृ. १३)।

२ योद्धाओं के जिस स्थानविशेष में दोनों सम पांवों को दाहिनी और बायीं ओर हटाकर जंघाओं को फैलाते हुए चार पांवों का अन्तर रखा जाता है उसे मण्डलस्थान कहते हैं।

मंडलिक, मंडलीक—१. चउराजसहस्साणं अहि-

राम्रो होइ मण्डलिम्रो । (ति. प. १–४६) । २. मण्डलिकश्च तथा स्याच्चतुःसहस्रावनीशपतिः । (धव. पु. १, पृ. ५७ उद्.) । ३. चतुःसहस्रराजस्वामी मण्डलिकः। (त्रि. सा. वृ. ६८५) ।

१ चार हजार राजाओं का जो अधिपति होता है वह मण्डलिक या मण्डलीक कहलाता है।

मंडलीवात — मण्डलाकृतिरामूलात् मण्डलीवात उच्यते। (लोकप्र. ५–२५) ।

प्रारम्भ से मण्डलाकार में जो वायु उठती है उसे मंडलीवात कहते हैं।

मंडूकगति—जण्ण मंडग्रो फिडिता गच्छति से तं मण्डूयगती। (प्रज्ञाप. २०५, पृ. ३२६) ।

मेंढक जो उछल कर जाता है उसे मण्डूकगति कहते हैं।

मंदभाव—१. तद्विपरीतो (बाह्याभ्यन्तरहेत्वनुदीरणवशादनुद्रिक्तः परिणामः) मंदः। (स. सि. ६–६) । २. अनुदीरणप्रत्ययसन्निधानात् उत्पद्यमानोऽनुद्रिक्तः परिणामो मन्दनात् गमनात् मन्द इत्युच्यते। (त. वा. ६, ६, २) । ३. मन्दते अल्पो भवति अनुत्कटः संजायते यः परिणामः स मन्द उच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ६–६) ।

१ बाह्य और अभ्यन्तर कारणों की अनुदीरणा से जो जीव का अनुत्कट परिणाम होता है उसे मंदभाव कहते हैं।

मागध प्रस्थ – १. चत्तारि चेव कुलवा पत्थो पुण मागहो होइ। (ज्योतिष्क. २५) । २. चत्वारश्च कुडवा एकत्र पिण्डिता एकः प्रस्थो मागधो भवति। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. २५) ।

१ चार कुडवों का एक मागध प्रस्थ (मगध देश का एक मापविशेष) होता है।

माडम्बिक—१. माडम्बिकः छिन्नमण्डलाधिपः । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १६) । २. यस्य प्रत्यासन्न ग्राम-नगरादिकमपरं नास्ति तत्सर्वतश्छिन्नं जनाश्रयविशेषरूपं मडम्बम्, तस्याधिपतिर्माडम्बिकः । (जीवाजी. मलय. वृ. १४७) ।

२ जिस स्थान के निकट दूसरे गांव व नगरादि नहीं रहते ऐसे सब ओर से छिन्न जनों के आश्रयभूत स्थानविशेष का नाम मडम्ब है। इस प्रकार के मडम्ब के स्वामी को माडम्बिक कहा जाता है।

माणवकनिधि — देखो नैसर्प व पाण्डनिधि। १. जोहाण य उप्पत्ती आवरणाणं च पहरणाणं च। सव्वा य जुद्धणीई माणवगे दंडणीई अ। (जम्बूद्वी. ६६, पृ. २५६–५७) । २. काल-महाकाल-पडू माणव × × × । उडुजोग्गदव्व-भायण-धण्णायुह- × × × देंति कालादिया कमसो ॥ (ति. प. ४, ७३९–४०) । ३. काल-महकाल-माणव × × ×॥ उडुजोग्गकुसुमदामप्पहुदि भायणयमाउहाभरणं । × × × अणुकमसो। (त्रि. सा. ८२१–२२) । ४. योधानामायुधानां च सन्नाहानां च संपदः। युद्धनीतिरशेषापि दण्डनीतिश्च माणवात्। (त्रि. श. पु. च. १, ४, ५८१) ।

१ जिस निधि में योद्धाओं, आवरणों (ढाल व कवच आदि) और अस्त्र-शस्त्रों की उत्पत्ति तथा सब युद्धनीति एवं दण्डनीति कही जाती है वह माणवनिधि कहलाती है। २ माणवनिधि आयुधों को दिया करती है।

माण्डलिक—देखो मंडलिक। माण्डलिकः सामान्यराजाऽल्पर्द्धिकः। (जीवाजी. मलय. वृ. ३६) ।

अल्प ऋद्धि के धारक साधारण राजा को माण्डलिक कहा जाता है।

माण्डूकप्लुतयोग—तत्र माण्डूकप्लुत्या यो जातो योगः स माण्डूकप्लुतः, स च ग्रहेण सह वेदितव्यः। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १२–७६, पृ. २३३) ।

मेंढक के उछलने से जो योग निष्पन्न होता है वह मण्डूकप्लुत योग कहलाता है। उक्त योग ग्रह के साथ जानना चाहिए।

मातृकापदास्तिक—व्यवहारनयानुसारि मातृकापदास्तिकम्। × × × सन्मात्रं शुद्धद्रव्यमात्रं वा विद्यमानमपि न जातुचिद् व्यवहारक्षमम्, अतः स्थूलकतिपयव्यवहारयोग्यविशेषप्रधानं मातृकापदास्तिकम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५–३१, पृ. ४००) ।

सत् मात्र अथवा शुद्ध द्रव्य मात्र विद्यमान रहकर भी कभी व्यवहार में समर्थ नहीं होता, अतः व्यवहार के योग्य कुछ विशेषों की प्रधानतायुक्त मातृकापदास्तिक सत् होता है। यह व्यवहारनय का अनुसरण करने वाला है, जब कि द्रव्यास्तिक संग्रहनय का अनुसरण करता है।

मात्सर्य (अतिचारविशेष) — देखो मत्सर। १. प्रयच्छतोऽप्यादराभावोऽन्यदातृगुणासहनं वा मात्सर्यम्। (स. सि. ७-३६)। २. प्रयच्छतोऽप्यादराभावो मात्सर्यम्। प्रयच्छतोऽपि सतः आदरमन्तरेण दानं मात्सर्यमिति प्रतीयते। (त. वा. ७, ३६, ४)। ३. मात्सर्यमिति याचितः कुप्यते सदपि न ददाति परोन्नतिवैमनस्यं च मात्सर्यमिति। तेन तावद् द्रमकेण दत्तम्, किमहं ततोऽपि न्यूनः इति मात्सर्याद् ददाति, कषायकलुषितेन वा चित्तेन ददतो मात्सर्यमिति। (श्रा. प्र. टी. ३२७)। ४. प्रयच्छतोऽपि सत आदरमन्तरेण दानं मात्सर्यम्। (चा. सा. पृ. १४)। ५. मत्सरः असहनं साधुभिर्याचितस्य कोपकरणं तेन रङ्केन याचितेन दत्तमहं तु किं ततोऽपि हीन इत्यादिविकल्पो वा, सोऽस्यास्तीति मत्सरी, तद्भावो मात्सर्यम्। (ध. बि. मु. वृ. ३, ३४)। ६. यद् दानं प्रददन्नपि आदरं न कुरुते अपरदातृगुणान् न क्षमते वा तन्मात्सर्यमुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७-३६)। ७. प्रयच्छन्नच्छमन्नादि गर्वमुद्वहते यदि। दूषणं लभते सोऽपि महामात्सर्यसंज्ञकम्। (लाटीसं. ६-३०)।

१ आहारादि को देते हुए भी आदरभाव न रखना तथा अन्य दाता के गुणों को सहन न करना, इसे मात्सर्य कहा जाता है। यह अतिथिसंविभागव्रत का एक अतिचार है। ३ याचना करने पर क्रोध करना, देय द्रव्य के होते हुए भी न देना, दूसरे की उन्नति में खिन्न होना, तथा याचना करने पर उस दरिद्र ने तो दिया है, क्या मैं उससे भी हीन हूं, इस प्रकार ईर्ष्याभाव से अथवा कषाय-कलुषित हृदय से देना, यह मात्सर्य नामक अतिथिसंविभागव्रत का एक अतिचार है।

मात्सर्य (ज्ञानप्रतिबन्धक कारण)—१. कुतश्चित्कारणाद् भावितमपि विज्ञानं दानार्हमपि यतो न दीयते तन्मात्सर्यम्। (स. सि. ६-१०)। २. यावद्यथावद्देयज्ञानाप्रदानं मात्सर्यम्। कुतश्चित्कारणादात्मना भावितज्ञानं दानार्हमपि योग्याय यतो न दीयते तन्मात्सर्यम्। (त. वा. ६, १०, ३)। ३. यावद्यथावद्द्वेषस्य [देयस्या-] प्रदानं मात्सर्यम्। (त. श्लो. ६-१०)। ४. आत्मसदभ्यस्तमपि ज्ञानं दातुं योग्यमपि दानयोग्यायापि पुंसे केनापि हेतुना यन्न दीयते तन्मात्सर्यमुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ६-१०)।

१ किसी कारण से अभ्यस्त या सुसंस्कृत और देने योग्य ज्ञान के होते हुए भी जिस कारण से उसे दिया नहीं जाता है उसे मात्सर्य कहा जाता है। यह ज्ञानावरण के बन्धक कारणों में से एक है।

माध्यस्थभावना—१. राग-द्वेषपूर्वकपक्षपाताभावो माध्यस्थम्। (स. सि. ७-११; त. श्लो. ७-११)। २. माध्यस्थ्यमौदासीन्यमुपेक्षेत्यनर्थान्तरम्। (त. भा. ७-६)। ३. राग-द्वेषपूर्वकपक्षपाताभावो माध्यस्थ्यम्। रागात् द्वेषाच्च कस्यचित् पक्षे पतनं पक्षपातः, तदभावात् मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थः, मध्यस्थस्य भावः कर्म वा माध्यस्थ्यम्। (त. वा. ७, ११, ४)। ४. हर्षामर्षोज्झिता वृत्तिर्माध्यस्थ्यं निर्गुणात्मनि। (उपासका. ३३७)। ५. क्रोधविद्वेषु सत्त्वेषु निस्त्रिंशक्रूरकर्मसु। मधु-मांस-सुरान्यस्त्रीलुब्धेष्वत्यन्तपापिषु॥ देवागम-यतिव्रातनिन्दकेष्वात्मशंसिषु। नास्तिकेषु च माध्यस्थ्यं यत्सोपेक्षा प्रकीर्तिता॥ (ज्ञाना. २७, १३-१४, पृ. २७३)। ६. राग-द्वेषयोरन्तरालं मध्यम्, तत्र स्थितो मध्यस्थः अरागद्वेषवृत्तिः, तद्भावो माध्यस्थ्यमुपेक्षा। (योगशा. स्वो. विव. ४-११७); क्रूरकर्मसु निःशंकं देवता-गुरुनिन्दिषु। आत्मशंसिषु योपेक्षा तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम्। (योगशा. ४-१२१)। ७. अतिमिथ्यात्विनः पापा मद्य-मांसादिलोलुपाः। नाराध्या न विराध्यास्ते मध्यस्थमिति भाव्यते। (धर्मसं. श्रा. १०-१०५)। ८. मध्यस्थस्य भावः कर्म वा माध्यस्थ्यं राग-द्वेषजनितपक्षपातस्याभावः माध्यस्थ्यम्। (त. वृत्ति श्रुत. ७-११)।

१ राग या द्वेष के वशीभूत होकर पक्षपात न करना, इसका नाम माध्यस्थ्य है। २ माध्यस्थ्य, उदासीनता और उपेक्षा ये समानार्थक शब्द हैं।

माध्यस्थ्य—देखो माध्यस्थभावना।

मान (मापविशेष)—१. प्रस्थादि मानम्। (त. वा. ७, २७, ४)। २. प्रस्थः चतुःसेरमानम्, तत्काष्ठादिना घटितं मानमुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७-२७)।

१ प्रस्थ (चार कुडव प्रमाण) आदि रूप मापने के उपकरण मान कहलाते हैं।

मान (कषायविशेष)—१. जात्याद्युत्सेकावष्टम्भात् पराप्रणतिर्मानः। (त. वा. ८, ६, ५)। २. स्वगुणकल्पनानिमित्तत्वेऽप्रण[ण]तिर्मानः। (त. भा. हरि. वृ. ८-२)। ३. रोषेण विद्या-तपोजात्यादिमदेन वा ऽन्यस्यावनतिः मानः। (धव. पु. १, पृ. ३४६); मानो गर्वः स्तब्धमित्येकोऽर्थः। (धव. पु. ६, पृ. ४१); विज्ञानैश्वर्य-जाति-कुल-तपो-विद्याजनितो जीवपरिणामः औद्धत्यात्मको मानः। (धव. पु. १२, पृ. २८३)। ४. स्वगुणपरिकल्पनानिमित्तत्वात् अप्रणतिर्मानः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-२)। ५. दुरभिनिवेशामोक्षो यथोक्ता- (ध. बि. व श्राद्धगु. 'युक्तोक्ता'-) ऽग्रहण वा मानः। (नीतिवा. ४-५, पृ. ४०; ध. बि. मु. वृ. १-१५, पृ. ७; श्राद्धगु. पृ. ८०)। ६. परुषेर्ष्यं मनो मानो निर्दयः परमर्दनः। स्वोन्नतानत्यहंकारः परासहनलक्षणः॥ (आचा. सा. ५-१७)। ७. जात्यादिगुणवानहमेवेत्येवं मननम् अवगमनं मन्यते वा ऽनेनेति मानः। (स्थानां. अभय. वृ. २४८, पृ. १९३)। ८. चतुरसन्दर्भगर्भीकृतवैदर्भकवित्वेन आदेयनाकर्मोदये सति सकलजनपूज्यतया मातृ-पितृसम्बन्धकुलजातिविशुद्धया वा शतसहस्रकोटिभटाभिधानब्रह्मचर्यव्रतोपार्जितनिरुपमबलेन च दानादिशुभकर्मोपार्जितसंपद्वृद्धिविलासेन अथवा बुद्धि-तपोवैकुर्वणौषध-रस-बलाक्षीणर्द्धिभिः सप्तभिर्वा कमनीयकामिनीलोचनानन्देन वपुर्लावण्यरसविरक्षेण वा आत्माहंकारो मानः। (नि. सा. टी. ११२)। ९. दुरभिनिवेशारोहो युक्तोक्ताग्रहणं वा मानः। (योगशा. स्वो. विव. १-५६, पृ. १५९-६०; धर्मसं. मान. स्वो. वृ. पृ. ५)। १०. मानो गर्वो जात्याद्युद्भवममार्दवम्। (शतक. मल. हेम. वृ. ३८; कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. ८४)। ११. मानो गर्वपरिणामः। (जीवाजी. मलय. वृ. १३)। १२. मानो जात्यादिसमुत्थोऽहङ्कारः। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. १७)। १३. मानः दुरभिनिवेशामोचनं युक्तोक्ताग्रहणं वा। (सम्बो. स. टी. ४)।

१ जाति आदि के आश्रय से दूसरों के प्रति नम्रतापूर्ण प्रवृत्ति न करना, इसका नाम मान है। २ अपने गुणों की कल्पना के निमित्त से नम्रतापूर्ण व्यवहार न करने को मान कहा जाता है। ५ दूषित अभिप्राय (कदाग्रह) को न छोड़ना अथवा यथोक्त—शिष्ट जनके द्वारा कहे गये—वचन को ग्रहण न करना, इसे मान कहते हैं।

मानक्रिया—१. मानक्रिया अहंकृतिरूपा। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. १५)। २. जात्यादिमदैः परहीलनं मानक्रिया। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ८७, पृ. ८२)।

१ अहंकार रूप क्रिया का नाम मानक्रिया है।

मानदोष—१. मानं गर्वं कृत्वा यद्यात्मनो भिक्षादिकमुत्पादयति तदा मानदोषः। (मूला. वृ. ६, ३४)। २. मानेनान्नार्जनं मानः। (भावप्रा. टी. ६६)।

१ अभिमान को प्रगट करके यदि साधु अपने लिये भिक्षा (आहार) आदि को उत्पन्न करता है तो यह उसके लिए मान नामक एक उत्पादनदोष होता है।

माननिःसृता असत्यभाषा—सा माणणिस्सिया खलु माणाविट्ठो कहेइ जं भासं। जह बहुधणवतोऽहं ऽहवा सव्वेपि तव्वयणं॥ (भाषार. ४२)।

मान से युक्त होकर जो वचन बोलता है उसे माननिःसृता असत्यभाषा कहा जाता है। जैसे—मैं बहुत धनवान् हूं, अथवा मानी के सभी वचन को माननिःसृता असत्यभाषा समझना चाहिए।

मानपिण्ड—देखो मानदोष। १. ओच्छाहिओ परेण व लद्धिपसंसाहिं वा समुत्तइओ। अवमाणिओ परेण य जो एसइ माणपिंडो सो। (पिण्डनि. ४६५)। २. लब्धिप्रशंसोत्तानस्य परेणोत्साहितस्यावमतस्य वा गृहस्थाभिमानमुत्पादयतो मानपिण्डः। (योगशा. स्वो. विव. १-३८, पृ. १३५; धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३-२२, पृ. ४१)। ३. प्रशंसितोऽपमानितो वा दातुरभिमानोत्पादनेन यल्लभते स मानपिण्डः। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २०, पृ. ४९)।

१ दूसरे साधु आदि के द्वारा उत्साहित करके, लब्धि (ऋद्धि) व प्रशंसा से गर्वयुक्त करके अथवा अपमानित करके जो भोजन को खोजता है उसके मानपिण्ड नाम का यह उत्पादन दोष होता है।

मानव—हेयादेयानि मन्यन्ते ये मनोज्ञानलोचनाः। द्वेधा म्लेच्छार्यभेदेन मानवास्ते निवेदिताः। (पंचसं. अमित. १-१३९)।

जो मनजनित ज्ञानरूप नेत्रों से युक्त होते हुए हेय

और उपादेय पदार्थों को मानते हैं—जानते हैं—वे मानव कहलाते हैं।

मालवयोजन—चतुर्गव्यूतिभिर्मानवयोजनं भवति। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३८)।

चार गव्यूतियों का एक मानव (उत्सेध) योजन होता है।

मानस—मणम्मि भवं लिंगं माणसं, अथवा मणो चेव माणसो। (धव. पु. १३, पृ. ३३२); माणसं णोइंदियं मणोवग्गणखंधणिव्वत्तिदं ××× । (धव. पु. १३, पृ. ३४१)।

मनवर्गणा से रचित नोइन्द्रिय (मन) का नाम मानस है।

मानस अविनय—यत्किञ्चिल्लब्ध्वा गुरवस्तुष्यन्ति लघुप्रायश्चित्तदायिनो भविष्यन्तीति स्वबुद्ध्या असद्दोषाध्यारोपणान्मानसोऽविनयः (मूला. 'रोपणाद्धि मानसो विनयः')। (भ. आ. विजयो. व मूला. ५६४)।

कुछ भी पाकर गुरु सन्तुष्ट होंगे व लघु (साधारण) प्रायश्चित्त देंगे, इस प्रकार अपनी बुद्धि से गुरु के विषय में असत् दोष का आरोप करने से मानस अविनय होता है।

मानस अशुभयोग—देखो अभिध्या, असूया और ईर्ष्या। अभिध्या-व्यापादेर्ष्यासूयादीनि मानसः। (त. भा. ६–१)।

अभिध्या, व्यापाद, ईर्ष्या और असूया आदि को मानस अशुभ योग कहा जाता है। अपाय सहित उत्पादन का नाम व्यापाद है। जैसे—इसका शत्रु इन्द्र का घातक वज्र है, अतः उसी को कुपित करता हूं।

मानस-असमीक्ष्याधिकरण—देखो मानसासमीक्ष्याधिकरण।

मानस जप—मानसो मनोमात्रवृत्तिनिर्वृत्तः स्वसंवेद्यः। (निर्वाणक. पृ. ४)।

एक मात्र मन के व्यापार से जो जप होता है उसे मानस जप कहते हैं; वह स्वसंवेद्य होता है—अपने आप ही जाना जाता है। तीन प्रकार के जप में यह प्रथम है।

मानस तप—मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः। भावसंशुद्धिरित्येतन्मानसं तप उच्यते। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २, पृ. ६ उद्.)।

मन की प्रसन्नता, स्वभावतः शान्त परिणति, मौन, आत्मदमन और परिणामों की निर्मलता; इसे मानस तप कहा जाता है।

मानस ध्यान—मानसं त्वेकस्मिन् वस्तुनि चित्तस्यैकाग्रता। (बृहत्क. भा. क्षे. वृ. १६४२)।

एक वस्तुविषयक मन की एकाग्रता को मानस ध्यान कहा जाता है।

मानसासमीक्ष्याधिकरण—देखो असमीक्ष्याधिकरण। मानसं (असमीक्ष्याधिकरणं) परानर्थककाव्यादिचिन्तनम्। (त. वा. ७, ३२, ५, चा. सा. पृ. १०)।

दूसरों के निरर्थक काव्य आदि के चिन्तन को मानस असमीक्ष्याधिकरण कहा जाता है।

मानसिक अर्थ—मणोवग्गणाए णिव्वत्तियं हियय-पउमं मणो णाम। मणोजणिदणाणं वा मणो वुच्चदे। मणसा चिंतिदट्ठा माणसिया। (धव. पु. १३, पृ. ३५०)।

मनवर्गणा से निर्मित हृदय-कमल का नाम मन है, अथवा मन से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को मन कहा जाता है। इस प्रकार के मन से जिन पदार्थों का चिन्तन किया जाता है वे मानसिक अर्थ कहलाते हैं।

मानसिक विनय—१. पाप-विसोत्तिअपरिणाम-वज्जणं पिय-हिदे य परिणामो। णादव्वो संखेवेणेसो माणसिओ विणओ॥ (मूला. ५–१८२)। २. माणसिओ पुण विणओ दुविहो उ समासओ मुणेयव्वो। अकुसलमणोनिरोहो कुसलमण-उदीरणं चेव। (व्यव. भा. पी. १–७७, पृ. ३०)। ३. अकुशलस्यार्त्तध्यानाद्युपगतस्य मनसो निरोधः अकुशलमनोनिरोधः, कुशलस्य धर्मध्यानाद्युपगतस्य मनस उदीरणं मानसिको विनयः। (व्यव. भा. मलय. वृ. पी. १–७७)।

१ पापस्वरूप विरुद्ध आचरण की परिणति को रोकना तथा प्रिय एवं हितकर मार्ग में परिणत (तत्पर) रहना, इसका नाम मानसिक विनय है। २ मानसिक विनय दो प्रकार का है, अकुशल—दुर्ध्यान को प्राप्त—मन को रोकना और कुशल—समीचीन ध्यान जो प्राप्त—मन को उद्यत करना, इसे मानसिक विनय कहा जाता है।

मानान्यत्व—देखो हीनाधिकमानोन्मान। तथा मीयतेऽनेनेति मानं कुडवादि पलादि हस्तादि, तस्या-

न्यत्वं हीनाधिकत्वम्—हीनमानेन ददाति अधिकमानेन गृह्णाति। (योगशा. स्वो. विव. ३-९२, पृ. ५५४)।

कुडव, पल और हस्त आदि मान कहलाते हैं। उनको भिन्न रखना—हीन (कम) मान से देना और अधिक मान से लेना, इसका नाम मानान्यत्व है। यह अचौर्यव्रत को दूषित करने वाला एक अतिचार है।

मानुष—१. मण्णंति जदो णिच्चं मणेण णिउणा जदो दु जे जीवा। मणउक्कडा य जम्हा तम्हा ते माणुसा भणिया। (प्रा. पंचसं. १-६२)। २. अथवा मनसा निपुणाः मनसा उत्कटा इति वा मनुष्याः। (धव. पु. १, पृ. २०२-२०३); मण्णंति जदो णिच्चं मणेण णिउणा मणुक्कडा जह्मा। मणुउब्भवा य सव्वे तह्मा ते माणुसा भणिया। (धव. पु. १, पृ. २०३ उद्.; गो. जी. १४९); मनसा उत्कटाः मानुषाः। (धव. पु. १३, पृ. ३९२)।

१ जो जीव मन से निपुण होकर सदा पदार्थों को मानते हैं—जानते हैं—तथा मन से उत्कट (प्रखर) होते हैं उन्हें मानुस (मनुष्य) कहा जाता है।

मानुषोत्तरशैल—१. अब्भन्तरम्मि भागे टंकुक्किण्णो वहिम्मि कमहीणो। सुर-खेयरमणहरणो अणाइणिहणो सुवण्णणिहो। (ति. प. ४-२७५१)। २ अंते टंकच्छिण्णो वाहिं कमवड्ढि-हाणि कणयणिहो। णदिणिग्गमपहचोद्दसगुहाजुदो माणुसुत्तरगो। (त्रि. सा. ९३७)।

१ पुष्कर द्वीप के मध्यगत जो सुवर्ण सदृश पर्वत अभ्यन्तर भाग में टांकी से उकेरे गये के समान (भित्ति के समान हानि-वृद्धि से रहित) तथा वाह्य भाग में क्रम से ऊपर हीन होता गया है, उसका नाम मानुषोत्तर है और वह अनादिनिधन है।

माया—१. चारित्रमोहकर्मविशेषस्योदयादाविर्भूतआत्मनः कुटिलभावो माया निकृतिः। (स. सि. ६-१६)। २. चारित्रमोहोदयात् कुटिलभावो माया। चारित्रमोहकर्मोदयाविर्भूत आत्मनः कुटिलस्वभावो मायेति व्यपदिश्यते। (त. वा. ६, १६, १); परातिसन्धानतयोपहितकौटिल्यप्रायः प्रणिधिर्माया प्रत्यासन्नवंशपर्वोपचितमूलमेषशृंग-गोमूत्रिकाऽवलेखनीसदृशी चतुर्विधा। (त. वा. ८, ९, ५)। ३. मिमीते परानिति माया। (त. भा. हरि. वृ. ७-१३); परातिसन्धाननिमित्तः छद्मप्रयोगो माया। (त. भा. हरि. वृ. ८-२)। ४. निकृतिर्वञ्चना मायाकषायः। (धव. पु. १, पृ. ३४९); माया निकृतिर्वञ्चना अनृजुत्वमिति पर्यायशब्दाः। (धव. पु. ६, पृ. ४१)। स्वहृदयप्रच्छादनार्थमनुष्ठानं माया। (धव. पु. १२, पृ. २८३)। ५. पअरा-[अपरा-]भिसन्धाननिमित्तश्छद्मप्रयोगो माया। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-२)। ६. मानं हिंसनं वञ्चनं इत्यर्थो मीयते वाऽनयेति माया। (स्थानां. अभय. वृ. २४८, पृ. १९३)। ७. माया वञ्चनाद्यात्मिका जीवपरिणतिः। (शतक. मल. हेम. वृ. ३८)। ८. माया स्वप्नेन्द्रजालादिः। (आ. मी. वसु. वृ. ८४)। ९. नानाप्रकारणोपायैर्वंचनाकुलिता मतिः। माया विनयविश्वासाऽऽभासचेतोहराकृतिः॥ (आचा. सा. ५, १८)। १०. माया निकृतिरूपा। (जीवाजी. मलय. वृ. १३)। ११. माया वञ्चन-प्रतिकुञ्चनाद्यात्मिका परिणतिः। (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. ८४)। १२. माया परवञ्चनाद्यात्मिका। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. १७)।

१ चारित्रमोहनीय के भेदभूत मायाकषाय के उदय से जो जीव के कुटिल परिणाम उत्पन्न होता है उसे माया कहते हैं, दूसरे शब्द से उसे निकृति भी कहा जाता है। ३ दूसरे के ठगने का कारणभूत जो कुटिलतापूर्ण प्रयोग है उसका नाम माया है।

मायाक्रिया—देखो मायाप्रत्यया क्रिया। १. ज्ञानदर्शनादिषु निकृतिर्वञ्चनं मायाक्रिया। (स. सि. ६-५, त वा. ६, ५, ११)। २. दुर्वक्तृकवचो ज्ञानादौ सा मायादि (?) क्रिया परा॥ (त. श्लो. ६, ५, २४)। ३. मायाक्रिया तु मोक्षसाधनेषु ज्ञानादिषु मायाप्रधानस्य प्रवृत्तिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-६)। ४. चित्तकौटिल्यप्रधाना मायाक्रिया। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. १५)। ५. ज्ञान-दर्शनचारित्र-तपस्सु तद्वत्सु पुरुषेषु च मायावचनं वंचनाकरणं मायाक्रिया। (त. वृत्ति श्रुत. ६-५)। ६. कौटिल्येनान्यद्विचिन्त्य वाचाऽन्यदभिधायान्यदाचर्यते यस्सा मायाक्रिया। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३-८७, पृ. ८२)।

१ ज्ञान-दर्शनादि के विषय में कुटिलता का परिणाम

रखना, इसका नाम मायाक्रिया है।

मायागता चूलिका—१. मायागया तेत्तिएहि चेय पदेहि २०९८९२०० इदंजालं वण्णेदि। (धव. पु. १, पृ. ११३); मायागतायां द्विकोटि-नवशतसहस्रैकान्नवतिसहस्रद्विशतपदायां २०९८९२०० मायाकरणहेतुविद्या-मंत्र-तंत्र-तपांसि निरूप्यन्ते। (धव. पु. ६, पृ. २१०)। २. मायागया पुण महिंदजालं वण्णेदि। (जयध. १, पृ. १३६)। ३. मायागता इन्द्रजालादिक्रियाविशेषप्ररूपिका। (श्रुतभ. टी. ६)। ४. मायागता मायारूपेन्द्रजालविक्रियाकारणमंत्र-तंत्र-तपश्चरणादीनि वर्णयति। (गो. जी. म. प्र ३६२)। ५. इन्द्रजालादिमायोत्पादकमन्त्र-तन्त्रादिनिरूपिका पूर्वोक्त (द्विशताधिकनवाशीतिसहस्र-नवलक्षाधिकद्विकोटि) पदप्रमाणा मायागता चूलिका। (त. वृत्ति श्रुत. १-२०)। ६. मायारूवमहेंदजालविकिरियादिकारणगणस्स। मंत-तंत-तयस्स य णिरूवगा कोदुयाकलिदा। (अंगप. ३-५, पृ. ३०२)।

१ जिसमें माया करने के कारणभूत विद्या, मंत्र, तंत्र और तप की प्ररूपणा की जाती है उसे मायागता चूलिका कहा जाता है।

मायाचार—देखो मायापिण्ड। अन्यादृष्टदोषगूहनं कृत्वा प्रकाशदोषनिवेदनं मायाचारस्तृतीयो दोषः। (त. वा. ९, २२, २)।

१ जो दोष दूसरे के द्वारा नहीं देखे गये हैं उनको प्रगट न करके केवल प्रकाश में आए हुए दोषों का निवेदन करना, यह मायाचार नामक आलोचना का तीसरा दोष है।

माया नामक उत्पादनदोष—१. मायां कुटिलभावं कृत्वा यद्यात्मनो भिक्षादिकमुत्पादयति तदा मायानामोत्पादनदोषः। (मूला. वृ. ६-३४)। २. माययाऽन्नार्जनं माया। (भावप्रा. टी. ९९)।

१ यदि कुटिलता करके अपने लिए भिक्षा उत्पन्न की जाती है तो यह माया नाम का उत्पादनदोष होता है।

मायानिःसृता असत्यभाषा — मायाइणिस्सिया सा मायाविट्ठो कहेइ जं भासं। जह एसो देविंदो अहवा सव्वं पि तव्वयणं। (भाषार. ४३)।

जो (इन्द्रजालिक) मायाचार से युक्त होकर यह कहता है कि 'यह इन्द्र है' उसके इस प्रकार के वचन को अथवा उसके सभी कथन को मायानिःसृता असत्यभाषा कहा जाता है।

मायापिण्ड—१. नानावेष-भाषापरिवर्तनं भिक्षार्थं कुर्वतो मायापिण्डः। (योगशा. स्वो. विव. १-३८; धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३-२२, पृ. ४१)। २. एकगृहाद् गृहीत्वा रूपान्तरं कृत्वा मायावशाद्यत्पुनर्ग्रहणार्थं प्रविशति स मायापिण्डः। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २०, पृ. ४९)।

१ भिक्षा प्राप्त करने के लिए अनेक वेष व भाषा का परिवर्तन करने पर मायापिण्ड नामक दोष होता है।

मायाप्रत्यया क्रिया— माया अनार्जवमुपलक्षणत्वात् क्रोधादेरपि परिग्रहः, माया प्रत्ययं कारणं यस्याः सा मायाप्रत्यया। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २८४, पृ. ४४७)।

माया का अर्थ ऋजुता का अभाव है, माया उपलक्षण है, अतः उससे क्रोधादि को ग्रहण करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि माया कषायादि के आश्रय से जो प्रवृत्ति की जाती है, उसे मायाप्रत्यया क्रिया कहते हैं।

मायामृषावाद – वेषान्तर-भाषान्तरकरणेन यत्परवञ्चनं तन्मायामृषावादः। (औपपा. अभय. वृ. ३४, पृ. ७९)।

अन्य वेष व भाषा को करके जो दूसरों को धोखा दिया जाता है इसे मायामृषावाद कहते हैं।

मायाशल्य—१. रागात् परकलत्रादिवाञ्छारूपम्, द्वेषात् परवध-बन्धच्छेदादिवाञ्छारूपं च मदीयापध्यानं कोऽपि न जानातीति मत्वा स्वशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नसदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसनिर्मलजलेन चित्तशुद्धिमकुर्वाणः सन्नयं जीवो बहिरङ्गवेषेण यल्लोकरञ्जनं करोति तन्मायाशल्यम्। (बृ. द्रव्यसं. टी. ४२)। २. परवंचनं मायाशल्यम्। (त. वृत्ति श्रुत. ७-१८; कार्तिके. टी. ३२६)।

१ राग से परस्त्री आदि की इच्छारूप तथा द्वेष से दूसरे जीवों के वध-बन्धन आदि रूप मेरे दुर्ध्यान को कोई नहीं जानता है, ऐसा समझकर जीव जो अपने मन की शुद्धि न करके बाह्य बगुलावेष द्वारा लोकानुरंजन किया करता है उसे मायाशल्य जानना चाहिए। २ दूसरे को ठगना, इसी का नाम मायाशल्य है।

मायाशल्य मरण—पार्श्वस्थादिरूपेण चिरं विहृत्य पश्चादपि आलोचनामंतरेण यो मरणमुपैति तन्मायाशल्यं मरणम् । (भ. आ. विजयो. २५) ।
पार्श्वस्थ आदि के रूप में दीर्घ काल तक विहार करके—प्रवृत्ति करके—जो आलोचना के विना ही मृत्यु को प्राप्त होता है उसके मरण को मायाशल्यमरण कहा जाता है।

मायी—माया (एयस्स) अत्थित्ति मायी । (धव. पु. १, पृ. १२०); मायास्यास्तीति मायी । (धव. पु. ६, पृ. २२१) ।
जिस जीव का व्यवहार मायापूर्ण होता है उसे मायी कहा जाता है।

मारण—मारणं प्राणवियोजनमसि-शक्ति-कुन्तादिभिः । (ध्यानश. हरि. वृ. १९) ।
तलवार, शक्ति अथवा भाला आदि के द्वारा किये जाने वाले प्राणवियोग का नाम मारण है।

मारणसमुद्धात—देखो मारणान्तिकसमुद्घात ।

मारणान्तिकसमुद्घात — १. औपक्रमिकानुपक्रमायुःक्षयाविर्भूतमरणान्तप्रयोजनो मारणान्तिकसमुद्घातः । (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७७) । २. मारणंतियसमुग्घादो णाम अप्पणो वट्टमाणसरीरमच्छड्डिय उजुगईए विग्गहगईए वा जावुप्पज्जमाणखेत्त ताव गंतूण सरीरतिगुणबाहल्लेण अण्णहा वा अंतोमुहुत्तमच्छणं । (धव. पु. ४, पृ. २६–२७); अप्पणो अच्छिदपदेसादो जाव उप्पज्जमाणखेत्तं ति आयामेण एगपदेसमादिं कादूण जावुक्कस्सेण सरीरतिगुणबाहल्लेण कंडेक्कखंभट्ठियत्तोरण-हल गोमुत्तायारेण अंतोमुहुत्तावट्ठाणं मारणंतियसमुग्घादो णाम । (धव. पु. ७, पृ. २९९, ३००) । ३. मरणान्तसमये मूलशरीरमपरित्यज्य यत्र-कुत्रचिद् बद्धमायुस्तत्प्रदेशं स्फुटितुमात्मप्रदेशानां वहिर्गमनमिति मरणान्तिकसमुद्घातः । (वृ. द्रव्यसं. टी. १०; कार्तिके. टी १७६) । ४. मरणे भवो मारणः, स चासौ समुद्घातश्च मारणसमुद्घातः । (जीवाजी. मलय. वृ. १३) । ५. मरणे मरणकाले भवो मारणः, मारणश्चासौ समुद्घातश्च मारणसमुद्घातः, सोऽन्तर्मुहूर्तावशेषायुःकर्मविषयः । (पंचसं. मलय. वृ. २–२७) ।
१ औपक्रमिक अथवा अनौपक्रमिक आयु के क्षय से प्रगट होने वाला तथा मरण का अन्त जिसका प्रयोजन है उसे मारणान्तिकसमुद्घात कहते हैं। २ अपने वर्तमान शरीर को न छोड़कर ऋजुगति से अथवा विग्रह (मोड़ वाली) गति से जहां उत्पन्न होना है उस क्षेत्र तक जाकर शरीर से तिगुणे बाहल्य से अथवा अन्य प्रकार से अन्तर्मुहूर्त काल तक अवस्थित रहना, इसका नाम मारणान्तिकसमुद्घात है।

मारणान्तिकातिसहनता— मारणान्तिकातिसहनता कल्याणमित्रबुद्ध्या मारणान्तिकोपसर्गसहनमिति । (समवा. अभय. वृ. २७) ।
मरणकाल में होने वाले उपसर्ग को कल्याणकर मित्र की बुद्धि से सहन करना, इसका नाम मारणान्तिक अतिसहनता है। यह २७ अनगार गुणों में अन्तिम है।

मारणान्तिकी संलेखना—पश्चिमा पश्चात्कालभाविनी, अतएव मारणान्तिकी मरणरूपे अन्ते अवसाने भवा मरणान्तिकी संलेखना—कायस्य तपसा कृशीकरणम् । (औपपा. अभय. वृ. ३४, पृ. ८२) ।
तप के द्वारा शरीर के कृश करने का नाम संलेखना है। वह चूंकि मरणरूप अन्त समय में होती है इसलिए उसे मारणान्तिकी, पश्चिमा व अपश्चिमा संलेखना भी कहा जाता है।

मारुतचारण—णाणाविहगदिमारुदपदेसपंतीसु देंति पदखेवे । जं अक्खलिया मुणिणो सा मारुदचारणा रिद्धी । (ति. प. ४–१०४७) ।
जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनिजन अनेक प्रकार की गतिवाली वायु की प्रदेशपंक्तियों पर पादक्षेप करते हुए निर्बाध रूप से गमन करते हैं वह मारुतचारण ऋद्धि कहलाती है।

मार्ग—१. मृजेः शुद्धिकर्मणो मार्ग इवार्थाभ्यन्तरीकरणात् । मृष्टः शुद्धोऽसाविति मार्गः, मार्ग इव मार्गः । क उपमार्थः ? यथा स्थाणुकण्टकोपल-शर्करादिदोषरहितेन मार्गेण मार्गगाः सुखमभिप्रेतस्थानं गच्छन्ति तथा मिथ्यादर्शनाऽसंयमादिदोषरहितेन त्र्यंशेन श्रेयोमार्गेण सुखं मोक्षं गच्छन्ति । (त. वा. १, १, ३८) । २. स्वाभिप्रेतप्रदेशाप्तेरुपायो निरुपद्रवः । सद्भिः प्रशस्यते मार्गः × × × ॥ (त. श्लो. १, १, ५) । ३. मार्गो हि परमवैराग्यकरणप्रवणा पारमेश्वरी परमाज्ञा । (पंचा. का. अमृत. वृ. १७३) । ४. मार्गस्तावच्छुद्धरत्नत्रयम्

(नि. सा. वृ. २)। ५. मृज्यते शोध्यतेऽनेनात्मा इति मार्गः, मार्गणं वा मार्गः, शिवस्यान्वेषण-मिति भावः। उक्तं च—मग्गिज्जइ सोहिज्जइ जेण त्ता पवयणं तओ मग्गो। अहवा सिवस्स मग्गो मग्गणमण्णेसणं पंथो॥ (आव. नि. मलय. वृ. १२७)।

१ जो शुद्ध है उसका नाम मार्ग है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कांटे, कंकड़ और बालु आदि दोषों से रहित मार्ग से पथिक सुखपूर्वक अभीष्ट स्थान को पहुंचते हैं उसी प्रकार मिथ्यादर्शन एवं असंयमादि दोषों से रहित तीन अंशरूप (रत्नत्रय स्वरूप) कल्याणकर मार्ग (मोक्षमार्ग) से मुमुक्षु जन सुखपूर्वक मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

मार्गणा—१. मार्गणा त्वन्वयधर्मप्रार्थना। (विशे-षा. को वृ. ३९६, पृ. १५२)। २. अन्वयधर्मान्वे-षणा मार्गणा। (आव. नि. हरि. व मलय. वृ. १२)। ३. मार्गणा विशेषधर्मान्वेषणाख्या संविदि-त्यर्थः। यथा-शब्दः किं शाङ्खः किं वा शार्ङ्गः इति। ××× अथवा अवगतार्थाभिलाषे, तत्प्रार्थना मार्गणा। (नन्दी. हरि. वृ पृ. ७८)। ४. ××× मार्गणा गवेषणमन्वेषणमित्यर्थः। ××× चतुर्दशजीवसमासाः सदादिविशिष्टाः मार्ग्यन्तेऽस्मि-न्ननेन वेति मार्गणम्। (धव. पु. १, पृ. १३१); जेसु जीवा मग्गिज्जंति तेसिं मग्गणाओ इदि सण्णा। (धव. पु. ७, पृ. ७); अवगृहीतार्थविशेषो मृग्यते अन्विष्यते अनया इति मार्गणा। (धव. पु. १३, पृ. २४२)। ५. जाहि वा जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा। ताओ चोद्दस जाणे सुयणाणे मग्गणा होंति। (धव. पु. १, पृ. १३२ उद्.; गो. जी १४१)। ६. यकाभिर्यासु वा जीवा मार्ग्यन्तेऽनेकधा स्थिताः। मार्गणा मार्गणादक्षैस्तास्चतुर्दश भाषिताः॥ (पंचसं. अमित. १–१३१)। ७. मार्गणं मार्गणा 'मृग अन्वेषणे' अशेषसत्त्वापीडया यदन्वेषणं सा मार्गणेत्युच्यते। (ओघनि. द्रो. वृ. ४, पृ. २६)। ८. एतेषु जीवादयः पदार्थाः सर्वेऽपि प्रायो मृग्यन्ते-ऽन्विष्यन्ते विचार्यन्त इति यावदित्येतानि मार्गणा-स्थानान्युच्यन्ते। (शतक. मल. हेम. वृ. ५, पृ. ८)। ९. मार्गणा आत्मनो रत्नत्रयशुद्धिं समाधिमरणं च सम्पादयितुं समर्थस्य सूरेरन्वेषणम्। (अन. ध. स्वो. टी. ७–९८)। १०. अस्याः प्रकर्षाप्रकर्षौ बाह्य-वस्तुप्रकर्षापकर्षानुविधायिनावित्यन्वयधर्मालोचनं मा-र्गणा। (जम्बूद्वी. शा. वृ. ७०)।

१ अन्वय धर्म की प्रार्थना (अन्वेषण) का नाम मार्गणा है। यह आभिनिबोधिक ज्ञान का नामान्तर है। ४ मार्गणा, गवेषण और अन्वेषण ये समनार्थक शब्द हैं। इसमें चूंकि सत्-संख्या आदि से विशिष्ट चौदह जीवसमासों (गुणस्थानों) का अन्वेषण किया जाता है अतएव गति, इन्द्रिय व काय आदि चौदह स्थानों का मार्गण या मार्गणा यह सार्थक नाम है। ××× अवग्रह से गृहीत पदार्थविशेष का जिसके द्वारा अन्वेषण किया जाता है उसे मार्गणा कहा जाता है। यह एक ईहा मतिज्ञान का नामान्तर है। ९ अपनी रत्नत्रय की शुद्धि व समाधिमरण के सम्पादन करने में समर्थ आचार्य के अन्वेषण को मार्गणा कहा जाता है। यह भक्त-प्रत्याख्यान को स्वीकार करने वाले क्षपक के अर्हादि लिंगों में से एक है।

मार्गतः अन्तगतः अवधिज्ञान—मग्गओ अन्तगयं—से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चडुलिअं वा अलायं वा मणिं वा पईवं वा जोइं वा मग्गओ काउं अणुकड्ढमाणे २ गच्छिज्जा से तं मग्गओ अंतगयं। (नन्दी. सू. १०, पृ. ८२)।

जिस प्रकार कोई पुरुष उल्का (दीपिका) चडुलिका (अन्त में जलती हुई तृणपूलिका), अलात (अग्र-भाग में जलती हुई लकड़ी), मणि, प्रदीप, अथवा ज्योति (शराव आदि के आश्रित अग्नि) को मार्ग की ओर करके उसे खींचता हुआ जाता है उसी प्रकार जिस अवधिज्ञान के द्वारा अवधिज्ञानी मार्ग की ओर जानता देखता है उसे मार्गतः अन्तगत अवधिज्ञान कहा जाता है।

मार्गदूषणा—नाणादि तिहा मग्गं दूसयए जे य मग्गपडिवन्ना। अबुहो पंडियमाणी समुट्ठितो तस्स घायाए। (बृहत्क. भा. १३२३)।

जो मूर्ख तत्त्वज्ञान से रहित होकर अपने को पण्डित मानता हुआ ज्ञानादि रूप तीन प्रकार के मोक्षमार्ग को और उसको प्राप्त हुए साधुओं आदि को दूषित करता है व उसके घात में उद्यत है उस के इस प्रकार के आचरण का नाम मार्गदूषणा है। यह एक सम्मोही भावना का लक्षण है।

मार्गप्रभावना — १. ज्ञान-तपोजिनपूजाविधिना धर्मप्रकाशनं मार्गभावना। (स. सि. ६–२४; चा. सा. पृ. २६)। २. सम्यग्दर्शनादेर्मोक्षमार्गस्य निहत्य मानं करणोपदेशाभ्यां प्रभावना। (त. भा. ६–२३)। ३. ज्ञानतपोजिनपूजाविधिना धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावनम्। ज्ञानरविप्रभया परसमय-खद्योततिरिस्कारिण्या, सत्तपसा महोपवासादिलक्षणेन सुरपतिविष्टरप्रकम्पनहेतुना, जिनपूजया वा भव्यजनकमलषण्डप्रबोधनप्रभाकरप्रभया, सद्धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावनमिति संभाव्यते। (त. वा. ६, २४, १२)। ४. परमतभेदसमर्थज्ञान-तपोजिनमहामहैर्जगति। मार्गप्रभावना स्यात्प्रकाशनं मोक्षमार्गस्य। (ह. पु. ३४–१४७)। ५. मार्गप्रभावना ज्ञान-तपोऽर्हत्पूजनादिभिः। धर्मप्रकाशनं शुद्धबौद्धानां परमार्थतः॥ (त. श्लो. ६, २४, १५)। ६. सकलकर्मक्षयोत्तरकालमात्मनः स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः, तस्य मार्गः पन्थाः प्राप्त्युपायो ज्ञान-क्रियालक्षणः, तस्य प्रभावना प्रख्यापनं प्रकाशनम्। ××× मानः अहंकारः, स च जात्यादिस्थानोद्भूतः श्रेयोविघातकारी ××× तमेवंविधं मानं न्यक्कृत्य करणम्—स्वयमनुष्ठानं श्रद्दधतः काल-विनय-बहुमानाद्यासेवनं मूलोत्तरगुणप्रपञ्चानुष्ठानं चेति उपदेशोऽन्यस्मै प्रतिपादनं बहुविधविद्वज्जनसमितिषु स्याद्वादिन्यायावष्टम्भेन प्रसभमपहृत्य प्रतिभामेकान्तवादिनामर्हत्प्रणीतस्यानवद्यस्य सर्वतोभद्रस्य मार्गस्यैकान्तिकात्यन्तिकनिरतिशयाबाधकल्याणफलस्योच्चैः प्रकाशनं प्रभावना। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–६३)। ७. ज्ञानेन दानेन जिनपूजनविधानेन तपोऽनुष्ठानेन जिनधर्मप्रकाशनं प्रभावना। (त. वृत्ति श्रुत. ६–२४)। ८. ज्ञानादिना धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावना। (भावप्रा. टी ७७)।

१ ज्ञान, तप और जिनपूजा आदि की विधि से धर्म को प्रकाश में लाना, इसका नाम मार्गप्रभावना है। २ मान को दूर करके क्रिया (स्वयं अनुष्ठान) और उपदेश के द्वारा मोक्ष के मार्गभूत सम्यग्दर्शनादि को प्रकाशित करना, इसे मार्गप्रभावना कहा जाता है।

मार्गरुचि —१. निःसंगमोक्षमार्गश्रवणमात्रजनितरुचयो मार्गरुचयः। (त. वा. ३, ३६, २)। २. मोक्षमार्ग इति श्रुत्वा या रुचिर्मार्गजा त्वसौ॥ (म. पु. ७४–४४२)। ३. त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं शिवममृतपथं श्रद्दधन्मोहशान्तेः। मार्गश्रद्धानमाहुः। ××× (आत्मानु. १२)। ४. रत्नत्रयविचारसर्गो मार्गः। (उपासका. २३४, पृ. ११४; अन. ध. स्वो. टी. २–६२)। ५. निर्ग्रन्थलक्षणो मोक्षमार्गो न वस्त्रवेष्टितः पुमान् कदाचिदपि मोक्षं प्राप्स्यति एवंविधो मनोऽभिप्रायो निर्ग्रन्थलक्षणमोक्षमार्गे रुचिर्मार्गसम्यक्त्वम्। (दर्शनप्रा. टी. १२)।

१ निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग के सुनने मात्र से जिनको तत्त्वश्रद्धान उत्पन्न हुआ है वे मार्गरुचि—मार्गसम्यग्दर्शन के धारक—होते हैं।

मार्गवर्णजनन—रत्नत्रयालाभादनन्तकालम् अयमनादिनिधनोऽपि भव्यराशिर्न निर्वाणपुरमुपैति, तल्लाभे च सकलाः सम्पदः सुलभा इति मार्गवर्णजननम्। (भ. आ. विजयो ४७)।

रत्नत्रय की प्राप्ति के बिना अनादि-अनन्त भी भव्यजीवराशि अनन्त काल में भी मुक्ति को प्राप्त नहीं हो सकती, और उसके प्राप्त हो जाने पर समस्त सम्पदाएं सुलभ हो जाती हैं, इस प्रकार से मोक्षमार्ग के कीर्तन का नाम मार्गवर्णजनन है।

मार्गविप्रतिप्रत्ति—जो पुण तमेव मग्गं दूसेउमपंडिओ सतक्काए। उम्मग्गं पडिवज्जइ अकोविअप्पा जमालीव। (वृहत्क. भा. १३२४)।

जो विवेकहीन मनुष्य उसी मोक्षमार्ग को अपनी कुयुक्तियों के द्वारा दूषित करके उन्मार्ग (कुमार्ग) को प्राप्त होता है उसकी इस प्रकार की प्रवृत्ति को मार्गविप्रतिपत्ति कहा जाता है। प्रकृत में यहां जमालि का उदाहरण दिया गया है।

मार्गशुद्धि—१. सयडं जाण जुग्गं वा रहो वा एवमादिया। बहुसो जेण गच्छंति सो मग्गो फासुओ भवे॥ हत्थी अस्सो खरोढो वा गो-महिस-गवेलया। बहुसो जेण गच्छंति सो मग्गो फासुओ भवे॥ इत्थी पुंसा व गच्छन्ति आदवेण य जं हदं। सत्थपरिणदो चेव सो मग्गो फासुओ हवे। (मूला. ५, १०७–९)। २. मार्गस्य शुद्धिः पिपीलिकादित्रसाल्पत्वं बीजांकुर-तृण-हरितपत्र-जल-कर्दमादिरहितत्वं स्फुटतरत्वं व्यापित्वं च। (भ. आ. मूला. ११९१)।

१ जिस मार्ग से गाड़ी, यान, युग्य (हाथी आदि के द्वारा खींचा जाने वाला अथवा दो मनुष्यों के द्वारा

खींची जाने वाली पालकी) अथवा रथ इत्यादि निकल जाते हैं; तथा हाथी, घोड़ा, गधा, ऊंट, गाय, भैंस, भेड़ें, स्त्रियां और पुरुष जाने-आने लगते हैं वह मार्ग प्रासुक माना जाता है। जो मार्ग सूर्यताप से सन्तप्त हो चुका है अथवा शस्त्रपरिणत है—जहां खेती आदि की गई है—वह भी प्रासुक होता है। मार्ग का प्रासुक होना ही मार्गशुद्धि है।

मार्गसंश्रय—आगन्तुकमुनेर्मार्गयानागमनजातयोः। यः सुखासुखयोः प्रश्नः सोऽयं स्यान्मार्गसंश्रयः॥ (आचा. सा. २–२१)।

आने वाले मुनि के मार्ग में जाने-आने से उत्पन्न हुए सुख दुःख के विषय में जो पूछ-ताछ करना है, इसे मार्गसंश्रय समाचार कहते हैं। इच्छा-मिथ्याकारादिरूप दस प्रकार के समाचार में अन्तिम संश्रय है। उसके विनयसंश्रयादि रूप पांच भेदों में यह तीसरा है।

मार्गोपसम्पत्—देखो मार्गसंश्रय। पाहुणवत्थव्वाणं अण्णोण्णागमण-गमणसुहपुच्छा। उवसंपदा य मग्गे संजम-तव-णाण-जोगजुत्ताणं॥ (मूला. ४–२२)।

संयम, तप, ज्ञान और योग से युक्त अभ्यागत के रूप में स्थित हुए साधु जन के परस्पर में जो मार्गविषयक सुख-दुख के विषय में प्रश्न किया जाता है उसे मार्ग-उपसम्पत् कहते हैं।

मार्दव—१. कुल-रूप-जादि-बुद्धिसु तव-सुद-सीलेसु गारवं किंचि। जो ण वि कुव्वदि समणो मद्दवधम्मं हवे तस्स॥ (द्वादशानु. ७२)। २. जात्यादिमदावेशादभिमानाभावो मार्दवम्। (स. सि. ९–६)। ३. नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ मार्दवलक्षणम्। मृदुभावो मृदुकर्म वा मार्दवम्, माननिग्रहो मानविघातश्चेत्यर्थः। तत्र मानस्येमान्यष्टौ स्थानानि भवन्ति। तद्यथा—जातिः कुलं रूपम् ऐश्वर्यं विज्ञानं श्रुतं लाभः वीर्यम् इति। (त. भा. ९–६)। ४. मद्दवं नाम जाइकुलादीहीणस्स अपरिभवणसीलत्तणं, जहाऽहं उत्तमजातीयो एस नीयजातीत्ति मदो न कायव्वो, एवं च करेमाणस्स कम्मनिज्जरा भवइ, अकरेंतस्स य कम्मोवचयो भवइ, माणस्स उदिन्नस्स निरोहो उदयपत्तस्स विफलीकरणमिति। (दशवै. चू. पृ. १८)। ५. जात्यादिमदावेशादभिमानाभावो मार्दवम्। उत्तमजाति-कुल-रूप-विज्ञानैश्वर्य-श्रुतलाभ-वीर्यस्यापि सतस्तत्कृतमदावेशाभावात् परप्रयुक्तपरिभवनिमित्ताभिमानाभावो मार्दवं माननिर्हरणमवगन्तव्यम्। (त. वा. ९, ६, ३)। ६. जात्यादिभावेऽपि मानत्यागान्मार्दवम्। (दशवै. नि. हरि. वृ. ३४९, पृ. २६२)। ७. जात्यादिमदावेशादभिमानाभावो मार्दवम्। (त. श्लो. ९–६)। ८. जात्याद्यभिमानाभावो मानदोषानपेक्षश्च दृष्टकार्यानपाश्रयो मार्दवम्। (भ. आ. विजयो. ४६)। ९. अभावो योऽभिमानस्य परैः परिभवे कृते। जात्यादीनामनावेशान्मदानां मार्दवं हि तत्॥ (त. सा. ६–१५)। १०. उत्तमणाणपहाणो उत्तमतवयरणकरणसीलो वि। अप्पाण जो हीलदि मद्दवरयण भवे तस्स॥ (कार्तिके. ३९५)। ११. उत्तमजाति-कुल-रूप-विज्ञानैश्वर्य-श्रुत-जप-तपोलाभवीर्यस्यापि तत्कृतमदावेशाभावात् परप्रयुक्तमपरिभवनिमित्ताभावो मार्दवं माननिर्हरणम्। (चा. सा. पृ. २८)। १२. मृदोर्भावो मार्दवं जात्यादिमदावेशादभिमानाभावः। (मूला. वृ. ११, ५)। १३. मार्दवं मानोदयनिरोधः। (औपपा. अभय. वृ. १६, पृ. ३३)। १४. मृदुः अस्तब्धस्तस्य भावः कर्म वा मार्दवम्, नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकश्च। (योगशा. स्वो. विव. ४–९३; धर्मसं. मान. ३-४५, पृ. १२८)। १५. ××× मद्दवो माणनिग्गहो। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. १३, पृ. ३८)। १६. "ज्ञानं पूजां···" इति श्लोककथिताष्टविधस्य मदस्य समावेशात् परकृतपराभवनिमित्ताभिमानमुक्तिर्मार्दवमुच्यते, मृदोर्भावः कर्म वा मार्दवमिति निरुक्तेः। (त. वृत्ति ९–६)।

१ कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, श्रुत और शील इनमें से किसी का भी अभिमान न करना; यह मुनि का मार्दव धर्म है। ३ नीचैर्वृत्ति—नम्रतापूर्ण प्रवृत्ति—और अनुत्सेक—उत्सेक (अहंकार) के अभाव—को मार्दव कहा जाता है।

मालदोष—१. मालापीठाद्युपरि स्थानमथवा मस्तकादूर्ध्वं यत्तदाश्रित्य मस्तकस्योपरि यदि किञ्चिदत्र गतिस्तथापि (?) यदि कायोत्सर्गः क्रियते स मालदोषः। (मूला. वृ. ७–१७१)। २. माले शिरोऽवष्टम्भस्य स्थानं मालदोषः। (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०)। ३. ×××मालो मालादि मूर्ध्नाल-

म्ध्योपरि स्थितिः ॥ (अन. ध. ८–११३)।

१ मालापीठ आदि के ऊपर जो कायोत्सर्ग से स्थित होना है, इसे मालदोष कहते हैं, यह कायोत्सर्ग का एक दोष है। ३ शिर से माल (उपरिम भाग) आदि का आलम्बन लेकर ऊपर कायोत्सर्ग में स्थित होना, यह कायोत्सर्ग का एक माल नामक दोष है।

मालापहृत—देखो मालारोहणदोष। १. मालाद्यवस्थितं निश्रेण्यादिनाऽवतार्य ददाति तन्मालाहृतम्। (आचा. शी. वृ. २, १, २६६)। २. यदुपरिभूमिकातः शिक्यादेर्भूमिगृहाद्वा आकृष्य साधुभ्यो दानं तन्मालापहृतम्। (योगशा. स्वो. विव. १–३८)। ३. मालं सीकक-प्रासादोपरितलादिकमभिप्रेतम्। तस्मादाहृतं करग्राह्य यदन्नादि दात्री ददाति तन्मालापहृतम्। (जीतक. चू. वि. व्या. पृ. ४६)। ४. यत्करदुर्ग्राह्यं मालादिभ्य उत्तार्य गृही दत्ते तन्मालापहृतम्। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २०, पृ. ४९)। ५. यन्मालातः शिक्ककादेरपहृतं साध्वर्थमानीतं तन्मालापहृतम्। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३–९२, पृ. ४०)।

१ घर के उपरिम भाग में स्थित देय द्रव्य (अन्न आदि) को नसैनी आदि के आश्रय से उतार कर साधु के लिए देने में मालापहृत नामक दोष होता है।

मालारोहणदोष—देखो मालापहृत। १. णिस्सेणीकट्ठादिहि णिहिदं पूयादियं तु घेत्तूणं। मालारोह किच्चा देयं मालारोहणं णाम ॥ (मूला. ६–२३)। २. निश्रेण्यादिभिरारुह्य इत आगच्छत, युष्माकमियं वसितिरिति या दीयते द्वितीया तृतीया वा भूमिः सा मालारोहम्। (भ. आ. विजयो. व मूला. २३०)। ३. ××× मालिकारोहणं मतम्। मालिकादिसमारोहणेनानीतं घृतादिकम् ॥ (आचा. सा. ८–३३)। ४. निश्रेण्यादिभिरारुह्य मालमादाय दीयते। यद् द्रव्यं संयतेभ्यस्तन्मालारोहणमिष्यते ॥ (अन. ध. ५–१८)। ५. मालिकादिसमारोहणेन यदानीतं तन्मालिकारोहणम्, उपरितनभूमेर्यद् घृतादिकमधस्तनभूमौ समानीत तन्न कल्पते। (भावप्रा. टी. ९९)।

१ नसैनी या लकड़ी आदि के सहारे घर के उपरिम भाग पर चढ़कर वहां पर रखे हुए पुआ आदि को लेकर मुनि के लिए देने पर मालारोहण नाम का दोष उत्पन्न होता है।

मालास्वप्न—१. पुव्वावरसंबंधं सउणं तं मालसउणोत्ति ॥ (ति. प. ४–१०१६)। २. पुव्वावरेण घडंताणं भावाणं सुमिणंतरेण दसणं मालासुमणओ नाम। (धव. पु. ९, पृ. ७४)।

१ पूर्वापर सम्बन्ध रखने वाले स्वप्न को मालास्वप्न कहा जाता है। २ पूर्वापर सम्बन्ध से घटित होने वाले पदार्थों का जो स्वप्नान्तर से अवलोकन होता है उसका नाम मालास्वप्न है।

मास—१. तौ द्वौ शुक्ल-कृष्णौ मासः। (त. भा. ४–१५)। २. दो पक्खा मासो। (भगवती. ६, ७, २५. पृ. ८२५; जम्बूद्वी. १८; अनुयो. सू. १३७, पृ. ८९)। ३. ××× तीसं दिणा मासो। (ज्योतिष्क. ३०)। ४. ××× पक्खा य दो भवे मासो। (जीवस. ११०)। ५. दो पक्खेहि मासो ×××। (ति. प. ४–२८९)। ६. ××× पक्षद्वयं मासमुदाहरन्ति। (वरांगच. २७–५)। ७. द्वौ पक्षौ मासः। (त. वा. ३, ३८, ८, पृ. २०९; आव. भा. हरि. वृ. १९८, पृ. ४६५; धव. पु. ४, पृ. ३२०; सूर्यप्र. मलय. वृ. १०, २०, ५७, पृ. १६९; आव. भा. मलय. वृ. २००, पृ. ५९३; जीवाजी. मलय. वृ. २–१७८)। ८. मासः तद्-(पक्ष-) द्विगुणः। (आव. नि. हरि. वृ. ६६३)। ९. वेहि पक्खेहि मासो। (धव. पु. १३, पृ. ३००)। १०. शुक्ल-कृष्णौ द्वौ पक्षौ मासः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४–१५)। ११. ××× तौ [पक्षौ] मासो ×××। (ह. पु. ७–२१)। १२. विहि पक्खेहि य मासो ×××। (भावसं. दे. ३१४)। १३. ××× तीसं दिवसाणि मासमेक्को दु। (जं. द्वी. प. १३, ७)। १४. त्रिंशद्दिवसैर्मासः। (पंचा. जय. वृ. २५)। १५. त्रिंशदहोरात्रैर्मासः। (नि. सा. वृ. ३१)। १६. ताभ्यां (पक्षाभ्यां) द्वाभ्यां मासः। (अनुयो. सू. मल. हेम. वृ. ११४; प्रज्ञाप. मलय. वृ. ५, १०४)। १७. त्रिंशद् दिनानि अहोरात्रा एको मासः। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ३०)। १८. ××× मासः पक्षद्वयात्मकः। (लोकप्र. २८–२८६)।

१ दो पक्षों का एक मास होता है।

मांस—मांसं पिशितमसृग्भवम्। (योगशा. स्वो. विव. ४–७२)।

रुधिर से जो धातुविशेष उत्पन्न होती है उसे मांस कहा जाता है।

मांसनिर्युक्ति—यस्याहं मांसमद्म्यत्र प्रेत्य मां स मपत्स्यति । एतां मांसस्य निर्युक्तिमाहुः सूरिमतल्लिकाः ।। (धर्मसं. श्रा. ५–३५) ।

जिस पशु आदि का मांस इस लोक में मैं खाता हूं वह परलोक में मुझे भी खाएगा, इसे आचार्य श्रेष्ठ मांस की निर्युक्ति कहते हैं ।

मित—१. मितं वर्णादिनियतपरिमाणम् । (आव. नि. हरि. वृ. ८८५, पृ. ३७६) । २. मितं परिमिताक्षरम् । (व्यव. भा. मलय. वृ. १–१६०, पृ. ३४) ।

१ वर्ण-पदादि से जिसका प्रमाण निश्चित होता है उसे मित कहा जाता है। यह सर्वज्ञभाषित सूत्रवचन के आठ गुणों में से सातवां है ।

मित्र--१. ××× किं मित्रं यन्निवर्तयति पापात् । (प्रश्नो. मा. १४) । २. यः कारणमन्तरेण रक्ष्यो रक्षको वा भवति तन्नित्यं मित्रम् । (नीतिवा. २३–२) ।

१ जो पाप से बचाता है उसे मित्र समझना चाहिए। २ जो अकारण ही रक्षणीय अथवा रक्षक होता है वह नित्य मित्र होता है ।

मित्रस्मृति—देखो मित्रानुराग ।

मित्रानुराग—१. पूर्वसुहृत्सहपांसुक्रीडनाद्यनुस्मरणं मित्रानुरागः । (स. सि. ७–३७) । २. पूर्वकृतसहपांसुक्रीडनाद्यनुस्मरणान्मित्रानुरागः । व्यसने सहायत्वमुत्सवे संभ्रम इत्येवमादिपु कृतं बाल्ये युगपत् क्रीडनमित्येवमादीनामनुस्मरणात् मित्रेऽनुरागी भवति । (त. वा. ७, ३७, ४) । ३. पूर्वसुहृत्सहपांसुक्रीडनाद्यनुस्मरणं मित्रानुरागः । (त. श्लो. ७, ३७) । ४. व्यसने सहायत्वमुत्सवे संभ्रम इत्येवमादि सुकृत बाल्ये सहपांशुक्रीडनमित्येवमादीनामनुस्मरणं मित्रानुरागः । (चा. सा. पृ. २४) । ५. मित्रस्मृतिः बाल्याद्यवस्थायां सहक्रीडितमित्रानुस्मरणम् । (रत्नक. टी. ५–८) । ६. चिरन्तनमित्रेण सह क्रीडनानुस्मरणं कथमनेन ममाभीष्टेन मित्रेण मया सह पांशुक्रीडनादिकं कृतं कथमनेन ममाभीष्टेन व्यसनसहायत्वमाचरितं कथमनेन ममाभीष्टेन मदुत्सवे संभ्रमो विहितः इत्याद्यनुस्मरणं मित्रानुरागः । (त. वृत्ति श्रुत. ७–३७) ।

१ पूर्व में मित्रों के साथ जो धूलि आदि में क्रीड़ा की है उसका स्मरण करने से मित्रानुराग नामक सल्लेखना का अतिचार होता है। दूसरे शब्द से इसे मित्रस्मृति भी कहा जाता है ।

मिथ्याकार—१. ××× मिच्छाकारो तहेव अवराहे । (मूला. ४–५) । २. मिथ्या वितथमनृतमिति पर्यायाः, मिथ्याकरण मिथ्याकारः, मिथ्याक्रियेत्यर्थः; तथा च संयम-योगवितथाचरणे विदितजिनवचनसाराः साधवस्तत्क्रियाया वैतथ्यप्रदर्शनाय मिथ्याकारं कुर्वते, मिथ्या क्रियेयमिति हृदयम् । (आव. नि. हरि. वृ. ६६६, पृ. २५८) । ३. मिथ्या वितथमयथा, यथा भगवद्भिरुक्तं न तथा, दुष्कृतमेतदिति प्रतिपत्तिः मिथ्यादुष्कृतम्, मिथ्या अक्रियानिवृत्त्युपगमः; मिथ्याकरणं मिथ्याकारः । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ५८) । ४. यन्मया दुष्कृतं पूर्वं तन्मिथ्यास्तु न तत्पुरः । करोमीति मनोवृत्तिर्मिथ्याकारोऽस्ति निर्मलः ।। (आचा. सा. २–७) । ५. मिथ्या अलीकं करोतीति मिथ्याकारो विपरिणामस्य त्यागः । (मूला. वृ. ४–४) ।

१ अपराध होने पर—व्रतादि के विषय में अतिचार के होने पर—काय और मन से उसका परिहार करना, इसका नाम मिथ्याकार है। २ मिथ्या, वितथ और अनृत ये समानार्थक शब्द हैं। अभिप्राय यह है कि संयम व योग के विषय में असदाचरण के होने पर तत्त्वज्ञ साधुजन उस आचरण की असत्यता को दिखलाने के लिए 'यह प्रवृत्ति मिथ्या हो' इस प्रकार से मिथ्याकार किया करते हैं ।

मिथ्याचार—मिथ्या अलीको विशिष्टभावशून्यः आचारो मिथ्याचारः । ××× मिथ्याचारस्वरूपं चेदम्—बाह्येन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रियार्थविमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते । (षोडश. वृ. १–६) ।

विशिष्ट अभिप्राय से रहित जो असत्य आचरण किया जाता है उसे मिथ्याचार कहते हैं। मिथ्याचार का स्वरूप यह कहा गया है—बाह्य इन्द्रियों का दमन करके जो मूर्ख जीव मन से इन्द्रियविषयों का स्मरण करते हुए स्थित रहता है उसकी इस प्रवृत्ति को मिथ्याचार कहा जाता है ।

मिथ्याचारित्र—१. वृत्तमोहोदयाज्जन्तोः कषायवशवर्तिनः । योगप्रवृत्तिरशुभा मिथ्याचारित्रमूचिरे ।। (तत्त्वानु. ११) । २. तन्मार्गाचरण (भगवदर्हत्पर-

मेश्वरमार्गप्रतिकूलमार्गाभासमार्गाचरणम्) मिथ्याचारित्रम्। (नि. सा. वृ. ६१)।

१ चारित्रमोहनीय के उदय से कषाय के वशीभूत हुए जीव के योगों की जो अशुभ प्रवृत्ति होती है, उसे मिथ्याचार कहते हैं।

मिथ्याचारित्रसेवा—१. मिथ्याचारित्रं नाम मिथ्याज्ञानिनामाचरणम्, तत्रानुवृत्तिर्द्रव्यलाभाद्यपेक्षया द्रव्यलाभोद्यतेषु वा सांगत्यादिकम्। (भ. आ. विजयो. ४४)। २. मिथ्याचारित्रसेवा द्रव्यलाभाद्यपेक्षया मिथ्याज्ञानिनामाचरणस्यानुवर्तनम्, मिथ्याचारित्रिसेवा पञ्चाग्निसाधकादिषु संगत्यादिकम्। (भ. आ. मूला. ४४)।

१ मिथ्याज्ञानी जो आचरण करते हैं उसका नाम मिथ्याचरण है। द्रव्य की प्राप्ति आदि की अपेक्षा रखकर उस मिथ्याचरण का अनुसरण करना अथवा द्रव्यादि प्राप्ति में उद्यत पुरुषों की संगति आदि करना, यह मिथ्याचारित्रसेवा कहलाती है।

मिथ्याज्ञान—१. बौद्ध-नैयायिक-सांख्य-मीमांसक-चार्वाक-वैशेषिकादिदर्शनरुच्यनुविद्धं ज्ञानं मिथ्याज्ञानम्। (धव. पु. १२, पृ. २८६)। २. अन्यथाधीस्तु लोकेऽस्मिन् मिथ्याज्ञानं हि कथ्यते। (क्षत्रचू. ६–१६)। ३. ज्ञानावृत्युदयादर्थेष्वन्यथाधिगमो भ्रमः। अज्ञानं संशयश्चेति मिथ्याज्ञानमिदं त्रिधा॥ (तत्त्वानु. १०)। ४. तत्रैव वस्तुनि (भगवदर्हत्परमेश्वरमार्गप्रतिकूलमार्गाभासमार्गे) वस्तुबुद्धिर्मिथ्याज्ञानम्। (नि. सा. वृ. ६१)।

१ बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, मीमांसक, चार्वाक और वैशेषिक आदि दर्शनों में रुचि रखकर उनसे सम्बद्ध जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है उसे मिथ्याज्ञान कहा जाता है।

मिथ्याज्ञानसेवा—१. मिथ्याज्ञानसेवा नाम निरपेक्षनयदर्शनोपदेश इदमेव तत्त्वमिति श्रद्धानमुत्पादयामि श्रोतॄणामिति क्रियमाणो मिथ्याज्ञानिभिः सह संवासः, तत्र अनुरागो वा तदनुवृत्तिर्वा तत्सेवा। (भ. आ. विजयो. ४४)। २. मिथ्याज्ञानसेवनं पुनरिदमेव तत्त्वमिति श्रद्धानमुत्पादयामि श्रोतॄणामिति क्रियमाणो निरपेक्षनयदर्शनोपदेशः, मिथ्याज्ञानिसेवा मिथ्याज्ञानिभिः सह संवासस्तत्रानुरागस्तत्रानुवृत्तिर्वा। (भ. आ. मूला. ४४)।

१ 'यही तत्त्व है' इस प्रकार का श्रद्धान मैं श्रोताओं को उत्पन्न कराता हूं, इस अभिप्राय से नयनिरपेक्ष दर्शनों का—एकान्तवाद का—उपदेश करना, मिथ्याज्ञानियों के साथ रहना, उनमें अनुराग रखना, और उनका अनुसरण करना; इसे मिथ्याज्ञानसेवा कहा जाता है।

मिथ्यात्व— देखो मिथ्यात्ववेदनीय व मिथ्यादर्शन। १. अरिहंतवुत्तअत्थेसु विमोहो होइ मिच्छत्तं॥ (मूला. ५–४०; भ. आ. १८२५)। २. तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं। संसइयमभिग्गहियं अणभिग्गहियं च तं तिविहं॥ (भ. आ. ५६)। ३. यस्योदयात्सर्वज्ञप्रणीतमार्गपराङ्मुखस्तत्त्वार्थश्रद्धाननिरुत्सुको हिताहितविचारा- (त. वा. 'विभागा-') समर्थो मिथ्यादृष्टिर्भवति तन्मिथ्यात्वम्। (स. सि. ८–९; त. वा. ८, ९, २)। ४. मिथ्यात्वम् अतत्त्वार्थश्रद्धानम्। (आव. नि. हरि. वृ. ७४०, पृ. २७९)। ५. शंका—पदार्थविपरीताभिनिवेशश्रद्धानं मिथ्यादर्शनम्। (त. वा. १, १, ४७); दर्शमोहोदयात्तत्त्वार्थाश्रद्धानपरिणामो मिथ्यादर्शनम्। तत्त्वार्थरुचिस्वभावस्यात्मनः तत्प्रतिबन्धकारणस्य दर्शनमोहस्योदयात् तत्त्वार्थेषु निरूप्यमाणेष्वपि न श्रद्धानमुत्पद्यते तन्मिथ्यादर्शनमौदयिकमित्याख्यायते। (त. वा. २, ६, ४)। ६. मिथ्यात्वमोहनीयकर्मपुद्गलसाचिव्यविशेषादात्मपरिणामो मिथ्यात्वम्। (आव. नि. हरि. वृ. १२५०, पृ. ५६४)। ७. ××× मिच्छत्तकम्मोदयजादत्तेण अत्तागम-पदत्थाणमसद्दहणेण ×××। (धव. पु. ५, पृ. ६); जस्सोदएण अत्तागम-पयत्थेसु असद्धा होदि तं मिच्छत्तम्। (धव. पु. ६, पृ. ३९); ण च तित्थयरादीणमासादणालक्खणमिच्छत्तेण ×× ×। (धव. पु. १०, पृ. ४३); अत्तागम-पयत्थेसु असद्धुप्पाययं कम्मं मिच्छत्तं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३५९)। ८. एकान्तधर्मेऽभिनिवेशः एकान्तधर्माभिनिवेशः नित्यमेव सर्वथा न कथंचिदनित्यमित्यादिमिथ्यात्वश्रद्धानम्, मिथ्यादर्शनमिति यावत्। (युक्त्यनु. टी. ५२)। ९. तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यक्त्वम्, तद्विपरीतं मिथ्यात्वम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१०)। १०. अदेवे देवताबुद्धिरगुरौ गुरुसम्मतिः। अतत्त्वे तत्त्वसंस्था च तथाऽवादि जिनेश्वरैः॥ (जिनदत्तच. ४–८२)। ११. अश्रद्धानं पदार्थानां जिनोक्तानां यथागमम्। तन्मिथ्यात्वं

× × × ॥ (प्रद्युम्नच. ६–३४) । १२. मिथ्यात्व-मुदयेनोक्तं मिथ्यादर्शनकर्मणः । (त. सा. २–६२)। १३. अन्यथावस्थितेष्वर्थेष्वन्यथैव रुचिर्नृणाम् । दृष्टिमोहोदयान्मोहो मिथ्यादर्शनमुच्यते ॥ (तत्त्वानु. ६)। १४. जिणधम्ममि पओसं वहइ य हियएण जस्स उदएणं । तं मिच्छत्त कम्मं संकिट्ठो तस्स उ विवागो ॥ (कर्मवि. ग. ३६) । १५. वस्त्वन्यथा परिच्छेदो ज्ञाने सम्पद्यते यतः । तन्मिथ्यात्वं मतं सद्भिः कर्मारामोदयोदकम् ॥ (योगसा. प्रा. १–१३) । १६. मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्चअत्थाणं । (गो. जी. १५) । १७. मिथ्यादर्शनमतत्त्वश्रद्धानम् । (चा. सा. पृ. ४) । १८. सम्यक्त्व ज्ञानचारित्रविपर्ययपरं मनः । मिथ्यात्वं नृपु भापन्ते सूरयः सर्वदेहिनः ॥ (उपासका. ७) । १९. × × × पदार्थाना जिनोक्तानां तदश्रद्धानलक्षणम् । (अमित. श्रा. २–५) । २०. अभ्यन्तरे वीतरागनिजात्मतत्त्वानुभूतिरुचिविषये विपरीताभिनिवेशजनकं वहिर्विषये तु परकीयशुद्धात्मतत्त्वप्रभृतिसमस्तद्रव्येषु विपरीताभिनिवेशजनकं मिथ्यात्वम् । (बृ. द्रव्यसं. टी. ३०) । २१. विपरीताभिनिवेशोपयोगविकाररूपं शुद्धजीवादिपदार्थविषये विपरीतश्रद्धानं मिथ्यात्वम् । (समयप्रा. जय. वृ. ९५) । २२. सर्वज्ञभाषितपदार्थेषु विमोह-संशय-विपर्ययानध्यवसायरूपो मिथ्यात्वम् । (मूला. वृ. ५–४०) । २३. भगवदर्हत्परमेश्वरमार्गप्रतिकूलमार्गाभासमार्गश्रद्धानं मिथ्यादर्शनम् । (नि. सा. वृ. ९१) । २४. मिथ्यात्वं नाम सर्वज्ञप्रज्ञप्तेषु जीवाजीवादिभावेषु नित्यानित्यादिविचित्रपर्यायपरम्परापरिगतेषु विपरीततया श्रद्धानम् । (उपदेप. मु. वृ. २८) । २५. मिथ्यात्वमतत्त्वेषु तत्त्वाभिनिवेशः । (कर्मवि. पू. व्या. २) । २६. अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरौ च या । अधर्मे धर्मबुद्धिश्च मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात् ॥ (योगशा. २–३; आचारदि. पृ. ४७ उद्.) । २७. मिथ्यात्वं तत्त्वार्थाश्रद्धानरूपम् । (पंचसं. मलय. वृ. ४–२; आव. नि. मलय. वृ. ७४०, पृ. ३६५) । २८. मिथ्यात्वम् अतत्त्वादिषु तत्त्वाद्यभिनिवेशः । (धर्मसं. मलय. वृ. १५); मिथ्यात्वम् अतत्त्वाभिनिवेशः (धर्मसं. मलय. वृ. ३७) । २९. मिथ्यात्वं विपरीतावबोधस्वभावम् । (षडशी. मलय. वृ. ७४) । ३०. अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरावपि । अतत्त्वे तत्त्वबुद्धिश्च तन्मिथ्यात्वं विलक्षणम् ॥ (धर्मश. २१–१३१) । ३१. अनन्तद्रव्य-पर्यायात्मकेषु भावेषु विपरीताभिनिवेशलक्षणमश्रद्धानम् । (भ. आ. मूला. १८२५) । ३२. मिथ्यात्वं अर्हत्प्रणीततत्त्वविपरीतावबोधरूपम् । (बृहत्क. भा. क्षे. वृ. ८३१) । ३३. जीवाणं मिच्छुदया अणउदयादो अतच्चसद्धाणं । हवदि हु तं मिच्छत्तं अणंतसंसारकारणं जाणे ॥ (भावत्रि. १५) । ३४. मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्चअत्थाणं । (आस्रवत्रि. ३) । ३५. अदेवागुर्वधर्मेषु या देव-गुरु-धर्मधीः । तन्मिथ्यात्वम् × × × ॥ (गुण. क्रमा. ६); महामोहाद्यथा जीवो न जानाति हिताहितम् । धर्माधर्मौ न जानाति तथा मिथ्यात्वमोहितः ॥ (गुण. क्रमा. ८) । ३६. × × × मिच्छ जिणधम्मविवरीयं । (कर्मवि. दे. १६); मिथ्यात्वं जिनधर्मात् विपरीतं विपर्यस्त ज्ञेयमिति शेषः । अत्रायमाशयः—राग-द्वेषमोहादिकलङ्काङ्कितेऽदवेऽपि देवबुद्धिः, "धर्मज्ञो धर्मकर्ता च सदा धर्मपरायणः । सत्त्वानां धर्मशास्त्रार्थदेशको गुरुरुच्यते ॥" इत्यादिप्रतिपादितगुरुलक्षणविलक्षणेऽगुरावपि गुरुबुद्धिः, संयम-सूनृत-शौच-ब्रह्म-सत्यादि- (ब्रह्माकिञ्चन्यादि-) स्वरूपधर्मप्रतिपक्षेऽधर्मेऽपि धर्मबुद्धिरिति मिथ्यात्वम् । (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. १६) । ३७. दर्शनमोहनीयप्रकृतिभेदस्य मिथ्यात्वकर्मण उदयेन फलदानशक्तिविपाकेन जायमानं तत्त्वार्थानां जीवाजीवास्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षणाम् अश्रद्धानम् अनभ्युपगमो मिथ्यात्वम् । (गो. जी. म. प्र. १५) । ३८. यदुदयात्सर्वज्ञवीतरागप्रणीतसम्यग्दर्शन-ज्ञान - चारित्रलक्षणोपलक्षितमोक्षमार्गपराङ्मुखः सन्नात्मा तत्त्वार्थश्रद्धाननिरुत्सुकः तत्त्वार्थश्रद्धानपराङ्मुखः अशुद्धतत्त्वपरिणामः सन् हिताहितविवेकविकलः जडादिरूपतयावतिष्ठते तन्मिथ्यात्वं नाम दर्शनमोहनीयमुच्यते । (त. वृत्ति श्रुत. ८–९) । ३९. तत्त्वार्थमश्रद्धानं श्रद्धानं वा तदन्यथा । मिथ्यात्वं प्रोच्यते प्राज्ञैः तच्च भेदादनेकधा ॥ (जम्बू. च. १३–१०४) । ४०. यदुदयाज्जिनप्रणीततत्त्वाश्रद्धानं तन्मिथ्यात्वम् । (कर्मप्र. यशो. वृ. १, पृ. ४) । ४१. मिथ्यात्वं विपर्यासरूपम् । (ज्ञा. सा. वृ. ४–७, पृ. २१) ।

१ जिनोपदिष्ट तत्त्वों में जो संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप विमोह (मूढता) रहता है उसका

मेश्वरमार्गप्रतिकूलमार्गाभासमार्गाचरणम्) मिथ्याचारित्रम्। (नि. सा. वृ. ९१)।

१ चारित्रमोहनीय के उदय से कषाय के वशीभूत हुए जीव के योगों की जो अशुभ प्रवृत्ति होती है, उसे मिथ्याचार कहते हैं।

मिथ्याचारित्रसेवा—१. मिथ्याचारित्रं नाम मिथ्याज्ञानिनामाचरणम्, तत्रानुवृत्तिर्द्रव्यलाभाद्यपेक्षया द्रव्यलाभोद्यतेषु वा सांगत्यादिकम्। (भ. आ. विजयो. ४४)। २. मिथ्याचारित्रसेवा द्रव्यलाभाद्यपेक्षया मिथ्याज्ञानिनामाचरणस्यानुवर्तनम्, मिथ्याचारित्रिसेवा पञ्चाग्निसाधकादिषु संगत्यादिकम्। (भ. आ. मूला. ४४)।

१ मिथ्याज्ञानी जो आचरण करते हैं उसका नाम मिथ्याचरण है। द्रव्य की प्राप्ति आदि की अपेक्षा रखकर उस मिथ्याचरण का अनुसरण करना अथवा द्रव्यादि प्राप्ति में उद्यत पुरुषों की संगति आदि करना, यह मिथ्याचारित्रसेवा कहलाती है।

मिथ्याज्ञान—१. बौद्ध-नैयायिक-सांख्य-मीमांसक-चार्वाक-वैशेषिकादिदर्शनरुच्यनुविद्धं ज्ञानं मिथ्याज्ञानम्। (धव. पु. १२, पृ. २८६)। २. अन्यथाधीस्तु लोकेऽस्मिन् मिथ्याज्ञानं हि कथ्यते। (क्षत्रचू. ६–१९)। ३. ज्ञानावृत्त्युदयादर्थेष्वन्यथाधिगमो भ्रमः। अज्ञानं संशयश्चेति मिथ्याज्ञानमिदं त्रिधा॥ (तत्त्वानु. १०)। ४. तत्रैव वस्तुनि (भगवदर्हत्परमेश्वरमार्गप्रतिकूलमार्गाभासमार्गे) वस्तुबुद्धिर्मिथ्याज्ञानम्। (नि. सा. वृ. ९१)।

१ बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, मीमांसक, चार्वाक और वैशेषिक आदि दर्शनों में रुचि रखकर उनसे सम्बद्ध जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है उसे मिथ्याज्ञान कहा जाता है।

मिथ्याज्ञानसेवा—१. मिथ्याज्ञानसेवा नाम निरपेक्षनयदर्शनोपदेश इदमेव तत्त्वमिति श्रद्धानमुत्पादयामि श्रोतृणामिति क्रियमाणो मिथ्याज्ञानिभिः सह संवासः, तत्र अनुरागो वा तदनुवृत्तिर्वा तत्सेवा। (भ. आ. विजयो. ४४)। २. मिथ्याज्ञानसेवनं पुनरिदमेव तत्त्वमिति श्रद्धानमुत्पादयामि श्रोतृणामिति क्रियमाणो निरपेक्षनयदर्शनोपदेशः, मिथ्याज्ञानिसेवा मिथ्याज्ञानिभिः सह संवासस्तत्रानुरागस्तत्रानुवृत्तिर्वा। (भ. आ. मूला. ४४)।

१ 'यही तत्त्व है' इस प्रकार का श्रद्धान मैं श्रोताओं को उत्पन्न कराता हूं, इस अभिप्राय से नयनिरपेक्ष दर्शनों का—एकान्तवाद का—उपदेश करना, मिथ्याज्ञानियों के साथ रहना, उनमें अनुराग रखना, और उनका अनुसरण करना; इसे मिथ्याज्ञानसेवा कहा जाता है।

मिथ्यात्व— देखो मिथ्यात्ववेदनीय व मिथ्यादर्शन। १. अरिहंतवुत्तअत्थेसु विमोहो होइ मिच्छत्तं॥ (मूला. ५–४०; भ. आ. १८२५)। २. तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं। संसइयमभिग्गहियं अणभिग्गहियं च तं तिविहं॥ (भ. आ. ५६)। ३. यस्योदयात्सर्वज्ञप्रणीतमार्गपराङ्मुखस्तत्त्वार्थश्रद्धाननिरुत्सुको हिताहितविचारा- (त. वा. 'विभागा-') समर्थो मिथ्यादृष्टिर्भवति तन्मिथ्यात्वम्। (स. सि. ८–९; त. वा. ८, ९, २)। ४. मिथ्यात्वम् अतत्त्वार्थश्रद्धानम्। (आव. नि. हरि. वृ. ७४०, पृ. २७९)। ५. शंका—पदार्थविपरीताभिनिवेशश्रद्धानं मिथ्यादर्शनम्। (त. वा. १, १, ४७); दर्शमोहोदयात्तत्त्वार्थाश्रद्धानपरिणामो मिथ्यादर्शनम्। तत्त्वार्थरुचिस्वभावस्यात्मनः तत्प्रतिबन्धकारणस्य दर्शनमोहस्योदयात् तत्त्वार्थेषु निरूप्यमाणेष्वपि न श्रद्धानमुत्पद्यते तन्मिथ्यादर्शनमौदयिकमित्याख्यायते। (त. वा. २, ६, ४)। ६. मिथ्यात्वमोहनीयकर्मपुद्गलसाचिव्यविशेषादात्मपरिणामो मिथ्यात्वम्। (आव. नि. हरि. वृ. १२५०, पृ. ५६४)। ७. ××× मिच्छत्तकम्मोदयजादत्तेण अत्तागम-पदत्थाणमसद्दहणेण ×××। (धव. पु. ५, पृ. ६); जस्सोदएण अत्तागम-पयत्थेसु असद्धा होदि तं मिच्छत्तम्। (धव. पु. ६, पृ. ३९); ण च तित्थयरादीणमासादणालक्खणमिच्छत्तेण ××× । (धव. पु. १०, पृ. ४३); अत्तागम-पयत्थेसु असद्धुप्पाययं कम्मं मिच्छत्तं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३५९)। ८. एकान्तधर्मेऽभिनिवेशः एकान्तधर्माभिनिवेशः नित्यमेव सर्वथा न कथंचिदनित्यमित्यादिमिथ्यात्वश्रद्धानम्, मिथ्यादर्शनमिति यावत्। (युक्त्यनु. टी. ५२)। ९. तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यक्त्वम्, तद्विपरीतं मिथ्यात्वम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१०)। १०. अदेवे देवताबुद्धिरगुरौ गुरुसम्मतिः। अतत्त्वे तत्त्वसंस्था च तथाऽवादि जिनेश्वरैः॥ (जिनदत्तच. ४–८२)। ११. अश्रद्धानं पदार्थानां जिनोक्तानां यथागमम्। तन्मिथ्यात्वं

××× ॥ (प्रद्युम्नच. ६–३४)। १२. मिथ्यात्वमुदयेनोक्तं मिथ्यादर्शनकर्मणः। (त. सा. २–६२)। १३. अन्यथावस्थितेष्वर्थेष्वन्यथैव रुचिर्नृणाम्। दृष्टिमोहोदयान्मोहो मिथ्यादर्शनमुच्यते ॥ (तत्त्वानु. ६)। १४. जिणधम्ममि पओसं वहइ य हियएण जस्स उदएणं। तं मिच्छत्तं कम्मं संकिट्ठो तस्स उ विवागो ॥ (कर्मवि. ग. ३६)। १५. वस्त्वन्यथा परिच्छेदो ज्ञाने सम्पद्यते यतः। तन्मिथ्यात्वं मतं सद्भिः कर्मारामोदयोदकम् ॥ (योगसा. प्रा. १–१३)। १६. मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्चअत्थाणं। (गो. जी. १५)। १७. मिथ्यादर्शनमतत्त्वश्रद्धानम्। (चा. सा. पृ. ४)। १८. सम्यक्त्व ज्ञानचारित्रविपर्ययपरं मनः। मिथ्यात्वं नृपु भापन्ते सूरयः सर्वदेहिनः ॥ (उपासका. ७)। १९. ×× × पदार्थानां जिनोक्तानां तदश्रद्धानलक्षणम्। (अमित. श्रा. २–५)। २०. अभ्यन्तरे वीतरागनिजात्मतत्त्वानुभूतिरुचिविषये विपरीताभिनिवेशजनकं वहिर्विषये तु परकीयशुद्धात्मतत्त्वप्रभृतिसमस्तद्रव्येषु विपरीताभिनिवेशजनकं मिथ्यात्वम्। (वृ. द्रव्यसं. टी. ३०)। २१. विपरीताभिनिवेशोपयोगविकाररूपं शुद्धजीवादिपदार्थविषये विपरीतश्रद्धानं मिथ्यात्वम्। (समयप्रा. जय. वृ. ९५)। २२. सर्वज्ञभाषितपदार्थेषु विमोह-संशय-विपर्ययानध्यवसायरूपो मिथ्यात्वम्। (मूला. वृ. ५–४०)। २३. भगवदर्हत्परमेश्वरमार्गप्रतिकूलमार्गाभासमार्गश्रद्धानं मिथ्यादर्शनम्। (नि. सा. वृ. ९१)। २४. मिथ्यात्वं नाम सर्वज्ञप्रज्ञप्तेषु जीवाजीवादिभावेषु नित्यानित्यादिविचित्रपर्यायपरम्परापरिगतेषु विपरीततया श्रद्धानम्। (उपदेप. मु. वृ. २८)। २५. मिथ्यात्वमतत्त्वेषु तत्त्वाभिनिवेशः। (कर्मवि. पू. व्या. २)। २६. अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरौ च या। अधर्मे धर्मबुद्धिश्च मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात् ॥ (योगशा. २–३; आचारदि. पृ. ४७ उद्.)। २७. मिथ्यात्वं तत्त्वार्थाश्रद्धानरूपम्। (पंचसं. मलय. वृ. ४–२; आव. नि. मलय. वृ. ७४०, पृ. ३६५)। २८. मिथ्यात्वम् अतत्त्वादिषु तत्त्वाद्यभिनिवेशः। (धर्मसं. मलय. वृ. १५); मिथ्यात्वम् अतत्त्वाभिनिवेशः (धर्मसं. मलय. वृ. ३७)। २९. मिथ्यात्वं विपरीतावबोधस्वभावम्। (षडशी. मलय. वृ. ७४)। ३०. अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरावपि। अतत्त्वे तत्त्वबुद्धिश्च तन्मिथ्यात्वं विलक्षणम् ॥ (धर्मसं. २१–१३१)। ३१. अनन्तद्रव्य-पर्यायात्मकेषु भावेषु विपरीताभिनिवेशलक्षणमश्रद्धानम्। (भ. आ. मूला. १८२५)। ३२. मिथ्यात्वं अर्हत्प्रणीततत्त्वविपरीतावबोधरूपम्। (वृहत्क. भा. क्षे. वृ. ८३१)। ३३. जीवाणं मिच्छुदया अणउदयादो अतच्चसद्धाणं। हवदि हु तं मिच्छत्तं अणंतसंसारकारणं जाणे ॥ (भावत्रि. १५)। ३४. मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्चअत्थाणं। (आस्रवत्रि. ३)। ३५. अदेवागुर्वधर्मेषु या देव-गुरु-धर्मधीः। तन्मिथ्यात्वम् ××× ॥ (गुण. क्रमा. ६); महामोहाद्यथा जीवो न जानाति हिताहितम्। धर्माधर्मौ न जानाति तथा मिथ्यात्वमोहितः ॥ (गुण. क्रमा. ८)। ३६. ××× मिच्छ जिणधम्मविवरीयं। (कर्मवि. दे. १६); मिथ्यात्वं जिनधर्माद् विपरीतं विपर्यस्त ज्ञेयमिति शेषः। अत्रायमाशयः—राग-द्वेष-मोहादिकलङ्काङ्कितेऽदेवेऽपि देवबुद्धिः, "धर्मज्ञो धर्मकर्ता च सदा धर्मपरायणः। सत्त्वानां धर्मशास्त्रार्थदेशको गुरुरुच्यते ॥" इत्यादिप्रतिपादितगुरुलक्षणविलक्षणेऽगुरावपि गुरुबुद्धिः, सयम-सूनृत-शौच-ब्रह्म-सत्यादि- (ब्रह्माकिञ्चन्यादि-) स्वरूपधर्मप्रतिपक्षेऽधर्मेऽपि धर्मबुद्धिरिति मिथ्यात्वम्। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. १६)। ३७. दर्शनमोहनीयप्रकृतिभेदस्य मिथ्यात्वकर्मण उदयेन फलदानशक्तिविपाकेन जायमानं तत्त्वार्थानां जीवाजीवास्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षणाम् अश्रद्धानम् अनभ्युपगमो मिथ्यात्वम्। (गो. जी. म. प्र. १५)। ३८. यदुदयात्सर्वज्ञवीतरागप्रणीतसम्यग्दर्शन-ज्ञान - चारित्रलक्षणोपलक्षितमोक्षमार्गपराङ्मुखः सन्नात्मा तत्त्वार्थश्रद्धाननिरुत्सुकः तत्त्वार्थश्रद्धानपराङ्मुखः अशुद्धतत्त्वपरिणामः सन् हिताहितविवेकविकलः जडादिरूपतयावतिष्ठते तन्मिथ्यात्वं नाम दर्शनमोहनीयमुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ८–९)। ३९. तत्त्वार्थमश्रद्धानं श्रद्धानं वा तदन्यथा। मिथ्यात्वं प्रोच्यते प्राज्ञैः तच्च भेदादनेकधा ॥ (जम्बू. च. १३–१०४)। ४०. यदुदयाज्जिनप्रणीततत्त्वाश्रद्धानं तन्मिथ्यात्वम। (कर्मप्र. यशो. वृ. १, पृ. ४)। ४१. मिथ्यात्वं विपर्यासरूपम्। (ज्ञा. सा. वृ. ४–७, पृ. २१)।

१ जिनोपदिष्ट तत्त्वों में जो संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप विमोह (मूढता) रहता है उसका

नाम मिथ्यात्व है। २ तत्त्वार्थों के अश्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं। वह संशयित, अभिगृहीत और अनभिगृहीत के भेद से तीन प्रकार का है। ३ मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय के उदय से सर्वज्ञोक्त मार्ग से विमुख होकर तत्त्वार्थ के श्रद्धान में उत्सुकता से रहित होते हुए जो हित व अहित के विचार में असमर्थता होती है, इसे मिथ्यात्व कहा जाता है।

मिथ्यात्वक्रिया—१. अन्यदेवतास्तवनादिरूपा मिथ्यात्वहेतुका प्रवृत्तिर्मिथ्यात्वक्रिया। (स. सि. ६–५; त. वा. ६, ५, ७)। २. प्रवृत्तिरकृतादन्यदेवतास्तवनादिका। सा मिथ्यात्वक्रिया ज्ञेया मिथ्यात्वपरिवर्द्धिनी॥ (ह. पु. ५८–६२)। ३. कुचैत्यादिप्रतिष्ठादिर्या मिथ्यात्वप्रवर्धिनी। सा मिथ्याक्रिया बोध्या मिथ्यात्वोदयसंभृता॥ (त. श्लो. ६, ५, ३)। ४. मिथ्यात्वक्रिया तत्त्वार्थाऽश्रद्धानलक्षणा। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–६)। ५. परदेवतास्तुतिरूपा मिथ्यात्वप्रवृत्तिकारणभूता मिथ्यात्वक्रिया। (त. वृत्ति श्रुत. ६–५)।

१ अन्य देवताओं की स्तुति आदि रूप जो मिथ्यात्व की कारणभूत क्रिया की जाती है उसे मिथ्यात्वक्रिया कहा जाता है।

मिथ्यात्ववेदनीय—देखो मिथ्यात्व। १. मिथ्यात्वरूपेण वेद्यते यत्तन्मिथ्यात्ववेदनीयम्। (श्रा. प्र. १५)। २. यत् पुनर्जिनप्रणीततत्त्वाश्रद्धानात्मकेन मिथ्यात्वरूपेण वेद्यते तत् मिथ्यात्ववेदनीयम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४६८)। ३. यदुदयाज्जिनप्रणीततत्त्वाश्रद्धानं तन्मिथ्यात्वम्। (सप्तति. मलय. वृ. ६)। ४. यदुदयवशाज्जिनप्रणीततत्त्वाश्रद्धानं तन्मिथ्यात्वम्। (पंचसं. मलय. वृ. ३–६)।

२ जिस कर्म का अनुभवन जिनोपदिष्ट तत्त्वों के अश्रद्धानस्वरूप मिथ्यात्व के रूप में किया जाता है उसे मिथ्यात्ववेदनीय कहते हैं।

मिथ्यात्वसेवा—मिथ्यात्वस्य सेवा तत्परिणामयोग्यद्रव्याद्युपयोगः। (भ. आ. मूला. ४४)।

मिथ्यात्व परिणाम के योग्य द्रव्य आदि का उपयोग करना, इसका नाम मिथ्यात्वसेवा है।

मिथ्यात्वोदय—१. मिच्छत्तस्स दु उदयं जं जीवाणं दु अतच्चसद्दहणं। (समयप्रा. १४२)। २. तत्त्वाश्रद्धानरूपेण ज्ञाने स्वदमानो मिथ्यात्वोदयः। (समयप्रा. अमृत. वृ. १४२)। ३. मिथ्यात्वोदयो भवति जीवानामनन्तज्ञानादिचतुष्टयरूपं शुद्धात्मतत्त्वमुपादेयं विहायान्यत्र यच्छ्रद्धानं रुचिरुपादेयबुद्धिः। (समयप्रा. जय. वृ. १४२)।

१ जीवों के जो अयथार्थ तत्त्वों का श्रद्धान होता है उसका नाम मिथ्यात्वोदय है।

मिथ्यादर्शन—देखो मिथ्यात्व। १. मोहनीयभेदमिथ्यात्वोदयात् विपरीतार्थदर्शनं मिच्छादंसणं हृत्पूरकफलभक्षितपुरुषदृष्टिदर्शनवत्। (अनुयो. चू. पृ. ८६)। २. मिथ्यादर्शनमतत्त्वश्रद्धानम्। (त. वा. ७, १८, ३)। ३. तत्त्वार्थाश्रद्धानं मिथ्यादर्शनम् अभिगृहीतानभिगृहीत-सन्देहभेदात् त्रिधा। (त. भा. हरि. वृ. ७–१३)। ४. यदर्हदवर्णवादहेतुलिंगमर्हदादिश्रद्धाविघातकं दर्शनपरीषहकारण तन्मिथ्यादर्शनम्। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ६३)। ५. मिथ्यादर्शन विपरीतपदार्थश्रद्धानरूपम्। (श्रा. प्र. टी. ३४१)। ६. मिच्छत्त-सम्मामिच्छत्ताणि मिच्छदंसणम्। (धव. पु. १२, पृ. २८६)। ७. जीवादितत्त्वार्थाश्रद्धानम्। (सिद्धिवि. वृ. ४–११, पृ. २७०)। ८. मिथ्यादर्शनम् अतत्त्वार्थश्रद्धानमिति। (समवा. अभय. वृ. ३)। ९. मिथ्यादर्शनं त्वशुद्धमिथ्यात्वदलिकोदयसमुत्थजीवपरिणामः। (भगवती. दान. वृ. ८, २, पृ. १२०)।

१ जिस प्रकार हृत्पूर (धतूरा) फल के खाने वाले पुरुष की दृष्टि दूषित हो जाने से वह वस्तुओं को विपरीत देखता है उसी प्रकार मोहनीय के भेदभूत मिथ्यात्व के उदय से जो पदार्थों का विपरीत दर्शन होता है वह मिथ्यादर्शन कहलाता है। २ तत्त्वों के विपरीत श्रद्धान को मिथ्यादर्शन कहते हैं।

मिथ्यादर्शनक्रिया—१. अन्यं मिथ्यादर्शनक्रियाकरण-कारणाविष्टं प्रशंसादिभिर्दृढयति यथा साधु करोषीति सा मिथ्यादर्शनक्रिया। (स. सि. ६–५; त. वा. ६, ५, ११)। २. मिथ्यादिकारणाविष्टदृढीकरणमत्र यत्। प्रशंसादिभिरुक्तान्या सा मिथ्यादर्शनक्रिया॥ (त. श्लो. ६, ५, २५)। ३. मिथ्यादर्शनमार्गेण सन्ततं प्रयाणमन्यं साधयामीत्यनुमोदमानस्य मिथ्यादर्शनक्रिया। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–६)। ४. मिथ्यामतोक्तक्रियाविधान-विधापन-

देशकं वयणं सिच्छादंसणवयणमिदि। (अंगप. पृ. २९३)।

१ सम्यग्दर्शनवाक् से विपरीत—मिथ्यामार्ग के उपदेशक—वचन को मिथ्यादर्शनवाक् कहते हैं।

मिथ्यादर्शनशल्य— १. मिथ्यादर्शनमतत्त्वश्रद्धानम्। (स. सि. ७–१८; त. वा. ७, १८, ३)। २. मिथ्यादर्शनं तत्त्वार्थश्रद्धानाभावः। (त. वृत्ति श्रुत. ७–१८; कार्तिके. टी. ३२६)।

१ तत्त्वों के विपरीत श्रद्धान को मिथ्यादर्शन कहते हैं। यह तीन प्रकार के शल्यों में से एक है।

मिथ्यादृष्टि— देखो मिथ्यादर्शन। १. मिच्छादिट्ठी णाम कथं भवदि? मिच्छत्तकम्मस्स उदएण। (षट्खं. २, १, ८०–८१—धव. पु. ७, पृ. १११)। २. सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठुं जो मण्णए ण मच्छरिओ। सो संजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो॥ अमराण वंदियाणं रूवं दट्ठूण सीलसहियाणं। जे गारवं करंति य सम्मत्तविवज्जिया होंति। (दर्शनप्रा. २४–२५)। ३. जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू। मिच्छत्तपरिणदो उण वज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं॥ कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छियलिंगं च वदए जो दु। लज्जा-भय-गारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सो हु॥ (मोक्षप्रा. १५ व ९२)। ४. सम्मत्तपडिणिवद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहिदं। तस्सोदएण जीवो मिच्छादिट्ठि त्ति णादव्वो॥ (समयप्रा. १७१)। ५. मिथ्यादर्शनकर्मोदयवशीकृत आत्मा मिथ्यादृष्टिः। (स. सि. ९–१)। ६. मिच्छ- पृ. १६२)। १०. मिथ्यादृष्टिर्भवेज्जीवो मिथ्यादर्शनकर्मणः। उदयेन पदार्थानामश्रद्धानं हि यत्कृतम्॥ (त. सा. २–१८)। ११. दोससहियं पि देवं जीवहिंसाइसंजुदं धम्मं। गंथासत्तं च गुरुं जो मण्णदि सो हु कुद्दिट्ठी॥ (कार्तिके. ३१८)। १२. इंदियसोक्खणिमित्तं सद्धाणादीणि कुणइ सो मिच्छो। (द्रव्यस्व. प्र. नयच. ३३३)। १३. तत्त्वानि जिनदृष्टानि यस्तथ्यानि न रोचते। मिथ्यात्वस्योदये जीवो मिथ्यादृष्टिरसौ मतः॥ (पंचसं. अमित. १–२६)। १४. मिथ्या वितथाऽसत्या दृष्टिदर्शनं विपरीतैकान्त-विनय-संशयाज्ञानरूपमिथ्यात्वकर्मोदयजनिता येषां ते मिथ्यादृष्टयोऽथवा मिथ्या वितथम्, तत्र दृष्टी रुचिः श्रद्धा प्रत्ययो येषां ते मिथ्यादृष्टयोऽनेकान्ततत्त्वपराङ्मुखाः। (मूला. वृ. १२–१५४)। १५. मिथ्या विपर्यासवती जिनाभिहितार्थसार्थाश्रद्धानवती दृष्टिः दर्शनं श्रद्धानं येषां ते मिथ्यादृष्टिकाः मिथ्यात्वमोहनीयकर्मोदयादरुचितजिनवचनाः। (स्थाना. अभय. वृ. १–५१)। १६. तं पंचविहं मिच्छं तद्दिट्ठी मिच्छदिट्ठी य। (शतक. भा. ८३)। १७. मिथ्यादृष्टिर्भवेन्मिथ्यादर्शनस्योदये सति। गुणस्थानत्वमेतस्य भद्रकत्वाद्यपेक्षया॥ (योगशा. स्वो. विव. १–१६, पृ. १११)। १८. मिथ्या विपर्यस्ता दृष्टिर्वस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिर्येषां ते मिथ्यादृष्टयः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २४०, पृ. ३८८)। १९. मिथ्या विपर्यस्ता दृष्टिर्येषां भक्षितहृत्पूरपुरुषस्य सिते पीतप्रतिपत्तिवत् मिथ्यादृष्टयः।

(जीवाजी. मलय. वृ. १३, पृ. १८)। २०. मिथ्या विपर्यस्ता दृष्टिर्जीवाजीवादिवस्तुप्रतिपत्तिर्यस्य भक्षितधत्तूरपुरुषस्य सिते पीतप्रतिपत्तिवत् स मिथ्यादृष्टिः। (पंचसं. मलय. वृ. १-१५; कर्मस्त. गो. वृ. २, पृ. ७०; कर्मस्त. दे. स्वो. वृ. २, पृ. ६७)। २१. तत्त्वार्थविपरीतरुचिर्मिथ्यादृष्टिः। (त. वृत्ति श्रुत. ९-१)। २२. तत्र मिथ्या विपर्यस्ता जिनप्रणीतवस्तुषु। दृष्टिर्यस्य प्रतिपत्तिः स मिथ्यादृष्टिरुच्यते॥ (लोकप्र. ३-११३४)। २३. यस्यास्ति कांक्षितो भावो नूनं मिथ्यादृगस्ति सः। (लाटीसं. ४-७४)।

१ मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है। ३ जो साधु पर पदार्थों में अनुरक्त रहता है वह मिथ्यादृष्टि होता है। जो भय, लज्जा या गारव से कुदेव, कुधर्म और कुगुरु को वन्दना करता है उसे मिथ्यादृष्टि समझना चाहिए। १५ जिनकी दृष्टि मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय से जिनप्रणीत पदार्थसमूह के श्रद्धान से रहित होती है तथा जिनको जिनवाणी नहीं रुचती है वे मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान— देखो मिथ्यादृष्टि। १. मिच्छत्तस्सुदएण य जीवे संभवइ उदइओ भावो। तेण य मिच्छादिट्ठी ठाणं पावेइ सो तइया॥ (भावसं. दे. १२)। २. सहजशुद्धकेवलज्ञान-दर्शनरूपाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयनिजपरमात्मप्रभृतिषड्द्रव्य-पंचास्तिकाय-सप्ततत्त्व-नवपदार्थेषु मूढत्रयादिपंचविंशतिमलरहितं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनयविभागेन यस्य श्रद्धानं नास्ति स मिथ्यादृष्टिः। (वृ. द्रव्यसं. टी. १३)। ३. तस्य मिथ्यादृष्टेः गुणस्थानं ज्ञानादिगुणानामविशुद्धिप्रकर्ष-विशुद्धयपकर्षवतः स्वरूपविशेषो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम्। (कर्मस्त. दे. स्वो. वृ. ६७)। ४. तत्राद्यं यद् गुणस्थानं मिथ्यात्वं नाम जायते। पंचानां दृष्टिमोहाख्यकर्मणामुदयोद्भवम्॥ (भावसं. वाम. २५)। ५. जिनादिष्टेषु तत्त्वेषु न श्रद्धानं भवेदिह। श्रद्धानं चापि यन्मिथ्याऽन्यथा या च प्ररूपणा॥ सन्देहकरणं यच्च यदेतेष्वप्यनादरः। तन्मिथ्या पञ्चधा तस्मिन् दृग्मिथ्यादृष्टिको गुणः॥ (सं. प्रकृतिवि. जयति. ५-६)। ६. तत्र मिथ्या विपर्यस्ता, जिनप्रणीतवस्तुषु। दृष्टिर्यस्य प्रतिपत्तिः स मिथ्यादृष्टिरुच्यते॥ यत्तु तस्य गुणस्थानं सम्यग्दृष्टिमविभ्रतः। मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं यदुक्तं पूर्वसूरिभिः॥ (लोकप्र. ३, ११३४-३५)।

१ मिथ्यात्व के उदय से जीव के जो औदयिक भाव होता है उससे मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है। ५ जिनोपदिष्ट तत्त्वों के विषय में श्रद्धान न करना, विपरीत श्रद्धान करना, अन्यथा कथन करना, सन्देह करना तथा उनके विषय में अनादर करना; इसका नाम मिथ्यात्व है। उसके होने पर मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है।

मिथ्यादृष्टिप्रशंसा—१. मनसा मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानचारित्र-गुणोद्भावनं प्रशंसा। (स. सि. ७-२३; त. वा. ७, २३, १)। २. मिथ्या जिनागमविपरीता दृष्टिर्दर्शनं येषां ते मिथ्यादृष्टयस्तेषां प्रशंसनं प्रशंसा। (योगशा. स्वो. विव. २-१७, पृ. १८९)। ३. मिथ्यादृष्टीनां मनसा ज्ञान-चारित्रगुणोद्भावनं प्रशंसा। (त. वृत्ति श्रुत. ७-२३)।

१ मन से मिथ्यादृष्टि के ज्ञान और चारित्र गुणों के कीर्तन का नाम मिथ्यादृष्टिप्रशंसा है। यह सम्यग्दर्शन का एक अतीचार है। २ जिनकी दृष्टि जिनागम से विपरीत होती है वे मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं, ऐसे मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा को मिथ्यादृष्टिप्रशंसा कहते हैं।

मिथ्यादृष्टिश्रुत—देखो मिथ्याश्रुत।

मिथ्यादृष्टिसंस्तव— १. (मिथ्यादृष्टेः) भूताभूतगुणोद्भावनवचनं संस्तवः। (स. सि. ७-२३; त. वा. ७, २३, १)। २. तैर्मिथ्यादृष्टिभिरेकत्र संवासात्परस्परालापादिजनितः परिचयः संस्तवः। एकत्र वासे हि तत्प्रक्रियाश्रवणात् तत्क्रियादर्शनाच्च दृढसम्यक्त्ववतोऽपि दृष्टिभेदः सम्भाव्यते, किमुत मन्दबुद्धेर्नवधर्मस्य इति संस्तवोऽपि सम्यक्त्वदूषणम्। (योगशा. स्वो. वि. २-१७, पृ. १८९)। ३. विद्यमानानामविद्यमानानां मिथ्यादृष्टेर्गुणानां वचनेन प्रकटनं संस्तव उच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७-२३)।

१ मिथ्यादृष्टि के विद्यमान व अविद्यमान गुणों का वचन से कीर्तन करना, इसे मिथ्यादृष्टिसंस्तव कहते हैं। यह सम्यक्त्व का एक अतीचार है। २ मिथ्यादृष्टियों के साथ एक स्थान पर रहने से जो परस्पर में वार्तालाप आदि के द्वारा परिचय उत्पन्न होता है उसे मिथ्यादृष्टिसंस्तव कहते हैं। यह सम्यक्त्व का अतिचार है। इसका कारण यह है

है कि एक स्थान पर साथ में रहने से मिथ्यादृष्टियों की प्रक्रिया के देखने व सुनने से दृढ सम्यग्दृष्टि के भी दृष्टिभेद हो जाना सम्भव है, फिर भला मन्दबुद्धि का तो कहना ही क्या है ?

मिथ्यादृष्टिसेवा—मिथ्यादृष्टिसेवा नाम एकान्तग्रहरक्तानां बहुमननम् । (भ. आ. मूला. ४४) ।

जो एकान्तरूप पिशाच से पीड़ित हैं उनको बहुत मानना, इसका नाम मिथ्यादृष्टिसेवा है ।

मिथ्यानेकान्त—१. तदतत्स्वभाववस्तुशून्यं परिकल्पितानेकान्तात्मकं केवलं वाग्विज्ञानं मिथ्यानेकान्तः । (त. वा. १, ६, ७) । २. प्रत्यक्षादिविरुद्धानेकधर्मपरिकल्पनं मिथ्यानेकान्तः । (सप्तभं. पृ. ७४) ।

१ तत्-अतत् (सत्-असत् व नित्य-अनित्य आदि) स्वभाव से रहित वस्तु में केवल कल्पना से स्वीकृत अनेक धर्म स्वरूप वचन के ज्ञान को मिथ्या अनेकान्त कहते हैं ।

मिथ्यार्थ—देखो तत्त्वार्थ । ततः (तत्त्वार्थात्) अन्यस्तु सर्वथैकान्तवादिभिरभिमन्यमानो मिथ्यार्थः, तस्य प्रमाण-नयैस्तथार्थमाणत्वाभावादिति । (त. श्लो. १, २५, पृ. ८४) ।

तत्त्वार्थ से भिन्न, अर्थात् सर्वथैकान्तवादियों के द्वारा माना गया अर्थ (वस्तुस्वरूप) मिथ्यार्थ कहलाता है ।

मिथ्याशल्य— १. निजनिरञ्जन-निर्दोषपरमात्मैवोपादेय इति रुचिरूपसम्यक्त्वाद्विलक्षणं मिथ्याशल्यम् । (बृ. द्रव्यसं. टी. ४२) । २. मिथ्यात्वं विपरीताभिनिवेशः । (सा. ध. स्वो. टी. ४-१) ।

१ अपना निर्मल व निर्दोष उत्कृष्ट आत्मा ही उपादेय है, इस प्रकार की रुचि रूप सम्यक्त्व से भिन्न मिथ्याशल्य कहलाती है ।

मिथ्याश्रुत—१. जं इमं अण्णाणिएहिं मिच्छादिट्ठिएहिं सच्छंदबुद्धि-मइविगप्पिअं से तं मिच्छासुअं । (नन्दी. सू. ४१, पृ. १९४) । २. मिथ्यादृष्टेः पुनरप्रशमादिमिथ्यापरिणामोपेतत्वाद्वस्तुनः स्वरूपेणाप्रतिभासनान्मिथ्याश्रुतम्, पित्तोदयाभिभूतस्याशर्करादिवदिति । (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ८२) । ३. तदेव मिथ्यादृष्टेरन्यथावगमान्मिथ्याश्रुतम् । (कर्मवि. ग. परमा. व्या. १०) । ४. मिथ्यादृष्टेः पुनरर्हत्प्रणीतमितरद्वा मिथ्याश्रुतम्, यथास्वरूपमनवगमात् । (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ६) ।

१ जो श्रुत अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों के द्वारा स्वतन्त्र अवग्रह वा ईहा रूप बुद्धि से तथा अपाय (अवाय) व धारणा रूप मति से कल्पित हो उसे मिथ्याश्रुत कहते हैं ।

मिथ्यास्तिक्य— × × × मिथ्यास्तिक्यं ततोऽन्यथा (सम्यक्त्वेनाविनाभूतस्वानुभूतिभिन्नम्) ॥ (लाटीसं. ३-१०२) ।

सम्यक्त्व के बिना—मिथ्यात्व के साथ—जो आत्म-परपदार्थों का अयथार्थ अनुभवन होता है उसे मिथ्यास्तिक्य कहा जाता है ।

मिथ्यैकान्त—१. एकात्मावधारणेन अन्याशेषनिराकरणप्रवणप्रणिधिर्मिथ्यैकान्तः । (त. वा. १, ६, ७) । २. मिथ्यैकान्तस्त्वेकधर्ममात्रावधारणेनान्याशेषधर्मनिराकरणप्रवणः । (सप्तभं. पृ. ७४) ।

१ एक धर्म का निश्चय करके जो अन्य समस्त धर्मों के निराकरण की व्यवस्था की जाती है वह मिथ्या-एकान्त है ।

मिथ्योपदेश—१. अभ्युदय-निःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेषु अन्यस्यान्यथाप्रवर्तनमतिसन्धापनं वा मिथ्योपदेशः । (स. सि. ७-२६) । २. मिथ्योपदेशो नाम प्रमत्तवचनमयथार्थवचनोपदेशो विवादेष्वतिसन्धानोपदेश इत्येवमादिः । (त. भा. ७-२१) । ३. मिथ्यान्यथाप्रवर्तनमतिसन्धापनं वा मिथ्योपदेशः । अभ्युदय-निःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेषु अन्यस्यान्यथाप्रवर्तनमतिसन्धापनं वा मिथ्योपदेश इत्युच्यते । (त. वा. ७, २६, १) । ४. मृषोपदेशमसदुपदेसमिदमेव चैवं च कुर्वित्यादिलक्षणम् । (श्रा. प्र. टी. २६३) । ५. अतिसन्धापनं मिथ्योपदेश इह चान्यथा । यदभ्युदय-मोक्षार्थक्रियास्वन्यप्रवर्तनम् ॥ (ह. पु. ५८, १६६) । ६. मिथ्यान्यथाप्रवर्तनमतिसन्धापनं वा मिथ्योपदेशः सर्वथैकान्तप्रवर्तनवत् सच्छास्त्रान्यथाकथनवत् परातिसन्धायकशास्त्रोपदेशवच्च । (त. श्लो. ७-२६) । ७. अभ्युदय-निःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेषु अन्यस्यान्यथाप्रवर्तनमभिसन्धापनं वा मिथ्योपदेशः । (चा. सा. पृ. ५) । ८. मिथ्योपदेशो नाम अलीकवादविषय उपदेश इदमेवं चैवं च ब्रूहीत्यादिकमसत्याभिधानं शिक्षणम् । (ध. बि. मु. वृ.

(जीवाजी. मलय. वृ. १३, पृ. १८) । २०. मिथ्या विपर्यस्ता दृष्टिर्जीवाजीवादिवस्तुप्रतिपत्तिर्यस्य भक्षितधत्तूरपुरुषस्य सिते पीतप्रतिपत्तिवत् स मिथ्यादृष्टिः । (पंचसं. मलय. वृ. १-१५; कर्मस्त. गो. वृ. २, पृ. ७०; कर्मस्त. दे. स्वो. वृ. २, पृ. ६७) । २१. तत्त्वार्थविपरीतरुचिर्मिथ्यादृष्टिः । (त. वृत्ति श्रुत. ९-१) । २२. तत्र मिथ्या विपर्यस्ता जिनप्रणीतवस्तुषु । दृष्टिर्यस्य प्रतिपत्तिः स मिथ्यादृष्टिरुच्यते ।। (लोकप्र. ३-११३४) । २३. यस्यास्ति कांक्षितो भावो नूनं मिथ्यादृगस्ति सः । (लाटीसं. ४-७४) ।

१ मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है। ३ जो साधु पर पदार्थों में अनुरक्त रहता है वह मिथ्यादृष्टि होता है। जो भय, लज्जा या गारव से कुदेव, कुधर्म और कुगुरु की वन्दना करता है उसे मिथ्यादृष्टि समझना चाहिए। १५ जिनकी दृष्टि मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय से जिनप्रणीत पदार्थसमूह के श्रद्धान से रहित होती है तथा जिनको जिनवाणी नहीं रुचती है वे मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान— देखो मिथ्यादृष्टि । १. मिच्छत्तस्सुदएण य जीवे संभवइ उदइओ भावो। तेण य मिच्छादिट्ठी ठाणं पावेइ सो लइया ।। (भावसं. दे. १२) । २. सहजशुद्धकेवलज्ञान-दर्शनरूपाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयनिजपरमात्मप्रभृतिषड्द्रव्य-पंचास्तिकाय-सप्ततत्त्व-नवपदार्थेषु मूढत्रयादिपंचविंशतिमलरहितं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनयविभागेन यस्य श्रद्धानं नास्ति स मिथ्यादृष्टिः । (वृ. द्रव्यसं. टी. १३) । ३. तस्य मिथ्यादृष्टेः गुणस्थानं ज्ञानादिगुणानामविशुद्धिप्रकर्ष-विशुद्धयपकर्षवतः स्वरूपविशेषो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् । (कर्मस्त. दे. स्वो. वृ. ६७) । ४. तत्राद्यं यद् गुणस्थानं मिथ्यात्वं नाम जायते । पंचानां दृष्टिमोहाख्यकर्मणामुदयोद्भवम् ।। (भावसं. वाम. २५) । ५. जिनादिष्टेषु तत्त्वेषु न श्रद्धानं भवेदिह । श्रद्धानं चापि यन्मिथ्याऽन्यथा या च प्ररूपणा ।। सन्देहकरणं यच्च यदेतेष्वप्यनादरः । तन्मिथ्या पञ्चधा तस्मिन् दृग्मिथ्यादृष्टिको गुणः ।। (सं. प्रकृतिवि. जयति. ५-६) । ६. तत्र मिथ्या विपर्यस्ता, जिनप्रणीतवस्तुषु । दृष्टिर्यस्य प्रतिपत्तिः स मिथ्यादृष्टिरुच्यते ।। यत्तु तस्य गुणस्थानं सम्यग्दृष्टिमबिभ्रतः । मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं यदुक्तं पूर्वसूरिभिः ।। (लोकप्र. ३, ११३४-३५) ।

१ मिथ्यात्व के उदय से जीव के जो औदयिक भाव होता है उससे मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है। ५ जिनोपदिष्ट तत्त्वों के विषय में श्रद्धान न करना, विपरीत श्रद्धान करना, अन्यथा कथन करना, सन्देह करना तथा उनके विषय में अनादर करना; इसका नाम मिथ्यात्व है। उसके होने पर मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है।

मिथ्यादृष्टिप्रशंसा—१. मनसा मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानचारित्र-गुणोद्भावनं प्रशंसा । (स. सि. ७-२३; त. वा. ७, २३, १) । २. मिथ्या जिनागमविपरीता दृष्टिर्दर्शनं येषां ते मिथ्यादृष्टयस्तेषां प्रशंसनं प्रशंसा । (योगशा. स्वो. विव. २-१७, पृ. १८९) । ३. मिथ्यादृष्टीनां मनसा ज्ञान-चारित्रगुणोद्भावनं प्रशंसा । (त. वृत्ति श्रुत. ७-२३) ।

१ मन से मिथ्यादृष्टि के ज्ञान और चारित्र गुणों के कीर्तन का नाम मिथ्यादृष्टिप्रशंसा है। यह सम्यग्दर्शन का एक अतीचार है। २ जिनकी दृष्टि जिनागम से विपरीत होती है वे मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं, ऐसे मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा को मिथ्यादृष्टिप्रशंसा कहते हैं।

मिथ्यादृष्टिश्रुत—देखो मिथ्याश्रुत ।

मिथ्यादृष्टिसंस्तव— १. (मिथ्यादृष्टेः) भूताभूतगुणोद्भावनवचनं संस्तवः । (स. सि. ७-२३; त. वा. ७, २३, १) । २. तैर्मिथ्यादृष्टिभिरेकत्र संवासात्परस्परालापादिजनितः परिचयः संस्तवः । एकत्र वासे हि तत्प्रक्रियाश्रवणात् तत्क्रियादर्शनाच्च दृढसम्यक्त्ववतोऽपि दृष्टिभेदः सम्भाव्यते, किमुत मन्दबुद्धेर्नवधर्मस्य इति संस्तवोऽपि सम्यक्त्वदूषणम् । (योगशा. स्वो. वि. २-१७, पृ. १८९) । ३. विद्यमानानामविद्यमानानां मिथ्यादृष्टेर्गुणानां वचनेन प्रकटनं संस्तव उच्यते । (त. वृत्ति श्रुत. ७-२३) ।

१ मिथ्यादृष्टि के विद्यमान व अविद्यमान गुणों का वचन से कीर्तन करना, इसे मिथ्यादृष्टिसंस्तव कहते हैं। यह सम्यक्त्व का एक अतीचार है। २ मिथ्यादृष्टियों के साथ एक स्थान पर रहने से जो परस्पर में वार्तालाप आदि के द्वारा परिचय उत्पन्न होता है उसे मिथ्यादृष्टिसंस्तव कहते हैं। यह सम्यक्त्व का अतिचार है। इसका कारण यह है

है कि एक स्थान पर साथ में रहने से मिथ्यादृष्टियों की प्रक्रिया के देखने व सुनने से दृढ सम्यग्दृष्टि के भी दृष्टिभेद हो जाना सम्भव है, फिर भला मन्दबुद्धि का तो कहना ही क्या है ?

मिथ्यादृष्टिसेवा—मिथ्यादृष्टिसेवा नाम एकान्त-ग्रहरक्तानां बहुमननम् । (भ. आ. मूला. ४४) ।

जो एकान्तरूप पिशाच से पीड़ित हैं उनको बहुत मानना, इसका नाम मिथ्यादृष्टिसेवा है।

मिथ्यानेकान्त—१. तदतत्स्वभाववस्तुशून्यं परिकल्पितानेकान्तात्मकं केवलं वाग्विज्ञानं मिथ्यानेकान्तः । (त. वा. १, ६, ७) । २. प्रत्यक्षादि-विरुद्धानेकधर्मपरिकल्पनं मिथ्यानेकान्तः । (सप्तभं. पृ. ७४) ·

१ तत्-अतत् (सत्-असत् व नित्य-अनित्य आदि) स्वभाव से रहित वस्तु में केवल कल्पना से स्वीकृत अनेक धर्म स्वरूप वचन के ज्ञान को मिथ्या अनेकान्त कहते हैं।

मिथ्यार्थ—देखो तत्त्वार्थ । ततः (तत्त्वार्थात्) अन्यस्तु सर्वथैकान्तवादिभिरभिमन्यमानो मिथ्यार्थः, तस्य प्रमाण-नयैस्तथार्यमाणत्वाभावादिति । (त. श्लो. १, २५, पृ. ८४) ।

तत्त्वार्थ से भिन्न, अर्थात् सर्वथैकान्तवादियों के द्वारा माना गया अर्थ (वस्तुस्वरूप) मिथ्यार्थ कहलाता है।

मिथ्याशल्य— १. निजनिरञ्जन-निर्दोषपरमात्मैवोपादेय इति रुचिरूपसम्यक्त्वाद्विलक्षणं मिथ्याशल्यम् । (बृ. द्रव्यसं. टी. ४२) । २. मिथ्यात्वं विपरीताभिनिवेशः । (सा. ध. स्वो. टी. ४-१) ।

१ अपना निर्मल व निर्दोष उत्कृष्ट आत्मा ही उपादेय है, इस प्रकार की रुचि रूप सम्यक्त्व से भिन्न मिथ्याशल्य कहलाती है।

मिथ्याश्रुत—१. जं इमं अण्णाणिएहिं मिच्छादिट्ठिएहिं सच्छंदबुद्धि-मइविगप्पिअं से तं मिच्छासुअं। (नन्दी. सू. ४१, पृ. १९४) । २. मिथ्यादृष्टेः पुनरप्रशमादिमिथ्यापरिणामोपेतत्वाद्वस्तुनः स्वरूपेणाप्रतिभासनान्मिथ्याश्रुतम्, पित्तोदयाभिभूतस्याशर्करादिवदिति । (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ८२) । ३. तदेव मिथ्यादृष्टेरन्यथावगमान्मिथ्याश्रुतम् । (कर्मवि. ग. परमा. व्या. १०) । ४. मिथ्यादृष्टेः पुनरर्हत्प्रणीतमितरद्वा मिथ्याश्रुतम्, यथास्वरूपमनवगमात् । (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ६) ।

१ जो श्रुत अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों के द्वारा स्वतन्त्र अवग्रह वा ईहा रूप बुद्धि से तथा अपाय (अवाय) व धारणा रूप मति से कल्पित हो उसे मिथ्याश्रुत कहते हैं।

मिथ्यास्तिक्य— × × × मिथ्यास्तिक्यं ततोऽन्यथा (सम्यक्त्वेनाविनाभूतस्यानुभूतिभिन्नम्) ॥ (लाटीसं. ३-१०२) ।

सम्यक्त्व के बिना—मिथ्यात्व के साथ—जो आत्म-परपदार्थों का अयथार्थ अनुभवन होता है उसे मिथ्यास्तिक्य कहा जाता है।

मिथ्यैकान्त—१. एकात्मावधारणेन अन्याशेषनिराकरणप्रवणप्रणिधिर्मिथ्यैकान्तः । (त. वा. १, ६, ७) । २. मिथ्यैकान्तस्त्वेकधर्ममात्रावधारणेनान्याशेषधर्मनिराकरणप्रवणः । (सप्तभं. पृ. ७४) ।

१ एक धर्म का निश्चय करके जो अन्य समस्त धर्मों के निराकरण की व्यवस्था की जाती है वह मिथ्या-एकान्त है।

मिथ्योपदेश—१. अभ्युदय-निःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेषु अन्यस्यान्यथाप्रवर्तनमतिसन्धापनं वा मिथ्योपदेशः । (स. सि. ७-२६) । २. मिथ्योपदेशो नाम प्रमत्तवचनमयथार्थवचनोपदेशो विवादेष्वतिसन्धानोपदेश इत्येवमादिः । (त. भा. ७-२१) । ३. मिथ्यान्यथाप्रवर्तनमतिसन्धापन वा मिथ्योपदेशः । अभ्युदय-निःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेषु अन्यस्यान्यथाप्रवर्तनमतिसन्धापनं वा मिथ्योपदेश इत्युच्यते । (त. वा. ७, २६, १) । ४. मृषोपदेशमसदुपदेसमिदमेव चैवं च कुर्वित्यादिलक्षणम् । (श्रा. प्र. टी. २६३) । ५. अतिसन्धापनं मिथ्योपदेश इह चान्यथा । यदभ्युदय-मोक्षार्थक्रियास्वन्यप्रवर्तनम् ॥ (ह. पु. ५८, १६६) । ६. मिथ्यान्यथाप्रवर्तनमतिसन्धापनं वा मिथ्योपदेशः सर्वथैकान्तप्रवर्तनवत् सच्छास्त्रान्यथाकथनवत् परातिसन्धायकशास्त्रोपदेशवच्च । (त. श्लो. ७-२६) । ७. अभ्युदय-निःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेषु अन्यस्यान्यथाप्रवर्तनमभिसन्धापनं वा मिथ्योपदेशः । (चा. सा. पृ. ५) । ८. मिथ्योपदेशो नाम अलीकवादविषय उपदेश इदमेवं चैवं च ब्रूहीत्यादिकमसत्याभिधानं शिक्षणम् । (ध. बि. मु. वृ.

३–२४)। ६. मिथ्योपदेशोऽसदुपदेशः प्रतिपन्नसत्यव्रतस्य हि परपीडाकरं वचनमसत्यमेव, ततः प्रमादात् परपीडाकरणे उपदेशे अतिचारो यथा वाह्यन्तां खरोष्ट्रादयो हन्यन्तां दस्यव इति। यद्वा यथास्थितोऽर्थस्तथोपदेशः साधीयान्, विपरीतस्तु अयथार्थोपदेशो यथा—परेण सन्देहापन्नेन पृष्टे न तथोपदेशः, यद्वा विवादे स्वयं परेण वा अन्यतराभिसन्धानोपायोपदेश इति प्रथमोऽतिचारः। (योगशा. स्वो. विव. ३–९१, पृ. ५५०)। १०. अभ्युदय-निःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेष्वन्यस्यान्यथाप्रवर्तनम्, परेण सन्देहापन्नेन पृष्टेऽज्ञानादिनाऽन्यथाकथनमित्यर्थः। अथवा प्रतिपन्नसत्यव्रतस्य परपीडाकरं वचनमसत्यमेव, ततः प्रमादात् परपीडाकरणे उपदेशेऽतिचारो यथा वाह्यन्तां खरोष्ट्रादयो हन्यन्तां दस्यव इति निष्प्रयोजनं वचनम्। यद्वा विवादे स्वयं परेण वाऽन्यतरातिसन्धानोपायोपदेशो मिथ्योपदेशः। (सा. ध. स्वो. टी. ४–४५)। ११. तयोरभ्युदय-निःश्रेयसयोर्निमित्तं या क्रिया सत्यरूपा वर्तते तस्याः क्रियायाः मुग्धलोकस्य अन्यथाकथनमन्यथाप्रवर्तनं धनादिनिमित्त परवंचनं च मिथ्योपदेश उच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७–२६)। १२. अभ्युदय-निःश्रेयसयोरिन्द्राहमिन्द्र-तीर्थंकरादिसुखस्य परमनिर्वाणपदस्य च निमित्तं या क्रिया सत्यरूपा वर्तते तस्याः क्रियायाः मुग्धलोकस्य अन्यथाकथनम् अन्यथाप्रवर्तनं धनादिनिमित्तं परवञ्चनं च मिथ्योपदेशः। (कार्तिके. टी. ३३३–३४)। १३. तत्र मिथ्योपदेशाख्यः परेषां प्रेरणं यथा। अहमेवं न वक्ष्यामि वद त्वं मम मन्मनात्॥ (लाटीसं. ६–१८)।

१ स्वर्गादिरूप अभ्युदय एवं मोक्ष की प्राप्ति में प्रयोजनीभूत विशिष्ट क्रियाओं के विषय में दूसरे को विपरीत प्रवर्ताना अथवा ठगना, इसे मिथ्योपदेश कहा जाता है। यह सत्याणुव्रत का एक अतिचार है। २ प्रमाद से युक्त होते हुए बोलना, वस्तुस्वरूप के विपरीत उपदेश देना, अथवा विवाद (कलह) के विषय में कपटपूर्ण उपदेश करना, इसका नाम मिथ्योपदेश है।

मिथ्योह—देखो कुतर्क। विवक्षातो वाचोवृत्तेरन्यथानुपलम्भेन सर्वतः तदभावे व्यतिरेकचिन्ता मिथ्योहः। (प्रमाणसं. स्वो. वि. १५)।

अन्यत्र साधन की उपलब्धि न होने से सर्वत्र उसके अभाव में व्यतिरेक का विचार करना उसे मिथ्यातर्क या तर्काभास कहते हैं, कारण कि वचन की प्रवृत्ति विवक्षा के अनुसार हुआ करती है।

मिश्रकाल—मिस्सकालो जहा सदंससीदकालो इच्चेवमादि। (धव. पु. ११, पृ. ७६)।

डांस-मच्छर युक्त काल, इत्यादि मिश्रकाल कहलाता है।

मिश्रगुणस्थान—देखो मिश्रदर्शन। १. दहि-गुडमिव वा मिस्सं पिहुभावं णेव कारिदुं सक्कं। एवं मिस्सयभावो सम्मामिच्छो त्ति णायव्वो॥ (प्रा. पंचसं. १–१०; धव. पु. १, पृ. १७० उद्.; गो. जी. २२)। २. सम्मामिच्छुदएण य सम्मिस्सं णाम होइ गुणठाणं। खय-उवसमभावगयं अंतरजाई समुद्दिट्ठं॥ (भावसं. दे. १९८)। ३. निजशुद्धात्मादितत्त्वं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतं परप्रणीतं च मन्यते यः स दर्शनमोहनीयभेदमिश्रकर्मोदयेन दधि-गुडमिश्रभाववत् मिश्रगुणस्थानवर्ती भवति। (बृ. द्रव्यसं. टी. १३)। ४. जह गुड-दहीणि विसमाणि भावरहियाणि होंति मिस्साणि। भुंजतस्स तहोभयतद्दिट्ठी मीसदिट्ठी य॥ (शतक. ६, भा. ८५, पृ. २१)। ५. मिश्रकर्मोदयाज्जीवे पर्यायः सर्वघातिजः। न सम्यक्त्वं न मिथ्यात्वं भावोऽसौ मिश्र उच्यते॥ (भावसं. वाम. ३०५)। ६. मिश्रकर्मोदयाज्जीवे सम्यग्मिथ्यात्वमिश्रितः। यो भावोऽन्तमुहूर्तं स्यात्तन्मिश्रस्थानमुच्यते॥ जात्यन्तरसमुद्भूतिर्वडवा-खरयोर्यथा। गुड-दध्नोः समायोगे रसभेदान्तरं यथा॥ तथा धर्मद्वये श्रद्धा जायते समबुद्धितः। मिश्रोऽसौ भण्यते तस्माद् भावो जात्यन्तरात्मकः। (गुण. क्र. १३, १५)। ७. गुड-दध्नोर्यथा स्वादो मिश्रयोर्जमतामिह। मिथ्या-सम्यक्त्वयोरेवं मिश्रयोर्मिश्रको गुणः॥ (सं. प्रकृतिवि. जय. ८)।

१ जिस प्रकार मिले हुए दही और गुड़ के स्वाद को पृथक् नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से तत्त्वार्थ के मिथ्या श्रद्धान के साथ जो उसका सम्यक् श्रद्धान मिश्रित रहता है उसे मिश्रगुणस्थान समझना चाहिए।

मिश्रग्रहणाद्धा—अप्पिदपोग्गलपरियट्टब्भन्तरे गहिदागहिदपोग्गलाणमक्कमेण गहणकालो मिस्सयगहणद्धा णाम। (धव. पु. ४, पृ. ३२८)।

विवक्षित पुद्गलपरिवर्तन के भीतर गृहीत और

अगृहीत पुद्गलों के एक साथ ग्रहण करने के काल को मिश्रग्रहणाद्धा कहते हैं।

मिश्रचारित्र—देखो क्षायोपशमिक चारित्र। अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान-प्रत्यख्यानलक्षणानां द्वादशानां कषायाणां उदयस्य क्षये सति विद्यमानलक्षणोपशमे सति संज्वलनचतुष्काऽन्यतमस्य देशघातिनश्चोदये सति हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्री-पुं-नपुंसक-वेदलक्षणानां नवानां नोकषायाणां यथासंभवमुदये च सति मिश्रं चारित्रम्। (त. वृत्ति श्रुत. २-५)।

अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान रूप बारह कषायों का उदयक्षय, उन्हीं का सदवस्थारूप उपशम, देशघाती चार संज्वलनों में से किसी एक का उदय तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद रूप नौ नोकषायों का यथासम्भव उदय होने पर जो चारित्र होता है उसे मिश्रचारित्र कहते हैं।

मिश्रजात—१. मिश्रजातं च—आदित एव गृहि-संयत-मिश्रोपस्कृतरूपम्। (दशवै. गा. हरि. वृ. ५५, पृ. १७४)। २. यदात्मनो हेतोर्गृहस्थेन यावदर्थिकादिहेतोश्च मिलितमारभ्यते तन्मिश्रम्। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २०, पृ. ४८)।

१ प्रारम्भ में ही जो भोजन गृहस्थ और साधु दोनों के लिए मिश्रित रूप में पकाया गया हो वह मिश्रजात नामक दोष से दूषित होता है। यह १६ उद्गम दोषों में चौथा है।

मिश्रदर्शन—देखो मिश्रगुणस्थान। सम्यक्त्व-मिथ्यात्वयोगान्मुहूर्तं मिश्रदर्शनः। (योगशा. स्वो. विव. १-१६, पृ. १११ उद्.)।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के योग से जो एक मुहूर्त मिश्रित श्रद्धान होता है उसे मिश्रदर्शन या सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहते हैं।

मिश्रदर्शनमोहनीय—रागं नवि जिणधम्मे णवि दोसं जाइ जस्स उदएणं। सो मीसस्स विवागो अंतमुहुत्तं भवे कालं॥ (कर्मवि. ३८)।

जिस कर्म के उदय से जीव जैन धर्म के विषय में न तो राग को प्राप्त होता है और न द्वेष को भी प्राप्त होता है उसे मिश्रदर्शनमोहनीय (सम्यग्मिथ्यात्व का विपाक (परिणाम) जानना चाहिए।

मिश्रदृष्टि—यस्यां जिनोक्ततत्त्वेषु न रागो नापि मत्सरः। सम्यग्मिथ्यात्वसंज्ञा सा मिश्रदृष्टिः प्रकीर्तिता॥ (लोकप्र. ४-६६६)।

जिस दृष्टि में जिनप्ररूपित तत्त्वों में न तो राग होता है और न मत्सरभाव भी होता है उसे मिश्रदृष्टि कहा जाता है।

मिश्रदोष—१. पासंडेहि य सद्धं सागारेहि य जं दण्णमुद्दिसियं। दादुमिदि संजदाणं सिद्धं मिस्सं वियाणाहि॥ (मूला. ६-१०)। २. पाषण्डिनां गृहस्थानां वा क्रियमाणे गृहे पश्चात्संयतानुद्दिश्य काष्ठादिमिश्रणेन निष्पादितं वेश्म मिश्रम्। (भ. आ. विजयो. २३०)। ३. संयतासंयताद्यर्थमादेरारम्याहारपरिपाको मिश्रम्। (आचा. सू. शी. वृ. २, १, २६६)। ४. मिश्रसंगे हि पाखण्डियतिभ्यो यद्वितीर्यते। (आचा. सा. ८-२५)। ५. यदात्मार्थं साध्वर्थं चादित एव मिश्रं पच्यते तन्मिश्रम्। (योगशा. स्वो. विव. १-३८)। ६. पाषण्डिभिर्गृहस्थैश्च सह दातुं प्रकल्पितम्। यतिभ्यः प्रासुकं सिद्धमप्यन्न मिश्रमिष्यते॥ (अन. ध. ५-१०)। ७. पाषण्डिनां गृहस्थानां वा सम्बन्धितत्वेन क्रियमाणे गृहे पश्चात् संयतानुद्दिश्य काष्ठादिमिश्रणेन निष्पादितं वेश्म मिश्रम्। (भ. आ. मूला. २३०)। ८. यत् प्रासुकेन मिश्रं तन्मिश्रम्। × × × षड्जीवसम्मिश्रं मिश्रः। (भावप्रा. टी. ९९, पृ. २४९ व २५२)।

१ पाखण्डियों और गृहस्थों के साथ संयतों के देने के लिए जो भोजन तैयार किया गया है वह मिश्र नामक उद्गमदोष से दूषित होता है।

मिश्रद्रव्यवेदना—मिस्सदव्ववेयणा संसारिजीवदव्वं। (धव. पु. १०, पृ. ७)।

संसारी जीव द्रव्य को मिश्रनोकर्म-नोआगमद्रव्यवेदना कहा जाता है।

मिश्रद्रव्यसंयोग—१. से किं तं मीसए? हलेण हालिए सगडेणं सागडिए रहेणं रहिए नावाए नाविए, से तं मिसए से तं दव्वसंजोगे। (अनुयो. सू. १३९, पृ. १४४)। २. इदाणि मीससंजुत्तदव्वसंजोगो, स च जीव-कर्मणोः, तयोः स्थानादिसंयोगे सति यदुपचीयते स मिश्रसंयुक्तसंयोगी भवति। (उत्तरा. चू. पृ. १६)।

१ हल से हालिक (हलवाहा) शकट से शाकटिक, रथ से रथिक और नाव से नाविक; इत्यादि संयोग का नाम मिश्रद्रव्यसंयोग है। २ जीव और कर्म में जो उनके स्थान आदि का संयोग होने पर उपचय

होता है उसे मिश्रसंयुक्तसंयोग कहते हैं।

मिश्रद्रव्यस्थान—जं तं मिस्सदव्वठाणं तं लोगागासो। (धव. पु. १०, पृ. ४३६)।

मिश्र (सचित्त-अचित्त) द्रव्यस्थान लोकाकाश है।

मिश्रद्रव्यस्पर्शन—मिस्सयदव्वफोसणं छण्हं दव्वाणं संजोएण एगूणसट्ठिभेयभिण्णं। (धव. पु. ४, पृ. १४३)।

मिश्रद्रव्यस्पर्शन छह द्रव्यों के संयोग से उनसठ (५९) भेद रूप है।

मिश्रद्रव्योपक्रम—१. मिश्रद्रव्योपक्रमः सचित्तस्यैव द्विपदादेः अचित्तकेशादिसहितस्य स्नानादिसंस्कारकरणम्। ××× मिश्रद्रव्योपक्रमोऽपि तथैव शंख-शृंखलाद्यलंकृतद्विरदादेः सचेतनस्य मुद्गरादिभिरभिघातः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. २८, पृ. ११)। २. तेषामश्वादीनामेडकान्तानां कुङ्कुमादिभिर्मण्डितानां स्थासकादिभिस्तु विभूषितानां यच्छिक्षादिगुणविशेषकरणं खड्गादिभिर्विनाशो वा स मिश्रद्रव्योपक्रमः। (अनुयो. सू. मल. हेम. वृ. ६६, पृ ४७)।

१ अचेतन बालों आदि से सहित चेतन द्विपद (दो पांव वाले) आदि प्राणियों को स्नान आदि से संस्कृत करना, यह परिकर्मविषयक मिश्रद्रव्योपक्रम कहलाता है। शंख व सांकल आदि से अलंकृत हाथी आदि सचेतन प्राणियों का मुद्गर आदि से विनाश करना, इसे विनाशविषयक मिश्रद्रव्योपक्रम कहा जाता है।

मिश्रपूजा—१. जा पुण दोण्हं कीरइ णायव्वा मिस्सपूजा सा॥ (वसु. श्रा. ४५०)। २ यत्पुनः क्रियते पूजा द्वयोः (अर्हदादि-तच्छरीरयोः) सा मिश्रसंज्ञिका॥ (धर्मसं. श्रा. ९-९३)।

१ जिन आदि और उनके शरीर दोनों की जो पूजा की जाती है वह मिश्रपूजा कहलाती है।

मिश्रप्रक्रम—साभरणाणं हत्थीणं अस्साणं वा पक्कमो मिस्सपक्कमो णाम। (धव. पु. १५, पृ. १५)।

आभरणों से सहित हाथी अथवा घोड़ों आदि के प्रक्रम को मिश्रप्रक्रम कहते हैं।

मिश्रप्रायश्चित्त— मिश्रमालोचन-प्रतिक्रमणरूपम्, प्रागालोचनं पश्चाद् गुरुसन्दिष्टेन प्रतिक्रमणम्। (योगशा. स्वो. विव. ४-९०)।

पूर्व में आलोचना करके पश्चात् गुरु के सन्देश के अनुसार जो प्रतिक्रमण किया जाता है उसे मिश्र (आलोचन-प्रतिक्रमण) प्रायश्चित्त कहते हैं।

मिश्रभाव—१. उभयात्मको (उपशम-क्षयात्मको) मिश्रः। यथा तस्मिन्नेवाम्भसि कतकादिद्रव्यसम्बन्धात् पङ्कस्य क्षीणाक्षीणवृत्तिः। (स. सि. २-१; आरा. सा. टी. ४)। २. उभयात्मको मिश्रः क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्रववत्। यथा प्रक्षालनविशेषात् क्षीणाक्षीणमदशक्तिकस्य कोद्रवस्य द्विधा वृत्तिः, तथा यथोक्तक्षयहेतुसन्निधाने सति कर्मण एकदेशस्य क्षयादेकदेशस्य च वीर्योपशमादात्मनो भावः उभयात्मको मिश्र इति व्यपदिश्यते। (त. वा. २, १, ३)।

१ उपशम और क्षय उभयस्वरूप भाव को मिश्र (क्षायोपशमिक) भाव कहते हैं। जैसे—मलिन जल में निर्मली आदि के डालने पर उसके सम्बन्ध से जल कुछ स्वच्छ हो जाता है, साथ ही नीचे कीचड़ भी बैठा रहता है उसी प्रकार कर्म के कुछ उपशम और क्षय के साथ देशघाती स्पर्धकों का उदय बना रहने पर जो भाव उत्पन्न होता है उसे मिश्र या क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

मिश्रमंगल—मिश्रमंगलं सालंकारकन्यादिः। (धव. पु. १, पृ. २८)।

अलंकार सहित कन्या आदि को मिश्रमंगल कहा जाता है।

मिश्रयोग—जो सण्णिवाइओ खलु भावो उदएण मीसिओ होइ। पन्नरस संजोगो सव्वो सो मीसिओ जोगो॥ (उत्तरा. नि. गा. ५३, पृ. ३५)।

जो सान्निपातिक भाव उदय से मिश्रित होता है वह पन्द्रह प्रकार के संयोग वाला मिश्रयोग (मिश्रसम्बन्धसंयोग) कहलाता है। वे पन्द्रह संयोग ये हैं। द्विकसंयोग ४—औदयिक-औपशमिक, औदयिकक्षायिक, औदयिक-क्षायोपशमिक और औदयिकपारिणामिक। त्रिकसंयोग ६—औदयिक-औपशमिक-क्षायिक, औदयिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक, औदयिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक, औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक, औदयिक-औपशमिक-पारिणामिक और औदयिक-क्षायिक-पारिणामिक। चतुःसंयोग ४—औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक, औदयिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक, औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-पारिणामिक और औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक-पारिणा-

मिक। पंचसंयोग १—औदयिक–औपशमिक–क्षायिक–क्षायोपशमिक–पारिणामिक (४+६+४+१=१५)।

मिश्रयोनि—१. मिश्रा (योनिः) जीवविप्रमुक्ता-विप्रमुक्तस्वरूपा। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १५१, पृ. २२६)। २. सचित्ताचित्तयोगे तद्योनेर्मिश्रत्वमाहितम्। (लोकप्र. ३–५५)।

१ जो योनि जीवप्रदेशों से रहित व उनसे सहित भी होती है उसे मिश्र (सचित्ताचित्त) योनि कहते हैं।

मिश्रवचन—तदेव बाध्यमानाबाध्यमानं मिश्रम्। (आव. हरि. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ७६)।

जो वचन वस्तु के साधक अथवा बाधक रूप से प्रमाणान्तरों से बाधित और अबाधित भी बोला जाता है वह मिश्र (सत्य-मृषा) वचन कहलाता है।

मिश्रवेदनीय—१. मिश्रग्रहणात् सम्यग्मिथ्यात्वरूपेण वेद्यते यत्तत् सम्यक्त्व-मिथ्यात्ववेदनीयम्। (श्रा. प्र. टी. १५)। २. यत्तु मिश्ररूपेण जिनप्रणीततत्त्वेषु न श्रद्धानं नापि निन्देत्येवंलक्षणेन वेद्यते तन्मिश्रवेदनीयम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४६८)।

१ मिश्र से अभिप्राय सम्यक्त्वमिथ्यात्ववेदनीय का है। जो सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप से अनुभव में आता है उसे मिश्र (सम्यक्त्व-मिथ्यात्व) वेदनीय कहते हैं।

मिश्रसम्यक्त्व—अनन्तानुबन्धिचतुष्क - मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्वानां षण्णामुदयक्षयात् सद्रूपोपशमात् सम्यक्त्वनाममिथ्यात्वस्य देशघातिनो न तु सर्वघातिनः उदयात् मिश्रसम्यक्त्वं भवति। (त. वृत्ति श्रुत. २–५)।

क्रोधादिरूप चार अनन्तानुबन्धी, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों के उदयक्षय और सदवस्थारूप उपशम से तथा सम्यक्त्व नामक दर्शनमोहनीय के देशघाति स्पर्धकों के उदय से मिश्र (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

मिश्रसंयुक्तकद्रव्यसंयोग — इदमुक्तं भवति—जीवो ह्यनन्तकर्माणुवर्गणाभिरावेष्टित-प्रवेष्टितोऽपि न स्वरूपं चैतन्यमतिवर्तते, न चाचैतन्यं कर्माणव इति तद्युक्ततया विवक्ष्यमाणोऽसौ संयुक्तकमिश्रद्रव्यम्, ततोऽस्य कर्मप्रदेशान्तरैः संयोगो मिश्रसंयुक्तकद्रव्यसंयोग उच्यते। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ३४, पृ. २५)।

जीव कर्म की अनन्त परमाणुवर्गणाओं से आवेष्टित प्रवेष्टित होता हुआ भी अपना जो चैतन्य स्वरूप है उसका अतिक्रमण नहीं करता है, इसी प्रकार कर्मपरमाणु भी अपने अचेतनात्मक स्वरूप का अतिक्रमण नहीं करते हैं, इस कारण कर्मपरमाणुवर्गणाओं से युक्त जो उसकी विवक्षा की जाती है वह संयुक्तकमिश्रद्रव्य है। इसलिए उसका जो कर्मप्रदेशान्तरों से संयोग है उसे मिश्रसंयुक्तकद्रव्य कहा जाता है।

मिश्रसंयुक्तद्रव्यसंयोग—इदाणिं मीससंजुत्त दव्वसंजोगो—स च जीव-कर्मणोः, तयोः स्थानादिसंयोगे सति यदुपचीयते स मिश्रसंयुक्तसंयोगो भवति। यथा धातवः सुवर्णादी स्वेन स्वेन भावेन परस्परसंयोगेन संयुक्ता भवन्ति, अथवं तेषां क्रमेण पृथग्भावो भवति, अन्यत् किट्टं अन्यच्च सुवर्णं, एवं गृह्णाण जीवस्यापि मंततिकर्मणाऽनादिसंयुक्तसंयोगो भवति, स च यदा निरुद्धयोगाश्रवो भवति तदा जीव-कर्मणोः पृथक्त्वं भवति। (उत्तरा. चू. पृ. १६–१७)।

स्थान आदि का संयोग होने पर जो उपचय को प्राप्त होता है वह मिश्रसंयुक्तसंयोग कहलाता है, वह जीव और कर्म में हुआ करता है। जिस प्रकार सुवर्णादि धातुएं अपने-अपने परिणाम से परस्पर के संयोग से संयुक्त होती हैं, अथवा इनकी क्रम से पृथक्ता (अलगाव) होती है—कीट भिन्न है और सुवर्ण भिन्न है। इसी प्रकार जीव का भी परम्परागत कर्म के साथ अनादि संयुक्तसंयोग होता है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए। जब उस जीव के योगाश्रवों का निरोध हो जाता है तब जीव और कर्म की पृथक्ता हो जाती है।

मिश्रानुकम्पा—१. मिश्रानुकम्पोच्यते—पृथुपापकर्ममूलेभ्यो हिंसादिभ्यो व्यावृत्ताः सन्तोष-वैराग्य-परमनिरताः दिग्विरतिं देशविरतिं अनर्थदण्डविरतिं चोपगतास्तीव्रदोषाद् भोगोपभोगान्निवृत्य शेषे च भोगे कृतप्रमाणाः पापात् परिभीतचित्ताः विशिष्टदेशे काले च विवर्जितसर्वसावद्याः पर्वस्वारम्भयोगं सकलं विसृज्य उपवासं ये कुर्वन्ति तेषु संयतासंयतेषु क्रियमाणानुकम्पा मिश्रानुकम्पोच्यते। (भ. आ. विजयो. १८३४)। २. यद्यसंयतासंयतेषु जिनसूत्र-

बाह्यकष्टतपश्चारिपु च यथायोग्यं क्रियमाणानुकम्पा मिश्रानुकम्पोच्यते। (भ. आ. मूला. १८३४)।

१ जो महापापस्वरूप हिंसादि से निवृत्त हैं, सन्तोष व वैराग्य में निरत हैं; दिग्विरति, देशविरति व अनर्थदण्डविरति का परिपालन करते हैं; तीव्र दोष के कारणभूत भोग व उपभोग से निवृत्त होकर शेष भोग का प्रमाण कर चुके हैं, अन्तःकरण में पाप से भयभीत हैं, विशिष्ट देश व काल के अनुसार सर्व सावद्य से रहित हैं, तथा पर्वदिनों में समस्त आरम्भ को छोड़कर उपवास को किया करते हैं; वे संयतासंयत कहलाते हैं। उनके विषय में की जाने वाली दया को मिश्रानुकंपा (संयतासंयतानुकम्पा) कहा जाता है।

मिश्रिकागति—मिश्रिका (गतिः) प्रयोग-विस्रसाभ्यामुभयपरिणामरूपत्वाज्जीवप्रयोगसहचरिताचेतनद्रव्यपरिणामात् कुम्भ-स्तम्भादिविषया, कुम्भादयो हि ते न तादृशा परिणामेनोत्पत्तुं स्वत एव शक्ताः, कुम्भकारादिसाचिव्यादुपजायन्ते। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५-२२, पृ. ३५६)।

जीव के प्रयोग से सहकृत जो अचेतन द्रव्य के परिणाम से कुम्भ और स्तम्भ आदि की गति होती है वह प्रयोग और स्वभाव दोनों के आश्रय से होने के कारण मिश्रिकागति कहलाती है। कारण यह है कि कुम्भ आदि उस प्रकार के परिणाम से (स्वभावतः) स्वयं उत्पन्न होने में असमर्थ होते हुए कुम्भकार आदि के प्रयोग की अपेक्षा रखा करते हैं।

मीमांसा—१. मातुमिच्छा मीमांसा प्रमाणजिज्ञासा। (आव. नि. हरि. वृ. २३, पृ. २६; नन्दी. हरि. वृ. पृ. ११७)। २. मीमांस्यते विचार्यते अवगृहीतोऽर्थो विशेषरूपेण अनया इति मीमांसा। (धव. पु. १३, पृ. २४२)। ३. मीमांसा सद्विचाररूपा बोधानन्तरभाविनी तत्त्वविषयैव। (षोडश. वृ. १६)।

१ मान (प्रमाण) के लिए जो इच्छा होती है उसका नाम मीमांसा है। २ अवग्रह से गृहीत अर्थ का जो विशेषरूप से विचार किया जाता है उसे मीमांसा कहते हैं। यह ईहा ज्ञान का एक नामान्तर है। ३ ज्ञान के पश्चात् जो तत्त्वविषयक विचार होता है उसे मीमांसा कहा जाता है।

मुकुटधरराजा—१. अट्ठारसमेत्ताणं सामी सेणाण [सेणीण] भत्तिजुत्ताणं॥ वररयणमउडधारी सेवयमाणाण वत्ति तह अट्ठं। देंता हवेदि राजा जिदसत्तू समरसंघट्टे॥ (ति. प. १, ४१-४२)। २. अष्टादशसंख्यानां श्रेणीनामधिपतिर्विनम्राणाम्। राजा स्यान्मुकुटधरः कल्पतरुः सेवमानानाम्॥ (धव. १, पृ. ५७ उद्.)। ३. इदि अट्ठारससेढीणहिओ राजो हवेज्ज मउडधरो। (त्रि. सा. ६८४)।

१ जो भक्तियुक्त घोड़ा व हाथी आदि अठारह सेनाओं या श्रेणियों का स्वामी होता हुआ सेवक जनों को वृत्ति व अर्थ को देता है तथा युद्ध में शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है वह मुकुट का धारक राजा कहलाता है।

मुक्त—१. निरस्तद्रव्य-भावबन्धा मुक्ताः। ×× × स (बन्धः) उभयोऽपि निरस्तो यैः ते मुक्ताः। (त. वा. २, १०, २)। २. सयलकम्मवज्जियो अणंतणाण-दंसण-वीरिय-चरण-सुह- सम्मत्तादिगुणगणाइण्णो णिरामओ णिरंजणो णिच्चो कयकिच्चो मुत्तो णाम। (धव. पु. १६, पृ. ३३८)। ३. मुक्तास्तु ज्ञानावरणादिकर्मभिः समस्तैर्मुक्ता एकसमयसिद्धादयः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-५, पृ. ४६); मुच्यन्ते स्म [संसारात्] मुक्ताः। (त. भा. सिद्ध. वृ. २-१०); सकलकर्मविमुक्त आत्मा मुक्तः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १०-३)। ४. लोयग्गसिहरवासी केवलणाणेण मुणियतइलोया। असरीरा गइरहिया सुणिच्चला सुद्धभावट्ठा॥ (भावसं. दे. ३)। ५. तत्र क्षताष्टकर्माणः प्राप्ताष्टगुणसम्पदः। त्रिलोकवेदिनो मुक्तास्त्रिलोकाग्रनिवासिनः॥ (अमित. श्रा. ३-३)। ६. तस्मान्निर्मूलनिर्मुक्तकर्मबन्धोऽतिनिर्मलः। व्यावृत्तानुगताकारोऽनन्तमानन्द-दृग्बलः॥ निःशेषद्रव्य-पर्यायसाक्षात्करणभूषणः। जीवो मुक्तिपदं प्राप्तः प्रवक्तव्यो मनीषिभिः॥ (प्रमाणनि. पृ. ७४)। ७. ××× मुक्तः कृत्स्नैनसोऽत्ययात्। हेमोपलो मलोन्मुक्त्या हेम स्यादमलं यथा॥ (आचा. सा. ३-१०)। ८. मुक्तः बाह्याभ्यन्तरग्रन्थात् कर्मबन्धनाद्वा। (औपपा. अभय. वृ. १०, पृ. १५)।

१ जो जीव द्रव्यबन्ध और भावबन्ध दोनों से रहित हो चुके हैं वे मुक्त कहलाते हैं। ३ जो समस्त ज्ञानावरणादि कर्मों से छुटकारा पा गये हैं उन्हें मुक्त कहते हैं।

मुक्ताशुक्तिमुद्रा—१. किञ्चित् गर्भितौ हस्तौ

समौ विधाय ललाटदेशयोजनेन मुक्ताशुक्तिमुद्रा। (निर्वाणक. पृ. ३३)। २. मुत्तासुत्तीमुद्दा जत्थ समा दो वि गब्भिआ हत्था। ते पुण णिडालदेसे लग्गा अन्ने अलग्ग त्ति॥ (चैत्यव. भा. १७)। ३. मुक्ताशुक्तिरिव मुद्रा हस्तविन्यासविशेषात्मिका मुक्ताशुक्तिमुद्रा। यस्यां 'समौ' नान्योन्यान्तरिताङ्गुलितया विषमौ, 'द्वावपि' न तु मुकुटाञ्जलिमुद्रयोरिव कदाचिदेकोऽपि, गर्भिताविव गर्भितौ उन्नतमध्यौ न तु नीरन्ध्रौ चिप्पिटावित्यर्थः। हस्तौ करौ स्याताम्। तौ पुनरुभयतोऽपि सोल्लासौ करौ भालस्थलमध्यभागे लग्नौ कृत्वा पश्चाद्विधिना प्रणिधत्ते इत्येके। अन्ये पुनस्तत्राऽलग्नावित्येवं वदन्ति। (चैत्यव. भा. अवचूरि. १७)।

१ मोती की सीप के समान कुछ गर्भित (मध्य में कुछ उठे हुए) दोनों हाथों को सम करके मस्तक स्थान पर जोड़ने से मुक्ताशुक्तिमुद्रा होती है।

मुक्ति—१. मुक्तिः सा च बाह्याभ्यन्तरवस्तुषु तृष्णाविच्छेदरूपा, लोभाभाव इत्यर्थः। ××× इति लोभपरिहाररूपा निर्भयत्व-स्वपरहितात्मप्रवृत्तिमत्त्व-ममत्वाभाव-निस्सङ्गताऽपरद्रोहकत्वादिगुणयुक्ता रजोहरणादिकेष्वप्युपकरणेष्वनभिष्वङ्गस्वभावा मुक्तिः। (योगशा. स्वो. विव. ४-९३)। २. मुक्तिः प्राणेन्द्रियविषयासंयमत्यागः। (भ. आ. मूला. ४६)। ३. मुत्ती लोहस्स निग्गहो। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. पृ. ३८, उद्.)। ४. नात्यन्ताभावरूपा न च जडिममयी व्योमवद्व्यापिनी नो, न व्यावृत्तिं दधाना विषयसुखघना नेष्यते सर्वविद्भिः। सद्रूपात्मप्रसादाद् दृगवगमगुणौघेन संसारसारा, निःसीमाऽत्यक्षसौख्योदयवसतिरनिःपातिनी मुक्तिरुक्ता॥ (गुणस्थानक्र. १३४)। ५. मोचनं मुक्तिः, बाह्याभ्यन्तरवस्तुतृष्णाविच्छेदः लोभपरित्यागः। (सम्बोधस. वृ. १६, पृ. १७)।

१ बाह्य और अभ्यन्तर वस्तुविषयक तृष्णा या लोभ के परित्याग का नाम मुक्ति है। २ प्राणविषयक और इन्द्रियविषयक असंयम के त्याग को मुक्ति कहते हैं।

मुखरोगिता—मुखस्य रोगा उपजिह्वादयस्तेऽस्य सन्ति मुखरोगी, तस्य भावो मुखरोगिता। (योगशा. स्वो. विव. २-५३)।

उपजिह्वा आदि रूप मुख के रोगों से युक्त होना, इसका नाम मुखरोगिता है।

मुखसंस्कार—१. मुखस्य तेजःसम्पादनं लेपेन मंत्रेण वा मुखसंस्कारः। (भ. आ. विजयो. ९३)। २. लेपेन मंत्रेण वा तेजःसम्पादनं मुखसंस्कारः। (भ. आ. मूला. ९३)।

१ लेप अथवा मंत्र के द्वारा मुख में तेज उत्पन्न करना, यह मुखसंस्कार कहलाता है।

मुख्य—विवक्षितो मुख्य इतीष्यते—××× (स्वयम्भू. ५३)।

प्रकृत में जिसकी विवक्षा की जाती है उसे मुख्य कहा जाता है।

मुख्य काल—१. जीवाण पुग्गलाणं हुवंति परियट्टणाइं विविहाइं। एदाणं पज्जाया वट्टंते मुक्खकालआधारे॥ (ति. प. ४-२८०)। २. लोकाकाशप्रदेशस्था भिन्नाः कालाणवस्तु ये। भावानां परिवर्ताय मुख्यः कालः स उच्यते॥५२॥ (योगशा. स्वो. विव. १-१६, पृ. ११३)।

१ जीवों और पुद्गलों में जो अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं उनका आधार मुख्य काल है। २ पदार्थों के परिवर्तन के निमित्तभूत भिन्न-भिन्न कालाणुओं को मुख्य काल कहा जाता है। ये कालाणु लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर स्थित हैं।

मुख्य प्रत्यक्ष—१. मुख्यमतीन्द्रियज्ञानम्। (लघीय. स्वो. विव. १-४)। २. सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम्। (परीक्षा. २-११)। ३. मुख्यमतीन्द्रियज्ञानमशेषविशेषालम्बनमध्यक्षम्। (सन्मति. अभय. वृ. १, पृ. ५५२)। ४. पारमार्थिकं पुनरुत्पत्तावात्ममात्रापेक्षम्। (प्र. न. त. २-१८)। ५. तत्सर्वथावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावो मुख्यं केवलम्। (प्रमाणमी. १, १, १५)। ६. यत्पुनरात्मनः इन्द्रियमप्यनपेक्ष्य साक्षादुपजायते तत्परमार्थतः प्रत्यक्षम्। (नन्दी. मलय. वृ. २, पृ. ७४)।

१ अतीन्द्रिय ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं। ५ आवरण (ज्ञानावरण) के सर्वथा नष्ट हो जाने पर जो आत्मस्वरूप का आविर्भाव होता है उसे मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं, जो केवलज्ञानस्वरूप है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष भी उसे कहा जाता है।

मुदिता—देखो प्रमोदभावना।

मुनि—१. मन्यते मनुते वा मुनिः। (उत्तरा. चू.

पू. २०६) । २. मुनिर्मन्यते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः । (दशवै. हरि. वृ. पृ. २६२; श्रा. प्र. टी. ६१; योगशा. स्वो. विव. ३–१२४) । ३. मुनयोऽवधि-मनःपर्यय-केवलज्ञानिनश्च कथ्यन्ते । (चा. सा. पृ. २२) । ४. मान्यत्वादात्मविद्यानां महद्भिः कीर्त्यते मुनिः । (उपासका. ८६१) । ५. जीवादिपदार्थयाथात्म्यमननान्मुनयः । (आ. मी. वसु. वृ. २०) । ६. मन्यते यो जगत्तत्त्वं स मुनिः परिकीर्तितः । (ज्ञा. सा. १३–१) । ७. यः शम-संवेग-निर्वेदानुकम्पास्तिक्यलक्षणलक्षितः जगद् लोकं जीवाजीवलक्षणं मन्यते जानाति तत्त्वं यथार्थोपयोगेन द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिकस्वभावगुण-पर्यायैः निमित्तोपादानकारण-कार्यभावोत्सर्गापवादपद्धतिः, तां जानाति स मुनिः । (ज्ञा. सा. वृ. १३–१) ।

२ जो संसार की तीनों काल सम्बन्धी अवस्था को जानता है—उसका विचार करता है—उसका नाम मुनि है। ३ अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानियों को मुनि कहा जाता है।

मुनिसुव्रत—मन्यते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः, शोभनानि व्रतान्यस्येति सुव्रतः, मुनिश्चासौ सुव्रतश्च मुनिसुव्रतः, तथा गर्भस्थे जननी मुनिवत्सुव्रता जातेति मुनिसुव्रतः । (योगशा. स्वो. विव. ३–१२४) ।

जो जगत् की त्रिकालावस्था को जानता है वह मुनि कहलाता है, उत्तम व्रतों के परिपालक का नाम सुव्रत है; इस प्रकार उत्तम व्रतों के परिपालक को मुनिसुव्रत कहा गया है। इसके अतिरिक्त गर्भ में स्थित होने पर माता उत्तम व्रतों से विभूषित हुई, इस कारण से भी २०वें तीर्थंकर का नाम मुनिसुव्रत प्रसिद्ध हुआ है।

मुमुक्षु—यः कर्मद्वितयातीतस्तं मुमुक्षुं प्रचक्षते । पाशैर्लोहस्य हेम्नो वा यो बद्धो बद्ध एव सः ॥ (उपासका. ८६५) ।

जो पुण्य और पाप इन दोनों ही प्रकार के कर्मों से रहित हो चुका है उसे मुमुक्षु (मोक्षाभिलाषी) कहते हैं। कारण इसका यह है कि जो लोहमय या सुवर्णमय सांकलों से भी बंधा हुआ है वह बन्धन से बद्ध (परतंत्र) ही होता है।

मुर्मुर—१. मुम्मुरो नाम जो छाराणुगओ अग्गी सो मुम्मुरो । (दशवै. चू. पृ. १५६) । २. प्रविरलाग्निकणानुविद्धं भस्म मुर्मुरः । (आचारा. नि. शी. वृ. १, १, ३, १८) ।

१ छार (भस्म) से युक्त अग्नि को मुर्मुर कहते हैं। २ इधर उधर बिखरे हुए अग्निकणों से व्याप्त भस्म (राख) को मुर्मुर कहा जाता है।

मुशल—दंडं धणुं जुगं नालिया य अक्ख मुसलं च चउहत्था । (ज्योतिष्क. ७६) ।

चार हाथ का एक मुसल होता है। दण्ड, धनुष, युग, नालिका और अक्ष ये मुसल के समानार्थक शब्द हैं।

मुसली—१. 'मोसलि' त्ति तिर्यगूर्ध्वमधो वा घट्टना । (उत्तरा. नेमि. वृ. २६–२५) । २. अह-उड्ढ-तिरियभूमालभित्तिसंघट्टणा हवे मुसली । (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २८, पृ. ६१ उद्.) ।

१ प्रतिलेखन करते हुए तिर्यक्, ऊर्ध्व अथवा अधस्तन भूमि का स्पर्श कर लेने पर मुसली या मोसली नाम का दोष होता है। यह प्रतिलेखन के छह दोषों में तीसरा है।

मुहूर्त—१. ते (नालिके) द्वे मुहूर्तः । (त. भा. ४–१५) । २. लवाणं सत्तहत्तरिए एस मुहुत्ते वियाहिए ॥ तिण्णि सहस्सा सत्तसयाइं तेहत्तरिं च ऊसासा । एस मुहुत्तो दिट्ठो सव्वेहिं अणंतनाणीहिं ॥ (भगवती. ६, ७, ४, पृ. ८२५; जम्बूद्वी. १८, पृ. ८६; अनुयो. गा. १०५–६, पृ. १७६) । ३. वे नालिया मुहुत्तो ××× । (ज्योतिष्क. ३०) । ४. दो नालिया मुहुत्तो ××× । (जीवस. १०८) । ५. लवसत्तहत्तरीए होइ मुहुत्तो ××× । (बृहत्सं. १८०) । ६. ××× बेणालिया मुहुत्तं च ॥ (ति. प. ४–२८७) । ७. सप्तसप्ततिलवा मुहूर्तः । (त. वा. ३, ३८, ८) । ८. एको मुहूर्तः खलु नाडिके द्वौ ××× । (वरांगच. २७–५) । ९. मुहूर्तः सप्तसप्ततिलवप्रमाणः कालविशेषो भण्यते । उक्तं च—लवाणं सत्तहत्तरीए, एस मुहुत्ते वियाहिए ॥ (ध्यानश. हरि. वृ. ३ उद्.) । १०. द्विघटिको मुहूर्तः । (आव. नि. हरि. व मलय. वृ. ६६३; आव. भा. हरि. वृ. १६८, पृ. ४६५; आव. भा. मलय. वृ. २००, पृ. ५८३) । ११. सत्तहत्तरिलवो एगमुहुत्तो । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ५४) । १२. ××× बेणालिया मुहुत्तो दु । (धव. पु. ३, पृ. ६६ उद्.); वेहि णालियाहि मुहुत्तो होदि । (धव. पु. ४, पृ. ३१८); त्रिंशतिकलो मुहूर्तः ।

(धव. पु. ६, पृ. ६६); सत्तहत्तरिलवेहि एगो मुहुत्तो होदि। (धव. पु. १३, पृ. २६६)। १३. ते (लवाः) सप्तसप्ततिः सन्तो मुहूर्तः ××× ॥ (ह. पु. ७–२०)। १४. नालिकाद्वयं मुहूर्तः। (त. भा सिद्ध. वृ. ४–१५)। १५. घडियहिं दोहि मुहुत्तहु ×××। (म. पु. पुष्प. १, २, ५, पृ. २३)। १६. ××× वे णालिया मुहुत्तं तु ॥ (भावसं. दे. ३१३; गो. जी. ५७५; जं. दी. प. १३–६)। १७. सप्तसप्तत्या लवानां मुहूर्तः। (अनुयो. सू. मल. हेम. वृ. ११४, पृ. ६६)। १८. लवाण सत्तहत्तरीए, होइ मुहुत्तो। (संग्रहणी. १३७)। १६. घटिकाद्वयं मुहूर्तः। (पंचा. का. जय. वृ. २५)। २०. तत्र द्वे घटिके एको मुहूर्तः। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १०, २०,५७, पृ. १६६)। २१. द्वे नालिके घटिके समुदिते एको मुहूर्तः। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ३०)। २२. सप्तसप्ततिसंख्या लवा एको मुहूर्तः। (जीवाजी. मलय. वृ. १७८)। २३. सप्तसप्तत्या लवानामेको मुहूर्तः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ १०४)। २४. मुहूर्तः सप्तसप्ततिलवमानः। (कल्पसू. वि. वृ. ११८, पृ. १७४)।

१, ६ दो नालिकाओं का एक मुहूर्त होता है। २, ७ सत्तर लवों का एक मुहूर्त होता है।

मूक—१. को मूको यः काले प्रियाणि वक्तुं न जानाति। (प्रश्नो. मा. १६)। २. मूकोऽवाक्, तस्य भावो मूकत्वम्। (योगशा. स्वो. विव. २, ५३)।

१ मूक (गूंगा) किसे समझना चाहिए? मूक उसे समझना चाहिए जो समय पर प्रिय बोलना नहीं जानता। २ वचनों से रहित होना—उनका उच्चारण न कर सकना, इसका नाम मूकता (गूंगापन) है। इसे असत्य भाषण का फल माना है।

मूकदोष—१. मूक इव मुखमध्ये यः करोति वन्दनामथवा वन्दनां कुर्वन् हुंकारांगुल्यादिभिः संज्ञां च यः करोति तस्य मूकदोषः। (मूला. वृ. ७–११०)। २. मूकं आलापाननुच्चारयतो वन्दनम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०)। ३. मूको मुखान्तर्वन्दारोर्हुंकाराद्यथ कुर्वतः। (अन. ध. ८–११०)।

१ वन्दना करते समय मुख के भीतर मूक के समान रहना—'नमोऽस्तु' आदि किन्हीं विशेष शब्दों का उच्चारण न करना, अथवा 'हुंकार' आदि के द्वारा संकेत को करना, यह मूक नाम का एक वन्दना का दोष है। २ आलापों का उच्चारण न करते हुए वन्दना करने पर मूक नाम का वन्दनादोष होता है।

मूकितदोष—१. मूक इव कायोत्सर्गेण स्थितो मुखविकारं नासिकाविकारं च करोति तस्य मूकितदोषः। (मूला. वृ. ७–१७२)। २. मूकस्येवाव्यक्तशब्दं कुर्वतः स्थानं मूकदोषः। (योगशा. ३–१३०)। ३. ××× संज्ञा मुख-नासाविकारतः। मूकवन्मूकिताख्यः स्यात् ×××॥ (अन. ध. ८–११८)।

१ जो मूंगे के समान कायोत्सर्ग से स्थित होकर मुख और नासिका की विरूपता को करता है उसके मूकित नामक कायोत्सर्ग का दोष होता है। २ मूक के समान अस्पष्ट शब्द करते हुए कायोत्सर्ग में स्थित होना, यह कायोत्सर्ग का मूकदोष है।

मूढ—देखो बहिरात्मा।

मूढदृष्टि—१. बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचुओ। णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ॥ (मोक्षप्रा. ८)। २. मूढदिट्ठी परतित्थियपूयाओ अइसयमयाणि वा सोऊण मइवामोहो होज्जा। (जीतक. चू. पृ. १३)। ३. कुमार्गे पथ्यशर्मणां तत्रस्थेऽप्यतिसंगतिः। त्रियोगैः क्रियते यत्र मूढदृष्टिरितीरिता॥ (धर्मसं. श्रा. ४–४८)। ४. अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धानं मूढदृष्टिः स्वलक्षणात्। (लाटीसं. ४–१११)।

१ आत्मस्वरूप से च्युत होकर इन्द्रियों के द्वारा बाह्य पदार्थों में मुग्ध होता हुआ जो अपने शरीर को ही आत्मा मानता है वह मूढदृष्टि कहलाता है। यह सम्यग्दर्शन का एक दोष है। २ परतीर्थिक (मिथ्यादृष्टि) जनों की पूजा-प्रतिष्ठा को अथवा अतिशयों को देख-सुनकर जो मतिव्यामोह होता है, उसका नाम मूढदृष्टि है।

मूत्र अन्तराय—मूत्राख्यो मूत्र-शुक्रादेः (निर्गमे) ×××। (अन. ध. ५–५३)।

आहार के समय अपने मूत्र व वीर्य आदि के निकल जाने पर मूत्र नामक भोजन का अन्तराय होता है।

मूर्छा—१. बाह्यानां गो-महिष-मणि-मुक्तादीनां चेतनाचेतनानामाभ्यन्तराणां च रागादीनामुपधीनां संरक्षणार्जन-संस्कारादिलक्षणा व्यावृत्ति-[व्यापृति-]

मूर्छा। (स. सि. ७-१२)। २. बाह्याभ्यन्तरोपधि-संरक्षणादिव्यापृतिर्मूर्छा। बाह्यानां गो-महिष-मणि-मुक्तादीनां चेतनाचेतनानाम् अभ्यन्तराणां च रागादीनामुपधीनां संरक्षणार्जन-संस्कारादिलक्षणव्यापृतिः मूर्छेति कथ्यते। (त. वा. ७, १७, १)। ३. मूर्च्छा लोभपरिणतिः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ७, १२)। ४. बाह्याभ्यन्तरोपधिसंरक्षणादिव्यापृति-(चा. सा. 'व्यावृत्ति-')मूर्छा। (त. श्लो. ७-१७; चा. सा. पृ. ४३)। ५. भावतोऽभिष्वङ्गो मूर्च्छा। (त. भा. सिद्ध. वृ. २-२५); मूर्च्छा प्रकर्षप्राप्ता मोहवृद्धिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-१०)। ६. या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः। मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः॥ (पु. सि. १११)। ७. मूर्च्छा मोहः सदसद्विवेकविनाशः। (स्थानां. अभय. वृ. २, ४, १०६)। ८. मूर्च्छा मोहवशान्ममेदमहमस्येत्येवमावेशनम्। (अन. ध. ४-१०४)। ९. उभयप्रकारस्यापि परिग्रहस्य संरक्षणे उपार्जने संस्करणे वर्धनादौ व्यापारो मनोभिलापः मूर्च्छा। (त. वृत्ति श्रुत. ७-१७)।

१ गाय, भैंस, मणि व मोती आदि चेतन-अचेतन बाह्य एवं अभ्यन्तर रागादि उपधियों के संरक्षण, अर्जन और संस्करण आदि में व्यापृत रहना, इसका नाम मूर्छा है। ५ इन्द्रियविषयों में जो भावतः आसक्ति हुआ करती है उसे मूर्च्छा कहा जाता है।

मूर्त—१. जे खलु इंदियगेज्झा विसया जीवेहिं हुंति ते मुत्ता। (पंचा. का. ९९)। २. स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णसद्भावस्वभावं मूर्तम्। (पंचा. अमृत. वृ. ९७)। ३. रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवन्मूर्तम्। (सिद्धिवि. वृ. ११, १, पृ. ६९६)। ४. मूर्तत्वं रूपादिमत्त्वम्, 'रूपादिमयी मूर्तिः' इत्यभिधानात्। (न्यायकु. ६७, पृ. ७८७)। ५. श्वेतादिवर्णाधारो मूर्तः। (नि. सा. वृ. ९)। ६. मूर्तत्वं रूपादियुक्तत्वम्। ××× रूपादियुक् मूर्तत्वं मूर्तागुणः। रूपादिसन्निवेपाभिव्यङ्ग्यपुद्गलद्रव्यमात्रवृत्तित्वम्। (द्रव्यानु. त. व्या. ११-५)।

१ जीव जिन विषयों को इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण कर सकते हैं वे मूर्त कहे जाते हैं। २ स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण के सद्भाव रूप स्वभाव वाले पदार्थ को मूर्त कहते हैं। ६. रूपादि से संयुक्त होना, यही मूर्त पदार्थ का मूर्तत्व है।

मूर्तद्रव्य-भाव— वण्ण-गंध-रस-फासादिओ मुत्त-दव्वभावो। (धव. पु. १२, पृ. २)।

वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श आदि को मूर्तद्रव्यभाव (अचित्त नोआगम मूर्तद्रव्यभाव) कहा जाता है।

मूर्ति—देखो मूर्त। १. रूपादि-संस्थानपरिणामो मूर्तिः। (स. सि. ५-५)। २. रूपादिसंस्थानपरिणामो मूर्तिः। रूपमादिर्येषां ते इमे रूपादयः। के पुनस्ते? रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः, परिमण्डल-त्रिकोण-चतुरस्रायत-चतुरस्रादिराकृतिः संस्थानम्, तैः रूपादिभिः संस्थानैश्च परिणामो मूर्तिरित्याख्यायते। (त. वा. ५, ५, २)। ३. रूपं मूर्तिरिति गृह्यते, रूपादिसंस्थानपरिणामो मूर्तिरिति वचनात्। (त. श्लो. ५-५)। ४. रूप-गन्ध-रस-स्पर्शव्यवस्था मूर्तिरुच्यते। (योगसारप्रा. २-३)। ५. शुद्धात्मनो विलक्षणस्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवती मूर्तिः। (बृ. द्रव्यसं. टी. २७)। ६. असर्वगतद्रव्यपरिमाणं मूर्तिः। (सिद्धिवि. वृ. ८-३४, पृ. ५७८)। ७. रूपादि-संस्थानविशेषो मूर्तिः। (धर्मसं. मलय. वृ. ६६)।

१ रूप आदिकों से तथा त्रिकोण-चौकोण आदि संस्थानों (आकारों) से जो परिणाम होता है उसका नाम मूर्ति है। ६ *असर्वगत (अव्यापक)* द्रव्य के परिमाण को मूर्ति कहते हैं। ७ रूपादियुक्त आकारविशेष को मूर्ति कहा जाता है।

मूलकरण—देखो मूलप्रयोगकरण। यदवयवविभागविरहितमौदारिकशरीराणां प्रथममभिनिवर्तनं तत् मूलकरणम्। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १८८)।

अवयवों के विभाग से रहित जो औदारिक शरीरों की प्रथम रचना होती है उसे मूलकरण कहा जाता है।

मूलकरणकृति— करणेसु जं पढमं करणं पंचसरीरप्पयं तं मूलकरणम्। ××× सा च मूलकरणकदी ओरालिय-वेउव्विय-आहार-तेया-कम्मइय-सरीरभेएण पंचविहा चेव, छट्ठादिसरीराभावादो। एदेसि मूलकरणाणं कदी कज्जं संघादणादी तं मूलकरणकदी णाम, क्रियते कृतिरिति व्युत्पत्तेः। अथवा मूलकरणमेव कृतिः, क्रियते अनया इति व्युत्पत्तेः। (धव. पु. ९, पृ. ३२५)।

करणों में जो पांच शरीर स्वरूप प्रथम करण है उसका नाम मूलकरण है। मूलकरण रूप इन औदा-

रिक आदि शरीरों के संघातन-परिशातन आदि रूप कार्य को मूलकरणकृति कहा जाता है।

मूलकर्मदोष—देखो मूलकर्मपिण्डदोष। १. अवसाणं वसियरणं संजोयणं च विप्पजुत्ताणं। भणिदं तु मूलकम्मं ××× ॥ (मला. ६–४२)। २. मूलकर्मणां वा भिन्नकन्यायोनिसंस्थापना मूलकर्मविरक्तानां अनुरागजननं वा। (भ. आ. विजयो. २३०)। ३. स्यान्मूलकर्म चावशवशीकृतिवियुक्तयोजनाभ्यां तत् ॥ (अन. ध. ५–२७)।

१ जो (दाता) वश में नहीं हैं उनको वश में करना तथा वियुक्तों का संयोग कराना, यह मूलकर्म नाम का एक उत्पादनदोष है।

मूलकर्मपिण्ड—१. यदनुष्ठानाद् गर्भशातनादेर्मूलमवाप्यते तद्विधानादवाप्तो मूलपिण्डः। (आचारा. शी. वृ. २, १, पृ. ३२०)। २. गर्भस्तम्भ-गर्भाधान-प्रसव-स्नपनक-मूलरक्षाबन्धनादि भिक्षार्थं कुर्वतो मूलकर्मपिण्डः। (योगशा. स्वो. विव. १–३८, पृ. १३६; धर्मसं. मान. ३–२२, पृ. ४१)। ३. मङ्गलस्नान-मूलिकाद्योपधिरक्षादिना गर्भकरणविवाहभङ्गादि वशीकरणादि च पिण्डार्थं कुर्वतो मूलकर्म। (गु. गु. षट्. २०, पृ. ५०)।

१ जिस अनुष्ठान से गर्भशातन आदि का मूल प्राप्त किया जाता है उस प्रकार के अनुष्ठान से भोजन प्राप्त करने पर मूलपिण्ड नामक उत्पादनदोष होता है। २ जो गर्भ के स्तम्भन, गर्भाधान, प्रसूति, स्नान कराना और मूलरक्षाबन्धन आदि को भिक्षा का साधन बनाता है उसके मूलकर्मपिण्ड नाम का उत्पादनदोष होता है।

मूलगुणनिवर्तना—१. मूलगुणनिवर्तना पञ्चशरीराणि वाङ्मनःप्राणापानाश्च। (त. भा. ६–१०)। २. एवंविधानेकविशेषनिरपेक्षा यथोत्पन्नवर्तिनी औदारिकादिप्रायोग्यद्रव्यवर्गणा मूलकारणव्यवस्थितगुणनिवर्तनोच्यते। (त. भा. सिद्ध. वृ. २–१७)।

१ पांच शरीर, वचन, मन और प्राणापान इन्हें मूलगुणनिवर्तना कहा जाता है। जिस प्रकार उत्तरगुणनिवर्तना में चक्षुरादि इन्द्रियों का अंजन आदि से संस्कार अपेक्षित है उस प्रकार मूलगुणनिवर्तना में अन्य किन्हीं विशेषों की अपेक्षा नहीं रहती।

मूलगुणनिवर्तनातद्व्यतिरिक्तद्रव्यमाष—मूलगुणनिर्वर्तिता नाम येन जीवेन तत्प्रथमतया माषभवानुगतनाम-गोत्रकर्मोदयतो माषद्रव्यप्रायोग्याणि द्रव्याणि गृहीतानि। (व्यव. भा. मलय. वृ. द्वि. १४, पृ. ६)।

जिस जीव ने 'माष' भव को प्राप्त होकर प्रथम ही नाम और गोत्र कर्म के उदय से माष पर्याय के योग्य द्रव्यों को ग्रहण कर लिया है उसे मूलगुण-निवर्तना-निर्वर्तित तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यमाष कहते हैं।

मूलगुणनिर्वर्तितद्रव्यताल—स्वायुषः परिक्षयादपगतजीवो यः स्कन्धादिरूपस्तालः स मूलगुणनिर्वर्तितः। (बृहत्क. भा. क्षे. वृ. ८४७)।

अपनी आयु के क्षीण हो जाने पर जो स्कन्ध आदि रूप ताल है उसे मूलगुणनिर्वर्तितद्रव्यताल कहते हैं।

मूलगुणनिर्वर्तितमाष—यो जीवविप्रमुक्तो माषः स मूलगुणनिर्वर्तितः। (बृहत्क. भा. क्षे. वृ. ११२७)।

जो माष (उड़द) जीव से रहित हो चुका है उसे मूलगुणनिर्वर्तित माष कहते हैं।

मूलगुणनिष्पन्नमंगल—मूलो नाम पृथिवीकायादिजीवः, तस्य गुणात् प्रयोगात् पुद्गलानां द्रव्यादित्वेन व्यापारणात् निष्पन्नं मूलगुणनिष्पन्नं मृद्द्रव्यादि। (बृहत्क. भा. क्षे. वृ. ६)।

मूल का अर्थ है पृथिवीकायादि जीव। उसके गुण से—प्रयोग से—जो मिट्टी आदि द्रव्य निष्पन्न होता है उसे मूलगुणनिष्पन्न मंगल कहते हैं।

मूलपिण्ड—देखो मूलकर्मपिण्ड।

मूलप्रकृति—संगहियासेसवियप्पा दव्वट्ठियणयणिबंधणा मूलपयडी णाम। (धव. पु. ६, पृ. ५)।

द्रव्यार्थिक नय के आश्रय से जो समस्त भेदों का संग्रह करने वाली प्रकृति है उसे मूलप्रकृति कहते हैं।

मूलप्रथमानुयोग—१. इहैकवक्तव्यताप्रणयनान्मूलं तावत्तीर्थकरास्तेषां प्रथमः सम्यक्त्वाप्तिलक्षणपूर्वभवादिगोचरोऽनुयोगो मूलप्रथमानुयोगः। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. १०६)। २. इह धर्मप्रणयात् मूलं तावत्तीर्थकरास्तेषां प्रथम[मः]सम्यक्त्वाप्तिलक्षणपूर्वभवादिगोचरोऽनुयोगो मूलप्रथमानुयोगः। (समवा. अभय. वृ. १४७)।

१ एक वक्तव्यता के प्रणेता होने से तीर्थंकर मूल हैं। उनका सम्यक्त्व की प्राप्ति रूप पूर्व भवादि को विषय करने वाला जो प्रथम अनुयोग—विस्तृत व्याख्यान—है उसे प्रथमानुयोग कहा जाता है।

मूलप्रयोगकरण—देखो मूलकरण । पञ्चानामौदारिकादिशरीराणामाद्यं सङ्घातकरणं मूलप्रयोगकरणमुच्यते । (आव. भा. मलय. वृ. १५८, पृ. ५५६) ।

औदारिक आदि पांच शरीरों का जो प्रथम संघात करण है उसे मूलप्रयोगकरण कहा जाता है ।

मूलप्रायश्चित्त—१. मूलं नाम सो चेव से परियाओ मूलतो छिज्जइ । (दशवै. चू. पृ. २६) । २. 'मूल' त्ति प्राणातिपातादौ पुनर्व्रतारोपणम् । (आव. हरि. वृ. पृ. ७६४) । ३. सव्वं परियायमवहारिय पुणो दिक्खणं मूलं णाम पायच्छित्तं । धव. पु. १३, पृ. ६२) । ४. मूलारिहं—जेण पडिसेविएण पुणो महव्वयारोवणं निरवसेसपरियायावणयणाणन्तरं कीरइ, एयं मूलारिहं । (जीतक. चू. पृ. ६) । ५. मूलं महाव्रतानां मूलत आरोपणम् । (योगशा. स्वो. विव. ४-९०) । ६. मूलं पार्श्वस्थ-संसक्त-स्वच्छन्देष्ववसन्नके । कुशीले च पुनर्दीक्षादानं पर्यायवर्जनात् ॥ (अन. ध. ७-५५) । ७. पुनरद्यप्रभृतिव्रतारोपणं मूलप्रायश्चित्तम् । (कार्तिके. टी. ४५१) ।

१ अपराध को जानकर उसी साधुपर्याय को मूलतः नष्ट कर देना, इसका नाम मूलप्रायश्चित्त है । ३ समस्त पूर्व पर्याय का अपहरण करके फिर से दीक्षा देना, इसे मूलप्रायश्चित्त कहते हैं ।

मूलहर—१. यः पितृ-पैतामहमर्थमन्यायेन भक्षयति स मूलहरः । (नीतिवा. २-८; योगशा. स्वो. विव. १-५२) । २. तथा च गुरुः—पितृ-पैतामहं वित्तं व्यसनैर्यस्तु भक्षयेत् । अन्यन्नोपार्जयेत् किंचित् स दरिद्रो भवेद् ध्रुवम् ॥ (नीतिवा. टी. २-८) ।

१ जो पिता और पितामह के धन को अन्यायपूर्वक खाता है—दुर्व्यसनों द्वारा नष्ट करता है व स्वयं कुछ कमाता नहीं है—उसे मूलहर कहा जाता है ।

मृग—रोमन्थवर्जितास्तिर्यञ्चो मृगाः नाम । (धव. पु. १३, पृ. ३९१) ।

रोमन्थ से रहित जो भी तिर्यञ्च हैं उन्हें मृग कहा जाता है ।

मृगचारित्र—१. त्यक्तगुरुकुल एकाकित्वेन स्वच्छन्दविहारी जिनवचनदूषको मृगचारित्रः स्वच्छन्दः इति वा । (चा. सा. पृ. ६३) । २. स्वच्छन्दो यो गणं त्यक्तुं [क्त्वा] चरत्येकाक्यसंवृतः । मृगचारी ××× ॥ (आचा. सा. ६-५२) । ३. स्वच्छन्दो यस्त्यक्तगुरुकुल एकाकित्वेन स्वच्छन्दविहारी जिनवचनदूषको मृगचारित्र इति यावत् । उक्तं च —आयरियकुलं मुच्चा विहरदि एगागिणो य जो समणो । जिणवयणं णिदंतो स्वच्छंदो हवइ मिगचारी ॥ (अन. ध. स्वो. टी. ७-५५) ।

१ जो गुरुकुल को छोड़कर स्वेच्छा से अकेला ही विहार करता है तथा जिनागम को दूषित करता है उसे मृगचारित्र कहते हैं । मृगचारी व स्वच्छन्द भी उसे कहा जाता है । यह पार्श्वस्थ आदि पांच कुत्सित साधुओं में से एक है ।

मृगचारी—देखो मृगचारित्र ।

मृगयाव्यसन—यत्तु मृगया आखेटकस्तत्रानेकेषां मृगादिजन्तूनां वधं करोति तद्मृगयाव्यसनम् । (बृहत्क. भा. क्षे. वृ. ९४०) ।

मृगया नाम शिकार का है, उसमें जो अनेक मृग आदि प्राणियों का घात किया करता है उसे मृगया व्यसन कहते हैं ।

मृतकशायी—मडयसाई मृतकस्येव निश्चेष्ट शयनम् । (भ. आ. मूला. २२५) ।

जो मृतक के समान हलन-चलन से रहित होकर सोता है, उसे मृतकशायी कहते हैं । यह क्षपक के शयन करने के प्रकारों में से एक है ।

मृत्यु—देखो मरण । १. मरणं प्राणनाशः । (ललित. वि. पृ. १०१) । २. मरणं प्राणत्यागलक्षणम् ××× । (पञ्चसू. वृ. पृ. १३) । ३. मरणं दशविधप्राणवियोगरूपम् । ××× । (आव. नि. ५९९) । ४. प्रागुपात्तजीवनकालावधेरर्वाक्काले स्वोपात्तमनुष्याद्यायुर्द्रव्याणामनुभवतः कृत्स्नपरिक्षयो मृत्युः । (ल. भा. सिद्ध. वृ. २-५१) । ५. मृत्युः प्राणोपरमः । (ललितवि. मुनि. वृ. पृ. २३) । ६. सादि-निधनमूर्तेन्द्रियविजातीयनर-नारकादिविभावव्यञ्जनपर्यायविनाशः एव मृत्युः । (नि. सा. वृ. ६) । ७. मृतिर्म्रियमाणता । (काव्यानु. २, पृ. ८५); सर्व-विष-गजादिसंभवोऽभिघातस्ताभ्यां मृतेः प्रागवस्था मृतिः । (काव्यानु. २, पृ. ९८) ।

१ प्राणों के विनाश को मृत्यु या मरण कहा जाता है । ४ पूर्व में प्राप्त जीवनकाल की अवधि के पहिले ही—पूर्वबद्ध आयुप्रमाण के पूर्व ही—अपने प्राप्त (भुज्यमान) मनुष्यादि आयुद्रव्यों का (निषेकों का)

अनुभवन करते हुए जो पूर्णरूप से उनका विनाश हो जाता है, इसे मृत्यु कहते हैं। ६ सादि, सान्त और मूर्त इन्द्रियों से विजातीय ऐसी नर-नरकादि विभाव पर्यायों के विनाश का ही नाम मृत्यु है।

मृत्युगंगा—सत्तसादीण गंगाओ सा एगा मच्चुगंगा। (भगवती. १५-८६, पृ. २०५५)।

सात सादीन गंगाओं की एक मृत्युगंगा होती है।

मृदङ्ग—मृदङ्गो वाद्यविशेषः, स चाधस्तात् विस्तीर्ण उपरि च तनुकः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३१६, पृ. ५४२)।

मृदंग एक प्रकार का वह बाजा है जो नीचे विस्तृत और ऊपर कृश होता है।

मृदु—१. संनतिलक्षणो मृदुः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ६०)। २. सो [स-]न्नतिलक्षणो मृदुः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५-२३)। ३. सन्नतिकारणं तिनिसलतादिगतो मृदुः। (कर्मवि. स्वो. वृ. ४०)।

१ सम्यक् प्रकार से जो नमने की स्थिति होती है, यह मृदु का लक्षण है।

मृदुस्पर्शनाम—१. एवं सेसफासाणं पि अत्थो वत्तव्वो (जस्स कम्मस्स उदएण सरीरपोग्गलाणं मउवभावो होदि तं मउवं णाम)। (धव. पु. ६, पृ. ७५)। २. यदुदयाज्जन्तुशरीरेषु मृदुः स्पर्शो भवति तत् मृदुस्पर्शनाम। (सप्तति. मलय. वृ. ६)। ३. यदुदयाज्जन्तुशरीरं हंसरुतादिवद् मृदु भवति तद् मृदु स्पर्शनाम। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ४०)।

१ जिस कर्म के उदय से शरीरगत पुद्गलों में मृदुता होती है उसे मृदु नामकर्म कहते हैं।

मृषानन्दरौद्रध्यान—देखो अनृतानन्द। १. मोसाणुबंधी णाम जो कम्मभारियियाए निच्चमेव असंत-असब्भूतेहिं अभिरमइ, अदिट्ठाणि य भणइ दिट्ठाणि मए, एवमादि मोसाणुबन्धी। (दशवै. चू. पृ. ३१)। २. पिसुणाऽसब्भासब्भूय-भूयघायाइवयणपणिहाणं। मायाविणोऽतिसंधणपरस्स पच्छन्नपावस्स॥ (ध्यानश. २०)। ३. श्रद्धेये परलोकस्य स्वविकल्पितयुक्तिभिः। विप्रलम्भनसंकल्पो मृषानन्दं सुनन्दितम्॥ (ह. पु. ५६-२३)। ४. मृषानन्दो मृषावादैरतिसन्धानचिन्तनम्। वाक्पारुष्यादिलिङ्गं तत् द्वितीयं रौद्रमिष्यते॥ (म. पु. २१-५०)। ५. असत्यकल्पनाजालकश्मलीकृतमानसः। चेष्टते यज्जनस्तद्धि मृषारौद्रं प्रकीर्तितम्॥ (ज्ञाना. २६-१६, पृ. २६५)। ६. रोपेर्प्यादिदुर्दितैरसत्यवचनैरन्यस्य हान्या मृषानन्दं रौद्रमसातसन्ततिपदे मिथ्याप्रलापे रुचिः। (आचा. सा. १०-२०)। ७. मृषा असत्यम्, तदनुबध्नाति पिशुनाऽसभ्यासद्भूतादिभिर्वचनभेदैस्तन्मृषानुबन्धि। (स्थाना. अभय. वृ. ४, १, २४७)। ८. असत्यवचने परिणतः मृषावादकरणे परिणतः अनृतानन्दाख्यं रौद्रध्यानम्। (कार्तिके. टी. ४७५)। ९. पैशून्यासभ्य-वितथवचसां परिचिन्तनम्। अन्येषां द्रोहबुद्ध्या यन्मृषावादानुबन्धि यत्॥ (लोकप्र. ३०, ४४७)। १०. पिशुनासभ्यासद्भूत-भूतघातादिवचनप्रणिधानं मृषानुबन्धि। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३-८७, पृ. ८०)।

१ जो कर्म के भार से युक्त होने के कारण सदा ही असत्य या असमीचीन व असद्भूत वचनों से सन्तुष्ट रहता है तथा जो नहीं देखे गये हैं उनको देखे गये कहता है, इत्यादि ये सब मृषानुबन्धी रौद्रध्यान के लक्षण हैं। ३ श्रद्धा के योग्य तत्त्व के विषय में अपनी कल्पित युक्तियों के द्वारा दूसरों के ठगने का जो विचार रहता है उसे मृषानन्दरौद्रध्यान कहते हैं।

मृषानुबन्धी—देखो मृषानन्दरौद्रध्यान।

मृषाभाषा—देखो मोषवाक्। १. विराहिणी मोसा। (प्रज्ञाप. १६१, पृ. २४६)। २. × × × मोसा विराहिणी होइ। (दशवै. नि. २७२)। ३. विपरीतस्वरूपा मृषा। × × × उक्तं च—× × × तव्विवरीया मोसा × × ×॥ (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १६१)।

१ जो भाषा यथार्थ वस्तुस्वरूप के प्ररूपक सत्य की विराधक होती है उसे मृषा भाषा कहते है।

मृषामनयोग—देखो मोषमनयोग।

मृषारौद्रध्यान—देखो मृषानन्दरौद्रध्यान।

मृषावचन—देखो मृषाभाषा। १. प्रागभिहितसामान्यलक्षणयोगे सति सद्भूतनिह्नवासद्भूतोद्भावन-विपरीत-कटुक-सावद्यादि मृषावचनम्। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ७-१)। २. तदेव प्रमाणैर्बाध्यमानं सन्मृषा। (आव. हरि. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ७६)।

१ सद्भूत के अपलापक, असद्भूत के प्रकाशक, विपरीत, कटुक और पापयुक्त वचन को मृषावचन कहा जाता है।

मृषावाद — असंतवयणं मुसावादो । किमसंतवयणं ? मिच्छत्तासंजमकषाय-पमादुट्ठावियो वयणकलावो । (धव. पु. १२, पृ. २७९) ।

अप्रशस्त वचन का नाम मृषावाद है । ऐसा वचनकलाप मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और प्रमाद के आश्रय से उत्पन्न होता है ।

मृषावादविरमण—अहावरे दुच्चे भंते महव्वए मुसावायाओ वेरमणं । सव्वं भंते मुसावायं पच्चक्खामि, से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा नेव सयं मुसं वइज्जा नेवऽन्नेहिं मुसं वायाविज्जा मुसं वयंतेऽवि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । दुच्चे भंते महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं ॥ (दशवै. सू. ४-४, पृ. १४६) ।

क्रोध, लोभ, भय अथवा परिहास से असत्यभाषण के परित्याग की प्रतिज्ञा करना कि मैं न स्वयं असत्य बोलूंगा, न दूसरों को उसके बोलने के लिए प्रेरणा करूंगा, स्वयं असत्य भाषण करने वाले दूसरों का अनुमोदन न करूंगा; जीवन पर्यन्त में मन, वचन एवं काय से न स्वयं करूंगा, न कराऊंगा और न करते हुए अन्य की अनुमोदना करूंगा; इस प्रकार से असत्य वचन का परित्याग करने वाले के मृषावादविरमण नाम का दूसरा महाव्रत होता है ।

मेघ—वारिसु वा कसणवण्णा मेहा णाम । (धव. पु. १४, पृ. ३५) ।

वारिश के समय काले रंग के जो बादल हुआ करते हैं उन्हें मेघ कहा जाता है ।

मेघचारण—१. अविराहिदूण जीवे अपुकाए बहुविहाण मेघाणं । जं उवरि गच्छिइ मुणी सा रिद्धी मेघचारणा णाम ॥ (ति. प. ४-१०४३) । २. नभोवर्त्मनि प्रविततजलधरपटलपटास्तरणे जीवानुपघातिचङ्क्रमणप्रभवो मेघचारणाः । (योगशा. स्वो. वि. १-९, पृ. ४१) ।

१ मुनि बहुत प्रकार के मेघों के जलकायिक जीवों की विराधना न करके जो उनके ऊपर से जाता है, इसे मेघचारण ऋद्धि कहा जाता है ।

मेद—मेदो वसा मांससम्भवम् । (योगशा. स्वो. विव. ४-७२) ।

मांस से जो शरीरगत धातु उत्पन्न होती हैं उसे मेदा (चर्बी) कहा जाता है ।

मेधा—१. मेधा ग्रन्थग्रहणपटुः परिणामः ज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमजः चित्तधर्म इति भावः । (ललितवि. पृ. ८१) । २. मेध्यति परिच्छिनत्ति अर्थमनया इति मेधा । (धव. पु. १३, पृ. २४२) । ३. मेधा च सच्छास्त्रग्रहणपटुः पापश्रुतावज्ञाकारी ज्ञानावरणीयक्षयोपशमजश्चित्तधर्मः, अथवा मेधा मर्यादावर्तिता । (योगशा. स्वो. विव. ३-१२४) । ४. विशिष्टो ग्रन्थग्रहणपटुरात्मनः परिणामविशेषो मेधा । (धर्मसं. मलय. पृ. १४) । ५. पाठग्रहणशक्तिर्मेधा । (अन. ध. स्वो. टी. ३-४; त. वृत्ति श्रुत. १-१३) । ६. ××× मेधा कालत्रयात्मिका । (त. वृत्ति श्रुत. १-१३ उद्.) ।

१ ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला जो चित्त का धर्म ग्रन्थ के ग्रहण करने में दक्ष होता है उसे मेधा कहते हैं । २ जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाता है उसका नाम मेधा है । यह अवग्रह का एक नामान्तर है ।

मेधावी—मेधा विद्यते येषां ते मेधाविनो ग्रहणधारणसमर्थाः । (सूत्रकृ. सू. शी. २, ६, १६, पृ. १४४) ।

जो मेधा के स्वामी होकर ग्रहण व धारण में समर्थ होते हैं वे मेधावी कहलाते हैं ।

मेरक—मेरकं तालफलनिष्पन्नम् । (विपाक. अभय. वृ पृ. २३) ।

ताल के फल से जो मद्य उत्पन्न होता है उसका नाम मेरक है ।

मेषसमान शिष्य—यथा मेषो वदनस्य तनुत्वात् स्वयं च निभृतात्मा गोष्पदमात्रस्थितमपि जलमकलुषीकुर्वन् पिबति तथा यः शिष्योऽपि पदमात्रमपि विनयपुरःसरमाचार्यचित्तं प्रसादयन् पृच्छति स मेषसमानः, स चैकान्तेन योग्यः । (आव. नि. मलय. वृ. १३६, पृ. १४४) ।

जिस प्रकार मेष मुख के छोटे होने से गाय के खुर के प्रमाण में भी स्थित जल को कलुषित न करके पीता है उसी प्रकार जो शिष्य भी विनयपूर्वक आचार्य के चित्त को प्रसन्न करता हुआ पद मात्र

भी पूछता है वह मेघ के समान माना जाता है। ऐसा शिष्य सर्वथा योग्य होता है।

मैत्रीभावना—१. जीवेसु मित्तचिंता मेत्ती ××× । (भ. आ. १६९६) । २. परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री । (स. सि. ७-११; त. श्लो. ७, ११; भ. आ. विजयो. १३१) । ३. परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री । स्वकाय-वाङ्मनोभिः कृत-कारितानुमतविशेषणैः परेषां दुःखानुत्पत्तौ अभिलाषः मित्रस्य भावः कर्म वा मैत्री। (त. वा. ७, ११, १)। ४. परहितचिन्ता मैत्री ××× । (षोडशक. ४-१५) । ५. अनन्तकालं चतसृषु गतिषु परिभ्रमतो घटीयंत्रवत्सर्वे प्राणभृतोऽपि बहुशः कृतमहोपकारा इति तेषु मित्रताचिन्ता मैत्री । (भ. आ. विजयो. १६९६) । ६. क्षुद्रेतरविकल्पेषु चरस्थिरशरीरिषु । सुख-दुःखाद्यवस्थासु संसृतेषु यथायथम् ॥ नानायोनिगतेष्वेषु समत्वेनाविराधिका । साध्वी महत्त्वमापन्ना मतिर्मैत्रीति पठ्यते ॥ जीवन्तु जन्तवः सर्वे क्लेशव्यसनवर्जिताः । प्राप्नुवन्तु सुखं त्यक्त्वा वैरं पापं पराभवम् ॥ (ज्ञाना. २७, ५-७, पृ. २७२) । ७. कायेन वचसा वाचाऽपरे सर्वत्र देहिनि । अदुःखजननी वृत्तिर्मैत्री मैत्रीविदां मता ॥ (उपासका. ३३५) । ८. मेद्यति स्निह्यतीति मित्रम्, तस्य भावः समस्तसत्त्वविषयः स्नेहपरिणामो मैत्री । (योगशा. स्वो. विव. ४-११७); माकार्षीत् कोऽपि पापानि मा च भूत्कोऽपि दुःखितः । मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते ॥ (योगशा. ४-११८) । ९. काय-वाङ्मनोभिः कृत-कारितानुमतैरन्येषां कृच्छ्रानुत्पत्तिकांक्षा मैत्रीत्युच्यते । (त. वृत्ति श्रुत. ७-११) ।

१ सभी प्राणियों के विषय में जो मित्रता का विचार रहता है, उसे मैत्रीभावना कहते हैं। ४ दूसरों के हित के चिन्तन का नाम मैत्री है।

मैत्रीवन्दन—१. यथा निहोरकदोषादिदुष्टं वन्दते तथा मैत्र्यापि हेतुभूतया कश्चिद्वन्दत एव, आचार्येण सह मैत्रीं प्रीतिं इच्छन् वन्दत इत्यर्थः, तदिदं मैत्रीवन्दनकमुच्यते । (आव. ह. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ८८) । २. मैत्रीतो मम मित्रमाचार्य इति, आचार्येणेदानीं मैत्री भवत्विति वा वन्दनम् । (योगशा. स्वो. विव. ३-१३०) । ३. मैत्र्याऽपि—मैत्रीमाश्रित्य कश्चिद् वन्दते, आचार्येण सह मैत्रीं प्रीतिमिच्छन् वन्दत इत्यर्थः, तदिदं मैत्रीवन्दनमुच्यते । (प्रव. सारो. वृ. १६२) ।

१ जिस प्रकार निहोरक दोषादि से दुष्ट की वन्दना की जाती है उसी प्रकार आचार्य के साथ मेरी मैत्री हो, इस प्रकार इच्छा करके मित्रता के निमित्त से जो वन्दना की जाती है उसे मैत्रीवन्दन कहा जाता है।

मैथुन—१. स्त्री-पुंसयोश्चारित्रमोहोदये सति रागपरिणामाविष्टयोः परस्परस्पर्शनं प्रति इच्छा मिथुनम्, मिथुनस्य कर्म मैथुनमित्युच्यते । (स. सि. ७-१६; मूला. वृ. १-४)। २. स्त्री-पुंसयोः परस्परगात्रोपश्लेषे रागपरिणामो मैथुनम् । चारित्रमोहोदये सति स्त्री-पुंसयोः परस्परगात्रोपश्लेषे सति सुखमुपलिप्समानयोः रागपरिणामो यः स मैथुनव्यपदेशभाक् । (त. वा. ७, १६, ४) । ३. त्थी-पुरिसविसयवावारो मण-वयण-कायसरूवो मेहुणम् । (धव. पु. १२, पृ. २८२) । ४. स्त्री-पुंसोर्वेदोदये वेदनापीडितयोर्यत्कर्म तन्मैथुनमथवैकस्यापि चारित्रमोहोदयोद्रिक्तरागस्य हस्तादिसंघट्टनेऽस्ति मैथुनमिति । (चा. सा पृ. ४२) । ५. वेदतीव्रोदयात् कर्म मैथुनं मिथुनस्य यत् । तदब्रह्मापदामेकं पदं सद्गुणलोपनम् ॥ (आचा. सा. ५-४७) । ६. मिथुनस्य कर्म मैथुनम् । किं तत् मिथुनस्य कर्म ? स्त्री-पुंसयोश्चारित्रमोहविपाके रागपरिणतिप्राप्तयोरन्योन्यपर्वणं (स्पर्शनं) प्रति अभिलाषः स्पर्शोपायचिन्तनं च मिथुनकर्मोच्यते । (त. वृत्ति श्रुत. ७-१६) ।

१ चारित्रमोह का उदय होने पर राग से आक्रान्त स्त्री-पुरुषों के जो परस्पर के स्पर्श की इच्छा होती है उसे मिथुन और मिथुन की क्रिया को मैथुन कहा जाता है।

मैथुनसंज्ञा—१. पणिदरसभोयणेण य तस्सुवओगेण कुसीलसेवाए । वेदस्सुदीरणाए मेहुणसण्णा हवदि एवं ॥ (प्रा. पंचसं. १-५४; गो. जी. १३६) । २. मैथुनसंज्ञा मैथुनाभिलाषः वेदमोहोदयजो जीवपरिणामः । (आव. हरि. वृ. ४, पृ. ५८०) । ३. पुरुषादिवेदोदयाद् दिव्यौदारिकशरीरसम्बन्धाभिलाषासेवने मैथुनसंज्ञा । (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. २-२५) । ४. मैथुनसंज्ञा वेदमार्गणाप्रभेदः, स्त्रीपुंनपुंसकवेदानां तीव्रोदयरूपत्वात् । (धव. पु. २, पृ. ४१४) । ५. मैथुनसंज्ञा वेदोदयजनितो मैथुना-

भिलाषः। (स्थानां. ४, ४, ३५६; जीवाजी. मलय. वृ. १३)। ६. मैथुनेच्छात्मिका वेदोदयजा मैथुनाभिधा। (लोकप्र. ३-४४५)। ७. मैथुनसंज्ञा वेदोदयान्मैथुनाभिलाषः। (धर्मसं. मानवि. ३-८७, पृ. ८०)।

१ सुन्दर रसयुक्त भोजन करने, भोजन की ओर उपयोग के रहने, कुशील का सेवन करने और वेद-कर्म की उदीरणा से मैथुनसंज्ञा हुआ करती है। २ वेद मोहनीय के उदय से मैथुन की अभिलाषारूप जो जीव का परिणाम होता है उसका नाम मैथुन-संज्ञा है।

मोक्ष—१. बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः। (त. सू. दि. १०-२); कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः। (त. सू. श्वे. १०-३)। २. कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणो मोक्षः। (त. भा. १०-३)। ३. बन्धवियोगो मोक्षः × × ×। (प्रशमर. २२१)। ४. अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवम्। मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति × × ×॥ (रत्नक. १०४)। ५. निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलंकस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष इति। (स. सि. १-१ उत्थानिका); कृत्स्नकर्मविप्रयोगलक्षणो मोक्षः। (स. सि. १-४)। ततो भवस्थितिहेतुसमीकृतशेषकर्मावस्थस्य युगपदात्यन्तिकः कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः प्रत्येतव्यः। (स. सि. १०-२)। ६. कम्मयदव्वेहि समं संजोगो होइ जो उ जीवस्स। सो बंधो नायव्वो तस्स विओगो भवे मुक्खो॥ (आचा. नि. २६०)। ७. ऐकान्तिकात्यन्तिकनित्यमुक्तं कर्मक्षयोद्भूतमनन्तसौख्यम्। × × × मोक्षमुदाहरिष्ये॥ (वरांगच. १०१)। ८. आत्यन्तिकः सर्वकर्मनिक्षेपो मोक्षः। मोक्ष असने इत्येतस्य घञ् भावसाधनो मोक्षणं मोक्षः असनं क्षेपणमित्यर्थः; स आत्यन्तिकः सर्वकर्मनिक्षेपो मोक्ष इत्युच्यते। (त. वा. १, १, ३७); कृत्स्नकर्मवियोगलक्षणो मोक्षः। सम्यग्दर्शनादिहेतुप्रयोगप्रकर्षे सति कृत्स्नस्य कर्मणश्चतुर्विधबन्धवियोगो मोक्षः। (त. वा. १, ४, २०)। ९. आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्यान्तर्मलक्षयम्। (सिद्धिवि. ७, १९, पृ. ४८५)। १०. नीसेसकम्मविगमो मुक्खो जीवस्स सुद्धरूवस्स। साइ-अपज्जवसाणं अव्वाबाहं अवत्थाणं॥ (श्रावप्र. ८३)। ११. मोक्षः अशेषकर्मवियोगलक्षणः। (त. भा. हरि. वृ. पृ. ५); अत्र मोक्षः कर्मविमुक्तः आत्मोच्यते। × × × यथा(दा)षीषत्प्राग्भाराधरोपलक्षितं क्षेत्रं मोक्षस्तदा × × ×। (त. भा. हरि. वृ. १-१, पृ. १५)। १२. मोक्षः सर्वथाऽष्टविधकर्ममलवियोगलक्षणः। (आव. नि. हरि. वृ. १०३, पृ. ७२)। १३. कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्षो जन्म-मृत्यादिवर्जितः। सर्वबाधाविनिर्मुक्त एकान्तसुखसंगतः॥ यन्न दुःखेन संभिन्नं न च भ्रष्टमनन्तरम्। अभिलाषापनीतं यत्तज्ज्ञेयं परमं पदम्॥ (अष्टक. ३२, १-२)। १४. आत्यन्तिको वियोगस्तु देहादेर्मोक्ष उच्यते। (षड्द. स. ५२)। १५. मोचनं मोक्षः, मुच्यते अनेनास्मिन्निति वा मोक्षः। (धव. पु. १३, पृ. ३४८); जीव-कम्माणं वियोगो मोक्खो णाम। (धव. पु. १६, पृ. ३३८)। १६. निःशेषकर्मनिर्मोक्षो मोक्षोऽनन्तसुखात्मकः। सम्यग्विशेषणज्ञान-दृष्टि-चारित्रसाधनः॥ (म. पु. २४-११)। १७. निःशेषकर्मनिर्मोक्षः स्वात्मलाभोऽभिधीयते। मोक्षो जीवस्य नाभावो न गुणाभावमात्रकम्॥ (त. श्लो. १, १, ४, पृ. ५८)। १८. स्वात्मलाभस्ततो मोक्षः कृत्स्नकर्मक्षयान्मतः। निर्जरा-संवराभ्यां तु सर्वसद्वादिनामिह॥ (आप्तप. ११६)। १९. मोक्ष इति च ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मक्षयलक्षणः केवलात्मस्वभावः कथ्यते स्वात्मावस्थानरूपो न स्थानम्। × × × अथवेषत्प्राग्भारधरणी मोक्षशब्देनाभिधातुमिष्टा। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-१); ज्ञान-शम-वीर्य - दर्शनात्यन्तिकैकान्तिकाबाधनिरुपमसुखात्मन आत्मनः स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः। × × × मोक्षोऽप्ययमात्मा समस्तकर्मविरहित इति। × × × कृत्स्नकर्मक्षयादात्मनः स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-४)। २०. अभावाद् बन्धहेतूनां बन्धनिर्जरया तथा। कृत्स्नकर्मप्रमोक्षो हि मोक्ष इत्यभिधीयते॥ (त. सा. ८-२)। २१. आत्म-बन्धयोर्द्विधाकरणं मोक्षः। (समयप्रा. अमृत. वृ. ३१६-१८)। २२. अत्यन्तशुद्धात्मोपलम्भो जीवस्य जीवेन सहात्यन्तविश्लेषः कर्मपुद्गलानां च मोक्षः। (पंचा. का. अमृत. वृ. १०८)। २३. आत्यन्तिकः स्वहेतोर्यो विश्लेषो जीव-कर्मणोः। स मोक्षः × × ×॥ (तत्त्वानु. २३०)। २४. मोक्षोऽपि पार्थिवात्यन्तं विश्लेषो जीव-कर्मणोः। (प्रद्युम्नच. ६,

४६)। २५. अभावे वन्धहेतूनां निर्जरायां च भास्वरः। समस्तकर्मविश्लेषो मोक्षो वाच्योऽपुनर्भवः॥ (योगसा. प्रा. ७–१)। २६. मोक्ष्यतेऽस्यते येन मोक्षणमात्रं वा मोक्षः। निरवशेषाणि कर्माणि येन परिणामेन क्षायिकज्ञान-दर्शन-यथाख्यातचारित्र-संज्ञितेनास्यन्ते स मोक्षः, विश्लेषो वा समस्तानां कर्मणाम्। (भ. आ. विजयो. १३४)। २७. णिस्सेसकम्ममुक्खो सो मुक्खो जिणवरेहिं पण्णत्तो। राय-द्दोसाभावे सहावथक्कस्स जीवस्स॥ (भावसं. दे. ३४६)। २८. सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो। णेयो सो भावमुक्खो दव्वविमुक्खो य कम्मपुहभावो॥ (द्रव्यसं. ३७)। २९. अनन्त-चतुष्टयस्वरूपलाभलक्षणमोक्षप्रसिद्धेः ××× । (न्यायकु. ७६, पृ. ८३६)। ३०. वदन्ति योगिनो मोक्षं विपक्षं जन्मसन्ततेः। निष्कलङ्कं निराबाधं सानन्दं स्वस्वभावजम्॥ (ज्ञाना. १–४५); निःशेषकर्मसम्बन्धपरिविध्वंसलक्षणः। जन्मनः प्रतिपक्षो यः स मोक्षः परिकीर्तितः॥ दृग्वीर्यादिगुणोपेतं जन्मक्लेशैः परिच्युतम्। चिदानन्दमयं साक्षान्मोक्षमात्यन्तिकं विदुः॥ अत्यक्षं विषयातीतं निरौपम्यं स्वभावजम्। अविच्छिन्नं सुखं यत्र स मोक्षः परिपठ्यते॥ (ज्ञाना. ६–८, पृ. ६२)। ३१. कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षो भव्यस्य परिणामिनः। ज्ञान-दर्शनचारित्रत्रयोपायः प्रकीर्तितः॥ (चन्द्र. च. १८–१२३)। ३२. जीव-पुद्गलसंश्लेषरूपबन्धस्य विघटने समर्थः स्वशुद्धात्मोपलब्धिपरिणामो मोक्षः। (बृ. द्रव्यसं. टी. २८, पृ. ७६); निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलङ्कस्याशरीरस्यात्मन आत्यन्तिक-स्वाभाविकाचिन्त्याद्भुतानुपमसकलविमलकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणास्पदमवस्थान्तरं मोक्षो भण्यते ×××। (बृ. द्रव्यसं. टी. ३७, पृ. १३६)। ३३. आनन्दो ज्ञानमैश्वर्यं वीर्यं परमसूक्ष्मता। एतदात्यन्तिकं यत्र स मोक्षः परिकीर्तितः॥ (उपासका. ४५); आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्यान्तर्मलक्षयात्। नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम्॥ (उपासका. ११३)। ३४. मुच्यतेऽनेन मुक्तिर्वा मोक्षो जीवप्रदेशानां कर्मरहितत्वं स्वतंत्रीभावः। (मूला. वृ. ५–६)। ३५. णिस्सेसकम्ममोक्खो मोक्खो जिणसासणे समुद्दिट्ठो। तम्हि कए जीवोऽयं अणुहवइ अणंतयं सोक्खं॥ (वसु. श्रा. ४५); ३६. मोक्षः स्वात्मोपलब्धिः। (श्रा. मो. वसु. वृ. ४०)। ३७. भाव-द्रव्यात्मकाशेषकर्म-नोकर्मणां क्षयात्। भाव-द्रव्यात्मको मोक्षश्चारुचारित्रसम्पदा॥ (आचा. सा. ३–४१)। ३८. सकलकर्मविप्रमोक्षलक्षणो मोक्षः। (बृहत्स्व. टी. ११०)। ३९. स्वस्वभावजमत्यक्षं यदस्मिन् शाश्वतं सुखम्। चतुर्वर्गाग्रणीत्वेन तेन मोक्षः प्रकीर्तितः॥ (योगशा. स्वो. विव. १–१६, पृ. ११५ उद्.)। ४०. मोचनं कर्म-पाशवियोजनमात्मनो मोक्षः। (स्थाना. अभय. वृ. १–१०)। ४१. मोक्षः अशेषकर्मक्षयलक्षणो विशिष्टाकाशप्रदेशाख्यो वा। (आचा. शी. वृ. १, ५, ६, १७२)। ४२. पुद्गलपरिणामकर्म-शरीरसम्बन्धो वन्धस्ततो विश्लेषो मुक्तिः। (वृ. सर्वज्ञसि. पृ. १८७)। ४३. तयोरेवाऽऽत्यन्तिकः पृथग्भावः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ४)। ४४. मोक्षोऽशेषकर्मवियोगलक्षणो ×××। (त. भा. कारिका. दे. वृ. ५)। ४५. मोक्षः सकलकर्ममलविकलतालक्षणः। (धर्मसं. मलय. वृ. ११७५)। ४६. येन कृत्स्नानि कर्माणि मोक्ष्यन्तेऽस्यन्त आत्मनः। रत्नत्रयेण मोक्षोऽसौ मोक्षणं तत्क्षयः स वा॥ (अन. ध. २–४४)। ४७. मोक्ष्यन्तेऽस्यन्ते आत्मनः पृथक् क्रियन्ते समस्तानि कर्माणि येन सम्पूर्णरत्नत्रयलक्षणेनात्मपरिणामेन स मोक्षः। अथवा मोक्ष्यते विश्लिष्यते जीवो येन नीरसीभूतेन कर्मणा, तच्छादितफलदानसामर्थ्यं कर्म मोक्षः। यदि वा मोक्षणं मोक्षः जीव-कर्मणोरात्यन्तिको विश्लेषः। (भ. आ. मूला. ३८)। ४८. अभावाद् बन्धहेतूनां निर्जरायाश्च यो भवेत्। निःशेषकर्मनिर्मोक्षः स मोक्षः कथ्यते जिनैः॥ (धर्मश. २१–१६०)। ४९. मोक्षस्तु संवर-निर्जराभ्यामात्यन्तिको वियोगः कर्मभिः। (प्रमाल. ३०५)। ५०. मोक्षः कृत्स्नकर्मक्षयः। (स्याद्वादमं. २७, पृ. ३०२)। ५१. अष्टकर्मक्षयान्मोक्षः ××× । (विवेकवि. ८–२५३, पृ. १८८)। ५२. सकलकर्मक्षये लोकाग्रप्रदेशे नित्यज्ञानानन्दमयश्च मोक्षः। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. ५)। ५३. कर्मक्षयेण जीवस्य स्वस्वरूपस्थितिः शिवम्। (षड्द. स. राज. १६)। ५४. ××× जीवस्य समस्तकर्ममलकलंकरहितत्वं अशरीरत्वमचिन्तनीयनैसर्गिकज्ञानादिगुणसहिताव्याबाधसौख्यं ईदृशमात्यन्ति-

कमवस्थान्तरं मोक्ष उच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. १-१ उत्थानिका)। ५५. पुंसोऽवस्थान्तरं मोक्षः कृत्स्नकर्मक्षये सति। ज्ञानानन्दादिधर्माणामाविर्भावात्मकः स्वतः॥ (जम्बू. च. ३-६०)। ५६. मोक्षः स्वात्मप्रदेशस्थितविविधविधेः कर्मपर्यायहानिर्मूलात्सत्कालचित्ताद्विमलतरगुणोद्भूतिरस्या यथावत्। स्याच्छुद्धात्मोपलब्धेः परमसमरसीभावपीयूषतृप्तिः शुक्लध्यानादिभावापरकरणतनोः संवरान्निर्जरायाः॥ (अध्यात्मक. १-५)। ५७. मोक्षं सर्वकर्मविघटनरूपं निःश्रेयसम्। (सम्बोधस. वृ. २)। ५८. मोक्षः सर्वकर्मक्षयलक्षणः। (ज्ञा. सा. वृ. ७-१)। ५९. मोक्षः पुनः सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रेभ्यः कर्मणामत्यन्तोच्छेदः। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. पृ. २४)।

१ बन्ध के हेतुभूत आस्रव के निरोध स्वरूप संवर और निर्जरा के द्वारा जो समस्त कर्मों का क्षय होता है उसका नाम मोक्ष है। ६ कर्मद्रव्यों के साथ जो जीव का संयोग होता है उसे बन्ध और उसके वियोग को मोक्ष जानना चाहिए।

मोक्षतरुबीज—किं मोक्षतरोर्बीजं सम्यग्ज्ञानं क्रियासहितम्। (प्रश्नो. ४)।

मोक्षरूप वृक्ष का बीज क्या है? क्रिया (आचरण) सहित सम्यग्ज्ञान उस मोक्ष रूप वृक्ष का बीज (उपाय) है।

मोक्षमार्ग—१. रायादिदोसरहिओ जिणसासणे मोक्खमग्गुत्ति॥ (चारित्रप्रा. ३८)। २. णिच्चेलं पाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं। एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे॥ (सूत्रप्रा. १०)। ३. सम्मत्त-णाणजुत्तं चारित्तं राग-दोसपरिहीणं। मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं॥ (पंचा. का. १०६); धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंग-पुव्वगदं। चिट्ठा तवंमि चरिया ववहारो मोक्खमग्गो त्ति॥ णिच्चयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा। ण कुणदि किंचिवि अण्णं ण मुयदि मोक्खमग्गो त्ति॥ (पंचा. का. १६०-६१)। ४. दंसण-णाण-चरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति॥ (समयप्रा. ४४०)। ५. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः। (त. सू. १-१; पंचा. अमृत. वृ. १६०)। ६. सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्रसंपदः साधनानि मोक्षस्य। तास्वेकतराभावेऽपि मोक्षमार्गोऽप्यसिद्धिकरः॥ (प्रशमर. २३०)। ७. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मको मोक्षमार्गः। (त. श्लो. पृ. १०)। ८. ××× सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मको मोक्षमार्गः ×××। (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. २७, पृ. ९)। ९. एवं सम्यग्दर्शन-बोध-चरित्रत्रयात्मको नित्यम्। तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्तिः॥ (पु. सि. २०); सम्यक्त्वचरित्रबोधलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः। मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम्॥ (पु. सि. २२२)। १०. स्यात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयात्मकः। मार्गो मोक्षस्य भव्यानां युक्त्यागमसुनिश्चितः॥ (त. सा. १-३)। ११. न खलु द्रव्यलिंगं मोक्षमार्गः, शरीराश्रितत्वे सति परद्रव्यत्वात्। तस्माद् दर्शन-ज्ञान-चारित्राण्येव मोक्षमार्गः, आत्माश्रितत्वे सति स्वद्रव्यत्वात्। (समयप्रा. अमृत. वृ. ४४०)। १२. स च मुक्तिमार्गः सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक एव युक्तः। (बृ. सर्वज्ञसि. पृ. १८०)। १३. ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपसां संहतिश्च या। सम्यक्पदोपसंसृष्टा मोक्षमार्गः प्रकीर्तितः॥ (मोक्षपं, १)। १४. मोक्षः सर्वकर्मविप्रयोगलक्षणः, तस्य मार्गः सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रलक्षणः। (त. वृत्ति श्रुत. पृ. १)। १५. सम्यग्दृग्ज्ञान-वृत्तं त्रितयमपि युतं मोक्षमार्गो विभक्तात् सर्वं स्वात्मानुभूतिर्भवति च तदिदं निश्चयात्तत्त्वदृष्टेः। (अध्यात्मक. १-६)।

२ वस्त्र का परित्याग कर दिगम्बर होते हुए पात्र के बिना हाथों से ही भोजन करना, यह मोक्षमार्ग का लक्षण माना गया है। ३ सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान से सहित तथा राग-द्वेष से रहित चारित्र को मोक्षमार्ग जानना चाहिए।

मोक्षविनय—इहलोकानपेक्षस्य श्रद्धान-ज्ञान-शिक्षादिषु कर्मक्षयाय प्रवर्तनं मोक्षविनयः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. २९)।

इस लोक सम्बन्धी सुख की अपेक्षा न करके कर्मक्षय के लिए श्रद्धान, ज्ञान और शिक्षा आदि में प्रवृत्त होना; इसका नाम मोक्षविनय है।

मोक्षसाधन—देखो मोक्षमार्ग।

मोक्षसुख—आत्मायत्तं निराबाधमतीन्द्रियमनश्वरम्। घातिकर्मक्षयोद्भूतं यत्तन्मोक्षसुखं विदुः॥ (तत्त्वानु. २४२)।

जो सुख पर पदार्थों की अपेक्षा से रहित होकर आत्मा-

धीन होता हुआ बाधा से रहित, अतीन्द्रिय, अविनश्वर और घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता है उसे मोक्षसुख जानना चाहिए।

मोक्षोपाय—देखो मोक्षमार्ग। परनिरपेक्षतया निज-परमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धान-परिज्ञानानुष्ठानशुद्धरत्नत्रयात्मकमार्गो मोक्षोपायः। (नि. सा. वृ. २)।

बाह्य पदार्थों से निरपेक्ष रह कर अपने उत्कृष्ट आत्मतत्त्वविषयक समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप जो शुद्ध रत्नत्रय स्वरूप मोक्ष का मार्ग है उसे मोक्ष का उपाय जानना चाहिए।

मोषमनयोग—मोषवचननिबन्धनमनसा योगो मोषमनोयोगः। (धव. पु. १, पृ. २८१)।

मृषा वचन के कारणभूत मन से जो योग होता है उसे मोषमनोयोग कहते हैं।

मोषवाक्—१. यां श्रुत्वा स्तेये वर्तते सा मोषवाक्। (त. वा. १, २०, १२)। २. या प्रवर्तयति स्तेये मोष[ष]वाक् सा समीरिता। (ह. पु. १०, ६६)।

१ जिस वचन को सुनकर प्राणी चोरी में प्रवृत्त होता है उसे मोषवाक् (मृषाभाषा) कहते हैं।

मोह—१. भावोवहयमईओ मुज्झइ नाण-चरणंतराईसु। इड्ढीओ अ बहुविहा दट्ठुं परतित्थियाणं तु॥ (बृहत्क. भा. १३२५)। २. मोहश्चाज्ञानम्। (त. वा. १, १, ४४)। ३. धर्माय हीनकुलादिप्रार्थनं मोहः, अतद्धेतुकत्वात्, ऋद्धयभिष्वङ्गतो धर्मप्रार्थनापि मोहः, अतद्धेतुकत्वादेव। (ललितवि. पृ. ९४)। ४. मुह्यतेऽनेनेति मोहः मोहवेदनीयं कर्म। मोहनं वा मोहः, मोहवेदनीयकर्मापादितोऽज्ञानपरिणाम एव। (पंचसू. व्या. पृ. १)। ५. हेयेतरभावाधिगमप्रतिबन्धविधानान्मोह इति। (ध. वि. ८-११)। ६. अज्ञानलक्षणो मोहः। (श्रा. प्र. टी. ३६३)। ७. क्रोध-मान-माया-लोभ-हास्य-रत्यरति-शोक-भय - जुगुप्सा-स्त्री-पुन्नपुंसकवेद-मिथ्यात्वानां समूहो मोहः। (धव. पु. १२, पृ. २८३); पंचविहमिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं सासणसम्मत्तं च मोहो। (धव. पु. १४, पृ. ११)। ८. लब्धे (वस्त्रे) ममेदंभावलक्षणो मोहः। (भ. आ. विजयो. ८५)। ९. सामान्येन दर्शन-चारित्रमोहनीयोदयोपजनिताविवेकरूपो मोहः। (पंचा. का. अमृत. वृ. १४०)। १०. शुद्धात्मश्रद्धानरूपसम्यक्त्वस्य विनाशको दर्शनमोहाभिधानो मोह इत्युच्यते। (प्रव. सा. जय. वृ. १-७)। ११. मोहः पदार्थेष्वयथावबोधः। (समवा. अभय. वृ. १३७)। १२. मुह्यतेऽनेनेति मोहः—मोहवेदनीयं कर्म, तेन यथावस्थितवस्तुतत्त्वपरिच्छेदविषये जन्तोरज्ञानपरिणामापादात्, मोहनं वा मोहः मोहनीयकर्मविपाकोदयजनितो जन्तोरज्ञानपरिणाम एव। (धर्मसं. मलय. वृ. १); बाह्यार्थे यद्विज्ञानं तत्तत्त्वसावनप्रवणमुपजायते तन्मोहः। (धर्मसं. मलय. वृ. ६६५)। १३. मोहयति जानानमपि प्राणिनं सदसद्विवेकविकलं करोतीति मोहः। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ३)। १४. मोहो हिताहितविवेकविकलत्वम्। (सा. ध. स्वो. टी. ४-५३)। १५. शरीरस्याहमित्येकत्वलक्षणो मोहः। (परमा. त. १-२३)।

१ शंकादिरूप परिणामों से दूषित बुद्धिवाला प्राणी जो ज्ञानविशेषों (अवधि व मनःपर्ययादि) और चारित्रभेदों में व्यामोह को प्राप्त होता है तथा अन्य मिथ्यादृष्टियों की बहुत प्रकार की ऋद्धियों को देखकर जो मुग्ध होता है, इसका नाम मोह है। २ अज्ञान या अविवेक को मोह कहा जाता है। ७ क्रोधादि कषायों और हास्यादि नोकषायों के समूह को मोह कहते हैं।

मोहनीय—१. मोहयतीति मोहनीयं मिथ्यात्वादिरूपत्वात्। (श्रा. प्र. टी. ८)। २. मुह्यत इति मोहनीयम् ××× अथवा मोहयतीति मोहनीयम्। (धव. पु. ६, १२); विमोहसहावं जीवं मोहेदि त्ति मोहणीयं। (धव. पु. १३, पृ. २०८); मोहयतीति मोहनीयं कम्मदव्वं। (धव. पु. १३, पृ. ३५७)। ३. मोहयति मोहनं वा मुह्यतेऽनेनेति वा मोहनीयम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-५)। ४. मोहयति सदसद्विवेकविकलान् प्राणिनः करोतीति मोहनीयम्। (पंचसं. स्वो. वृ. ३-१, पृ. १०७)। ५. मोहेइ मोहणीयं ×××। (कर्मवि. ग. ३५)। ६. नीयते येन मूढत्वं मद्येनेव शरीरवान्। मोहनं ×××॥ (पंचसं. अमित. २-१०, पृ. ४६)। ७. मुह्यन्ति सत्कृत्येभ्यः पराङ्मुखीभवन्ति जीवा अनेनेति मोहनीयम्। (शतक. मल. हेम. वृ. ३८)। ८. सुरापाणसमं प्राज्ञा मोहनीयं प्रचक्षते। यदनेन विमूढात्मा कृत्याकृत्येषु मुह्यति॥ (त्रि. श. पु. च. २, ३, ४७०)। ९. मोहयति सदसद्विवेकविकलं करोत्यात्मानमिति मोहनीयम्। (प्रज्ञाप.

मलय. वृ. २८८, पृ. ४५४; प्रव. सारो. वृ. ४६; कर्मवि. ग. परमा. व्या. ५; कर्मप्र. यशो. वृ. १, पृ. ४)। १०. मोहयति विपर्यासमापादयति इति मोहनीयम्। (धर्मसं. मलय. वृ. ६०७)।

१ जो मिथ्यात्वादिस्वरूप होकर प्राणी को मोहित किया करता है उसे मोहनीयकर्म कहते हैं। २ जो पुद्गल द्रव्यस्वरूप कर्म जीव को मोहित (विमूढ) करता है वह मोहनीय कर्म कहलाता है। ४ जो प्राणियों को मोहित करता है—उन्हें सत्-असत् के विवेक से रहित करता है उसका नाम मोहनीय है।

मौखर्य—१. धार्ष्ट्यप्रायं यत्किञ्चनानर्थकं बहुप्रलपितं मौखर्यम्। (स. सि. ७–३२)। २. मौखर्यमसंवद्धबहुप्रलापित्वम्। (त. भा. ७–२७)। ३. धार्ष्ट्यप्रायमबद्धबहुप्रलापित्वं मौखर्यम्। अशालीनतया यत्किञ्चनानर्थक-बहुप्रलपनं मौखर्यमिति प्रत्येतव्यम्। (त. वा. ७, ३२, ३)। ४. मौखर्यं धार्ष्ट्यात् प्रायोऽसत्यासंबद्धप्रलापित्वमुच्यते। (श्रा. प्र. १५७; श्राव. हरि. वृ. ६, पृ. ८३०)। ५. धार्ष्ट्यप्रायोऽसंवद्धबहुप्रलापित्वं मौखर्यम्। (त. श्लो. ७–३२)। ६. अशालीनतया यत्किञ्चनानर्थकं बहुप्रलपनं तन्मौखर्यम्। (चा. सा. पृ. १०)। ७. धार्ष्ट्यप्रायं बहुप्रलापित्वं मौखर्यम्। (रत्नक. टी. ३–३५)। ८. मुखमस्यास्तीति मुखरः, तद्भावः कर्म वेति मौखर्यं धार्ष्ट्यप्रायमसभ्यासत्यासंबद्धप्रलापित्वम्। अयं च पापोपदेशव्रतस्यातिचारो मौखर्ये सति पापोपदेशसम्भवात्। (ध. वि. मु. वृ. ३–३०)। ९. मौखर्यं मुखमस्यास्तीति मुखरोऽनालोचितभाषी वाचाटः, तद्भावो मौखर्यं धार्ष्ट्यप्रायमसभ्यासंवद्धबहुप्रलापित्वम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–११५; सा. ध. स्वो. टी. ५–१२; धर्मसं. मान. स्वो. वृ. २–५४, पृ. ११३)। १०. धृष्टत्वप्रायो बहुप्रलापः यत्किंचिदनर्थकं वचनं यद्वा तद्वा तद्वचनं मौखर्यमुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७–३२)। ११. मौखर्यदूषणं नाम रतप्रायं वचःशतम्। अतीव गर्हितं धार्ष्ट्याद्यद्वात्ययथं प्रजल्पनम्॥ (लाटीसं. ६, १४३)।

१ धृष्टता से प्रायः जो कुछ भी निरर्थक बहुत बकवाद किया जाता है उसका नाम मौखर्य है। यह अनर्थदण्डव्रत का एक अतिचार है। ८ धृष्टता के साथ असभ्य, असत्य व असम्बद्ध बकवाद करने को मौखर्य कहा जाता है। यह पापोपदेशव्रत (अनर्थदण्डव्रत का एक भेद) का अतिचार है, क्योंकि मुखरता के होने पर पापोपदेश की सम्भावना है।

म्रक्षित—१ ससिणिद्धेण य देयं हत्थेण य भायणेण दव्वीए। एसो मक्खिददोसो परिहरदव्वो सदा मुणिणा॥ (मूला. ६–४५)। २. तदानीमेव सिक्ता सत्यालिप्ता सती वा छिद्रसुत(?) जलप्रवाहेण वा, जलभाजनलोठनेन वा तदानीमेव लिप्ता वा म्रक्षिता। (भ. आ. विजयो. २३०)। ३. म्रक्षितस्तैलाद्यभ्यक्तस्तेन भाजनादिना दीयमानमाहारं यदि गृह्णाति म्रक्षितदोषो भवति। (मूला. वृ. ६–४३)। ४. सस्नेहहस्त-पात्रादिदत्तं यन्म्रक्षितं मतम्। (आचा. सा. ८–४६)। ५. पृथिव्युदक-वनस्पतिभिः सचित्तैरचित्तैरपि मध्वादिभिर्गर्हितैराश्लिष्टं यदन्नादि तन्म्रक्षितम्। (योगशा. स्वो. विव. ३८, पृ. १३७; धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३–२२, पृ. ४२)। ६. म्रक्षितं स्निग्धहस्ताद्यैर्दत्तं ××× । (अन. ध. ५–३०)। ७. तदानीमेव सिक्ता लिप्ता वा म्रक्षिता। (भ. आ. मूला. २३०)। ८. सस्नेहहस्त-पात्रादिना यद्दत्तं तन्म्रक्षितम्। (भावप्रा. टी. ६६)

१ चिकने हाथ, पात्र अथवा दर्वी (कलछी या चम्मच) से भोज्य पदार्थ के देने पर वह म्रक्षित नामक एषणा (अशन) दोष से दूषित होता है। २ जो वसति उसी समय जलप्रवाह से सींची गई है या लीपी गई है अथवा जलपात्र के लुढ़कने से लिप्त हुई है वह वसति म्रक्षित दोष से युक्त होने के कारण साधु के लिए अग्राह्य होती है। ५ सचित्त पृथिवी, जल और वनस्पति से तथा अचित्त भी मधु आदि निन्द्य पदार्थ से सम्बद्ध अन्न म्रक्षितदोष से दूषित होता है। यह १० एषणा दोषों में दूसरा है।

म्लेच्छ—१. से किं तं मिलिक्खू ? मिलिक्खू अणेगविहा पं० तं० सगा जवणा चिलाया सवर-बब्बर-मुरंडोट्ठ-भडग-णिण्णग-पक्कणिया- कुलक्ख-गोंड - सिंहल-पारस- गोधा-कोंच-अंवडइदमिल-चिल्लल-पुलिंद-हारोस-दोव-वोक्काणगन्धाहारवा पहलिय अज्झल-रोम-पास-पउसा मलया य वंधुया य सूयलि-कोंकणग-मेय-पल्हव-मालव-मग्गर आभासिया कणवीर ल्हसिय खसा खासिय-णेद्दूर मोंढ डोंबिल गलओस पओस

कक्केय अक्खाग हूणरोमग हूणरोमग भरु मरुय चिलाय वियवासी य एवमाइ, सेत्तं मिलिक्खू। (प्रज्ञाप. १-३७, पृ. ५५)। २. णामेण मेच्छखंडा अवसेसा होंति पंच खंडा ते। बहुविहभावकलंका जीवा मिच्छागुणा तेसुं॥ णाहल-पुलिंद-बब्बर-किरायपहुदीण सिंघलादीणं। मेच्छाण कुलेहि जुदा भणिदा ते मेच्छखंडाओ॥ (ति. प. ४-२२८८, ८९)। ३. म्लेच्छा द्विविधाः अन्तर्द्वीपजाः कर्मभूमिजाश्चेति। तत्रान्तर्द्वीपा लवणोदधेरभ्यन्तरे पार्श्वेऽष्टासु दिक्ष्वष्टौ, तदन्तरेषु चाष्टौ, हिमवच्छिखरिणोरुभयोश्च विजयार्द्धयोरन्तेष्वष्टौ। ××× कर्मभूमिजाश्च शक-यवन-शवर-पुलिन्दादयः। (स. सि. ३-३६; त. वा. ३, ३६, ४)। ४. सग-जवण-सवर-बब्बर-कायमुरुंडोड्ड-गोंड-पक्कणया। अरवाग-होण-रोमय-पारस-खसखासिया चेव॥ दुंबिलय-लउस-बोक्कस-भिल्लंध-पुलिंद - कुंच - भमररुया। कोवाय-चीण-चंचुय-मालव-दमिला कुलग्घा य॥ केक्कय-किराय-हयमुह-खरमुह-गय - तुरय-मिंढयमुहा य। हयकन्ना गयकन्ना अन्नेवि अणारिया बहवे॥ (प्रव. सारो. १५८३-८५)। ५. म्लेच्छाः अव्यक्त-भाषा-समाचाराः, 'म्लेच्छ अव्यक्तायां वाचि' इति वचनात्, भाषाग्रहणं चोपलक्षणम्, तेन शिष्टासंमत-सकलव्यवहारा म्लेच्छा इति प्रतिपत्तव्यम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३७, पृ. ५५)। ६. म्लेच्छन्ति निर्लज्जतया व्यक्तं ब्रुवन्ति इति म्लेच्छाः। (त. वृत्ति श्रुत. ३-३६)।

१ म्लेच्छ अनेक प्रकार के हैं—शक, यवन, चिलात (किरात), शबर, बब्बर, मुरुण्ड, उड्ड, भडग, निन्नग, पक्कणिय, कुलक्ष, गोण, सिंहल, पारसी, गोध, क्रौञ्च, अंबड, द्रविड़, चिल्लल, पुलिन्द, हारोष, दोब इत्यादि। २ पांच म्लेच्छखण्डों में अनेक प्रकार के भाव से कलंकित तथा दूषित जो नाहल, पुलिन्द, बर्बर, किरात और सिंहल आदि मिथ्यादृष्टि जीव रहते हैं वे म्लेच्छ कहलाते हैं। ३ अन्तरद्वीपज और कर्मभूमिज के भेद से म्लेच्छ दो प्रकार के हैं। उनमें लवणोदधि के भीतरी पार्श्व भाग में आठ दिशाओं में आठ, उनके मध्य में आठ, और हिमवान् आदि पर्वतों के पार्श्वभागों में स्थित आठ द्वीपों में जो रहा करते हैं वे अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ कहलाते हैं। शक, यवन, शवर और पुलिन्द आदि कर्मभूमिज म्लेच्छ माने जाते हैं।

यक्ष—१. यक्षाः श्यामावदाता गम्भीरास्तुन्दिला वृन्दारकाः प्रियदर्शना मानोन्मानप्रमाणयुक्ता रक्त-पाणि-पादतल-नख-तालु-जिह्वौष्ठा भास्वरमुकुटधरा नानारत्नविभूषणा वटवृक्षध्वजाः। (त. भा. ४, १३)। २. लोभभूयिष्ठाः भाण्डागारे नियुक्ताः यक्षाः। (धव. पु. १३, पृ. ३९१)। ३. यक्षा गम्भीराः प्रियदर्शना विशेषतो मानोन्मान-प्रमाणोप-पन्ना रक्तपाणि-पादतल-नख-तालुजिह्वौष्ठा भास्वर-किरीटधारिणो नानारत्नात्मकविभूषणाः। (बृहत्सं. मलय. वृ. ५८)।

१ जो वर्ण से श्याम, गम्भीर, तुन्दिल (विशाल उदर वाले) और वृन्दारक (मनोहर) होते हैं; जिनका दर्शन रुचिकर होता है, जो मान व उन्मान प्रमाण से युक्त होते हैं; जिनके हस्ततल, पादतल, नख, तालु, जीभ एवं ओष्ठ लाल होते हैं; जो चमकते हुए मुकुट के धारक होते हैं, अनेक रत्नों से विभूषित होते हैं तथा वट वृक्ष की ध्वजा से सहित होते हैं वे यक्ष कहलाते हैं। २ जो प्रचुर लोभ से युक्त होते हुए भाण्डागार (खजाना) में नियुक्त होते हैं उन्हें यक्ष कहा जाता है।

यजमान—पाक्षिकाचारसम्पन्नो धीसम्पद्बन्धुबन्धुरः। राजमान्यो वदान्यश्च यजमानो मतः प्रभुः॥ (प्रतिष्ठासा. १-११६)।

जो पाक्षिक श्रावक के आचार से विभूषित, बुद्धिमान्, राजा से सम्मान्य और उदार अथवा महान् हो वह यजमान माना जाता है।

यति—१. ××× जयमाणगो जई होइ। (व्यव. भा. पी. द्वि. वि. १२, पृ. ६)। २. यतय उपशम-क्षपकश्रेण्यारूढा भण्यन्ते। (चा. सा. पृ. २२)। ३. यः पाप-पाशनाशाय यतते स यतिर्भवेत्। (उपासका. ८६२)। ४. यो देहमात्रारामः सम्यग्विद्यानौलाभेन तृष्णा-सरित्तरणाय (अन. 'त्तारणाय') योगाय यतते यतिः। (नीतिवा. ५-२४, पृ. ५१; अन. ध. स्वो. टी. ४-१०३)। ५. चिरप्रव्रजितः साधुर्यतिः ×××। (आचा. सा. ६-८६)। ६. यते प्रयत्ने संयम-योगेषु यतमानः प्रयत्नवान् यतिः। (व्यव. भा. पी. द्वि. वि. मलय. वृ. १२, पृ. ६)। ७. तथा च हारीतः—आत्मारामो भवेद्यस्तु विद्यासेवनतत्परः।

संसारतरणार्थाय योगभाग् यतिरुच्यते ॥ (नीतिवा. टी. ५-३४)।

१ जो संयम व योग में प्रयत्न कर रहा है वह यति कहलाता है। २ जो उपशम या क्षपक श्रेणी पर आरूढ होते हैं उन्हें यति कहा जाता है। ३ जो पापरूप पाश को नष्ट करने का प्रयत्न करता है उसका नाम यति है। ४ जो शरीररूप उद्यान से युक्त होता हुआ समीचीन विद्यारूप नौका के आश्रय से तृष्णारूप नदी से पार होने के लिए प्रयत्न करता है उसे यति कहा जाता है। ५ जो दीर्घकाल से दीक्षित है उसे यति कहते हैं।

यतिदोष—यतिदोषः अस्थानविच्छेदः अकरणं वा। (आव. नि. मलय. वृ. ८८३)।

अस्थान में यति (विश्रान्ति) का विच्छेद करना, अथवा करना ही नहीं; यह ३२ सूत्रदोषों में २२वां यतिदोष है।

यतिधर्म—१. निजागमोक्तमनुष्ठानं यतीनां स्वो धर्मः। (नीतिवा. ७-१५, पृ. ८६)। २. यतिधर्मः सर्वसावद्ययोगविरतिलक्षणः। (योगशा. स्वो. विव. ३-१२४)। ३. सावज्जजोगपरिवज्जणाओ सव्वुत्तमो जईधम्मो। (आचारदि. पृ. २ उद्.); यतिधर्मो हि महाव्रत-समिति-गुप्तिधारण-परीषहोपसर्गसहन-कषाय-विषय-जय-श्रुतधारण-बाह्याभ्यन्तरतपःकरणयोगैर्दुरासदो मोक्षस्य पन्था। (आचारदि. पृ. २ उद्.)। ४. तथा चारायणः—स्वागमोक्तमनुष्ठानं यत् स धर्मो निजः स्मृतः। लिङ्गिनामेव सर्वेषां योऽन्यः सोऽधर्मलक्षणः॥ (नीतिवा. टी. ७-१५)।

१ अपने आगम में निर्दिष्ट धर्म का आचरण करना, यह यतियों का निज धर्म है। २ समस्त सावद्ययोग से विरत होना, इसका नाम यतिधर्म है।

यतिप्रायश्चित्त—१. स्वधर्मव्यतिक्रमेण यतीनां स्वागमोक्तं प्रायश्चित्तम्। (नीतिवा. ७-१६, पृ. ८६)। २. तथा च वर्गः—स्वदर्शनविरोधेन यो धर्मादिधर्ममाचरेत्। स्वागमोक्तं भवेत् तस्य प्रायश्चित्तं विशुद्धये। (नीतिवा. टी. ७-१६)।

१ अपने धर्म के विपरीत आचरण करने पर यतियों के लिए अपने आगम के अनुसार प्रायश्चित्त होता है।

यत्रकामावसायिता—यत्रकामावसायिता—यद् ब्राह्म-प्राजापत्य-दैव-गान्धर्व-यक्ष-राक्षस-पित्र्य-पैशाचेषु मानुष्येषु तैर्यग्योनिषु च स्थानान्तरेषु च यत्र यत्र कामयते तत्र तत्र आवसतीति। (न्यायकु. १-४, पृ. १११)।

ब्राह्म, प्राजापत्य, दैव, गान्धर्व, यक्ष, राक्षस, पित्र्य और पैशाच इस आठ प्रकार के देवसर्ग में; मानुष्यसर्ग में; पशु, पक्षी, मृग, सरीसृप और स्थावर इन पांच तिर्यग्भेदों में तथा और भी विभिन्न स्थानों में इच्छानुसार निवास करना; इसका नाम यत्रकामावसायिता है। यह अणिमा-लघिमादि रूप आठ प्रकार के ऐश्वर्य में अन्तिम है।

यत्स्थितिबन्ध (जट्ठिदिबंध)—जट्ठिदिबंधो णाम आबाहाए सहिदजहण्णट्ठिदिबंधो, पहाणीकयकालत्तादो। (धव. पु. ११, पृ. ३३९)।

आबाधा से सहित जघन्य स्थितिबन्ध का नाम यत्स्थितिबन्ध है।

यत्स्थितिसंक्रम—जा जंमि संकमणकाले ट्ठिति सा जट्ठिती, सा जस्स अत्थि सो संकमो जट्ठितिसंकमो। (कर्मप्र. चू. सं. क. ३१, पृ. ६०)।

कर्म की संक्रमण के समय जो स्थिति होती है वह यत्स्थिति कहलाती है और उसके संक्रमण को यत्स्थितिसंक्रमण कहते हैं।

यथाख्यातचारित्र—देखो यथाख्यातसंयत। १ मोहनीयस्य निरवशेषस्योपशमात् क्षयाच्च आत्मस्वभावावस्थापेक्षालक्षणम् अथाख्यातचारित्रमित्याख्यायते। पूर्वचारित्रानुष्ठायिभिराख्यातं न तत् प्राप्तं प्राङ्मोहक्षयोपशमाभ्यामित्यथाख्यातम्। अथशब्दस्यानन्तर्यार्थवृत्तित्वान्निरवशेषमोहक्षयोपशमानन्तरमाविर्भवतीत्यर्थः। यथाख्यातमिति वा, यथात्मस्वभावोऽवस्थितस्तथैवाख्यातत्वात्। (स. सि. ९-१८)। २. निरवशेषशान्त-क्षीणमोहत्वादथाख्यातचारित्रम्। चारित्रमोहस्य निरवशेषस्योपशमात् क्षयाच्चात्मस्वभावावस्थापेक्षलक्षणमथाख्यातचारित्रमित्याख्यायते। पूर्वचारित्रानुष्ठायिभिराख्यातम्, न तु परिप्राप्त प्राङ्मोहक्षयोपशमाभ्यामित्यथाख्यातम्। अथ शब्दस्यानन्तर्यार्थवृत्तित्वान्निरवशेषमोहक्षयोपशमानन्तरमाविर्भवतीत्यर्थः। यथाख्यातमिति वा। अथवा यथात्मस्वभावोऽवस्थितः तथैवाख्यातत्वात् यथाख्यातमित्याख्यायते। (त. वा. ९, १८, ११-१२)। ३. अथशब्दो यथा-शब्दार्थो (सिद्ध. वृ. 'र्थे') यथाख्यातः संयमो भगवता तथाऽसावेव। कथं च

आख्यातः ? अकषायः, स चैकादश-द्वादशयोर्गुणस्थानयोः, उपशान्तत्वात् क्षीणत्वाच्च कषायाभाव इति। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ६-१८)। ४. निरवशेषशान्त-क्षीणमोहत्वाद्यथाख्यातचारित्रम्, यथाख्यातमिव आत्मस्वभावाव्यतिक्रमेण ख्यातत्वात्। (त. श्लो. ६-१८)। ५. दर्शनमोहजन्यम् अश्रद्धानं शंका-कांक्षा-विचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसा-संस्तवरूपम्, चारित्रमोहजन्यौ राग-द्वेषौ, तदनुन्मिश्रं ज्ञानं दर्शनं च यथाख्यातचारित्रमित्युच्यते। (भ. आ. विजयो. ११)। ६. क्षयाच्चारित्रमोहस्य कार्त्स्न्येनोपशमात्तथा। यथाख्यातमथाख्यातं चारित्रं पंचमं जिनैः॥ (त. सा. ६-४६)। ७. चारित्रमोहस्य निरवशेषस्योपशमात् क्षयाच्चात्मस्वभावावस्थोपेक्षालक्षणमथाख्यातचारित्रम्। अथशब्दस्यानन्तयर्थार्थ-[स्यानन्तर्यार्थ-]वृत्तित्वान्निरवशेषमोहक्षयोपशमानन्तरमाविर्भवतीत्यथाख्यातम्। अथवा यथाऽऽत्मस्वभावावस्थितस्तथैवाऽऽख्यातत्वाद्यथाख्यातम्। (चा. सा. पृ. ३८)। ८. चारित्रमोहनीयस्य प्रशमे प्रक्षयेऽपि वा। संयमोऽस्ति यथाख्यातो जन्मारण्यदवानलः॥ (पंचसं. अमित. १-२४३)। ९. यथा सहजशुद्धस्वभावत्वेन निष्कम्पत्वेन निष्कषायमात्मस्वरूप तथैवाख्यातं कथित यथाख्यातचारित्रमिति। (बृ. द्रव्यसं. टी. ३५, पृ. १३३)। १०. यथा विरागं स्वं रूपं तथैवाऽऽख्यात इत्ययम्। यथाख्यातो मतोऽघौघ-घनसंघप्रभंजनः॥ (आचा. सा. ५-१४७)। ११. जहाक्खादमित्यादि—मोहनीयस्य निरवशेषस्योपशमात्क्षयाच्च यथावस्थितात्मस्वभावं यथाख्यातं, तु पुनः, चारित्रम्। तहाखादं तु पुणो—तथा तेन निरवशेषमोहोपशम-क्षयप्रकारेण प्राप्यते इत्याख्यातं तथाख्यातम्। (प्रा. चारित्रभ. टी. ४, पृ. १६४, १६५)। १२. मोहस्य निरवशेषस्य उपशमात् क्षयाद्वा आत्मस्वभावावस्था[स्थो]पेक्षालक्षणं यथाख्यातचारित्रमित्याख्यायते। (गो. जी. जी. प्र. ४७५)। १३. सर्वस्य मोहनीयस्योपशमः क्षयो वा वर्तते यस्मिन् तत् परमौदासीन्यलक्षणं जीवस्वभावदशा यथाख्यातचारित्रम्। यथा स्वभावः स्थितस्तथैव ख्यातः कथितः आत्मनो यस्मिन् चारित्रे तद्यथाख्यातमिति निरुक्तेः यथाख्यातस्य अथाख्यातमिति च द्वितीया संज्ञा वर्तते। तत्रायमर्थः—चिरन्तनचारित्रविधायिभिर्यदुत्कृष्टं चारित्रमाख्यातं कथितं तादृशं चारित्रं पूर्वं जीवेन न प्राप्तम्, अथ अनन्तरं मोहक्षयोपशमाभ्यां तु प्राप्तं यच्चारित्रं तत् अथाख्यातमुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ६-१८)।

१ समस्त मोहनीय कर्म का उपशम अथवा क्षय हो जाने से जो आत्मस्वभाव में अवस्थान होता है उसका नाम अथाख्यातचारित्र है। पूर्वचारित्र का अनुष्ठान करने वाले संयतों ने उसको कहा है, पर मोहनीय के क्षय या उपशम के पहले उसे प्राप्त नहीं किया है, इसीलिए उसको अथाख्यात कहा जाता है। यहां अथ शब्द आनन्तर्य (अनन्तरता) के अर्थ में वर्तमान है। इसका अभिप्राय यह है कि वह सम्पूर्ण मोह के क्षय अथवा उपशम के अनन्तर प्रगट होता है। अथवा दूसरे शब्द से उसे 'यथाख्यात' भी कहा जाता है, जिसका अभिप्राय है—जैसा आत्मा का स्वभाव अवस्थित है वैसा ही उसका कथन किया गया है। ३ भगवान् ने 'यथाख्यातः संयमः' अर्थात् जैसा उसे कषाय रहित संयम कहा है वैसा ही वह सार्थक नाम वाला यथाख्यातचारित्र है। वह कषाय के पूर्णतया उपशान्त हो जाने से कषाय के अभाव में ग्यारहवें गुणस्थान में तथा उसका सर्वथा क्षय हो जाने पर वह बारहवें गुणस्थान में कषाय का अभाव होने पर होता है।

यथाख्यातविहारशुद्धिसंयत—देखो यथाख्यातसंयत।

यथाख्यातसंयत—देखो यथाख्यातचारित्र। १. उवसंते खीणे वा असुहे कम्मम्मि मोहणीयम्मि। छदुमत्थो व जिणो वा जहखाओ संजओ साहू॥ (प्रा. पंचसं. १-१३३; धव. पु. १, पृ. ३७३ उद्.; गो. जी. ४७५)। २. यथाख्यातो यथा प्रतिपादितः विहारः कषायाभावरूपमनुष्ठानम्, यथाख्यातो विहारो येषां ते यथाख्यातविहाराः, यथाख्यातविहाराश्च ते शुद्धिसंयताश्च यथाख्यातविहारशुद्धिसंयताः। (धव. पु. १, पृ. ३७१)। ३. अशुभमोहनीयकर्मणि उपशान्ते क्षीणे वा यः उपशान्त-क्षीणकषायछद्मस्थः सयोगायोगजिनो वा सः, तु पुनः, यथाख्यातसंयतो भवति। (गो. जी. प्र. ४७५)।

१ अशुभ मोहनीय कर्म के उपशम अथवा क्षय के हो जाने पर छद्मस्थ (११-१२वें गुणस्थानवर्ती) अथवा जिन (१३-१४वें गुणस्थानवर्ती) यथाख्यातसंयत कहलाते हैं। २ विहार का अर्थ कषाय के

अभावरूप आचरण है, परमागम में प्रतिपादित वह आचरण (चारित्र) जिन शुद्धि युक्त संयतों के होता है उन्हें यथाख्यातविहार-शुद्धि-संयत कहा जाता है।

यथाछन्दमुनि—१. उत्सूत्रमनुपदिष्टं स्वेच्छाविकल्पितं यो निरूपयति सोऽभिधीयते यथाछन्द इति। (भ. आ. विजयो. १९४९)। २. यथाच्छन्दोऽभिप्राय इच्छा तयैवागमनिरपेक्षं यो वर्तते स यथाच्छन्दः। (व्यव. भा. मलय. वृ. पी. तृ. वि. १०७)।

१ जो आगम में अनुपदिष्ट सूत्रविरुद्ध तत्त्व का अपनी मनगढ़न्त कल्पना के अनुसार निरूपण करता है उसे यथाछन्द कहा जाता है। २ छन्द का अर्थ अभिप्राय या इच्छा है, जो आगम की अपेक्षा न करके अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति किया करता है उसे यथाछन्द कहते हैं।

यथाजात—यथाजातो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहचिन्ताव्यावृत्तः। (रत्नक. टी. ५–१८)।

बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह की चिन्ता से जो मुक्त हो चुका है उसे यथाजात—शिशु के समान निर्द्वन्द्व कहा जाता है।

यथातथानुपूर्वी—जमणुलोभ-विलोमेहि विणा जहा तहा उच्चदि सा जत्थतत्थाणुपुव्वी। (धव. पु. १, पृ. ७३); अणुलोभ-विलोमेहि विणा परूवणा जहातहाणुपुव्वी। (धव. पु. ९, पृ. १३५)।

अनुरूप व प्रतिरूप क्रम के बिना जो प्ररूपणा की जाती है उसे यथातथानुपूर्वी कहते हैं।

यथानुपूर्व—यथानुपूर्वी यथानुपरिपाटी इत्यनर्थान्तरम्। तत्र भवं श्रुतज्ञानं द्रव्यश्रुतं वा यथानुपूर्वम्। सर्वासु पुरुषव्यक्तिषु स्थितं श्रुतज्ञानं द्रव्यश्रुतं च यथानुपरिपाट्या सर्वकालमवस्थितमित्यर्थः। (धव. पु. १३, पृ. २८९)।

यथानुपूर्वी और यथानुपरिपाटी ये समानार्थक शब्द हैं। यथानुपूर्वी में जो श्रुतज्ञान अथवा द्रव्यश्रुत होता है उसे यथानुपूर्व कहते हैं। अभिप्राय यह है कि सभी पुरुष व्यक्तियों में स्थित श्रुतज्ञान और द्रव्यश्रुत यथानुपरिपाटी से सर्वकाल अवस्थित रहता है।

यथानुमार्ग—यथा स्थिताः जीवादयः पदार्थाः तथा अनुमृग्यन्ते अन्विष्यन्ते अनेनेति यथानुमार्गः श्रुतज्ञानम्। (धव. पु. १३, पृ. २८९)।

जिसके द्वारा यथावस्थित जीवादिपदार्थ खोजे जाते हैं उसका नाम यथानुमार्ग है। यह श्रुतज्ञान का नामान्तर है।

यथाप्रवृत्तकरण—अनादिसंसिद्धिनैव प्रकारेण प्रवृत्तं यथाप्रवृत्तम्। क्रियते कर्मक्षपणमनेनेति करणम्, यथाप्रवृत्तं च तत्करणं च यथाप्रवृत्तकरणम्, अनादिकालात् कर्म्मक्षपणाय प्रवृत्तो गिरिसरिदुपलघोलना [न्यायेन] कल्पोऽध्यवसायविशेषो यथाप्रवृत्तकरणमिति। (आव. नि. मलय. वृ. १०६)।

यथाप्रवृत्त का अर्थ 'अनादिसिद्ध प्रकार से प्रवृत्ति में आया' है तथा करण का अर्थ है कर्मक्षपण का अतिशयित कारण, अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार पर्वत की नदी में पड़े पाषाणों में से कुछ विना किसी प्रकार के प्रयोग के घर्षणवश स्वयमेव गोल हो जाते हैं उसी प्रकार अनादि काल से कर्मक्षपण के लिए जो अध्यवसाय में प्रवृत्त हैं उसे यथाप्रवृत्तकरण जानना चाहिए।

यन्त्र—१. सीह-वग्घधरणट्ठमोड्डिदमब्भंतरकयछालियं जंतं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३४)। २. सिंह-व्याघ्रादिधारणार्थमभ्यन्तरीकृतछागादिजीवं काष्ठादिरचितं तत्पादनिक्षेपमात्रकवाटसंपुटीकरणदक्षसूत्रकीलितं यंत्रम्। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. ३०३)।

१ सिंह व व्याघ्र आदि के पकड़ने के लिए जिसके भीतर बकरे को रखा जाता है उसे यंत्र कहा जाता है।

यन्त्रपीडाकर्म—१. तिलेक्षु-सर्षपैरण्ड-जलयन्त्रादिपीडनम्। दलतैलस्य च कृतिर्यन्त्रपीडा प्रकीर्तिता॥ (त्रि. श. पु. च. ६, ३, ३४५; योगशा. ३–१११)। २. यन्त्रपीडाकर्म तिलयंत्रादिपीडनम्, तिलादिकं च दत्त्वा तैलादिप्रतिग्रहणम्। तत्कर्मणश्च पीलनाय तिलादिक्षोदात्तद्गतत्रसघाताच्च दुष्टत्वम्। (सा. ध. स्वो. टी. ५–२१)।

१ तिल, ईख, सरसों, एरण्डबीज और जल इनके यंत्र (मशीन) द्वारा पीलन करने तथा तेल निकालने के लिए तिलों के देने को यंत्रपीडाकर्म कहते हैं।

यम—१. ××× यावज्जीवं यमो ध्रियते। (रत्नक. ३–४१)। २. यावज्जीवं यमो ज्ञेयः × ××॥ उपासका. ७६१; धर्मसं. श्रा. ७–१९)।

३. यमस्तत्र यथा यावज्जीवनं प्रतिपालनम्। दैवाद् घोरोपसर्गेऽपि दुःखे वा मरणावधि ॥ (लाटीसं. ५, १५६)।

१ भोग और उपभोग का प्रमाण करने के लिए जो जीवन पर्यन्त के लिए नियम किया जाता है उसे यम कहा जाता है।

यव—१. यूकाभिस्तु यवोऽष्टाभिः ××× ॥ (ह. पु ७–४०)। २. अष्टभिः सिद्धार्थैः पिण्डितैः एको यवः। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३८)।

१ आठ जूओं का एक यव (मापविशेष) होता है। २ आठ सरसों का एक यव होता है।

यवमध्य—१. अष्टौ यूका एकं यवमध्यम्। (त. वा. ३, ३८, ६)। २. योगो चेव जवो, तस्स मज्झं जवमज्झं, अट्ठसमइयजोगट्ठाणाणि त्ति उत्तं होदि। (धव. पु. १०, पृ. ५६); अट्ठसमयपाओग्गाणं सेडीए असंखेज्जदिभागमेत्तजोगट्ठाणाणं जोगजवमज्झमिदि सण्णा। ××× जोगो चेव जवमज्झं जोगजवमज्झं। ××× अथवा जो जोगजवस्स मज्झं अट्ठसमयकालो सो जोगजवमज्झं। (धव. पु. १०, पृ. २३६); जवमज्झं णाम अट्ठसमयपाओग्गजोगट्ठाणाणि। (धव. पु. १४, पृ. ४०२)।

१ आठ जूओं का एक यवमध्य (मापविशेष) होता है। २ योगरूप यव के मध्य को यवमध्य कहा जाता है। ××× श्रेणि के असंख्यातवें भाग मात्र योगस्थानों का नाम यवमध्य है। अथवा योगरूप यव के आठ समय काल वाले काल को योगमध्य जानना चाहिए।

यश—देखो यशःकीर्तिनाम। १. यशो नाम गुणः। (त. वा. ६, ११, ३८)। २. पराक्रमकृतं यशः। (श्रा. प्र. टी. २५)। ३. यशः पराक्रमकृतम्, पराक्रमसमुत्थः साधुवाद इति भावः। (आव. नि. मलय. वृ. १०८७)। ४. सर्वदिग्गामिनी पराक्रमकृता वा सर्वजनोत्कीर्तनीयगुणता यशः ×××। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३)।

१ एक विशेष गुण का नाम यश है। २ पराक्रम के द्वारा जो ख्याति होती है उसका नाम यश है। ४ कीर्तनीय गुणों की जो ख्याति सब दिशाओं में फैलती है, अथवा जो पराक्रम के आधार से गुणों का कीर्तन होता है, उसे यश कहा जाता है।

यशःकीर्तिनामकर्म—देखो यश। १. पुण्यगुणख्यापनकारणं यशःकीर्तिनाम। (स. सि. ८-११; भ. आ. मूला. २१२१)। २. पुण्यगुणख्यापनकारणं यशःकीर्तिनाम। पुण्यगुणानां ख्यापनं यदुदयाद् भवति तद् यशःकीर्तिनाम। (त. वा. ८, ११, ३८)। ३. जसो गुणो, तस्स उब्भावणं कित्ती। जस्स कम्मस्स उदएण संताणमसंताणं वा गुणाणमुब्भावणं लोगेहि कीरदि तस्स कम्मस्स जसकित्तिसण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ६६); जस्स कम्मस्सुदएण जसो कित्तिज्जई कहिज्जइ जणवयेण तं जसगित्तिणामं। (धव. पु. १३, पृ. ३६६)। ४. पुण्यगुणख्यापनकारणं यशस्कीर्तिनाम। यशो गुणविशेषः, कीर्तिस्तस्य शब्दनमिति। (त. श्लो. ८–११)। ५. पुण्यगुणख्यापनकारणं यशःकीर्तिनाम, अथवा यस्य कर्मण उदयात् सद्भूतानां [-नामसद्भूतानां] च ख्यापनं भवति तद्यशःकीर्तिनाम। (मूला. वृ. १२–१९६)। ६. तथा तपःशौर्य-त्यागादिना समुपार्जितेन यशसा कीर्तनं संशब्दनं यशःकीर्तिः, यद्वा यशः सामान्येन ख्यातिः, कीर्तिः गुणोत्कीर्तनरूपप्रशंसा, अथ च सर्वदिग्गामिनी पराक्रमकृता वा सर्वजनोत्कीर्तनीयगुणता यशः, एकदिग्गामिनी पुण्यकृता वा कीर्तिः, ते यदुदयवशात् भवतस्तद्यशःकीर्तिनाम। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७५)। ७. पुण्यगुणकीर्तनकारणं यशःकीर्तिनाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८–११)।

१ जो नामकर्म पवित्र गुणों की ख्याति का कारण है उसे यशःकीर्तिनामकर्म कहते हैं। ६ तप, शूरता और त्याग (दान) इत्यादि के द्वारा जिस यश को उपार्जित किया जाता है उसको जो शब्दों के द्वारा प्रगट किया जाता है उसका नाम यशःकीर्ति है। अथवा पराक्रम के आश्रय से सर्व जन के द्वारा कीर्तनीय गुणों का समस्त दिशाओं में फैलना, इसका नाम यश तथा पुण्य के प्रभाव से एक ही दिशा में उन गुणों का फैलना, इसका नाम कीर्ति है। जिसके उदय से यश और कीर्ति दोनों होते हैं उसे यशःकीर्तिनामकर्म कहा जाता है।

यष्टा—भाव-पुष्पैर्यजेद्देवं व्रत-पुष्पैर्वपुर्गृहम्। क्षमा-पुष्पैर्मनोवह्निं यः स यष्टा सतां मतः ॥ (उपासका. ८८२)।

जो भावरूप पुष्पों से देव की, व्रतरूप पुष्पों से

शरीररूप गृह की और क्षमारूप पुष्पों से मनरूप अग्नि की पूजा करता है उसे यष्टा माना गया है।

याचना—याचना भिक्षणं तथाविधे प्रयोजने मार्गणं वा। (समवा. अभय. वृ. २२)।

भिक्षा मांगना अथवा वैसे प्रयोजन के होने पर उसका अन्वेषण करना, इसका नाम याचनापरीषह है। साधुजन ऐसी परीषह पर विजय प्राप्त किया करते हैं।

याचनापरीषहजय—१. बाह्याभ्यन्तरतपोऽनुष्ठानपरस्य तद्भावनावशेन निस्सारीकृतमूर्तेः पटुतपनतापनिष्पीतसारतरोरिव विरहितच्छायस्य त्वगस्थिसिराजालमात्रतनुयन्त्रस्य प्राणात्यये सत्यप्याहारवसति-भेषजादीनि दीनाभिधान-मुखवैवर्ण्याङ्गसंज्ञादिभिरयाचमानस्य भिक्षाकालेऽपि विद्युदुद्योतवत् दुरुपलक्ष्यमूर्तेर्याचनापरीषहसहनमवसीयते। (स. सि. ९-९)। २. प्राणात्ययेप्याहारादिषु दीनाभिधाननिवृत्तिर्याचनाविजयः। क्षुधाध्वपरिश्रम-तपोरोगादिभिः प्रच्यावितवीर्यस्य शुष्कपादपस्येव निरार्द्रमूर्तेरुन्नतास्थि-स्नायुजालस्य निम्नाक्षिपुटपरिशुष्काधरोष्ठ-क्षामपाण्डुकपोलस्य चर्मवत्संकुचितांगोपाङ्गत्वचः शिथिलजानु-गुल्फ-कटि-बाहुयंत्रस्य देश-काल-क्रमोपपन्नकल्पादायिनः वाचंयमस्य मौनिसमस्य वा शरीरसन्दर्शनमात्रव्यापारस्य ऊर्जितसत्त्वस्य प्रज्ञाप्यायितमनसः प्राणात्ययेऽप्याहार-वसति-भेषजादीनि दीनाभिधान-मुखवैवर्ण्यांगसंज्ञादिभिरयाचमानस्य रत्नवणिजो मणिसन्दर्शनमिव स्वशरीरप्रकाशनमकृपणं मन्यमानस्य वन्दमानं प्रति स्वकरविकसनमिव पाणिपुटधारणमदीनमिति गणयतः याचनसहनमवसीयते। (त. वा. ९, ९, १९)। ३. परदत्तोपजीवित्वाद् यतीनां नास्त्ययाचितम्। यतोऽतो याचनादुःखं क्षाम्येन्नेच्छेदगारिताम्॥ (आव. नि. हरि. वृ. ९१८, पृ. ४०३); याचनं मार्गणम्, भिक्षोर्हि वस्त्रपात्रान्नपान-प्रतिश्रयादि परतो लब्धव्यं सर्वमेव, शालीनतया च न याञ्चां प्रत्याद्रियते, साधुना तु प्रागल्भ्यभाजा सञ्जाते कार्ये स्वधर्म-कायपरिपालनाय याचनमवश्यं कार्यमिति, एवमनुतिष्ठता याञ्चापरीषहजयः। (आव. सू. हरि. वृ. अ. ४, पृ. ६५७)। ४. प्राणात्ययेऽप्याहारादिषु दीनाभिधाननिवृत्तिर्याचनाविजयः। (त. श्लो. ९-९)। ५. 'जायणं' अयाञ्चा, अकारोऽत्र लुप्तो दृष्टव्यः, प्राणात्ययेऽपि रोगादिभिः पीडितस्यायाचयतः अयाञ्चापीडा। अथवा वरं मृतो न कश्चिद्याचितव्यः शरीरादिसंदर्शनादिभिः, याञ्चा तु नाम महापीडा ××× तस्याः क्षमणं सहनं ××× ततः परीषहजयो भवति। (मूला. वृ. ५-५८)। ६. प्राज्यं राज्यमुदस्य शाश्वतपदप्राप्त्यै तपोबृंहणे, देहो हेतुरयं हि भुक्त्यनुगता चास्य स्थितिस्तत्कृतः। भिक्षायै भ्रमणं ह्रियः पदमिदं यस्मान्महार्थास्पदं नीचैर्वृत्तिरनिन्दितेति विचरन् याञ्चाजयः स्यान्मुनिः॥ (आचा. सा. ७-२३)। ७. भृशं कृशः क्षुन्मुखसन्नवीर्यः, शम्पेव दातॄन् प्रतिभासितात्मा। ग्रासं पुटीकृत्य करावयाञ्चाव्रतोऽपि गृह्णन् सह याचनार्तिम्॥ (अन. ध. ६-१०२)। ८. क्षुदध्वश्रम-तपोरोगादिभिः प्रच्यावितवीर्यस्यापि शरीरसंदर्शनमात्रव्यापारस्य प्राणात्ययेऽप्याहार-वसति-भेषजादीनाभि-[-दीनि दीनाभि-] धान-मुखवैवर्ण्यांगसंज्ञादिभिरयाचमानस्य याचनसहनम्। (आरा. सा. टी. ४०)।

१ बाह्य और अभ्यन्तर तप के आचरण से जिसका शरीर निर्बल हो चुका है, तीक्ष्ण सूर्य के ताप से मुरझाये हुए छायाविहीन वृक्ष के समान जिसके शरीर की हड्डियां व शिरायें स्पष्ट दिखने लगी हैं, प्राण जाने पर भी जो दीन बनकर आहार, वसति एवं औषध आदि की याचना नहीं करता है, तथा भिक्षा के समय भी बिजली की चमक के समान अदृश्य सा रहता है—क्षणिक दिखायी देता है, वह याचनापरीषह का विजेता होता है। ३ याचना का अर्थ अन्वेषण है। भिक्षु की वस्त्र, पात्र, अन्न-पान एवं वसति आदि सब दूसरों से—गृहस्थों से—प्राप्त हुआ करते हैं, परन्तु धृष्टता से रहित या लज्जालु साधु याचना में आदरभाव नहीं रखता। धृष्टता युक्त (धीर) साधु कार्य के होने पर अपने धर्म व शरीर के संरक्षण के लिए याचना अवश्य करता है, इस प्रकार आचरण करने वाला याचनापरीषह का विजेता होता है।

याचनापरीषहसहन—देखो याचनापरीषहजय।

याचनीभाषा—१. जायणि मग्गणी भण्णति, यथाऽस्माकं भिक्षां प्रयच्छ एवमादि। (दशवै. चू. पृ. २३९)। २. ज्ञानोपकरणं पिच्छादिकं वा भवद्भिर्दातव्यम् इत्यादिका याचनी। (भ. आ. विजयो. ११९५)। ३. याच्यतेऽनया याचना। (मूला. वृ.

५–११८) । ४. याञ्चा मयार्थितं किंचिद्यत्तद्देयमिति त्वया । (आचा. सा. ५–८७) । ५. याचनी प्रार्थनाभाषा, यथा इदं मे देहीत्यादिः । (गो. जी. म. प्र. २२५) । ६. इदं मह्यं देहीति प्रार्थनाभाषा याचनी । (गो. जी. जी. प्र. २२५) । ७. सा जायणी य णेया जं इच्छियपत्थणापरं वयणम् । (भाषार. ७४) ।

१ हमें भिक्षा दो, इस प्रकार मार्गणी—मांगने रूप भाषा को, याचनीभाषा कहते हैं। २ ज्ञान के उपकरण (शास्त्र आदि) अथवा पिच्छी आदि आप दीजिए, इस प्रकार की भाषा याचनीभाषा कहलाती है।

याञ्चाभाषा—देखो याचनीभाषा।

याञ्चापरीषहजय— देखो याचनापरीषहजय।

यात्राभृतक—यात्रा देशान्तरगमनम्, तस्यां सहाय इति भ्रियते यः स यात्राभृतकः । ××× इह गाथे—××× । जत्ता उ होइ गमणं उभयं वा एत्तियधणेणं । (स्थाना. अभय. वृ. २७१) ।

यात्रा का अर्थ गमन है, उसमें सहायक मानकर जिसका भरण-पोषण किया जाता है उसे यात्राभृतक कहते हैं।

यान—अभ्युदयो यानम् । (नीतिवा. २८–४५, पृ. ३२४) ।

शत्रु के ऊपर जब गमन किया जाता है—चढ़ाई की जाती है—तब अभ्युदय किया जाता है। इसीलिए अभ्युदय को यान कहा जाता है अथवा शत्रु को बलवान् जानकर अन्यत्र जो गमन किया जाता है उसे यान जानना चाहिए।

यावत्कथिकपरिहारविशुद्धिक—ये पुनः कल्पसमाप्त्यनन्तरमव्यवधानेन जिनकल्पं प्रतिपत्स्यन्ते ते यावत्कथिकाः । उक्तं च—इत्तरिय थेरकप्पे जिणकप्पे आवकहियत्ति । (आव. नि. मलय. वृ. ११४, पृ. १२२) ।

जो परिहारविशुद्धिसंयत कल्प समाप्ति के अनन्तर बिना किसी व्यवधान के जिनकल्प को स्वीकार करने के इच्छुक रहते हैं वे यावत्कथिकपरिहारविशुद्धिसंयत कहलाते हैं।

यावानुद्देश—यावान् कश्चिदागच्छति तस्मै सर्वस्मै दास्यामीत्युद्दिश्य यत्कृतमन्नं स यावानुद्देशः । (मूला. वृ. ६–७) ।

जो कोई भी आवेगा उस सबके लिए मैं दूंगा, इस प्रकार के उद्देश से जो भोजन बनाया जाता है उसको यावान्-उद्देश कहा जाता है। यह चार प्रकार के औद्देशिक में प्रथम है।

युक्ताहार—एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जधा लद्धं । चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधु-मंसं । (प्रव. सा. ३–२९) ।

भिक्षावृत्ति से जिस प्रकार का भोजन प्राप्त हुआ है उसको रस की अपेक्षा न करके एक ही समय में व उदर की पूर्णता से रहित—मात्रा से कुछ कम—ही ग्रहण करना तथा मधु-मांस को छोड़ कर दिन में ही लेना—रात में नहीं लेना, यह युक्ताहार कहलाता है।

युग (कालविशेष)—१. ××× पंचेहिं वरिसेहिं जुगं ॥ (ति. प. ४–२९०) । २. पंचसंवत्सरं युगम् । (आव. भा. हरि. वृ. १९८, पृ. ४६५; आव. भा. मलय. वृ. २००, पृ. ५६३) । ३. पंचभिर्वर्षैर्युगः । (धव. पु. ४, पृ. ३२०); पंचहि संवच्छरेहि जुगो । (धव. पु. १३, पृ. ३००) । ४. ××× पञ्चाब्दानि युगं पुनः । (ह. पु. ७–२२) । ५. पंचहिं वच्छरेहिं जुगु वुच्चइ । (म. पु. पुष्प. २-५, पृ. २३) । ६. युगं पंचवर्षात्मकम् । (सूर्यप्र. मलय. वृ. १०, २०, ५४, पृ. १५४) । ७. ××× पंच य वस्साणि होंति जुगमेगं । (जं. दी. प. १३–८) ।

१ पांच वर्षों का एक युग होता है।

युग (शकटविशेष)—गरुवत्तणेण महल्लत्तणेण य जं तुरय-वेसरादीहि वुब्भदि तं जुगं णाम । (धव. पु. १४, पृ. ३८) ।

भारी और अतिशय महान् होने से जिसे घोड़ा व खच्चर आदि खींचा करते हैं उसे युग कहते हैं।

युगदोष—१. तथा यो युगनिपीडितबलीवर्दवत् ग्रीवां प्रसार्य तिष्ठति कायोत्सर्गेण तस्य युगदोषः । (मूला. वृ. ७–१७१) । २. ग्रीवां प्रसार्यावस्थानं युगार्तगववद्युगः । (अन. ध. ८–११७) ।

१ युग (गाड़ी व हल का वह भाग जो बैलों के कन्धे पर रखा जाता है) से पीड़ित बैल के समान जो गर्दन को फैलाकर कायोत्सर्ग से स्थित होता है वह कायोत्सर्ग के युगदोष से दूषित होता है।

युगनद्ध—युगमिव नद्धो युगनद्धः, यथा युगं वृषप-

शरीररूप गृह की और क्षमारूप पुष्पों से मनरूप अग्नि की पूजा करता है उसे यष्टा माना गया है।

याचना—याचना भिक्षणं तथाविधे प्रयोजने मार्गणं वा। (समवा. अभय. वृ. २२)।

भिक्षा मांगना अथवा वैसे प्रयोजन के होने पर उसका अन्वेषण करना, इसका नाम याचनापरीषह है। साधुजन ऐसी परीषह पर विजय प्राप्त किया करते हैं।

याचनापरीषहजय—१. बाह्याभ्यन्तरतपोऽनुष्ठानपरस्य तद्भावनावशेन निस्सारीकृतमूर्तेः पटुतपनतापनिष्पीतसारतरोरिव विरहितछायस्य त्वगस्थिसिराजालमात्रतनुयन्त्रस्य प्राणात्यये सत्यप्याहार-वसति-भेषजादीनि दीनाभिधान-मुखवैवर्ण्याङ्गसंज्ञादिभिरयाचमानस्य भिक्षाकालेऽपि विद्युदुद्योतवत् दुरुपलक्ष्यमूर्तेर्याचनापरीषहसहनमवसीयते। (स. सि. ९-९)। २. प्राणात्ययेप्याहारादिषु दीनाभिधाननिवृत्तिर्याचनाविजयः। क्षुधाध्वपरिश्रम-तपोरोगादिभिः प्रच्यावितवीर्यस्य शुष्कपादपस्येव निरार्द्रमूर्तेरुन्नतास्थि-स्नायुजालस्य निम्नाक्षिपुटपरिशुष्काधरोष्ठ-क्षामपाण्डुकपोलस्य चर्मवत्संकुचितांगोपाङ्गत्वचः शिथिलजानु-गुल्फ-कटि-बाहुयंत्रस्य देश-काल-क्रमोपपन्नकल्पादायिनः वाचंयमस्य मौनिसमस्य वा शरीरसन्दर्शनमात्रव्यापारस्य ऊर्जितसत्त्वस्य प्रज्ञाप्यायितमनसः प्राणात्ययेऽप्याहार-वसति-भेषजादीनि दीनाभिधान-मुखवैवर्ण्यांगसंज्ञादिभिरयाचमानस्य रत्नवणिजो मणिसन्दर्शनमिव स्वशरीरप्रकाशनमकृपणं मन्यमानस्य वन्दमानं प्रति स्वकरविकसनमिव पाणिपुटधारणमदीनमिति गणयतः याचनसहनमवसीयते। (त. वा. ९, ९, १९)। ३. परदत्तोपजीवित्वाद् यतीनां नास्त्ययाचितम्। यतोऽतो याचनादुःखं क्षाम्येन्नेच्छेदगारिताम्॥ (आव. नि. हरि. वृ. ९१८, पृ. ४०३); याचनं मार्गणम्, भिक्षोर्हि वस्त्र-पात्रान्नपान-प्रतिश्रयादि परतो लब्धव्यं सर्वमेव, शालीनतया च न याञ्चां प्रत्याद्रियते, साधुना तु प्रागल्भ्यभाजा सञ्जाते कार्ये स्वधर्म-कायपरिपालनाय याचनमवश्यं कार्यमिति, एवमनुतिष्ठता याञ्चापरीषहजयः। (आव. सू. हरि. वृ. अ. ४, पृ. ६५७)। ४. प्राणात्ययेऽप्याहारादिषु दीनाभिधाननिवृत्तिर्याचनाविजयः। (त. श्लो. ९-९)। ५. 'जायणं' अयाञ्चा, अकारोऽत्र लुप्तो दृष्टव्यः, प्राणात्ययेऽपि रोगादिभिः पीडितस्यायाचयतः अयाञ्चापीडा। अथवा वरं मृतो न कश्चिद्याचितव्यः शरीरादिसंदर्शनादिभिः, याञ्चा तु नाम महापीडा ××× तस्याः क्षमणं सहनं ××× ततः परीषहजयो भवति। (मूला. वृ. ५-५८)। ६. प्राज्यं राज्यमुदस्य शाश्वतपदप्राप्त्यै तपोबृंहणे, देहो हेतुरयं हि भुक्त्यनुगता चास्य स्थितिस्तत्कृतः। भिक्षार्थं भ्रमणं ह्रियः पदमिदं यस्मान्महार्थास्पदं नीचैर्वृत्तिरनिन्दितेति विचरन् याञ्चाजयः स्यान्मुनिः॥ (आचा. सा. ७-२३)। ७. भृशं कृशः क्षुन्मुखसन्नवीर्यः, शम्पेव दातॄन् प्रतिभासितात्मा। ग्रासं पुटीकृत्य करावयाञ्चाव्रतोऽपि गृह्णन् सह याचनार्तिम्॥ (अन. ध. ६-१०२)। ८. क्षुदध्वश्रम-तपोरोगादिभिः प्रच्यावितवीर्यस्यापि शरीरसंदर्शनमात्रव्यापारस्य प्राणात्ययेऽप्याहार-वसति-भेषजादीनभि-[-दीनि दीनाभि-] धान-मुखवैवर्ण्यांगसंज्ञादिभिरयाचमानस्य याचनसहनम्। (आरा. सा. टी. ४०)।

१ बाह्य और अभ्यन्तर तप के आचरण से जिसका शरीर निर्बल हो चुका है, तीक्ष्ण सूर्य के ताप से मुरझाये हुए छायाविहीन वृक्ष के समान जिसके शरीर की हड्डियां व शिरायें स्पष्ट दिखने लगी हैं, प्राण जाने पर भी जो दीन बनकर आहार, वसति एवं औषध आदि की याचना नहीं करता है, तथा भिक्षा के समय भी बिजली की चमक के समान अदृश्य सा रहता है—क्षणिक दिखायी देता है, वह याचनापरीषह का विजेता होता है। ३ याचना का अर्थ अन्वेषण है। भिक्षु को वस्त्र, पात्र, अन्न-पान एवं वसति आदि सब दूसरों से—गृहस्थों से—प्राप्त हुआ करते हैं, परन्तु धृष्टता से रहित या लज्जालु साधु याचना में आदरभाव नहीं रखता। धृष्टता युक्त (धीर) साधु कार्य के होने पर अपने धर्म व शरीर के संरक्षण के लिए याचना अवश्य करता है, इस प्रकार आचरण करने वाला याचनापरीषह का विजेता होता है।

याचनापरीषहसहन—देखो याचनापरीषहजय।

याचनीभाषा—१. जायणि मग्गणी भण्णति, यथाऽस्माकं भिक्षां प्रयच्छ एवमादि। (दशवै. चू. पृ. २३९)। २. ज्ञानोपकरणं पिच्छादिकं वा भवद्भिर्दातव्यम् इत्यादिका याचनी। (भ. आ. विजयो. ११९५)। ३. याच्यतेऽनया याचना। (मूला. वृ.

५–११८)। ४. याञ्चा मयाऽर्थितं किंचिद्यत्तद्देय-मिति त्वया। (आचा. सा. ५–८७)। ५. याचनी प्रार्थनाभाषा, यथा इदं मे देहीत्यादिः। (गो. जी. म. प्र. २२५)। ६. इदं मह्यं देहीति प्रार्थनाभाषा याचनी। (गो. जी. जी. प्र. २२५)। ७. सा जायणी य णेया जं इच्छियपत्थणापरं वयणम्। (भाषार. ७४)।

१ हमें भिक्षा दो, इस प्रकार मार्गणी—मांगने रूप भाषा को, याचनीभाषा कहते हैं। २ ज्ञान के उपकरण (शास्त्र आदि) अथवा पिच्छी आदि आप दीजिए, इस प्रकार की भाषा याचनीभाषा कहलाती है।

याञ्चाभाषा—देखो याचनीभाषा।

याञ्चापरीषहजय— देखो याचनापरीषहजय।

यात्राभृतक—यात्रा देशान्तरगमनम्, तस्यां सहाय इति भ्रियते यः स यात्राभृतकः। ××× इह गाथे—×××। जत्ता उ होइ गमणं उभयं वा एत्तियधणेणं। (स्थाना. अभय. वृ. २७१)।

यात्रा का अर्थ गमन है, उसमें सहायक मानकर जिसका भरण-पोषण किया जाता है उसे यात्राभृतक कहते हैं।

यान—अभ्युदयो यानम्। (नीतिवा. २८–४५, पृ. ३२४)।

शत्रु के ऊपर जब गमन किया जाता है—चढ़ाई की जाती है—तब अभ्युदय किया जाता है। इसीलिए अभ्युदय को यान कहा जाता है अथवा शत्रु को बलवान् जानकर अन्यत्र जो गमन किया जाता है उसे यान जानना चाहिए।

यावत्कथिकपरिहारविशुद्धिक—ये पुनः कल्पसमाप्त्यनन्तरमव्यवधानेन जिनकल्पं प्रतिपत्स्यन्ते ते यावत्कथिकाः। उक्तं च—इत्तरिय थेरकप्पे जिणकप्पे आवकहियत्ति। (आव. नि. मलय. वृ. ११४, पृ. १२२)।

जो परिहारविशुद्धिसंयत कल्प समाप्ति के अनन्तर बिना किसी व्यवधान के जिनकल्प को स्वीकार करने के इच्छुक रहते हैं वे यावत्कथिकपरिहारविशुद्धिसंयत कहलाते हैं।

यावानुद्देश—यावान् कश्चिदागच्छति तस्मै सर्वस्मै दास्यामीत्युद्दिश्य यत्कृतमन्नं स यावानुद्देशः। (मूला. वृ. ६–७)।

जो कोई भी आवेगा उस सबके लिए मैं दूंगा, इस प्रकार के उद्देश से जो भोजन बनाया जाता है उसको यावान्-उद्देश कहा जाता है। यह चार प्रकार के औद्देशिक में प्रथम है।

युक्ताहार—एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जधा लद्धं। चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधु-मंसं। (प्रव. सा. ३–२९)।

भिक्षावृत्ति से जिस प्रकार का भोजन प्राप्त हुआ है उसको रस की अपेक्षा न करके एक ही समय में व उदर की पूर्णता से रहित—मात्रा से कुछ कम—ही ग्रहण करना तथा मधु-मांस को छोड़ कर दिन में ही लेना—रात में नहीं लेना, यह युक्ताहार कहलाता है।

युग (कालविशेष)—१. ××× पंचेहि वरिसेहि जुगं॥ (ति. प. ४–२९०)। २. पंचसंवत्सरं युगम्। (आव. भा. हरि. वृ. १९८, पृ. ४६५; आव. भा. मलय. वृ. २००, पृ. ५६३)। ३. पंचभिर्वर्षैर्युगः। (धव. पु. ४, पृ. ३२०); पंचहि संवच्छरेहि जुगो। (धव. पु. १३, पृ. ३००)। ४. ××× पञ्चाब्दानि युगं पुनः। (ह. पु. ७–२२)। ५. पंचहिं वच्छरेहिं जुगु वुच्चइ। (म. पु. पुष्प. २-५, पृ. २३)। ६. युगं पंचवर्षात्मकम्। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १०, २०, ५४, पृ. १५४)। ७. ××× पंच य वस्साणि होंति जुगमेगं। (जं. दी. प. १३–८)।

१ पांच वर्षों का एक युग होता है।

युग (शकटविशेष)—गधवत्तणेण महल्लत्तणेण य जं तुरय-वेसरादीहि वुब्भदि तं जुगं णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३८)।

भारी और अतिशय महान् होने से जिसे घोड़ा व खच्चर आदि खींचा करते हैं उसे युग कहते हैं।

युगदोष—१. तथा यो युगनिपीडितबलीवर्दवत् ग्रीवां प्रसार्य तिष्ठति कायोत्सर्गेण तस्य युगदोषः। (मूला. वृ. ७–१७१)। २. ग्रीवां प्रसार्यावस्थानं युगार्तगववद्युगः। (अन. ध. ८–११७)।

१ युग (गाड़ी व हल का वह भाग जो बैलों के कन्धे पर रखा जाता है) से पीड़ित बैल के समान जो गर्दन को फैलाकर कायोत्सर्ग से स्थित होता है वह कायोत्सर्ग के युगदोष से दूषित होता है।

युगनद्ध—युगमिव नद्धो युगनद्धः, यथा युगं वृषभ-

स्कन्धयोरारोपितं वर्तते तद्वत् योगोऽपि यः प्रतिभाति सः युगनद्ध इत्युच्यते। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १२-७८, पृ. २३३)।

जिस प्रकार बैलों के कन्धों पर युग (जुआ) आरोपित रहता है उसी प्रकार पांच वर्षात्मक युग में जो योग प्रतिभात होता है उसे युगनद्ध योग कहते हैं। यह दस प्रकार के योग में सातवां है।

युगसंवत्सर—युगं पंचवर्षात्मकम्, तत्पूरकः संवत्सरो युगसंवत्सरः। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १०, २०, ५४)।

पांच वर्ष स्वरूप युग के पूरक वर्ष को युगसंवत्सर कहते हैं।

युग्म—जुम्मं सममिदि एयट्ठो। (धव. पु. १०, पृ. २२)।

युग्म और सम ये समानार्थक शब्द हैं। अभिप्राय यह कि सम संख्या व सम द्रव्य को युग्म समझना चाहिए।

युति— दव्वखेत्त-काल-भावेहि जीवादिदव्वाणं मेलणं जुडी णाम। ××× सामीप्यं संयोगो वा युतिः। (धव. पु. १३, पृ. ३४८)।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से जो जीवादि द्रव्यों का मिलाप है उसे युति कहते हैं। समीपता अथवा संयोग का नाम युति है।

युवती—१. जोजेदि णरं दुक्खेण तेण जुवदी य जोसा य॥ (भ. आ. ९७९)। २. नरं दुःखेन योजयतीति युवतिर्योषा च। (भ. आ. मूला. ९७९)।

१ जो मनुष्य को दुःख से योजित किया करती है उसे युवति व योषा कहा जाता है।

युवराज—१. युवराजो द्वितीयस्थानवर्ती। (व्यव. भा. मलय. वृ. पी. द्वि. वि. ३३); आवस्सयाइं काउं सो पुव्वाइं तु निरवसेसाइं। अत्थाणीमज्झगतो पेच्छइ कज्जाइं जुवराया॥ (व्यव. भा. तृ. वि. पृ. १२९)। २. यो नाम प्रातरुत्थाय पूर्वाणि प्रथमानि आवश्यकानि शरीरचिन्ता-देवतार्चनादीनि निरवशेषाणि कृत्वा आस्थानिकामध्यगतः सन् कार्याणि प्रेक्षते चिन्तयति स युवराजः। (व्यव. भा. मलय. वृ. तृ. वि. पृ. १२९)।

राजा के बाद दूसरा स्थान युवराजका होता है, अर्थात् जो सवेरे उठकर शरीर की चिन्ता व देवपूजा आदि समस्त कार्यों को करता है और तत्पश्चात् सभास्थान में बैठकर कार्यों को देखता है वह युवराज कहलाता है।

यूका—१. अष्टौ लिक्षा संहताः एका यूका भवति। (त. वा. ३, ३८, ६)। २. ताभिः (लिक्षाभिः) यूका तथाष्टाभिः ×××। (ह. पु. ७-४०)।

१ आठ लिक्षाओं (लीखों) की एक यूका होती है।

यूष—यूषो मुद्ग-तण्डुल-जीरक-कडुभाण्डादिरसः। (सूर्यप्र. मलय. वृ. २०, १०६)।

मूंग, चावल और जीरा आदि के रस को यूष (जूष) कहते हैं।

योग—१. विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता जेण्हकहियतच्चेसु। जो जुंजदि अप्पाणं णियभावो सो हवे जोगो॥ (नि. सा. १३९)। २. ××× जोगो मण-वयण-कायसंभूदो। (पंचा. का. १४८)। ३. काय-वाङ्मनःकर्म योगः। (त. सू. ६-१)। ४. योगो वाङ्मानस-कायवर्गणानिमित्त आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः। (स. सि. २-२५); आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योगः। (स. सि. ६-१); योगः समाधिः, सम्यक्प्रणिधानमित्यर्थः। (स. सि. ६-१२); योगः कायवाङ्मनःकर्मलक्षणः। (स. सि. ९-४४)। ५. एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः। एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः॥ (समाधि. १७)। ६. मणसा वाया काएण वा वि जुत्तस्स विरिय-परिपरिणामो। जीवस्सप्पणिओगो जोगो त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठो॥ (प्रा. पंचसं. १-८८; धव. पु. १, पृ. १४० उद्.)। ७. योग आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः। कायादिवर्गणानिमित्त आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः योग इत्याख्यायते। (त. वा. २, २५, ५); निरवद्यक्रियाविशेषानुष्ठानं योगः। निरवद्यस्य क्रियाविशेषस्यानुष्ठानं स योगः समाधिः, सम्यक्प्रणिधानमित्यर्थः। (त. वा. ६, १२, ८)। ८. योगः व्यापारः पञ्चाग्न्याद्यनुष्ठानलक्षणः। (त. भा. हरि. वृ. ६-१३)। ९. युज्यन्त इति योगाः मनोवाक्कायव्यापारलक्षणाः। (ध्यानश. हरि. वृ. १); योगाः तत्त्वतः औदारिकादिशरीरसंयोगसमुत्था आत्मपरिणामविशेषव्यापाराः। (ध्यानश. हरि. वृ. ३)। १०. युज्यत इति योगः। ××× अथवा आत्मप्रवृत्तेः कर्मादाननिबन्धनवीर्योत्पादो योगः। अथवा आत्मप्रदेशानां सङ्कोच-विकोचो योगः। (धव. पु. १, पृ. १४०); वाङ्मनःकायवर्गणानिमित्तः आत्म-

प्रदेशपरिस्पन्दो योगो भवति । (धव. पु. १, पृ. २९९); आत्मप्रवृत्तेः सङ्कोच-विकोचो योगः । (धव. पु. ७, पृ. ६); जोगो णाम किं? मण-वयण-कायपोग्गलालंवणेण जीवपदेसाणं परिप्फन्दो। (धव. पु. ७, पृ. १७); किं जोगो णाम ? जीव-पदेसाणं परिप्फन्दो संकोच-विकोचब्भमणसरूवओ। (धव. पु. १०, पृ. ४३७); मण-वयण-कायकिरि-यासमुप्पत्तीए जीवस्स उवजोगो जोगो णाम। (धव. पु. १२, पृ. ३६७)। ११. काय-वाङ्मनसां कर्म योगः स पुनरास्रवः। (ह. पु. ५८-५७)। १२. काय-वाङ्म-नसां कर्म योगो योगविदां मतः। (म. पु. २१-२२५)। १३. काय-वाङ्मनसां कर्म योगोऽस्ति ××× ॥ (त. श्लो. ६, १, १); निरवद्यक्रियाविशेषानुष्ठानं योगः, समाधिरित्यर्थः। (त. श्लो. ६-१२)। १४. वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितेन पर्यायेणात्मनः सम्ब-न्धो योगः। स च वीर्य-प्राणोत्साह-पराक्रम-चेष्टा-शक्ति-सामर्थ्यादिशब्दवाच्यः। अथवा युनक्त्येनं जीवो वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितं पर्यायमिति योगः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-१); लोकाभिमतनिरवद्यक्रियानु-ष्ठानं योगः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-१३)। १५. सति वीर्यान्तरायस्य क्षयोपशमसम्भवे। योगो ह्यात्मप्रदेशानां परिस्पन्दो निगद्यते ॥ (त. सा. २-६७); काय-वाङ्मनसां कर्म स्मृतो योगः स आस्रवः। (त. सा. ४-२)। १६. योगो वाङ्मनः-काय-कर्मवर्गणालम्बनात्मप्रदेशपरिष्पन्दः। (पंचा. का. अमृत. वृ. १४८)। १७. पुग्गलविवाइदेहो-दएण मण-वयण-कायजुत्तस्स। जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥ (गो. जी. २१६)। १८. आत्मदेशपरिस्पन्दो योगो योगविदां मतः। मनोवा-क्कायतस्त्रेधा पुण्य-पापास्रवाश्रयः॥ (उपासका. ३५३)। १९. आत्मनो वीर्यविघ्नस्य क्षयोपशमने सति। यः प्रदेशपरिस्पन्दः स योगो गदितस्त्रिधा ॥ (पंचसं. अमित. १-१६५, पृ. २३)। २०. मनस्तनु-वचःकर्म योग इत्यभिधीयते। (ज्ञाना. १, पृ. ४२)। २१. योगो मनोवचन-कायसम्भूतः निष्क्रिय-निर्विका-रज्योतिःपरिणामाद् भिन्नो मनोवचन-कायवर्गणाव-लम्बनरूपो व्यापारः आत्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणो वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितः कर्मादानहेतुभूतो योगः। (पंचा. का. जय. वृ. १४८)। २२. निश्चयेन निष्क्रियस्यापि परमात्मनो व्यवहारेण वीर्यान्तराय-क्षयोपशमोत्पन्नो मनोवचन-कायवर्गणालम्बनः कर्मा-दानहेतुभूत आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योग इत्युच्यते। (वृ. द्रव्यसं. टी. ३०)। २३. योगः काय-वाङ्मन-स्कर्म। (मूला. वृ. १२-३)। २४. एषः—बहि-रन्तर्जल्पत्यागलक्षणः, योगः—स्वरूपे चित्तनिरोध-लक्षणः समाधिः। (समाधि. टी. १७)। २५. स पुनर्योगः शरीरनामकर्मपरिणतिविशेषः। ××× कायादिकरणयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणति-र्योगः। (स्थाना. अभय. वृ. ५१); वीर्यान्तराय-क्षय-क्षयोपशमसमुत्थलब्धिविशेषप्रत्ययमभिसन्ध्यन-भिसन्धिपूर्वमात्मनो वीर्यं योगः। ××× युज्यते जीवः कर्मभिर्येन ××× युङ्क्ते प्रयुंक्ते यं पर्यायं स योगो वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितो जीवपरिणाम-विशेष इति। आह च—मणसा वयसा काएण वावि जुत्तस्स विरियपरिणामो। जीवस्स अप्पणि-ज्जो स जोगसन्नो जिणवखाओ ॥ तेओजोगेण जहा रत्तत्ताई घडस्स परिणामो। जीवकरणप्पओए विरियमवि तहप्पपरिणामो ॥ (स्थाना. अभय. वृ. १२४)। २६. पादप्रलेपादयः सौभाग्य-दौर्भाग्यकरा योगाः। (योगशा. स्वो. विव. १-३८, पृ. १३६)। २७. योग आत्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणो मनोवाक्काय-व्यापारः। (अन. ध. स्वो. टी. २-३७)। २८. संसारिणो जीवस्य कर्मागमकारणम्, कर्मेत्युपलक्ष-णात् कर्म-नोकर्मवर्गणारूपपुद्गलस्कन्धस्य ज्ञानावर-णादिकर्मभावेन औदारिकशरीरादिनोकर्मभावेन च परिणमनहेतुर्या शक्तिः सामर्थ्यं तद्विशिष्टात्मप्रदेश-परिस्पन्दश्च स योग इत्युच्यते। (गो. जी. म. प्र. २१६)। २९. मनोवाक्कायानां तपःसमाधौ योजनं योगः, अथवा सिद्धान्तवाचनायामन्यविहितया (?) तपसा योजनं योगः। (आचारदि. पृ. ८१)। ३०. कर्म-नोकर्मवर्गणारूपपुद्गलस्कन्धस्य ज्ञानावर-णादिकमौदारिकादिनोकर्मभावेन परिणमनहेतुर्यत् सामर्थ्यम् आत्मप्रदेशपरिस्पन्दश्च योग इत्युच्यते। (गो. जी. जी. प्र. २१६); पुद्गलविपाकिशरीरां-गोपांगनामकर्मोदयैः मनोवचन-काययुक्तजीवस्य कर्म-नोकर्मागमकारणा या शक्तिः तज्जनितजीवप्रदेश-परिस्पन्दनं वा योगः। (गो. जी. जी. प्र. ७०३)। ३१. एवमुप्पण्णपदेसपरिप्फंदेणुप्पाइदजीवपदेसाणं कम्मादाणसत्ती जोगं णाम। (सत्कर्मपंजिका—धव. पु. १५, पृ. २२)। ३२. वाङ्मनस-कायवर्गणाकार-

णभूतं जीवप्रदेशपरिस्पन्दनं योगः कथ्यते। (त. वृत्ति श्रुत. २-२५); शरीर-वचन-मानसानां यत्कर्म क्रिया स योगः। (त. वृत्ति श्रुत. ६-१); काय-वाङ्मनसा यत्कर्म स योग उच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७, ३३)। ३३. योगः स्यादात्मपदेशप्रचयचलनता वाङ्मनःकायमार्गैः॥ (अध्यात्मक. ४-२)।

१ जो आत्मपरिणाम विपरीत अभिप्राय को छोड़कर जिनप्ररूपित तत्त्वों में आत्मा को योजित (संलग्न) करता है उसे योग कहते हैं। २ मन, वचन और काय के आश्रय से जो आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन होता है उसे योग कहा जाता है। ४ वचन, मन और शरीर वर्गणा के निमित्त से जो आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन होता है उसका नाम योग है। सम्यक् प्रणिधान—एकाग्रचिन्तानिरोध—रूप समाधि—को योग कहते हैं। ८ पंचाग्नि आदि के अनुष्ठानरूप प्रवृत्ति को योग कहा जाता है। १४ वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई पर्याय से जो आत्मा का सम्बन्ध होता है उसका नाम योग है। इसे वीर्य, प्राण, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति और सामर्थ्य आदि शब्दों से कहा जाता है। अथवा जीव इसे चूंकि वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न पर्याय से योजित करता है, इसीलिए उसे योग कहा जाता है। २६ सौभाग्य अथवा दौर्भाग्य के करने वाले पादप्रलेपादि को योग कहा जाता है। यह साधु के आहारविषयक १६ उत्पादन दोषों में १५वां है।

योगकृष्टि — पूर्वापूर्वस्पर्धकस्वरूपेणेष्टकापंक्तिसंस्थानसंस्थितं योगमुपसंहृत्य सूक्ष्म-सूक्ष्माणि खण्डानि निर्वर्तयति, ताओ किट्टीओ णाम वुच्चंति। (जयध.—धव. पु. १०, पृ. ३२३, टि. ३)।

पूर्व और अपूर्व स्पर्धकों स्वरूप से ईंटों की पंक्ति के आकार में स्थित योग का संकोच करके जो उसके सूक्ष्म-सूक्ष्म खण्ड किए जाते हैं उन्हें कृष्टियां कहा जाता है।

योगभक्ति—रायादीपरिहारे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू। सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य कहं हवे जोगो॥ सव्ववियप्पाभावे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू। सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य किह हवे जोगो। (नि. सा. १३७-३८)।

जो साधु अपने को राग-द्वेषादि के परित्याग में तथा समस्त विकल्पों के अभाव में—निर्विकल्प समाधि में—योजित करता है वह योगभक्ति से युक्त होता है, अन्य के—राग-द्वेषादि से सहित होकर नाना विकल्पों से व्याप्त जीव के—भला वह योग कैसे सम्भव है? असम्भव है।

योगमुद्रा—१. अन्नुन्नंतरिअंगुलिकोसागारेहिं दोहिं हत्थेहिं। पिट्टोवरि कुप्परसंठिएहिं तह जोगमुद्द त्ति॥ (चैत्यवन्दन भा. १५)। २. उभयकरजोडनेन परस्परमध्यप्रविष्टांगुलिभिः कृत्वा पद्मकोशाकाराभ्यां द्वाभ्यां हस्ताभ्यां तथोदरस्योपरि कुहणिकया व्यवस्थिताभ्यां योगो हस्तयोर्योजनविशेषस्तत्प्रधाना मुद्रा योगमुद्रा भवतीति गम्यम्। (चैत्यवन्दन भा. अवचूरि १५)।

१ परस्पर अंगुलियों को अन्तरित करके कमलकोश के आकारयुक्त दोनों हाथों की कुहनियों को पेट के मध्य में स्थित करने पर योगमुद्रा होती है।

योगवक्रता—१. काय-वाङ्मनसां कौटिल्येन वृत्तिर्योगवक्रता। ××× तेषां (काय-वाङ्मनसां) कुटिलतायोगवक्रता इत्युच्यते, अनार्जवं [व-] प्रणिधानमिति यावत्। (त. वा. ६, २२, १)। २. योगः ××× शक्तिरूप आत्मनः करणविशेषः काय-वाङ्मनोलक्षणस्तद्गता कौटिल्यप्रवृत्तिः स्वयमेव योगवक्रताऽनार्जवप्रणिधानं मायाचित्तं योगविपर्यास इत्यनर्थान्तरम्। (त. वा. सिद्ध. वृ. ६-२१)। ३. योगस्य वक्रता कौटिल्यं योगवक्रता—कायेनान्यत्करोति वचसाऽन्यद् ब्रवीति मनसाऽन्यच्चिन्तयति योगवक्रता। (त. वृत्ति श्रुत. ६-२२)।

१ शरीर, वचन और मन की कुटिलतापूर्ण प्रवृत्ति को योगवक्रता कहा जाता है।

योगसत्य—योगसत्यं योगानां मनःप्रभृतीनामवितथत्वम्। (समवा. अभय. वृ. २७)।

मन आदि योगों की यथार्थता का नाम योगसत्य है।

योगसंक्रान्ति—१. काययोगं त्यक्त्वा योगान्तरं गृह्णाति, योगान्तरं त्यक्त्वा काययोगमिति योगसंक्रान्तिः। (स. सि. ९-४४; त. वा. ९-४४)। २. काययोगाद्योगान्तरे ततोऽपि काययोगे संक्रमणं योगसंक्रान्तिः। (त. श्लो. ९-४४)। ३. काययोगोपयुक्तध्यानस्य वाग्योगसंचारः, वाग्योगोपयुक्तध्यानस्य वा मनोयोगसञ्चारः [योगसंक्रान्तिः]। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-४६)। ४. स्यादियं योग-

संक्रान्तिर्योगाद्योगान्तरे गतिः। (ज्ञाना. ४२-१७, पृ. ४३३)। ५. काययोगं त्यक्त्वा योगान्तरं गच्छति, तदपि त्यक्त्वा काययोगं व्रजतीति योगसंक्रान्तिः। (भावप्रा. टी. ७८)।

१ काययोग को छोड़कर अन्य योग को तथा अन्य योग को छोड़कर पुनः काययोग को ग्रहण करना, इसका नाम योगसंक्रान्ति है। ३ काययोग में उपयुक्त ध्यान का जो वचनयोग में संचार होता है अथवा वचनयोग में उपयुक्त ध्यान का जो मनोयोग में संचार होता है, इसे योगसंक्रान्ति कहते हैं।

योगानुयोग—योगानुयोगो वशीकरणादियोगाभिधायकानि हरमेखलादिशास्त्राणि। (समवा. अभय. वृ. २९)।

वशीकरण आदि योगों के प्ररूपक हरमेखल (कलाविशेष) आदि शास्त्रों को योगानुयोग कहा जाता है। यह उनतीस प्रकार के पाप के उपादान स्वरूप पापश्रुत में २८वां है।

योगाविभागप्रतिच्छेद—एक्कम्हि जीवपदेसे जोगस्स जा जहण्णिया वड्ढी सो जोगाविभागपडिच्छेदो। (धव. पु. १०, पृ. ४४०)।

एक जीवप्रदेश में योग की जो जघन्य वृद्धि हुआ करती है उसे योगाविभागप्रतिच्छेद कहा जाता है।

योगी—१. विकहाइविप्पमुक्को आहाकम्माइविरहिओ णाणी। धम्मुद्देसणकुसलो अणुपेहाभावणाजुदो जोई॥ अवियप्पो णिद्दंदो णिम्मोहो णिक्कलंकओ णियदो। णिम्मलसहावजुत्तो जोई सो होइ मुणिराओ॥ (र. सा. १००-१०१)। २. जोगो अत्थि त्ति जोगी। (धव. पु. १, पृ. १२०); योगो अस्यास्तीति योगी। (धव. पु. ६, पृ. २२१)। ३ कंदप्पदप्पदलणो डंभविहीणो विमुक्कवावारो। उग्गतवदित्तगत्तो जोई विण्णायपरमत्थो॥ (ज्ञानसार ४)। ४. तत्त्वे पुमान् मनः पुंसि मनस्यक्षकदम्बकम्। यस्य युक्तं स योगी स्यान्न परेच्छादुरीहितः॥ (उपासका. ८७०)।

१ जो मुनीन्द्र विकथा आदि से रहित, आधाकर्म का त्यागी, धर्मोपदेश में कुशल, अनुप्रेक्षा व भावनाओं से युक्त, विकल्पों से रहित, निर्द्वन्द्व, निर्मोह, निष्कलंक और निर्मल स्वभाव से सहित होता है उसे योगी समझना चाहिए। २ योग से सहित योगी कहलाता है। यह कर्त्ता, वक्ता व प्राणी आदि रूप जीव की अनेक विशेषताओं में से एक है। ४ जिसकी आत्मा तत्त्व में, मन आत्मा में और इन्द्रियसमूह मन में युक्त (उपयुक्त या संलग्न) हो वही योगी हो सकता है, न कि पर पदार्थों की इच्छा रूप दुष्प्रवृत्ति से युक्त।

योगोद्वहन—तेषां (योगानां) निरुद्धपारणककालस्वाध्यायादिभिरुद्वहनं योगोद्वहनम्। (आचारदि. पृ. ८१)।

१ पारणाकाल और स्वाध्याय आदि के निरोधपूर्वक योगों के धारण या निर्वाह का नाम योगोद्वहन है।

योगोद्वहनकाल—सुभिक्षं साधुसामग्री सर्वोत्पाताद्यभावता। कालिकेषूत्कालिकेषु योगेषु समयो ह्ययं॥ आर्द्रादिस्वात्यन्ते नक्षत्रगणे विवस्वता युक्ते। कालिकयोगानामयमुपयोगी काल उद्दिष्टः॥ आर्द्रादिस्वात्यन्ते नक्षत्रगणे विवस्वता युक्ते। स्तनिते विद्युति वृष्टौ कालग्रहणं न कर्तव्यम्॥ (आचारदि. पृ. ८२ उद्.)।

सुभिक्ष, साधुसामग्री और समस्त उपद्रवों का अभाव, यह कालिक और उत्कालिक योगों के लिये उपयुक्त समय है। आर्द्रा से लेकर स्वाति तक सूर्य से युक्त नक्षत्रसमूह में कालिक योगों का यह उत्कृष्ट काल निर्दिष्ट किया गया है। आर्द्रा से स्वाति तक सूर्य से युक्त नक्षत्रसमूह में मेघगर्जन बिजली व वृष्टि के होने पर काल का ग्रहण नहीं करना चाहिए।

योगोद्वहनक्षेत्र—बहुसलिल-मृदुलभिक्षं स्वचक्र-परचक्रभयविनिर्मुक्तम्। बहुयति-साध्वी-श्राद्धं बहूशास्त्रविशारदाकीर्णम्॥ नीरोगजलान्नयुतं चर्मास्थि-कचादिसङ्करविमुक्तम्। अहि-जंबुक-वृष-दंशक-वृषपल्ली-सरटनिर्मुक्तम्॥ प्रायः पवित्ररथ्यं रुग्मारी-प्रभृतिवर्जितं नित्यम्। अल्पकषायपुरजनं योगोद्वहने शुभं क्षेत्रम्॥ (आचारदि. पृ. ८२ उद्.)।

जहां बहुत पानी और मृदु भिक्षा हो, जो स्वचक्र और परचक्र के भय से रहित हो, जहां साधु, साध्वी और श्रावक बहुत हों, जो बहुत से शास्त्रज्ञों से व्याप्त हो, स्वास्थ्यप्रद जल व अन्न से परिपूर्ण हो, चमड़ा, हड्डी व बालों आदि के सम्पर्क से रहित हो; सर्प, शृगाल, बैल, डांस, वृषपल्ली एवं गिरगिटों से शून्य हो; जहां की गलियां प्रायः पवित्र हों, जो रोग व मारी (प्लेग) आदि से रहित हो, तथा

जहां मन्दकषायी जन का निवास हो; ऐसा क्षेत्र योग के धारण में उत्तम माना जाता है।

योगोद्वहनसदन — चर्मास्थि-दन्त-नख-केश-गूथ-मूत्रापवित्रतारहितम्। अध उपरि च निश्छिद्रं निरवकरं घृष्टमृष्टं च ॥ सूक्ष्माङ्गिवृन्दसंवासयोग्यभूस्फोटवर्जितं परितः। रम्यमपरार्थरचितं योगोद्वहने शुभं सदनम् ॥ (आचारदि. पृ. ८२ उद्.)।

जो निवास स्थान चमड़ा, हड्डी, दांत, नाखून, बाल, विष्ठा एवं मूत्र आदि की अपवित्रता से रहित हो; जहां नीचे-ऊपर छेद न हों, जो कचरा से रहित हो, मल से विहीन हो तथा जो सूक्ष्म जीवों के रहने योग्य छेदों आदि से रहित हो, ऐसा निवासस्थान योगधारण के लिए उत्तम होता है।

योग्यता—१. अर्थग्रहणं योग्यतालक्षणम्। (लघीय. स्वो. वृ. ५)। २. स चात्मविशुद्धिविशेषो ज्ञानावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमभेदः स्वार्थप्रमितौ शक्तिर्योग्यतेति च स्याद्वादवेदिभिरभिधीयते। (प्रमाणप. पृ. ५२); योग्यताविशेषः पुनः प्रत्यक्षस्येव स्वविषयज्ञानावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषः × × ×। (प्रमाणप. पृ. ६७)। ३. स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया × × ×। (परीक्षा. २-९)। ४. योग्यता नियतार्थग्रहणसामर्थ्यम्। (न्यायकु. ५, पृ. १६५)। ५. का नाम योग्यता इति? उच्यते —स्वावरणक्षयोपशमः। (न्यायदी. पृ. २७)।

२ ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशमविशेषरूप आत्मा की शुद्धिविशेष का नाम योग्यता है। यह योग्यता स्व और अर्थ के ग्रहण की शक्ति रूप है।

योजन—१. चउकोसेहिं जोयण × × ×। (ति. प. १-११६)। २. चतुर्गव्यूतं योजनम्। (त. वा. ३, ३८, ६, पृ. २०८)। ३. अट्ठहिं दंडसहस्सेहि जोयणं। (धव. पु. १३, पृ. ३३९)। ४. अष्टौ दण्डसहस्राणि योजनं परिभाषितम्। (ह. पु. ७, ४६)। ५. × × × दंडहिं अट्ठसहासिहिं पावहि। जोयणु × × ×। (म. पु. पुष्प. २-७, पृ. २४)। ६. चउगाउदेहिं य तहा जोयणमेगं विणिद्दिट्ठं। (जं. दी. प. १३-३४)।

१ चार कोसों का एक योजन होता है।

योजनपृथक्त्व—तं (जोयणं) अट्ठहि गुणिदे जोयणपुधत्तं। (धव. पु. १३, पृ. ३३९)।

योजन को आठ से गुणित करने पर योजनपृथक्त्व होता है। यह मनःपर्ययज्ञान के उत्कृष्ट क्षेत्र का प्रमाण है।

योनि—१. योनयो जीवोत्पत्तिस्थानानि। (मूला. वृ. १२-३); यूयते भवपरिणत आत्मा यस्यामिति योनिर्भवाधारः। (मूला. वृ. १२-५८)। २. यौति मिश्रीभवति औदारिकादिनोकर्मवर्गणापुद्गलैः सह संबध्यते जीवो यस्यां स योनिः जीवोत्पत्तिस्थानम्। (गो. जी. जी. प्र. ८१)।

१ जीवों के उत्पत्तिस्थानों को योनियां कहा जाता है।

यौवन— विशरारुनानारागपल्लवोल्लास-विलासोपवनं यौवनम्। (गद्यचि. पृ. ५६); अविनयविहङ्गलीलावनं यौवनम्। (गद्यचि. पृ. ६४)।

यौवन गिरते हुए अनेक पत्तों के उल्लास-विलास के उपवन के समान है, अथवा वह अविनयरूप पक्षियों के क्रीडावन जैसा है।

रक्त गेय—गेयरागानुरक्तेन यत् गीयते तत् रक्तम्। (रायप. मलय. वृ. पृ. १६२)।

गाने योग्य गीत के स्वर में अनुरक्त पुरुष के द्वारा जो गाया जाता है उसे रक्त गेय कहते हैं।

रचित—रचितं नाम संयतनिमित्तं कांस्यपात्रादौ मध्ये भक्तं निवेश्य पार्श्वेषु व्यञ्जनानि बहुविधानि स्थाप्यन्ते। (व्यव. भा. मलय. वृ. ३-१६४, पृ. ३५)।

साधु के निमित्त कांसे आदि के पात्र में भोजन को रखकर उसके पार्श्वभागों में जो बहुत प्रकार के व्यञ्जनों को स्थापित किया जाता है, इसका नाम रचित है।

रचितकभोजी— रचितकं नाम कांस्यपात्रादिषु पटादिषु वा यदशनादि देयबुद्ध्या वैविक्त्येन स्थापितं तद् भुंक्ते इत्येवंशीलो रचितकभोजी। (व्यव. भा. पृ. ११९)।

कांसे के पात्र आदि में अथवा पट (वस्त्र) आदि पर जो देने के विचार से भोजन स्थापित किया जाता है उसका नाम रचितक है, उसका खाने वाला रचितकभोजी कहलाता है।

रज—१. रजस्तु सर्वशुष्कः × × × शुष्कमात्रस्तु रजः। (उत्तरा. चू. पृ. ७९)। २. बध्यमानं च

कर्म रजः ××× अथवा बद्धं रजः, अथवा ऐर्यापथं रजः। (योगशा. स्वो. विव. ३-१२४)।
१ पूर्णरूप से सूखे हुए मैल को रज कहा जाता है। २ वर्तमान में बांधे जाने वाले कर्म को अथवा पूर्व में बांधे गये कर्म को रज कहते हैं। अथवा ईर्यापथ कर्म को रज समझना चाहिये।

रज्जु—१. जगसेढीए सत्तमभागो रज्जू पभासंते॥ (ति. प. १-१३२)। २. का रज्जू णाम ? तिरियलोगस्स मज्झिमवित्थारो। (धव. पु. ३, पृ. ३४)। ३. जगसेढिसत्तभागो रज्जू ××× । (त्रि. सा. ७)। ४. पञ्चविंशतिकोटीकोटीनामुद्धारपल्यानां यावन्ति रूपाणि लक्षयोजनार्द्धच्छेदनानि च रूपाधिकान्येकैकं द्विगुणीकृतान्यन्योन्यभ्यस्तानि यत्प्रमाणं सा रज्जुरिति। (मूला. वृ. १२-८५)। ५. जगच्छ्रेण्याः १८-४२ सप्तमभागो रज्जुः। (त्रि. सा. टी. ७)।
१ जगश्रेणि के सातवें भाग को रज्जु कहते हैं। २ तिर्यग्लोक का जितना विस्तार प्रमाण है उतना प्रमाण एक रज्जु का है।

रति—१. यदुदयाद्विषयादिष्वौत्सुक्यं सा रतिः। (स. सि. ८-९)। २. यदुदयाद्देशादिष्वौत्सुक्यं सा रतिः। (त. वा. ८, ९, ४)। ३. रमणं रतिः, रम्यते अनया इति वा रतिः। जेसिं कम्मक्खंधाणमुदएण दव्व-खेत्त-काल-भावेसु रदी समुप्पज्जइ तेसिं रदि त्ति सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ४७); जस्स कम्मस्स उदएण दव्व-खेत्त-काल-भावेसु जीवाणं रई समुप्पज्जदि तं कम्मं रई णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६१)। ४. रम्यतेऽनयेति रमणं वा रतिः कुत्सिते रम्यते, येषां कर्मस्कन्धानामुदयेन द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावेषु रतिरुत्पद्यते तेषां रतिरिति संज्ञा। (मूला. वृ. १२-१९२)। ५. रतिः विषयेषु मोहनीयाच्चित्ताभिरतिः। (औपपा. अभय. वृ. ३४, पृ. ७९)। ६. मनोज्ञेषु वस्तुषु परमा प्रीतिरेव रतिः। (नि. सा. वृ. ६)। ७. यदुदयाच्चाभ्यन्तरेषु वस्तुषु प्रमोदमाधत्ते तद्रतिमोहनीयम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४६९)। ८. देशान्तरोद्यानोत्सुक्यनिमित्तोदया रतिः। (भ. आ. मूला. २०९७)। ९. यदुदयाद्देश-पुर-ग्राम-मन्दिरादिषु तिष्ठन् जीवः परदेशादिगमने च औत्सुक्यं न करोति सा रतिरुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ८-९)।
१ जिसके उदय से विषयादिकों में उत्सुकता रहती है उसे रति नोकषाय कहते हैं। २ जिस कर्म के उदय से देश आदिकों के विषय में उत्सुकता उत्पन्न होती है उसका नाम रति है। ७ जिसके उदय से अभ्यन्तर वस्तुओं में हर्ष को प्राप्त होता है उसे रतिमोहनीय कहा जाता है।

रतिवाक्—१. शब्दादिविषय-देशादिषु रत्युत्पादिका रतिवाक्। (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७५)। २. शब्दादिविषयेषु रत्युत्पादिका रतिवाक्। (धव. पु. १, पृ. ११७)। ३. इंदियविसयेसु रइ उप्पाइया वाया रदिवाया।। (अंगप. २-७९, पृ. २९२)।
१ शब्द आदि विषयों और देश आदिकों में राग उत्पन्न करने वाले वचन को रतिवाक् कहते हैं।

रत्नगर्भ—यस्य पण्णवमासानि रत्नवृष्टिः प्रवर्षिता। शक्रेण भक्तियुक्तेन रत्नगर्भस्ततो हि सः॥ आप्तस्व. ३७)।
जिसके गर्भ में आने के छह महीने पूर्व से ही छह और नौ (६+९=१५) मास भक्तियुक्त इन्द्र के द्वारा रत्नों की वर्षा करायी गई, उस आप्त (तीर्थंकर) को रत्नगर्भ कहा गया है।

रत्नि—द्वाभ्यां वितस्तिभ्यां रत्निरुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ३-३८)।
दो वितस्तियों (२४ अंगुल) को एक रत्नि (हाथ) होती है।

रथ—जुद्धे अहिरह-महारहाणं चडणजोग्गा रहा णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३८)।
युद्ध के समय जिनके ऊपर अधिरथ और महारथ योद्धा आरूढ़ होते हैं, उन्हें रथ कहा जाता है।

रथरेणु—१. अट्ठ तसरेणूओ सा एगा रहरेणू। (अनुयो. सू. पृ. १६२)। २. तित्तियमेत्तहदेहिं तसरेणूहिं पि रहरेणू॥ (ति. प. १, १०५-६)। ३. अष्टौ त्रसरेणवः संहताः एको रथरेणुः। (त. वा. ३, ३८, ६, पृ. २०७)। ४. अट्ठहिं तसरेणुहिं पिंडयहिं एक्कु जि. रहरेणु उ हवइ। (म. पु. पुष्प. २-६, पृ. २३)। ५. अष्टभिस्त्रसरेणुभिः पिण्डितैरेकत्रीकृतैरेका रथरेणुरुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ३, ३८)।

१ आठ त्रसरेणुओं का एक रथरेणु होता है। २ आठ त्रसरेणुओं का एक रथरेणु होता है।

रम्यकक्षेत्र — रमणीयदेशयोगाद्रम्यकाभिधानम्। यस्माद्रमणीयैर्देशैः सरित्पर्वत-काननादिभिर्युक्तस्तस्मादसौ रम्यक इत्यभिधीयते। (त. वा. ३, १०, १४)।

रमणीय देशों, नदियों, पर्वतों और वनों से युक्त होने के कारण जम्बूद्वीपस्थ चौथे क्षेत्र को रम्यक कहा जाता है।

रस (धातुविशेष)—रसो भुक्त-पीतान्न-पानपरिणामजो निस्यन्दः। (योगशा. ४-७२)।

खाये गये अन्न व पिये गये पान (दूध आदि) के परिपाक से जो निस्यन्द (पतली धातुविशेष) उत्पन्न होता है उसका नाम रस है। यह शरीरगत सात धातुओं में प्रथम है।

रस (जिह्वेन्द्रिय का विषय)—१. तथा रस आस्वादन-स्नेहनयोः, रस्यते आस्वाद्यते रसः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७३)। २. रस्यते रसः, रसयुक्तोऽर्थः। (त. वृत्ति श्रुत. २-२०)।

१ जिसका जिह्वा से आस्वाद लिया जाता है वह रस कहलाता है। २ रसयुक्त पदार्थ को रस कहते हैं।

रसकषाय—१. रसकसाओ णाम कसायरसं दव्वं दव्वाणि वा कसाओ। (कसायपा. चू. पृ. २५)। २. रसओ रसो कसाओ। (विशेषा. गा. ३५३२—ला. द. अह.)। ३. रसतो रसकषायः कटु-तिक्त-कषायपञ्चकान्तर्गतः। (आवा. नि. शी. वृ. १९०, पृ. ८२)।

२ रस के आश्रय से जो कषाय होती है उसे रसकषाय कहा जाता है।

रसगौरव — अभिमतरसात्यागोऽनभिमतानादरश्च नितरां रसगौरवम्। (भ. आ. विजयो. ६१२)।

अभीष्ट रस का त्याग न करना तथा अनिष्ट रस के विषय में अनादर का भाव (द्वेषबुद्धि) रखना, इसे रसगौरव कहा जाता है।

रसत्याग—देखो रसपरित्याग। तथा रसानां मतुलोपाद् विशिष्टरसवतां वृष्याणां विकारहेतूनाम्, अतएव विकृतिशब्दवाच्यानां मद्य-मांस-मधु-नवनीतानां दुग्ध-दधि-तैल-गुडावगाह्यादीनां च त्यागो वर्जनं रसत्यागः। (योगशा. स्वो. विव. ४-८९)।

विशिष्ट रस से युक्त व विकार के कारणभूत गरिष्ठ पदार्थों का तथा मद्य, मांस, मधु, मक्खन एवं दूध, दही, घी, तेल व गुड आदि का त्याग करना, इसे रसत्याग (तपविशेष) कहते हैं।

रसन—१. वीर्यान्तराय-मतिज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भादात्मना × × × रस्यतेऽनेनेति रसनम्। × × × रसतीति रसनम्। (स. सि. २-१९)। २. रसयत्यनेनात्मेति रसनम्। × × × रसयतीति रसनम्। (त. वा. २-१९)। ३. रस्यते आस्वाद्यतेऽर्थोऽनेनेति रसनम्, रसयत्यर्थमिति वा रसनम्। (त. वृत्ति श्रुत. २-१९)।

१ जिसके द्वारा स्वाद लिया जाता है अथवा जो स्वाद को ग्रहण करती है उस इन्द्रियविशेष को रसन (जिह्वा) कहा जाता है।

रसननिर्वृत्ति—अर्धचन्द्राकारा क्षुरप्राकारा वा अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता रसननिर्वृत्तिः। (धव. पु. १, २३५)।

रसनेन्द्रिय नाम वाले आत्मप्रदेशों में जो अर्द्ध चन्द्र अथवा खुरपे के आकार अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण पुद्गलपिण्ड होता है वह रसना इन्द्रिय की बाह्य निर्वृत्ति कहलाती है।

रसनाजय—१. असणादिचदुवियप्पे पंचरसे फासुगम्हि णिरवज्जे। इट्ठाणिट्ठाहारे दत्ते जिब्भाजओऽगिद्धी॥ (मूला. १-२०)। २. गृहिदत्तेऽन्न-पानादावदोषे समतायुतम्। गात्रयात्रानिमित्तं यद् भोजनं रसनाजयः॥ (आचा. सा. १-३१)।

१ दाता के द्वारा दिये गये पांच रसयुक्त प्रासुक व निर्दोष अशनादिरूप (अशन, पान, खाद्य व स्वाद्य) चार प्रकार के आहार में, चाहे वह इष्ट हो अथवा अनिष्ट हो, राग-द्वेष व लोलुपता न होना, यह साधु का जिह्वाजय या रसनेन्द्रियजय कहलाता है। यह २८ मूलगुणों के अन्तर्गत है।

रसनामकर्म—१. यन्निमित्तो रसविकल्पस्तद्रसनाम। (स. सि. ८-११; त. वा. ८, ११, १०; भ. आ. मूला. २१२४)। २. जस्स कम्मक्खंधस्स उदएण जीवसरीरे जादिपडिणियदो तित्तादिरसो होज्ज तस्स कम्मक्खंधस्स रससण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ५५); जस्स कम्मस्सुदएण सरीरे रसणिप्फत्ती होदि तं रसणामं। (धव. पु. १३, पृ. ३६४)। ३. यस्य कर्मस्कन्धस्योदयाज्जीवशरीरे जातिप्रतिनियततिक्ता-

दिरसो भवति तद्रस इति संज्ञा। (मूला. वृ. १२, १९४)। ४. यदुदयेन रसभेदो भवति स रसः। (त. वृत्ति श्रुत. ८-११)।

१ जिस कर्म के निमित्त से रस का विकल्प उत्पन्न होता है उसे रसनामकर्म कहते हैं।

रसपरित्याग—१. खीर-दहि-सप्पि-तेल-गुड-लवणं च जं परिच्चयणं। तित्त-कडु-कसायंबिल-मधुररसाणं च जं चयणं॥ (मूला. ५-१५५)। २. खीर-दहि-सप्पि-तेल्लं गुडाण पत्तेगदो व सव्वेसिं। णिज्जूहणमोगाहिम पणकुसणलोणमादीणं॥ अरसं च अण्णवेलाकदं च सुद्धोदणं च लुक्खं च। आयंबिलमायामोदणं च विगडोदणं चेव॥ इच्चेवमादि विविहो णायव्वो हवदि रसपरिच्चाओ। एस तवो भजिदव्वो विसेसदो सल्लिहंतेण॥ (भ. आ. २१५ से २१७)। ३. इन्द्रियदर्पनिग्रह-निद्राविजय-स्वाध्याय-सुखसिद्धयर्थो घृतादिवृष्यरसपरित्यागश्चतुर्थं तपः। (स. सि. ९-१९)। ४. रसपरित्यागोऽनेकविधः। तद्यथा—मद्य-मांस-मधु-नवनीतादीनां रसविकृतीनां प्रत्याख्यानं विरसरूक्षाद्यभिग्रहश्च। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-१९)। ५. दान्तेन्द्रियत्व-तेजोऽहानि-संयमोऽपरोधव्यावृत्त्याद्यर्थं घृतादिरसत्यजनं रसपरित्यागः। दान्तेन्द्रियत्वं तेजोऽहानिः संयमोपरोधनिवृत्तिरित्येवमाद्यर्थं घृत-दधि-गुड-तैलादिरसत्यजनं रसत्याग इत्युच्यते। (त. वा. ९, १९, ५)। ६. खीर-गुड-सप्पि-लवण-दधिआदओ सरीरिंदियरागादिवुड्ढिणिमित्ता रसा णाम, तेसिं परिच्चाओ रसपरिच्चाओ। किमट्ठं एसो कीरदे? पाणिंदियसंजमट्ठं। कुदो? जिब्भिंदियणिरुद्धे सयलिंदियाणं णिरोहुवलंभादो, सयलिंदिएसु णिरुद्धेसु चत्तपरिग्गहस्स णिरुद्धराग-दोसस्स तिगुत्तिगुत्तस्स पंचसमिदिमंडियस्स वासी-चंदणसमाणस्स पाणासंजमणिरोहुवलंभादो। (धव. पु. १३, पृ. ५७-५८)। ७. दान्तेन्द्रियत्व-तेजोऽहानिसंयमोपरोधव्यावृत्त्याद्यर्थं घृतादिरसपरित्यजनं रसपरित्यागः। (त. श्लो. ९-१९)। ८. रसगोचरगार्द्धयत्यजनं त्रिधा रसपरित्यागः। (भ. आ. विजयो. ६)। ९. रसत्यागो भवेत्तैल-क्षीरेक्षु दधि-सर्पिषाम्। एक-द्वि-त्रीणि चत्वारि त्यजतस्तानि पञ्चधा॥ (त. सा. ७-११)। १०. शरीरेन्द्रियरागादिवृद्धिकरक्षीर-दधि-घृत-गुड-तैलादिरसत्यजनं रसपरित्याग इत्युच्यते। तत्किमर्थम्? दुर्दान्तेन्द्रियतेजोहानि-संयमोपरोधनिवृत्तिरित्येवमाद्यर्थम्। (चा. सा. पृ. ६०)। ११. संसारदुक्खतट्ठो विससमविसयं विचितमाणो जो। णीरसभोज्जं भुंजइ रसचाओ तस्स सुविसुद्धो॥ (कार्तिके. ४४६)। १२. दधि-क्षीराऽऽज्य-तैलादेः परिहारो रसस्य यः। तपो रसपरित्यागो मधुरादिरसस्य वा॥ कायकान्ति-मदाक्षेम-क्षोभवारणकारणम्। परिहारो रसस्यायं स्याज्जितेन्द्रिययोगिनः॥ (आचा. सा. ६, १३-१४)। १३. त्यागः क्षीर-दधीक्षु-तैल-हविषां षण्णां रसानां च यः कात्स्न्येनावयवेन वा यदसनं सूपस्य शाकस्य च। आचाम्लं विकटौदनं यददनं शुद्धोदनं सिक्थवद्रूक्षं शीतलमप्यसौ रसपरित्यागस्तपोऽनेकधा॥ (अन. ध. ७-२७)। १४. रसपरित्यागः षड्रसविवर्जनम्। (भावप्रा. टी. ७८)। १५. हृषीकमदनिग्रहनिमित्तं निद्राविजयार्थं स्वाध्यायादिसुखसिद्धयर्थं रसस्य वृष्यस्य घृतादेः परित्यागः परिहरणं रसपरित्यागः। (त. वृत्ति श्रुत. ९-१९)। १६. मधुरादिरसानां यत्समस्तं व्यस्तमेव वा। परित्यागो यथाशक्ति रसत्यागः स लक्ष्यते॥ (लाटीसं. ७-७८)।

१ दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और नमक इन छह का तथा तीखा, कडुआ, कषायला, आम्ल और मधुर इन पांच रसों का भी जो परित्याग किया जाता है इसे रसपरित्याग कहते हैं। ४ रस के विकारभूत मद्य, मांस, मधु और नवनीत आदि का परित्याग करना तथा नीरस व रूखे आदि भोज्य पदार्थों का नियम करना, इसका नाम रसपरित्याग है।

रसपरित्यागातिचार — १. कृतरसपरित्यागस्य रसातिसक्तिः, परस्य वा रसवदाहारभोजनम्, रसवदाहारभोजनानुमननं वातिचारः। (भ. आ. विजयो. ४८७)। २. रसपरित्यागस्य रसातिसक्तिः परस्य वा रसवदाहारभोजनाद्भोजनानुमननं चेति। (भ. आ. मूला. ४८७)।

१ रस में अतिशय आसक्ति रखना, दूसरे को रसयुक्त भोजन कराना, अथवा दूसरे के द्वारा किये गये रसयुक्त भोजन का अनुमोदन करना, ये रसपरित्याग तपको मलिन करने वाले उसके अतिचार हैं।

रसमान—१. से किं तं रसमाणप्पमाणे? धण्णमाणप्पमाणाओ चउभागविवड्ढिए अब्भितरसिहाजुत्ते रसमाणप्पमाणे विहिज्जइ। तं जहा—चउ-

सट्ठिया ४ [चउपलपमाणा] बत्तीसिआ ८ सोलसिआ १६ अट्ठभाइआ ३२ चउभाइआ ६४ अद्धमाणी १२८ माणी २५६ दो चउसट्ठीआओ बत्तीसिआ दो बत्तीसिआओ सोलसिआ दो सोलसिआओ अट्ठभाइआ दो अट्ठभाइआओ चउभाइया दो चउभाइयाओ अद्धमाणी दो अद्धमाणीओ माणी। एएणं रसमाणपमाणेणं किं पओअणं ? एएणं रसमाणेणं वारक-घडक-करक-कलसिअ - गागरि-दइअ-करोडिअ - कुंडिअ-संसियाणं रसाणं रसमाणप्पमाणणिव्वित्तिलक्खणं भवइ, से तं रसमाणपमाणे, से तं माणे। (अनुयो. सू. १३२, पृ. १५१–५२)। २. घृतादिद्रव्यपरिच्छेदकं षोडशिकादि रसमानम्। (त. वा. ३, ३८, ३)।

१ धान्यमान के प्रमाण की अपेक्षा चौथे भाग से अधिक व अभ्यन्तर शिखा से युक्त जो रसमान किया जाता है उसे रसमानप्रमाण कहते हैं। जैसे—चतुःषष्टिका ४ (माणिका के चौंसठवें भाग से निष्पन्न २५६÷६४=४) पल प्रमाण, द्वात्रिंशिका ८ पल प्रमाण, षोडशिका १६ पल प्रमाण, अष्टभागिका ३२ पल प्रमाण, चतुर्भागिका ६४ पल प्रमाण, अर्धमाणिका १२८ पल प्रमाण और माणिका २५६ पल प्रमाण होती है। इसका प्रयोजन वारक आदि के आश्रित रस के प्रमाण का परिज्ञान कराना है। २ घी आदि द्रव्यों के प्रमाण का ज्ञान कराने वाली षोडशिका आदि को रसमान कहा जाता है।

रसवाणिज्य—१. नवनीत-वसा-क्षौद्र-मद्य-प्रभृतिविक्रयः। द्विपाच्चतुष्पादविक्रयो वाणिज्यं रस-केशयोः॥ (योगशा. ३–१०९; त्रि. श. पु. च. ६, ३, ३४३)। २. रसवाणिज्यं नवनीतादिविक्रयः। नवनीते हि जन्तुसम्मूर्छनम्, मधु-वसा-मद्यादौ तु जन्तुघातोद्भवत्वम्, मद्येन मदजनकत्वं तद्गतक्रिमिविघातश्चेति तद्विक्रयस्य दुष्टत्वम्। (सा. ध. स्वो. टी. ५-२२)।

१ नवनीत, वसा (चर्बी) और मधु आदि का विक्रय करना; इसे रसवाणिज्य कहा जाता है।

रसायन—रसायनं वलि-पलितादिनिराकरणं बहुकालजीवितत्वं च। (मूला. वृ. ६–३३)।

वलि (बुढ़ापे के कारण होने वाली चमड़ी की शिथिलता) और पलित (बालों की सफेदी) आदि के नष्ट करने तथा दीर्घ काल तक जीवित रहने आदि के प्ररूपक शास्त्र के आश्रय से दाता का उपकार करके यदि आहार को ग्रहण किया जाता है तो वह रसायनचिकित्सा नामक चिकित्साविशेषरूप उत्पादनदोष से दूषित होता है।

रसायिक—रसायिकाः—रसो घृतादिः, तत्र चर्मादियोगे आय आगमनं विद्यते येषां ते रसायिकाः। प्रथमधातूद्भवाः वा रसायिकाः। (त. वृत्ति श्रुत. २–१४)।

घी आदि रस का चमड़े आदि से सम्बन्ध होने पर जो सम्मूर्छन पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं वे रसायिक कहलाते हैं। अथवा जिनकी उत्पत्ति रस नामक प्रथम धातु से होती है, उन्हें रसायिक जानना चाहिए।

रहस्याभ्याख्यान—देखो रहोऽभ्याख्यान।

रहोऽभ्याख्या—देखो रहोऽभ्याख्यान।

रहोऽभ्याख्यान—१. यत्स्त्री-पुंसाभ्यामेकान्तेऽनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्य प्रकाशनं तद्रहोऽभ्याख्यानं वेदितव्यम्। (स. सि. ७–२६; चा. सा. पृ. ५)। २. संवृतस्य प्रकाशनं रहोभ्याख्यानम्। स्त्री-पुंसाभ्यां एकान्तेनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्य प्रकाशनं यत् रहोभ्याख्यानं तद्वेदितव्यम्। (त. वा. ७, २६, २)। ३. रहः एकान्तस्तत्र भवं रहस्यम्, तेन तस्मिन् वा अभ्याख्यानं रहस्याभ्याख्यानम्। (श्राव. अ. ६, हरि. वृ. पृ. ८२१)। ४. रहः एकान्तः, तत्र भवं रहस्यम्, तेन तस्मिन् वाभ्याख्यानं रहस्याभ्याख्यानम्। एतदुक्तं भवति—एकान्ते मन्त्रयमाणान् वक्त्येते हीदं चेदं च राजापकारित्वादि मन्त्रयन्ते इति। (श्रा. प्र. टी. २६३)। ५. रहोभ्याख्यानमेकान्तस्त्री-पुंसेहाप्रकाशनम्। (ह. पु. ५८–१६७)। ६. रहोऽभ्याख्या रहसि एकान्ते स्त्री-पुंसाभ्यामनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्याभ्याख्या प्रकाशनम्। (रत्नक. टी. ३–१०)। ७. रहस्येकान्ते स्त्री-पुंसाभ्यामनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्याभ्याख्या प्रकाशनं यया दम्पत्योरन्यस्य वा पुंसः स्त्रिया वा रागप्रकर्ष उत्पद्यते। सा च हास्यक्रीडादिनैव क्रियमाणोऽतिचारो न त्वभिनिवेशेन। (सा. ध. स्वो. टी. ४–४५)। ८. स्त्री-पुंसाभ्यां रहसि एकान्ते यः क्रियाविशेषोऽनुष्ठितः कृत उक्तो वा स क्रियाविशेषो गुप्तवृत्त्या गृहीत्वा अन्येषां प्रकाश्यते तद् रहोभ्याख्यानमुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७–२६; कार्तिके. टी. ३३३)। ९. रहोऽभ्याख्यानमेकान्ते गुह्यवार्ताप्रकाशनम्। परेषां

शंकया किञ्चिद्धेतोरस्त्यत्र कारणम् ॥ (लाटीसं ६-१९)।

१ स्त्री और पुरुष के द्वारा एकान्त में किये गये कार्यविशेष के प्रकाशित करने का नाम रहोऽभ्याख्या या रहोऽभ्याख्यान है। यह सत्याणुव्रत का एक अतिचार है। ४ रहस् का अर्थ एकान्त होता है, एकान्त में जो होता है उसे रहस्य कहा जाता है। उससे अथवा उसके विषय में कहना या आरोप लगाना कि ये राजा आदि के विरुद्ध मंत्रणा कर रहे थे। यह सत्याणुव्रत को मलिन करने वाला उसका एक अतिचार है।

राक्षस—१. भीषणरूपविकरणप्रियाः राक्षसा नाम। (धव. पु. १३, पृ. ३९१)। २. राक्षसा भीमा भीमदर्शनाः कराल-रक्तलम्बौष्ठास्तपनीयविभूषणा नानाभक्तिविलेपनाः। (बृहत्सं. मलय. वृ. ५८)।

१ जो रुचिपूर्वक भयानक रूप की विक्रिया किया करते हैं वे राक्षस कहलाते हैं। २ जो देखने में भयानक, भयप्रद लाल ओठों से सहित और सुवर्णमय भूषणों से युक्त होते हैं उन्हें राक्षस कहा जाता है।

राक्षसविवाह—१. कन्यायाः प्रसह्यादानाद्राक्षसः। (नीतिवा. ३१-१२, पृ. ३७६)। २. प्रसह्य कन्यादानाद् राक्षसः। (ध. बि. मु. वृ. १-१२)। ३. प्रसह्य कन्याग्रहणाद्राक्षसः। (योगशा. स्वो. विव. १-४७)।

१ बलपूर्वक कन्या के ग्रहण का नाम राक्षसविवाह है।

राग—१. अभिष्वङ्गलक्षणो रागः। (ध्यानश. हरि. वृ. ८; आव. भा. मलय. वृ. २०३, पृ. ५९३)। २. माया-लोभ-वेदत्रय-हास्य-रतयो रागः। (धव. पु. १२, पृ. २८३); माया-लोभ-हस्स-रदि-तिवेदाणं दव्वकम्मोदयजणिदपरिणामो रागो। (धव. पु. १४, पृ. ११)। ३. विचित्रचारित्रमोहनीयविपाकप्रत्यये प्रीत्यप्रीती राग-द्वेषौ। (पंचा. का. अमृत. वृ. १३१)। ४. निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणवीतरागचारित्रप्रच्छादकचारित्रमोहो राग-द्वेषौ भण्येते। (बृ. द्रव्यसं. टी. ४८, पृ. १८६)। ५. तस्यैवात्मनो विचित्रचारित्रमोहोदये सति निश्चयवीतरागचारित्ररहितस्य व्यवहारव्रतादिपरिणामरहितस्य इष्टानिष्टविषये प्रीत्यप्रीतिपरिणामौ राग-द्वेषौ भण्यते। (पंचा. का. जय. वृ. १३१)। ६. रूपाद्याक्षेपजनितः प्रीतिविशेषो रागः। (आव. नि. मलय. वृ. ७२४, पृ. ३५६)। ७. प्रीतिलक्षणो रागः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९०, पृ. ४५५)।

१ आसक्ति का नाम राग है। २ माया, लोभ, तीन वेद, हास्य और रति इन्हें रागस्वरूप माना जाता है। ४ निर्विकार स्वसंवेदनस्वरूप वीतरागचारित्र के रोधक चारित्रमोह को राग-द्वेष कहते हैं।

राजकथा—१. राज्ञां कथाः नानाप्रजापतिप्रतिबद्धवचनानि, स राजा प्रचण्डः शूरश्चाणक्यनिपुणश्चारकुशलो योग-क्षेमोद्यतमतिश्चतुरंगबलो निर्जिताशेषवैरिनिवहो न तस्य पुरतः केनापि स्थीयते इत्येवमादिकं वचनं राजकथाः। (मूला. वृ. ९-८९)। २. राट्कथा राजकथा, यथा शूरोऽस्मदीयो राजा, सधनश्चौडः [-श्शौण्डः] गजपतिर्गौडः, अश्वपतिस्तुरुष्क इत्यादि। (योगशा. स्वो. विव. ३-७९)। ३. राज्ञां युद्धहेतूपन्यासो राजकथाप्रपंचः। (नि. सा. वृ. ६७)। ४. राजकथा शूरोऽस्मदीयो राजा सधनः शौण्डः गजपतिर्गौडः अश्वपतिस्तुरुष्क इत्यादिरूपा। (सा. ध. स्वो. टी. ४-२२)।

१ अनेक राजाओं से सम्बन्धित वचनालाप का नाम राजकथा है। जैसे—वह राजा पराक्रमी व शूरवीर है, चाणक्य के समान चतुर है, शत्रुपक्ष की गुप्त बात के जानने में कुशल है, योग—अप्राप्त राज्यादि की प्राप्ति—व क्षेम—प्राप्त के संरक्षण—के विचार में कुशल है, चतुरंग सैन्य से युक्त होकर समस्त शत्रु समूह को जीतने वाला है, तथा उसके सामने कोई भी स्थित नहीं रह सकता है, इत्यादि वार्ता।

राजधर्म—राज्ञो हि दुष्टनिग्रहः शिष्टपरिपालनं च धर्मः। (नीतिवा. ५-२)।

दुष्टों का निग्रह और सज्जनों का परिपालन करना, यह राजा का धर्म होता है।

राजपिण्डाग्रहणस्थितिकल्प—१. राजशब्देन इक्ष्वाकुप्रभृतिकुले जाताः। राजते प्रकृतिं रंजयति इति वा राजा राजसदृशो महर्द्धिको भण्यते, तस्य पिण्डः तत्स्वामिको राजपिण्डः, तस्य अग्रहणम्। (भ. आ. विजयो. ४२१)। २. अथ राजशब्देन इक्ष्वाकुप्रभृतिकुले जाताः, राजते प्रकृतिं रञ्जयतीति वा, राज्ञा सदृशो महर्द्धिको भण्यते। तत्स्वामिभक्तादिवर्जनं

शंकया किञ्चिद्धेतोरस्त्यत्र कारणम् ॥ (लाटीसं ६-१६)।

१ स्त्री और पुरुष के द्वारा एकान्त में किये गये कार्यविशेष के प्रकाशित करने का नाम रहोऽभ्याख्या या रहोऽभ्याख्यान है। यह सत्याणुव्रत का एक अतिचार है। ४ रहस् का अर्थ एकान्त होता है, एकान्त में जो होता है उसे रहस्य कहा जाता है। उससे अथवा उसके विषय में कहना या आरोप लगाना कि ये राजा आदि के विरुद्ध मंत्रणा कर रहे थे। यह सत्याणुव्रत को मलिन करने वाला उसका एक अतिचार है।

राक्षस—१. भीषणरूपविकरणप्रियाः राक्षसा नाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६१)। २. राक्षसा भीमा भीमदर्शनाः कराल-रक्तलम्बौष्ठास्तपनीयविभूषणा नानाभक्तिविलेपनाः। (बृहत्सं. मलय. वृ. ५८)।

१ जो रुचिपूर्वक भयानक रूप की विक्रिया किया करते हैं वे राक्षस कहलाते हैं। २ जो देखने में भयानक, भयप्रद लाल ओठों से सहित और सुवर्णमय भूषणों से युक्त होते हैं उन्हें राक्षस कहा जाता है।

राक्षसविवाह—१. कन्यायाः प्रसह्यादानाद्राक्षसः। (नीतिवा. ३१-१२, पृ. ३७६)। २. प्रसह्य कन्यादानाद् राक्षसः। (ध. बि. मु. वृ. १-१२)। ३. प्रसह्य कन्याग्रहणाद्राक्षसः। (योगशा. स्वो. विव. १-४७)।

१ बलपूर्वक कन्या के ग्रहण का नाम राक्षसविवाह है।

राग—१. अभिष्वङ्गलक्षणो रागः। (ध्यानश. हरि. वृ. ८; आव. भा. मलय. वृ. २०३, पृ. ५६३)। २. माया-लोभ-वेदत्रय-हास्य-रतयो रागः। (धव. पु. १२, पृ. २८३); माया-लोभ-हस्स-रदि-तिवेदाणं दव्वकम्मोदयजणिदपरिणामो रागो। (धव. पु. १४, पृ. ११)। ३. विचित्रचारित्रमोहनीयविपाकप्रत्यये प्रीत्यप्रीती राग-द्वेषौ। (पंचा. का. अमृत. वृ. १३१)। ४. निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणवीतरागचारित्रप्रच्छादकचारित्रमोहो राग-द्वेषौ भण्येते। (बृ. द्रव्यसं. टी. ४८, पृ. १८६)। ५. तस्यैवात्मनो विचित्रचारित्रमोहोदये सति निश्चयवीतरागचारित्ररहितस्य व्यवहारव्रतादिपरिणामरहितस्य इष्टानिष्टविषये प्रीत्यप्रीतिपरिणामो राग-द्वेषौ भण्यते। (पंचा. का. जय. वृ. १३१)। ६. रूपाद्याक्षेपजनितः प्रीतिविशेषो रागः। (आव. नि. मलय. वृ. ७२४, पृ. ३५६)। ७. प्रीतिलक्षणो रागः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २६०, पृ. ४५५)।

१ आसक्ति का नाम राग है। २ माया, लोभ, तीन वेद, हास्य और रति इन्हें रागस्वरूप माना जाता है। ४ निर्विकार स्वसंवेदनस्वरूप वीतरागचारित्र के रोधक चारित्रमोह को राग-द्वेष कहते हैं।

राजकथा—१. राज्ञां कथाः नानाप्रजापतिप्रतिबद्धवचनानि, स राजा प्रचण्डः शूरश्चाणक्यनिपुणश्चारकुशलो योग-क्षेमोद्यतमतिश्चतुरंगबलो निर्जिताशेषवैरिनिवहो न तस्य पुरतः केनापि स्थीयते इत्येवमादिकं वचनं राजकथाः। (मूला. वृ. ६-८६)। २. राट्कथा राजकथा, यथा शूरोऽस्मदीयो राजा, सधनश्चौडः [-श्शौण्डः] गजपतिर्गौडः, अश्वपतिस्तुरुष्क इत्यादि। (योगशा. स्वो. विव. ३-७६)। ३. राज्ञां युद्धहेतूपन्यासो राजकथाप्रपंचः। (नि. सा. वृ. ६७)। ४. राजकथा शूरोऽस्मदीयो राजा सधनः शौण्डः गजपतिर्गौडः अश्वपतिस्तुरुष्क इत्यादिरूपा। (सा. ध. स्वो. टी. ४-२२)।

१ अनेक राजाओं से सम्बन्धित वचनालाप का नाम राजकथा है। जैसे—वह राजा पराक्रमी व शूरवीर है, चाणक्य के समान चतुर है, शत्रुपक्ष की गुप्त बात के जानने में कुशल है, योग—अप्राप्त राज्यादि की प्राप्ति—व क्षेम—प्राप्त के संरक्षण—के विचार में कुशल है, चतुरंग सैन्य से युक्त होकर समस्त शत्रु समूह को जीतने वाला है, तथा उसके सामने कोई भी स्थित नहीं रह सकता है, इत्यादि वार्ता।

राजधर्म—राज्ञो हि दुष्टनिग्रहः शिष्टपरिपालनं च धर्मः। (नीतिवा. ५-२)।

दुष्टों का निग्रह और सज्जनों का परिपालन करना, यह राजा का धर्म होता है।

राजपिण्डाग्रहणस्थितिकल्प — १. राजशब्देन इक्ष्वाकुप्रभृतिकुले जाताः। राजते प्रकृतिं रंजयति इति वा राजा राजसदृशो महद्धिको भण्यते, तस्य पिण्डः तत्स्वामिको राजपिण्डः, तस्य अग्रहणम्। (भ. आ. विजयो. ४२१)। २. अथ राजशब्देन इक्ष्वाकुप्रभृतिकुले जाताः, राजते प्रकृतिं रञ्जयतीति वा, राज्ञा सदृशो महद्धिको भण्यते। तत्स्वामिभक्तादिवर्जनं

चतुर्थः स्थितिकल्पः। (भ. आ. मूला. ४२१)।

१ राज शब्द से यहां जो इक्ष्वाकु आदि कुल में उत्पन्न हुए हैं उन्हें ग्रहण किया गया है, जो प्रजा को अनुरंजित करता है वह तथा उसके समान महा ऋद्धि का धारक भी राजा कहलाता है। उसके यहां भोजन आदि को ग्रहण न करना, यह राज-पिण्डाग्रहण नाम का चौथा स्थितिकल्प है।

राजर्षि—१. तत्र राजर्षयो विक्रियाऽक्षीणर्द्धिप्राप्ता भवन्ति। (चा. सा. पृ. २२)। २. विक्रियाऽक्षीण-ऋद्धीशो यः स राजर्षिरीरितः। (धर्मसं. श्रा. ६, २८६)।

१ जो विक्रिया और अक्षीण ऋद्धि के धारक होते हैं उन्हें राजर्षि कहा जाता है।

राजा—१. वररयणमउडधारी सेवयमाणाण वत्ति तह अट्ठं। देंता हवेदि राजा जिदसत्तू समरसंघट्टे॥ (ति. प. १-४२)। २. अष्टादशसंख्यानां श्रेणीनामधिपतिर्विनम्राणाम्। राजा स्यान्मुकुटधरः कल्पतरुः सेवमानानाम्॥ (धव. पु. १, पृ. ५७ उद्.)। ३. योऽनुकूल-प्रतिकूलयोरिन्द्र-यमस्थानं स राजा। (नीतिवा. ५-१)।

१ जो उत्तम रत्नों के मुकुट को धारण करता है, सेवा करने वालों को वृत्ति (आजीविका) और अर्थ को देता है तथा युद्धस्थल में शत्रुओं को जीतने वाला है उसे राजा कहते हैं। २ जो मुकुट को धारण करता हुआ विनम्र अठारह श्रेणियों का स्वामी होता है वह राजा कहलाता है। वह सेवा करने वालों के लिए कल्पवृक्ष जैसा होता है।

राजु—देखो रज्जु।

राज्य—राज्ञः पृथ्वीपालनोचितं कर्म राज्यम्। (नीतिवा. ५-४, पृ. ४३)।

पृथ्वी के रक्षण के योग्य जो राजा का कार्य है उसे राज्य कहा जाता है।

राज्याख्यान—अमुष्मिन्नधिदेशोऽयं नगरं वेति तत्पतेः। आख्यानं यत्तदाख्यातं राज्याख्यानं जिनागमे॥ (म. पु. ४-७)।

यह अमुक देश व नगर का अधिपति है इत्यादि प्रकार से उसके स्वामी का वर्णन करने को राज्याख्यान कहा जाता है।

रात्रिभक्तव्रत—१. अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्। स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः॥ (रत्नक. ५-२१)। २. रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा। हिंसाविरतैस्तस्मात् त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि॥ (पु. सि. १२९)। ३. रात्रिभक्तव्रता रात्रौ स्त्रीणां भजनं रात्रिभक्तं तद् व्रतयति सेवत इति रात्रिव्रतातिचारा रात्रिभक्तव्रतः दिवाब्रह्मचारीत्यर्थः। (चा. सा. पृ. १९)। ४. जो चउविहं पि भोज्जं रयणीए णेव भुंजदे णाणी। ण य भुंजावइ अण्णं णिसिविरओ सो हवे भोज्जो॥ (कार्तिके. ३८२)। ५. स्त्रीवैराग्यनिमित्तैकचित्तः प्राग्वृत्तनिष्ठितः। यस्त्रिधाऽह्नि भजेन्न स्त्रीं रात्रिभक्तव्रतस्तु सः॥ रात्रावपि ऋतावेव सन्तानार्थमृतावपि। भजन्ति वशिनः कान्तां न तु पर्वदिनादिषु॥ रात्रिभक्तव्रतो रात्रौ स्त्रीसेवावर्तनादिह। निरुच्यतेऽन्यत्र रात्रौ चतुराहारवर्जनात्॥ (सा. ध. ७-१२ व ७, १४-१५)। ६. प्राच्यपञ्चक्रियानिष्ठः स्त्रीसंयोगविरक्तधीः। त्रिधा योऽह्नि भियेन्न स्त्रीं रात्रिभक्तव्रतः स तु॥ एतद्यु[दु]क्त्या किमायातं दिवा ब्रह्मव्रतं त्विति। रात्रौ भक्तञ्जनीसेवां(?)यः कुर्याद्रात्रिभक्तिकः॥ अन्ये चाहुर्दिवाब्रह्मचर्यं चानशनं निशि। पालयेत्स भवेत्षष्ठः श्रावको रात्रिभक्तिकः॥ (धर्मसं. श्रा. ८, २० से २२)। ७. रात्रिभक्तपरित्यागलक्षणा प्रतिमास्ति सा। विख्याता संख्यया षष्ठी सद्मस्थश्रावकोचिता॥ इतः पूर्वं कदाचिद् वा पयःपानादि स्यान्निशि। इतः परं परित्यागः सर्वथा पयसोऽपि तत्॥ यद्वा विद्यते नात्र गन्ध-माल्यादिलेपनम्। नापि रोगोपशान्त्यर्थं तैलाभ्यंगादिकर्म तत्॥ किञ्च रात्रौ यथा भुक्तं वर्जनीयं हि सर्वदा। दिवा योषिद्व्रतं चापि षष्ठस्थानं[ने]परित्यजेत्। (लाटीसं. ७, १८ से २१)।

१ जो रात में अन्न, पान, खाद्य और लेह्य इस चार प्रकार के आहार को ग्रहण नहीं करता है वह रात्रिभुक्तिविरत—छठी प्रतिमा का धारक कहलाता है। ३ जो रात में स्त्री के सेवन का—रात में ही सेवन करूंगा, दिन में नहीं—व्रत करता है उसे रात्रिभक्तविरत कहते हैं। ५ पूर्व की पांच प्रतिमाओं का परिपालन करता हुआ जो दिन में मन, वचन व काय से स्त्री का सेवन नहीं करता है वह रात्रिभक्तव्रती होता है। इस प्रतिमा का धारक उसका सेवन रात में भी ऋतुमती अवस्था को

छोड़कर सन्तानप्राप्ति के निमित्त ही करता है तथा पर्व आदि के दिनों में उसका रात में भी परित्याग करता है। (चारित्रसार आदि ग्रन्थों के अनुसार रात में ही स्त्री का सेवन करूंगा ऐसे स्त्रीसेवाव्रत के कारण रात्रिभक्तव्रती कहा जाता है तथा रत्नकरण्डक आदि के अनुसार रात में चार प्रकार के आहार का परित्याग कर देने के कारण रात्रिभक्तव्रती कहा जाता है)।

रात्रिभुक्तिविरत—देखो रात्रिभक्तविरत।

राष्ट्र—पशु-धान्य-हिरण्यसम्पदा राजते शोभते इति राष्ट्रम्। (नीतिवा. १९-१, पृ. १९१)।

पशु, धान्य और सुवर्णरूप सम्पत्ति से सुशोभित होने के कारण देश को राष्ट्र कहा जाता है। यह उसका निरुक्त लक्षण है।

रिक्कू—देखो किष्कु। ××× वेहत्थेहिं हवे रिक्कू। (ति. प. १-११४)।

दो हाथों का एक रिक्कू (किष्कु) होता है।

रुजा—वात्त-पित्त-श्लेष्मणां वैषम्यजातकलेवरविपीडैव रुजा। (नि. सा. वृ. ६)।

वात्त, पित्त और कफ इनकी विषमता से जो शरीर में पीड़ा उत्पन्न होती है उसे रुजा (रोग) कहते हैं।

रुद्र—रौद्राणि कर्मजालानि शुक्लध्यानोग्रवह्निना। दग्धानि येन रुद्रेण तं तु रुद्रं नमाम्यहम्॥ (आप्त-स्व. ३०)।

जिसने शुक्लध्यानरूप अग्नि के द्वारा रौद्र (भयानक) कर्मसमूहों को जला डाला है उसका नाम रुद्र है। यह जिनदेव का नामान्तर है।

रुधिर-अन्तराय—रुधिरं स्वान्यदेहाभ्यां वहतश्चतुरङ्गुलम्। उपलम्भोऽस्र-पूयादेः ×××॥ (अन. ध. ५-४५)।

अपने अथवा अन्य के शरीर से चार अंगुल प्रमाण रुधिर और पीव आदि के बहते हुए उपलब्ध होने पर रुधिर नामक भोजन का अन्तराय होता है।

रुधिरनामकर्म—एवं सेसवण्णाणं पि अत्थो वत्तव्वो (जस्स कम्मस्स उदएण सरीरपोग्गलाणं रुहिरवण्णो उप्पज्जदि तं रुहिरवण्णणामं)। (धव. पु. ६, पृ. ७४)।

जिस कर्म के उदय से शरीरगत पुद्गलों का वर्ण रुधिर जैसा (लाल) होता है उसे रुधिरवर्णनामकर्म कहते हैं।

रुष्टवन्दन—रुष्टं क्रोधाध्मातस्य गुरोर्वन्दनमात्मना वा क्रुद्धेन वन्दनम्। (योगशा. स्वो. विव ३, १३०)।

क्रोध से सन्तप्त गुरु की वन्दना करने पर अथवा स्वयं क्रोध को प्राप्त होते हुए वन्दना करने पर रुष्ट नामक वन्दना का दोष होता है।

रूक्ष—१. रूक्षणाद् रूक्षः। (स. सि. ५-३३)। २. रूक्षणाद् रूक्षः। द्वितयनिमित्तवशाद् रूक्षणाद् रूक्ष इति व्यपदिश्यते। ××× स्निग्धत्वं चिक्कणत्वलक्षणः पर्यायः, तद्विपरीतः परिणामो रूक्षत्वम्। (त. वा. ५, ३३, २)। ३. बहिरभ्यन्तरकारणद्वयवशात् रूक्षपरिणामप्रादुर्भावात् रूक्षयति परुषो भवति रूक्षः, रूक्षणं वा रूक्षः। (त. वृत्ति श्रुत. ५-३३)।

२ बाह्य और अभ्यन्तर कारण के वश परुष पर्याय होती है, स्निग्धता स्वरूप चिक्कणता से विपरीत अवस्था या गुण को रूक्ष कहा जाता है।

रूक्षनामकर्म—एवं सेसफासाणं पि अत्थो वत्तव्वो (जस्स कम्मस्स उदएण सरीरपोग्गलाणं लुक्खभावो होदि तं लुक्खणामं)। (धव. पु. ६, पृ. ७५)।

जिसके उदय से शरीरगत पुद्गलों के रूखापन होता है उसे रूक्षनामकर्म कहते हैं।

रूपकथा—अन्ध्रीप्रभृतीनामन्यतमाया रूपस्य यत्प्रशंसादि सा रूपकथा। यथा—चन्द्रवक्त्रा सरोजाक्षी सद्गीः पीन-घनस्तनी। किं लाटी नो मता साऽस्य देवानामपि दुर्लभा॥ इति (स्थाना. अभय. वृ. २८२, पृ. २१०)।

आन्ध्र आदि विविध प्रान्तों में रहने वाली स्त्रियों में से किसी एक के रूप आदि की जो प्रशंसा की जाती है उसे रूपकथा कहा जाता है।

रूपकदोष—रूपकदोषो नाम स्वरूपावयवव्यत्ययो यथा पर्वते पर्वतरूपावयवानामनभिधानं समुद्रावयवानां चाभिधानमित्यादि। (आव. नि. मलय. वृ. ८८४, पृ. ४८४)।

स्वरूप के अवयवों में जो विपरीतता की जाती है उसका नाम रूपकदोष है। जैसे—पर्वत के वर्णन में उसके अवयवों का निरूपण न करके समुद्र के अवयवों का निरूपण न करना।

रूपगता—१. रूवगया तत्तिएहि चेव पदेहि २०९८९२०० सीह-हय-हरिणादिरूपायारेण परि-

णमणहेदुमंत-तंत-तवच्छरणाणि चित्त-कट्ठ-लेप्पलेण-कम्मादिलक्खणं च वण्णेदि। (धव. पु. १, पृ. ११३); रूपगतायां द्विकोटि-नवशतसहस्रैकान्नवति-सहस्र-द्विशतपदायां २०९८९२०० चेतनाचेतनद्रव्याणां रूपपरावर्तनहेतुविद्या-मंत्र-तंत्र-तपांसि नरेन्द्र-वाद-चित्र-चित्राभासादयश्च निरूप्यन्ते। (धव. पु. ६, पृ. २१०)। २. रूवगया हरि-करि-तुरय-रुरु-णर-तरु-हरिण-वसह-सस-पसयादिसरूवेण परावत्तण-विहाणं णरिंदवायं च वण्णेदि। (जयध. १, पृ. १३९)। ३. रूपगतापि एतावत्- (द्विकोटि-नवलक्षैकोननवतिसहस्रशतद्वय-) परिमाणैव व्याघ्र-सिंह-हरिणादिरूपेण परिणमनकारणमंत्र-तंत्रादेश्चित्र-कर्मादिलक्षणस्य प्रतिपादिका। (श्रुतभ. टी. ९, पृ. १७४—पाठ स्खलित हुआ है)। ४. रूपगता सिंह-करि-तुरग-रुरु-नर-तरु-हरिण-शश-वृषभ-व्याघ्रादि-रूपपरावर्तनकारणमंत्र-तंत्र-तपश्चरणादीनि चित्र-काष्ठ लेप्योत्खननादिलक्षणं धातुवाद-रसवाद-खन्य-वादादीनि च वर्णयति। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. ३६२)। ५. सिंह-व्याघ्र-गज-तुरग-नर-सुरवरा-दिरूपविधायकमंत्र-तंत्राद्युपदेशिका पूर्वोक्त-(द्विशताधिकनवाशीतिसहस्र-नवलक्षाधिककोटिद्वय) पदप्रमाणा रूपगता चूलिका। (त. वृत्ति श्रुत. ९–२०)। ६. रूवगता पुण हरि-करि-तुरंग-रुरु-णर-तरु-मिय-वसहाणं। सस-वग्घादीणं पि य रूवपरावत्तहेदुस्स ॥ तव-चरण-मंत-तंत-यंतस्स परूवगा य वयसिला। चित्त-कट्ठलेव्वुक्खणणादिसु लक्खणं कहदि ॥ पारदपरि-यट्टणयं रसवायं धादुवायक्खणं च। या चूलिया कहेदि णाणाजीवाण सुहहेदू ॥ (अंगप. ३, ६–८, पृ. ३०४)।

१ जिसमें सिंह, घोड़ा और हरिण आदि के रूप के धारण में कारणभूत मंत्र, तंत्र एवं तपश्चरण का तथा चित्रकर्म, काष्ठकर्म, लेप्यकर्म और लयनकर्म इनके लक्षण का वर्णन किया जाता है उसे रूपगता चूलिका कहते हैं।

रूपवर्जितध्यान—देखो रूपातीतध्यान।

रूपवशार्तमरण—निरुपहतपञ्चेन्द्रियसमग्रगात्रस्ते-जस्वी प्रत्यग्रयौवनः सकलजनताचेतःसम्मदकररूप-इति भावयतो मृतिः रूपवशार्तमरणम्। (भ. आ. विजयो. २५, पृ. ८९)।

मैं अविनष्ट पांचों इन्द्रियों की परिपूर्णतायुक्त शरीर से सहित, तेजस्वी और नवीन यौवन से विभूषित हूं; इस प्रकार का मेरा रूप समस्त जनों के चित्त को प्रमुदित करने वाला है; इस प्रकार का चिन्तन करने वाले के मरण को रूपवशार्तमरण कहा जाता है।

रूपश्लेषलक्षणसम्बन्ध—कथंचित् सम्बन्धिनोरेकत्वापत्तिस्वभावस्य रूपश्लेषलक्षणसम्बन्धस्याभ्युपगमात्। (न्यायकु. ७, पृ. ३०७)।

कथंचित् सम्बन्धयुक्त दो पदार्थों के एकत्वापत्ति स्वभाव को रूपश्लेषलक्षणसम्बन्ध माना जाता है।

रूपसत्य—१. उक्कडदरो त्ति वण्णे रूवे सेओ जध बलाया ॥ (मूला ५–११३)। २. यदर्थासन्निधानेऽपि रूपमात्रेणोच्यते तद्रूपसत्यम्। यथा चित्रपुरुषादिषु असत्यपि चैतन्योपयोगादावर्थे पुरुष इत्यादि। (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७५; धव. पु. १, पृ. ११७; चा. सा. पृ. २९; कार्तिके. टी. ३९८)। ३. यदर्थासंन्निधानेऽपि रूपमात्रेण भाष्यते। तद्रूपसत्यं चित्रादिपुरुषादावचेतने ॥ (ह. पु. १०–९९)। ४. रूपग्रहणमुपलक्षणं प्रवृत्तिनिमित्तानाम्, नीलमुत्पलं धवलो हि मृगलाञ्छन इत्येवमादिकं रूपसत्यम्। (भ. आ. विजयो. ११९३)। ५. रूप्यते दृश्यते प्रायो यत्तद्रूपं यदर्पणम्। रूपसत्यं वचः श्वेता बलाकेत्यादिकं यथा ॥ (आचा. सा. ५–२९)। ६. वर्णेनोत्कटतरेति श्वेता बलाका। यद्यपि तत्रान्यानि रक्तादीनि सम्भवन्ति रूपाणि, तथापि श्वेतेन वर्णेनोत्कृष्टतरा बलाका, अन्येषामविवक्षितत्वादिति रूपसत्यं द्रव्यार्थिकनयापेक्षया वाच्यमिति। (मूला. वृ. ५–११३)। ७. रूपे सत्यं रूपसत्यं सितः शशधर इति, सतोऽपि चन्द्रस्य लाञ्छने कार्ष्ण्यस्याविवक्षितत्वात्। (अन. ध. स्वो. टी. ४–४७)। ८. रूपसत्यं नानारूपत्वेऽपि कस्यचिद्रूपस्य प्रकर्षमपेक्ष्य प्रयुज्यमानं वचनम्। (भ. आ. मूला. ११९३)। ९. चक्षुर्व्यवहारस्य प्रचुरत्वात् रूपादि-पुद्गलगुणानां मध्ये रूपप्राधान्येन तदाश्रितं वचः रूपसत्यम्। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. २२३)।

१ अनेक वर्णों में जो वर्ण प्रधान हो उसके आश्रय से बोले जाने वाले वचन को रूपसत्य कहा जाता है। जैसे—बलाका (एक विशेष जाति का बगुला) सफेद होती है, यह वचन। यद्यपि सफेद के अतिरिक्त उसके लाल आदि अन्य वर्ण भी होते हैं, परन्तु

सफेद वर्ण की प्रधानता से उसे सफेद कहना रूप-सत्य माना जाता है।

रूपस्थध्यान—१. जारिसओ देहत्थो झाइज्जइ देह-वाहिरे तह य। अप्पा सुद्धसहावो तं रूवत्थं फुडं झाणं ॥ रूवत्थं पुण दुविहं सगयं तह परगयं च णायव्वं। तं परगयं भणिज्जइ झाइज्जइ जत्थ पंच-परमेट्ठी ॥ सगयं तं रूवत्थं झाइज्जइ जत्थ अप्पणो अप्पा। णियदेहस्स वहित्थो फुरंतरवितेयसंकासो ॥ (भावसं. दे. ६२३–२५)। २. प्रतिमायां समारोप्य स्वरूपं परमेष्ठिनः। ध्यायतः शुद्धचित्तस्य रूपस्थं ध्यानमिष्यते ॥ (अमित. श्रा. १५–५४)। ३. रूप-स्थं सर्वचिद्रूपं ××× ॥ (वृ. द्रव्यसं. टी. ४८ उद्.)। ४. आदित्यमहिमोपेतं सर्वज्ञं परमेश्वरम्। ध्यायेद्देवेन्द्र-चन्द्रार्कसभान्तस्थं स्वयम्भुवम् ॥ सर्वाति-शयसंपूर्णं सर्वलक्षणलक्षितम्। सर्वभूतहितं देवं शील-शैलेन्द्रशेखरम् ॥ सप्तधातुविनिर्मुक्तं मोक्षलक्ष्मी-कटाक्षितम्। अनन्तमहिमाधारं सयोगिपरमेश्वरम् ॥ अचिन्त्यचरितं चारुचरित्रैः समुपासितम्। विचित्र-नयनिर्णीतं विश्वं विश्वैकवान्धवम् ॥ निरुद्धकरण-ग्रामं निषिद्धविषयद्विपम्। ध्वस्तरागादिसन्तानं भवज्वलनवार्मुचम् ॥ दिव्यरूपधरं धीरं विशुद्धज्ञान-लोचनम्। अपि त्रिदशयोगीन्द्रैः कल्पनातीतवैभवम् ॥ स्याद्वाद-पविनिर्घातभिन्नान्यमतभूधरम्। ज्ञानामृत-पयःपूरैः पवित्रितजगत्त्रयम् ॥ इत्यादिगणनातीतगुण-रत्नमहार्णवम्। देवदेवं स्वयम्बुद्धं स्मराद्यं जिन-भास्करम् ॥ (ज्ञाना. ३६, १–८, पृ. ४०६)। ५. आयासफलिहसंणिहतणुप्पहासलिलणिहिणिव्वु-डंतं। णर-सुरतिरीडमणिकिरणसमूहरंजियपयंवु-रुहो ॥ वरअट्ठपाडिहारेहिं परिउडो समवसरणमज्झ-गओ। परमप्पाणंतचउट्ठयण्णिओ पवणमग्गट्ठो ॥ एरि-सओ च्चिय परिवारवज्जिओ खीरजलहिमज्झे वा। वरखीरवण्णकंदुत्थकण्णियामज्झदेसट्ठो ॥ खीरुवहि-सलिलधाराहिसेयधवलीकयंगसव्वंगो। जं झाइज्जइ एवं रूवत्थं जाण तं झाणं ॥ (वसु. श्रा. ४७२-७५)। ६. मोक्षश्रीसम्मुखीनस्य विध्वस्ताखिलकर्मणः। चतु-र्मुखस्य निःशेषभुवनाभयदायिनः ॥ इन्दुमण्डलसंका-शच्छत्रत्रितयशालिनः। लसद्भामण्डलाभोगविडम्बित-विवस्वतः ॥ दिव्यदुन्दुभिनिर्घोषगीतसाम्राज्यसम्पदः। रणद्द्विरेफझङ्कारमुखराशोकशोभिनः ॥ सिंहासन-निषण्णस्य वीज्यमानस्य चामरैः। सुरासुरशिरोरत्न-दीप्रपादनखद्युतेः ॥ दिव्य-पुष्पोत्कराकीर्णासंकीर्ण-परिषद्भुवः। उत्कन्धरैर्मृगकुलैः पीयमानकलध्वनेः ॥ शान्तवैरेभ-सिंहादिसमुपासितसन्निधेः। प्रभोः समव-सरणस्थितस्य परमेष्ठिनः ॥ सर्वातिशयमुक्तस्य केवलज्ञान-भास्वतः। अर्हतो रूपमालम्ब्य ध्यानं रूपस्थमुच्यते ॥ राग-द्वेष-महामोहविकारैरकलङ्कि-तम्। शान्तं कान्तं मनोहारि सर्वलक्षणलक्षितम् ॥ तीर्थिकैरपरिज्ञातयोगमुद्रामनोरमम्। अक्ष्णोरमन्द-मानन्दनिःस्यन्दं दददद्भुतम् ॥ जिनेन्द्रप्रतिमारूप-मपि निर्मलमानसः। निर्निमेषदृशा ध्यायन् रूपस्थध्या-नवान् भवेत् ॥ (योगशा. ९, १–१०)। ७. तत्र नामाक्षरं शुभ्रं प्रतिविम्बं च योगिनः। ध्यायतो भिन्नमीशेदं ध्यानं रूपस्थमीडितम् ॥ शुद्धं शुभ्रं स्वतो भिन्नं प्रतिहार्यादिभूषितम्। देवं स्वदेहमर्हन्तं रूपस्थं ध्यान[य]तोऽथवा ॥ (ध्यानस्तव ३०–३१)। ८. आत्मा देहस्थितो यद्वच्चिन्त्यते देहतो वहिः। तद् रूपस्थं स्मृतं ध्यानं भव्य-राजीवभास्करैः। (भावसं. वाम. ६६३)।

१ जिस प्रकार शरीर में स्थित शुद्ध स्वभाव वाले आत्मा का ध्यान किया जाता है उसी प्रकार शरीर से वाहिर उसका जो ध्यान किया जाता है उसे रूपस्थध्यान कहा जाता है। वह स्वगत और परगत के भेद से दो प्रकार का है। पांच परमेष्ठियों के ध्यान का नाम परगत और शरीर से वाह्य अपने आत्मा के ध्यान का नाम स्वगत रूपस्थध्यान है। २ परमेष्ठी के स्वरूप को प्रतिमा में आरोपित करके जो उसका ध्यान किया जाता है, इसे रूपस्थ-ध्यान कहते हैं।

रूपातीतध्यान—देखो अरूप व गतरूप ध्यान। १. ××× रूपातीतं निरञ्जनम् ॥ (वृ. द्रव्यसं. टी. ४८ उद्.)। २. अथ रूपे स्थिरीभूतचित्तः प्रक्षीण-विभ्रमः। अमूर्तमजमव्यक्तं ध्यातुं प्रक्रमते ततः ॥ चिदानन्दमयं शुद्धममूर्तं परमाक्षरम्। स्मरेद्यत्रात्मना-त्मानं तद्रूपातीतमिष्यते ॥ (ज्ञाना. ४०, १५-१६, पृ. ४१६)। ३. वण्ण-रस-गंध-फासेहिं वज्जिओ णाण-दंसणसरूओ। जं झाइज्जइ एवं तं झाणं रूव-रहियं ति ॥ (वसु. श्रा. ४७६)। ४. अमूर्त्तस्य चिदानन्दरूपस्य परमात्मनः। निरञ्जनस्य सिद्धस्य

ध्यानं स्याद् रूपवर्जितम् ॥ (योगशा. १०–१)। ५. रूपातीतं भवेत्तस्य यस्त्वां ध्यायति शुद्धधीः। आत्मस्थं देहतो भिन्नं देहमात्रं चिदात्मकम् ॥ संख्यातीतप्रदेशस्थं ज्ञान-दर्शनलक्षणम्। कर्तारं चानुभोक्तारममूर्तं च सदात्मकम् ॥ कथंचिन्नित्यमेकं च शुद्धं सक्रियमेव च। न रुष्यन्तं न तुष्यन्तमुदासीनस्वभावकम् ॥ कर्मलेपविनिर्मुक्तमूर्ध्वव्रज्यास्वभावकम्। स्वसंवेद्यं विभुं सिद्धं सर्वसंकल्पवर्जितम् ॥ परमात्मानमात्मानं ध्यायतो ध्यानमुत्तमम्। रूपातीतमिदं देव निश्चितं मोक्षकारणम् ॥ (ध्यानस्तव ३२–३६)। ६. ध्यानत्रयेऽत्र सालंबे कृताभ्यासः पुनः पुनः। रूपातीतं निरालम्बं ध्यातुं प्रक्रमते यतिः ॥ इन्द्रियाणि विलीयन्ते मनो यत्र लयं व्रजेत्। ध्यातृ-ध्येयविकल्पे[ल्पो]न तद् ध्यानं रूपवर्जितम् ॥ अमूर्तमजमव्यक्तं निर्विकल्पं चिदात्मकम्। स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं रूपातीतं च तद्विदुः ॥ (भावसं. वाम. ६६४–६६)।

२ जिसका चित्त रूपस्थ ध्यान में भ्रान्ति से रहित होकर स्थिर हो चुका है वह जो फिर अमूर्त, अज (जन्म-मरणादि से रहित) अव्यक्त, चेतन, आनन्दरूप, शुद्ध, कर्म-मल से रहित और अविनश्वर आत्मा का आत्मा के द्वारा ध्यान करता है उसे रूपातीतध्यान कहा जाता है। अरूपध्यान व गतरूपध्यान इसके नामान्तर हैं।

रूपानुपात—१. स्वविग्रहदर्शनं रूपानुपातः। (स. सि. ७–३१)। २. स्वविग्रहप्ररूपणं रूपानुपातः। मम रूपं निरीक्ष्य व्यापारमचिरान्निष्पादयन्ति इति स्वविग्रहप्ररूपणं रूपानुपात इति निर्णीयते। (त. वा. ७, ३१, ४)। ३. रूपानुपातः अभिगृहीतदेशाद् वहिः प्रयोजनभावे शब्दमनुच्चारयत एव परेषां समीपानयनार्थं स्वशरीररूपदर्शनं रूपानुपातः। (आव. अ. ६, हरि. वृ. पृ. ८३५)। ४. स्वविग्रहप्ररूपणं रूपानुपातः। (त. श्लो. ७–३१) ५. मम रूपं निरीक्ष्य व्यापारमचिरान्निष्पादयन्तीति स्वांगदर्शनं रूपानुपातः। (चा. सा. पृ. ६)। ६. तथा रूपं स्वशरीरसम्बन्धि उत्पन्नप्रयोजनः शब्दमनुच्चारयन् आह्वानीयानां दृष्टावनुपातयति, तद्दर्शनाच्च ते तत्समीपमागच्छन्तीति रूपानुपातः। (योगशा. स्वो. विव. ३–११७)। ७. मर्यादीकृतदेशे स्थितस्य वहिर्देशे कर्म कुर्वतां कर्मकराणां स्वविग्रहप्रदर्शनं रूपाभिव्यक्तिः। (रत्नक. टी. ४–६)। ८. स्वशरीरदर्शनं रूपानुपातः। (त. वृत्ति श्रुत. ७–३१)। ९. दोषो रूपानुपाताख्यो व्रतस्यामुष्य विद्यते। स्वाङ्गाङ्गदर्शनं यद्वा समस्या चक्षुरादिना ॥ (लाटीसं. ६–१३२)।

२ मेरे शरीर को देखकर स्वीकृत क्षेत्र के बाहिर स्थित मनुष्य शीघ्र ही कार्य को कर देंगे, ऐसा सोचकर मर्यादीकृत क्षेत्र के भीतर स्थित रहते हुए उन्हें अपना रूप दिखलाना यह रूपानुपात नामक देशव्रत (देशावकाशिकव्रत) का एक अतिचार है। ३ मर्यादित क्षेत्र के बाहिर प्रयोजन के उपस्थित होने पर शब्द का उच्चारण न करते हुए ही दूसरों को समीप लाने के लिए अपने शरीर के रूप को दिखलाना, इसे रूपानुपात कहा जाता है।

रूपाभिव्यक्ति—देखो रूपानुपात।

रूपी—देखो अरूपी। १. गुणाविभागपडिच्छेदेहि समाणा जे णिद्ध-ल्हुक्खगुणजुत्तपोग्गला ते रूविणो णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३१–३२)। २. रूपं रूप-रसादिसंस्थानपरिणामलक्षणा मूर्तिर्विद्यते येषां ते रूपिणः। (त. वृत्ति श्रुत. ५–५)।

१ जो स्निग्ध और रूक्ष गुणयुक्त पुद्गल गुणों के अविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा समान होते हैं वे रूपी कहलाते हैं। २ रूप-रसादि के संस्थान परिणाम स्वरूप मूर्ति जिनके विद्यमान होती है उन्हें रूपी कहा जाता है।

रेचक—१. निःसार्यतेऽतियत्नेन यत्कोष्ठाच्छ्वसनं शनैः। स रेचक इति प्राज्ञैः प्रणीतः पवनागमे ॥ (ज्ञाना. २९–६, पृ. २८५); यत् कोष्ठादतियत्नेन नासाब्रह्मपुराननैः। वहिः प्रक्षेपणं वायोः स रेचक इति स्मृतः ॥ (ज्ञाना. २, २८६ उद्.)। २. यः कोष्ठादतियत्नेन नासाब्रह्मपुराननैः। वहिः प्रक्षेपणं वायोः स रेचक इति स्मृतः ॥ (योगशा. ५-६)। ३. निःसार्यते ततो यत्नान्नाभि-पद्मोदराच्छनैः। योगिना योगसामर्थ्याद्रेचकाख्यः प्रभञ्जनः ॥ (भावसं. वाम. ६९९)।

१ अतिशय प्रयत्नपूर्वक जो उदर से धीरे-धीरे वायु को निकाला जाता है, इसे रेचक प्राणायाम कहते हैं।

रोग—खय-कुट्ठ-जरादओ रोगो णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३३६)।

क्षय, कोढ़ और ज्वर आदि का नाम रोग है।

रोगपरीषहजय—१. सर्वाशुचिनिधानमिदमनित्यमपरित्राणमिति शरीरे निःसङ्कल्पत्वाद्विगतसंस्कारस्य गुणरत्नभाण्डसञ्चयप्रवर्धन-संरक्षण-संधारणकारणत्वादभ्युपगतस्थितिविधानस्याक्षम्रक्षणवद् व्रणानुलेपनवद् वा बहूपकारमाहारमभ्युपगच्छतो विरुद्धाहारपानसेवनवैषम्यजनितवातादिविकाररोगस्य युगपदनेकशतसंख्यव्याधिप्रकोपे सत्यपि तद्वशवर्तितां विजहतो जल्लौषधिप्राप्त्याद्यनेकतपोविशेषर्द्धियोगे सत्यपि शरीरनिःस्पृहत्वात्तत्प्रतिकारानपेक्षिणो रोगपरिषहसहनमवगन्तव्यम्। (स. सि. ९-९)। २. नानाव्याधिप्रतीकारानपेक्षत्वं रोगसहनम्। दुःखादिकारणमशुचिभाजनं जीर्णवस्त्रवत् परिहेयं पित्त-मारुत-कफसन्निपातनिमित्तानेकामयवेदनाभ्यर्दितमन्यदीयमिव विग्रहं मन्यमानस्य उपेक्षितृत्वाप्रच्युतेश्चिकित्साव्यावृत्तचेष्टस्य शरीरयात्राप्रसिद्धये व्रणालेपनवद्यथोक्तमाहारमाचरतो जल्लौषधिप्राप्त्याद्यनेकतपोविशेषर्द्धियोगे सत्यपि शरीरनिःस्पृहत्वात्प्रतीकारानपेक्षिणः पूर्वकृतपापकर्मणः फलमिदमनेनोपायेनानृणीभवामीति चिन्तयतो रोगसहनं सम्पद्यते। (त. वा. ९, ९, २१)। ३. रोगःज्वरातिसार-कास-श्वासादिः, तस्य प्रादुर्भावे सत्यपि न गच्छनिर्गताश्चिकित्सायां प्रवर्तन्ते, गच्छवासिनस्त्वल्प-बहुत्वालोचनया सम्यक् सहन्ते, प्रवचनोक्तविधिना प्रतिक्रियामाचरन्तीति, एवमनुष्ठिता रोगपरीषहजयः कृतो भवति। (आव. सू. अ. ४, हरि. वृ. पृ. ६५७)। ४. नानाव्याधिप्रतीकारानपेक्षत्वं रोगसहनम्। (त. श्लो. ९-९)। ५. कंडू या गलगंडपांडुदवथुग्रन्थिज्वरश्लीपदश्लेष्मोदुंबरकुष्ठपवनश्वासादिरोगादितः। भिक्षुः क्षीणबलोऽपि भेषजसुहृन्मंत्रानपेक्षः क्षमी दुःकर्मारिविनिर्मितार्ऽर्तिविजयी स्याद् व्याधिवाधाजयः॥ (आचा. सा. ७-१०)। ६. तपोमहिम्ना सहसा चिकित्सितुं शक्तोऽपि रोगानतिदुस्सहानपि। दुरन्तपापान्तविधित्सया सुधीः स्वस्थोऽधिकुर्वीत सनत्कुमारवत्॥ (अन. ध. ७-१०४)। ७. स्वशरीरमन्यशरीरमिव मन्यमानस्य शरीरयात्राप्रसिद्धये व्रणलेपवदाहारमाचरतो जल्लौषधाद्यनेकतपोविशेषर्द्धियोगेऽपि शरीरनिःस्पृहत्वात् व्याधिप्रतीकारानपेक्षिणः [पूर्वकृतपापकर्मणः] फलमिदमनेनोपायेनानृणीभवामीति चिन्तयतो रोगसहनम्। (आरा. सा. टी. ४०)।

१ यह शरीर अपवित्रता का स्थान, अनित्य और रक्षा से रहित (अरक्षणीय) है। परन्तु वह सम्यक्त्वादि गुणों का पात्र (डिब्बा) है, अतः उनके संचय के बढ़ाने, रक्षण व धारण करने का कारण होने से उसको स्थिर रखने के लिए आहार की आवश्यकता इस प्रकार रहती है जिस प्रकार कि गाड़ी के पहिए की कील के लिए औंगन अथवा घाव के लिए मलहम के लेपन की आवश्यकता रहती है। यह अवश्य है कि वह शास्त्रोक्त विधि के अनुसार प्राप्त होना चाहिए, यदि विरुद्ध आहार-पानादि के सेवन से रोगादि विकार हुए हैं तो उनके अधीन न होकर औषधिऋद्धि आदि के होते हुए भी उनसे प्रतीकार की अपेक्षा न कर रोगों को निराकुलतापूर्वक सहना, इसका नाम रोगपरीषह-सहन या रोगपरीषहजय है। ३ ज्वर, अतिसार, कास और श्वास आदि रोगों के उत्पन्न होने पर भी गच्छ से निकल कर उनकी चिकित्सा में प्रवृत्त न होना, किन्तु गच्छ में रहते हुए हीनाधिकता के विचारपूर्वक उन्हें सहन करना तथा आगमोक्त विधि से उनका प्रतीकार करना, इसे रोगपरीषहजय कहा जाता है।

रोगपरीषहसहन—देखो रोगपरीषहजय।

रोगसहन—देखो रोगपरीषहजय।

रोचकसम्यक्त्व—१. रोयगसम्मत्तं पुण रुइमित्तकरं मुणेयव्वं॥ (श्रा. प्र. ४९)। २. तत्र श्रुतोक्ततत्त्वेषु हेतूदाहरणैर्विना। दृढा या प्रत्ययोत्पत्तिस्तद्रोचकमुदीरितम्॥ (त्रि. श. पु. च. १, ३, ६०९)। १ जो सम्यक्त्व जिनप्ररूपित तत्त्वों पर रुचि मात्र को उत्पन्न करने वाला है उसे रोचकसम्यक्त्व कहते हैं।

रोधनअन्तराय—××× रोधनं तु स्यान्मा भुङ्क्ष्वेति निषेधनम्॥ (अन. ध. ५-४४)। 'मत खाओ' इस प्रकार धरणक (धरना देने वाला) आदि के द्वारा रोकने पर रोधन नाम का अन्तराय होता है।

रोष—क्रोधनस्य पुंसस्तीव्रपरिणामो रोषः। (नि. सा. वृ. ६)। क्रोधी पुरुष की तीव्र परिणति का नाम रोष है।

रौद्र—१. तेणिक्क-मोस-सारक्खणेसु तह चेव छव्विहारंभे। रुद्दं कसायसहियं झाणं भणियं समासेण॥

भ. आ. १७०३) । २. रुद्रः, क्रूराशयः, तस्य कर्म तत्र भवं वा रौद्रम् । (स. सि. ९–२८) । ३. रुद्रः क्रूरः, तत्कर्म रौद्रम् । रोदयतीति रुद्रः, क्रूर इत्यर्थः । तस्येदं कर्म, तत्र भवं वा रौद्रमित्युच्यते । (त. वा. ९, २८, २) । ४. उत्सन्न-वधादिलक्षणं रौद्रम् । (आव. सू. अ. ४, हरि. वृ. पृ. ५८२) । ५. हिंसा-द्यतिक्रौर्यानुगतं रौद्रम् । (ध्यानश. हरि. वृ. ५; स्थाना. अभय. वृ. २४७) । ६. रुद्रः क्रूराशयः प्राणी रौद्र तत्र भवं ततः । (ह. पु. ५६–१९) । ७. प्राणिनां रोदनाद्रुद्रः क्रूरः सत्त्वेषु निर्घृणः । पुमांस्तत्र भवं रौद्रं विद्धि ध्यानं चतुर्विधम् ।। (म. पु. २१–४२) । ८. रुद्रः क्रुद्धः, तत्कर्म रौद्रं तत्र भवं वा । (त. श्लो. ९–२८) । ९. हिंसायामनृते स्तेये तथा विषयरक्षणे । रौद्रं कषायसंयुक्तं ध्यानमुक्तं समासतः ।। (त. सा. ७–३७) । १०. कषायक्रूराशयत्वाद्धिसाऽसत्य-स्तेय-विषयसंरक्षणानंदरूपं रौद्रम् । (पंचा. का. अमृत. वृ. १४०) । ११. हिंसाणंदेण जुदो असच्चवयणेण परिणदो जो हु । तत्थेव अथिरचित्तो रुद्दं ज्झाणं हवे तस्स ।। परविसयहरणसीलो सगीयविसये सुरक्खणे दक्खो । तग्गयचिंताविट्ठो णिरंतरं तं पि रुद्दं पि ।। (कार्तिके. ४७५-७६)। १२. बंधण-डहण-वियारण-मारणचिंता रउद्दंमि ।। (ज्ञा. सा. ११) । १३. रुद्राशयभवं भीममपि रौद्रं चतुर्विधम् । कीर्त्यमानं विदन्त्वार्याः सर्वसत्त्वाभयप्रदाः ।। रुद्रः क्रूराशयः प्राणी प्रणीतस्तत्त्वदर्शिभिः । रुद्रस्य कर्म भावो वा रौद्रमित्यभिधीयते ।। (ज्ञाना. २६, १–२, पृ. २६२) । १४. रौद्रं हिंसानृत-चौर्य-धनसंरक्षणाभिसन्धानलक्षणम् । (समवा. अभय. वृ. ४) । १५. रोदयत्यपरानिति रुद्रो दुःखहेतुः, तेन कृतं तस्य वा कर्म रौद्रम् ।। (योगशा. स्वो. विव. ३–७३) । १६. चौर-जार-शात्रवजनवध-बन्धन-निबद्धमहद्द्वेषजनितरौद्रध्यानम् । (नि. सा. वृ. ८९) । १७. रोदयते प्राणिन इति रुद्रो हिंस्रो रुद्रे भवं रौद्रम् ।। (भ. आ. मूला. १७०३) । १८. पुंसां यदुत्पत्तिनिमित्तभूता रोषादयो रौद्रतमाः कषायाः । रौद्रस्य दुःखस्य च रौरवादेर्यत्कारणं तत्किल रौद्रमाहुः ।। (आत्मप्र. ६२) । १९. रुद्रः क्रूराशयः प्राणी, तत्कर्म रौद्रम् । (भावप्रा. टी. ७८) ।

१ चोरी, प्राणिहिंसा, असत्य और विषयसंरक्षण (अथवा धनसंरक्षण) तथा छह प्रकार के आरम्भ के सम्बन्ध में जो कषायसहित ध्यान होता है उसे रौद्रध्यान कहते हैं। ४ निरन्तर प्राणिवधादि-विषयक जो चिन्तन होता है उसे रौद्रध्यान कहा जाता है।

लक्षण— १. परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम् । बन्धपरिणामानुविधानात् परस्परप्रदेशानुप्रवेशाद् व्यतिकीर्णस्वभावत्वेऽपि सत्यन्यत्वप्रतिपत्तिकारणं लक्षणमिति समाख्यायते । (त. वा. २, ८, २) । २. जस्साभावे दव्वस्साभावो होदि तं तस्स लक्खणं । (धव. पु. ७, पृ. ९६) । ३. उद्दिष्टस्य स्वरूपव्यवस्थापको धर्मः लक्षणम् । (न्यायकु. ३, पृ. २१) । ४. लक्ष्यते अनेनेति तल्लक्षणम् । (न्यायवि. विव. १–३, पृ. ८५) । ५. उद्दिष्टस्यासाधारणस्वरूपनिरूपणं लक्षणम् । (लघीय. अभय. वृ. १–३, पृ. ६) । ६. व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम् । (न्यायदी. पृ. ५–६) ।

१ परस्पर में मिलित होने पर भी जिसके द्वारा विवक्षित वस्तु की भिन्नता का बोध होता है उसे लक्षण कहते हैं । जैसे— बन्ध परिणाम के अनुसरण व प्रदेशों के परस्पर अनुप्रवेश से एकरूपता के होने पर भी जीव और पुद्गल की भिन्नता का बोध क्रम से उपयोग और रूप-रसादि के द्वारा होता है, अतः क्रम से ये उन दोनों के लक्षण हैं। २ जिसके अभाव में द्रव्य (वस्तु) का अभाव हो सकता है उसे उसका लक्षण जानना चाहिए। जैसे—उपयोग के अभाव में जीव का और रूप-रसादि के अभाव में पुद्गल का अभाव हो सकता है, अतः जीव का लक्षण उपयोग और पुद्गल का लक्षण रूप-रसादि (मूर्तिकत्व) है।

लक्षणनिमित्त—१. कर-चरणतलप्पहुदिसु पंकय-कुलिसादियाणि दट्ठूणं । जं तियकालसुहाइं लक्खइ तं लक्खणणिमित्तं ।। (ति. प. ४–१०१०) । २. श्री-वृक्ष-स्वस्तिक-भृङ्गार-कलशादिलक्षणवीक्षणात् त्रैकालिकस्थानमानैश्वर्यादिविशेषज्ञानं लक्षणम् । (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०२) । ३. पाणि-पादतल-वक्षःस्थलादिषु श्रीवृक्ष-स्वस्तिक-भृंगारक-कलश-कुलिशादिलक्षणवीक्षणात, त्रैकालिकस्थानमानैश्वर्यादिविशेषणं लक्षणम् । (चा. सा. पृ. ९४–९५) । ४. यल्लक्षणं (नन्दिकावर्त-पद्म-चक्रादिकं) दृष्ट्वा पुरुषस्यान्यस्य वा शुभाशुभं ज्ञायते तल्लक्षणनिमित्तं नाम ।

(मूला. वृ. ६–३०)।

१ हाथ व पांव के तल आदि में कमल एवं वज्र आदि चिह्नों को देख कर जिस ऋद्धि के प्रभाव से तीनों काल सम्बन्धी सुखादि को जान लिया जाता है उसका नाम लक्षणनिमित्त ऋद्धि है।

लक्षणमहानिमित्त — सोत्थिय-णंदावत्त - सिरीवच्छ-संख-चक्कंकुस-चंद-सूर - रयणायरादिलक्खणाणि उर-ललाट-हत्थ-पादतलादिसु जहाकमेण अट्ठुत्तरसद-चउसट्ठि-वत्तीसं दट्ठूण तित्थयर-चक्कवट्टि-वलदेव-वासुदेवत्तावगमो लक्खणं णाम महाणिमित्तं। (धव. पु. ६, पृ. ७३)।

स्वस्तिक, नन्दावर्त, श्रीवृक्ष, शंख, चक्र, अंकुश, चन्द्र, सूर्य और रत्नाकर आदि चिह्नों को उर (वक्षस्थल), मस्तक एवं हाथ व पांव के तल आदि में एक सौ आठ, चौंसठ और बत्तीस संख्या में देखकर क्रम से तीर्थंकर, चक्रवर्ती तथा वलदेव और वासुदेव पद का ज्ञान लेना; इसका नाम लक्षणमहानिमित्त है।

लक्षणसंवत्सर—लक्षणेन यथावस्थितेनोपेतः संवत्सरो लक्षणसंवत्सरः। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १०, २०, ५४, पृ. १५४)।

जो संवत्सर यथावस्थित लक्षण से युक्त होता है वह लक्षणसंवत्सर कहलाता है। संवत्सर के नक्षत्र-संवत्सरादि पांच भेदों में यह चौथा है।

लगण्डशायी—१. लग[गं]डसाई संकुचितकरणस्य शयनम्। (भ. आ. मूला. २२५)। २. लग [गं]-डसाई संकुचितगात्रस्य शयनम्। (भ. आ. मूला. २२५)।

१ वक्र लकड़ी का नाम लगण्ड है, जो लगण्ड के समान शरीर को संकुचित करके सोता है उसे लगण्डशायी कहते हैं।

लघिमा—देखो लघुत्व। १. ××× अणिलाउ लहुतरो लहिमा। (ति. प. ४–१०२७)। २. वायोरपि लघुतरशरीरता लघिमा। (त. वा. ३, ३६, ३; चा. सा. पृ. ९७)। ३. मेरुपमाणसरीरेण मक्कडतंतुहि परिसक्कणणिमित्तसत्ती लघिमा णाम। (धव. पु. ९, पृ. ७५)। ४. लघिमा यल्लघुत्वाद्वायुवद् विचरति। (न्यायकु. ४, पृ. ११०)। ५. लघिमा यल्लघुत्वाद्वायुवत्सर्वत्र संचरति। (प्रा. योगिभ. टी. ६, पृ. १९९)। ६. लघुशरीरविधानं लघिमा। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३३)।

१ जिस ऋद्धि के प्रभाव से वायु की अपेक्षा भी अतिशय लघु शरीर किया जा सकता है उसका नाम लघिमा है। ३ जिस शक्ति के निमित्त से मेरु के बराबर शरीर से मकड़ी के तन्तुओं पर से जाया जा सकता है उसे लघिमा ऋद्धि कहते हैं।

लघुकर्मा—लघु अल्पं कर्म सद्धर्मद्वेषनिमित्तं मिथ्यात्वं यस्य सोऽयं लघुकर्मा। (सा. ध. स्वो. टी. १–९)।

जिसके समीचीन धर्म से द्वेष का कारणभूत मिथ्यात्वादि कर्म का तीव्र उदय नहीं होता उसे लघुकर्मा कहा जाता है।

लघुगति—अलावुद्रुतार्कतूलादीनां लघुगतिः। (त. वा. ५, २४, २६)।

तूंबड़ी व वेगयुक्त आक की रुई आदि की गति को लघुगति—शीघ्रतायुक्त—गति कहा जाता है।

लघुत्व—देखो लघिमा। लघुत्वं वायोरपि लघुतरशरीरता। (योगशा. स्वो. विव. १–८)।

शरीर का वायु से भी हलका होना, इसका नाम लघुत्व ऋद्धि है।

लघुनामकर्म—एवं सेसफासाणं पि अत्थो वत्तव्वो (जस्स कम्मस्स उदएण सरीरपोग्गलाणं लहुअभावो होदि तं लहुअणामं)। (धव. पु. ६, पृ. ७५)।

जिस कर्म के उदय से शरीरगत पुद्गलों में लघुता होती है उसे लघुनामकर्म कहते हैं।

लतादोष—१. तथा लता इवांगानि चालयन् यः तिष्ठति कायोत्सर्गेण तस्य लतादोषः। (मूला. वृ. ७–१७१)। २. खरवातप्रकम्पितायाः लताया इव कम्पनं लतादोषः। (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०)। ३. ××× मरुद्धूतलतावच्चलतो लता॥ (अन. ध. ८–११२)।

१ जो लता के समान शरीर के अवयवों को चलाता हुआ कायोत्सर्ग से स्थित होता है उसके लता नामक कायोत्सर्ग का दोष होता है।

लब्धि—१. लम्भनं लब्धिः। का पुनरसौ? ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषः। (स. सि. २–१८); तपोविशेषादृद्धिप्राप्तिर्लब्धिः। (स. सि. २–४७)। २. इन्द्रियनिर्वृत्तिहेतुः क्षयोपशमविशेषो लब्धिः। यत्संनिधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते स ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषो लब्धिरिति विज्ञायते। (त. वा. २, १८, १); तपोविशेषर्द्धिप्राप्तिर्लब्धिः।

तपोविशेषात् ऋद्धिप्राप्तिर्लब्धिरित्युच्यते। (त. वा. २, ४७, २) । ३. अर्थग्रहणशक्तिः लब्धिः। (लघीय. स्वो. वि. ५; लघीय. अभय. वृ. ५) । ४. इन्द्रिय-निर्वृत्तिहेतुः क्षयोपशमविशेषो लब्धिः। (धव. पु. १, पृ. २३६; त. श्लो. २-१८); इंदियावरणखओव-समो लद्धी। (धव. पु. ७, पृ. ४३६); सम्मद्दंसण-णाण-चरणेसु जीवस्स समागमो लद्धी णाम। (धव. पु. ८, पृ. ८६) । ५. तपोतिशयर्द्धिर्लब्धिः। (त. श्लो. २-४७) । ६. तत्रार्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः। (प्रमाणप. पृ. ६१) । ७. सा लब्धिर्बोधिरोधस्य यः क्षयोपशमो भवेत्॥ (त. सा. २-४४) । ८. तत्रा-वरणक्षयोपशमप्राप्तिरूपार्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः। (प्र. क. मा. २-५, पृ. २२९; न्यायकु. ५, पृ. १६४)। ९. मदिआवरणखओवसमुत्थविसुद्धी हु ××× । (गो. जी. १६५) । १०. लम्भनं लब्धिः, ज्ञाना-वरणकर्मक्षयोपशमविशेषः। यत्सन्निधानादात्मा द्रव्य-न्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते सा लब्धिः। (मूला. वृ. १-१६) । ११. मतिज्ञानावरण-वीर्यान्तराय-क्षयोपशमोत्था तत्क्षयोपशमाज्जाता आत्मनो विशुद्धिः अर्थग्रहणशक्तिः लब्धिः, योग्यतेत्यपरनामधेया। (गो. जी. म. प्र. १६५)। १२. मतिज्ञानावरणक्षयोप-शमोत्था विशुद्धिर्जीवस्यार्थग्रहणशक्तिलक्षणा लब्धिः। (गो. जी. जी. प्र. १६५) । १३. लम्भनं लब्धिः, ज्ञानावरणक्षयोपशमे सति आत्मनः अर्थग्रहणे शक्तिः। (त. वृत्ति श्रुत. २-१८); तपोविशेषात् संजाता ऋद्धिप्राप्तिर्लब्धिरुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. २, ४७)।

१ ज्ञानावरण कर्म के विशेष क्षयोपशम का नाम लब्धि है। विशिष्ट तप के आश्रय से जो ऋद्धि की प्राप्ति होती है उसे भी लब्धि कहा जाता है। ३ पदार्थ के जानने की शक्ति को लब्धि कहते हैं। ४ सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के विषय में जो जीव का समागम होता है उसे लब्धि कहते हैं।

लब्धिसंवेगसम्पन्नता — सम्मद्दंसण-णाण-चरणेसु जीवस्स समागमो लद्धी णाम, हरिसो संतोसो संवेगो णाम, लद्धीए संवेगो लद्धिसंवेगो, तस्स संप-ण्णदा संपत्ती लद्धिसंवेगसंपण्णदा। ××× लद्धिसंवेगो णाम तिरयणदोहलओ। (धव. पु. ८, पृ. ८६)।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति रूप लब्धि के विषय में जो हर्ष होता है उससे सम्पन्न होना; इसका नाम लब्धिसंवेगसम्पन्नता है। यह तीर्थंकर प्रकृति के बन्धक सोलह कारणों में छठा है।

लब्धिस्थान—सव्वाणि चेव चरित्तट्ठाणाणि लद्धि-ट्ठाणाणि। (कसायपा. पृ. ६७२)।

समस्त चारित्रस्थानों को लब्धिस्थान कहते हैं।

लब्ध्यपर्याप्तक—१. उस्सासट्ठारसमे भागे जो मरदि ण य समाणेदि। एक्को वि य पज्जत्ती लद्धि-अपुण्णो हवे सो दु॥ (कार्तिके. १३७) । २. उदये दु अपुण्णस्स य सग-सगपज्जत्तियं ण णिट्ठवदि। अंतोमुहुत्तमरणं लद्धिअपज्जत्तगो सो दु॥ (गो. जी. १२२) । ३. अपूर्णस्य अपर्याप्तिनामकर्मणः उदये सति, तु पुनः, जीवः स्वक-स्वकपर्याप्तीर्न निष्ठापयति, स एव लब्ध्यपर्याप्तकः ××× तस्य जीवस्य अन्तर्मुहूर्त एव उच्छ्वासाष्टादशभागमात्रे एव मरणं भवति। (गो. जी. म. प्र. १२२) । ४. लब्ध्या स्वस्य पर्याप्तिनिष्ठापनयोग्यतया अपर्याप्ता अनि-ष्पन्ना लब्ध्यपर्याप्ताः। (गो. जी. जी. प्र. १२२)।

१ जो जीव उच्छ्वास के अठारहवें भागमें मर जाता है और एक भी पर्याप्ति को पूर्ण नहीं कर पाता है उसे लब्ध्यपर्याप्तक कहा जाता है।

लम्बितदोष—लम्बितं नमनं मूर्ध्नः ××× । (अन. ध. ८-११५)।

कायोत्सर्ग के समय शिर को नमाना, यह एक कायोत्सर्ग का दोष (८वां) है।

लम्बोत्तरदोष—१. तथा लम्बमानो नाभेरूर्ध्व-भागो भवति वा कायोत्सर्गस्थस्योन्नमनमधोनमनं वा च भवति तस्य लम्बोत्तरदोषो भवति। (मूला. वसु. वृ. ७-१७१) । २. नाभेरुपर्याजानु चोलपट्टकं निबध्य स्थानं लम्बोत्तरदोषः। (योगशा. स्वो. विव. ३-१३०)।

१ कायोत्सर्ग में स्थित साधु का यदि नाभि का ऊर्ध्वभाग लम्बायमान रहता है अथवा उन्नमन या अधोनमन होता है तो उसके कायोत्सर्गविषयक यह एक लम्बोत्तर नामक दोष होगा। २ नाभि के ऊपर घुटने तक चोलपट्टक को बांधकर स्थित होना, यह कायोत्सर्ग का एक लम्बोत्तर नाम का दोष है।

लयनकर्म—देखो लेणकर्म।

लव—१. ××× सत्तत्थोवा लवित्ति णादव्वो। (ति. प. ४-२८७) । २. स्तोकैर्लवः सप्तभिरेव

वैक: × × × । (वरांगच. २७-४) । ३. सप्त स्तोकाः लवः । (त. वा. ३, ३८, ८; कार्तिके. टी. २२०)। ४. × × × सत्त थोवाणि से लवे । (ध्यान-श. हरि. वृ. ३ उद्.) । ५. सत्त थोवे घेत्तूण एगो लवो हवदि । × × × उत्तं च— × × × सत्तत्थो-वा लवो एक्को ।। (धव. पु. ३, पृ. ६५); सत्तहि त्थोवेहि लवो णाम कालो होदि । (धव. पु. ४, पृ. ३१८); सत्तहि खणेहि एगो लवो होदि । (धव. पु. १३, पृ. २९९) । ६. × × × सप्तस्तोका भवेल्लवः । (ह. पु. ७-२०) । ७. सत्तहि थोवएहिं लवु भणियउं । (म. पु. पुष्प. २-५, पृ. २२) । ८. × × × सत्तथोएहिं होइ लग्रो इक्को । (भावसं. ३१३) । ९. × × × सत्तत्थोवा लवो भणियो । (गो. जी. ५७४; जं. दी. प. १३-५) ।

१ सात स्तोकों का एक लव होता है ।

लवणोद—लवणरसाम्बुयोगाल्लवणोदः । लवणरसे-नाम्बुना योगात्समुद्रो लवणोद इति संज्ञायते । (त. वा. ३, ७, २) ।

नमक के समान रस वाले जल के सम्बन्ध से समुद्र का लवणोद यह नाम प्रसिद्ध है ।

लाक्षावाणिज्य—१. लाक्षा-मनःशिला-नीली-धात-की-टंकणादिनः । विक्रयः पापसदनं लाक्षावाणिज्य-मुच्यते ।। (योगशा. ३-१०८; त्रि. श. पु. च. ६, ३, ३४२) । २. लाक्षावाणिज्यं लाक्षाविक्रयणम् । लाक्षायाः सूक्ष्मत्रसजन्तुघातानन्तकायिकप्रवालजालो-पमर्दाविनाभाविना स्वयोनिवृक्षादुद्धरणेन टङ्कण-मनः-शिला-सकूमालिप्रभृतीनां बाह्यजीवघातहेतुत्वेन गुग्गु-लिकाया धातकीपुष्पत्वचश्च मद्यहेतुत्वेन तद्विक्रयस्य पापाश्रयत्वात् । (सा. ध. स्वो. टी. ५-२२) ।

१ लाख, मनःशिल (कुनटी), नीली (गुलिका) धातकी (एक वृक्ष की छाल) और टंकण (क्षार-विशेष); इन पाप की कारणीभूत वस्तुओं के बेचने को लाक्षावाणिज्य कहा जाता है ।

लाघव—१. द्रव्येषु ममेदंभावमूलो व्यसनोपनिपातः सकल इति, ततः परित्यागो लाघवम् । (भ. आ. विजयो. ४६) । २. लघोर्भावो लाघवं अनतिचारि-त्वं शौचं प्रकर्षप्राप्तौ लोभनिवृत्तिः । (मूला. वसु, वृ. ५) । ३. लाघवं क्रियासु दक्षत्वं । (औपपा. वृ. १६, पृ. ३३) ।

१ समस्त आपत्तियों का मूल कारण वस्तुओं में 'यह मेरा है' इस प्रकार का ममत्वभाव ही है । इस-लिए उसका जो परित्याग किया जाता है उसे लाघव कहते हैं । यह शौच धर्म का एक नामान्तर है । ३ क्रियाओं में जो कुशलता होती है उसका नाम लाघव है ।

लाङ्गलिकागति—१. लाङ्गलमिव लाङ्गलिका । क उपमार्थः ? यथा लाङ्गलं द्विवक्रितं तथा द्विवि-ग्रहा गतिर्लाङ्गलिका त्रैसमयिकी । (त. वा. २, २८, ४; धव. पु. १, पृ. ३०० । २. लांगलिग्रो दुविग्गहो । (धव. पु. ४, पृ. ३०) ।

१ लांगल नाम हलका है, जिस प्रकार हल में दो मोड़ होते हैं उसी प्रकार जिस भवान्तरगति में दो मोड़ हुआ करते हैं तथा समय तीन लगते हैं उसे लांगलिका विग्रहगति कहते हैं ।

लाभ—१. इच्छिदट्ठोवलद्धी लाहो णाम । (धव. पु. १३, पृ. ३३४); अभिलषितार्थप्राप्तिर्लाभः । (धव. पु. १३, पृ. ३८९) । २. लाभान्तरायक्षया-ल्लाभः । (त. श्लो. २-४) ।

१ इच्छित पदार्थ की प्राप्ति का नाम लाभ है । २ लाभान्तरायके क्षय से भोग-उपभोग वस्तुओं का लाभ हुआ करता है ।

लाभमानवशार्तमरण—व्यापारे क्रियमाणे मम सर्वत्र लाभो जायते इति लाभमानं भावयतो मरणं लाभवशार्तमरणम् । (भ. आ. विजयो. २५) ।

व्यापार के करने पर मुझे सर्वत्र लाभ हुआ करता है, इस प्रकार अभिमानपूर्ण लाभ का विचार करते हुए जो मरण होता है उसका नाम लाभवशार्त-मरण है ।

लाभान्तराय—१. जस्स कम्मस्स उदएण लाहस्स विग्घं होदि तं लाभंतराइयं । (धव. पु. ६, पृ. ७८); लाभस्य विघ्नकृदन्तरायः लाभान्तरायः । (धव. पु. १३, पृ. ३९०); लाहविग्घयरं लाहंतराइयं । (धव. पु. १५, पृ. १४) । २. यदुदयवशाद्दानगुणेन प्रसि-द्धादपि दातुर्गृहे विद्यमानमपि देयमर्थजातं याञ्चा-कुशलोऽपि गुणवानपि याचको न लभते तल्लाभान्त-रायम् । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७५) ।

१ जिसके उदय से लाभ में बाधा पहुंचे उसे लाभा-न्तराय कहते हैं । २ जिसके उदय से दान गुण में प्रसिद्ध भी दाता से, घर में विद्यमान भी देय पदार्थ को, याचना में कुशल व गुणवान् भी याचक नहीं

प्राप्त कर पाता है उसे लाभान्तराय कहा जाता है।

लिक्षा—१. ताः (केशाग्रकोट्यः) अष्टौ संहृताः एका लिक्षा भवति। (त. वा. ३, ३८, ७)। २. तैं-(वालाग्रैं-)रष्टाभिर्भवेल्लिक्षा × × ×। (ह. पु. ७-४०)। ३. × × × अट्ठहिं चिहुरग्गहिं। लिक्ख भणिय × × ×। (म. पु. पुष्प. २-७, पृ. २४)। ४. अष्टभिश्चिकुराग्रैः पिण्डितैरेका लिक्षा। (त. वृत्ति श्रुत. ३-३८)।

१ समुदित रूप में आठ बालाग्रों की एक लिक्षा हुआ करती है।

लिङ्ग—१. वेदोदयापादितोऽभिलापविशेषो लिङ्गम्। (त. वा. २, ६, ३)। २. स्त्यान-प्रसव-तदुभयाभावसामान्यलक्षणं लिङ्गम्। (लघीय. स्वो. वि. ७२)। ३. लिङ्ग्यते साधुरनेनेति लिङ्गं रजोहरणादिधरणलक्षणम्। (आव. नि. हरि. वृ. ११३१)। ४. अण्णहाणुववत्तिलक्खणं लिंगं। (धव. पु. १३, पृ. २४५); इदमन्तरेण इदमनुपपन्नमितीदमेव लक्षणं लिंगस्य। (धव. पु. १३, पृ. २४६)। ५. लिंगं च लीनं सूक्ष्मं स्वकारणं गमयति लयं गच्छति इति वा। (न्यायकु. ७, पृ. ३५३); लिंगं हि साध्येन साधनस्याविनाभावोऽभिधीयते, तस्मिन् सत्येव लिंगस्य लिंगत्वोपपत्तेः। (न्यायकु. ११, पृ. ४२७)। ६. लिङ्गं चिह्नम्। (अन. ध. स्वो. टी. ७-६८)।

१ वेद के उदय से स्त्री या पुरुष के साथ रमण की जो इच्छा होती है उसे लिंग कहते हैं। २ स्त्यान (गर्भ धारण), प्रसव (सन्तानोत्पादन) और उन दोनों से रहित जो जीव की अवस्था होती है उसे सामान्य से लिंग कहा जाता है। अर्थात् जिस लिंग के आश्रय से गर्भ धारण किया जा सकता है उसे स्त्रीलिंग कहा जाता है। इसी प्रकार जिस लिंग के आश्रय से प्राणी सन्तान के उत्पन्न करने में समर्थ होता है उसे पुल्लिंग और जिसके आश्रय से प्राणी न गर्भ धारण कर सकता है और न सन्तान को भी उत्पन्न कर सकता है उसे नपुंसकलिंग कहा जाता है। ३ साधु के रजोहरण आदि रूप चिह्न को लिंग कहते हैं। ५ साध्य के साथ जो साधन का अविनाभाव सम्बन्ध रहता है उसका नाम लिंग है। यह लीन (परोक्ष) अर्थ का ज्ञापक होता है। ६ भक्तप्रत्याख्यान मरण के अर्हादि चिह्नों में एक लिंग भी है।

लिङ्गगम्य— लिंगगम्यं परार्थानुमानवचनप्रतिपाद्यम्। (युक्त्यनु. टी. २२)।

जो पदार्थ प्रत्यक्षज्ञान का विषय नहीं रहता वह लिंगगम्य होता है। उसका प्रतिपादन परार्थानुमानवचन के द्वारा किया जाता है।

लिङ्गभिन्न—लिङ्गभिन्नं यत्र लिङ्गव्यत्ययः, यथा इयं स्त्रीति वक्तव्ये अयं स्त्रीत्याह। (आव. नि. मलय. वृ. ८८२)।

जहां लिंग की विपरीतता होती है उसे लिंगभिन्न कहा जाता है। जैसे स्त्री के कथन में 'अयं स्त्री' ऐसा कहना। यहां 'अयं' इस पुल्लिंग का प्रयोग न करके उसके स्थान में 'इयम्' स्त्रीलिंग का प्रयोग करना चाहिए था।

लिप्तदोष—१. गेरुय हरिदालेण व सेडीय मणोसिलामपिट्ठेण। स-पवालोदणलेवेण व देयं करभायणे लित्तं॥ (मूला. ६-५५)। २. तथा लिप्तोऽप्रासुकवर्णादिसंसक्तस्तेन भाजनादिना दीयमानमाहारादिकं यदि गृह्णाति तदा तस्य लिप्तनामाशनदोषः। (मूला. वृ. ६-४३)। ३. लिप्तमप्रासुकैस्तोय-मृत्तिका-तालकादिभिः। लिप्तैर्दर्वी-कराद्यैर्यद् दीयमानाशनादिकम्॥ (आचा. सा. ८-५३)। ४. वसादिना संसृष्टेन हस्तेन पात्रेण वा दक्तोऽन्नादि लिप्तम्। (योगशा. स्वो. वृ. १-३८)। ५. यद् गैरिकादिनाऽऽमेन शाकेन सलिलेन वा। आर्द्रेण पाणिना देयं तल्लिप्तं भाजनेन वा॥ (अन. ध. ५-३५)। ६. लिप्तैर्दर्वीकराद्यैर्दीयमानमशनादिकं लिप्तं तथाऽप्रासुकजलमृत्तिकोत्मुकादिभिर्लिप्तैर्यद्दीयते तल्लिप्तम्। (भावप्रा. टी. ९९)।

१ गेरु, हरिताल (एक पीले रंग की धातु), सेडिका (सफेद रंग की मिट्टी—छुई) मनःशिला, आमपिष्ट अथवा अप्रासुक जल आदि से लिप्त हाथों से साधु को आहार देने पर वह लिप्त दोष से दूषित होता है। ४ वसा आदि से सम्बद्ध हाथ अथवा वर्तन से अन्न आदि के देने पर लिप्तदोष होता है।

लीनता—तथा लीनता विविक्तशय्यासनता। सा चैकान्तेनावाधेऽसंसक्ते स्त्री-पशु-पण्डकविवर्जिते शून्यागार-देवकुल-सभा - पर्वत-गुहादीनामन्यतमस्मिन् स्थानेऽवस्थानं, मनोवाक्कायकषायेन्द्रियसंवृतता च। (योगशा. स्वो. विव. ४-८९)।

स्त्री, पशु व नपुंसक आदि के संसर्ग से रहित निर्बाध एकान्त स्थान में रहना तथा मन, वचन, काय, कषाय और इन्द्रियों को वश में रखना, यह लीनता नाम का बाह्य तप है। इसे विविक्तशय्यासन के नाम से भी कहा जाता है।

लेणकर्म—लेणं पव्वओ, तम्हि घडिदपडिमाओ लेणकम्मं। (धव. पु. ९, पृ. २४९); सिलामय-पव्वदेहिंतो अभेदेण घडिदपडिमाओ लेणकम्माणि णाम। (धव. पु. १३, पृ. १०); पव्वदेसु सुक्खदजिणादिपडिमाओ लेणकम्माणि णाम। (धव. पु. १३, पृ. २०२); पत्थर-कट्ठएहि जाणि पव्वदेसु घडिदाणि रूवाणि ताणि लेणकम्माणि णाम। (धव. पु. १४, पृ. ५)।

लेण (लयन) नाम पर्वत का है, उससे अभेद रूप में जो प्रतिमायें रची जाती हैं, इसे लेणकर्म या लयन-कर्म कहते हैं।

लेपकर्म—कड-सक्खर-मट्टियादीणं लेवो लेप्पं, तेण घडिदपडिमाओ लेप्पकम्मं। (धव. पु. ९, पृ. २४९); मट्टिया-खड-सक्करादिलेवेण घडिदाओ पडिमाओ लेप्पकम्माणि णाम। (धव. पु. १३, पृ. ९); मट्टिय-छुहादीहि कदपडिमाओ लेप्पकम्माणि णाम। (धव. पु. १३, पृ. २०२); लेप्पयारेहि लेविऊण जाणि णिप्पाइदाणि रूवाणि ताणि लेप्पकम्माणि णाम। (धव. पु. १४, पृ. ५)।

कट, शर्करा और मिट्टी आदि के लेप से जो प्रतिमाओं की रचना की जाती है उसे लेपकर्म कहा जाता है।

लेपकृतआहार—१. लेवड हस्तलेपकारि। (भ. आ. विजयो. २२०)। २. लेवड हस्तलेपकारि तीलादिकम्। (भ. आ. मूला. २२०)।

१ जिस आहार से हाथ लिप्त होता है उसे लेप्य या लेपकृत आहार कहा जाता है।

लेप्यआहार—देखो लेपकृतआहार।

लेश्या—१. लिप्पइ अप्पीकीरइ एयाए णियपुण्ण-पावं च। जीवो त्ति होइ लेस्सा लेस्सागुणजाणय-क्खाया॥ (प्रा. पंचसं. १–१४२; धव. पु. १, पृ. १५० उद्.; गो. जी. ४८९)। २. कषायोदयरंजिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या। (त. वा. २, ६, ८; पंचा. का. जय. वृ. १४०); कषायश्लेषप्रकर्षापकर्षयुक्ता योगवृत्तिर्लेश्या। (त. वा. ९, ७, ११)। ३. [कर्मभिः] लिम्पतीति लेश्या। ××× अथवा आत्म-प्रवृत्तिसंश्लेषणकरी लेश्या। ××× कषायानुरञ्जिता काय-वाङ्मनोयोगप्रवृत्तिर्लेश्या। ××× कषायानुविद्धा योगप्रवृत्तिर्लेश्या। (धव. पु. १. पृ. १४९–५०); कर्मस्कन्धैरात्मानं लिम्पतीति लेश्या। (धव. पु. १, पृ. ३८६); कम्मलेवहेदूदो जोग-कसाया चेव लेस्सा। (धव. पु. २, पृ. ४३१); का लेस्सा णाम ? जीव-कम्माणं संसिलेसणयरी, मिच्छत्तासंजम-कसाय-जोगा त्ति भणिदं होदि। (धव. पु. ८, पृ. ३५६); [णोआगमदो भावलेस्सा] मिच्छत्तासंजम-कसायाणुरंजियजोगपवुत्ती कम्मपोग्गलादाणणिमित्ता, मिच्छत्तासंजम-कसाय-जोगजणिदसंसकारो त्ति वुत्तं होदि। (धव. पु. १६, पृ. ४८५)। ४. कषायोदयतो योगप्रवृत्तिरुपदर्शिता। लेश्या जीवस्य कृष्णादिः[दि-]षड्भेदा भावतोऽनघैः॥(त. श्लो. २, ६, ११); कषायानुरंजिता योग-प्रवृत्तिर्लेश्या। (त. श्लो. ४–२०; भ. आ. विजयो. ४८ व ७०; मूला. वृ. १२–३; अन. ध. स्वो. टी. ७–९८; भ. आ. मूला. ७०; त. वृत्ति श्रुत. ४, २०)। ५. योगवृत्तिर्भवेल्लेश्या कषायोदयरञ्जिता। भावतो द्रव्यतः कायनामोदयकृताङ्गरुक्॥ (त. सा. २–८८)। ६. प्रवृत्तिर्योगिकी लेश्या कषायोदय-रञ्जिता। (पंचसं. अमित. १–२५३)। ७. जोग-पउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरंजिया होई। (गो. जी. ४९०)। ८. लिश्यते प्राणी कर्मणा यया सा लेश्या। (स्थाना. अभय. वृ. ५१, पृ. ३१ उद्.); कृष्णादि-द्रव्यसाचिव्यात् परिणामो य आत्मनः। स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्याशब्दः प्रयुज्यते॥ (ध्यानश. हरि. वृ. १४ उद्.; स्थाना. अभय. वृ. पृ. ३१ उद्.; बृहत्सं. मलय. वृ. १९३ उद्.)। ९. कृष्ण-नील-कापोत-तेजःपद्म-शुक्ल-वर्णद्रव्यसाचिव्यादात्मनस्तदनुरूपः परिणामः। (योगशा. स्वो. विव. ४–४४)। १०. लिप्यते आत्मा कर्मणा सहानयेति लेश्या कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यादात्मनः परिणामविशेषः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १७, पृ. ३३०)। ११. लिश्यते श्लिश्यते जीवः कर्मणा सहानयेति लेश्या कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यादात्मनः शुभाशुभरूपः परिणामविशेषः। (बृहत्सं. मलय. वृ. १९३)। १२. मनोवाक्कायपूर्विकाः कृष्णादिद्रव्यसम्बन्धजनि-

ताः खल्वात्मपरिणामा लेश्याः। (आव. भा. मलय. वृ. ६६, पृ. २६३) । १३. ××× कसाय-जोगप्पवित्तिदो लेस्सा ॥ (भावत्रि. १७) । १४. अनया कर्मभिरात्मानं लिम्पतीति लेश्या, ××× कषायोदयानुरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्वा लेश्या। (गो. जी. जी. प्र. ४९९) ।

१ जीव जिसके द्वारा अपने को पुण्य-पाप से लिप्त करता है उसे लेश्या कहते हैं। २ कषाय के उदय से अनुरंजित योगों की प्रवृत्ति को लेश्या कहा जाता है। ८ जिसके द्वारा प्राणी कर्म से संश्लिष्ट होता है उसका नाम लेश्या है। कृष्ण आदि द्रव्य की सहायता से जो जीव का परिणाम होता है उसे लेश्या कहते हैं।

लोक—१. लोयदि आलोयदि पलोयदि सल्लोयदि त्ति एगत्थो। जम्हा जिणेहिं कसिणं तेणेसो वुच्चदे लोओ ॥ (मूला. ७–४३) । २. अत्थि अणन्ताणन्तं आगासं तस्स मज्झयारम्मि। लोओ अणाइनिहणो तिभेयभिण्णो हवइ णिच्चो ॥ (पउमच. ३–१८) । ३. आदिणिहणेण हीणो पगदिसरूवेण एस संजादो। जीवाजीवसमिद्धो सव्वण्हावलोइओ लोओ ॥ (ति. प. १–१३३) । ४. अनन्तसर्वमाकाशं मध्ये तस्य प्रतिष्ठितः। सुप्रतिष्ठितसंस्थानो लोकः ×××॥ (वरांगच. ५–१) । ५. अलोकाकाशस्यानन्तस्य बहुमध्ये सुप्रतिष्ठिकसंस्थानो लोकः ऊर्ध्वमधस्तिर्यङ्मृदङ्ग-वेत्रासन-झल्लर्याकृतिः तनुवातवलयपरिक्षिप्त ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्षु प्रतरवृत्तश्चतुर्दशरज्ज्वायामः। (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७६); यत्र पुण्य-पापफललोकनं सः लोकः। पुण्य-पापयोः कर्मणोः फलं सुख-दुःखलक्षणं यत्रालोक्यते स लोकः। ××× लोकतीति वा लोकः। लोकति पश्यत्युपलभते अर्थानिति लोकः। (त. वा. ५, १२, ११–१२); लोक्यत इति वा लोकः। सर्वज्ञेनानन्ताप्रतिहतकेवलदर्शनेन लोक्यते यः सः लोकः। (त. वा. ५, १२, १३) । ६. को लोगो णाम ? सेढिघणो। (धव. पु. ३, पृ. ३३); लोक्यन्ते उपलभ्यन्ते यस्मिन् जीवादिद्रव्याणि स लोकः। (धव. पु. ४, पृ. ९); एत्थ लोगेत्ति वुत्ते सत्तररज्जूणं घणो घेत्तव्वो। (धव. पु. ४, पृ. १०); लोगो अकट्टिमो खलु अणाहिणिहणो सहावणिव्वत्तो। जीवाजीवेहिं फुडो णिच्चो तलरुक्खसठाणो ॥ (धव. पु. ४, पृ. ११ उद्.); तत्थ लोक्यन्ते उपलभ्यन्ते यस्मिन् जीवादयः पदार्थाः स लोकः। (धव. पु. ११, पृ. २; धव. पु. १३, पृ. २८८ व ३४७)। ७. लोक्यन्तेऽस्मिन् निरीक्ष्यन्ते जीवाद्यर्थाः सपर्ययाः। इति लोकस्य लोकत्वं निराहुस्तत्त्वदर्शिनः ॥ लोको ह्यकृत्रिमो ज्ञेयो जीवाद्यर्थविगाहकः। नित्यः स्वभावनिर्वृत्तः सोऽनन्ताकाशमध्यगः ॥ (म. पु. ४, १३ व १५) । ८. सामान्यविशेषात्मकोऽनाद्यपर्यवसानश्चतुर्दशरज्ज्वात्मको वा लोकः। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ५, १, पृ. ११९); लोकः ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्रूपो वैशाखस्थानस्थितकटिन्यस्तकरयुग्मपुरुषसदृशः पञ्चास्तिकायात्मको वा। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ५, १२, पृ. १२५) । ९. धर्माधर्मास्तिकायाभ्यां व्याप्तः कालाणुभिस्तथा। व्योम्नि पुद्गलसंछन्नो लोकः स्यात् क्षेत्रमात्मनाम् ॥ अधो वेत्रासनाकारो मध्येऽसौ झल्लरीसमः। ऊर्ध्वं मृदङ्गसंस्थानो लोकः सर्वज्ञवर्णितः ॥(त. सा. २, १७६-७७) । १०. स्वलक्षणं हि लोकस्य षड्द्रव्यसमवायात्मकत्वम्। (प्रव. सा. अमृत. वृ. २–३६) । ११. सव्वागासमणंतं तस्स य बहुमज्झदेसभागम्हि। लोगोसंखपदेसो जगसेढिघणप्पमाणो हु ॥ लोगो अकिट्टिमो खलु अणाइ-णिहणो सहावणिव्वत्तो। जीवाजीवेहिं फुडो सव्वागासवयवो णिच्चो ॥ धम्माधम्मागासा गदिरागदि जीव-पोग्गलाणं च। जावत्तावल्लोगो ××× ॥ (त्रि. सा. ३–५) । १२. अनादिनिधनो लोको व्योमस्थोऽकृत्रिमः स्थिरः। नैतस्य विद्यते कर्ता गगनस्येव कश्चन ॥ (धर्मप. १३–९२) । १३. लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यस्मिन् परमात्मस्वरूपे यस्य केवलज्ञानेन वा स भवति लोकः। (परमा. वृ. १–११०)। १४. धम्माधम्मा कालो पुग्गल-जीवा य संति जावदिये। आयासे सो लोगो ××× ॥ (द्रव्यसं. २०) । १५. लोक्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोक इति वचनात् पुद्गलादिषड्द्रव्यैर्निष्पन्नोऽयं लोकः, न चान्येन केनापि पुरुषविशेषेण क्रियते ह्रियते ध्रियते वेति। (पंचा. का. जय. वृ. ७६); षड्द्रव्यसमूहात्मको लोकः। (पंचा. का. जय. वृ. ८७)। १६. धर्मादीनां वृत्तिर्द्रव्याणां भवति यत्र तत्क्षेत्रम्। तैर्द्रव्यैः सह लोकः ××× (स्थाना. अभय. वृ. पृ. १४ उद्.); एकोऽविवक्षितासंख्यप्रदेशाधस्तिर्यगादिदिग्भेदतया लोक्यते दृश्यते केवलालोकेनेति लोकः धर्मास्तिकायादिद्रव्याधारभूत आकाशविशेषः। (स्या-

ना. अभय. वृ. ५, पृ. १४) । १७. लोकः पंचास्तिकायमयः । (औपपा. अभय. वृ. ३४, पृ. ७६) । १८. कटिस्थकरवैशाखस्थानकस्थनराकृतिः । द्रव्यैः पूर्णः स तु लोकः स्थित्युत्पत्ति-व्ययात्मकैः ॥ वेत्रासनसमोऽधस्तान्मध्यतो झल्लरीनिभः । अग्रे मुरजसंकाशो लोकः स्यादेवमाकृतिः ॥ (त्रि. श. पु. च. २, ३, ४७८-६) । १६. लोक्यते प्रमाणेन दृश्यते इति लोकः । अयं चेह पञ्चास्तिकायात्मको गृह्यते । (आव. भा. मलय. वृ. १६६, पृ. ५६१); लोक्यते इति लोकः । (आव. नि. मलय. वृ. १०७०, पृ. ५६४); लोको हि चतुर्दशरज्ज्वात्मकत्वेन परिमितः । (आव. नि. मलय. वृ. १०६१' पृ. ५६८) । २०. लोक्यन्ते जीवादयः पदार्था यत्रासौ लोकस्त्रिचत्वारिंशदधिकशतत्रयपरिमितरज्जुपरिमाणः । (रत्नक. टी. २-३) । २१. जीवेहिं पुग्गलेहिं य धम्माधम्मेहिं जं च कालेहिं । उद्धद्धं तं लोगं सेसमलोगं हवेणंतं ॥ लोगमणाइअणिहणं अकिट्टिमं तिविहभेयसंठाणं । खंधादो तं भणियं पोग्गलदव्वाण सव्वदरिसीहिं ॥ (द्रव्यस्व. प्र. नयच. ६८-६६); विगयशिरो कडिहत्थो ताडियजंघो जुवा णरो उड्ढो । तेणायारेण ठिओ तिविहो लोगो मुणेयव्वो ॥ (द्रव्यस्व. प्र. नयच. १४५) । २२. षद्द्रव्यसमवायो लोकः । (लघीय. अभय. वृ. पृ. ७७) । २३. जीवाद्यर्थचितो दिवर्धमुरजाकारस्त्रिवातीवृतः, स्कन्धः खेऽतिमहाननादिनिधनो लोकः सदास्ते स्वयम् । नून् मध्येऽत्र सुरान् यथायथमधः श्वभ्रांस्तिरश्चोभितः, कर्मोदर्चिरुपप्लुतानधियतः सिध्यै मनो धावति ॥ (अन. ध. ६-७६); लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादयः पदार्था अस्मिन्निति लोकः । (अन. ध. स्वो. टी. ६-७६) । २४. जम्बूद्वीपोऽस्य मध्यस्थो मन्दरस्तस्य मध्यगः । तस्माद्विभागो लोकस्य तिर्यगूर्ध्वोऽधरस्तथा ॥ तिर्यग्लोकस्य बाहल्यं मेर्वायामसमं स्मृतम् । तस्मादूर्ध्वो भवेदूर्ध्वो ह्यधस्तादधरोऽपि च ॥ झल्लरीसदृशो मध्यो वेत्रासनसमोऽधरः । ऊर्ध्वो मृदंगसंस्थान इति लोकोऽर्हतोदितः ॥ (लोकवि. १, ४-६) । २५. लोक्यन्ते विलोक्यन्ते धर्मादयः पदार्थाः यस्मिन्निति लोकः । (त. वृत्ति श्रुत. ५-१२) । २६. लोक्यते दृश्यते यत्र जीवाद्यर्थकदम्बकः । स लोकस्त्रिविधोऽनादिनिधनः पुरुषाकृतिः ॥ (धर्मसं. श्रा. १०-६८)। २७. यावत्स्वाकाशदेशेषु सकलंचिदचित्तत्त्वसत्तास्ति नित्या तावंतो लोकसंज्ञा जिनवरगदिताः ××× । (अध्यात्मक. ३-३४) ।

२ जो अनन्तानन्त आकाश के ठीक मध्य भाग में स्थित होता हुआ अनादि-अनन्त है तथा अधः, मध्य और ऊर्ध्व लोक के भेद से तीन प्रकार का है उसे लोक कहा जाता है। ३ जो आदि व अन्त से रहित होकर स्वभाव से उत्पन्न हुआ है तथा जीवादि छह द्रव्यों से समृद्ध है उसे लोक कहते हैं। ५ जो अनन्त अलोकाकाश के ठीक मध्य में सुप्रतिष्ठक के आकार से स्थित होकर तनुवातवलयादि से वेष्टित है वह लोक कहलाता है।

लोकनाली—देखो त्रसनाली। लोगो नाम सव्वागासमज्झत्थो चोद्दसरज्जुआयामो ××× चोद्दसरज्जुआयद-रज्जुवग्गमुह-लोगणालिगब्भो । (धव. पु. ४, पृ. २०) ।

लोक के मध्य में चौदह राजु लम्बी और एक वर्गराजु मुखवाली लोकनाली स्थित है।

लोकपाल—१. लोकपालाः लोकं पालयन्तीति लोकपालाः । (स. सि. ४-४) । २. आरक्षिकार्थचरसमा लोकपालाः । लोकं पालयन्तीति लोकपाला अर्थचरारक्षिकसमाः ते वेदितव्याः । (त. वा. ४, ४, ६) । ३. लोकपालास्तु लोकान्तपालकाः दुर्गपालवत् । (म. पु. २२-२८) । ४. आरक्षकार्थचरपुंस्थानीया लोकपालकाः ॥ (त्रि. श. पु. च. २, ३, ७७३) । ५. तथा लोकान् पालयन्तीति लोकपालाः, ते चारक्षकचोरोद्धरणिकरस्थानीयाः । (बृहत्सं. मलय. वृ. २) ।

२ जो लोक का पालन किया करते हैं वे लोकपाल कहलाते हैं। वे कोतवाल अथवा चार पुरुष के समान हुआ करते हैं।

लोकपूरणसमुद्घात—१. वेदनीयस्य बहुत्वादल्पत्वाच्चायुषोऽनाभोगपूर्वकमायुःसमकरणार्थं द्रव्यस्वभावत्वात् सुराद्रव्यस्य फेनवेगबुद्बुदाविर्भावोपशमनवद् देहस्थात्मप्रदेशानां बहिः समुद्घातनं केवलिसमुद्घातः । (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७७) । २. लोगपूरणसमुग्घादो णाम केवलिजीवपदेसाणं घणलोगमेत्ताणं सव्वलोगापूरणं । (धव. पु. ४, पृ. २६); चउत्थसमए सव्वलोगमावूरिय घादिदसेसट्ठिदीए एगसमएण घादिदअसंखेज्जाभागं संघादिदसेसाणुभागस्स घादिदअणंताभागं सव्वकम्माणं ठवि-

दंतोमुहुत्तट्ठिदि लोगपूरणं करेदि। (धव. पु. १०, पृ. ३२१); चउत्थसमए सव्वलोगागासमावूरिय सेसट्ठिदि-अणुभागाणमसंखेज्जे भागे अणंते भागे च घादिय जमवट्ठाणं तं लोगपूरणं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ८४)।

१ जब वेदनीय कर्म की स्थिति बहुत और आयु कर्म की स्थिति कम होती है तब केवली के आत्म-प्रदेश उपयोग के विना ही उक्त कर्मों की स्थिति को आयु के समान करने के लिए शरीर से बाहिर निकल कर क्रम से चार समयों में समस्त लोक को व्याप्त कर देते हैं। इस प्रक्रिया का नाम केवलि-समुद्घात है। जिस प्रकार मद्य द्रव्य के फेन का वेग बुद्बुद् के आविर्भाव में शान्त हो जाता है उसी प्रकार इस केवलिसमुद्घात में केवली की आयु की स्थिति के समान वेदनीय आदि अन्य अघातिया कर्मों की भी स्थिति हो जाती है।

लोकबिंदुसार—१. यत्राष्टौ व्यवहाराश्चत्वारि बीजानि परिकर्म-राशिक्रियाविभागश्च सर्वश्रुतसंपदुपदिष्टा तत्खलु लोकबिन्दुसारम्। (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७८)। २. चोद्दसमं लोगबिंदुसारं, तं च इमम्मि लोए सुअलोए वा बिंदुमिव अक्खरस्स सव्वुत्तमं सव्वक्खरसन्निवायपरि (? ढित) त्तणओ लोगबिन्दुसारं भणियं, तस्स य पयपरिमाणं अद्धतेरसपयकोडीओ १४। से त्तं पुव्वगते। (नन्दी. हरि. वृ. १०६, पृ. ८६; प्रा. ग्रन्थ प्र अहमदाबाद)। ३. लोकबिन्दुसारं णाम पुव्वं दसण्ह वत्थूणं १० विसयपाहुडाणं २०० बारहकोडि-पण्णास लक्खपदेहि १२५०००००० अष्टौ व्यवहारान् चत्वारि बीजानि मोक्षगमनक्रियाः मोक्षसुखं च कथयति। (धव. पु. १, पृ. १२२); यत्राष्टौ व्यवहाराश्चत्वारि बीजानि क्रियाविभागश्चोपदिष्टस्तल्लोकबिंदुसारम्। (धव. पु. ६, पृ. २२४)। ४. लोकबिन्दुसारो परियम्म-ववहार-रज्जुरासि-कलासवण्ण-जावंताव-वग्ग-घण-बीजगणिय-मोक्खाणं सरूवं वण्णेदि। (जयध. १, पृ. १४८)। ५. लोकबिन्दुसारं च चतुर्दशमम्, तच्चास्मिन् लोके श्रुतलोके वा बिन्दुरिवाक्षरस्य सर्वोत्तममिति, सर्वाक्षरसन्निपातप्रतिष्ठितत्वेन च लोकबिन्दुसारं भणितम्, तत्प्रमाणमर्द्धत्रयोदश-पदकोट्यः। (समवा. वृ. १४७)। ६ पञ्चाशल्लक्ष-द्वादसकोटिपदं लोकबिन्दुसारं चतुर्दशं पूर्वम्। (श्रुतभ. १३, पृ. १७५)। ७. निर्वाणसुखहेतुभूतं सार्द्धद्वादशकोटिपद-प्रमाणं लोकबिंदुसारपूर्वम्। (त. वृत्ति श्रुत. १, २०)। ८. तिल्लोयबिंदुसारं कोडीबारह दसग्घ-पणलक्खं। जत्थ पयाणि तिलोयं छत्तीसं गुणिद-परियम्मं॥ अडववहारात्थि पुणो अंकविपासादि चारि बीजाइं। मोक्खसरूवगमणकारणसुहधम्म-किरियाओ॥ लोयस्स बिंदवयवा वण्णिज्जंते व एत्थ सारं च। तं लोयबिंदुसारं चोद्दसपुव्वं णमंसामि॥ (अंगप. २, ११४-१६, पृ. ३०१-२)।

१ जिस श्रुत में आठ व्यवहारों, चार बीजों, परिकर्म और राशिक्रिया के विभाग का उपदेश दिया गया है वह लोकबिंदुसार कहलाता है। २ चौदहवां पूर्व जो लोकबिंदुसार है वह इस लोक में अथवा श्रुतलोक में अक्षर की बिंदु के समान सर्वोत्तम है, इस कारण से तथा समस्त अक्षरों के संयोग पर प्रतिष्ठित होने के कारण से भी लोकबिंदुसार कहलाता है। उसका प्रमाण साढ़े बारह करोड़ पदों रूप है।

लोकमूढ़ता—१. आपगा-सागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्। गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते॥ (रत्नक. १-२२)। २. गङ्गादिनदीतीर्थस्नान-समुद्रस्नान-प्रातःस्नान-जलप्रवेशमरणाग्निप्रवेशमरण-गोग्रहणादिमरण-भूम्यग्नि-वटवृक्षपूजादीनि पुण्यकारणानि भवन्तीति यद्वदन्ति तल्लोकमूढत्वं विज्ञेयम्। (बृ. द्रव्यसं. टी. ४१)। ३. गेहभक्ताग्नि-भू-स्वर्ण-रत्नास्त्राद्यपकारकम्। जनस्य वस्तु यस्तत्र वंद्यधीर्लोकमूढता॥ (आचा. सा. ३-४५)। ४. सूर्यार्घो वह्निसत्कारो गोमूत्रस्य निषेवणम्। तत्पृष्टान्तनमस्कारो भृगुपातादिसाधनम्॥ देहली-गेह-रत्नाश्व-गज-शस्त्रादिपूजनम्। नदी-ह्रद-समुद्रेषु मज्जनं पुण्यहेतवे॥ संक्रान्तौ च तिलस्नानं दानं च ग्रहणादिषु। संध्यायां मौनमित्यादि त्यज्यतां लोकमूढताम्॥ (भावसं. वाम. ४०२-४)। ५. नद्यादेः स्नानमद्यादेरर्चाश्मादेः समुच्चयः। गिरिपातादि लोकज्ञैर्लोकमूढं निगद्यते॥ (धर्मसं. श्रा. ४-४१)। ६. कुदेवाराधनां कुर्यादैहिकश्रेयसे कुधीः। मृषालोकोपचारत्वादश्रेया लोकमूढता॥ (लाटीसं. ४, ११८)।

१ नदी या समुद्र में स्नान करना, बालु व पत्थरों का ढेर लगाना, पर्वत से गिरना तथा अग्नि में

पड़ना—सती होना आदि—इत्यादि अज्ञानतापूर्ण क्रियाओं को लोकमूढता कहा जाता है।

लोकवाद—लोयपसिद्धी सत्या पंचाली पंचपंडवत्थी ही। सद्दउट्ठिया ण रुज्झइ मिलिदेहिं सुरेहिं दुव्वारा॥ (अंगप. २–३३, पृ. २८२)।

द्रौपदी पांच पाण्डवों की स्त्री थी, इत्यादि लोकप्रसिद्धि को लोकवाद कहा जाता है। ऐसी दुर्वार प्रसिद्धि एक बार उठी कि उसका रोकना देवों द्वारा भी कठिन हो जाता है।

लोकविचय—देखो संस्थानविचय। अकृत्रिमो विचित्रात्मा मध्ये च त्रसराजिमान्। मरुत्त्रयीवृतो लोकः प्रान्ते तद्धामनिष्ठितः॥ (उपासका. ६५६)।

यह लोक अकृत्रिम है—किसी ब्रह्मा आदि के द्वारा रचा नहीं गया है, उसका स्वरूप विचित्र है—वह अनेक आकृतियों में विभक्त है, वह मध्य में त्रसराजि—त्रस जीवों युक्त त्रसनाली—से सहित है, तीन वातवलयों से वेष्टित है और अन्त में सिद्धों के स्थान से परिपूर्ण है; इत्यादि प्रकार से लोक के विषय में जो चिन्तन किया जाता है वह लोकविचय धर्मध्यान कहलाता है।

लोकाकाश—देखो लोक। १. पोग्गल-जीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकाय-कालड्ढो। वट्टदि आयासे जो लोगो सो सव्वकाले दु॥ (प्रव. सा. २–३६)। २. सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाणं च। जं देदि विवरमखिलं तं लोए हवदि आयासं॥ जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा य लोगदोणण्णा। (पंचा. का. ९०–९१)। ३. लोओ अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिप्पण्णो। जीवाजीवेहिं भुडो णिच्चो तालरुक्खसंठाणो॥ धम्माधम्मागासा गदिरागदि जीव-पुग्गलाणं च। जावत्तावल्लोगो ×××॥ (मूला. ८, २२–२३)। ४. धम्माधम्मणिबद्धा गदिरागदी जीव-पोग्गलाणं च। जेत्तियमेत्ताआसे लोयाआसो स णादव्वो॥ लोयायासट्ठाणं सयंपहाणं सदव्वछक्कं हु। सव्वमलोयायासं तं सव्वासं हवे णियमा॥ (ति. प. १, १३४–३५)। ५. धर्माधर्मादीनि द्रव्याणि यत्र लोक्यन्ते स लोक इति। (स. सि. ५–१२)। ६. द्रव्यैस्तु पञ्चभिर्व्याप्य लोकाकाशं प्रतिष्ठितम्। (वरांगच. २६–३२)। ७. यत्र-पुण्य-पापफललोकनं स लोकः। पुण्य-पापयोः कर्मणोः फलं सुख-दुःखलक्षणं यत्रा-(यत्र) लोक्यते स लोकः। कः पुनरसौ? आत्मा। लोकयतीति वा लोकः। लोकति पश्यत्युपलभते अर्थानिति लोकः। ××× लोपप्रत इति वा लोकः। सर्वज्ञेनानन्ताऽप्रतिहतकेवलदर्शनेन लोक्यते यः स लोकः। तेन धर्मादीनामपि लोकत्वं सिद्धम्। (त. वा. ५, १२, १०–१३)। ८. असंख्येयप्रदेशात्मा लोकाकाशविमिश्रितः। कालः पञ्चास्तिकायाश्च सप्रपंचा इहाखिलाः॥ लोक्यन्ते येन तेनायं लोक इत्यभिलप्यते। (ह. पु. ४–५, व ४–६)। ९. सव्वायासमणंतं तस्स य बहुमज्झसंट्ठियो लोओ। सो केणवि णेव कओ ण य धरिओ हरि-हरादीहिं॥ अण्णोण्णपवेसेण य दव्वाणं अच्छणं भवे लोओ। (कार्तिके. ११५–१६); दीसंति जत्थ अत्था जीवादीया स भण्णदे लोओ। (कार्तिके. १२१)। १०. यत्र धर्माधर्म-जीव-पुद्गलानां सम्भवोऽस्ति तल्लोकाकाशम्। (योगशा. स्वो. विव. ४, ६७)। ११. पुद्गलादिपदार्थानामवगाहैकलक्षणः। लोकाकाशः स्मृतो व्यापी ×××॥ (धर्मश. २१–८६)। १२. लोकस्य सम्बन्धी आकाशः लोकाकाशः। (त. वृत्ति श्रुत. ५–१२)।

१ जो जीव और पुद्गलों से सम्बद्ध तथा धर्म व अधर्म अस्तिकायों एवं काल से व्याप्त होकर सदा आकाश में रहता है उसे लोकाकाश कहा जाता है। ५ जहां धर्मादि द्रव्य देखे जाते हैं उसका नाम लोकाकाश है। ७ जिसमें पुण्य-पाप कर्मों का सुख-दुःख रूप फल देखा जाता है वह लोक कहलाता है। इस निरुक्ति के अनुसार लोक का अर्थ आत्मा होता है। अथवा जो समस्त पदार्थों को लोकता है—देखता है—उसे लोक जानना चाहिए। इस निरुक्ति के अनुसार भी लोक शब्द से आत्मा का ही ग्रहण होता है। अथवा सर्वज्ञ केवलदर्शन के द्वारा जिसको लोकते हैं—देखते हैं, उसे लोक माना जाता है। इस निरुक्ति के अनुसार धर्मादि द्रव्यों के भी लोकरूपता सिद्ध है।

लोकाख्यान—लोकोद्देश-निरुक्त्यादिवर्णनं यत्सविस्तरम्। लोकाख्यानं तदाम्नातं विशोधितदिगन्तरम्॥ (म. पु. ४–४)।

पुराणों में जो लोक के उद्देश और निरुक्ति आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है उसे लोकाख्यान कहा जाता है।

लोकानुप्रेक्षा—देखो लोक। १. जीवादिपयट्ठाणं

समवायो सो णिरुच्चये लोगो । तिविहो हवेइ लोगो अह-मज्झिम-उड्ढभेएण ॥ णिरया हवंति हेट्ठा मज्झे दीववुरासयो संखा । सग्गो तिसट्ठिभेओ एत्तो उड्ढं हवे मोक्खो ॥ इगितीस सत्त चत्तारि दोण्णि एक्केक्क छक्क चदु कप्पे । त्तित्तिय एक्केक्कंदि[द]-यणामा उडुआदि तेसट्ठी ॥ असुहेण णिरय-तिरियं सुहउवजोगेण दिविज-णरसोक्खं । सुद्धेण लहइ सिद्धि एवं लोयं विचिंतिज्जो ॥ (द्वादशानु. ३९–४२) । २. एगविहो खलु लोओ दुविहो तिविहो तहा बहु-विहो वा । दव्वेहिं पज्जएहिं य चिंतिज्जो लोय-सब्भावं ॥ (मूला. ८–२१) । ३. समन्तादनन्तस्यालोकाकाशस्य बहुमध्यदेशभाविनो लोकस्य संस्थानादिविधिर्व्याख्यातः, तत्स्वभावानुचिन्तनं लोकानुप्रेक्षा ॥ (स. सि. ९–७) । ४. लोकसंस्थानादि-विधिर्व्याख्यातः । समन्तादनन्तस्यालोकाकाशस्य बहुमध्यदेशभाविनो लोकस्य संस्थानादिविधिर्व्याख्यातः (तृतीय-चतुर्थाध्याययोः) तत्स्वभावानुचिन्तनं लोकानुप्रेक्षा । (त. वा. ९, ७, ८) । ५. नित्याध्वगेन जीवेन भ्रमता लोकवर्त्मनि । वसतिस्थानवत्कानि कुलान्यध्युषितानि न ॥ (त. सा. ६–४०) । ६. प्रसारिताङ्घ्रिणा लोकः कटिनिक्षिप्तपाणिना । तुल्यः पुंसोर्ध्वमध्याधो विभागस्त्रिमरुद्वृतः ॥ (क्षत्रचू. ११–७०) । ७. अथ लोकानुप्रेक्षावर्णनं विधीयते— जीवादिपदार्थाधिकरणं लोकः, समन्तादनन्तानन्तस्वात्मप्रतिष्ठाऽऽकाशसुबहुमध्यप्रदेशस्थितस्तनुवातघनानिल-घनोदधिवेष्टितो लोकस्तन्मध्यगता त्रसनाडी, तन्मध्ये महामेरुस्तस्याधःस्थिता नरकप्रस्तराः, मेरुपरिवृताः शुभनामानो द्वीप-समुद्रा द्विर्द्विविष्कम्भा वलयाकृतयो मेरोरुपरि स्वर्गपटलानि, तेषामुपरि सिद्धक्षेत्रम् । एवमधस्तिर्यगूर्ध्वभेदभिन्नस्य चतुर्दशरज्जूत्सेधस्य सप्तैक-पंचैकरज्जुप्रसृतपूर्वापरविभागस्य सप्तरज्जुविस्तार-दक्षिणोत्तरदिग्विभागस्य वेत्रासन-झल्लरी-मृदंगसमानाकारस्य षट्द्रव्यनिचितस्याकृत्रिमस्यानादिनिधनस्य लोकस्य स्वभावपरिणामपरिणाहसंस्थानाऽनुचिन्तनं लोकानुप्रेक्षा । (चा. सा. पृ. ८८) । ८. अनन्तानन्ताकाशबहुमध्यप्रदेशे घनोदधि-घनवात-तनुवाताभिधानवायुत्रयवेष्टितानादिनिधनाकृत्रिमनिश्चलासंख्यातप्रदेशो लोकोऽस्ति, तस्याकारः कथ्यते—(पृ. १००–२९) । × × × निजशुद्धात्मभावनोत्पन्नपरमाह्लादसुखामृतरसास्वादानुभवनेन च या भावना सैव निश्चय-लोकानुप्रेक्षा, शेषा पुनर्व्यवहारेण । (बृ. द्रव्यसं. टी. ३५, पृ. १००–१ व १२९) । ९. मध्यांशः परितोऽप्यनन्तवियतो लोकस्त्रिवाताऽऽवृतः, पञ्चद्रव्यचितः प्रकर्तृरहितो नित्यः सदाऽवस्थितः । संस्थानेन तु सुप्रतिष्ठिकसमोऽसंख्यप्रदेशप्रमो मध्यस्थत्रसनालिरत्र भाविना स्पृष्टं न दृष्टं पदम् ॥ (आचा. सा. १०, ४२) ।

१ जीवादि पदार्थों के समुदायस्वरूप जो अधो-मध्यादि के भेद से तीन प्रकार का लोक है उसमें कहाँ कौन से जीव रहते हैं, इत्यादि प्रकार से उनके निवासस्थान, आयु एवं सुख-दुखादि का विचार करना, इसे लोकानुपेक्षा कहा जाता है ।

लोकानुवृत्तिविनय—अब्भुट्ठाणं अंजलि-आसणदाणं च अतिहिपूजा य । लोगाणुवित्तिविणओ देवदपूया सविहवेण ॥ भासाणुवत्ति छंदाणुवत्तणं देस-कालदाणं च । लोकाणुवत्तिविणओऽंजलिकरणं च अत्थकदे ॥ मूला. ७, ८४–८५) ।

गुरुजन के आने पर उठ खड़े होना, उन्हें प्रणाम करना, आसन देना, अतिथि की पूजा करना, अपने विभव के अनुसार देव की पूजा करना, वक्ता के वचनानुसार वचन का व्यवहार करना, गुरुजनों के अभिप्राय के अनुसार आचरण करना, और देश-काल के अनुसार दान देना; इस सबको लोकानुवृत्तिविनय कहा जाता है । यह पांच विनय के भेदों में प्रथम है ।

लोकान्तिक—देखो लोकान्तिक । १. लोकान्ते भवाः लोकान्तिकाः, अत्र प्रस्तुतत्वात् ब्रह्मलोक एव परिगृह्यते, तदन्तनिवासिनो लोकान्तिकाः । × × × जरा-मरणाग्निज्वालाकीर्णो वा लोकस्तदन्तर्वर्तित्वात् लोकान्तिकाः कर्मक्षयाभ्यासभावाच्च । (त. भा. सिद्ध. वृ. ४–२५) । २. लोकस्य ब्रह्मलोकस्यान्तः समीपं कृष्णराजीलक्षणं क्षेत्रं निवासो येषां ते, लोकान्ते वा औदयिकभावलोकावसाने भवा अनन्तरभवे मुक्तिगमनादिति लोकान्तिकाः । (स्थाना. अभय. वृ. १३४, पृ. ११७) ।

२ लोक से अभिप्राय ब्रह्मलोक (पांचवां कल्प) का है, उसके समीपवर्ती कृष्णराजी क्षेत्र में जो रहते हैं उनका नाम लोकान्तिक है। अथवा लोक से औदयिकभावस्वरूप संसार अभीष्ट है। उसके

अन्त में होने वाले—अनन्तर दूसरे भव में संसार से मुक्त होकर सिद्धि को प्राप्त करने वाले—देव लोकान्तिक कहलाते हैं। दोनों प्रकार से उनका यह नाम सार्थक है।

लोकायतिक—ऐहिकव्यवहारप्रसाधनपरं लोकायतिकम्। (नीतिवा. ६–३२)।

जो परलोक की अपेक्षा न कर केवल इस लोक सम्बन्धी व्यवहार में—मद्य, मांस एवं स्त्री के सेवनादि कार्यों में—संलग्न रहते हैं उन्हें लोकायतिक कहा जाता है। वे प्रायः चार्वाक मत के अनुयायी होते हैं।

लोकोत्तरवाद (श्रुतज्ञान)—लोकोत्तरः अलोकः, स उच्यते कथ्यते अनेनेति लोकोत्तरवादः। (धव. पु. १३, पृ. २८८)।

जिस श्रुत में लोकोत्तर (अलोक) का कथन किया जाता है उसे लोकोत्तरवाद कहा जाता है।

लोकोत्तरशब्दलिंगज श्रुतज्ञान—असच्चकारणविणिम्मुक्कपुरिसवयणविणिग्गयवयणकलावजणियसुदणाणं लोउत्तरियसद्दजं। (जयध. १, पृ. ३४१)।

असत्य भाषण के कारणों से रहित (विश्वस्त) पुरुष के मुख से निकले हुए शब्दसमूह के द्वारा जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है उसे लोकोत्तरशब्दलिंगज श्रुतज्ञान कहते हैं।

लोकोत्तरशुचित्व—तत्रात्मनः प्रक्षालितकर्ममलकलंकस्य स्वात्मन्यवस्थानं लोकोत्तरं शुचित्वम्। (त. वा. ६, ७, ६)।

आत्मा का कर्मरूप मल को धोकर अपने आत्मस्वरूप में स्थित होना, यह लोकोत्तरशुचित्व (शुद्धि) कहलाता है।

लोकोत्तर सामाचारकाल—लोउत्तरीओ सामाचारकालो जहा वंदणकालो णियमकालो सज्झायकालो झाणकालो इच्चेवमादि। (धव. पु. ११, पृ. ७६)।

वन्दना का काल, नियत अनुष्ठान का काल, स्वाध्याय का काल (अथवा सांध्यविधि का काल) और ध्यान का काल इत्यादि सदनुष्ठान से सम्बद्ध काल को लोकोत्तरसामाचारकाल कहा जाता है।

लोचकरणविधि—१. बिय-तिय-चउक्कमासे लोचो उक्कस्स-मज्झिम-जहण्णो। सपडिक्कमणे दिवसे उववासेणेव कायव्वो॥ (मूला. १–२९)। २. कूर्चश्मश्रुकचोल्लुञ्चो लुञ्चनं स्यादमी मतः। परीषहजयाऽदैन्य-वैराग्यासंग-संयमाः॥ तच्चतुस्त्रि-द्विमासेषु सोपवासे विधीयते। जघन्यं मध्यमं ज्येष्ठं सप्रतिक्रमणे दिने॥(आचा. सा. १, ४०-४१)। ३. लोचो द्वि-त्रि-चतुर्मासि वरो मध्योऽधमः क्रमात्। लघुप्राग्भक्तिभिः कार्यः सोपवासप्रतिक्रमः॥ (अन. ध. ६–८६)।

१ दो, तीन अथवा चार मास में जो क्रम से उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य रूप में प्रतिक्रमण व उपवास के साथ बालों को उखाड़ा जाता है उसे लोच कहा जाता है। यह साधु के अट्ठाईस मूलगुणों में से एक (२२वां) है।

लोभ—१. अनुग्रहप्रवणद्रव्याद्यभिकांक्षावेशो लोभः क्रिमिराग-कज्जल-कर्दम-हरिद्रारागसदृशश्चतुर्विधः। (त. वा. ८, ९, ५)। २. गर्हा काङ्क्षा लोभः। उक्तं च—××× किमिराय-चक्क-तणुमल-हरिद्दाराएण सरिसओ लोहो। णारय-तिरिक्ख-माणुस-देवेसुप्पायओ कमसो॥ (धव. पु. १, पृ. ३४९); लोभो गृद्धिरित्येकोऽर्थः। (धव. पु. ६, पृ. ४१); बाह्यार्थेषु ममेदंबुद्धिर्लोभः। (धव. पु. १२, पृ. २८३); वज्झत्थेसु ममेदंभावो लोभो। (धव. पु. १२, पृ. २८४)। ३. दानार्हेषु स्वधनाप्रदानं परधनग्रहणं वा लोभः। (नीतिवा. ४–४)। ४. लोभनम् अभिकांक्षणं लुभ्यते वा अनेनेति लोभः। (स्थाना. अभय. वृ. २४९)। ५. दानार्हेषु स्वधनाप्रदानं निष्कारणं परधनग्रहणं च लोभः। (योगशा. स्वो. विव. १–५६)। ६. परिग्रह-ग्रहातीवलालस मानसं स्मृतः। लोभो लाभाभिमोदात्तरक्षणार्थोपलक्षितः॥ (आचा. सा. ५–१९)। ७. स्थले धनव्ययाभावो लोभः। ××× निश्चयेन निखिलपरिग्रहपरित्यागलक्षणनिरंजननिजपरमात्मतत्त्वपरिग्रहात् अन्यत् परमाणुमात्रद्रव्यस्वीकारो लोभः। (नि. सा. वृ. ११२)।

१ जो द्रव्य (धन) आदि अनुग्रह में तत्पर रहता है उसको अभिलाषा रखने रूप अभिप्राय का नाम लोभ है। २ बाह्य पदार्थों में जो 'यह मेरा है' इस प्रकार की बुद्धि रहा करती है उसे लोभ कहा जाता है। ३ देने योग्य पात्रों के लिये अपने धन को न देना अथवा दूसरे के धन को ग्रहण करना, इसे लोभ कहते हैं।

लोभपिण्ड—१. तथा लोभं कांक्षां प्रदर्श्य भिक्षां

यद्यात्मन उत्पादयति तदा लोभोत्पादनदोषो मायदोषादिदर्शनात्। (मूला. वृ. ६-३४)। २. अति-लोभाद् भिक्षार्थं पर्यटतो लोभपिण्डः। (योगशा. स्वो. विव. १-३८, पृ. १३६)। ३. लोभेन अन्नार्जनं लोभः। (भावप्रा. टी. ९९)।

१ साधु यदि लोभ को प्रगट करके अपने लिए भिक्षा को उत्पन्न करता है तो उसके लोभ नाम का उत्पादनदोष होता है। २ यदि साधु अतिशय लोभ के वशीभूत होकर भिक्षा के लिए भ्रमण करता है तो उसके लोभपिण्ड नाम का उत्पादनदोष होता है।

लोभवशार्तमरण— उपकरणेषु भक्त-पानक्षेत्रेषु शरीरे निवासस्थानेषु च इच्छां मूर्च्छां च वहतो मरणं लोभवशार्तमरणम्। (भ. आ. विजयो. २५)।

उपकरणों, अन्न-पान के स्थानों, शरीर और निवासस्थानों के विषय में इच्छा को धारण करते हुए जो मरण होता है उसे लोभवशार्तमरण कहते हैं।

लोभविजयी राजा—स लोभविजयी राजा यो द्रव्येण कृतप्रीतिः प्राणाभिमानेषु न व्यभिचरति। (नीतिवा. ३०-७१, पृ. ३६२)।

जो राजा द्रव्य (धन) से प्रीति रखता हुआ प्राण और अभिमान के विषय में प्रजाजन से व्यभिचरित नहीं होता—उनकी भलाई का सदा ध्यान रखता है—उसे लोभविजयी राजा समझना चाहिए।

लोभोत्पादनदोष—देखो लोभपिण्ड।

लोमाहार—१. ××× तया य फासेण लोम-आहारो। (सूत्रकृ. नि. १७१; बृहत्सं. १९७)। २. लोमाहारस्तु शरीरपर्याप्त्युत्तरकालं बाह्यया त्वचा, लोमभिराहारो लोमाहारः। ××× तदुत्तरकालं (ओजाहारानन्तरं) त्वचा स्पर्शेन्द्रियेण यः आहारः स लोमाहारः। (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. १७१, पृ. ८७); ×××अन्ये त्वाचार्या अन्यथा व्याचक्षते ××× यः पुनः स्पर्शेन्द्रियेणैवोपलभ्यते धातुभावेन (च) प्रयाति स लोमाहार इति। (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. १७१, पृ. ८८)। ३. लोमभिराहारो लोमाहारः, ××× तत्र यः खल्वोघतो वर्षादिषु पुद्गलप्रवेशो मूत्रादिगम्यः स लोमाहारः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३०६, पृ. ५०७-८)। ४. तया त्वचा त्वगिन्द्रियेण स्पर्शे स्पर्शने सति य आहारः शरीरोपष्टम्भकपुद्गलसंग्रहः स लोमाहारः लोमभि-र्लोमरन्ध्रैराहारो लोमाहारः। (बृहत्सं. मलय. वृ. १९७)।

२ शरीरपर्याप्ति के पश्चात् बाहिरी त्वचा (चमड़ा) के द्वारा रोमों के आश्रय से जिस आहार को ग्रहण किया जाता है वह लोमाहार कहलाता है।

लौकान्तिक—देखो लोकान्तिक। १. ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः। (त. सू. ४-२४)। २. संसारवारिरासी जो लोओ तस्स होंति अंतम्मि। जम्हा तम्हा एदे देवा लोयंतिय त्ति गुणणामा। (ति. प. ८-६१५)। ३. ब्रह्मलोको लोकः, तस्यान्तो लोकान्तः, तस्मिन् भवा लौकान्तिकाः। ××× अथवा जन्म-जरा-मरणाकीर्णो लोकः संसारः, तस्यान्तो लोकान्तः, लोकान्ते भवा लौकान्तिकाः। (स. सि. ६-२४)। ४. ब्रह्मलोकास्यन्तो लोकान्तः, तस्मिन् भवा लौकान्तिकाः। अथवा जाति-जरा-मरणाकीर्णो लोकः, तस्यान्तो लोकान्तः, तत्प्रयोजना लौकान्तिकाः। ते हि परीतसंसाराः ततश्च्युता एकं गर्भवासमवाप्य परिनिर्वान्ति। (त. वा. ४, २४, २)। ५. ब्रह्मलोकस्यान्तो हि लोकान्तः, लोकान्ते भवा लौकान्तिकाः। ××× अथवा लोकः संसारः जन्म-जरा-मृत्युसंकीर्णः, तस्यान्तो लोकान्तः, तत्प्रयोजना लौकान्तिकाः। ते हि परीतसंसाराः ततश्च्युत्वा एकं गर्भवासमवाप्य परिनिर्वान्ति। (त. श्लो. ४-२४)। ६. लोकस्य ब्रह्मलोकस्य अन्तोऽवसानं लोकान्तः, लोकान्ते भवा लौकान्तिकाः। ××× अथवा जन्म-जरा-मरणव्याप्तो लोकः संसारः, तस्य अन्तः लोकान्तः, लोकान्ते परीतसंसारे भवा लौकान्तिकाः, ते हि ब्रह्मलोकान्ताच्च्युत्वा एकं गर्भवासं परिप्राप्य निर्वाणं गच्छन्ति, तेन कारणेन लौकान्तिकाः उच्यन्ते। (त. वृत्ति श्रुत. ४-२४)।

३ लोक से यहां ब्रह्मलोक (पांचवां कल्प) विवक्षित है, उसके अन्त में जो रहते हैं वे लौकान्तिक कहलाते हैं। अथवा लोक से अभिप्राय जन्म, जरा और मरण से व्याप्त संसार का रहा है, उसके अन्त में जो हों—आगे एक मनुष्यभव को पाकर मुक्त होने वाले हों—उन्हें लौकान्तिक देव जानना चाहिए।

लौकिकभावश्रुतग्रन्थ—हस्त्यश्व-तन्त्र-कौटिल्य-वात्स्यायनादिबोधो लौकिकभावश्रुतग्रन्थः। (धव. पु. ९, पृ. ३२२)।

हाथी, घोड़ा, तंत्र, कौटिल्य और वात्स्यायन आदि ग्रन्थविषयक बोध को लौकिक भावश्रुत कहते हैं।

लौकिक मुनि—१. णिग्गंथो पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहिं। सो लोगिगो त्ति भणिदो संजम-तव-संपजुदो चावि॥ (प्रव. सा. ३-६९)। २. प्रतिज्ञातपरमनैर्ग्रन्थ्यप्रव्रज्यत्वादुदूढसंयम-तपोभारोऽपि मोहबहुलतया श्लथीकृतशुद्धचेतनव्यवहारो मुहुर्मनुष्यव्यवहारेण व्याघूर्णमानत्वादैहिककर्मानिवृत्तौ लौकिक इत्युच्यते। (प्रव. सा. अमृत. ३-६९)।

१ जो निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) स्वरूप से दीक्षित होकर इस लोक सम्बन्धी क्रियाओं के आश्रय से प्रवृत्ति करता है उसे संयम और तप से संयुक्त होने पर भी लौकिक श्रमण (व्यवहारप्रधान) कहा गया है।

लौकिक मूढ—कोडिल्लमासुरक्खा भारह-रामायणादि जे धम्मा। होज्जु व तेसु विसुत्ती लोइयमूढो हवदि एसो॥ (मूला. ५-६०)।

कौटिल्य—लोकवञ्चनादि रूप धर्म, आसुरक्ष—छेदन-भेदनादि रूप से वंचनापूर्ण रक्षा का सूचक धर्म—एवं भारत व रामायण आदि जो कल्पित धर्म हैं उनके श्रवणादि में प्रवृत्त होने वाले को लौकिक मूढ कहा जाता है।

लौकिक वाद—लोक्यन्त उपलभ्यन्ते यस्मिन् जीवादयः पदार्थाः स लोकः, लोक एव लौकिकः, स लोकः कथ्यते अनेनेति लौकिकवादः सिद्धान्तः। (धव. पु. १३, पृ. २८८)।

जिसमें जीवादि पदार्थ देखे जाते हैं वह लोक कहलाता है, स्वार्थ में ठक् प्रत्यय होने से उसी को लौकिक कहा जाता है। जिस श्रुत में उक्त प्रकार के लोक का कथन किया जाता है उसे लौकिकवाद कहते हैं। यह सिद्धान्त का एक पर्यायनाम है।

लौकिक शब्दलिंगज श्रुतज्ञान—सामण्णपुरिसवयणविणिग्गयवयणकलावजणियणाणं लोइयसद्दजं। (जयध. १, पृ. २४१)।

सामान्य पुरुष के मुख से निकले हुए वचनसमूह के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे लौकिक शब्दलिंगज श्रुतज्ञान कहते हैं।

लौकिक सामाचारकाल—लोगियसामाचारकालो जहा—कसणकालो, लुणणकालो ववणकालो इच्चेवमादि। (धव. पु. ११, पृ. ७६)।

भूमि जोतने, लुनने और बोने आदि के काल को लौकिक सामाचारकाल कहा जाता है।

वक्ता—१. सच्चमसच्चं संतमसंतं वददीदि वत्ता। (धव. पु. १, पृ. ११९); सत्यमसत्यं ब्रवीतीति वक्ता। (धव. पु. ६, पृ. २२०)। २. प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः, प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः। प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया, ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः॥ (आत्मानु. ५)।

१ जो सत्य-असत्य तथा समीचीन व असमीचीन भाषण करता है उसे सामान्य से वक्ता कहा जाता है। २ जो बुद्धिमान्, समस्त शास्त्रों के रहस्य का जानने वाला, लोकव्यवहार में दक्ष, आशा से रहित, प्रतिभाशाली, शान्त, प्रश्न का उत्तर पहिले ही देख लेने वाला, प्रश्न को सहने वाला, दूसरे के चित्त को खींचने वाला, निन्दा से रहित तथा स्पष्ट व मधुर भाषण करने वाला जो वक्ता होता है वही धर्मकथा का व्याख्याता हो सकता है।

वचननिर्विषा ऋद्धि—देखो आस्यविष और आस्याविष। तित्तादिविविहमण्णं विसजुत्तं जीए वयणमेत्तेण। पावेदि णिव्विसत्तं सा रिद्धी वयणणिव्विसा णामा॥ अहवा बहुवाहीहिं परिभूदा झत्ति होंति णीरोगा। सोदुं वयणं जीए सा रिद्धी वयणणिव्विसा णामा॥ (ति. प. १०७४-७५)।

जिस ऋद्धि के प्रभाव से ऋद्धिधारी के बोलने मात्र से विषसंयुक्त तीखा व कडुआ आदि अन्न निर्विषता को प्राप्त हो जाता है उसका नाम वचननिर्विषा ऋद्धि है। अथवा जिस ऋद्धि के प्रभाव से ऋद्धिधारी के वचन को सुनकर बहुत से रोगों से अभिभूत प्राणी नीरोग हो जाता है उसे वचननिर्विषा ऋद्धि जानना चाहिए।

वचनबलप्राण—१. स्वरनामकर्मोदयसहितदेहोदये सति वचनव्यापारकारणशक्तिविशेषरूपो वचोबलप्राणः। (गो. जी. मं. प्र. टी. १३१)। २. स्वरनामकर्मोदयसहकारिभाषापर्याप्त्युत्तरकालविशिष्टोपयोगप्रयोजनात्मको बलप्राणः। (गो. जी. जी. प्र. १२९)।

१ स्वरनामकर्म के साथ शरीर नामकर्म का उदय

होने पर जो वचनविषयक व्यापार के करने की विशेष शक्ति होती है उसे वचनबलप्राण कहते हैं।

वचनबला ऋद्धि—देखो वाग्बली। १. जिब्भिंदिय-णोइंदिय-सुदणाणावरण-विरियविग्घाणं। उक्कस्सखओवसमे मुहुत्तमेत्तंतरम्मि मणी॥ सयलं पि सुदं जाणइ उच्चारइ जीए विप्फुरंतीए। असमो अहिकंठो सा रिद्धीउ णेया वयणबलणामा॥ (ति. प. ४, १०६३–६४)। २. बारसंगाणं बहुबारं पडिवाडिं काऊण वि जो खेयं ण गच्छइ सो वचिबलो, तवोमाहप्पुप्पाइदवयणबलो वचिबली त्ति उत्तं होदि। (धव. पु. ९, पृ. ९८–९९)। ३. अन्तर्मुहूर्त्तेन अखिलश्रुतपाठशक्तयो ये ते वचोबलिनः। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३६)।

१ जिस ऋद्धि के प्रगट होने पर मुनि जिह्वेन्द्रियावरण, नोइन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के उत्कृष्ट क्षयोपशमपूर्वक एक मुहूर्त के भीतर समस्त श्रुत को श्रम से रहित जानता है और उत्तम स्वर के साथ उच्चारण करता है उसे वचनबला नाम की ऋद्धि जानना चाहिए।

वचनभिन्न—वचनभिन्नं यत्र वचनव्यत्ययो, यथा वृक्षावेतौ पुष्पिता इत्यादि। (आव. नि. मलय. वृ. ८८२)।

जहां वचन की विपरीतता हो वहां वचनभिन्न नाम का दोष होता है। जैसे—'एतौ वृक्षौ पुष्पिताः' इस वाक्य में 'वृक्षौ' जहां द्विवचनान्त है वहां 'पुष्पिताः' यह बहुवचनान्त है। यह वचन की विपरीतता है। वस्तुतः "एतौ वृक्षौ पुष्पितौ" अथवा 'एते वृक्षाः पुष्पिताः' इस प्रकार का निर्दोष वाक्य होना चाहिए। यह ३२ सूत्रदोषों में से १४वां सूत्रदोष है।

वचनमात्रहेतुक—वचनमात्रहेतुकं यथा विवक्षिते भूप्रदेशे इदं लोकमध्यमिति। (आव. नि. मलय. वृ. ८८३)।

वाक्य में जहां वचन मात्र कारण हो—यथार्थता न हो—वहां सूत्र का वचनमात्रहेतुक नामक ३५वां दोष होता है। जैसे—विवक्षित भूमिप्रदेश को लोक का मध्य न होने पर भी लोकमध्य कहना।

वचिबली—देखो वचनबला ऋद्धि।

वज्रनाराचसंहनन—१. तदेव (वज्रर्षभनाराचसंहननमेव) वलयबन्धनविरहितं वज्रनाराचसंहननम्। (त. वा. ८, ११. ९)। २. एसो चेव हड्डुबंधो वज्जरिसहवज्जिओ जस्स कम्मस्स उदएण होदि तं कम्मं वज्जणारायणसरीरसंघडणमिदि भण्णदे। (धव. पु. ६, पृ. ७३); वज्राकारेण स्थितास्थिः नेष्टकः ऋषभः तौ भित्त्वा स्थितवज्रकीलक-वज्रनाराच(?) ऋषभरहितं वज्रनाराचशरीरसंहननम्। (धव. पु. १३, पृ. ३६९)। ३. एष एवास्थिबन्धो ऋषभरहितो यस्योदयेन भवति तत् द्वितीयम्। (मूला. वृ. १२–१९४)। ४. तद्वलयरहितं वज्रनाराचसंहननं नाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८–११)।

२ जिस नामकर्म के उदय से वज्रमय वेष्टन के बन्धन से रहित वज्रमय हड्डियां दोनों ओर वज्रमय कीलों से कीलित हुआ करती हैं उसे वज्रनाराचसंहनन कहते हैं।

वज्रर्षभनाराचसंहनन—१. तत्र वज्राकारोभयास्थिसंधि प्रत्येकं मध्ये वलयबन्धनं सनाराचं सुसंहतं वज्रर्षभनाराचसंहननम्। (त. वा. ८, ११, ९)। २. संहननमस्थिचयः, ऋषभो वेष्टनम्, वज्रवदभेद्यत्वाद्वज्रवृषभः, वज्रवन्नाराचः वज्रनाराचः, तौ द्वावपि यस्मिन् वज्रशरीरसंहनने तद्वज्रऋषभ-वज्रनाराचशरीरसंहननम्। जस्स कम्मस्स उदएण वज्जहड्डाइं वज्जवेट्ठेण वेढ्ढियाइं वज्जणाराएण खीलिमाइं च होंति तं वज्जरिसहवइरणरायणसरीरसंघडणमिदि उत्तं होदि। (धव. पु. ६, पृ. ७३); वज्रमिव वज्रम्, वज्रऋषभः वज्रनाराचश्च वज्रर्षभ-नाराचौ, तौ एव शरीरसंहननं वज्रऋषभ-वज्रनाराचशरीरसंहननम्। (धव. पु. १३, पृ. ३६९)। ३. अस्थिसंचयं ऋषभवेष्टनं वज्रवदभेद्यत्वादृषभः वज्रश्च नाराचश्च वज्र-नाराचौ, तौ द्वावपि यस्य शरीरसंहननं[संहननस्य]तद्वज्रर्षभनाराचसंहननम्, यस्य कर्मण उदयेन वज्रास्थीनि वज्रवेष्टनेन वेष्टितानि वज्रनाराचेन च कीलितानि भवन्ति। (मूला. वृ. १२, १९४)। ४. तत्र वज्रं कीलिका, ऋषभः परिवेष्टनपट्टः, नाराचमुभयतो मर्कटबन्धः। उक्तं च—रिसहो य होइ पट्टो वज्जं पुण कीलिया मुणेयव्वा। उभयो मक्कडबंधं नारायं तं वियाणाहि॥ ततश्च द्वयोरस्थ्नोरुभयतो मर्कटबन्धनबद्धयोः पट्टाकृतिना तृतीयेनास्थ्ना परिवेष्टितयोरुपरि तदस्थित्रयभेदिकीलिकाख्यं वज्रनामकमस्थि यत्र भवति तत्र वज्रर्षभनाराचसंहननम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७२)।

१ जिस नामकर्म के उदय से वज्र जैसी हड्डियों की संधियों में से प्रत्येक के मध्य में नाराच सहित भलीभांति योजित वलयबन्धन (वेष्टन का बन्धन) रहता है उसे वज्रर्षभनाराचसंहनन कहते हैं। २ हड्डियों के संचय का नाम संहनन है, ऋषभ का अर्थ वेष्टन होता है, जिसके उदय से वज्र के समान अभेद्य हड्डियां वज्रमय वेष्टन से वेष्टित और वज्रमय नाराचों से कीलित रहा करती हैं उसे वज्रर्षभनाराचशरीरसंहनन नामकर्म कहा जाता है। ४ जिस शरीरसंहनन में मर्कटबन्धन से बंधी हुई दो हड्डियां दोनों ओर पट्ट के आकार वाली तीसरी हड्डी से वेष्टित होती हैं तथा ऊपर उन तीनों हड्डियों को भेदन करने वाली कीलिका नाम की वज्रनामक हड्डी होती है वह वज्रर्षभनाराचसंहनन नामकर्म कहलाता है।

वडभ—वडभाः संकुचितकर-चरणाः। (आचारदि. पृ. ७५)।

जिनके हाथ-पांव संकुचित होते हैं उन्हें वडभ कहा जाता है। ऐसे मनुष्यों का पृष्ठभाग बाहिर निकला रहता है।

वणिक्कमार्य—देखो वाणिज्यकमार्य। १. चन्दनादिगन्ध-घृतादिरस-शाल्यादिधान्य-कार्पासाद्याच्छादन-मुक्तादिनानाद्रव्यसंग्रहकारिणो बहुविधा वणिक्कर्मार्याः। (त. वा. ३, ३६, २)। २. धान्य-कार्पास-चन्दन-सुवर्ण-रजत-मणि-माणिक्य - घृतादिरसांशुकादिसंग्रहकारिणो वाणिज्यकर्मविदाता वणिक्कर्मार्याः शब्द्यन्ते। (त. वृत्ति श्रुत. ३-३६)।

१ जो चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों, घी आदि रसों, शाली आदि धान्यों (अनाजों), कपास आदि शरीर के आच्छादक द्रव्यों और मोती आदि अनेक द्रव्यों का संग्रह किया करते हैं वे वणिक्कर्मार्य कहलाते हैं। वे अनेक प्रकार के होते हैं।

वणिगवावसति—देखो वनीपकवचन। १. भगवन् सर्वेषां आहारदानाद् वसतिदानाच्च पुण्यं किमु महदुपजायते इति पृष्टो न भवतीत्युक्ते गृहिजनः प्रतिकूलवचनरुष्टो वसतिं न प्रयच्छेदिति एवमिति तदनुकूलमुक्त्वा योत्पादिता सा वणिगवा शब्देनोच्यते। (भ. आ. विजयो. २३०)। २. भगवन् सर्वेषामाहारदानाद् वसतिदानाद् वा किं पुण्यं जायेत उत नेति पृष्टो यदि न जायत इति ब्रवीमि तदेष गृही रुष्टो वसतिं मे न प्रयच्छेदिति संप्रधार्य तदनुकूलकथनादुत्पादिता वणिगवदुष्टा। (भ. आ. मूला. २३०)।

१ हे भगवन्! आहार और वसति के दान से क्या महान् पुण्य होता है, ऐसा पूछने पर प्रतिकूल वचन यदि कहा जाय तो उससे रुष्ट होकर गृहस्थजन मुझे वसति नहीं देंगे, यह सोचकर यदि साधु उनके अनुकूल बोलकर वसति को प्राप्त करता है तो वह वणिगवा (वनीपक) नामक उत्पादनदोष से दूषित होती है।

वत्सलत्व—देखो प्रवचनवत्सलत्व। वत्सलत्वं पुनः वत्से धेनुवत्संप्रकीर्तितम्। जैनप्रवचने सम्यक्छ्रद्धाज्ञानवत्स्वपि॥ (त. श्लो. ६, २४, १६)।

जिस प्रकार गाय बछड़े से प्यार किया करती है उसी प्रकार साधर्मी जन से, तथा समीचीन श्रद्धा और ज्ञान से युक्त (सम्यग्दृष्टि व सम्यग्ज्ञानी) जीवों से भी जो प्यार किया जाता है उसका नाम वत्सलत्व है। इसे प्रवचनवत्सलत्व कहा जाता है। यह तीर्थंकर प्रकृति की बन्धक सोलह भावनाओं में अन्तिम है।

वध—१. आयुरिन्द्रिय-बलप्राणवियोगकरणं वधः। (स. सि. ६-११); दण्ड-कशा-वेत्रादिभिरभिघातः प्राणिनां वधः। (स. सि. ७-२५)। २. आयुरिन्द्रिय-बलप्राणवियोगकरणं वधः। भवधारणस्यायुषः रूपादिग्रहणनिमित्तानामिन्द्रियाणां कायादिवर्गणालम्बनबलस्योच्छ्वास-निःश्वासलक्षणस्य च प्राणस्य परस्परतो वियोगकरणं वध इत्यवधार्यते। (त. वा. ६, ११, ५); प्राणिपीडाहेतुर्वधः। दण्ड-कशा-वेत्रादिभिरभिघातः प्राणिनां वध इति गृह्यते, न प्राणव्यपरोपणम्। (त. वा. ७, २५, २)। ३. वधः ताडनं करकशलतादिभिः। (ध्यानश. हरि. वृ. १६)। ४. ××× वधो दण्डादिताडना। (ह. पु. ५८, १६४)। ५. वधः कशादिताडनम्। (ओघनि. वृ. ४६)। ६. वधो यष्ट्यादिताडनम्। (समवा. अभय. वृ. २२)। ७. यष्टितर्जनकं वेत्र-दण्डादिभिः प्राणिनां ताडनं हननं वधः। (त. वृत्ति ७-२५; कार्तिके. टी. ३३२)।

१ आयु, इन्द्रिय और बल प्राणों के वियोग करने का नाम वध है। यह असातावेदनीय के बन्ध का कारण है। लकड़ी चाबुक या बेत आदि से ताड़ित

करने को भी वध कहा जाता है। इस प्रकार का वध अहिंसाणुव्रत के अतिचारों के अन्तर्गत है।

वधकोपदेश—१. वागुरिक-सौकरिक-शाकुनिकादिभ्यो मृग-वराह-शकुन्तप्रभृतयोऽमुष्मिन् देशे सन्तीति वचनं वधकोपदेशः। (त. वा. ७, २१, २१; चा. सा. पृ. ६)। २. शाकुनिकाः पक्षिमारकाः, वागुरिकाः मृग-वराहादिमारकाः, धीवराः मत्स्यमारका इत्यादीनां पापोपकर्मोपजीविनाम् ईदृशीं वार्तां कथयति—अस्मिन् प्रदेशे वन-जलाद्युपलक्षिते मृग-वराह-तित्तिर-मत्स्यादयो बहवः सन्तीति कथनं वधकोपदेश-नामा तृतीयः पापोपदेशः कथ्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७-२१)।

१ वागुरिक—जाल में फंसाकर मृग आदि के पकड़ने वाले, सौकरिक—वन्दूक आदि से शूकर आदि हिंस्र जीवों का वध करने वाले (शिकारियों)—और पक्षियों के संहारक मनुष्यों के लिए ऐसा उपदेश करना कि अमुक देश में मृग, शूकर और पक्षी आदि पाये जाते हैं; इसे वधकोपदेश कहा जाता है।

वधपरीषहजय—१. निशितविशसन-मुशल-मुद्गरादिप्रहरण-ताडन-पीडनादिभिर्व्यापाद्यमानशरीरस्य व्यापादकेषु मनागपि मनोविकारमकुर्वतो मम पुराकृतदुष्कर्मफलमिदमिमे वराका किं कुर्वन्ति, शरीरमिदं जलबुद्बुदवद्विशरणस्वभावं व्यसनकारणमेतैर्वबाध्यते, संज्ञान-दर्शन-चारित्राणि मम न केनचिदुपहन्यन्ते इति चिन्तयतो वासितक्षण-चन्दनानुलेपनसमदर्शिनो वधपरीषहक्षमा मन्यते। (स. सि. ९-९)। २. मारकेष्वमर्षापोहभावनं वधमर्षणम्। ग्रामोद्यानाटवी-नगरेषु नक्तं दिवा चंकाकिनो निरावरणमूर्तेः समन्तात्पर्यटद्भिश्चौर-राक्षस-म्लेच्छ-शवर-परुप-वधिरपूर्वापकारिद्विपत्परलिंगिभिराहितक्रोधैस्ताडनाकर्षणवन्धन-शस्त्राभिघातादिभिर्मार्यमाणस्याप्यनुपपन्नवैरस्यावश्यप्रपातुकमेवेदं शरीरं कुशलद्वारेणानेनापनीयते, न मम व्रत-शील-भावनाभ्रंसनमिति भावशुद्धस्य दह्यमानस्यापि सुगन्धमुत्सृजतश्चन्दनस्येव शुभपरिणामस्य स्वकर्मनिर्जरामभिसन्दधानस्य दृढमतेः क्षमौषधिवलस्य मारकेषु सुहृत्स्विवामर्षापोहभावनं वधमर्षणमित्याम्नायते। (त. वा. ९, ९, १८)। ३. मारकेष्वमर्षापोहनभावनं वधमर्षणम्। (त. श्लो. ९, ९)। ४. वधः मुद्गरादिप्रहरणकृतपीडा, × × × तस्याः सहनम्, × × × ततः परीषहजयो भवति। (मूला. वृ. ५-५८)। ५. रुष्टैः पूर्वभवापकारकलनासज्जन्मवैरात् खलैर्म्लेच्छैर्निःकरुणैरकारणगुणद्वेषैश्च पापात्मकैः। देहच्छेदन-भेदनादिविधिना यो मार्यमाणोऽप्यलं देहात्मात्मविभेदवेदनभवक्षान्तिर्वधार्तिक्षमी॥ (आचा. सा. ७-१३)। ६. नृशंसेऽरं क्वचिरस्वैरं कुतश्चिन्मारयत्यपि। शुद्धात्मद्रव्यसंवित्तिवित्तः स्याद्वधमर्षणः। (अन. ध. ६, १०१)। ७. चौरादिभिः क्रुद्धैः शस्त्राग्न्यादिभिर्मार्यमाणस्याप्यनुत्पन्नवैरस्य मम पुराकृतकर्मफलमिदमिति, इमे वराका किं कुर्वन्ति, शरीरमिदं स्वयमेव विनश्वरं दुःखदमेतैर्हन्यते, न ज्ञानादिकम् इति भावयतो वधपरीषहक्षमा। (आरा. सा. टी. ४०)।

१ तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्रादि के द्वारा घात करने पर भी घातक जनों के विषय में क्रोधादि विकार को प्राप्त न होकर यह विचार करना कि यह सब मेरे पूर्वकृत कर्म का फल है, ये वेचारे मेरा क्या बिगाड़ कर सकते हैं? शरीर तो विनश्वर है, उसी को ये नष्ट कर सकते हैं, इत्यादि विचार करते हुए उसे शान्तिपूर्वक सहन करना, इसे वधपरीषहजय कहा जाता है। इसे परीषहजय के अतिरिक्त परीषहक्षम, परीषहमर्षण और परीषहसहन आदि अनेक नामों से कहा गया है।

वधमर्षण—देखो वधपरीषहजय।

वधू—पुरिसं वधमुवणेदि त्ति होदि वहुगा णिरुत्तिवादम्मि। (भ. आ. ९७७)।

जो पुरुष को वध को प्राप्त कराती है उसका नाम वधू है। यह उसका निरुक्त लक्षण है।

वधूदोष—शिरोऽवनम्य कुलवध्वा इव स्थानं वधूदोषः। (योगशा. स्वो. विव. ३-१३०)।

कुलवधू के समान शिर को नीचा करके कायोत्सर्ग में स्थित होना, यह कायोत्सर्ग का एक दोष है जो उसके २१ दोषों में ७वां दोष है।

वनकर्म—देखो वनजीविका।

वनजीविका—१. जो वणं किणति, पच्छा रुक्खे छिंदित्तुं मुल्लेण जीवति। (आव. चू. पृ. ८२९)। २. छिन्नाछिन्नवनपत्र-प्रसून-फलविक्रयः। कणानां दलनात्पेषाद् वृत्तिश्च वनजीविका॥ (योगशा. ३, १०३; त्रि. श. पु. च. ६, ३, ३३७)। ३. तत्र वनजीविका छिन्नस्याछिन्नस्य वा वनस्पतिसमूहादेविक्रयेण तथा गोधूमादिधान्यानां घरट्टशिलादिना

पेषणेन दलनेन वर्तनम्। (सा. ध. स्वो. टी. ५-२१)।

१ वन को खरीदकर पीछे वृक्षों को काटना और बेचना, इसे वनजीविका कहा जाता है। २ कटे या विना कटे वन के पत्तों, फूलों और फलों को बेचकर तथा धान्य को दलकर व पीसकर आजीविका चलाना, इसे वनजीविका कहते हैं।

वनस्पति—देखो वनस्पतिकायिक।

वनस्पतिकायिक—१. वनस्पतिः कायः येषां ते वनस्पतिकायाः, वनस्पतिकाया एव वनस्पतिकायिकाः। ××× वणप्फदिणामकम्मोदया जीवा विग्गहगईए वट्टमाणा वि वणप्फदिकाइया भवंति। (धव. पु. ३, पृ. ३५७)। २. उदये दु वणप्फदिकम्मस्स य जीवा वणप्फदी होंति। (गो. जी. १८५)। ३ स्थावरनामकर्मोत्तरप्रकृतिभेदस्य वनस्पतिनामकर्मण उदये सति, तु पुनः, जीवा वनस्पतिकायिका भवन्ति। (गो. जी. मं. प्र. १८५)। ४. वनस्पतिविशिष्टस्थावरनामकर्मोत्तरप्रकृत्युदये, तु पुनः, जीवा वनस्पतिकायिका भवन्ति। (गो. जी. जी. प्र. १८५)। ५. सार्द्रः छिन्नो भिन्नो मर्दितो वा लतादिर्वनस्पतिरुच्यते। शुष्कादिर्वनस्पतिर्वनस्पतिकायः। जीवसहितो वृक्षादिर्वनस्पतिकायिकः। विग्रहगतौ सत्यां वनस्पतिर्जीवः वनस्पतिजीवो भण्यते। (त. वृत्ति श्रुत. २-१३)।

१ जिनका शरीर वनस्पति हुआ करता है उन्हें वनस्पतिकाय या वनस्पतिकायिक कहा जाता है। वनस्पतिनामकर्म के उदय से विग्रहगति में वर्तमान भी जीव वनस्पतिकायिक होते हैं। ५ छेदी-भेदी गई अथवा मर्दित सार्द्र लता आदि को वनस्पतिकाय कहा जाता है। सजीव वृक्ष आदि को वनस्पतिकायिक कहते हैं। विग्रहगति में वर्तमान वनस्पति जीव का नाम वनस्पतिजीव है।

वनस्पतिजीव—१. एवमब्बादिष्वपि योज्यम् (समवाप्तवनस्पतिकायनामकर्मोदयः कार्मणकाययोगस्थो न तावद् वनस्पतिं कायत्वेन गृह्णाति स वनस्पतिजीवः)। (स. सि. २-१३)। २. (एवं पृथिवीजीववत्) ××× वनस्पतिजीवः (सर्वार्थसिद्धिवत्)। (त. वा. २, १३, १)।

१ जो जीव वनस्पतिकाय नामकर्म के उदय से युक्त होता हुआ कार्मणकाययोग में स्थित होकर वनस्पति को शरीररूप से ग्रहण नहीं करता है उसे वनस्पतिजीव कहा जाता है।

वनिताकथा—स्त्रीणां कथाः—स्वरूपास्ताः सौभाग्ययुक्ता मनोरमा उपचारप्रवणाः कोमलालापा इत्येवमादिकथनं वनिताकथाः। (मूला. वृ. ६-८६)।

वे स्त्रियां सुन्दर, सौभाग्यशालिनी, चित्ताकर्षक, व्यवहार में कुशल और कोमल वचनालाप करने वाली हैं; इत्यादि प्रकार से स्त्रियों के विषय में चर्चा करना, इसे वनिताकथा कहा जाता है।

वनीपकवचन—देखो वणिगवावसति। १. साणकिविणतिधि-माहण-पासंडिय-सवण-कागदाणादी। पुण्णं णवेति पुट्ठे पुण्णेत्ति वणीवयं वयणं॥ (मूला. ६-३२)। २. ××× तद् वनीपकं वचनं दानपत्यनुकूलवचनं प्रतिपाद्य यदि भुञ्जीत तदा तस्य वनीपकनामोत्पादनदोषः, दीनत्वादिदोषदर्शनादिति। (मूला. वृ. ६-३२)। ३. श्रमण-ब्राह्मण-क्षपणातिथि-श्वानादिभक्तानां पुरतः पिण्डार्थमात्मानं तत्तद्भक्तं दर्शयतो वनीपकपिण्डः। (योगशा. स्वो. विव. १-३८)। ४. वनीपकीभूय पिण्डः उत्पाद्यते स पिण्डोऽपि वनीपकः। (व्यव. भा. मलय. वृ. तृ. उ. पृ. ३५)। ५. दातुः पुण्यं श्वादिदानादस्त्येवेत्यनुवृत्तिवाक्। वनीपकोक्तिः ×××॥ (अन. ध. ५-२२)।

१ कुत्ता, कृपण—कोढ़ आदि रोग से पीड़ित, अतिथि (भिक्षु), मांसादि भक्षी ब्राह्मण, पाखण्डी (वेषधारी) श्रमण—आजीवक अथवा छात्र और कौवा; इनको दिये जाने वाले दान आदि से पुण्य होता है अथवा नहीं, इस प्रकार पूछे जाने पर यदि उत्तर में यह कहा जाता है कि 'हां, उससे पुण्य होता है' तो वह वनीपकवचन होता है। इसका कारण यह है कि वैसे अनुकूल वचन से सन्तुष्ट होकर दाता दान देने में प्रवृत्त होता है। यह १६ उत्पादनदोषों में पांचवां है। ४ वनीपक (भिखारी) होकर जो भोजन उत्पन्न किया जाता है वह वनीपकपिण्ड कहलाता है।

वन्दना—१. अरहंत-सिद्धपडिमा तव-सुद-गुणगुरु-गुरूण रादीणं। किदियम्मेणिदरेण य तियरणसंकोचणं पणमो॥ (मूला. १-२५)। २. वन्दना त्रिशुद्धिः द्व्यासना चतुःशिरोऽवनतिः द्वादशावर्तना। (त. वा. ६, २४, ११; चा. सा. पृ. २६)। ३.

वंदणा एगजिण-जिणालयविसयवंदणाए णिरवज्ज-भावं वण्णेइ। (धव. पु. १, पृ. ९७); उसहाजिय-संभवाहिणंदण-सुमइ-पउमप्पह-सुपास-चंदप्पह-पुप्फ-यंत-सीयल-सेयंस-वासुपुज्ज-विमलाणंत-धम्म-संति-कुंथु-अर-मल्लि-मुणिसुव्वय-णमि-णेमि-पास-वड्ढमा-णादितित्थयराणं भरहादिकेवलीणं आइरिय-चइता-लयादीणं भेयं काऊण णमोक्कारो गुणगयभेदमल्लीणो सद्दकलावाउलो गुणाणुसरणसरूवो वा वंदणा णाम। (धव. पु. ८, पृ. ८४); तुहं णिट्ठवियट्ठकम्मो केवलणाणेण दिट्ठसव्वट्ठो धम्मुम्मुहसिट्ठगोट्ठीए पुट्ठाभयदाणो सिट्ठपरिवालओ दुट्ठणिग्गहकरो देव त्ति पसंसा वंदणा णाम। (धव. पु. ८, पृ. ९२); वंदणा एदेसिं (उसहादिजिणिंदाणं तच्चेइय-चेइयहराणं च कट्टिमाकट्टिमाणं) वंदणविहाणं परूवेदि दव्वट्ठियणयमवलंबिऊण। (धव. पु. ९, पृ. १८८)। ४. एयस्स तित्थयरस्स णमंसणं वंदणा णाम। (जयध. १, पृ. १११)। ५. द्वयासनया सुविशुद्धा द्वादशवर्ता प्रवृत्तिषु प्राज्ञैः। सशिरश्चतुरानतिका प्रकीर्तिता वन्दना वन्द्या॥ (ह. पु. ३४–१४४)। ६. वन्दना नाम रत्नत्रयसमन्वितानां यतीनां आचार्योपाध्याय-प्रवर्तक-स्थविराणां गुणातिशयं विज्ञाय श्रद्धापुरःसरेण अभ्युत्थान-प्रयोगभेदेन द्विविधे विनये प्रवृत्तिः। (भ. आ. विजयो. ११६)। ७. पवित्रदर्शन-ज्ञान-चारित्रमयमुत्तमम्। आत्मानं वन्द्यमानस्य वन्दनाऽकथि कोविदैः॥ (योगसारप्रा. ५–४६)। ८. वन्दना एकतीर्थकृत्प्रतिबद्धा दर्शन-वन्दनादिपंच-गुरुभक्तिपर्यन्ता वा। (मूला. वृ. १–२२)। ९. जैनेकतीर्थकृत्सिद्ध-साधूनां क्रिययान्वितम्। वन्दनं स्तुतिमात्रं वा वन्दनं पुण्यनन्दनम्॥ (आचा. सा. १–३६)। १०. वन्दनं वन्दनायोग्यानां धर्माचार्याणां पञ्चविंशत्यावश्यकविशुद्धं द्वात्रिंशद्दोषरहितं नमस्करणम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०)। ११. अर्हदादीनां एकैकशोऽभिवन्दनाभिधानबोधिका वन्दना। (श्रुतभ. टी. २४, पृ. १७९)। १२. एक-तीर्थंकरालम्बना चैत्य-चैत्यालयादिस्तुतिः वन्दना, तत्प्रतिपादकं शास्त्रमपि वन्दनेत्युच्यते। (गो. जी. मं. प्र. व जी. प्र. ३६७)। १३. एकजिनस्य स्तुतिर्वन्दनाभिधीयते। (भावप्रा. टी. ७७)। १४. एक-तीर्थकरस्तवनरूपा वन्दना। (त. वृत्ति श्रुत. १, २०)। १५. सा वंदणा जिणुत्ता वंदिज्जिह जिणवराणमिग एक्कं। चेत्त-चेत्तालयादिथुई च दव्वादि-बहुभेया॥ (अंगप. ३, १६, पृ. ३०७)।

१ अरिहन्त प्रतिमा, सिद्ध प्रतिमा, तप में अधिक, श्रुत में अधिक, गुणों में अधिक जन और गुरु (दीक्षा दाता), इनको तीन करणों के संकोचपूर्वक—मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक—कृतिकर्म के द्वारा—कायोत्सर्ग आदि के साथ—अथवा विना कायोत्सर्ग आदि के ही प्रणाम जो किया जाता है उसे वन्दना कहते हैं। यह मुनियों के छह आवश्यकों में तीसरा है। २ मन, वचन और काय इन तीन की शुद्धिपूर्वक पद्मासन या खड्गासन से बारह आवर्तनों के साथ चार बार शिर को झुकाना, यह वन्दना नाम का आवश्यक है। ३ अंगबाह्य श्रुत का एक वन्दना नामक अर्थाधिकार है जिसमें एक जिन व जिनालय विषयक वन्दनाकी निर्दोषता का वर्णन किया जाता है। ४ एक तीर्थंकर को नमस्कार करने का नाम वन्दना है।

वयःस्थविर—वयःस्थविरः सप्तत्यादिवर्षजीवितः। (योगशा. स्वो. विव. ४–९०)।

जो सत्तर आदि वर्षों तक जीवित रहता है उसे वयःस्थविर कहा जाता है।

वर्ग—१. तत्र सर्वजघन्यगुणः प्रदेशः परिगृहीतः, तस्यानुभागः प्रज्ञाछेदेन तावद्धा परिच्छिन्नः यावत्पुनर्विभागो न भवति। ते अविभागपरिच्छेदाः सर्वजीवानामनन्तगुणाः, एको राशिकृतः। (त. वा. २, ५, ४)। २. एत्थ एगजीवपदेसाविभागपडिच्छेदाणं वग्गो त्ति सण्णा। (धव. पु. १०, पृ. ४५०); × × × तत्थ सव्वमंदाणुभागपरमाणुं घेत्तूण वण्ण-गंध-रसे मोत्तूण पासं चेव बुद्धीए घेत्तूण पण्णाच्छेदो कायव्वो जाव विभागवज्जिदपरिच्छेदो त्ति। तस्स अंतिमस्स खंडस्स अच्छेज्जस्स अविभागपडिच्छेद इति सण्णा। पुणो तेण पमाणेण सव्वफासखंडसु खंडिदेसु सव्वजीवेहि अणंतगुणअविभागपडिच्छेदा लब्भंति। तेसिं सव्वेसिं पि वग्ग इदि सण्णा। (धव. पु. १२, पृ. ९२–९३)। ३. यः शक्तिसमूहलक्षणो वर्गः × × ×। (समयप्रा. अमृत. वृ. ५७)। ४. वर्गः शक्तिसमूहोऽणोः × × ×। (पंचसं. अमित. १–४५)। ५. परमाणोरविभागपरिच्छेद-रूपशक्तिसमूहो वर्ग इत्युच्यते। × × × तथा

चोक्तं वर्ग-वर्गणा-स्पर्द्धकानां त्रयाणां लक्षणम्— वर्गः शक्तिसमूहोऽणोः ××× । (समयप्रा. जय. वृ. ५७) ।

१ सबसे जघन्य गुण (शक्त्यंश) वाले कर्मप्रदेश के अनुभाग को बुद्धिरूप छेदक के द्वारा तब तक खण्डित करना चाहिए जब तक उसका दूसरा खण्ड न हो सके, ऐसे अविभागप्रतिच्छेद सब जीवों से अनन्तगुणे होते हैं। उनकी एक राशि का नाम वर्ग है।

वर्गणा—१. एवं तत्प्रमाणाः सर्वे तथैव परिच्छिन्नाः पंक्तीकृताः वर्गा वर्गणा। (त. वा. २, ५, ४)। २. असंखेज्जलोगमेत्तजोगाविभागपडिच्छेदाणमेया वग्गणा होदि त्ति भणिदे जोगाविभागपडिच्छेदेहि सरिसधणियसव्वजीवपदेसाणं जोगाविभागपडिच्छेदासंभवादो असंखेज्जलोगमेत्ताविभागपडिच्छेदपमाणा एगा वग्गणा होदि त्ति घेत्तव्वं। (धव. पु. १०, पृ. ४४२); समाणजोगसव्वजीवपदेसाविभागपडिच्छेदाणं च वग्गणा त्ति सण्णा सिद्धा। (धव. पु. १०, पृ. ४५०); किं च कसायपाहुडपच्छिमक्खंधसुत्तादो च णव्वदे जहा सरिसधणियसव्वजीवपदेसा वग्गणा होदि त्ति। (धव. पु. १०, पृ. ४५१); वग्गाणं समूहो वग्गणा। (धव. पु. १२, पृ. ६४)। ३. वर्गसमूहलक्षणा वर्गणा। (समयप्रा. अमृत. वृ. ५७)। ४. परमाणूहिं अणंताहिं वग्गणसण्णा हु होदि एक्का हु। (गो. जी. २४५)। ५. ××× अणूनां (समूहः) वर्गणोदिता। (पञ्चसं. अमित. १-४५)। ६. वर्गाणां समूहो वर्गणा भण्यते। ××× बहूनां वर्गणोदिता॥ (समयप्रा. जय. वृ. ५७)। ७. अनन्तैः द्विकवारानन्तमध्यपतितैः सिद्धानन्तैकभागमात्रैः अभव्यानन्तगुणप्रमाणैश्च परमाणुभिरेका वर्गणा। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. २४४)।

१ सब जीवों के अनन्तवें भाग प्रमाण वर्गों के समूह को वर्गणा कहते हैं। २ असंख्यात लोक प्रमाण योगाविभागप्रतिच्छेदों की एक वर्गणा होती है।

वर्गणादेश—वग्गणाणं संभवसामण्णं वग्गणादेसो णाम। (धव. पु. १४, पृ. १३६)।

वर्गणाओं के संभवसामान्य का नाम वर्गणादेश है।

वर्ण—वर्ण्यते अलंक्रियते शरीरमनेनेति वर्णः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७३)।

जिसके द्वारा शरीर को अलंकृत किया जाता है उसका नाम वर्ण है। वह श्वेत-पीतादि के भेद से पांच प्रकार का है।

वर्णकाल—१. पंचण्हं वण्णाणं जो खलु वन्नेण कालओ वण्णो। सो होइ वण्णकालो वणिज्जइ जो व जं कालं॥ (आव. नि. ७३१)। २. पञ्चानां शुक्लादीनां वर्णानां यः खलु वर्णेन छायया कालको वर्णः, खलु-शब्दस्यावधारणत्वात् कालक एव वर्णः, अनेन गौरादेर्नामकृष्णस्य व्यवच्छेदः, स भवति वर्णकालः, वर्णश्चासौ कालश्च वर्णकालः। ××× वर्ण्यते प्ररूप्यते यो वा कश्चित्पदार्थो यत्कालं स वर्णकालः, वर्णप्रधानः कालो वर्णकालः। (आव. नि. मलय. वृ. ७३१)।

१ पांच वर्णों का जो वर्ण (छाया) से कालक वर्ण है उसका नाम वर्णकाल है। अथवा जिस पदार्थ का जितने काल वर्णन किया जाता है वह वर्णनकाल कहलाता है।

वर्णकृति—चित्तारयाणमण्णेसिं च वण्णुप्पायणकुसलाणं किरियाणिप्पण्णदव्वं णर-तुरयादिबहुसंठाणं वण्णं णाम। (धव. पु. ९, पृ. २७३)।

चित्रकार अथवा वर्ण के उत्पादन में कुशल अन्य कलाकारों की क्रिया (प्रयोग) से जो मनुष्य व घोड़े आदि के बहुत आकार वाले द्रव्य उत्पन्न होते हैं उन्हें वर्णकृति कहा जाता है।

वर्णजनन—१. वर्णशब्दः क्वचिद्यशसि, तेन अर्हदादीनां यशोजननम्, विदुषां परिषदि अन्येषामविश्ववेदिनां दृष्टेष्टविरुद्धवचनताप्रदर्शनेन निवेद्य तत्संवादिवचनतया महत्ताप्रख्यापनं भगवतां वर्णजननम्। (भ. आ. विजयो. ४७)। २. वर्णजननं विदुषां परिषदि यशोजननम्, गुणकीर्तनमिति यावत्। तत्र सुगतादीनां दृष्टेष्टविरुद्धवचनता प्रकाशेनासर्वज्ञत्वं प्रज्ञाप्य तत्संवादिवचनतया महत्त्वप्रख्यापनमर्हतां वर्णजननम्। (भ. आ. मूला. ४७)।

१ 'वर्ण' शब्द कहीं यश का वाचक होता है। तदनुसार गुणकीर्तन का नाम वर्णजनन है। जैसे— विद्वानों की सभामें अल्पज्ञ अन्य बुद्धादिकों के वचनों को प्रत्यक्ष व अनुमानादि से विरुद्ध सिद्ध करके यथार्थता के कारणभूत अरहन्त के वचन की महिमा को प्रगट करना, यह अरहन्तों का वर्णजनन है।

वर्णनामकर्म—१. यद्धेतुको वर्णविभागस्तद्वर्णनाम। (स. सि. ८-११; त. वा. ८, ११, १०; भ. आ.

मूला. २१२४)। २. जस्स कम्मस्स उदएण जीव-सरीरे वण्णणिप्फत्ती होदि तस्स कम्मक्खंधस्स वण्णसण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ५५; पु. १३, पृ. ३६४)। ३. यदुदयाच्छरीरे वर्णनिष्पत्तिस्तद्वर्णनाम। (मूला. वृ. १२-१९४)। ४. यदुदयात् वर्णभेदो भवति स वर्णनाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८-११)।

१ जिसके निमित्त से शरीर में वर्ण का विभाग हुआ करता है उसे वर्णनामकर्म कहते हैं।

वर्णपरिणाम—वर्णस्य कालादेः, परिणामः अन्यथा भवनम्, वर्णेन वा कालादिनेतरधर्मत्यागेन पुद्गलस्य परिणामो वर्णपरिणामः। (स्थाना. अभय वृ. २६५)।

कृष्णादि वर्णों के अन्यथा परिणमन का नाम वर्ण-परिणाम है।

वर्णादिनाम—यदुदयाद् वर्णादिविशेषवन्ति शरीराणि भवन्ति तद् वर्णादिनाम। (समवा. वृ. ४२)।

जिसके उदय से शरीर विशिष्ट वर्ण-गन्धादि से युक्त होते हैं उसे वर्णादिनामकर्म कहा जाता है।

वर्तक—प्रभावनाधिकोऽबाधमन्नाद्यैः संघवर्तकः। जगदादेयवाग्मूर्तिर्वर्तकः काल-देशवित्॥ (आचा. सा. २-३५)।

जो प्रभावना में अधिक होता हुआ अन्न आदि के द्वारा निर्बाध रूप से संघ का प्रवर्तक होता हैं, जिसके वचन व मूर्ति लोक को उपादेय होते हैं, तथा जो देश-काल का ज्ञाता होता है, उसे वर्तक कहा जाता है।

वर्तना—१. वृतेर्णिजन्तात् कर्मणि भावे वा युटि स्त्रीलिंगे वर्तनेति भवति, वर्त्यते वर्तनमात्रं वा वर्तना इति। (स. सि. ५-२२)। २. सर्वभावानां वर्तना कालाश्रया वृत्तिः, वर्तना उत्पत्तिः, स्थितिरथ गतिः प्रथमसमयाश्रयेत्यर्थः। (त. भा. ५-२२)। ३. णिजन्ताद् युचि वर्तना। स्त्रीलिंगे कर्मणि भावे वा णिजन्ताद्युचि सति वर्तनेति भवति, वर्त्यते वर्तनमात्रं वा वर्तनेति। ××× ततस्ताच्छीलिको युच् वर्तनशीला वर्तना। का पुनर्वर्तना? प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिर्वर्तना। ××× तस्या अनुभूतिः स्वसत्तानुभूतिर्वर्तनेत्युच्यते। एकस्मिन्नविभागिनि समये धर्मादीनि द्रव्याणि षडपि स्वपर्यायैरादिमदनादिमद्भिरुत्पाद-व्यय-ध्रौव्यविकल्पैर्वर्तन्त इति कृत्वा तद्विषया वर्तना। (त. वा. ५, २२, २-४)। ४. अन्तर्नीतैकसमयः स्वसत्तानुभवो भिदा। यः प्रतिद्रव्यपर्यायं वर्तना सेह कीर्त्यते॥ (त. श्लो. ५, २२, १)। ५. वर्तन्ते स्वयमेव पदार्थास्तेषां वर्तमानानां प्रयोजिका कालाश्रया वृत्तिः, वर्त्यन्ते यया सा वर्तना। ××× अथवा सैव कालाश्रया वृत्तिर्वर्तनाशीलेति ××× वृत्तिर्वर्तनं तथाशीलतेति, सा च वर्तना प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्णीतैकसमयस्वसत्तानुभूतिलक्षणा उत्पाद्यस्येतरस्य वा भावस्य प्रथमसमयसंव्यवहारोऽनुमानगम्यस्तण्डुलादिविकारवदग्न्युदकसंयोगनिमित्ता विक्रिया प्राथमिक्यतीतानागतविशेषविनिर्मुक्ता, वर्तते पाकः अस्य वा भावाऽनुसमयस्थितेर्वर्तना प्रतीता सा चातिनिपुणपुरुषबुद्धिगम्या। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५-२२)। ६. अन्तर्नीतैकसमया प्रतिद्रव्यविपर्ययम्। अनुभूति स्वसत्तायाः स्मृता सा खलु वर्तना॥ (त. सा. ३ ४१)। ७. स्वकीयोपादानरूपेण स्वयमेव परिणममानानां पदार्थानां पदार्थपरिणतेर्यत्सहकारित्वं सा वर्तना भण्यते। (बृ. द्रव्यसं. टी. २१)। ८. पूर्वगृहीतस्य सूत्रार्थस्य तदुभयस्य वा पुनः पुनरभ्यसनं वर्तना। (व्यव. भा. मलय. वृ. द्वि. वि. १०२, पृ. ३२)। ९. वर्तन्ते स्वयमेव स्वपर्यायैः बाह्योपग्रहं विना पदार्थाः, तान् वर्तमानान् पदार्थान् अन्यान् प्रयुङ्क्ते या सा वर्तना। ×××सर्वेषां द्रव्याणां स्थूलपर्यायविलोकनात् स्वयमेव वर्तनस्वभावत्वेन बाह्यं निश्चयकालं परमाणुरूपमपेक्ष्य प्रतिक्षणमुत्तरोत्तरसूक्ष्मपर्यायेषु वर्तनं परिणमनं यद् भवति सा वर्तना निर्णीयते। (त. वृत्ति श्रुत. ५-२२)।

२ समस्त पदार्थों की कालाश्रित वृत्ति का नाम वर्तना है। ३ जो वर्तता है—परिवर्तित होता है—अथवा जिसके द्वारा वर्ताया जाता है उसे वर्तना कहते हैं। अथवा जो वर्तनशील है उसे वर्तना कहा जाता है। अथवा, एक अविभागी समय में धर्मादिक छहों द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के विकल्पभूत अपनी सादि व अनादि पर्यायों से जो अपनी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सत्ता का अनुभव करते हैं उसी का नाम वर्तना है। ८ पूर्व में ग्रहण किए गये सूत्र, अर्थ अथवा दोनों का जो बार-बार अभ्यास किया जाता है उसे वर्तना (परिवर्तन) कहते हैं।

वर्तमान काल—१. यद् द्रव्यं क्रियापरिणतं कालपरमाणुं प्राप्नोति तद् द्रव्यं तेन कालेन वर्तमानसमयस्थितिसंबन्धवर्तनया वर्तमानः कालः। कालाणुरपि वर्तयंस्तद्द्रव्यमनतिक्रान्तसम्बन्धवर्तनात् तदाख्यो भवति। (त. वा. ५, २२, २५)। २. धडिज्जमाणो वट्टमाणो। (धव. पु. ३, पृ. २६)।

१ जो द्रव्य क्रिया से परिणत होकर कालपरमाणु को प्राप्त होता है वह द्रव्य उस काल से वर्तमान समय की स्थिति के सम्बन्ध रूप वर्तना के निमित्त से वर्तमान काल कहलाता है। साथ ही उस द्रव्य को वर्ताने वाला कालाणु भी अनतिक्रान्त सम्बन्ध के वर्तन से वर्तमान काल कहलाता है। २ जो प्रस्थ आदि बन रहा है उसे वर्तमान प्रस्थ आदि कहा जाता है।

वर्तमाननैगम—१. पारद्धा जा किरिया पयणविहाणादि कहइ जो सिद्धा। लोए य पुच्छमाणे तं भण्णइ वट्टमाणणयं॥ (ल. नयच. ३४)। २. कर्तुमारब्धमीषन्निष्पन्नमनिष्पन्नं वा वस्तु निष्पन्नवत्कथ्यते यत्र स वर्तमाननैगमो यथा ओदनः पच्यते। (आलापप. पृ. १३९)। ३. पारद्धा जा किरिया पचणविहाणादि कहइ जो सिद्धा। लोएसु पुच्छमाणो भण्णइ तं वट्टमाणणयं॥ (द्रव्यस्व. प्र. नयच. २०७)। ४. संप्रतिकालाविष्टं वस्तु इदानीं वर्तमानकालाविष्टं पदार्थं साधयति स वर्तमाननैगमः। अथवा कर्तुमारब्धं ईषन्निष्पन्नम् अनिष्पन्नं वा वस्तु निष्पन्नवत् कथ्यते यत्र स वर्तमाननैगमः, यथा ओदनं पच्यते। (कार्तिके. टी. २७१)।

१ जो पचन आदि क्रिया प्रारम्भ की गई है उसे जन के पूछने पर जो नय 'सिद्ध (निष्पन्न)' कहता है उसे वर्तमान नैगमनय कहते हैं।

वर्तमान-नोआगम-ज्ञायकशरीर-द्रव्यभाव—भावपाहुडपज्जायपरिणदजीवेण जमेगीभूदं सरीरं तं वट्टमाणं णाम। (धव. पु. ५, पृ. १८४)।

जो शरीर भावप्राभृत पर्याय से परिणत जीव के साथ एकीभूत हो रहा है उसे वर्तमान-नोआगम-ज्ञायकशरीर-द्रव्यभाव कहा जाता है।

वर्द्धमान—उत्पत्तेरारभ्य ज्ञानादिभिर्वर्धत इति वर्धमानः, तथा भगवति गर्भस्थे ज्ञातकुलं धन-धान्यादिभिर्वर्धत इति वर्धमानः। (योगशा. स्वो. विव. ३-१२४)।

भगवान् के जन्म से लेकर आगे उत्तरोत्तर ज्ञानादि गुणों से वृद्धिगत होने के कारण तथा गर्भ में स्थित रहने पर ज्ञातकुल धन-धान्य आदि से वृद्धि को प्राप्त हुआ इसलिए भी चौवीसवें तीर्थंकर वर्धमान इस सार्थक नाम से प्रसिद्ध हुए।

वर्धमानअवधि—१. अपरोऽवधिः अरणिनिर्मथनोत्पन्नशुष्कपर्णोपचीयमानेन्धननिचयसमिद्धपावकवत् सम्यग्दर्शनादिगुणविशुद्धिपरिणामसंनिधानाद्यत्परिमाण उत्पन्नस्ततो वर्द्धते आ असंख्येयलोकेभ्यः। (स. सि. १-२२; त. वा. १, २२, ४)। २. जमोहिणाणमुप्पण्णं संतं सुक्कपक्खचंदमंडलं व समयं पडि अवट्ठाणेण विणा वड्ढमाणं गच्छदि जाव अप्पणो उक्कस्सं पाविदूण उवरिमसमए केवलणाणे समुप्पण्णे विणट्ठं ति तं वड्ढमाणं णाम। (धव. पु. १३, पृ. २९३)। ३. वर्द्धमानोऽवधिः कश्चिद्विशुद्धेर्वृद्धितः स तु। देशावधिरिहाम्नातः परमावधिरेव च॥ (त. श्लो. १, २२, १३)। ४. यत् शुक्लपक्षचन्द्रमण्डलमिव स्वोत्कृष्टपर्यन्तं वर्धते तद्वर्धमानम्। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. ३७२)। ५. कश्चिदवधिः सम्यग्दर्शनादिगुणविशुद्धिपरिणामसंनिधाने सति यावत्परिमाण उत्पन्नस्तस्मादधिकाधिको वर्द्धते असंख्येयलोकपर्यन्तम् अरणिकाष्ठनिर्मन्थनोद्भूतशुष्कपर्णोपवर्द्धमानेन्धनराशिप्रज्वलितहिरण्यरेतोवत्। (त. वृत्ति श्रुत. १-२२)।

१ जिस प्रकार अरणि (वृक्षविशेष) के संघर्षण से उत्पन्न हुई अग्नि सूखे पत्तों रूप संचित ईंधन को पाकर उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादि गुणों के विशुद्धिरूप परिणाम की समीपता से जो अवधिज्ञान जितने प्रमाण में उत्पन्न हुआ है उससे असंख्यात लोक पर्यन्त चूंकि उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है अतः वह वर्धमान अवधिज्ञान कहलाता है।

वर्ष—१. × × × अयणदुगेणं वरिसो × × ×॥ (ति. प. ४-२८९)। २. वर्षं तथा द्वे अयने वदन्ति संख्यानिभागक्रमकौशलज्ञाः॥ (वरांगच. २७-६)। ३. द्वादशमासं वर्षम्। (धव. पु. ४, पृ. ३२०)। ४. × × × अयणजुयलेण होइ वरिसेक्को। (भावसं. ३१५)। ५. अयनद्वयं वर्षमिति। (पंचा. का. जय.

वृ. २५)। ६. वस्सं वे अयणं पुण ×××। (जं. दी. प. १३-८)।

१ दो अयनों का एक वर्ष होता है।

वलन्मरण—देखो वलायमरण।

वलाकामरण—देखो आगे वलायमरण।

वलायमरण—१. संजमजोगविसन्ना मरंति जे तं वलायमरणं, जेसिं संजमजोगो अत्थि ते मरणमब्भुवगच्छंति, ण सव्वथा संजममुज्झंति, से तं वलायमरणं। अथवा वलंता क्षुधापरीसहेहिं मरंति, ण तु उवसग्गमरणंति तं वलायमरणं। (उत्तरा. चू. ५, पृ. १२८)। २. विनय-वैयावृत्यादावकृतादरः प्रशस्तयोगोद्वहनालसः प्रमादवान् व्रतेषु समितिषु गुप्तिषु च स्ववीर्यनिगूहनपरः धर्मचिन्तायां निद्रया घूर्णित इव ध्यान-नमस्कारादेः पलायते अनुपयुक्ततया, एतस्य मरणं वलायमरणम्। (भ. आ. विजयो. २५, पृ. ८९)। ३. संजमजोगविसन्ना मरंति जे तं वलायमरणं तु। (प्रव. सारो. १०१०, पृ. २९८; स्थाना. अभय. वृ. १०२ उद्.)। ४. संयम-योगेभ्यो वलतां भग्नव्रतपरिणतीनां व्रतिनां मरणं वलन्मरणम्। (समवा. वृ. १७)। ५. वलतां संयमान्निवर्तमानानां परीषहादिबाधितत्वात् मरणं वलन्मरणम्। (स्थाना. अभय. वृ. १०२)। ६. पार्श्वस्थरूपेण मरणं वलाकामरणम्। (भ. आ. मूला. २५)।

१ जो संयम के अनुष्ठान से खिन्न हो करके मरण को प्राप्त होते हैं उनके उस मरण को वलायमरण कहा जाता है। जिनके संयमयोग होता है वे मरण को स्वीकार करते हैं, पर सर्वथा संयम को नहीं छोड़ते हैं, यह वलायमरण कहलाता है। अथवा जो संयम से भ्रष्ट होकर क्षुधा परीषहों के द्वारा मरते हैं उनका वह मरण वलायमरण कहलाता है। २ जो विनय व वैयावृत्य आदि में आदर नहीं करता, प्रशस्त योगके अनुष्ठान में अनादरपूर्वक आलस करता है; व्रत, समितियों व गुप्तियों के विषय में अपनी शक्ति को छिपाता है तथा धर्मचिन्तन में निद्रा से अभिभूत के समान होता हुआ ध्यान व नमस्कारादि से दूर भागता है, उसके मरण को वलायमरण कहते हैं। इसका उल्लेख वलन्मरण से भी किया जाता है।

वल्लरिच्छेद—कुढारादीहि अडइरुक्खादिखंडणं वल्लरिच्छेदो णाम। (धव. पु. १४, पृ. ४३६)।

कुल्हाड़ी आदि के द्वारा वन के वृक्ष आदि को छेदने का नाम वल्लरिच्छेद है। यह छेदना के दस भेदों में छठा है।

वश उत्पादनदोष—देखो वश्यकर्म।

वशार्तमरण—१. जे इंदियविसयवसट्टा मरंति तं वसट्टमरणं। तद्यथा—शलभो रूववग्गो चक्षुरिन्द्रियवशार्तो म्रियते, एवं शेषैरपीन्द्रियैः (शेषाः)। (उत्तरा. चू. ५, पृ. १२८)। २. इंदियविसयवसगया मरंति जे तं वसट्टं तु॥ (प्रव. सारो. १०१०, पृ. २९८; स्थाना. अभय. वृ. १०२ उद्.)। ३. इन्द्रियाणां वशम् अधीनताम्, ऋतानां गतानां स्निग्धदीपकलिकावलोकनाकुलितपतङ्गादीनामिव मरणं वशार्तमरणमिति। (स्थाना. अभय. वृ. १०२, पृ. ६४)।

१ जो इन्द्रियविषयों के वश होकर पीड़ित होते हुए मरण को प्राप्त होते हैं उनके उस मरण को वशार्तमरण कहा जाता है।

वशित्व—१. वशमेंति तवबलेणं ज जीओहा वसित्तरिद्धी सा॥ (ति. प. ४-१०३०)। २. सर्वजीववशीकरणलब्धिर्वशित्वम्। (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०३; चा. सा. पृ. ६८; योगिभ. टी. ६; योगशा. स्वो. विव. १-८, पृ. ३७)। ३. माणुस-मायंग-हरि-तुरयादीणं सगिच्छाए विउव्वणसत्ती वसित्तं णाम। (धव. पु. ९, पृ. ७६)। ४. वशित्वं यद् भूतानि स्थावर-जङ्गमानि वशं नयति वशेन्द्रियश्च भवति। (न्यायकु. ४, पृ. १११)। ५. सर्वप्राणिगणवशीकरणशक्तिर्वशित्वम्। (त. वृत्ति श्रुत. ३-३६)।

१ तप के बल से प्राप्त जिस ऋद्धि के प्रभाव से जीवसमूह अपने वश में हो जाया करते हैं उसका नाम वशित्व ऋद्धि है। २ समस्त जीवों को वश में करने वाली शक्ति को वशित्व ऋद्धि कहा जाता है।

वश्यकर्म—१. ××× वश्यकर्म यत्। वश्यकृन्मंत्र-तंत्रादिदेशनेनाशनार्जनम्॥ (आचा. सा. ८-४२)। २. वशो वशीकरणम्। (अन. ध. स्वो. टी. ५-१९); अवशस्य अस्वाधीनस्य वशीकृतिः स्वाधीनीकरणमवशवशीकृतिः। (अन. ध. स्वो. टी. ५-२७)। ३. वशीकरणमंत्र-तंत्राद्युपदेशेन यदन्नोपार्जनं तद्वश्यकर्म। (भावप्रा. टी. ९९)।

१ मंत्र-तंत्रादि के उपदेश द्वारा दाता को अपने अधीन करके भोजन के प्राप्त करने पर वह वश्य-कर्म नामक उत्पादनदोष से दूषित होता है।

वसति-संस्तरविवेक—वसति-संस्तरयोर्विवेको नाम कायेन वसतावनासनं प्रागध्युषितायां संस्तरे वा प्राक्तने अशयनम् अनासनम्। वाचा त्यजामि वसति-संस्तरमिति वचनम्। (भ. आ. विजयो. १६६)।

जिस वसति में पहिले रह रहा था उसमें न रहना, इसी प्रकार पूर्व के बिछौने पर न सोना-बैठना; यह काय से वसति-संस्तरविवेक कहलाता है तथा मैं वसति और संस्तर का परित्याग करता हूं, इस प्रकार वचन से कहना, इसे वचन से वसति-संस्तर-विवेक कहा जाता है। यह पांच प्रकार के विवेक में दूसरा है।

वसति-संस्तरशुद्धि—उद्गमोत्पादनषणादोषरहितता 'ममेदम्' इत्यपरिग्राह्यता च वसति-संस्तरयोः शुद्धिः। (भ. आ. विजयो. १६६)।

उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषों से रहितता तथा 'ममेदम्—यह मेरा है' इस प्रकार से उन्हें ग्राह्य न मानना, इसे वसति-संस्तरशुद्धि कहा जाता है। वह पांच प्रकार की शुद्धि में दूसरी है।

वसा—वसा मांसास्थिगतस्निग्धरसः। (मूला. वृ. १२-११)।

मांस और हड्डियों में जो चिक्कण रस रहता है उसका नाम वसा है। यह शरीर की सात धातुओं में से एक है जिसे चर्बी कहा जाता है।

वसार्द्र—वसयोपलिप्तं वसार्द्रम्। (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. १८५)।

जो वसा (चर्बी) से उपलिप्त हो उसे वसार्द्र कहा जाता है। यह नोआगम-द्रव्य-आर्द्र के भेदों में है।

वस्तु—१. नानात्मतामप्रजहत्तदेकमेकात्मतामप्रजहच्च नाना। अंगांगिभावात्तव वस्तु यत्तत् क्रमेण वाग्वाच्यमनन्तरूपम्॥ (युक्त्यनु. ५०)। २. प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयभूतं विरुद्धधर्माध्यासलक्षणं वाऽविरुद्धं वस्तु। (अष्टश. ११०)। ३. वसन्त्यस्मिन् गुण-पर्याया इति वस्तु चेतनादि। (ध्यानश. हरि. वृ. ३)। ४. यदर्थक्रियाकारि तद्वस्तु। (धव. पु. १, पृ. १७४)। ५. स्यात् स्व-पररूपादिना सदसदाद्यनेकान्तात्मकं वस्तु। (न्यायकु. १-४)। ६. सामान्य-विशेषात्मकं वस्तु। (स्वयम्भू. टी. ४४)।

१ जो मुख्य व गौण की अपेक्षा रखकर अनेकात्मक स्वरूप को न छोड़ते हुए एक है तथा एकरूपता को न छोड़ते हुए अनेक भी है उसे ही वस्तु कहा जा सकता है। २ जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की विषय हो तथा परस्पर विरुद्ध दिखने वाले—जैसे एक-अनेक व नित्य-अनित्य आदि—धर्मों से अधिष्ठित हो वह वस्तु कहलाती है। ३ जिसमें गुण व पर्याय रहा करते हैं उसे वस्तु कहते हैं।

वस्तु-अनुयोगादिधर्मकथा—१. सयलंगेक्कंगेक्कंगहियार सवित्थरं ससंखेवं। वण्णणसत्थं थय-थुइ-धम्मकहा होइ नियमेण॥ (गो. क. ८८)। २. एकांगाधिकारार्थसविस्तर-ससंक्षेपविषयसंक्षेपविषयशास्त्रं च वस्त्वनुयोगादिधर्मकथा च भवति नियमेन। (गो. क. जी. प्र. ८८)।

१ जिस शास्त्र में एक अंग के अधिकार सम्बन्धी अर्थ का विस्तार अथवा संक्षेप से वर्णन किया जाता है उसका नाम वस्तु-अनुयोगादिरूप धर्मकथा है।

वस्तुत्व—सामान्य-विशेषात्मकत्वं वस्तुत्वलक्षणम्। (अष्टश. १६)।

वस्तु में जो सामान्यरूपता और विशेषरूपता होती है, यही वस्तु का वस्तुत्व—उसका लक्षण है।

वस्तुश्रुतज्ञान—१. पुणो एत्थ एगक्खरे वड्ढिदे वत्थुसुदणाणं होदि। वत्थु त्ति किं वुत्तं होदि? पुव्वसुदणाणस्स जे अहियारा तेसिं पुध पुध वत्थु इदि सण्णा। (धव. पु. १३, पृ. २७०)। २. वस्तु नियतार्थाधिकारप्रतिबद्धो ग्रन्थविशेषोऽध्ययनवदिति। (समवा. अभय. वृ. १४७)।

१ प्राभृतसमास श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि के होने पर वस्तु नामक श्रुतज्ञान होता है। उत्पादादि पूर्वों में से प्रत्येक में जो नियत संख्या में अधिकार हैं वे पृथक्-पृथक् वस्तुश्रुतज्ञान कहलाते हैं। २ नियत अर्थाधिकार से सम्बद्ध प्रकरणविशेष—जैसे अध्ययन आदि—का नाम वस्तु है। ये वस्तु अधिकार नियत संख्या में उत्पाद आदि पूर्वों में पाये जाते हैं। जैसे—उत्पादपूर्व में १० व अग्रायणी पूर्व में १४, इत्यादि।

वस्तुश्रुतज्ञानावरणीय—वत्थुसुदणाणस्स जमावारयं कम्मं तं वत्थुआवरणीयं। धव. पु. १३, पृ. २७९)।

जो कर्म श्रुतज्ञान को आच्छादित करता है उसे वस्तुश्रुतज्ञानावरणीय कहते हैं।

वस्तुसमासश्रुतज्ञान—पुणो एदस्स (वत्थुसुदणाणस्स) उवरि एगक्खरे वड्ढिदे वत्थुसमासो होदि। एवमेगेगक्खरुत्तरवड्ढिकमेण वत्थुसमाससुदणाणं गच्छदि जाव एगक्खरेणूणलोगविंदुसारसुदणाणेत्ति। (धव. पु. ६, पृ. २५; पु. १३, पृ. २७३)।

वस्तुश्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि के होने पर वस्तुसमासश्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अक्षर की वृद्धि के क्रम से एक अक्षर कम लोकबिन्दुसार (अन्तिम पूर्व) तक वस्तुसमासश्रुतज्ञान चला जाता है।

वस्तुसमासश्रुतज्ञानावरणीय—वत्थुसमाससुदणाणस्स जमावारयं कम्मं तं वत्थुसमासावरणीयं। (धव. पु. १३, पृ. २७६)।

जो कर्म वस्तुसमासश्रुतज्ञान को आच्छादित करता है उसे वस्तुसमासश्रुतज्ञानावरणीय कहते हैं।

वह्नि (लौकान्तिकदेव)— वह्निवद्देदीप्यमानाः वह्नयः। (त. वृत्ति श्रुत. ४-२५)।

जो लौकान्तिक देव वह्नि (अग्नि) के समान देदीप्यमान होते हैं वे वह्नि नाम से प्रसिद्ध हैं।

वह्निमण्डल—१. स्फुलिङ्गपिङ्गलं भीममूर्ध्वज्वालाशताचितम्। त्रिकोणं स्वस्तिकोपेतं तद्बीजं वह्निमण्डलम्॥ (ज्ञाना. २९-२२, पृ. २८८)। २. ऊर्ध्वज्वालाञ्चितं भीमं त्रिकोणं स्वस्तिकान्वितम्। स्फुलिङ्गपिङ्गं तद्बीजं ज्ञेयमाग्नेयमण्डलम्॥ (योगशा. ५-४६)।

१ अग्निकणों से पीत वर्ण वाला, भयानक, ऊपर उठने वाली सैकड़ों ज्वालाओं से संयुक्त, तीन कोनों के आकार से सहित, स्वस्तिक (एक मांगलिक चिह्नविशेष—सांथिया) चिह्न से चिह्नित और अग्नि बीजाक्षर से युक्त जो मण्डल नासिका के छिद्र में रहता है उसका नाम वह्निमण्डल है। इसका उल्लेख अग्निमण्डल और आग्नेयमण्डल आदि अन्य पर्यायनामों से भी किया जाता है। मण्डल के स्थान में पुर शब्द का भी व्यवहार हुआ है।

वाइम द्रव्यकृति—वायणकिरियाणिप्फण्णं सुप्पपच्छि[त्थि] या-चंगेरि-किदय-चालणि-कंवल-वत्थादिदव्वं वाइमं णाम। (धव. पु. ६, पृ. २७२)।

बुनने रूप क्रिया से जो सूप, पटियया (बांस से बनाया गया एक पात्र), चंगेर, किदय (चटाई ?), चालनी, कंवल और वस्त्र आदि तैयार किये जाते हैं उन्हें वाइम द्रव्यकृति कहा जाता है।

वाक्छल— अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायाद् अर्थान्तरकल्पना वाक्छलम् [न्यायसू. १, २, १२]। (सिद्धिवि. वृ. ५, २, पृ. ३१७)।

सामान्यरूप से विवक्षित पदार्थ का कथन करने पर वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अन्य पदार्थ की कल्पना करना, इसे वाक्छल कहा जाता है। जैसे—'नव कम्बलों वाला देवदत्त' ऐसा कहने पर वक्ता को जो 'नव' शब्द से 'नवीन' अर्थ अभिप्रेत है उसको न लेकर उसके 'नौ' संख्यारूप भिन्न अर्थ की कल्पना करके यह कहना कि उसके पास तो एक ही कम्बल है, नौ कहां हैं? यह वाक्छल कहलाता है।

वाक्पारुष्य— जाति-वयोवृत्त-विद्या-विभवानुचितं हि वचनं वाक्पारुष्यम्। (नीतिवा. १६-२८, पृ. १७६)।

जो वचन जाति, आयु, चारित्र, विद्या और वैभव के योग्य न हो उसका नाम वाक्पारुष्य है।

वाक्प्रयोग—वाक्प्रयोगः शुभेतरलक्षणः। (धव. पु. ६, पृ. २१७)।

वचन का प्रयोग दो प्रकार से होता है—शुभ और अशुभ। इसका विवेचन सत्यप्रवाद पूर्व में किया जाता है।

वाक्य—१. पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम्। (अष्टश. १०३; न्यायकु. ७२, पृ. ७६७; आप्तमी. वसु. वृ. १०३; लघीय. अभय. वृ. ६४, पृ. ८७)। २. अर्थप्रतिपादकं पदसमूहात्मकं वाक्यमेकतिङ्-सुबन्तं वा। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ४, ६३, पृ. १०८)।

१ परस्पर अपेक्षा रखने वाले पदों के निरपेक्ष समुदाय को वाक्य कहा जाता है। २ अर्थ के प्रतिपादक पदों के समूह को अथवा एक 'तिङ्' या 'सुप्' (व्याकरणप्रसिद्ध प्रत्ययविशेष) प्रत्ययान्त पदों के समूह को वाक्य कहते हैं।

वाक्यशुद्धि—१. वाक्यशुद्धिः पृथिवीकायिकारम्भादिप्रेरणरहिता:[ता] परुष-निष्ठुरादिपरपीडाकरप्रयोगनिरुत्सुका व्रत-शील-देशनादिप्रधानफला हित-मित-मधुर-मनोहरा संयतस्य योग्या। (त. वा. ६, ६, १६; त. श्लो. ६-६)। २. वाक्यशुद्धिः पृथिवी-

कायिकाद्यारम्भप्रेरणरहिता युद्ध-काम-कर्कश-संभिन्नालाप-पैशून्य-परुष-निष्ठुरादिपरपीडाकरप्रयोगनिरुत्सुका स्त्री-भक्त-राष्ट्रावनिपालाश्रितकथाविमुखा व्रत-शील-देशनादिप्रदानफला स्व-परहित-मितमधुर-मनोहरा परमवैराग्यहेतुभूता परिहृतपरात्मनिन्दा-प्रशंसा संयतस्य योग्या। (चा. सा. पृ. ३६–३७)। ३. कन्या प्रदानयोग्येयं क्षेत्रादि लवनोचितम्। प्रोत्खाताः परिखाः कूप-वाप्यः शास्या दुरीहिताः॥ गीत-वादित्र-नृत्यानि हृद्यानीयं वरांगनाः। भेटभ-मल्लयुद्धानि सुकृतानि वनं वरम्॥ रोग्यन्धः पङ्गुरित्यादिव्यवहाराश्रिता प्रिया-। संयतोचितवाक्त्यागाद्देश-काल-सभोचिता॥ मृदु-मधुर-गम्भीरा वाङ मोक्षमार्गोपदेशना। वाक्यशुद्धिर्गुणाम्भोधिविधुदीधितिरीरिता॥ (आचा. सा. ८, ६–६)। ४. वाक्शुद्धिः परुष-कर्कशादिवचोवर्जनम्। (सा. ध. स्वो. टी. ५–४५)। ५. हुंकारो ध्वनिनोच्चारः शीघ्रपाठो विलम्बनम्। यत्र सामायिके न स्यादेषा वाक्शुद्धिरिष्यते॥ (धर्मसं. श्रा. ७–४६)।

१ पृथिवीकायिकादि जीवों के आरम्भविषयक प्रेरणा से रहित और परपीडाजनक कठोर आदि वचनों के प्रयोग से विहीन जो हितकारक व परमित वचन बोला जाता है, इसका नाम वाक्यशुद्धि है। ४ कठोर-निष्ठुर आदि वचन के न बोलने का नाम वाक्शुद्धि है। ५ जिस सामायिक में हूं हूं करने, शब्द से उच्चारण करने तथा शीघ्रता या विलम्ब से पाठ करने का परित्याग किया जाता है वह वाक्शुद्धि से युक्त होती है। इसके विना वह वाक्दुष्प्रणिधान नामक अतिचार से दूषित होती है।

वाक्यस्फोट—१. वाक्यार्थज्ञानावरण-वीर्यान्तराय-क्षयोपशमविशिष्टो वाक्यस्फोटः। (युक्त्यनु. टी. ४०)। २. स्फुटति प्रकटीभवत्यर्थोऽस्मिन् इति स्फोटश्चिदात्मा। ××× वाक्यार्थज्ञानावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टस्तु वाक्यस्फोट इति। (प्र. क. मा. ३–१०१, पृ. ३५६; न्यायकु. ६५, पृ. ७५४)।

२ 'स्फुटति अर्थो ऽस्मिन्' इस निरुक्ति के अनुसार जहां अर्थ प्रगट होता है उसका नाम स्फोट है, इस प्रकार स्फोट का अर्थ आत्मा होता है। तदनुसार वाक्यार्थज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से युक्त आत्मा को वाक्यस्फोट कहा जाता है।

वाक्शुद्धि—देखो वाक्यशुद्धि।

वाक्संयम—वाचो हिंस्र-परुषादिवचोभ्यो निवृत्तिः शुभभाषायां च प्रवृत्तिर्वाक्संयमः। (योगशा. स्वो. विव. ४–६३)।

हिंसाजनक व कठोर आदि वचनों से दूर रहकर शुभ भाषा में जो प्रवृत्ति होती है, इसे वाक्संयम कहा जाता है।

वागधिकरण—वाग्गतं निष्प्रयोजनकथाख्यानं परपीडाप्रधानं यत्किंचन वक्तृत्वम्। (त. वा. ७, ३२, ५)।

अनर्थक कथा-वार्ता करने तथा अन्य को पीड़ा पहुंचाने वाला जो कुछ भी सम्भाषण हो उसे वागधिकरण कहते हैं।

वाग्गुप्ति—१. थी-राज-चोर-भत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स। परिहारो वचगुत्ती अलीयादिणियत्तिवयणं वा॥ (नि. सा. ६७); अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होदि वचिगुत्ती॥ (नि. सा. ६६; मूला. ५–१३५; भ. आ. ११८७)। २. व्यलीकनिवृत्तिर्वाचां संयमत्वं वा वाग्गुप्तिः। (धव. पु. १, पृ. ११६; पु. ६, पृ. २१६)। ३. अनृत-परुष-कर्कश-मिथ्यात्वासंयमनिमित्तवचनानाम् अवक्तृता वाग्गुप्तिः। (भ. आ. विजयो. ११५); विपरीतार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वात्परदुःखोत्पत्तिनिमित्तत्वाच्चाधर्माद् या व्यावृत्तिः सा वाग्गुप्तिः। ××× व्यलीकात् परुषादात्मप्रशंसापरात् परनिन्दाप्रवृत्तात् परोपद्रवनिमित्ताच्च वचसो व्यावृत्तिरात्मनस्तथाभूतस्य वचसोऽप्रवर्तिका वाग्गुप्तिः। यां वाचं प्रवर्तयन् अशुभं कर्म स्वीकरोत्यात्मा तस्या वाच इह ग्रहणम्। वाग्गुप्तिस्तेन वाग्विशेषस्यानुत्पादकता वाचः परिहारो वाग्गुप्तिः। मौनं वा सकलाया वाचो या परिहृतिः सा वाग्गुप्तिः। अयोग्यवचनेऽप्रवृत्तिः प्रेक्षापूर्वकारितया योग्यं तु वक्ति वा न वा। (भ. आ. विजयो. ११८७)। ४. ××× सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य। (पु. सि. २०२)। ५. साधुसंवृतवाग्वृत्तेर्मौनारूढस्य वा मुनेः। संज्ञादिपरिहारेण वाग्गुप्तिः स्यान्महामुनेः॥ (ज्ञाना. १८–१७, पृ. १६१)। ६. गजाश्व-शस्त्र-शास्त्रादिव्याख्यायाः क्लेशकारिणः। सत्यस्यापि निवृत्तिर्वाग्गुप्तिर्वाचंयमोऽथवा॥ (आचा. सा. ५–१३६)। ७. संज्ञादिपरिहारेण यन्मौनस्यावलम्बनम्। वाग्वृत्तेः संवृत्तिर्या

जो कर्म श्रुतज्ञान को आच्छादित करता है उसे वस्तुश्रुतज्ञानावरणीय कहते हैं।

वस्तुसमासश्रुतज्ञान—पुणो एदस्स (वत्थुसुदणाणस्स) उवरि एगक्खरे वड्ढिदे वत्थुसमासो होदि। एवमेगेगक्खरुत्तरवड्ढिकमेण वत्थुसमाससुदणाणं गच्छदि जाव एगक्खरेणूणलोगविंदुसारसुदणाणेत्ति। (धव. पु. ६, पृ. २५; पु. १३, पृ. २७३)।

वस्तुश्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि के होने पर वस्तुसमासश्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अक्षर की वृद्धि के क्रम से एक अक्षर कम लोकबिन्दुसार (अन्तिम पूर्व) तक वस्तुसमासश्रुतज्ञान चला जाता है।

वस्तुसमासश्रुतज्ञानावरणीय—वत्थुसमाससुदणाणस्स जमावारयं कम्मं तं वत्थुसमासावरणीयं। (धव. पु. १३, पृ. २७६)।

जो कर्म वस्तुसमासश्रुतज्ञान को आच्छादित करता है उसे वस्तुसमासश्रुतज्ञानावरणीय कहते हैं।

वह्नि (लौकान्तिकदेव)—वह्निवद्देदीप्यमानाः वह्नयः। (त. वृत्ति श्रुत. ४–२५)।

जो लौकान्तिक देव वह्नि (अग्नि) के समान देदीप्यमान होते हैं वे वह्नि नाम से प्रसिद्ध हैं।

वह्निमण्डल—१. स्फुलिङ्गपिङ्गलं भीममूर्ध्वज्वालाशताचितम्। त्रिकोणं स्वस्तिकोपेतं तद्बीजं वह्निमण्डलम्॥ (ज्ञाना. २९–२२, पृ. २८८)। २. ऊर्ध्वज्वालाञ्चितं भीमं त्रिकोणं स्वस्तिकान्वितम्। स्फुलिङ्गपिङ्गं तद्बीजं ज्ञेयमाग्नेयमण्डलम्॥ (योगशा. ५–४६)।

१ अग्निकणों से पीत वर्ण वाला, भयानक, ऊपर उठने वाली सैकड़ों ज्वालाओं से संयुक्त, तीन कोनों के आकार से सहित, स्वस्तिक (एक मांगलिक चिह्न-विशेष—सांथिया) चिह्न से चिह्नित और अग्नि बीजाक्षर से युक्त जो मण्डल नासिका के छिद्र में रहता है उसका नाम वह्निमण्डल है। इसका उल्लेख अग्निमण्डल और आग्नेयमण्डल आदि अन्य पर्यायनामों से भी किया जाता है। मण्डल के स्थान में पुर शब्द का भी व्यवहार हुआ है।

वाइम द्रव्यकृति—वायणकिरियाणिप्फण्णं सुप्प-पच्छि[पि]य-चंगेरि-किदय-चालणि-कंबल-वत्थादिदव्वं वाइमं णाम। (धव. पु. ९, पृ. २७२)।

बुननेरूप क्रिया से जो सूप, पटियया (बांस से बनाया गया एक पात्र), चंगेर, किदय (चटाई ?), चालनी, कंबल और वस्त्र आदि तैयार किये जाते हैं उन्हें वाइम द्रव्यकृति कहा जाता है।

वाक्छल—अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायाद् अर्थान्तरकल्पना वाक्छलम् [न्यायसू. १, २, १२]। (सिद्धिवि. वृ. ५, २, पृ. ३१७)।

सामान्यरूप से विवक्षित पदार्थ का कथन करने पर वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अन्य पदार्थ की कल्पना करना, इसे वाक्छल कहा जाता है। जैसे—'नव कम्बलों वाला देवदत्त' ऐसा कहने पर वक्ता को जो 'नव' शब्द से 'नवीन' अर्थ अभिप्रेत है उसको न लेकर उसके 'नौ' संख्यारूप भिन्न अर्थ की कल्पना करके यह कहना कि उसके पास तो एक ही कम्बल है, नौ कहां हैं? यह वाक्छल कहलाता है।

वाक्पारुष्य—ज्ञाति-वयोवृत्त-विद्या-विभवानुचितं हि वचनं वाक्पारुष्यम्। (नीतिवा. १६–२८, पृ. १७९)।

जो वचन जाति, आयु, चारित्र, विद्या और वैभव के योग्य न हो उसका नाम वाक्पारुष्य है।

वाक्प्रयोग—वाक्प्रयोगः शुभेतरलक्षणः। (धव. पु. ९, पृ. २१७)।

वचन का प्रयोग दो प्रकार से होता है—शुभ और अशुभ। इसका विवेचन सत्यप्रवाद पूर्व में किया जाता है।

वाक्य—१. पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम्। (अष्टश. १०३; न्यायकु. ७२, पृ. ७९७; आप्तमी. वसु. वृ. १०३; लघीय. अभय. वृ. ६४, पृ. ८७)। २. अर्थप्रतिपादकं पदसमूहात्मकं वाक्यमेकतिङ्-सुबन्तं वा। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ४, ६३, पृ. १०८)।

१ परस्पर अपेक्षा रखने वाले पदों के निरपेक्ष समुदाय को वाक्य कहा जाता है। २ अर्थ के प्रतिपादक पदों के समूह को अथवा एक 'तिङ्' या 'सुप्' (व्याकरणप्रसिद्ध प्रत्ययविशेष) प्रत्ययान्त पदों के समूह को वाक्य कहते हैं।

वाक्यशुद्धि—१. वाक्यशुद्धिः पृथिवीकायिकारम्भादिप्रेरणरहिताः[ता] परुष-निष्ठुरादिपरपीडाकरप्रयोगनिरुत्सुका व्रत-शील-देशनादिप्रधानफला हित-मित-मधुर-मनोहरा संयतस्य योग्या। (त. वा. ९, ६, १६; त. श्लो. ९–६)। २. वाक्यशुद्धिः पृथिवी-

कायिकाद्यारम्भप्रेरणरहिता युद्ध-काम-कर्कश-संभिन्नालाप-पैशून्य-परुष-निष्ठुरादिपरपीडाकरप्रयोगनिरुत्सुका स्त्री-भक्त-राष्ट्रावनिपालाश्रितकथाविमुखा व्रत-शील-देशनादिप्रदानफला स्व-परहित-मितमधुर-मनोहरा परमवैराग्यहेतुभूता परिहृतपरात्मनिन्दा-प्रशंसा संयतस्य योग्या। (चा. सा. पृ. ३६-३७)। ३. कन्या प्रदानयोग्येयं क्षेत्रादि लवनोचितम्। प्रोत्खाताः परिखाः कूप-वाप्यः शास्या दुरीहिताः॥ गीत-वादित्र-नृत्यानि हृद्यानीयं वरांगनाः। मेटभ-मल्लयुद्धानि सुकृतानि वनं वरम्॥ रोग्यन्धः पङ्गुरित्यादिव्यवहाराश्रिता प्रिया-। संयतोचितवाक्-त्यागाद्देश-काल-सभोचिता॥ मृदु-मधुर-गम्भीरा वाङ मोक्षमार्गोपदेशना। वाक्यशुद्धिर्गुणाम्भोधिविवृद्धीचितिरीरिता॥ (आचा. सा. ८, ६-६)। ४. वाक्शुद्धिः परुष-कर्कशादिवचोवर्जनम्। (सा. ध. स्वो. टी. ५-४५)। ५. हुंकारो ध्वनिनोच्चारः शीघ्रपाठो विलम्बनम्। यत्र सामायिके न स्यादेषा वाक्शुद्धिरिष्यते॥ (धर्मसं. श्रा. ७-४६)।

१ पृथिवीकायिकादि जीवों के आरम्भविषयक प्रेरणा से रहित और परपीडाजनक कठोर आदि वचनों के प्रयोग से विहीन जो हितकारक व परमित वचन बोला जाता है, इसका नाम वाक्यशुद्धि है। ४ कठोर-निष्ठुर आदि वचन के न बोलने का नाम वाक्शुद्धि है। ५ जिस सामायिक में हूं हूं करने, शब्द से उच्चारण करने तथा शीघ्रता या विलम्ब से पाठ करने का परित्याग किया जाता है वह वाक्शुद्धि से युक्त होती है। इसके बिना वह वाक्दुष्प्रणिधान नामक अतिचार से दूषित होती है।

वाक्यस्फोट—१. वाक्यार्थज्ञानावरण-वीर्यान्तराय-क्षयोपशमविशिष्टो वाक्यस्फोटः। (युक्त्यनु. टी. ४०)। २. स्फुटति प्रकटीभवत्यर्थोऽस्मिन् इति स्फोटश्चिदात्मा। ××× वाक्यार्थज्ञानावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टस्तु वाक्यस्फोट इति। (प्र. क. मा. ३-१०१, पृ. ३५६; न्यायकु. ६५, पृ. ७५४)।

२ 'स्फुटति अर्थो ऽस्मिन्' इस निरुक्ति के अनुसार जहां अर्थ प्रगट होता है उसका नाम स्फोट है, इस प्रकार स्फोट का अर्थ आत्मा होता है। तदनुसार वाक्यार्थज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से युक्त आत्मा को वाक्यस्फोट कहा जाता है।

वाक्शुद्धि—देखो वाक्यशुद्धि।

वाक्संयम—वाचो हिंस्र-परुषादिवचोभ्यो निवृत्तिः शुभभाषायां च प्रवृत्तिर्वाक्संयमः। (योगशा. स्वो. विव. ४-९३)।

हिंसाजनक व कठोर आदि वचनों से दूर रहकर शुभ भाषा में जो प्रवृत्ति होती है, इसे वाक्संयम कहा जाता है।

वागधिकरण—वाग्गतं निष्प्रयोजनकथाख्यानं पर-पीडाप्रधानं यत्किचन वक्तृत्वम्। (त. वा. ७, ३२, ५)।

अनर्थक कथा-वार्ता करने तथा अन्य को पीड़ा पहुंचाने वाला जो कुछ भी सम्भाषण हो उसे वागधिकरण कहते हैं।

वाग्गुप्ति—१. थी-राज-चोर-भत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स। परिहारो वचगुत्ती अलीयादिणियत्ति-वयणं वा॥ (नि. सा. ६७); अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होदि वचिगुत्ती॥ (नि. सा. ६९; मूला. ५-१३५; भ. आ. ११८७)। २. अलीक-निवृत्तिर्वाचां संयमत्वं वा वाग्गुप्तिः। (धव. पु. १, पृ. ११६; पु. ९, पृ. २१६)। ३. अनृत-परुष-कर्कश-मिथ्यात्वासंयमनिमित्तवचनानाम् अवक्तृता वाग्गुप्तिः। (भ. आ. विजयो. ११५); विपरीतार्थ-प्रतिपत्तिहेतुत्वात्परदुःखोत्पत्तिनिमित्तत्वाच्चाधर्माद् या व्यावृत्तिः सा वाग्गुप्तिः। ××× व्यलीकात् परुषादात्मप्रशंसापरात् परनिन्दाप्रवृत्तात् परोपद्रव-निमित्ताच्च वचसो व्यावृत्तिरात्मनस्तथाभूतस्य वचनोऽप्रवर्तिका वाग्गुप्तिः। यां वाचं प्रवर्तयन् अशुभं कर्म स्वीकरोत्यात्मा तस्या वाच इह ग्रहणम्। वाग्गुप्तिस्तेन वाग्विशेषस्यानुत्पादकता वाचः परिहारो वाग्गुप्तिः। मौनं वा सकलाया वाचो या परिहृतिः सा वाग्गुप्तिः। अयोग्यवचनेऽप्रवृत्तिः प्रेक्षापूर्व-कारितया योग्यं तु वक्ति वा न वा। (भ. आ. विजयो. ११८७)। ४. ××× सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य। (पु. सि. २०२)। ५. साधुसंवृत-वाग्वृत्तेर्मौनारूढस्य वा मुनेः। संज्ञादिपरिहारेण वाग्गुप्तिः स्यान्महामुनेः॥ (ज्ञाना. १८-१७, पृ. १९१)। ६. गजाश्व-शस्त्र-शास्त्रादिव्याख्यायाः क्लेशकारिणः। सत्यस्यापि निवृत्तिर्वाग्गुप्तिर्वाचंयमोऽथवा॥ (आचा. सा. ५-१३६)। ७. संज्ञादिपरिहारेण यन्मौनस्यावलम्बनम्। वाग्वृत्तेः संवृत्तिर्या

सा वाग्गुप्तिरिहोच्यते ॥ (योगशा. १–४२)। ८. ××× दुरुक्तित्यजनतनुमवाग्लक्षणां वोक्तिगुप्तिम्। (अन. ध. ४–१५६)। ९. विपरीतार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वात्परदुःखोत्पत्तिनिमित्तत्वाच्चाधर्माद्यानाचो व्यावृत्तिः सा वाग्गुप्तिः, तथाविधवाक्प्रवृत्तिनिमित्तवीर्यरूपेणापरणतिरात्मन इत्यर्थः। (भ. आ. मूला ११८७)। १०. असच्चवणिव्वत्ती मोणं वा वाग्गुत्ती। (अंगप. ७८, पृ. २९२ गद्य)।

१ पाप की हेतुभूत स्त्रीकथा, राजकथा, चौर्यकथा और भोजनकथा इत्यादि विकथाओं के परित्याग को अथवा असत्य आदि वचनों के परित्याग को वचनगुप्ति कहते हैं। २ असत्य के त्याग करने अथवा वचनों पर नियंत्रण रखने को वाग्गुप्ति कहा जाता है। ७ संकेत आदि के छोड़ने के साथ जो मौन का अवलम्बन लिया जाता है अथवा वचन की प्रवृत्ति पर नियन्त्रण रखा जाता है, इसका नाम वाग्गुप्ति है।

वाग्जीवी—वाग्जीवी वैतालिकः सूतो वा। (नीतिवा. १४–२६, पृ. १७४)।

वैतालिक (स्तुतिपाठक) अथवा सूत (सारथी) ये वाग्जीवी—वचन के आश्रय से आजीविका चलाने वाले हैं।

वाग्दुष्प्रणिधान—१. दुष्ठु प्रणिधानमन्यथा वा दुष्प्रणिधानम्। प्रणिधानं प्रयोगः परिणामः इत्यनर्थान्तरम्। दुष्ठु पापं प्रणिधानं दुष्प्रणिधानं अन्यथा वा प्रणिधानं दुष्प्रणिधानम्। ××× वर्णसंस्काराभावाऽर्थागमकत्व-चापलादिवाग्गतम्[दुष्प्रणिधानम्]। (त. वा. ७, ३३, २)। २. प्रणिधानं प्रयोगः, दुष्टं प्रणिधानं दुष्प्रणिधानम्। ××× वर्णसंस्काराभावार्थानवगम-चापल्यानि वाक्क्रिया वाग्दुष्प्रणिधानम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–२८)। ३. वर्णसंस्कारे भावार्थे चागमकत्वं चापलादि वाग्दुःप्रणिधानम्। (चा. सा. पृ. ११)। ४. वर्णसंस्काराभावोऽर्थानवगमश्चापलं च वाग्दुष्प्रणिधानम्। (योगशा. स्वो. विव. ३-११६)। ५. वर्णसंस्कारोद्भवो [-राभावो]ऽर्थानवगमश्चापलं च वाग्दुष्प्रणिधानम्। (सा. ध. स्वो. टी. ५–३३)। ६. वाग्योगोऽपि ततोऽन्यत्र हुङ्कारादिप्रवर्तते। वचोदुष्प्रणिधानाख्यो दोषोऽतीचारसंज्ञकः॥ (लाटीसं. ६, १९१)।

१ प्रणिधान का अर्थ प्रयोग है। वर्णों के संस्कार का न होना, अर्थ का अनवबोध तथा पाठ में चंचलता, यह वाग्दुष्प्रणिधान नामक सामायिक का एक अतिचार है।

वाग्बली—देखो वचनबला ऋद्धि। १. मनोजिह्वाश्रुतावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमातिशये सत्यन्तर्मुहूर्ते सकलश्रुतोच्चारणसमर्थाः सततमुच्चैरुच्चारणे सत्यपि श्रमविरहिताः अहीनकण्ठाश्च वाग्बलिनः। (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०३; चा. सा. पृ. १०१)। २. अन्तर्मुहूर्तेन सकलश्रुतवस्तूच्चारणसमर्था वाग्बलिनः। अथवा पद-वाक्यालङ्कारोपेतां वाचमुच्चैरुच्चारयन्तोऽविरहितवाक्क्रमाहीनकण्ठा वाग्बलिनः। (योगशा. स्वो. विव. १–८)।

१ मन व जिह्वा श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम के होने पर अन्तर्मुहूर्त में जो समस्त श्रुत के उच्चारण करने में समर्थ होते हुए निरन्तर ऊंचे स्वर से उच्चारण करने पर भी परिश्रम से रहित व कण्ठ से परिपूर्ण होते हैं उन्हें वाग्बल (वचनबल) ऋद्धि के धारक समझना चाहिए।

वाग्भव-असमीक्ष्याधिकरण—वाग्भवं निष्प्रयोजनकथाव्याख्यानं परपीडाप्रधानं यत्किंचन वक्तृत्वं च। (चा. सा. पृ. १०)।

निरर्थक कथा-वार्ता करना तथा दूसरों को पीड़ा पहुंचाने वाला कुछ भी भाषण करना, यह वाग्भव (वाचिक) असमीक्ष्याधिकरण कहलाता है। यह अनर्थदण्डव्रत के अतिचारों के अन्तर्गत है।

वाग्योग—१. शरीरनामकर्मोदयापादितवाग्वर्गणालम्बने सति वीर्यान्तराय-मत्यक्षराद्यावरणक्षयोपशमापादिताभ्यन्तरवाग्लब्धिसान्निध्ये वाक्परिणामाभिमुखस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पन्दो वाग्योगः। (स. सि. ६–१; त. वा. ६, १, १०)। २. औदारिक-वैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो वाग्योगः। (ध्यानश. हरि. वृ. ३; स्थाना. अभय. वृ. १–२० व १–५१; योगशा. स्वो. विव. ११–१०)। ३. वचसः समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नो वाग्योगः। (धव. पु. १, पृ. २७९); चतुर्णां वचसां सामान्यं वचः, तज्जनितवीर्येणात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणेन योगो वाग्योगः। (धव. पु. १, पृ. ३०८); भासावग्गणपोग्गलक्खंधे अवलंबिय जो जीवपदेसाणं संकोच-विकोचो सो वचिजोगो णाम।

(धव. पु. ७, पृ. ७६); भासावग्गणक्खंधे भासारूवेण परिणामेंतस्स जीवपदेसाणं परिप्फन्दो वचिजोगो णाम। (धव. पु. १०, पृ. ४३७)। ४. वाग्वर्गणालम्बनो (आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः) वाग्योगः। (आप्तप. १११)। ५. भाषायोग्यपुद्गलात्मप्रदेशपरिणामो वाग्योगः। (योगशा. स्वो. विव. ४, ७४)। ६. भाषापर्याप्तियुक्तजीवस्य शरीरनामोदयेन स्वरनामोदयसहकारिकारणेन भाषावर्गणायातपुद्गलस्कन्धानां चतुर्विधभाषारूपेण परिणमनं वाग्योगः। (गो. जी. जी. प्र. ७०३)। ७. शरीरनामकर्मोदयोत्पादितवाग्वर्गणालम्बने सति वीर्यान्तरायक्षयोपशमे सति अभ्यन्तरवचनलब्धिसामीप्ये च सति वचनपरिणामाभिमुखस्य जीवस्य प्रदेशानां परिस्पन्दनं चलनं परिस्फुरणं वचनयोगः। (त. वृत्ति श्रुत. ६-१)।

१ शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त वचनवर्गणा का आलम्बन होने पर तथा वीर्यान्तराय व मत्यक्षरादिज्ञानावरण के क्षयोपशम से प्रेरित अभ्यन्तर वचनलब्धि की समीपता के होने पर वचनपरिणाम के अभिमुख हुए आत्मा के प्रदेशों में जो परिस्पन्द होता है उसे वाग्योग कहते हैं। २ औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर के व्यापार से प्राप्त हुए वचनद्रव्य के समूह की सहायता से जो जीव का व्यापार होता है उसका नाम वाग्योग है।

वाचक—द्वादशाङ्गविद् वाचकः। (धव. पु. १४, पृ. २२)।

बारह अंगों के ज्ञाता को वाचक कहा जाता है।

वाचन—देखो आगे वाचना।

वाचना—१. निरवद्यग्रन्थार्थोभयप्रदानं वाचना। (स. सि. ६-२५; त. श्लो. ६-२५)। २. निरवद्यग्रन्थार्थोभयप्रदानं वाचना। अनपेक्षात्मना विदितवेदितव्येन निरवद्यग्रन्थस्यार्थस्य तदुभयस्य वा पात्रे प्रतिपादनं वाचनेत्युच्यते। (त. वा. ६, २५, १)। ३. शिष्याध्यापनं वाचना। (धव. पु. ६, पृ. २५२; धव. पु. १४, पृ. ८; योगशा. स्वो. विव. ४-६०); जा तत्थ णवसु आगमेसु वायणा अण्णेसि भवियाणं जहासत्तीए गंथत्थपरूवणा उवजोगो णाम। (धव. पु. ६, पृ. २६२); तत्थ परेसिं वक्खाणं वायणा। (धव. पु. १४, पृ. ६)। ४. तत्र निरवद्यस्य ग्रन्थस्याध्यापनं तदर्थाभिधानपुरोगं वाचना। (भ. आ. विजयो. १०४)। ५. वाचना सा परिज्ञेया यत् पात्रे प्रतिपादनम्। ग्रन्थस्य वाथ पद्यस्य तत्त्वार्थस्योभयस्य वा॥ (त. सा. ७-१७)। ६. तत्र निरपेक्षात्मना मुमुक्षुणा विदितवेदितव्येन निरवद्यस्य ग्रन्थस्यार्थस्य तदुभयस्य वा पात्रं प्रति प्रतिपादनं वाचनेत्युच्यते। (चा. सा. पृ. ६७)। ७. यत्सूत्रार्थोभयाऽऽख्यानं शिष्याणां विनयान्वितम्। मोक्षार्थं वाचना प्रोक्ता कृत्वा शुद्धिं चतुर्विधाम्॥ (आचा. सा. ४-६२)। ८. वाचनाः सूत्रार्थप्रदानलक्षणाः। (समवा. अभय. वृ. १३६)। ९ शुद्धग्रन्थार्थोभयदानं पात्रेऽस्य वाचनाभेदः॥ (अन. ध. ७-८३)। १०. वाचना संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा ग्रन्थार्थोभयस्य परं प्रत्यनुयोगः। (भावप्रा. टी. ७८)। ११. यो गुरुः पापक्रियाविरतो भवति अध्यापनक्रियाफलं नापेक्षते सः गुरुः शास्त्रं पाठयति शास्त्रस्यार्थं वाच्यं कथयति ग्रन्थार्थद्वयं च व्याख्याति एवं त्रिविधमपि शास्त्रप्रदानं पात्राय ददाति उपदिशति सा वाचना कथ्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ६-२५; कार्तिके. टी. ४६६)।

१ निर्दोष ग्रन्थ, अर्थ और दोनों का प्रदान करना, इसका नाम वाचना है। ३ शिष्यों के पढ़ाने को वाचना कहते हैं।

वाचनाचार्य—कृतयोगश्च गीतार्थो वाचनारचितश्रमः। सर्वैर्गुरुगुणैर्युक्तो वाचनाचार्य इष्यते॥ (आचारदि. पृ. १११)।

जो कृतयोग—क्रिया को कर चुका हो, ज्ञानी हो, वाचना में परिश्रम करने वाला हो और सभी गुरुगुणों से युक्त हो, उसे वाचनाचार्य माना जाता है।

वाचनार्ह—गुरुभक्तः क्षमावांश्च कृतयोगो निरामयः। प्रज्ञावानष्टभिश्चैव शुद्धैर्बुद्धिगुणैर्युतः॥ विनीतः शास्त्ररागी च सर्वव्यापेक्षवर्जितः। निद्रालस्यादिजेता च विषयेच्छाविवर्जितः॥ यतिविज्ञाततत्त्वश्च निर्मत्सरमनाः सदा। सिद्धान्तवाचनाकार्यमर्हतीदृश उत्तमः॥ (आचारदि. पृ. ११०)।

जो गुरु की भक्ति करने वाला, क्षमावान्, कृतकृत्य, नीरोग, विशुद्ध आठ बुद्धिगुणों से संयुक्त, विनम्र, शास्त्रानुरागी, सब प्रकार के आक्षेपों से रहित, निद्रा व आलस्य आदि का विजेता, विषयेच्छा से रहित और मात्सर्यभाव से दूर रहने वाला हो वह सिद्धान्तवाचनाकार्य के योग्य होता है।

वाचनोपगत—एतासां (नन्दा-भद्रादीनां) वाचनानामुपगतं वाचनोपगतम्, परप्रत्यायनसमर्थमिति यावत्। (धव. पु. ६, पृ. २५२–५३); णंदा-दिसरूवं कदिसुदणाणं वायणोवगयं णाम। (धव. पु. ६, पृ. २६८); जो अवगयबारहअंगो संतो परेहिं वक्खाणक्खमो सो आगमो वायणोवगदो णाम। (धव. पु. १४, पृ. ८)।

जो उपयोग नन्दा व भद्रा वाचनाओं को प्राप्त है उसे वचनोपगत कहते हैं।

वाचाविवेक—शरीरपीडां मा कृथा इत्याद्यवचनम्, मां पालयेति वा, शरीरमिदमन्यदचेतनं चैतन्येन सुख-दुःखसंवेदनेन वाऽविशिष्टमिति वचनं वाचाविवेकः। (भ. आ. विजयो. १६६)।

शरीर को पीड़ा नहीं करो अथवा मेरी रक्षा करो, इत्यादि वचन के न बोलने को तथा यह शरीर जड़ है व सुख-दुःख के संवेदन से रहित है इत्यादि वचन के बोलने को वाचाविवेक कहा जाता है।

वाचिक विनय—१. पूयावयणं हिदभासणं च मिदभासणं च मधुरं च। सुत्ताणुवीचिवयणं अणिट्ठुरमकक्कसं वयणं॥ उवसंतवयणमगिहत्थवयणमकिरियमहीलणं वयणं। एसो वाइयविणओ जहारिहं होदि कादव्वो॥ (मूला. ५, १८०–८१)। २. हियमियपुज्जं सुत्ताणुवीचि अफरसमकक्कसं वयणं। संजमिजणम्मि जं चाडुभासणं वाचिओ विणओ॥ (वसु. श्रा. ३२७)।

१ प्रतिष्ठा के अनुरूप वचन, हितकर भाषण, परिमित भाषण, मधुर भाषण, आगमानुकूल वचन, निष्ठुरता, कठोरता एवं क्रोधादि कषाय से रहित वचन, गृहस्थ से भिन्न—गाली-गलौज रहित—वचन, निष्क्रिय वचन, और अवहेलना का असूचक वचन, इत्यादि प्रकार के वचन बोलने से वाचिक विनय होता है।

वाणिज्य—वाणिज्यं वणिजां कर्म × × ×। (म. पु. १६–८२)।

वैश्यों के कार्य (व्यवसाय) को वाणिज्यकर्म कहा जाता है।

वातकुमार—वान्ति तीर्थंकरविहारमार्गं शोधयन्ति ते वाताः, वाताश्च ते कुमाराः वातकुमाराः। (त. वृत्ति श्रुत. ४–१०)।

जो तीर्थंकर के विहारमार्ग को शुद्ध किया करते हैं वे वातकुमार देव कहलाते हैं।

वातनिसर्ग—अपानेन पवननिर्गमो वातनिसर्गः। (आव. नि. हरि. वृ. १४८६, पृ. ७७६; योगशा. स्वो. विव. ३–१२४)।

अपान से वायु के निकलने को वातनिसर्ग कहते हैं।

वात्सल्य—१. जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हे साधूण मोक्खमग्गम्मि। सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥ (समयप्रा. २५३)। २. चादुव्वण्णे संघे चदुगदिसंसारणित्थरणभूदे। वच्छल्लं कादव्वं वच्छे गावी जहा गिद्धी॥ (मूला. ५–६६)। ३. स्वयूथ्यान् प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा। प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते॥ (रत्नक. १–१७)। ४. जिनप्रणीतधर्मामृते नित्यानुरागता वात्सल्यम्। (त. वा. ६, २४, १)। ५. रत्नत्रितयवत्यार्यसंघे वात्सल्यमातनु। (म. पु. ६–१२७)। ६. धर्मस्थेषु मातरि पितरि भ्रातरि वानुरागो वात्सल्यं रत्नत्रयादरो वात्मनः। (भ. आ. विजयो. ४५)। ७. अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे। सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम्॥ (पु. सि. २६)। ८. जो धम्मिएसु भत्तो अणुचरणं कुणदि परमसद्धाए। पियवयणं जंपंतो वच्छल्लं तस्स भव्वस्स॥ (कार्तिके. ४२१)। ९. जिनप्रणीते धर्मामृते नित्यानुरागताथवा यथा गौर्वत्से स्निह्यति तथा चातुर्वर्ण्ये संघेऽकृत्रिमस्नेहकरणं वात्सल्यम्। (चा. सा. पृ. ३)। १०. अर्थित्वं भक्तिसंपत्तिः प्रयुक्तिः [प्रियोक्तिः] सत्क्रियाविधिः। सधर्मसु च सौचित्यकृतिर्वत्सलता मता॥ (उपासका. २१२)। ११. कर्मारण्यं छेत्तुकामैरकामैर्धर्माधारैर्व्यापृतिः प्राणिवर्गे। भैषज्याद्यैः प्रासुकैर्वर्ध्यते या तद्वात्सल्यं कथ्यते तथ्यवोधैः॥ (अमित. श्रा. २–८०); करोति संघे बहुधोपसर्गैरुपद्रुते धर्मधियाऽनपेक्षः। चतुर्विधे व्यापृतिमुज्ज्वलां यो वात्सल्यकारी स मतः सुदृष्टिः॥ (अमित. श्रा. ३–७६)। १२. वत्सलस्य भावो वात्सल्यम्—चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघे सर्वथानुवर्तनं धर्मपरिणामेनापद्यनापदि सधर्मजीवानामपकाराय द्रव्योपदेशादिना हितमाचरणम्। (मूला. वृ. ५–४); वात्सल्यं च कायिक-वाचिक-मानसिकानुष्ठानैः सर्वप्रयत्नेनोपकरणौषधाहारावकाश-शास्त्रादिदानैः संघे कर्तव्यमिति। (मूला. वृ ५–६६)। १३. प्रीतिर्जिनागमे वत्सलत्वं संघे चतुर्विधे। अपो-

दितोपकारित्वं चोपकारानपेक्षया ॥ जैनानापद्गतां-स्तस्मादुपकुर्वन्तु सर्वथा । यः समर्थोऽप्युपेक्षेत स कथं समयी भवेत् ॥ (प्राचा. सा. ३, ६४–६५) । १४. वात्सल्यं सधर्मणि स्नेहः । (चारित्रभ. टी. ३, पृ. १८७) । १५. वात्सल्यं समानधार्मिकस्याहारादिभिः प्रत्युपकरणम् । उक्तं च—साहम्मि य वच्छल्लं आहाराईसु होइ सव्वत्थ । आएसगुरुगिलाणे तवस्सिबालाइसु विसेसा ॥ (व्यव. भा. मलय. वृ. ६५, पृ. २७ उद्.) । १६. धेनुः स्ववत्स इव रागरसादभीक्ष्णं दृष्टिं क्षिपेन्न मनसापि सहेत् क्षतिं च । धर्मे सधर्मसु सुधीः कुशलाय बद्धप्रेमानुबन्धमथ विष्णुवदुत्सहेत् ॥ (अन. ध. २–१०७) । १७. वात्सल्यमभिलप्यते । किम् ? सधर्मविपदुच्छेदः स्वयूथ्यानामापदो निरसनम् । (अन. ध. स्वो. टी. २–१०९) । १८. धर्मस्थेषु स्नेहः स्वस्य च रत्नत्रयेऽनुरागः । (भ. आ. मूला. ४५) । १९. रोगादितश्रमार्त्तानां साधूनां गृहिणामपि । यथायोग्योपचारस्तद्वात्सल्यं धर्मकाम्यया ॥ (भावसं. वाम. ४१९) । २०. जिनशासने सदानुरागता वात्सल्यम् । (भावप्रा. टी. ७७) । २१. जिनचरणे सदानुरागित्वं वात्सल्यम् । (त. वृत्ति श्रुत. ६–२४) । २२. जिनप्रणीतधर्मामृते नित्यानुरागता जिनशासनसदानुरागित्वम्, अथवा सद्यःप्रसूता यथा गौर्वत्से स्निह्यति तथा चातुर्वर्ण्ये संघे अकृत्रिमस्नेहकरणं सम्यक्त्वस्य वात्सल्यनामा गुणः । (कार्तिके. टी. ३२७) । २३. वात्सल्यं तद्गुणोत्कर्षहेतवे सोद्यतं मनः । (लाटीसं. ३–११३; पंचाध्या. २–४७०) २४. वात्सल्यं नाम दासत्वं सिद्धार्हद्बिम्ब-वेश्मसु । संघे चतुर्विधे शास्त्रे स्वामिकार्ये सुभृत्यवत् ॥ अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु सुदृष्टिमान् । सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदत्यये ॥ यद्वा न ह्यात्मसामर्थ्यं यावन्मंत्रासिकोशकम् । तावद् दृष्टुं च श्रोतुं च तद्बाधां सहते न सः ॥ (पंचाध्या. २, ८०३–५; लाटीसं. ४, ३०८–१०) ।

१ जो मुक्ति के साधनभूत सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों में अनुराग करता है उसे वात्सल्य गुण से युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। १५ जो साधर्मी जन तथा विशेषकर अतिथि, गुरु, ग्लान और तपस्वी आदि के विषय में अनुराग रखता है —आहारादि के द्वारा उनका प्रत्युपकार करता है —वह सम्यग्दर्शन के वात्सल्य गुण का परिपालन करता है।

वाद— १. प्रत्यनीकव्यवच्छेदप्रकारेणैकसिद्धये । वचनं साधनादीनां वादः सोऽयं जिगीषतोः ॥ (न्यायवि. २, २, २१३, पृ. २४३) । २. × × × वाद एव एकः कथाविशेषः तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणफलः लाभ-पूजा-ख्यातिहेतुः × × × । (न्यायकु. २, ७, पृ. ३३९) ।

१ विजय की इच्छा रखने वाले वादी व प्रतिवादी के मध्य में अभीष्ट साध्य की सिद्धि के लिए जो उससे विपरीत का निराकरण करते हुए साधन व दृष्टान्त आदि का कथन किया जाता है वह वाद कहलाता है। २ तत्त्व के निर्णयपूर्वक उसके संरक्षण के प्रयोजन से जो लाभ, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि की कारणभूत चर्चा की जाती है उसका नाम वाद है।

वादक — गीतप्रबन्धगतिविशेषवादकचतुर्विधातोद्यप्रचारकुशलो वादकः। (नीतिवा. १४–२५, पृ. १७४) ।

जो गीतप्रबन्ध की गतिविशेष के वादक चार प्रकार के आतोद्य—तत, आनद्ध, शुषिर और घन इन चार वादित्रों—के प्रचार में दक्ष होता है वह वादक कहलाता है।

वादित्व ऋद्धि—१. सक्कादीण वि पक्खं बहुवादेहिं णिरुत्तरं कुणदि । परदव्वाइं गवेसइ जीए वादित्तरिद्धी सा ॥ (ति. प. ४–१०२३) । २. शक्रादिष्वपि प्रतिवन्दिषु सत्स्वप्रतिहततया निरुत्तराभिधानं पररन्ध्रापेक्षणं च वादित्वम् । (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०२; चा. सा. पृ. ६७) ।

१ जिस ऋद्धि के प्रभाव से वादी बौद्ध आदि (या इन्द्र आदि) के भी पक्ष को बहुत विवाद के द्वारा—युक्ति-प्रत्युक्तियों से—निरुत्तर कर देता है तथा प्रतिवादी के द्रव्यों को—उनके अभिमत तत्त्वों को—खोजता है उसका नाम वादित्व ऋद्धि है।

वादी — वादि-प्रतिवादि-सभ्य-सभापतिलक्षणायां चतुरङ्गायां सभायां प्रतिपक्षनिरासपूर्वकं स्वपक्षस्थापनार्थमवश्यं वदतीति वादी । (योगशा. स्वो. विव. २–१६, पृ. १८५) ।

वादी, प्रतिवादी सदस्य और सभापति इन चार

वाचनोपगत—एतासां (नन्दा-भद्रादीनां) वाचनानामुपगतं वाचनोपगतम्, परप्रत्यायनसमर्थमिति यावत् । (धव. पु. ६, पृ. २५२-५३); एतणंदादिसरूवं कदिसुदणाणं वायणोवगयं णाम । (धव. पु. ६, पृ. २६८); जो अवगयबारहअंगो संतो परेहिं वक्खाणक्खमो सो आगमो वायणोवगदो णाम । (धव. पु. १४, पृ. ८) ।
जो उपयोग नन्दा व भद्रा वाचनाओं को प्राप्त है उसे वचनोपगत कहते हैं ।

वाचाविवेक—शरीरपीडां मा कृथा इत्याद्यवचनम्, मां पालयेति वा, शरीरमिदमन्यदचेतनं चैतन्येन सुख-दुःखसंवेदनेन वाऽविशिष्टमिति वचनं वाचाविवेकः । (भ. आ. विजयो. १६६) ।
शरीर को पीड़ा नहीं करो अथवा मेरी रक्षा करो, इत्यादि वचन के न बोलने को तथा यह शरीर जड़ है व सुख-दुःख के संवेदन से रहित है इत्यादि वचन के बोलने को वाचाविवेक कहा जाता है ।

वाचिक विनय—१. पूयावयणं हिदभासणं च मिदभासणं च मधुरं च । सुत्ताणुवीचिवयणं अणिट्ठुरमकक्कसं वयणं ।। उवसंतवयणमगिहत्थवयणमकिरियमहीलणं वयणं । एसो वाइयविणओ जहारिहं होदि कादव्वो ।। (मूला. ५, १८०-८१) । २. हिय-मियपुज्जं सुत्ताणुवीचि अफरसमकक्कसं वयणं । संजमिजणम्मि जं चाडुभासणं वाचिओ विणओ ।। (वसु. श्रा. ३२७) ।
१ प्रतिष्ठा के अनुरूप वचन, हितकर भाषण, परिमित भाषण, मधुर भाषण, आगमानुकूल वचन, निष्ठुरता, कठोरता एवं क्रोधादि कषाय से रहित वचन, गृहस्थ से भिन्न—गाली-गलौज रहित—वचन, निष्क्रिय वचन, और अवहेलना का असूचक वचन, इत्यादि प्रकार के वचन बोलने से वाचिक विनय होता है ।

वाणिज्य—वाणिज्यं वणिजां कर्म ××× । (म. पु. १६-८२) ।
वैश्यों के कार्य (व्यवसाय) को वाणिज्यकर्म कहा जाता है ।

वातकुमार—वान्ति तीर्थंकरविहारमार्गं शोधयन्ति ते वाताः, वाताश्च ते कुमाराः वातकुमाराः । (त. वृत्ति श्रुत. ४-१०) ।
जो तीर्थंकर के विहारमार्ग को शुद्ध किया करते हैं वे वातकुमार देव कहलाते हैं ।

वातनिसर्ग—अपानेन पवननिर्गमो वातनिसर्गः । (श्राव. नि. हरि. वृ. १४८६, पृ. ७७६; योगशा. स्वो. विव. ३-१२४) ।
अपान से वायु के निकलने को वातनिसर्ग कहते हैं ।

वात्सल्य—१. जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हे साधूण मोक्खमग्गम्मि । सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।। (समयप्रा. २५३) । २. चादुव्वण्णे संघे चदुगदिसंसारणित्थरणभूदे । वच्छल्लं कादव्वं वच्छे गावी जहा गिद्धी ।। (मूला. ५-६६) । ३. स्वयूथ्यान् प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा । प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ।। (रत्नक. १-१७) । ४. जिनप्रणीतधर्मामृते नित्यानुरागता वात्सल्यम् । (त. वा. ६, २४, १) । ५. रत्नत्रितयवत्यार्यसंघे वात्सल्यमातनु । (म. पु. ६-१२७) । ६. धर्मस्थेषु मातरि पितरि भ्रातरि वानुरागो वात्सल्यं रत्नत्रयादरो वात्मनः । (भ. आ. विजयो. ४५) । ७. अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे । सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम् ।। (पु. सि. २६) । ८. जो धम्मिएसु भत्तो अणुचरणं कुणदि परमसद्धाए । पियवयणं जंपंतो वच्छल्लं तस्स भव्वस्स ।। (कार्तिके. ४२१) । ९. जिनप्रणीते धर्मामृते नित्यानुरागताथवा यथा गौर्वत्से स्निह्यति तथा चातुर्वर्ण्ये संघेऽकृत्रिमस्नेहकरणं वात्सल्यम् । (चा. सा. पृ. ३) । १०. अधित्वं भक्तिसंपत्तिः प्रयुक्तिः [प्रियोक्तिः] सत्क्रियाविधिः । सधर्मसु च सौचित्यकृतिर्वत्सलता मता ।। (उपासका. २१२) । ११. कर्मारण्यं छेत्तुकामैरकामैर्धर्माधारैर्व्यापृतिः प्राणिवर्गे । भैषज्याद्यैः प्रासुकैर्वर्ध्यते या तद्वात्सल्यं कथ्यते तथ्यबोधैः ।। (अमित. श्रा. २-८०); करोति संघे बहुधोपसर्गैरुपद्रुते धर्मधियाऽनपेक्षः । चतुर्विधे व्यापृतिमुज्ज्वलां यो वात्सल्यकारी स मतः सुदृष्टिः ।। (अमित. श्रा. ३-७६) । १२. वत्सभावस्य भावो वात्सल्यम्—चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघे सर्वथानुवर्तनं धर्मपरिणामेनापद्यनापदि सधर्मजीवानामुपकाराय द्रव्योपदेशादिना हितमाचरणम् । (मूला. वृ. ५-४); वात्सल्यं च कायिक-वाचिक-मानसिकानुष्ठानैः सर्वप्रयत्नेनोपकरणौषधाहारावकाश-शास्त्रादिदानैः संघे कर्तव्यमिति । (मूला. वृ ५-६६) । १३. प्रीतिर्जिनागमे वत्सलत्वं संघे चतुर्विधे । प्रगो-

दितोपकारित्वं वोपकारानपेक्षया ॥ जैनानापद्गतां-स्तस्मादुपकुर्वन्तु सर्वथा। यः समर्थोऽप्युपेक्षेत स कथं समयी भवेत् ॥ (आचा. सा. ३, ६४–६५)। १४. वात्सल्यं सधर्मणि स्नेहः। (चारित्रभ. टी. ३, पृ. १८७)। १५. वात्सल्यं समानधार्मिकस्या-हारादिभिः प्रत्युपकरणम्। उक्तं च—साहम्मि य वच्छल्लं आहाराईसु होइ सव्वत्थ। आएसगुरुगिलाणे तवस्सिबालाइसु विसेसा ॥ (व्यव. भा. मलय. वृ. ६५, पृ. २७ उद्.)। १६. धेनुः स्ववत्स इव रागरसादभीक्ष्णं दृष्टिं क्षिपेन्न मनसापि सहेत् क्षतिं च। धर्मे सधर्मसु सुधीः कुशलाय बद्धप्रेमानुबन्धमथ विष्णुवदुत्सहेत् ॥ (अन. ध. २–१०७)। १७. वात्सल्यमभिलप्यते। किम्? सधर्मविपदुच्छेदः स्वयूथ्यानामापदो निरसनम्। (अन. ध. स्वो. टी. २–१०६)। १८. धर्मस्थेषु स्नेहः स्वस्य च रत्नत्रयेऽनुरागः। (भ. आ. मूला. ४५)। १९. रोगादितिश्रमार्त्तानां साधूनां गृहिणामपि। यथायोग्योपचारस्तद्वात्सल्यं धर्मकाम्यया ॥ (भावसं. वाम. ४१६)। २०. जिनशासने सदानुरागता वात्सल्यम्। (भावप्रा. टी. ७७)। २१. जिनचरणे सदानुरागित्वं वात्सल्यम्। (त. वृत्ति श्रुत. ६–२४)। २२. जिनप्रणीतधर्मामृते नित्यानुरागता जिनशासनसदानुरागित्वम्, अथवा सद्यःप्रसूता यथा गौर्वत्से स्निह्यति तथा चातुर्वर्ण्ये संघे अकृत्रिमस्नेहकरणं सम्यक्त्वस्य वात्सल्यनामा गुणः। (कार्तिके. टी. ३२७)। २३. वात्सल्यं तद्गुणोत्कर्षहेतवे सोद्यतं मनः। (लाटीसं. ३–११३; पंचाध्या. २–४७०) २४. वात्सल्यं नाम दासत्वं सिद्धार्हद्बिम्ब-वेश्मसु। संघे चतुर्विधे शास्त्रे स्वामिकार्ये सुभृत्यवत् ॥ अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु सुदृष्टिमान्। सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदत्यये ॥ यद्वा न ह्यात्मसामर्थ्यं यावन्मंत्रासिकोशकम्। तावद् दृष्टुं च श्रोतुं च तद्बाधां सहते न सः ॥ (पंचाध्या. २, ८०३–५; लाटीसं. ४, ३०८–१०)।

१ जो मुक्ति के साधनभूत सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों में अनुराग करता है उसे वात्सल्य गुण से युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। १५ जो साधर्मी जन तथा विशेषकर अतिथि, गुरु, ग्लान और तपस्वी आदि के विषय में अनुराग रखता है —आहारादि के द्वारा उनका प्रत्युपकार करता है —वह सम्यग्दर्शन के वात्सल्य गुण का परिपालन करता है।

वाद— १. प्रत्यनीकव्यवच्छेदप्रकारेणैकसिद्धये। वचनं साधनादीनां वादः सोऽयं जिगीषतोः ॥ (न्यायवि. २, २, २१३, पृ. २४३)। २. × × × वाद एव एकः कथाविशेषः तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणफलः लाभ-पूजा-ख्यातिहेतुः × × ×। (न्यायकु. २, ७, पृ. ३३९)।

१ विजय की इच्छा रखने वाले वादी व प्रतिवादी के मध्य में अभीष्ट साध्य की सिद्धि के लिए जो उससे विपरीत का निराकरण करते हुए साधन व दृष्टान्त आदि का कथन किया जाता है वह वाद कहलाता है। २ तत्त्व के निर्णयपूर्वक उसके संरक्षण के प्रयोजन से जो लाभ, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि की कारणभूत चर्चा की जाती है उसका नाम वाद है।

वादक — गीतप्रबन्धगतिविशेषवादकचतुर्विधातोद्यप्रचारकुशलो वादकः। (नीतिवा. १४–२५, पृ. १७४)।

जो गीतप्रबन्ध की गतिविशेष के वादक चार प्रकार के आतोद्य—तत, आनद्ध, शुषिर और घन इन चार वादित्रों— के प्रचार में दक्ष होता है वह वादक कहलाता है।

वादित्व ऋद्धि—१. सक्कादीण वि पक्खं बहुवादेहिं णिरुत्तरं कुणदि। परदव्वाइं गवेसइ जीए वादित्तरिद्धी सा ॥ (ति. प. ४–१०२३)। २. शक्रादिष्वपि प्रतिवन्धिषु सत्स्वप्रतिहततया निरुत्तराभिधानं पररन्ध्रापेक्षणं च वादित्वम्। (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०२; चा. सा. पृ. ९७)।

१ जिस ऋद्धि के प्रभाव से वादी बौद्ध आदि (या इन्द्र आदि) के भी पक्ष को बहुत विवाद के द्वारा —युक्ति-प्रत्युक्तियों से —निरुत्तर कर देता है तथा प्रतिवादी के द्रव्यों को— उनके अभिमत तत्त्वों को —खोजता है उसका नाम वादित्व ऋद्धि है।

वादी — वादि-प्रतिवादि-सभ्य-सभापतिलक्षणायां चतुरङ्गायां सभायां प्रतिपक्षनिरासपूर्वकं स्वपक्षस्थापनार्थमवश्यं वदतीति वादी। (योगशा. स्वो. विव. २–१६, पृ. १८५)।

वादी, प्रतिवादी सदस्य और सभापति इन चार

कम् । (कार्तिके. टी. ३४०) । ४. वास्तु वस्त्रादि-सामान्यम् × × × (लाटीसं. १००) ।

१ वास्तु नाम घर का है । ४ वस्त्र आदि सामान्य को वास्तु कहा जाता है ।

विकथा—१. विरुद्धा विनष्टा वा कथा विकथा, सा च स्त्रीकथादिलक्षणा । (आव. सू. अ. ४, हरि. वृ. पृ. ५८०) । २. विरुद्धाश्चारित्रं प्रति स्त्र्यादि-विषयाः कथाः विकथाः । (समवा. वृ. ४) । ३. विरुद्धा संयमबाधकत्वेन, कथा—वचनपद्धतिर्विकथा । (स्थाना. अभय. वृ. २८२) । ४. विकथा मार्ग-विरुद्धाः कथाः । (सा. ध. स्वो. टी. ४-२२) । ५. विलक्षणाः संयमविरुद्धाः कथा वाक्यप्रबन्धाः विकथाः । (गो. जी. म. प्र. ३४) । ६. संयमविरु-द्धाः कथाः विकथाः । (गो. जी. जी. प्र. ३४) ।

१ विरुद्ध अथवा घातक स्त्रीकथा व भोजनकथा आदि जैसी चर्चा को विकथा कहा जाता है । ५ जो चर्चा संयम की विघातक हो उसे विकथा कहते हैं ।

विकथानुयोग— अर्थ - कामोपायप्रतिपादनपराणि कामन्दक-वात्स्यायनादीनि शास्त्राणि । (समवा. वृ. २९) ।

धन और काम के उपायों की प्ररूपणा करने वाले कामन्दक एवं वात्स्यायन आदि शास्त्रों को विकथा-नुयोग कहा जाता है ।

विकलचरण— विकलमपूर्णम् अणुव्रतादिरूपं चर-णम् । (रत्नक. टी. ३-४) ।

अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतरूप चरण (चारित्र) को परिपूर्ण न होने के कारण विकलचरण या विकलचारित्र कहा जाता है ।

विकलप्रत्यक्ष—१. दव्वे खेत्ते काले भावे जो परमिदो दु अवबोधो । बहुविहभेदपभिण्णो सो होदि य वियलपच्चक्खो ॥ (जं. दी. प. १३-५०) । २. तत्र कतिपयविषयं (पारमार्थिकप्रत्यक्षं) विक-लम् । (न्यायदी. पृ. ३४) ।

१ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जो परिमित ज्ञान होता है उसे विकलप्रत्यक्ष कहते हैं ।

विकलादेश—१. विकलादेशो नयाधीनः । (स. सि. १-६; त. वा. ४, ४२, १३; धव. पु. ६, पृ. १६५ उद्.) । २. निरंशस्यापि गुणभेदादंशकल्पना विकलादेशः । स्वेन तत्त्वेनाप्रविभागस्यापि वस्तुनो विविक्तं गुणरूपं स्वरूपोपरञ्जकमपेक्ष्य प्रकल्पित-मंशभेदं कृत्वा अनेकात्मकैकत्वव्यवस्थायां नर-सिंह-सिंहत्ववत्समुदयात्मकमात्मरूपमभ्युपगम्य कालादि-भिरन्योन्यविषयानुप्रवेशरहितांशकल्पनं विकलादेशः, × × × । (त. वा. ४, ४२, १६) । ३. अस्त्येव नास्त्येव अवक्तव्य एव अस्तिनास्त्येव अस्त्यवक्तव्य एव नास्त्यवक्तव्य एव अस्तिनास्त्यवक्तव्य एव घट इति विकलादेशः । (जयध. १, पृ. २०३); अयं च विकलादेशो नयाधीनः नयायत्तः, नयवशादुत्पद्यत इति यावत् । (जयध. १, पृ. २०४) । ४. अभेद-वृत्त्यभेदोपचारयोरनाश्रयणे एकधर्मात्मकवस्तुविषय-बोधजनकं वाक्यं विकलादेशः । (सप्तभं. पृ. २०)।

२ निरंश भी वस्तु के गुणभेद की अपेक्षा से अंशों की कल्पना जो की जाती है उसका नाम विकलादेश है । जिस प्रकार अनेक खांड, अनार और कपूर आदि के अनेक रसयुक्त पानक (पेय) द्रव्य का स्वाद लेकर अनेक रसस्वरूपता का निश्चय करते हुए अपनी शक्तिविशेष से 'यह भी है, यह भी है' इस प्रकार से विशेष निरूपण किया जाता है उसी प्रकार अनेकात्मक एक वस्तु का निश्चय करके कारणविशेष के सामर्थ्य से विवक्षित साध्यविशेष का जो निर्धारण किया जाता है, इसे विकलादेश समझना चाहिए ।

विकल्प—अभ्यन्तरे सुख्यहं दुःख्यहम् इत्यादि हर्ष-विषादपरिणामो विकल्पः । (पंचा. का. जय. वृ. ७) ।

'मैं सुखी हूं' अथवा 'मैं दुःखी हूं' इस प्रकार जो अन्तरङ्ग में हर्ष-विषाद रूप परिणाम होता है वह विकल्प कहलाता है ।

विकल्पधी— × × × तस्य विकल्पधीः निर्णय-रूपा बुद्धिराविर्भवति, तद्रूपतया दर्शनं परिणमत इत्यर्थः । (न्यायकु. १-५, पृ. ११६) ।

प्रसंगानुसार निर्णयरूप बुद्धि को विकल्पधी कहा जाता है । यह विकल्पबुद्धि दर्शन के पश्चात् होती है ।

विकृतिगोपुच्छा—समाणट्ठिदिगोवुच्छाणं समूहो विगिदिगोवुच्छा णाम । (धव. पु. १०, पृ. २५०) ।

समान स्थिति वाली गोपुच्छाओं के समूह को विकृतिगोपुच्छा कहते हैं ।

विक्रिया—१. अष्टगुणैश्वर्ययोगादेकानेकाणु-महच्छरीरविविधकरणं विक्रिया । (त. वा. २, ३६,

कम्। (कार्तिके. टी. ३४०)। ४. वास्तु वस्त्रादि-सामान्यम् ××× (लाटीसं. १००)।

१ वास्तु नाम घर का है। ४ वस्त्र आदि सामान्य को वास्तु कहा जाता है।

विकथा—१. विरुद्धा विनष्टा वा कथा विकथा, सा च स्त्रीकथादिलक्षणा। (आव. सू. अ. ४, हरि. वृ. पृ. ५८०)। २. विरुद्धाश्चारित्रं प्रति स्त्र्यादि-विषयाः कथाः विकथाः। (समवा. वृ. ४)। ३. विरुद्धा संयमबाधकत्वेन, कथा—वचनपद्धतिर्विकथा। (स्थाना. अभय. वृ. २८२)। ४. विकथा मार्ग-विरुद्धाः कथाः। (सा. ध. स्वो. टी. ४–२२)। ५. विलक्षणाः संयमविरुद्धाः कथा वाक्यप्रबन्धाः विकथाः। (गो. जी. म. प्र. ३४)। ६. संयमविरुद्धाः कथाः विकथाः। (गो. जी. जी. प्र. ३४)।

१ विरुद्ध अथवा घातक स्त्रीकथा व भोजनकथा आदि जैसी चर्चा को विकथा कहा जाता है। ५ जो चर्चा संयम की विघातक हो उसे विकथा कहते हैं।

विकथानुयोग— अर्थ - कामोपायप्रतिपादनपराणि कामन्दक-वात्स्यायनादीनि शास्त्राणि। (समवा. वृ. २९)।

धन और काम के उपायों की प्ररूपणा करने वाले कामन्दक एवं वात्स्यायन आदि शास्त्रों को विकथा-नुयोग कहा जाता है।

विकलचरण— विकलमपूर्णम् अणुव्रतादिरूपं चर-णम्। (रत्नक. टी. ३–४)।

अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतरूप चरण (चारित्र) को परिपूर्ण न होने के कारण विकलचरण या विकलचारित्र कहा जाता है।

विकलप्रत्यक्ष—१. दव्वे खेत्ते काले भावे जो परमिदो दु अवबोधो। बहुविहभेदपभिण्णो सो होदि य वियलपच्चक्खो॥ (जं. दी. प. १३–५०)। २. तत्र कतिपयविषयं (पारमार्थिकप्रत्यक्षं) विक-लम्। (न्यायदी. पृ. ३४)।

१ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जो परिमित ज्ञान होता है उसे विकलप्रत्यक्ष कहते हैं।

विकलादेश—१. विकलादेशो नयाधीनः। (स. सि. १–६; त. वा. ४, ४२, १३; धव. पु. ६, पृ. १६५ उद्.)। २. निरंशस्यापि गुणभेदादंशकल्पना विकलादेशः। स्वेन तत्त्वेनाप्रविभागस्यापि वस्तुनो विविक्तं गुणरूपं स्वरूपोपरञ्जकमपेक्ष्य प्रकल्पित-मंशभेदं कृत्वा अनेकात्मकैकत्वव्यवस्थायां नर-सिंह-सिंहत्ववत्समुदयात्मकमात्मरूपमभ्युपगम्य कालादि-भिरन्योन्यविषयानुप्रवेशरहितांशकल्पनं विकलादेशः, ×××। (त. वा. ४, ४२, १६)। ३. अस्त्येव नास्त्येव अवक्तव्य एव अस्तिनास्त्येव अस्त्यवक्तव्य एव नास्त्यवक्तव्य एव अस्तिनास्त्यवक्तव्य एव घट इति विकलादेशः। (जयध. १, पृ. २०३); अयं च विकलादेशो नयाधीनः नयायत्तः, नयवशादुत्पद्यत इति यावत्। (जयध. १, पृ. २०४)। ४. अभेद-वृत्त्यभेदोपचारयोरनाश्रयणे एकधर्मात्मिकवस्तुविषय-बोधजनकं वाक्यं विकलादेशः। (सप्तभं. पृ. २०)।

२ निरंश भी वस्तु के गुणभेद की अपेक्षा से अंशों की कल्पना जो की जाती है उसका नाम विकलादेश है। जिस प्रकार अनेक खांड, अनार और कपूर आदि के अनेक रसयुक्त पानक (पेय) द्रव्य का स्वाद लेकर अनेक रसस्वरूपता का निश्चय करते हुए अपनी शक्तिविशेष से 'यह भी है, यह भी है' इस प्रकार से विशेष निरूपण किया जाता है उसी प्रकार अनेकात्मक एक वस्तु का निश्चय करके कारणविशेष के सामर्थ्य से विवक्षित साध्यविशेष का जो निर्धारण किया जाता है, इसे विकलादेश समझना चाहिए।

विकल्प— अभ्यन्तरे सुख्यहं दुःख्यहम् इत्यादि हर्ष-विषादपरिणामो विकल्पः। (पंचा. का. जय. वृ. ७)।

'मैं सुखी हूं' अथवा 'मैं दुःखी हूं' इस प्रकार जो अन्तरङ्ग में हर्ष-विषाद रूप परिणाम होता है वह विकल्प कहलाता है।

विकल्पधी—××× तस्य विकल्पधीः निर्णय-रूपा बुद्धिराविर्भवति, तद्रूपतया दर्शनं परिणमत इत्यर्थः। (न्यायकु. १–५, पृ. ११६)।

प्रसंगानुसार निर्णयरूप बुद्धि को विकल्पधी कहा जाता है। यह विकल्पबुद्धि दर्शन के पश्चात् होती है।

विकृतिगोपुच्छा—समाणट्ठिदिगोवुच्छाणं समूहो विगिदिगोवुच्छा णाम। (धव. पु. १०, पृ. २५०)।

समान स्थिति वाली गोपुच्छाओं के समूह को विकृतिगोपुच्छा कहते हैं।

विक्रिया—१. अष्टगुणैश्वर्ययोगादेकानेकाणु-महच्छरीरविविधकरणं विक्रिया। (त. वा. २, ३६,

६); विविधकरणं विक्रिया। (त. वा. २, ४७, ४)। २. अणिमादिविक्रिया, तद्योगात् पुद्गलाश्च विक्रियेति भण्यन्ते। (धव. पु. १, पृ. २९२)। ३. विक्रिया विकारः, पूर्वाकारपरित्यागाऽजहद्वृत्तोत्तराकारगमनम्। ××× विविधा नानाप्रकारा क्रिया कार्यकारणं सा (विक्रिया)। (न्यायकु. २–६, पृ. ३६६)। ४. सतो भावस्यान्तरावाप्ति-र्विक्रिया। (आप्तमी. वसु. वृ. ३७)।

१ अणिमा-महिमादि आठ गुणों के सामर्थ्य से एक व अनेक तथा छोटा व बड़ा इत्यादि अनेक प्रकार के जो रूप ग्रहण किए जाते हैं, इसका नाम विक्रिया है।

विक्षेपणी कथा—१. ससमय-परसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम। (भ. आ. ६५६)। २. कहिऊण ससमयं तो कहेइ परसमयमह विवच्चासा। मिच्छा-सम्मावाए एमेव हवंति दो भेया॥ जा ससमयवज्जा खलु होइ कहा लोग-वेयसंजुत्ता। परसमयाणं च कहा एसा विक्खेवणी णाम॥ जा ससमएण पुव्वि अक्खाया तं छुभेज्ज परसमए। परसासणवक्खेवा परस्स समयं परिकहेइ॥ (दशवै. नि. १९६-९८)। ३. विक्खेवणी णाम परसमएण ससमयं दूसंती पच्छा दिगंतरसुद्धि करेंती ससमयं थावंती छद्दव्व-णवपयत्थे परूवेदि। ××× उक्तं च—××× विक्षेपणीं तत्त्वदिगन्तशुद्धिम्। (धव. पु. १, पृ. १०५ व १०६)। ४. या कथा स्वसमयं परसमयं वाश्रित्य प्रवृत्ता सा विक्षेपणी भण्यते—सर्वथा नित्यं सर्वथा क्षणिकम् एकमेवानेकमेव वा सदेव [असदेव] विज्ञानमात्रं वा शून्यमेवेत्यादिकं परसमयं पूर्वपक्षीकृत्य प्रत्यक्षानुमानेन आगमेन च विरोधं प्रदर्श्य कथंचिन्नित्यं कथंचिदनित्यं कथंचिदेकं कथंचिदनेकम् इत्यादिस्वसमयनिरूपणा च विक्षेपणी। (भ. आ. विजयो. ६५६)। ५. ××× विक्षेपणीं कुमतनिग्रहणीं यथार्हम्। (अन. ध. ७–८८)। ६. प्रमाण-नयात्मकयुक्तियुक्तहेतुवादबलेन सर्वथैकान्तादिपरसमयार्थनिराकरणरूपा विक्षेपणी कथा। (गो. जी. म. प्र. व जी प्र. ३५७)। ७. पंचत्थिकायकहणं वक्खाणिज्जइ सहावदो जत्थ। विक्खेवणी वि य कहा कहिज्जइ जत्थ भव्वाणं॥ पच्चक्खं च परोक्खं माणं दुविहं णया परे दुविहा। परसमयवादखेवो करिज्जई वित्थरा जत्थ॥ दंसण-णाण-चरित्तं धम्मो तित्थयरदेवदेवस्स। तम्हा पभावतेओ वीरियवम[र]णाणसुहआदि॥ (अंगप. १, ६१–६३, पृ. २६६)।

१ स्वमत और परमत के आश्रयसे जो चर्चा की जाती है उसका नाम विक्षेपणी कथा है। २ प्रथमतः स्वमत को कहकर पश्चात् जो परमत का कथन किया जाता है, इसके विपरीत प्रथमतः परमत को दिखला कर फिर अपने मत को जो प्रगट किया जाता है; इसी प्रकार मिथ्यावाद को पूर्व में कह कर फिर जो सम्यग्वाद को तथा इसके विपरीत पूर्व में सम्यग्वाद को कहकर फिर जो मिथ्यावाद का कथन किया जाता है, इस सबको विक्षेपणी कथा कहा जाता है। इस प्रकार उक्त कथा के चार भेद हो जाते हैं। स्वमत को छोड़कर जो लोक (भारत व रामायण आदि) और वेद (ऋग्वेद आदि) से संयुक्त सांख्य एवं बौद्ध आदि परसमयों की चर्चा की जाती है उसका नाम भी विक्षेपणी कथा है। स्वमत के द्वारा जो पूर्व में कथा की गई है उसका परसमय में दोषोद्भावन करते हुए क्षेपण करना चाहिए। अथवा परमत के द्वारा व्याक्षेप के होने पर—श्रोता के सन्मार्ग के अभिमुख होने पर—परमत का भी कथन किया जाता है। 'विक्षिप्यते अनया सन्मार्गात् कुमार्गे कुमार्गाद् वा सन्मार्गे श्रोता इति विक्षेपणी' अर्थात् जिसके आश्रय से श्रोता सन्मार्ग से कुमार्ग में अथवा कुमार्ग से सन्मार्ग में फेंका जाता है उसका नाम विक्षेपणी कथा है। इस निरुक्ति के अनुसार उसका 'विक्षेपणी कथा' यह सार्थक नाम है।

विग्रह—१. अपराधो विग्रहः। (नीतिवा. २८-४४, पृ. ३२४)। २. यदा यस्य विजिगीषोः कोऽप्यपराधं करोति तदा विग्रहः स्यात्। (नीतिवा. टी. २८, ४४)।

विजय की इच्छा रखने वाले का जब कोई अपराध करता है तब विग्रह होता है। सन्धि आदि षाड्गुण्य में यह दूसरा है।

विग्रहगति—१. विग्रहो देहः, विग्रहार्था गतिर्विग्रहगतिः। अथवा विरुद्धो ग्रहो विग्रहः व्याघातः, कर्मादानेऽपि नोकर्मपुद्गलादाननिरोध इत्यर्थः। विग्रहेण गतिः विग्रहगतिः। (स. सि. २–२५)। २. विग्रहो देहस्तदर्था गतिर्विग्रहगतिः। औदारिकादिशरीरनामोदयात्तन्निर्वृत्तिसमर्थान् विविधान्

कम्। (कार्तिके. टी. ३४०)। ४. वास्तु वस्त्रादि-सामान्यम् ××× (लाटीसं. १००)।

१ वास्तु नाम घर का है। ४ वस्त्र आदि सामान्य को वास्तु कहा जाता है।

विकथा—१. विरुद्धा विनष्टा वा कथा विकथा, सा च स्त्रीकथादिलक्षणा। (आव. सू. अ. ४, हरि. वृ. पृ. ५८०)। २. विरुद्धाश्चारित्रं प्रति स्त्र्यादि-विषयाः कथाः विकथाः। (समवा. वृ. ४)। ३. विरुद्धा संयमबाधकत्वेन, कथा—वचनपद्धतिर्विकथा। (स्थाना. अभय. वृ. २८२)। ४. विकथा मार्ग-विरुद्धाः कथाः। (सा. ध. स्वो. टी. ४–२२)। ५. विलक्षणाः संयमविरुद्धाः कथा वाक्यप्रबन्धाः विकथाः। (गो. जी. म. प्र. ३४)। ६. संयमविरु-द्धाः कथाः विकथाः। (गो. जी. जी. प्र. ३४)।

१ विरुद्ध अथवा घातक स्त्रीकथा व भोजनकथा आदि जैसी चर्चा को विकथा कहा जाता है। ५ जो चर्चा संयम की विघातक हो उसे विकथा कहते हैं।

विकथानुयोग — अर्थ - कामोपायप्रतिपादनपराणि कामन्दक-वात्स्यायनादीनि शास्त्राणि। (समवा. वृ. २९)।

धन और काम के उपायों की प्ररूपणा करने वाले कामन्दक एवं वात्स्यायन आदि शास्त्रों को विकथा-नुयोग कहा जाता है।

विकलचरण— विकलमपूर्णम् अणुव्रतादिरूपं चर-णम्। (रत्नक. टी. ३–४)।

अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतरूप चरण (चारित्र) को परिपूर्ण न होने के कारण विकलचरण या विकलचारित्र कहा जाता है।

विकलप्रत्यक्ष—१. दव्वे खेत्ते काले भावे जो परमिदो दु अववोधो। बहुविहभेदपभिण्णो सो होदि य वियलपच्चक्खो॥ (जं. दी. प. १३–५०)। २. तत्र कतिपयविषयं (पारमार्थिकप्रत्यक्षं) विक-लम्। (न्यायदी. पृ. ३४)।

१ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जो परिमित ज्ञान होता है उसे विकलप्रत्यक्ष कहते हैं।

विकलादेश—१. विकलादेशो नयाधीनः। (स. सि. १–६; त. वा. ४, ४२, १३; धव. पु. ६, पृ. १६५ उद्.)। २. निरंशस्यापि गुणभेदादंशकल्पना विकलादेशः। स्वेन तत्त्वेनाप्रविभागस्यापि वस्तुनो विविक्तं गुणरूपं स्वरूपोपरञ्जकमपेक्ष्य प्रकल्पित-मंशभेदं कृत्वा अनेकात्मकैकत्वव्यवस्थायां नर-सिंह-सिंहत्ववत्समुदयात्मकमात्मरूपमभ्युपगम्य कालादि-भिरन्योन्यविषयानुप्रवेशरहितांशकल्पनं विकलादेशः, ×××। (त. वा. ४, ४२, १६)। ३. अस्त्येव नास्त्येव अवक्तव्य एव अस्तिनास्त्येव अस्त्यवक्तव्य एव नास्त्यवक्तव्य एव अस्तिनास्त्यवक्तव्य एव घट इति विकलादेशः। (जयध. १, पृ. २०३); अयं च विकलादेशो नयाधीनः नयायत्तः, नयवशादुत्पद्यत इति यावत्। (जयध. १, पृ. २०४)। ४. अभेद-वृत्त्यभेदोपचारयोरनाश्रयणे एकधर्मात्मकवस्तुविषय-बोधजनकं वाक्यं विकलादेशः। (सप्तभं. पृ. २०)।

२ निरंश भी वस्तु के गुणभेद की अपेक्षा से अंशों की कल्पना जो की जाती है उसका नाम विकलादेश है। जिस प्रकार अनेक खांड, अनार और कपूर आदि के अनेक रसयुक्त पानक (पेय) द्रव्य का स्वाद लेकर अनेक रसस्वरूपता का निश्चय करते हुए अपनी शक्तिविशेष से 'यह भी है, यह भी है' इस प्रकार से विशेष निरूपण किया जाता है उसी प्रकार अनेकात्मक एक वस्तु का निश्चय करके कारणविशेष के सामर्थ्य से विवक्षित साध्यविशेष का जो निर्धारण किया जाता है, इसे विकलादेश समझना चाहिए।

विकल्प— अभ्यन्तरे सुख्यहं दुःख्यहम् इत्यादि हर्ष-विषादपरिणामो विकल्पः। (पंचा. का. जय. वृ. ७)।

'मैं सुखी हूं' अथवा 'मैं दुःखी हूं' इस प्रकार जो अन्तरङ्ग में हर्ष-विषाद रूप परिणाम होता है वह विकल्प कहलाता है।

विकल्पधी— ××× तस्य विकल्पधीः निर्णय-रूपा बुद्धिराविर्भवति, तद्रूपतया दर्शनं परिणमत इत्यर्थः। (न्यायकु. १–५, पृ. ११६)।

प्रसंगानुसार निर्णयरूप बुद्धि को विकल्पधी कहा जाता है। यह विकल्पबुद्धि दर्शन के पश्चात् होती है।

विकृतिगोपुच्छा—समाणट्ठिदिगोवुच्छाणं समूहो विगिदिगोवुच्छा णाम। (धव. पु. १०, पृ. २५०)।

समान स्थिति वाली गोपुच्छाओं के समूह को विकृतिगोपुच्छा कहते हैं।

विक्रिया—१. अष्टगुणैश्वर्ययोगादेकानेकाणु-महच्छरीरविविधकरणं विक्रिया। (त. वा. २, ३६,

६); विविधकरणं विक्रिया। (त. वा. २, ४७, ४)। २. अणिमादिविक्रिया, तद्योगात् पुद्गलाश्च विक्रियेति भण्यन्ते। (धव. पु. १, पृ. २९२)। ३. विक्रिया विकारः, पूर्वाकारपरित्यागाऽजहद्वृत्तोत्तराकारगमनम्। ××× विविधा नानाप्रकारा क्रिया कार्यकारणं सा (विक्रिया)। (न्यायकु. २–६, पृ. ३६६)। ४. सतो भावस्यान्तरावाप्तिर्विक्रिया। (आप्तमी. वसु. वृ. ३७)।

१ अणिमा-महिमादि आठ गुणों के सामर्थ्य से एक व अनेक तथा छोटा व बड़ा इत्यादि अनेक प्रकार के जो रूप ग्रहण किए जाते हैं, इसका नाम विक्रिया है।

विक्षेपणी कथा—१. ससमय-परसमयगदा कथा दु विक्खेवणी नाम। (भ. आ. ६५६)। २. कहिऊण ससमयं तो कहेइ परसमयमह विवच्चासा। मिच्छासम्माबाए एमेव हवंति दो भेया॥ जा ससमयवज्जा खलु होइ कहा लोग-वेयसंजुत्ता। परसमयाणं च कहा एसा विक्खेवणी णाम॥ जा ससमएण पुव्विं अक्खाया तं छुभेज्ज परसमए। परसासणवक्खेवा परस्स समयं परिकहेइ॥ (दशवै. नि. १९६-९८)। ३. विक्खेवणी णाम परसमएण ससमयं दूसंती पच्छा दिगंतरसुद्धिं करेंती ससमयं थावंती छद्दव्व-णवपयत्थे परूवेदि। ××× उक्तं च—××× विक्षेपणीं तत्त्वदिगन्तशुद्धिम्। (धव. पु. १, पृ. १०५ व १०६)। ४. या कथा स्वसमयं परसमयं चाश्रित्य प्रवृत्ता सा विक्षेपणी भण्यते—सर्वथा नित्यं सर्वथा क्षणिकम् एकमेवानेकमेव वा सदेव [असदेव] विज्ञानमात्रं वा शून्यमेवेत्यादिकं परसमयं पूर्वपक्षीकृत्य प्रत्यक्षानुमानेन आगमेन च विरोधं प्रदर्श्य कथंचिन्नित्यं कथंचिदनित्यं कथंचिदेकं कथंचिदनेकम् इत्यादिस्वसमयनिरूपणा च विक्षेपणी। (भ. आ. विजयो. ६५६)। ५. ××× विक्षेपणीं कुमतनिग्रहणीं यथार्हम्। (अन. ध. ७–८८)। ६. प्रमाण-नयात्मकयुक्तियुक्तहेतुवादवलेन सर्वथैकान्तादिपरसमयार्थनिराकरणरूपा विक्षेपणी कथा। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. ३५७)। ७. पंचत्थिकायकहणं वक्खाणिज्जइ सहावदो जत्थ। विक्खेवणी वि य कहा कहिज्जइ जत्थ भव्वाणं॥ पच्चक्खं च परोक्खं माणं दुविहं णया परे दुविहा। परसमयवादखेवो करिज्जई वित्थरा जत्थ॥ दंसण-णाण-चरित्तं धम्मो तित्थयरदेवदेवस्स। तम्हा पभावतेश्रो वीरियवम[र]णाण-सुहआदि॥ (अंगप. १, ६१–६३, पृ. २६६)।

१ स्वमत और परमत के आश्रयसे जो चर्चा की जाती है उसका नाम विक्षेपणी कथा है। २ प्रथमतः स्वमत को कहकर पश्चात् जो परमत का कथन किया जाता है, इसके विपरीत प्रथमतः परमत को दिखला कर फिर अपने मत को जो प्रगट किया जाता है; इसी प्रकार मिथ्यावाद को पूर्व में कह कर फिर जो सम्यग्वाद को तथा इसके विपरीत पूर्व में सम्यग्वाद को कहकर फिर जो मिथ्यावाद का कथन किया जाता है, इस सबको विक्षेपणी कथा कहा जाता है। इस प्रकार उक्त कथा के चार भेद हो जाते हैं। स्वमत को छोड़कर जो लोक (भारत व रामायण आदि) और वेद (ऋग्वेद आदि) से संयुक्त सांख्य एवं बौद्ध आदि परसमयों की चर्चा की जाती है उसका नाम भी विक्षेपणी कथा है। स्वमत के द्वारा जो पूर्व में कथा की गई है उसका परसमय में दोषोद्भावन करते हुए क्षेपण करना चाहिए। अथवा परमत के द्वारा व्याक्षेप के होने पर—श्रोता के सन्मार्ग के अभिमुख होने पर—परमत का भी कथन किया जाता है। 'विक्षिप्यते अनया सन्मार्गात् कुमार्गे कुमार्गाद् वा सन्मार्गे श्रोता इति विक्षेपणी' अर्थात् जिसके आश्रय से श्रोता सन्मार्ग से कुमार्ग में अथवा कुमार्ग से सन्मार्ग में फेंका जाता है उसका नाम विक्षेपणी कथा है। इस निरुक्ति के अनुसार उसका 'विक्षेपणी कथा' यह सार्थक नाम है।

विग्रह—१. अपराधो विग्रहः। (नीतिवा. २८-४४, पृ. ३२४)। २. यदा यस्य विजिगीषोः कोऽप्यपराधं करोति तदा विग्रहः स्यात्। (नीतिवा. टी. २८, ४४)।

विजय की इच्छा रखने वाले का जब कोई अपराध करता है तब विग्रह होता है। सन्धि आदि षाड्गुण्य में यह दूसरा है।

विग्रहगति—१. विग्रहो देहः, विग्रहार्था गतिर्विग्रहगतिः। अथवा विरुद्धो ग्रहो विग्रहः व्याघातः, कर्मादानेऽपि नोकर्मपुद्गलादाननिरोध इत्यर्थः। विग्रहेण गतिः विग्रहगतिः। (स. सि. २–२५)। २. विग्रहो देहस्तदर्था गतिर्विग्रहगतिः। औदारिकादिशरीरनामोदयात्तन्निर्वृत्तिसमर्थान् विविधान्

४. वितर्कः श्रुतं द्वादशाङ्गम्। (धव. पु. १३, पृ. ७७)। ५. वितर्को द्वादशांगं तु श्रुतज्ञानमनाविलम्। (ह. पु. ५६-५७)। ६. ××× वितर्कः श्रुतमुच्यते। (म. पु. २१-१७२; ज्ञाना. ४२-१५, पृ. ४३३)। ७. श्रुतं यतो वितर्कः स्यात् ×× ×। (त. सा. ७-४६)। ८. वितर्को द्वादशांगश्रुतज्ञानम्। (चा. सा. पृ. ६१)। ९. स्वशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं भावश्रुतं तद्वाचकमन्तर्जल्पवचनं वा वितर्को भण्यते। (बृ. द्रव्यसं. टी. ४८)। १०. विशेषेण विशिष्टं वा तर्कणं सम्यग्ग्रहणं वितर्कः श्रुतज्ञानम्। (त. वृत्ति श्रुत. ९-४३)।

३ विशेष रूप से जो तर्कणारूप होता है उस श्रुतज्ञान को वितर्क कहा जाता है।

वितस्ति—१. ××× बेपादेहिं विहत्थिणामा य। (ति. प. १-११४)। २.द्वादशांगुलो वितस्तिः। (त. वा. ३, ३८, ६, पृ. २०८)। ३. ××× पादद्वयं पुनः। वितस्ति ×××॥ (ह. पु. ७-४५)। ४. ××× विहत्थि दुवाई। (म. पु. पुष्प. २-७, पृ. २४)। ५.×××बेपादेहि य तहा विहत्थी दु। (जं. दी. प. १३-३२)। ६. द्वाभ्यां पदाभ्यां वितस्तिः। (त. वृत्ति श्रुत. ३, ३८)।

१ दो पादों (१२ अंगुलों) का एक वितस्ति होता है।

विदारणक्रिया—१. पराचरितसावद्यादिप्रकाशनं विदारणक्रिया। (स. सि. ६-५; त. वा. ६, ५, १०)। २. पराचरितसावद्यक्रियादेस्तु प्रकाशनम्। विदारणक्रिया सान्या धीविदारणकारिणी॥ (ह. पु. ५८-७६)। ३. पराचरितसावद्यप्रकाशनमिह स्फुटम्। विदारणक्रिया त्वन्या स्यादन्यत्र विशुद्धितः॥ (त. श्लो. ६, ५, १६)। ४. परविहितगुप्तपापप्रकाशनं विदारणक्रियाः। (त. वृत्ति श्रुत. ६-५)।

१ दूसरे के द्वारा आचरित पाप आदि के प्रकाशित करने का नाम विदारणक्रिया है।

विदिशा—सगट्ठाणादो कण्णाग़ारेण ट्ठिदखेत्तं विदिसा। (धव. पु. ४, पृ. २२६)।

अपने स्थान से कर्ण के आकार से स्थित क्षेत्र का नाम विदिशा है।

विदूषक—सर्वेषां प्रहसनपात्रं विदूषकः। (नीतिवा. १४-२१, पृ. १७३)।

जो सबकी हंसी का पात्र—सबको हंसाने वाला—होता है उसे विदूषक कहा जाता है।

विदेह—१. विदेहयोगाज्जनपदे विदेहव्यपदेशः। विगतदेहाः विदेहाः। के पुनस्ते? येषां देहो नास्ति, कर्मबन्धसन्तानोच्छेदात्। ये वा सत्यपि देहे विगतशरीरसंस्कारास्ते विदेहास्तद्योगाज्जनपदे विदेहव्यपदेशः। (त. वा. ३, १०, ११)। २. अथ देहममत्वमूलभूतमिथ्यात्व-रागादिविभावरहिते केवलज्ञानदर्शन-सुखाद्यनन्तगुणसहिते च निजपरमात्मद्रव्ये यथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रभावनया कृत्वा विगतदेहा देहरहिताः सन्तो मुनयः प्राचुर्येण यत्र मोक्षं गच्छन्ति स विदेहो भण्यते। (बृ. द्रव्यसं. टी. ३५)। ३. विगतो विनष्टो देहः शरीरं मुनीनां येषु ते विदेहाः, प्रायेण मुक्तिपदप्राप्तिहेतुत्वात्। (त. वृत्ति श्रुत. ३-३१)।

१ जो कर्मबंध की परम्परा से रहित हो जाने के कारण शरीर से रहित हो जाते हैं उन्हें विदेह कहा जाता है, अथवा जो शरीर के रहते हुए भी शरीरसंस्कार से रहित होते हैं उनको विदेह कहते हैं। उक्त विदेह जनों के सम्बन्ध से जनपद (क्षेत्र) को विदेह जनपद या विदेह क्षेत्र कहा जाता है।

विद्या—१. इत्थी विज्जाऽभिहिआ ××× । विज्जा ससाहण वा ×××॥ (विशेषा. भा. ३, ३५८६, पृ. ७११)। २. ××× विद्या शास्त्रोपजीवने॥ (म. पु. १६-१८१)। ३ याः समधिगम्यात्मनो हितमे-[म-]वैत्यहितं चापोहति ता विद्याः। (नीतिवा. ५, ५४, पृ. ५६)। ४. ससाधना विद्या। यदि वा यस्याधिष्ठात्री देवता सा विद्या। (व्यव. भा. मलय. वृ. तृ. वि. पृ. ११७)। ५. यत्र मंत्रदेवता स्त्री विद्या, ××× अथवा साधनसहिता विद्या। (आव. नि. मलय. वृ. ९३१, पृ. ५१३)। ६. मंत्र-जप-होमादिसाध्या स्त्रीदेवताधिष्ठाना वा विद्या। (योगशा. स्वो. विव. १-३८, पृ. १३६)। ७. विद्या साधितसिद्धा स्यात् ×× ×। (अन. ध. स्वो. टी. ५-२५ उद्.)।

१ जिस मंत्र की अधिष्ठात्री स्त्री देवता हुआ करती है, अथवा जो जप आदि अनुष्ठान के द्वारा सिद्ध

'आभरण और वस्त्र आदि मेरे हैं' इस प्रकार का व्यवहार।

विजात्यसद्भूतव्यवहारनय — विजात्यसद्भूत-व्यवहारो यथा मूर्तं मतिज्ञानं यतो मूर्तद्रव्येण जनितम्। (आलापप. पृ. १३६)।

मूर्त द्रव्य से उत्पन्न मतिज्ञान को मूर्त कहना, यह विजाति-असद्भूतव्यवहारनय का लक्षण है।

विजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार नय—विजात्युपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा वस्त्राभरण-हेम-रत्नादि मम। (आलापप वृ. १३६)।

विजातीय (अचेतन) वस्त्र, आभरण, सुवर्ण और रत्न आदि को 'ये मेरे हैं' ऐसा मानना, इसे विजाति उपचरित असद्भूत व्यवहार नय कहा जाता है।

विजिगीषु—राजात्म-दैव-द्रव्य-प्रकृतिसंपन्नो नय-विक्रमयोरधिष्ठानं विजिगीषुः। (नीतिवा. २६-२३, पृ. ३१८)।

राज्याभिषेक, पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म, कोष और अमात्य आदि रूप प्रकृति इन चार से युक्त होकर जो नीति और पराक्रम का स्थान होता है उसे विजिगीषु कहा जाता है।

विजिगीषुकथा—वादि-प्रतिवादिनोः स्वमतस्थापनार्थं जय-पराजयपर्यन्तं परस्परं प्रवर्तमानो वाग्व्यापारो विजिगीषुकथा॥ (न्यायदी. पृ. ७६)।

वादी और प्रतिवादी के मध्य में अपने-अपने मत को प्रतिष्ठित करने के लिए जय या पराजय पर्यन्त जो वचन का व्यवहार (वाद-विवाद) होता है उसे विजिगीषुकथा कहते हैं।

विज्ञप्ति—विशेषरूपेण ज्ञायते तर्कितोऽर्थोऽनया इति विज्ञप्तिः। (धव. पु. १३, पृ. २४३)।

जिसके द्वारा तर्कसंगत पदार्थ विशेष रूप से जाना जाता है उसे विज्ञप्ति कहते हैं। यह एक अवाय मतिज्ञान का पर्यायनाम है।

विज्ञान—१. मोह-सन्देह-विपर्यासव्युदासेन ज्ञानं विज्ञानम्। (नीतिवा. ५-४६, पृ. ५६)। २. विविधं स्व-परसम्बन्धि ज्ञानं भासनं यस्य यस्मिन् वा तद्विज्ञानम्। (न्यायकु. ३, पृ. २६)। ३. विशेषस्य जात्याद्याकारस्य ज्ञानमवबोधनं निश्चयो यस्य तद्विज्ञानम्, विशेषेण वा संशयादिव्यवच्छेदेन ज्ञानमवबोधनं निश्चयो यस्य तद्विज्ञानमिति। (लघीय. अभय. वृ. ३)।

१ अनध्यवसाय, सन्देह और विपरीतता से रहित जो ज्ञान होता है उसे विज्ञान कहा जाता है। २ जिस ज्ञान में स्व-परविषयक विविध प्रकार का प्रतिभास होता है उसका नाम विज्ञान है।

विट—व्यसनिनां प्रेषणाज्जीवी विटः। (नीतिवा. १४-२०, पृ. १७३)।

जो व्यसनी जनों को भेजकर आजीविका चलाता है उसे विट कहा जाता है।

विटत्व—१. विटत्वं भण्डिमाप्रधानकाय-वाक्प्रयोगः। (रत्नक. टी. ३-१४)। २. विटत्वं भण्डवचनादिकम् अयोग्यवचनम्। (कार्तिके. टी. ३३७-३८)।

१ अश्लील भाषण करना व शरीर की कुचेष्टा करना, इसका नाम विटत्व है। यह ब्रह्मचर्याणुव्रत का एक अतिचार है।

विडौषधिऋद्धि—१. मुत्त-पुरीसो वि पुढं दारुण-बहुजीववायसंहरणा। जीए महामुणीणं विप्पोसहि-णाम सा रिद्धी॥ (ति. प. ४-१०७२)। २. विडुच्चार औषधिर्येषां ते विडौषधिप्राप्ताः। (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०३)। ३. विडुच्चारः शुक्र-मूत्रं चौषधि प्राप्तो येषां ते विडौषधिप्राप्ताः। (चा. सा. पृ. ६६)।

१ जिस ऋद्धि के प्रभाव से महामुनियों का मूत्र और मल भी जीवों के बहुत से रोगों को नष्ट करने वाले होते हैं उसे विडौषधि या विप्रौषधि ऋद्धि कहते हैं।

वितत—१. तंत्रीकृतवीणा-सुघोषादिसमुद्भवो विततः। (स. सि. ५-२४; त. वा. ५, २४, ५; त. श्लो. ५-२४)। २. वितदो णाम भेरी-मुदिंग-पटहादिसमुब्भूदो सद्दो। (धव. पु. १३, पृ. २२१)। ३. विततं पटहादिकम्। (पंचा. का. जय. वृ. ७६)। ४. विततं वीणादि। (रायप. मलय. वृ. पृ. ६६)। ५. तंत्रीविहितवीणाद्युद्भवः सुघोषैः किन्नरैश्च उल्लपित इत्यादिकं विततः। (त. वृत्ति श्रुत. ५-२४)।

१ तंत्रीकृत वीणा और सुघोषा आदि से जो शब्द उत्पन्न होता है उसे वितत कहा जाता है।

वितर्क—१. वितर्कः श्रुतम्। (त. सू. ६-४३)। २. जम्हा सुदं वितक्कं ××× । (भ. आ. १८८१)। ३. विशेषेण तर्कणमूहनं वितर्कः, श्रुतज्ञानमित्यर्थः। (स. सि. ६-४३; त. वा. ६-४३)।

४. वितर्कः श्रुतं द्वादशाङ्गम्। (धव. पु. १३, पृ. ७७)। ५. वितर्को द्वादशांगं तु श्रुतज्ञानमनाविलम्। (ह. पु. ५६–५७)। ६. ××× वितर्कः श्रुतमुच्यते। (म. पु. २१–१७२; ज्ञाना. ४२–१५, पृ. ४३३)। ७. श्रुतं यतो वितर्कः स्यात् ×× ×। (त. सा. ७–४६)। ८. वितर्को द्वादशांगश्रुतज्ञानम्। (चा. सा. पृ. ९१)। ९. स्वशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं भावश्रुतं तद्वाचकमन्तर्जल्पवचनं वा वितर्को भण्यते। (बृ. द्रव्यसं. टी. ४८)। १०. विशेषेण विशिष्टं वा तर्कणं सम्यग्ग्रहणं वितर्कः श्रुतज्ञानम्। (त. वृत्ति श्रुत. ९–४३)।

३ विशेष रूप से जो तर्कणारूप होता है उस श्रुतज्ञान को वितर्क कहा जाता है।

वितस्ति—१. ××× वेवादेहिं विहत्थिणामा य। (ति. प. १–११४)। २.द्वादशांगुलो वितस्तिः। (त. वा. ३, ३८, ६, पृ. २०८)। ३. ××× पादद्वयं पुनः। वितस्ति ××× ॥ (ह. पु. ७–४५)। ४. ××× विहत्थि दुवाई। (म. पु. पुष्प. २–७, पृ. २४)। ५.××× वेपादेहि य तहा विहत्थी दु। (जं. दी. प. १३–३२)। ६. द्वाभ्यां पदाभ्यां वितस्तिः। (त. वृत्ति श्रुत. ३, ३८)।

१ दो पादों (१२ अंगुलों) का एक वितस्ति होता है।

विदारणक्रिया—१. पराचरितसावद्यादिप्रकाशनं विदारणक्रिया। (स. सि. ६–५; त. वा. ६, ५, १०)। २. पराचरितसावद्यक्रियादेस्तु प्रकाशनम्। विदारणक्रिया साऽन्या धीविदारणकारिणी॥ (ह. पु. ५८–७६)। ३. पराचरितसावद्यप्रकाशनमिह स्फुटम्। विदारणक्रिया त्वन्या स्यादन्यत्र विशुद्धितः॥ (त. श्लो. ६, ५, १९)। ४. परविहितगुप्तपापप्रकाशनं विदारणक्रियाः। (त. वृत्ति श्रुत. ६–५)।

१ दूसरे के द्वारा आचरित पाप आदि के प्रकाशित करने का नाम विदारणक्रिया है।

विदिशा—सगट्ठाणादो कण्णायारेण ट्ठिदखेत्तं विदिसा। (धव. पु. ४, पृ. २२६)।

अपने स्थान से कर्ण के आकार से स्थित क्षेत्र का नाम विदिशा है।

विदूषक—सर्वेषां प्रहसनपात्रं विदूषकः। (नीतिवा. १४–२१, पृ. १७३)।

जो सबकी हंसी का पात्र—सबको हंसाने वाला—होता है उसे विदूषक कहा जाता है।

विदेह—१. विदेहयोगाज्जनपदे विदेहव्यपदेशः। विगतदेहाः विदेहाः। के पुनस्ते ? येषां देहो नास्ति, कर्मबन्धसन्तानोच्छेदात्। ये वा सत्यपि देहे विगतशरीरसंस्कारास्ते विदेहास्तद्योगाज्जनपदे विदेहव्यपदेशः। (त. वा. ३, १०, ११)। २. अथ देहममत्वमूलभूतमिथ्यात्व-रागादिविभावरहिते केवलज्ञानदर्शन-सुखाद्यनन्तगुणसहिते च निजपरमात्मद्रव्ये यथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रभावनया कृत्वा विगतदेहा देहरहिताः सन्तो मुनयः प्राचुर्येण यत्र मोक्षं गच्छन्ति स विदेहो भण्यते। (बृ. द्रव्यसं. टी. ३५)। ३. विगतो विनष्टो देहः शरीरं मुनीनां येषु ते विदेहाः, प्रायेण मुक्तिपदप्राप्तिहेतुत्वात्। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३१)।

१ जो कर्मबंध की परम्परा से रहित हो जाने के कारण शरीर से रहित हो जाते हैं उन्हें विदेह कहा जाता है, अथवा जो शरीर के रहते हुए भी शरीरसंस्कार से रहित होते हैं उनको विदेह कहते हैं। उक्त विदेह जनों के सम्बन्ध से जनपद (क्षेत्र) को विदेह जनपद या विदेह क्षेत्र कहा जाता है।

विद्या—१. इत्थी विज्जाऽभिहिआ ×××। विज्जा ससाहण वा ××× ॥ (विशेषा. भा. ३, ३५८९, पृ. ७११)। २. ××× विद्या शास्त्रोपजीवने॥ (म. पु. १६–१८१)। ३ याः समधिगम्यात्मनो हितमे-[म-]वैत्यहितं चापोहति ता विद्याः। (नीतिवा. ५, ५४, पृ. ५९)। ४.ससाधना विद्या। यदि वा यस्याधिष्ठात्री देवता सा विद्या। (व्यव. भा. मलय. वृ. तृ. वि. पृ. ११७)। ५. यत्र मंत्रदेवता स्त्री विद्या, ××× अथवा साधनसहिता विद्या। (आव. नि. मलय. वृ. ९३१, पृ. ५१३)। ६. मंत्र-जप-होमादिसाध्या स्त्रीदेवताधिष्ठाना वा विद्या। (योगशा. स्वो. विव. १–३८, पृ. १३६)। ७. विद्या साधितसिद्धा स्यात् ×× ×। (अन. ध. स्वो. टी. ५–२५ उद्.)।

१ जिस मंत्र की अधिष्ठात्री स्त्री देवता हुआ करती है, अथवा जो जप आदि अनुष्ठान के द्वारा सिद्ध

की जाती है उसे विद्या कहते हैं। २ शास्त्र के द्वारा —पठन-पाठन आदि करके—जो आजीविका की जाती है उसे विद्यावृत्ति कहा जाता है। ३ जिनको जानकर प्राणी अपने हित को समझता है और अहित से दूर रहता है उन्हें विद्या कहा जाता है।

विद्याकर्मार्य— १. आलेख्य-गणितादिद्विसप्तति-कलावदाता विद्याकर्मार्याः चतुःषष्टिगुणसम्पन्नाश्च। (त. वा. ३, ३६, २)। २. गणितादिद्विसप्तति-कलाप्रवीणा विद्याकर्मार्याः। (त. वृत्ति श्रुत. ३, ३६)।

१ जो लेखन व गणित आदि ७२ कलाओं में निपुण व ६४ गुणों से सम्पन्न होते हैं वे विद्याकर्मार्य कहलाते हैं।

विद्याचारण—ये पुनर्विद्यावशतः समुत्पन्नगमनागमनलब्धयस्ते विद्याचारणाः। (आव. नि. मलय. वृ. ६६, पृ. ७८; प्रज्ञाप. मलय. वृ. २७३)।

जिनके विद्या के वश से जाने आने की लब्धि (ऋद्धि या शक्ति) उत्पन्न हो जाती है वे विद्याचारण कहलाते हैं।

विद्यादोष—१. विज्जा साधितसिद्धा तिस्से आसापदाणकरणेहिं। तस्से माहप्पेण य विज्जादोसो दु उप्पादो॥ (मूला. ६–३८)। २. विद्यागः सिद्धविद्यादिप्रभावादिप्रदर्शनम्॥ (आचा. सा. ८, ४३)। ३. विद्या मंत्रेण चूर्णप्रयोगेण वा गृहिणं वशे स्थापयित्वा लब्धा (वसतिः)। (भ. आ. विजयो. २३०)। ४. ××× विद्यामाहात्म्यदानतः। विद्या ××× मलोऽश्नतः॥ (अन. ध. ५–२५)। ५. सिद्धविद्या-साधितविद्यादीनां प्रदर्शनं विद्योपजीवनम्। (भावप्रा. टी. ९९)।

१ विद्या के माहात्म्य को प्रगट करके व उसके देने की आशा देकर जो आहार प्राप्त किया जाता है वह विद्या नामक उत्पादनदोष से दूषित होता है। ३ मंत्र अथवा चूर्णप्रयोग के द्वारा गृहस्थ को अपने अनुकूल करके जो वसति प्राप्त की जाती है वह विद्या नामक उत्पादनदोष से दूषित होती है।

विद्याधर—१. कुले विद्याधरा जाता विद्याधरणयोगतः। (पद्मपु. ६–२११)। २. तिविहाओ विज्जाओ जादि-कुल-तवविज्जाभेएण। ××× एवमेदाओ तिविहाओ विज्जाओ जेसि होंति ते विज्जाहरा। तेण वेअड्ढणिवासिमणुआ वि विज्जाहरा, सयलविज्जाओ छंडिऊण गहिदसंजमविज्जाहरा वि होंति विज्जाहरा, विज्जाविसयविण्णाणस्स तत्थुवलंभादो। पढिदविज्जाणुपवादा वि विज्जाहरा, तेसि पि विज्जाविसयविण्णाणुवलंभादो। (धव. पु. ९, पृ. ७७–७८)।

१ कुल में—पिता के वंश में—विद्याओं के धारण करने के सम्बन्ध से विद्याधर कहे जाते हैं। २ विद्याएं तीन प्रकार की होती हैं—जातिविद्या, कुलविद्या और तपविद्या। ये तीन प्रकार की विद्याएं जिनके हुआ करती हैं वे विद्याधर कहलाते हैं। विजयार्ध पर्वत पर रहने वाले मनुष्य भी विद्याधर (जन्मजात) होते हैं। समस्त विद्याओं को छोड़कर संयम के धारक भी विद्याधर होते हैं, क्योंकि वहां भी उनके विद्याविषयक ज्ञान पाया जाता है। जिन्होंने विद्यानुवाद पूर्व को पढ़ा है वे भी विद्याधर कहलाते हैं क्योंकि उनके भी विद्याविषयक ज्ञान पाया जाता है।

विद्याधर जिन—सिद्धविज्जाणं पेसणं जे ण इच्छंति, केवलं धरंति चेव अण्णाणणिवित्तीए, ते विज्जाहरजिणा णाम। (धव. पु. ९, पृ. ७८)।

जो सिद्ध की हुई विद्याओं के प्रेषण—अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिए कहीं भेजने—की इच्छा नहीं किया करते हैं या उन्हें किसी प्रकार का आदेश नहीं दिया करते हैं केवल उनके अज्ञान को दूर करने के लिए धारण ही किया करते हैं, वे विद्याधर जिन कहलाते हैं।

विद्याधर श्रमण—अन्येऽधीतदशपूर्वा रोहिणीप्रज्ञप्त्यादिमहाविद्यादिभिरङ्गुष्ठ-प्रसेनिकाभिरल्पविद्यादिभिश्चोपनतानां भूयसीनामृद्धीनाम् अवशगा विद्यावेगधारणात् विद्याधरश्रमणाः। (योगशा. स्वो. विव. १–८, पृ. ३८)।

जो साधु दस पूर्वों को पढ़कर रोहिणी व प्रज्ञप्ति आदि महाविद्याओं से तथा अंगुष्ठप्रसेनिका आदि क्षुद्र विद्याओं से प्राप्त बहुत सी ऋद्धियों के वशीभूत नहीं होते हैं वे विद्याधर श्रमण कहलाते हैं।

विद्यानुप्रवाद—१. समस्ता विद्या अष्टौ महानिमित्तानि तद्विषयो रज्जुराशिविधिः क्षेत्रं श्रेणी लोकप्रतिष्ठा संस्थानं समुद्घातश्च यत्र कथ्यते तद्विद्यानुवादम्। (धव. 'विद्यानुप्रवादम्')। (त. वा. १,

२०, १२, पृ. ७६; धव. पु. ६, पृ. २२२–२३)। २. विज्जाणुवादंणाम पुव्वं पण्णारसण्हं वत्थूणं १५ तिण्णिसयपाहुडाणं ३०० एगकोडि-दसलक्खपदेहि ११०००००० अंगुष्ठप्रसेनादीनां अल्पविद्यानां सप्तशतानि रोहिण्यादीनां महाविद्यानां पञ्चशतानि अन्तरिक्ष-भौमाङ्ग-स्वर-स्वप्न-लक्षण-व्यञ्जन-छिन्नान्यष्टौ महानिमित्तानि च कथयति। (धव. पु. १, पृ. १२१)। ३. विज्जाणुपवादो अंगुट्ठपसेणादिसत्तसयमंते रोहिणिआदिपंचसयमहाविज्जाओ च तासिं साहणविहाणं सिद्धाणं फलं च वण्णेदि। (जयध. १, पृ. १४४)। ४. विद्यानुप्रवादं दशमं तत्रानेके विद्यातिशया वर्णितास्तत्परिमाणमेका पदकोटी दश च पदशतसहस्राणीति। (स्थानां. अभय. वृ. १४७)। ५. विद्यानुयोगो रोहिणीप्रभृतिविद्यासाधनाभिधायकानि शास्त्राणि। (समवा. अभय. वृ. २६)। ६. दशलक्षैककोटिपदं क्षुद्रविद्यासप्तशतीं महाविद्यापञ्चशतीम् अष्टांगनिमित्तानि च प्ररूपयत् पृथुविद्यानुप्रवादम्। (श्रुत. भ. टी. १२, पृ. १७६)। ७. पंचशतमहाविद्याः सप्तशतक्षुद्रविद्या अष्टांगमहानिमित्तानिनिरूपयत् दशलक्षाधिककोटिपदप्रमाणं विद्यानुप्रवादपूर्वम्। (त. वृत्ति श्रुत. १–२०)। ८. विज्जाणुवादपुव्वं पयाणि इगिकोडि होंति दसलक्खा। अंगुट्ठपसेणादी लहुविज्जा सत्तसयमेत्ता॥ पंचसया महविज्जा रोहिणीपमुहा पकासये चावि। तेसिं सरूवसत्ति साहणपूयं च मंतादिं॥ सिद्धाणं फललाहे भोम-गयणंगसद्दछिण्णाणि। सुमिणं लक्खणविंजण अट्ठ णिमित्ताणि जं कहइ॥ (अंगप. २, १०१–३, पृ. २६६)।

१ जिस श्रुत में समस्त विद्याओं, आठ महानिमित्तों, उनके विषय, राजुराशि के विधान, क्षेत्र, श्रेणी, लोकस्थिति, संस्थान और समुद्‌घात का कथन किया जाता है उसे विद्यानुप्रवाद पूर्व कहते हैं। विद्यानुयोग और विद्यानुवाद उसके नामान्तर हैं। ५ जिन शास्त्रों में रोहिणी आदि विद्याओं के साधने का कथन किया जाता है उनका नाम विद्यानुयोग है।

विद्यानुयोग—देखो विद्यानुप्रवाद।

विद्यानुवाद—देखो विद्यानुप्रवाद।

विद्यापिण्ड—विद्यां (मंत्रं चूर्णं योगं च) भिक्षार्थं प्रयुञ्जानस्य चत्वारो विद्यादिपिण्डाः। (योगशा. स्वो. विव. १–३८)।

विद्या का प्रयोग करके जो भोजन प्राप्त किया जाता है उसे विद्यापिण्ड कहा जाता है। यह साधु के लिए आहारविषयक एक उत्पादनदोष है।

विद्यावान्—विद्याः प्रज्ञप्त्यादयः शासनदेवतास्ताः साहायके [सहायकाः] यस्य स विद्यावान्। (योगशा. स्वो. विव. २–१६)।

शासनदेवता स्वरूप प्रज्ञप्ति आदि विद्याएं जिसको सहायक होती हैं वह विद्यावान् कहलाता है।

विद्युत्—रत्त-धवल-सामवण्णाओ तेजब्भहियाओ कुवियभुजंगोव्व चलंतसरीरा मेहेसु उवलब्भमाणाओ विज्जूओ णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३५)।

क्रोध को प्राप्त होते हुए सर्प के समान जो मेघों के मध्य में लाल, धवल व श्याम (काले) रंग वाली तेज से संयुक्त चंचलप्रभा उपलब्ध होती है उसे विद्युत् (बिजली) कहा जाता है।

विद्यासिद्ध—देखो विद्या। १. विज्जाण चक्कवट्टी विज्जासिद्धो स जस्स वेगावि। सिज्झिज्ज महाविज्जा विज्जासिद्धोऽज्जखउडुव्व॥ (आव. नि. ९३२, पृ. ५१३)। २. विद्यानां सर्वासां चक्रवर्ती अधिपतिर्विद्यासिद्धो विद्यासु सिद्धः विद्यासिद्ध इति व्युत्पत्तेः, यस्य वा एकापि महाविद्यामहापुरुषदत्तादि सिद्धेत् स विद्यासिद्धः, सातिशयत्वात्। (आव. नि. मलय. वृ. ९३२)।

विद्याओं का जो चक्रवर्ती—अधिपति—हो उसे विद्यासिद्ध कहा जाता है। अथवा जिसे अम्बकूष्माण्डी व महारोहिणी आदि कोई एक ही विद्या सिद्ध है उसे विद्यासिद्ध कहते हैं। जैसे आर्य खपुटश्रमण आदि।

विद्रावण—१. अंगच्छेदनादिव्यापारः विद्दावण। (धव. पु. १३, पृ. ४६)। २. प्राणिनोऽङ्गच्छेदादिविद्रावणमभिधीयते। (भावप्रा. टी. ९९)।

१ प्राणियों के नासिका आदि अवयवों के छेदने आदि रूप प्रवृत्ति को विद्रावण कहा जाता है।

विधाता—व्यवस्थानां विधाता त्वं भविता विविधात्मनाम्। भारते यत्ततोऽन्वर्थं विधातेत्यभिधीयते॥ (ह. पु. ८–२०८)।

जो अनेक प्रकार की व्यवस्थाओं को करता है उसे विधाता कहा जाता है। प्रकृत में भगवान् आदिनाथ ने कर्मभूमि के प्रारम्भ में असि, मसि और कृषि आदि से अनभिज्ञ जनता के लिये उक्त क्रियाओं का

समझाकर उनमें लगाया था, अतः यहाँ स्तुति के रूप में उन्हें विधाता कहा गया है।

विधि—सुपात्रप्रतिग्रहणं समुन्नतासनस्थापनं तच्चरणप्रक्षालनं तत्पादपूजनं तन्नमस्कारकरणं निजमनःशुद्धिविधानं वचननैर्मल्यं कायशुद्धिर्भक्त-पानशुद्धिश्चेति नवविधपुण्योपार्जनं विधिरुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७-३६)।

उत्तम पात्र को ग्रहण करना, ऊंचे आसन पर बैठाना, पाद प्रक्षालन करना, पाद पूजा करना, नमस्कार करना, अपने मन की शुद्धि, वचन की शुद्धि, काय की शुद्धि और भोजन-पान की शुद्धि, यह सब नवधाभक्ति रूप विधि कहलाती है। मुनि को आहार इस नवधा भक्ति के साथ दिया जाता है।

विध्यातसंक्रम—१. तेण (गुणसंकमेण) परं अंगुलस्स असंखेज्जदिभागपडिभागिओ विज्झादसंकमो होदि। (धव. पु. ६, पृ. २३६); जासिं पयडीणं जत्थ बंधसंभवो णियमेण णत्थि तत्थ तासिं विज्झादसंकमो। (धव. पु. १६, पृ. ४०६)। २. विध्यातविशुद्धिकस्य जीवस्य स्थित्यनुभागकाण्डक-गुणश्रेण्यादिपरिणामेष्वतीतेषु प्रवर्तनाद् विध्यातसंक्रमणं नाम। (गो. क. जी. प्र. ४१३)।

१ जिन प्रकृतियों का जहां नियम से बन्ध सम्भव नहीं है वहां उनका विध्यातसंक्रम होता है।

विनय—१. जम्हा विणेदि कम्मं अट्ठविहं चाउरंगमोक्खो य। तम्हा वदंति विदुसो विणओ त्ति विलीणसंसारा॥ (मूला. ७-८१)। २. पूज्येष्वादरः विनयः। (स. सि. ९-२०)। ३. रत्नत्रयवत्सु नीचैर्वृत्तिर्विनयः। (धव. पु. १३, पृ. ६३)। ४. गुणाधिकेषु नीचैर्वृत्तिर्विनयः। (जयध. १, पृ. ११७)। ५. ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपसामतीचारा अशुभक्रियाः, तासामपोहनं विनयः। (भ. आ. विजयो. टी. ६); विनयत्यपनयति यत्कर्माशुभं तद्विनयः। (भ. आ. विजयो. टी. ११२)। ६. विणओ पंचपयारो दंसणणाणे तहा चरित्ते य। बारसभेयम्मि तवे उवयारो बहुविहो णेओ॥ दंसण-णाण-चरित्ते सुविसुद्धो जो हवेइ परिणामो। बारस भेदे वि तवे सोच्चिय विणओ हवे तेसिं॥ रयणत्तयजुत्ताणं अणुकूलं जो चरेदि भत्तीए। भिच्चो जह रायाणं उवयारो सो हवे विणओ॥ (कार्तिके. ४५६-५८)। ७. कषायेन्द्रियविनयनं विनयः। अथवा रत्नत्रयस्य तद्वतां च नीचैर्वृत्तिर्विनयः। (चा. सा. पृ. ६५)। ८. स्वाध्याये संयमे सङ्घे गुरौ सब्रह्मचारिणि। यथौचित्यं कृतात्मानो विनयं प्राहुरादरम्॥ (उपासका. २१३)। ९. व्रत-विद्या-वयोविकेषु नीचैराचरणं विनयः। (नीतिवा. ११-६, पृ. १६२)। १०. विनयः स्याद् विनयनं कषायेन्द्रियमर्दनम्। स नीचैर्वृत्तिरथवा विनयार्हे यथोचितम्॥ (आचा. सा. ६-६६)। ११. विनीयन्ते निराक्रियन्ते संक्रमणोदयोदीरणादिभावेन प्राप्यन्ते येन कर्माणि तद् विनयकर्म। (मूला. वृ. ७-७९)। १२. विनीयते क्षिप्यतेऽष्टप्रकारं कर्मानेनेति विनयः। (योगशा. स्वो. विव. ४-९०)। १३. विनयो गुरुशुश्रूषा। (आव. नि. मलय. वृ. ६३८, पृ. ५१६)। १४. अशुभकर्माणि विनयत्यपनयतीति विनयः। (भ. आ. मूला. ११२); सद्दर्शनादीनां निर्मलीकरणे यत्नो विनयः। (भ. आ. मूला. ४१६); १५. विनयं माहात्म्यापादनोपायम्। (अन. ध. स्वो. टी. २, ११०); स्यात् कषाय-हृषीकाणां विनीतेर्विनयोऽथवा। रत्नत्रये तद्वति च यथायोग्यमनुग्रहः॥ यद्विनयत्यपनयति च कर्मासत्तं निराहुरिह विनयम्। शिक्षायाः फलमखिलक्षेमफलश्चेत्ययं कृत्यः॥ (अन. ध. ७, ६०-६१); विनयो मर्यादा। ××× उपास्तिर्वा विनयः। (अन. ध. स्वो. टी. ७-९८); हिताहिताप्ति-लुप्त्यर्थं तदङ्गानां सदाञ्जसा। यो माहात्म्योद्भवे यत्नः स मतो विनयः सताम्॥ (अन. ध. ८-४७)। १६. ज्येष्ठेषु मुनिषु आदरो विनयः। (त. वृत्ति श्रुत. ९-२०)। १७. गुर्वादीनां यथाप्येषामभ्युत्थानं च गौरवम्। क्रियते चात्मसामर्थ्याद्विनयाख्यं तपः स्मृतम्। (लाटीसं. ७-८३)।

१ जो अनुष्ठान आठ कर्मों को 'विनयति' अर्थात् नष्ट करता है तथा चतुर्गतिस्वरूप संसार से मुक्त कराता है उसे विनयकर्म कहते हैं। २ पूज्य पुरुषों में आदर का भाव रखना—यथायोग्य उनका आदर-सत्कार करना, इसका नाम विनय है। १५ हित की प्राप्ति और अहित के विनाश के लिए उनके अंगों (उपायों) के माहात्म्य के उत्पादन में प्रयत्नशील रहना, इसे विनय कहा जाता है।

विनयकर्म—देखो विनय।

विनयशुद्धि—१. विनयशुद्धिः अर्हदादिषु परमगुरुषु

यथार्हं पूजाप्रवणा ज्ञानादिषु च यथाविधि भक्तियुक्तता गुरोः सर्वत्रानुकूलवृत्तिः प्रश्न-स्वाध्याय-वाचना-कथा-विज्ञप्त्यादिषु प्रतिपत्तिकुशला देश-काल-भावाववोधनिपुणा आचार्यानुमतचारिणी (त. श्लो. 'सदाचार्यमतानुचारिणी')। (त. वा. ६, ६, १६; त. श्लो. ६–६; चा. सा. पृ. ३४)। २. कुलर्द्धि-जाति-रूपाज्ञा-तपोज्ञान-बलोद्भवैः। मदैर्विहीना विनये शुद्धिः सद्गुणसन्नतिः॥ (आचा. सा. ६–६६)। ३. द्विनति-द्वादशावर्त-शिरोनतिचतुष्टये। तत्र योऽनादराभावः स स्याद्विनयशुद्धिका॥ (धर्मसं. श्रा. ७–५१)।

१ अरहन्त आदि परम गुरुओं की यथायोग्य पूजा में तत्पर रहना, ज्ञानादि के विषय में विधिपूर्वक भक्ति से युक्त रहना, गुरु के अनुकूल सर्वत्र प्रवृत्ति करना; प्रश्न, स्वाध्याय, वाचना, कथा एवं विज्ञप्ति आदिविषयक पूजा-प्रशंसादि में कुशल रहना; देश-कालादि का ज्ञान प्राप्त करना, तथा आचार्य से अनुमत आचरण करना; यह सब विनयशुद्धि कहलाती है।

विनयसम्पन्नता—१. सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्षसाधनेषु तत्साधनेषु च गुर्वादिषु स्वयोग्यवृत्त्या सत्कार आदरो विनयस्तेन संपन्नता विनयसंपन्नता। (स. सि. ६–२४)। २. ज्ञानादिषु तद्वत्सु चादरः कषायनिवृत्तिर्वा **विनयसम्पन्नता**। सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्षसाधनेषु तत्साधनेषु गुर्वादिषु च स्वयोग्यवृत्त्या सत्कार आदरः कषायनिवृत्तिर्वा विनयसम्पन्नता। (त. वा. ६, २४, २)। ३. ज्ञानादिषु तद्वत्सु च महादरो यः कषायविनिवृत्त्या। तीर्थंकरनामहेतुः स विनयसम्पन्नताभिख्यः॥ (ह. पु. ३४–१३३)। ४. संज्ञानादिषु तद्वत्सु वादरोत्थानपेक्षया। कषायविनिवृत्तिर्वा विनयैर्मुनिसम्मतैः॥ संपन्नता समाख्याता मुमुक्षूणामशेषतः। सद्दृष्ट्यादिगुणस्थानवर्तिनां स्वानुरूपतः॥ (त. श्लो. ६, २४, ३–४)। ५. सम्यग्दर्शनादिषु मोक्षसाधनेषु तत्साधकेषु गुर्वादिषु च स्वयोग्यवृत्त्या सत्कार आदरः कषाय-नोकषायनिवृत्तिर्वा विनयसम्पन्नता। (चा. सा. पृ. २५)। ६. ज्ञान-दर्शन-चारित्रेषु तद्वत्सु चादरोऽकषायता वा विनयसम्पन्नता। (भावप्रा. टी. ७७)। ७. रत्नत्रयमण्डिते रत्नत्रये च महानादर अकषायत्वं च विनयसम्पन्नता॥ (त. वृत्ति श्रुत. ६–२४)।

१ मोक्ष के साधनभूत सम्यग्दर्शनादि और उनके भी साधन जो गुरु आदि हैं उनका अपनी अपनी योग्यता के अनुसार आदर-सत्कार करना, इसका नाम विनयसम्पन्नता है। यह तीर्थंकर प्रकृति के बन्धक कारणों में से एक है।

विनयसंश्रय—वीक्ष्यागन्तुकमायान्तं यतिमुत्थाय संभ्रमात्। पदानि सप्त गत्वा च कृत्वा तद्योग्यवन्दनम्॥ मार्गश्रान्तिमपोह्यासनप्रदानादि यत्नतः। त्रिरत्नसुस्थितादीनां प्रश्नो विनयसंश्रयः॥ (आचा. सा. २, १७–१८)।

मुनि को आते हुए देखकर शीघ्रता से उठकर खड़े हो जाना, सात पग (कदम) आगे जाकर उनके अनुरूप वन्दना करना, पश्चात् मार्ग की थकावट को दूर करके प्रयत्नपूर्वक आसन आदि देना तथा रत्नत्रय आदि की उत्तम परिस्थिति के सम्बन्ध में प्रश्न करना; इसका नाम विनयसंश्रय है।

विनयाचार—कायिक-वाचनिक-मानसशुद्धपरिणामैः स्थितस्य तेन वा योऽयं श्रुतस्य पाठो व्याख्यानं परिवर्तनं यत्स विनयाचारः। (मूला. वृ. ५–७२)।

कायिक, वाचनिक और मानसिक शुद्ध परिणामों के साथ जो स्थित है उसके लिए अथवा उसके द्वारा—उक्त शुद्ध परिणामों से स्थित स्वयं के द्वारा—शास्त्र का जो पाठ, व्याख्यान और परिवर्तन—बार-बार अनुशीलन—किया जाता है, इसे विनयाचार कहा जाता है।

विनयोपसम्पत्—पाहुणविणउवचारो तेसिं चावासभूमिसंपुच्छा। दाणाणुवत्तणादी विणये उपसंपया णेया॥ (मूला. ४–१६, पृ. १२३)।

प्राघूर्णिक (अभ्यागत साधुजन) का जो पादमर्दन व नम्रतापूर्ण सम्भाषण आदि रूप विनय तथा आसन प्रदानादिरूप उपचार किया जाता है, उनसे आवास और भूमि (मार्ग) विषयक जो पूछ-ताछ की जाती है, तथा पुस्तक आदि के दान के साथ जो उनके अनुकूल व्यवहार किया जाता है, इस सबको विनयोपसम्पत् कहा जाता है। यह पाँच प्रकार की उपसम्पत् में प्रथम है।

विनाश— पूर्वाकारान्यथाभावो विनाशो वस्तुनः पुनः। (भावसं. वाम. ३८०)।

वस्तु के पूर्व आकार के अन्यथाभाव (परिवर्तन) का नाम विनाश है, जिसका निर्देश व्यय शब्द के द्वारा अधिक किया जाता है।

विपरिकुंचित—विपरिकुंचितम् अर्धवन्दित एव देशादिकथाकरणम्। (योगशा. स्वो. विव. ३, १३०)।

आधी वन्दना के समय में ही देश आदि की चर्चा करने पर वह विपरिकुंचित नामक वन्दनादोष से दूषित होती है।

विपरीत असत्य—विपरीतमिदं ज्ञेयं तृतीयकं यद्वदन्ति विपरीतम्। सग्रन्थं निर्ग्रन्थं निर्ग्रन्थमपीह सग्रन्थम्॥ (अमित. श्रा. ६-११)।

परिग्रह सहित को निर्ग्रन्थ और उस परिग्रह से रहित को सग्रन्थ कहना, यह असत्यवचन का विपरीत नामक तीसरा भेद है।

विपरीत मिथ्यात्व—१. सग्रन्थो निर्ग्रन्थः, केवली कवलाहारी, स्त्री सिद्ध्यतीत्येवमादिः विपर्ययः। (स. सि. ८-१; त. वा. ८, १, २८)। २. हिंसालियवयण-चोज्ज-मेहुण-परिग्गह-राग-दोस-मोहण्णाणेहि चेव णिव्वुई होइ त्ति अहिणिवेसो विवरीयमिच्छत्तं। (धव. पु. ८, पृ. २०)। ३. विपर्ययमिथ्यात्वं हिंसाया दुर्गतिवर्तिन्याः स्वर्गादिहेतुता वसितिज्ञानम् अहिंसायाश्च प्रत्यपायहेतुतेति। (भ. आ. विजयो. २३)। ४. सग्रन्थोऽपि च निर्ग्रन्थो ग्रासाहारी च केवली। रुचिरेवंविधा यत्र विपरीतं हि तत्स्मृतम्॥ (त. सा. ५-६)। ५. अतथ्यं मन्यते तथ्यं विपरीतरुचिर्जनः। दोषातुरमनास्तिक्तज्वरीव मधुरं रसम्॥ (अमित. श्रा. २-१०)। ६. केवली कवलाहारः सग्रन्थो मोक्षसाधकः। जीवविध्वंसनं धर्मो विपरीतमिदं विदुः॥ (पंचसं. अमित. ४-२४, पृ. ८४)। ७. अहिंसादिलक्षणधर्मफलस्य स्वर्गापवर्गसौख्यस्य हिंसादिरूपयागादिकर्मफलत्वश्रद्धानं विपरीतमिथ्यात्वम्। (गो. जी. मं. प्र. १५)। ८. अहिंसादिलक्षणसद्धर्मफलस्य स्वर्गादिसुखस्य हिंसादिरूपयागादिफलत्वेन, जीवस्य प्रमाणसिद्धस्य मोक्षस्य निराकरणत्वेन, प्रमाणबाधितस्त्रीमोक्षास्तित्ववचनेन इत्याद्येकान्ततावलम्बनेन विपरीताभिनिवेशो विपरीतमिथ्यात्वम्। (गो. जी. जी. प्र. १५)। ९. सपरिग्रहो निःपरिग्रहः पुमान् वा स्त्री वा कवलाहारी केवली भवतीति विपरीतमिथ्यादर्शनं विपर्ययमिथ्यादर्शनं अपरनामकम्। (त. वृत्ति श्रुत. ८-१)।

१ परिग्रह से सहित को निर्ग्रन्थ, केवली को कवलाहारी तथा स्त्री को मुक्ति प्राप्त करने वाली; इत्यादि प्रकार की विपरीत श्रद्धा का नाम विपरीत मिथ्यात्व है। २ हिंसा, असत्य वचन, चोरी, मैथुन, परिग्रह, राग, द्वेष, मोह और अज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त होती है; इस प्रकार के विश्वास को विपरीत मिथ्यात्व कहा जाता है। विपरीत मिथ्यादर्शन और विपरीत रुचि ये उसके नामान्तर हैं।

विपरीत मिथ्यादर्शन—देखो विपरीत मिथ्यात्व।

विपरीत रुचि—देखो विपरीत मिथ्यात्व।

विपर्यय—१. विरुद्धकोटिसंस्पर्शो व्यवसायो विपर्ययः। शुक्तौ रजतबुद्धिः सा विपर्यासो भ्रमोऽपि च॥ (मोक्षपं. ६)। २. विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः। (न्यायदी. पृ. ६)।

१ दो पदार्थों में से विरुद्ध का जो निश्चय होता है उसे विपर्यय कहते हैं। जैसे सीप में चांदी का निश्चय।

विपर्यस्त—१. शुक्तिकाशकले रजताध्यवसायलक्षणविपर्यासगोचरस्तु विपर्यस्तः। (प्र. क. मा. ३, २१)। २. विपर्यस्तं तु विपरीतावभासि विपर्ययज्ञानविषयभूतम्। (प्र. र. मा. ३-२१)।

१ सीप के टुकड़े में जो चांदी का निश्चय होता है उसकी विषयभूत वस्तु को विपर्यस्त कहते हैं।

विपश्चित्—हेयोपादेयपरिज्ञानफलाः शास्त्रावगतीर्निश्चिन्वाना विपश्चितः। (गद्यचि. पृ. ६१)।

जिन शास्त्रावगतियों का फल हेय और उपादेय का ज्ञान प्राप्त करना है उनके जानने वालों को विपश्चित् (विद्वान्) कहा जाता है।

विपाक—देखो अनुभव। १. विशिष्टो नानाविधो वा पाको विपाकः। कषायतीव्र-मन्दादिभावविशेषाद्विशिष्टः पाको विपाकः। अथवा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावलक्षणनिमित्तभेदजनितवैश्वरूप्यो नानाविधः पाको विपाकः। (स. सि. ८-२१)। २. विशिष्टः पाको नानाविधो वा विपाकः। ज्ञानावरणादीनां कर्मप्रकृतीनां अनुग्रहोपघातात्मिकानां पूर्वास्रवतीव्र-मन्दभावनिमित्तो विशिष्टः पाको विपाकः। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावलक्षणनिमित्तभेदजनितवैश्वरूप्यो नानाविधो वा पाको विपाकः। असावनु-

भव इत्याख्यायते। (त. वा. ८, २१, १)। ३. कम्माणमुदओ उदीरणा वा विवागो णाम। (धव. पु. १४, पृ. १०)। ४. विपचनं विपाकः शुभाशुभ-कर्मपरिणामः। (समवा. अभय. वृ. १४६)।

१ कषाय की तीव्रता और मंदता आदि भावों की विशेषता के अनुसार जो कर्म की अनुभागशक्ति में विशेषता होती है उसका नाम विपाक है। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप निमित्तों के भेद से जो कर्मों के अनुभाग (फलदानशक्ति) में विश्वरूपता (विविधता) होती है उसे विपाक कहा जाता है।

विपाकजा निर्जरा—१. कालेण उवाएण य पच्चंति जधा वणप्फदिफलाणि। तध कालेण उवाएण य पच्चंति कदाणि कम्माणि॥ (मूला. ५-४९)। २. तत्र चतुर्गतावनेकजातिविशेषावघूर्णिते संसार-महार्णवे चिरं परिभ्रमतः शुभाशुभस्य कर्मणः क्रमेण परिपाककालप्राप्तस्यानुभवोदयावलिस्रोतोऽनुप्रविष्ट-स्यारब्धफलस्य या निवृत्तिः सा विपाकजा निर्जरा। (स. सि. ८-२३)। ३. तत्र चतुर्गतावनेकजाति-विशेषावघूर्णिते संसार-महार्णवे चिरं परिभ्रमतः शुभाशुभस्य कर्मण औदयिकभावोदीरितस्य क्रमेण विपाककालप्राप्तस्य यस्य यथा सदसद्वेद्यतान्यतर-विकल्पबद्धस्य तस्य तेन प्रकारेण वेद्यमानस्य यथा-नुभवोदयावलिस्रोतोऽनुप्रविष्टस्यारब्धफलस्य स्थिति-क्षयादुदयागतपरिभुक्तस्य या निवृत्तिः सा विपाकजा निर्जरा। (त. वा. ८, २३, २)। ४. संसारे भ्रमतो जन्तोः प्रारब्धफलकर्मणः। क्रमेणैव निवृत्तिर्या नि-र्जरासौ विपाकजा॥ (ह. पु. ५८-२९४)। ५. अनादिबन्धनोपाधिविपाकवशवर्तिनः। कर्मारब्धफलं यत्र क्षीयते सा विपाकजा॥ (त. सा. ७-३)। ६. कालेण उवाएण य पच्चंति जहा वणप्फइ फलाइं। तह कालेण तवेण य पच्चंति कयाइं कम्मा-इं॥ (भावसं. दे. ४५)। ७. ××× प्राप्तकाला विपाकजा॥ (आचा. सा. २-२३)। ८. द्विधा-ऽकामा सकामा च निर्जरा कर्मणामपि। फलानामिव यत्पाकः कालेनोपक्रमेण च॥ (अन. ध. २-४३); तत्र कामा कालपक्वकर्मनिर्जरणलक्षणा, सैव विपाक-जाऽनौपक्रमिकी चोच्यते॥ (अन. ध. स्वो. टी. २-४३)। ९. स्वकालेन दत्तफलानां कर्मणां गलनं विपाकजा निर्जरा। (भ. आ. मूला. १८-४०)।

१ जिस प्रकार समय के अनुसार आम आदि फल परिपाक को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार पूर्वबद्ध कर्म अपनी स्थिति के पूर्ण होने पर जो पकते हैं—उदय में प्राप्त होकर फल देते हैं—उसे विपाकजा निर्जरा कहा जाता है।

विपाकप्रत्ययिक अजीवभावबन्ध—जो सो विवा-गपच्चइओ अजीवभावबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो—पओगपरिणदा वण्णा, पओगपरिणदा सद्दा पओग-परिणदा गंधा पओगपरिणदा रसा पओगपरिणदा फासा पओगपरिणदा गदी पओगपरिणदा ओगाहणा पओगपरिणदा संठाणा पओगपरिणदा खंधा पओगपरिणदा खंधदेसा पओगपरिणदा खंधपदेसा जे चामण्णे एवमादिया पओगपरिणदसंजुत्ता भावा सो सव्वो विवागपच्चइओ अजीवभावबंधो णाम। (षट्खं. ५, ६, २१—धव. पु. १४, पृ. २३)।

प्रयोग से परिणत वर्ण, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श, गति, अवगाहना, संस्थान, स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्ध-प्रदेश तथा और भी जो इसी प्रकार के प्रयोग-परिणत संयुक्त भाव हैं, इस सबका नाम विपाक-प्रत्ययिक अजीवभावबन्ध है।

विपाकप्रत्ययिक जीवभावबन्ध—जो सो वि-वागपच्चइयो जीवभावबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो—देवे त्ति मणुस्से त्ति वा तिरिक्खे त्ति वा णेरइए त्ति वा इत्थिवेदे त्ति वा पुरिसवेदे त्ति वा णवुंसयवेदे त्ति वा कोहवेदे त्ति वा माणवेदे त्ति वा मायवेदे त्ति वा लोहवेदे त्ति वा रागवेदे त्ति वा दोसवेदे त्ति वा मोहवेदे त्ति वा किण्हलेस्से त्ति वा णीललेस्से त्ति वा काउलेस्से त्ति वा तेउलेस्से त्ति वा पम्मलेस्से त्ति वा सुक्कलेस्से त्ति वा असंजदे त्ति वा अविरदे त्ति वा अण्णाणे त्ति वा मिच्छादिट्ठि त्ति वा जे चामण्णे एवमादिया कम्मोदयपच्चइया उदय-विवागणिप्पण्णा भावा सो सव्वो विवागपच्चइओ जीवभावबंधो णाम। (षट्खं. ५, ६, १५; धव. पु. १४, पृ. १०-११)।

देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारक, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंस-कवेद, क्रोधवेद, मानवेद, मायावेद, लोभवेद, राग-वेद, द्वेषवेद, मोहवेद, कृष्णलेश्या नीललेश्या, कापोत-लेश्या, पीतलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या, असंयत, अविरत, अज्ञान, मिथ्यादृष्टि तथा और भी जो इसी प्रकार के उदयविपाक से उत्पन्न कर्मोदय-

प्रत्ययिक भाव हैं, उन सबको विपाकप्रत्ययिक जीवभावबन्ध कहा जाता है।

विपाकविचय—१. एयाणेयभवगयं जीवाणं पुण्ण-पावकम्मफलं। उदओदीरण-संकम-बंधं मोक्खं च विचिणादि॥ (मूला. ५–२०४; भ. आ. १७१३; धव. पु. १३, पृ. ७२ उद्.)। २. कर्मणां ज्ञानावरणादीनां द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव-प्रत्यय-फलानुभवनं प्रति प्रणिधानं विपाकविचयः। (स. सि. ९–३६)। ३. **कर्मफलानुभवनविवेकं प्रति प्रणिधानं विपाकविचयः।** कर्मणां ज्ञानावरणादीनां द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव-प्रत्ययफलानुभवनं प्रति प्रणिधानं विपाकविचयः। (त. वा. ९, ३६, ८)। ४. पयडि-ट्ठिदिप्पदेसाणुभागभिन्नं सुहासुहविहत्तं। जोगाणुभावजणियं कम्मविवागं विचितेज्जा॥ (ध्यान. ५१; धव. पु. १३, पृ. ७२ उद्.)। ५. कम्माणं सुहासुहाणं पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेस-भेएण चउव्विहाणं विवागाणुसरणं विवागविचयं णाम तदियधम्मज्झाणं। (धव. पु. १३, पृ. ७२)। ६. शुभाशुभविभक्तानां कर्मणां परिपाकतः। भवावर्त्तस्य वैचित्र्यमभिसन्दधतो मुनेः॥ विपाकविचयं धर्म्यमामनन्ति कृतागमाः। (म. पु. २१ व १४३-१४४)। ७. यच्चतुर्विधबन्धस्य कर्मणोऽष्टविधस्य तु। विपाकचिन्तनं धर्म्यं विपाकविचयं विदुः॥ (ह. पु. ५६–४५)। ८. विपाकोऽनुभवः पूर्वकृतानां कर्मणां स्वयम्। जीवाद्याश्रय-भेदेन चतुर्थो धीमतां मतः॥ (त. श्लो. ९, ३६, ४)। ९. समूलोत्तरप्रकृतीनां कर्मणामष्ट-प्रकाराणां चतुर्विधबन्धपर्यायाणां मधुर-कटु विपाकानां तीव्र-मध्य-मन्दपरिणामप्रपंचकृतानुभावविशेषाणां द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावापेक्षाणां एतासु गतिषु योनिषु वा इत्थंभूतं फलमिति विपाके कर्मफले विचयो विचारोऽस्मिन्निति विपाकविचयः। (भ. आ. विजयो. १७०८)। १०. द्रव्यादिप्रत्ययं कर्मफलानु-भवनं प्रति। भवति प्रणिधानं यद्विपाकविचयस्तु सः॥ (त. सा. ७–४२)। ११. असुह-सुहस्स विवाओ चितइ जीवाण चउगइगयाणं। विवाय-विचयं झाणं भणियं तं जिणवरिंदेहिं॥ (भावसं. दे. ३६९)। १२. विपाकविचयमष्टविधकर्माणि नाम-स्थापना-द्रव्य-भावलक्षणानि मूलोत्तरप्रकृतिविकल्पविस्तृतानि गुड-खण्ड-सितामृतमधुरविपाकानि निम्ब-काञ्जी-विष-हालाहलकटुविपाकानि चतुर्विध-बन्धनानि लता-दार्वस्थि-शैलस्वभावानि कासु गतिषु योनिष्ववस्थासु च जीवानां विपाका भवन्तीति विपाकविशेषानुचिन्तनं पञ्चमं धर्म्यम्। (चा. सा. पृ. ७७)। १३. रेणुवज्जन्तवस्तत्र तिर्यगूर्ध्वमधोऽपि च। अनारतं भ्रमन्त्येते निजकर्मानिलेरिताः॥ (उपासका. ६५७)। १४. स विपाक इति ज्ञेयो यः स्वकर्मफलोदयः। प्रतिक्षणसमुद्भूतश्चित्ररूपः शरीरिणाम्॥ कर्मजातं फलं दत्ते विचित्रमिह देहिनाम्। आसाद्य नियतं नाम द्रव्यादिचतुष्टयम्॥ (ज्ञाना. ३५, १–२, पृ. ३४५)। १५. शुद्धनिश्चयेन शुभा-शुभकर्मविपाकरहितोऽप्ययं जीवः पश्चादनादिकर्म-बन्धवशेन पापस्योदयेन नारकादिदुःखविपाकफल-मनुभवति, पुण्योदयेन देवादिसुखविपाकमनुभवतीति विचारणं विपाकविचयं विज्ञेयम्। (बृ. द्रव्यसं. टी. ४८)। १६. गत्यादौ परिणामतस्तनुभृतां प्राप्तो-दयोदीरणं क्लेशाश्लेषकरं सुखोत्करकरं कर्माशुभं तच्छुभम्। शक्त्या युक्तमसंख्यलोकमितषट्स्थाना-न्वितस्थानया इत्येवं विचयो विपाकविचयः प्रत्यस्त-दोषोच्चयः॥ (आचा. सा. १०–३१)। १७. विपाकः कर्मफलम्, तस्य विचयो निर्णयो यत्र तत् विपाकविचयम्। (औपपा. अभय. वृ. २०, पृ. ४४)। १८. ××× इति मूलप्रकृतीनां विपाकांस्तान् विचिन्वतः। विपाकविचयं नाम धर्मध्यानं प्रवर्तते॥ (त्रि. श. पु. च. २, ३, ४७६)। १९. कर्मणां ज्ञानावरणादीनां द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावप्रत्ययं फलानुभवं प्रति चिन्ताप्रबन्धो विपाकविचयः। (भ. आ. मूला. १७०८)। २०. ××× अनुभवस्तेषां विपाकाह्वयः। (आत्मप्र. ८८); अष्टानामपि कर्मणां निज-निजोत्पत्तिक्रमाद्भावनो, या यावद्युद-यावली बलवती यद्यद्दिशते फलम्। तत्तद्रूपनिरूपणा प्रतिफलत्यन्तर्यतो योगिनां ध्यानं ध्यानधुरंधरास्तद-नघं वैपाकधर्म्यं विदुः॥ (आत्मप्र. ९२)। २१. संसारवर्तिजीवानां विपाकः कर्मणामयम्। दुर्लक्ष-श्चिन्त्यते यत्र विपाकविचयं हि तत्॥ (भावसं. वाम. ६४१)।

१ एक और अनेक भवों में उपार्जित जीवों के पुण्य व पाप कर्मों के फल, उदय, उदीरणा, संक्रम, बन्ध और मोक्ष का जिस ध्यान में विचार किया जाता है उसे विपाकविचय धर्मध्यान कहते हैं। २ द्रव्य-

क्षेत्र, काल, भव, और भाव के निमित्त से जो ज्ञानावरणादि कर्मों के फल के अनुभवन का विचार किया जाता है उसका नाम विपाकविचय धर्मध्यान है। १७ जिस ध्यान में कर्म के विपाक (फल) का निर्णय किया जाता है उसे विपाकविचय धर्मध्यान कहते हैं।

विपाकश्रुत—विपचनं विपाकः शुभाशुभकर्मपरिणामः, तत्प्रतिपादकं श्रुतं विपाकश्रुतम्। (समवा. अभय. वृ. १४६)।

जिस श्रुत में शुभ-अशुभ कर्मों के परिणाम (विपाक) का निरूपण किया जाता है उसका नाम विपाकश्रुत है।

विपाकसूत्र—१. विपाकसूत्रे सुकृत-दुष्कृतानां विपाकश्चिन्त्यते। (त. वा. १, २०, १२)। २. विवागसुत्तं णाम अंगं एगकोडि-चउरासीदिलक्खपदेहि १८४००००० पुण्ण-पावकम्माणं विवायं वण्णेदि। (धव. पु. १, पृ. १०७); विपाकसूत्रे चतुरशीतिशतपदलक्षे १८४००००० सुकृतदुःकृतविपाकश्चिन्त्यते। (धव. पु. ६, पृ. २०३)। ३. विवायसुत्तं णाम अंगं दव्व-खेत्त-काल-भावे अस्सिदूण सुहासुहकम्माणं विवायं वण्णेदि। (जयध. १, पृ. १३२)। ४. चतुरशीतिलक्षाधिकैककोटिपदपरिमाणं सुकृतदुष्कृतविपाकसूचकं विपाकसूत्रम्। (बृ. श्रुतभ. टी. ८, पृ. १७३)। ५. कर्मणामुदयोदीरणा-सत्ताकथकं चतुरशीतिलक्षाधिककोटिपदप्रमाणं विपाकसूत्रम्। (त. वृत्ति श्रुत. १–२०)। ६. चुलसीदिलक्ख-कोडी पयाणि णिच्चं विवागसुत्ते य। कम्माणं बहुसत्ती सुहासुहाणं हु मज्झिमया॥ तिव्व-मंदाणुभावा दव्वे खेत्तेसु कालभावे य। उदयो विवायरूवो भण्णिज्जइ जत्थ वित्थारा॥ (अंगप. १, ६८–६६, पृ. २७०–७१)।

१ जिस सूत्र में पुण्य और पाप के विपाक का विचार किया जाता है उसे विपाकसूत्र कहते हैं।

विपुलतृष—देखो कामतीव्राभिनिवेश। १. विपुलतृषश्च कामतीव्राभिनिवेशः। (रत्नक. टी. ३–१४)। २. विपुलतृषाः कामसेवायां प्रचुरतृष्णा बहुलाकांक्षा, यस्मिन् काले स्त्रियां प्रवृत्तिरुक्ता तस्मिन् काले कामतीव्राभिनिवेशः। व्रतयुक्तबाला-तिरश्चीप्रभृतीनां गमनं रागपरिणामं विपुलतृषा। (कार्तिके. टी. ३३७, ३३८)।

१ काम सेवन की तीव्र अभिलाषा रखना, इसे विपुलतृष कहा जाता है। यह ब्रह्मचर्याणुव्रत का एक अतिचार है।

विपुलमति—१. उज्जुगमणुज्जुगं मणोगदं जाणदि, उज्जुगमणुज्जुगं वचिगदं जाणदि, उज्जुगमणुज्जुगं कायगदं जाणदि॥ मणेण माणसं पडिविंदइत्ता॥ परेसिं सण्णा सदि मदि चिंता जीविद-मरणं लाहालाहं सुह-दुक्खं णयरविणासं देसविणासं जणवयविणासं खेडविणासं कव्वडविणासं मडंबविणासं पट्टणविणासं दोणामुहविणासं अदिवुट्ठि अणावुट्ठि सुवुट्ठि दुवुट्ठि सुभिक्खं दुब्भिक्खं खेमाखेमं भय-रोगकालसंपजुत्ते अत्थे जाणदि। (षट्खं. ५, ५, ७० से ७२—धव. पु. १३, पृ. ३४०–३४१)। २. अनिर्वर्तिता कुटिला च विपुला। कस्मादनिर्वर्तिता (त. वा. 'कस्मात्? अनिर्वर्तित') वाक्कायमनस्कृतार्थस्य परकीयमनोगतस्य विज्ञानात्। विपुला मतिर्यस्य सोऽयं विपुलमतिः। (स. सि. १–२३; त. वा. १–२३)। ३. विपुलं वत्थुविसेसण माणं तग्गाहिणी मई विपुला। चिंतितमणुसरइ घडं पसंगओ पज्जवसएहि॥ (विशेषा. ७८८; स्थानां. पृ. ५१ उद्.)। ४. विउलमई पुण चिंतियमचिंतियं पि वक्कचिंतियमवक्कचिंतियं पि जाणदि। (धव. पु. ६, पृ. २८); परकीयमनगतोऽर्थो मतिः। विपुला विस्तीर्णा। कुतो वैपुल्यम्? यथार्थ मनोगमनात्, अयथार्थं मनोगमनात्, उभयथापि तदवगमनात्। यथार्थं वचो गमनात्, अयथार्थं वचोगमनात्, उभयथापि तत्र गमनात्, यथार्थं कायगमनात्, अयथार्थं कायगमनात्, ताभ्यां तत्र गमनाच्च वैपुल्यम्। विपुला मतिर्यस्य स विपुलमतिः। (धव. पु. ६, पृ. ६६)। ५. विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानं तु निर्वर्तितानिर्वर्तित-प्रगुणाप्रगुणवाक्काय-मनस्कृतार्थस्य परमनसि स्थितस्य स्फुटतरमवबोधकत्वात् षट्प्रकारम्। (प्रमाणप. पृ. ६६)। ६. अनिर्वर्तितकायादिकृतार्थस्य च वेदिका। विपुला कुटिला षोढा वक्रर्जुत्रयगोचरा॥ (त. श्लो. १, २३, ३)। ७. निर्वर्तिता कुटिला विपुला च मतिर्विपुलमतिर्निर्वर्तिता वाक्कायमनस्कृतार्थस्य परकीयमनोगतस्य विज्ञानात्। × × × अथवा × × × विपुला मतिर्यस्यासौ विपुलमतिः। (मूला.

वृ. १२-१८७) । ८. विपुला विशेषग्राहिणी मतिर्विपुलमतिः—घटोऽनेन चिन्तितः, स च सौवर्णः पाटलिपुत्रिकोऽद्यतनो महानित्याद्यध्यवसायहेतुभूता मनोद्रव्यविज्ञप्तिरिति । (स्थानां. अभय. वृ. ७१) । ९. विपुलमतयो मनोविशेषग्राहिमनःपर्ययज्ञानिनः । उक्तं च — विउलं वत्थुविसेसणमाणं तग्गाहिनी मई विउला । चिंतियमणुसरइ घडं पसंगओ पज्जवसएहिं ॥ (प्रश्नव्या. अभय. वृ. पृ. ३४३) । १०. विपुला बहुविधविशेषणोपेतमन्यमानवस्तुग्राहित्वेन मनोमात्रग्राहिणी मतिः मनःपर्ययज्ञानम् । (औपपा. १५, पृ. २८) । ११. विपुलं बहुविशेषोपेतं वस्तु मन्यते गृह्णाति इति विपुलमतिः, ××× यदि वा विपुला पर्यायशतोपेतचिन्तनीयघटादिवस्तुविशेषग्राहिणी मतिर्मननं यत् तद्विपुलमतिः । (आव. नि. मलय. वृ. ७०, पृ. ७९) । १२. प्रगुणाप्रगुणनिर्वर्तितमनोवाक्कायगतसूक्ष्मेतरार्थावलम्बनो विपुलमतिमनःपर्ययः । (लघीय. अभय. वृ. ६१, पृ. ८२) । १३. विपुला काय-वाङ्मनःकृतार्थस्य परकीयमनोगतस्य विज्ञानान्निर्वर्तिता अनिर्वर्तिता कुटिला च मतिर्यस्य स विपुलमतिः, स चासौ मनपर्ययश्च विपुलमतिमनःपर्ययः । (गो. जी. जी. प्र. ४३९) । १४. वाक्काय-मनःकृतार्थस्य परमनोगतस्य विज्ञानादनिर्वर्तिता न पश्चाद्वालिता न व्याघोटिता तत्रैव स्थिरीकृता मतिविपुला प्रतिपद्यते । कुटिला च मतिर्विपुला कथ्यते । ××× विपुला मतिर्यस्य मनःपर्ययस्य स विपुलमतिः । (त. वृत्ति श्रुत. १-२३) ।

१ जो ऋजु व अनृजु मनोगत, ऋजु व अनृजु वचनगत तथा ऋजु व अनृजु कायगत को जानता है उसे विपुलमति मनःपर्यय कहते है । अभिप्राय यह है कि विपुलमति मनःपर्ययज्ञान मन से—मतिज्ञान से, मन अथवा मतिज्ञान के विषय को जानकर दूसरों की संज्ञा, स्मृति, मति, चिन्ता, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुख व नगर आदि के विनाश तथा अतिवृष्टि-अनावृष्टि आदि को जानता है । २ जो मन, वचन व काय से किये गये अनिवर्तित व कुटिल मनोगत पदार्थ को जानता है उसे विपुलमति मनःपर्ययज्ञान कहते हैं । ८ इसने घट के सम्बन्ध में विचार किया है । वह सुवर्णनिर्मित; पाटलीपुत्र में बना हुआ, वर्तमानकालीन व महान है; इत्यादि विशेषताओं के निर्णय के कारणभूत मन द्रव्य के ज्ञान को विपुलमतिमनःपर्ययज्ञान कहा जाता है ।

विप्पाणसमरण—दुर्भिक्षे कान्तारे दुरुत्तरे पूर्वशत्रुभये दुष्टनृपभये स्तेनभये तिर्यगुपसर्गे एकाकिनः सोढुमशक्ये ब्रह्मव्रतनाशादिचारित्रदूषणे च जाते संविग्नः पापभीरुः कर्मणामुदयमुपस्थितं ज्ञात्वा तं सोढुमशक्तः तन्निस्तरणस्यासत्युपाये सावद्यकरणभीरुः विराधमरणभीरुश्च एतस्मिन् कारणे जाते कालेऽमुष्मिन् किं भवेत्कुशलमिति गणयतो यद्युपसर्गभयत्रासितः संयमाद् भ्रश्यामि ततः संयमभ्रष्टो दर्शनादपि, न वेदनामसंक्लिष्टः सोढुमुत्सहेत, ततो रत्नत्रयाराधनाच्युतिर्ममेति निश्चितमतिर्निर्मायश्चरण-दर्शनविशुद्धः धृतिमान् ज्ञानसहायोऽनिदानः अर्हदन्तिके आलोचनामासाद्य कृतशुद्धिः सुलेश्यः प्राणापाननिरोधं करोति यत्तद्विप्पाणसं मरणमुच्यते । (भ. आ. विजयो. २५, भावप्रा. टी. ३२) ।

जिसे अकेला सहन न कर सके ऐसे दुरुत्तर दुर्भिक्ष, जंगल, पूर्व शत्रु के भय, दुष्ट राजा के भय, चोर के भय अथवा तिर्यंचकृत उपद्रव के उपस्थित होने पर या ब्रह्मव्रत के नाश आदि चरित्र सम्बन्धी दूषण के होने पर संवेग को प्राप्त हुआ पापभीरु साधु कर्मों के उदय को उपस्थित जानकर उसके सहन करने में असमर्थ होता हुआ उससे निस्तार का कोई उपाय न होने पर पापाचरण करने से भयभीत होता है व चारित्र की विराधना करना नहीं चाहता । तब वह विचार करता है कि ऐसे कारण के उपस्थित होने पर इस काल में क्या कल्याण हो सकता है ? यदि मैं उपसर्ग से पीड़ित होकर संयम से भ्रष्ट हो जाऊंगा तो दर्शन से भी भ्रष्ट हो जाने पर संक्लेश से रहित होकर उसे सहन न कर सकूंगा । तब वैसी अवस्था में मैं रत्नत्रय के आराधन से भ्रष्ट हो जाऊंगा । उक्त प्रकार के विचार से वह निश्चल होता हुआ दर्शन और चारित्र से शुद्ध रहकर अरहन्त के पास में आलोचना करके निर्मल परिणामों से अन्न-पान का निरोध करता है । इस अवस्था में उसका जो मरण होता है उसे विप्पाणसमरण कहा जाता है ।

विप्रौषधि—देखो विडौषधि ऋद्धि । मूत्रस्य पुरीषस्य वा अवयवो विड् उच्यते, अन्येत्वाहुः विडिति

विष्ठा, प्रु इति प्रश्रवणम्, ते औषधिर्यस्यासौ विप्रौषधिः। (आव. नि. मलय. वृ. ६९, पृ. ७८)।
मूत्र और मल के अवयव को विट् कहा जाता है, अन्य आचार्य 'विट्' शब्द से मल को ग्रहण करते हैं, प्रु का अर्थ प्रश्रवण (मूत्र) है, जिसके मल और मूत्र दोनों ही औषधिरूप हो जाते हैं वह विडौषधि या विप्रौषधि ऋद्धि का धारक होता है।

विभक्तिभिन्न—विभक्ति[वि]भिन्नं च यत्र विभक्तिव्यत्ययः, यथैष वृक्ष इति वक्तव्ये एष वृक्षमित्याह। (आव. नि. मलय. वृ. ८८२, पृ. ४८३)।
जहां विभक्ति का परिवर्तन होता है उसे विभक्तिभिन्न कहा जाता है। जैसे 'एष वृक्षः' इस प्रकार के प्रयोग के स्थान में 'एष वृक्षम्' ऐसा प्रयोग करना। यहां प्रथमा विभक्ति के स्थान में द्वितीया विभक्ति का उपयोग किया गया है। विभक्तिभिन्न यह ३२ सूत्रदोषों में १५वां सूत्रदोष है।

विभङ्गज्ञान—१. विवरीय ओहिणाणं खओवसमियं च कम्मबीजं च। वेभंगो त्ति य वुच्चइ समत्तणाणीहि समयम्हि॥ (प्रा. पंचसं. १–१२०; धव. पु. १, पृ. ३५९ उद्.; गो. जी. ३०५)। २. मिथ्यात्वसमवेतमवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानम्। (धव. पु. १, पृ. ३५८)। ३. मिथ्यादर्शनोदयसहचारितमवधिज्ञानमेव विभङ्गज्ञानम्। (पंचा. का. अमृत. वृ. ४१)। ४. पर्याप्तस्यावधिज्ञानं मिथ्यात्व-विपद्दूषितम्। विभङ्गं भण्यते सद्भिः क्षयोपशमसंभवम्॥ (अमित. श्रा. १–२३२)। ५. विपरीतो भंगःपरिच्छित्तिप्रकारो यस्य तद्विभङ्गम्, तच्च तत् ज्ञानं च विभङ्गज्ञानम्। (प्रज्ञापना. मलय. वृ. ३१२)।
१ क्षयोपशमिक व कर्मागम के निमित्तभूत विपरीत अवधिज्ञान को विभंगज्ञान कहा जाता है। २ जो अवधिज्ञान मिथ्यात्व के साथ रहता है उसे विभंगज्ञान कहते हैं। ५ जिस अवधिज्ञान के जानने का प्रकार विपरीत होता है वह विभंग कहलाता है। यह उसका निरुक्त लक्षण है।

विभावगुणव्यञ्जनपर्याय— विभावगुणव्यञ्जनपर्याया मत्यादयः। (आलाप. पृ. २१२)।
जीव के जो मति-श्रुतादि ज्ञान हैं वे विभावगुणव्यञ्जनपर्यायरूप हैं।

विभावद्रव्यव्यञ्जनपर्याय—विभावद्रव्यव्यञ्जनपर्याया नर-नारकादिकाः। (आलापप. पृ. २१२)।
जीव की जो नर-नारक आदि अवस्थायें होती हैं उन्हें विभावद्रव्यव्यञ्जनपर्याय कहा जाता है।

विभावपर्याय—१. णर-णारय-तिरिय-सुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा। (नि. सा. १५)। २. विभावपर्यायाश्चतुर्विधा नर-नारकादिपर्याया अथवा चतुरशीतिलक्षाश्च। (आलापप. पृ. २१२)।
१ मनुष्य, नारक, तिर्यञ्च और देव ये विभावपर्याय हैं।

विभाषा—सुत्तेण सूचिदत्थस्स विसेसिऊण भासा विभासा, विवरणं ति वुत्तं होइ। (जयध.—कसायपा. पृ. ३४ टि.)।
सूत्र के द्वारा सूचित अर्थ की विशेष रूप से व्याख्या करने को विभाषा कहते हैं।

विभ्यद्दोष—१. भयतो बिभ्यतो गुर्वादिभ्यो बिभ्यतो भयं प्राप्नुवतः परमार्थात्परस्य बालस्वरूपस्य वंदनाभिधानं विभ्यद्दोषः। (मूला. वृ. ७, १०७)। २. बिभ्यत् संघात् कुलात् गच्छात् क्षेत्राद्वा निष्कासयिष्येऽहमिति भयाद् वन्दनम्। (योगशा. स्वो. विव ३–१३०)। ३. ××× बिभ्यत्ता बिभ्यतो गुरोः॥ (अन. ध. ८–१०२); बिभ्यत्ता नाम दोषः स्यात्। या किम्? या क्रिया। कस्य? बिभ्यतः पुंसः। कस्मात्? गुरोराचार्यात्। बिभ्यतः कर्म बिभ्यत्ता, विभ्यद्दोष इत्यर्थः। (स्वो. टी. पृ. ६१२)।
१ गुरु आदि के भय से भयभीत साधु परमार्थ से परे बालस्वरूप अन्य मुनि को जो वन्दना करता है उसके विभ्यत् नाम का वन्दनादोष होता है। २ यदि वन्दना न करूंगा तो संघ, कुल गच्छ अथवा क्षेत्र से निकाल दिया जाऊंगा; इस भय से वन्दना करने पर बिभ्यत्वन्दन नामक वन्दनादोष का पात्र होता है।

विभ्रम—विभ्रमोऽनेकान्तात्मकवस्तुनो नित्य-क्षणिकैकान्तादिरूपेण ग्रहणम्। (बृ. द्रव्यसं. टी. ४२)।
अनेकान्तात्मक वस्तु को सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक रूप में जो ग्रहण किया जाता है, यह विभ्रम का लक्षण है।

विभ्रमविक्षेपकिलिकिञ्चितादिवियुक्तत्व— विभ्रमो वक्तुर्भ्रान्तमनस्कता, विक्षेपो वक्तुरेवाभिधेयार्थं प्रत्यनासक्तता, किलिकिञ्चितं रोष-भय-लोभा-

दिभावानां युगपदसकृत्करणम्, आदिशब्दान्मनोदोषान्तरपरिग्रहः; तैर्वियुक्तं यत्तत्तथा, तद्भावस्तत्त्वम्। (रायप. मलय. वृ. ४, पृ. २८)।

विभ्रम, विक्षेप और किलिकिञ्चित इन दोषों से रहित होना; यह एक (२९वां) सत्य वचन का अतिशयविशेष है। वक्ता के मन में जो भ्रान्ति रहा करती है उसका नाम भ्रम तथा उसी की अभिधेय अर्थ के प्रति जो अनासक्ति होती है उसका नाम विक्षेप है। क्रोध, भय और लोभ आदि भावों का एक साथ निरन्तर करना; इसे किलिकिञ्चित कहा जाता है। आदि शब्द से और भी मनोदोषों का ग्रहण होता है।

विमर्श—विमर्शनं विमर्शः अपायात्पूर्व ईहाया उत्तरः प्रायः शिरःकण्डूयनादयः पुरुषधर्मा अत्र घटन्ते इति सम्प्रत्ययः। (आव. नि. मलय. वृ. १२, पृ. ३८)।

अपाय (अवाय) के पूर्व और ईहा के पश्चात् शिरःकण्डूयन आदि पुरुषधर्म यहां घटित होते हैं, इस प्रकार के विचार का नाम विमर्श है। यह आभिनिबोधिक ज्ञान के पर्यायनामों के अन्तर्गत है।

विमल—१. विगतमलो विमलः, विमलानि वा ज्ञानादीन्यस्येति विमलः, तथा गर्भस्थे मातुर्मतिस्तनुश्च विमला जातेति विमलः। (योगशा. स्वो. विव. ३-१२४)। २. विमलो विनष्टो मलो द्रव्यरूपो मूलोत्तरकर्मप्रकृतिप्रपंचो यस्य। (रत्नक. टी. १-७)।

१ जो मल से रहित हो चुका है अथवा जिसके ज्ञान आदि विमल (निर्दोष) हैं तथा जिसके गर्भ में स्थित होने पर माता की बुद्धि व शरीर विमल (निर्मल) हो गया था; उसका नाम विमल है। यह तेरहवें तीर्थंकर का एक सार्थक नाम है। २ जिसका मल—द्रव्यरूप मूल व उत्तर कर्मप्रकृतियों का विस्तार—विनष्ट हो चुका है उसे विमल कहा जाता है। यह आप्त (अरहन्त) का एक नामान्तर है।

विमाता—मादा णाम सरिसत्तं, विगदा मादा विमादा। (धव. पु. १४, पृ. ३०)।

माता का नाम सदृशता है, जो सदृशता से रहित हो उसे विमाता कहा जाता है। विसदृश स्निग्ध व रूक्ष परमाणुओं में [illegible]सादिविस्रसाबन्ध होता है उसके प्रसंग में यह लक्षण किया गया है।

विमान—१. विशेषेणात्मस्थान् सुकृतिनो मानयन्तीति विमानानि। (स. सि. ४-१६; त. वा. ४, १६, १)। २. स्वांस्तु कृतिनो विशेषेण मानयन्तीति विमानानि। (त. श्लो. ४-१६)। ३. वलहि-कूडसमण्णिदा पासादा विमाणाणि णाम। (धव. पु. १४, पृ. ४९५)। ४. विशेषेण सुकृतिनो मानयन्ति विमानानि। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४-१७)।

१ अपने में स्थित जीव विशेष रूप से पुण्यवान् माने जाते हैं अतः सौधर्मादि कल्पों को विमान कहा जाता है। ३ जो प्रासाद छज्जों और कूटों से संयुक्त होते हैं उनका नाम विमान है।

विमानप्रस्तार—सग्गलोअसेडिवद्ध-पइण्णया विमाणपत्थडाणि णाम। (धव. पु. १४, पृ. ४९५)।

स्वर्गलोक में जो श्रेणिबद्ध और प्रकीर्णक विमान हैं उनका नाम विमानप्रस्तार है।

विमोचितावास—१. परकीयेषु च विमोचितेष्वावासः (विमोचितावासः)। (स. सि. ७-६)। २. निःस्वामित्वेन संत्यक्ताः गृहा सन्त्युद्वसाह्वयाः। प्राग्वदत्रापि वसति न कुर्यात्कुर्याद्वा तथा॥ (लाटीसं. ६-४०)।

१ दूसरों के द्वारा छोड़े गये घरों में रहना, इसे विमोचितावास कहा जाता है। २ दूसरों के द्वारा छोड़े गये घरों में 'हे देव ! प्रसन्न हो, मैं यहां पांच दिन रहता हूं' इस प्रकार की प्रार्थनापूर्वक रहना, अन्यथा न रहना; इसका नाम विमोचितावास है। यह अचौर्यव्रत की पांच भावनाओं के अन्तर्गत है।

विमोह—१. विमोहः परस्परसापेक्षनयद्वयेन द्रव्य-गुण-पर्यायादिपरिज्ञानाभावो विमोहः। तत्र दृष्टान्तः—गच्छत्तृणस्पर्शवद् दिग्मोहवद् वा। (वृ. द्रव्यसं. टी. ४३)। २. विमोहः शाक्यादिप्रोक्ते वस्तुनि निश्चयस्वरूपम्। (नि. सा. वृ. ५१)।

१ परस्पर सापेक्ष दोनों नयों के आश्रय से द्रव्य, गुण और पर्याय आदि का ज्ञान न होना; इसका नाम विमोह है। २ बुद्ध आदि के द्वारा प्ररूपित वस्तु में जो निश्चयस्वरूप ज्ञान होता है, यह विमोह का लक्षण है।

विरताविरत—देखो संयतासंयत। १. जो तसवहाउ विरदो अविरदओ तह य थावरवहादो। एक्कसमयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई॥ (गो. ३१; भावसं. ३५१)। २. विरताविरतस्तु स्यात्

प्रत्याख्यानोदये सति । (योगशा. स्वो. विव. १, १६, पृ. १११) । ३. तद्यथा यो निवृत्तः स्याद् यावत्त्रसवधादिह । न निवृत्तस्तथा पंचस्थावरहिंसया गृही ॥ विरताविरताख्यः स स्यादेकस्मिन्ननेहसि । लक्षणात् त्रसहिंसायास्त्यागेऽणुव्रतधारकः ॥ (लाटीसं. ५, १२५-२६) ।

१ जो एक ही समय में त्रसहिंसा से विरत और स्थावरहिंसा से अविरत रहता है, पर जिनदेव के ऊपर श्रद्धा रखता है वह विरताविरत श्रावक कहलाता है । २ प्रत्याख्यान कषाय का उदय होने पर जीव विरताविरत होता है—वह स्थूल हिंसादि पापों से तो विरत होता है, पर गृह कार्यों में रत होने से सूक्ष्महिंसादि पापों का त्याग नहीं कर पाता ।

विरति—१. विरमणं विरतिः । चारित्रमोहोपशम-क्षय-क्षयोपशमनिमित्तौपशमकादिचारित्राविर्भावात् विरमणं विरतिः । (त. वा. ७, १, २) । २. समईहि विणा महव्वयाणुव्वया विरई । (धव. पु. १४, पृ. १२) ।

१ चारित्रमोह के उपशम, क्षय और क्षयोपशम के निमित्त से जो औपशमिक आदि (क्षायिक व क्षायोपशमिक) चारित्र का आविर्भाव होता है उसे विरति कहते हैं । २ समितियों के बिना महाव्रतों और अणुव्रतों को विरति कहा जाता है ।

विरह—अन्तरमुच्छेदो विरहो परिणामंतरगमणं णत्थित्तगमणं अण्णभावव्ववहाणमिदि एयट्ठो । (धव. पु. ५, पृ. ३) ।

अन्तर, उच्छेद, विरह, परिणामान्तर गमन, नास्तित्वगमन और अन्य भाव व्यवधान ये सब समानार्थक हैं ।

विराग—१. रागकारणभावात् विषयेभ्यो विरञ्जनं विरागः । चारित्रमोहोदयाभावे तस्योपशमात् क्षयात् क्षयोपशमाद्-वा शब्दादिभ्यो विरंजनं विराग इति व्यवसीयते । (त. वा. ७, १२, ४) । २. रागकारणाभावाद् विषयेभ्यो विरंजनं विरागः । (त. श्लो. ७-१२) । ३. विरागः-विगतो रागो भावकर्म यस्य । (रत्नक. टी. १-७) ।

१ राग के कारणों के अभाव में जो विषयों से विरक्ति होती है उसका नाम विराग है ।

विरागता—विरागता लोभनिग्रहः । (आव. हरि. वृ. अ. ४, पृ. ६६०) ।

लोभ के निग्रह कर देने का नाम विरागता है ।

विरागविचय—१. शरीरमशुचिर्भोगा [गाः] किंपाकफलपाकिनः । विरागबुद्धिरित्यादि विरागविचयं स्मृतम् । (ह. पु. ५६-४६) । २. विरागविचयं शरीरमिदमनित्यमपरित्राणं विनश्वरस्वभावमशुचिदोषाधिष्ठितं सप्तधातुमयं बहुमलपूर्णमनवरतनिस्यंदितस्रोतोबिलमतिबीभत्समाधेयमशौचमपि पूतिगन्धिसम्यग्ज्ञानिजनवैराग्यहेतुभूतं नास्त्यत्र किंचित्कमनीयमिन्द्रियसुखानि प्रमुखरसिकानि क्रियावसानविरसानि किंपाकपाकविपाकानि पराधीनान्यस्थानप्रचुरभंगुराणि यावद्यावदेषां रामणीयकं तावत्तावद्भोगिनां तृष्णाप्रसंगोऽनवस्थो यथाऽग्नेरिन्धनैर्जलनिधेः सरित्सहस्रेण न तृप्तिस्तथा लोकस्याप्येतैर्न तृप्तिरुपशान्तिश्चैहिकामुत्रिकविनिपातहेतवस्तानि देहिनः सुखानीति मन्यन्ते महादुःखकारणान्यनात्मीयत्वादिष्टान्यप्यनिष्टानीति वैराग्यकारणविशेषानुचिन्तनं षष्ठं धर्म्यम् । (चा. सा. पृ. ७७-७८) ।

१ शरीर अपवित्र और भोग किंपाकफल के समान विफल हैं; इस प्रकार विषयों की ओर से जो विरक्ति का विचार होता है उसे विरागविचय धर्मध्यान कहा जाता है । यह धर्मध्यान के दस भेदों में छठा है ।

विराधक—जो रयणत्तयमइओ मुत्तूणं अप्पणो विसुद्धप्पा । चिंतेइ य परदव्वं विराहओ णिच्छयं भणिओ ॥ (आरा. सा. २०) ।

जो रत्नत्रयस्वरूप अपनी विशुद्ध आत्मा को छोड़कर पर द्रव्य का विचार करता है उसे विराधक कहा गया है ।

विरुद्धराज्यातिक्रम—देखो द्विट्राज्यलंघन । १. उचितन्यायादन्येन प्रकारेणादानं ग्रहणमतिक्रमः, विरुद्धं राज्यं विरुद्धराज्यम् विरुद्धराज्येऽतिक्रमः विरुद्धराज्यातिक्रमः । (स. सि. ७-२७) । २. उचितादन्यथा दानग्रहणमतिक्रमः । उचितान्न्यायादन्येन प्रकारेण दानग्रहणमतिक्रम इत्युच्यते । विरुद्धं राज्यं विरुद्धराज्यम्, विरुद्धराज्ये अतिक्रमः विरुद्धराज्यातिक्रमः । तत्राल्पमूल्यलभ्यानि महार्घाणि द्रव्याणीति प्रयत्नः । (त. वा. ७, २७, ३) । ३. विरुद्धं राज्यं विरुद्धराज्यम्, उचितन्यायादन्येन प्रकारेणादानं

ग्रहणमतिक्रमः, तस्मिन् विरुद्धराज्ये योऽसावतिक्रमः स विरुद्धराज्यातिक्रमः। (चा. सा. पृ. ६)। ४. विलोपश्च उचितन्यायादनपेतप्रकारेणार्थस्यादानम्, विरुद्धराज्यातिक्रम इत्यर्थः, विरुद्धराज्ये ह्यल्पमूल्यानि महार्घ्याणि द्रव्याणीति। (रत्नक. टी. ३-१२)। ५. विरुद्धं विनष्टं विगृहीतं वा, राज्यं राज्ञः पृथ्वीपालनोचितं कर्म, विरुद्धराज्यं छत्रभङ्गः पराभियोगो वेत्यर्थः। तत्रातिक्रम उचितन्यायादन्येनैव प्रकारेणार्थस्य दानग्रहणं। विरुद्धराज्येऽल्पमूल्यलभ्यानि महार्घ्याणि द्रव्याणि इति प्रयततः। अथवा विरुद्धयोरर्थाद्राज्ञो राज्यं नियमिता भूमिः कटकं वा विरुद्धराज्यं, तत्र षष्ठी-सप्तम्योऽर्थं प्रति भेदाभावात्। तस्यातिक्रमो व्यवस्थालङ्घनम्। व्यवस्था च परस्परविरुद्धराजकत्वे एव। तल्लंघनं चान्यतरराज्यनिवासिन इतरराज्ये प्रवेशः इतरराज्यनिवासिनो वा अन्यतरराज्ये प्रवेशः। विरुद्धराज्यातिक्रमस्य च यद्यपि स्वस्वामिनोऽननुज्ञातस्यादत्तादानलक्षणयोगेन तत्कारिणा च चौर्यदण्डयोगेन चौर्यरूपत्वाद् व्रतभंग एव, तथापि विरुद्धराज्यातिक्रमं कुर्वता यया वाणिज्यमेव कृतं न चौर्यमिति भावनया व्रतसापेक्षत्वाल्लोके च चोरोऽयमिति व्यपदेशाभावादतिचारता स्यात्। (सा. ध. स्वो. टी. ४-५०)। ६. राज्ञआज्ञाधिकरणं यदविरुद्धं कर्म तत् राज्यमुच्यते। उचितमूल्यादनुचितदानम् अनुचितं ग्रहणं च अतिक्रम उच्यते। विरुद्धराज्ये अतिक्रमः विरुद्धराज्यातिक्रमः। यस्मात् कारणात् राज्ञा घोषणा अन्यथा दापिता दानमादानं च अन्यथा करोति स विरुद्धराज्यातिक्रमः। (त. वृत्ति श्रुत. ७-२७)। ७. राज्ञाज्ञापितमात्मेत्थं युक्तं वाऽयुक्तमेव तत्। क्रियते न यदा स स्याद्विरुद्धराज्यातिक्रमः। (लाटीसं. ६-५२)।

१ उचित न्याय—शासकीय विधान को—छोड़कर अन्य प्रकार से वस्तु का ग्रहण करना, इसका नाम अतिक्रम है, विरुद्ध राज्य में किए गये इस अतिक्रम को विरुद्धराज्यातिक्रम कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि विभिन्न राज्यों में आवश्यकतानुसार कर (टैक्स) आदि के नियम निर्धारित किए जाते हैं। उनका उल्लंघन करके जहां अभीष्ट वस्तु अल्प मूल्य में सुलभ हो सकती है उसे वहां से मंगाना तथा जहां से उसका मूल्य अधिक मिल सकता है वहां उसको भेजना, यह अचौर्याणुव्रत को मलिन करने वाला उसका एक अतिचार है। २ उचित न्याय को छोड़कर अन्य प्रकार से वस्तु का देना या ग्रहण करना, इसका नाम अतिक्रम है। विरुद्ध राज्य में जो उक्त प्रकार से अतिक्रम किया जाता है उसे विरुद्धराज्यातिक्रम कहते हैं।

विरुद्ध हेत्वाभास—१. साध्याभावासम्भवनियमनिर्णयैकलक्षणो विरुद्धो हेत्वाभासः। (प्रमाणसं. स्वो. विव. ४०)। २. अन्यथैवोपपत्त्या विरुद्धः। (सिद्धिवि. स्वो. विव. ६-३२, पृ. ४३०)। ३. विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धः, अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात्। (परीक्षा. ६-२६)। ४. साध्यस्वरूपाद्विपरीतेन प्रत्यनीकेन निश्चितोऽविनाभावो यस्यासौ विरुद्धः। (प्र. क. मा. ६-२६)। ५. साध्यार्थभावनिश्चितो विरुद्धो हेत्वाभासः। (प्रमाणनि. पृ. ५८)। ६. अन्य अन्यथैव साध्याभावप्रकारेणैव साध्यान्तर एव उपपत्त्या विरुद्धः। (सिद्धिवि. वृ. ६-३२, पृ. ४३०)। ७. साध्यविपरीतव्याप्तो विरुद्धः। (न्यायदी. पृ. १०५)।

३ जिस हेतु का अविनाभाव साध्य से विपरीत के साथ निश्चित है उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जैसे—शब्द अपरिणामी है, क्योंकि वह कृतक है। यहां कृतक का अविनाभाव अपरिणामी से विपरीत परिणामी के साथ है।

विलेपन—घट्ठ-पिट्ठचंदण-कुंकुमादिदव्वं विलेवणं णाम। (धव. पु. ६, पृ. २७३)।

घिसे गये अथवा पीसे गये चन्दन व कुंकुम आदि द्रव्यों को विलेपन कहा जाता है।

विलोप—देखो विरुद्धराज्यातिक्रम।

विवाह—१. कन्यादानं विवाहः। स. सि. ७, २८)। २. सद्वेद्यचारित्रमोहोदयाद्विवहनं विवाहः। सद्वेद्यस्य चारित्रमोहस्य चोदयाद्विवहनं कन्यावरणं विवाह इत्याख्यायते। (त. वा. ७, २८, १)। ३. सद्वेद्यचारित्रमोहोदयाद्विवहनं विवाहः। (त. श्लो. ७-२८)। ४. युक्तितो वरणविधानमग्निदेव-द्विजसाक्षिकं च पाणिग्रहणं विवाहः। (नीतिवा. ३१-३, पृ. ३७३)। ५. कन्यादानं विवाहः। (रत्नक. टी. ३-१४)। ६. अग्नि-देवतादिसाक्षिकं पाणिग्रहणं विवाहः। ××× शुद्धकलत्रलाभफलो विवाहः। (योगशा. स्वो. विव. १-४७, पृ. १४७)।

७. कन्यादानं विवाहः। (त. वृत्ति श्रुत. ७-२८)।

१ कन्या का देना, इसका नाम विवाह है। २ साता वेदनीय और चारित्रमोह के उदय से जो कन्या का वरण किया जाता है उसे विवाह कहते हैं। ४ युक्ति से जो वरण का विधान है तथा अग्निदेव और ब्राह्मण की साक्षी में जो कन्या के हाथ को ग्रहण किया जाता है उसे विवाह कहा जाता है।

विविक्त—१. त्थी-पसु-संढयादीहि ज्झाणज्झेय-विग्घकारणेहि वज्जियगिरि-गुहा-कंदर-पब्भार-सुसाण-सुण्णहरारामुज्जाणाओ पदेसा विवित्तं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ५८)। २. विविक्तः शरीर-कर्मादिभिर-संस्पृष्टः। (समाधि. टी. ६)।

१ ध्यान-ध्येय में बाधक स्त्री, पशु व नपुंसक आदि कारणों से रहित पर्वत की गुफा, कन्दरा, प्राग्भार, श्मशान, जनशून्य गृह व उद्यान आदि स्थान विविक्त माने जाते हैं। २ जो शरीर और कर्म आदि से स्पृष्ट नहीं है—उनसे रहित हो चुका है—उसे विविक्त कहा जाता है। यह आप्त का एक नामान्तर है।

विविक्तशय्यासन तप—देखो विविक्त। १. तेरि-क्खिय माणुस्सिय सविगारिणि [णि] देवि-गेहसं-सत्ते। वज्जेंति अप्पमत्ता णिलए सयणासणट्ठाणे॥ (मूला. ५-१६०)। २. जत्थ ण सोत्तिग अत्थि दु सद्द-रस-रूव-गंधफासेहिं। सज्झाय-ज्झाणवाघादो वा वसधी विवित्ता सा॥ वियडाए अवियडाए सम-विसमाए बहिं च अंतो वा। इत्थि-णउंसय-पसु-वज्जिवाए सीदाए उसिणाए॥ उग्गम-उप्पादण-एसणाविसुद्धाए अकिरियाए दु। वसदि असंसत्ताए णिप्पाहुडियाए सेज्जाए॥ सुण्ण घर-गिरिगुहा-रुक्खमूल-आगंतुगारदेवकुले। अकदप्पब्भाराराम-घरादीणि य विवित्ताइं॥ (भ. आ. २२८-३१)। ३. शून्यागारादिषु विविक्तेषु जन्तुपीडाविरहितेषु संयतस्य शय्यासनमाबाधात्यय-ब्रह्मचर्य-स्वाध्याय-ध्यानादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यमिति पञ्चमं तपः। (स. सि. ९-१९)। ४. आबाधात्यय-ब्रह्मचर्य-स्वाध्याय-ध्यानादिप्रसिद्ध्यर्थं विविक्तशय्यासनम्। शून्यागारादिषु विविक्तेषु जन्तुपीडाविरहितेषु संयतस्य शय्यासनं वेदितव्यम्। तत् किमर्थम्? आबाधात्यय-ब्रह्मचर्य-स्वाध्याय-ध्यानादिसिद्ध्यर्थम्। (त. वा. ९,१९, १२)। ५. तत्थ (विवित्ते ठाणे) सयणा-सणाभिग्गहो विवित्तसयणासणं णाम तवो होदि। किमट्ठमेसो कीरदे? असब्भजणदंसणेण तस्सहवासेण जणिदतिकालविसयराग-दोसपरिहरणट्ठं। (धव. पु. १३, पृ. ५८-५९)। ६. आबाधात्यय-ब्रह्मचर्य-स्वाध्याय-ध्यानादिप्रसिद्ध्यर्थं विविक्तशय्यासनम्। (त. श्लो. ९-१९)। ७. चित्तव्याकुलतापराजयो विविक्तशयनासनम्। (भ. आ. विजयो. ६)। ८. जन्तुपीडाविमुक्तायां वसतौ शयनासनम्। सेव-मानस्य विज्ञेयं विविक्तशयनासनम्॥ (त. सा. ७-१४)। ९. जो राय-दोसहेदू आसण-सिज्जादियं परिच्चयइ। अप्पा णिव्विसय सया तस्स तवो पंचमो परमो॥ पूजादिसु णिरवेक्खो संसार-सरीर-भोग-णिव्विण्णो। अब्भंतरतवकुसलो उवसमसीलो महा-संतो॥ जो णिविसेदि मसाणे वण-गहणे णिज्जणे महाभीमे। अण्णत्थ वि एयंते तस्स वि एदं तवं होदि॥ (कार्तिके. ४४७-४९)। १०. ध्याता-ध्ययनविघ्नकर - स्त्री-पशु-पण्ढकादिपरिवर्जितगिरि-गुहा-कन्दर-पितृवन-शून्यागाराऽऽरामोद्यानादिप्रदेशेषु विविक्तेषु जन्तुपीडारहितेषु संवृतेषु संयतस्य शयनासनं विविक्तशय्यासनं नाम। तत्किमर्थम्? आबाधात्यय-ब्रह्मचर्य-स्वाध्याय-ध्यानादिप्रसिद्ध्यर्थमसभ्यजनदर्शनेन तत्सहवासेन वा जनितत्रिकालविषयराग-द्वेष-मोहा-पोहार्थं वा। (चा. सा. पृ. ६०)। ११. विविक्ते-ऽध्ययन-ध्यानबाधकौत्करवर्जिते॥ शयनं चाऽऽसनं यत्तद्विविक्तशयनासनम्॥ तरुकोटर-शून्यागाराऽऽ-रामोर्वीधरादयः। विविक्ताः कामिनी-पण्ढ-पशु-क्षुद्रांगिवर्जिताः॥ (आचा. सा. ६, १५-१६)। १२. विजन्तुविहितावलाद्यऽविषये मनोविक्रिया, नि-मित्तरहिते रतिं ददति शून्यसद्मादिके। स्मृतं शयन-मासनाद्यथ विविक्तशय्यासनं। तपोऽतिहतिवर्णिता-श्रुतसमाधिसंसिद्धये॥ असभ्यजनसंवासदर्शनो-त्थैर्न मय्यते। मोहानुराग-विद्वेषैर्विविक्तवसतिं श्रितः॥ (अन. ध. ७, ३०-३१)। १३. विवि-क्तेषु जन्तु-स्त्री-पशु-नपुंसकरहितेषु स्थानेषु शून्या-गारादिषु आसनम् उपवेशनं शय्या निद्रा स्थानम् अवस्थानं वा विविक्तशय्यासनम्। (भावप्रा. टी. ७८)। १४. विविक्तेषु शून्येषु गृह-गुहा-गिरि-कन्द-रादिषु प्राणिपीडारहितेषु शय्यासनं विविक्तशय्या-सनम्। (त. वृत्ति श्रुत. ९-१९)।

१ तिर्यंचनी, मनुष्यिणी, विकारयुक्त देवी और

गृहस्थ इनके संसर्ग से सहित स्थान को प्रयत्नपूर्वक छोड़कर निर्बाध स्थान में शय्या व आसन लगाना, इसका नाम विविक्तशय्यासन तप है। ३ ब्रह्मचर्य के परिपालन और स्वाध्याय व ध्यानादि की सिद्धि के लिए जन्तुपीडा से रहित निर्जन सूने घर आदि में शयन करना व बैठना, यह विविक्तशय्यासन तप कहलाता है।

विवृतयोनि—विवृतः प्रकटपुद्गलप्रचयप्रदेशः। (मूला. वृ. १२-५८)।

जन्म को आधारभूत जिस योनि के पुद्गलप्रदेशों का समूह प्रगट रहता है उसे विवृतयोनि कहते हैं।

विवेक—१. संसक्तान्न-पानोपकरणादिविभजनं विवेकः। (स. सि. ९-२२; त. इलो. ९-२२; मूला. वृ. १२-१६; प्रायश्चि. चू. ७-२१)। २. संसक्तान्न-पानोपकरणादिविभजनं विवेकः। संसक्तानामन्न-पानोपकरणादीनां विभजनं विवेक इत्युच्यते। (त. वा. ९, २२, ५)। ३. विवेकः अनेषणीयस्य भक्तादेः कथञ्चित् गृहीतस्य परित्यागः। (आव. नि. हरि. वृ. १४१८, पृ. ७६४)। ४. गण-गच्छ-दव्व-खेत्तादिहिंतो ओसारणं विवेगो णाम पायच्छित्तं। (धव. पु. १३, पृ. ६०)। ५. येन यत्र वा अशुभोपयोगोऽभूत्तन्निराक्रिया, ततो परासनं विवेकः। (भ. आ. विजयो. ६); एवमतिचारनिमित्तद्रव्य-क्षेत्रादिकान्मनसा अपगतिस्तत्र अनादृतिर्विवेकः। (भ. आ. विजयो. ६)। ६. अन्न-पानौषधीनां तु विवेकः स्याद्विवेचनम्। (त. सा. ७-२५)। ७. संसक्तेषु द्रव्य-क्षेत्रान्न-पानोपकरणादिषु दोषान्निवर्तयितुमलभमानस्य तद्द्रव्यादिविभजनं विवेकः। अथवा शक्त्यनवगूहनेन प्रयत्नेन परिहरतः कुतश्चित्कारणादप्रासुकग्रहण-ग्राहणयोः प्रासुकस्यापि प्रत्याख्यातस्य विस्मरणात्प्रतिग्रहे च स्मृत्वा पुनस्तदुत्सर्जनं विवेकः। (चा. सा. पृ. ६२)। ८. परिहर्तुमशक्तस्य दोषं द्रव्यादिसंश्रयम्। तद्-द्रव्यादिपरित्यागो विवेकः कथितोऽथवा॥ अप्रासुकस्य सेवायां त्यक्तस्य प्रासुकस्य च। प्रमादेन पुनः स्मृत्वा स तदा तद्विसर्जनम्॥ (आचा. सा. ६, ४२-४३)। ९. विवेकः अशुद्धातिरिक्तभक्त-पान-वस्त्र-शरीरतन्मलादित्यागः। (स्थानां. अभय. वृ. २५१)। १०. देहादात्मन आत्मनो वा सर्वसंयोगानां विवेचनं बुद्ध्या पृथक्करणं विवेकः। (औपपा. २०, पृ. ४४)। ११. धन-धान्य-हिरण्यादिसर्वस्वत्यागलक्षणो विवेकः। (योगशा. स्वो. विव. १, १३); विवेको हेयोपादेयज्ञानम्। (योगशा. स्वो. विव. ३-१६); विवेकः संसक्तान्नपानोपकरण-शय्यादिविषयस्त्यागः। (योगशा. स्वो. विव. ४, ९०)। १२. विवेकः परित्यागः, यत् प्रायश्चित्त विवेक एव कृते शुद्धिमासादयति नान्यथा, यथाधाकर्मणि गृहीते तत् विवेकार्हत्वात् विवेकः। (व्यव. भा. मलय. वृ. पी. १-५३, पृ. २०)। १३. विवेकः स्वजन-सुवर्णादित्यागः। (आव. नि. मलय. वृ. ८७२, पृ. ४८०)। १४. संसक्तेऽन्नादिके दोषान्निवर्तयितुमप्रभोः। यत्तद्विभजनं साधोः स विवेकः सतां मतः॥ विस्मृत्य ग्रहणेऽप्रासोर्ग्रहणे वाऽपरस्य वा। प्रत्याख्यातस्य संस्मृत्य विवेको वा विसर्जनम्॥ (अन. ध. ७, ४९-५०)। १५. शुद्धस्याप्यशुद्धत्वेन यत्र संदेह-विपर्ययौ भवतः, अशुद्धस्य शुद्धत्वेन निश्चयो वा यत्र प्रत्याख्यातं यत्तद्वस्तु भाजने मुखे वा प्राप्तं यस्मिन् वस्तुनि गृहीते कषायादिकमुत्पद्यते तस्य सर्वस्य त्यागो विवेकः। (भावप्रा. टी. ७८)। १६. यद्वस्तु नियमितं भवति तद्वस्तु चेन्निजभाजने पतति मुखमध्ये वा समायाति यस्मिन् वस्तुनि गृहीते वा कषायादिकम् उत्पद्यते तस्य सर्वस्य वस्तुनः क्रियते तद्विवेकनाम प्रायश्चित्तम्। (कार्तिके. टी. ४५१)।

१ सम्बद्ध अन्न-पान व उपकरण आदि के विभाग को विवेक प्रायश्चित कहा जाता है। ३ अनेषणीय (अयोग्य या सदोष) भोजन आदि के किसी प्रकार से ग्रहण किये जाने पर उसका परित्याग करना, इसका नाम विवेक है। ४ गण, गच्छ, द्रव्य और क्षेत्र आदि से पृथक करना; यह विवेक प्रायश्चित्त का लक्षण है। ५ जिसके द्वारा या जिसके विषय में अशुभ उपयोग हुआ है उसका निराकरण करना व उससे अलग होने को विवेक कहा जाता है। १०. शरीर से आत्मा का अथवा आत्मा से सब संयोगों का बुद्धि से विचार कर उन्हें पृथक् करना, इसे विवेक कहते हैं।

विवेकप्रतिमा—विवेचनं विवेकः त्यागः, स चान्तराणां कषायादीनां बाह्यानां गण-शरीर-भक्तपानादीनामनुचितानां तत्प्रतिपत्तिर्विवेकप्रतिमा। (स्थानां. अभय. वृ. ८४)।

आभ्यन्तर कषाय आदि तथा बाह्य गण, शरीर और भक्त-पान आदि को अयोग्य होने के कारण जो जो परित्याग किया जाता है; इसका नाम विवेक है। उसके प्रति आस्था रखना या स्वीकार करना, इसे विवेकप्रतिमा कहते हैं।

विशदप्रतिभासत्व— किमिदं विशदप्रतिभासत्वं नाम ? उच्यते—ज्ञानावरणस्य क्षयाद्विशिष्टक्षयोपशमाद्वा शब्दानुमानाद्यसम्भवि यन्नैर्मल्यमनुभवसिद्धम्। (न्यायदी. पृ. २४)।

ज्ञानावरण के क्षय अथवा विशिष्ट क्षयोपशम से शब्द (आगम) और अनुमान आदि में असम्भव ऐसी जो अनुभवसिद्ध निर्मलता प्रगट होती है उसे विशदप्रतिभास कहते हैं।

विशसिता — विशसिता हतस्याङ्गविभागकरः। (योगशा. स्वो. विव. ३–२१)।

मारे गये मृग आदि प्राणी के अवयवों को जो विभक्त किया करता है उसे विशसिता कहा जाता है। यह हन्ता आदि के समान घातक के अन्तर्गत है।

विशुद्धता—अइतिव्वकसायाभावो मंदकसाओ विसुद्धदा। (धव पु. ११, पृ. ३१४)।

अतिशय तीव्र कषाय के अभाव या मन्द कषाय का नाम विशुद्धता है। यह सातबन्धकों की विशुद्धता है।

विशुद्धि—१. तदावरणक्षयोपशमे सति आत्मनः प्रसादो विशुद्धिः। (स. सि. १–२४; त. वा. १, २४)। २. तदभावो (संक्लेशाभावो) विशुद्धिरात्मनः स्वात्मन्यवस्थानम्। (अष्टशती ९५)। ३. सादवंधजोग्गपरिणामो विसोही। (धव. पु. ६, पृ. १८०); सादबंधपाओग्गकसाउदयट्ठाणाणि विसोही। (धव. पु. ११, पृ. २०९)। ४. आत्मप्रसत्तिरन्योक्ता विशुद्धिर्निजरूपतः। (त. श्लो. १, २४)। ५ वर्णाश्रमाणां स्वाचारप्रच्यवने त्रयीतो विशुद्धिः। (नीतिवा. ७–१९)। ६. विशुद्धिः प्रमोदादिशुभपरिणामः। (आ. मी. वसु. वृ. ९५)। ७. विशोधनं विशुद्धिः—अपराधमलिनस्यात्मनो निर्मलीकरणम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–१२४)। ८. मनःपर्ययज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमादात्मनः प्रसन्नता विशुद्धिः। (त. वृत्ति श्रुत. १–२४)।

१ विवक्षित ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशम के होने पर जो आत्मा की निर्मलता होती है उसे विशुद्धि कहते हैं। ३ सातावेदनीय के बन्धयोग्य परिणाम का नाम विशुद्धि है। ५ ब्राह्मण आदि वर्णों और ब्रह्मचारी आदि आश्रमों के अपने आचार से भ्रष्ट होने पर तीन वेदों के निर्देशानुसार विशुद्धि हुआ करती है। ७ अपराध से मलिन हुए आत्मा के निर्मल करने का नाम विशुद्धि है।

विशुद्धिलब्धि—१. पडिसमयमणंतगुणहीणकमेण उदीरिदअणुभागफद्दयजणिदजीवपरिणामो सादादिसुहकम्मबंधणिमित्तो असादादिअसुहकम्मबंधविरुद्धो विसोही णाम। तिस्सेवुवलंभो विसोहिलद्धी णाम। (धव. पु. ६, पृ. २०४)। २. आदिमलद्धिभवो जो भावो जीवस्स सादपहुदीणं। सत्थाणं पयडीणं बंधणजोगो विसुद्ध[द्धि]लद्धी सो॥ (ल. सा. ५)। ३. मिथ्यादृष्टिजीवस्य प्रागुक्तक्षयोपशमलब्धौ सत्यां सातादिप्रशस्तप्रकृतिबन्धहेतुर्यो भावो धर्मानुरागरूपशुभपरिणामो भवति तत्प्राप्तिर्विशुद्धिलब्धिः। (ल. सा. टी. ५)।

१ प्रत्येक समय में अनन्तगुणे हीन क्रम से उदीरणा को प्राप्त अनुभागस्पर्धकों से जो सातावेदनीय आदि पुण्य कर्मों के बन्ध का कारणभूत तथा असाता आदि पाप कर्मों के बन्ध का विरोधी जीव का परिणाम होता है उसे विशुद्धि और उसकी प्राप्ति को विशुद्धिलब्धि कहते हैं।

विशुद्धिस्थान—परियत्तमाणियाणं साद-थिर-सुह-सुभग-सुस्सर-आदेज्जादीणं सुभपयडीणं बंधकारणभूदकसायट्ठाणाणि विसोहिट्ठाणाणि। (धव. पु. ११, पृ. २०८)।

परिवर्तमान साता, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर और आदेय आदि पुण्य प्रकृतियों के बन्ध के कारणभूत कषायस्थानों को विशुद्धिस्थान कहा जाता है।

विशेष—१. विशिष्यतेऽर्थोऽर्थान्तरादिति विशेषः। (स. सि. ६–८)। २. विशिष्यते विशिष्टिर्वा विशेषः। विशिष्यतेऽर्थोऽर्थान्तरादिति विशेषः, अथवा विशिष्टिर्वा विशेषः। (त. वा. ६, ८, ११)। ३. आदेसेण भेदेण विसेसेणेत्ति समाणट्ठो। (धव. पु. ४, पृ. १४४–४५)। ४. विसेसो अणेयसंखो—वदिरेयलक्खणो विसेसो × × ×। (धव. पु. १३, पृ. २३४)। ५. विशेषश्च विसदृशपरिणामलक्षणः। (न्यायवि.

गृहस्थ इनके संसर्ग से सहित स्थान को प्रयत्नपूर्वक छोड़कर निर्बाध स्थान में शय्या व आसन लगाना, इसका नाम विविक्तशय्यासन तप है। ३ ब्रह्मचर्य के परिपालन और स्वाध्याय व ध्यानादि की सिद्धि के लिए जन्तुपीडा से रहित निर्जन सूने घर आदि में शयन करना व बैठना, यह विविक्तशय्यासन तप कहलाता है।

विवृतयोनि—विवृतः प्रकटपुद्गलप्रचयप्रदेशः। (मूला. वृ. १२-५८)।

जन्म की आधारभूत जिस योनि के पुद्गलप्रदेशों का समूह प्रगट रहता है उसे विवृतयोनि कहते हैं।

विवेक—१. संसक्तान्न-पानोपकरणादिविभजनं विवेकः। (त. सि. ९-२२; त. श्लो. ९-२२; मूला. वृ. १२-१६; प्रायश्चि. चू. ७-२१)। २. संसक्तान्न-पानोपकरणादिविभजनं विवेकः। संसक्तानामन्न-पानोपकरणादीनां विभजनं विवेक इत्युच्यते। (त. वा. ९, २२, ५)। ३. विवेकः अनेषणीयस्य भक्तादेः कथञ्चित् गृहीतस्य परित्यागः। (आव. नि. हरि. वृ. १४१८, पृ. ७६४)। ४. गण-गच्छ-दव्व-खेत्तादिहितो ओसारणं विवेगो णाम पायच्छित्तं। (धव. पु. १३, पृ. ६०)। ५. येन यत्र वा अशुभोपयोगोऽभूत्तन्निराक्रिया, ततो परासनं विवेकः। (भ. आ. विजयो. ६); एवमतिचारनिमित्तद्रव्य-क्षेत्रादिकान्मनसा अपगतिस्तत्र अनादृतिर्विवेकः। (भ. आ. विजयो. ६)। ६. अन्नपानौषधीनां तु विवेकः स्याद्विवेचनम्। (त. सा. ७-२५)। ७. संसक्तेषु द्रव्य-क्षेत्रान्न-पानोपकरणादिषु दोषान्निवर्तयितुमलभमानस्य तद्द्रव्यादिविभजनं विवेकः। अथवा शक्त्यनवगूहनेन प्रयत्नेन परिहरतः कुतश्चित्कारणादप्रासुकग्रहण-ग्राहणयोः प्रासुकस्यापि प्रत्याख्यातस्य विस्मरणात्प्रतिग्रहे च स्मृत्वा पुनस्तदुत्सर्जनं विवेकः। (चा. सा. पृ. ६२)। ८. परिहर्तुमशक्तस्य दोषं द्रव्यादिसंश्रयम्। तद्द्रव्यादिपरित्यागो विवेकः कथितोऽथवा॥ अप्रासुकस्य सेवायां त्यक्तस्य प्रासुकस्य च। प्रमादेन पुनः स्मृत्वा स तदा तद्विसर्जनम्॥ (आचा. सा. ६, ४२-४३)। ९. विवेकः अशुद्धातिरिक्तभक्त-पान-वस्त्र-शरीरतन्मलादित्यागः। (स्थानां. अभय. वृ. २५१)। १०. देहादात्मन आत्मनो वा सर्वसंयोगानां विवेचनं बुद्ध्या पृथक्करणं विवेकः। (औपपा. २०, पृ. ४४)। ११. धन-धान्य-हिरण्यादिसर्वस्वत्यागलक्षणो विवेकः। (योगशा. स्वो. विव. १, १३); विवेको हेयोपादेयज्ञानम्। (योगशा. स्वो. विव. ३-१६); विवेकः संसक्तान्नपानोपकरण-शय्यादिविषयस्त्यागः। (योगशा. स्वो. विव. ४, ९०)। १२. विवेकः परित्यागः, यत् प्रायश्चित्त विवेक एव कृते शुद्धिमासादयति नान्यथा, यथाधाकर्मणि गृहीते तत् विवेकार्हत्वात् विवेकः। (व्यव. भा. मलय. वृ. पी. १-५३, पृ. २०)। १३. विवेकः स्वजन-सुवर्णादित्यागः। (आव. नि. मलय. वृ. ८७२, पृ. ४८०)। १४. संसक्तेऽन्नादिके दोषान्निवर्तयितुमप्रभोः। यत्तद्विभजनं साधोः स विवेकः सतां मतः॥ विस्मृत्य ग्रहणेऽप्रासोर्ग्रहणे वाऽपरस्य वा। प्रत्याख्यातस्य संस्मृत्य विवेको वा विसर्जनम्॥ (अन. ध. ७, ४९-५०)। १५. शुद्धस्याप्यशुद्धत्वेन यत्र संदेह-विपर्ययौ भवतः, अशुद्धस्य शुद्धत्वेन निश्चयो वा यत्र प्रत्याख्यातं यत्तद्वस्तु भाजने मुखे वा प्राप्तं यस्मिन् वस्तुनि गृहीते कषायादिकमुत्पद्यते तस्य सर्वस्य त्यागो विवेकः। (भावप्रा. टी. ७८)। १६. यद्वस्तु नियमितं भवति तद्वस्तु चेन्निजभाजने पतति मुखमध्ये वा समायाति यस्मिन् वस्तुनि गृहीते वा कषायादिकम् उत्पद्यते तस्य सर्वस्य वस्तुनः क्रियते तद्विवेकनाम प्रायश्चित्तम्। (कार्तिके. टी. ४५१)।

१ सम्बद्ध अन्न-पान व उपकरण आदि के विभाग को विवेक प्रायश्चित कहा जाता है। ३ अनेषणीय (अयोग्य या सदोष) भोजन आदि के किसी प्रकार से ग्रहण किये जाने पर उसका परित्याग करना, इसका नाम विवेक है। ४ गण, गच्छ, द्रव्य और क्षेत्र आदि से पृथक करना; यह विवेक प्रायश्चित्त का लक्षण है। ५ जिसके द्वारा या जिसके विषय में अशुभ उपयोग हुआ है उसका निराकरण करना व उससे अलग होने को विवेक कहा जाता है। १०. शरीर से आत्मा का अथवा आत्मा से सब संयोगों का बुद्धि से विचार कर उन्हें पृथक् करना, इसे विवेक कहते हैं।

विवेकप्रतिमा—विवेचनं विवेकः त्यागः, स चान्तराणां कषायादीनां बाह्यानां गण-शरीर-भक्तपानादीनामनुचितानां तत्प्रतिपत्तिर्विवेकप्रतिमा। (स्थानां. अभय. वृ. ८४)।

आभ्यन्तर कषाय आदि तथा बाह्य गण, शरीर और भक्त-पान आदि को अयोग्य होने के कारण जो जो परित्याग किया जाता है; इसका नाम विवेक है। उसके प्रति आस्था रखना या स्वीकार करना, इसे विवेकप्रतिमा कहते हैं।

विशदप्रतिभासत्व— किमिदं विशदप्रतिभासत्वं नाम ? उच्यते—ज्ञानावरणस्य क्षयाद्विशिष्टक्षयोपशमाद्वा शब्दानुमानाद्यसम्भवि यन्नैर्मल्यमनुभवसिद्धम्। (न्यायदी. पृ. २४)।

ज्ञानावरण के क्षय अथवा विशिष्ट क्षयोपशम से शब्द (आगम) और अनुमान आदि में असम्भव ऐसी जो अनुभवसिद्ध निर्मलता प्रगट होती है उसे विशदप्रतिभास कहते हैं।

विशसिता — विशसिता हतस्याङ्गविभागकरः। (योगशा. स्वो. विव. ३-२१)।

मारे गये मृग आदि प्राणी के अवयवों को जो विभक्त किया करता है उसे विशसिता कहा जाता है। यह हन्ता आदि के समान घातक के अन्तर्गत है।

विशुद्धता—अइतिव्वकसायाभावो मंदकसाओ विसुद्धदा। (धव पु. ११, पृ. ३१४)।

अतिशय तीव्र कषाय के अभाव या मन्द कषाय का नाम विशुद्धता है। यह सातबन्धकों की विशुद्धता है।

विशुद्धि—१. तदावरणक्षयोपशमे सति आत्मनः प्रसादो विशुद्धिः। (स. सि. १-२४; त. वा. १, २४)। २. तदभावो (संक्लेशाभावो) विशुद्धिरात्मनः स्वात्मन्यवस्थानम्। (अष्टशती ९५)। ३. सादबंधजोग्गपरिणामो विसोही। (धव. पु. ६, पृ. १८०); सादबंधपाओग्गकसाउदयट्ठाणाणि विसोही। (धव. पु. ११, पृ. २०६)। ४. आत्मप्रसक्तिरत्रोक्ता विशुद्धिर्निजरूपतः। (त. श्लो. १, २४)। ५ वर्णाश्रमाणां स्वाचारप्रच्यवने त्रयीतो विशुद्धिः। (नीतिवा. ७-१६)। ६. विशुद्धिः प्रमोदादिशुभपरिणामः। (श्रा. मी. वसु. वृ. ६५)। ७. विशोधनं विशुद्धिः—अपराधमलिनस्यात्मनो निर्मलीकरणम्। (योगशा. स्वो. विव. ३-१२४)। ८. मनःपर्ययज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमादात्मनः प्रसन्नता विशुद्धिः। (त. वृत्ति श्रुत. १-२४)।

१ विवक्षित ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशम के होने पर जो आत्मा की निर्मलता होती है उसे विशुद्धि कहते हैं। ३ सातावेदनीय के बन्धयोग्य परिणाम का नाम विशुद्धि है। ५ ब्राह्मण आदि वर्णों और ब्रह्मचारी आदि आश्रमों के अपने आचार से भ्रष्ट होने पर तीन वेदों के निर्देशानुसार विशुद्धि हुआ करती है। ७ अपराध से मलिन हुए आत्मा के निर्मल करने का नाम विशुद्धि है।

विशुद्धिलब्धि —१. पडिसमयमणंतगुणहीणकमेण उदीरिदअणुभागफद्दयजणिदजीवपरिणामो सादादिसुहकम्मबंधणिमित्तो असादादिअसुहकम्मबंधविरुद्धो विसोही णाम। तिस्सेवुवलंभो विसोहिलद्धी णाम। (धव. पु. ६, पृ. २०४)। २. आदिमलद्धिभवो जो भावो जीवस्स सादपहुदीणं। सत्थाणं पयडीणं बंधणजोगो विशुद्ध[द्धि]लद्धी सो॥ (ल. सा. ५)। ३. मिथ्यादृष्टिजीवस्य प्रागुक्तक्षयोपशमलब्धौ सत्यां सातादिप्रशस्तप्रकृतिबन्धहेतुर्यो भावो धर्मानुरागरूपशुभपरिणामो भवति तत्प्राप्तिविशुद्धिलब्धिः। (ल. सा. टी. ५)।

१ प्रत्येक समय में अनन्तगुणे हीन क्रम से उदीरणा को प्राप्त अनुभागस्पर्धकों से जो सातावेदनीय आदि पुण्य कर्मों के बन्ध का कारणभूत तथा असाता आदि पाप कर्मों के बन्ध का विरोधी जीव का परिणाम होता है उसे विशुद्धि और उसकी प्राप्ति को विशुद्धिलब्धि कहते हैं।

विशुद्धिस्थान—परियत्तमाणियाणं साद-थिर-सुह-सुभग-सुस्सर-आदेज्जादीणं सुभपयडीणं बंधकारणभूदकसायट्ठाणाणि विसोहिट्ठाणाणि। (धव. पु. ११, पृ. २०८)।

परिवर्तमान साता, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर और आदेय आदि पुण्य प्रकृतियों के बन्ध के कारणभूत कषायस्थानों को विशुद्धिस्थान कहा जाता है।

विशेष—१. विशिष्यतेऽर्थोऽर्थान्तरादिति विशेषः। (स. सि. ६-८)। २. विशिष्यते विशिष्टिर्वा विशेषः। विशिष्यतेऽर्थोऽर्थान्तरादिति विशेषः, अथवा विशिष्टिर्वा विशेषः। (त. वा. ६, ८, ११)। ३. आदेसेण भेदेण विसेसेणेत्ति समाणट्ठो। (धव. पु. ४, पृ. १४४-४५)। ४. विसेसो अणेयसंखो—वदिरेयलक्खणो विसेसो × × ×। (धव. पु. १३, पृ. २३४)। ५. विशेषश्च विसदृशपरिणामलक्षणः। (न्यायवि.

१–५२; श्रा. भी. वसु. वृ. ७५)। ६. उक्तं च—श्रसमानस्तु विशेषो वस्त्वेकमुभयरूपं तु। (श्राव. नि. मलय. वृ. ७५५, पृ. ३७३)।

१ एक पदार्थ में जो दूसरे पदार्थ से भिन्नता होती है उसे विशेष कहा जाता है। ३ आदेश, भेद और विशेष ये समानार्थक शब्द हैं। आदेश नाम मार्गणा का है। ५ विसदृश परिणाम को विशेष कहते हैं।

विशेषज्ञ—तथा वस्त्ववस्तुनोः कृत्याकृत्ययोः स्वपरयोर्विशेषमन्तरं जानाति निश्चिनोतीति विशेषज्ञः। अथवा विशेषात्मन एव गुण-दोषाधिरोहलक्षणं जानातीति विशेषज्ञः। (योगशा. स्वो. विव. १–५५, पृ. १५८)।

वस्तु-अवस्तु, कृत्य-अकृत्य और आत्म-पर के विशेष (अन्तर) को जो जानता है उसे विशेषज्ञ कहा जाता है। अथवा जो अपने ही गुण-दोषों के अधिरोहस्वरूप विशेष को जानता है वह विशेषज्ञ कहलाता है।

विशोधि—विशेषेण शोधिर्विशोधिः। एतदुक्तं भवति शिष्येणालोचितेऽपराधे सति तद्योग्यं यत्प्रायश्चित्तप्रदानं सा विशोधिरभिधीयते। (श्रोघनि. वृ. २)।

शिष्य के द्वारा अपराध की आलोचना कर लेने पर उसके योग्य जो प्रायश्चित्त दिया जाता है उसे विशोधि कहते हैं।

विश्वस्तमन्त्रभेद—देखो मन्त्रभेद। तथा विश्वस्ता विश्वासमुपगता ये मित्र-कलत्रादयस्तेषां मन्त्रो मन्त्रणम्, तस्य भेदः प्रकाशनम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–९१)।

विश्वास को प्राप्त जो मित्र व स्त्री आदि हैं उनके मंत्र को—गोपनीय अभिप्राय को—प्रगट कर देना, इसका नाम विश्वस्तमंत्रभेद है। यह सत्याणुव्रत का एक अतिचार है।

विष—१. विषं स्थावर-जङ्गमं सकृत्रिमभेदभिन्नम्। (मूला. वृ. ६–३३)। २. विषं शृंगिकादि। (योगशा. स्वो. विव. ३–११०)। ३. तत्र परस्परसंयोगजनितमारणशक्तिविशिष्टतैल-कर्पूरादिद्रव्यं विषम्। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. ३०३)।

२ शंखिया आदि को प्राणघातक होने से विष कहा जाता है। ३ जिस तेल व कपूर आदि द्रव्य में परस्पर के संयोग से प्राणघातक शक्ति उत्पन्न हुई है वह विष कहलाता है।

विषय—१. विषयस्तावत् द्रव्य-पर्यायात्मार्थः। (न्यायकु. स्वो. वि. १–५, पृ. ११५)। २. रसादयोऽर्थाः विषयः। (धव. पु. १३, पृ. २१६)। ३. इन्द्रियमनस्तर्पणो भावो विषयः। (नीतिवा. ६–१६)। ४. तथा च शुक्रः—मनसश्चेन्द्रियाणां च सन्तोषो येन जायते। स भावो विषयः प्रोक्तः प्राणिनां सौख्यदायकः॥ (नीतिवा. टी. ६–१६)।

१ द्रव्य-पर्यायरूप अर्थ को विषय कहा जाता है। २ जिह्वा आदि इन्द्रियों से जिन रस आदि को ग्रहण किया जाता है वे उनके विषय माने गए हैं। ३ इन्द्रियों व मन के सन्तुष्ट करने वाले पदार्थ विषय कहलाते हैं।

विषयानन्द रौद्रध्यान—स्वकीयविषयसुरक्षणे दक्षः स्वकीययुवती-द्विपद-चतुष्पद-स्वाद्य-खाद्याशन-पान-सुस्वरश्रवण-सुगन्धगन्धग्रहण-धन-धान्य-गृह-वस्त्राभरणादीनां रक्षणे रक्षायां यत्नकरणे दक्षः निपुणः, इदं विषयानन्दाख्यं रौद्रध्यानम्। (कार्तिके. टी. ४७६)।

अपने विषयों के संरक्षण में तत्पर रहते हुए युवती स्त्री, दास-दासी आदि द्विपद, गाय-भैंस आदि चतुष्पद तथा स्वाद्य व खाद्य भोजन-पान आदि सभी इन्द्रिय-विषयों के संरक्षण की जो निरन्तर चिन्ता रहती है; यह विषयानन्द रौद्रध्यान कहलाता है।

विषयी—१. विषयी द्रव्य-भावेन्द्रियम्। (लघीय. स्वो. विव. ५)। २. षडपीन्द्रियाणि विषयिणः। (धव. पु. १३, पु. २१६)।

१ रूप-रसादि स्वरूप विषयों की ग्राहक होने से द्रव्य व भाव इन्द्रियों को विषयी कहा जाता है।

विषवाणिज्य—१. विषास्त्र-हल-यन्त्रायोहरितालादि वस्तुनः। विक्रयो जीवितघ्नस्य विषवाणिज्यमुच्यते॥ (योगशा. ३–११०; त्रि. पु. च. ६, ३, ३४४)। २. विषवाणिज्यं जीवघ्नवस्तुविक्रयः। (सा. ध. स्वो. टी. ५–२२)।

१ विष, अस्त्र, हल, यंत्र, लोहमय कुदाली आदि और हरिताल (विष) आदि जो भी वस्तु प्राणियों की घातक हों उसके बेचने का नाम विषवाणिज्य है।

विष्ठौषधिप्राप्त—देखो विडौषधि व विप्रौषधि ऋद्धि। विट्ठसद्दो जेण देसामासिश्रो तेण मुत्त-विट्ठा-

सुत्ताणं गहणं। एदे ओसहित्तं पत्ता जेसिं ते विट्ठो-सहिपत्ता। (धव. पु. ९, पृ. ९७)।

विष्ठा शब्द सूत्र में देशामर्शक है, अतः उससे मूत्र आदि अन्य सूत्रों को भी ग्रहण करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि जिन ऋषियों का मल-मूत्र भी औषधिस्वरूप परिणत हो जाता है उन्हें विष्ठौषधि ऋद्धिप्राप्त कहा जाता है।

विष्णु—१. उपात्तदेहं व्याप्नोतीति विष्णुः। (धव. पु. १, पृ. ११९); स्वशरीराशेषावयवान् वेष्टीति विष्णुः। (धव. पु. ९, पृ. २२१)। २. सकल-विमलकेवलज्ञानेन येन कारणेन समस्तं लोकालोकं जानाति व्याप्नोति तेन कारणेन विष्णुर्भण्यते। (बृ. द्रव्यसं टी. १४)। ३. व्यवहारेण स्वोपात्तदेहम्, समुद्घातेन सर्वलोकम्, निश्चयेन ज्ञानेन सर्वं वेवेष्टीति विष्णुः। (गो. जी. जी. प्र. ३६६)। ४. विश्वं हि द्रव्य-पर्यायं विश्वं त्रैलोक्यगोचरम्। व्याप्तं ज्ञान-त्विषा येन स विष्णुर्व्यापको जगत्॥ (आप्तस्व. ३१)। ५. विष्णुर्ज्ञानेन सर्वार्थविस्तृतत्वात् कथंचन। (लाटीसं. ४-१३२; पंचाध्या. २-६१०)।

१ जो प्राप्त शरीर को व्याप्त करता है अथवा अपने शरीर के समस्त अवयवों को बार-बार वेष्टित करता है उसका नाम विष्णु है। यह जीव का एक पर्यायवाची शब्द है। ४ जो ज्ञानरूप प्रकाश के द्वारा तीनों लोक सम्बन्धी समस्त द्रव्यों व उनकी पर्यायों को व्याप्त करता है उसे विष्णु कहा जाता है।

विसम्भोगिक—विसम्भोगो दानादिभिरसंव्यवहारः, स यस्यास्ति स विसम्भोगिकः। (स्थानां. अभय. वृ. १७३)।

दानादि के द्वारा संव्यवहार के अभाव को विसंभोग कहते हैं। इस प्रकार के विसम्भोग से जो सहित होता है उसे विसम्भोगिक कहा जाता है।

विसर्प—बादरशरीरमधितिष्ठतो जले तैलवत् वि-सर्पणं विसर्पः। (त. वा. ५, १६, १)।

जैसे जल के ऊपर तेल फैल जाता है वैसे ही बादर शरीर पर अधिष्ठित हुए जीव के जो आत्मप्रदेशों का फैलाव होता है उसे विसर्प कहते हैं।

विसंवाद—अन्यथा प्रतिपत्तिः पुनर्विसंवादः। (सिद्धिवि. वृ. २-९, पृ. १३७)।

विपरीत प्रतीति का नाम विसंवाद है।

विसंवादन—१. विसंवादनमन्यथाप्रवर्तनम्। × × × परगतं विसंवादनम्। सम्यगभ्युदय-निःश्रेय-सार्थासु क्रियासु प्रवर्तमानमन्यं तद्विपरीतकाय-वाङ्मनोभिर्विसंवादयति मैवं कार्षीरेवं कुर्विति। (स. सि. ६-२२)। २. विसंवादनमन्यथाप्रवर्तनम्। अन्येन प्रकारेण प्रवर्तनं प्रतिपादनं विसंवादनमिति विज्ञायते। × × × सम्यगभ्युदय-निःश्रेयसार्थासु क्रियासु प्रवर्तमानमन्यं काय-वाङ्मनोभिर्विसंवाद-यति मैवं कार्षीरेवं कुर्विति कुटिलतया प्रवर्तनं वि-संवादनम्। (त. वा. ६, २२, २-३)। ३. अन्यथा स्थितेषु पदार्थेषु परेषामन्यथाकथनं विसंवादनम्। (त. वृत्ति श्रुत. ६-२२)।

१ स्वर्ग-मोक्षादि की साधक समीचीन क्रियाओं में प्रवर्तमान किसी दूसरे को मन, वचन व काय की कुटिलता से 'ऐसा मत करो, ऐसा करो' इस प्रकार से ठगने को विसंवादन कहा जाता है।

विस्तारदृष्टि—देखो विस्ताररुचि।

विस्ताररुचि—१. विस्ताररुचिः-अंग-पूर्वविषयजी-वाद्यर्थविस्तारप्रमाण - नयादिनिरूपणोपलब्धश्रद्धाना विस्ताररुचयः। (त. वा. ३, ३६, २)। २. × × × यान्या तस्या विस्तारजा तु सा॥ प्रमाण-नय-निक्षेपाद्युपायैरतिविस्तृतैः। अवगाह्य परिज्ञानात्तत्त्वं-स्याङ्गादिभाषितम्॥ (म. पु. ७४, ४४५-४६)। ३. यः श्रुत्वा द्वादशाङ्गीं कृतरुचिरथ तं विद्धि विस्तारदृष्टिम्। (आत्मानु. १४)। ४. द्वादशा-ङ्गचतुर्दशपूर्व-प्रकीर्णविस्तीर्णश्रुतार्थ - समर्थनप्रस्तारो विस्तारः। (उपासका. पृ. ११४; अन. ध. स्वो. टी. २-६२)। ५. द्वादशाङ्गश्रवणेन यज्जायते तद्वि-स्तारसम्यक्त्वं प्रतिपाद्यते। (दर्शनप्रा. टी. १२)।

२ प्रमाण, नय और निक्षेप आदि विस्तृत उपायों द्वारा अंग-पूर्वादि श्रुत में प्ररूपित तत्त्वों को जान-कर जो रुचि या श्रद्धा होती है उसे विस्ताररुचि, विस्तारदृष्टि अथवा विस्तारसम्यक्त्व भी कहते हैं।

विस्तारानन्त—जं तं वित्थाराणंतं तं पदरागारेण आगासं पेक्खमाणे अंताभावादो भवदि। (धव. पु. ३, पृ. १६)।

प्रतराकार से आकाश के देखने पर उसका अन्त सम्भव नहीं है; इससे उसे विस्तारानन्त कहा जाता है।

विस्तारासंख्यात—जं तं वित्थारासंखेज्जयं तं लोगागासपदरं लोगपदरागारपदेसगणणं पडुच्च संखाभावादो। (धव. पु. ३, पृ. १२५)।

लोकप्रतराकार प्रदेशों की गणना की अपेक्षा संख्या की संभावना न होने से लोकाकाश-प्रतर को विस्तारासंख्यात कहा जाता है।

विहायोगति—तथा विहायसा गतिर्गमनं विहायोगतिः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३)।

आकाश से जो गमन होता है उसे विहायोगति कहते हैं।

विहायोगतिनामकर्म—१. विहाय आकाशम्, तत्र गतिनिर्वर्तकं तद्विहायोगतिनाम। (स. सि. ८–११; त. वा. ८, ११, १८)। २. लब्धि-शिक्षर्द्धिप्रत्ययस्याकाशगमनस्य जनकं विहायोगतिनाम। (त. भा. ८–१२)। ३. विहाय आकाशमित्यर्थः। विहायसि गतिः विहायोगतिः। जेसि कम्मक्खंधाणमुदएण जीवस्स आगासे गमणं होदि तेसि विहायगदित्ति सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ६१); जस्स कम्मस्सुदएण भूमिमोट्ठिहिय अणोट्ठिहिय वा जीवाणमागासे गमण होदि तं विहायगदिणामं। (धव. पु. १३, पृ. ३६५)। ४. विहाय आकाशम्, विहायसि गतिर्विहायोगतिर्येषां कर्मस्कन्धानामुदयेन जीवस्याकाशे गमनं तद्विहायोगतिनाम। (मूला. वृ. १२, १९५)। ५. यतः शुभेतरगमनयुक्तो भवति तद्विहायोगतिनाम। (समवा. अभय. वृ. ४२)। ६. यदुदयेन आकाशे गमनं भवति सा विहायोगतिनाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८–११)।

१ विहायस् नाम आकाश का है, जिसके उदय से आकाश में गति निर्वर्तित होती है उसे विहायोगति नामकर्म कहते हैं। २ लब्धि (जैसे देवादिकों के) और शिक्षाजनित ऋद्धि (जैसे तपस्वियों के) इनके निमित्त से जो आकाश में गमन होता है वह जिस कर्म के निमित्त से होता है उसे विहायोगति नामकर्म कहा जाता है।

विहारवत्स्वस्थान — विहारवदिसत्थाणं णाम अप्पणो उप्पण्णगाम-णयर-रण्णादीणि छड्डिय अण्णत्थ सयण-णिसीयण-चंकमणादिवावारेणच्छणं। (धव. पु. ४, पृ. २६); तत्तो (पडिगहिदखेत्तादो) वाहि गंतूणच्छणं विहारवदिसत्थाणं। (धव. पु. ४, पृ. ३२); तत्तो (अप्पणो उप्पण्णगामाईणं सीमादो) बाहिरपदेसे हिंडणं विहारवदिसत्थाणं णाम। (धव. पु. ७, पृ. ३००)।

जिस ग्राम, नगर अथवा वन आदि में उत्पन्न हुआ है उसको छोड़कर अन्यत्र सोना, बैठना और गमन आदि करना; इसका नाम विहारवत्स्वस्थान है।

वीचार—देखो अर्थसंक्रान्ति, योगसंक्रान्ति व व्यञ्जनसंक्रान्ति। १. वीचारोऽर्थ-व्यञ्जन-योगसंक्रान्तिः। (त. सू. ९–४४)। २. अत्थाण वंजणाण य जोगाण य संकमो हु वीचारो। (भ. आ. १८८२)। ३. अर्थो ध्येयः द्रव्यं पर्यायो वा, व्यञ्जनं वचनम्, योगः काय-वाङ्मनस्कर्मलक्षणः, संक्रान्तिः परिवर्तनम्। द्रव्यं विहाय पर्यायमुपैति, पर्यायं त्यक्त्वा द्रव्यमित्यर्थसंक्रान्तिः। एकं श्रुतवचनमुपादाय वचनान्तरमालम्बते, तदपि विहायान्यदिति व्यञ्जनसंक्रान्तिः। काययोगं त्यक्त्वा योगान्तरं गृह्णाति, योगान्तरं च त्यक्त्वा काययोगमिति योगसंक्रान्तिः। एवं परिवर्तनं वीचार इत्युच्यते। (स. सि. ९-४४; त. वा. ९–४४)। ४. वीचारः संक्रान्तिः अर्थ-व्यञ्जन योगेषु। (धव. पु. १३, पृ. ७७)। ५. अर्थ-व्यञ्जन-योगानां वीचारः संक्रमः क्रमात्। (ह. पु. ५६–५८)। ६. अर्थ-व्यञ्जन-योगानां वीचारः संक्रमो मतः (ज्ञाना. 'मः स्मृतः')। (म. पु. २१–१७२; त. सा. ७–४७; ज्ञाना. २१–७२)। ७. अनीहित-वृत्यार्थान्तरपरिणमनं वचनाद्वचनान्तरपरिणमनं मनो-वचन-काययोगेषु योगाद्योगान्तरपरिणमनं वीचारो भण्यते। (वृ. द्रव्यसं. ४८)।

१ अर्थ, व्यञ्जन और योग के परिवर्तन को वीचार कहते हैं।

वीतराग—मोहणीयक्खएण वीयराओ। (धव. पु. ९, पृ. ११८)।

मोहनीय कर्म के क्षय से जीव वीतराग—राग-द्वेष से रहित—होता है।

वीतरागकथा—गुरु-शिष्याणां विशिष्टविदुषां वा राग-द्वेष-रहितानां तत्त्वनिर्णयपर्यन्तं परस्परं प्रवर्तमानो वाग्व्यापारो वीतरागकथा। (न्यायदी. पृ. ७९–८०)।

गुरु और शिष्य अथवा राग-द्वेष से रहित अन्य विशिष्ट विद्वानों के मध्य में भी जो वस्तु स्वरूप के निर्णय होने तक वचन का व्यापार चलता है उसे वीतरागकथा कहते हैं।

वीतरागचारित्र—तत्-(अपध्यान-) प्रभृतिसमस्त-विकल्पजालरहितं स्वसंवित्तिसमुत्पन्नसहजानन्दैक-लक्षणसुखरसास्वादसहितं यत्तद्वीतरागचारित्रं भवति। (बृ. द्रव्यसं. टी. २२, पृ. ५८)।

अपध्यान आदि समस्त विकल्पों से रहित तथा स्व-संवेदन से उत्पन्न स्वाभाविक सुख के रसास्वाद से सहित जो चारित्र होता है उसे वीतरागचारित्र कहते हैं।

वीतरागसम्यक्त्व—१. आत्मविशुद्धिमात्रमित-रत्। सप्तानां कर्मप्रकृतीनाम् आत्यन्तिकेऽपगमे सत्यात्मविशुद्धिमात्रमितरद्वीतरागसम्यक्त्वमित्युच्य-ते। अत्र पूर्वं (सरागसम्यक्त्वं) साधनं भवति उत्तरं साधनं साध्यं च। (त. वा. १, २, ३१)। २. राग-द्वयरहितानां क्षीणमोहावरणानां वीतरागसम्यग्दर्श-नम्। (भ. आ. विजयो. ५१)। ३. वीतरागसम्य-क्त्वं निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं वीतरागचारित्रा-विनाभूतम्, तदेव निश्चयसम्यक्त्वमिति। (परमा. टी. २-१७)।

१ सात कर्मप्रकृतियों का सर्वथा क्षय हो जाने पर जो आत्मा में निर्मलता होती है उसे वीतरागसम्यक्त्व कहा जाता है।

वीतहेतु—वीतं हि नाम विधिमुखेन साध्यसाधनम्। (न्यायवि. विव. २-१७३, पृ. २०८)।

विधिमुख से जो हेतु साध्य को सिद्ध किया करता है वह सांख्यमतानुसार वीतहेतु कहलाता है।

वीतावीत—प्रतिषेधपरमुभयपरं च वीतावीतम्। (न्यायवि. विव. २-१७३, पृ. २०८)।

जो हेतु प्रतिषेध को तथा उभय (विधि-प्रतिषेध) को भी सिद्ध करता है उसे सांख्यमतानुसार वीतावीत हेतु कहा जाता है।

वीर—१. विशिष्टां मां लक्ष्मीं मुक्तिलक्षणामभ्यु-दयलक्षणां वा रातीति वीरः। (युक्त्यनु. टी. १)। २. विशेषेणेरयति मोक्षं प्रति गच्छति गमयति वा प्राणिनः प्रेरयति वा कर्म्माणि निराकरोति वीरयति वा रागादिशत्रून् प्रति पराक्रमयतीति वीरः। (स्थानां. अभय. वृ. ५१); विदारयति यत्कर्म्म तपसा च विराजते। तपोवीर्येण युक्तश्च तस्माद्वीर इति स्मृतः॥ (स्थानां. अभय. वृ. पृ. ३६ उद्.)। ३. विशेषेण ईरयति क्षिपति कर्माणीति वीरः। (योगशा. स्वो. विव. १-१)। ४. 'शूर वीर विक्रान्तौ' वीरयति स्म कषायोपसर्ग-परीषहेन्द्रिया-दिशत्रुगणजयं प्रति विक्रामति स्मेति वीरः। 'अचः' इत्यच् प्रत्ययः। अथवा 'ईर् गति-प्रेरणयोः' विशेषेण ईरयति गमयति स्फोटयति यद्वा प्रापयति शिवमिति वीरः। यदि वा 'ईर् गतौ' इत्यादिको धातुः विशे-षेण अपुनर्भावेन ईर्ते स्म याति स्मेति वीरः अपश्चिम-तीर्थकरो वर्द्धमानस्वामीत्यर्थः। (बृहत्सं. मलय. वृ. १)। ५. वीरो विक्रान्तः, वीरयते शूरयते विक्रामति कर्मारातीन् विजयत इति वीरः। (नि. सा. वृ. १)।

१ 'मा' का अर्थ लक्ष्मी है, जो विशिष्ट मा - मुक्ति और स्वर्गादि के अभ्युदय रूप लक्ष्मी—को 'राति' अर्थात् देता है उसका नाम वीर है। २ 'विशेषेण ईरयति इति वीरः'। इस निरुक्ति के अनुसार जो विशेष रूप से मोक्ष के प्रति स्वयं जाता है तथा दूसरों को पहुंचाता है, अथवा कर्मों का निराकरण करता है, अथवा रागादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है उसे वीर कहा जाता है। यह अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान जिनेन्द्र का एक सार्थक नाम है।

वीरासन—१. वीरासनं जंघे विप्रकृष्टदेशे कृत्वा-सनम्। (भ. आ. विजयो. २२५)। २. वीरासनं ऊरुद्वयोपरि पादद्वयविन्यासः। (भ. आ. मूला. २२५)। ३. × × × न्यस्तावूर्वोः वीरासनं क्रमौ। (अन. ध. ८-८३)।

१ जांघों को दूर देश में करके बैठना, इसे वीरासन कहते हैं। २ दोनों जंघाओं के ऊपर दोनों पांवों के रखने पर वीरासन होता है।

वीर्य—१. द्रव्यस्य स्वशक्तिविशेषो वीर्यम्। (स. सि. ६-६)। २. द्रव्यस्यात्मसामर्थ्यं वीर्यम्। द्रव्यस्य शक्तिविशेषः सामर्थ्यं वीर्यमिति निश्चीयते। (त. वा. ६, ६, ६)। ३. वीर्यं वीर्यान्तरायक्षयोपश-शम-क्षयजं खल्वात्मपरिणामः। (आव. नि. हरि. वृ. १५१३, पृ. ७८३)। ४. आत्मनो निर्विकारस्य कृतकृत्यत्वधीश्च या। उत्साहो वीर्यमिति तत्कीर्तितं मुनिपुंगवैः॥ (मोक्षपं. ४७)। ५. द्रव्यस्य पुरुषा-दीनिजशक्तिविशेषो वीर्यम्॥ (त. वृत्ति श्रुत. ६-६)।

१ द्रव्य की अपनी शक्तिविशेष को वीर्य कहते हैं। २ वीर्यान्तराय के क्षयोपशम अथवा क्षय से जो

आत्मा का परिणाम उत्पन्न होता है उसका नाम वीर्य है।

वीर्यप्रवाद—१. छद्मस्थ-केवलिनां वीर्यं सुरेन्द्र-दैत्याधिपानां ऋद्धयो नरेन्द्र-चक्रधर-बलदेवानां च वीर्यलाभो द्रव्याणां सम्यक्त्वलक्षणं च यत्राभिहितं च तद्वीर्यप्रवादम्। (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७५)। २. वीरियाणुपवादं णाम पुव्वं अट्ठण्णं वत्थूणं सट्ठिसयपाहुडाणं १६० सत्तरिलक्खपदेहि ७०००००० अप्पविरियं परविरियं उभयविरियं खेत्तविरियं भवविरियं तवविरियं वण्णेइ। (धव. पु. १, पृ. ११५); छद्मस्थानां केवलिनां वीर्यं सुरेन्द्र-दैत्याधिपानां वीर्यर्द्धयो नरेन्द्र-चक्रधर-बलदेवानां वीर्यलाभो द्रव्याणामात्मपरोभय-क्षेत्र-भवपितवोवीर्यं सम्यक्त्व-लक्षणं च यत्राभिहितं तद्वीर्यप्रवादं सप्ततिशतसह-स्रपदम् ७०००००० । (धव. पु. ६, पृ. २१३)। ३. विरियाणुपवादपुव्वं अप्पविरिय-परविरिय-तदु-भयविरिय-खेत्तविरिय-कालविरिय-भवविरिय-तवविरियादीणं वण्णणं कुणइ। (जयध. १, पृ. १४०)। ४. वीर्यप्रवादं तृतीयम्, तत्राप्यजीवानां जीवानां सकर्मेतराणां वीर्यं प्रोच्यत इति वीर्यप्रवादम्, तस्यापि सप्ततिपदशतसहस्राणीति परिमाणम्। (समवा. वृ. १४७)। ५. सप्ततिलक्षपदं चक्रधर-सुरपति-धरणेन्द्र-केवल्यादीनां वीर्यमाहात्म्यव्यावर्णकं वीर्यानुप्रवादम्। (श्रुतभ. टी. १०)। ६. बलदेव-चक्रवर्ति-तीर्थंकरादिबलवर्णकं सप्ततिलक्षपदप्रमाणं वीर्यानुप्रवादपूर्वम्। (त. वृत्ति श्रुत. १-२०)। ७. विज्जाणुवादपुव्वं वज्जं जीवादिवत्थुसामत्थं। अणुवादो अणुवण्णणमिह तस्स हवेत्ति णणमह॥ तं वण्णदि अप्पबलं परविज्जं उहय विज्जमवि णिच्चं। खेत्तबलं कालबलं भावबलं तवबलं पुण्णं॥ दव्वबलं गुणपज्जयविज्जं विज्जाबलं च सव्वबलं। सत्तरि-लक्खपयेहिं पुण्ण पुव्वं तदीयं खु॥ (अंगप. ४६, ५१)।

१ जिस पूर्वश्रुत में छद्मस्थों व केवलियों के वीर्य, इन्द्र और दैत्येन्द्रों की ऋद्धियों; राजा, चक्रवर्ती व बलदेवों के वीर्यलाभ तथा द्रव्यों व सम्यक्त्व के लक्षण का निरूपण किया गया है उसे वीर्यप्रवाद-पूर्व कहते हैं। ४ जिसमें अजीवों तथा सकर्मा (संसारी) व मुक्त जीवों के वीर्य का कथन किया जाता है उसका नाम वीर्यप्रवादपूर्व है। यह तीसरा पूर्व है तथा पदसंख्या उसकी ७००००००१ है।

वीर्याचार—१. सम्यग्ज्ञानविलोचनस्य दधतः श्रद्धा-नमर्हन्मते वीर्यस्याविनिगूहनेन तपसि स्वस्य प्रय-त्नाद्यतेः। या वृत्तिस्तरणीव नौरविवरा लघ्वी भवोदन्वतो वीर्याचारमहं तमूर्जितगुणं वन्दे सताम-र्चितम्॥ (चारित्रभ. ६, पृ. १८६)। २. स्वशक्त्य-निगूहनरूपा वृत्तिर्ज्ञानादौ वीर्याचारः। (भ. आ. विजयो. ४६); वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितसाम-र्थ्यपरिणामो वीर्यम्, तदविगूहनेन रत्नत्रयवृत्तिर्वी-र्याचारः। (भ. आ. विजयो. ८५); स्वशक्त्यनि-गूहनं तपसि वीर्याचारः। (भ. आ. विजयो. ४१६)। ३. तत्रैव शुद्धात्मस्वरूपे स्वशक्त्यनवगूहनेनाचरणं परिणमनं वीर्याचारः। (परमा. वृ. ७)। ४. वीर्य-स्यानिह्नवो वीर्याचारः शुभविषयस्वशक्त्योत्साहः। (मूला. वृ. ४-२)। ५. वीर्याचारो ज्ञानादिप्रयोज-नेषु वीर्यस्यागोपनमिति। (समवा. वृ. १३६)। ६. विरियाचारो स्वसामर्थ्यानिगूहनेन निर्मलरत्नत्रये प्रवृत्तिः। (भ. आ. मूला. ८५)।

१ जो मुनि जिनशासन पर श्रद्धा रखता है तथा सम्यग्ज्ञानरूप नेत्र से सहित है उसकी अपने सामर्थ्य को न छिपाकर जो प्रयत्नपूर्वक तपमें प्रवृत्ति होती है उसे वीर्याचार कहा जाता है। जिस प्रकार छेद से रहित छोटी नौका द्वारा समुद्र से पार हो सकते हैं उसी प्रकार इस वीर्याचार रूप प्रवृत्ति के आश्रय से संसार रूप समुद्र से पार हो सकते हैं। ५ ज्ञान आदि प्रयोजनों में शक्ति को न छिपाना, इसका नाम वीर्याचार है।

वीर्यानुप्रवाद—देखो वीर्यप्रवाद।

वीर्यानुवाद—देखो वीर्यप्रवाद।

वीर्यान्तराय—१. वीर्यं बलं शुक्रमित्येकोऽर्थः। जस्स कम्मस्स उदएण वीरियस्स विग्घं होदि तं वीरियंतराइयं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ७८); अन्त-रमेति गच्छतीत्यन्तरायः × × × वीर्यः [र्यं] शक्ति-रित्यर्थः। वीर्यस्य विघ्नकृदन्तरायः वीर्यान्तरायः। (धव. पु. १३, पृ. ३६०)। २. तथा यदुदयात् सत्यपि नीरुजि शरीरे यौवनिकायामपि वर्तमानो-ऽल्पप्राणो भवति यद्वा बलवत्यपि शरीरे साध्येऽपि प्रयोजने हीनसत्त्वतया न प्रवर्तते तद्वीर्यान्तरायम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २६३, पृ. ४७५)।

१ वीर्य का अर्थ बल और शुक्र (शरीरगत धातु-

विशेष) होता है, जिस कर्म के उदय से वीर्य का विघ्न होता है उसे वीर्यान्तराय कहते हैं। २ जिसके उदय से शरीर के नीरोग और यौवन अवस्था में वर्तमान होने पर भी प्राणी अल्पप्राण होता है, अथवा शरीर के बलवान् होने पर भी तथा प्रयोजन के साध्य भी होने पर प्राणी हीनबल होने से उसमें प्रवृत्त नहीं होता है वह वीर्यान्तराय कहलाता है।

वृक्षमूल-उपगत-अतिचार—१. वृक्षस्य मूलमुपगतस्यापि हस्तेन पादेन शरीरेण वाप्कायानां पीडा। कथम्? शरीरावलग्नजलकणप्रमार्जनं हस्तेन पादेन वा शिलाफलकादिगतोदकापनयनम्, मृत्तिकार्द्रायां भूमौ शयनम्, निम्नेन जलप्रवाहगमनदेशे वा अवस्थानम्, अवग्राहे वर्षापातः कदा स्यादिति चिन्ता, वर्षति देवे कदास्योपरमः स्यादिति वा, छत्र-कटकादिधारणं वर्षानिवारणायेत्यादिकः। (भ. आ. विजयो. ४८७)। २. वृक्षमूलाधिवासस्य (अतिचारः) हस्तेन पादेन वा शरीरावलग्नजलकणप्रमार्जनम्, तद्वच्छिला-फलकादिगतोदकापनयनम्, जलार्द्रायां भूमौ शयनम्, निम्नजलप्रवाहगमनदेशे वा अवस्थानम्, अवग्रहे वृष्टिः कदा स्यादिति चिन्ता, वृष्टौ वा कदैतदुपरमः स्यादिति वा, वृष्टिप्रतिबन्धाय छत्रादिधारणं वेत्यादिः। (भ. आ. मूला. ४८७)।

१ हाथ, पांव अथवा शरीर के द्वारा (शरीर में संलग्न जलकणों के पोंछने से) जलकायिक, जीवों को पीड़ा पहुंचाना, हाथ अथवा पांव से शिला अथवा पटिये पर स्थित जल को हटाना, गोली भूमि पर सोना, नीचे जलप्रवाह के जाने के स्थान में स्थित होना, वर्षा के अभाव में 'कब वर्षा होगी' ऐसा विचार करना, अथवा वर्षा के चालू रहने पर 'कब यह समाप्त होगी' ऐसा चिन्तन करना, वर्षा के निवारण के लिए छत्र व कटक आदि को धारण करना; इत्यादि ये सब कायक्लेश के अन्तर्गत वर्षायोग के अतिचार हैं।

वृत्त—१. वृत्तं च तद्द्वयस्यासंमंयस्खलद्वृत्तिधारशा. स्वो. विव. १–४५, पृ. १५७)।

२ समस्त सावद्य के परित्याग का नाम वृत्त है। ३ अनाचार (कुत्सित आचार) को छोड़कर समीचीन आचार के परिपालन को वृत्त कहते हैं।

वृत्तिपरिसंख्यान—१. गोयरपमाण-दायग भायणणाणाविधाण जं गहणं। तह एसणस्स गहणं विविधस्स य वुत्तिपरिसंखा॥ (मूला. ५–१५८)। २. गत्तापच्चागदं उज्जुवीहि गोमुत्तियं च पेलवियं। संबूका वट्टंपि य पदंगवीधी य गोयरिया॥ पाडयणियंसणभिक्खापरिमाणं दत्तिघासपरिमाणं। पिंडेसणा य पाणेसणा य जागूय पुग्गलया॥ संसिट्ठं फलिह परिखा पुप्फोवहिदं व सुद्धगोवहिदं। लेवडमलेवडं पाणयं च णिस्सित्थगमसित्थं॥ पत्तस्स दायगस्स य अवग्गहो बहुविहो ससत्तीए। इच्चेवमादिविविधा णादव्वा वुत्तिपरिसंखा॥ (भ. आ. २१८–२१)। ३. भिक्षार्थिनो मुनेरेकागारादिविषयसंकल्पचिन्तावरोधो वृत्तिपरिसंख्यानमाशानिवृत्त्यर्थमवगन्तव्यम्। (स. सि. ९–१९)। ४. एकागार-सप्तवेश्मैकरथ्यार्द्धग्रामादिविषयः संकल्पो वृत्तिपरिसंख्यानम्। भिक्षार्थिनो मुनेरेकागारादिविषयः संकल्पश्चित्तावरोधः वृत्तिपरिसंख्यानमाशानिवृत्त्यर्थमवगन्तव्यम्। (त. वा. ९, १९, ४)। ५. भोयण-भायण-घर-वाड-दादारा वुत्ती णाम। तिस्से वुत्तीए परिसंख्याणं गहणं वुत्तिपरिसंख्याणं णाम। एदम्मि वुत्तिपरिसंखाणे पडिबद्धो जो अवग्गहो सो वुत्तिपरिसंख्याणं णाम तवो। (धव. पु. १३, पृ. ५७)। ६. एकागार-सप्तवेश्मैकरथ्यार्धग्रामादि-विषयसंकल्पो वृत्तिपरिसंख्यानम्। (त. श्लो. ९–१९)। ७. तया आहारसंज्ञाया जयो वृत्तिपरिसंख्यानम्। (भ. आ. विजयो. ६)। ८. एकवास्तु-दशागार-पान-मुद्गादिगोचरः। संकल्पः क्रियते यत्र वृत्तिसंख्या हि तत्तपः॥ (त. सा. ७–१२)। ९. एगादिगिहपमाणं किं वा संकप्पकप्पियं विरसं। भोज्जं पसुव्व भुंजइ वित्तिपमाणं तवो तस्स। (कार्तिके. ४४३)। १०. वृत्तिर्वाट-गृहाऽऽहार-पात्र-दातृषु वर्तनम्। संख्या तन्नियमो वृत्तिपरिसंख्या निजेच्छया॥ इयमाशानिरासायादी-

आत्मा का परिणाम उत्पन्न होता है उसका नाम वीर्य है।

वीर्यप्रवाद—१. छद्मस्थ-केवलिनां वीर्यं सुरेन्द्र-दैत्याधिपानां ऋद्धयो नरेन्द्र-चक्रधर-बलदेवानां च वीर्यलाभो द्रव्याणां सम्यक्त्वलक्षणं च यत्राभिहितं च तद्वीर्यप्रवादम्। (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७५)। २. वीरियाणुपवादं णाम पुव्वं अट्ठण्णं वत्थूणं सट्ठिसयपाहुडाणं १६० सत्तरिलक्खपदेहि ७०००००० अप्पविरियं परविरियं उभयविरियं खेत्तविरियं भवविरियं तवविरियं वण्णेइ। (धव. पु. १, पृ. ११५); छद्मस्थानां केवलिनां वीर्यं सुरेन्द्र-दैत्याधिपानां वीर्यर्द्धयो नरेन्द्र-चक्रधर-बलदेवानां वीर्यलाभो द्रव्याणामात्मपरोभय-क्षेत्र-भवपिलवोवीर्यं सम्यक्त्व-लक्षणं च यत्राभिहितं तद्वीर्यप्रवाद सप्ततिशतसह-[illegible]००००० । (धव. पु. ९, पृ. २१३)। [illegible]णुपवादपुव्वं अप्पविरिय-परविरिय-तदु-[illegible]त्तविरिय-कालविरिय-भवविरिय-तवविरि-[illegible]ण्णणं कुणइ। (जयध. १, पृ. १४०)। [illegible]दं तृतीयम्, तत्राप्यजीवानां जीवानां [illegible] वीर्यं प्रोच्यत इति वीर्यप्रवादम्, [illegible]प्ततिपदशतसहस्राणीति परिमाणम्। [illegible]. १४७)। ५. सप्ततिलक्षपदं चक्रधर-[illegible]गेन्द्र-केवल्यादीनां वीर्यमाहात्म्यव्यावर्ण-[illegible] वायानुप्रवादम्। (श्रुतभ. टी. १०)। ६. बलदेव-चक्रवर्ति-तीर्थकरादिबलवर्णकं सप्ततिलक्षपदप्रमाणं वीर्यानुप्रवादपूर्वम्। (त. वृत्ति श्रुत. १-२०)। ७. विज्जाणुवादपुव्वं वज्जं जीवादिवत्थुसामत्थं। अणुवादो अणुवण्णणमिह तस्स हवेत्ति णणमह ॥ तं वण्णदि अप्पबलं परविज्जं उहय विज्जमवि णिच्चं। खेत्तबलं कालबलं भावबलं तवबलं पुण्णं ॥ दव्वबलं गुणपज्जयविज्जं विज्जाबलं च सव्वबल। सत्तरि-लक्खपयेहि पुण्ण पुव्वं तदीयं खु ॥ (अंगप. ४९, ५१)।

१ जिस पूर्वश्रुत में छद्मस्थों व केवलियों के वीर्य, इन्द्र और दैत्येन्द्रों की ऋद्धियों; राजा, चक्रवर्ती व बलदेवों के वीर्यलाभ तथा द्रव्यों व सम्यक्त्व के लक्षण का निरूपण किया गया है उसे वीर्यप्रवाद-पूर्व कहते हैं। ४ जिसमें अजीवों तथा सकर्मा (संसारी) व मुक्त जीवों के वीर्य का कथन किया जाता है उसका नाम वीर्यप्रवादपूर्व है। यह तीसरा पूर्व है तथा पदसंख्या उसकी ७०००००० है।

वीर्याचार—१. सम्यग्ज्ञानविलोचनस्य दधतः श्रद्धा-नमर्हन्मते वीर्यस्याविनिगूहनेन तपसि स्वस्य प्रय-त्नाद्यतेः। या वृत्तिस्तरणीव नौरविवरा लघ्वी भवोदन्वतो वीर्याचारमहं तमूर्जितगुणं वन्दे सताम-र्चितम् ॥ (चारित्रभ. ६, पृ. १८९)। २. स्वशक्त्य-निगूहनरूपा वृत्तिर्ज्ञानादौ वीर्याचारः। (भ. आ. विजयो. ४६); वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितसाम-र्थ्यपरिणामो वीर्यम्, तदविगूहनेन रत्नत्रयवृत्तिर्वी-र्याचारः। (भ. आ. विजयो. ८५); स्वशक्त्यनि-गूहनं तपसि वीर्याचारः। (भ. आ. विजयो. ४१९)। ३. तत्रैव शुद्धात्मस्वरूपे स्वशक्त्यनवगूहनेनाचरणं परिणमनं वीर्याचारः। (परमा. वृ. ७)। ४. वीर्य-स्यानिह्नवो वीर्याचारः शुभविषयस्वशक्त्योत्साहः। (मूला. वृ. ४-२)। ५. वीर्याचारो ज्ञानादिप्रयोज-नेषु वीर्यस्यागोपनमिति। (समवा. वृ. १३६)। ६. विरियाचारो स्वसामर्थ्यानिगूहनेन निर्मलरत्नत्रये प्रवृत्तिः। (भ. आ. मूला. ८५)।

१ जो मुनि जिनशासन पर श्रद्धा रखता है तथा सम्यग्ज्ञानरूप नेत्र से सहित है उसकी अपने सामर्थ्य को न छिपाकर जो प्रयत्नपूर्वक तपमें प्रवृत्ति होती है उसे वीर्याचार कहा जाता है। जिस प्रकार छेद से रहित छोटी नौका द्वारा समुद्र से पार हो सकते हैं उसी प्रकार इस वीर्याचार रूप प्रवृत्ति के आश्रय से संसार रूप समुद्र से पार हो सकते हैं। ५ ज्ञान आदि प्रयोजनों में शक्ति को न छिपाना, इसका नाम वीर्याचार है।

वीर्यानुप्रवाद—देखो वीर्यप्रवाद।

वीर्यानुवाद—देखो वीर्यप्रवाद।

वीर्यान्तराय—१. वीर्यं बलं शुक्रमित्येकोऽर्थः। जस्स कम्मस्स उदएण वीरियस्स विग्घं होदि तं वीरियंतराइयं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ७८); अन्त-रमेति गच्छतीत्यन्तरायः × × × वीर्यः [र्यं] शक्ति-रित्यर्थः। वीर्यस्य विघ्नकृदन्तरायः वीर्यान्तरायः। (धव. पु. १३, पृ. ३९०)। २. तथा यदुदयात् सत्यपि नीरुजि शरीरे यौवनिकायामपि वर्तमानो-ऽल्पप्राणो भवति यद्वा बलवत्यपि शरीरे साध्येऽपि प्रयोजने हीनसत्त्वतया न प्रवर्तते तद्वीर्यान्तरायम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७५)।

१ वीर्य का अर्थ बल और शुक्र (शरीरगत धातु-

विशेष) होता है, जिस कर्म के उदय से वीर्य का विघ्न होता है उसे वीर्यान्तराय कहते हैं। २ जिसके उदय से शरीर के नीरोग और यौवन अवस्था में वर्तमान होने पर भी प्राणी अल्पप्राण होता है, अथवा शरीर के बलवान् होने पर भी तथा प्रयोजन के साध्य भी होने पर प्राणी हीनबल होने से उसमें प्रवृत्त नहीं होता है वह वीर्यान्तराय कहलाता है।

वृक्षमूल-उपगत-अतिचार—१. वृक्षस्य मूलमुपगतस्यापि हस्तेन पादेन शरीरेण वाप्कायानां पीडा। कथम् ? शरीरावलग्नजलकणप्रमार्जनं हस्तेन पादेन वा शिलाफलकादिगतोदकापनयनम्, मृत्तिकार्द्रायां भूमौ शयनम्, निम्नेन जलप्रवाहगमनदेशे वा अवस्थानम्, अवग्रहे वर्षापात: कदा स्यादिति चिन्ता, वर्षति देवे कदास्योपरम: स्यादिति वा, छत्र-कटकादिधारणं वर्षानिवारणायेत्यादिक:। (भ. आ. विजयो. ४८७)। २. वृक्षमूलाधिवासस्य (अतिचार:) हस्तेन पादेन वा शरीरावलग्नजलकणप्रमार्जनम्, तद्वच्छिला-फलकादिगतोदकापनयनम्, जलार्द्रायां भूमौ शयनम्, निम्नजलप्रवाहगमनदेशे वा अवस्थानम्, अवग्रहे वृष्टि: कदा स्यादिति चिन्ता, वृष्टौ वा कदैतदुपरम: स्यादिति वा, वृष्टिप्रतिबन्धाय छत्रादिधारणं वेत्यादि:। (भ. आ. मूला. ४८७)।

१ हाथ, पांव अथवा शरीर के द्वारा (शरीर में संलग्न जलकणों के पोंछने से) जलकायिक जीवों को पीड़ा पहुंचाना, हाथ अथवा पांव से शिला अथवा पटिये पर स्थित जल को हटाना, गीली भूमि पर सोना, नीचे जलप्रवाह के जाने के स्थान में स्थित होना, वर्षा के अभाव में 'कब वर्षा होगी' ऐसा विचार करना, अथवा वर्षा के चालू रहने पर 'कब यह समाप्त होगी' ऐसा चिन्तन करना, वर्षा के निवारण के लिए छत्र व कटक आदि को धारण करना; इत्यादि ये सब कायक्लेश के अन्तर्गत वर्षायोग के अतिचार हैं।

वृत्त—१. वृत्तं च तद्द्वयस्यास्मिन्नस्खलद्वृत्तिधारणम्। (क्षत्रचू. ६-२०)। २. यद्विशुद्धेः परं धाम यद्योगिजनजीवितम्। तद्वृत्तं सर्वसावद्यपर्युदासैकलक्षणम् ॥ (ज्ञाना. ८-१, पृ. १०६)। ३. वृत्तमनाचारपरिहार: सम्यगाचारपरिपालनं च। (योगशा. स्वो. विव. १-४५, पृ. १५७)।

२ समस्त सावद्य के परित्याग का नाम वृत्त है। ३ अनाचार (कुत्सित आचार) को छोड़कर समीचीन आचार के परिपालन को वृत्त कहते हैं।

वृत्तिपरिसंख्यान—१. गोयरपमाण-दायग-भायण-णाणाविधाण जं गहणं। तह एसणस्स गहणं विविधस्स य वुत्तिपरिसंखा ॥ (मूला. ५-१५८)। २. गत्तापच्चागदं उज्जुवीहि गोमुत्तियं च पेलवियं। संबूका वट्टंपि य पदंगवीधी य गोयरिया ॥ पाडयणियंसणभिक्खापरिमाणं दत्तिघासपरिमाणं। पिंडेसणा य पाणेसणा य जागू य पुग्गलया ॥ संसिट्ठ फलिह परिखा पुप्फोवहिदं व सुद्धगोवहिदं। लेवडमलेवडं पाणयं च णिस्सित्थगमसित्थं ॥ पत्तस्स दायगस्स य अवग्गहो बहुविहो ससत्तीए। इच्चेवमादिविविणा णादव्वा वुत्तिपरिसंखा ॥ (भ. आ. २१८-२१)। ३. भिक्षार्थिनो मुनेरेकागारादिविषयसंकल्पचिन्तावरोधो वृत्तिपरिसंख्यानमाशानिवृत्त्यर्थमवगन्तव्यम्। (स. सि. ९-१९)। ४. एकागार-सप्तवेश्मैकरथ्यार्द्धग्रामादिविषय: संकल्पो वृत्तिपरिसंख्यानम्। भिक्षार्थिनो मुनेरेकागारादिविषय: संकल्पश्चिन्तावरोध: वृत्तिपरिसंख्यानमाशानिवृत्त्यर्थमवगन्तव्यम्। (त. वा. ९, १९, ४)। ५. भोयण-भायण-घर-वाड-दादारा वुत्ती णाम। तिस्से वुत्तीए परिसंखाणं गहणं वुत्तिपरिसंखाणं णाम। एदम्मि वुत्तिपरिसंखाणे पडिबद्धो जो अवग्गहो सो वुत्तिपरिसंखाणं णाम तवो। (धव. पु. १३, पृ. ५७)। ६. एकागार-सप्तवेश्मैकरसार्धग्रासादि-विषयसंकल्पो वृत्तिपरिसंख्यानम्। (त. श्लो. ९-१९)। ७. तथा आहारसंज्ञाया जयो वृत्तिपरिसंख्यानम्। (भ. आ. विजयो. ६)। ८. एकवास्तु-दशागार-पान-मुद्गादिगोचर:। संकल्प: क्रियते यत्र वृत्तिसंख्या हि तत्तप: ॥ (त. सा. ७-१२)। ९. एगादिगिहपमाणं किं वा संकप्पकप्पियं विरसं। भोज्जं पसुव्व भुंजइ वित्तिपमाणं तवो तस्स। (कार्तिके. ४४३)। १०. वृत्ति-वाट-गृहाऽऽहार-पात्र-दातृषु वर्तनम्। संख्या तन्नियमो वृत्तिपरिसंख्या निजेच्छया ॥ इयमाशानिरासायादीनताभावदाप्तये। गात्रयात्रानिमित्तान्नमात्रकांक्षस्य योगिन: ॥ (आचा. सा. ६, ११-१२)। ११. तथा वर्ततेऽनयेति वृत्तिर्भैक्ष्यम्, तस्या: संक्षेपणं ह्रास:, तच्च दत्तिपरिमाणरूपम्। एक-द्वि-त्र्याद्यगारनियमो

रसा वृष्याः इत्युच्यन्ते। (त. वृत्ति श्रुत. ७-७)। २. वृष्यमन्नं यथा माषाः पयश्चेष्टरसः स्मृतः। वीर्य-वृद्धिकरं चान्यत्तत्त्याज्यमित्यादि ब्रह्मणे॥ (लाटीसं. ६-६८)।

१ जिन रसों का उपभोग करने पर मनुष्य बैल के समान उन्मत्त हो जाता है वे वृष्यरस कहलाते हैं। २ वीर्य को वृद्धिगत करने वाले उड़द आदि को वृष्यरस कहा जाता है।

वेणुकानुजात वेणुः वंशस्तदनुजातः तत्सदृशो वेणुकानुजातः। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १२-७८, २३३)।

वेणु नाम बांस का है, बांस के सदृश योग को वेणुकानुजातयोग कहा जाता है।

वेद (मार्गणा)—वेद्यत इति वेदः। (धव. पु. १, पृ. १४०); ××× अथवात्मप्रवृत्तेः सम्मोहोत्पादो वेदः। ××× अथवा आत्मप्रवृत्तेर्मैथुन-संमोहोत्पादो वेदः। (धव. पु. १, पृ. १४०; पु. ७, पृ. ७)।

जो वेदा जाता है—अनुभव में आता है—उसका नाम वेद है। अथवा आत्मप्रवृत्ति से जो मैथुनक्रिया के प्रति मुग्ध करता है उसे वेद कहा जाता है।

वेद (जीव)—सुखमसुखं वेदयतीति वेदः। (धव. पु. ६, पृ. २२१)।

जो सुख-दुख का वेदन या अनुभवन करता है या जानता है उसे वेद कहते हैं। यह एक जीव का पर्याय नाम है।

वेद (श्रुत)—अशेषपदार्थान् वेत्ति वेदिष्यति अवेदीदिति वेदः सिद्धान्तः। (धव. पु. १३, पृ. २८६)।

जो समस्त पदार्थों को वर्तमान में जानता है, भविष्य में जानेगा तथा भूत में जान चुका है उसे वेद कहा जाता है। यह श्रुत के वाचक ४१ नामों में से एक है।

वेदकसम्यक्त्व—देखो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व। १. ततः सम्यक्त्वभावनामृतरसविवर्धितविशुद्धिः मिथ्यात्वविघातिवीर्यविभवो क्षुद्यमानव्रीहितुप-कण-तन्दुलविवेकवत् मिथ्यादर्शनकर्म मिथ्यात्व-सम्यक्त्व-सम्यङ्मिथ्यात्वविभागेन त्रिधा विभज्य सम्यक्त्वं वेदयमानः सद्भूतपदार्थश्रद्धानफलं वेदक-सम्यग्दृष्टिर्भवति। (त. वा. ९-४५)। २. सम्मत्तसण्णिददंसणमोहणीयभेयकम्मस्स उदएण वेदय-सम्माइट्ठी णाम। ××× जो पुण वेदयसम्माइट्ठी सो सिथिलसद्दहणो थेरस्स लट्ठिग्गहणं व सिथिलग्गाहो कुहेउ-कुदिट्ठंतेहि झडिदि विराहओ। (धव. पु. १, पृ. २७१-७२); दंसणमोहुदयादो उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं। चलमलिणमगाढं तं वेदगसम्मत्तमिह मुणसु॥ (धव. पु. १, पृ. ३९६ उद्.)। दर्शनमोहवेदको वेदकः, तस्य सम्यग्दर्शनं वेदकसम्यग्दर्शनम्। (धव. पु. १, पृ. ३९८); दंसण-मोहणीयस्स ××× खओवसमेण वेदगसम्मत्तं। (धव. पु. ७, पृ. १०७); सम्मत्तदेसघादिफद्दयाण-मणंतगुणहाणीए उदयमागदाणमइदहरदेसघादित्त-णेण उवसंताणं जेण खओवसमसण्णा अत्थि तेण तत्थुप्पण्णजीवपरिणामो खओवसमलद्धीसण्णिदो, तीए खओवसमलद्धीए वेदगसम्मत्तं होदि। (धव. पु. ७, पृ. १०८)। ३. सम्मत्तदेसघादिस्सुदयादो वेदगं हवे सम्मं। चलमलिनमगाढं तं णिच्चं कम्म-क्खवणहेदू॥ (गो. जी. २५); दंसणमोहुदयादो उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं। चलमलिणमगाढं तं वेदयसम्मत्तमिदि जाणे॥ (गो. जी. ६४९)। ४. व्रजन्ति सप्ताद्यकलं ××× । ××× द्वयं (क्षयं शमं च) यदा याति तदानुवेदिकम्॥ (धर्मप. २०, ६९-७०)। ५. प्रशमे कर्मणां षण्णामुद-यस्य क्षये सति। आदत्ते वेदकं वन्द्यं सम्यक्त्वस्योदये सति॥ (अमित. श्रा. २-५५)। ६. वेदकं नाम सम्यक्त्वं क्षपकश्रेणिमीयुषः। अनन्तानुबन्धि-नां तु क्षये जाते शरीरिणः॥ (त्रि. श. पु. च. १, ३, ६०५)। ७. षाकाद्देशघ्नसम्यक्त्वप्रकृतेरुदयक्षये। शमे च वेदकं षण्णामगाढं मलिनं चलम्॥ (अन. ध. २-५६)। ८. खयउवसमदो सम्मत्तुदयादो वेदगं सम्मं॥ (भावत्रि. ९)। ९. दर्शनमोहनीयभेदस्य सम्यक्त्वप्रकृतेः सर्वघातिस्पर्धकानामुदयाभावलक्षणे क्षये तेषामेव सदवस्थालक्षणे उपशमे च उदयनि-षेकदेशघातिस्पर्धकस्योदयात् क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वं तत्त्वार्थश्रद्धानं भवेत्, तदेव वेदकमित्युच्यते। (गो. जी. मं. प्र. २५)।

१ प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुआ जो जीव दले जाने वाले धान के छिलका, कण और तन्दुल इन तीन विभागों के समान मिथ्यादर्शन कर्म को

रसा वृष्याः इत्युच्यन्ते । (त. वृत्ति श्रुत. ७-७) । २. वृष्यमन्नं यथा माषाः पयश्चेष्टरसः स्मृतः । वीर्य-वृद्धिकरं चान्यत्त्याज्यमित्यादि ब्रह्मणे ॥ (लाटीसं. ६-६८) ।

१ जिन रसों का उपभोग करने पर मनुष्य बैल के समान उन्मत्त हो जाता है वे वृष्यरस कहलाते हैं । २ वीर्य को वृद्धिगत करने वाले उड़द आदि को वृष्यरस कहा जाता है ।

वेणुकानुजात वेणुः वंशस्तदनुजातः तत्सदृशो वेणुकानुजातः । (सूर्यप्र. मलय. वृ. १२-७८, २३३) ।

वेणु नाम बांस का है, बांस के सदृश योग को वेणुकानुजातयोग कहा जाता है ।

वेद (मार्गणा)—वेद्यत इति वेदः । (धव. पु. १, पृ. १४०); ××× अथवात्मप्रवृत्तेः सम्मोहोत्पादो वेदः । ××× अथवा आत्मप्रवृत्तेर्मैथुनसंमोहोत्पादो वेदः । (धव. पु. १, पृ. १४०; पु. ७, पृ. ७) ।

जो वेदा जाता है—अनुभव में आता है—उसका नाम वेद है । अथवा आत्मप्रवृत्ति से जो मैथुनक्रिया के प्रति मुग्ध करता है उसे वेद कहा जाता है ।

वेद (जीव)—सुखमसुखं वेदयतीति वेदः । (धव. पु. ६, पृ. २२१) ।

जो सुख-दुख का वेदन या अनुभवन करता है या जानता है उसे वेद कहते हैं । यह एक जीव का पर्याय नाम है ।

वेद (श्रुत)—अशेषपदार्थान् वेत्ति वेदिष्यति अवेदीदिति वेदः सिद्धान्तः । (धव. पु. १३, पृ. २८६) ।

जो समस्त पदार्थों को वर्तमान में जानता है, भविष्य में जानेगा तथा भूत में जान चुका है उसे वेद कहा जाता है । यह श्रुत के वाचक ४१ नामों में से एक है ।

वेदकसम्यक्त्व—देखो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व । १. ततः सम्यक्त्वभावनामृतरसविवर्धितविशुद्धिः मिथ्यात्वविघातिवीर्यविभवे क्षुद्यमानव्रीहितुषकण-तन्दुलविवेकवत् मिथ्यादर्शनकर्म मिथ्यात्व-सम्यक्त्व-सम्यङ्मिथ्यात्वविभागेन त्रिधा विभज्य सम्यक्त्वं वेदयमानः सद्भूतपदार्थश्रद्धानफलं वेदकसम्यग्दृष्टिर्भवति । (त. वा. ६-४५) । २. सम्मत्तसण्णिददंसणमोहणीयभेयकम्मस्स उदएण वेदयसम्माइट्ठी णाम । ××× जो पुण वेदयसम्माइट्ठी सो सिथिलसद्दहणो थेरस्स लट्ठिग्गहणं व सिथिलग्गाहो कुहेउ-कुदिट्ठंतेहि झडिदि विराहओ । (धव. पु. १, पृ. १७१-७२); दंसणमोहुदयादो उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं । चलमलिणमगाढं तं वेदगसम्मत्तमिह मुणसु ॥ (धव. पु. १, पृ. ३९६ उद्.) । दर्शनमोहवेदको वेदकः, तस्य सम्यग्दर्शनं वेदकसम्यग्दर्शनम् । (धव. पु. १, पृ. ३९८); दंसणमोहणीयस्स ××× खओवसमेण वेदगसम्मत्तं । (धव. पु. ७, पृ. १०७); सम्मत्तदेसघादिफद्दयाणमणंतगुणहाणीए उदयमागदाणमइदहरदेसघादित्तणेण उवसंताणं जेण खओवसमसण्णा अत्थि तेण तत्थुप्पण्णजीवपरिणामो खओवसमलद्धीसण्णिदो, तीए खओवसमलद्धीए वेदगसम्मत्तं होदि । (धव. पु. ७, पृ. १०८) । ३. सम्मत्तदेसघादिस्सुदयादो वेदगं हवे सम्मं । चलमलिनमगाढं तं णिच्चं कम्मक्खवणहेदू ॥ (गो. जी. २५); दंसणमोहुदयादो उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं । चलमलिणमगाढं तं वेदयसम्मत्तमिदि जाणे ॥ (गो. जी. ६४९) । ४. व्रजन्ति सप्ताथकलं ××× । ××× द्वयं (क्षयं शमं च) यदा याति तदानुवेदिकम् ॥ (धर्मप. २०, ६९-७०) । ५. प्रशमे कर्मणां षण्णामुदयस्य क्षये सति । आदत्ते वेदकं वन्द्यं सम्यक्त्वस्योदये सति ॥ (अमित. श्रा. २-५५) । ६. वेदकं नाम सम्यक्त्वं क्षपकश्रेणिमीयुषः । अनन्तानुबन्धिनां तु क्षये जाते शरीरिणः ॥ (त्रि. श. पु. च. १, ३, ६०५) । ७. पाकाद्देशघ्नसम्यक्त्वप्रकृतेरुदयक्षये । शमे च वेदकं षण्णामगाढं मलिनं चलम् ॥ (अन. ध. २-५६) । ८. खवकुवसमदो सम्मत्तुदयादो वेदगं सम्मं ॥ (भावत्रि. ६) । ९. दर्शनमोहनीयभेदस्य सम्यक्त्वप्रकृतेः सर्वघातिस्पर्धकानामुदयाभावलक्षणे क्षये तेषामेव सदवस्थालक्षणे उपशमे च उदयनिषेकदेशघातिस्पर्धकस्योदयात् क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वं तत्त्वार्थश्रद्धानं भवेत् तदेव वेदकमित्युच्यते । (गो. जी. मं. प्र. २५) ।

१ प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुआ जो जीव दले जाने वाले धान के छिलका, कण और तन्दुल इन तीन विभागों के समान मिथ्यादर्शन कर्म को

रथ्याग्रामार्धग्रामनियमश्च। अत्रैव द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावाभिग्रहा अन्तर्भूताः। (योगशा. स्वो. विव. ४-८९)। १२. भिक्षागोचरचित्रदातृचरणामत्रान्नसद्मादिगात् संकल्पाच्छ्रमणस्य वृत्तिपरिसंख्यानं तपोऽङ्गस्थितिः। नैराश्याय तदाचरेन्निजरसासृग्मांससंशोषणद्वारेणेन्द्रियसंयमाय च परं निर्वेदमासेदिवान्॥ (अन. ध. ७-२६)। १३. आशानिरासार्थमेकमन्दिरादिप्रवृत्तिविधानं तद्विषये संकल्प-विकल्पचिन्तानियन्त्रणं वृत्तेर्भोजनप्रवृत्तेः परिसमन्तात्संख्यानं मर्यादा, गणनमित्त यावत्, वृत्तिपरिसंख्यानमुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ९-१९)। १४. वृत्तिपरिसंख्यानं गणितगृहेषु भोजन वस्तुसंख्या वा। (भावप्रा. टी. ७८)। १५. वृत्तेः प्रमाणं परिसंख्या वृत्तिपरिसंख्या। स्वकीयतपोविशेषेण रस-रुधिर-मांसशोषणद्वारेणेन्द्रियसंयमं परिपालयतो भिक्षार्थिनो मुनेः एकगृहसप्तगृहैकमार्गार्द्ध-दायक-भाजन-भोजनादिविषयः संकल्पो वृत्तिसंख्यानम् × × ×। (कार्तिके. टी. ४४५)। १६. त्रिः-चतुः-पञ्च-षष्ठादिवस्तूनां संख्यानम्। सद्मादिसंख्यया यद्वा वृत्तिसंख्या प्रचक्ष्यते॥ (लाटीसं. ७-७७)।

१ गृह के प्रमाण, दाता और पात्र इत्यादि के सम्बन्ध में तथा भाजन के सम्बन्ध में जो अनेक प्रकार का नियम किया जाता है उसे वृत्तिपरिसंख्यान तप कहा जाता है। जैसे—मैं भोजन के लिए दो या तीन आदि घर जाऊंगा, यदि वृद्ध दाता पडिगाहन करेगा तो आहार लूँगा, अन्यथा नहीं; इसी प्रकार पात्र (चांदी या पीतल से निर्मित) और भोजन (अमुक प्रकार का धान्य आदि) के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। ११ जिसके आश्रय से वर्तन—शरीर की स्थिति रहती है—उसका नाम वृत्ति है जो भैक्ष्य का बोधक है। घर व गली आदि का नियम करके उक्त भैक्ष्य का जो संकोच किया जाता है उसे वृत्तिसंक्षेप कहते हैं।

वृत्तिपरिसंख्यानातिचार—१. वृत्तिपरिसंख्यानस्यातिचाराः गृहसप्तकमेव प्रविशामि, एकमेव पाटकम्, दरिद्रगृहमेकम्, एवभूतेन दायकेन दायिकया वा दत्तं गृहीष्यामीति वा कृतसंकल्पः [ल्पस्य] गृहसप्तकादिकादधिकप्रवेशः, पाटान्तरप्रवेशश्च परं भोजयामीत्यादिकः। (भ. आ. विजयो. ४८७)। २. वृत्तिपरिसंख्यानस्यातिचारो गृहसप्तकमेव प्रविशामि इत्येवमादिसंकल्पं कृतवतः, परं भोजयामीत्यभिप्रायेण तदधिकप्रवेशादिकः। (भ. आ. मूला. ४८७)।

१ वृत्तिपरिसंख्यान तप में सात गृह, एक पाटक अथवा दरिद्र दाता आदि के घर के विषय में जो नियम किया गया था उससे 'दूसरे को भोजन कराता हूं, इस विचार से अधिक गृह आदि में प्रवेश करने पर वह वृत्तिपरिसंख्यान के अतिचार से मलिन होता है।

वृत्तिसंक्षेप—देखो वृत्तिपरिसंख्यान।

वृद्ध—वृद्धः क्षीणेन्द्रियकर्मेन्द्रियकृत्यः चतुर्थीमवस्थां प्राप्तः सः संस्तारक दीक्षामेवार्हति, न प्रव्रज्याम्। (आचारदि. पृ ७४)।

जिसकी बुद्धि इन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों का कार्य शिथिल पड़ गया है वह चौथी अवस्था को प्राप्त वृद्ध कहलाता है। वह संस्तारक दीक्षा के योग्य तो होता है, पर प्रव्रज्या—मुनि दीक्षा—के योग्य नहीं होता।

वृषभ—वृषेण धर्मेण भातीति वृषभः। (अन. ध. स्वो. टी. ८-३९)।

जो वृष अर्थात् धर्म से शोभायमान होता है उसका नाम वृषभ है। यह जिनेन्द्र के १००८ नामों के अन्तर्गत है।

वृषभानुजात—वृषभानुजातः, अत्र 'अनुजात' शब्दः सदृशवचनो वृषभस्यानुजातः सदृशो वृषभानुजातः, वृषभाकारेण चन्द्र-सूर्य-नक्षत्राणि यस्मिन् योगे अवतिष्ठन्ते स वृषभानुजातः। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १२, ७८ पृ. २३३)।

जिस योग में चन्द्र, सूर्य और नक्षत्र वृषभ के आकार से अवस्थित रहते हैं उसका नाम वृषभानुजात योग है। यहां अनुजात का अर्थ सदृश है।

वृष्य—इन्द्रियबलवर्द्धनो माषविकारादिर्वृष्यः कथ्यते। वृषवत्कामी भवति येनाहारेण स वृष्यः। (त. वृत्ति श्रुत. ७-३५)।

जो उड़द आदि इन्द्रियों के बल को वृद्धिगत करते हैं वे वृष्य कहलाते हैं, जिस आहार से मनुष्य बैल के समान कामी होता है उसका वृष्य यह सार्थक नाम है।

वृष्येष्टरस—१. वृषे वृषभे साधवो वृष्याः, येषु रसेषु भुक्तेषु पुमान् वृषभवत् उन्मत्तकामो भवति ते

विस्तारासंख्यात—जं तं वित्थारासंखेज्जयं तं लोगागासपदरं लोगपदरागारपदेसगणणं पडुच्च संखाभावादो। (धव. पु. ३, पृ. १२५)।

लोकप्रतराकार प्रदेशों की गणना की अपेक्षा संख्या की संभावना न होने से लोकाकाश-प्रतर को विस्तारासंख्यात कहा जाता है।

विहायोगति—तथा विहायसा गतिर्गमनं विहायोगतिः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३)।

आकाश से जो गमन होता है उसे विहायोगति कहते हैं।

विहायोगतिनामकर्म—१. विहाय आकाशम्, तत्र गतिनिर्वर्तकं तद्विहायोगतिनाम। (स. सि. ८–११; त. वा. ८, ११, १८)। २. लब्धि-शिक्षर्द्धिप्रत्ययस्याकाशगमनस्य जनकं विहायोगतिनाम। (त. भा. ८–१२)। ३. विहाय आकाशमित्यर्थः। विहायसि गतिः विहायोगतिः। जेसिं कम्मक्खंधाणमुदएण जीवस्स आगासे गमणं होदि तेसिं विहायगदित्ति सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ६१); जस्स कम्मस्सुदएण भूमिमोट्ठहिय अणोट्ठहिय वा जीवाणमागासे गमण होदि तं विहायगदिणामं। (धव. पु. १३, पृ. ३६५)। ४. विहाय आकाशम्, विहायसि गतिर्विहायोगतिर्येषां कर्मस्कन्धानामुदयेन जीवस्याकाशे गमनं तद्विहायोगतिनाम। (मूला. वृ. १२, १९५)। ५. यतः शुभेतरगमनयुक्तो भवति तद्विहायोगतिनाम। (समवा. अभय. वृ. ४२)। ६. यदुदयेन आकाशे गमनं भवति सा विहायोगतिनाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८–११)।

१ विहायस् नाम आकाश का है, जिसके उदय से आकाश में गति निर्वर्तित होती है उसे विहायोगति नामकर्म कहते हैं। २ लब्धि (जैसे देवादिकों के) और शिक्षाजनित ऋद्धि (जैसे तपस्वियों के) इनके निमित्त से जो आकाश में गमन होता है वह जिस कर्म के निमित्त से होता है उसे विहायोगति नामकर्म कहा जाता है।

विहारवत्स्वस्थान — विहारवदिसत्थाणं णाम अप्पणो उप्पण्णगाम-णयर-रण्णादीणि छड्डिय अण्णत्थ सयण-णिसीयण-चंकमणादिवावारेणच्छणं। (धव. पु. ४, पृ. २६); तत्तो (पडिगहिदखेत्तादो) बाहिं गंतूणच्छणं विहारवदिसत्थाणं। (धव. पु. ४, पृ. ३२); तत्तो (अप्पणो उप्पण्णगामाईणं सीमादो) बाहिरपदेसे हिंडणं विहारवदिसत्थाणं णाम। (धव. पु. ७, पृ. ३००)।

जिस ग्राम, नगर अथवा वन आदि में उत्पन्न हुआ है उसको छोड़कर अन्यत्र सोना, बैठना और गमन आदि करना; इसका नाम विहारवत्स्वस्थान है।

वीचार—देखो अर्थसंक्रान्ति, योगसंक्रान्ति व व्यञ्जनसंक्रान्ति। १. वीचारोऽर्थ-व्यञ्जन-योगसंक्रान्तिः। (त. सू. ९–४४)। २. अत्थाण वंजणाण य जोगाण य संकमो हु वीचारो। (भ. आ. १८८२)। ३. अर्थो ध्येयः द्रव्यं पर्यायो वा, व्यञ्जनं वचनम्, योगः काय-वाङ्मनस्कर्मलक्षणः, संक्रान्तिः परिवर्तनम्। द्रव्यं विहाय पर्यायमुपैति, पर्यायं त्यक्त्वा द्रव्यमित्यर्थसंक्रान्तिः। एकं श्रुतवचनमुपादाय वचनान्तरमालम्बते, तदपि विहायान्यदिति व्यञ्जनसंक्रान्तिः। काययोगं त्यक्त्वा योगान्तरं गृह्णाति, योगान्तरं च त्यक्त्वा काययोगमिति योगसंक्रान्तिः। एवं परिवर्तनं वीचार इत्युच्यते। (स. सि. ९-४४; त. वा. ९–४४)। ४. वीचारः संक्रान्तिः अर्थ-व्यञ्जन योगेषु। (धव. पु. १३, पृ. ७७)। ५. अर्थ-व्यञ्जन-योगानां वीचारः संक्रमः क्रमात्। (ह. पु. ५६–५८)। ६. अर्थ-व्यञ्जन-योगानां वीचारः संक्रमो मतः (ज्ञाना. 'मः स्मृतः')। (म. पु. २१–१७२; त. सा. ७–४७; ज्ञाना. २१–७२)। ७. अनीहितवृत्यार्थान्तरपरिणमनं वचनाद्वचनान्तरपरिणमनं मनो-वचन-काययोगेपु योगाद्योगान्तरपरिणमनं वीचारो भण्यते। (वृ. द्रव्यसं. ४८)।

१ अर्थ, व्यञ्जन और योग के परिवर्तन को वीचार कहते हैं।

वीतराग—मोहणीयक्खएण वीयराओ। (धव. पु. ९, पृ. ११८)।

मोहनीय कर्म के क्षय से जीव वीतराग—राग-द्वेष से रहित—होता है।

वीतरागकथा—गुरु-शिष्याणां विशिष्टविदुषां वा राग-द्वेष-रहितानां तत्त्वनिर्णयपर्यन्तं परस्परं प्रवर्तमानो वाग्व्यापारो वीतरागकथा। (न्यायदी. पृ. ७९–८०)।

गुरु और शिष्य अथवा राग-द्वेष से रहित अन्य विशिष्ट विद्वानों के मध्य में भी जो वस्तु स्वरूप के निर्णय होने तक वचन का व्यापार चलता है उसे वीतरागकथा कहते हैं।

वीतरागचारित्र—तत्-(अपध्यान-) प्रभृतिसमस्त-विकल्पजालरहितं स्वसंवित्तिसमुत्पन्नसहजानन्दैक-लक्षणसुखरसास्वादसहितं यत्तद्वीतरागचारित्रं भवति। (बृ. द्रव्यसं. टी. २२, पृ. ५८)।

अपध्यान आदि समस्त विकल्पों से रहित तथा स्व-संवेदन से उत्पन्न स्वाभाविक सुख के रसास्वाद से सहित जो चारित्र होता है उसे वीतरागचारित्र कहते हैं।

वीतरागसम्यक्त्व—१. आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्। सप्तानां कर्मप्रकृतीनाम् आत्यन्तिकेऽपगमे सत्यात्मविशुद्धिमात्रमितरद्वीतरागसम्यक्त्वमित्युच्यते। अत्र पूर्वं (सरागसम्यक्त्वं) साधनं भवति उत्तरं साधनं साध्यं च। (त. वा. १, २, ३१)। २. राग-द्वयरहितानां क्षीणमोहावरणानां वीतरागसम्यग्दर्शनम्। (भ. आ. विजयो. ५१)। ३. वीतरागसम्यक्त्वं निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं वीतरागचारित्राविनाभूतम्, तदेव निश्चयसम्यक्त्वमिति। (परमा. टी. २-१७)।

१ सात कर्मप्रकृतियों का सर्वथा क्षय हो जाने पर जो आत्मा में निर्मलता होती है उसे वीतरागसम्यक्त्व कहा जाता है।

वीतहेतु—वीतं हि नाम विधिमुखेन साध्यसाधनम्। (न्यायवि. विव. २-१७३, पृ. २०८)।

विधिमुख से जो हेतु साध्य को सिद्ध किया करता है वह सांख्यमतानुसार वीतहेतु कहलाता है।

वीतावीत—प्रतिषेधपरमुभयपरं च वीतावीतम्। (न्यायवि. विव. २-१७३, पृ. २०८)।

जो हेतु प्रतिषेध को तथा उभय (विधि-प्रतिषेध) को भी सिद्ध करता है उसे सांख्यमतानुसार वीतावीत हेतु कहा जाता है।

वीर—१. विशिष्टां मां लक्ष्मीं मुक्तिलक्षणामभ्युदयलक्षणां वा रातीति वीरः। (युक्त्यनु. टी. १)। २. विशेषेणेरयति मोक्षं प्रति गच्छति गमयति वा प्राणिनः प्रेरयति वा कर्म्माणि निराकरोति वीरयति वा रागादिशत्रून् प्रति पराक्रमयतीति वीरः। (स्थानां. अभय. वृ. ५१); विदारयति यत्कर्म्म तपसा च विराजते। तपोवीर्येण युक्तश्च तस्माद्वीर इति स्मृतः॥ (स्थानां. अभय. वृ. पृ. ३६ उद्.)। ३. विशेषेण ईरयति क्षिपति कर्माणीति वीरः। (योगशा. स्वो. विव. १-१)। ४. 'शूर वीर विक्रान्तौ' वीरयति स्म कषायोपसर्ग-परीषहेन्द्रियादिशत्रुगणजयं प्रति विक्रामति स्मेति वीरः। 'अचः' इत्यच् प्रत्ययः। अथवा 'ईर् गति-प्रेरणयोः' विशेषेण ईरयति गमयति स्फोटयति यद्वा प्रापयति शिवमिति वीरः। यदि वा 'ईर् गतौ' इत्यादिको धातुः विशेषेण अपुनर्भावेन ईर्ते स्म याति स्मेति वीरः अपश्चिमतीर्थकरो वर्द्धमानस्वामीत्यर्थः। (बृहत्सं. मलय. वृ. १)। ५. वीरो विक्रान्तः, वीरयते शूरयते विक्रामति कर्मारातीन् विजयत इति वीरः। (नि. सा. वृ. १)।

१ 'मा' का अर्थ लक्ष्मी है, जो विशिष्ट मा—मुक्ति और स्वर्गादि के अभ्युदय रूप लक्ष्मी—को 'राति' अर्थात् देता है उसका नाम वीर है। २ 'विशेषेण ईरयति इति वीरः'। इस निरुक्ति के अनुसार जो विशेष रूप से मोक्ष के प्रति स्वयं जाता है तथा दूसरों को पहुंचाता है, अथवा कर्मों का निराकरण करता है, अथवा रागादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है उसे वीर कहा जाता है। यह अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान जिनेन्द्र का एक सार्थक नाम है।

वीरासन—१. वीरासनं जङ्घे विप्रकृष्टदेशे कृत्वासनम्। (भ. आ. विजयो. २२५)। २. वीरासनं ऊरुद्वयोपरि पादद्वयविन्यासः। (भ. आ. मूला. २२५)। ३. ××× न्यस्तावूर्वोः वीरासनं क्रमौ। (अन. ध. ८-८३)।

१ जांघों को दूर देश में करके बैठना, इसे वीरासन कहते हैं। २ दोनों जंघाओं के ऊपर दोनों पांवों के रखने पर वीरासन होता है।

वीर्य—१. द्रव्यस्य स्वशक्तिविशेषो वीर्यम्। (स. सि. ६-६)। २. द्रव्यस्यात्मसामर्थ्यं वीर्यम्। द्रव्यस्य शक्तिविशेषः सामर्थ्यं वीर्यमिति निश्चीयते। (त. वा. ६, ६, ६)। ३. वीर्यं वीर्यान्तरायक्षयोपशम-क्षयजं खल्वात्मपरिणामः। (आव. नि. हरि. वृ. १५१३, पृ. ७८३)। ४. आत्मनो निर्विकारस्य कृतकृत्यत्वधीश्च या। उत्साहो वीर्यमिति तत्कीर्तितं मुनिपुंगवैः॥ (मोक्षपं. ४७)। ५. द्रव्यस्य पुरुषादेर्निजशक्तिविशेषो वीर्यम्॥ (त. वृत्ति श्रुत. ६-६)।

१ द्रव्य की अपनी शक्तिविशेष को वीर्य कहते हैं। ३ वीर्यान्तराय के क्षयोपशम अथवा क्षय से जो

आत्मा का परिणाम उत्पन्न होता है उसका नाम वीर्य है।

वीर्यप्रवाद—१. छद्मस्थ-केवलिनां वीर्यं सुरेन्द्र-दैत्याधिपानां ऋद्धयो नरेन्द्र-चक्रधर-बलदेवानां च वीर्यलाभो द्रव्याणां सम्यक्त्वलक्षणं च यत्राभिहितं च तद्वीर्यप्रवादम्। (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७५)। २. वीरियाणुपवादं णाम पुव्वं अट्ठण्णं वत्थूणं सट्ठिसयपाहुडाणं १६० सत्तरिलक्खपदेहि ७०००००० अप्पविरियं परविरियं उभयविरियं खेत्तविरियं भवविरियं तवविरियं वण्णेइ। (धव. पु. १, पृ. ११५); छद्मस्थानां केवलिनां वीर्यं सुरेन्द्र-दैत्याधिपानां वीर्यर्द्धयो नरेन्द्र-चक्रधर-बलदेवानां वीर्यलाभो द्रव्याणामात्मपरोभय-क्षेत्र-भवर्षितवोवीर्यं सम्यक्त्व-लक्षणं च यत्राभिहितं तद्वीर्यप्रवादं सप्ततिशतसहस्रपदम् ७००००००। (धव. पु. ९, पृ. २१३)। ३. विरियाणुपवादपुव्वं अप्पविरिय-परविरिय-तदुभयविरिय-खेत्तविरिय-कालविरिय-भवविरिय-तवविरियादीणं वण्णणं कुणइ। (जयध. १, पृ. १४०)। ४. वीर्यप्रवादं तृतीयम्, तत्राप्यजीवानां जीवानां सकर्मेतराणां वीर्यं प्रोच्यत इति वीर्यप्रवादम्, तस्यापि सप्ततिपदशतसहस्राणीति परिमाणम्। (समवा. वृ. १४७)। ५. सप्ततिलक्षपदं चक्रधर-सुरपति-धरणेन्द्र-केवल्यादीनां वीर्यमाहात्म्यव्यावर्णकं वीर्यानुप्रवादम्। (श्रुतभ. टी. १०)। ६. बलदेव-चक्रवर्ति-तीर्थंकरादिबलवर्णकं सप्ततिलक्षपदप्रमाणं वीर्यानुप्रवादपूर्वम्। (त. वृत्ति श्रुत. १-२०)। ७. विज्जाणुवादपुव्वं वज्जं जीवादिवत्थुसामत्थं। अणुवादो अणुवण्णणमिह तस्स हवेत्ति णणमह ॥ तं वण्णदि अप्पबलं परविज्जं उहय विज्जमवि णिच्चं। खेत्तबलं कालबलं भावबलं तवबलं पुण्णं ॥ दव्वबलं गुणपज्जयविज्जं विज्जाबलं च सव्वबलं। सत्तरिलक्खपयेहि पुण्ण पुव्वं तदीयं खु ॥ (अंगप. ४९, ५१)।

१ जिस पूर्वश्रुत में छद्मस्थों व केवलियों के वीर्य, इन्द्र और दैत्येन्द्रों की ऋद्धियों; राजा, चक्रवर्ती व बलदेवों के वीर्यलाभ तथा द्रव्यों व सम्यक्त्व के लक्षण का निरूपण किया गया है उसे वीर्यप्रवाद-पूर्व कहते हैं। ४ जिसमें अजीवों तथा सकर्मा (संसारी) व मुक्त जीवों के वीर्य का कथन किया जाता है उसका नाम वीर्यप्रवादपूर्व है। यह तीसरा पूर्व है तथा पदसंख्या उसकी ७०००००० है।

वीर्याचार—१. सम्यग्ज्ञानविलोचनस्य दधतः श्रद्धानमर्हन्मते वीर्यस्याविनिगूहनेन तपसि स्वस्य प्रयत्नाद्यतेः। या वृत्तिस्तरणीव नौरविवरा लघ्वी भवोदन्वतो वीर्याचारमहं तमूर्जितगुणं वन्दे सतामर्चितम् ॥ (चारित्रभ. ६, पृ. १९९)। २. स्वशक्त्य-निगूहनरूपा वृत्तिर्ज्ञानादौ वीर्याचारः। (भ. आ. विजयो. ४६); वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितसामर्थ्यपरिणामो वीर्यम्, तदविगूहनेन रत्नत्रयवृत्तिर्वीर्याचारः। (भ. आ. विजयो. ८५); स्वशक्त्यनिगूहनं तपसि वीर्याचारः। (भ. आ. विजयो. ४१९)। ३. तत्रैव शुद्धात्मस्वरूपे स्वशक्त्यनवगूहनेनाचरणं परिणमनं वीर्याचारः। (परमा. वृ. ७)। ४. वीर्यस्यानिह्नवो वीर्याचारः शुभविषयस्वशक्त्योत्साहः। (मूला. वृ. ५-२)। ५. वीर्याचारो ज्ञानादिप्रयोजनेषु वीर्यस्यागोपनमिति। (समवा. वृ. १३६)। ६. विरियाचारो स्वसामर्थ्यानिगूहनेन निर्मलरत्नत्रये प्रवृत्तिः। (भ. आ. मूला. ८५)।

१ जो मुनि जिनशासन पर श्रद्धा रखता है तथा सम्यग्ज्ञानरूप नेत्र से सहित है उसकी अपने सामर्थ्य को न छिपाकर जो प्रयत्नपूर्वक तपमें प्रवृत्ति होती है उसे वीर्याचार कहा जाता है। जिस प्रकार छेद से रहित छोटी नौका द्वारा समुद्र से पार हो सकते हैं उसी प्रकार इस वीर्याचार रूप प्रवृत्ति के आश्रय से संसार रूप समुद्र से पार हो सकते हैं। ५ ज्ञान आदि प्रयोजनों में शक्ति को न छिपाना, इसका नाम वीर्याचार है।

वीर्यानुप्रवाद—देखो वीर्यप्रवाद।

वीर्यानुवाद—देखो वीर्यप्रवाद।

वीर्यान्तराय—१. वीर्यं बलं शुक्रमित्येकोऽर्थः। जस्स कम्मस्स उदएण वीरियस्स विग्घं होदि तं वीरियंतराइयं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ७८); अन्तरमेति गच्छतीत्यन्तरायः × × × वीर्यं [यं] शक्तिरित्यर्थः। वीर्यस्य विघ्नकृदन्तरायः वीर्यान्तरायः। (धव. पु. १३, पृ. ३९०)। २. तथा यदुदयात् सत्यपि नीरुजि शरीरे यौवनिकायामपि वर्तमानोऽल्पप्राणो भवति यद्वा बलवत्यपि शरीरे साध्येऽपि प्रयोजने हीनसत्त्वतया न प्रवर्तते तद्वीर्यान्तरायम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७५)।

१ वीर्य का अर्थ बल और शुक्र (शरीरगत धातु-

विशेष) होता है, जिस कर्म के उदय से वीर्य का विघ्न होता है उसे वीर्यान्तराय कहते हैं। २ जिसके उदय से शरीर के नीरोग और यौवन अवस्था में वर्तमान होने पर भी प्राणी अल्पप्राण होता है, अथवा शरीर के बलवान् होने पर भी तथा प्रयोजन के साध्य भी होने पर प्राणी हीनबल होने से उसमें प्रवृत्त नहीं होता है वह वीर्यान्तराय कहलाता है।

वृक्षमूल-उपगत-अतिचार—१. वृक्षस्य मूलमुपगतस्यापि हस्तेन पादेन शरीरेण वाप्कायानां पीडा। कथम्? शरीरावलग्नजलकणप्रमार्जनं हस्तेन पादेन वा शिलाफलकादिगतोदकापनयनम्, मृत्तिकार्द्रायां भूमौ शयनम्, निम्नेन जलप्रवाहगमनदेशे वा अवस्थानम्, अवग्रहे वर्षापातः कदा स्यादिति चिन्ता, वर्षति देवे कदास्योपरमः स्यादिति वा, छत्र-कटकादिधारणं वर्षानिवारणायेत्यादिकः। (भ. आ. विजयो. ४८७)। २. वृक्षमूलाधिवासस्य (अतिचारः) हस्तेन पादेन वा शरीरावलग्नजलकणप्रमार्जनम्, तद्वच्छिला-फलकादिगतोदकापनयनम्, जलार्द्रायां भूमौ शयनम्, निम्नजलप्रवाहगमनदेशे वा अवस्थानम्, अवग्रहे वृष्टिः कदा स्यादिति चिन्ता, वृष्टौ वा कदैतदुपरमः स्यादिति वा, वृष्टिप्रतिबन्धाय छत्रादिधारणं वेत्यादिः। (भ. आ. मूला. ४८७)।

१ हाथ, पांव अथवा शरीर के द्वारा (शरीर में संलग्न जलकणों के पोंछने से) जलकायिक, जीवों को पीड़ा पहुंचाना, हाथ अथवा पांव से शिला अथवा पटिये पर स्थित जल को हटाना, गीली भूमि पर सोना, नीचे जलप्रवाह के जाने के स्थान में स्थित होना, वर्षा के अभाव में 'कब वर्षा होगी' ऐसा विचार करना, अथवा वर्षा के चालू रहने पर 'कब यह समाप्त होगी' ऐसा चिन्तन करना, वर्षा के निवारण के लिए छत्र व कटक आदि को धारण करना; इत्यादि ये सब कायक्लेश के अन्तर्गत वर्षायोग के अतिचार हैं।

वृत्त—१. वृत्तं च तद्द्वयस्यात्मन्यस्खलद्वृत्तिधारणम्। (क्षत्रचू. ६–२०)। २. यद्विशुद्धेः परं धाम यद्योगिजनजीवितम्। तद्वृत्तं सर्वसावद्यपर्युदासैकलक्षणम् ॥ (ज्ञाना. ८–१, पृ. १०६)। ३. वृत्तमनाचारपरिहारः सम्यगाचारपरिपालनं च। (योगशा. स्वो. विव. १–४५, पृ. १५७)।

२ समस्त सावद्य के परित्याग का नाम वृत्त है। ३ अनाचार (कुत्सित आचार) को छोड़कर समीचीन आचार के परिपालन को वृत्त कहते हैं।

वृत्तिपरिसंख्यान—१. गोयरपमाण-दायग-भायण-णाणाविधाण जं गहणं। तह एसणस्स गहणं विविधस्स य वुत्तिपरिसंखा ॥ (मूला. ५–१५८)। २. गत्तापच्चागदं उज्जुवीहि गोमुत्तियं च पेलवियं। संबूका वट्टंपि य पदंगवीधी य गोयरिया ॥ पाडयणियंसणभिक्खापरिमाणं दत्तिघासपरिमाणं। पिंडेसणा य पाणेसणा य जागूय पुग्गलया ॥ संसिट्ठ फलिह परिखा पुप्फोवहिदं व सुद्धगोवहिदं। लेवड-मलेवडं पाणयं च णिस्सित्थगमसित्थं ॥ पत्तस्स दायगस्स य अवग्गहो बहुविहो ससत्तीए। इच्चेवमादिविधिणा णादव्वा वुत्तिपरिसंखा ॥ (भ. आ. २१८–२१)। ३. भिक्षार्थिनो मुनेरेकागारादिविषयसंकल्पचिन्तावरोधो वृत्तिपरिसंख्यानमाशानिवृत्त्यर्थमवगन्तव्यम्। (त. सि. ९–१९)। ४. एकागार-सप्तवेश्मैकरथ्यार्द्धग्रामादिविषयः संकल्पो वृत्तिपरिसंख्यानम्। भिक्षार्थिनो मुनेरेकागारादिविषयः संकल्पश्चिन्तावरोधः वृत्तिपरिसंख्यानमाशानिवृत्त्यर्थमवगन्तव्यम्। (त. वा. ९, १९, ४)। ५. भोयण-भायण-घर-वाड-दादारा वुत्ती णाम। तिस्से वुत्तीए परिसंखाणं गहणं वुत्तिपरिसंखाणं णाम। एदम्हि वुत्तिपरिसंखाणे पडिबद्धो जो अवग्गहो सो वुत्तिपरिसंखाणं णाम तवो। (धव. पु. १३, पृ. ५७)। ६. एकागार-सप्तवेश्मैकरसार्वग्रासादि-विषयसंकल्पो वृत्तिपरिसंख्यानम्। (त. श्लो. ९–१९)। ७. तथा आहारसंज्ञाया जयो वृत्तिपरिसंख्यानम्। (भ. आ. विजयो. ६)। ८. एकवास्तु-दशागार-पान-मुद्गादिगोचरः। संकल्पः क्रियते यत्र वृत्तिसंख्या हि तत्तपः ॥ (त. सा. ७–१२)। ९. एगादिगिहपमाणं किं वा संकप्पकप्पियं विरसं। भोज्जं पसुव्व भुंजइ वित्तिपमाणं तवो तस्स। (कार्तिके. ४४३)। १०. वृत्तिर्वाट-गृहाऽऽहार-पात्र-दातृषु वर्तनम्। संख्या तन्नियमो वृत्तिपरिसंख्या निजेच्छया ॥ इयमाशानिरासायादीनताभावनाप्तये। गात्रयात्रानिमित्ताक्षमात्रकांक्षस्य योगिनः ॥ (आचा. सा. ६, ११–१२)। ११. तथा वर्ततेऽनयेति वृत्तिर्भैक्ष्यम्, तस्याः संक्षेपणं ह्रासः, तच्च दत्तिपरिमाणरूपम्। एक-द्वि-त्र्याद्यगारनियमो

आत्मा का परिणाम उत्पन्न होता है उसका नाम वीर्य है।

वीर्यप्रवाद—१. छद्मस्थ-केवलिनां वीर्यं सुरेन्द्र-दैत्याधिपानां ऋद्धयो नरेन्द्र-चक्रधर-बलदेवानां च वीर्यलाभो द्रव्याणां सम्यक्त्वलक्षणं च यत्राभिहितं च तद्वीर्यप्रवादम्। (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७५)। २. वीरियाणुपवादं णाम पुव्वं अट्ठण्णं वत्थूणं सट्ठिसयपाहुडाणं १६० सत्तरिलक्खपदेहि ७०००००० अप्पविरियं परविरियं उभयविरियं खेत्तविरियं भवविरियं तवविरियं वण्णेइ। (धव. पु. १, पृ. ११५); छद्मस्थानां केवलिनां वीर्यं सुरेन्द्र-दैत्याधिपानां वीर्यर्द्धयो नरेन्द्र-चक्रधर-बलदेवानां वीर्यलाभो द्रव्याणामात्मपरोभय-क्षेत्र-भवर्षितवोवीर्यं सम्यक्त्व-लक्षणं च यत्राभिहितं तद्वीर्यप्रवादं सप्ततिशतसहस्रपदम् ७००००००। (धव. पु. ६, पृ. २१३)। ३. विरियाणुपवादपुव्वं अप्पविरिय-परविरिय-तदुभयविरिय-खेत्तविरिय-कालविरिय-भवविरिय-तवविरियादीणं वण्णणं कुणइ। (जयध. १, पृ. १४०)। ४. वीर्यप्रवादं तृतीयम्, तत्राप्यजीवानां जीवानां सकर्मेतराणां वीर्यं प्रोच्यत इति वीर्यप्रवादम्, तस्यापि सप्ततिपदशतसहस्राणीति परिमाणम्। (समवा. वृ. १४७)। ५. सप्ततिलक्षपदं चक्रधर-सुरपति-धरणेन्द्र-केवल्यादीनां वीर्यमाहात्म्यव्यावर्णकं वीर्यानुप्रवादम्। (श्रुतभ. टी. १०)। ६. बलदेव-चक्रवर्ति-तीर्थंकरादिबलवर्णकं सप्ततिलक्षपदप्रमाणं वीर्यानुप्रवादपूर्वम्। (त. वृत्ति श्रुत. १-२०)। ७. विज्जाणुवादपुव्वं वज्जं जीवादिवत्थुसामत्थं। अणुवादो अणुवण्णणमिह तस्स हवेत्ति णणमह॥ तं वण्णदि अप्पबलं परविज्जं उहय विज्जमवि णिच्चं। खेत्तबलं कालबलं भावबलं तवबलं पुण्णं॥ दव्वबलं गुणपज्जयविज्जं विज्जाबलं च सव्वबलं। सत्तरि-लक्खपयेहि पुण्ण पुव्वं तदीयं खु॥ (अंगप. ४६, ५१)।

१ जिस पूर्वश्रुत में छद्मस्थों व केवलियों के वीर्य, इन्द्र और दैत्येन्द्रों की ऋद्धियों; राजा, चक्रवर्ती व बलदेवों के वीर्यलाभ तथा द्रव्यों व सम्यक्त्व के लक्षण का निरूपण किया गया है उसे वीर्यप्रवाद-पूर्व कहते हैं। ४ जिसमें अजीवों तथा सकर्म (संसारी) व मुक्त जीवों के वीर्य का कथन किया जाता है उसका नाम वीर्यप्रवादपूर्व है। यह तीसरा पूर्व है तथा पदसंख्या उसकी ७०००००० है।

वीर्याचार—१. सम्यग्ज्ञानविलोचनस्य दधतः श्रद्धानमर्हन्मते वीर्यस्याविनिगूहनेन तपसि स्वस्य प्रयत्नाद्यतेः। या वृत्तिस्तरणीव नौरविवरा लघ्वी भवोदन्वतो वीर्याचारमहं तमूर्जितगुणं वन्दे सतामर्चितम्॥ (चारित्रभ. ६, पृ. १८६)। २. स्वशक्त्य-निगूहनरूपा वृत्तिर्ज्ञानादौ वीर्याचारः। (भ. आ. विजयो. ४६); वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितसामर्थ्यपरिणामो वीर्यम्, तदविगूहनेन रत्नत्रयवृत्तिर्वीर्याचारः। (भ. आ. विजयो. ८५); स्वशक्त्यनिगूहनं तपसि वीर्याचारः। (भ. आ. विजयो. ४१६)। ३. तत्रैव शुद्धात्मस्वरूपे स्वशक्त्यनवगूहनेनाचरणं परिणमनं वीर्याचारः। (परमा. वृ. ७)। ४. वीर्यस्यानिह्नवो वीर्याचारः शुभविषयस्वशक्त्योत्साहः। (मूला. वृ. ४-२)। ५. वीर्याचारो ज्ञानादिप्रयोजनेषु वीर्यस्यागोपनमिति। (समवा. वृ. १३६)। ६. विरियाचारो स्वसामर्थ्यानिगूहनेन निर्मलरत्नत्रये प्रवृत्तिः। (भ. आ. मूला. ८५)।

१ जो मुनि जिनशासन पर श्रद्धा रखता है तथा सम्यग्ज्ञानरूप नेत्र से सहित है उसकी अपने सामर्थ्य को न छिपाकर जो प्रयत्नपूर्वक तपमें प्रवृत्ति होती है उसे वीर्याचार कहा जाता है। जिस प्रकार छेद से रहित छोटी नौका द्वारा समुद्र से पार हो सकते हैं उसी प्रकार इस वीर्याचार रूप प्रवृत्ति के आश्रय से संसार रूप समुद्र से पार हो सकते हैं। ५ ज्ञान आदि प्रयोजनों में शक्ति को न छिपाना, इसका नाम वीर्याचार है।

वीर्यानुप्रवाद—देखो वीर्यप्रवाद।

वीर्यानुवाद—देखो वीर्यप्रवाद।

वीर्यान्तराय—१. वीर्यं बलं शुक्रमित्येकोऽर्थः। जस्स कम्मस्स उदएण वीरियस्स विग्घं होदि तं वीरियंतराइयं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ७८); अन्तरमेति गच्छतीत्यन्तरायः × × × वीर्यः [र्यं] शक्तिरित्यर्थः। वीर्यस्य विघ्नकृदन्तरायः वीर्यान्तरायः। (धव. पु. १३, पृ. ३६०)। २. तथा यदुदयात् सत्यपि नीरुजि शरीरे यौवनिकायामपि वर्तमानोऽल्पप्राणो भवति यद्वा बलवत्यपि शरीरे साध्येऽपि प्रयोजने हीनसत्त्वतया न प्रवर्तते तद्वीर्यान्तरायम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २६३, पृ. ४७५)।

१ वीर्य का अर्थ बल और शुक्र (शरीरगत धातु-

विशेष) होता है, जिस कर्म के उदय से वीर्य का विघ्न होता है उसे वीर्यान्तराय कहते हैं। २ जिसके उदय से शरीर के नीरोग और यौवन अवस्था में वर्तमान होने पर भी प्राणी अल्पप्राण होता है, अथवा शरीर के बलवान् होने पर भी तथा प्रयोजन के साध्य भी होने पर प्राणी हीनबल होने से उसमें प्रवृत्त नहीं होता है वह वीर्यान्तराय कहलाता है।

वृक्षमूल-उपगत-अतिचार—१. वृक्षस्य मूलमुपगतस्यापि हस्तेन पादेन शरीरेण वाप्कायानां पीडा। कथम् ? शरीरावलग्नजलकणप्रमार्जनं हस्तेन पादेन वा शिलाफलकादिगतोदकापनयनम्, मृत्तिकाद्रायां भूमौ शयनम्, निम्नेन जलप्रवाहगमनदेशे वा अवस्थानम्, अवग्रहे वर्षापातः कदा स्यादिति चिन्ता, वर्षति देवे कदास्योपरमः स्यादिति वा, छत्र-कटकादिधारणं वर्षानिवारणायेत्यादिकः। (भ. आ. विजयो. ४८७)। २. वृक्षमूलाधिवासस्य (अतिचारः) हस्तेन पादेन वा शरीरावलग्नजलकणप्रमार्जनम्, तद्वच्छिला-फलकादिगतोदकापनयनम्, जलाद्रायां भूमौ शयनम्, निम्नजलप्रवाहगमनदेशे वा अवस्थानम्, अवग्रहे वृष्टिः कदा स्यादिति चिन्ता, वृष्टौ वा कदैतदुपरमः स्यादिति वा, वृष्टिप्रतिघाताय छत्रादिधारणं वेत्यादिः। (भ. आ. मूला. ४८७)।

१ हाथ, पांव अथवा शरीर के द्वारा (शरीर में संलग्न जलकणों के पोंछने से) जलकायिक, जीवों को पीड़ा पहुंचाना, हाथ अथवा पांव से शिला अथवा पटिये पर स्थित जल को हटाना, गीली भूमि पर सोना, नीचे जलप्रवाह के जाने के स्थान में स्थित होना, वर्षा के अभाव में 'कब वर्षा होगी' ऐसा विचार करना, अथवा वर्षा के चालू रहने पर 'कब यह समाप्त होगी' ऐसा चिन्तन करना, वर्षा के निवारण के लिए छत्र व कटक आदि को धारण करना; इत्यादि ये सब कायक्लेश के अन्तर्गत वर्षायोग के अतिचार हैं।

वृत्त—१. वृत्तं च तद्द्वयस्यात्मन्यस्खलद्वृत्तिधारणम्। (क्षत्रचू. ६-२०)। २. यद्विशुद्धेः परं धाम यद्योगिजनजीवितम्। तद्वृत्तं सर्वसावद्यपर्युदासैकलक्षणम्॥ (ज्ञाना. ८-१, पृ. १०६)। ३. वृत्तमनाचारपरिहारः सम्यगाचारपरिपालनं च। (योगशा. स्वो. विव. १-४५, पृ. १५७)।

२ समस्त सावद्य के परित्याग का नाम वृत्त है। ३ अनाचार (कुत्सित आचार) को छोड़कर समीचीन आचार के परिपालन को वृत्त कहते हैं।

वृत्तिपरिसंख्यान—१. गोयरपमाण-दायग-भायण-णाणाविधाण जं गहणं। तह एसणस्स गहणं विविधस्स य वुत्तिपरिसंखा॥ (मूला. ५-१५८)। २. गत्तापच्चागदं उज्जुवीहि गोमुत्तियं च पेलवियं। संबूका वट्टंपि य पदंगवीधी य गोयरिया॥ पाडयणियंसणभिक्खापरिमाणं दत्तिघासपरिमाणं। पिंडेसणा य पाणेसणा य जागूय पुग्गलया॥ संसिट्ठ फलिह परिखा पुप्फोवहिदं व सुद्धगोवहिदं। लेवडमलेवडं पाणयं च णिस्सित्थगमसित्थं॥ पत्तस्स दायगस्स य अवग्गहो बहुविहो ससत्तीए। इच्चेवमादिविविधा णादव्वा वुत्तिपरिसंखा॥ (भ. आ. २१८-२१)। ३. भिक्षार्थिनो मुनेरेकागारादिविषयसंकल्पचिन्तावरोधो वृत्तिपरिसंख्यानमाशानिवृत्यर्थमवगन्तव्यम्। (स. सि. ६-१६)। ४. एकागार-सप्तवेश्मैकरथ्यार्द्धग्रामादिविषयः संकल्पो वृत्तिपरिसंख्यानम्। भिक्षार्थिनो मुनेरेकागारादिविषयः संकल्पश्चिन्तावरोधः वृत्तिपरिसंख्यानमाशानिवृत्त्यर्थमवगन्तव्यम्। (त. वा. ६, १६, ४)। ५. भोयण-भायण-घर-वाड-दादारा वुत्ती णाम। तिस्से वुत्तीए परिसंखाणं गहणं वुत्तिपरिसंखाणं णाम। एदम्मि वुत्तिपरिसंखाणे पडिबद्धो जो अवग्गहो सो वुत्तिपरिसंखाणं णाम तवो। (धव. पु. १३, पृ. ५७)। ६. एकागार-सप्तवेश्मैकरसार्धग्रासादि-विषयसंकल्पो वृत्तिपरिसंख्यानम्। (त. श्लो. ६-१६)। ७. तथा आहारसंज्ञाया जयो वृत्तिपरिसंख्यानम्। (भ. आ. विजयो. ६)। ८. एकवास्तु-दशागार-पान-मुद्गादिगोचरः। संकल्पः क्रियते यत्र वृत्तिसंख्या हि तत्तपः॥ (त. सा. ७-१२)। ६. एगादिगिहपमाणं किं वा संकप्पकप्पियं विरसं। भोज्जं पसुव्व भुंजइ वित्तिपमाणं तवो तस्स। (कार्तिके. ४४३)। १०. वृत्तिर्वाट-गृहाऽऽहार-पात्र-दातृषु वर्तनम्। संख्या तन्नियमो वृत्तिपरिसंख्या निजेच्छया॥ इयमाशानिरासायादीनताभावनाप्तये। गात्रयात्रानिमित्तान्नमात्रकांक्षस्य योगिनः॥ (आचा. सा. ६, ११-१२)। ११. तथा वर्ततेऽनयेति वृत्तिर्भैक्ष्यम्, तस्याः संक्षेपणं ह्रासः, तच्च दत्तिपरिमाणरूपम्। एक-द्वि-त्र्याद्यगारनियमो

रथ्याग्रामार्धग्रामनियमश्च। अत्रैव द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावाभिग्रहा अन्तर्भूताः। (योगशा. स्वो. विव. ४-८९)। १२. भिक्षागोचरचित्रदातृचरणामत्रान्नसद्मादिगान् संकल्पाच्छ्रमणस्य वृत्तिपरिसंख्यानं तपोऽङ्गस्थितिः। नैराश्याय तदाचरेन्निजरसासृग्मांससंशोषणद्वारेणेन्द्रियसंयमाय च परं निर्वेदमासेदिवान्॥ (अन. ध. ७-२६)। १३. आशानिरासार्थमेकमन्दिरादिप्रवृत्तिविधानं तद्विषये संकल्प-विकल्पचिन्तानियन्त्रणं वृत्तेर्भोजनप्रवृत्तेः परिसमन्तात्संख्यानं मर्यादा, गणनमित्त यावत्, वृत्तिपरिसंख्यानमुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ९-१९)। १४. वृत्तिपरिसंख्यानं गणितगृहेषु भोजन वस्तुसंख्या वा। (भावप्रा. टी. ७८)। १५ वृत्तेः प्रमाणं परिसंख्या वृत्तिपरिसंख्या। स्वकीयतपोविशेषेण रस-रुधिर-मांसशोषणद्वारेणेन्द्रियसंयमं परिपालयतो भिक्षार्थिनो मुनेः एकगृह-सप्तगृहैकमार्गार्द्धि-दायक-भाजन-भोजनादिविषयः संकल्पो वृत्तिसंख्यानम् × × ×। (कार्तिके. टी. ४४५)। १६. त्रिः-चतुः-पञ्च-षष्ठादिवस्तूनां संख्यानम्। सद्मादिसंख्यया यद्वा वृत्तिसंख्या प्रचक्ष्यते॥ (लाटीसं. ७-७७)।

१ गृह के प्रमाण, दाता और पात्र इत्यादि के सम्बन्ध में तथा भाजन के सम्बन्ध में जो अनेक प्रकार का नियम किया जाता है उसे वृत्तिपरिसंख्यान तप कहा जाता है। जैसे —मैं भोजन के लिए दो या तीन आदि घर जाऊंगा, यदि वृद्ध दाता पडिगाहन करेगा तो आहार लूंगा, अन्यथा नहीं; इसी प्रकार पात्र (चांदी या पीतल से निर्मित) और भोजन (अमुक प्रकार का धान्य आदि) के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। ११ जिसके आश्रय से वर्तन—शरीर की स्थिति रहती है—उसका नाम वृत्ति है जो भैक्ष्य का बोधक है। घर व गली आदि का नियम करके उक्त भैक्ष्य का जो संकोच किया जाता है उसे वृत्तिसंक्षेप कहते हैं।

वृत्तिपरिसंख्यानातिचार—१. वृत्तिपरिसंख्यानस्यातिचाराः गृहसप्तकमेव प्रविशामि, एकमेव पाटकम्, दरिद्रगृहमेकम्, एवम्भूतेन दायकेन दायिकया वा दत्तं गृहीष्यामीति वा कृतसंकल्पः[स्य] गृहसप्तकादिकादधिकप्रवेशः, पाटान्तरप्रवेशश्च परं भोजयामीत्यादिकः। (भ. आ. विजयो. ४८७)। २. वृत्तिपरिसंख्यानस्यातिचारो गृहसप्तकमेव प्रविशामि इत्येवमादिसंकल्पं कृतवतः, परं भोजयामीत्यभिप्रायेण तदधिकप्रवेशादिकः। (भ. आ. मूला. ४८७)।

१ वृत्तिपरिसंख्यान तप में सात गृह, एक पाटक अथवा दरिद्र दाता आदि के घर के विषय में जो नियम किया गया था उससे 'दूसरे को भोजन कराता हूं, इस विचार से अधिक गृह आदि में प्रवेश करने पर वह वृत्तिपरिसंख्यान के अतिचार से मलिन होता है।

वृत्तिसंक्षेप—देखो वृत्तिपरिसंख्यान।

वृद्ध—वृद्धः क्षीणेन्द्रियकर्मेन्द्रियकृत्यः चतुर्थीमवस्थां प्राप्तः सः संस्तारक दीक्षामेवार्हति, न प्रव्रज्याम्। (आचारदि. पृ ७४)।

जिसकी बुद्धि इन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों का कार्य शिथिल पड़ गया है वह चौथी अवस्था को प्राप्त वृद्ध कहलाता है। वह संस्तारक दीक्षा के योग्य तो होता है, पर प्रव्रज्या—मुनि दीक्षा—के योग्य नहीं होता।

वृषभ—वृषेण धर्मेण भातीति वृषभः। (अन. ध. स्वो. टी. ८-३९)।

जो वृष अर्थात् धर्म से शोभायमान होता है उसका नाम वृषभ है। यह जिनेन्द्र के १००८ नामों के अन्तर्गत है।

वृषभानुजात—वृषभानुजातः, अत्र 'अनुजात' शब्दः सदृशवचनो वृषभस्यानुजातः सदृशो वृषभानुजातः, वृषभाकारेण चन्द्र-सूर्य-नक्षत्राणि यस्मिन् योगे अवतिष्ठन्ते स वृषभानुजातः। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १२, ७८ पृ. २३३)।

जिस योग में चन्द्र, सूर्य और नक्षत्र वृषभ के आकार से अवस्थित रहते हैं उसका नाम वृषभानुजात योग है। यहां अनुजात का अर्थ सदृश है।

वृष्य—इन्द्रियबलवर्द्धनो माषविकारादिर्वृष्यः कथ्यते। वृषवत्कामी भवति येनाहारेण स वृष्यः। (त. वृत्ति श्रुत. ७-३५)।

जो उड़द आदि इन्द्रियों के बल को वृद्धिगत करते हैं वे वृष्य कहलाते हैं, जिस आहार से मनुष्य बैल के समान कामी होता है उसका वृष्य यह सार्थक नाम है।

वृष्येष्टरस—१. वृषे वृषभे साधवो वृष्याः, येषु रसेषु भुक्तेषु पुमान् वृषभवत् उन्मत्तकामो भवति ते

रसा वृष्याः इत्युच्यन्ते। (त. वृत्ति श्रुत. ७-७)। २. वृष्यमन्नं यथा माषाः पयश्चेष्टरसः स्मृतः। वीर्यवृद्धिकरं चान्यत्तत्याज्यमित्यादि ब्रह्मणे॥ (लाटीसं. ६-६८)।

१ जिन रसों का उपभोग करने पर मनुष्य बैल के समान उन्मत्त हो जाता है वे वृष्यरस कहलाते हैं। २ वीर्य को वृद्धिगत करने वाले उड़द आदि को वृष्यरस कहा जाता है।

वेणुकानुजात वेणुः वंशस्तदनुजातः तत्सदृशो वेणुकानुजातः। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १२-७८, २३३)।

वेणु नाम बांस का है, बांस के सदृश योग को वेणुकानुजातयोग कहा जाता है।

वेद (मार्गणा)—वेद्यत इति वेदः। (धव. पु. १, पृ. १४०); ××× अथवात्मप्रवृत्तेः सम्मोहोत्पादो वेदः। ××× अथवा आत्मप्रवृत्तेर्मैथुनसंमोहोत्पादो वेदः। (धव. पु. १, पृ. १४०; पु. ७, पृ. ७)।

जो वेदा जाता है—अनुभव में आता है—उसका नाम वेद है। अथवा आत्मप्रवृत्ति से जो मैथुनक्रिया के प्रति मुग्ध करता है उसे वेद कहा जाता है।

वेद (जीव)—सुखमसुखं वेदयतीति वेदः। (धव. पु. ६, पृ. २२१)।

जो सुख-दुख का वेदन या अनुभवन करता है या जानता है उसे वेद कहते हैं। यह एक जीव का पर्याय नाम है।

वेद (श्रुत)—अशेषपदार्थान् वेत्ति वेदिष्यति अवेदीदिति वेदः सिद्धान्तः। (धव. पु. १३, पृ. २८६)।

जो समस्त पदार्थों को वर्तमान में जानता है, भविष्य में जानेगा तथा भूत में जान चुका है उसे वेद कहा जाता है। यह श्रुत के वाचक ४१ नामों में से एक है।

वेदकसम्यक्त्व—देखो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व। १. ततः सम्यक्त्वभावनामृतरसविवर्धितविशुद्धिः मिथ्यात्वविघातिवीर्यविशेषे क्षुद्यमानव्रीहितुषकण-तन्दुलविवेकवत् मिथ्यादर्शनकर्म मिथ्यात्व-सम्यक्त्व-सम्यङ्मिथ्यात्वविभागेन त्रिधा विभज्य सम्यक्त्वं वेदयमानः सद्भूतपदार्थश्रद्धानफलं वेदकसम्यग्दृष्टिर्भवति। (त. वा. ६-४५)। २. सम्मत्तसण्णिददंसणमोहणीयभेयकम्मस्स उदएण वेदयसम्माइट्ठी णाम। ××× जो पुण वेदयसम्माइट्ठी सो सिथिलसद्दहणो थेरस्स लट्ठिग्गहणं व सिथिलग्गाहो कुहेउ-कुदिट्ठंतेहि झडिदि विराहओ। (धव. पु. १, पृ. १७१-७२); दंसणमोहुदयादो उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं। चलमलिणमगाढं तं वेदगसम्मत्तमिह मुणसु॥ (धव. पु. १, पृ. ३६६ उद्.)। दर्शनमोहवेदको वेदकः, तस्य सम्यग्दर्शनं वेदकसम्यग्दर्शनम्। (धव. पु. १, पृ. ३९८); दंसणमोहणीयस्स ××× खओवसमेण वेदगसम्मत्तं। (धव. पु. ७, पृ. १०७); सम्मत्तदेसघादिफद्दयाणमणंतगुणहाणीए उदयमागदाणमइदहरदेसघादित्तणेण उवसंताणं जेण खओवसमसण्णा अत्थि तेण तत्थुप्पण्णजीवपरिणामो खओवसमलद्धीसण्णिदो, तीए खओवसमलद्धीए वेदगसम्मत्तं होदि। (धव. पु. ७, पृ. १०८)। ३. सम्मत्तदेसघादिस्सुदयादो वेदगं हवे सम्मं। चलमलिनमगाढं तं णिच्चं कम्मक्खवणहेदू॥ (गो. जी. २५); दंसणमोहुदयादो उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं। चलमलिणमगाढं तं वेदयसम्मत्तमिदि जाणे॥ (गो. जी. ६४९)। ४. व्रजन्ति सप्ताधकलं ××× । ××× द्वयं (क्षयं शमं च) यदा याति तदा तु वेदिकम्॥ (धर्मप. २०, ६९-७०)। ५. प्रशमे कर्मणां षण्णामुदयस्य क्षये सति। आदत्ते वेदकं वन्द्यं सम्यक्त्वस्योदये सति॥ (अमित. श्रा. २-५५)। ६. वेदकं नाम सम्यक्त्वं क्षपकश्रेणिमीयुषः। अनन्तानुबन्धिनां तु क्षये जाते शरीरिणः॥ (त्रि. श. पु. च. १, ३, ६०५)। ७. पाकाद्देशघ्नसम्यक्त्वप्रकृतेरुदयक्षये। शमे च वेदकं षण्णामगाढं मलिनं चलम्॥ (अन. ध. २-५६)। ८. खयउवसमदो सम्मत्तुदयादो वेदगं सम्मं॥ (भावत्रि. ६)। ९. दर्शनमोहनीयभेदस्य सम्यक्त्वप्रकृतेः सर्वघातिस्पर्धकानामुदयाभावलक्षणे क्षये तेषामेव सदवस्थालक्षणे उपशमे च उदयनिषेकदेशघातिस्पर्धकस्योदयात् क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वं तत्त्वार्थश्रद्धानं भवेत् तदेव वेदकमित्युच्यते। (गो. जी. मं. प्र. २५)।

१ प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुआ जो जीव दले जाने वाले धान के छिलका, कण और तन्दुल इन तीन विभागों के समान मिथ्यादर्शन कर्म को

मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यङ्मिथ्यात्व इन तीन भागों में विभाजित कर सम्यक्त्व प्रकृति का अनुभव करता है वह सद्भूत पदार्थों के श्रद्धान के फलस्वरूप वेदकसम्यग्दृष्टि होता है। २ अनन्तगुणे हीनक्रम से उदय में आकर व अतिशय हीन होकर देशघाती के रूप में उपशम को प्राप्त हुए सम्यक्त्व के देशघाती स्पर्द्धकों का नाम क्षयोपशम है। इस क्षयोपशम के आश्रय से जो जीव का परिणाम होता है उसे क्षयोपशमलब्धि कहते हैं। इस क्षयोपशम लब्धि से वेदकसम्यक्त्व होता है।

वेदना—१. वेयणा कम्माणमुदयो। (धव. पु. १, पृ. १२५); वेदणा णाम सुह-दुक्खाणि × × × तम्हा सव्वकम्माणं पडिसेहं काऊण पत्तोदयवेदणीयदव्वं चेव वेयणा त्ति उत्तं। (धव. पु. १०, पृ. १६); वेदणीयदव्वकम्मोदयजणिदसुह-दुक्खाणि अट्ठकम्माणमुदयजणिदजीवपरिणामो वा वेदणा। (धव. पु. १०, पृ. १७); अट्ठविहकम्मदव्वस्स वेयण त्ति सण्णा। (धव. पु. ११, पृ. २); वेद्यते वेदिष्यत इति वेदनाशब्दसिद्धेः। अट्ठविहकम्मपोग्गलक्खंधो वेयणा। (धव. पु. १२, पृ. ३०२)। २. वेदना कर्मानुभवलक्षणा। (सूत्रकृ. शी. वृ. २, ५, १८, पृ. १२८)। ३. वेदनं वेदना, स्वभावेनोदीरणाकरणेन वोदयावलिकाप्रविष्टस्य कर्मणोऽनुभवनमिति भावः। (स्थानां. अभय. वृ. १५); वेदना सामान्यकर्मानुभवलक्षणा। (स्थानां. अभय. वृ. ३३); वेदनं स्थितिक्षयादुदयप्राप्तस्य कर्मण उदीरणाकरणेन वोदयभावमुपनीतस्यानुभवनमिति। (स्थानां. अभय. वृ. २५०)।

१ धवला में विवक्षाभेद से वेदना का लक्षण अनेक प्रकार का उपलब्ध होता है। यथा—कर्म के उदय का नाम वेदना है। सुख-दुख का नाम वेदना है। उदय में प्राप्त हुए वेदनीय कर्म के द्रव्य को ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा वेदना कहा जाता है। शब्द नय की अपेक्षा वेदनीयकर्मद्रव्य के उदय से जो सुख-दुख होते हैं उनको अथवा आठों कर्मों के उदय से उत्पन्न होने वाले जीव के परिणाम को वेदना कहा गया है। आठ प्रकार के कर्मद्रव्य का नाम वेदना है। २ कर्म के अनुभव को वेदना कहते हैं।

वेदना आर्तध्यान—१. वेदना-शब्दः सुखे दुःखे च वर्तमानोऽपि आर्तस्य प्रकृतत्वात् दुःखवेदनायां प्रवर्तते, तस्या वातादिविकारजनितवेदनाया उपनिपाते तस्या अपायः कथं नाम मे स्यादिति संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धस्तृतीयमार्तमुच्यते। (स. सि. ९, ३२)। २. तह सूल-सीसरोगाइवेयणाए विजोगपणिहाणं। तदसंपओगचिंता तप्पडियाराउलमणस्स॥ (ध्यानश. ७; योगशा. स्वो. विव. ३-७३ उद्.)। ३. प्रकरणाद् दुःखवेदनासंप्रत्ययः। यद्यपि वेदनाशब्दः सुख-दुःखानुभवनविषयसामान्यस्तथापि आर्तस्य प्रकृतत्वाद् दुःखवेदनासंप्रत्ययो भवति। तत्प्रतिचिकीर्षां प्रत्यागूर्णस्यानवस्थितमनसो धैर्योपरमात् स्मृतिसमन्वाहार आर्तध्यानमवगन्तव्यम्। (त. वा. ९, ३२, १)। ४. असद्वेद्योदयोपात्तद्वेषकारणमीरितम्। तृतीयं वेदनायाश्चेत्युक्तं सूत्रेण तत्त्वतः। (त. श्लो. ९, ३२, १)। ५. कास-श्वास-भगन्दरोदर-जराकुष्ठातिसार-ज्वरैः पित्त-श्लेष्म-मरुत्प्रकोपजनितैः रोगैः शरीरान्तकैः। स्यात्सत्त्वप्रबलैः प्रतिक्षणभवैर्यद्याकुलत्वं नृणां तद्रोगार्तमनिन्दितैः प्रकटितं दुर्वारदुःखाकरम्॥ स्वल्पानामपि रोगाणां माभूत्स्वप्नेऽपि संभवः। ममेति या नृणां चिन्ता स्यादार्तं तत्तृतीयकम्। (ज्ञाना. २५, ३२-३३)। ६. शूलादिरोगसम्भवे च तद्वियोगप्रणिधानं तदसंप्रयोगचिन्ता च द्वितीयम्। (योगशा. स्वो. विव. ३-७३)।

१ वेदना शब्द से सामान्यतः सुख-दुःख का बोध होता है, पर आर्तध्यान के प्रसंग में वात-पित्तादि के विकार से जो शरीर में पीड़ा होती है उसका नाम वेदना है। उसका विनाश कैसे हो, इस प्रकार के चिन्तन को वेदना नाम का आर्तध्यान कहा गया है। २ शूल रोग आदि की वेदना के होने पर उसके वियोग के लिए तथा भविष्य में उसका संयोग न होने के लिए जो चिन्ता होती है उसे वेदना आर्तध्यान कहते हैं।

वेदनाभय—१. एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते निर्भेदोदितवेद्य-वेदकबलादेकं सदानाकुलैः। नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत् तद्भीः कुतो ज्ञानिनो निःशंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति॥ (समयप्रा. क. १५०)। २. वेदनागन्तुका बाधा मलानां कोपतस्तनौ। भीतिः प्रागेव कम्पोऽस्या (पंचा. 'कम्पः स्यात्') मोहाद्वा परिदेवनम्॥ उल्लाघोऽहं भविष्यामि मा भून्मे वेदना क्वचित्। मूर्च्छेव वेदनाभीतिश्चिन्तनं वा मुहुर्मुहुः॥ (लाटी. सं. ४, ४८-४९; पंचाध्या. २, ५२४-२५)।

१ वेद्य और वेदक के भेद से रहित जो स्वयं एक निश्चल ज्ञान का वेदन किया जाता है वही एक वेदना है, अन्य बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध से होने वाली दूसरी कोई वेदना नहीं है; फिर भला उसका भय कहां से हो सकता है? इस प्रकार निर्भय सम्यग्दृष्टि के वेदनाभय सम्भव नहीं है। २ मलों के प्रकोप से शरीर में जो रोगादिजनित वेदना उत्पन्न होती है वह आगन्तुक है। उसके पहिले ही शरीर में कम्प होना, अथवा अज्ञानता से उसके लिए चिन्तातुर होना कि मैं कैसे नीरोग होऊंगा, मुझे कहीं व्याधिजनित वेदना न हो; यही वेदना-भय कहलाता है।

वेदनासमुद्घात—१. तत्र वातिकादिरोग-विषादि-द्रव्यसम्बन्धसन्तापापादितवेदनाकृतो वेदनासमुद्घातः। (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७७)। २. वेदण-समुग्घादो णाम अक्खि-सिरोवेदणादीहि जीवाण-मुक्कस्सेण सरीरतिगुणविप्फुज्जणं। (धव. पु. ४, पृ. २६); वेदणावसेण ससरीरादो बाहिमेगपदेस-मादि कादूण जावुक्कस्सेण सरीरतिगुणविफुंजणं वेयणसमुग्घादो णाम। (धव. पु. ७, पृ. २९९); वेयणावसेण जीवपदेसाणं विक्खंभुस्सेहेहि तिगुणवि-फुंजणं वेयणासमुग्घादो णाम। (धव. पु. ११, पृ. १८)। ३. तीव्रवेदनानुभवान्मूलशरीरमत्यक्त्वा आत्मप्रदेशानां बहिर्निगमनमिति वेदनासमुद्घातः। (बृ. द्रव्यसं. टी. १०)। ४. तीव्रवेदनानुभवात् मूल-शरीरमत्यक्त्वा आत्मप्रदेशानां बहिर्गमनं सीतादि-पीडितानां रामचन्द्रादीनां चेष्टाभिरिव वेदनासमुद्-घातः दृश्यते इति वेदनासमुद्घातः। (कार्तिके. टी. १७६)।

१ वातिक (वायुजनित) आदि रोग तथा विष आदि द्रव्यों के सम्बन्ध से होने वाले सन्ताप के कारण जो वेदना होती है व उसके आश्रय से शरीर को न छोड़ते हुए आत्मप्रदेश बाहिर निकलते हैं, इसका नाम वेदनासमुद्घात है। २ आंख और सिर की वेदना आदि से जीवप्रदेशों के अधिक से अधिक शरीर से तिगुने फैल जाने को वेदनासमुद्-घात कहा जाता है।

वेदनीय—देखो वेद्यकर्म। १. वेद्यत इति वेदनीयम्, अथवा वेदयतीति वेदनीयम्। जीवस्स सुह-दुक्खाणु-हवणणिबंधणो पोग्गलक्खंधो मिच्छत्तादिपच्चयव-सेण कम्मपज्जयपरिणदो जीवसमवेदो वेदणीयमिदि भण्णदे। (धव. पु. ६, पृ. १०); जीवस्स सुह-दुक्खु-प्पाययं कम्मं वेयणीयं णाम। (धव. पु. १३, पृ. २०८)। २. तया वेद्यते आल्हादिरूपेण यदनुभूयते तद्वेदनीयम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २८८)।

१ जो पुद्गलस्कन्ध मिथ्यात्व आदि कारणों के वश कर्मपर्याय रूप से परिणत होकर जीव के लिये सुख-दुःख का कारण होता है उसे वेदनीय कहा जाता है। २ जिसका आह्लादि (हर्ष आदि) के रूप से अनु-भवन किया जाता है उसे वेदनीय कर्म कहते हैं।

वेदमूढता—पापोपदेशवेदान्यपुराणादिषु सन्मतिः। स्याद्वेदमूढता जन्तोः संसृतिभ्रान्तिकारणम्॥ (आचा. सा. ३–४८)।

पापजनक उपदेश, वेद और अन्य पुराण आदि के विषय में जो समीचीनता की बुद्धि होती है; इसे वेदमूढता कहते हैं, वह जीव के संसार परिभ्रमण का कारण है।

वेदिकाबद्धदोष—१. वेदिकाकारेण हस्ताभ्यां बन्धो हस्तपंजरेण वाम-दक्षिणस्तनप्रदेशं प्रपीड्य जानुद्वयं वा प्रबद्ध्य वन्दनाकरणं वेदिकाबद्धदोषः। (मूला. वृ. ७–१०७)। २. वेदिकाबद्ध जानुनोरुपरि हस्तौ निवेश्य अधो वा पार्श्वयोर्वा उत्संगे वा जानु-करद्वयान्तः कृत्वा वा इति पञ्चभिर्वेदिकाभिर्बद्धं युक्तं वन्दनम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०)। ३. वेदिबद्धं स्तनोत्पीडो दोर्भ्यां वा जानुबन्धनम्। (अन. ध. ८–१०२)।

१ वेदिका के आकार से दोनों हाथों से बायें व दाहिने स्तनप्रदेश को पीड़ित कर वन्दना करना अथवा दोनों घुटनों को बांध कर वंदना करना, यह एक वन्दना का वेदिकाबद्ध दोष है। २ दोनों घुटनों के ऊपर, नीचे, दोनों पार्श्वभागों में अथवा उत्संग में दोनों हाथों को करके अथवा घुटने को दोनों हाथों के मध्य में करके; पांच वेदिकाओं से युक्त जो वन्दना की जाती है वह वेदिकाबद्ध नामक दोष से दूषित होती है।

वेदिम—सुत्तिधुवकोसपल्लादिदव्वं वेदणकिरिया-णिप्फण्णं वेदिमं णाम। (धव. पु. ६, पु. २७२, २७३)।

वेदनक्रिया क्रिया से सिद्ध शुक्ति, इन्धुव, कोश पल्य आदि द्रव्य का नाम वेदिम है।

वेद्यकर्म—मधुलिप्तासिधाराग्रास्वादाभं वेद्यकर्म-यत्। सुख-दुःखानुभवनदं स्वभावं तत्प्रकीर्तितम् ॥ (त्रि. श. पु. च. २, ३, ४६६)।

शहद लपेटी तलवार की धार के अग्रभाग के आस्वादन के समान जो कर्म सुख व दुःख के अनुभवन स्वभाववाला है उसे वेद्यकर्म कहते हैं।

वेध—वेधस्तु नासिकादिवेधनं कीलिकादिभिः। (ध्यानश. हरि. वृ. १६)।

कील आदि के द्वारा जो नाक आदि को वेधा जाता है, इसे वेध कहते हैं।

वेहाणसमरण—देखो विप्पाणसमरण। वेहाणसं नाम उव्वंधणं। (उत्तरा. चू. पृ. १२६)।

उद्बन्धन—पेड आदि के आश्रित बन्धन (फांसी)—से जो आकाश में मरण होता है उसे वेहाणस या वैहायस मरण कहते हैं।

वैक्रिय—१. अष्टगुणैश्वर्ययोगादेकानेकाणु-महच्छरीरविविधकरणं विक्रिया, सा प्रयोजनमस्येति वैक्रियिकम्। (स. सि. २–३६)। २. विक्रिया प्रयोजनं वैक्रियिकम्। अष्टगुणैश्वर्ययोगादेकानेकाणु-महच्छरीरविविधकरणं विक्रिया, सा प्रयोजनमस्येति वैक्रियिकम्। (त. वा. २, ३६, ६); विविधर्धिगुणयुक्तविकरणलक्षणं वैक्रियिकम्। (त. वा. २, ४६, ८)। ३. विविधा क्रिया विक्रिया, तस्यां भव वैक्रियम्। (आव. नि. हरि. वृ. १४३४, पृ. ७६७)। ४. अणिमादिविक्रिया, तद्योगात्पुद्गलाश्च विक्रियेति भण्यन्ते। तत्र भवं शरीरं वैक्रियिकम्। (धव. पु. १, पृ. २९१); जस्स कम्मस्स उदएण आहारवग्गणाए खंधा अणिमादिअट्ठगुणोवलक्खियसुहा-सुहप्पय-वेउव्वियसरीरस्वेण परिणमंति तस्स वेउव्वियसरीरमिति सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ६९); जस्सकम्मस्स उदएण वेउव्वियसरीरपरमाणू जीवेण सह बंधमागच्छन्ति तं कम्मं वेउव्वियसरीरणामं। (धव. पु. १३, पृ. ३६३); तेत्तीससागरोवमसंचिदणोकम्मपदेसकलाओ वेउव्वियसरीरं णाम। (धव. पु. १४, पृ. ७८)। ५. विक्रियायां भवः कायो विक्रिया वा प्रयोजनम्। यस्य वैक्रियिको ज्ञेयः × × × ॥ एकानेकलघु-स्थूलशरीरविविधक्रिया। विक्रिया कथिता प्राज्ञैः सुर-श्वाभ्रादिगोचरा ॥ (पञ्चसं. अमित. १, १७३–७४)। ६. तथा यदुदयादाहारवर्गणागतपुद्गलस्कन्धा अणिमादिगुणोपलक्षितास्तद्वैक्रियकं शरीरम्। (मूला. वृ. १२, १९३)। ७. विक्रिया प्रयोजनमस्येति वैक्रियं सूक्ष्मतरविशिष्टकार्यकरणक्षमपुद्गलनिर्वृत्तम्। (औपपा. अभय. वृ. ४२, पृ. ११०)। ८. तथा विविधा विशिष्टा वा क्रिया विक्रिया, तस्यां भवं वैक्रियम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ २६७, पृ. ४०९)। ९. विविधं करणं विक्रिया, विक्रिया प्रयोजनं यस्य तत् वैक्रियिकम्, विक्रियिकनामकर्मोदयनिमित्तम्, अष्टगुणैश्वर्ययोगादेकाऽनेकस्थूल-सूक्ष्मशरीरकरणसमर्थमित्यर्थः। (त. वृत्ति श्रुत. २–३६); विक्रियाहेतुभूतं वैक्रियिकं शरीरम्। (त. वृत्ति श्रुत. ४–२१)।

१ अणिमा-महिमा आदि आठ गुणरूप ऐश्वर्य के सम्बन्ध से एक-अनेक तथा छोटे-बड़े आदि अनेक प्रकार के रूपों को जो निर्मित किया जाता है, इसका नाम विक्रिया है। इस विक्रियारूप प्रयोजन के सिद्ध करने वाले शरीर को वैक्रिय, वैक्रियिक अथवा वैगूर्विक शरीर कहा जाता है। ७ जो शरीर सूक्ष्म से सूक्ष्म कार्य के करने में समर्थ पुद्गल से रचा जाता है तथा जिसका प्रयोजन विविध क्रियाओं का करना है वह वैक्रिय शरीर कहलाता है।

वैक्रियपरदारगमन—वैक्रियपरदारगमनं देवाङ्गनागमनम्। (आव. हरि. वृ. अ. ६, पृ. ८२३)।

देवांगना के साथ समागम करने को वैक्रियपरदारगमन कहते हैं। यह ब्रह्मचर्याणुव्रत का एक अतिचार है।

वैक्रियबन्धन—देखो वैक्रियिक शरीरबन्धन।

वैक्रियिक—देखो वैक्रिय।

वैक्रियिककाययोग—१. तदवष्टम्भतः (वैक्रियिकावष्टम्भतः) समुत्पन्नपरिस्पन्देन योगः वैक्रियिककाययोगः। (धव. पु. १, पृ. २९१)। २. विविहगुणइड्ढिजुत्तं विक्किरियं वा हु होदि वेगुव्वं। तिस्से भवं च णेयं वेगुव्वियकायजोगो सो ॥ (गो. जी. २३२)।

१ अणिमा-महिमा आदि का नाम विक्रिया है, उसके सम्बन्ध से पुद्गलों को भी विक्रिया कहा जाता है। ऐसे पुद्गलों से जो शरीर उत्पन्न होता है उसे वैक्रियिक शरीर कहते हैं। उसके आश्रय से जो आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन होता है उससे होने वाला योग वैक्रियिक काययोग कहलाता है। उक्त वैक्रियिक शरीर और वैक्रियिक काययोग को क्रम से

वैगूर्विक शरीर और वैगूर्विक काययोग भी कहा जाता है।

वैक्रियिकशरीर—देखो वैक्रिय।

वैक्रियिकशरीरबन्धन—१. एवं सेससरीरबंधणाणं पि अत्थो वत्तव्वो (जस्स कम्मस्स उदएण वेउव्वियसरीर-परमाणू अण्णोण्णेण बंधमागच्छन्ति तं वेगुव्वियसरीरबंधणं णाम)। (धव. पु. ६, पृ. ७०)। २. यदुदयाद् वैक्रियपुद्गलानां गृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परं तैजस-कार्मणपुद्गलैश्च सह सम्बन्धस्तद्वैक्रियबन्धनम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७०)।

१ जिसके उदय से वैक्रियिक शरीर के परमाणु परस्पर में बन्ध को प्राप्त होते हैं उसका नाम वैक्रियिक शरीरबन्धन नामकर्म है। २ जिसके उदय से गृहीत और गृह्यमाण वैक्रियिक पुद्गलों का परस्पर में तथा तैजस और कार्माण पुद्गलों के साथ भी सम्बन्ध होता है उसे वैक्रियिकबन्धन कहते हैं।

वैक्रियिकशरीरसंघात—एवं सेससरीरसंघादाणं पि अत्थो वत्तव्वो (जस्स कम्मस्स उदएण वेउव्वियसरीरक्खंधाणं सरीरभावमुवगयाणं बंधणणामकम्मोदएण एक्कबंधवद्धाणमट्ठत्तं होदि तं वेउव्वियसरीरसंघादं णाम)। (धव. पु. ६, पृ. ७०)।

जिस कर्म के उदय से वैक्रियिक शरीर स्वरूप को प्राप्त हुए तथा बन्धन नामकर्म के उदय से एक बन्धन में बद्ध हुए वैक्रियिक शरीररूप स्कन्धों में मृष्टता (एकरूपता) होती हैं उसे वैक्रियिक शरीरसंघात नामकर्म कहते हैं।

वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्ग—एवं सेसदोसरीरअंगोवंगाणं पि अत्थो वत्तव्वो (जस्स कम्मस्स उदएण वेउव्वियसरीरस्स अंगोवंग-पच्चंगाणि उप्पज्जंति तं वेउव्वियसरीरअंगोवंग णामं)। (धव. पु. ६, पृ. ७३)।

जिस कर्म के उदय से वैक्रियिक शरीर के अंग—उपांग और प्रत्यंग उत्पन्न होते हैं उसे वैक्रियिकशरीरांगोपांग नामकर्म कहते हैं।

वैक्रियिकसमुद्घात—१. एकत्व-पृथक्त्व-नानाविधविक्रियशरीरवाक्प्रचार-प्रहरणादिविक्रियाप्रयोजनो वैक्रियिकसमुद्घातः। (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७७)। २. वेउव्वियसमुग्घादो णाम देव-णेरइयाणं वेउव्वियसरीरोदइल्लाणं साभावियमागारं छड्डिय अण्णागारेणच्छणं। (धव. पु. ४, पृ. २६); विविहिद्धिस्स माहप्पेण संखेज्जासंखेज्जजोयणाणि सरीरेण ओट्ठहिय अवट्ठाणं वेउव्वियसमुग्घादो णाम। (धव. पु. ७, पृ. २९९)। ३. मूलशरीरमपरित्यज्य किमपि विकर्तुमात्मप्रदेशानां बहिर्गमनमिति विक्रियासमुद्घातः। (बृ. द्रव्यसं. टी. १०)।

१ एकत्व व पृथक्त्वरूप अनेक प्रकार की वैक्रियिक शरीर, वाक्प्रकार और प्रहरण आदि विक्रियारूप प्रयोजन के सिद्ध करने वाले समुद्घात को—आत्मप्रदेशों के शरीर से बाहिर निकलने को—वैक्रियिक समुद्घात कहते हैं। २ वैक्रियिक शरीर के उदय वाले देवों व नारकियों के स्वाभाविक आकार को छोड़कर भिन्न आकार में अवस्थित होने को वैक्रियिकसमुद्घात कहा जाता है।

वैगूर्विक—देखो वैक्रिय।

वैदिकभावश्रुतग्रन्थ—द्वादशांगादिबोधो वैदिकभावश्रुतग्रन्थः। (धव. पु. ९, पृ. ३२२)।

बारह अंग आदि के बोध को वैदिकभावश्रुतग्रन्थ (कृति) कहा जाता है।

वैदिकमूढ—ऋग्वेद-सामवेदा वागणुवादादिवेदसत्थाइ। तुच्छाणि ताणि गेण्हइ वेदियमूढो हवदि एसो॥ (मूला. ५–६१)।

ऋग्वेद, सामवेद, वाक् (ऋग्वेद प्रतिबद्ध प्रायश्चित्त आदि) और अनुवाद (मनुस्मृति) आदि तुच्छ शास्त्रों को जो ग्रहण करता है वह वैदिकमूढ होता है।

वैदेहिक—गृहपति-वैदेहिकौ ग्रामकूट-श्रेष्ठिनौ। (नीतिवा. १४–११, पृ. १७३)।

राजश्रेष्ठी को वैदेहिक कहा जाता है। यह राजा के अवसर्पवर्ग के अन्तर्गत है।

वैधर्म्य—वैधर्म्यं च साध्याभावाधिकरणवृत्तित्वेन निश्चितत्वम्। (सप्तभं. पृ. ५३)।

साध्याभाव के अधिकरण में जिसके न रहने का निश्चय हो, उसे वैधर्म्य कहा जाता है।

वैनयिकमिथ्यात्व—१. सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकम्। (स. सि. ८–१; त. वा. ८, १, २८)। २. विनयेन चरन्ति विनयो वा प्रयोजनं येषामिति वैनयिकाः। एते चानवधृतलिङ्गाऽऽचारशास्त्रा विनयप्रतिपत्तिलक्षणाः × × ×। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. १०१)। ३. विनयेन चरन्तीति

वैनयिकाः वसिष्ठ-परासर-वालमीकि-व्यासेलापुत्र-सत्यदत्तप्रभृतयः। एते चानवधृतलिङ्गाऽऽचारशास्त्रा विनयप्रतिपत्तिलक्षणा वेदितव्याः। (षड्द. सं. १, पृ. १६)। ४. अइहिय-पारत्तियसुहाइं सव्वाइं पि विणयादो चेव, ण णाण-दंसण-तवोववासकिलेसेहिंतो त्ति अहिणिवेसो वेणइयमिच्छत्तं। (धव. पु. ८, पृ. २०)। ५. विनयादेव मोक्ष इत्येवं गोशालकमतानुसारिणो विनयेन चरन्तीति वैनायिका व्यवस्थिताः। (सूत्रकृ. शी. वृ. १, ६, २७, पृ. १५१, ५२)। ६. सर्वेषामपि देवानां समयानां तथैव च। यत्र स्यात्समदर्शित्वं ज्ञेयं वैनयिकं हि तत्॥ (त. सा. ५–८)। ७. वेणइयमिच्छदिट्ठी हवइ फुडं तावसो हु अण्णाणी। णिग्गुणजणम्मि विणओ पउंजमाणो हु गयविवेओ॥ विणयादो इह मोक्खं किज्जइ पुणु तेण गद्दहाईणं। अमुणियगुणागुणेण य विणयं मिच्छत्त-णडियेण॥ जक्खय-णायाईणं दुग्गा-खंधाइ-अण्णदेवाणं। जो णवइ धम्महेउं जो वि य हेउं च सो मिच्छो॥ (भावसं. दे. ७३–७५)। ८. सर्वेषु देवधर्मेषु साम्यं वैनयिकं मतम्॥ (पंचसं. अमित. ४-२५, पृ. ८४)। ९. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रनिरपेक्षगुरुपादपूजादिलक्षणविनयेनैव भवत्येव स्वर्गापवर्गप्राप्तिरिति श्रद्धानं विनयमिथ्यात्वं। (गो. जी. म. प्र. १५)। १०. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रनिरपेक्षतया *गुरुपादपूजादिरूपविनयेनैव मुक्तिरेतच्छ्रद्धानं वैनयिकमिथ्यात्वम्*। (गो. जी. जी. प्र. १५)। ११. सर्वे देवाः सर्वसमयाश्च समानतया दृष्टव्या वन्दनीया एव, न च निन्दनीया इत्येवं सर्वविनयप्रकाशकं वैनयिकमिथ्यादर्शनम्। (त. वृत्ति श्रुत. ८–१)।

१ समस्त देवों और सब शास्त्रों को समान रूप में देखना—उनकी यथार्थता और अयथार्थता का विवेक न रखना, यह वैनयिकमिथ्यात्व का लक्षण है। २ लिंग और आचारशास्त्र के अवधारण से रहित जो विनय के आशय से आचरण करते हैं अथवा जिनका प्रयोजन एक मात्र विनय ही होता है वे वैनयिकमिथ्यादृष्टि माने गये हैं। ४ इहलोक और परलोक सम्बन्धी सभी सुख विनय से ही प्राप्त होते हैं; न कि ज्ञान, दर्शन, तप और उपवास के क्लेश से इस प्रकार के अभिप्राय को वैनियिकमिथ्यात्व कहा जाता है। ५ विनय से ही मोक्ष होता है, इस प्रकार गोशालक के मत का अनुसरण करने वाले जो विनय से आचरण करते हैं वे वैनयिक समझे जाते हैं।

वैनयिकमिथ्यादर्शन—देखो वैनयिकमिथ्यात्व।

वैनयिकमिथ्यादृष्टि—देखो वैनयिकमिथ्यात्व।

वैनयिकवाद—१. एते चानवधृतलिङ्गाचारशास्त्रा विनयप्रतिपत्तिलक्षणा *अमुनोपायेन द्वात्रिंशदवगन्तव्याः*—सुर-नृपति-ज्ञाति- यति-स्थविराधम-मातृ-पितॄणां प्रत्येकं कायेन वाचा मनसा दानेन च देश-कालोपपन्नेन विनयः कार्यः इत्येते चत्वारो भेदाः सुरादिष्वष्टसु स्थानेषु एकत्र मेलिता द्वात्रिंशदिति। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. १०२)। २. देव-नृपति-ज्ञानि-यति-वृद्ध-बाल-मातृ-पितृष्वष्टसु मनोवचन-काय-दान-विनयश्चत्वारः कर्तव्याश्चेति द्वात्रिंशद्वैनयिकवादाः स्युः। (गो. क. जी. प्र. ८८८)।

१ विनय को स्वीकार करने वाले वैनयिकमिथ्यादृष्टि बत्तीस हैं, जो इस प्रकार से जाने जा सकते हैं—सुर, राजा, ज्ञाति, यति, स्थविर (वृद्ध), अधम, माता और पिता; इनमें से प्रत्येक का देश व काल की उपपत्ति के साथ काय, वचन, मन और दान इन चार के द्वारा विनय करना चाहिए। इन चार भेदों को उपर्युक्त सुरादि आठ भेदों में मिलाने पर सब बत्तीस (८×४=३२) होते हैं। २ देव, राजा, ज्ञानी, यति वृद्ध, बालक, माता और पिता इन आठ के विषय में मन, वचन, काय और दान इन चार से विनय करना चाहिए। इस प्रकार इस चार प्रकार के विनय का सम्बन्ध उक्त देवादि में से प्रत्येक के साथ होने से वैनयिकवादी बत्तीस हो जाते हैं।

वैनयिकवादी—१. विणइत्ता वेणइयवादी। (सूत्रकृ. नि. ११८)। २. विनयेन चरन्ति तत्प्रयोजना वा वैनयिकाः। ××× वैनयिकाः विनयादेव केवलात् स्वर्ग-मोक्षावाप्तिमभिलषन्तो मिथ्यादृष्टयः, यतो न ज्ञान-क्रियाभ्यामन्तरे मोक्षवाप्तिरिति। (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. ११८, पृ. २१२)। ३. विनयेन चरन्ति स वा प्रयोजनं एषामिति वैनयिकाः। ते च ते वादिनश्चेति वैनयिकवादिनः। *विनय एव वा वैनयिकम्, तदेव ये स्वर्गादिहेतुतया वदन्त्येवं शीलाश्च* ते वैनयिकवादिनः, विधृतलिङ्गाचारशास्त्रा विनय-प्रतिपत्तिलक्षणाः। (भगवती. अभय. वृ. ३०–१; स्थानां. अभय. वृ. ३४५)। ४. येऽपि च विनय-

वादिनो विनयप्रतिपत्तिलक्षणास्तेऽपि मोहान्मुक्तिपथपरिभ्रष्टाः वेदितव्याः । तथाहि—विनयो नाम मुक्त्यङ्ग यो मुक्तिपथानुकूलो न शेषाः । (नन्दी सू. मलय. वृ ४६, पृ. २२७) ।

१ जो विनयशीलता को ही स्वर्ग मोक्ष का कारण मानते हैं वे वैनयिकवादी कहलाते हैं । २ विनय से जो आचरण करते हैं अथवा विनय को ही प्रयोजनीभूत मानते हैं वे वैनयिकवादी कहलाते हैं। ये वैनयिकवादी केवल विनय से ही स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति की इच्छा करते हैं, परन्तु ज्ञान और आचरण के बिना वह सम्भव नहीं है । इसी से वे मिथ्यादृष्टि माने गये हैं ।

वैनयिकश्रुत—१. वेणइयं भरहैरावद-विदेहसाहूणं दव्व-खेत्त-काल-भावे पडुच्च णाण-दंसण-चारित्त-तवोवचारियविणयं वण्णेदि । (धव. पु. ९, पृ. १८६) । २. पंचण्हं विणयाणं लक्खणं विहाणं फलं च वइणयियं परूवेदि । जयध. १, पृ. ११८) । ३. ज्ञान-दर्शन-तपश्चारित्रोपचारलक्षणपंचविधविनयस्वरूपकं वैनयिकम् । (श्रुतभ. टी. २४, पृ. १७६)। ४. चतुर्विधविनयप्रकाशकं वैनयिकम् । (त. वृत्ति श्रुत. १-२०) ।

१ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जिसमें भरत, ऐरावत और विदेहक्षेत्रगत साधुओं के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और औपचारिक विनय का वर्णन किया जाता है उसे वैनयिक अंगबाह्यश्रुत कहा जाता है ।

वैनयिकी प्रज्ञा—१. वइणइकी विणएणं उप्पज्जदि बारसंगसुदजोग्गं । (ति. प. ४-१०२१) । २. भरनित्थरणसमत्था तिवग्गसुत्तत्थगहियपेयाला । उभओलोगफलवई विणयसमुत्था हवइ बुद्धी । (उपदे. प. ४३) । ३. विणएण दुवालसंगाइं पढंतस्सुप्पण्णपण्णा वेणइया णाम, परोवदेसेण जादपण्णा वा । (धव. पु. ९, पृ. ८२) । ४. विनयेन द्वादशांगानि पठतः समुत्पन्ना वैनयिकी । (चा. सा. पृ. ९७) । ५. आगमा लिंगिनो देवा धर्माः सर्वे सदा समाः । इत्येषा कथ्यते बुद्धिः पुंसो वैनयिकी जिनैः ॥ (अमित. श्रा. २-८) । ६. विनयो गुरुशुश्रूषा, स च कारणमस्यास्तत्प्रधाना वा वैनयिकी । (उपदे. प. मु. वृ. ३८) । ७. विनयो गुरुशुश्रूषा, स कारणमस्या वैनयिकी । (आव. नि. मलय. वृ. ९३८) ।

१ विनय से जो बारह अंगस्वरूप श्रुत के योग्य बुद्धि उत्पन्न होती है उसे वैनयिकी प्रज्ञा कहते हैं । ३ विनयपूर्वक बारह अंगों के पढ़ने वाले के जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसका नाम वैनयिकी प्रज्ञा है । अथवा जो बुद्धि पर के उपदेश से उत्पन्न होती है उसे वैनयिकी प्रज्ञा जानना चाहिए । ६ विनय से अभिप्राय गुरु की शुश्रूषा (सेवा) का है, वह जिसकी कारण है अथवा उसकी प्रधानता से जो बुद्धि उत्पन्न होती हैं उसे वैनयिकी बुद्धि कहा जाता है ।

वैनयिकी बुद्धि—देखो वैनयिकी प्रज्ञा ।

वैभाविकभाव—तद्गुणाकारसंक्रान्तिर्भावो वैभाविकश्चितः । तन्निमित्तं च तत्कर्म तथा सामर्थ्यकारणम् ॥ (पंचाध्या. २-१०५) ।

जीव के अपने गुणों के आकार में जो संक्रमण—परिवर्तन या विकार—होता है उसे वैभाविकभाव कहा जाता है ।

वैमानिक—१. विशेषेणात्मस्थान् सुकृतिनो मानयन्तीति विमानानि, विमानेषु भवा वैमानिकाः । (स. सि. ४-१६; त. वा. ४, १६, १) । २. स्वांस्तु कृतिनो विशेषेण मानयन्तीति विमानानि, तेषु भवा वैमानिकाः । वैमानिकनामकर्मोदये सति वैमानिकाः । (त. श्लो. ४-१६) । ३. विशेषेण आत्मस्थान् पुण्यवतो जीवान् मानयन्ति यानि तानि विमानानि, विमानेषु भवाः ये ते वैमानिकाः । (त. वृत्ति श्रुत. ४-१६) ।

१ जिनमें रहते हुए जीव अपने को विशेष रूप से पुण्यशाली मानते हैं वे विमान और उनमें रहने वाले देव वैमानिक कहलाते हैं ।

वैयावृत्त्य तप—१. गच्छे वेज्जावच्चं गिलाण-गुरु-बाल-वुड्ढ-सेहाणं । जहजोग्गं कादव्वं सगसत्तीए पयत्तेण ॥ (मूला. ५-५३, पृ. १४६); आइरियादिसु पंचसु सबाल-वुड्ढाउलेसु गच्छेसु । वेज्जावच्चं वुत्तं कादव्वं सव्वसत्तीए ॥ गुणाधिए उवज्झाए तवस्सि सिस्से य दुव्वले । साहुगणे कुले संघे समणुण्णे य चापदि ॥ (मूला. ५, १९२-१९३); सेज्जोगास-णिसेज्जो तहोवहि-पडिलेहणाहि उवग्गहिदे । आहारोसह-वायण-विकिचणंवंदणादीहि ॥ (भ. आ. 'वणुव्वत्तणादीसु') अद्धाणतेण-सावद-राय-णदीरोधणासिवे ओमे । वेज्जावच्चं वुत्तं संगह-सारक्खणो-

वेदं ॥ (मूला. ५, १६४–६५; भ. आ. ३०५–६)। २. सत्तीए भत्तीए विज्जावच्चुज्जदा सदा होइ। आणाए णिज्जरेत्ति य सबाल-उड्ढाउले गच्छे ॥ (भ. आ. ३०४)। ३. दानं वैयावृत्त्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये। अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन ॥ व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्। वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ॥ (रत्नक. ४, २१–२२)। ४. कायचेष्टया द्रव्यान्तरेण चोपासनं वैयावृत्त्यम्। (स. सि. ९, २०)। ५. व्यावृत्तस्य भावः कर्म च वैयावृत्त्यम्। कायचेष्टया द्रव्यान्तरेण वा व्यावृत्तस्य भावः कर्म वा वैय्यावृत्त्यमित्युच्यते। (त. वा. ९, २४, २)। ६. व्यापदि यत् क्रियते तद् वैयावृत्त्यम्। (धव. पु. १३, पृ. ६३)। ७. व्यावृत्तस्य भावः कर्म वा वैयावृत्त्यम्। ××× आचार्यप्रभृतीनां यद्दशानां विनिवेदितम्। वैयावृत्त्यं भवेदेतदन्वर्थप्रतिपत्तये ॥ (त. श्लो. ९, २४, १)। ८. चारित्रस्य कारणानुमननं वैयावृत्त्यम्। (भ. आ. विजयो. ६)। ९. सूर्युपाध्याय-साधूनां शैक्षग्लान-तपस्विनाम्। कुल-सङ्घ-मनोज्ञानां वैयावृत्त्यं गणस्य च ॥ व्याध्याद्युपनिपातेऽपि तेषां सम्यग्विधीयते। स्वशक्त्या यत्प्रतीकारो वैयावृत्त्यं तदुच्यते ॥ (त. सा. ७, २७-२८)। १०. कायपीडादुष्परिणामव्युदासार्थं कायचेष्टया द्रव्यान्तरेणोपदेशेन च व्यावृत्तस्य यत्कर्म तद्वैयावृत्त्यम्। ××× आचार्यादीनां व्याधि-परीषह-मिथ्यात्वाद्युपनिपाते सत्यप्रत्युपकाराशया प्रासुकौषध-भुक्ति-पानाऽऽश्रयपीठफलक-संस्तरादिभिर्धर्मोपकरणैस्तत्प्रतीकारः सम्यक्त्वप्रत्यवस्थापनमित्येवमादि-वैयावृत्त्यम्। बाह्यस्यौषध-भुक्तिपानादेरसंभवे स्वकायेन श्लेष्म-सिंघाणकान्तर्मलाद्यपकर्षणादि तदानुकूल्यानुष्ठानं च वैयावृत्त्यमिति कथ्यते। तत्पुनः किमर्थम्? समाध्याध्यानं विचिकित्साऽभावः प्रवचनवात्सल्यं सनाथता चेत्येवमाद्यर्थम्। (चा. सा. पृ. ६६–६७)। ११. जो उवयरदि जदीणं उवसग्ग-जराइखीणकायाणं। पूयादिसु णिरवेक्खं वेज्जावच्चं तवो तस्स ॥ जो वावरइ सरूवे सम-दमभावम्मि सुद्धउवजुत्तो। लोय-ववहारविरदो वेयावच्चं परं तस्स ॥ (कार्तिके. ४५९–६०)। १२. आधि-व्याधिनिरुद्धस्य निरवद्येन कर्मणा। सौचित्यकरणं प्रोक्तं वैयावृत्त्यं विमुक्तये ॥ (उपासका. २१४)। १३. वैयावृत्त्यं कायिकव्यापाराहारादिभिरुपग्रहणम्। (मूला. वृ. ४–५३)। १४. व्यापत्प्रतिक्रिया वैयावृत्त्यं स्यात्सूरि-पाठके। तपस्वि-शैक्ष्य-ग्लानेषु गणे संघे कुले यतौ ॥ मनोज्ञे च तपस्व्येषु नानाऽनशनवर्तनः। (आचा. सा. ६, ८६–८७)। १५. वैयावृत्त्यं भक्त-पानादिभिरुपष्टम्भः। (औपपा. अभय. वृ. २०, पृ. ४३)। १६. वैयावृत्तं व्यावृत्तो व्यापारप्रवृत्तः प्रवचनोदितक्रियानुष्ठानपरस्तस्य भावः कर्म वा वैयावृत्त्यम्। व्याधि-परीषह-मिथ्यात्वाद्युपनिपाते तत्प्रतीकारो बाह्यद्रव्यासम्भवे स्वकायेन तदानुकूल्यानुष्ठानं च। (योगशा. स्वो. विव. ४–९०)। १७. वैयावृत्त्यं भक्त-पानादिभोपष्टम्भलक्षणं भोगफलं चक्रवर्तिभोगफलं च ×××। (आव. नि. मलय. वृ. १७४)। १८. अनवद्येन विधिना गुणवतां दुःखापनयनं वैयावृत्त्यमुच्यते। ××× व्यावृत्तेर्भावो वैयावृत्त्यम्। (त. वृत्ति श्रुत. ६–२४); शरीरप्रवृत्त्या यात्रादिगमनेन वा द्रव्यान्तरेण वा यो ग्लानो मुनिस्तस्य पादमर्दनादिभिराराधनं वैयावृत्त्यमुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ९-२०)। १९. गुणवतां दुःखोपनिपाते निरवद्यवृत्त्या तदपनयनम् वैयावृत्त्यम्। (भावप्रा. टी. ७७)। २०. तपोधनानां दैवाद्वा ग्लानित्वं समुपेयुषाम्। यथाशक्ति प्रतीकारो वैयावृत्यः (?) स उच्यते ॥ (लाटीसं. ७–८४)।

१ गच्छ—चातुर्वर्ण्य श्रमणसंघ में, ग्लान—व्याधि आदि से पीड़ित, गुरु (शिक्षा-दीक्षा देने वाला), बाल (नवदीक्षित अथवा पूर्वापर विवेक से रहित), वृद्ध (आयु से वृद्ध अथवा दीक्षा आदि से अधिक) और शैक्ष (अध्ययन में निरत); इनकी यथायोग्य अपनी शक्ति के अनुसार जो सेवा-शुश्रूषा की जाती है उसे वैयावृत्त्य कहते हैं। यहां वैयावृत्त्य की प्रेरणा नवागत साधु को लक्ष्य करके की गई है। गुणों में अधिक, उपाध्याय (पाठक), दुष्कर तपश्चरण करने वाले तपस्वी, शिष्य, दुर्बल, साधुगण—ऋषि, यति, मुनि व अनगार; कुल, संघ (चातुर्वर्ण्य श्रमणसमूह), मनोज्ञ (निरुपद्रव) और आपत्ति के समय; इन सबको शय्या, अवकाश (वसति), आसन, उपधि (कमण्डलु आदि) और प्रतिलेखन (पीछी) के द्वारा अनुगृहीत करके आहार, औषध, वाचना (शास्त्र व्याख्यान), मल आदि को दूर

किया जाता है; इस सबको वैयावृत्य कहते हैं। यह श्रावक के चार शिक्षाव्रतों में अन्तिम है। १६ जो आगमोक्त क्रियाओं के अनुष्ठान में तत्पर रहता है उसे व्यावृत्त कहा जाता है, इस व्यावृत्त का जो भाव अथवा कर्म है उसका नाम वैयावृत्य है। व्याधि, परीषह और मिथ्यात्व आदि से ग्रसित होने पर उसका प्रतीकार करना तथा बाह्य द्रव्य के अभाव में अपने शरीर से ही उनके अनुकूल आचरण करना, यह भी वैयावृत्य का लक्षण है।

वैयावृत्यकरविवेक—वैयावृत्यकराः स्वशिष्यादयो ये ये तेषां कायेन विवेकः तैः सहासंवासः, मा कुथा वैयावृत्यम् इति वचनम्, मया त्यक्ता यूयमिति वचनम्। (भ. आ. विजयो. १६६)।

वैयावृत्य करने वाले जो जो अपने शिष्य आदि हैं उनके साथ न रहना तथा वचन से यह कहना कि मेरी वैयावृत्य मत करो, मैंने तुम सबका परित्याग कर दिया है। यह क्रमशः काय से व वचन से वैयावृत्यकरविवेक है।

वैयावृत्यकारिशुद्धि—संयतवैयावृत्यक्रमज्ञता वैयावृत्यकारिशुद्धिः। (भ. आ. विजयो. १६६)।

संयतों की वैयावृत्ति के क्रम को जानना, यह वैयावृत्यकारिशुद्धि कहलाती है। यह शय्या-संस्तर आदि पांच प्रकार की शुद्धि में अन्तिम है।

वैयावृत्यभावना—१. गुणवद्दुःखोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरणं वैयावृत्यम्। (स. सि. ६-३४)। २. गुणवद्दुःखोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरणं वैयावृत्यम्। गुणवतः साधुजनस्य

यह वैयावृत्यभावना है।

वैयावृत्ययोग—व्यापृते यत्क्रियते तद्वैयावृत्यम्। जेण सम्मत्त-णाण-अरहंत-बहुसुदभत्ति-पवयणवच्छलादिणा जीवो जुज्जइ वेज्जावच्चे सो वेज्जावच्चजोगो दंसणविसुज्झदादि। (धव. पु. ८, पृ. ८८)।

जिस सम्यक्त्व, ज्ञान, अरहन्तभक्ति, बहुश्रुतभक्ति और प्रवचनवात्सल्य आदि के द्वारा जीव अपने को वैयावृत्य में योजित करता है उसका नाम वैयावृत्ययोग है। यह तीर्थंकर प्रकृति के बन्धक कारणों के अन्तर्गत है।

वैराग्य—१. तस्य (विरागस्य) भावो वैराग्यम्। (त. श्लो. ६-१२)। २. वैराग्यम्—शरीरादौ परस्मिन्निष्टवस्तुनि प्रीतिरूपो रागः, विनष्टो रागो यस्यासौ विरागः, विरागस्य भावो वैराग्यं संसार-शरीर-भोगेषु निर्वेदलक्षणम्। (आरा. सा. टी. १८)। ३. भवांग-भोगविरतिर्वैराग्यम्। (कार्तिके. टी. १०२)।

२ शरीरादि पर वस्तुओं में जो प्रीति होती है उसका नाम राग है, ऐसे राग से रहित हुए जीव को विराग या विरागी कहा जाता है। विरागी की अवस्था का नाम ही वैराग्य है।

वैरात्रिक—विगता रात्रिर्यस्मिन् काले स विरात्री रात्रेः पश्चिमभागः, द्विघटिकासहितार्धरात्रादूर्ध्वकालः, विरात्रिरेव वैरात्रिकः। (मूला. वृ. ५-७३)। जिस काल में रात्रि समाप्त होने को होती है ऐसे रात्रि के पिछले भाग का नाम विरात्रि है। अभिप्राय यह है कि आधी रात के पश्चात् दो घटिकाओं

के बीतने पर जो शेष काल रहता है उसे विरात्रि कहा जाता है। वैरात्रिक यह विरात्रि का समानार्थक शब्द है।

वैशद्य—१. अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्। तद्वैशद्यं मतं बुद्धेः × × × ॥ (लघीय. ४)। २. प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम्। (परीक्षा. २–४)। ३. सविशेषवर्ण-संस्थानादिग्रहणं वैशद्यम्। (प्रमेयर. २–४)। ४. वैशद्यं बुद्धेः ज्ञानस्य, यद्विशेषस्य वर्ण-संस्थानाद्याकारस्य प्रतिभासनमवबोधनम्, विशेषेण वा प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन प्रतिभासनम्। (लघीय. अभय. वृ. ४)।

१ अनुमान आदि की अपेक्षा जो अधिक प्रतिभास होता है, इसे ज्ञान का वैशद्य कहा जाता है। २ अन्य किसी प्रतीति के व्यवधान से रहित जो प्रतिभास होता है उसे अथवा विशेषता से युक्त जो प्रतिभास होता है उसे वैशद्य कहते हैं।

वैश्य—१. वाणिज्ज-करिसणाइंगोरक्खणपालणेसु उज्जुत्ता। ते होन्ति वइससनामा वावारपरायणा धीरा। (पउमच. ३–११६)। २. × × × वैश्या वाणिज्ययोगतः। (ह. पु. ९–३९)। ३. वैश्याश्च कृषि-वाणिज्य-पाशुपाल्योपजीविताः॥ (म. पु. १६, १८४); ऊरुभ्यां दर्शयन् यात्रामस्राक्षीद्वणिजः प्रभुः। जल-स्थलादियात्राभिस्तद्वृत्तिर्वार्त्तया यतः॥ (म. पु. १६–२४४); वणिजोऽर्थार्जनान्न्यायात्। × × × ॥ (म. पु. ३८–४६)। ४. मषिः कृषिश्च वाणिज्यकर्मत्रितयवेतनाः। वैश्याः केचिन्मताश्चान्यैः पशुपालनतोऽपि च। (धर्मसं. श्रा. ६, २३०)।

१ जो वाणिज्य, कृषिकर्म (खेती) और गोरक्षण व पालन में उद्यमी रहते हैं वे वैश्य कहलाते हैं। २ वाणिज्य (व्यापार) कार्य के सम्बन्ध से वैश्य माने गए हैं। ३ कृषि, व्यापार और पशुपालन के द्वारा जो आजीविका करते हैं वे वैश्य कहलाते हैं। भगवान आदिनाथ ने दोनों जंघाओं से यात्रा को दिखलाते हुए वैश्यों को स्थापित किया था जो जल व स्थल आदि में यात्रा करके व्यापार के द्वारा आजीविका करते हैं।

वैश्वानर—जन्म-मृत्यु-जरारोगाः प्रदग्धा ध्यान-वह्निना। यस्यात्मज्योतिषां राशेः सोऽस्तु वैश्वानरः स्फुटम्॥ (आप्तस्व. ४३)।

आत्मज्योतियों के पुंजस्वरूप जिन अरहन्त ने ध्यानरूप अग्नि के द्वारा जन्म, मृत्यु और जरा को भस्मसात् कर दिया है उन्हें वैश्वानर (अग्नि) के नाम से कहा गया है।

वैस्रसिक बन्ध—१. पुरुषप्रयोगानपेक्षो वैस्रसिकः। (स. सि. ५–२४)। २. विस्रसा विधिविपर्यये निपातः। पौरुषेयपरिणामापेक्षो विधिः, तद्विपर्यये विस्रसा-शब्दो निपातो द्रष्टव्यः, विस्रसा प्रयोजनो वैस्रसिको बन्धः। (त. वा. ५, २४, ८)। ३. वैश्रसिको बन्धः स्वाभाविको बन्धः स्निग्ध-रूक्षत्व-गुणप्रत्ययः शक्रचाप-मेघोल्का-तडिदादिविषयः। (त. वृत्ति ५–२४)।

१ पुरुष के प्रयोग की अपेक्षा से रहित जो पुद्गलों में परस्पर बन्ध हुआ करता है उसे वैस्रसिक बन्ध कहा जाता है। जैसे—इन्द्रधनुष व मेघों आदि का।

वैस्रसिक शब्द—वैस्रसिको बलाहकादिप्रभवः। (स. सि. ५–२४; त. वा. ५, २४, ४)।

मेघ आदि से उत्पन्न होने वाले शब्द को पुरुषप्रयोग की अपेक्षा न रखने के कारण वैस्रसिक कहा जाता है।

वैशाखस्थान—१. यत्पुनः पार्ष्णी अभ्यन्तराभिमुखे कृत्वा समश्रेण्या करोति अग्रिमतले च बहिर्मुखे, ततो युध्यते तत् वैशाखं स्थानम्। (व्यव. भा. मलय. वृ. ३५, पृ. १३)। २. वइसाहं पण्हीतो अब्भि उरट्ठंतीओ समसेढीए करेइ, अग्गिमतला बाहिरहुत्ता। (आव. नि. मलय. वृ. १०३६, पृ. ५६१)।

१ दोनों एड़ियों को अभ्यन्तराभिमुख करके समान पंक्ति में करे तथा आगे के दोनों तलभागों को बाहिर की ओर करे, ऐसा करने पर वैशाखस्थान होता है यह पांच आसनभेदों में तीसरा है।

व्यक्त गेय—अक्षर-स्वरस्फुटकरणतो व्यक्तम्। (रायप. मलय. वृ. पृ. १६२)।

जिस गेय (गीत) में अक्षर व स्वर स्पष्ट रहते हैं उसे व्यक्त कहा जाता है। यह गेय के पूर्ण व रक्त आदि आठ गुणों में चौथा है।

व्यक्ताव्यक्तेश्वरनिषिद्ध—निषिद्धमीश्वरं भर्त्रा-व्यक्ताव्यक्तोभयात्मना। (अन. ध. ५–१५); यदेकेन दानपतिना व्यक्तेन द्वितीयेन चाव्यक्तेन च

वारितं गृह्णाति तदा व्यक्ताव्यक्तेश्वरो नाम तृतीय ईश्वराख्यनिषिद्धभेदस्य भेदः स्यात्। (अन. ध. स्वो. टी. ५-१५)।

व्यक्त का अर्थ प्रेक्षापूर्वकारी है। व्यक्त ईश्वर (दाता) और अव्यक्त ईश्वर दोनों के द्वारा रोके गये आहार के ग्रहण करने पर व्यक्ताव्यक्तेश्वर-निषिद्ध नाम का उत्पादनदोष होता है।

व्यक्तेश्वरनिषिद्ध—व्यक्तेश्वरेण वारितं दानं यदा साधुर्गृह्णाति तदा व्यक्तेश्वरो नाम दोषः। (अन. ध. स्वो. टी. ५-१५)।

व्यक्त ईश्वर के द्वारा रोके गए आहार के ग्रहण करने पर व्यक्तेश्वरनिषिद्ध नाम का उत्पादनदोष होता है।

व्यञ्जन—१. व्यञ्जनं शब्दप्रकाशनम्। (भ. आ. विजयो. ११३)। २. व्यज्यतेऽनेनार्थः प्रदीपेनेव घट इति व्यञ्जनम्, तच्चोपकरणेन्द्रियस्य शब्दादिपरिणतद्रव्याणां च यः परस्परं सम्बन्धः, संपृक्तिरित्यर्थः। सम्बन्धे हि सति सोऽर्थः श्रोत्रादीन्द्रियेण व्यक्तुं शक्यते, नान्यथा। ततः सम्बन्धो व्यञ्जनम्। तथा चाह भाष्यकृत्—वंजिज्जइ जेणऽत्थो घडो व दीवेण वंजणं तं च। उवगरणिंदियसद्दाइपरिणयदव्वसंबंधो॥ ××× अथवा व्यज्यतेऽनेनार्थः प्रदीपेनेव घट इति व्यञ्जनम् उपकरणेन्द्रियम्। (आव. नि. मलय. वृ. ३, पृ. २३)। ३. तत्र इन्द्रियैः प्राप्तो विषयो व्यञ्जनम्। ××× व्यञ्जनम् अव्यक्तं शब्दादिजातम् ××× विगतमंजनम् अभिव्यक्तिर्यस्य तद् व्यञ्जनम्। व्यज्यते म्रक्ष्यते प्राप्यते इति व्यञ्जनम्। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. ३०७)।

१ शब्द के प्रकाशन का नाम व्यञ्जन है। यह ज्ञानाचार के अन्तर्गत व्यञ्जन का अभिप्राय प्रकट किया गया है। २ जैसे दीपक के द्वारा घट आदि पदार्थ अभिव्यक्त होते हैं वैसे ही उपकरण इन्द्रिय और शब्दादिरूप से परिणत द्रव्य इन दोनों के सम्बन्ध से वस्तु की अभिव्यक्ति होती है। इसीलिए 'व्यज्यते अनेन अर्थः इति व्यञ्जनम्' इस निरुक्ति के अनुसार व्यञ्जन शब्द से इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध को ग्रहण किया गया है। अथवा उक्त व्यञ्जन शब्द से चक्षु आदि उपकरण इन्द्रिय को ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि इन इन्द्रियों के द्वारा ही पदार्थ प्रगट किये जाते हैं। ३ इन्द्रियों के द्वारा जो पदार्थ प्राप्त किया जाता है उसे व्यञ्जन कहा जाता है। इन्द्रियों के द्वारा पदार्थ के प्राप्त होने पर भी जब तक वह अभिव्यक्त नहीं हो जाता तब तक व्यञ्जनावग्रह ही होता है, अर्थावग्रह आदि नहीं होते।

व्यञ्जननय—१. व्यञ्जनभेदेन वस्तुभेदाध्यवसायिनो व्यञ्जननयाः। (धव. पु. १, पृ. ८६)। २. ऋजुसूत्रवचनविच्छेदोपलक्षितस्य वस्तुनः वाचकभेदेन भेदको व्यञ्जननयः। (जयध १, पृ. २२३)।

१ शब्द के भेद से जो वस्तु भेद को ग्रहण किया करते हैं उन्हें व्यञ्जननय कहा जाता है।

व्यञ्जननिमित्त—१. सिर-मुह-कंधप्पहुदिसु तिल-मसयप्पहुदिआइ दट्ठूण। जं तियकालसुहाइ जाणइ तं वेंजणणिमित्तं। (ति. प. ४-१००६)। २. शिरोमुखग्रीवादिषु तिलक-मशक-लक्ष्मव्रणादिवीक्षणेन त्रिकालहिताहितवेदनं व्यञ्जनम्। (त. वा. ३, ३६, ३; चा. सा. पृ. ६४)। ३. तिलया-णूग-मसादि दट्ठूण तेसिमवगमो वंजणं णाम महा-णिमित्तं। (धव. पु. ६, पृ. ७२-७३)। ४. व्यंजनं मशकतिलकादिकम् ××× व्यञ्जनं दृष्ट्वा यच्छुभाशुभं ज्ञायते पुरुषस्य तद् व्यञ्जननिमित्तमित्युच्यते। (मूला. वृ. ६-३०)। ५. व्यञ्जनं मषादिव्यञ्जनफलोपदर्शकम्। (समवा. अभय. वृ. २६)।

१ शिर, मुख और कन्धा आदि में तिल व मशा आदि को देखकर जो तीनों काल सम्बन्धी सुखादि को जान लिया जाता है उसे व्यञ्जननिमित्त कहते हैं।

व्यञ्जनपर्याय—१. जो सो वंजणपज्जाओ सो जहण्णुक्कस्सेहि अंतोमुहुत्तासंखेज्जलोगमेत्तकालाव-ट्ठाणो अणाइ-अणंतो वा। (धव. पु. ६, पृ. २४३); घड-पड-त्थंभादिवंजणपज्जाय ×××। (धव. पु. १०, पृ. ११)। २. परमौदारिकशरीराकारेण यदात्मप्रदेशानामवस्थानं स व्यञ्जनपर्यायः। (प्रव. सा. जय. वृ. १-८०)। ३. व्यज्यते प्रकटीक्रियते अनेनेति व्यञ्जनपर्यायः। (नि. सा. वृ. १५)। ४. स्थूलः कालान्तरस्थायी सामान्यज्ञानगोचरः। दृष्टिग्राह्यस्तु पर्यायो भवेद् व्यञ्जनसंज्ञकः॥ (भाव-सं. वाम. ३७७)।

१ घट, पट और स्तम्भ आदि व्यञ्जनपर्याय के अन्तर्गत हैं। २ परम औदारिक शरीर के आकार

से जो आत्मप्रदेशों का अवस्थान है उसे व्यञ्जनपर्याय कहा जाता है। यह आर्हन्त्य अवस्था को लक्ष्य में रखकर कहा गया है। ४ जो पर्याय स्थूल, कालान्तर में रहने वाली, सामान्यज्ञान की विषयभूत और चक्षु से ग्रहण करने योग्य हो वह व्यञ्जनपर्याय कहलाती है।

व्यञ्जनशुद्धि—१. तत्र व्यञ्जनशुद्धिर्नाम यथा गणधरादिभिः द्वात्रिंशद्दोषवर्जितानि सूत्राणि कृतानि तेषां तथैव पाठः। (भ. आ. विजयो. ११३)। २. व्यञ्जनशुद्धिर्यथोक्तसूत्रपठनम्। (भ. आ. मूला. ११३)।

१ जिस प्रकार से गणधरादिकों के द्वारा बत्तीस दोषों से रहित सूत्रों की रचना की गई है उनका उसी प्रकार से जो पाठ किया जाता है, इसका नाम व्यञ्जनशुद्धि है।

व्यञ्जनसंक्रान्ति—१. एकं श्रुतवचनमुपादाय वचनान्तरमालम्बते, तदपि विहायान्यदिति व्यञ्जनसंक्रान्तिः। (स. सि. ९-४४; त. वा. ९-४४)। २. एवं [एकं] श्रुतवचनमवलम्ब्य श्रुतवचनान्तरालम्बनं व्यञ्जनसंक्रान्तिः। (त. श्लो. ९-४४)। ३. ज्ञेया व्यञ्जनसंक्रान्तिर्व्यञ्जनाद् व्यञ्जने स्थितिः। (ज्ञाना. १६, पृ. ४३३)। ४. एकं वचनं त्यक्त्वा वचनान्तरमवलम्बते, तदपि त्यक्त्वाऽन्यद् वचनमवलम्बते इति व्यञ्जनसंक्रान्तिः। (भावप्रा. टी. ७८)। ५. श्रुतज्ञानशब्दमवलम्ब्य अन्यं श्रुतज्ञानशब्दमवलम्बते तमपि परिहृत्यापरं श्रुतज्ञानवचनमाश्रयति, एवं पुनः पुनस्त्यजन्नाश्रयमाणश्च व्यञ्जनसंक्रान्तिं लभते। (त. वृत्ति श्रुत. ९-४४)।

१ एक श्रुतवचन को ग्रहण करके दूसरे का आलम्बन लेना, पश्चात् उसे भी छोड़कर अन्य श्रुतवचन का आलम्बन लेना, इसका नाम व्यञ्जनसंक्रान्ति है।

व्यञ्जनाचार—देखो व्यञ्जन। व्यञ्जनं वर्ण-पद-वाक्यशुद्धिः, व्याकरणोपदेशेन वा तथा पाठादिर्व्यञ्जनाचारः। (मूला. वृ. ५-७२)।

व्यञ्जन से अभिप्राय वर्ण, पद और वाक्य की शुद्धि का है, अथवा व्याकरण के उपदेशानुसार विधिपूर्वक पाठ आदि करना, इसका नाम व्यञ्जनाचार है। यह आठ प्रकार के ज्ञानाचार के अन्तर्गत है।

व्यञ्जनावग्रह—देखो व्यञ्जना। १. एवं श्रोत्रादिष्विन्द्रियेषु शब्दादिपरिणताः पुद्गला द्वि-त्र्यादिषु समयेषु गृह्यमाणा न व्यक्तीभवन्ति, पुनः पुनरवग्रहे सति व्यक्तीभवन्ति, अतो व्यक्तग्रहणात्प्राग्व्यञ्जनावग्रहः। (स. सि. १-१८)। २. व्यञ्जनमव्यक्तं शब्दादिजातम्, तस्यावग्रहो भवति। (त. वा. १-१८); अव्यक्तग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः। कथम् ? अभिनवशरावकवत्। यथा सूक्ष्मजलकणद्वि-त्रिसिक्तः शरावोऽभिनवो नार्द्रीभवति, स एव पुनः पुनः सिच्यमानः शनैस्तिम्यति तथा आत्मनः शब्दादीनां व्यक्तग्रहणात् प्राक् व्यञ्जनावग्रहः। (त. वा. १, १८, २)। ३. प्राप्तार्थग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः। (धव. पु. १, पृ. ३५५; पु. ९, पृ. १५६; पु. १३, पृ. २२०); पत्तत्थगहणं वंजणावग्गहो। (धव. पु. ६, पृ. १६)। ४. अव्यक्तमत्र शब्दादिजातं व्यञ्जनमिष्यते। तस्यावग्रह एवेति नियमः × × ×। (त. श्लो. १, १८, २)। ५. फासित्ता जं गहणं रस-फरसण-सद्द-गंधविसएहिं। वंजणवग्गहणाणं णिद्दिट्ठं तं वियाणाहि॥ (जं. दी. प. १३-६७)। ६. व्यञ्जनावग्रहश्चक्षुर्मनसोर्नास्त्यवग्रहः। विषयाक्षसन्निपातानन्तरावग्रहः स्मृतः॥ प्राप्ताप्राप्तार्थबोधोऽवग्रहो व्यञ्जनार्थयोः। रस-रूप-परिज्ञाने रसना-नेत्रयोर्यथा॥ (आचा. सा. ४, १०-११)। ७. व्यञ्जनेन सम्बन्धेनावग्रहणं सम्बध्यमानस्य शब्दादिरूपस्यार्थस्य अव्यक्तरूपः परिच्छेदो व्यञ्जनावग्रहः। अथवा व्यज्यन्ते इति व्यञ्जनानि × × × व्यञ्जनानां शब्दादिरूपतया परिणतानां द्रव्याणामुपकरणेन्द्रियसम्प्राप्तानामवग्रहः अव्यक्तरूपः परिच्छेदो व्यञ्जनावग्रहः। अथवा व्यज्यतेऽनेनार्थः प्रदीपेनेव घटः इति व्यञ्जनम् उपकरणेन्द्रियम्, तेन स्वसम्बद्धस्यार्थस्य शब्दादेरवग्रहणम् अव्यक्तरूपः परिच्छेदो व्यञ्जनावग्रहः। (आव. नि. मलय. वृ. ३, पृ. २३)। ८. इन्द्रियैः प्राप्तार्थविशेषग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. ३-७)।

१ श्रोत्र आदि इन्द्रियों में शब्दादिरूप से परिगत पुद्गल दो तीन आदि समयों में ग्रहण करते हुए भी व्यक्त नहीं होते। किन्तु वे बार-बार ग्रहण होने पर व्यक्त होते हैं, अतः व्यक्तग्रहण के पहिले जो उनका अवग्रह होता है उसे व्यञ्जनावग्रह कहते हैं। ३ प्राप्त अर्थ का जो ग्रहण होता है उसे व्यञ्जनावग्रह कहा जाता है। ७ व्यंजन का अर्थ इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध के द्वारा

सम्बन्ध को प्राप्त होने वाले शब्दादि का जो ज्ञान होता है वह व्यञ्जनावग्रह कहलाता है। अथवा 'व्यज्यन्ते इति व्यञ्जनानि' इस निरुक्ति के अनुसार व्यञ्जन शब्द से शब्दादिरूप से परिणत होकर उपकरण इन्द्रिय को प्राप्त द्रव्य अभिप्रेत है; उनका जो अव्यक्त ग्रहण होता है उसका नाम व्यञ्जनावग्रह है।

व्यञ्जनावग्रहावरणीय—व्यञ्जनावग्रहस्य यदावारकं तद् व्यञ्जनावग्रहावरणीयम्। (धव. पु. १३, पृ. २२०)।

जो कर्म व्यञ्जनावग्रह को आच्छादित करता है उसे व्यञ्जनावग्रहावरणीय कहते हैं।

व्यतिक्रम—देखो व्यतिक्रमण। १. आहाकम्मनिमंतणपडिसुणमाण अतिक्कमो होइ। पयभेयाइ वइक्कम × × ×॥ (व्यव. भा. पी. ४३, पृ. १७)। २. उपयोगपरिसमाप्त्यन्तरं च यदाधाकर्मग्रहणाय पदभेदं करोति, × × × मार्गं गच्छति, गृहं प्रविशति, आधाकर्मग्रहणाय पात्रं प्रसारयति, न चाद्यापि प्रतिगृह्णाति, एष सर्वोऽपि व्यापारो व्यतिक्रमः। (व्यव. भा. पी. मलय. वृ. ४३, पृ. १७–१८); विशेषेण पदभेदकारणतोऽतिक्रमो व्यतिक्रमः। (व्यव. भा. मलय. वृ. २५१, पृ. ८७)।

२ किसी गृहस्थ के द्वारा सम्बन्धविशेष से अथवा गुणानुराग के वश आहार ग्रहण के लिए निमंत्रित करने पर उसके वाक्य को सुनकर तदनुकूल प्रवृत्ति करता हुआ साधु यदि अतिक्रम दोष के पश्चात् उपयोग के समाप्त होने पर आधाकर्म से दूषित भोजन को ग्रहण करने के लिए पांवों को उठाता धरता है, मार्ग में चलता है, घर में प्रवेश करता है और पात्र को निकालता है, किन्तु अभी ग्रहण नहीं कर रहा है यह उसका सब व्यापार व्यतिक्रमस्वरूप है। ग्रहण करने पर अतिचार और खाने पर अनाचार होता है।

व्यतिक्रमण—१ व्यतिक्रमण सज्जनस्य संयतसमूहं त्यक्त्वा विषयोपकरणार्जनम्। (मूला. वृ. ११, ११)। २. × × × व्यतिक्रमो यो विषयाभिलापः। (भावप्रा. टी. ११८ उद्.)।

१ संयत समूह को छोड़कर विषय के उपकरणों के जुटाने पर व्यतिक्रमण होता है। यह उन चौरासी लाख सावद्यभेदों के अन्तर्गत है जिनके अभाव में शील-गुण परिपूर्ण होते हैं।

व्यतिरेक—१. व्यतिरेकः सन्तानान्तरगतो विसदृशपरिणामः। (लघीय स्वो. विव. ६७)। २. व्यतिरेकः तदभावे (कारणाभावे) अभावः (कार्यस्य)। सिद्धिवि. वृ. ३–१०, पृ. १९३)। ३. व्यतिरेको भवेद् भावो वस्त्वन्तरगतोऽसमः। गो-महिष्यादिभावो यो यथा तद्व्यतिरेचकः॥ (आचा. सा. ४, ६–७)। ४. व्यतिरेकः एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविपर्यायः। (लघीय. अभय. वृ. ६–१७)। ५. तत्र व्यतिरेकः स्यात्परस्पराभावलक्षणेन यथा। अंशविभागः पृथगिति सदृशांशानां सतामेव॥ (पंचाध्या १–१७२)।

१ भिन्न सन्तान—जैसे गाय-भैंस आदि में—जो विसदृशतारूप अवस्था है उसे व्यतिरेक पर्याय कहा जाता है। २ कारण के अभाव में जो कार्य का भी अभाव होता है, यह व्यतिरेक कहलाता है। वह अन्वय के साथ कार्यकारणभाव का गमक होता है।

व्यतिरेक दृष्टान्त—१. साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः। (परीक्षा. ३, ४४)। २. व्यतिरेकव्याप्तिप्रदर्शनप्रदेशो व्यतिरेकदृष्टान्तः। (न्यायदी. पृ. ७८)।

१ साध्य के अभाव में जहां साधन का अभाव कहा जाता है उसे व्यतिरेक दृष्टान्त कहते हैं।

व्यन्तर—१. विविधदेशान्तराणि येषां निवासास्ते व्यन्तराः इत्यन्वर्थसामान्यसंज्ञा। (स. सि. ४–११)। २. विविधदेशान्तरनिवासित्वाद् व्यन्तराः। विविधदेशान्तराणि येषां निवासास्ते व्यन्तरा इत्यन्वर्थाः। (त. वा. ४, ११, १)। ३. व्यन्तरनामकर्मोदये सति विविधान्तरनिवासित्वाद् व्यन्तराः॥ (त. श्लो. ४–११)। ४. तथा विविधमन्तरं वनान्तरादिकमाश्रयरूपं येषां ते व्यन्तराः, अथवा विगतमन्तरं मनुष्येभ्यो येषां ते व्यन्तराः। (बृहत्सं. मलय. वृ. २); वनानामन्तराणि वनान्तराणि, तेषु भवा वानमन्तरा व्यन्तराः, "पृषोदरादयः" इति वनान्तरशब्दयोरपान्तराले मकार-वर्णागमः। (बृहत्सं. मलय. वृ. ५८)। ५. विविधदेशान्तराणि निवासाः येषां ते व्यन्तराः। (त. वृत्ति श्रुत. ४–११)।

१ जिन देवों के निवास विविध—अनेक प्रकार के—देश हैं उन्हें व्यन्तर कहा जाता है। ४ अनेक प्रकार

का वनान्तर आदि जिनका आश्रयभूत है वे व्यन्तर कहलाते हैं। अथवा जिनका मनुष्यों से अन्तर नहीं है उनका नाम व्यन्तर है।

व्यपहार—देखो संव्यवहारदोष। १. यत्यर्थं संभ्रमाच्चेल-पात्रादेरसमीक्ष्य यत्। समाकर्षणमाम्नातं व्यपहार इति श्रुते॥ (आचा. सा. ८-४२)। २. यतीनां संभ्रमादादरतया चेल-पात्रादेरसमीक्ष्याकर्षणं स आगमे व्यपहार उच्यते। (भावप्रा. ९९)।

१ यति के लिए शीघ्रतावश जो वस्त्र व पात्र आदि को खींचा जाता है, इसे आगम में भोजन सम्बन्धी व्यपहारदोष कहा गया है।

व्यय—१. तथा पूर्वभावविगमनं व्ययः, यथा घटोत्पत्तौ पिण्डाकृतेः। (स. सि. ५-३०; त. श्लो. ५-३०)। २. तथा पूर्वभावविगमो व्ययनं व्ययः। तेन प्रकारेण तथा, स्वजात्यपरित्यागेनेत्यर्थः, पूर्वभावविगमो व्ययनं व्यय इति कथ्यते, यथा घटोत्पत्तौ पिण्डाकृतेः। (त. वा. ५, ३०, २)। ३. × × × भूत्वा चाभवनं व्ययः। (म. पु. २४, ११०)। ४. स्वजातेरविरोधेन द्रव्यस्य द्विविधस्य हि। विगमः पूर्वभावस्य व्यय इत्यभिधीयते॥ (त. सा. ३-७)। ५. पूर्वभावस्य व्ययनं विघटनं विगमनं विनशनं व्ययः। (त. वृत्ति श्रुत. ५-३०)। ६. अपि च व्ययोऽपि न सतो व्ययोऽप्यवस्थाव्ययः सतस्तस्य। प्रध्वंसाभावः स च परिणामित्वात्सतोऽप्यवश्यं स्यात्। (पंचाध्या, १-२०२)।

१ पूर्व पर्याय के विनाश का नाम व्यय है।

व्यवच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती—देखो समुच्छिन्नक्रियानिवर्ती।

व्यवसाय—१. व्यवसीयते निश्चीयते अन्वेषितोऽर्थोऽनेनेति व्यवसायः। (धव. पु. १३, पृ. २४३)। २ व्यवसायः अनुष्ठानोत्साह इति। (समवा. अभय. वृ. १४१)।

१ जिसके द्वारा अन्वेषित पदार्थ का निश्चय किया जाता है, वह व्यवसाय कहलाता है। यह अवाय ज्ञान का नामान्तर है। २ अनुष्ठेय के अनुष्ठान में उत्साह रखने का नाम व्यवसाय है।

व्यवस्थापद—जस्स जम्हि अवट्ठाणं तस्स तं पदम्, ट्ठाणमिदि वुत्तं होदि। जहा सिद्धिखेत्तं सिद्धाणं पदं. अत्थालावो अत्थावगमस्स पदं। (धव. पु. १०, पृ. १८)।

जो जहां अवस्थित रहता है वह उसका पद या स्थान कहलाता है। प्रकृत में व्यवस्थापद से स्थितिस्थान को ग्रहण किया गया है। जैसे—सिद्धों का सिद्धि-क्षेत्र पद तथा अर्थावबोध का पद अर्थालाप।

व्यवहार—१. व्यवहारोऽर्थाभिधानप्रत्ययात्मकः। संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं भेदनं व्यवहारः। (धव. पु. १, पृ. ८४)। २. व्यवह्रियते यत् यस्य प्रायश्चित्तमाभवति स तद्दानविषयीक्रियते अनेनेति व्यवहारः। (व्यव. भा. पी. मलय. वृ. २, पृ. ३); विधिना उप्यते ह्रियते च येन स व्यवहारः। (व्यव. भा. मलय. वृ. पी. ५, पृ. ५)।

२ जो जिसका प्रायश्चित्त है वह जिसके द्वारा उस प्रायश्चित्त के देने का विषयभूत किया जाता है उसका नाम व्यवहार है।

व्यवहारकाल—१. समओ णिमिसो कट्ठा कला य णाली तदो दिवा रत्ती। मास उडु अयण संवच्छरो त्ति कालो परायत्तो॥ (पंचा. का. २५; धव. पु. ४, पृ. ३१७ उद्.)। २. समयावलिकोच्छ्वासः प्राणस्तोकलवादिकः। व्यवहारस्तु विज्ञेयः कालः कालज्ञवर्णितः॥ (ह. पु. ७-१९)। ३. कालोऽन्यो व्यवहारात्मा मुख्यकालव्यपाश्रयः। परत्वापरत्वसंसूच्यो वर्णितः सर्वदर्शिभिः॥ वर्तितो द्रव्यकालेन वर्तनालक्षणेन यः कालः पूर्वपरीभूतो व्यवहाराय कल्प्यते॥ समयावलिकोच्छ्वासनालिकादिप्रभेदतः। ज्योतिश्चक्रभ्रमायत्तं कालचक्रं विदुर्बुधाः॥ (म. पु. ३, १०-१२)। ४. तत्र क्रमानुपाती समयाख्यः पर्यायो व्यवहारकालः। × × × व्यवहारकालो जीव-पुद्गलपरिणामेन निश्चीयते। × × × तत्र क्षणभङ्गी व्यवहारकालः। (पंचा. का. अमृत. वृ. १००)। ५. जीवाण पुग्गलाणं जे सुहमा बादरा य पज्जाया। तीदाणागदभूदा सो ववहारो हवे कालो॥ कार्तिके. २२०)। ६. व्यवहारकालः परमार्थकालवर्तनया लब्धकालव्यपदेशः परिणामादिलक्षणः। (चा. सा. पृ. ८१)। ७. दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो। परिणामादीलक्खो × × ×॥ (द्रव्यसं. २१)। ८. जीव-पुद्गलयोः परिवर्तो नव-जीर्णपर्यायस्तस्य या समयघटिकादिरूपा स्थितिः स्वरूपं यस्य स भवति द्रव्यपर्यायरूपो व्यवहारकालः। (बृ. द्रव्यसं. २१)। ९. स च मन्दगतिपुद्गलपरमाणुव्यज्यमानः "प्यो

जलभाजनादिबहिरङ्गनिमित्तभूतपुद्गलप्रकटीक्रियमाणा घटिका । दिनकरबिम्बगमनादिक्रियाविशेषव्यक्तीक्रियमाणो दिवसादि: व्यवहारकाल: । (पंचा. का. जय. वृ. २५); यस्तु निश्चयकालोपादानकारणजन्योऽपि पुद्गलपरमाणुजलभाजनादिव्यज्यमानत्वात् समय-घटिका-दिवसादिरूपेण विवक्षितव्यवहारकल्पनारूप: स व्यवहारकाल इति । (पंचा. का. जय. वृ. २६); समय-निमिष-घटिका-दिवसादिरूपो व्यवहारकाल: । (पंचा. का. जय. वृ. १००); तस्यैव (निश्चयकालस्यैव) पर्यायभूत: सादि-सनिधन: समय-निमिष-घटिकादिविवक्षितकल्पनाभेदरूपो व्यवहारकालो भवतीति । (पंचा. का. जय. वृ. १०१) । १०. समयादिकृतं यस्य मानं ज्योतिर्गणाश्रितम् । व्यवहाराभिध: काल: स कालज्ञै: प्रपंचित: ।। (ज्ञाना. ३७, पृ. ८८) । ११. मुख्यकालस्य पर्याय: समयादिस्वरूपवान् । व्यवहारो मत: काल: कालज्ञानप्रवेदिनाम् ।। (भावसं. वाम. ३७०) ।

१ समय, निमेष, काष्ठा, कला, नाली, दिन, रात, मास, ऋतु, अयन और वर्ष इत्यादि पराश्रित काल को व्यवहारकाल कहा जाता है । ४ क्रम के अनुसार होने वाले समयरूप पर्याय को व्यवहारकाल कहते हैं । ६ प्रतिक्षण में जो नष्ट होने वाला है वह व्यवहारकाल कहलाता है ।

व्यवहारचारित्र—१. जिट्ठा तवंहि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति ।। (पंचा. का. १६०) । २. आचारादिसूत्रप्रपञ्चितविचित्रयतिवृत्तसमस्तसमुदयरूपे तपसि चेष्टा चर्या । (पंचा. का. अमृत. वृ. १६०) । ३. चरणं च तपसि चेष्टा व्यवहारान्मुक्तिहेतुरयम् ।। (तत्त्वानु. ३०) । ४. असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं । वद-समिदि-गुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं ।। (द्रव्यसं. ४५) । ५. × × × कृतकारितानुमतिभिर्योगैरवद्योज्झनम् । तत्पूर्वं व्यवहारत: सुचरितं तान्येव रत्नत्रयम् × × × । (अन. ध. १–९३)। ६. कर्मोपचयहेतूनां निग्रहो व्यवहारत: ।। (मोक्षपं. ४४) ।

२ आचारादि आगमों में विस्तार से प्ररूपित मुनि आचार के समस्त समुदायरूप तप में जो प्रवृत्ति होती है, इसका नाम व्यवहारचारित्र है। ४ अशुभ आचरण (कदाचार) से निवृत्ति और सदाचार में जो प्रवृत्ति होती है उसे व्यवहारचारित्र कहते हैं ।

व्यवहारजीवस्वरूप—१. तिक्काले चदुपाणा इंदिय बलमाउ आणपाणो य ववहारा सो जीवो × × × ।। (द्रव्यसं. ३) । २. मण-वयण-काय-इंदिय-आणप्पाणाउगं च जं जीवे । तमसब्भूओ भणदि हु ववहारो लोयमज्झम्मि ।। (द्रव्यस्व. प्र. नयच. ११२) ।

१ जिसके तीनों कालों में इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते हैं, वह व्यवहार से जीव कहलाता है । २ मन, वचन, काय, पांच इन्द्रियों में यथासम्भव इन्द्रियां, आयु और आनप्राण; इनका सद्भाव जीव में असद्भूत व्यवहारनय से कहा जाता है ।

व्यवहारध्यान—× × × परालम्बनमुत्तरम् । (तत्त्वानु. ९६) ।

जिस ध्यान में आत्मा के अतिरिक्त अन्य का आलम्बन लिया जाता है उसे व्यवहारध्यान कहते हैं ।

व्यवहारनय—१. वच्चइ विणिच्छयत्थं ववहारो सव्वदव्वेसु ।। (आव. नि. ७५६) । २. संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहार: । (स. सि. १–३३; मूला. वृ. ९–६७) । ३. अतो विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहार: । एतस्मादत: । कुत: ? संग्रहात् संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहार: । को विधि: ? संग्रहगृहीतोऽर्थस्तदानुपूर्व्येणैव व्यवहार: प्रवर्तते इत्ययं विधि: । (त. वा. १, ३३, ६) । ४. संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं भेदनं व्यवहार:, व्यवहारपरतन्त्रो व्यवहारनय इत्यर्थ: । (धव. पु. १, पृ. ८४); शेषद्रव्याद्यनन्तविकल्पसंग्रहप्रस्तारावलम्बन: पर्यायकलङ्काङ्कितया अशुद्धद्रव्यार्थिको व्यवहारनय: ।(धव. पु. ९, पृ. १७१)। ५. संग्रहेण गृहीतानामर्थानां विधिपूर्वक: । योऽवहारो विभाग: स्याद् व्यवहारो नय: स्मृत: । (त. श्लो. १, ३३, ५८) । ६. संग्रहाक्षिप्तसत्तादेरवहारो विशेषत: । व्यवहारो यत: सत्तां नयत्यन्तविशेषताम् ।। (ह. पु. ५८-४५) । ७. संग्रहेण गृहीतार्थानामर्थानां विधिपूर्वक: । व्यवहारो भवेद्यस्माद् व्यवहारनयस्तु स: ।। (त. सा. १–४६) । ८. यस्तु पुद्गलपरिणाम आत्मन:

कर्म, स एव पुण्यापुण्यद्वैतम्, पुद्गलपरिणामस्यात्मा कर्ता तस्योपादाता हाता चेति सोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको व्यवहारनयः। (प्रव. सा. अमृत. वृ. २-९७)। ९. ××× व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्। (पु. सि. ५)। १०. व्यवहारनयो भिन्नकर्तृ-कर्मादिगोचरः॥ (तत्त्वानु. २९)। ११. जं संगहेण गहियं भेयइ अत्थं असुद्ध सुद्धं वा। सो ववहारो दुविहो असुद्ध सुद्धत्थभेयकरो॥ (ल. न च ३७; द्रव्यस्व. प्र. नयच. २०९)। १२. संग्रहेण गृहीतार्थस्य भेदरूपतया वस्तु येन व्यवह्रियत इति व्यवहारः। (आलापप. पृ. १४९)। १३. व्यवहारनयस्य तु स्वरूपमिदम्। तद्यथा—यथालोकग्राह्यमेव वस्तु। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ७, ८१, पृ. १८८)। १४. व्यवहरणं व्यह्रियते वा स व्यवह्रियते वा तेन विशेषेण वा सामान्यमवह्रियते—निराक्रियतेऽनेनेति लोकव्यवहारपरो वा व्यवहारो—विशेषमात्राभ्युपगमपरः। (स्थानां. अभय. वृ. १८६)। १५. जो संगहेण गहिदं विसेसरहिदं पि भेददे सददं। परमाणूपज्जंतं ववहारणओ हवे सो हु॥ (कार्तिके. २७३)। १६. संग्रहगृहीतार्थानां विधिपूर्वकमवहरणं विभाजनं भेदेन प्ररूपणं व्यवहारः। (प्र. क. मा. ६–७४, पृ. ६७७)। १७. संग्रहगृहीतभेदको व्यवहारः। (प्रमेयर. ६–७४)। १८. जो सियभेदुवयारं धम्माणं कुणइ एगवत्थुस्स। सो ववहारो भणिओ ×××॥ (द्रव्यस्व. प्र. नयच. २६४)। १९. व्रजति गच्छति, निः आधिक्येन, चयनं चयः, निश्चयः सामान्यः, विगतो निश्चयः सामान्याभावः, तदर्थं तन्निमित्तम्, सामान्याभावायेति भावार्थः। ××× व्युत्पत्तिश्चैवम्—व्यवहरणं व्यवहारः, यदि वा विशेषतोऽवह्रियते—निराक्रियते सामान्यमनेनेति व्यवहारः, विशेषप्रतिपादनपरो व्यवहारनय इत्यर्थः। (आव. नि. मलय. वृ. ७५६)। २०. संग्रहनयविषयीकृतानां संग्रहनयगृहीतानां संग्रहनयक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवग्रहणं भेदेन प्ररूपणं व्यवहारः। (त. वृत्ति श्रुत. १–३३)। २१. संग्रहेण गृहीतस्यार्थस्य भेदतया वस्तु व्यवह्रियतेऽनेन व्यवहारः क्रियते, व्यवहरणं वा व्यवहारः, संग्रहनयविषयीकृतानां संग्रहनयगृहीतानां पदार्थानां वस्तूनां विधिपूर्वकम् अवहरणं भेदेन प्ररूपणं व्यवहारः। (कार्तिके. टी. २७६)।

२ संग्रहनय के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों का जिसके द्वारा भेद किया जाता है उसे व्यवहारनय कहते हैं। ८ जो पुद्गल द्रव्य का परिणाम आत्मा का कर्म है वह पुण्य-पाप रूप दो प्रकार का है, पुद्गल द्रव्य के परिणाम का कर्ता आत्मा उसको ग्रहण करता है और छोड़ता है; इस प्रकार से जो अशुद्ध द्रव्य का निरूपण करता है उसे व्यवहार कहा जाता है। १८ जो एक वस्तुगत धर्मों के कथंचित् भेदोपचार को करता है उसका नाम व्यवहारनय है। १९ निश्चय का अर्थ सामान्य और विनिश्चय का अर्थ सामान्याभाव (विशेष) है; इस प्रकार जो नय सामान्य के अभाव के लिए सब द्रव्यों में प्रवृत्त होता है उसे व्यवहारनय कहते हैं। यह निर्युक्तिकार के द्वारा निर्दिष्ट उस व्यवहारनय के लक्षण का स्पष्टीकरण किया गया है।

व्यवहारनयाभास—काल्पनिको भेदस्तदाभासः। (प्रमेयर. ६–७४)।

जैसा भेद सम्भव नहीं है उस प्रकार के काल्पनिक भेद का निरूपण करना, यह व्यवहारनयाभास का लक्षण है।

व्यवहारपरमाणु अट्ठेहिं तेहिं णेया सण्णासंण्णेहिं तह य दव्वेहिं। ववहारियपरमाणू णिद्दिट्ठो सव्वदरसीहिं॥ (जं. दी. प. सं. १३–२१)।

उन आठ सन्नासन्न द्रव्यों का एक व्यवहारपरमाणु कहा गया है।

व्यवहारपल्य—१. उत्तमभोगखिदीए उप्पण्णविजुगल-रोम-कोडीओ। एक्कादिसत्तदिवसावहिम्मि च्छेत्तूणं संगहियं॥ अइवट्टेहिं तेहिं रोमग्गेहि णिरंतरं पढमं। अच्चंतं णिविडूणं भरियव्वं जाव भूमिसमं॥ दंड-पमाणंगुलए उस्सेहंगुल जवं च जूवं च। लिक्खं तह कादूणं वालग्गं कम्मभूमीए॥ अवरं-मज्झिम-उत्तमभोगखिदीणं च वालअग्गाइं। एक्केक्कमट्ठघणहदरोमा ववहारपल्लस्स॥ ×× × एक्केक्कं रोमग्गं वस्ससदे पेलिदम्हि सो पल्लो। रित्तो होदि स कालो उद्धारणिमित्तववहारो॥ (ति. प. १, ११९–२२ व १२५)। २. प्रमाणांगुलपरिमितयोजनविष्कम्भायामावगाहानि त्रीणि पल्यानि, कुसूला इत्यर्थः। एकादिसप्तान्ताहोरात्रजाताविवालाग्राणि तावच्छिन्नानि यावद् द्वितीयं कर्तरिच्छेदं नाप्नुवन्ति, तादृशैर्लोमच्छेदैः परिपूर्णं घनीभूतं

व्यवहारपल्यमित्युच्यते । ततो वर्षशते वर्षशते गते (त. वा. 'अतीते') एकैकलोमाकर्षणविधिना यावता कालेन तद् रिक्तं भवेत् तावान् कालो व्यवहार-पल्योपमाख्यः । (स. सि. ३-३८; त. वा. ३, ३८, ६) । ३. योजनं विस्तृतं पल्यं यच्च योजनमुच्छ्रितम् । आ सप्ताहःप्ररूढानां केशानां तु सुपूरितम् ॥ ततो वर्षशते पूर्णे एकैके रोम्णि उद्धृते । क्षीयते येन कालेन तत्पल्योपममुच्यते ॥ (धव. पु. १३, पृ. ३०० उद्.) । ४. प्रमाणयोजनव्यासस्वावगाहविशेषवत् । त्रिगुणं परिवेषेण क्षेत्रं पर्यन्तभित्तिकम् ॥ सप्ताहान्ताविरोमाग्रैरापूर्य कठिनीकृतम् । तदुद्धार्यमिदं पल्यं व्यवहाराख्यमिष्यते ॥ (ह. पु. ७-४७ व ४८) । ५. तद्योजन-(प्रमाणयोजन-) प्रमाणः खनिः क्रियते मूले मध्ये उपरि च समाना वर्तुलाकारा सातिरेकत्रिगुणपरिधिः, सा खनिः एकादिसप्तान्ताहोरात्रजाताऽविरोमाग्राणि गृहीत्वा खण्डितानि क्रियन्ते, पुनः तादृशानि खण्डानि क्रियन्ते यादृशानि खण्डानि कर्तर्या खण्डयितुं न शक्यन्ते तैः सूक्ष्मैः रोमखण्डैर्महायोजनप्रमाणा खनिः पूर्यते, कुट्टयित्वा निविडीक्रियते, सा खनिर्व्यवहारपल्यमिति कथ्यते । (त. वृत्ति श्रुत. ३-३८) ।

२ प्रमाणाङ्गुल से निष्पन्न योजन प्रमाण चौड़े, लम्बे और गहरे तीन गड्ढे करे । उनमें एक से सात दिन के भीतर उत्पन्न भेड़ के बालों को इस प्रकार कैंची से खण्डित करके भरे कि जिस प्रकार से उनका दूसरा खण्ड न हो सके । इस प्रकार उन बालाग्रों से गड्ढे को सघन भरने पर उस पल्य (गर्त) को व्यवहारपल्य कहा जाता है ।

व्यववहारपल्योपम— देखो व्यवहारपल्य । १. एकैकस्मिंस्ततो रोम्णि प्रत्यब्दशतमुद्धृते । यावतास्य क्षयः कालः पल्यं व्युत्पत्तिमात्रकृत् ॥ (ह. पु. ७-४९) । २. प्रमाणयोजनावगाह-विष्कम्भायामं कूपं कृत्वा सप्तरात्रजातमात्रोरणरोमाग्रभागैः पूर्णं च कृत्वा तत्र यावन्मात्राणि रोमाग्राणि तावन्मात्राणि वर्षशतानि गृहीत्वा तत्र यावन्मात्राः समयाः [तावन्मात्रं] व्यवहारपल्योपमं नाम । (मूला. वृ. १२-३९) । ३. तदनन्तरमब्दशतेरेकैकं रोमखण्डमपकृष्यते, एवं सर्वेषु रोमेष्वाकृष्टेषु यावत्कालेन सा खनिः रिक्ता भवति तावत्कालो व्यवहारपल्योपम इत्युच्यते । (त. वृत्ति श्रुत. ३-३८) ।

१ व्यवहारपल्य में से सौ सौ वर्ष में एक-एक रोमखण्ड के निकालने पर जितने काल में वह पल्य खाली होता है उतने काल का नाम व्यवहारपल्योपम है ।

व्यवहारपण्डित—१. लोक-वेद-समयव्यवहारनिपुणो व्यवहारपण्डितः, अथवाऽनेकशास्त्रज्ञः शुश्रूषादिबुद्धिगुणसमन्वितः व्यवहारपण्डितः । (भ. आ. विजयो. २५) । २. लोक-वेद-समयगतव्यवहारनिपुणो व्यवहारपण्डितः । (भावप्रा. टी. ३२) ।

१ लोक, वेद और समय के व्यवहार में जो निपुण है अथवा अनेक शास्त्रों का ज्ञाता होकर जो शुश्रूषादि बुद्धिगुणों (शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊह, अपोह, अर्थविज्ञान और तत्त्वज्ञान) से युक्त है उसे व्यवहारपण्डित कहा जाता है ।

व्यवहारबाल—लोक-वेद-समयव्यवहारान् यो न वेत्ति शिशुर्वासौ व्यवहारबालः । (भ. आ. विजयो. २५; भावप्रा. टी. ३२) ।

जो लोक, वेद और समय के व्यवहार को नहीं जानता है उसे अथवा शिशु को व्यवहारबाल कहा जाता है ।

व्यवहारमनोगुप्ति— कालुस्स-मोह-सण्णारागद्दोसाइ असुहभावाणं । परिहारो मणुगुत्ती ववहारणयेण परिकहियं ॥ (नि. सा. ६६) ।

कलुषता, मोह, आहारादि संज्ञा, राग और द्वेष आदि के परित्याग को व्यवहारनय से मनोगुप्ति कहा जाता है ।

व्यवहारमोक्षमार्ग—१. धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं । चिट्ठा तवंहि चरिया ववहारो मोक्खमग्गो त्ति ॥ (पंचा. का. १६०) । २. धर्मादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं ज्ञानमधिगमस्तेषाम् । चरणं च तपसि चेष्टा व्यवहारान्मुक्तिहेतुरयम् ॥ (तत्त्वानु. ३०) । ३. सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे । ववहारा × × × ॥ (द्रव्यसं. ३९) । ४. वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्य-पञ्चास्तिकायसप्ततत्त्व-नवपदार्थसम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-व्रताद्यनुष्ठानविकल्परूपो व्यवहारमोक्षमार्गः । × × × अथवा धातुपाषाणेऽग्निवत्साधको व्यवहारमोक्षमार्गः ॥ (बृ. द्रव्यसं. ३९; परमात्मप्र. वृ. १४०) । ५. वीत-

व्युत्सर्गआवश्यक—सरीराहारेसु हु मण-वयण-पवुत्तीओ ओसारिय ज्झेयम्मि एग्गेण चित्तणिरोहो विओसग्गो णाम। (धव. पु. ८, पृ. ८५)।
शरीर और आहार के विषय में मन और वचन की प्रवृत्तियों को हटाकर एकाग्रतापूर्वक ध्येय में चित्त के रखने का नाम व्युत्सर्ग है। यह मुनि के छह आवश्यकों में अन्तिम है।

व्युत्सर्गतप—१. आत्माऽऽत्मीयसंकल्पत्यागो व्युत्सर्गः। (स. सि. ९–२०)। २. विविधानां बाह्याभ्यन्तराणां बन्धहेतूनां दोषाणामुत्तमस्त्यागो व्युत्सर्गः। (चा. सा. पृ. ६८)। ३. व्युत्सर्गः देहे ममत्वनिरासः जिनगुणचिन्तायुक्तः कायोत्सर्गः। (मूला. वृ. १–२२)। ४. शरीरान्तर्बहिःसंगसंगव्युत्सर्जनं मुनेः। व्युत्सर्गः स्यात्समीचीनध्यानसंसिद्धिकारणम्॥ (आचा. सा. ६–६६)। ५. बाह्यो भक्तादिरुपधिः क्रोधादिश्चान्तरस्तयोः। त्यागं व्युत्सर्गमस्वन्तं मितकालं च भावयेत्॥ बाह्याभ्यन्तरदोषा ये विविधाः बन्धहेतवः। यस्तेषामुत्तमः सर्गः स व्युत्सर्गो निरुच्यते॥ (अन. ध. ७, ९३–९४)। ६. इदं शरीरं मदीयमिति संकल्पस्य परिहृतिर्व्युत्सर्गः। (त. वृत्ति श्रुत. ९–२०)।
१ आत्मा और आत्मीयरूप संकल्प—अहंकार और ममकार—के त्याग का नाम व्युत्सर्ग है। २ बन्ध के कारणभूत बाह्य और अभ्यन्तर अनेक दोषों का जो उत्कृष्ट त्याग किया जाता है, इसे व्युत्सर्ग कहते हैं।

व्युत्सर्गप्रायश्चित्त—१. कायोत्सर्गादिकरणं व्युत्सर्गः। (स. सि. ९–२२; त. श्लो. ९–२२; मूला. वृ. ७–२४)। २. व्युत्सर्गः कायोत्सर्गादिकरणम्। कालनियमेन कायोत्सर्गादिकरणं व्युत्सर्ग इत्युच्यते। (त. वा. ९, २२, ६)। ३. व्युत्सर्गः कुस्वप्नादौ कायोत्सर्गः। (आ. नि. हरि. वृ. पृ. ७६४)। ४. झाणेण सह कायमुज्झिऊण मुहुत्त-दिवस-पक्ख-मासादिकालमच्छणं विउस्सग्गो णाम पायच्छित्तं। (धव. पु १३, पृ. ६१)। ५. कायोत्सर्गादिकरणं व्युत्सर्गः परिभाषितः। (त. सा ७–२४)। ६. दुःस्वप्न-दुश्चिन्तन-मलोत्सर्जनाऽऽगमातीचार-नदी-महाटवी-रणादिभिरन्यैश्चाप्यतीचारे सति ध्यानमवलम्ब्य कायमुत्सृज्यान्तर्मुहूर्त-दिवस-पक्ष-मासादिकालावस्थानं व्युत्सर्ग इत्युच्यते। (चा. सा. पृ. ६३; अन. ध. स्वो. टी. ५१ उद्.)। ७. व्युत्सर्गोऽन्तर्मुहूर्तादिकालं कायविसर्जनम्। सद्ध्यानं तन्मलोत्सर्गनद्याद्युत्तरणादिषु॥ (आचा. सा. ६–४५)। ८. व्युत्सर्गोऽनेषणीयादिषु त्यक्तेषु गमनागमनसावद्य-स्वप्नदर्शन-नौसन्तरणोच्चार-प्रश्रवणेषु च विशिष्टप्रणिधानपूर्वकः काय-वाङ्मनोव्यापारस्त्यागः। (योगशा. स्वो. विव. ४–९०)। ९. व्युत्सर्गः कायचेष्टानिरोधोपयोगमात्रेण शुध्यति प्रायश्चित्तम्, यथा दुःस्वप्नप्रजनितं तद्व्युत्सर्गार्हत्वात् व्युत्सर्गः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १–५३)। १०. नियतकालं काय-वाङ्मनसां त्यागो व्युत्सर्गः। (भावप्रा. टी. ७८)। ११. स व्युत्सर्गो मलोत्सर्गाद्यतिचारेऽवलम्ब्य यत्। ध्यानमन्तर्मुहूर्तादिकायोत्सर्गेण या स्थितिः॥ (अन. ध. ७–५१)। १२. नियतकालं कायस्य वाचो मनसश्च त्यागो व्युत्सर्गम्। (त वृत्ति श्रुत. ९–२२; कार्तिके. टी. ४५१)।
२ काल के नियम से कायोत्सर्ग आदि करना, यह व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त का लक्षण है। ३ दुःस्वप्न आदि में जो कायोत्सर्ग किया जाता है; इसे व्युत्सर्ग कहते हैं। ६ दुःस्वप्न, दुर्विचार, मलत्याग, आगमविषयक अतीचार, नदी, महावन व युद्ध आदि तथा अन्य का अतिचार के होने पर ध्यान के आश्रय से आलम्बन लेकर अन्तर्मुहूर्त, दिन, पक्ष और मास आदि काल तक अवस्थित रहना; इसे व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त कहा जाता है।

व्युत्सर्गप्रतिमा— व्युत्सर्गप्रतिमा कायोत्सर्गकरणमेवेति। (स्थानां. अभय. वृ. ८४)।
कायोत्सर्ग करने का नाम ही व्युत्सर्गप्रतिमा है।

व्युत्सर्गशुद्धि—देखो प्रतिष्ठापनशुद्धि। चूर्णीकृत्य नखान् केशान् विश्लिष्यैकैकमुत्सृजेत्। अनुल्वलणमलेपं च क्ष्वेल-सिंहाणकादिकम्॥ वीक्ष्य पूर्वापरोर्ध्वाधःपार्श्वभागान् पुरोदिते। स्थाने प्रस्रवणोच्चारं वातं निःशब्दमुत्सृजेत्॥ पश्चाच्छुचि प्रकुर्येष्टकाविकृत्यादिभिः पुनः। स्याच्क्षालितासनकरः सौवीरोष्णजलादिभिः॥ जरा-रुजादितः कायं संन्यासेन त्यजेदिति। व्युत्सर्गशुद्धिः संशुद्धि विधत्ते यमिनामियम्॥ (आचा. सा. ८, ७९–८२)।
नख और बालों को चूर्णित करके पृथक् करते हुए एक एक छोड़े, थूक व नासिका के मल को उल्वण व लेप से रहित अलग करे; आगे, पीछे, ऊपर, नीचे और पार्श्वभाग में देखकर निर्जन्तुस्थान में

पादकं अष्टविंशतिसहस्राधिकद्विलक्षपदप्रमाणं व्याख्याप्रज्ञप्तिः। (त. वृत्ति श्रुत. १-२०)। ७. दुग-दुगअडतियसुण्णं विवायपण्णत्तिअंगपरिमाणं। णाणाविसेसकहणं वेंति जिणा जत्थ गणिपण्हा॥ किं अत्थि णत्थि जीवो णिच्चोऽणिच्चोऽहवाह किं एगो। वत्तव्वो किमवत्तव्वो हि किं भिण्णो॥ गुण-पज्जयादभिण्णो सट्ठिसहस्सा गणिस्स पण्हेवं। जत्थ-त्थि तं वियाण विवाहपण्णत्तिमंगं खु॥ (अंगप. १, ३६-३८, पृ. २६४)।

१ जिस अंगश्रुत में क्या जीव है, क्या जीव नहीं है, वह कहां उत्पन्न होता है, और कहां से आता है; इत्यादि साठ हजार प्रश्नों का निरूपण किया जाता है उसका नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग है। वह दो लाख अट्ठाईस हजार (२२८०००) पद प्रमाण है।

व्याख्याप्रज्ञप्तिपरिकर्म (दृष्टिवादभेद)—१. वियाहपण्णत्ती णाम चउरासीदिलक्ख छत्तीसपदसहस्सेहि ८४३६००० रूविअजीवदव्वं अरूविअजीवदव्वं भवसिद्धिय-अभवसिद्धियरासिं च वण्णेदि। (धव. पु. १, पृ. ११०); व्याख्याप्रज्ञप्तौ षट्त्रिंशत्सहस्राधिक-चतुरशीतिशतसहस्रपदायां ८४३६००० रूपिअजीवद्रव्यं अरूपिअजीवद्रव्यं भव्याभव्यस्वरूपं च निरूप्यते। (धव. पु. ६, पृ. २०७)। २. जा पुण वियाहपण्णत्ती सा रूवि-अरूवि-जीवाजीवदव्वाणं भवसिद्धिय-अभवसिद्धियाणं पमाणस्स तल्लक्खणस्स अणंतर-परंपरसिद्धाणं च अण्णेसिं च वत्थूणं वण्णणं कुणइ। (जयध. १, पृ. १३३)। ३. चतुरशीति-लक्ष-षट्त्रिंशत्सहस्रपदपरिमाणा जीवादिद्रव्याणां रूपित्वारूपित्वादिस्वरूपनिरूपिका व्याख्याप्रज्ञप्तिः। (श्रुतभ. टी. ६, पृ. १७४)। ४. रूप्यरूपिजीवा-जीवद्रव्याणां भव्याभव्यभेदप्रमाणलक्षणानां अनन्तर-परम्परासिद्धानां अन्येषां च वस्तूनां वर्णनं करोति। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. ३६१)।

१ जिसमें चौरासी लाख छत्तीस हजार पदों के द्वारा रूपी व अरूपी अजीवद्रव्य तथा भवसिद्धिक (भव्य) और अभवसिद्धिक जीवराशि का वर्णन किया जाता है। उसे व्याख्याप्रज्ञप्तिपरिकर्म (दृष्टिवाद के अन्तर्गत) कहा जाता है।

व्याधित—व्याधितः सदा रोगी स्वाध्यायावश्यक-भिक्षाटनाद्यक्षमः। (आचा. दि. पृ. ७४)।

जो सदा रोगी रहता हुआ स्वाध्याय, आवश्यक और भिक्षाटन आदि में असमर्थ रहता है वह व्याधित कहलाता है।

व्यान—व्यानयति व्याप्नोतीति व्यानः। (योगशा. स्वो. विव. ५-१३)।

जो वायु समस्त शरीर को व्याप्त करती है उसे व्यान कहा जाता है।

व्याप्ति—१. व्याप्तिर्हि साध्य-साधनयोरविनाभावः। (न्यायकु. १०, पृ. ४१८-१९); लिंगात् हेतोः, × × × साध्येनेष्टाबाधितासिद्धविशेषणविशिष्टेन अविनाभावो व्याप्तिः। (न्यायकु. १२, पृ. ४३५)। २. यावान् कश्चिद् धूमवान् प्रदेशः स सर्वोऽपि अग्निमान् व्याप्तौ ××× ॥ (सिद्धिवि. वृ. ३३, पृ. १७७)।

१ साध्य और साधन में जो अविनाभाव होता है उसका नाम व्याप्ति है। २ जितना कुछ भी धूम वाला प्रदेश होता है वह सब अग्नि से व्याप्त अवश्य होता है, इस प्रकार के साध्य-साधन के अविनाभाव के निश्चय को व्याप्ति कहते हैं।

व्यायाम—शरीरायासजननी क्रिया व्यायामः। (नीतिवा. २५-१५, पृ. २५२)।

शरीर को श्रम उत्पन्न करने वाली क्रिया का नाम व्यायाम है।

व्यावहारिक काल—ज्योतिःशास्त्रे यस्य मानमुच्यते समयादिकम्। स व्यावहारिकः कालः कालवेदिभिरामतः॥ (योगशा. स्वो. विव. १६, पृ. ११३)।

ज्योतिष शास्त्र में जिसका मान समय आदि कहा जाता है वह व्यावहारिककाल कहलाता है।

व्याहत—व्याहतं नाम यत्र पूर्वेण परं व्याहन्यते, यथा—कर्म चास्ति फलं चास्ति कर्ता नास्ति च कर्मणाम्। इत्यादि। (आव. नि. मलय वृ. ८८१, पृ. ४८३)।

जिस वचन में पूर्व के द्वारा आगे का बाधा जाता है वह व्याहत दोष से दूषित होता है। जैसे—कर्मों का कार्य है और उनका फल भी है पर उनका कर्ता नहीं है, इस वाक्य में 'उनका कर्ता नहीं है' यह कहने से उसके पूर्व में निर्दिष्ट कर्मों का अस्तित्व व फल कर्ता के बिना बाधा को प्राप्त होता है। यह वचन के ३२ दोषों में ग्यारहवां है।

व्युत्सर्गआवश्यक—सरीराहारेसु हु मण-वयणपवुत्तीओ ओसारिय ज्झेयम्मि एग्गग्गेण चित्तणिरोहो विओसग्गो णाम। (धव. पु. ८, पृ. ८५)।

शरीर और आहार के विषय में मन और वचन की प्रवृत्तियों को हटाकर एकाग्रतापूर्वक ध्येय में चित्त के रखने का नाम व्युत्सर्ग है। यह मुनि के छह आवश्यकों में अन्तिम है।

व्युत्सर्गतप—१. आत्माऽऽत्मीयसंकल्पत्यागो व्युत्सर्गः। (स. सि. ९-२०)। २. विविधानां बाह्याभ्यन्तराणां बन्धहेतूनां दोषाणामुत्तमस्त्यागो व्युत्सर्गः। (चा. सा. पृ. ६८)। ३. व्युत्सर्गः देहे ममत्वनिरासः जिनगुणचिन्तायुक्तः कायोत्सर्गः। (मूला. वृ. १-२२)। ४. शरीरान्तर्बहिःसंगसंगव्युत्सर्जनं मुनेः। व्युत्सर्गः स्यात्समीचीनध्यानसंसिद्धिकारणम्॥ (आचा. चा. ६-९९)। ५. बाह्यो भक्तादिरुपधिः क्रोधादिश्चान्तरस्तयोः। त्यागं व्युत्सर्गमस्वन्तं मितकालं च भावयेत्॥ बाह्याभ्यन्तरदोषा ये विविधाः बन्धहेतवः। यस्तेषामुत्तमः सर्गः स व्युत्सर्गो निरुच्यते॥ (अन. ध. ७, ९३-९४)। ६. इदं शरीरं मदीयमिति संकल्पस्य परिहृतिर्व्युत्सर्गः। (त. वृत्ति श्रुत. ९-२०)।

१ आत्मा और आत्मीयरूप संकल्प—अहंकार और ममकार—के त्याग का नाम व्युत्सर्ग है। २ बन्ध के कारणभूत बाह्य और अभ्यन्तर अनेक दोषों का जो उत्कृष्ट त्याग किया जाता है, इसे व्युत्सर्ग कहते हैं।

व्युत्सर्गप्रायश्चित्त—१. कायोत्सर्गादिकरणं व्युत्सर्गः। (स. सि. ९-२२; त. श्लो. ९-२२; मूला. वृ. ७-२४)। २. व्युत्सर्गः कायोत्सर्गादिकरणम्। कालनियमेन कायोत्सर्गादिकरणं व्युत्सर्ग इत्युच्यते। (त. वा. ९, २२, ६)। ३. व्युत्सर्गः कुस्वप्नादौ कायोत्सर्गः। (आ. नि. हरि. वृ. पृ. ७६४)। ४. झाणेण सह कायमुज्झिदूण मुहुत्त-दिवस-पक्ख-मासादिकालमच्छणं विउस्सग्गो णाम पायच्छित्तं। (धव. पु १३, पृ. ६१)। ५. कायोत्सर्गादिकरणं व्युत्सर्गः परिभाषितः। (त. सा ७-२४)। ६. दुःस्वप्न-दुश्चिन्तन-मलोत्सर्जनाऽऽगमातीचार-नदी-महाटवी-रणादिभिरन्यैश्चाप्यतीचारे सति ध्यानमवलम्ब्य कायमुत्सृज्यान्तर्मुहूर्त-दिवस-पक्ष-मासादिकालावस्थानं व्युत्सर्ग इत्युच्यते। (चा. सा. पृ. ६३; अन. ध. स्वो. टी. ५१ उद्.)। ७. व्युत्सर्गोऽन्तर्मुहूर्तादिकालं कायविसर्जनम्। सद्ध्यानं तन्मलोत्सर्ग-नद्याद्युत्तरणादिषु॥ (आचा. सा. ६-४५)। ८. व्युत्सर्गोऽनेषणीयादिषु त्यक्तेषु गमनागमन-सावद्य-स्वप्नदर्शन-नौसन्तरणोच्चार-प्रश्रवणेषु च विशिष्टप्रणिधानपूर्वकः काय-वाङ्मनोव्यापारत्यागः। (योगशा. स्वो. विव. ४-९०)। ९. व्युत्सर्गः कायचेष्टानिरोधोपयोगमात्रेण शुध्यति प्रायश्चित्तम्, यथा दुःस्वप्नप्रजनितं तद्व्युत्सर्गार्हत्वात् व्युत्सर्गः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १-५३)। १०. नियतकालं काय-वाङ्मनसां त्यागो व्युत्सर्गः। (भावप्रा. टी. ७८)। ११. स व्युत्सर्गो मलोत्सर्गाद्यतिचारेऽवलम्ब्य यत्। ध्यानमन्तर्मुहूर्तादिकायोत्सर्गेण या स्थितिः॥ (अन. ध. ७-५१)। १२. नियतकालं कायस्य वाचो मनसश्च त्यागो व्युत्सर्गम्। (त वृत्ति श्रुत. ९-२२; कार्तिके. टी. ४५१)।

२ काल के नियम से कायोत्सर्ग आदि करना, यह व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त का लक्षण है। ३ दुःस्वप्न आदि में जो कायोत्सर्ग किया जाता है; इसे व्युत्सर्ग कहते हैं। ६ दुःस्वप्न, दुर्विचार, मलत्याग, आगमविषयक अतीचार, नदी, महावन व युद्ध आदि तथा अन्य का अतिचार के होने पर ध्यान के आश्रय से आलम्बन लेकर अन्तर्मुहूर्त, दिन, पक्ष और मास आदि काल तक अवस्थित रहना; इसे व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त कहा जाता है।

व्युत्सर्गप्रतिमा—व्युत्सर्गप्रतिमा कायोत्सर्गकरणमेवेति। (स्थानां. अभय. वृ. ८४)।

कायोत्सर्ग करने का नाम ही व्युत्सर्गप्रतिमा है।

व्युत्सर्गशुद्धि—देखो प्रतिष्ठापनशुद्धि। चूर्णीकृत्य नखान् केशान् विश्लिष्यैकैकमुत्सृजेत्। अनुल्वलणमलेपं च क्ष्वेल-सिंहाणकादिकम्॥ वीक्ष्य पूर्वापरोर्ध्वाधःपार्श्वभागान् पुरोदिते। स्थाने प्रस्रवणोच्चारं वातं निःशब्दमुत्सृजेत्॥ पश्चाच्छुचिं प्रकुर्वीतेष्टकाविकृत्यादिभिः पुनः। स्यात्क्षालितासनकरः सौवीरोष्णजलादिभिः॥ जरा-रुजादितः कायं संन्यासेन त्यजेदिति। व्युत्सर्गशुद्धिः संशुद्धिं विधत्ते यमिनामियम्॥ (आचा. सा. ८, ७९-८२)।

नख और बालों को चूर्णित करके पृथक् करते हुए एक एक छोड़े, थूक व नासिका के मल को उल्वण व लेप से रहित अलग करे; आगे, पीछे, ऊपर, नीचे और पार्श्वभाग में देखकर निर्जन्तुस्थान में

मूत्र व मल का त्याग करे एवं शब्द के बिना वायु को छोड़े, पश्चात् ईंट के चूर्ण आदि से शुद्धि करे, तत्पश्चात् सौवीर (कांजी) या गरम जल आदि से आसन व हाथों को प्रक्षालित करे तथा वृद्धावस्था व रोग से पीड़ित शरीर को संन्यास के साथ छोड़े; यह सब व्युत्सर्गशुद्धि है। वह मुनिजनों की शुद्धि को करती है।

व्युत्सर्गसमिति—१. विजन्तुकधरापृष्ठे मूत्र-श्लेष्म-मलादिकम्। क्षिपतोऽतिप्रयत्नेन व्युत्सर्गसमितिर्भवेत् ॥ (ज्ञाना. १८, पृ. १९०)। २. कृष्ट-प्लुष्टादिदेशेऽगिच्छिद्रहीने घने च यः। व्युत्सर्गोऽङ्गमलादेः स्याद् व्युत्सर्गसमितिर्यतेः ॥ (आचा. सा. ५-१३३)।

१ जीव जन्तुओं से रहित पृथ्वी के ऊपर मूत्र, कफ और मल आदि को जो अतिशय प्रयत्न के साथ फेंका जाता है उसे व्युत्सर्गसमिति कहते हैं।

व्युत्सृष्टमरण— दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि त्यक्त्वा मरणं व्युत्सृष्टमरणम्। (भ. आ. मूला २५)।

दर्शन, ज्ञान और चारित्र को छोड़कर जो मरण होता है उसे व्युत्सृष्टमरण कहते हैं।

व्युपरतक्रियानिवृत्ति— १. अवितर्कमवीचारं ध्यानं व्युपरतक्रियम्। परं निरुद्धयोगं हि तच्छैलेश्यमपश्चिमम् ॥ (त. सा. ७-५४)। २. जोगविणासं किच्चा कम्मचउक्कस्स खवणकरणट्ठं। जं झायदि अजोगिजिणो णिक्किरियं तं चउत्थं च ॥ (कार्तिके. ४८७)। ३. विशेषेणोपरता निवृत्ता क्रिया यत्र तद् [व्युपरतं], व्युपरतक्रियं च तदनिवृत्ति चानिवर्तकं च तद् व्युपरतक्रियानिवृत्तिसंज्ञं चतुर्थं शुक्लध्यानम्। (बृ. द्रव्यसं. टी. ४८)।

१ जो ध्यान वितर्क व वीचार से रहित होता हुआ क्रिया से विहीन है, जिसमें योगों का निरोध हो चुका हो तथा जिसमें शैलेश (मेरु) के समान स्थिरता प्राप्त हो चुकी है (अथवा जिसके होते हुए समस्त शीलों का स्वामित्व प्राप्त हो चुका है) वह व्युपरतक्रिया नाम का अन्तिम (चौथा) शुक्लध्यान सर्वोत्कृष्ट है। २ योगों का विनाश करके जिस ध्यान को अयोगी जिन चार अघाति कर्मों के क्षय के लिए ध्याते हैं तथा जो क्रिया से रहित है उसे चौथा शुक्लध्यान माना गया है।

व्रत—१. हिंसानृत-स्तेयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्। (त. सू. ७-१)। २. अभिसंधिकृता विरतिः विषयाद्योग्याद् व्रतं भवति ॥ (रत्नक. ३-४०)। ३. व्रतिमभिसन्धिकृतो नियमः, इदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमिति वा। (स. सि. ७-१)। ४. व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः। बुद्धिपूर्वकपरिणामोऽभिसन्धिः, इदमेवेत्थमेव वा कर्तव्यमित्यन्यनिवृत्तिः नियमः, अभिसन्धिना कृतः अभिसन्धिकृतः सर्वत्र व्रतव्यपदेशभाग् भवति। (त. वा. ७, १, ३)। ५. हिंसालियचोज्जाब्बंभ-परिग्गहे विरदी वदं णाम। (धव. पु. ८, ८२); असंखेज्जगुणाए सेढीए कम्मणिज्जिरणहेदू वदं णाम। (धव. पु. ८, पृ. ८३)। ६. हिंसाया अनृतात् स्तेयाद् दारसंगात् परिग्रहात्। विरतेर्व्रतमुद्दिष्टं भावनाभिः समन्वितम् ॥ (पद्मपु. ११-३८)। ७. व्रतं नाम यावज्जीवं न हिनस्मि, नानृतं वदामि, नादत्तमाददे, न मैथुनकर्म करोमि, न परिग्रहमाददे इत्येवंभूत आत्मपरिणामः। (भ. आ. विजयो. ११८५)। ८. अभिसंधिकृतो नियमो व्रतमित्युच्यते। (चा. सा. पृ. ४)। ९. संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमो व्रतमुच्यते। प्रवृत्ति-विनिवृत्ती वा सदसत्कर्मसंभवे ॥ (उपासका. ३१६)। १०. निश्चयेन विशुद्धज्ञान-दर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्वभावनोत्पन्नसुख-सुधास्वाद-बलेन समस्तशुभाशुभरागादिविकल्पनिवृत्तिर्व्रतम्। व्यवहारेण तत्साधकं हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाच्च यावज्जीवनिवृत्तिलक्षणं पञ्चविधं व्रतम्। (बृ. द्रव्यसं. ३५)। ११. हिंसायामनृते स्तेये मैथुने च परिग्रहे। विरतिर्व्रतमित्युक्तं सर्वसत्त्वानुकम्पकैः ॥ (ज्ञाना. ६, पृ. ११०)। १२. हिंसाऽनृत-चुराब्रह्म-ग्रन्थेभ्यो विरतिर्व्रतम्। (अन. ध. ४-१९)। १३. संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमोऽशुभकर्मणः। निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा प्रवृत्तिः शुभकर्मणि ॥ (सा. ध. २-८०)। १४. व्रतं हिंसादिभ्योऽभिप्रायकृता विरतिः। (भ. आ. मूला. ६१)। १५. हिंसादिपंचपातकेभ्यो या विरतिः विरमणम् अभिसंधिकृतो नियमः व्रतमुच्यते, अथवा इदं मया कार्यमिदं मया न कार्यमिति व्रतं कथ्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७-१)। १६. सर्वसावद्ययोगस्य निवृत्तिर्व्रतमुच्यते। यो मृषादिपरित्यागः सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ॥ (लाटीसं. २-२); सर्वसावद्ययोगस्य निवृत्तिर्व्रतमुच्यते ॥ (लाटीसं. ४-२४९; पंचाध्या. २-७३५)। १७. हिंसादेविरतिः प्रोक्तं व्रतम् ××× । (जम्बू. च. १०-१११); ××× सर्वसङ्गपरि-

त्यागलक्षणं व्रतमग्रहीत् ॥ (जम्बू. च. १२-६६) ।

१ हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह, इनसे विरत होने का नाम व्रत है। २ योग्य विषय से जो अभिप्रायपूर्वक निवृत्ति होती है उसे व्रत कहते हैं। ४ यही करने योग्य है और इसी प्रकार से करने योग्य है, इस प्रकार से जो अन्य से बुद्धिपूर्वक निवृत्त होना है, इसे व्रत कहा जाता है।

व्रतारोपणार्ह—१. अचेलतायां स्थितः उद्देशिक-राजपिण्डपरिहरणोद्यतः गुरुभक्तिकृद् विनीतो व्रतारोपणार्हो भवति। उक्तं च—आचेलक्के य ठिदो उद्देसादी य परिहरदि दोसे। गुरुभत्तिको विणीओ होदि वदाणं सदा अरिहो ॥ (भ. आ. विजयो. ४२१)। २. अचेलतायां हि स्थित उद्देशिकादिपिण्डत्यागोद्यतो गुरुभक्तिमान् विनीतश्च व्रतारोपणयोग्यः स्यात्। (भ. आ. मूला. ४२१)।

१ जो अचेलता (निर्वस्त्रता) में स्थित है, उद्देशिक और राजपिण्ड के परित्याग में उद्यत है, गुरुभक्ति को करने वाला है और विनम्र है वह व्रतारोपण के योग्य होता है।

व्रतिक—१. निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि। धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः ॥ (रत्नक. ५-१७)। २. पञ्चाणुव्वय जो धरइ, णिम्मलगुणवय तिण्णि। सिक्खावयइं चत्तारि जसु सो बीयउ भणि भणिम ॥ (सावयध. ११)। ३. व्रतिको निःशल्यः पञ्चाणुव्रत-रात्रिभोजनविरमण-शीलसप्तकं निरतिचारेण यः पालयति सः भवति। (चा. सा. पृ. ४)। ४. पंचाणुव्वयधारी गुणवय-सिक्खावएहिं संजुत्तो। दिढचित्तो समजुत्तो णाणी वयसावओ होदि ॥ (कार्तिके. ३३०)। ५. विभूषणानीव दधाति धीरो व्रतानि यः सर्वसुखाकराणि। आक्रन्दमीशानि पवित्रलक्ष्मीं तं वर्णयन्ते व्रतिनं वरिष्ठाः ॥ (अमित. श्रा. ७, ६८)। ६. पंचेव अणुव्वयाइं गुणव्वयाइं होंति पुण तिण्णि। सिक्खावयाणि चत्तारि जाण विदियम्मि ठाणम्मि ॥ (वसु श्रा. २०७)। ७. सम्पूर्णदृग्मूलगुणो निःशल्यः साम्यकाम्यया। धारयन्नुत्तरगुणानक्षूणान् व्रतिको भवेत् ॥ (सा. ध. ४-१)। ८. अणुव्रतानि पचैव सप्तशीलगुणैः सह। प्रपालयति निःशल्यः भवेद् व्रतिको गृही ॥ (भावसं. वाम. ५३१)। ९. सद्दृग्मूलगुणः साम्यकाम्यया शल्यवर्जितः। पालयन्नुत्तरगुणान् निर्मलान् व्रतिको भवेत् ॥ (धर्मसं. श्रा. ६-१); पञ्चाणुव्रतपुष्ट्यर्थं पाति यः सप्तशीलकम्। व्यतीचारं सदृष्टिः स व्रतिकः श्रावको भवेत् ॥ (धर्मसं. श्रा. ७-१३०)। १०. अणुव्रतानि यः पाति शीलसप्तकमव्ययी। व्रतिकः प्रोच्यते विद्भिः सप्तव्यसनवर्जितः ॥ (उपासका. ३६)। ११. उक्ता सल्लेखनोपेता द्वादशव्रतभावनाः। एताभिर्व्रतप्रतिमा पूर्णतां याति सुस्थिता ॥ (लाटीसं. ६-२४६)।

१ जो माया, मिथ्या और निदान इन तीन शल्यों से रहित होकर निरतिचार पांच अणुव्रतों और सात शीलों (३ गुणव्रतों व ४ शिक्षाव्रतों) को धारण करता है वह व्रतिक—दूसरी प्रतिमा का धारक होता है।

व्रती—१. निःशल्यो व्रती। (त. सू. ७-१८)। २. व्रतानि अहिंसादीनि, तद्वन्तो व्रतिनः। (स. सि. ६-१२)। ३. व्रताभिसम्बन्धिनो व्रतिनः। व्रतानि ××× अहिंसादीनि, तदभिसम्बन्धिनो ये ते व्रतिनः। (त. वा. ६, १२, २)। ४. माया-निदान-मिथ्यात्वशल्याभावविशेषतः। अहिंसादिव्रतोपेतो व्रतीति व्यपदिश्यते ॥ (त. सा. ४-७८)। ५. दुरन्तासारसंसारजनितामातमन्ततः। यो भीतोऽणुव्रतं याति व्रतिनं तं विदुर्बुधाः ॥ (सुभा. सं. ८३४)। ६. यो व्रतानि हृदये महामना निर्मलानि विदधाति सर्वदा। दुर्लभानि भुवने धनानि वा स व्रती व्रतिभिरीरितः सुधीः ॥ (धर्मसं. श्रा. २-५४)।

१ जो अहिंसादि व्रतों से सहित होते हैं वे व्रती कहलाते हैं। ४ जो माया, मिथ्या और निदान इन तीन शल्यों से रहित होता हुआ अहिंसा आदि व्रतों से विभूषित होता है उसे व्रती कहा जाता है।

शकट—लोहेण बद्धणेमि-तुंब-महाचक्का लोहबद्धछुहयपेरंता लोणादीणं गरुअभरुव्वहणक्खमा सयडा णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३८)।

जिसकी धुरा, तुम्ब और विशाल चाक लोहे से सम्बद्ध होते हैं तथा जिसका छुहय पर्यन्त (?) लोहे से बंधा होता है और जो भारी बोझ के ले जाने में समर्थ होती है उसका नाम शकट (गाड़ी) है।

शकटजीविका—देखो अनोजीविका। शकटानां तदगानां घट्टनं खेटनं तथा। विक्रयश्चेति शकटजीविका परिकीर्तिता ॥ (त्रि. श. पु. च. १, ३,

३३८; योगशा. ३-१०४)।
गाड़ी और उसके अंगभूत चाक आदि का बनाना, उन्हें चलाना तथा बेचना इसे शकटजीविका कहा जाता है। वह हिंसा जनक होने से हेय मानी गई है।

शकटीकर्म—देखो शकटजीविका। सागडीकम्मं सागडीयत्तणेण जीवति, तत्थ वंध-वधमाई दोषाः। (आव. अ. ६, पृ. ८२६)।
गाड़ी चलाकर उसके द्वारा आजीविका के करने को शकटीकर्म कहा जाता है।

शकटोद्धिकादोष—पार्ष्णी मीलयित्वाऽग्रचरणौ विस्तार्य, अङ्गुष्ठौ वा मीलयित्वा पार्ष्णी विस्तार्य स्थानं शकटोद्धिकादोषः। (योगशा. ३-१३०)।
दोनों एड़ियों को मिलाकर व आगे के पांवों को फैला करके स्थित होना अथवा दोनों अंगूठों को मिलाकर व एड़ियों को फैला करके स्थित होना यह एक शकटोद्धिका नामक कायोत्सर्ग का दोष है।

शक्ति—अन्तरायविनाशाद् वीर्यलब्धिः शक्तिः। (युक्त्यनु. टी. ४); शक्तिः सामर्थ्यं परमागमान्विता युक्तिः। (युक्त्यनु. टी. ५)।
अन्तराय के विनाश से जो वीर्य की प्राप्ति होती है उसे शक्ति कहते हैं। परमागम से युक्त युक्तिरूप सामर्थ्य को भी प्रसंगानुसार शक्ति कहा गया है।

शक्तितस्तप—१. अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधिकायक्लेशस्तपः। शरीरमिदं दुःखकारणमनित्यमशुचि, नास्य यथेष्टभोगविधिना परिपोषो युक्तः, अशुच्यपीदं गुण-रत्नसंचयोपकारीति विचिन्त्य विनिवृत्तविषयसुखाभिष्वङ्गस्य स्वकार्यं प्रत्येतद् भृतकमिव नियुञ्जानस्य यथाशक्ति मार्गाविरोधिकायक्लेशानुष्ठानं तप इति निश्चीयते। (त. वा. ६, २४, ७)। २. अनिगूहितवीर्यस्य सम्यग्मार्गाविरोधतः। कायक्लेशः समाख्यातं विशुद्धं शक्तितस्तपः॥ (त. श्लो. ६, २४, ६)। ३. शरीरमिदं दुःखकारणमनित्यमशुचि, नास्य यथेष्टं भोगविधिना परिपोषो युक्तः, अशुच्यपीदं गुण-रत्नसंचयोपकारीति विचिन्त्य विनिवृत्तविषयसुखाभिष्वगस्य कार्यं प्रत्येतद् भृतक मिवनियुञ्जानस्य यथाशक्ति मार्गाविरोधकायक्लेशानुष्ठानं तपः। (चा. सा. पृ. २५)।
१ यह शरीर दुःख का कारण, अनित्य और अपवित्र है; अभीष्ट भोगों के द्वारा इसको पुष्ट करना योग्य नहीं है; अपवित्र होकर भी वह गुण रूप रत्नों के संचित करने में उपकारी है; यह विचार करके विषयसुख में आसक्त न होकर उसका उपयोग दास के समान करना—जिस प्रकार केवल कार्य के सम्पादनार्थ सेवक को भोजन अथवा वेतन आदि दिया जाता है उसी प्रकार रत्नत्रयादि गुणों के प्राप्त करने के लिए यथायोग्य उस शरीर का पोषण करना—तथा शक्ति के अनुरूप आगमानुसार कायक्लेश करना, यह शक्तितस्तप कहलाता है।

शक्तितस्त्याग—१. परप्रीतिकरणातिसर्जनं त्यागः। आहारो दत्तः पात्राय तस्मिन्नहनि तत्प्रीतिहेतुर्भवति, अभयदानमुपपादितमेकभवव्यसननोदनकरम्, सम्यग्ज्ञानदानं पुनः अनेकभवशतसहस्रदुःखोत्तारकारणम्, अत एतत्त्रिविधं यथाविधि प्रतिपाद्यमानं त्यागव्यपदेशभाग्भवति। (त. वा. ६, २४, ६)। २. शक्तितस्त्याग उद्गीतः प्रीत्या स्वस्यातिसर्जनम्। नात्मपीडाकरं नापि सम्पद्यनतिसर्जनम्॥ (त. श्लो. ६, २४, ८)। ३. आहारो दत्तः पात्राय तस्मिन्नहनि तत्प्रीतिहेतुर्भवति, अभयदानमुपपादितमेकभवव्यसननोदनकरम्, सम्यग्ज्ञानदानं पुनरनेकभवशतसहस्रदुःखोत्तारणकारणम्, अतस्त्रिविधाहाराभय-ज्ञानदानभेदेन यथाविधि प्रतिपाद्यमानं त्यागः। (चा. सा. पृ. २५)।
१ पात्रके लिए दिया गया आहार उसी दिन में उसकी प्रीति का कारण होता है, अभयदान एक भव की आपत्तियों को दूर करने वाला है; सम्यग्ज्ञान का दान हजारों भवों के दुःखों से मुक्त कराने वाला है; इस कारण विधिपूर्वक इस तीन प्रकार के दान को देना, इसे शक्तितस्त्याग कहा जाता है।

शकुनि—शकुनिः उत्कटवेदोदयः सप्तधातुक्षयेऽपि यस्य कामोद्गमो न क्षीयते। (आचा. दि. पृ. ७४)।
तीव्र वेद के उदयवश जिसके काम का आविर्भाव सात धातुओं के क्षय में भी क्षीण नहीं होता है उसे शकुनि कहा जाता है।

शक्तुक्षेत्र—शक्तुक्षेत्रं यत्र यवा बाहुल्येन समुत्पद्यन्ते सक्तवः संततमुपभुज्यन्ते। (प्राय. स. वि. ४, १३६)।
जिस स्थान में जौ बहुतायत से होते हैं तथा वे उपभोग में हो आते हैं उसे शक्तुक्षेत्र कहते हैं।

शङ्का—१. अधिगतजीवाजीवादितत्त्वस्यापि भग-

वतः शासनं भावतोऽभिप्रपन्नस्यासंहार्यमतेः सम्यग्दृष्टेरर्हत्प्रोक्तेषु अत्यन्तसूक्ष्मेष्वतीन्द्रियेषु केवलागमगम्येष्वर्थेषु यः सन्देहो भवत्येव [वं] स्यादिति सा शङ्का। (त. भा. ७-१८)। २. संशयकरणं शङ्का, भगवदर्हत्प्रणीतेषु पदार्थेषु धर्मास्तिकायादिष्वत्यन्तगहनेषु मतिदौर्बल्यात् सम्यगनवधार्यमाणेषु संशय इत्यर्थः। (श्रा. प्र. टी. ८७)। ३. तत्र शङ्कनं शंका, भगवदर्हत्प्रणीतेषु पदार्थेषु धर्मास्तिकायादिष्वत्यन्तगहनेषु मतिदौर्बल्यात् सम्यगनवधार्यमाणेषु संशय इत्यर्थः, किमेवं स्यात् नैवमिति संशयकरणं शङ्का। (आव. अ. ६, पृ. ८१४)। ४. संसयकारणं संका ××× । (जीतक. चू. पृ. १३)। ५. शङ्कनं शङ्कितं शङ्का। (व्यव. भा. मलय. वृ. ६४, पृ. २६)। ६. विश्वं विश्वविदाज्ञयाभ्युपयतः शङ्कास्तमोहोदयाज्ज्ञानावृत्युदयान्मतिः प्रवचने दोलायिता संशयः। दृष्टिं निश्चयमाश्रितां मलिनयेत् सा नाहिरज्ज्वादिगा या मोहोदयसंशयात्तदरुचिः स्यात् सा तु संशीतिदृक्॥ (अन. ध. २-७१)। ७. शंका सन्देहः सर्वज्ञस्तत्प्रतिपादिताश्चार्था सन्ति न सन्तीति वा। (चारित्रप्र. ३, पृ. १८७)। ८. नैर्ग्रन्थ्यं मोक्षमार्गोऽयं तत्त्वं जीवादिदेशितम्। को वेत्तीत्थं भवेन्नो वा भावः शङ्केति कथ्यते॥ (धर्मसं. श्रा. ४-४५)।

१ जीवाजीवादि तत्त्वों के ज्ञाता भगवान् वर्धमान जिनेन्द्र के मत को भाव से स्वीकार करके व उस पर श्रद्धा रखते हुए सम्यग्दृष्टि के जिनोपदिष्ट अतिशय सूक्ष्म केवलज्ञानगम्य व आगमगम्य ऐसे अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में जो यह सन्देह होता है कि ऐसा होगा या नहीं, यह सम्यग्दर्शन को मलिन करने वाला एक शंका नाम का अतिचार है। ७ सर्वज्ञ और उसके द्वारा उपदिष्ट पदार्थ हैं अथवा नहीं हैं, इस प्रकार का जो सन्देह होता है इसे शंका कहा जाता है।

शङ्कित—१. असणं च पाणयं वा खादीयमध सादियं च अज्झप्पे। कप्पियमकप्पियत्ति य संदिद्धं संकियं जाणे॥ (मूला. ६-४४)। २. किमियं योग्या वसतिर्नेति शङ्किता। (भ. आ. विजयो. ३-२३०)। ३. शंकितं शंकितं सेव्यमेतदन्नं न वेति यत्। (आचा. सा. ८-४६)। ४. आधाकर्मकादिशङ्काकलुषितो यदन्नाद्यादत्ते तच्छंकितं यं च दोषं शङ्कते तमापद्यते। (योगशा. स्वो. विव. १-३८, पृ. १३६)। ५. संदिग्धं किमिदं भोज्यमुक्तं नो वेति शङ्कितम्। (अन. ध. ५-२९)। ६. किमियं योग्या वसतिर्न वेति शंकिता। (भ. आ. मूला. २३०)। ७. एतदन्नं सेव्यमसेव्यं वेति शङ्कितम्। (भावप्रा टी. ९८)।

१ अमुक अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य पदार्थ आगमानुसार ग्रहण करने योग्य है या नहीं, इस प्रकार के सन्देह के रहते हुए यदि उसे ग्रहण किया जाता है तो उससे शंकित नाम का अशनदोष होता है। ४ आधाकर्म आदि की शंका से उत्पन्न मलिनता से युक्त साधु जिस अन्न को ग्रहण करता है वह शंकित दोष से दूषित होता है।

शङ्खनिधि—देखो पाण्डुनिधि। १. काल-महाकाल पंडू माणव संखा य पउम-णइसप्पा। पिंगल णाणारयणो णवणिहिणो सिरिपुरे जादा॥ उडुजोग्गदव्व-भायण-धण्णायुह-तूर-वत्थ-हम्माणि। आभरणरयणणियरा णवणिहिणो देंति पत्तेयं॥ (ति. प. ४, १३८४ व १३८६)। २. णट्टविही णाडगविही कव्वस्स य चउव्विहस्स उप्पत्ती। संखे महाणिहिम्मी तुडिअंगाणं च सव्वेसिं॥ (जम्बूद्वी. ३-६६, पृ. २५७)। ३. चतुर्धाकाव्यनिष्पत्तिर्नाट्य-नाटकयोर्विधेः। तूर्याणामखिलानां चोत्पत्तिः शंखान्महानिधेः॥ (त्रि. श. पु. च. १, ४, ५८२)।

१ जो निधि सब प्रकार के वाद्यों को दिया करती है उसे शङ्खनिधि कहा जाता है। २ शंखनिधि में नृत्य की विधि, नाटक की विधि, धर्मादि चार प्रकार के पुरुषार्थ से सम्बद्ध अथवा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और संकीर्ण (शौरसेनी) इन चार भाषाओं में निबद्ध चार प्रकार के काव्यों (गद्य, पद्य, गेय व चौर्ण) की उत्पत्ति तथा सब वाद्यों की उत्पत्ति कही गई है।

शङ्खावर्तयोनि—१. तत्थ य संखावत्ते णियमा दु विवज्जए गब्भो॥ (मूला. १२-६१; गो. जी. ८१)। २. तेसुं संखावत्ता गब्भेण विवज्जिदा होदि॥ (ति. प. ४, २९५१)। ३. शंख इव आवर्तो यस्य [स्याः सा] शंखावर्तका योनिः। (मूला. वृ. १२, ६१)।

१ शंख के समान घुमाव वाली जिस योनि में गर्भ नहीं रहता उसे शंखावर्तयोनि कहा जाता है।

शठवन्दन—१. वीसंभट्ठाणमिणं सब्भावजढे सढं हवइ एअं। कवडंति कइयवंति य सढयावि हुंति एगट्ठा॥ (प्रव. सारो. १६७)। २. विस्रम्भो विश्वासः, तस्य स्थानमिदं वन्दनकम्, एतस्मिन् यथावद्दीयमाने श्रावकादयो विश्वसन्तीत्यर्थः, इत्यभिप्रायेणैव सद्भावजडे सद्भावरहितेऽन्तर्भावशून्ये वन्दमाने शिष्ये शठमेतद् वन्दनकं भवतीति। (आव. हरि. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ८६; प्रव. सारो. वृ. १६७)। ३. शठं शाठ्येन विश्रम्भार्थं वन्दनं ग्लानादि व्यपदेशं वा कृत्वा न सम्यग्वन्दनम्। (योगशा. स्वो. विव. ३-१३०)।

१ मेरे यथाविधि वन्दना करने पर श्रावक आदि मेरे ऊपर विश्वास करेंगे, इस अभिप्राय से वन्दना को विश्वास का स्थान मानकर छल से जो वन्दना की जाती है उसे शठवन्दन कहा जाता है। कपट, कैतव और शठता ये समानार्थक हैं।

शतपृथक्त्व—तिस्सदप्पहुडि जाव णवसदाणि त्ति एदे सव्ववियप्पा सदपुधत्तमिदि वुच्चंति। (धव. पु. ७, पृ. १५७)।

तीन सौ से लेकर नौ सौ तक जितने विकल्प हैं वे सब शतपृथक्त्व के अन्तर्गत हैं।

शत्रु—नास्त्यविवेकात्परः प्राणिनां शत्रुः। (नीतिवा. १०-४५, पृ. १२१)।

प्राणियों का शत्रु विवेकशून्यता है, उसको छोड़ अन्य कोई शत्रु नहीं है।

शनैश्चरसंवत्सर—शनैश्चरनिष्पादितः संवत्सरः शनैश्चरसंवत्सरः शनैश्चरसम्भवः। (सूर्यप्र. सू. मलय. वृ. १०-२०, पृ. १५४)।

शनैश्चर ग्रह से सम्भव वर्ष का नाम शनैश्चरसंवत्सर है।

शबरवधूदोष—१. शबरवधूरिव जंघाभ्यां जघनं निपीड्य कायोत्सर्गेण तिष्ठति तस्य शबरवधूदोषः। (मूला. वृ. ७-१७१)। २. हस्तौ गुह्यदेशे स्थापयित्वा शबर्या इव स्थानं शबरीदोषः। (योगशा. स्वो. विव. ३-१३९)। ३. गुह्यं कराभ्यामावृत्य शबरीवच्छबर्यपि। (अन. ध. ८-११४)।

१ भील स्त्री के समान जंघाओं से जघनों को पीड़ित कर कायोत्सर्ग में स्थित होने पर वह शबरवधू (शबरी) नामक दोष से मलिन होता है। २ दोनों हाथों को गुह्य प्रदेशों (जननेन्द्रिय) पर रखकर कायोत्सर्ग में स्थित होना, यह एक कायोत्सर्ग का शबरी नामक छठवां दोष है।

शबरीदोष—देखो शबरवधूदोष।

शबल—शबलं कर्बुरं चारित्रं यैः क्रियाविशेषैर्भवति ते शबलाः, तद्योगात् साधवोऽपि। (समवा. वृ. २१)।

शबल नाम कर्बुर—मिश्रित अनेक रंगों का है, जिन विविध प्रवृत्तियों से चारित्र चित्र-विचित्र होता है उन्हें शबल कहा जाता है तथा उनके सम्बन्ध से वैसा आचरण करने वाले साधुओं को भी शबल कहा जाता है।

शब्द—१. शपत्यर्थमाह्वयति प्रत्याययति, शप्यते येन, शपनमात्रं वा शब्दः। (त. वा. ५, २४, १)। २. बाह्यश्रवणेन्द्रियावलम्बितो भावेन्द्रियपरिच्छेद्यो ध्वनिः शब्दः। (पंचा. का. अमृत. वृ. ७९)। ३. शब्दः श्रवणेन्द्रियगोचरो भावः। (सिद्धिवि. वृ. ६, २, पृ. ५६४)। ४. शब्द्यते अभिधीयते अनेनेति शब्दो ध्वनिः श्रोत्रेन्द्रियविषयः। (स्थानां. अभय. वृ. ४७); शब्द्यते अभिधीयतेऽभिधेयमनेनेति शब्दो वाचको ध्वनिः। ××× शब्दनमभिधानम्, शब्द्यते वा यः, शब्द्यते वा येन वस्तु स शब्दः, तदभिधेयविमर्शपरो नयोऽपि शब्द एवेति। (स्थानां. अभय. वृ. १८६)। ५. शब्दो वर्ण-पद-वाक्यात्मको ध्वनिः। (लघीय. अभय. वृ. १६, पृ. ६६)।

१ जो अर्थ को बुलवाता है—जतलाता है, जिसके द्वारा पदार्थ का ज्ञान कराया जाता है उसे अथवा उच्चारण मात्र को शब्द कहते हैं। इस प्रकार यहां कर्ता, करण और भाव की अपेक्षा शब्द का निरुक्त्यर्थ प्रगट किया गया है। २ जो बाह्य श्रोत्रेन्द्रिय के आश्रित है तथा भाव श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा जाना जाता है उसका नाम शब्द है। ४ श्रोत्रेन्द्रिय की विषयभूत ध्वनि को शब्द कहा जाता है।

शब्ददोष—१. शब्दं कुर्वाणो यो वन्दनादिकं करोति मौनं परित्यज्य तस्य शब्ददोषः। (मूला. वृ. ७, १०८)। २. शब्दो जल्पक्रिया ×××। (अन. ध. ८-१०६)।

१ जो मौन को छोड़कर शब्द करता हुआ वन्दना आदि करता है उसके शब्ददोष होता है। यह वन्दना का दोष है।

शब्दनय—१. इच्छइ विसेसिययरं पच्चुप्पण्णो नओ सद्दो। (आव. नि. ७५७)। २. लिङ्ग-संख्या-साधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः शब्दनयः। (स. सि. १-३३)। ३. सः (शब्दः) च लिङ्ग-संख्या-साधनादिनिवृत्ति परः। लिङ्गं स्त्रीत्व-पुंस्त्व-नपुंसकत्वानि, संख्या एकत्व-द्वित्व-बहुत्वानि, साधनमस्मदादि, एवमादीनां व्यभिचारो न न्याय्य इति तन्निवृत्तिपरोऽयं नयः। (त. वा. १, ३३, ९)। ४. काल-कारक-लिङ्गानां भेदाच्छब्दोऽर्थभेदकृत्। (लघीय. ४४)। ५. काल-कारक-लिङ्गभेदात् शब्दः अर्थभेदकृत्। (लघीय. स्वो. वृ. ७२)। ६. शब्दो लिङ्गादिभेदेन वस्तुभेदं समुद्दिशन्। (प्रमाणसं. ७)। ७. शब्दपृष्ठतोऽर्थग्रहणप्रवणः शब्दनयः। (धव. पु. १, पृ. ८६-८७); शपत्यर्थमाह्वयति प्रत्याययतीति शब्दः। अयं नयः लिङ्ग-संख्या-काल-कारक-पुरुषोपग्रहव्यभिचारनिवृत्तिपरः। (धव. पु. ९, पृ. १७६; जयध. १, पृ. २३५)। ८. कालादिभेदतोऽर्थस्य भेदं यः प्रतिपादयेत्। सोऽत्र शब्दनयः शब्दप्रधानत्वादुदाहृतः॥ (त. श्लो. १, ३३, ६८)। ९. लिंग-साधन-संख्यान-कालोपग्रहसंकरम्। यथार्थशब्दनाच्छब्दो न वष्टि ध्वनितन्त्रकः॥ (ह. पु. ५८, ४७)। १०. लिङ्ग-साधन-संख्यानां कालोपग्रहयोस्तथा। व्यभिचारनिवृत्तिः स्यायतः शब्दनयो हि सः॥ (त. सा. १-४८)। ११. सव्वेसिं वत्थूणं संखा-लिंगादिबहुपयारेहिं। जो साहदि णाणत्तं सद्दणयं तं वियाणेह॥ (कार्तिके. २७५)। १२. शब्दद्वारेणैवास्यार्थप्रतीत्यभ्युपगमाल्लिङ्ग-वचन- साधनोपग्रह-कालभेदाभिहितं वस्तु भिन्नमेवेच्छति। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २-७, पृ. ११८)। १३. काल-कारक-लिङ्ग-संख्या-साधनोपग्रहभेदाद्भिन्नमर्थं शपतीति शब्दो नयः, शब्दप्रधानत्वात्। (प्र. क. मा. ६-७४, पृ. ६७८)। १४. भेदैः शब्दार्थभेदं नयन् स वाच्यः कारकादिस्वभावैः। (सिद्धिवि. ११-३१, पृ. ७३६)। १५. काल-कारक-लिङ्गानां भेदाच्छब्दस्य कथञ्चिदर्थभेदकथनं शब्दनयः। (प्रमेयर. ६-७४)। १६. यथार्थप्रयोगसंशब्दनाच्छब्दोऽर्थभेदकृत्, काल-कारक-लिङ्गानां भेदात्। (मूला. वृ. ९-६७)। १७. शब्दनमभिधानम्, शब्द्यते वा यः, शब्द्यते वा येन वस्तु स शब्दः। तदभिधेयविमर्शपरो नयोऽपि शब्द एवेति, स च भावनिक्षेपरूपं वर्तमानमभिन्नलिङ्गवाचकं बहुपर्यायमपि च वस्त्वभ्युपगच्छतीति। (स्थाना. अभय. वृ. १८६)। १८ जो वट्टणं ण मण्णइ एयत्थे भिण्णलिंगमाईणं। सो सद्दणओ भणिओ णेओ पुस्साइआण जहा॥ अहवा सिद्धे सद्दे कीरइ जं किंपि अत्थववहारं। तं खलु सद्दे विसयं देवो सद्देण जह देवो॥ (ल. नयच. ४०-४१; द्रव्यस्व. प्र. नयच. २१२, २१३)। १९. काल-कारक-लिङ्गादिभेदादर्थभेदकृच्छब्दनयः। (लघीय. अभय. वृ. ७२, पृ. ९२)। २०. शब्दाद् व्याकरणात्प्रकृति-प्रत्ययद्वारेण सिद्धः शब्दः (कार्ति. 'सिद्धशब्दः शब्दनयः' × × ×) लिंग-संख्या-साधनादीनां व्यभिचारस्य निषेधपरः, लिंगादीनां व्यभिचारे दोषो नास्तीत्यभिप्रायपरः शब्दनय उच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. १-३३; कार्तिके. टी. २७५)।

१ जो नय विशेषिततर नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेप की अपेक्षा न करके समान लिंग व समान-वचन रूप पर्याय शब्द के वाच्यभूत प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) अर्थ को ग्रहण करता है उसे शब्दनय कहते हैं। २ जो नय लिंग, संख्या और साधन आदि के व्यभिचार को दूर करके शब्दार्थ को ग्रहण करता है वह शब्दनय कहलाता है।

शब्दनयाभास—अर्थभेदं विना शब्दानामेव नानात्वैकान्तस्तदाभासः। (प्रमेयर. ६-७४)।

अर्थभेद के बिना केवल शब्दों के ही सर्वथा नानात्व को स्वीकार करना, यह शब्दनयाभास का लक्षण है।

शब्दश्रावण—देखो शब्दानुपात।

शब्दसमय—१. पञ्चानामस्तिकायानां समो मध्यस्थो राग-द्वेषाभ्यामनुपहतो वर्ण-पद-वाक्यसन्निवेशविशिष्टः पाठो वादः शब्दसमयः शब्दागमः। (पंचा. का. अमृत. वृ. ३)। २. पञ्चानां जीवाद्यस्तिकायानां प्रतिपादको वर्ण पद-वाक्यरूपो वादः पाठः शब्दसमयो द्रव्यागम इति यावत्। (पंचा. का. जय. वृ. ३)।

१ जीवादि पांच अस्तिकायों के विषय में सम या मध्यस्थ—रागद्वेष से रहित—होकर जो वर्ण, पद व वाक्य की रचना से विशिष्ट पाठ होता है उसे वाद, शब्दसमय अथवा शब्दागम कहा जाता है।

शब्दाकुल—देखो शब्दाकुलितदोष।

शब्दाकुलित दोष—१. इय अव्वत्तं जइ सावेंतो दोसे कहेइ सगुरूणं। आलोचणाए दोसो सत्तमओ सो गुरुसयासे ॥ (भ. आ. ५९१)। २. पाक्षिक-चातुर्मासिक-सांवत्सरिकेषु कर्मसु महति यतिसमवाये आलोचनशब्दाकुले पूर्वदोषकथनं सप्तमः (चा. सा. 'सप्तमः शब्दाकुलितदोषः')। (त. वा. ९, २२, २; चा. सा. पृ. ६१)। ३. बहुयतिजनालोचनाशब्दाकुले स्वदोषनिवेदनम्। (त. श्लो. ९-२२)। ४. शब्दाकुलितं पाक्षिक-चातुर्मासिक-सांवत्सरिकादिप्रतिक्रमणकाले बहुजनशब्दसमाकुले आत्मीयापराधं निवेदयति तस्य सप्तमं शब्दाकुलं नामालोचनादोषजातम्। (मूला. वृ. ११-१५)। ५. व्रतिव्रातघनध्वाने स्वदोषपरिकीर्तनम्। लज्जाद्यैः पाक्षिकादौ यत्तच्छब्दाकुलितं मतम् ॥ (आचा. सा. ६-३४)। ६. शब्दाकुलं बृहच्छब्दं यथा भवत्येवमालोचयति, इदम् उक्तं भवति—महता शब्देन तथालोचयति यथाऽन्येऽप्यगीतार्थादयः शृण्वन्तीत्येषः सप्तमः (शब्दाकुलितः) आलोचनादोषः। (व्यव. भा. मलय. वृ. ३४२, पृ. १६)। ७. शब्दाकुलं गुरोः स्वागःशब्दनं शब्दसंकुले। (अन. ध. ७-४२)। ८. यदा वसतिकादौ कोलाहलो भवति तदा पापं प्रकाशयतीति शब्दाकुलदोषः। (भावप्रा. टी. ११८)।

१ यदि आलोचना करने वाला साधु अव्यक्त रूप से गुरुजन के समक्ष अपने दोषों को सुनाता हुआ कहता है तो इस प्रकार से आलोचना का सातवां (शब्दाकुल या शब्दाकुलित दोष) होता है। २ पाक्षिक, चातुर्मासिक अथवा वार्षिक प्रतिक्रमण के समय में जब बहुत से साधुजन एकत्रित होते हैं व स्थान आलोचना के शब्द से व्याप्त होता है तब ऐसे समय में पूर्व दोषों के कहने पर वह आलोचना सातवें शब्दाकुलित नाम के दोष से दूषित होती है। ६ महान् शब्द के साथ इस प्रकार से आलोचना करना कि जिससे अन्य अगीतार्थ (विशेष आगमज्ञान से रहित) जन सुन सकें, यह आलोचना का शब्दाकुल या शब्दाकुलित नामक सातवां दोष है।

शब्दागम—देखो शब्दसमय।

शब्दानुपात—१. व्यापारकरान् पुरुषान् प्रत्यभ्युत्कासिकादिकरणं शब्दानुपातः। (स. सि. ७-३१; चा. सा. पृ. ६)। २. अभ्युत्कासिकादिकरणं शब्दानुपातः। व्यापारकरान् पुरुषान् उद्दिश्याभ्युत्कासिकादि करणं शब्दानुपातः शब्द्यते। (त. वा. ७, ३१, ३)। ३. शब्दानुपातः स्वगृहवृत्ति- [ति-] प्राकारकादिव्यवच्छिन्नभूदेशाभिग्रहेऽपि बहिः प्रयोजनोत्पत्तौ तत्र स्वयं गमनायोगात् वृत्ति-[ति-] प्राकारप्रत्यासन्नवर्तिनो बुद्धिपूर्वकं क्षुत्-कासितादि-शब्दकरणेन समवासितकान् बोधयतः शब्दस्यानुपातनम् उच्चारणं तादृग् येन परकीयश्रवणविवरमनुपतत्यसाविति। (आव. नि. हरि. वृ. अ. ६, पृ. ८३५)। ४. अभ्युत्कासिकादिकरणं शब्दानुपातः। (त. श्लो. ७-३१)। ५. मर्यादीकृतदेशाद् बहिर्व्यापारं कुर्वतः कर्मकरान् प्रति खातकरणादिः शब्दः। (रत्नक. टी. ४-६)। ६ तत्र स्वगृहवृत्ति-[ति-]प्राकारादिव्यवच्छिन्नभूदेशाभिग्रहः प्रयोजने उत्पन्ने स्वयमगमनाद् वृत्ति-[ति-] प्राकारप्रत्यासन्नवर्ती भूत्वा अभ्युत्कासितादिशब्दं करोति, आह्वानीयानां श्रोत्रेऽनुपातयति, ते च तच्छब्दश्रवणात्तत्समीपमागच्छन्ति इति शब्दानुपातोऽतिचारः। (योगशा. स्वो. विव. ३-११७)। ७. शब्दश्रावणं शब्दस्याभ्युत्कशिकादेः श्रावणमाह्वानीयानां श्रोत्रेऽनुपातनं शब्दानुपातनं नामातिचारमित्यर्थः। (सा. ध. स्वो. टी. ५-२७)। ८. शब्दानुपातनामापि दोषोऽतीचारसंज्ञकः। संदेशकरणं दूरे तद्-व्यापारकरान् प्रति ॥ (लाटीसं. ६-१३१)। ९. निषिद्धदेशास्थितान् कर्मकरादीन् पुरुषान् प्रत्युद्दिश्य अभ्युत्कासिकादिकरणं कण्ठमध्ये कुत्सितशब्दः कासनं कासः अभ्युत्कासिका कथ्यते, तं शब्दं श्रुत्वा ते कर्मकरादयः व्यापारं शीघ्रं साधयन्ति इति शब्दानुपातः। (त. वृत्ति श्रुत. ७-३१)।

१ मर्यादित क्षेत्र के बाहिर व्यापार करने वाले पुरुषों को लक्ष्य करके खांसने आदि का शब्द करने पर देशावकाशिक व्रत को मलिन करने वाला शब्दानुपात नाम का अतिचार होता है।

शम—१. चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो। मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ (प्र. सा. १-७)। २. क्रोधादिशान्तिः शमः। (युक्त्यनु. टी. ३८)। ३. शमः प्रशमः क्रूराणामनन्तानुबन्धिनां कषायाणामनुदयः। (योगशा. स्वो. विव. २-१५); शमः कषायेन्द्रियजयः। (योगशा. स्वो. विव. २-४०)। ४. अनन्तानुबन्धिकषायाणामनुदयः शमः। स प्रकृत्या कषायाणां

विपाके क्षणतोऽपि वा ॥ (त्रि. श. पु. च. १, ३, ६१२)। ५: विरागत्वादिना निर्विकारमनस्त्वं शमः। (अलं. चि. टी. ५-२)।

१ दर्शनमोहनीय स्वरूप मोह और चारित्रमोहनीय-स्वरूप क्षोभ इन दोनों से रहित आत्मा के परिणाम को शम कहते हैं। चारित्र, धर्म और शम ये समानार्थक हैं। ३ दुष्ट अनन्तानुबन्धी कषायों के उदयाभाव का नाम शम है।

शमिला—जुवखीली समिला णाम। (धव. पु. १४, पृ. ५०३)।

बैल के कन्धे पर रखे जाने वाले जुएँ की कील का नाम शमिला है।

शमिलामध्य—दोण्हं समिलाणं मज्झं समिलामज्झं। (धव. पु. १४, पृ. ५०३)।

दो शमिलाओं के मध्य को शमिलामध्य कहते हैं।

शम्भव—शं सुखं भवत्यस्माद् भव्यानामिति शम्भवः। (अन. ध. स्वो. टी. ८-३९)।

जिसके आश्रय से भव्य जीवों को सुख होता है उसे शम्भव कहा गया है। यह तीसरे तीर्थंकर का एक सार्थक नाम है।

शयनक्रिया—दण्डायतशयनादिका शयनक्रिया। (भ. आ. विजयो. ८६); शयनक्रिया दण्डायतस्वापादिका। (भ. आ. मूला. ८६)।

दण्ड के समान स्थिरता से सोने व करवट आदि के न बदलने का नाम शयनक्रिया है। यह नग्नता के प्रभाव से होने वाले अनेक लाभों में से एक है।

शयनासनशुद्धि—१. संयतेन शयनासनशुद्धिपरेण स्त्री-क्षुद्र-चौर-पानाक्षशौण्ड-(त. श्लो. 'स्त्री-वधिक-चौर-पानशौण्ड'-) शाकुनिकादिपापजनवासा वर्ज्याः (त. श्लो. 'वाद्याः'), शृंगारविकारभूषणोज्ज्वलवेष-वेश्याक्रीडाभिरामगीत-नृत्य- वादित्राकुलशालादयश्च (त. श्लो. 'च' नास्ति) परिहर्तव्याः, अकृत्रिम-गिरिगुहा-तरु- (त. श्लो. 'गुहांतर'-) कोटरादयः कृत्रिमाश्च शून्यागारादयो मुक्तमोचितावासा अनात्मोद्देशनिर्वर्तिता निरारम्भाः सेव्याः। (त. वा. ९, ६, १६; त. श्लो. ९-६)। २. संयतेन शयनासनशुद्धिपरेण स्त्री-क्षुद्र-चौर-पानाक्षशौण्ड-शाकुनिकादिपापजनावासा वर्ज्याः, शृंगारविकार-भूषणोज्ज्वलवेष-वेश्याक्रीडाभिराम-गीत- नृत्य-वादित्राकुल-प्रदेशाः विकृतांगगुह्यदर्शनकाष्ठमयालेख्य-हास्योपभोगमहोत्सववाहनदमनायुधव्यायामभूमयश्च रागकारणानीन्द्रियगोचरा मद-मान-शोक-कोप-संक्लेशस्थानादयश्च परिहर्तव्याः, अकृत्रिमा गिरिगुहा-तरुकोटरादयः कृत्रिमाश्च शून्यागारादयो मुक्तमोचितावासा अनात्मोद्देशनिर्वर्तिता निरारम्भाः सेव्याः। (चा. सा. पृ. ३६)। ३. अनात्मोद्देशनिष्पन्ने निरारम्भेऽन्यसम्मते। शून्यागारादिदेशे न नस्त्री-क्षुद्रनटादिके ॥ व्युत्सर्गादिश्रमोच्छित्त्यै शयनासनयोः कृतिः। यतेरत्यल्पकालं सा शयनासनशुद्धिधीः ॥ (आचा. सा. ८, ७७-७८)।

१ स्त्री, क्षुद्र जन, चोर, मद्यपायी, जुआरी और व्याध आदि पापी जन जहां रहते हों ऐसे स्थानों को छोड़कर जो शाला आदि शृंगार, विकार, भूषण व उज्ज्वल वेष वाली वेश्याओं की क्रीडा तथा मनोहर गीत व वादित्रों से व्याप्त हों उनका भी परित्याग करते हुए अकृत्रिम गुफा व वृक्ष के कोटर अथवा कृत्रिम सूने घर आदि या छोड़े गये ऐसे स्थानों में रहना जो अपने निमित्त से न बनाये गये हों तथा आरम्भ से रहित हों; यह सब शयनासनशुद्धि के अन्तर्गत है।

शय्या—शय्या मनोज्ञामनोज्ञवसतिः संस्तारको वा। (समवा. अभय. वृ. २२)।

मनोज्ञ या अमनोज्ञ वसति अथवा बिछौने को शय्या कहा जाता है।

शय्यापरिषहक्षमा—१. स्वाध्याय-ध्यानाध्वश्रमपरिखेदितस्य मौहूर्तिकीं खर-विषम-प्रचुरशर्करा-कपालसङ्कटातिशीतोष्णेषु भूमिप्रदेशेषु निद्रामनुभवतो यथाकृतैकपार्श्वदण्डायतादिशायिन प्राणिबाधापरिहाराय पतितदारुवद् व्यपगतासुवदपरिवर्तमानस्य ज्ञानभावनावहितचेतसोऽनुष्ठितव्यन्तरादिविनिचोपसर्गादप्यचलितविग्रहस्यानियमितकालां तत्कृतबाधां क्षममाणस्य शय्यापरिषहक्षमा कथ्यते। (स. सि. ९-९)। २. आगमोदितशयनात् अप्रच्यवः शय्यासहनम्। (त. वा. ९, ९, १६; त. श्लो. ९-९); स्वाध्याय-ध्यानाध्वश्रमपरिखेदितस्य मौहूर्तिकीं खरविषम-प्रचुरशर्करा-कपालसंकटातिशीतोष्णेषु भूमिप्रदेशेषु निद्रामनुभवतो यथाकृत्यैकपार्श्वदण्डायतादिशायिनः संजातबाधाविशेषस्य संयमार्थमस्पन्दमानस्यानुतिष्ठतो व्यन्तरादिभिर्वा वित्रास्यमानस्य पला-

यनं प्रति निरुत्सुकस्य मरणभयनिर्विशंकस्य निपतितदारुवत् व्यपगतासुवच्चापरिवर्तमानस्य द्वीपि-शार्दूल-महोरगादिदुष्टसत्त्वपरिचितोऽयं प्रदेशोऽचिरादतो निर्गमनं श्रेयः कदा नु रात्रीर्विवसतीति (चा. सा. 'रात्रिर्विरमतीति') विषादमनादधानस्य सुखप्राप्तावप्यपरितुष्यतः पूर्वानुभूतनवनीतमृदुशयनरतिमनुस्मरतः सम्यगागमोदितशयनादप्रच्यवः शय्यासहनमिति प्रत्येतव्यम् । (त. वा. ९, ९, १६; चा. सा. पृ. ५३) । ३. शय्या स्वाध्याय-ध्यानाध्वश्रमपरिखेदितस्य खर-विषम-शर्कराद्याकीर्णभूमौ शयनस्यैकपार्श्वे दण्डशयनादिशय्याकृतपीडा, × × × तस्याः सहनं शय्यापरीषहसहनम् । (मूला. वृ. ५-५८) । ४. झंझावातहतार्तकौशिक-शिवाफेत्कारघोरस्वरां शंपाक्रूररदां स्फुरद्रुचितडिज्जिह्वां क्षपा-राक्षसीम् । यो तं [यस्तां] द्राग् गमयत्यसौ शयनजातायासजिद् धीरधीर्ध्वान्तात्यन्तकरालभूधरदरीदेशे प्रसुप्तः क्षणम् ॥ श्रान्तः सन् श्रुतभावनाऽनशन-सद्ध्यानाध्वयानादिभिः स्तोकं कालमतिश्रमापहृतये शय्यानिषद्येभजन् । (प्राचा. सा. ७, ११-१२) । ५. शय्यापरीषहसहोऽस्मृतहंसतूलप्रायोऽविषादमचलस्थियमान्मुहूर्तम् । आवश्यकादिविविधखेदनुदे गुहादौ, न्यस्तोपलादिशवले शववच्छयीत । (अन. ध. ६, ९९) । ६. स्वाध्यायादिना खेदितस्य विषमादिशीतादिषु भूमिषु निद्रां मौहूर्तिकीमनुभवत एकपार्श्वादिशायिनो ज्ञातवाधस्याप्यस्पन्दिनो व्यन्तरादिभिर्विशस्यमानस्यापि त्यक्तपरिवर्तन - पलायनस्य शार्दूलादिसहितोऽयं प्रदेशोऽचिरादतो निर्गमः श्रेयान् कदा रात्र्यं विरमतीत्यकृतविषादस्य मृदुशयनमस्मरतः शयनादप्रच्यवतः शय्यासहनम् । (प्रारा. सा. टी. ४०) ।

१ स्वाध्याय, ध्यान अथवा मार्ग के श्रम से खेद को प्राप्त हुआ साधु तीक्ष्ण, विषम, अधिक रेतीले, कंकरीले, शीत अथवा उष्ण भूमिप्रदेशों में निद्रा का अनुभव करता है । तब वह एक करवट से दण्ड के समान लेटता है, प्राणिबाधा का परिहार करता है, गिरे हुए काठ अथवा शव के समान निश्चल रहता है, ज्ञान के चिन्तन में चित्त को लगाता है, व्यन्तर आदि के द्वारा किये गये भयानक उपद्रव से विचलित नहीं होता, इस प्रकार से जो वह अनियत समय तक उस बाधा को सहता , यह उसका शय्यापरिषह पर विजय प्राप्त करना है ।

शय्यापरीषहजय—देखो शय्यापरिषहक्षमा ।

शय्यापरीषहसहन—देखो शय्यापरिषहक्षमा ।

शय्यासहन —देखो शय्यापरीषहक्षमा ।

शय्या-संस्तरविवेक—एवं कायेन प्रागध्युषितायां वसतावनासनं संस्तरे वा प्राक्तनेऽशयनमनासनं वा, वाचा त्यजामि संस्तरमिति वचनं च शय्या-संस्तरविवेकः । (भ. प्रा. मूला. १६९) ।

जिस वसति में पहले निवास किया है उसमें न रहना, अथवा जिस बिछौने पर पहले सोया है उस पर न सोना; यह कायिक शय्या संस्तरविवेक कहलाता है । तथा 'संस्तर को मैं छोड़ता हूँ', इस प्रकार वचन से कहना, इसे वाचिक शय्या-संस्तरविवेक कहा जाता है ।

शरीर — १. विशिष्टनामकर्मोदयापादितवृत्तीनि शीर्यन्त इति शरीराणि । (स. सि. २-३६) । २. शीर्यन्त इति शरीराणि × × × शरीरनामकर्मोदयाच्छरीरम् । (त. वा. २, ३६, १-२) । ३. सरीरं सहावो सीलमिदि एयट्ठो । × × × अणंताणंतपोग्गल- (परमाणु-) समवाओ सरीरं । (धव. पु. १४, पृ. ४३४-३५) । ४. भोगायतनं शरीरम् । (नीतिवा. ६-३१, पृ. ७६) ।

१ विशिष्ट नामकर्म के उदय से जो अस्तित्व में आकर शीर्ण होता है —गलता है—उसका नाम शरीर है । ३ × × × अनन्तानन्त पुद्गलपरमाणुओं के समूह को शरीर कहते हैं । ४ भोगों का जो स्थान (आधार) है उसे शरीर कहा जाता है ।

शरीरनामकर्म—१. यदुदयादात्मनः शरीरनिर्वृत्तिस्तच्छरीरनाम । (स. सि. ८-११; त. वा. ८, ११, ३; त. श्लो. ८-११; मूला. वृ. १२-१९३; भ. प्रा. मूला. २१२४) । २. जस्स कम्मस्स उदएण आहारवग्गणाए पोग्गलक्खंधा तेजा-कम्मइयवग्गणपोग्गलक्खंधा च शरीरजोग्गपरिणामेहि परिणदा संता जीवेण संबज्झंति तस्स कम्मक्खंधस्स सरीरमिदि सण्णा । (धव. पु. ६, पृ. ५२); जस्स कम्मस्स उदएण ओरालिय-वेउव्विय-आहार-तेजा-कम्मइयसरीरपरमाणू जीवेण सह बंधमागच्छंति तं सरीरणामं । (धव. पु. १३, पृ. ३६३) । ३. यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेनाहार-तेजःकार्माणवर्गणापुद्गलस्क-

न्धाः शरीरयोग्यपरिणामैः परिणतां जीवेन सम्बन्ध्यन्ते तस्य शरीरमिति संज्ञा। (मूला. वृ. १२-१९३)। ४. शरीरनाम यदुदयादौदारिकादिशरीरं करोति। (समवा. वृ. ४२)।

१ जिसके उदय से आत्मा के शरीर की रचना होती है उसे शरीर नामकर्म कहते हैं। २ जिसके उदय से आहारवर्गणा के पुद्गलस्कन्ध तथा तैजस और कार्मण वर्गणा के पुद्गलस्कन्ध शरीरयोग्य परिणामों से परिणत होकर जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं उस पुद्गलस्कन्ध को शरीरनामकर्म कहा जाता है। ४ जिसके उदय से औदारिक आदि शरीर को करता है वह शरीर नामकर्म कहलाता है।

शरीरनिर्वृत्तिस्थान—सरीरपज्जत्तीए पज्जत्तिणिवत्ती सरीरणिव्वत्तिट्ठाणं णाम। (धव. पु. १४, पृ. ५१६)।

शरीरपर्याप्ति से पर्याप्तिनिर्वृत्ति का नाम शरीरनिर्वृत्तिस्थान है।

शरीरपर्याप्ति—१. तं खलभागं तिलखलोपममस्थ्यादिस्थिरावयवैस्तिलतैलसमानं रसभागं रस-रुधिर-वसा-शुक्रादिद्रवावयवैरौदारिकादिशरीरत्रयपरिणामशक्त्युपेतानां स्कन्धानामवाप्तिः शरीरपर्याप्तिः। (धव. पु. १, पृ. २५५); आगदपोग्गलेसु अंतोमुहुत्तेण सत्तधादुसरूवेण परिणदेसु सरीरपज्जत्ती णाम। (धव. पु. १४, पृ. ५२७)। २. शरीरपर्याप्तिः सप्तधातुतया रसस्य परिणमनशक्तिः। (स्थानां. अभय. वृ. ७२)। ३. खलभागं तिलखलोपमास्थ्यादिस्थिरावयवैस्तिलतैलसमानं रसभागं रस-रुधिर-वसा-शुक्रादिद्रव्यं तदवयवपरिणमनशक्तिनिष्पत्तिः शरीरपर्याप्तिः। (मूला. वृ. १२-१९६)। ४. तिलखलोपमं खलभागं अस्थ्यादिस्थिरावयवरूपेण तैलोपमं च रसभागं रुधिरादिद्रवावयवरूपेण परिणमयितुं पर्याप्तिनामकर्मोदयसहितस्य आत्मनः शक्तिनिष्पत्तिः शरीरपर्याप्तिः। (गो. जी. म. प्र. ११९)। ५. तथा- (खल-रसभागेन) परिणतपुद्गलस्कन्धानां खलभागं अस्थ्यादिस्थिरावयवरूपेण रसभागं रुधिरादिद्रवावयवरूपेण च परिणमयितुं शक्तिनिष्पत्तिः शरीरपर्याप्तिः। (गो. जी. जी. प्र. ११९; कार्तिके. टी. १३९)।

१ तिलों के खलभाग के समान खलभागरूप से परिणत पुद्गलस्कन्धों को अस्थि (हड्डी) आदि स्थिर अवयवों स्वरूप से तथा तैल समान रसभाग को रस, रुधिर, चर्बी और वीर्य आदि द्रवरूप अवयवों के द्वारा औदारिक आदि तीन शरीररूप परिणमन की शक्ति से युक्त स्कन्धों की जो प्राप्ति होती है उसे शरीरपर्याप्ति कहते हैं। २ रस की जो सात धातुओं स्वरूप परिणत होने की शक्ति है उसका नाम शरीरपर्याप्ति है।

शरीरबकुश—१. शरीरसंस्कारसेवी शरीरबकुशः। (स. सि. ९-४७; त. वा. ९, ४७, ४; चा. सा. पृ. ४६)। २. वपुरभ्यंग-मर्दन-क्षालन-विलेपनादिसंस्कारभागी शरीरबकुशः। (त. वृत्ति श्रुत. ९, ४७)।

१ जो मुनि शरीर के संस्कार को अपनाता है उसे शरीरबकुश कहा जाता है।

शरीरबन्ध—पंचण्णं सरीराणमण्णोण्णेण [जो] बंधो सो शरीरबंधो णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३७)।

पांच शरीरों का जो परस्पर में बन्ध होता है उसे शरीरबन्ध कहते हैं।

शरीरबन्धननामकर्म—१. सरीरट्ठमागयाणं पोग्गलक्खंधाणं जीवसंबद्धाणं जेहि पोग्गलेहि जीवसम्बद्धेहि पत्तोदएहि परोप्परं बंधो कीरइ तेसिं पोग्गलक्खंधाणं सरीरबंधणसण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ५२-५३); जस्स कम्मस्स उदयेण जीवेण संबद्धाणं वग्गणाणं अण्णोण्णं संबंधो होदि तं कम्मं सरीरबंधणणाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६४)। २. शरीरार्थागतपुद्गलस्कन्धानां जीवसम्बन्धा[द्धा]नां यैः पुद्गलस्कन्धैः प्राप्तोदयैरन्योन्यसंश्लेषणसम्बन्धो भवति तच्छरीरबन्धनं नामकर्म। (मूला. वृ. १२, १९३)। ३. औदारिकादिशरीरपुद्गलानां पूर्वबद्धानां बध्यमानानां च सम्बन्धकारणं शरीरबन्धननाम। (समवा. वृ. ४२)।

१ जीव से सम्बद्ध होकर उदय को प्राप्त हुए जिन पुद्गलस्कन्धों के द्वारा शरीर के निमित्त आकर जीव से सम्बद्ध हुए अन्य पुद्गलस्कन्धों के साथ परस्पर में सम्बन्ध किया जाता है उन पुद्गलस्कन्धों का नाम शरीरबन्धन है। ३ जो पूर्वबद्ध और वर्तमान में बांधे जाने वाले औदारिक आदि शरीरगत पुद्गलों के सम्बन्ध का कारण है उसे शरीरबन्धन नामकर्म कहते हैं।

शरीरविवेक—१. शरीरविवेकः शरीरेण निरूप्यते। × × × शरीरेण स्वशरीरेण स्वशरीरोपद्रवापरिहरणम्, शरीरं उपद्रवन्तं नरं तिर्यंचं देवं वा तं हस्तेन निवारयति मा कृथा ममोपद्रवमिति, दंशमशक-वृश्चिक-भुजंग-सारमेयादीन् न हस्तेन पिच्छाद्युपकरणेन दण्डादिभिर्वा नापसारयति। छत्र-पिच्छकटकप्रावरणादिना वा न शरीररक्षां करोति। शरीरपीडां मा कृथा इत्याद्यवचनम्, मां पालयेति वा, शरीरमिदमन्यदचेतनं चैतन्येन सुख-दुःखसंवेदनेन वाऽविशिष्टमिति वाचा विवेकः। (भ. आ. विजयो. १६९)। २. स्वशरीरेण स्वशरीरोपद्रवापरिहरणं शरीरविवेकः। शरीरपीडां मम मा कृथा इति मां पालयेति वा अवचनम्, शरीरमिदमन्यदचेतनमित्यादि वचनं वा वाचिकः। (भ. आ. मूला १६९)।

१ शरीर यदि किसी प्रकार के उपद्रव से ग्रसित है तो अपने शरीर के द्वारा उसका प्रतीकार न करना; उपद्रव करने वाला जो कोई मनुष्य, तिर्यंच अथवा देव हो उसे 'मेरे ऊपर उपद्रव न करो' इस अभिप्राय के वश हाथ से न रोकना; डांस, मच्छर, बिच्छू, सर्प व कुत्ता आदि को हाथ से व पीछी आदि उपकरण से अथवा लकड़ी आदि के द्वारा नहीं हटाना; छत्र (छाता), पीछी अथवा चटाई आदि ओढ़नी के द्वारा शरीर की रक्षा न करना; इस सबको कायिक शरीरविवेक कहा जाता है। 'मेरे शरीर को पीड़ित न करो' इस प्रकार का अथवा 'मेरी रक्षा करो' इस प्रकार का वचन न बोलना तथा यह शरीर भिन्न, अचेतन एवं सुख-दुःख के संवेदन की विशेषता से रहित है, इस प्रकार कहना; यह वाचनिक शरीरविवेक कहलाता है।

शरीरसंघातनामकर्म—जेहि कम्मक्खंधेहि उदयं पत्तेहि बंधणणामकम्मोदएण बंधमागयाणं सरीर-पोग्गलक्खंधाणं मट्ठत्तं कीरदे तेसिं सरीरसंघादसण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ५३); जस्स कम्मस्स उदएण अण्णोण्णसंबद्धाणं वग्गणाणं मट्ठत्तं तं सरीर-संघादणामं। (धव. पु. १३, पृ. ३६४)।

उदय को प्राप्त जिन पुद्‌गलस्कन्धों के द्वारा बंधन नामकर्म के उदय से बन्ध को प्राप्त हुए शरीरगत पुद्‌गलस्कन्धों की मृष्टता (शुद्धि या चिक्कणता) की जाती है उनका नाम शरीरसंघात नामकर्म है।

शरीरसंलेखना—तत्र शरीरसंलेखना क्रमेण भोजनत्यागः। (योगशा. स्वो. विव. ३-१५३)।

क्रम से भोजन का जो त्याग किया जाता है उसका नाम शरीरसंलेखना या शरीरसल्लेखना है।

शरीराङ्गोपाङ्गनाम—१. जस्स कम्मक्खंधस्सुदएण सरीरस्संगोवंगणिप्फत्ती होज्ज तस्स कम्मक्खंधस्स सरीरंगोवंगं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ५४); जस्स कम्मस्सुदएण अट्ठण्हमंगाणमुवंगाणं च णिप्फत्ती होदि तं अंगोवंगणाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६४)। २. यदुदयादङ्गानां शिरःप्रभृतीनां उपाङ्गानां च अङ्गुल्यादीनामविभागो भवति तच्छरीरांगोपाङ्गनाम। (समवा. सू. ४२, पृ. ६४)।

१ जिस कर्मस्कन्ध के उदय से शरीर के अंग और उपांगों की उत्पत्ति होती है उसका नाम शरीरांगोपांग नामकर्म है। २ जिसके उदय से शिर आदि अंगों और अंगुलि आदि उपाङ्गों का विभाग होता है उसे शरीरांगोपांग नामकर्म कहते हैं।

शरीरिबन्ध—जीवपदेसाणं जीवपदेसेहि पंचसरीरेहि य जो बंधो सो सरीरिबंधो णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३७)।

जीव के प्रदेशों का जीव के प्रदेशों के साथ तथा पांच शरीरों के साथ जो बंध होता है उसे शरीरिबन्ध कहते हैं।

शरीरी—सरीरमेयस्स अत्थि त्ति शरीरी। (धव. पु. १, पृ. १२०); शरीरमस्यास्तीति शरीरी। (धव. पु. ६, पृ. २२१); सरीरी णाम जीवा। (धव. पु. १४, पृ. २२४)।

शरीर जिसके होता है उसे शरीरी (जीव) कहा जाता है।

शल्य—१. शृणाति हिनस्तीति शल्यं शरीरानुप्रवेशिकाण्डादिप्रहरणम्, शल्यमिव शल्यम्, तत् यथा प्राणिनो बाधाकरं तथा शरीर-मानसबाधाहेतुत्वात्कर्मोदयविकारः शल्यमित्युपचर्यते। (स. सि. ७-१८)। २. अनेकधा प्राणिगणशरणाच्छल्यम्। विविधवेदनाशलाकाभिः प्राणिगणं शृणाति हिनस्तीति शल्यम्। (त. वा. ७, १८, १)। ३. शृणाति हिनस्तीति शल्यं शर-कण्टकादि शरीरादिप्रवेशितेन तुल्यं यत्प्राणिनो बाधानिमित्तम्। अन्तर्निविष्टं परिणामजातं तच्छल्यम्। (भ. आ. विजयो. १२१४)। ४. यथा शरीरानुप्रवेशिकाण्ड-कुन्तादिप्रहरणं शरी-

रिणां बाधाकरं तथा कर्मोदयविकारे शरीर-मानस-बाधाहेतुत्वाच्छल्यमिव शल्यम् । (चा. सा. पृ. ४)। ५. शृणाति हिनस्तीति शल्यं शरीरानुप्रवेशिकाण्डादि, शल्यमिव शल्यं कर्मोदयविकारः शरीर-मानस-बाधाहेतुत्वात् । (सा. ध. स्वो. टी. ४-१) । ६. शृणाति विध्वंसयति हिनस्तीति शल्यमुच्यते, वपुरनुप्रविश्य दुःखमुत्पादयति बाणाद्यायुधं शल्यम्, शल्यमिव शल्यं प्राणिनां बाधाकरत्वात् शरीर-मानस-दुःखकारणत्वात्, कर्मोदयविकृतिः शल्यमुपचारात् । (त. वृत्ति श्रुत. ७-१८) ।

१ शरीर में प्रवेश करने वाले बाण आदि जिस प्रकार प्राणी को पीड़ित करते हैं व इसी से उन्हें शल्य कहा जाता है उसी प्रकार शारीरिक व मानसिक बाधा के कारण होने से कर्मोदय के माया व मिथ्यात्वादि रूप विकार को भी शल्य के समान होने से उपचारतः शल्य कहा जाता है ।

शल्यशास्त्र—शल्यं भूमिशल्यं शरीरशल्यं च, तोमरादिकं शरीरशल्यम्, अस्थ्यादिकं भूमिशल्यम्, तस्यापनयनकारकं शास्त्रं शल्यमित्युच्यते । (मूला. वृ. ६-३३) ।

भूमिशल्य और शरीरशल्य के भेद से शल्य दो प्रकार की है। इसमें बाण आदि को शरीरशल्य तथा हड्डी आदि को भूमिशल्य कहा जाता है । इस शल्य के निकालने के उपाय का जिस शास्त्र (आयुर्वेद) में निरूपण किया गया है उसे शल्यचिकित्साशास्त्र कहते हैं ।

शशी—सर्वात्मना कमनीयत्वलक्षणमन्वर्थमाश्रित्य चन्द्रः शशीति व्यपदिश्यते । (सूर्यप्र. मलय. वृ. १०५, पृ. २६२) ।

समस्त रूप से सुन्दर व आह्लाद जनक होने से चन्द्रमा को शशी कहा जाता है, यह उसका अन्वर्थक नाम है ।

शंकर—१. ××× त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रय-शंकरत्वात् । (भक्तामर. २५) । २. शं सुखम्, आत्मनः कर्मकक्षं दग्ध्वा सकलप्राणिनां च धर्मतीर्थं प्रवर्तयित्वा करोतीति शंकरः । (बृहत्स्व. टी. ७१) । ३. ××× शंकरोऽभिसुखावहात् । (लाटीसं. ४-१३१) । ४. येन दुःखार्णवे घोरे मग्नानां प्राणिनां दया । सौख्यमूलः कृतो धर्मः शंकरः परिकीर्तितः ॥ (आप्तस्व. २९) ।

२ जो अपने कर्मरूप वन को भस्म करके तथा धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करके समस्त प्राणियों के लिए सुख को करता है उसे शंकर कहा जाता है । यह आप्त का एक नामान्तर है ।

शाकुनिक—शाकुनिकः शकुनवक्ता । (नीतिवा. १४-२८, पृ. १७४) ।

शकुन के—शुभाशुभ के सूचक निमित्त के—आश्रय से उसके फल के बतलाने वाले को शाकुनिक कहा जाता है ।

शाटिका—वहुलियाहि परियत्त[पारियत्त]विसए परिहिज्जमाणाओ साडियाओ णाम । (धव. पु. १४, पृ. ४१) ।

पारियात्र देश में वधूटियों—अल्पवयस्क बहुओं—के द्वारा जो पहिनी जाती हैं उन्हें शाटिका कहा जाता है ।

शान्ति—१. 'शान्ति' इति कर्मदाहोपशमः । (सूत्रकृ. सू. ३, ४, २०, पृ. १०१) । २. शान्तियोगात् तदात्मकत्वात् तत्कर्तृत्वाद्वा शान्तिरिति, तथा गर्भस्थे पूर्वोत्पन्नाशिवशान्तिरभूदिति शान्तिः । (योगशा. स्वो. विव. ३-१२४) ।

१ कर्मजनित सन्ताप के उपशम का नाम शान्ति है । २ शान्ति के सम्बन्ध से, स्वयं शान्तिस्वरूप होने से, शान्ति के प्रवर्तक होने से, तथा गर्भस्थ अवस्था में पूर्व में उत्पन्न अमंगल के उपशान्त हो जाने से सोलहवें तीर्थंकर 'शान्ति' इस सार्थक नाम से प्रसिद्ध हुए हैं ।

शालाकिक—शलाकया निर्वृत्तं शालाकिकं अक्षिपटलाद्युद्घाटनम् । (मूला. वृ. ६-३३) ।

सलाई के द्वारा जो आंख की फुली आदि को निकाला जाता है उसे शालाकिक क्रिया कहते हैं।

शाश्वतानन्त—जं तं सस्सदाणंतं तं धम्मादि-दव्वगयं । कुदो ? सासयत्तेण दव्वाणं विणासाभावादो । ××× अन्तो विनाशः, न विद्यते अन्तो विनाशो यस्य तदनन्तं द्रव्यम्, शाश्वतमनन्तं शाश्वतानन्तम् । (धव. पु. ३, पृ. १५) ।

धर्मादिद्रव्यगत जो अनन्तता—अविनश्वरता—है उसे शाश्वतानन्त कहा जाता है ।

शाश्वतासंख्यात—धम्मत्थियं अधमत्थियं दव्वप-

देसगणणं पडुच्च एगसरूवेण सवट्ठिदमिदि कट्टु सस्सदासंखेज्जयं। (धव. पु. ३, पृ. १२४)।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ये दोनों द्रव्य प्रदेशों की गणना की अपेक्षा एकरूप से अवस्थित हैं, अतः उन्हें शाश्वतासंख्यात कहते हैं।

शाश्वती जिनप्रतिमा—शाश्वत्यस्तु अकारिता एव·अधस्तिर्यगूर्ध्वलोकावस्थितेषु जिनभवनेषु वर्तन्त इति। (योगशा. स्वो. विव. ३–१२०, पृ. ५८५)।

जो जिनप्रतिमायें किसी के द्वारा निर्मित न होकर अधोलोक, तिर्यग्लोक और ऊर्ध्वलोक में अवस्थित जिनभवनों में विराजमान हैं वे शाश्वती जिन-प्रतिमायें कहलाती हैं।

शासनदेवता—या पाति शासनं जैनं सद्यः प्रत्यूह-नाशिनी। साभिप्रेतसमृद्धयर्थं भूयाच्छासनदेवता॥ (आचारदि. पृ. ४४ उद्.)।

जो जैन शासन की रक्षा करती है तथा विघ्न-बाधा को दूर करती है वह शासनदेवता अभीष्ट समृद्धि के लिए होवे।

शास्त्र—१. आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्। तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥ (रत्नक. ६; न्यायाव. ६)। २. पूर्वापरविरोधादिदूरं हिंसाद्य-पासनम्। प्रमाणद्वयसंवादि शास्त्रं सर्वज्ञभाषितम्॥ (पु. उपासका. ७)।

१ जो आप्त के द्वारा कहा गया है, कुवादियों द्वारा अखण्डनीय है, जिसमें प्रत्यक्ष व अनुमान से विरोध सम्भव नहीं है, जो वस्तुस्वरूप का यथार्थ उपदेष्टा व समस्त प्राणियों के लिए हितकर होता है उसे शास्त्र कहते हैं। वह कुमार्ग से–मिथ्यात्व आदि से—बचाने वाला है।

शास्त्रदान—लिखित्वा लेखयित्वा वा साधुभ्यो दीयते श्रुतम्। व्याख्यायतेऽथवा स्वेन शास्त्रदानं तदुच्यते॥ (पु. उपासका. ६७)।

स्वयं लिखकर अथवा अन्य से लिखा कर जो साधुओं के लिए शास्त्र दिया जाता है, अथवा जो उसका व्याख्यान किया जाता है, उसे शास्त्रदान कहते हैं।

शास्य—देखो शिष्य।

शिक्ष—देखो शैक्ष।

शिक्षा—शिक्षा श्रुताध्ययनम्। (अन. ध. स्वो. टी. ७–६८)।

श्रुत के अध्ययन का नाम शिक्षा है। अर्हादि लिङ्गों में से वह एक है।

शिक्षाव्रत—शिक्षायै अभ्यासाय व्रतं[शिक्षाव्रतम्], देशावकाशिकादीनां प्रतिदिवसाभ्यसनीयत्वात्। ××× अथवा शिक्षा विद्योपादानम्, शिक्षाप्रधानं व्रतं शिक्षाव्रतम्, देशावकाशिकादेर्विशिष्टश्रुतज्ञान-भावनापरिणतत्वेनैव निर्वाह्यत्वात्। (सा. ध. स्वो. टी. ४–४)।

शिक्षा का अर्थ अभ्यास अथवा विद्या का ग्रहण है, शिक्षा के लिए अथवा शिक्षा की प्रधानता से युक्त जो व्रत ग्रहण किया जाता है उसे शिक्षाव्रत कहते हैं।

शिक्षित—तथाऽऽचार्यादिः समीपे शिक्षां ग्राहिताः शिक्षिताः। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ६, १६, पृ. १४५)।

जिन्हें आचार्य आदि के समीप में शिक्षा ग्रहण कराई गई है वे शिक्षित कहलाते हैं।

शिखाच्छेदी—संसाराग्निशिखाच्छेदो येन ज्ञाना-सिना कृतः। तं शिखाच्छेदिनं प्राहुर्न तु मुण्डितमस्त-कम्॥ (उपासका. ८७५)।

जिसने ज्ञानरूप तलवार के द्वारा संसाररूप अग्नि की शिखा (ज्वाला) को नष्ट कर दिया है वह वस्तुतः शिखाछेदी कहलाता है, शिर की शिखा को मुंड़ा कर मुंडितमस्तक हुए व्यक्ति को यथार्थ-तः शिखाछेदी नहीं कहा जा सकता।

शिरःप्रकम्पितदोष—देखो शीर्षोत्कम्पितदोष। १. कायोत्सर्गेण स्थितो यः शिरः प्रकम्पयति चाल-यति तस्य शिरःप्रकम्पितदोषः। (मूला. वृ. ७, १७२)। २. शीर्षप्रकम्पनं नाम दोषः स्यात्। किं तत्? शिरः प्रकम्पितम्। (अन. ध. स्वो. टी. ८–११८)।

१ जो कायोत्सर्ग में स्थित होकर शिर को हिलाता है उसके शिरःप्रकम्पित नामक दोष होता है।

शिलासंस्तर—विद्धत्थो य अफुडिदो णिक्कंपो सव्वदो असंसत्तो। समपट्ठो उज्जोवे सिलामओ होदि संथारो॥ (भ. आ. ६४२)।

जो जलने, कूटे जाने अथवा घिसे जाने से विध्वस्त (प्रासुक) हुआ हो, अस्फुटित—फूटा न हो व दरारों आदि से रहित हो, स्थिर हो, सब ओर जीव जन्तुओं के संसर्ग से रहित हो, और समतल हो; ऐसा प्रकाश में अवस्थित शिलामय संस्तर (बिछौना) क्षपक के लिए योग्य माना गया है।

शिल्पकर्मार्य—१. रजक-नापिताऽयस्कार-कुलाल-सुवर्णकारादयः शिल्पकर्मार्याः। (त. वा. ३, ३६, २)। २. निर्णेजक-दिवाकीर्त्यादयः शिल्पकर्मार्याः। (त. वृत्ति श्रुत. ३-३६)।

१ धोबी, नाई, लुहार, कुम्हार और सुनार आदि शिल्पकर्मार्य कहे जाते हैं।

शिव—१. कल्याणं परमं सौख्यं निर्वाणपदमच्युतम्। साधितं येन देवेन स शिवः परिकीर्तितः॥ (भावसं. वाम. १७२)। २. शिवं परमकल्याणं निर्वाणं शान्तमक्षयम्। प्राप्तं मुक्तिपदं येन सः शिवः परिकीर्तितः॥ (आप्तस्व. २४)।

२ जिस देव ने अतिशय कल्याणकारक, शान्त और अविनश्वर मुक्तिपदको प्राप्त कर लिया है उसे शिव कहा जाता है। यह आप्त के अनेक नामों में से एक है।

शिविका—माणुसेहि वुब्भमाणा सिविया णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३६)।

जो मनुष्यों के द्वारा ले जायी जाती है उसे शिविका (पालकी) कहते हैं।

शिष्टत्व—१. शिष्टत्वम् अभिमतसिद्धान्तोक्तार्थता, वक्तुः शिष्टतासूचकत्वं वा। (समवा. वृ. ३५)। २. शिष्टत्वं वक्तुः शिष्टत्वसूचनात्। (रायप. मलय. वृ. पृ. १६)।

१ जो वचन अभीष्ट सिद्धान्त के अर्थ का प्रतिपादक होता है, अथवा जो वक्ता की शिष्टता का सूचक होता है वह शिष्टत्व नामक अतिशय से संयुक्त होता है। यह वचन के ३५ अतिशयों में दसवां है।

शिष्टि—शिष्टि सूत्रानुसारेण गणस्य शिक्षादानम्। (अन. ध. स्वो. टी. ७-६८)।

आगम के अनुसार गण को शिक्षा देना, इसे शिष्टि कहा जाता है। यह अर्हादि लिङ्गों के अन्तर्गत है।

शिष्य—१. भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन् दुःखाद् भृशं भीतिमान्, सौख्यैषी श्रवणादिबुद्धिविभवः श्रुत्वा विचार्य स्फुटम्। धर्मं शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यां स्थितम्, गृह्णन् धर्मकथां श्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्ताग्रहः॥ (आत्मानु. ७)। २. गुरुभक्तो भवाद् भीतो विनीतो धार्मिकः सुधी। शान्तस्वान्तो ह्यतन्द्रालुः शिष्टः शिष्योऽयमिष्यते॥ (क्षत्रचू. २-३१)।

१ जो भव्य 'मेरे लिए हितकर क्या है' इसका विचार करता हुआ दुःख से अतिशय भयभीत रहता हो, सुख का अभिलाषी हो; श्रवण आदि बुद्धि के वैभव—सुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊह, अपोह, अर्थविज्ञान और तत्त्वज्ञान इन आठ बुद्धिगुणों से—संयुक्त हो; तथा जो सुन करके व विचार करके जो सुखकर दयामय धर्म युक्ति व आगम से सिद्ध है उसे ग्रहण करनेवाला हो; ऐसा आग्रह रहित शिष्य धर्मकथा के सुनने में अधिकृत है—उसके सुनने का अधिकारी माना गया है। २ जो गुरु का भक्त, संसार से भयभीत, विनीत, धर्मात्मा, बुद्धिमान्, शान्तचित्त, आलस्य से रहित और शिष्टाचार का परिपालक होता है, उसे शिष्य कहा जाता है।

शीतक्षमा—देखो शीतपरीषहजय।

शीतनामकर्म—एवं सेसफासाणं पि वत्तव्वं (जस्स कम्मस्स उदएण सरीरपोग्गलाणं सीदभावो होदि तं सीदं णाम)। (धव. पु. ६, पृ. ७५)।

जिस नामकर्म के उदय से शरीरगत पुद्गलों के शीतता होती है उसे शीतनामकर्म कहते हैं।

शीतपरीषहजय—१. परित्यक्तप्रच्छादनस्य पक्षिवदनवधारितालयस्य वृक्षमूल-पथ-शिलातलादिषु हिमानीपतन-शीतलानिलसम्पाते तत्प्रतिकारप्राप्तिं प्रति निवृत्तेच्छस्य पूर्वानुभूतशीतप्रतिकारहेतुवस्तूनामस्मरतो ज्ञानभावनागर्भागारे वसतः शीतवेदनासहनं परिकीर्त्यते। (स. सि. ६-६)। २. शैत्यहेतुसन्निधाने तत्प्रतीकारानभिलाषात् संयमपरिपालनं शीतक्षमा। (त. वा. ६, ६, ६); परित्यक्तवाससः पक्षिवदनवधारितालयस्य शरीरमात्राधिकरणस्य शिशिर-वसन्त-जलदागमादिवशाद् (चा. सा. 'विकालवशाद्') वृक्षमूल-(चा. सा. 'ले')पथि[प-] गुहादिषु पतितप्रालेयलेशतुषारलवव्यतिकरशिशिरपवनाभ्याहतमूर्तेस्तत्प्रतिक्रियासमर्थद्रव्यान्तराभ्यावनभिसन्धानावारकदुःसहशीतवेदनाऽस्मरणात् तत्प्रतिचिकीर्षायां परमार्थविलोपभयाद्विद्या-मन्त्रौषध-पर्ण-वल्कलत्वक्-तृणाजिनादिसम्बन्धात् व्यावृत्तमनसः परकीयमिव देहं मन्यमानस्य धृतिविशेषप्रावरणस्य गर्भागारेषु धूपप्रवेकप्रकर (चा. सा. 'प्रवेकपुष्पप्रकर') प्रकल्पितप्रदीपप्रभेषु वरांगनानवयौवनौष्ण्यघनस्तन-नितम्ब-भुजान्तरर्जितशीतेषु निवासं सुरतसुख-रसाकर- (चा. सा. 'सुखाकर'-) मनुभूतमसारत्वाववोधा-

देसगणणं पडुच्च एगसरूवेण अवट्ठिदमिदि कट्टु सस्सदासंखेज्जयं। (धव. पु. ३, पृ. १२४)।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ये दोनों द्रव्य प्रदेशों की गणना की अपेक्षा एकरूप से अवस्थित हैं, अतः उन्हें शाश्वतासंख्यात कहते हैं।

शाश्वती जिनप्रतिमा—शाश्वत्यस्तु अकारिता एव·अधस्तिर्यगूर्ध्वलोकावस्थितेपु जिनभवनेपु वर्तन्त इति। (योगशा. स्वो. विव. ३–१२०, पृ. ५८५)।

जो जिनप्रतिमायें किसी के द्वारा निर्मित न होकर अधोलोक, तिर्यग्लोक और ऊर्ध्वलोक में अवस्थित जिनभवनों में विराजमान हैं वे शाश्वती जिनप्रतिमायें कहलाती हैं।

शासनदेवता—या पाति शासनं जैनं सद्यः प्रत्यूहनाशिनी। साभिप्रेतसमृद्धयर्थं भूयाच्छासनदेवता॥ (आचारदि. पृ. ४४ उद्.)।

जो जैन शासन की रक्षा करती है तथा विघ्नबाधा को दूर करती है वह शासनदेवता अभीष्ट समृद्धि के लिए होवे।

शास्त्र—१. आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्। तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥ (रत्नक. ६; न्यायाव. ६)। २. पूर्वापरविरोधादिदूरं हिंसाद्यपासनम्। प्रमाणद्वयसंवादि शास्त्रं सर्वज्ञभापितम्॥ (पू. उपासका. ७)।

१ जो आप्त के द्वारा कहा गया है, कुवादियों द्वारा अखण्डनीय है, जिसमें प्रत्यक्ष व अनुमान से विरोध सम्भव नहीं है, जो वस्तुस्वरूप का यथार्थ उपदेष्टा व समस्त प्राणियों के लिए हितकर होता है उसे शास्त्र कहते हैं। वह कुमार्ग से–मिथ्यात्व आदि से—बचाने वाला है।

शास्त्रदान—लिखित्वा लेखयित्वा वा साधुभ्यो दीयते श्रुतम्। व्याख्यायतेऽथवा स्वेन शास्त्रदानं तदुच्यते॥ (पू. उपासका. ६७)।

स्वयं लिखकर अथवा अन्य से लिखा कर जो साधुओं के लिए शास्त्र दिया जाता है, अथवा जो उसका व्याख्यान किया जाता है, उसे शास्त्रदान कहते हैं।

शास्य—देखो शिष्य।

शिक्ष—देखो शैक्ष।

शिक्षा—शिक्षा श्रुताध्ययनम्। (अन. ध. स्वो. टी. ७–६८)।

श्रुत के अध्ययन का नाम शिक्षा है। अर्हादि लिङ्गों में से वह एक है।

शिक्षाव्रत—शिक्षायै अभ्यासाय व्रतं [शिक्षाव्रतम्], देशावकाशिकादीनां प्रतिदिवसाभ्यसनीयत्वात्। ××× अथवा शिक्षा विद्योपादानम्, शिक्षाप्रधानं व्रतं शिक्षाव्रतम्, देशावकाशिकादेर्विशिष्टश्रुतज्ञानभावनापरिणतत्वेनैव निर्वाह्यत्वात्। (सा. ध. स्वो. टी. ४–४)।

शिक्षा का अर्थ अभ्यास अथवा विद्या का ग्रहण है, शिक्षा के लिए अथवा शिक्षा की प्रधानता से युक्त जो व्रत ग्रहण किया जाता है उसे शिक्षाव्रत कहते हैं।

शिक्षित—तथाऽऽचार्यादिः समीपे शिक्षां ग्राहिताः शिक्षिताः। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ६, १६, पृ. १४५)।

जिन्हें आचार्य आदि के समीप में शिक्षा ग्रहण कराई गई है वे शिक्षित कहलाते हैं।

शिखाच्छेदी—संसाराग्निशिखाच्छेदो येन ज्ञानासिना कृतः। तं शिखाच्छेदिनं प्राहुर्न तु मुण्डितमस्तकम्॥ (उपासका. ८७५)।

जिसने ज्ञानरूप तलवार के द्वारा संसाररूप अग्नि की शिखा (ज्वाला) को नष्ट कर दिया है वह वस्तुतः शिखाछेदी कहलाता है, शिर की शिखा को मुंड़ा कर मुंडितमस्तक हुए व्यक्ति को यथार्थतः शिखाछेदी नहीं कहा जा सकता।

शिरःप्रकम्पितदोष—देखो शीर्षोत्कम्पितदोष। १. कायोत्सर्गेण स्थितो यः शिरः प्रकम्पयति चालयति तस्य शिरःप्रकम्पितदोषः। (मूला. वृ. ७, १७२)। २. शीर्षप्रकम्पनं नाम दोषः स्यात्। किं तत्? शिरः प्रकम्पितम्। (अन. ध. स्वो. टी. ८–११८)।

१ जो कायोत्सर्ग में स्थित होकर शिर को हिलाता है उसके शिरःप्रकम्पित नामक दोष होता है।

शिलासंस्तर—विद्धत्थो य अफुडिदो णिक्कंपो सव्वदो असंसत्तो। समपट्ठो उज्जोवे सिलामओ होदि संथारो॥ (भ. आ. ६४२)।

जो जलने, कूटे जाने अथवा घिसे जाने से विध्वस्त (प्रासुक) हुआ हो, अस्फुटित—फूटा न हो व दरारों आदि से रहित हो, स्थिर हो, सब ओर जीव जन्तुओं के संसर्ग से रहित हो, और समतल हो; ऐसा प्रकाश में अवस्थित शिलामय संस्तर (बिछौना) क्षपक के लिए योग्य माना गया है।

शिल्पकर्मार्य—१. रजक-नापिताऽयस्कार-कुलाल-सुवर्णकारादयः शिल्पकर्मार्याः। (त. वा. ३, ३६, २)। २. निर्णेजक-दिवाकीर्त्यादयः शिल्पकर्मार्याः। (त. वृत्ति श्रुत. ३-३६)।

१ धोबी, नाई, लुहार, कुम्हार और सुनार आदि शिल्पकर्मार्य कहे जाते हैं।

शिव—१. कल्याणं परमं सौख्यं निर्वाणपदमच्युतम्। साधितं येन देवेन स शिवः परिकीर्तितः॥ (भावसं. वाम. १७२)। २. शिवं परमकल्याणं निर्वाणं शान्तमक्षयम्। प्राप्तं मुक्तिपदं येन सः शिवः परिकीर्तितः॥ (आप्तस्व. २४)।

२ जिस देव ने अतिशय कल्याणकारक, शान्त और अविनश्वर मुक्तिपदको प्राप्त कर लिया है उसे शिव कहा जाता है। यह आप्त के अनेक नामों में से एक है।

शिविका—माणुसेहि वुब्भमाणा सिविया णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३६)।

जो मनुष्यों के द्वारा ले जायी जाती है उसे शिविका (पालकी) कहते हैं।

शिष्टत्व—१. शिष्टत्वम् अभिमतसिद्धान्तोक्तार्थता, वक्तुः शिष्टतासूचकत्वं वा। (समवा. वृ. ३५)। २. शिष्टत्वं वक्तुः शिष्टत्वसूचनात्। (रायप. मलय. वृ. पृ. १६)।

१ जो वचन अभीष्ट सिद्धान्त के अर्थ का प्रतिपादक होता है, अथवा जो वक्ता की शिष्टता का सूचक होता है वह शिष्टत्व नामक अतिशय से संयुक्त होता है। यह वचन के ३५ अतिशयों में दसवां है।

शिष्टि—शिष्टि सूत्रानुसारेण गणस्य शिक्षादानम्। (अन. ध. स्वो. टी. ७-६८)।

आगम के अनुसार गण को शिक्षा देना, इसे शिष्टि कहा जाता है। यह अर्हादि लिङ्गों के अन्तर्गत है।

शिष्य—१. भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन् दुःखाद् भृशं भीतिमान्, सौख्यैषी श्रवणादिबुद्धिविभवः श्रुत्वा विचार्य स्फुटम्। धर्मं शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यां स्थितम्, गृह्णन् धर्मकथां श्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्ताग्रहः॥ (आत्मानु. ७)। २. गुरुभक्तो भवाद् भीतो विनीतो धार्मिकः सुधीः। शान्तस्वान्तो ह्यतन्द्रालुः शिष्टः शिष्योऽयमिष्यते॥ (क्षत्रचू. २-३१)।

१ जो भव्य 'मेरे लिए हितकर क्या है' इसका विचार करता हुआ दुःख से अतिशय भयभीत रहता हो, सुख का अभिलाषी हो; श्रवण आदि बुद्धि के वैभव—सुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊह, अपोह, अर्थविज्ञान और तत्त्वज्ञान इन आठ बुद्धिगुणों से—संयुक्त हो; तथा जो सुन करके व विचार करके जो सुखकर दयामय धर्म युक्ति व आगम से सिद्ध है उसे ग्रहण करनेवाला हो; ऐसा आग्रह रहित शिष्य धर्मकथा के सुनने में अधिकृत है—उसके सुनने का अधिकारी माना गया है। २ जो गुरु का भक्त, संसार से भयभीत, विनीत, धर्मात्मा, बुद्धिमान्, शान्तचित्त, आलस्य से रहित और शिष्टाचार का परिपालक होता है, उसे शिष्य कहा जाता है।

शीतक्षमा—देखो शीतपरीषहजय।

शीतनामकर्म—एवं सेसफासाणं पि वत्तव्वं (जस्स कम्मस्स उदएण सरीरपोग्गलाणं सीदभावो होदि तं सीदं णाम)। (धव. पु. ६, पृ. ७५)।

जिस नामकर्म के उदय से शरीरगत पुद्गलों के शीतता होती है उसे शीतनामकर्म कहते हैं।

शीतपरीषहजय—१. परित्यक्तप्रच्छादनस्य पक्षिवदनवधारितालयस्य वृक्षमूल-पथ-शिलातलादिषु हिमानीपतन-शीतलानिलसम्पाते तत्प्रतिकारप्राप्तिं प्रति निवृत्तेच्छस्य पूर्वानुभूतशीतप्रतिकारहेतुवस्तूनामस्मरतो ज्ञानभावनागर्भगारे वसतः शीतवेदनासहनं परिकीर्त्यते। (स. सि. ६-६)। २. शैत्यहेतुसन्निधाने तत्प्रतीकारानभिलाषात् संयमपरिपालनं शीतक्षमा। (त. वा. ६, ६, ६); परित्यक्तवाससः पक्षिवदनवधारितालयस्य शरीरमात्राधिकरणस्य शिशिर-वसन्त-जलदागमादिवशाद् (चा. सा. 'दिकालवशाद्') वृक्षमूल-(चा. सा. 'ले')पथि[थ-]गुहादिषु पतितप्रालेयलेशतुषारलवव्यतिकरशिशिरपवनाभ्याहतमूर्तेस्तत्प्रतिक्रियासमर्थद्रव्यान्तराभ्यागमनभिसन्धानान्नारकदुःसहशीतवेदनाऽस्मरणात् तत्प्रतिचिकीर्षायां परमार्थविलोपभयाद्विद्या-मन्त्रौषध-पर्ण-वल्कलत्वक्-तृणाजिनादिसम्बन्धात् व्यावृत्तमनसः परकीयमिव देहं मन्यमानस्य धृतिविशेषप्रावरणस्य गर्भागारेषु धूपप्रवेकप्रकर (चा. सा. 'प्रवेकपुष्पप्रकर') प्रकल्पितप्रदीपप्रभेषु वरांगनानवयौवनोष्णघनस्तन-नितम्ब-भुजान्तरतर्जितशीतेषु निवासं सुरतसुख-रसाकर- (चा. सा. 'सुखाकर'-) मनुभूतमसारत्वावबोधा-

दस्मरतो विषादविरहितस्य संयमपरिपालनं शीतक्षमेति भाष्यते। (त. वा. ९, ९, ६; चा. सा. पृ. ४९–५०)। ३. शीते महत्यपि पतति जीर्णवसनः परित्राणवर्जितो नाकल्प्यानि वासांसि परिगृह्णीयात् परिभुञ्जीत वा, नापि शीतार्तोऽग्निं ज्वालयेत् अन्यज्वालितं वा नाऽऽसेवयेत्, एवमनुतिष्ठता शीतपरीषहजयः कृतो भवति। (आव. नि. हरि. वृ. पृ. ६५७)। ४. शीतं तद्द्वयापेक्षाऽ(चारित्रमोहनीय-वीर्यान्तरायापेक्षाऽ)सातोदयात् प्रावरणेच्छाकारणपुद्गलस्कन्धः, तस्य सहनं शीतपरीषहसहनम्। (मूला. वृ. ५–५७)। ५. प्रोत्कम्पा हिमभीमशीतपवनस्पर्शप्रभिन्नाङ्गिनो यस्मिन् यान्त्यतिशीतखेदमवशाः प्रालेयकावि[केय]ङ्गिनः। तस्मिन्नस्मरतः पुरा प्रियतमाश्लेषादिजातं सुखं योगागारनिरस्तशीतविकृतेनिर्वाससस्तज्जयः॥ (आचा. सा. ७–५)। ६. विष्वक्चारिमरुच्चतुष्पथमितो धृत्येकवासाः पतत्यन्वङ्गं निशि काष्ठदाहिनि हिमे भावांस्तदुच्छेदिनः। अध्यायन्नधियन्नधोगतिहिमान्यर्तीर्दुरन्तास्तपोवह्निस्तप्तनिजात्मगर्भगृहसंचारी मुनिर्मोदते॥ (अन. ध. ६, ९१)। ७. शैत्यहेतुसन्निधाने तत्प्रतीकारानभिलाषस्य निर्ममस्य पूर्वानुभूतोष्णमस्मरतो विषादरहितस्य संयमपरिपालनार्थं शीतक्षमा। (आरा. सा. टी. ४०।

१ जिसने वस्त्रादिरूप आवरण का परित्याग कर दिया है, पक्षी के समान जिसका कोई निश्चित स्थान नहीं है; जो वृक्ष के मूल में, मार्ग में व शिलातल पर बर्फ के गिरने व शीत हवा के चलने पर उसके प्रतीकार की कारणभूत अग्नि आदि वस्तुओं का स्मरण नहीं करता है; तथा जो ज्ञान भावनारूप गर्भगृह में रहता है वह शीतवेदना का सहने वाला होता है।

शीतयोनि—शीतः स्पर्शविशेषः, तेन युक्तं यद् द्रव्यं तदपि शीतमुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. २–३२)।

शीत स्पर्श से युक्त योनिप्रदेश को शीतयोनि कहा जाता है।

शीतल—सकलसत्त्वसन्तापहरणाच्छीतलः, तथा गर्भस्थे भगवति पितुः पूर्वोत्पन्नाचिकित्स्यपित्तदाहो जननीकरस्पर्शादुपशान्त इति शीतलः। (योगशा. स्वो. विव. ५–१२४)।

समस्त प्राणियों के सन्ताप के दूर करने से दसवें तीर्थंकर को शीतल कहा गया है, तथा भगवान् के गर्भ में स्थित होने पर माता के हाथ के स्पर्श से पिता का पूर्वोत्पन्न असाध्य पित्तदाह रोग शान्त हो गया था, इससे भी वे शीतल इस सार्थक नाम से प्रसिद्ध हुए।

शीतवेदना—देखो शीतपरीषहजय।

शीर्षोत्कम्पितदोष—देखो शिरःप्रकम्पितदोष। भूताविष्टस्येव शीर्षं कम्पयतः स्थानं शीर्षोत्कम्पितदोषः। (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०)।

भूताविष्ट के समान कायोत्सर्ग में शिर को कंपाते हुए स्थित होना, यह एक शीर्षोत्कम्पित नामक कायोत्सर्ग का दोष है।

शीर्षप्रकम्पित—देखो शिरःप्रकम्पित।

शील—१. ××× तत्प्रति-(अहिंसादिव्रतप्रति-) पालनार्थेषु च क्रोधादिवर्जनादिषु शीलेषु ×××। (स. सि. ६–२४; त. वा. ६, २४, ३)। २. वदपरिरक्खणं सीलं णाम। (धव. पु. ८, पृ. ८२)। ३. शीलं ब्रह्मचर्यं समाधिर्वा। (समवा. वृ. १४६, पृ. ११७)। ४. शीलं मद्य-मांस-निशाभोजनादिपरिहाररूपः समाचारः। (योगशा. स्वो. विव. १–४७); शीलं सुस्वभावता। (योगशा. स्वो. विव. २–४०)। ५. शीलं सावद्ययोगानां प्रत्याख्यानं निगद्यते। (त्रि. श. पु. च. १, १, १८७)।

१ अहिंसा आदि व्रतों के परिपालन के निमित्तभूत क्रोध आदि के परित्याग आदि को शील कहा जाता है। २ व्रतों की रक्षा को शील कहते हैं। ३ ब्रह्मचर्य अथवा समाधि का नाम शील है।

शीलव्रतेष्वनतिचार—१. अहिंसादिषु व्रतेषु तत्प्रतिपालनार्थेषु च क्रोधवर्जनादिषु शीलेषु निरवद्या वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतिचारः। (स. सि. ६–२४)। २. चारित्रविकल्पेषु शीलव्रतेषु निरवद्या वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतिचारः। अहिंसादिषु व्रतेषु तत्प्रतिपालनार्थेषु च क्रोधवर्जनादिषु शीलेषु निरवद्या वृत्तिः कायवाङ्मनसां शीलव्रतेष्वनतिचार इति कथ्यते। (त. वा. ६, २४, ३)। ३. हिंसालियचोज्जाबंभपरिग्गहेहिंतो विरदी वदं णाम, वदपरिरक्खणं सीलं णाम, सुरावाण-मांसभक्खण-कोह-माण-माया-लोह-हस्स-रइ-सोग-भय-दुगुंछित्थि-पुरिस-णवुंसयवेयापरिच्चागो अदिचारो; एदेसिं विणासो णिरदिचारो संपुण्णदा, तस्सभावो णिरदिचारदा। (धव. पु. ८,

पृ. ८२)। ४. शीलव्रतरक्षायां काय-मनोवचनवृत्तिरनवद्या। वेद्यो मार्गोद्यतैः स सुदृढशीलव्रतेष्वनतिचारः॥ (ह. पु. ४३–१३४)। ५. सच्चारित्रविकल्पेषु व्रतशीलेष्वशेषतः। निरवद्यानुवृत्तिर्यानतिचारः स तेषु वै॥ (त. श्लो. ६–२४)। ६. अहिंसादिषु व्रतेषु तत्परिपालनार्थेषु च क्रोधवर्जनादिषु शीलेषु निरवद्या वृत्तिः कायवाङ्मनसा व्रतशीलेष्वनतिचारः। (चा. सा. पृ. २५)। ७. अहिंसादिषु व्रतेषु तत्परिपालनार्थं च क्रोधादिवर्जनलक्षणेषु शीलेषु अनवद्या वृत्तिः शील-व्रतेष्वनतिचारः। (त. वृत्ति श्रुत. ६–२४)।

१ अहिंसा आदि व्रतों और उनके संरक्षण के कारणभूत क्रोधकषाय आदि के परित्याग आदि रूप शीलों के विषय में जो निर्दोष प्रवृत्ति की जाती है उसे शील-व्रतेष्वनतिचार कहा जाता है। यह तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के कारणों के अन्तर्गत है।

शुक्र—शुक्रं रेतो मज्जासंभवम्। (योगशा. स्वो. विव. ४–७२)।

मज्जा से जो वीर्य नामक धातु बनती है उसे शुक्र कहा जाता है।

शुक्लध्यान—१. शुचिगुणयोगाच्छुक्लम्। (स. सि. ९–२८; त. श्लो. ९–२८)। २. शुचिगुणयोगाच्छुक्लम्। यथा मलद्रव्यापायात् शुचिगुणयोगाच्छुक्लं वस्त्रं तथा तद्गुणसाधर्म्यादात्मपरिणामस्वरूपमपि शुक्लमिति निरुच्यते। (त. वा. ९, २८, ४)। ३. सुक्कं असंकिलिट्ठपरिणामं अट्ठविहं वा कम्मरयं सोधति, तम्हा सुक्कं। (दशवै. चू. पृ. २९)। ४. शोधयत्यष्टप्रकारं कर्ममलं शुचं वा क्लमयतीति शुक्लम्। (ध्यानश. हरि. वृ. ५; स्थानां. अभय. वृ. २४७)। ५. शुक्लं शुचित्वसम्बन्धाच्छौचं दोषाद्यपोढता। (ह. पु. ५६–५३)। ६. कषायमलविश्लेषाच्छुक्लशब्दाभिधेयताम्। उपेयिवदिदं ध्यानं सान्तर्भेदं निबोध मे॥ (म. पु. २१, १६६)। ७. शुचिगुणयोगाच्छुक्लं कषाय-रजसः क्षयादुपशमाद्वा। माणिक्यशिखावदिदं (ज्ञाना. 'वैडूर्यमणिशिखा इव') सुनिर्मलं निःप्रकम्पं च॥ (तत्त्वानु. २२२; ज्ञाना. पृ. ४३१)। ८. जत्थ गुणा सुविसुद्धा उवसम-खमणं च जत्थ कम्माणं। लेसा वि जत्थ सुक्का तं सुक्कं भण्णदे ज्झाणं॥ (कार्तिके. ४८३)। ९. शुक्लं पूर्वगतश्रुतावलम्बनेन मनसोऽत्यन्तस्थिरता योगनिरोधश्चेति। (समवा. वृ. ४)। १०. निष्क्रियं करणातीतं ध्यान-धारणवर्जितम्। अन्तर्मुखं च यच्चित्तं तच्छुक्लमिति पठ्यते॥ (ज्ञाना. ४, पृ. ४३१)। ११. निष्क्रियं करणातीतं ध्यान-ध्येयविवर्जितम्। अन्तर्मुखं च यद् ध्यानं तच्छुक्लं योगिनो विदुः॥ (नि. सा. वृ. ८९ उद्.)। १२. कषायरजसः क्षयादुपशमाद्वा प्रतिसमयमात्मिर्भवद्भिर्यथोत्तरं शुचिभिः संयमविशुद्धिलक्षणैर्गुणैः सम्बध्यमानत्वाच्छुक्लमिति व्यपदिश्यते। (भ. आ. मूला. १६९९)। १३. मलरहितात्मपरिणामोद्भवं शुक्लम्। (भावप्रा. ७८)।

१ जिस ध्यान में पवित्रता गुण का संयोग है उसे शुक्लध्यान कहा जाता है। ३ संक्लेश रहित परिणाम को शुक्लध्यान कहा जाता है। अथवा जो आठ प्रकार के कर्मरूप रज (धूलि) को शुद्ध करता है उसे शुक्लध्यान कहा जाता है।

शुक्ललेश्या—१. ण कुणेइ पक्खवायं ण वि य णिदाणं समो य सव्वेसु। णत्थि य राओ दोसो णेहो वि हु सुक्कलेसस्स॥ (प्रा. पंचसं. १–१५२; धव. पु. १, पृ. ३९० उद्.; धव. पु. १६, पृ. ४२ उद्.; गो. जी. ५१७)। २. वैर-राग-मोहविरह-रिपुदोषाग्रहण-निदानवर्जन-सर्वसावद्यकार्यारम्भौदासीन्य-श्रेयोमार्गानुष्ठानादि शुक्ललेश्यालक्षणम्। (त. वा. ४, २२, १०)। ३. कसायाणुभागफद्दयाणमुदयमागदाण जहण्णफद्दयप्पहुडि जाव उक्कस्सफद्दया त्ति ठइदाणं छब्भागविहत्ताणं पढमभागो मंदतमो, तदुदएण जादकसाओ सुक्कलेस्सा णाम। (धव. पु. ७, पृ. १०४); अहिंसाइसु कज्जेसु तिव्वुज्जमं सुक्कलेस्सा कुणइ॥ (धव. पु. १६, पृ. ४९२)। ४. निर्निदानोऽनहंकारः पक्षपातोज्झितोऽशठः। राग-द्वेषपराचीनः शुक्ललेश्यः स्थिराशयः॥ (पंचसं. अमित. १–२८१)। ५. सर्वत्रापि शमोपेतस्त्यक्तमाया-निदानकः। राग-द्वेषव्यपेतात्मा स्यात् प्राणी शुक्ललेश्यया॥ (भ. आ. मूला. १९०८ उद्.)।

१ पक्षपात न करना, निदान न करना—आगामी काल में भोग की आकांक्षा न करना, समस्त प्राणियों में समता का भाव रखना तथा राग-द्वेष व मोह से रहित होना; ये शुक्ललेश्या के लक्षण हैं।

शुक्लवर्णनामकर्म—एवं सेसवण्णाणं पि अत्थो

वत्तव्वो (जस्स कम्मस्स उदएण सरीरपोग्गलाणं सुक्किलवण्णो उप्पज्जदि तं सुक्किलवण्णणाम)। जिस कर्म के उदय से शरीरगत पुद्गलों में शुक्लवर्ण उत्पन्न होता है उसका नाम शुक्लवर्णनामकर्म है।

शुचि— ××× कः शुचिरिह यस्य मानसं शुद्धम्। (प्रश्नो. र. ५)।
शुचि उसे कहा जाता है, जिसका मन शुद्ध होता है।

शुद्ध—१. वचनार्थगतदोषातीतत्वाच्छुद्धः सिद्धान्तः। (धव. पु. १३, पृ. २८६)। २. मिथ्यात्व-रागादिसमस्तविभावरहितत्वेन शुद्धः। (बृ. द्रव्यसं. टी. ७७)। ३. शुद्धः द्रव्य-भावकर्मणामभावात्परमविशुद्धिसमन्वितः। (समाधि. टी. ६)। ४. मनः शुद्धं भवेद्यस्य स शुद्ध इति भाष्यते। (नीतिसा. ८६)।
१ जो सन्दर्भ शब्द व अर्थगत दोषों से रहित होता है वह शुद्ध कहलाता है। यह एक श्रुत का पर्याय नाम है। २ मिथ्यात्व एवं रागादि समस्त विभावों से जो रहित होता है उसे शुद्ध कहा जाता है।

शुद्धकोपहित—१. सुद्धगोवहिदं—शुद्धेन निष्पावादिभिरमिश्रणेनान्नेन उवहिदं संसृष्टं शाक-व्यञ्जनादिकम्। (भ. आ. विजयो. २२०)। २. सुद्धगोवहिदं—शुद्धेन निष्पावाद्यसंसृष्टेनान्नेनोपहितं संसृष्टं शाक-व्यञ्जनादिकं वा, यदि वा शुद्धेन केवलेन केन जलेनोपहितं कूरम्। (भ. आ. मूला. २२०)।
२ शुद्ध निष्पाव (धान्यविशेष) आदि के संसर्ग से रहित अन्न से उपहित, अथवा संसृष्ट शाक व्यञ्जनादि को शुद्धगोपहित माना जाता है। अथवा 'क' का अर्थ जल होता है, तदनुसार केवल शुद्ध जल से उपहित भात आदि को शुद्धकोपहित जानना चाहिए।

शुद्धगोवहित—देखो शुद्धकोपहित।

शुद्धचेतना—१. जीवस्य ज्ञानानुभूतिलक्षणा शुद्धचेतना। (पंचा. का. अमृत. वृ. १६)। २. शुद्धा स्यादात्मनस्तत्त्वम् ×××। (पंचाध्या. २, १९३)।
१ ज्ञान का अनुभव करना, यह शुद्धचेतना का लक्षण है।

शुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगम—शुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगमोऽस्ति परो यथा। सत्सुखं क्षणिकं शुद्धं संसारेऽस्मिन्नितीरणम्॥ (त. श्लो. १, ३३, ४१)।
संसार में सुख सत्, क्षणिक व शुद्ध है; इस प्रकार शुद्ध द्रव्यार्थपर्यायनैगमनय की अपेक्षा कहा जाता है।

शुद्धद्रव्यार्थिकनय— १. कर्मोपाधिनिरपेक्षः शुद्धद्रव्यार्थिकः, यथा संसारी जीवः सिद्धसदृक् शुद्धात्मा। (आलापप. पृ. २१४)। २. शुद्धं पर्यायमलकलंकविकलं द्रव्यमेवार्थोऽस्यास्तीति शुद्धद्रव्यार्थिकः। (सिद्धिवि. वृ. ७, पृ. ६६६)।
१ कर्म की उपाधि से रहित शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का उदाहरण यह है— जैसे संसारी जीव सिद्ध के समान शुद्ध आत्मा है। २ जो नय पर्यायरूप मलकलंक से रहित होकर द्रव्य को ही प्रमुखता से विषय करता है उसे शुद्धद्रव्यार्थिकनय कहते हैं।

शुद्धद्रव्यार्थिकसंग्रह—१. तत्र सत्तादिना यः सर्वस्य पर्याय-कलंकाभावेन अद्वैतत्वमध्यवस्येति शुद्धद्रव्यार्थिकसंग्रहः। (धव. पु. ६, पृ. १७०)। २. तत्र शुद्धद्रव्यार्थिकः पर्याय-कलंकरहितः बहुभेदः संग्रहः। (जयध. १, पृ. २१६)।
१ जो पर्याय के कलंक से रहित होकर— उसे विषय न करके— सत्ता आदि के द्वारा सबके द्वैत के अभाव स्वरूप एकत्व को विषय करता है उसे शुद्धद्रव्यार्थिकसंग्रह कहते हैं।

शुद्धध्यान—क्षीणे रागादिसन्ताने प्रसन्ने चान्तरात्मनि। यः स्वरूपोपलम्भः स्यात् स शुद्धाख्यः प्रकीर्तितः॥ (ज्ञाना. ३–३१, पृ. ६७)।
रागादि की परम्परा के नष्ट हो जाने पर जब अन्तरात्मा प्रसन्न होता है तब जो आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है उसे शुद्धध्यान कहा गया है।

शुद्धनय—देखो सत्ताग्राहक शुद्धनय।

शुद्धपरिहार—यत् विशुद्धः सन् पंचयाममनुत्तरं धर्मं परिहरति करोति, परिहारशब्दस्य परिभोगेऽपि वर्तमानत्वात्, स शुद्धपरिहारः शुद्धस्य सतः परिहारः पंचयाममनुत्तरं धर्मकरणं शुद्धपरिहार इति। (व्यव. भा. मलय. वृ. पृ. ११)।
विशुद्धि को प्राप्त होकर जो अनुपम पंचयाम—अहिंसादि पांच महाव्रतरूप सर्वश्रेष्ठ—धर्म को किया जाता है, इसका नाम शुद्धपरिहार है। यद्यपि परिहार शब्द का प्रसिद्ध अर्थ परित्याग है, पर उक्त शब्द परिभोग अर्थ में भी पाया जाता है। यहां यही अर्थ विवक्षित रहा है।

शुद्धपर्यायार्थिकनय— सत्तागौणत्वेनोत्पाद-व्ययग्राहकस्वभावोऽनित्यशुद्धद्रव्यार्थिकनयः, यथा—समयं समयं प्रति पर्याया विनाशिनः। (आलापप. पृ. २१५)।

जो सत्ता को गौण करके उत्पाद-व्यय स्वरूप अनित्य शुद्ध द्रव्य को विषय करता है उसे अनित्य शुद्धद्रव्यार्थिकनय कहते हैं। जैसे पर्यायें प्रत्येक समय नष्ट होने वाली हैं।

शुद्धसंग्रह—१. अवरे परमविरोहे सव्वं अत्थित्ति सुद्धसंगहणो। (ल. नयच ३६)। २. अवरोप्परमविरोहे सव्वं अत्थित्ति सुद्धसंगहणे। (द्रव्यस्व. प्र. नयच. २०८)।

२ परस्पर के विरोध से रहित 'सब है' इस प्रकार का जिसका विषय है, अर्थात् जो सत्ता सामान्य को विषय करता है, उसे शुद्धसंग्रहनय कहा जाता है।

शुद्धसंप्रयोग—अर्हदादिपु भगवत्सु सिद्धिसाधनीभूतेषु भक्तिबलानुरञ्जिता चित्तवृत्तिरत्र शुद्धसंप्रयोगः। (पंचा. का. अमृत. वृ. १६५)।

सिद्धि के कारणभूत अरहंत आदि परमेष्ठियों के विषय में जो गुणानुरागरूप भक्ति से अनुरंजित मन का व्यापार होता है उसे शुद्धसंप्रयोग कहते हैं।

शुद्धात्मा—१. णिद्दंडो णिद्दंदो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो। णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा॥ णिग्गंथो णीरागो णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को। णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा॥ (नि. सा. ४३-४४)। २. यो हि नाम स्वतःसिद्धत्वेनानादिरनन्तो नित्योद्योतो विशदज्योतिर्ज्ञायक एको भावः स संसारावस्थायामनादिबन्धपर्यायनिरूपणया क्षीरोदकवत्कर्मपुद्गलैः सममेकत्वेऽपि द्रव्यस्वभावनिरूपणया दुरन्तकषायचक्रोदयवैचित्र्यवशेन प्रवर्तमानानां पुण्य-पापनिवर्तकानामुपात्तवैश्वरूप्याणां शुभाशुभभावानां स्वभावेनापरिणमनात् प्रमत्तोऽप्रमत्तश्च न भवत्येप एवाशेषद्रव्यान्तरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभिलप्यते। (समयप्रा. अमृत. वृ. ६)। ३. सुद्धो जीवसहावो जो रहिओ दव्व-भावकम्मेहिं। सो सुद्धणिच्छयादो समासिओ सुद्धणाणीहिं॥ (द्रव्यस्व. प्र. नयच. ११४)।

१ आत्मा को स्वभावतः शुद्ध होकर मनदण्ड आदि तीन प्रकार के दण्ड, आकुलता, ममता, शरीर, परावलम्बन, राग, द्वेष, मूढता, भय, परिग्रह, राग, शल्य, काम, क्रोध, मान और मद इन समस्त दोषों से रहित होने के कारण शुद्ध कहा जाता है।

शुद्धि—१. शुद्धिश्च चित्तप्रसादलक्षणा। (आव. नि. हरि. वृ. १२४३, पृ. ५६२)। २. ज्ञान-दर्शनावरणविगमादमलज्ञान-दर्शनाविर्भूतिः शुद्धिः। (युक्त्यनु. टी. ४)। ३. सकलकर्मापायो हि शुद्धिः। (भ. आ. विजयो. टी. ७)।

१ चित्त का प्रसन्न रहना, यही शुद्धि का लक्षण है। २ ज्ञानावरण और दर्शनावरण के विनष्ट हो जाने से जो निर्मल ज्ञान और दर्शन का आविर्भाव होता है उसे शुद्धि कहा जाता है।

शुद्धोपयोग-श्रमण—१. सुविदिदपदत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो। समणो समसुह-दुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति॥ (प्रव. सा. १-१४)। २. कर्मादानक्रियारोधः स्वरूपाचरणं च यत्। धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात्सैप चारित्रसंज्ञिकः॥ (लाटीसं. ४, २६३)। ३. शुद्धात्मज्ञानदक्षः श्रुतनिपुणमतिर्भाविदर्शी पुरापि, चारित्रादिप्ररूढो विगतसकलसंक्लेशभावो मुनीन्द्रः। साक्षाच्छुद्धोपयोगी स इति नियमवाचावधार्येति सम्यक्कर्मघ्नोऽयं सुखं स्यान्नयविभजनतो (?) सद्विकल्पोऽविकल्पः। (अध्यात्मक. ३-१८)।

१ जिसने पदार्थों के प्ररूपक सूत्र (परमागम) को भली भांति जान लिया है, जो तप व संयम से युक्त होकर राग से रहित है, तथा सुख व दुःख में समान रहता है उसे शुद्धोपयोगी श्रमण कहा जाता है।

शुभकाययोग—१. अहिंसाऽस्तेय-ब्रह्मचर्यादिः शुभः काययोगः। (त. वा. ६, ३)। २. प्राणिरक्षणाचौर्य-ब्रह्मचर्यादिः शुभः काययोगः। (त. वृत्ति श्रुत. ६-३)।

१ हिंसा न करना, चोरी न करना और ब्रह्मचर्य का परिपालन करना; इत्यादि यह शुभ काययोग कहलाता है।

शुभचर्या—अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु। विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया॥ (प्रव. सा. ३-४६)।

यदि श्रमण अवस्था में अरहन्त आदि में गुणानुराग रूप भक्ति है तथा प्रवचन (आगम या संघ) में जो

अभियुक्त हैं ऐसे आचार्य, उपाध्याय व साधु के विषय में वात्सल्यभाव रहता है तो इसे शुभयुक्त-चर्या—शुभ राग से युक्त चारित्र—कहा जाता है।

शुभ-तैजससमुद्घात—देखो प्रशस्त निःसरणतैजस। लोकं व्याधि-दुर्भिक्षादिपीडितमवलोक्य समुत्पन्नकृपस्य परमसंयमनिधानस्य महर्षेर्मूलशरीरमत्यज्य शुभाकृतिः प्रागुक्त (दीर्घत्वेन द्वादश योजनप्रमाणः सूच्यंगुलसंख्येयभागमूलविस्तारो नवयोजनाग्रविस्तारः) देहप्रमाणपुरुषो [दक्षिणस्कन्धान्निर्गत्य] दक्षिणप्रदक्षिणेन व्याधि-दुर्भिक्षादिकं स्फोटयित्वा पुनरपि स्वस्थाने प्रविशति, असौ शुभरूपस्तैजससमुद्घातः। (बृ. द्रव्यसं. टी. १०; कार्तिके. टी. १७६)।

लोक को व्याधि व दुर्भिक्ष से पीड़ित देखकर जिस महर्षि के दया-भाव उत्पन्न हुआ है तथा जो उत्कृष्ट संयम का परिपालन करने वाला है उसके मूल शरीर को न छोड़कर दाहिने कंधे से जो बारह योजन लम्बा और सूच्यंगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण मूल विस्तार वाला व नौ योजनप्रमाण अग्रविस्तार वाला पुरुष निकल करके दक्षिण-प्रदक्षिणक्रम से युक्त व्याधि व दुर्भिक्ष आदि को दूर करता हुआ फिर अपने स्थान में प्रविष्ट हो जाता है उसे शुभ तैजससमुद्घात कहा जाता है।

शुभध्यान—सुविसुद्धराय-दोसो बाहिरसंकप्पवज्जिओ धीरो। एयग्गमणो संतो जं चिंतइ तं पि सुहज्झाणं॥ ससरूवसमुब्भासो णट्ठममत्तो जिदिंदिओ संतो। अप्पाणं चिंतंतो सुहज्झाणरओ हवे साहू॥ (कार्तिके. ४८०-८१)।

जो राग-द्वेष से सर्वथा रहित होकर अतिशय विशुद्धि को प्राप्त होता हुआ बाह्य—शरीर एवं स्त्री, पुत्र व धन सम्पत्ति आदि चेतन-अचेतन—पदार्थों के संकल्प विकल्पसे रहित हो चुका है, जिसे अपने स्वरूप का आभास हो चुका है, ममत्व भाव से जो रहित हुआ हैं; तथा जो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर चुका है; ऐसा साधु एकाग्रचित्त होकर जो कुछ भी विचार करता है वह उसका शुभ ध्यान माना जाता है। उसी में वह रत रहता है।

शुभनाम—१. यदुदयाद्रमणीयत्वं तच्छुभनाम। (स. सि. ८-११; त. श्लो. ८-११)। २. यदुदयाद् रमणीयत्वं तच्छुभनाम। यदुदयाद् दृष्टः श्रुतो वा रमणीयो भवत्यात्मा तच्छुभनाम। (त. वा. ८, ११, २७)। ३. जस्स कम्मस्स उदएण अंगोवंगणामकम्मोदयजणिदअंगाणमुवंगाणं च सुहत्तं होदि तं सुहं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ६४); जस्स कम्मस्सुदएण चक्कवट्टि-बलदेव-वासुदेवत्तादिरिद्धीणं सूचया संखंकुसारविंदादओ अंग-पच्चंगेसु उप्पज्जंति तं सुहं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६५)। ४. यदुदयादङ्गोपाङ्गनामकर्मजनितानामंगानामुपाङ्गानां च रमणीयत्वं तच्छुभनाम। (मूला. वृ. १२-१९६)। ५. यतश्च शिरःप्रभृतीनां शुभानां (निष्पत्तिर्भवति) तच्छुभनाम। (समवा. अभय. वृ. ४२)। ६. तथा यदुदयान्नाभेरुपरितना अवयवाः शुभाः जायन्ते तत् शुभनाम। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १९३, पृ. ४७४)। ७. रमणीयत्वकारणं शुभनाम। (भ. आ. मूला. २१२४)। ८. यदुदयात् रमणीया मस्तकादिप्रशस्तावयवा भवन्ति तच्छुभनाम। (गो. क. जी. प्र. ३३)। ९. यदुदयेन रमणीयो भवति तच्छुभनाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८-११)।

१ जिसके उदय से शरीर रमणीय होता है उसे शुभ नामकर्म कहते हैं। ३ जिस कर्म के उदय से अंग और प्रत्यंगों में चक्रवर्तित्व, बलदेवत्व और वासुदेवत्व आदि ऋद्धियों के सूचक शंख, अंकुश और कमल आदि चिह्न होते हैं उसे शुभ नामकर्म कहा जाता है। ५ जिसके निमित्त से शिर आदि उत्तम अंग-उपांगों की उत्पत्ति होती है वह शुभ नामकर्म कहलाता है।

शुभ मनोयोग—१. ततः (वधचिन्तनेर्ष्यासूयादिरूपादशुभमनोयोगात्) विपरीतः शुभः। (स. सि. ६-३)। २. ततोऽनन्तविकल्पादन्यः शुभः। तस्मादनन्तविकल्पादशुभयोगादन्यः शुभयोग इत्युच्यते। तद्यथा—××× अर्हदादिभक्ति-तपोरुचि-श्रुतविनयादिः शुभो मनोयोगः। (त. वा. ६, ३, २)। ३. अर्हदादिभक्तिस्तपोरुचिः श्रुतविनयादिश्च शुभो मनोयोगश्चेति। (त. वृत्ति श्रुत. ६-३)।

२ अरहन्त व आचार्य आदि की भक्ति, तप में रुचि और श्रुत का विनय; इत्यादि शुभ मनोयोग के लक्षण हैं।

शुभयोग—देखो शुभमनोयोग। १. शुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः शुभः। (स. सि. ६-३)। २. सम्यग्दर्शनाद्यनुरंजितो योगः शुभो विशुद्ध्यंगत्वात्।

(त. श्लो. ६-३)। ३. शुभपरिणामनिर्वृत्तो निष्पन्नो योगः शुभः कथ्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ६-३)।
१ शुभ परिणामों से जो योग उत्पन्न होता है उसे शुभ योग कहते हैं।

शुभ वाग्योग — १. सत्य-हित-मितभाषणादिः शुभो वाग्योगः। (त. वा. ६, ३, २)। २. सत्य-हित-मित-मृदुभाषणादिः शुभो वाग्योगः। (त. वृत्ति श्रुत. ६-३)।
१ सत्य, हितकर और परिमित भाषण आदि को शुभ वाग्योग (वचनयोग) कहा जाता है।

शुभास्रव—मनोवाक्कायकर्मभिः शुभैरशुभैरास्रवैः ××× । (सिद्धिवि. वृ. ४-९, पृ. २५५)।
शुभ, मन, वचन और काय की क्रिया का नाम शुभास्रव है।

शुभोपयोग—१. जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तधेव अणगारे। जीवे य साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स॥ (प्रव. सा. २-६५)। २. विशिष्टक्षयोपशमदशाविश्रान्तदर्शन-चारित्रमोहनीयपुद्गलानुवृत्तिपरत्वेन परिगृहीतशोभनोपरागत्वात् परमभट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरार्हत्सिद्ध - साधुश्रद्धाने समस्तभूतग्रामानुकम्पाचरणे च प्रवृत्तः शुभ उपयोगः। (प्र. सा. अमृत. वृ. २-६५)।
१ जो जीव जिनेन्द्रों को जानता है, सिद्धों व गृह के त्यागी मुनियों को देखता है—उन पर श्रद्धा रखता है, तथा समस्त जीवों के विषय में दयालुता का व्यवहार करता है उसका जो इस प्रकार का उपयोग होता है उसे शुभ-उपयोग कहते हैं।

शुषिर—१. वंश-शंखादिनिमित्तः सौषिरः। (स. सि. ५-२४; त. वा. ५, २४, ५)। २. शुशिरं वंशसम्भूतं ×××। (पद्मपु. २४-२०)। ३. शुषिरं शंख-काहलादि। (रायप. पृ. ९६)।
१ बांस व शंख आदि से जो शब्द उत्पन्न होता है उसे सौषिर या शुषिर कहते हैं। ३ शंख व काहल आदि से उत्पन्न होने वाले शब्द को शुषिर कहा जाता है।

शुश्रूषा—१. गुरोरादेशं प्रति श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा, गुर्वादिवैयावृत्त्यमित्यर्थः। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. १, ९, ३३)। २. शुश्रूषा श्रोतुमिच्छा। (योगशा. स्वो. विव. १-५१)।

१ गुरु के आदेश के सुनने की इच्छा को तथा उनकी वैयावृत्ति आदि को शुश्रूषा कहते हैं।

शूद्र—१. जे नीयकम्मनिरया, परपेसणकारया निययकालं। ते होन्ति सुद्दवग्गा बहुभेया चेव लोगम्मि॥ (पउमच. ३-११७)। २. शूद्राः शिल्पादिसम्बन्धात् ××× ॥ (ह. पु. ९-३९)। ३. तेषां शुश्रूषणाच्छूद्राः ×××। (म. पु. १६, १८५); ××× शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात्॥ (म. पु. ३८-४६)। ४. शुश्रूषन्ते त्रिवर्णीं ये भाण्ड-भूषाम्बरादिभिः। (धर्मसं. श्रा. ९-२३२)।
१ जो नीच कार्य में निरत होकर नियत समय तक दूसरों की आज्ञा के अनुसार कार्य किया करते हैं वे शूद्र कहलाते हैं। २ जो शिल्प आदि कार्य को किया करते हैं उन्हें शूद्र कहा जाता है।

शून्यध्यान—१. जत्थ ण झाणं झेयं झायारो णेव चिंतणं किंपि। ण य धारणावियप्पो तं सुण्णं सुट्ठु भाविज्जा॥ (आरा. सा. ७८)। २. रायाईहिं विमुक्कं गयमोहं तत्तपरिणदं णाणं। जिणसासणम्मि भणियं सुण्णं इय एरिसं मुणह॥ इंदियविसयादीदं अमंत-तंतं अधेय-धारणयं। णहसरिसं पि ण गयणं तं सुण्णं केवलं णाणं॥ (ज्ञा. सा. पद्म. ४१-४२)।
१ जिस ध्यान में ध्यान, ध्येय और ध्याता का कुछ भेद नहीं रहता; चिन्तन भी कुछ नहीं रहता है, तथा धारणा का विकल्प भी नहीं रहता है उसे शून्यध्यान जानना चाहिए।

शून्यवर्गणा—सुण्णाओ णाम परमाणुविरहिदवग्गणाओ। (धव. पु. १४, पृ. १३६)।
परमाणु से रहित वर्गणाओं को शून्यवर्गणायें कहा जाता है।

शूर—कः शूरो यो ललनालोचनवाणैर्न च व्यथितः॥ (प्रश्नो. र. ८)।
जो स्त्रियों के नेत्ररूप वाणों से पीड़ित नहीं होता है उसे वस्तुतः शूर समझना चाहिए।

शृंखलित दोष—शृङ्खलाबद्धवत् पादौ कृत्वा शृंखलितं स्थितिः। (अन. ध. ८-११४)।
सांकल से बंधे हुए के समान पांवों को करके कायोत्सर्ग में स्थित होने पर शृंखलित नाम का दोष होता है।

शृंग—शृङ्गम् अहो कायं काय इत्याद्यावर्तानुच्चा-

रयतो ललाटमध्यदेशमस्पृशतः शिरसो वाम-दक्षिणे शृङ्गे स्पृशतो वन्दनकरणम् । (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०) ।
'ग्रहो कायं कायः' इस प्रकार ग्रावर्तों का उच्चारण करते हुए मस्तक के मध्य भाग को न छूकर शिर के वायें और दक्षिण सींगों का स्पर्श करते हुए वन्दना करना, यह वन्दना का शृंग नामक चौवीसवां दोष है।

शेषनिस्फोटित—शेपः निस्फोटितः पितृ-मातृ-गुरु-महत्तरादिभिरननुज्ञातः प्रव्रज्यां बलात्कारेण जिघृक्षुः । (आचारदि. पृ. ७४) ।
जो पिता, माता, गुरु और महत्तर आदि की अनुज्ञा के विना ही दीक्षा के ग्रहण का इच्छुक हो उसे शेष-निस्फोटित कहते हैं।

शैक्ष—१. शिक्षाशीलः शैक्षः । (स. सि. ९–२४; त. श्लो. ९–२४) । २. अचिरप्रव्रजितः शिक्षयितव्यः शिक्षः, शिक्षामर्हतीति शैक्षो वा । (त. भा. ९–२४) । ३. शिक्षाशीलः शैक्ष्यः। श्रुतज्ञानशिक्षण-परः अनुपरतव्रतभावनानिपुणः शैक्षक इति लक्ष्यते । (त. वा. ९, २४, ६) । ४. श्रुतज्ञानशिक्षणपरोऽनु-परतव्रतभावनानिपुणः शैक्षः । (चा. सा. पृ. ६६) । ५. सेहत्ति अभिनवप्रव्रजितः । (औपपा. अभय. वृ. पृ. ४३) । ६. अचिरप्रव्रजितः शिक्षार्हः शैक्षः । (योगशा. स्वो. विव. ४–९०) । ७. शास्त्राभ्यास-शीलः शैक्षः । (त. वृत्ति श्रुत. ९–२४; कार्तिके. टी. ४५९) । ८. शास्त्राभ्यासी शैक्षः । (भावप्रा. टी. ७८) ।
१ जिसका स्वभाव शिक्षा ग्रहण करने का है उसे शैक्ष कहा जाता है। २ जिसे दीक्षा ग्रहण किये हुए अभी थोड़ा ही समय बीता है तथा जो शिक्षा के योग्य है उसे शिक्ष, शैक्ष या शैक्ष्य कहा जाता है।

शैक्ष्य—देखो शैक्ष ।

शैलकर्म—सेलो पत्थरो, तम्हि घडिदपडिमाओ सेलकम्मं । (धव. पु. ९, पृ. २४९); पुधभूदसिलासु घडिदपडिमाओ सेलकम्माणि णाम । (धव. पु. १३, पृ. १०); सिलासु पुधभूदासु उक्कच्छिण्णासु वा कदअरहंतादिपंचलोगपालपडिमाओ सेलकम्माणि णाम । (धव. पु. १३, पृ. २०२); तेहि चेव (पत्थर-कट्टुएहि) छिण्णसिलासु घडिदरूवाणि सेल-कम्माणि णाम । (धव. पु. १४, पृ. ५) ।
पृथग्भूत शिलाओं में अथवा उखाड़ी गई शिलाओं में जो अरहन्त आदि पांच लोकपालों की प्रतिमाएं उत्कीर्ण की जाती हैं, इसे शैलकर्म कहा जाता है।

शैलेशी—१. सेलेसो किर मेरू सेलेसी होइ जा तहाऽचलया । होउं च असेलेसो सेलेसी होइ थिरयाए ॥ अहवा सेलुव्व इसी सेलेसी होइ सो उ थिरयाए । सेव अलेसी होई सेलेसीहो अलोवाओ ॥ सीलं व समाहाणं निच्छयओ सव्वसंवरो सो य । तस्सेसो सीलेसो सीलेसी होइ तयवत्थो ॥ (ध्यानश. हरि. वृ ७६ उद्.) । २. शीलानामीशः शैलेशः, तस्य भावः शैलेश्यं सकलगुण-शीलानामेकाधिपत्य-प्रतिलम्भनम् । (जयध. अ. प. १२४६) । ३. शीलेशः सर्वसंवररूपचरणप्रभुस्तस्येयमवस्था । शैलेशो वा मेरुस्तस्येव याऽवस्था स्थिरतासाधर्म्यात् सा शैलेशी । (व्याख्याप्र. अभय. वृ. १, ८, ७२; धव. पु. ६, पृ. ४१७ टि. १) । ४. शीलानामष्टादश-सहस्रसंख्यानामीशः शीलेशः, शीलेशस्य भावः शैलेशी । (जिनसहस्र. टी. पृ. १३२ व २४७) ।
१ शैलों (पर्वतों) में प्रमुख मेरु को शैलेश कहा जाता है, उस शैलेश के समान जो निश्चलता प्राप्त हो जाती है उसका नाम शैलेशी है। अथवा 'सेलेसी' इस प्राकृत शब्द का संस्कृत रूप शैलर्षि भी होता है, तदनुसार उसका अभिप्राय शैल के समान स्थिर ऋषि होता है। २ समस्त गुण-शीलों के एकाधिपतित्व को शैलेश्य कहा जाता है।

शैलेश्य—देखो शैलेशी ।

शैव—कर्मोपाधिविनिर्मुक्तं तद्रूपं शैवमुच्यते । (भाव-सं. वाम. १६२) ।
कर्म की उपाधि से रहित रूप को शैव कहा जाता है।

शोक—१. अनुग्राहकसम्बन्धविच्छेदे वैक्लव्यविशेषः शोकः । (स. सि. ६–११); यद्विपाकाच्छोचनं स शोकः । (स. सि. ८–९; त. वा. ८, ९, ४) । २. अनुग्राहकसम्बन्धविच्छेदे वैक्लव्यविशेषः शोकः। अनुग्राहकस्य बान्धवादेः सम्बन्धविच्छेदे तद्गताशयस्य चिन्ता-खेदलक्षणः परिणामो वैक्लव्यविशेषो मोहकर्मविशेष शोकोदयापेक्षः शोक इत्युच्यते । (त. वा. ६, ११, २) । ३. शोचनं शोकः, शोचयतीति शोकः । जेसिं कम्मक्खंधाणमुदएण जीवस्स सोगो समुप्पज्जइ तेसिं सोगो त्ति सण्णा । (धव. पु. ६,

पृ. ४७); जस्स कम्मस्स उदएण जीवाणं सोगो समुप्पज्जदि तं कम्मं सोगो णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६१)। ४. अनुग्राहकबान्धवादिविच्छेदो मोहकर्मविशेषोदयादसद्वेद्ये च वैक्लव्यविशेषः शोकः। (त. श्लो. ६–११)। ५. शोक इष्टवियोगवशादनुशोचनम्। (मूला. वृ. २–८); शोचनं शोचयतीति वा शोकः, यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन शोकः समुत्पद्यते जीवस्य तस्य शोक इति संज्ञा। (मूला. वृ. १२–१९३)। ६. यदुदयात् प्रियविप्रयोगादौ सोरस्ताडमाक्रन्दति परिदेवते भूपीठे च लुठति दीर्घं च निश्वसिति तत् शोकमोहनीयम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४६९)। ७. अनुग्राहकसम्बन्धविच्छेदे वैक्लव्यविशेषः शोको यद्विपाकाज्जायते स शोकः। भ. आ. मूला. २०६७)। ८. स्वस्येष्टजनवियोगादिना स्वस्मिन् दुःखोत्कर्षः शोकः। (अलं. चि. ५–२)। ९. शोचनं शोकः चेतनाचेतनोपकारकवस्तुसम्बन्धविनाशे वैक्लव्यं दीनत्वमित्यर्थः। (त. वृत्ति श्रुत. ६–११); यदुदयात् अनुशेते शोचनं करोति स शोकः। (त. वृत्ति श्रुत. ८–९)।

१ उपकारक जनों के सम्बन्ध का विच्छेद होने पर जो विकलता होती है उसका नाम शोक है। यह शोक जिस कर्म के उदय से होता है उस कर्म को शोक अकषायवेदनीय (चारित्रमोहनीय का एक अवान्तर भेद) कहा जाता है। ६ जिस कर्म के उदय से इष्टवियोग आदि के समय में प्राणी छाती पीटकर जोर जोर से रोता है, गुणानुस्मरणपूर्वक विलाप करता है, पृथ्वी पर लोटता है तथा दीर्घ श्वास लेता है; उसे शोकमोहनीय कहते हैं।

शोक अकषायवेदनीय—देखो शोक।

शोक मोहनीय—देखो शोक।

शौच—१. कंखाभावणिवित्तिं किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो। जो वट्टदि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे सोच्चं॥ (द्वादशानु. ७५)। २. लोभप्रकाराणामुपरमः शौचम्। (स. सि. ६–१२); प्रकर्षप्राप्तलोभान्निवृत्तिः शौचम्। (स. सि. ९–६; त. श्लो. ९–६; चा. सा. पृ. २९)। ३. लोभप्रकाराणामुपरमः शौचम्। लोभप्रकारेभ्यः उपरतः शुचिरित्युच्यते, तस्य भावः कर्म वा शौचम्। (त. वा. ६, १२, १०); प्रकर्षप्राप्ता लोभनिवृत्तिः शौचम्। लोभस्य निवृत्तिः प्रकर्षप्राप्ता, शुचेर्भावः कर्म वा शौचमिति निश्चीयते। (त. वा. ९, ६, ५)। ४. लोभप्रकाराणामुपरमः शौचम्, स्वद्रव्यत्यागपरद्रव्यापहरणसांन्यासिकनिह्नवादयो लोभप्रकाराः, तेषामुपरमः शौचम्। (त. श्लो. ६–१२)। ५. चतुर्विधस्य लोभस्य निवृत्तिः शौचमुच्यते। ज्ञान-चारित्रशिक्षादौ स धर्मः सुनिगद्यते॥ (त. सा. ६–१७)। ६. सम-संतोसजलेणं जो धोवदि तिव्वलोहमलपुंजं। भोयणगिद्धिविहीणो तस्स सउच्चं हवे विमलं॥ (कार्तिके. ३९७)। ७. शौचं द्रव्यतो निर्लेपता भावतोऽनवद्यसमाचारः। (औपपा. अभय वृ. १६, पृ. ३३)। ८. शौचमाचारशुद्धिः। (योगशा. स्वो. विव. ३–१६); शौचं संयमं प्रति निरुपलेपता, सा चादत्तादानपरिहाररूपा। (योगशा. स्वो. विव. ४–९३)। ९. परवस्तुष्वनिष्टप्रणिधानोपरमः शौचम्। (अन. ध. स्वो. टी. ६–२८)। १०. उत्कृष्टतासमागतगार्द्ध्यपरिहरणं शौचमुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ९–६)।

१ जो मुनि कांक्षाभाव को छोड़कर—निःस्पृह होकर—वैराग्यभावना से युक्त होता है उसके शौचधर्म होता है। २ लोभ के जितने भी प्रकार हैं उनके हट जाने पर जो निर्मलता होती है उसे शौचधर्म कहते हैं।

शौण्डिक—शौण्डिकः कल्पपालः। (नीतिवा. १४, १७, पृ. १७३)।

जो मद्य का व्यवसाय करता है उसे शौण्डिक कहा जाता है।

शौभिक—शौभिकः क्षपायां काण्डपटावरणेन नानारूपदर्शी। (नीतिवा. १४–१८, पृ. १७३)।

रात्रि में काण्डपट के आवरण से जो अनेक रूपों को देखता है उसे शौभिक कहा जाता है।

शौषिर—देखो शुषिर।

श्रद्धा—१. श्रद्धा मिथ्यात्वमोहनीयकर्मक्षयोपशमादिजन्योदकप्रसादक-मणिवच्चेतसः प्रसादजननी। (योगशा. स्वो. विव. ३–१२४)। २. सड्ढा (श्रद्धा)—सद्गुरूपदेशविज्ञातार्थरुचिः। (भ. आ. मूला. ४३१)। ३. तस्य व्यामोह-संशीति-विपर्याससविवर्जिता। इत्थमेव प्रतीतिर्या श्रद्धा सा कीर्तिता बुधैः॥ (सोक्षपं. ४२)। ४. तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा × × ×। (पंचाध्या. २–१२)।

१ मिथ्यात्व मोहनीयकर्म के क्षयोपशम आदि से चित्त की जो प्रसन्नता होती है उसे श्रद्धा कहा जाता है। जैसे जल की निर्मलता का कारण मणि है वैसे ही चित्त की निर्मलता का कारण श्रद्धा है। २ समीचीन गुरु के उपदेश से जाने हुए पदार्थों में जो रुचि होती है उसे श्रद्धा कहते हैं।

श्रद्धानप्रायश्चित्त—१. मिच्छत्तं गंतूण ट्ठियस्स महव्वयाणि घेत्तूण अत्तागम-पयत्थसद्दहणा चेव [सद्दहणा-] पायच्छित्तं। (धव. पु. १३, पृ. ६३)। २. श्रद्धानं सावद्यगतस्य मनसो मिथ्यादुष्कृताभिव्यक्ति-निवर्तनम्। (मूला. वृ. ११–१६)। ३. गत्वा स्थितस्य मिथ्यात्वं यद्दीक्षाग्रहणं पुनः। तच्छ्रद्धानमिति ख्यातमुपस्थापनमित्यपि॥ (अन. ध. ७–५७)। ४. परिणामपच्चएणं सम्मत्तं उज्झिऊण मिच्छत्तं। पडिवज्जिऊण पुणरवि परिणामवसेण सो जीवो॥ णिंदण-गरहणजुत्तो णियत्तिऊणो पडिविज्ज सम्मत्तं। जं तं पायच्छित्तं सद्दहणासण्णिदं होदि॥ (छेदपिण्ड २८५–८६)।

१ मिथ्यात्व को प्राप्त होकर स्थित जीव जो महाव्रतों को ग्रहण करके आप्त, आगम और पदार्थों का श्रद्धान करता है, यह उसका श्रद्धान या श्रद्धना नाम का प्रायश्चित्त है। २ पापाचरण को प्राप्त मन मिथ्या दुष्कृत को अभिव्यक्त करके जो उससे निवृत्त होता है उसका नाम श्रद्धान-प्रायश्चित्त है। ४ परिणाम के निमित्त से सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ जीव परिणाम के वश फिर से जो निन्दा व गर्हा से युक्त होकर उस मिथ्यात्व से हटता है और सम्यक्त्व को स्वीकार करता है उसका यह श्रद्धान नामक प्रायश्चित्त है।

श्रमण—१. पंचसमिदो तिगुत्तो पचेंदियसंवुडो जिदकसाओ। दंसण-णाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो॥ समसत्तु-बंधुवग्गो समसुह-दुःखो पसंस-णिंदसमो। समलोट्ठु-कंचणो पुण जीविद-मरणे समो समणो॥ (प्रव. सा. ३, ४०–४१)। २. समणे अणिस्सिए अणियाणे आदाणं च अतिवायं च मुसावायं च बहिद्धं च कोहं च माणं च मायं च लोहं च पिज्जं च दोसं च इच्चेव, जओ जओ आदाणं अप्पणो पद्दोसहेऊ तओ तओ आदाणातो पुव्वं पडिविरते पाणाइवाया सिआ दंते दविए वोसट्ठकाए समणे त्ति वच्चे। (सूत्रकृ. सू. १, १६, २। ३. समो सव्वत्थ मणो जस्स भवति स समणो। (उत्तरा. चू. पृ. ७२)। ४. सर्वग्रन्थविनिर्मुक्ता महातपसि ये रताः। श्रमणास्ते परं पात्रं तत्त्वध्यानपरायणाः। (पद्मपु. १४–५८)। ५. श्राम्यति तपस्यतीति श्रमणः, तस्य भावं श्रामण्यं श्रमणशब्दस्य पुंसि प्रवृत्तिनिमित्तं तपःक्रिया श्रामण्यम्॥ (भ. आ. विजयो. ७१)। ६. श्राम्यतीति श्रमणो द्वादशप्रकारतपोनिष्टप्तदेहः। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ६, ४, पृ. १४१)। ७. यो न श्रान्तो भवेद् भ्रान्तेस्तं विदुः श्रमणं बुधाः॥ (उपासका. ८५६)। ८. श्राम्यति संसारविषये खिन्नो भवति तपस्यतीति वा, नन्द्यादित्वात् कर्तरि अने श्रमणः। (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०)।

१ जो पांच समितियों से सम्पन्न, तीन गुप्तियों से संरक्षित, पांच इन्द्रियों से संवृत, कषायों का विजेता, दर्शन-ज्ञान से परिपूर्ण, शत्रु व मित्र में समानता का व्यवहार करने वाला, सुख-दुख में हर्ष-विषाद से रहित, प्रशंसा व निन्दा में समान, ढेले व कांच को समान समझने वाला तथा जीवन व मरण में समान रहता है; ऐसे संयत को श्रमण कहा जाता है। २ श्रमण अनिश्रित—शरीर आदि के विषय में प्रतिबन्ध से रहित और निदान से भी रहित होकर आदान—सावद्य अनुष्ठान, अतिपात—प्राणातिपात (हिंसा), असत्य वचन, बहिद्ध—मैथुन-परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम और द्वेष इत्यादि जो स्व व पर के लिए अनर्थकारी हैं उन सबका ज्ञ-परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग करे। इसके अतिरिक्त अनर्थ के हेतुभूत जिस जिस सावद्य अनुष्ठान से अपने अपाय व प्रद्वेष के कारणों को भी देखता है उस उससे विरत हो; इस प्रकार से जो दान्त (शुद्ध) द्रव्यस्वरूप व शरीर से निःस्पृह हो चुका है उसे श्रमण कहना चाहिए।

श्रमणाभास—आगमज्ञोऽपि संयतोऽपि तपःस्थोऽपि जिनोदितमनन्तार्थनिर्भरं विश्वं स्वेनात्मना ज्ञेयत्वेन निष्पीतत्वादात्मप्रधानमश्रद्दधानः श्रमणाभासो भवति। (प्रव. सा. अमृत. वृ. ३–६४)।

जो आगम का ज्ञाता भी है, संयत भी है तथा जिनोपदिष्ट अनन्त पदार्थों से व्याप्त लोक को ज्ञेय स्वरूप से जानता भी है, परन्तु जो आत्मा को

प्रधानता से लोक का श्रद्धान नहीं करता है, उसे श्रमणाभास कहा जाता है।

श्रस्तदर्शन—संयोजनोदये भ्रष्टो जीवः प्रथमदृष्टितः। अन्तराऽनाप्तमिथ्यात्वो वर्ण्यते श्रस्तदर्शनः॥ (पंचसं. अमित. १–२०)।

अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय में आ जाने पर जो जीव प्रथम सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो चुका है तथा मिथ्यात्व को अभी प्राप्त नहीं हुआ है, इस अन्तरालवर्ती जीव को श्रस्तदर्शन कहा जाता है। यह सासादनसम्यग्दृष्टि का नामान्तर है।

श्राद्ध—साधुभ्यो ददता दानं लभ्यते फलमीप्सितम्। यस्यैषा जायते श्रद्धा नित्यं श्राद्धं वदन्ति तम्॥ (अमित. श्रा. ९–६)।

साधु के लिए दान देने वाला इच्छित फल को प्राप्त करता है, ऐसी जिस दाता के श्रद्धा रहती है उसे श्राद्ध—श्रद्धागुण से युक्त श्रावक—कहा जाता है।

श्रावक—१. एहु धम्मु जो आयरइ बंभणु सुद्दु वि कोइ। सो सावउ किं सावयहं अण्णु कि सिरि मणि होइ॥ (सावयध. ७६)। २. मूलोत्तरगुणनिष्ठामधितिष्ठन् पञ्चगुरुपदशरण्यः। दान-यजनप्रधानो ज्ञान-सुधां श्रावकः पिपासुः स्यात्॥ (सा. ध. १, १५)। ३. मद्य-मांस-मधुत्यागी यथोदुम्बरपञ्चकम्। नामतः श्रावकः ख्यातः नान्यथापि तथा गृही॥ (लाटीसं. ३–१५७)।

१ जो इस (दोहा ५९ में निर्दिष्ट अणुव्रतादिरूप बारह प्रकार के) धर्म का आचरण करता है वह चाहे ब्राह्मण, शूद्र कोई भी हो, श्रावक कहलाता है। श्रावक के शिर पर क्या अन्य कोई मणि रहता है? श्रावक की पहिचान उक्त व्रत ही हैं।

श्रावकधर्म—श्रावकधर्मस्तु देशविरतिरूपः। (योगशा. स्वो. विव. ३–१२४)।

देशविरतिरूप—अणुव्रतादिस्वरूप—जो धर्म है वही श्रावकधर्म है।

श्राविका—श्राविका यथाशक्तिमूलोत्तरगुणभृताः तदुपासिकाश्च। (सा. ध. स्वो. टी. २–७३)।

जो शक्ति के अनुसार मूल गुणों और उत्तर गुणों को धारण करती हैं वे श्राविकाएं कहलाती हैं।

श्रीमान्—श्रीरन्तरङ्गा अनन्तज्ञानादिलक्षणा बहिरङ्गा च समवसरणाष्टमहाप्रातिहार्यादिस्वभावा लक्ष्मीरस्यातिशयेन हरि-हराद्यसम्भविलेनास्तीति श्रीमान्। (अन. ध. स्वो. टी. ८–३९)।

श्री का अर्थ लक्ष्मी है। वह अन्तरंग और बहिरंग के भेद से दो प्रकार की है। अनन्तज्ञानादिस्वरूप लक्ष्मी अन्तरंग और समवसरण एवं आठ प्रातिहार्यादिस्वरूप लक्ष्मी बहिरंग मानी गई है। यह दोनों प्रकार की लक्ष्मी जिसके होती है उसे श्रीमान् कहा जाता है। यह जिन भगवान् के १००८ नामों के अन्तर्गत है।

श्रुत—१. तदावरणक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रूयतेऽनेन तत्, शृणोति श्रवणमात्रं वा श्रुतम्। (स. सि. १–९); तदुपदिष्टं (केवलिभिरुपदिष्टं) बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तगणधरानुस्मृतं ग्रन्थरचनं श्रुतं भवति। (स. सि. ६–१३)। २. श्रुतावरणक्षयोपशमाद्यन्तरंग-बहिरंगहेतुसन्निधाने सति श्रूयते स्मेति श्रुतम्, कर्तरि श्रुतपरिणत आत्मैव शृणोतीति श्रुतम्, भेदविवक्षायां श्रूयतेऽनेनेति श्रुतं श्रवणमात्रं वा। (त. वा. १, ९, २); अनिन्द्रियनिमित्तोऽर्थावगमः श्रुतम्। इन्द्रियानिन्द्रियबलाधानात्, पूर्वमुपलब्धेऽर्थे नोइन्द्रियप्राधान्यात् यदुत्पद्यते ज्ञानं तत् श्रुतम्। (त. वा १, ९, २७); तदुपदिष्टं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तगणधरावधारितं श्रुतम्। तैर्व्यपगतराग-द्वेषमोहैरुपदिष्टं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैः गणधरैरवधारितं श्रुतमित्युच्यते। (त. वा. ६, १३, १)। ३. अत्थाओ अत्थंतरउवलंभे तं भणंति सुयणाणं। आहिणिबोहियपुव्वं णियमेण य सद्दयं मूलं॥ (प्रा. पंचसं १–१२२; धव. पु. १, पृ. ३५९ उद्.)। ४. सुदणाणं णाम मदिपुव्वं मदिणाणपडिग्गहियमत्थं मोत्तूणण्णत्थम्हि वावदं सुदणाणावरणीयक्खओवसमजणिदं। (धव. पु. १, पृ. ९३); अवग्गहिदत्थादो पुधभूदत्थालंबणाए लिंगजणिदबुद्धीए णिण्णयरूवाए सुदणाणत्तब्भुवगमादो। (धव. पु. ६, पृ. १८); सुदणाणं णाम इंदिएहि गहिदत्थादो तदो पुधभूदत्थग्गहणं, जहा सद्दादो घडादीणमुवलंभो धूमादो अग्गिस्सुवलंभो वा। (धव. पु. ६, पृ. २१); मदिणाणेण गहिदत्थादो जमुप्पज्जदि अण्णेसु अत्थेसु णाणं तं सुदणाणं णाम। (धव. पु. १३, पृ. २१०); अवग्गहादिधारणापेरंतमदिणाणेण अवगयत्थादो अण्णत्थावगमो सुदणाणं। (धव. पु. १३, पृ. २४५)। ५. मदिणाणपुव्वं सुदणाणं होदि मदिणाणविसईकयअट्ठादो पुधभूदट्ठविसयं। (जयध. १, पृ. ४२);

१ मिथ्यात्व मोहनीयकर्म के क्षयोपशम आदि से चित्त की जो प्रसन्नता होती है उसे श्रद्धा कहा जाता है। जैसे जल की निर्मलता का कारण मणि है वैसे ही चित्त की निर्मलता का कारण श्रद्धा है। २ समीचीन गुरु के उपदेश से जाने हुए पदार्थों में जो रुचि होती है उसे श्रद्धा कहते हैं।

श्रद्धानप्रायश्चित्त—१. मिच्छत्तं गंतूण ट्ठियस्स महव्वयाणि घेत्तूण अत्तागम-पयत्थसद्दहणा चेव [सद्दहणा-] पायच्छित्तं। (धव. पु. १३, पृ. ६३)। २. श्रद्धानं सावद्यगतस्य मनसो मिथ्यादुष्कृताभिव्यक्ति-निवर्तनम्। (मूला. वृ. ११–१६)। ३. गत्वा स्थितस्य मिथ्यात्वं यद्दीक्षाग्रहणं पुनः। तच्छ्रद्धानमिति ख्यातमुपस्थापनमित्यपि ॥ (अन. ध. ७–५७)। ४. परिणामपच्चएणं सम्मत्तं उज्झिऊण मिच्छत्तं। पडिवज्जिऊण पुणरवि परिणामवसेण सो जीवो ॥ णिंदण-गरहणजुत्तो णियत्तिऊणो पडिविज्ज सम्मत्तं। जं तं पायच्छित्तं सद्दहणासण्णिदं होदि ॥ (छेदपिण्ड २८५–८६)।

१ मिथ्यात्व को प्राप्त होकर स्थित जीव जो महाव्रतों को ग्रहण करके आप्त, आगम और पदार्थों का श्रद्धान करता है, यह उसका श्रद्धान या श्रद्धना नाम का प्रायश्चित्त है। २ पापाचरण को प्राप्त मन मिथ्या दुष्कृत को अभिव्यक्त करके जो उससे निवृत्त होता है उसका नाम श्रद्धान-प्रायश्चित्त है। ४ परिणाम के निमित्त से सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ जीव परिणाम के वश फिर से जो निन्दा व गर्हा से युक्त होकर उस मिथ्यात्व से हटता है और सम्यक्त्व को स्वीकार करता है उसका यह श्रद्धान नामक प्रायश्चित्त है।

श्रमण—१. पंचसमिदो तिगुत्तो पचेंदियसंवुडो जिदकसाओ। दंसण-णाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ॥ समसत्तु-बंधुवग्गो समसुह-दुःखो पसंस-णिंदसमो। समलोट्ठु-कंचणो पुण जीविद-मरणे समो समणो ॥ (प्रव. सा. ३, ४०–४१)। २. समणे अणिस्सिए अणियाणे आदाणं च अतिवायं च मुसावायं च बहिद्धं च कोहं च माणं च मायं च लोहं च पिज्जं च दोसं च इच्चेव जओ जओ आदाणं अप्पणो पद्दोसहेऊ तओ तओ आदाणातो पुव्वं पडिविरते पाणाइवाया सिआ दंते दविए वोसट्ठकाए समणे त्ति वच्चे। (सूत्रकृ. सू. १, १६, २)। ३. समो सव्वत्थ मणो जस्स भवति स समणो। (उत्तरा. चू. पृ. ७२)। ४. सर्वग्रन्थविनिर्मुक्ता महातपसि ये रताः। श्रमणास्ते परं पात्रं तत्त्वध्यानपरायणाः। (पद्मपु. १४–५८)। ५. श्राम्यति तपस्यतीति श्रमणः, तस्य भावं श्रामण्यं श्रमणशब्दस्य पुंसि प्रवृत्तिनिमित्तं तपःक्रिया श्रामण्यम् ॥ (भ. आ. विजयो. ७१)। ६. श्राम्यतीति श्रमणो द्वादशप्रकारतपोनिष्टप्तदेहः। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ६, ४, पृ. १४१)। ७. यो न श्रान्तो भवेद् भ्रान्तेस्तं विदुः श्रमणं बुधाः ॥ (उपासका. ८५६)। ८. श्राम्यति संसारविषये खिन्नो भवति तपस्यतीति वा, नन्द्यादित्वात् कर्तरि अने श्रमणः। (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०)।

१ जो पांच समितियों से सम्पन्न, तीन गुप्तियों से संरक्षित, पांच इन्द्रियों से संवृत, कषायों का विजेता, दर्शन-ज्ञान से परिपूर्ण, शत्रु व मित्र में समानता का व्यवहार करने वाला, सुख-दुख में हर्ष-विषाद से सहित, प्रशंसा व निन्दा में समान, ढेले व कांच को समान समझने वाला तथा जीवन व मरण में समान रहता है; ऐसे संयत को श्रमण कहा जाता है। २ श्रमण अनिश्रित—शरीर आदि के विषय में प्रतिबन्ध से रहित और निदान से भी रहित होकर आदान—सावद्य अनुष्ठान, अतिपात—प्राणातिपात (हिंसा), असत्य वचन, बहिद्ध—मैथुन-परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम और द्वेष इत्यादि जो स्व व पर के लिए अनर्थकारी हैं उन सबका ज्ञ-परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग करे। इसके अतिरिक्त अनर्थ के हेतुभूत जिस जिस सावद्य अनुष्ठान से अपने अपाय व प्रद्वेष के कारणों को भी देखता है उस उससे विरत हो; इस प्रकार से जो दान्त (शुद्ध) द्रव्यस्वरूप व शरीर से निःस्पृह हो चुका है उसे श्रमण कहना चाहिए।

श्रमणाभास—आगमज्ञोऽपि संयतोऽपि तपःस्थोऽपि जिनोदितमनन्तार्थनिर्भरं विश्वं स्वेनात्मना ज्ञेयत्वेन निष्पीतत्वादात्मप्रधानमश्रद्दधानः श्रमणाभासो भवति। (प्रव. सा. अमृत. वृ. ३–६४)।

जो आगम का ज्ञाता भी है, संयत भी है तथा जिनोपदिष्ट अनन्त पदार्थों से व्याप्त लोक को ज्ञेय स्वरूप से जानता भी है, परन्तु जो आत्मा को

प्रधानता से लोक का श्रद्धान नहीं करता है, उसे श्रमणाभास कहा जाता है।

अस्तदर्शन—संयोजनोदये भ्रष्टो जीवः प्रथमदृष्टितः। अन्तराऽनाप्तमिथ्यात्वो वर्ण्यते ऽस्तदर्शनः॥ (पंचसं. अमित. १-२०)।

अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय में आ जाने पर जो जीव प्रथम सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो चुका है तथा मिथ्यात्व को अभी प्राप्त नहीं हुआ है, इस अन्तरालवर्ती जीव को अस्तदर्शन कहा जाता है। यह सासादनसम्यग्दृष्टि का नामान्तर है।

श्राद्ध—साधुभ्यो ददता दानं लभ्यते फलमीप्सितम्। यस्यैषा जायते श्रद्धा नित्यं श्राद्धं वदन्ति तम्॥ (अमित. श्रा. ९-६)।

साधु के लिए दान देने वाला इच्छित फल को प्राप्त करता है, ऐसी जिस दाता के श्रद्धा रहती है उसे श्राद्ध—श्रद्धागुण से युक्त श्रावक—कहा जाता है।

श्रावक—१. एहु धम्मु जो आयरइ बंभणु सुद्दु वि कोइ। सो सावउ किं सावयहं अण्णु कि सिरि मणि होइ॥ (सावयध. ७६)। २. मूलोत्तरगुणनिष्ठामधितिष्ठन् पञ्चगुरुपदशरण्यः। दान-यजनप्रधानो ज्ञान-सुधां श्रावकः पिपासुः स्यात्॥ (सा. ध. १, १५)। ३. मद्य-मांस-मधुत्यागी यक्तोदुम्बरपञ्चकम्। नामतः श्रावकः ख्यातः नान्यथापि तथा गृही॥ (लाटीसं. ३-१५७)।

१ जो इस (दोहा ५९ में निर्दिष्ट अणुव्रतादिरूप बारह प्रकार के) धर्म का आचरण करता है वह चाहे ब्राह्मण, शूद्र कोई भी हो, श्रावक कहलाता है। श्रावक के शिर पर क्या अन्य कोई मणि रहता है? श्रावक की पहिचान उक्त व्रत ही हैं।

श्रावकधर्म—श्रावकधर्मस्तु देशविरतिरूपः। (योगशा. स्वो. विव. ३-१२४)।

देशविरतिरूप—अणुव्रतादिस्वरूप—जो धर्म है वही श्रावकधर्म है।

श्राविका — श्राविका यथाशक्तिमूलोत्तरगुणभृताः तदुपासिकाश्च। (सा. ध. स्वो. टी. २-७३)।

जो शक्ति के अनुसार मूल गुणों और उत्तर गुणों को धारण करती हैं वे श्राविकाएं कहलाती हैं।

श्रीमान्—श्रीरन्तरङ्गा अनन्तज्ञानादिलक्षणा बहिरङ्गा च समवसरणाष्टमहाप्रातिहार्यादिस्वभावा लक्ष्मीरस्यातिशयेन हरि-हराद्यसम्भवित्वेनास्तीति श्रीमान्। (अन. ध. स्वो. टी. ८-३९)।

श्री का अर्थ लक्ष्मी है। वह अन्तरंग और बहिरंग के भेद से दो प्रकार की है। अनन्तज्ञानादिस्वरूप लक्ष्मी अन्तरंग और समवसरण एवं आठ प्रातिहार्यादिस्वरूप लक्ष्मी बहिरंग मानी गई है। यह दोनों प्रकार की लक्ष्मी जिसके होती है उसे श्रीमान् कहा जाता है। यह जिन भगवान् के १००८ नामों के अन्तर्गत है।

श्रुत—१. तदावरणक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रूयतेऽनेन तत्, शृणोति श्रवणमात्रं वा श्रुतम्। (स. सि. १-९); तदुपदिष्टं (केवलिभिरुपदिष्टं) बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तगणधरानुस्मृतं ग्रन्थरचनं श्रुतं भवति। (स. सि. ६-१३)। २. श्रुतावरणक्षयोपशमाद्यन्तरंग-बहिरंगहेतुसन्निधाने सति श्रूयते स्मेति श्रुतम्, कर्तरि श्रुतपरिणत आत्मैव शृणोतीति श्रुतम्, भेदविवक्षायां श्रूयतेऽनेनेति श्रुतं श्रवणमात्रं वा। (त. वा. १, ९, २); अनिन्द्रियनिमित्तोऽर्थावगमः श्रुतम्। इन्द्रियानिन्द्रियबलाधानात्, पूर्वमुपलब्धेऽर्थे नोइन्द्रियप्राधान्यात् यदुत्पद्यते ज्ञानं तत् श्रुतम्। (त. वा १, ९, २७); तदुपदिष्टं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तगणधरावधारितं श्रुतम्। तैर्व्यपगतराग-द्वेष-मोहैरुपदिष्टं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैः गणधरैरवधारितं श्रुतमित्युच्यते। (त. वा. ६, १३, २)। ३. अत्थाओ अत्थंतरउवलंभे तं भणंति सुयणाणं। आहिणिबोहियपुव्वं णियमेण य सद्दयं मूलं॥ (प्रा. पंचसं १-१२२; धव. पु. १, पृ. ३५९ उद्.)। ४. सुदणाणं णाम मदिपुव्वं मदिणाणपडिग्गहियमत्थं मोत्तूणण्णत्थम्हि वावदं सुदणाणावरणीयक्खओवसमजणिदं। (धव. पु. १, पृ. ९३); अवग्गहिदत्थादो पुधभूदत्थालंबणाए लिंगजणिदबुद्धीए णिण्णयरूवाए सुदणाणत्तब्भुवगमादो। (धव. पु. ६, पृ. १८); सुदणाणं णाम इंदिएहि गहिदत्थादो तदो पुधभूदत्थग्गहणं, जहा सद्दादो घडादीणमुवलंभो धूमादो अग्गिस्सुवलंभो वा। (धव. पु. ६, पृ. २१); मदिणाणेण गहिदत्थादो जमुप्पज्जदि अण्णेसु अत्थेसु णाणं तं सुदणाणं णाम। (धव. पु. १३, पृ. २१०); अवगाहादिधारणापेरंतमदिणाणेण अवगयत्थादो अण्णत्थावगमो सुदणाणं। (धव. पु. १३, पृ. २४५)। ५. मदिणाणपुव्वं सुदणाणं होदि मदिणाणविसईकयअट्ठादो पुधभूदट्ठविसयं। (जयध. १, पृ. ४२);

मदिणाणजणिदं जं णाणं तं सुदणाणं णाम । ××× मयिणाणपरिच्छिण्णत्थादो पुधभूदत्थावगमो सुदणाणं । (जयध. १, पृ. ३४०) । ६. अनिन्द्रियमात्रनिमित्तं श्रुतस्य स्वरूपम् । (अष्टस. १–१५) । ७. श्रुतज्ञानावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषान्तरङ्गे कारणे सति बहिरङ्गे मतिज्ञाने च अनिन्द्रियविषयालम्बनम् अविशदं ज्ञानं श्रुतज्ञानम् । (प्रमाणप. पृ. ७६) । ८. श्रुतावरणविश्लेषविशेषाच्छ्रवणं श्रुतम् । शृणोति स्वार्थमिति वा श्रूयतेऽस्मेति वागमः ॥ (त. श्लो. १–९) । ९. गतं श्रुतम् अंग-पूर्व-प्रकीर्णकभेदभिन्नं तीर्थकर-श्रुतकेवल्यादिभिरारचितो वचनसंदर्भो वा लिप्यक्षरश्रुतं वा । (भ. आ. विजयो. ४६) । १०. यत्तदावरणक्षयोपशमादनिन्द्रियावलम्बाच्च मूर्तामूर्तद्रव्यं विकलं विशेषेणाववुध्यते तत् श्रुतज्ञानम् । (पंचा. का. अमृत. वृ. ४१) । ११. मतिपूर्वं श्रुतं प्रोक्तमविस्पष्टार्थतर्कणम् । (त. सा. १–२४) । १२. सव्वण्हुमुहविणिग्गयपुव्वावरदोसरहिदपरिसुद्धं । अक्खयमणादिणिहणं सुदणाण पमाण णिद्दिट्ठं ॥ (जं. दी. प. १३–८३) । १३. श्रुतमविस्पष्टार्थतर्कणम्, श्रुतमविस्पष्टतर्कणमित्यभिधानात् । (न्यायकु. १०, पृ. ४०४) । १४. अस्पष्टं ज्ञानं श्रुतम् । (सिद्धिवि. वृ. २–१, पृ. १२०) । १५. अत्थादो अत्थंतरमुवलंभंतं भणंति सुदणाणं । आभिणिवोहियपुव्वं णियमेणिह सद्दजं पमुहं ॥ (गो. जी. ३१५) । १६. श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमान्नोइन्द्रियावलम्बनाच्च प्रकाशोपाध्यायादिबहिरङ्गसहकारिकारणाच्च मूर्तामूर्तवस्तुलोकालोकव्याप्तिज्ञानरूपेण यदस्पष्टं जानाति तत्परोक्षं श्रुतज्ञानं भण्यते । (वृ. द्रव्यसं. टी ५) । १७. श्रुतं मतिपूर्वमिन्द्रियगृहीतार्थात् पृथग्भूतमर्थग्रहणम् यथा घटशब्दात् घटार्थप्रतिपत्तिर्धूमाच्चाग्न्युपलम्भ इति । (मूला. वृ. १२–१८७) । १८. श्रुतं मतिगृहीतार्थशब्दैरन्यार्थबोधनम् । धूमादेः पावकादेर्वा बोधोऽग्नेरग्निशब्दतः ॥ (आचा. सा. ४–३४) । १९. स्वावृत्यपायेऽविस्पष्टं यन्नानार्थप्ररूपणम् । ज्ञानं साक्षादसाक्षाच्च मतेर्जायेत तच्छ्रुतम् ॥ (अन. ध. ३–५) । २०. विस्तृतं बहुधा पूर्वैरङ्गोपाङ्गैः प्रकीर्णकैः । स्याच्छब्दलाञ्छितं ज्ञेयं श्रुतज्ञानमनेकधा ॥ (योगशा. स्वो. विव. १–१६, पृ. ११५; त्रि. श. पु. च. १. ३, ५८१) । २१. तथा श्रवणं श्रुतं वाच्य-वाचकभावपुरस्सरीकारेण शब्दसंस्पृष्टार्थग्रहणहेतुरुपलब्धिविशेषः, एवमाकारं वस्तु घटशब्दवाच्यं जलधारणाद्यर्थक्रियासमर्थमित्यादिरूपतया प्रधानीकृतः समानपरिणामः शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रिय-मनोनिमित्तोऽवगमविशेष इत्यर्थः, श्रुतं च तत् ज्ञानं च श्रुतज्ञानम् । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३१२, पृ. ५२६) । २२. आप्तवचनादिनिबन्धनं मतिपूर्वकमर्थज्ञानं श्रुतम् ॥ (लघीय. अभय. वृ. २६, पृ. ४६) । २३. श्रुतज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रूयते यत्तत् श्रुतम् । शृणोत्यनेन तदिति वा श्रुतम्, श्रवणं वा श्रुतम् । (त. वृत्ति श्रुत १–९; कार्तिके. टी. २५७); अस्पष्टाववोधनं श्रुतमुच्यते । ××× अथवा श्रुतज्ञानविषयोऽर्थः श्रुतमुच्यते । ××× अथवा श्रुतज्ञानं श्रुतमुच्यते । (त. वृत्ति श्रुत. २, ११); श्रूयते स्म श्रवणं वा श्रुतं सर्वज्ञवीतरागोपदिष्टम् अतिशयवद् बुद्धिऋद्धिसमुपेतगणधरदेवानुस्मृतग्रन्थगुम्फितं श्रुतमित्युच्यते । (त. वृत्ति श्रुत. ६–१३) ।

१ श्रुतावरण के क्षयोपशम के होने पर निरूपित किया जाने वाला तत्त्व जिसके द्वारा सुना जाता है उसे, अथवा जो उसे सुनता है उसे, अथवा सुनने मात्र को भी श्रुत कहा जाता है । २ जिसका वीतराग सर्वज्ञ के द्वारा व्याख्यान किया गया है तथा बुद्धि ऋद्धि के धारक गणधरों ने जिसका अवधारण किया है उसे श्रुत कहा जाता है । ३ इन्द्रियों के द्वारा जाने गये किसी एक पदार्थ के आश्रय से जो अन्य पदार्थ का ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं । जैसे शब्द के सुनने से घट आदि का ज्ञान व धूम के देखने से अग्नि का ज्ञान । ७ श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशमरूप अंतरंग कारण तथा मतिज्ञान रूप वहिरंग कारण के होने पर जो इन्द्रियातीत विषय के आलम्बन से अस्पष्ट ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहा जाता है । २० पूर्व, अंग, उपांग और प्रकीर्णक इनके द्वारा विस्तार को प्राप्त होता हुआ जो 'स्यात्' पद से चिह्नित हो उसे श्रुतज्ञान जानना चाहिए । वह अनेक प्रकार का है ।

श्रुतकेवली—जो हि सुदेणभिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं । तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा ॥ जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवलि

तमाहु जिणा । णाणं अप्पा सव्वं जह्मा सुदकेवली तह्मा ॥ (समयप्रा. ९-१०) ।

जो श्रुत के द्वारा केवल (असहाय) शुद्ध इस आत्मा को जानता है उसे लोक के प्रकाशक ऋषि जन श्रुत-केवली कहते हैं। यह श्रुतकेवली का यथार्थ लक्षण है। जो समस्त श्रुतज्ञान को जानता है उसे जिन देव श्रुतकेवली कहते हैं यह श्रुतकेवली का औपचारिक लक्षण है। यतः सब ज्ञान ही आत्मा है, अतः जो श्रुतज्ञान से अभिन्न आत्मा को जानता है उसे श्रुत-केवली कहना यथार्थ है।

श्रुतज्ञान—देखो श्रुत।

श्रुतधर्म—श्रुतस्य धर्मः स्वभावः श्रुतधर्मः, श्रुतस्य बोधस्वभावात् श्रुतस्य धर्मो बोधो बोद्धव्यः, अथवा श्रुतं च तत् धर्मश्च सुगतिधारणात् श्रुतधर्मः, यदि वा जीवपर्यायत्वात् श्रुतस्य श्रुतं च तत् धर्मः श्रुत-धर्मः। उक्तं च—बोहो सुयस्य धम्मो, सुयं च धम्मो स जीवपज्जातो। सुगईए संजमंमि य धरणातो वा सुयं धम्मो ॥ (श्राव. नि. मलय. वृ. १२७)।

श्रुत का स्वभाव जो बोध है उसे ही श्रुतधर्म कहा जाता है, अथवा जो सुगति में धारण करता है उसका नाम धर्म है, तदनुसार श्रुत को ही श्रुतधर्म समझना चाहिए।

श्रुतमानवशार्तमरण—लोक-वेद-समय-सिद्धान्त-शास्त्राणि शिक्षितानि इति श्रुतमानोन्मत्तस्य मरणं श्रुतमानवशार्तमरणम्। (भ. आ. विजयो. २५, पृ. ८९)।

मैंने लोक, वेद और स्व-समय व पर-समय सम्बन्धी आगम ग्रन्थों को पढ़ा है, इस प्रकार के शास्त्रज्ञान से उन्मत्त हुए पुरुष के मरण को श्रुतमानवशार्त-मरण कहा जाता है।

श्रुतवर्णजनन—१. केवलज्ञानवदशेषजीवादिद्रव्य-याथात्म्यप्रकाशनपटु कर्म-धर्मनिर्मूलनोद्यतशुभध्याा-नचन्दनमलयायमानं स्व-परसमुद्धरणनिरतविनेय-जनताचित्तप्रार्थनीयं प्रतिबद्धाशुभास्रवं अप्रमत्त-तायाः संपादकं सकल-विकलप्रत्यक्षज्ञानबीजं दर्शन-चरणयोः समीचीनयोः प्रवर्तकं इति निरूपणा श्रुत-वर्णजननम्। (भ. आ. विजयो. ४७)। २. श्रुत-ज्ञानं हि केवलज्ञानवद्विश्वतत्त्वावभासि कर्मनिर्मूल-नोद्यतशुभध्याननिदानं स्व-परसमुद्धरणनिरतविनेय-जनताप्रार्थनीयं प्रतिबद्धाशुभास्रवं अप्रमत्ततायाः संपादकं सकलविमलप्रत्यक्षज्ञानबीजं समीचीनदर्शन-चरणप्रवर्तकमिति निरूपणं श्रुतवर्णजननम्। (भ. आ. मूला. ४७)।

१ श्रुतज्ञान केवलज्ञान के समान समस्त जीवादि द्रव्यों के यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करने में समर्थ, कर्म के निर्मूलन में उद्यत, उत्तम ध्यान रूप चन्दन के लिए मलय पर्वत के समान, अपने व दूसरों के उद्धार में निरत, शिष्य जन को अभीष्ट, अशुभ आस्रव का निरोधक, प्रमाद को नष्ट करने वाला, सकल और विकल प्रत्यक्षज्ञान का उत्पादक तथा समीचीन दर्शन व चारित्र का प्रवर्तक है; इत्यादि प्रकार से श्रुत की महिमा के प्रगट करने को श्रुत-ज्ञानवर्णजनन कहा जाता है।

श्रुतविनय—सुत्तं अत्थं च तहा हिय निस्सेसं तहा पवाएइ। एसो चउव्विहो खलु सुयविणओ होइ नायव्वो ॥ सुत्तं गाहेइ उज्जुत्ते अत्थं च सुणावए पयत्तेण। जं जस्स होइ जोग्गं परिणामगमाइणं तु हियं ॥ णिस्सेसमपरिसेसं जाव समत्तं तु वाएइ। एसो सुयविणत्तो × × ×। (व्यव. भा. १०, ३१२-१४)।

सूत्रग्राहण, अर्थश्रावण, हितप्रदान और निःशेषवा-चन के भेद से श्रुतविनय चार प्रकार का है। उद्युक्त होकर शिष्य को सूत्र का ग्रहण कराना, यह सूत्रग्रहण विनय है। प्रयत्नपूर्वक जो अर्थ को सुनाया जाता है उसे अर्थश्रावण विनय कहते हैं। जिसके लिए जो जो योग्य है उसके लिए सूत्र व अर्थ से उसी को जो दिया जाता है, इसका नाम हितप्रदान विनय है। समाप्ति पर्यन्त जो वाचन किया जाता है उसे निःशेषवाचन विनय कहते हैं।

श्रुतस्थविर—१. श्रुतस्थविरः समवायाङ्गं याव-दध्येता। (योगशा. स्वो. विव. ४-९०)। २. श्रुत-स्थविरः समवायधरः। (श्राव. नि. मलय. वृ. १७६)। ३. स्थान-समवायधरः श्रुतस्थविरः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १०-७४६)।

१ समवायांग के धारक साधु को श्रुतस्थविर कहा जाता है। ३ जो स्थानांग व समवायांग इन दो अंगों का धारक होता है वह श्रुतस्थविर कहलाता है।

श्रुताज्ञान—आभीयमासुरक्खा भारह-रामायणादि-उवएसा। तुच्छा असाहणीया सुयअण्णाण त्ति णं

मदिणाणजणिदं जं णाणं तं सुदणाणं णाम। × × × मयिणाणपरिच्छिण्णत्थादो पुधभूदत्थावगमो सुदणाणं। (जयध. १, पृ. ३४०)। ६. अनिन्द्रियमात्रनिमित्तं श्रुतस्य स्वरूपम्। (अष्टस. १-१५)। ७. श्रुतज्ञानावरण वीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषान्तरङ्गे कारणे सति बहिरङ्गे मतिज्ञाने च अतिन्द्रियविषयालम्बनम् अविशदं ज्ञान श्रुतज्ञानम्। (प्रमाणप. पृ. ७६)। ८. श्रुतावरणविश्लेषविशेषाच्छ्रवणं श्रुतम्। शृणोति स्वार्थमिति वा श्रूयतेऽस्मेति नागमः॥ (त. श्लो. १-६)। ६. गतं श्रुतम् अ·ग-पूर्व-प्रकीर्णकभेदभिन्नं तीर्थकर-श्रुतकेवल्यादिभिरारचितो वचनसंदर्भो वा लिप्यक्षरश्रुतं वा। (भ. आ. विजयो. ४६)। १०. यत्तदावरणक्षयोपशमादनिन्द्रियावलम्बाच्च मूर्तामूर्तद्रव्यं विकलं विशेषेणावबुध्यते तत् श्रुतज्ञानम्। (पंचा. का. अमृत. वृ. ४१)। ११. मतिपूर्वं श्रुतं प्रोक्तमविस्पष्टार्थतर्कणम्। (त. सा. १-२४)। १२. सव्वण्हुमुहविणिग्गयपुव्वावरदोसरहिदपरिसुद्धं। अक्खयमणादिणिहणं सुदणाण पमाण णिद्दिट्ठं॥ (जं. दी. प. १३-८३)। १३. श्रुतमविस्पष्टार्थतर्कणम्, श्रुतमविस्पष्टतर्कणमित्यभिधानात्। (न्यायकु. १०, पृ. ४०४)। १४. अस्पष्टं ज्ञानं श्रुतम्। (सिद्धिवि. वृ. २-१, पृ. १२०)। १५. अत्थादो अत्थंतरमुवलंभंतं भणति सुदणाणं। आभिणिबोहियपुव्वं णियमेणिह सद्दजं पमुहं॥ (गो. जी. ३१५)। १६. श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमान्नोइन्द्रियावलम्बनाच्च प्रकाशोपाध्यायादिबहिरङ्गसहकारिकारणाच्च मूर्तामूर्तवस्तुलोकालोकव्याप्तिज्ञानरूपेण यदस्पष्टं जानाति तत्परोक्षं श्रुतज्ञान भण्यते। (बृ. द्रव्यसं. टी ५)। १७ श्रुतं मतिपूर्वमिन्द्रियगृहीतार्थात् पृथग्भूतमर्थग्रहणम् यथा घटशब्दात् घटार्थप्रतिपत्तिर्धूमाच्चाग्न्युपलम्भ इति। (मूला. वृ. १२-१८७)। १८. श्रुत मतिगृहीतार्थशब्दैरन्यार्थबोधनम्। धूमादेः पावकादेर्वा बोधोऽग्नेरग्निशब्दतः॥ (आचा. सा. ४-३४)। १६. स्वावृत्यपायेऽविस्पष्टं यन्नानार्थप्ररूपणम्। ज्ञानं साक्षादसाक्षाच्च मतेर्जायेत तच्छ्रुतम्॥ (अन. ध. ३-५)। २०. विस्तृतं बहुधा पूर्वैरङ्गोपाङ्गैः प्रकीर्णकैः। स्याच्छब्दलाञ्छितं ज्ञेयं श्रुतज्ञानमनेकधा॥ (योगशा. स्वो. विव. १-१६, पृ. ११५; त्रि. श. पु. च. १, ३, ५८१)। २१. तथा श्रवणं श्रुतं वाच्य-वाचकभावपुरस्सरीकारेण शब्दसंस्पृष्टार्थग्रहणहेतुरुपलब्धिविशेषः, एवमाकारं वस्तु घटशब्दवाच्यं जलधारणाद्यर्थक्रियासमर्थमित्यादिरूपतया प्रधानीकृतः समानपरिणामः शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रिय-मनोनिमित्तोऽवगमविशेष इत्यर्थः, श्रुतं च तत् ज्ञानं च श्रुतज्ञानम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३१२, पृ. ५२६)। २२. आप्तवचनादिनिबन्धनं मतिपूर्वकमर्थज्ञानं श्रुतम्॥ (लघीय. अभय. वृ. २६, पृ. ४६)। २३. श्रुतज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रूयते यत्तत् श्रुतम्। शृणोत्यनेन तदिति वा श्रुतम्, श्रवणं वा श्रुतम्। (त. वृत्ति श्रुत १-६; कार्तिके. टी. २५७); अस्पष्टावबोधनं श्रुतमुच्यते। × × × अथवा श्रुतज्ञानविषयोऽर्थः श्रुतमुच्यते। × × × अथवा श्रुतज्ञानं श्रुतमुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. २, ११); श्रूयते स्म श्रवणं वा श्रुतं सर्वज्ञवीतरागोपदिष्टम् अतिशयवद् बुद्धिऋद्धिसमुपेतगणधरदेवानुस्मृतग्रन्थगुम्फितं श्रुतमित्युच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ६-१३)।

१ श्रुतावरण के क्षयोपशम के होने पर निरूपित किया जाने वाला तत्त्व जिसके द्वारा सुना जाता है उसे, अथवा जो उसे सुनता है उसे, अथवा सुनने मात्र को भी श्रुत कहा जाता है। २ जिसका वीतराग सर्वज्ञ के द्वारा व्याख्यान किया गया है तथा बुद्धि ऋद्धि के धारक गणधरों ने जिसका अवधारण किया है उसे श्रुत कहा जाता है। ३ इन्द्रियों के द्वारा जाने गये किसी एक पदार्थ के आश्रय से जो अन्य पदार्थ का ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। जैसे शब्द के सुनने से घट आदि का ज्ञान व धूम के देखने से अग्नि का ज्ञान। ७ श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशमरूप अंतरंग कारण तथा मतिज्ञान रूप बहिरंग कारण के होने पर जो इन्द्रियातीत विषय के आलम्बन से अस्पष्ट ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहा जाता है। २० पूर्व, अंग, उपांग और प्रकीर्णक इनके द्वारा विस्तार को प्राप्त होता हुआ जो 'स्यात्' पद से चिह्नित हो उसे श्रुतज्ञान जानना चाहिए। वह अनेक प्रकार का है।

श्रुतकेवली—जो हि सुदेणभिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं। तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा॥ जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवलि

तमाहु जिणा । णाणं अप्पा सव्वं जह्मा सुदकेवली तह्मा ।। (समयप्रा. ९-१०) ।

जो श्रुत के द्वारा केवल (असहाय) शुद्ध इस आत्मा को जानता है उसे लोक के प्रकाशक ऋषि जन श्रुतकेवली कहते हैं । यह श्रुतकेवली का यथार्थ लक्षण है । जो समस्त श्रुतज्ञान को जानता है उसे जिन देव श्रुतकेवली कहते हैं यह श्रुतकेवली का औपचारिक लक्षण है । यतः सब ज्ञान ही आत्मा है, अतः जो श्रुतज्ञान से अभिन्न आत्मा को जानता है उसे श्रुतकेवली कहना यथार्थ है ।

श्रुतज्ञान—देखो श्रुत ।

श्रुतधर्म—श्रुतस्य धर्मः स्वभावः श्रुतधर्मः, श्रुतस्य बोधस्वभावात् श्रुतस्य धर्मो बोधो बोद्धव्यः, अथवा श्रुतं च तत् धर्मश्च सुगतिधारणात् श्रुतधर्मः, यदि वा जीवपर्यायत्वात् श्रुतस्य श्रुतं च तत् धर्मः श्रुतधर्मः । उक्तं च—बोही सुयस्य धम्मो, सुयं च धम्मो स जीवपज्जातो । सुगईए संजमंमि य धरणातो वा सुयं धम्मो ।। (आव. नि. मलय. वृ. १२७) ।

श्रुत का स्वभाव जो बोध है उसे ही श्रुतधर्म कहा जाता है, अथवा जो सुगति में धारण करता है उसका नाम धर्म है, तदनुसार श्रुत को ही श्रुतधर्म समझना चाहिए ।

श्रुतमानवशार्त्तमरण— लोक-वेद-समय-सिद्धान्तशास्त्राणि शिक्षितानि इति श्रुतमानोन्मत्तस्य मरणं श्रुतमानवशार्त्तमरणम् । (भ. आ. विजयो. २५, पृ. ८९) ।

मैंने लोक, वेद और स्व-समय व पर-समय सम्बन्धी आगम ग्रन्थों को पढ़ा है, इस प्रकार के शास्त्रज्ञान से उन्मत्त हुए पुरुष के मरण को श्रुतमानवशार्तमरण कहा जाता है ।

श्रुतवर्णजनन—१. केवलज्ञानवदशेषजीवादिद्रव्ययाथात्म्यप्रकाशनपटु कर्म-घर्मनिर्मूलनोद्यतशुभध्यानचन्दनमलयायमानं स्व-परसमुद्धरणनिरतविनेयजनताचित्तप्रार्थनीयं प्रतिबद्धाशुभास्रवं अप्रमत्ततायाः संपादकं सकल-विकलप्रत्यक्षज्ञानबीजं दर्शनचरणयोः समीचीनयोः प्रवर्तकं इति निरूपणा श्रुतवर्णजननम् । (भ. आ. विजयो. ४७) । २. श्रुतज्ञानं हि केवलज्ञानवद्विश्वतत्त्वावभासि कर्मनिर्मूलनोद्यतशुभध्याननिदानं स्व-परसमुद्धरणनिरतविनेयजनताप्रार्थनीयं प्रतिबद्धाशुभास्रवं अप्रमत्ततायाः संपादकं सकलविमलप्रत्यक्षज्ञानबीजं समीचीनदर्शनचरणप्रवर्तकमिति निरूपणं श्रुतवर्णजननम् । (भ. आ. मूला. ४७) ।

१ श्रुतज्ञान केवलज्ञान के समान समस्त जीवादि द्रव्यों के यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करने में समर्थ, कर्म के निर्मूलन में उद्यत, उत्तम ध्यान रूप चन्दन के लिए मलय पर्वत के समान, अपने व दूसरों के उद्धार में निरत, शिष्य जन को अभीष्ट, अशुभ आस्रव का निरोधक, प्रमाद को नष्ट करने वाला, सकल और विकल प्रत्यक्षज्ञान का उत्पादक तथा समीचीन दर्शन व चारित्र का प्रवर्तक है; इत्यादि प्रकार से श्रुत की महिमा के प्रगट करने को श्रुतज्ञानवर्णजनन कहा जाता है ।

श्रुतविनय—सुत्तं अत्थं च तहा हिय निस्सेसं तहा पवाएइ । एसो चउव्विहो खलु सुयविणओ होइ नायव्वो ।। सुत्तं गाहेइ उज्जुत्ते अत्थं च सुणावए पयत्तेण । जं जस्स होइ जोग्गं परिणामगमाइणं तु हियं ।। णिस्सेसमपरिसेसं जाव समत्तं तु वाएइ । एसो सुयविणओ × × × । (व्यव. भा. १०, ३१२-१४) ।

सूत्रग्रहण, अर्थश्रावण, हितप्रदान और निःशेषवाचन के भेद से श्रुतविनय चार प्रकार का है । उद्युक्त होकर शिष्य को सूत्र का ग्रहण कराना, यह सूत्रग्रहण विनय है । प्रयत्नपूर्वक जो अर्थ को सुनाया जाता है उसे अर्थश्रावण विनय कहते हैं । जिसके लिए जो जो योग्य है उसके लिए सूत्र व अर्थ से उसी को जो दिया जाता है, इसका नाम हितप्रदान विनय है । समाप्ति पर्यन्त जो वाचन किया जाता है उसे निःशेषवाचन विनय कहते हैं ।

श्रुतस्थविर—१. श्रुतस्थविरः समवायाङ्गं यावदध्येता । (योगशा. स्वो. विव. ४-९०) । २. श्रुतस्थविरः समवायधरः । (आव. नि. मलय. वृ. १७९) । ३. स्थान-समवायधरः श्रुतस्थविरः । (व्यव. भा. मलय. वृ. १०-७४६) ।

१ समवायांग के धारक साधु को श्रुतस्थविर कहा जाता है । ३ जो स्थानांग व समवायांग इन दो अंगों का धारक होता है वह श्रुतस्थविर कहलाता है ।

श्रुताज्ञान—आभीयमासुरक्खा भारह-रामायणादिउवएसा । तुच्छा असाहणीया सुयअण्णाण त्ति णं

विति ॥ (प्रा. पंचसं. १-११६; धव. पु. १, पृ. ३५८ उद्.; गो. जी. ३०४)।
चौरशास्त्र, हिंसाशास्त्र, भारत एवं रामायण आदि के जो निरर्थक उपदेश सिद्धि के योग्य नहीं हैं उन्हें श्रुताज्ञान कहा जाता है।

श्रुतातिचार—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावशुद्धिमंतरेण श्रुतस्य पठनं श्रुतातिचारः। (भ. आ. विजयो. १६)।
द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धि के बिना श्रुत के पढ़ने से उसका अतिचार होता है, जो उसे मलिन करने वाला है।

श्रुतावर्णवाद—१. मांसभक्षणाद्यभिधानं श्रुतावर्णवादः। (स. सि. ६-१३)। २. मांसभक्षणाद्यनवद्याभिधानं श्रुते। मांसस्य भक्षणं मधु-सुरापानं वेदनार्दितमैथुनोपसेवा-रात्रिभोजनमित्येवमाद्यनवद्यमित्यनुज्ञानं श्रुतेऽवर्णवादः। (त. वा. ६, १३, ६)। ३. पुरुषकृतत्वाद् दशदाडिमादिवाक्यवदयथार्थता, नातीन्द्रियं वस्तु पुंसो ज्ञानगोचरम्, अज्ञातं चोपदिशतो वचः कथं सत्यम्, तदुद्गतं च ज्ञानं कथं समीचीनमिति श्रुतावर्णवादः। (भ. आ. विजयो. ४७)। ४. इदमार्हतं श्रुतं पुरुषकृतत्वाद् दशदाडिमादिवाक्यवदयथार्थम्। न ह्यङ्गाराञ्जनादिवत्कालुष्योत्कर्षप्रवृत्तस्य चित्तस्य कुतश्चिद्विशुद्धिरिति, सर्वे पुरुषाः सर्वदा रागादिदोषदूषिता अतएवातीन्द्रियं वस्तु न कश्चिज्जानाति, अज्ञातं चोपदिशतो न वचः सत्यम्, तदुद्गतं च ज्ञानं मिथ्यैवेत्यादिः श्रुतस्य अवर्णवादः। (भ. आ. मूला. ४७)।
२ मांस का खाना, शहद का उपयोग करना, मद्य का पीना, वेदना से पीड़ित होकर मैथुन का सेवन करना और रात्रिभोजन; ये सब कार्य निर्दोष शास्त्रसम्मत हैं; ऐसा कथन करना, यह श्रुत का अवर्णवाद है। ३ श्रुत (आगम) शब्दात्मक है जो पुरुष के द्वारा किया गया है। जिस प्रकार वंचक पुरुष के द्वारा कहे जाने वाले 'वहां दस अनार हैं' इत्यादि वाक्य अयथार्थ होते हैं उसी प्रकार अतीन्द्रिय वस्तुओं के ज्ञान से रहित पुरुष के द्वारा उपदिष्ट आगमवचन भी सत्य नहीं हैं, जिसे वस्तुस्वरूप का स्वयं ज्ञान नहीं है उसके द्वारा प्ररूपित तत्त्व कैसे यथार्थ हो सकता है, इस प्रकार से श्रुत की की जाने वाली निन्दा को श्रुतावर्णवाद कहा जाता है।

श्रुति—धर्मस्स श्रवणं श्रुतिः श्रूयते वा। (उत्तरा. चू. पृ. ६८)।
धर्म के सुनने को अथवा जो कुछ सुना जाता है उसे श्रुति कहते हैं।

श्रेणि—१. लोकमध्यादारभ्य ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् चाकाशप्रदेशानां क्रमसन्निविष्टानां पंक्तिः श्रेणिः। (स. सि. २-२६)। २. आकाशप्रदेशपंक्तिः श्रेणिः। लोकमध्यादारभ्योर्ध्वाधस्तिर्यक्क्रमाकाशप्रदेशानां क्रमसन्निविष्टानां पंक्ति श्रेणिः। (त. वा. २, २६, १)। ३. सेढी सत्तरज्जुमेत्तायामो। (धव. पु. ३, पृ. ३३)। ४. आकाशप्रदेशपंक्तिः श्रेणिः। (त. श्लो. २-२६)। ५. × × × सेढी वि पल्लच्छेदाणं। होदि असंखेज्जदिमप्पमाणविंदंगुलाण हदी ॥ (त्रि. सा. १-७)। ६. लोकस्य मध्यप्रदेशदारभ्य ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्व्योमप्रदेशानाम् अनुक्रमेण संस्थितानामावलिः श्रेणिः। (त. वृत्ति श्रुत. २-२६)।
१ लोक के मध्य से आरम्भ करके ऊपर, नीचे और तिरछे रूप में क्रम से अवस्थित आकाशप्रदेशों की पंक्ति को श्रेणि कहते हैं। ३ श्रेणि (जगश्रेणि) सात राजु प्रमाण आयत है। ५ पल्य के अर्द्धच्छेदों के असंख्यातवें भाग प्रमाण घनांगुलों को परस्पर गुणित करने पर जो प्राप्त हो उतना प्रमाण श्रेणि (जगश्रेणि) का है।

श्रेणीचारण—१. धूमग्गि-गिरि-तरु-तंतुसंताणेसु उड्ढारोहणसत्तिसंजुत्ता सेडीचारणा णाम। (धव. पु. ९, पृ. ८०)। २. चतुर्योजनशतोच्छ्रितस्य निषधस्य नीलस्य चाद्रेष्टङ्कच्छिन्नां श्रेणिमुपादायोपर्यधो वा पाद[प्रक्षेप]पूर्वकमुत्तरणावतरणनिपुणाः श्रेणिचारणाः। (योगशा. स्वो. विव. १-९, पृ. ४१)।
१ जो महर्षि धुआं, अग्नि, पर्वत, वृक्ष और तन्तु (धागा) के समूहों पर ऊपर चढ़ने की शक्ति से संयुक्त होते हैं वे श्रेणिचारण कहलाते हैं। २ चार सौ योजन ऊंचे निषध पर्वत की टांकी से छेदी गई श्रेणी को लेकर जो साधु उसके ऊपर और नीचे पादक्षेपपूर्वक चढ़ उतर सकते हैं वे श्रेणिचारण ऋद्धि के धारक होते हैं।

श्रेय—श्रेयः सकलदुःखनिवृत्तिः। (त. श्लो. का. २४६, पृ. ५०)।
समस्त दुःखों की निवृत्ति का नाम श्रेय है।

श्रेयांस—सकलभुवनस्यापि प्रशस्यतमत्वेन श्रेयान्, श्रेयांसावंसावस्येति 'पृषोदरादित्वात्' श्रेयांसो वा, तथा गर्भस्थेऽस्मिन् केनाप्यनाक्रान्तपूर्वा देवताधिष्ठितशय्या जनन्या आक्रान्तेति श्रेयो जातमिति श्रेयांसः। (योगशा. स्वो. विव. ३-१२४)।

समस्त लोक में अतिशय श्रेष्ठ होने के कारण ११वें तीर्थंकर श्रेयान् कहलाए। अथवा दोनों कन्धों के श्रेयस्कर होने से वे श्रेयांस इस नाम से प्रसिद्ध हुए, अथवा गर्भ में स्थित होने पर देवता के द्वारा अधिष्ठित जो शय्या पूर्व में किसी के द्वारा नहीं लांघी गई थी उसे माता ने आक्रान्त किया व उससे कल्याण हुआ, इससे उन्हें श्रेयांस कहा गया है।

श्रेयोमार्गनेता—ततो निःशेषतत्त्वार्थवेदी प्रक्षीणकल्मषः। श्रेयोमार्गस्य नेतास्ति स संस्तुत्यस्तदर्थिभिः॥ (त. श्लो. का. ४३, पृ. १६)।

जो समस्त तत्त्वार्थ का ज्ञाता व कलुषता से रहित (वीतराग) है वही मोक्षमार्ग का नेता हो सकता है और मोक्ष के इच्छुक भव्य जन उसी की स्तुति किया करते हैं।

श्रेष्ठी—श्रेष्ठी तुष्टनरपतिप्रदत्त-श्रीदेवताध्यासितसौवर्णपट्टविभूषितोत्तमांगो नगरचिन्ताकारी नागरिकजनश्रेष्ठः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १-२३)।

जिसका शिर सन्तुष्ट राजा के द्वारा दिए गए और श्रीदेवता से अधिष्ठित सुवर्णमय पट्ट से विभूषित होता है, जो नगर की चिन्ता करता है तथा जो नागरिक जनों में श्रेष्ठ होता है उसे श्रेष्ठी कहा जाता है।

श्रोता—देखो शिष्य। धर्मश्रुतौ नियुक्ता ये श्रोतारस्ते मता बुधैः। (म. पु. १-१३८)।

जो धर्मकथा के सुनने में नियुक्त हैं वे श्रोता माने गये हैं।

श्रोत्र—१. वीर्यान्तराय-श्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भाच्छृणोत्यनेनेति श्रोत्रम्। (धव. पु. १, पृ. २४७); फासिदियावरणस्स सव्वघादिफद्दयाणं संतोवसमेण देसघादिफद्दयाणमुदएण चदुण्णमिंदियाणं सव्वघादिफद्दयाणमुदयक्खएण तेसिं चेव संतोवसमेण देसघादिफद्दयाणमुदएण जेण सोदिंदियमुप्पज्जदि तेण × × ×। (धव. पु. ७, पृ. ६५-६६)। २. श्रूयते आत्मना शब्दो गृह्यतेऽनेनेति श्रोत्रं शृणोतीति वा श्रोत्रम्। (त. वृत्ति श्रुत. १-१९)।

१ वीर्यान्तराय और श्रोत्रेन्द्रियावरण के क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म के लाभ के आश्रय से जिसके द्वारा प्राणी सुनता है उसे श्रोत्र कहते हैं। यह स्पर्शनेन्द्रियावरण के सर्वघाती स्पर्धकों के सदवस्था रूप उपशम से देशघाती स्पर्धकों के उदय से तथा शेष चार इन्द्रियों के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयक्षय से, उन्हीं के तदवस्थारूप उपशम से एवं देशघाती स्पर्धकों के उदय से उत्पन्न होती है।

श्रोत्रदण्ड—देखो श्रोत्ररोध।

श्रोत्ररोध—१. सड्जादिजीवसद्दे वीणादिअजीवसंभवे सद्दे। रागादीण णिमित्ते तदकरणं सोदरोधो दु॥ (मूला. १-१८)। २. जीवाजीवोभयोद्भूते चेतोहारी तरस्वरे। राग-द्वेषाविलस्वान्तदण्डनं श्रोत्रदण्डनम्॥ (आचा. सा. १-२९)।

१ षड्ग [षड्ज] व ऋषभ आदि स्वर स्वरूप जीव के शब्द और वीणा आदि अजीव स्वरूप वादित्र आदि के निमित्त से उत्पन्न होने वाले शब्द के आश्रय से जो उसके विषय में राग-द्वेष उत्पन्न हो सकते हैं उनको उत्पन्न न होने देना, इसे श्रोत्र-इन्द्रियरोध कहते हैं। २ जीव, अजीव, अथवा दोनों के निमित्त से उत्पन्न हुए मनोहर अथवा अमनोहर (श्रवणकटु) स्वर के विषय में राग-द्वेष से मलिन मन को दण्डित करना—उसके सुनने पर राग-द्वेष को उत्पन्न न होने देना, इसे श्रोत्रदण्डन या श्रोत्रइन्द्रियरोध कहा जाता है। यह साधु के २८ मूलगुणों के अन्तर्गत है।

श्रोत्रिय—१. सोत्तिओ भणिज्जइ णारीकडिसोत्तवज्जिओ जेण। जो तु रमणासत्तो ण सोत्तियो सो जडो होइ॥ अहवा पसिद्धवयणं सोत्तं णारीण सेवए जेण। मुत्तप्पवहणदारं सोत्तियओ तेण सो उत्तो॥ (भावसं. दे. ५५-५६)। २. दुष्कर्मदुर्जनास्पर्शी सर्वसत्त्वहिताशयः। स श्रोत्रियो भवेत् सत्यं न तु यो बाह्यशौचवान्॥ (उपासका. ८८०)।

१ जो स्त्री के कटिस्रोत से दूर रहता है—उसका सेवन नहीं करता—वह वास्तव में श्रोत्रिय है, उसके साथ रमने में जो आसक्त है वह यथार्थ में श्रोत्रिय नहीं है। २ जो दुराचरण से दूर रहता है, दुष्ट

जनों की संगति नहीं करता है तथा सब जीवों का हित चाहता है उसे श्रोत्रिय कहना चाहिए। बाहरी शौच से युक्त को श्रोत्रिय नहीं कहा जा सकता।

श्रोत्रेन्द्रियार्थावग्रह — सण्णिपंचिंदियपज्जत्तएसु जवणालियसंठाणसंठिदसोदिंदियग्रत्थोग्गहविसग्रो बारहजोयणाणि १२। ग्रसण्णिपंचिंदियपज्जत्तएसु ग्रट्ठधणुसहस्साणि ८०००। एत्तियमद्धाणमंतरिय ट्ठिदसद्दग्गहणं सोदिंदियग्रत्थोग्गहो णाम। (धव. पु. १३, पृ. २२७)।

यवनाली के आकार में स्थित श्रोत्र इन्द्रिय के ग्राश्रय से होने वाला ग्रर्थावग्रह संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों में उत्कृष्ट बारह योजन प्रमाण तथा ग्रसंज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों में आठ हजार धनुष प्रमाण क्षेत्र को विषय करता है। इतने क्षेत्र के मध्य में स्थित शब्दों का जो ग्रहण होता है उसका नाम श्रोत्र-इन्द्रियग्रर्थावग्रह है।

श्रोत्रेन्द्रियार्थावग्रहावरणीय—एदस्स (सोदिंदियत्थोग्गहस्स) जमावारयं कम्मं तं सोदिंदियग्रत्थोग्गहावरणीयं। (धव. पु. १३, पृ. २२७)।

जो कर्म श्रोत्र-इन्द्रिय-ग्रर्थावग्रह को ग्राच्छादित करता है उसे श्रोत्र-इन्द्रिय-ग्रर्थावग्रहावरणीय कहते हैं।

श्रोत्रेन्द्रियेहाज्ञान—सोदिंदिएण गहिदसद्दो किं णिच्चो ग्रणिच्चो दुसहाग्रो किमदुसहावो त्ति चदुण्णं वियप्पाणं मज्झे एगवियप्पस्स लिंगगवेसणं सोदिंदियगदईहा। (धव. पु. १३, पृ. २३१)।

श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया गया शब्द क्या नित्य है, क्या ग्रनित्य है, क्या द्विस्वभाव (नित्य व ग्रनित्य—उभय) है, ग्रथवा ग्रद्विस्वभाव (न नित्य न ग्रनित्य) है इन चार विकल्पों में से किसी एक विकल्प के हेतु के ग्रन्वेषण करने वाले ज्ञान को श्रोत्र-इन्द्रिय-ईहाज्ञान कहा जाता है।

श्रोत्रेन्द्रियेहाज्ञानावरणीय—तिस्से ग्रावारयं कम्मं सोदिंदियईहावरणीयं। (धव. पु. १३, पृ. २३१)।

जो कर्म श्रोत्र-इन्द्रिय-ईहाज्ञान को ग्राच्छादित करता है उसे श्रोत्रेन्द्रियेहाज्ञानावरणीय कहते हैं।

श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका (सण्ह-सण्हिया)—ग्रट्ठउस्सण्ह-सण्हिग्राग्रो सा एगा सण्ह-सण्हिया। (जम्बूद्वी. १९, पृ. ९२)।

ग्राठ उच्छ्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिकाग्रों की एक श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका होती है।

श्लेषार्द्र—तथा श्लेषार्द्रं वज्रलेपाद्युपलिप्तं स्तम्भ-कुड्यादिकं यद् द्रव्यं तत् स्निग्धाकारतया श्लेषार्द्रमित्यभिधीयते। (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. २, ६, १८५, पृ. १३६)।

स्तम्भ व भित्ति ग्रादि जो द्रव्य वज्रलेप ग्रादि से लिप्त होते हैं उन्हें स्निग्ध ग्राकार होने से श्लेषार्द्र कहा जाता है।

श्वभ्रपूरण—१. येन केनचित्प्रकारेण स्व[श्व]भ्र-पूरणवदुदरगर्त्तमनगारः पूरयति स्वादुनेतरेण ग्राहारेण वेति स्वभ्रपूरणमिति च निरुच्यते। (त. वा. ९, ६, १६; त. श्लो. ९–६; चा. सा. पृ. ३६)। २. श्वभ्रस्य गर्त्तस्य येन केनचित्कचारेणेव स्वादुनेतरेण वाहारेणोदरगर्तस्य पूरणात् श्वभ्रपूरणमित्याख्यायते। (ग्रन. ध. स्वो. टी. ९–४९)।

१ जिस प्रकार जिस किसी भी प्रकार से गड्ढे को भरा जाता है उसी प्रकार से साधु ग्रपने पेट रूप गड्ढे को कचरे के समान स्वादिष्ट ग्रथवा स्वादहीन भोजन से भरा करता है, इसीलिए उसे श्वभ्र-पूरण जैसे सार्थक नाम से कहा जाता है।

श्वास—बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः। (योगशा. स्वो. विव. ५–४)।

बाहिरी वायु के ग्राचमन को—नाक या मुंह के द्वारा उदर में पहुंचाने को—श्वास कहा जाता है।

श्वेतवर्णनामकर्म — तत्र यदुदयाज्जन्तुशरीरेषु श्वेतवर्णप्रादुर्भावो यथा बिशकण्ठिकानां ततः श्वेतवर्णनाम। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३)।

जिसके उदय से प्राणियों के शरीर में श्वेत वर्ण उत्पन्न होता है, जैसे बिशकण्ठिकों के, उसे श्वेत-वर्णनामकर्म कहते हैं।

श्वेतसर्षप—चत्वारि महिधिकतृणफलानि श्वेत-सर्षप एकः। (त. वा. ३, ३८, ३)।

चार महिधिका तृणफलों का एक श्वेतसर्षप होता है।

श्वेतसिद्धार्थ—१. × × × ग्रट्ठहिं चिहुरग्गहिं, सियसिद्धत्थु कहिउ णिहयक्खहिं। (म. पु. पुष्प. २, ७, पृ. २४)। २. ग्रष्टभिर्लिक्षाभिः पिण्डिताभिरेकः श्वेतसिद्धार्थः। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३८)।

१ ग्राठ चिकुराग्रों (बालाग्रों) का एक श्वेतसिद्धार्थ

होता है। २ समुदित आठ लीखों का एक श्वेत-सिद्धार्थ होता है।

षट्खण्डाधिपति—देखो चक्रवर्ती। १. छक्खंड-भरहणाहो वत्तीससहस्समउडवद्धपहुदीओ। होदि हु सयलं चक्की ××× । (ति. प. १–४८)। २. षट्खण्डभरतनाथं द्वात्रिंशद्धरणिपतिसहस्राणाम्। दिव्यमनुष्यं विदुरिह भोगागारं सुचक्रधरम्॥ (धव. पु. १, पृ. ५८ उद्.)। ३. द्वात्रिंशत्सहस्रराजस्वामी पट्खण्डाधिपतिः। (त्रि. सा. वृ. ६८५)।

१ जो छह खण्डभूत भरतक्षेत्र का स्वामी होकर वत्तीस हजार मुकुटवद्ध आदि राजाओं को अपने आधीन रखता है वह सकलचक्री माना जाता है। इसी को सकलचक्राधिपति या पट्खण्डाधिपति भी कहा जाता है।

षट्स्थानवृद्धि—अणंतभागवड्ढी असंखेज्जभाग-वड्ढी संखेज्जभागवड्ढी संखेज्जगुणवड्ढी असंखेज्ज-गुणवड्ढी अणंतगुणवड्ढि त्ति छट्ठाणवड्ढी। (धव. पु. ६, पृ. २२)।

अनन्तभागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यातभाग-वृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अन-न्तगुणवृद्धि ये छह स्थानपतित वृद्धि के रूप हैं।

षट्स्थानहानि—अणंतभागहाणी असंखेज्जभाग-हाणी संखेज्जभागहाणी संखेज्जगुणहाणी असंखेज्ज-गुणहाणी अणंतगुणहाणि त्ति छट्ठाणहाणी। (धव. पु. १६, पृ. ४६३)।

अनन्तभागहानि, असंख्यातभागहानि, संख्यातभाग-हानि; संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणहानि और अनन्तगुणहानि ये छह स्थानपतित हानि के रूप हैं।

षड्जीवकायसंयम—षण्णां जीवनिकायानां पृथि-व्यादिलक्षणानां संयमः संघट्टनादिपरित्यागः षड्जीव-कायसंयमः। (आव. भा. हरि. वृ. १९३, पृ. ४९२)।

पृथिवी आदि पांच स्थावर और त्रस इन छह जीव-निकायों के संयम को—उनके संघट्टन आदि के परित्याग को—षड्जीवकायसंयम कहा जाता है।

षण्ढ—नारीस्वभाव-स्वर-वर्णभेदो मेढ्रो गरीयान् मृदुला च वाणी। मूत्रं सशब्दं च सफेनकं च एतानि षट् षण्ढकलक्षणानि॥ (आचारदि. पृ. ७४)।

स्त्री-स्वभाव के समान स्वरभेद व वर्णभेद, गुरुतर-जननेन्द्रिय, मृदु भाषण, शब्द व फेन के साथ मूत्र; ये छह लक्षण नपुंसक के हैं।

षष्ठभक्त—षष्ठमिह षष्ठ्यां भोजनवेलायां पारणा। (प्राय. स. टी. १–१०)।

छठी भोजनवेला में पारणा करने को षष्ठभक्त कहा जाता है।

षष्ठी प्रतिमा—(पूर्वप्रतिमानुष्ठानसहितः) षण्मा-सान् ब्रह्मचारी भवतीति षष्ठी। (योगशा. स्वो. विव. ३–१४८)।

पूर्व पांच प्रतिमाओं के अनुष्ठान का पालन करने वाला जो छह माह ब्रह्मचारी रहता है, इसे षष्ठी (छठी) प्रतिमा कहा जाता है।

सकल—अखण्डत्वात् सकलम्। ××× अथवा कलास्तावदवयवा द्रव्य-गुण-पर्ययभेदावगमान्यथानुप-पत्तितोऽवगतसत्त्वाः, सह कलाभिर्वर्तत इति सकलम् ××× केवलज्ञानम्। (धव. पु १३, पृ. ३४५)।

केवलज्ञान अखण्ड होने से सकल है। द्रव्य, गुण और पर्याय भेदों के ज्ञापक अवयवों का नाम कला है, इन कलाओं के साथ रहने वाले ज्ञान को सकल कहा जाता है। समस्त द्रव्य-गुणादि को विषय करने वाला ऐसा वह ज्ञान केवलज्ञान ही सम्भव है।

सकलचारित्र—××× तत् (चरणम्) सकलं सर्वसंगविरतानाम्। अनगाराणां ×××॥ (रत्नक. ५०)।

समस्त परिग्रह का जो परित्याग कर चुके हैं ऐसे गृह के त्यागी मुनियों के चारित्र को सकलचारित्र कहा जाता है।

सकलजिन—खवियघाइकम्मा सयलजिणा। के ते? अरहंत-सिद्धा। (धव. पु. ९, पृ. १०)।

घातिया कर्मों का क्षय कर देने वाले सयोग केव-लियों को सकलजिन कहा जाता है।

सकलदत्ति—देखो अन्वयदत्ति। १. आत्मान्वय-प्रतिष्ठार्थं सूनवे यदशेषतः। समं समय-वित्ताभ्यां स्ववर्गस्यातिसर्जनम्॥ सैषा सकलदत्तिः स्यात् ×××। (म. पु. ३८, ४०–४१)। २. सकलदत्ति-रात्मीयस्वसन्ततिस्थापनार्थं पुत्राय गोत्रजाय वा धर्मं धनं च समर्प्य प्रदानम्, अन्वयदत्तिश्च सैव। (चा. सा. पृ. २१; कार्तिके. टी. ३९१)। ३. समर्थाय स्वपुत्राय तदभावेऽन्यजाय वा। यदेतद् दीयते वस्तु स्वीयं तत्सकलं मतम्॥ (धर्मसं. श्रा. ६–१९७)।

१ अपने वंश की प्रतिष्ठा के लिए जो पुत्र को धर्म और धन के साथ समस्त परिवार को समर्पित किया जाता है, इसका नाम सकलदत्ति है।

सकलदेशच्छेद — (निर्विकल्पकसमाधिरूपसामायिकस्य) सर्वथा च्युतिः सकलदेशच्छेदः। (प्रव. सा. जय. वृ. ३–१०)।

निर्विकल्पक समाधिरूप सामायिक से पूर्णतया च्युत होने को सकलच्छेद कहा जाता है।

सकलपरमात्मा—१. सयलो अरुहसरूवो ××× ॥ (ज्ञा. सा. ३२)। २. सकलो भण्यते सद्भिः केवली जिनसत्तमः॥ (भावसं वाम. ३५३)।

१ चार घातिया कर्मों से रहित अरहन्त को सकलपरमात्मा कहा जाता है।

सकलप्रत्यक्ष—१. सकलप्रत्यक्षं केवलज्ञानम्, विषयीकृतत्रिकालगोचराशेषार्थत्वात् अतीन्द्रियत्वात् अक्रमवृत्तित्वात् निर्व्यवधानात् आत्मार्थसन्निधानमात्रप्रवर्तनात्। उक्तं च—क्षायिकमेकमनन्तं त्रिकालसर्वार्थयुगपद्विभासम्। निरतिशयमन्त्यमच्युतमव्यवधानं जिनज्ञानम्॥ (धव. पु ९, पृ. १४२)। २. केवलं सयलपच्चक्खं पच्चक्खीकयतिकालविसयासेसदव्व-पज्जयभावादो। (जयध. १, पृ. २४)। ३. सकलप्रत्यक्षस्य सर्वद्रव्य-पर्यायसाक्षात्करणं स्वरूपम्। (अष्टस. १५)। ४. सयलो केवलंणाणं ×××। (जं. दी. प. १३–४८)। ५. सर्वद्रव्य-पर्यायविषयं सकलम्। तच्च घातिसंघातनिरवशेषघातनात् समुन्मीलितं केवलज्ञानमेव। (न्यायदी. पृ. २)। ६. ××× तत्सकलप्रत्यक्षमक्षयं ज्ञानम्। (पंचाध्या. १–६९७)।

१ तीनों काल सम्बन्धी समस्त पदार्थों को विषय करने वाला जो केवलज्ञान अतीन्द्रिय, युगपद्वृत्ति, व्यवधान से रहित और आत्मा मात्र की अपेक्षा रखने वाला है—इन्द्रिय व प्रकाश आदि की अपेक्षा नहीं करता है—उसे सकलप्रत्यक्ष कहा जाता है।

सकलसंयम— संज्वलनकषाय-नोकषायाणां सर्वघातिस्पर्धकोदयाभावलक्षणे क्षये, तेषामेव सदवस्थालक्षणे उपशमे च सति सकलसंयमः। (गो. जी. म. प्र. ३२)।

संज्वलन और नोकषायों के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभावरूप क्षय तथा उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम के होने पर जो पूर्ण संयम होता है उसे सकलसंयम कहते हैं।

सकलादेश—१. यदा यौगपद्यं तदा सकलादेशः, स एव प्रमाणमित्युच्यते, सकलादेशः प्रमाणाधीन इति वचनात्। ××× एकगुणमुखेनाशेषवस्तुरूपसंग्रहात् सकलादेशः। यदा अभिन्नमेकं वस्तु एकगुणरूपेण उच्यते गुणिनां गुणरूपमन्तरेण विशेषप्रतिपत्तेरसंभवात्। एको हि जीवोऽस्तित्वादिष्वेकस्य गुणस्य रूपेणाऽभेदवृत्त्या अभेदोपचारेण वा निरंशः समस्तो वक्तुमिष्यते, विभागनिमित्तस्य प्रतियोगिनो गुणान्तरस्य तत्रानाश्रयणात्, तदा सकलादेशः। (त. वा. ४, ४२, १३-१४)। २. सकलादेशः प्रमाणाधीनः × × ×। (धव. पु. ९, पृ. १६५ उद्)। ३. स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति सप्तापि सकलादेशः। × × × सकलमादिशति कथयतीति सकलादेशः। ××× सकलादेशः प्रमाणाधीनः प्रमाणायत्तः प्रमाणव्यपाश्रयः प्रमाणजनित इति यावत्। (जयध. १, पृ. २०१-२०३)। ४. ××× स्याच्छब्दसंसूचिताभ्यन्तरीभूतानन्तधर्मकस्य साक्षादुपन्यस्तजीवशब्द-क्रियाभ्यां प्रधानीकृतात्मभावस्यावधारणव्यवच्छिन्नतदसम्भवस्य वस्तुनः सन्दर्शकत्वात् सकलादेश इत्युच्यते, प्रमाणप्रतिपन्नसम्पूर्णार्थकथनमिति यावत्। (आव. नि. मलय. वृ. ७५४, पृ. ३७१)। ५. सकलादेशः सकलस्यानेकधर्मणो वस्तुन आदेशः कथनम्। (लघीय. अभय. वृ. ६२, पृ. ८४)।

१ एक गुण की प्रमुखता से जो समस्त वस्तु को विषय करता है उसे सकलादेश कहते हैं। जैसे—एक ही जीव को जब अस्तित्व आदि अनेक गुणों में एक गुण के अभेदोपचार से अखण्ड ग्रहण किया जाता है तब उसे सकलादेश समझना चाहिए। उस समय प्रतिपक्षी गुण का आश्रय नहीं लिया जाता है।

सकाम निर्जरा —देखो अविपाक निर्जरा। सकामा पुनरुपक्रमापक्वकर्मनिर्जरणलक्षणा। (अन. ध. स्वो. टी. २–४३)।

उदय में अप्राप्त कर्मों को जो उपक्रम—बुद्धिपूर्वक आत्मपरिणाम—के द्वारा उदयावली में प्राप्त कराकर निजीर्ण किया जाता है, इसे सकाम अथवा औपक्रमिकी निर्जरा कहा जाता है।

सवता—१. सजणसंबंध-मित्तवग्गादिसु संजदि त्ति सत्ता। (धव. पु. १, पृ. १२०); स्वजन-संबन्धि-मित्रवर्गादिषु सजतीति सक्ता। (धव. पु. ६, पृ. २२१)। २. परिग्गहेसु सजदि त्ति सत्ता। (अंगप. ८६-८७, पृ. २६५)।

१ जो अपने कुटुम्बी जन, सम्बन्धी और मित्रों के समूह आदि में आसक्त रहता है उसे सक्ता कहा जाता है। यह जीव का पर्याय नाम है।

सङ्क्रम—१. सो संकमो त्ति वुच्चइ जव्बंधनपरिणओ पओगेणं। पगयंतरत्थदलियं परिणमइ तयणुभावे जं॥ (कर्मप्र. सं. क. १)। २. यां प्रकृति वध्नाति जीवः तदनुभावेन प्रकृत्यन्तरस्थ दलिकं वीर्यविशेषेण यत्परिणमयति सः संक्रमः। (स्थानां. अभय. वृ. २६६)। ३. एतदुक्तं भवति—वध्यमानासु प्रकृतिषु मध्येऽवध्यमानप्रकृतिदलिकं प्रक्षिप्य वध्यमानप्रकृतिरूपतया यत्तस्य परिणमनम्, यच्च वा वध्यमानानां प्रकृतीनां दलिकरूपस्येतरेतररूपतया परिणमनं तत् सर्वं संक्रमणमित्युच्यते। (कर्मप्र. मलय. वृ. सं. क. १)।

१ जिस कर्मप्रकृति के बांधने रूप से परिणत जीव संक्लेश अथवा विशुद्धिरूप आत्मपरिणाम के द्वारा अवध्यमान प्रकृति के द्रव्य को वध्यमान प्रकृति के रूप से परिणमाता है उसे, तथा वध्यमान प्रकृतियों के दलिक का जो परस्पर के रूप में परिणमन होता है उसे, संक्रमण कहा जाता है।

सङ्घ—१. सङ्घश्चतुर्विधः श्रमणादिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-२४)। २. गुणसमुदायो संघो पवयण तित्थंति होंति एगट्ठा। (पंचाश. ३८३)। ३. सङ्घः समूहः सम्यक्त्व-ज्ञान-चरणानां तदाधारश्च साध्वादिश्चतुर्विधः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-२३); सङ्घश्चतुर्विधः साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकाः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-२४)। ४. संघो गणसमुदायः। (औपपा. वृ. २०, पृ. ४३)। ५. सङ्घः साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकासमुदायः। (योगशा. स्वो. विव. ४-९०)।

१ चार प्रकार के श्रमण आदि—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—को संघ कहा जाता है। २ सम्यक्त्व आदि गुणों के समुदाय को संघ कहते हैं। ४ गणों के समुदाय को संघ कहा जाता है।

सङ्घर्ष—क्रकच-काष्ठादिसङ्घर्षप्रसूतः सङ्घर्षः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५-२४, पृ. ३६०)।

करोंत और लकड़ी आदि के घर्षण से जो शब्द उत्पन्न होता है उसे सङ्घर्ष शब्द कहा जाता है।

सचित्त—१. आत्मनश्चैतन्यविशेषपरिणामश्चित्तम्, सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तः। (स. सि. २-३२); सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तं चेतनावद् द्रव्यम्। (स. सि. ७-३५)। २. आत्मनः परिणामविशेषश्चित्तम्। आत्मनश्चैतन्यस्य परिणामविशेषश्चित्तम्, तेन सह वर्तन्त इति सचित्ताः। (त. वा. २, ३२, १); सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तः। चित्तं विज्ञानम्, तेन सह वर्तत इति सचित्तः चेतनावद् द्रव्यमित्यर्थः। (त. वा. ७, ३५, १)। ३. सह चित्तेन बोधेन वर्तते हि सचित्तकम्। (धर्मसं. श्रा. ८-१४)। ४. जीवस्य चेतनाप्रकारः परिणामश्चित्तम्, चित्तेन सह वर्तते सचित्तः। (त. वृत्ति श्रुत. २-३२)।

१ आत्मा के चैतन्य परिणामविशेष का नाम चित्त है, जो चित्त के साथ रहता है उसे सचित्त कहते हैं।

सचित्तकाल—तत्थ सच्चित्तो जहा दंसकालो, मसयकालो इच्चेवमादी दंस-मसयाणं चेव उवयारेण कालत्तविहाणादो। (धव. पु. ११, पृ. ७६)।

दंशकाल व मशककाल इत्यादि को सचित्तकाल कहा जाता है। यहां निमित्तवश उपचार से दंश-मशक को ही कालपने का विधान किया गया है।

सचित्तक्षेपण—सचित्ते सजीवे पृथ्वी-जल-कुम्भोपचुल्लीधान्यादौ क्षेपणं निक्षेपो देयस्य वस्तुनः, तच्च अदानबुद्धया निक्षिपति, एतज्जानात्यसौ तुच्छबुद्धिः यत् सचित्तनिक्षिप्तं न गृह्णते साधव इत्यतो देयं चोपस्थाप्यते, न चाददते साधव इति लाभोऽयं ममेति प्रथमोऽतिचारः। (योगशा. स्वो. विव. ३-११९)।

साधु सचित्त पृथिवी आदि पर रखे भोज्य पदार्थ को नहीं लेते हैं, यह जानते हुए यदि न देने की इच्छा से किसी भोज्य वस्तु को सचित्त पृथ्वी आदि के ऊपर रखा जाता है तो यह अतिथिसंविभागव्रत को दूषित करने वाला उसका एक अतिचार होता है।

सचित्तगुणयोग—सचित्तगुणजोगो पंचविहो—ओदइओ ओवसमिओ खइओ खओवसमिओ पारिणामिओ चेदि (ओदइय-ओवसमिय-खइयादिजीवभावेहि सह जीवस्स जो जोगो सो सचित्तगुणजोगो)। (धव. पु. १०, पृ. ४३३)।

औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक इन भावों से जो जीव का सम्बन्ध होता है वह सचित्तगुणयोग कहलाता है।

सचित्तचतुष्पदद्रव्योपक्रम— सचित्तचतुष्पदद्रव्योपक्रमो यथा हस्त्यादेः शिक्षाद्यापादनम्। (व्यव. भा. मलय. वृ. पृ. १)।

चार पांव वाले हाथी आदि के लिए शिक्षा आदि देने को सचित्तचतुष्पदद्रव्योपक्रम कहते हैं।

सचित्तद्रव्यपूजा—प्रत्यक्षमर्हदादीनां सचित्तार्चा जलादिभिः। (धर्मसं. श्रा. ६–६२)।

प्रत्यक्ष में जल आदि के द्वारा जो अरहन्त आदि की पूजा की जाती है, इसे सचित्तद्रव्य-अर्चा या सचित्त-द्रव्यपूजा कहते हैं।

सचित्तद्रव्यभाव—केवलणाण-दंसणादिओ सचित्त-दव्वभावो। (धव. पु. १२, पृ. २)।

केवलज्ञान-दर्शन आदि को सचित्तद्रव्यभाव कहते हैं।

सचित्तद्रव्यवेदना—सचित्तदव्ववेयणा सिद्धजीव-दव्वं। (धव. पु. १०, पृ. ७)।

सिद्ध जीव द्रव्य को सचित्तद्रव्यवेदना कहा जाता है।

सचित्तद्रव्यस्पर्शन—सचित्ताणं दव्वाणं जो संजोओ सो सचित्तदव्वफोसणं। (धव. पु. ४, पृ. १४३)।

सचित्त द्रव्यों का जो संयोग है उसे सचित्तद्रव्यस्पर्शन कहते हैं।

सचित्तद्विपदद्रव्योपक्रम—सचित्तद्विपदद्रव्योपक्रमो यथा पुरुषस्य वर्णादिकरणं। (व्यव. भा. मलय. वृ. पृ. १)।

दो पाँव वाले पुरुष के वर्ण आदि के करने को सचित्तद्विपदद्रव्योपक्रम कहा जाता है।

सचित्तनिक्षेपण—देखो सचित्तक्षेपण। १. सचित्ते पद्मपत्रादौ निक्षेपः सचित्तनिक्षेपः। (स. सि. ७, ३६)। २. सचित्ते निक्षेपः सचित्तनिक्षेपः। × × × सचित्ते पद्मपत्रादौ निधानं निक्षेपः इत्युच्यते। (त. वा. ७, ३६, १)। ३. सचित्तनिक्षेपणं सचित्तेषु व्रीह्यादिषु निक्षेपणमन्नादेरदेयबुद्धया मातृ स्थानतः। (श्रा. प्र. टी. ३२७)। ४. सचित्ते पद्मपत्रादौ निधानं सचित्तनिक्षेपः। (चा. सा. पृ. १४)। ५. सचित्तनिक्षेपः—सचित्ते सजीवे पृथिवी-जल-कुम्भोप-(चुल्लि) भुवल्लिधान्यादौ निक्षेपो देयस्य वस्तुनः स्थापनम्। (सा. ध. स्वो. टी. ५–५४)। ६. चित्तेन सह वर्तते सचित्तम्, सचित्ते कदलीदलोलूकपर्ण-पद्मपत्रादौ निक्षेपः सचित्तनिक्षेपः। (त. वृत्ति श्रुत. ७–३६)। ७. सचित्ते पद्मपत्रादौ निक्षेपोऽन्नादि-वस्तुनः। दोषः सचित्तनिक्षेपो भवेदन्वर्थसंज्ञकः॥ (लाटीसं. ६–२२७)।

१ सचित्त कमलपत्र आदि के ऊपर देने योग्य भोज्य वस्तु के रखने पर सचित्तनिक्षेप नाम का अतिथि-संविभागव्रत का अतिचार होता है। ३ नहीं देने के विचार से सचित्त व्रीहि आदि में अन्न आदि के रखने को सचित्तनिक्षेपण कहा जाता है।

सचित्तनोकर्मद्रव्यबन्धक — सचित्तणोकम्मदव्व-बंधया जहा हत्थीणं बंधया अस्साणं बंधया इच्चेव-मादि। (धव. पु. ७, पृ. ४)।

हाथी और घोड़े आदि के बांधने वालों को सचित्त-नोकर्मद्रव्यबन्धक कहा जाता है।

सचित्तनोकर्मप्रक्रम—अस्साणं हत्थीणं पक्कमो सचित्तपक्कमो णाम। (धव. पु. १५, पृ. १५)।

घोड़ों और हाथियों के प्रक्रम को सचित्तनोकर्मप्र-क्रम कहते हैं।

सचित्तपरिग्रह—सह चित्तेन सचित्तं द्विपद-चतु-ष्पदादि, तदेव परिग्रहः। (आव. हरि. वृ. अ. ६, पृ. ८२५)।

दो पांव वाले मनुष्य आदि को तथा चार पांवों वाले हाथी-घोड़े आदि को सचित्त (चेतन) परिग्रह माना गया है।

सचित्तपिधान—देखो सचित्तापिधान। १. सचित्तपिधानं सचित्तेन फलादिना पिधानं स्थगनम्। (श्रा. प्र. टी. ३२७)। २. तथा तेन सचित्तेन सूरण-कन्द-पत्र-पुष्प-फलादिना तथाविधयैव बुद्धया पिधत्ते इति द्वितीयः। (योगशा. स्वो. विव. ३–११६)।

१ देय वस्तु को न देने के विचार से सचित्त फल आदि से आच्छादित करके रखना, यह अतिथि-संविभागव्रत को मलिन करने वाला उसका एक अतिचार है।

सचित्तमंगल—सचित्तमर्हदादीनामनाद्यनिधनजीव-द्रव्यम्। (धव. पु. १, पृ. २८)।

अरहन्त आदि के अनादि-अनन्त जीव द्रव्य को सचित्त लोकोत्तर द्रव्यमंगल कहा जाता है।

सचित्तयोनि—देखो सचित्त। आत्मनश्चैतन्यवि-शेषपरिणामश्चित्तम्, सह चित्तेन वर्तत इति सचि-

त्तम् । (मूला. वृ. १२-५८) ।
आत्मा के चैतन्यविशेषरूप परिणाम का नाम चित्त है। जो योनिप्रदेश उस चित्त से युक्त होते हैं उन्हें सचित्तयोनि कहते हैं।

सचित्तविरत—१. मूल-फल-शाक-शाखा-करीर-कन्द-प्रसूनबीजानि । नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्त-विरतो दयामूर्तिः ॥ (रत्नक. ५-२०) । २. सच्चि-त्तं पत्त-फलं छल्ली मूलं च किसलयं बीजं । जो ण य भक्खदि णाणी सचित्तविरदो हवे सो दु॥ (कार्तिके. ३७९) । ३. पंचमु जसु कच्चासणह हरियह णाहि पवित्ति । (सावयध. १४) । ४. सचित्तव्रतो दया-मूर्तिर्मूल-फल-शाखा-करीर-कंद-पुष्प-बीजादीनि न भक्षयत्यस्योपभोग-परिभोगपरिमाणशीलव्रतातिचारो व्रतम् । (चा. सा. पृ. १९) । ५. न भक्षयति योऽपक्वं कन्द-मूल-फलादिकम् । संयमासक्तचेतस्कः सचित्तात् स पराङ्मुखः ॥ (सुभा. सं. ८३७) । ६. दयार्द्रचित्तो जिनवाक्यवेदी, न वल्भते किञ्चन यः सचित्तम् । अनन्यसाधारणधर्मपोषी, सचित्तमोची स कषायमोची ॥ (अमित. श्रा ७-७१) । ७. सर्वजीवकरुणापरचित्तो यो न खादति सचित्तमशे-षम् । प्रासुकाशनपरं यतिनाथास्तं सचित्तविरतं निगदन्ति ॥ (धर्मप. २०-५७) । ८. जं वज्जि-ज्जइ हरियं तुय-पत्त-पवाल-कंद-फल-बीयं । अप्पासुगं च सलिलं सचित्तणिव्वित्ति तं ठाणं ॥ (वसु. श्रा. २९५) । ९. हरीताङ्कुरबीजाम्बुलवणाद्यप्रासुकं त्यजन् । जागृत्कृपश्चतुर्निष्ठः सचित्तविरतः स्मृतः ॥ (सा. ध. ७-८) । १०. फल-मूलाम्बु-पत्राद्यं नाश्ना-त्यप्रासुकं सदा । सचित्तविरतो गेही दयामूर्तिर्भव-त्यसौ ॥ (भावसं. वाम. ५३७) । ११. प्राक्चतुः-प्रतिमासिद्धो यावज्जीवं त्यजेत् त्रिधा । सचित्तभो-जनं स स्याद् दयावान् पञ्चमो गृही ॥ सह चित्तेन बोधेन वर्तते हि सचित्तकम् । यन्मलत्वेन प्रागुक्तं तदिदानीं व्रतात्मतः ॥ शाक-बीज-फलाम्बूनि लव-णाद्यप्रासुकं त्यजन् । जाग्रद्दयोऽङ्गिपञ्चत्वभीतः संयमवान् भवेत् ॥ (धर्मसं. श्रा. ८, १३-१५) ।

१ जो दयालु श्रावक कच्चे मूल, फल, शाक, शाखा (कोंपल), करील, कन्द, फूल और बीज इनको नहीं खाता है उसे सचित्तविरत—छठी प्रतिमा का धारक माना गया है।

सचित्तसम्बद्धाहारत्व—देखो सचित्तसम्बन्ध ।

तथा सचित्तेन सम्बद्धं कर्कटिकबीज-कोलिकाकुलस्या-पक्वबदरोदुम्बराम्रफलादि भक्षयतः सचित्तसम्बद्धा-हारत्वम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. ७-३०) ।
सचित्त से सम्बन्ध को प्राप्त ककड़ी के बीज, कच्चे बेर, ऊमर और आम फल आदि के खाने पर सचित्त-सम्बद्ध-आहार नाम का उपभोग-परिभोगपरि-माणव्रत का एक अतीचार होता है।

सचित्तसम्बन्ध—देखो सचित्तसम्बद्धाहारत्व । १. तदुपश्लिष्टः (चेतनावद्द्रव्योपश्लिष्टः) सम्ब-न्धः (आहारः) । (स. सि. ७-३५) । २. तदुप-श्लिष्टः सम्बन्धः, तेन चित्तवता द्रव्येणोपश्लिष्टः सम्बन्धः इत्याख्यायते । (त. वा. ७, ३५, २) । ३. सचित्तवतोपश्लिष्टः सचित्तसम्बद्धाहारः । (चा. सा. पृ. १३) । ४. तेन सचित्तेन उपसृष्ट उपश्लिष्टः शक्यभेदकरणः संसर्गमात्रसहितः स्वयं शुद्धोऽपि सचित्तसंघट्टमात्रेण दूषित आहारः । (त. वृत्ति श्रुत. ७-३५) । ५. तथाविधोऽपि यः कश्चि-च्चेतनाधिष्ठित च यत् । वस्तुसंख्यामकुर्वाणो भवेत् सम्बन्धदूषणम् । (लाटीसं. ६-२१६) ।

१ चेतन द्रव्य से संश्लिष्ट आहार को सचित्त-सम्बन्ध आहार कहा जाता है। यह भोगोपभोग-परिसंख्यानव्रत का एक अतिचार है।

सचित्तसम्मिश्राहार—१. तद्व्यतिकीर्णः (सचि-त्तव्यतिकीर्णः आहारः) सम्मिश्रः । (स. सि. ७, ३५) । २. तद्व्यतिकीर्णः सम्मिश्रः । तेन सचित्तेन द्रव्येण व्यतिकीर्णः सम्मिश्र इति कथ्यते । (त. वा. ७, ३५, ३) । ३. सचित्तेन व्यतिकीर्णः सचित्त-सम्मि-[म्मि-]श्राहारः (चा. सा. पृ. १३) । ४. स-चित्तव्यतिकीर्णः संमिलितः सचित्तद्रव्यसूक्ष्मप्राण्य-तिमिश्रः अशक्यभेदकरण आहारः सम्मि[म्मि]श्रा-हारः । (त. वृत्ति श्रुत. ७-३५) । ५. मिश्रितं च सचित्तेन वस्तुजातं च वस्तुना । स्वीकुर्वाणोऽप्यती-चारं सम्मिश्राख्यं च न त्यजेत् ॥ (लाटीसं. ६, २१७) ।

१ चेतन द्रव्य से मिश्रित आहार को सचित्तसम्मिश्र-आहार कहा जाता है। यह भोगोपभोगपरिसंख्यान-व्रत का एक अतिचार है।

सचित्तसंयुक्तद्रव्यसंयोग—तत्थ वि सचित्तसंजुत्त-दव्वसंजोगो णाम जहा रुक्खो पुव्वं मूलेहि पुढवि-संबद्धेहि उत्तरकालं कंदेण सह जुज्जते, एवं जावत्ति

ताव नेयं। (उत्तरा. चू. पृ. १६)।
वृक्ष जो पूर्व में पृथ्वी से सम्बद्ध जड़ों से और तत्पश्चात् उत्तरकाल में स्कन्ध से संयुक्त होता है, इस प्रकार के संयोग को सचित्तसंयुक्तद्रव्यसंयोग जानना चाहिए।

सचित्तादत्तादान–१. सह चित्तेन सचित्तं द्विपदादिलक्षणं वस्तु, तस्य क्षेत्रादौ सुन्यस्त-दुर्न्यस्त-विस्मृतस्य स्वामिनाऽदत्तस्य चौर्यबुद्धयादानं सचित्तादानम्, आदानमिति ग्रहणम्। (श्राव. हरि. वृ. अ. ६, पृ. ८२२)। २. द्विपदादेर्वस्तुनः क्षेत्रादौ सुन्यस्त-दुर्न्यस्त-विस्मृतस्य स्वामिना अदत्तस्य चौर्यबुद्धया ग्रहणं सचित्तादत्तादानम्। (श्रा. प्र. टी. २६५)।
१ खेत आदि में अच्छी तरह से या दुष्टता से स्थापित द्विपद (दो पांव सहित) आदि वस्तु को स्वामी के बिना दिये चोरी के विचार से ग्रहण करना, इसे सचित्तादत्तादान कहते हैं। यह अचौर्याणुव्रत का एक अतिचार है।

सचित्तान्तर—सचित्तंतरं उसह-संभवाणं मज्झे ट्ठिओ अजिओ। (धव. पु. ५, पृ. ३)।
भगवान् ऋषभ और सम्भव जिनेन्द्र के मध्य में जो अजितनाथ हुए, यह ऋषभ और संभव का सचित्ततद्व्यतिरिक्त द्रव्यान्तर है।

सचित्तापदद्रव्योपक्रम — सचित्तापदद्रव्योपक्रमो यथा वृक्षादेर्वृक्षायुर्वेदोपदेशाद् वृद्धयादिगुणकरणं। (व्यव. भा. मलय. वृ. पृ. २)।
पांवों से रहित चेतन वृक्ष आदि को वृक्षादि से सम्बद्ध आयुर्वेद के उपदेशानुसार वृद्धि आदि गुण से परिणत करना, इसे सचित्त-अपदद्रव्योपक्रम कहा जाता है।

सचित्तापिधान—देखो सचित्तपिधान। १. अपिधानमावरणम्, सचित्तेनैव सम्बध्यते सचित्तापिधानमिति। (स. सि. ७–३६)। २. प्रकरणात् सचित्तेनाऽपिधानम्। अपिधानमावरणमित्यर्थः। (त. वा. ७, ३६, २)। ३. सचित्तेनावरणं सचित्तपिधानम्। (चा. सा. पृ. १४)। ४. सचित्तेन अपिधानम् आवरणं सचित्तापिधानम्। (त. वृत्ति श्रुत. ७–३६)। ५. अपिधानामावरणं सचित्तेन कृतं यदि। स्यात् सचित्तापिधानाख्यं दूषणं व्रतधारिणः॥ (लाटीसं. ६–२२८)।
१ देने योग्य भोज्य वस्तु को चेतनायुक्त द्रव्य से आच्छादित करना, इसे सचित्तापिधान कहते हैं। यह अतिथिसंविभागव्रत का एक अतिचार है।

सचित्ताहार—१. चित्तं चेतनः संज्ञानमुपयोगोऽवधानमिति पर्यायाः, सचित्तश्चासावाहारश्च सचित्ताहारः, मूल-कन्दली-कन्दार्द्रकादिसाधारणवनस्पति-प्रत्येकशरीराणि सचित्तानि, तदभ्यवहारः, पृथिव्यादिकायिकानां वा सचित्तानाम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–३०)। २. सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तः। चित्तं विज्ञानम्, तेन सह वर्तत इति सचित्तः, चेतनावद् द्रव्यमित्यर्थः। (त. वा. ७, ३५, १)। ३. सचित्ताहारं खलु सचेतनं मूल-कन्दादिकम् तत्प्रतिबद्धं च वृक्षस्थगुन्द-पक्वफलादिलक्षणम्। (श्रा. प्र. टी. २८६)। ४. चेतनावद् द्रव्यं सचित्तं हरितकायः, तदभ्यवहरणं सचित्ताहारः। (चा. सा. पृ. १३)। ५. चेतनं चित्तम्, चित्तेन सह वर्तते सचित्तः। (त. वृत्ति श्रुत. ७–३५)।
१ मूल, कन्दली, कन्द और आर्द्रक आदि चेतनायुक्त साधारण या प्रत्येक वनस्पति का उपयोग करना, अथवा सचित्त पृथिवीकायिक आदि का उपयोग करना, इसे सचित्ताहार कहते हैं। यह उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत का एक अतिचार है।

सच्चारित्र—चेतसा वचसा तन्वा कृतानुमतकारितैः। पापक्रियाणां यस्त्यागः सच्चारित्रमुषंति तत्॥ (तत्त्वानु. २७)।
मन, वचन और काय से तथा कृत, कारित और अनुमोदन के द्वारा जो पापाचरण का त्याग किया जाता है, इसे सच्चारित्र या सम्यक्चारित्र माना जाता है।

सच्छूद्र—१. सकृत्परिणयनव्यवहाराः सच्छूद्राः। (नीतिवा. ७–११, पृ. ८४)। २. येषां सकृद्विवाहोऽस्ति ते चाद्याः। ××× ॥ (धर्मसं. श्रा. ६, २३३)।
१ जिनमें एक ही बार विवाह का व्यवहार प्रचलित है वे सच्छूद्र कहलाते हैं।

सज्जाति—तत्र सज्जातिरित्याद्या क्रिया श्रेयोऽनुबन्धिनी। या सा वासन्नभव्यस्य नृजन्मोपगमे भवेत्॥ स नृजन्मपरिप्राप्तौ दीक्षायोग्ये सदन्वये। विशुद्धं लभते जन्म सैषा सज्जातिरिष्यते॥ विशुद्ध-कुल-जात्यादिसम्पत् सज्जातिरुच्यते। उदितोदित

वंशत्वं यतोऽभ्येति पुमान् कृती ॥ (म. पु. ३६, ८२-८४)।

कर्त्रन्वय क्रियाओं में सज्जाति प्रथम है, वह आसन्न-भव्य के मनुष्य जन्म के प्राप्त होने पर होती है। मनुष्य पर्याय के प्राप्त होने पर दीक्षा योग्य कुल में जो विशुद्ध जन्म होता है उसे सज्जाति माना जाता है। विशुद्ध कुल और जाति आदि रूप सम्पत्ति को ही सज्जाति कहा जाता है। पुण्यशाली मनुष्य जो उत्तरोत्तर उत्तमोत्तम वंश को प्राप्त करता है वह इस सज्जाति के प्रभाव से ही करता है।

सत्—१. उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्। (त. सू. ५-३०)। २. प्रतिक्षणं स्थित्युदय-व्ययात्मतत्त्वव्यवस्थं सदिहार्थरूपम् ॥ (युक्त्यनु. ४६)। ३. उत्पाद-व्ययाभ्यां ध्रौव्येण च युक्तं सतो लक्षणम्; यदुत्पद्यते, यद् व्येति, यच्च ध्रुवं तत् सत्। (त. भा. ५-२६)। ४. येनोत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं यत्तत्सदिष्यते। (षड्द. स. ५७, पृ. २२५)। ५. सीदति स्वकीयान् गुण-पर्यायान् व्याप्नोतीति सत्। (आलापप. पृ. १४०)। ६. जो अत्थो पडिसमयं उप्पाद-वय-धुवत्तसब्भावो। गुण-पज्जयपरिणामो सो संतो भण्णदे समये ॥ (कार्तिके. २३७)। ७. सकलपदार्थाधिगतिमूलं द्रव्य-पर्याय-गुण-सामान्य-विशेषविषयं सदित्यभिधानं सत्। (न्यायकु. ७६, पृ. ८०२)। ८. द्रव्य-पर्याय-सामान्य-विशेषोत्पाद-व्यय-ध्रौव्यव्यापकं सदिति कथनम्। (लघीय. पृ. ६५)।

१ जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सहित होता है उसे सत् कहते हैं। ५ जो अपने गुणों और पर्यायों को व्याप्त करता है उसे सत् कहा जाता है।

सत्कर्म—बंधसमयाओ आढत्तं जाव अक्खीणं पत्तो गतो वा रसविसेसेण परिणामितं तं जाव अण्णहाभावं ण णीतं ताव संतकम्मं वुच्चदि। (कर्मप्र. चू. १)।

बन्धसमय से प्रारम्भ करके जब तक विवक्षित कर्म क्षय को प्राप्त न होता हुआ रसविशेष से अन्यथा स्वरूप को प्राप्त नहीं कराया जाता—तद्रूप ही अवस्थित रहता है—तब तक उसे सत्कर्म कहा जाता है।

सत्कार—१. सत्कारः पूजा-प्रशंसात्मकः। (स. सि. ६-६; त. वा. ६, ६, २५)। २. सत्कारो भक्त-पान-वस्त्र-पात्रादीनां परतो लाभः। (आव. हरि. वृ. अ. ४, पृ. ६५८)। ३. अभ्युत्थानादिसम्भ्रमः सत्कारः। (आव. नि. हरि. वृ. ६२१, पृ. ४०६)। ४. प्रवरवस्त्राभरणादिभिरभ्यर्चनं सत्कारः। (ललितवि. पृ. ७७)। ५. अभ्युत्थानासनदान-वंदनाद्यनुव्रजनादिः सत्कारः। (श्रा. प्र. टी. ३२५)। ६. सत्कारो वन्दन-स्तवादिः। (समवा. वृ. ६१, पृ. ८६)। ७. सत्कारो भक्त-पान-वस्त्र-पात्रादिना परतो योगः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-६)। ८. सत्कारः प्रशंसादिकः। (चा. सा. पृ. ५६)।

१ पूजा-प्रशंसा आदि रूप आदरभाव का नाम सत्कार है। ४ उत्तम वस्त्र व आभरण आदि के द्वारा पूजा करना, इसे सत्कार कहते हैं। ५ गुरुजन को आते देखकर खड़े हो जाना, उन्हें आसन देना, वन्दना करना तथा जाते समय उनके पीछे जाना, यह सब सत्कार के अन्तर्गत है। ६ वन्दना व स्तवन आदि रूप अनुष्ठान को सत्कार कहा जाता है।

सत्कार-पुरस्कार—सत्कार-पुरस्कारो च वस्त्रादिपूजनाभ्युत्थानादिसंपादनेन सत्कारेण वा पुरस्करणं सन्माननं सत्कारपुरस्कारः। (समवा. वृ. २२)।

वस्त्र आदि के द्वारा पूजा करना तथा उठकर खड़े हो जाने आदि रूप सत्कार के आश्रय से जो पुरस्करण किया जाता है—सन्मान दिया जाता है, इसे सत्कार-पुरस्कार कहते हैं।

सत्कार-पुरस्कारपरीषहजय—१. सत्कारः पूजा-प्रशंसात्मकः, पुरस्कारो नाम क्रियारम्भादिष्वग्रतः करणमामन्त्रणं वा, तत्रानादरो मयि क्रियते, चिरोषितब्रह्मचर्यस्य महातपस्विनः स्व-परसमयनिर्णयज्ञस्य बहुकृत्वः परवादिविजयिनः प्रणाम-भक्ति-सम्भ्रमासनप्रदानादीनि मे न कश्चित्करोति, मिथ्यादृष्टय एवातीव भक्तिमन्तः किञ्चिदजानन्तमपि सर्वज्ञसम्भावनया सम्मान्य स्वसमयप्रभावनं कुर्वन्ति। व्यन्तरादयः पुरा अत्युग्रतपसां प्रत्यग्रपूजां निर्वर्तयन्तीति मिथ्या श्रुतिर्यदि न स्यादिदानीं कस्मान्मादृशां न कुर्वन्तीति दुष्प्रणिधानविरहितचित्तस्य सत्कार-पुरस्कारपरीषहविजयः प्रतिज्ञायते। (स. सि. ६-६)। २. मानापमानयोस्तुल्यमनसः सत्कार-पुरस्कारानभिलाषः। (त. वा. ६, ६, २५; त. श्लो. ६-६); चिरोषितब्रह्मचर्यस्य महातपस्विनः स्व-

परसमयनिश्चयज्ञस्य हितोपदेशपरस्य कथामार्गकुशलस्य बहुकृत्वः परवादिविजयिनः प्रणाम-भक्ति-संभ्रमाऽऽसनप्रदानादीनि मे न कश्चित्करोतीत्येवमविचिन्तयतो मानापमानयोस्तुल्य (चा. सा. 'समान') मनसः सत्कार-पुरस्कारनिराकांक्षस्य श्रेयोध्यायिनः सत्कार-पुरस्कारजयो वेदितव्यः। (त. वा. ९, ९, २५; चा. सा. पृ. ५६)। ३. उत्थानं पूजनं दानं स्पृहयेन्नात्मपूजकः। मूर्छितो न भवेल्लब्धे दीनोऽसत्कारितो न च॥ (आव. नि. हरि. वृ. ९१८, पृ. ४०३ उद्.)। ४. लौकिकानां धर्मस्थानां वा सत्कारपुरस्काराकरणे तपसि महति वर्तमानोऽप्यहमेतेषां न पूजित इति कोपसंक्लेशाकरणं सत्कार-पुरस्कारपरीषहसहनम्। (भ. आ. विजयो. ११६)। ५. सत्कारो भक्त-पान-वस्त्रादिना परतो योगः, पुरस्कारः सद्भूतगुणोत्कीर्तनं वन्दनाभ्युत्थानासनप्रदानादिव्यवहारश्च, तत्रासत्कारितोऽपुरस्कृतो वा न द्वेषं यायात्, न दूषयेत्, मनोविकारेणात्मानमिति सत्कार-पुरस्कारपरीषहजयः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-९)। ६. ख्यातोऽहं तपसा श्रुतेन च पुरस्कारं प्रशंसां नतिं, भक्त्या मे न करोति कोऽपि यतिषु ज्येष्ठोऽहमेवेति यः। ग्लानिं मानकृतां न याति स मुनिः सत्कारजातार्तिजिद् दोषा मे न गुणा भवन्ति न गुणा दोषाः स्युरित्यन्यतः॥ (आचा. सा. ७-२२)। ७. तुष्येन्न यः स्वस्य परैः प्रशसया, श्रेष्ठेषु चाग्रेकरणेन कर्मसु। आमन्त्रणेनाथ विमानितो न वा, रुष्येत् स सत्कार-पुरस्क्रियोर्मिजित्॥ (अन. ध. ६-१०७)।

१ पूजा-प्रशंसा का नाम सत्कार तथा क्रिया के आरम्भ आदि में आगे करना व आमन्त्रित करना, इसका नाम पुरस्कार है। दीर्घ काल से ब्रह्मचर्य का पालन करने, घोर तपश्चरण करने, स्व-परमत के निर्णय का ज्ञान प्राप्त करने तथा बहुत बार परवादियों के ऊपर विजय प्राप्त करने पर भी कोई मुझे न प्रणाम करता है और न भक्तिपूर्वक आसन आदि भी देता है। मिथ्यादृष्टि ही अतिशय भक्तियुक्त होते हैं, जो कुछ भी न जानने वाले को सर्वज्ञ जैसा सम्मान देकर अपने मत की प्रभावना करते हैं। व्यन्तर आदि तीव्र तपश्चरण करने वाले की पूर्व में पूजा करते थे, यह श्रुति यदि मिथ्या नहीं है तो इस समय वे मेरे जैसे तपस्वियों की पूजा क्यों नहीं करते हैं; इस प्रकार से जो मन में दुर्विचारों को स्थान नहीं देता है वह सत्कार-पुरस्कार परीषह का विजेता होता है।

सत्ता—१. सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया। भंगुप्पाद-धुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का॥ (पंचा. का. ८; धव. पु. १३, पृ. १६ उद्.; जयध. १, पृ. ५३ उद्.)। २. ध्रौव्योत्पादलयालीढा सत्ता सर्वपदार्थगा। एकशोऽनन्तपर्याया प्रतिपक्षसमन्विता॥ (योगसारप्रा. २-६)।

१ सत् का जो स्वरूप है उसी का नाम सत्ता है। वह सब पदार्थों में स्थित है, क्योंकि सभी पदार्थों में 'सत्' इस प्रकार का शब्दव्यवहार और 'सत्' इस प्रकार का ज्ञान उसी सत्ता के आश्रय से होता है। विश्व के—समस्त पदार्थों के—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप तीन स्वभावों के साथ वर्तमान रहने से वह सत्ता विश्व स्वरूप से सहित है। द्रव्यस्वरूप होने से वह अनन्त पर्यायों से सहित है। वह भंग (व्यय), उत्पाद और ध्रौव्य स्वरूप है; कारण यह कि नित्यानित्यात्मक वस्तु की व्यवस्था इन तीनों पर निर्भर है। तथा वह अपनी प्रतिपक्षभूत असत्ता से सहित है—स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा वस्तु जहां सत् है वहां वह परकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा असत् भी है। इसी प्रकार वह जहां महासत्ता स्वरूप से एक है वहीं वह घट-पटादिस्वरूप अवान्तर सत्ताभेदों की अपेक्षा अनेक भी है।

सत्ताग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिक—देखो कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्धनय। उप्पाद-वयं गोणं किच्चा जो गहइ केवला सत्ता। भण्णइ सो सुद्धणओ इह सत्तागाहओ समए॥ (ल. नयच. १९; द्रव्यस्व. प्र. नयच. १९१)।

जो उत्पाद और व्यय को गौण करके केवल सत्ता को ही ग्रहण किया करता है उसे सत्ताग्राहक शुद्धनय कहा जाता है।

सत्तालोक—देखो दर्शन (उपयोग)। १. सत्तालोकः सकलहेयोपादेयसाधारणसत्त्वमात्रस्य आलोको दर्शनम् आत्मनः प्रथमतः प्रादुर्भवति। (न्यायकु. १-५, पृ. ११६)। २. सत्तालोकः—सत्तायाः समस्तार्थसाधारणस्य सत्त्वसामान्यस्य, आलोको निर्विकल्पकग्रहणं दर्शनम्। (लघीय. अभय. वृ. ५, पृ. १४)।

१ समस्त हेय-उपादेयभूत पदार्थों में जो समान-सत्त्व रहता है उसके निर्विकल्पक ग्रहण का नाम सत्तालोक है। वह दर्शन के रूप में प्रसिद्ध है।

सत्य—१. परसंतावयकारणवयणं मोत्तूण स-पर-हिदवयणं। जो वददि भिक्खु तुरियो तस्स दु धम्मो हवे सच्चं। (द्वादशानु. ७४)। २. सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधु वचनं सत्यमित्युच्यते। (स. सि. ९–६)। ३. सत्यर्थे भवं वचः सत्यम्, सद्भ्यो वा हितं सत्यम्। तदनृतम् अपरुषमपिशुनमनसभ्यमचपलम-नाविलमविरलमसम्भ्रान्तं मधुरमभिजातमसदिग्धं स्फुटमौदार्ययुक्तमग्राम्यपदार्थाभिव्याहारमसीभरम-राग-द्वेषयुक्तं सूत्रमार्गानुसारप्रवृत्तार्थमर्थ्यमर्थिजन-भावग्रहणसमर्थमात्म-परार्थानुग्राहकं निरुपधं देश-कालोपपन्नमनवद्यमर्हच्छासनप्रशस्तं यतं मितं याचनं प्रच्छनं प्रश्नव्याकरणमिति सत्यधर्मः। (त. भा. ९–६)। ४. सच्चवयणं पुण भावओ जं परिसुद्धम-ऽवितहमहिंसाणुगयमपिसुणमफरुसं। (वसु. हिंदी. पृ. २६७)। ५. सत्सु साधु वचनं सत्यम्। सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधु वचनं सत्यमित्युच्यते। (त. वा. ९, ६, ६)। ६. सच्चं नाम सम्मं चिंतेऊण असावज्जं ततो भासियव्वं सच्चं च। (दशवै. चू. पृ. १८)। ७. सत्सु साधु वचनं सत्यम्। (त. श्लो. ९–६)। ८. सत्यम् अवितथं सद्भूतार्थप्रतिपत्ति-कारि। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–३); तेषां (अर्थानां) यथावस्थितविवक्षितपर्यायप्रतिपादनं सत्यम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–६, पृ. १९६)। ९. असदभिधा-नाद्विरतिः सत्यम्। (भ. आ. विजयो. ५७)। १०. किं सत्यं भूतहितम् ××× ॥ (प्रश्नो. र. १३)। ११. धर्मोपबृंहणार्थं यत्साधु सत्यं तदुच्यते॥ (त. सा. ६–१७)। १२. सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधु वचनं सत्यम्। (चा. सा. पृ. २९)। १३. परोप-तापादिपरिवर्जितं कर्मादानकारणान्निवृत्तं साधु वचनं सत्यम्। (मूला. वृ. ११–५)। १४. सत्यं सम्यग्वादः। (औपपा. अभय. वृ. १६, पृ. ३३)। १५. सत्यं तथ्या भाषा। (योगशा. स्वो. विव. ३–१६)। १६. सत्सु दिगम्बरेषु महामुनिषु तदु-पासकेषु च साधु यद्वचनं तत् सत्यमित्यभिलप्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ९–६)। १७. सत्सु प्रशस्तेषु दिग-म्बरेषु महामुनिषु तदुपासकेषु च श्रेष्ठेषु लोकेषु साधु वचनं समीचीनवचनं यत् तत् सत्यमित्युच्यते। (कार्तिके. टी. ३९८)।

१ जो वचन दूसरों को सन्ताप देने वाला हो उसे छोड़कर ऐसा वचन बोलना जो अपना और पर का हित करने वाला हो, इसे सत्य कहा जाता है। यह दस धर्मों में चौथा है। २ प्रशस्त जनों में जो उत्तम वचन का व्यवहार होता है, उसे सत्य कहते हैं। ३ पदार्थ के होते हुए जो तद्विषयक वचन बोला जाता है अथवा समीचीन अर्थ को जो विषय करता है उसे सत्य वचन माना जाता है। ऐसा सत्य वचन कठोरता, पिशुनता, असभ्यता, चंचलता और कलु-षता आदि से रहित होता है। वह भ्रान्ति से रहित मधुर, विनम्रता का सूचक, सन्देह से मुक्त और औदार्य आदि गुणों से युक्त होता है।

सत्यधर्म—देखो सत्य।

सत्यप्रवाद—१. वाग्गुप्तिसंस्कारकारणप्रयोगो द्वा-दशधा भाषा वक्तारश्चानेकप्रकारमृषाभिधानं दश-प्रकारश्च सत्यसद्भावो यत्र प्ररूपितः तत्सत्यप्रवादम्। (त. वा. १, २०, १२)। २. सच्चपवादं पुव्वं बार-सण्हं वत्थूणं १२ दुसयचालीसपाहुडाणं २४० छअहियएगकोडिपदेहि १०००००६ वाग्गुप्तिः वाक्-संस्कारकारणं प्रयोगो द्वादशधा भाषा वक्तारश्च अनेकप्रकारं मृषाभिधानं दशप्रकारश्च सत्यसद्भावो यत्र प्ररूपितस्तत्सत्यप्रवादम्। एतस्य पदप्रमाणं षडा-धिकैककोटी १०००००६। (धव. पु. ९, पृ. २१६)। ३. सच्चपवादो ववहारसच्चादिदसविह-सच्चाणं सत्तभंगीए सयलवत्थुणिरूवणविहाणं च भणइ। (जयध. १, पृ. १४१)। ४. सत्यप्रवादं षष्ठं सत्य संयमः सत्यं वचनं वा, तद्यत्र सभेदं सप्रति-पक्षं च वर्ण्यते तत्सत्यप्रवादम्, तस्य पदपरिमाणं एका पदकोटी षट् च पदानीति। (समवा. वृ. १४७)। ५. षडधिकैककोटिपदं वाग्गुप्तेः वाक्सं-स्काराणां कण्ठादिस्थानानाम् आविष्कृतवक्तृत्व-पर्यायद्वीन्द्रियादिवक्तृणां शुभाशुभरूपवचःप्रयोगस्य सूचकं सत्यप्रवादम् १०००००६। (श्रुतभ. टी. १०, पृ. १७५)। ६. वर्णस्थान-तदाधारद्वीन्द्रियादि-जन्तुवचनगुप्तिसंस्कारप्ररूपकं षडधिककोटिपद-प्रमाणं सत्यप्रवादपूर्वम्। (त. वृत्ति श्रुत. १–२०)।

१ जिस पूर्वश्रुत में वचनगुप्ति के संस्कार के कारण-भूत प्रयोग, बारह प्रकार की भाषा, वक्ता, अनेक प्रकार के असत्य वचन तथा दस प्रकार के सत्य

वचन की प्ररूपणा की जाती है उसे सत्यप्रवादपूर्व कहा जाता है। ४ सत्य का अर्थ संयम या सत्यवचन है। जिस श्रुत में उस सत्य का भेदों और प्रतिपक्ष के साथ वर्णन किया जाता है वह सत्यप्रवाद कहलाता है। उसकी पदसंख्या एक करोड़ छह (१०००००६) है।

सत्यमनोयोग—१. सब्भावो सच्चमणो जो जोगो सो दु सच्चमणजोगो। (प्रा. पंचसं. १-८९; धव. पु. १, पृ. २८१ उद्.)। २. सत्यमवितथममोघमित्यनर्थान्तरम्। सत्ये मनः सत्यमनः, तेन योगः सत्यमनोयोगः। × × × सत्यवचननिबन्धनः मनसा योगः सत्यमनोयोगः। (धव. पु. १, पृ. पृ. २८०, २८१)। ३. सब्भावमणो सच्चो जो जोगो तेण सच्चमणजोगो। (गो. जी. २१८)। ४. सत्यमनः सत्यार्थज्ञानजननशक्तिरूपं भावमनः, तेन जनितो यो योगः प्रयत्नविशेषः स सत्यमनोयोगः। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. २१८)।

१ समीचीन पदार्थ को विषय करने वाला मन सत्यमन कहलाता है, उससे जो योग—आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन—होता है उसे सत्यमनोयोग कहते हैं। ४ सत्य पदार्थविषयक ज्ञान उत्पन्न करने वाली शक्ति का नाम भावमन है, उसके आश्रय से जो योग—प्रयत्नविशेष—होता है उसे सत्यमनोयोग कहा जाता है।

सत्यमहाव्रत—१. रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं। जो पजहदि साहु सया विदियवयं होइ तस्सेव ॥ (नि. सा. ५७)। २. रागादीहिं असच्चं चत्ता परतावसच्चवयणुत्ति। सुत्तत्थाण विकहणे अयधावयणुज्झणं सच्चं ॥ (मूला. १-६)। ३. मुसावादं तिविहं तिविहेणं णेव बूया ण भासए। वितियं सोमव्वलक्खणं। (ऋषिभासित. १, पृ. १)। ४. मुसावायाओ वेरमणं। (समवा. ५)। ५. यद्राग-द्वेष-मोहेभ्यः परतापकरं वचः। निवृत्तिस्तु ततः सत्यं तद् द्वितीयं महाव्रतम् ॥ (ह. पु. २-११८)। ६. पारमार्थिकस्य भूतनिह्नवे अभूतोद्भावने च यदभिधान तदेवानृतं स्यात्। × × × कृतात्कारितादनुमोदितादाद्वाऽनृताद्विरतिः सत्यव्रतम्। (चा. सा. पृ. ४१)। ७. व्रत-श्रुत-यमस्थानं विद्या-विनयभूषणम्। चरण-ज्ञानयोर्बीजं सत्यसंज्ञं व्रतं मतम् ॥ (ज्ञाना. ६-२७, पृ. १२५)। ८. राग-द्वेषादिजासत्यमुत्सृज्यान्याहितं वचः। सत्यं तत्त्वान्यथोक्तं च वचनं सत्यमुत्तमम् ॥ (आचा. सा. १-१७); कृतं सत्यमसत्यं वा वचः प्राणिहितेहितम्। येन सन्मान-विश्वास-यशांसि लभते नरः ॥ (आचा. सा. ५, २३)। ९. अनृताद्विरतिः सत्यव्रतं जगति पूजितम्। अनृतं त्वभिधानं स्याद् रागाद्यावेशतोऽसतः ॥ (अन. ध. ४-३७)। १०. अथ मृषापरित्यागलक्षणं व्रतमुच्यते। सर्वतस्तन्मुनीनां स्याद् × × × ॥ (लाटीसं. ६-१)।

१ जो साधु सदा राग, द्वेष और मोह के आश्रय से होने वाले असत्य भाषणरूप परिणाम का त्याग करता है उसके द्वितीय सत्यमहाव्रत होता है। २ राग-द्वेष आदि के वश असत्य वचन का परित्याग करना, अन्य को सन्तप्त करने वाला सत्य वचन भी न बोलना, सूत्र व अर्थ विषयक अन्यथा कथन न करना तथा अन्यथा वचन (अपरमार्थभूत) को छोड़ देना; यह सत्यमहाव्रत का लक्षण है। ३ करने, कराने व अनुमोदनरूप तीन प्रकार के मृषावाद (असत्य वचन) का मन, वचन और काय से परित्याग करना, इसे सत्यमहाव्रत कहा जाता है।

सत्य-मोषमनोयोग—१. × × × जाणुभयं सच्चमोसं ति। (प्रा. पंचसं. १-८९; धव. पु. १, पृ. २८१ उद्.; गो जी. २१८)। २. तदुभय-(सत्य-मोषमनो-) योगात्सत्य-मोषमनोयोगः। × × × उभयात्मकवचननिबन्धनमनसा योग. सत्यमोष-मनोयोगः। (धव. पु १, पृ २८०-२८१)।

२ सत्य और मृषा इन दोनों के निमित्त से जो योग होता है उसे सत्य-मोषमनोयोग कहते हैं।

सत्यवचनयोग—१. दसविहसच्चे वयणे जो जोगो सो दु सच्चवचिजोगो। (प्रा. पंचसं. १-९१; धव. पु. १, पृ. २८६ उद्.; गो. जी. २२०)। २. जनपदादिदशविधसत्यार्थविषयवाग्व्यापारजननसमर्थं स्वरनामकर्मोदयापादितभाषापर्याप्तिजनितभाषावर्गणालम्बनात्मप्रदेशशक्तिरूपं यद्भाववचः, तेन जनितो यो योगः प्रयत्नविशेषः स सत्यवचोयोगः। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. २२०)।

१ दस प्रकार के सत्यवचन के आश्रय से जो योग—आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन—होता है उसे सत्यवचनयोग कहते हैं।

सत्यवादी—जिणवयणमेव भासदि तं पालेदुं असक्कमाणो वि। ववहारेण वि अलियं ण वददि जो सच्चवाई सो॥ (कार्तिके. ३९८)।

जो सत्यधर्म के परिपालन में असमर्थ होकर भी जिनागम के अनुसार ही वस्तुस्वरूप का कथन करता है तथा व्यवहार में भी असत्य भाषण नहीं करता है वह सत्यवादी सत्यधर्म का परिपालक होता है।

सत्यसत्य—यद्वस्तु यद्देश-काल-प्रमाकारं प्रतिश्रुतम्। तस्मिंस्तथैव संवादि सत्यसत्यं वचो वदेत्॥ (सा. ध. ४-४१)।

जो वस्तु जिस देश, काल, प्रमाण और आकार में नियत रही है उसके विषय में उसी रूप यथार्थ वचन के बोलने को सत्यसत्य कहा जाता है।

सत्याणुव्रत—१. ××× थूले मोसे ×××। परिहारो। (चारित्रप्रा. २३)। २. स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे। यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम्॥ (रत्नक. ३-६)। ३. स्नेह-मोहादिवशाद् गृहविनाशे ग्रामविनाशे वा कारणमित्यभिमतादसत्यवचनान्निवृत्तो गृहीति द्वितीयमणुव्रतम्। (स. सि. ७-२०)। ४. लोभ-मोह-भय-द्वेषैर्माया-मान-मदेन वा। न कथ्यमनृतं किंचित्तत् सत्यव्रतमुच्यते॥ (वरांगच. १५-११३)। ५. स्नेह-द्वेष-मोहावेशात् असत्याभिधानवर्जनप्रवणः। स्नेहस्य द्वेषस्य मोहस्य चोद्रेकात् यदसत्याभिधानं ततो निवृत्तादरो गृहीति द्वितीयमणुव्रतम्। (त. वा. ७, २०, ३)। ६. थूलमुसावायस्स उ विरई दुच्चं च पंचहा होइ। कन्ना-गो-भुआलिय-नासहरण-कूडसक्खिज्जे॥ (श्रा. प्र. २६०)। ७. यद्रागद्वेष-मोहादेः परपीडाकरादिह। अनृताद्विरतिर्यत्र तद् द्वितीयमणुव्रतम्॥ (ह. पु. ५८, १३६)। ८. भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुम्। ये तेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु॥ (पु. सि. १०१)। ९. हिंसावयणं ण वयदि कक्कसवयणं पि जो ण भासेदि। णिट्ठुरवयणं पि तहा ण भासदे गुज्झवयणं पि॥ हिद-मिदवयणं भासदि संतोसकरं तु सव्वजीवाणं। धम्मपयासणवयणं अणुव्वई हवदि सो विदिओ॥ (कार्तिके. ३३३-३४)। १०. क्रोध-लोभ-मद-द्वेष-राग-मोहादिकारणैः। असत्यस्य परित्यागः सत्याणुव्रतमुच्यते॥ (सुभा. सं. ७६६)। ११. स्नेहस्य मोहस्य द्वेषस्य चोद्रेकादसत्याभिधानं ततो निवृत्तादरो गृहीति द्वितीयमणुव्रतम्। (चा. सा. पृ. ५)। १२. वा [रा]गादीहिं असच्चं परपीडयरं तु सच्चवयणं पि। वज्जंतस्स णरस्स हु विदियं तु अणुव्वयं होइ॥ (धर्मर. १४४)। १३. मन्मनत्वं काहलत्वं मूकत्वं मुखरोगिताम्। वीक्ष्यासत्यफलं कन्यालोकाद्यसत्यमुत्सृजेत्॥ कन्या-गो-भूम्यलीकानि न्यासापहरणं तथा। कूटसाक्ष्यं च पञ्चेति स्थूलासत्यान्यकीर्त्तयत्॥ (योगशा. २, ५३-५४)। १४. अलियं ण जंपणीयं पाणिवहकरं तु सच्चवयणं पि। रायेण य दोसेण य णेयं विदियं वयं थूलं॥ (वसु. श्रा. २१०)। १५. कन्या-गो-क्ष्मालीककूटसाक्ष्य-न्यासापलापवत्। स्यात्सत्याणुव्रती सत्यमपि स्वान्यापदे त्यजन्। (सा. ध. ४-३९)। १६. सर्वैः पृष्टोऽपि न ब्रूयाद् विवादे ह्यलीकं वचः। भयाद् द्वेषाद् गुरुस्नेहात्स्थूलं सत्यमिदं व्रतम्॥ (धर्मसं. श्रा. ६, ४९)। १७. लाभ-लोभ-भयद्वेषैर्व्यलीकवचनं पुनः। सर्वदा तन्न वक्तव्यं द्वितीयं तदणुव्रतम्॥ (पू. उपासका. २४)। १८. ××× देशतो वेश्मवासिनाम्॥ (लाटीसं. ६-१)।

१ स्थूल मृषा (असत्य) वचन का जो त्याग किया जाता है उसे सत्याणुव्रत कहते हैं। २ स्थूल असत्य को स्वयं न बोलना, दूसरों से न बुलवाना तथा विपत्तिजनक सत्य भी न बोलना, यह स्थूल मृषावाद से विरत होना है—सत्याणुव्रत का लक्षण है। ६ कन्याविषयक, गायविषयक व भूमिविषयक असत्य, न्यास (अमानत) का अपहरण तथा न्यायालय आदि में असत्य साक्षी देना, यह पांच प्रकार का स्थूल असत्य है। इस सब के परित्याग को द्वितीय सत्याणुव्रत कहा जाता है। ८ जो सत्याणुव्रती गृहस्थ भोग-उपभोग के साधन मात्र सावद्य के छोड़ने में असमर्थ हैं वे भी सदा शेष असत्य वचन को छोड़ देते हैं।

सत्यासत्य—वाच्यं कालातिक्रमेण दानात् सत्यमसत्यगम्। (सा. ध. ४-४२)।

उधार लिए हुए धन आदि को नियत समय पर न देकर कुछ समय के पश्चात् देना, यह असत्य के आश्रित सत्य वचन कहलाता है। कारण यह है कि समय पर नहीं दिये जा सकने से यद्यपि असत्य का भागी हुआ है, फिर भी उसको अस्वीकार न

फर पीछे अनुकूलता होने पर उसे वापिस कर दिया, अतः सत्य का भी परिपालन हुआ है।

सत्त्व (जीव)—१. दुष्कर्मविपाकवशान्नानायोनिषु सीदन्तीति सत्त्वाः जीवाः। (स. सि. ७–११)। २. अनादिकर्मबन्धवशात् सीदन्तीति सत्त्वाः। अनादिनाष्टविधकर्मबन्धसन्तानेन तीव्रदुःखयोनिषु चतसृषु गतिषु सीदन्तीति सत्त्वाः। (त. वा. ७, ११, ५)। ३. अनादिकर्मबन्धवशात् सीदन्तीति सत्त्वाः। (त. श्लो. ७–११)।

१ पाप कर्म के उदय के वश जो अनेक योनियों में सीदन्ति अर्थात् खेद को प्राप्त होते हैं उनका नाम सत्त्व है। यह जीवों का एक सार्थक नाम है।

सत्त्व (सत्कर्म)—१. ××× अत्थित्त सत्तं ××× ॥ (गो. क. ४३९)। २. कर्मणां विद्यमानत्वं यत्सत्त्वं तन्निगद्यते। ××× कर्मणां संगृहीतानां सत्तोक्ता विद्यमानता॥ (पंचसं. अमित. ५ व ८, पृ. ५४)। ३. सत्त्वं वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमादिजन्य आत्मपरिणामः। (आव. नि. मलय. वृ. ५७१)।

१ कर्मों का जो कर्मस्वरूप से आत्मा के साथ अस्तित्व रहता है उसे सत्त्व कहते हैं। ३ वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम आदि से जो आत्मा का परिणाम होता है उसे सत्त्व कहते हैं। यह तीर्थंकरों के कर्मोदय से होने वाले संहननादिकों में से एक है।

सत्त्वपरिगृहीतत्व—१. सत्त्वपरिगृहीतत्वं साहसोपेतता। (समवा. वृ. ३६; औपपा. वृ. पृ. २२)। २. सत्त्वपरिगृहीतत्वमोजस्विता। (रायप. मलय. वृ. १७, पृ. २८)।

१ वचन का साहस से सहित होना, इसका नाम सत्त्वपरिगृहीतत्व है। यह ३५ वचनातिशयों में ३३वां है। २ वचन का ओज गुण से सहित होना, इसे सत्त्वपरिगृहीतत्व कहते हैं।

सत्त्वप्रकृति—जासिं पुण पयडीणं बंधो चेव णत्थि, बंधे संते वि जासिं पयडीणं ट्ठिदिसंतादो उवरि सव्वकालं बंधो ण संभवदि ताओ संतपयडीओ; संतपहाणत्तादो। (धव. पु. १२, पृ. ४९५)।

जिन प्रकृतियों का बन्ध ही नहीं है अथवा बन्ध के होने पर भी जिन प्रकृतियों का सर्वदा स्थितिसत्त्व से ऊपर बन्ध सम्भव नहीं है वे सत्त्वप्रकृतियां कहलाती हैं।

सदृशकृष्टि—जदि जे अणुभागे उदीरेदि एक्किस्से वग्गणाए सव्वे ते सरिसा णाम। (कषायपा. चू. पृ. ८८४)।

उदय में आने वाली अनेक कृष्टियों के एक वर्गणा रूप से परिणत होकर उदय में आने को सदृशकृष्टि कहते हैं।

सद्गुरु—सम्यक्त्वेन व्रतेनापि युक्तः स्यात् सद्गुरुर्यतः। (पंचाध्या. २–६०४)।

जो सम्यक्त्व व व्रत सहित होता है उसे सद्गुरु माना जाता है।

सद्दर्शन—देखो सम्यग्दर्शन। १. त्रिकालविद्भिस्त्रिजगच्छरण्यैर्जीवादयो येऽभिहिताः पदार्थाः। श्रद्धानमेषां परया विशुद्धया सद्दर्शनं सम्यगुदाहरन्ति॥ (वरांगच. १०–२०)। २. यम-प्रशमजीवातुर्बीजं ज्ञान-चरित्रयोः। हेतुस्तपःश्रुतादीनां सद्दर्शनमुदीरितम्॥ (योगशा. स्वो. विव. १७, पृ. ११८)।

१ त्रिकालज्ञ (सर्वज्ञ) के द्वारा कहे गये जीवादि पदार्थों का जो विशुद्धिपूर्वक श्रद्धान किया जाता है उसे सद्दर्शन (सम्यग्दर्शन) कहते हैं।

सद्दृष्टि—१. छद्दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा। सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो॥ (दर्शनप्रा. १९)। २. णियसुद्धप्पणुरत्तो बहिरप्पावच्छवज्जिओ णाणी। जिण-मुणि-धम्मं मण्णइ गयदुक्खो होइ सद्दिट्ठी॥ मयमूढमणायदणं संकाइवसण भयमईयारं। जिण-मुणि-धम्मं मण्णइ गयदुक्खो होइ सद्दिट्ठी॥ (र. सा. ६–७)। ३. उत्तमगुणगहणरओ उत्तमसाहूण विणयसंजुत्तो। साहम्मियअणुराई सो सद्दिट्ठी हवे परमो॥ देहमिलियं पि जीवं णियणाणगुणेण मुणदि जो भिण्णं। जीवमिलियं पि देहं कंचुवसरिसं वियाणेइ॥ णिज्जियदोसं देवं सव्वजिवाणं दयावरं धम्मं। वज्जियगंथं च गुरुं जो मण्णदि सो हु सद्दिट्ठी॥ (कार्तिके. ३१५–१७)। ४. यस्य नास्ति (कांक्षितो भावः) स सद्दृष्टिः युक्ति-स्वानुभवागमात्। (लाटीसं. ४–७४)।

१ जो छह द्रव्यों, नौ पदार्थों, पांच अस्तिकायों और सात तत्त्वों के स्वरूप का श्रद्धान करता है उसे सद्दृष्टि (सम्यग्दृष्टि) जानना चाहिए।

सद्धर्मकथा—यतोऽभ्युदय-निःश्रेयसार्थसंसिद्धिरंजसा। स धर्मस्तन्निबद्धा या सा सद्धर्मकथा स्मृता॥ (म. पु. १–१२०)।

स्वर्गादि अभ्युदय और मुक्ति के साधनभूत धर्म से सम्बद्ध कथा को सद्धर्मकथा माना गया है।

सद्भावपर्याय—सद्भावपर्यायनिमित्तेनादेशेनार्पितमात्मरूपद्रव्यमित्येव सद्द्रव्यत्वमेव हि सद्भावपर्यायः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५-३१, पृ. ४१४)।

सद्भावपर्यायनिमित्तक आदेश से विवक्षित आत्मरूप द्रव्य है, उसके द्रव्यत्व को ही सद्भावपर्याय कहा जाता है।

सद्भावमार्गणा—यत्र च कल्पे स्थितो वर्त्तते तत्र सद्भावतः। उक्तं च—खेत्ते दुहेह मग्गण जम्मणतो चेव संतिभावे य। जम्मणतो जहिं जातो संतो भावो य जहिं कप्पे॥ (आव. नि. मलय वृ. ११४)।

जिस कल्प में परिहारविशुद्धिक संयत स्थित है उसमें जो अन्वेषण किया जाता है, इसका नाम सद्भावतः क्षेत्रमार्गणा है।

सद्भावस्थापना—१. तदाकारवती सद्भावस्थापना। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ७)। २. अध्यारोप्यमाणेण मुख्येन्द्रादिना समाना सद्भावस्थापना। (न्यायकु. ७६, पृ. ८०५)। ३. सायारवंतवत्थुम्मि जं गुणारोवणं पढमा॥ (वसु. श्रा. ३८३)। ४. मुख्यद्रव्याकृतिः सद्भावस्थापना अर्हत्प्रतिमादिः। (लघीय. अभय. वृ. ७६, पृ. ६८)।

१ जिसकी स्थापना करना अभीष्ट है उसके आकार वाली स्थापना सद्भावस्थापना कही जाती है। २ जिस मुख्य इन्द्र आदि का अध्यारोपण किया जा रहा है उससे आकार में समानता रखने वाली स्थापना को सद्भावस्थापना कहते हैं।

सद्भावस्थापनाजिन—जिणायारसंठियं दव्वं सब्भावट्ठवणजिणो। (धव. पु. ६, पृ. ६)।

जिनदेव के आकार में स्थित द्रव्य (पाषाण आदि) को सद्भावस्थापनाजिन कहते हैं।

सद्भावस्थापनान्तर—भरह-बाहुवलीणमंतरमुव्वेल्लंतो णदो सब्भावठवणंतरं। (धव. पु. ५, पृ. २)।

भरत और बाहुवली के मध्य उठता हुआ नद सद्भावस्थापनान्तरस्वरूप है।

सद्भावस्थापनापूजा—क्रियते यद्गुणारोपः साऽऽद्या साकारवस्तुनि॥ (धर्मसं. श्रा. ६-८८)।

तदाकार वस्तु में (मूर्ति आदि में) जो गुणों का आरोप किया जाता है, इसे सद्भावस्थापनापूजा कहते हैं।

सद्भावस्थापनाबन्ध—एदेसु कम्मेसु (कट्ठकम्मादिसु) जहासरूवेण ट्ठविदबंधो सब्भावट्ठवणबंधो णाम। (धव. पु. १४, पृ. ६)।

इन काष्ठकर्म आदि में स्वरूप के अनुसार बन्ध की स्थापना की जाती है उसका नाम सद्भावस्थापनाबन्ध है।

सद्भावस्थापनाभाव—विराग-सरागादिभावे अणुहरंती ठवणा सब्भावठवणाभावो। (धव. पु. ५, पृ. १८३)।

राग रहित और राग सहित भावों का अनुसरण करने वाली स्थापना को सद्भावस्थापनाभाव कहते हैं।

सद्भावस्थापनावेदना—पाएण अणुहरंतदव्वभेदेण इच्छिददव्वट्ठवणा सब्भावट्ठवणवेयणा। (धव. पु. १०, पृ. ७)।

प्रायः अनुसरण करने वाले द्रव्य के भेद से इच्छित द्रव्य में जो वेदना की स्थापना की जाती है उसे सद्भावस्थापनावेदना कहते हैं।

सद्भावस्थापनाव्रत—हिंसादिनिवृत्तिपरिणामवत आत्मनः शरीरस्य बंधं प्रत्येकत्वात् आकारः सामायिके परिणतस्य सद्भावस्थापनाव्रतम्॥ (भ. आ. ११८५)।

हिंसा आदि से निवृत्तिरूप परिणाम से युक्त आत्मा शरीर के बन्ध के प्रति एक है, इसलिए सामायिक में परिणत उसका आकार सद्भावस्थापनाव्रत है।

सद्भूतानिषेधवचन— देखो सम्भूतार्थनिषेधवचन।

सद्वेदनीय—१. यदुदयाद् देवादिगतिषु शारीरमानससुखप्राप्तिस्तत् सद्वेद्यम्। (स. सि. ८-८; त. श्लो. ८-८; भ. आ. मूला. २१२१)। २. यस्योदयाद्देवादिगतिषु शारीर-मानससुखप्राप्तिस्तत्सद्वेद्यम्। देवादिषु गतिषु बहुप्रकारजातिविशिष्टासु यस्योदयात् अनुगृहीत-सम्बन्धापेक्षात् प्राणिनां शारीर-मानसानेकविधसुखपरिणामस्तत्सद्वेद्यम्, प्रशस्तं वेद्यं सद्वेद्यम्। (त. वा. ८, ८, ११)। ३. अभिमतमिष्टमात्मनः कर्तुरुपभोक्तुर्मनुज-देवादिजन्मसु शरीर-मनोद्वारेण सुखपरिणतिरूपमागन्तुकानेकमनोज्ञ-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसम्बन्धसमासादितपरिपाकावस्थमति बहुभेदं यदुदयाद्भवति तदाचक्षते सद्वेदनीयम्। (त. भा. हरि. वृ. ८-९)। ४. आह्लादरूपेण

कर पीछे अनुकूलता होने पर उसे वापिस कर दिया, अतः सत्य का भी परिपालन हुआ है।

सत्त्व (जीव)—१. दुष्कर्मविपाकवशान्नानायोनिषु सीदन्तीति सत्त्वाः जीवाः। (स. सि. ७–११)। २. अनादिकर्मबन्धवशात् सीदन्तीति सत्त्वाः। अनादिनाष्टविधकर्मबन्धसन्तानेन तीव्रदुःखयोनिषु चतसृषु गतिषु सीदन्तीति सत्त्वाः। (त. वा. ७, ११, ५)। ३. अनादिकर्मबन्धवशात् सीदन्तीति सत्त्वाः। (त. श्लो. ७–११)।

१ पाप कर्म के उदय के वश जो अनेक योनियों में सीदन्ति अर्थात् खेद को प्राप्त होते हैं उनका नाम सत्त्व है। यह जीवों का एक सार्थक नाम है।

सत्त्व (सत्कर्म)—१. × × × अत्थित्त सत्तं × × × ॥ (गो. क. ४३९)। २. कर्मणां विद्यमानत्वं यत्सत्त्वं तन्निगद्यते। × × × कर्मणां संगृहीताना सत्तोक्ता विद्यमानता ॥ (पंचसं. अमित. ५ व ८, पृ. ५४)। ३. सत्त्वं वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमादिजन्य आत्मपरिणामः। (आव. नि. मलय. वृ. ५७१)।

१ कर्मों का जो कर्मस्वरूप से आत्मा के साथ अस्तित्व रहता है उसे सत्त्व कहते हैं। ३ वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम आदि से जो आत्मा का परिणाम होता है उसे सत्त्व कहते हैं। यह तीर्थंकरों के कर्मोदय से होने वाले संहननादिकों में से एक है।

सत्त्वपरिगृहीतत्व—१. सत्त्वपरिगृहीतत्वं साहसोपेतता। (समवा. वृ. ३६; औपपा. वृ. पृ. २२)। २. सत्त्वपरिगृहीतत्वमोजस्विता। (रायप. मलय. वृ. १७, पृ. २८)।

१ वचन का साहस से सहित होना, इसका नाम सत्त्वपरिगृहीतत्व है। यह ३५ वचनातिशयों में ३३वां है। २ वचन का ओज गुण से सहित होना, इसे सत्त्वपरिगृहीतत्व कहते हैं।

सत्त्वप्रकृति—जासिं पुण पयडीणं बंधो चेव णत्थि, बंधे संते वि जासिं पयडीणं ट्ठिदिसंतादो उवरि सव्वकालं बंधो ण संभवदि ताओ संतपयडीओ; संतपहाणत्तादो। (धव. पु. १२, पृ. ४९५)।

जिन प्रकृतियों का बन्ध ही नहीं है अथवा बन्ध के होने पर भी जिन प्रकृतियों का सर्वदा स्थितिसत्त्व से ऊपर बन्ध सम्भव नहीं है वे सत्त्वप्रकृतियां कहलाती हैं।

सदृशकृष्टि—जदि जे अणुभागे उदीरेदि एक्किस्से वग्गणाए सव्वे ते सरिसा णाम। (कषायपा. चू. पृ. ८८४)।

उदय में आने वाली अनेक कृष्टियों के एक वर्गणा रूप से परिणत होकर उदय में आने को सदृशकृष्टि कहते हैं।

सद्गुरु—सम्यक्त्वेन व्रतेनापि युक्तः स्यात् सद्गुरुर्यतः। (पंचाध्या. २–६०४)।

जो सम्यक्त्व व व्रत सहित होता है उसे सद्गुरु माना जाता है।

सद्दर्शन—देखो सम्यग्दर्शन। १. त्रिकालविद्भिस्त्रिजगच्छरण्यैर्जीवादयो येऽभिहिताः पदार्थाः। श्रद्धानमेषां परया विशुद्धया सद्दर्शनं सम्यगुदाहरन्ति ॥ (वरांगच. १०–७०)। २. यम-प्रशमजीवातुर्बीजं ज्ञान-चरित्रयोः। हेतुस्तपःश्रुतादीनां सद्दर्शनमुदीरितम् ॥ (योगशा. स्वो. विव. १७, पृ. ११८)।

१ त्रिकालज्ञ (सर्वज्ञ) के द्वारा कहे गये जीवादि पदार्थों का जो विशुद्धिपूर्वक श्रद्धान किया जाता है उसे सद्दर्शन (सम्यग्दर्शन) कहते हैं।

सद्दृष्टि—१. छद्दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा। सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥ (दर्शनप्रा. १९)। २. णियसुद्धप्पणुरत्तो बहिरप्पावच्छवज्जिओ णाणी। जिण-मुणि-धम्मं मण्णइ गयदुक्खो होइ सद्दिट्ठी ॥ मयमूढमणायदणं संकाइवसण भयमईयारं। जिण-मुणि-धम्मं मण्णइ गयदुक्खो होइ सद्दिट्ठी ॥ (र. सा. ६–७)। ३. उत्तमगुणगहणरओ उत्तमसाहूण विणयसंजुत्तो। साहम्मियअणुराई सो सद्दिट्ठी हवे परमो ॥ देहमिलियं पि जीवं णियणाणगुणेण मुणदि जो भिण्णं। जीवमिलियं पि देहं कंचुवसरिसं वियाणेइ ॥ णिज्जियदोसं देवं सव्वजिवाणं दयावरं धम्मं। वज्जियगंथं च गुरुं जो मण्णदि सो हु सद्दिट्ठी ॥ (कार्तिके. ३१५–१७)। ४. यस्य नास्ति (कांक्षितो भावः) स सद्दृष्टिः युक्ति-स्वानुभवागमात्। (लाटीसं. ४–७४)।

१ जो छह द्रव्यों, नौ पदार्थों, पांच अस्तिकायों और सात तत्त्वों के स्वरूप का श्रद्धान करता है उसे सद्दृष्टि (सम्यग्दृष्टि) जानना चाहिए।

सद्धर्मकथा—यतोऽभ्युदय-निःश्रेयसार्थसंसिद्धिरंजसा। स धर्मस्तन्निबद्धा या सा सद्धर्मकथा स्मृता ॥ (म. पु. १–१२०)।

स्वर्गादि अभ्युदय और मुक्ति के साधनभूत धर्म से सम्बद्ध कथा को सद्धर्मकथा माना गया है।

सद्भावपर्याय— सद्भावपर्यायनिमित्तेनादेशेनार्पितमात्मरूपद्रव्यमित्येव सद्द्रव्यत्वमेव हि सद्भावपर्यायः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५-३१, पृ. ४१४)।

सद्भावपर्यायनिमित्तक आदेश से विवक्षित आत्मरूप द्रव्य है, उसके द्रव्यत्व को ही सद्भावपर्याय कहा जाता है।

सद्भावमार्गणा—यत्र च कल्पे स्थितो वर्त्तते तत्र सद्भावतः। उक्तं च—खेत्ते दुहेह मग्गण जम्मणतो चेव संतिभावे य। जम्मणतो जहिं जातो संतो भावो य जहिं कप्पे॥ (आव. नि. मलय वृ. ११४)।

जिस कल्प में परिहारविशुद्धिक संयत स्थित है उसमें जो अन्वेषण किया जाता है, इसका नाम सद्भावतः क्षेत्रमार्गणा है।

सद्भावस्थापना—१. तदाकारवती सद्भावस्थापना। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ७)। २. अध्यारोप्यमाणेण मुख्येन्द्रादिना समाना सद्भावस्थापना। (न्यायकु. ७६, पृ. ८०५)। ३. सायारवंतवत्थुम्मि जं गुणारोवणं पढमा॥ (वसु. श्रा. ३८३)। ४. मुख्यद्रव्याकृतिः सद्भावस्थापना अर्हत्प्रतिमादिः। (लघीय. अभय. वृ. ७६, पृ. ९८)।

१ जिसकी स्थापना करना अभीष्ट है उसके आकार वाली स्थापना सद्भावस्थापना कही जाती है। २ जिस मुख्य इन्द्र आदि का अध्यारोपण किया जा रहा है उससे आकार में समानता रखने वाली स्थापना को सद्भावस्थापना कहते हैं।

सद्भावस्थापनाजिन—जिणायारसंठियं दव्वं सब्भावट्ठवणजिणो। (धव. पु. ९, पृ. ६)।

जिनदेव के आकार में स्थित द्रव्य (पाषाण आदि) को सद्भावस्थापनाजिन कहते हैं।

सद्भावस्थापनान्तर—भरह-बाहुवलीणमंतरमुव्वेल्लंतो णदो सब्भावठवणंतरं। (धव. पु. ५, पृ. २)।

भरत और बाहुबली के मध्य उठता हुआ नद सद्भावस्थापनान्तरस्वरूप है।

सद्भावस्थापनापूजा—क्रियते यद्गुणारोपः साऽद्या साकारवस्तुनि॥ (धर्मसं. श्रा. ९-८८)।

तदाकार वस्तु में (मूर्ति आदि में) जो गुणों का आरोप किया जाता है, इसे सद्भावस्थापनापूजा कहते हैं।

सद्भावस्थापनाबन्ध—एदेसु कम्मेसु (कट्ठकम्मादिसु) जहासरूवेण ट्ठविदबंधो सब्भावट्ठवणबंधो णाम। (धव. पु. १४, पृ. ६)।

इन काष्ठकर्म आदि में स्वरूप के अनुसार बन्ध की स्थापना की जाती है उसका नाम सद्भावस्थापनाबन्ध है।

सद्भावस्थापनाभाव—विराग-सरागादिभावे अणुहरंती ठवणा सब्भावठवणाभावो। (धव. पु. ५, पृ. १८३)।

राग रहित और राग सहित भावों का अनुसरण करने वाली स्थापना को सद्भावस्थापनाभाव कहते हैं।

सद्भावस्थापनावेदना—पाएण अणुहरंतदव्वभेदेण इच्छिददव्वट्ठवणा सब्भावट्ठवणवेयणा। (धव. पु. १०, पृ. ७)।

प्रायः अनुसरण करने वाले द्रव्य के भेद से इच्छित द्रव्य में जो वेदना की स्थापना की जाती है उसे सद्भावस्थापनावेदना कहते हैं।

सद्भावस्थापनाव्रत— हिंसादिनिवृत्तिपरिणामवत आत्मनः शरीरस्य बंधं प्रत्येकत्वात् आकारः सामायिके परिणतस्य सद्भावस्थापनाव्रतम्॥ (भ. आ. ११८५)।

हिंसा आदि से निवृत्तिरूप परिणाम से युक्त आत्मा शरीर के बन्ध के प्रति एक है, इसलिए सामायिक में परिणत उसका आकार सद्भावस्थापनाव्रत है।

सद्भूतानिषेधवचन— देखो सम्भूतार्थनिषेधवचन।

सद्वेदनीय—१. यदुदयाद् देवादिगतिषु शारीरमानससुखप्राप्तिस्तत् सद्वेद्यम्। (स. सि. ८-८; त. श्लो. ८-८; भ. आ. मूला. २१२१)। २. यस्योदयाद्देवादिगतिषु शारीर-मानससुखप्राप्तिस्तत्सद्वेद्यम्। देवादिषु गतिषु बहुप्रकारजातिविशिष्टासु यस्योदयात् अनुगृहीत-सम्बन्धापेक्षात् प्राणिनां शारीर-मानसानेकविधसुखपरिणामस्तत्सद्वेद्यम्, प्रशस्तं वेद्यं सद्वेद्यम्। (त. वा. ८, ८, १)। ३. अभिमतमिष्टमात्मनः कर्तुरुपभोक्तुर्मनुज-देवादिजन्मसु शरीर-मनोद्वारेण सुखपरिणतिरूपमागन्तुकानेकमनोज्ञ-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसम्बन्धसमासादितपरिपाकावस्थमति बहुभेदं यदुदयाद्भवति तदाचक्षते सद्वेदनीयम्। (त. भा. हरि. वृ. ८-९)। ४. आह्लादरूपेण

यद्वेद्यते तत्सातवेदनीयम् । (श्रा. प्र. १४) । ५. यस्योदयात् सुखं तत् स्यात् सद्वेद्यं देहिनां तथा । (त. श्लो ८, २५, १) । ६. यदुदयाद् देव-मनुष्य-तिर्यग्गतिषु शरीरं मानसं च सुखं लभते तद् भवति सद्वेद्यम् । (त वृत्ति श्रुत. ८-८) ।

१ जिसके उदय से देवादि गतियों में शारीरिक और मानसिक सुख की प्राप्ति होती है उसे सद्वेद्य कहा जाता है। ४ जिसका वेदन आह्लाद स्वरूप से होता है उसे सद्वेद्य कहते हैं।

सद्वेद्य —देखो सद्वेदनीय।

सधर्मा—सधर्मणे—समान आत्मना समो धर्मः क्रिया-मंत्र-व्रतादिलक्षणो गुणो यस्य तस्मै × × × । (सा. ध. स्वो. टी. २-५६) ।

जिसका क्रिया, मंत्र और व्रत आदि रूप धर्म अपने समान होता है उसे सधर्मा कहा जाता है।

सधूमभोजन -तं पुण होइ सधूमं जं आहारेइ निंदंतो ॥ (पिण्डनि. ६५५) ।

साधु निन्दा करते हुए जिस भोजन का उपयोग करता है वह सधूम नामक ग्रासैषणादोष से दूषित होता है।

सनिरुद्ध कायक्लेश–सणिरुद्धं निश्चलमवस्थानम्। (भ. आ. विजयो. व मूला. २२३) ।

कायोत्सर्ग में निश्चलरूप से स्थित रहना, यह सनि-रुद्धस्थानयोग कहलाता है।

सन्तान—पूर्वापरकालभाविनोरपि हेतु-फलव्यपदेश-भाजोरतिशयात्मनोरन्वयः सन्तानः । (अष्टश. २६) ।

पूर्वोत्तर काल में रहते हुए भी अतिशयस्वरूप कारण व कार्य कहलाने वालों में जो अन्वय रहता है उसे सन्तान कहा जाता है।

सन्तोषव्रत—देखो परिग्रहपरिमाणाणुव्रत । वास्तु क्षेत्रं धनं धान्यं पशु-प्रेष्यजनादिकम् । परिमाणं कृतं यत्तत्सन्तोषव्रतमुच्यते ॥ (वरांगच. १५-११६) ।

वास्तु, क्षेत्र, धन, धान्य, पशु और दास आदि बाह्यपरिग्रह के विषय में जोपरिमाण किया जाता है उसे सन्तोषव्रत कहते हैं। यह परिग्रहपरिमाण-व्रत का नामान्तर है।

सन्दिग्ध अर्थ—किमयं स्थाणुः पुरुषो वेति चलित-प्रतिपत्तिविषयभूतो ह्यर्थः सन्दिग्धोऽभिधीयते । (प्र. क. मा. ३-२१, पृ. ३६६) ।

'यह ठूंठ है या पुरुष' इस प्रकार जो अनेक विषयों में चलात्मक ज्ञान (सन्देह) होता है उसके विषय-भूत पदार्थ को सन्दिग्ध अर्थ कहा जाता है।

सन्दिग्धासिद्धहेत्वाभास— स्वरूपसन्देहे सन्दि-ग्धासिद्धः । × × × *यथा—धूम-वाष्पादिविवेका-निश्चये कश्चिदाह—अग्निमानयं प्रदेशो धूमवत्त्वात् इति* । (न्यायदी. पृ. १००) ।

स्वरूप में सन्देह रहने पर हेतु स्वरूपासिद्धहेत्वाभास होता है। जैसे—जिसे धूम और बाष्प का भेद ज्ञात नहीं है वह यदि कहता है कि 'यह प्रदेश अग्निवाला है, क्योंकि वह धूमयुक्त है' इसमें यद्यपि धूम हेतु अग्नि का साधक है, पर यहां धूम व बाष्प में सन्देह रहने के कारण इसे सन्दिग्धा-सिद्धहेत्वाभास माना गया है।

सन्निकर्ष—*एकस्मिन् वस्तुन्येकस्मिन् धर्मे निरुद्धे* शेषधर्माणां तत्र सत्त्वासत्त्वविचारः, सत्स्वप्येकस्मि-न्नुत्कर्षमुपगते शेषाणामुत्कर्षानुत्कर्षविचारश्च सन्नि-कर्षः । (धव. पु. १३, पृ २८४) ।

एक वस्तु में किसी एक धर्म के विवक्षित होने पर शेष धर्मों के उसमें सत्त्व-असत्त्व का विचार करना तथा उनमें भी किसी एक के उत्कर्ष को प्राप्त होने पर शेष धर्मों के उत्कर्ष-अनुत्कर्ष का भी विचार करना, इसे सन्निकर्ष कहते हैं।

सन्निपात—सन्निपातो द्वि-त्रिभावानां संयोगः । (आव. भा. मलय. वृ. २०२, पृ. ५६३) ।

औदयिक व औपशमिकादि भावों में दो-तीन आदि भावों के संयोग को सन्निपात कहते हैं।

सन्मान—१. स्तुत्यादिगुणोन्नतिकरणं सन्मानः । (ललितवि. पृ. ८०) । २. सन्मानो वस्त्रादिपूज-नम् । (समवा. अभय. वृ. ६१) ।

१ स्तुति आदि के द्वारा गुणों की उन्नति करने को सन्मान कहते हैं। २ वस्त्रादि के द्वारा पूजा करने का नाम सन्मान विनय है।

सन्मिश्राहार—देखो सचित्तसम्मिश्राहार। तथा सचित्तेन मिश्रः शबलः आहारः सन्मिश्राहारः, यथा-आर्द्रक-दाडिमबीज-कुलिका-चिर्भटिकादिमिश्रः पूर-णादिः, तिलमिश्रो *यवधानादिर्वा, अयमप्यनाभोगा-*दिनातिचारः । *अथवा सम्भवत्सचित्तावयवस्यापक्व-*कणिक्कादेः *पिष्टत्वादिना अचेतनमिति* बुद्ध्या

आहारः सन्मिश्राहारः व्रतसापेक्षत्वादतिचारः । (योगशा. स्वो. विव. ३–९८) ।

सचित्त से मिले हुए आहार को सन्मिश्राहार कहते हैं। जैसे—अदरख, अनार के बीज, कुलिका और खीरे के बीजों से मिश्रित पूरण आदि; अथवा तिलों से मिश्रित यवधान आदि। अथवा सचित्त अंशों से सहित कच्ची कणिक्क को पीसे जाने से अचित्त मानकर ग्रहण करना, यह सन्मिश्राहार है। वह भोगोपभोगपरिमाणव्रत को दूषित करने वाला उसका एक अतिचार है।

सपक्ष—साध्यसजातीयधर्मा धर्मी सपक्षः। (न्यायदी. पृ. ८३) ।

साध्य का सजातीय धर्म जहां रहता है उसे सपक्ष कहते हैं। जैसे—पर्वत में धूम हेतु से अग्नि के सिद्ध करने में रसोईघर।

सपृथक्त्व—द्रव्याद् द्रव्यान्तरं याति गुणाद् गुणान्तरं व्रजेत् । पर्यायादन्यपर्यायं सपृथक्त्वं भवत्यतः ॥ (भावसं. वाम. ७०५) ।

प्रथम शुक्ल ध्यान में एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य, एक गुण से दूसरे गुण और एक पर्याय से दूसरी पर्याय को प्राप्त होता है, इसलिए उसे सपृथक्त्व कहा जाता है।

सप्तभंगी—१. प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधि-प्रतिषेधविकल्पना सप्तभङ्गी। एकस्मिन् वस्तुनि प्रश्नवशाद् दृष्टेनेष्टेन च प्रमाणेनाविरुद्धा विधि-प्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी विज्ञेया। (त. वा. १, ६, ५) । २. द्रव्य-पर्याय-सामान्य-विशेषप्रविभागतः । स्याद्विधि-प्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गी प्रवर्तते ॥ (न्यायवि. ४५१–५२) । ३. द्रव्य-पर्याय-सामान्य-विधान-प्रतिषेधनः ॥ सह-क्रमविवक्षायां सप्तभङ्गी तदात्मनि। (प्रमाणसं. ७३–७४) । ४. एकस्मिन्नविरोधेन प्रमाण-नयवाक्यतः । सदादिकल्पना या च सप्तभंगीति सा मता ॥ (कार्तिके. टी. २२४ उद्.) । ५. एकत्र वस्तुन्येकपर्यायनिरूपितविधि-निषेधकल्पना मूल-सप्तधर्मप्रकारकोद्देश्यशाब्दबोधजनकता पर्याप्त्यधिकरणं वाक्यं सप्तभंगी। (अष्टस. यशो. वृ. १४) । ६. विहि-णिसेहावत्तव्वभंगाणं पत्तेयदुसंजोय-तिसंजोयजादाणं तिण्णि तिण्णि एगसंभोयाणं मेलणं सप्तभंगी। (अंगप. पृ. २८८) ।

१ प्रश्न के वश एक ही वस्तु में जो प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से अविरुद्ध विधि और प्रतिषेध की कल्पना की जाती है उसे सप्तभंगी कहते हैं।

सप्तमी प्रतिमा—सप्तमासान् (पूर्वप्रतिमानुष्ठान-सहितः) सचित्ताहारान् परिहरतीति सप्तमी। (योगशा. स्वो. विव. ३–१४८) ।

पूर्व छह प्रतिमाओं के अनुष्ठान सहित जो सात मास पर्यन्त सचित्त भोजनों का परित्याग किया करता है वह सातवीं प्रतिमा का परिपालक होता है।

सभ्य—१. आदित्यवद्यथावस्थितार्थप्रकाशनप्रतिभाः सभ्याः। (नीतिवा. २८–३, पृ. २९५); २. तथा च गुरुः—यथादित्योऽपि सर्वार्थान् प्रकटान् करोति च। तथा च व्यवहारार्थान् ज्ञेयास्तेऽमी सभासदः ॥ (नीतिवा टी. २८–३) ।

१ जो सूर्य के समान अपनी प्रतिभा से यथावस्थित पदार्थों को प्रकाशित किया करते हैं वे राजसभा के सभ्य (सभासद्) माने जाते हैं।

सम (परमाणु)—गुणाविभागपडिच्छेदेहि ल्हुक्खपोग्गलेण सरिसो णिद्धपोग्गलो समो णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३३) ।

जो स्निग्ध पुद्गल अपने गुणाविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा रूक्ष पुद्गल के समान होता है उसे सम कहते हैं।

समगेय—ताल-वंश-स्वरादिसमनुगतं समम्। (राय. प. मलय. वृ. पृ. १६२) ।

ताल, वंश और स्वर आदि से संयुक्त गेय समगेय कहलाता है।

समचतुरस्रसंस्थान नामकर्म—१. तत्रोर्ध्वाधोमध्येषु समप्रविभागेन शरीरावयवसन्निवेशव्यवस्थापनं कुशलशिल्पिनिर्वर्तितसमस्थितिचक्रवत् अवस्थानकरं समचतुरस्रसंस्थाननाम। (त. वा. ८, ११, ८) । २. समं च तच्चतुरस्रं चेति समचतुरस्रम्, यतस्तत्र मानोन्मानप्रमाणमन्यूनाधिकमंगोपांगानि चाधिकृत्याग्रवानि, अध ऊर्ध्वं तिर्यक् च तुल्यम्, स्वांगुलाष्टशतोच्छ्रायांगोपांगयुक्तं युक्तिनिर्मितलेप्यकवद्वा। (त. भा. हरि. वृ. ८–१२) । ३. समं तुल्यारोहपरिणामं संपूर्णांगोपांगावयवं स्वांगुलाष्टशतोच्छ्रायं समचतुरस्रम्। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ५७) । ४. जस्स कम्मस्स उदएण जीवाणं समचउरससंठाणं होदि-

तस्स कम्मस्स समचउरससंठाणमिदि सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ७१); चतुरं शोभनम्, समन्ताच्चतुरं समचतुरम्, समानमानोन्मानमित्यर्थः। समचतुरं च तत् शरीरसंस्थानं च समचतुरशरीरसंस्थानम्, तस्य संस्थानस्य निर्वर्तकं यत्कर्म तस्याप्येषैव संज्ञा, कारणे कार्योपचारात्। (धव. पु. १३, पृ ३६८)। ५. समचतुरस्र संस्थानं यथा प्रदेशावयवं परमाणूनामन्यूनाधिकता। (मूला वृ. १२-४६)। ६. तत्र समाः सामुद्रिकशास्त्रोक्तप्रमाणलक्षणाविसंवादिन्यश्चतस्रोऽस्रयश्चतुर्दिग्विभागोपलक्षिताः शरीरावयवा यस्य तत्समचतुरस्रम्, समासान्तोऽत्-प्रत्ययः, समचतुरस्रं च तत्संस्थानं च समचतुरस्रसंस्थानम्। (प्रज्ञाप. मलय वृ. २६८, पृ. ४१२); यदुदयादसुमतां समचतुरस्रसंस्थानमुपजायते तत्समचतुरस्रसंस्थाननाम। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २६३, पृ. ४७३)।

१ जिस नामकर्म के उदय से कुशल कारीगर के द्वारा निर्मित समान स्थिति वाले चक्र के समान शरीरगत अवयवों की रचना ऊपर, नीचे और मध्य में समान विभागों को लिए होती है उसे समचतुरस्रसंस्थान कहते हैं। २ जिसके आश्रय से शरीर में सब ओर मान, उन्मान व प्रमाण हीनाधिक नहीं होता है; अंग और उपांग अधिकृत अवयवों से परिपूर्ण होते हैं; आकार नीचे, ऊपर व तिरछे में समान होता है, तथा युक्ति से निर्मित मूर्ति के समान शरीर अपने अंगुल से आठ सौ अंगुल ऊंचाई से सहित अंग-उपांगों से सहित होता है उसे समचतुरस्रसंस्थान कहते हैं।

समता—१. सत्तु-मित्त-मणि-पाहाण-सुवण्ण-मट्टियासु राग-दोसाभावो समदा णाम। (धव. पु. ८, पृ. ८४)। २. समदा समभावः जीवित-मरण-लाभालाभ-संयोग-विप्रयोग-सुख-दुःखादिषु रागद्वेषयोरकरणम्। (भ. आ. विजयो. ७८)। ३. समस्य भावः समता, राग-द्वेषादिरहितत्वं त्रिकालपंचनमस्कारकरणं वा। (मूला. वृ. १-२२)। ४. लाभालाभसुख-क्लेशप्रमुखे समतामतिः। स्वायत्तकरणस्वान्तज्ञानिनः समता मता॥ (आचा. सा. १-३४)। ५. समता राग-द्वेषहेतुषु मध्यस्थता। (योगशा. स्वो. विव. ३-८२, पृ. ५०३)। ६. समता जीवितमरणादिषु रागद्वेषयोरकरणम्। (अन. ध. टी. ७, ६८; भ. आ. मूला. ७०)।

१ शत्रु, व मित्र, मणि व पत्थर तथा सुवर्ण और मट्टी में राग और द्वेष का उत्पन्न न होना; इसे समता कहते हैं। ५ राग-द्वेष के कारणों में मध्यस्थ रहना—न राग करना और न द्वेष करना, इसका नाम समता है।

समदत्ति—१. समानायात्मनाऽन्यस्मै क्रिया-मन्त्रव्रतादिभिः। निस्तारकोत्तमायेह भू-हेमाद्यतिसर्जनम्॥ समानदत्तिरेषा स्यात् पात्रे मध्यमतामिते। समानप्रतिपत्त्यैव प्रवृत्ता श्रद्धयान्विता॥ (म. पु. ३८, ३८-३९)। २. समदत्तिः स्वसमक्रियाय मित्राय निस्तारकोत्तमाय कन्या-भूमि-सुवर्ण-हस्त्यश्व-रथ-रत्नादिदानं स्वसमानाभावे मध्यमपात्रस्यापि दानम्। (चा. सा. पृ. २०; कार्तिके. ३९१)। ३. ×× × बुभुक्षुषु गृहस्थेषु वात्सल्येन यथार्हमनुग्रहः समानदत्तिः। (सा. ध. स्वो. टी. २-५१)।

१ जो क्रिया, मन्त्र और व्रत आदि से अपने समान है ऐसे निस्तारकोत्तम— संसार-समुद्र से पार उतारने वाले गृहस्थों में श्रेष्ठ गृहस्थ के लिए—अथवा मध्यम पात्र के लिए जो श्रद्धापूर्वक समान आदर भाव से पृथिवी व सुवर्ण आदि को दिया जाता है, इसे समदत्ति कहते हैं।

समधी—निर्ममो निरहंकारो निर्माण-मद-मत्सरः। निन्दायां संस्तवे चैव समधी शंसितव्रतः॥ (उपासका. ८६६)।

जो ममकार और अहंकार से रहित होकर मान, मद व मत्सर भाव को छोड़ चुका है तथा निन्दा व स्तुति में विषाद व हर्ष को नहीं प्राप्त होता है उस प्रशस्त व्रतों से संयुक्त महापुरुष को समधी कहना चाहिए।

समनस्क—देखो संज्ञी। १. संज्ञिनः समनस्काः। (त. सू. दि. २-२४; श्वे. २-२५)। २. सम्प्रधारणसंज्ञायां संज्ञिनो जीवाः समनस्का भवन्ति। सर्वे नारक-देवा गर्भव्युत्क्रान्तयश्च मनुष्यास्तिर्यग्योनिजाश्च केचित्। ईहापोहयुक्ता गुण-दोषविचारणात्मिका सम्प्रधारणसंज्ञा। तां प्रति संज्ञिनो विवक्षिताः, अन्यथा ह्याहार-भय-मैथुन-परिग्रहसंज्ञाभिः सर्व एव जीवाः संज्ञिन इति। (त. वा. २-२५)। ३. मीमंसइ जो पुव्वं कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च। सिक्खइ णामेणेदि य समणो ××

× ॥ (प्रा. पंचसं. १–१७४; गो. जी. ६६२)। ४. मनसो द्रव्य-भावभेदस्य सन्निधानात् समनस्काः। (त. श्लो. २–११)। ५. नोइन्द्रियावरणस्यापि क्षयोपशमात् समनस्काः। (पंचा का. ११७)। ६. गृह्णाति शिक्षते कृत्यमकृत्यं सकल तदा। नाम्नाहूतः समभ्येति समनस्को ××× ॥ (पंचसं. अमित. ३२०, पृ. ४४)। ७. समस्तशुभाशुभविकल्पातीतपरमात्मद्रव्यविलक्षणं नानाविकल्पजालरूपं मनो भण्यते, तेन सह ये वर्तन्ते ते समनस्काः। (बृ. द्रव्यसं. टी १२)। ८. पुद्गलविपाकिकर्मोदयापेक्षं द्रव्यमनः, वीर्यान्तराय-नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षया आत्मनो विशुद्धिर्भावमनः, ईदृग्विधेन मनसा वर्तन्ते ये ते समनस्काः। (त. वृत्ति श्रुत. २–११)।

१ संज्ञी जीवों को समनस्क कहा जाता है। २ जिसके आश्रय से जीव दीर्घ काल तक स्मरण रख सकता है तथा भूत-भविष्यत् के विचार के साथ कर्तव्य कार्य का भी विचार करता है उस संप्रधारण संज्ञा में वर्तमान संज्ञी जीव समनस्क होते हैं। वे संज्ञी जीव देव, नारक, मनुष्य और कितने ही तिर्यंच भी होते हैं। इस संप्रधारण संज्ञा के आश्रय से ही संज्ञी समझना चाहिए, न कि आहारादि चार संज्ञाओं के आश्रय से। ३ कार्य के करने के पूर्व जो उसके करने योग्य या न करने योग्य का विचार करता है, तत्त्व-अतत्त्व का भी विचार करता है, सीखता है, तथा नाम लेने से आता है; वह समनस्क—मन से सहित—होता है।

समनोज्ञ—देखो सम्भोग। १. सम्भोगयुक्ताः समनोज्ञाः। (त. भा. ९–२४)। २. सह वा मनोज्ञैर्ज्ञानादिभिरिति समनोज्ञाः साम्भोगिकाः साधवः। (स्थानां. अभय. वृ. १७४)।

१ बारह प्रकार के संभोग से जो सहित होते हैं वे समनोज्ञ कहलाते हैं। अथवा जो मनोज्ञ ज्ञानादि से सहित होते हैं उन्हें समनोज्ञ कहा जाता है।

समन्तानुपातनक्रिया—१. स्त्री-पुरुष-पशुसम्पातिदेशेऽन्तर्मलोत्सर्गकरणं समन्तानुपातनक्रिया। (स. सि. ६–५; त. वा. ६, ५, ९)। २. स्त्री-पुंस-पशुसंपातिदेशेऽन्तर्मलमोक्षणम्। क्रिया साधुजनायोग्या सा समन्तानुपातिनी ॥ (ह. पु. ५८–७२)। ३. स्त्र्यादिसंपातिदेशेऽन्तर्मलोत्सर्गः प्रमादिनः। शक्तस्य या क्रियेष्टेह सा समन्तानुपातिकी ॥ (त. श्लो. ६, ५, १५)। ४. समन्तानुपातक्रिया स्त्री-पुरुष-नपुंसक-पशुसंपातदेशे उपनीयवस्तुत्यागः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–६)। ५. स्त्री-पुरुष-पश्वाद्यागमनप्रदेशे मल-मूत्राद्युत्सर्जनं समन्तानुपातनक्रियां। (त. वृत्ति श्रुत. ६–५)।

१ जिस स्थान में स्त्री-पुरुष आदि के आने-जाने का सम्बन्ध रहता है ऐसे स्थान में भीतरी मल आदि का त्याग करना, इसे समन्तानुपातनक्रिया कहते हैं।

समपदासन—समपदं स्फिक्पिण्डसमकरणेनासनम्। (भ. आ. विजयो. व मूला. २२४)।

स्फिच् और पिण्ड को समान करके स्थित होना, इसे समपद आसन कहा जाता है।

समपाद—१. समपायं नाम दोऽवि पादे सम निरंतर ठवेइ। (आव. नि. मलय. वृ. १०३६, पृ. ५६७)। २. द्वावपि पादौ समौ निरंतर यस्यापयति जानुनी ऊरु चातिसरले करोति तत्समपादम्। (व्यव. भा. मलय. वृ. पी. द्वि. वि. ३५)।

२ दोनों पांवों को अन्तर के बिना समरूप में स्थापित करके घुटनों और ऊरुओं को अतिशय सरल करने पर समपाद स्थान होता है।

समभिरूढनय—१. सत्स्वर्थेष्वसङ्क्रमः समभिरूढः। (त. भा. १–३५, पृ. १२०); तेषामेव साम्प्रतानामध्यवसायासंक्रमो वितर्कध्यानवत् समभिरूढः। (त. भा. १–३५, पृ. १२४)। २. नानार्थसमभिरोहणात् समभिरूढः। यतो नानार्थान् समतीत्यैकमर्थमाभिमुख्येन रूढः समभिरूढः। यथा गौरित्ययं शब्दो वागादिष्वर्थेषु वर्तमानः पशावभिरूढः। (स. सि. १–३३)। ३. वत्थूओ संकमणं होइ अवत्थू नए समभिरूढे। (अनुयो. गा. १३९, पृ. २६४)। ४. जं जं सण्णं भासइ तं तं चिय समभिरोहए जम्हा। सण्णंतरत्थविमुहो तओ नओ समभिरूढोत्ति। (विशेषा. २७२७)। ५. नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढः। यतो नानार्थान् समतीत्यैकमर्थमाभिमुख्येन रूढस्ततः समभिरूढः। कुतः? वस्त्वन्तरासंक्रमेण तन्निष्ठत्वात्। (त. वा. १, ३३, १०)। ६. नानार्थसमभिरोहणात् समभिरूढः। (त. भा. हरि. वृ. १–३५; अनुयो. हरि. वृ. पृ. १०८)। ७. नानार्थरोहणात्समभिरूढः। ××× नानार्थस्य भावः नानार्थता, तां समभिरूढत्वात्समभिरूढः।

(धव. पु. १, पृ. ८९–९०) । ८. नानार्थसमभिरोहणात् समभिरूढः—इन्दनादिन्द्रः शकनाच्छक्रः पूर्दारणात् पुरन्दर इति । नैते एकार्थवाचकाः, भिन्नार्थप्रतिबद्धत्वात् । पदभेदान्यथानुपपत्तेरर्थभेदेन भवितव्यमित्यभिप्रायवान् समभिरूढ इति बोद्धव्यः । (जयध. १, पृ. २४०) । ९. शब्दभेदेऽर्थभेदार्थी व्यक्तपर्यायिशब्दकः । नयः समभिरूढोऽर्थो नानासमभिरोहणात् ॥ (ह. पु. ५८–४८) । १०. पर्यायिशब्दभेदेन भिन्नार्थस्याधिरोहणात् । नयः समभिरूढः स्यात् पूर्ववच्चास्य निश्चयः ॥ (त. श्लो. १ ३३, ७६) । ११. सतां विद्यमानानां वर्तमानकालावधिकानां सम्बन्धी योऽध्यवसायासङ्क्रमः स समभिरूढः । (त. भा. सिद्ध. वृ. १–३५) । १२. ज्ञेयः समभिरूढोऽसौ शब्दो यद्विषयः स हि । एकस्मिन्नभिरूढार्थे नानार्थान् समतीत्य यः ॥ (त. सा. १–४९) । १३. सद्दारूढो अत्थो अत्थारूढो तहेव पुण सद्दो । भणइ इह समभिरूढो जह इंद पुरंदरो सक्के ॥ (ल. नयच. ४२; द्रव्यस्व. प्र. नयच. २१४) । १४. परस्परेणाभिरूढाः समभिरूढाः, शब्दभेदेऽप्यर्थभेदो नास्ति, यथा शक्रः इन्द्रः पुरंदर इत्यादयः समभिरूढाः । (आलापप. पृ. १४९) । १५. जो एगेगं अत्थं परिणदिभेएण साहए अत्थं । मुक्खत्थं वा भासदि अहिरूढं त णयं जाण ॥ (कार्तिके. २७६) । १६. तथा पर्यायाणां नानार्थतया समभिरोहणात्समभिरूढः, न ह्ययं घटादिपर्यायाणामेकार्थतामिच्छति । (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ७, ८१, पृ. १८८) । १७. नानार्थान् समेत्याभिमुख्येन रूढः समभिरूढः । (प्र. क. मा. ६–७४, पृ. ६८० । १८. पर्यायभेदात्पदार्थनानात्वनिरूपकः समभिरूढः । (प्रमेयर. ६–७४) । १९. प्रत्यर्थमेकैकसंज्ञाभिरोहणादिन्द्र-शक्र-पुरन्दरपर्यायशब्दभेदनात् समभिरूढः । (मूला. वृ. ४–६७) । २०. वाचकं वाचकं प्रति वाच्यभेदं समभिरोहयति आश्रयति यः स समभिरूढः, स हि अनन्तरोक्तविशेषणस्यापि वस्तुनः शक्र-पुरन्दरादिवाचकभेदेन भेदमभ्युपगच्छति घट-पटादिवत्, यथा शब्दार्थो घटते चेष्टते इति घट इत्यादिलक्षणः । (स्थानां. अभय. वृ. १८६) । २१. पर्यायशब्दभेदादर्थभेदकृत्समभिरूढनयः । (लघीय. ७२, पृ. ९२) । २२. एकमप्यर्थं शब्दभेदेन भिन्नं जानाति यः सः समभिरूढो नयः । (त. वृत्ति श्रुत. १–३३; कार्तिके. टी. २७६) ।

१ विद्यमान अर्थात् वर्तमान पर्याय को प्राप्त पदार्थों को छोड़कर दूसरे पदार्थ में जो शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती है, उसे समभिरूढ नय कहते हैं । २ शब्द अनेक अर्थों को छोड़कर जो प्रमुखता से एक ही पदार्थ में रूढ होता है, इसे समभिरूढनय कहा जाता है ।

समभिरूढनयाभास — पर्यायिनानात्वमन्तरेणापीन्द्रादिभेदकथनं तदाभासः । (प्रमेयर. ६–७४) ।

पर्याय की भिन्नता के बिना जो इन्द्र आदि में भेद किया जाता है, यह समभिरूढनयाभास का लक्षण है ।

समय (कालविशेष)—१. परमसूक्ष्मक्रियस्य सर्वजघन्यगतिपरिणतस्य परमाणोः स्वावगाहनक्षेत्रव्यतिक्रमकालः समय इत्युच्यते परमदुरधिगमोऽनिर्देश्यः । (त. भा. ४–१५) । २. कालो परमनिरुद्धो अविभज्जो तं तु जाण समयं तु । (ज्योतिष्क. ८) । ३. कालो परमनिरुद्धो अविभागी तं तु जाण समयो त्ति । (जीवस. १०६) । ४. परमाणुस्स णियट्ठिदगयणपदेसस्सदिक्कमणमेत्तो । जो कालो अविभागी होदि पुढं समयणामा सो ॥ (ति. प. ४–२८५) । ५. कालं पुनर्योगविभागमेति निगद्यतेऽसौ समयो विधिज्ञैः । (वरांग. २७–३) । ६. सर्वजघन्यगतिपरिणतस्य परमाणोः स्वावगाढप्रदेशव्यतिक्रमकालः परमनिपिद्धो निर्विभागः समयः । (त. वा. ३–३८) । ७. कालः परमनिकृष्टः समयोऽभिधीयते । (आव. नि. हरि. वृ. ४ व ६६३; नन्दी. हरि. वृ. पृ. ७३; आव. नि. मलय. वृ. ६६६) । ८. अणोरण्वंतरव्यतिक्रमकालः समयः । चोद्दसरज्जुआगासपदेसकमणमेत्तकालेण जो चोद्दसरज्जुकमणक्खमो परमाणू तस्स एगपरमाणुक्कमणकालो समओ णाम । (धव. पु. ४, पृ. ३१८) । ९. परिणामं प्रपन्नस्य गत्या सर्वजघन्यया । परमाणोर्निजागाढस्वप्रदेशव्यतिक्रमः ॥ कालेन यावतैव स्यादविभागः स भाषितः । समयः समयाभिज्ञैर्निरुद्धः परमास्थितः ॥ (ह. पु. ७, १७–१८) । १०. अणुअंतरयरु समउ भणिज्जइ ××× । (म. पु. पुष्प. २–५, पृ. २२) । ११. परमाणुप्रचलनायत्तः समयः । (पंचा. का. अमृत. वृ. २५) । १२. अणोरण्वन्तरव्यति

क्रमः कालः समयः। (मूला. वृ. १२-८५)। १३. मंदगतिपरिणतपुद्गलपरमाणुना निमित्तभूतेन व्यक्तीक्रियमाणः समयः। (पंचा. का. जय. वृ. २५)। १४. एकस्मिन्नभःप्रदेशे यः परमाणुस्तिष्ठति तमन्यः परमाणुर्मन्दचलनाल्लंघयति स समयो व्यवहारकालः। (नि. सा. वृ. ३१)। १५. णहएयपएसत्थो परमाणू मंदगइपवट्टंतो। बीयमणतरखेत्तं जावदियं जादि तं समयकालं ॥ (द्रव्यस्व. भाव. प्र. नयच. १३६)। १६. आकाशस्यैकप्रदेशस्थितपरमाणुर्मन्दगतिपरिणतः सन् द्वितीयमनन्तरक्षेत्रं यावद्याति सः समयाख्यः कालः। (कार्तिके. टी. २२०)।

१ अतिशय सूक्ष्म क्रिया से संयुक्त व सबसे जघन्य गति में परिणत परमाणु का जो अपने अवगाहन-क्षेत्र के लांघने का *काल है उसका नाम समय है।* ४ जिस आकाशप्रदेश में परमाणु स्थित है उसके लांघने में उसे जितना काल लगता है उतने मात्र काल को समय कहते हैं, वह विभाग से रहित है।

समय (जीव)—१. योऽयं नित्यमेव परिणामात्मनि स्वभावे अवतिष्ठमानत्वादुत्पाद-व्यय-ध्रौव्यैक्यानुभूतिलक्षणया सत्तयानुस्यूतश्चैतन्यस्वरूपत्वान्नित्योदितविशददृशि - ज्ञप्तिज्योतिरनन्तधर्माधिरूढैकधर्मित्वादुद्योतमानद्रव्यत्वः क्रमाक्रमप्रवृत्तविचित्रभावस्वभावत्वादुत्सङ्गितगुण-पर्यायः स्व-पराकारावभासनसमर्थत्वादुपात्तवैश्वरूप्यैकरूपः प्रतिविशिष्टावगाहगति-स्थिति-वर्तनानिमित्तस्वरूपित्वाभावासाधारणचिद्रूपतास्वभावसद्भावाच्चाकाश-धर्माधर्म - काल-पुद्गलेभ्यो भिन्नोऽत्यन्तमनन्तद्रव्यसंकरेऽपि स्वरूपादप्रच्यवनात् टंकोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थः, स समयः। (समयप्रा. अमृत. वृ. २)। २. सम्यगयति गच्छति शुद्धगुण-पर्यायान् परिणमतीति समयः। अथवा सम्यगयः संशयादिरहितो बोधो ज्ञानं यस्य भवति स समयः। अथवा समित्येकत्वेन परमसमरसीभावेन स्वकीयशुद्धस्वरूपे अयनं गमनं परिणमनं समयः। (समयप्रा. जय. वृ. १६१)।

१. जो परिणमनशील होने से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की एकता के अनुभवन स्वरूप सत्ता से अन्वित है, नित्य प्रकाशमान दर्शन व ज्ञानरूप ज्योति से सहित है, अनन्त धर्मों से सहित होने के कारण द्रव्यस्वरूप को प्राप्त है, गुण-पर्यायों से संयुक्त है, स्व-परावभासी होने से विश्वरूपता को प्राप्त होकर भी एक रूपवाला है, गति-स्थिति आदि की निमित्तता से रहित व असाधारण चैतन्यस्वभाव से सहित होने के कारण अन्य धर्माधर्मादि द्रव्यों से भिन्न है, तथा कभी भी अपने स्वभाव से च्युत न होने के कारण टांकी से उकेरे गये के समान चैतन्य स्वभाव वाला है; ऐसे इन लक्षणों से युक्त जीवपदार्थ का नाम समय है।

समयक्षेत्र—अड्ढाइज्जा दीवा दो य समुद्दा एस णं एवइए समयक्खेत्ते त्ति पवुच्चति। (भगवती २, ९, ५२, पृ. ३०३ प्र. खं.)।

अढ़ाई द्वीप (जम्बूद्वीप धातकीखण्ड और आधा पुष्कर द्वीप) और लवण व कालोद ये दो समुद्र, इतने मात्र क्षेत्र को समयक्षेत्र कहा जाता है।

समयद्योतक—समयद्योतको वादित्वादिना मार्गप्रभावकः। (सा. ध. स्वो. टी. २-५१)।

जो वादित्व आदि विशेषताओं के द्वारा मोक्षमार्ग की प्रभावना किया करता है उसे समयद्योतक कहा जाता है।

समयप्रबद्ध—१. ताहि अणंतहि णियमा समयपबद्धो हवे एक्को। (गो. जी. २४५)। २. ताभिर्वर्गणाभिरनन्ताभिः सिद्धानन्तभागा अभव्यानन्तगुणप्रमिताभिर्नियमादेकः समयप्रबद्धो *नाम योग्यपुद्गल*स्कन्धो भवति। समयेन प्रबद्धते स्म कर्म-नोकर्मरूपतया *आत्मना सम्बध्यते स्म यः* पुद्गलस्कन्धः स समयप्रबद्ध इति निरुक्तिसिद्धः, आत्मना मिथ्यादर्शनादिसंक्लेशपरिणामैः प्रतिसमयं कर्म-नोकर्मरूपतया परिणममानस्तत्तद्योग्यपुद्गलस्कन्धः समयप्रबद्ध इति स्याद्वादप्रसिद्धो बोद्धव्यः। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. २४५)।

२ सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण और अभव्यों से अनन्तगुणी वर्गणाओं से एक समयप्रबद्ध नामक पुद्गलस्कन्ध होता है। मिथ्यादर्शनादि संक्लेश-परिणामों के वश प्रत्येक समय में कर्म-नोकर्मरूप से परिणत होकर उतना पुद्गलस्कन्ध बंधता है, इसलिए उसे समयप्रबद्ध कहा जाता है।

समयप्रबद्धशेषक—जं समयपबद्धस्स वेदिदसेसग्गं पदेसग्गं दिस्सइ, तम्मि अपरिसेसिदम्हि एगसमएण उदयमागदम्हि तस्स समयपबद्धस्स *अण्णो कम्मपदेसो वा णत्थि* तं समयपबद्धसेसगं णाम। (कसायपा. चू. पृ. ८३३)।

(धव. पु. १, पृ. ८६–९०)। ८. नानार्थसमभिरोहणात् समभिरूढः—इन्दनादिन्द्रः शकनाच्छक्रः पूर्दारणात् पुरन्दर इति। नैते एकार्थवाचकाः, भिन्नार्थप्रतिबद्धत्वात्। पदभेदान्यथानुपपत्तेरर्थभेदेन भवितव्यमित्यभिप्रायवान् समभिरूढ इति बोद्धव्यः। (जयध. १, पृ. २४०)। ९. शब्दभेदेऽर्थभेदार्थी व्यक्तपर्यायिशब्दकः। नयः समभिरूढोऽर्थो नानासमभिरोहणात्॥ (ह. पु. ५८–४८)। १०. पर्यायशब्दभेदेन भिन्नार्थस्याधिरोहणात्। नयः समभिरूढः स्यात् पूर्ववच्चास्य निश्चयः॥ (त. श्लो. १, ३३, ७६)। ११. सतां विद्यमानानां वर्तमानकालावधिकानां सम्बन्धी योऽध्यवसायासङ्क्रमः स समभिरूढः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–३५)। १२. ज्ञेयः समभिरूढोऽसौ शब्दो यद्विषयः स हि। एकस्मिन्नभिरूढार्थे नानार्थान् समतीत्य यः॥ (त. सा. १–४९)। १३. सद्दारूढो अत्थो अत्थारूढो तहेव पुण सद्दो। भणइ इह समभिरूढो जह इंद पुरंदरो सक्के॥ (ल. नयच. ४२; द्रव्यस्व. प्र. नयच. २१४)। १४. परस्परेणाभिरूढाः समभिरूढाः, शब्दभेदेऽप्यर्थभेदो नास्ति, यथा शक्रः इन्द्रः पुरंदर इत्यादयः समभिरूढाः। (आलापप. पृ. १४६)। १५. जो एगेगं अत्थं परिणदिभेएण साहए अत्थं। मुक्खत्थं वा भासदि अहिरूढं त णयं जाण॥ (कार्तिके. २७६)। १६. तथा पर्यायाणां नानार्थतया समभिरोहणात्समभिरूढः, न ह्ययं घटादिपर्यायाणामेकार्थतामिच्छति। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ७, ८१, पृ. १८८)। १७. नानार्थान् समेत्याभिमुख्येन रूढः समभिरूढः। (प्र. क. मा. ६–७४, पृ. ६८०)। १८. पर्यायभेदात्पदार्थनानात्वनिरूपकः समभिरूढः। (प्रमेयर. ६–७४)। १९. प्रत्यर्थमेकैकसंज्ञाभिरोहणादिन्द्र-शक्र-पुरन्दरपर्यायशब्दभेदनात् समभिरूढः। (मूला. वृ. ४–६७)। २०. वाचकं वाचकं प्रति वाच्यभेदं समभिरोहयति आश्रयति यः स समभिरूढः, स हि अनन्तरोक्तविशेषणस्यापि वस्तुनः शक्र-पुरन्दरादिवाचकभेदेन भेदमभ्युपगच्छति घट-पटादिवत्, यथा शब्दार्थो घटते चेष्टते इति घट इत्यादिलक्षणः। (स्थानां. अभय. वृ. १८६)। २१. पर्यायशब्दभेदादर्थभेदकृत्समभिरूढनयः। (लघीय. ७२, पृ. ९२)। २२. एकमप्यर्थं शब्दभेदेन भिन्नं जानाति यः सः समभिरूढो नयः। (त. वृत्ति श्रुत. १–३३; कार्तिके. टी. २७६)।

१ विद्यमान अर्थात् वर्तमान पर्याय को प्राप्त पदार्थों को छोड़कर दूसरे पदार्थ में जो शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती है, उसे समभिरूढ नय कहते हैं। २ शब्द अनेक अर्थों को छोड़कर जो प्रमुखता से एक ही पदार्थ में रूढ होता है, इसे समभिरूढनय कहा जाता है।

समभिरूढनयाभास — पर्यायिनानात्वमन्तरेणापीन्द्रादिभेदकथनं तदाभासः। (प्रमेयर. ६–७४)।

पर्याय की भिन्नता के विना जो इन्द्र आदि में भेद किया जाता है, यह समभिरूढनयाभास का लक्षण है।

समय (कालविशेष)—१. परमसूक्ष्मक्रियस्य सर्वजघन्यगतिपरिणतस्य परमाणोः स्वावगाहनक्षेत्रव्यतिक्रमकालः समय इत्युच्यते परमदुरधिगमोऽनिर्देश्यः। (त. भा. ४–१५)। २. कालो परमनिरुद्धो अविभज्जो तं तु जाण समयं तु। (ज्योतिष्क. ८)। ३. कालो परमनिरुद्धो अविभागी तं तु जाण समयो त्ति। (जीवस. १०६)। ४. परमाणुस्स णियट्ठिदगयणपदेसस्सदिक्कमणमेत्तो। जो कालो अविभागी होदि पुढं समयणामा सो॥ (ति. प. ४–२८५)। ५. कालं पुनर्योगविभागमेति निगद्यतेऽसौ समयो विधिज्ञैः। (वरांग. २७–३)। ६. सर्वजघन्यगतिपरिणतस्य परमाणोः स्वावगाढप्रदेशव्यतिक्रमकालः परमनिरुद्धो निर्विभागः समयः। (त. वा. ३–३८)। ७. कालः परमनिकृष्टः समयोऽभिधीयते। (आव. नि. हरि. वृ. ४ व ६६३; नन्दी. हरि. वृ. पृ. ७३; आव. नि. मलय. वृ. ६६६)। ८. अणोरण्वंतरव्यतिक्रमकालः समयः। चोद्दसरज्जुआगासपदेसकमणमेत्तकालेण जो चोद्दसरज्जुकमणक्खमो परमाणू तस्स एगपरमाणुक्कमणकालो समओ णाम। (धव. पु. ४, पृ. ३१८)। ९. परिणामं प्रपन्नस्य गत्या सर्वजघन्यया। परमाणोर्निजागाढस्वप्रदेशव्यतिक्रमः॥ कालेन यावतैव स्यादविभागः स भाषितः। समयः समयाभिज्ञैर्निरुद्धः परमास्थितः॥ (ह. पु. ७, १७–१८)। १०. अणुअंतरयरु समउ भणिज्जइ ××× (म. पु. पुष्प. २–५, पृ. २२)। ११. परमाणुप्रचलनायत्तः समयः। (पंचा. का. अमृत. वृ. २५)। १२. अणोरण्वन्तरव्यति

क्रम: काल: समय:। (मूला. वृ. १२-८५)। १३. मंदगतिपरिणतपुद्गलपरमाणुना निमित्तभूतेन व्यक्तीक्रियमाण: समय:। (पंचा. का. जय. वृ. २५)। १४. एकस्मिन्नभःप्रदेशे य: परमाणुस्तिष्ठति तमन्य: परमाणुर्मन्दचलनाल्लंघयति स समयो व्यवहारकाल:। (नि. सा. वृ. ३१)। १५. णहएयपएसत्थो परमाणू मंदगइपवट्टंतो। बीयमणतरखेत्तं जावदियं जादि तं समयकालं॥ (द्रव्यस्व. भाव. प्र. नयच. १३९)। १६. आकाशस्यैकप्रदेशस्थितपरमाणुर्मन्दगतिपरिणत: सन् द्वितीयमनन्तरक्षेत्रं यावद्याति स: समयाख्य: काल:। (कार्तिके. टी. २२०)।

१ अतिशय सूक्ष्म क्रिया से संयुक्त व सबसे जघन्य गति में परिणत परमाणु का जो अपने अवगाहन-क्षेत्र के लांघने का काल है उसका नाम समय है। ४ जिस आकाशप्रदेश में परमाणु स्थित है उसके लांघने में उसे जितना काल लगता है उतने मात्र काल को समय कहते हैं, वह विभाग से रहित है।

समय (जीव)—१. योऽयं नित्यमेव परिणामात्मनि स्वभावे अवतिष्ठमानत्वादुत्पाद-व्यय-ध्रौव्यैक्यानुभूतिलक्षणया सत्तयानुस्यूतश्चैतन्यस्वरूपत्वान्नित्योदितविशददृशि - ज्ञप्तिज्योतिरनन्तधर्माधिरूढैकधर्मित्वादुद्योतमानद्रव्यत्व: क्रमाक्रमप्रवृत्तविचित्रभावस्वभावत्वादुत्संगितगुण-पर्याय: स्व-पराकारावभासनसमर्थत्वादुपात्तवैश्वरूप्यैकरूप: प्रतिविशिष्टावगाहगति-स्थिति-वर्तनानिमित्तत्वरूपित्वाभावासाधारणचिद्रूपतास्वभावसद्भावाच्चाकाश-धर्माधर्म - कालपुद्गलेभ्यो भिन्नोऽत्यन्तमनन्तद्रव्यसंकरेऽपि स्वरूपादप्रच्यवनात् टंकोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थ:, स समय:। (समयप्रा. अमृत. वृ. २)। २. सम्यगयति गच्छति शुद्धगुण-पर्यायान् परिणमतीति समय:। अथवा सम्यगय: संशयादिरहितो बोधो ज्ञानं यस्य भवति स समय:। अथवा समित्येकत्वेन परमसमरसीभावेन स्वकीयशुद्धस्वरूपे अयनं गमनं परिणमनं समय:। (समयप्रा. जय. वृ. १६१)।

१. जो परिणमनशील होने से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की एकता के अनुभवन स्वरूप सत्ता से अन्वित है, नित्य प्रकाशमान दर्शन व ज्ञानरूप ज्योति से सहित है, अनन्त धर्मों से सहित होने के कारण द्रव्यस्वरूप को प्राप्त है, गुण-पर्यायों से संयुक्त है, स्व-परावभासी होने से विश्वरूपता को प्राप्त होकर भी एक रूपवाला है, गति-स्थिति आदि की निमित्तता से रहित व असाधारण चैतन्यस्वभाव से सहित होने के कारण अन्य धर्माधर्मादि द्रव्यों से भिन्न है, तथा कभी भी अपने स्वभाव से च्युत न होने के कारण टांकी से उकेरे गये के समान चैतन्य स्वभाव वाला है; ऐसे इन लक्षणों से युक्त जीवपदार्थ का नाम समय है।

समयक्षेत्र—अड्ढाइज्जा दीवा दो य समुद्दा एस णं एवइए समयक्खेत्ते त्ति पवुच्चति। (भगवती २, ९, ५२, पृ. ३०३ प्र. खं.)।

अढ़ाई द्वीप (जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और आधा पुष्कर द्वीप) और लवण व कालोद ये दो समुद्र, इतने मात्र क्षेत्र को समयक्षेत्र कहा जाता है।

समयद्योतक—समयद्योतको वादित्वादिना मार्गप्रभावक:। (सा. ध. स्वो. टी. २-५१)।

जो वादित्व आदि विशेषताओं के द्वारा मोक्षमार्ग की प्रभावना किया करता है उसे समयद्योतक कहा जाता है।

समयप्रबद्ध—१. ताहि अणंतहि णियमा समयपबद्धो हवे एक्को। (गो. जी. २४५)। २. ताभिर्वर्गणाभिरनन्ताभि: सिद्धानन्तभागा भव्यानन्तगुणप्रमिताभिर्नियमादेक: समयप्रबद्धो नाम योग्यपुद्गलस्कन्धो भवति। समयेन प्रबद्धते स्म कर्म-नोकर्मरूपतया आत्मना सम्बध्यते स्म य: पुद्गलस्कन्ध: स समयप्रबद्ध इति निरुक्तिसिद्ध:, आत्मना मिथ्यादर्शनादिसंक्लेशपरिणामै: प्रतिसमयं कर्म-नोकर्मरूपतया परिणममानस्तत्तद्योग्यपुद्गलस्कन्ध: समयप्रबद्ध इति स्याद्वादप्रसिद्धो बोद्धव्य:। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. २४५)।

२ सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण और अभव्यों से अनन्तगुणी वर्गणाओं से एक समयप्रबद्ध नामक पुद्गलस्कन्ध होता है। मिथ्यादर्शनादि संक्लेश-परिणामों के वश प्रत्येक समय में कर्म-नोकर्मरूप से परिणत होकर उतना पुद्गलस्कन्ध बंधता है, इसलिए उसे समयप्रबद्ध कहा जाता है।

समयप्रबद्धशेषक—जं समयपबद्धस्स वेदिदसेसग्गं पदेसग्गं दिस्सइ, तम्मि अपरिसेसिदम्हि एगसमएण उदयमागदम्हि तस्स समयपबद्धस्स अण्णो कम्मपदेसो वा णत्थि तं समयपबद्धसेसगं णाम। (कसायपा. चू. पृ. ८३३)।

क्रम: काल: समय:। (मूला. वृ. १२-८५)। १३. मंदगतिपरिणतपुद्गलपरमाणुना निमित्तभूतेन व्यक्तीक्रियमाण: समय:। (पंचा. का. जय. वृ. २५)। १४. एकस्मिन्नभःप्रदेशे य: परमाणुस्तिष्ठति तमन्य: परमाणुर्मन्दचलनाल्लंघयति स समयो व्यवहारकाल:। (नि. सा. वृ. ३१)। १५. णहएयपएसत्थो परमाणू मंदगइपवट्टंतो। बीयमणतरखेत्तं जावदियं जादि तं समयकालं॥ (द्रव्यस्व. भाव. प्र. नयच. १३६)। १६. आकाशस्यैकप्रदेशस्थितपरमाणुर्मन्दगतिपरिणत: सन् द्वितीयमनन्तरक्षेत्रं यावद्याति स: समयाख्य: काल:। (कार्तिके. टी. २२०)।

१ अतिशय सूक्ष्म क्रिया से संयुक्त व सबसे जघन्य गति में परिणत परमाणु का जो अपने अवगाहन-क्षेत्र के लांघने का काल है उसका नाम समय है। ४ जिस आकाशप्रदेश में परमाणु स्थित है उसके लांघने में उसे जितना काल लगता है उतने मात्र काल को समय कहते हैं, वह विभाग से रहित है।

समय (जीव)—१. योऽयं नित्यमेव परिणामात्मनि स्वभावे अवतिष्ठमानत्वादुत्पाद-व्यय-ध्रौव्यैक्यानुभूतिलक्षणया सत्तयानुस्यूतश्चैतन्यस्वरूपत्वान्नित्योदितविशददृशि - ज्ञप्तिज्योतिरनन्तधर्माधिरूढैकधर्मित्वादुद्योतमानद्रव्यत्वः क्रमाक्रमप्रवृत्तविचित्रभावस्वभावत्वादुत्संगितगुण-पर्याय: स्व-पराकारावभासनसमर्थत्वादुपात्तवैश्वरूप्यैकरूप: प्रतिविशिष्टावगाहगति-स्थिति-वर्तनानिमित्तत्वरूपित्वाभावासाधारणचिद्रूपतास्वभावसद्भावाच्चाकाश-धर्माधर्म - काल-पुद्गलेभ्यो भिन्नोऽत्यन्तमनन्तद्रव्यसंकरेऽपि स्वरूपादप्रच्यवनात् टंकोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थ:, स समय:। (समयप्रा. अमृत. वृ. २)। २. सम्यगयति गच्छति शुद्धगुण-पर्यायान् परिणमतीति समय:। अथवा सम्यगय: संशयादिरहितो बोधो ज्ञानं यस्य भवति स समय:। अथवा समित्येकत्वेन परमसमरसीभावेन स्वकीयशुद्धस्वरूपे अयनं गमनं परिणमनं समय:। (समयप्रा. जय. वृ. १६१)।

१. जो परिणमनशील होने से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को एकता के अनुभवन स्वरूप सत्ता से अन्वित है, नित्य प्रकाशमान दर्शन व ज्ञानरूप ज्योति से सहित है, अनन्त धर्मों से सहित होने के कारण द्रव्यस्वरूप को प्राप्त है, गुण-पर्यायों से संयुक्त है, स्व-परावभासी होने से विश्वरूपता को प्राप्त होकर भी एक रूपवाला है, गति-स्थिति आदि की निमित्तता से रहित व असाधारण चैतन्यस्वभाव से सहित होने के कारण अन्य धर्माधर्मादि द्रव्यों से भिन्न है, तथा कभी भी अपने स्वभाव से च्युत न होने के कारण टांकी से उकेरे गये के समान चैतन्य स्वभाव वाला है; ऐसे इन लक्षणों से युक्त जीवपदार्थ का नाम समय है।

समयक्षेत्र—अड्ढाइज्जा दीवा दो य समुद्दा एस णं एवइए समयक्खेत्ते त्ति पवुच्चति। (भगवती २, ९, ५२, पृ. ३०३ प्र. खं.)।

अढ़ाई द्वीप (जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और आधा पुष्कर द्वीप) और लवण व कालोद ये दो समुद्र, इतने मात्र क्षेत्र को समयक्षेत्र कहा जाता है।

समयद्योतक—समयद्योतको वादित्वादिना मार्गप्रभावक:। (सा. ध. स्वो. टी. २-५१)।

जो वादित्व आदि विशेषताओं के द्वारा मोक्षमार्ग की प्रभावना किया करता है उसे समयद्योतक कहा जाता है।

समयप्रबद्ध—१. ताहि अणंतहि णियमा समयपबद्धो हवे एक्को। (गो. जी. २४५)। २. ताभि वर्गणाभिरनन्ताभि: सिद्धानन्तभागा भव्यानन्तगुणप्रमिताभिर्नियमादेक: समयप्रबद्धो नाम योग्यपुद्गलस्कन्धो भवति। समयेन प्रबद्धते स्म कर्म-नोकर्मरूपतया आत्मना सम्बध्यते स्म य: पुद्गलस्कन्ध: स समयप्रबद्ध इति निरुक्तिसिद्ध:, आत्मना मिथ्यादर्शनादिसंक्लेशपरिणामै: प्रतिसमयं कर्म-नोकर्मरूपतया परिणममानस्तत्तद्योग्यपुद्गलस्कन्ध: समयप्रबद्ध इति स्याद्वादप्रसिद्धो बोद्धव्य:। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. २४५)।

२ सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण और अभव्यों से अनन्तगुणी वर्गणाओं से एक समयप्रबद्ध नामक पुद्गलस्कन्ध होता है। मिथ्यादर्शनादि संक्लेश-परिणामों के वश प्रत्येक समय में कर्म-नोकर्मरूप से परिणत होकर उतना पुद्गलस्कन्ध बंधता है, इसलिए उसे समयप्रबद्ध कहा जाता है।

समयप्रबद्धशेषक—जं समयपबद्धस्स वेदिदसेसग्गं पदेसग्गं दिस्सइ, तम्मि अपरिसेसिदम्हि एगसमएण उदयमागदम्हि तस्स समयपबद्धस्स अण्णो कम्मपदेसो वा णत्थि तं समयपबद्धसेसगं णाम। (कसायपा. चू. पृ. ८३३)।

समयप्रबद्ध अर्थात् एक समय में बंधे हुए कर्मप्रदेशों का वेदन करने से जो प्रदेशाग्र शेष रहें और जिनका अपरिशेषित या सामस्त्यरूप से एक समय में उदय आने पर फिर कोई कर्मप्रदेश शेष न रहे, ऐसे उन शेष कर्मप्रदेशाग्रों को समयप्रबद्धशेष कहते हैं।

समयमूढ—१. रत्तवड-चरग-तावस-परिहत्तादी य अण्णपासंडा। संसारतारगत्ति य जदि गेण्हइ समयमूढो सो॥ (मूला. ५-६२)। २. अज्ञानिजनचित्तचमत्कारोत्पादकं ज्योतिष्क-मंत्रवादादिकं दृष्ट्वा वीतरागसर्वज्ञप्रणीतसमयं विहाय कुदेवागम-लिङ्गिनां भयाशा-स्नेह-लोभैर्धर्मार्थं प्रणाम-विनय-पूजा-पुरस्कारादिकरणं समयमूढत्वम्। (बृ. द्रव्यस. टी. ४१)।

१ रक्तपट, चरक, तापस और परिव्राजक तथा अन्य भी पाखण्डी साधुओं को, ये संसार से पार करने वाले हैं, ऐसा मान करके जो ग्रहण करता है उसे समयमूढ कहते हैं।

समयविरुद्ध—समयविरुद्धं स्वसिद्धान्तविरुद्धम्। यथा साङ्ख्यस्यासत्कारणे कार्यं सद्वैशेषिकस्य इत्यादि। (आव. नि. मलय. वृ. ८८३, पृ. ४८३)।

अपने मत के विरुद्ध वचन को समयविरुद्ध कहा जाता है। जैसे—सत्कार्यवादी सांख्य का कारण में कार्य को असत् कहना तथा वैशेषिक का उसे कारण में सत् कहना; इत्यादि। यह ३२ सूत्रदोषों में २४वां है।

समयसत्य—१. प्रतिनियतषट्तयद्रव्य-पर्यायाणामागमगम्यानां याथात्म्याविष्करणं यद्वचस्तत्समयसत्यम्। (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७५; धव. पु. १, पृ. ११८)। २. द्रव्य-पर्यायभेदानां याथात्म्यप्रतिपादकम्। यत्तत्समयसत्यं स्यादागमार्थपरं वचः॥ (ह. पु. १०-१०७)। ३. सिद्धान्तः समयस्तेन प्रसिद्धान्तप्ररूपणम्। वचः समयसत्यं स्यात् प्रमाणनयसंश्रयम्॥ (आचा. सा. ५-३८)।

१ आगमगम्य प्रतिनियत छह द्रव्यों व उनकी पर्यायों की यथार्थता के प्रगट करने वाले वचन को समयसत्य कहते हैं।

समयिक—१. समयिकमिति सम्यक्शब्दार्थे समित्युपसर्गः, सम्यक् अयः समयः—सम्यग्दयापूर्वक जीवेषु प्रवर्तनम्, समयोऽस्यास्तीति अतोऽनेकस्वरादिति मत्वर्थीय इक्प्रत्ययः। (आव. नि. मलय. वृ. ८६४, पृ ४७४)। २. समयिको गृही यतिर्वा जिनसमयश्रितः। (सा. ध. स्वो. टी. २-५१)।

१ समीचीन दयापूर्वक जो जीवों में प्रवर्तन होता है उसका नाम समय है, इस प्रकार के समय से जो सहित हो उसे समयिक कहा जाता है। २ गृहस्थ हो, चाहे मुनि हो, जो जिनागम के आश्रित होता है उसे समयिक कहते हैं।

समयोग—लोगे पुण्णे एगा वग्गणा जोगस्सेत्ति। लोगमेत्तजीवपदेसाणं लोगे पुण्णे समजोगो होदि त्ति वुत्तं होदि। (धव. पु. १०, पृ. ४५१)।

लोकपूरणसमुद्घात में लोक के पूर्ण होने पर योग की एक वर्गणा होती है। अभिप्राय यह है कि लोक के पूर्ण होने पर लोक प्रमाण जीवप्रदेशों का समयोग होता है।

समवर्तित्व—देखो समवाय। १. द्रव्य-गुणानामेकास्तित्वनिर्वृत्तत्वादनादिरनिधना सहवृत्तिर्हि समवर्तित्वम्, स एव समवायो जैनानाम्। (पंचा. का. अमृत. वृ. ५०)। २. समवृत्तिः सहवृत्तिर्गुण-गुणिनोः कथंचिदेकत्वेनानादितादात्म्यसम्बन्ध इत्यर्थः। (पंचा. का. जय. वृ. ५०)।

१ द्रव्य और गुणों के एक अस्तित्व से रचित होने के कारण अनादि-अनन्त जो सहवृत्ति—साथ साथ रहना है, इसे समवर्तित्व नाम से कहा जाता है। वही जैनों के यहां समवाय सम्बन्ध है।

समवदानकर्म—समयाविरोधेन समवदीयते खण्ड्यत इति समवदानम्, समवदानमेव समवदानता। कम्मइयपोग्गलाणं मिच्छत्तासंजम-जोग-कसाएहि अट्ठकम्मसरूवेण सत्तकम्मसरूवेण छकम्मसरूवेण वा भेदो समुदाणद इति वुत्तं होदि। (धव. पु. १३, पृ. ४५)।

आगमाविरोध से जो खण्डित या विभाजित किया जाता है उसका नाम समवदान है। समवदान और समवदानता इन दोनों में कोई अर्थभेद नहीं है। मिथ्यात्व, असंयम, योग और कषायों के द्वारा आठ, सात अथवा छह कर्मों के स्वरूप से जो कर्मपुद्गलों का भेद होता है उसे समवदानता कहा जाता है।

समवाय—देखो समवर्तित्व। १. समवत्ती समवाओ अपुधब्भूदो य अजुदसिद्धो य। (पंचा. का. ५०)। २. समवाये (धव. 'सलक्षचतुःषष्ठिपदसहस्रे १६४०००' इत्यधिकः पाठः) सर्वपदार्थानां समवा-

परिचिन्त्यते। स चतुर्विधः द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावविकल्पैः। तत्र धर्माधर्मास्तिकाय-लोकाकाशैकजीवानां तुल्यासंख्येयप्रदेशत्वादेकेन प्रमाणेन द्रव्याणां समवायनाद् द्रव्यसमवायः। जम्बूद्वीप-सर्वार्थसिद्धच-प्रतिष्ठाननरक-नन्दीश्वरैकवापीनां तुल्ययोजनशतसहस्रविष्कम्भप्रमाणेन क्षेत्रसमवायनात्क्षेत्रसमवायः। (धव. 'सिद्धि-मनुष्यक्षेत्रर्तुविमान-सीमन्तनरकाणां तुल्ययोजनपंचचत्वारिंशच्छतसहस्रविष्कम्भप्रमाणेन क्षेत्रसमवायः' इत्यधिकः पाठः) उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योस्तुल्यदशसागरोपमकोटिकोटिप्रमाणात् कालसमवायनात् कालसमवायः। क्षायिकसम्यक्त्व-केवलज्ञान-केवलदर्शन-यथाख्यातचारित्राणां यो भावस्तदनुभवस्य तुल्यानन्तप्रमाणत्वाद् भावसमवायनाद्भावसमवायः। (त. वा. १, २०, १२; धव. पु. ६, पृ. १६६-२००)। ३. सम्यगवायनं वर्षधर-नद्यादिपर्वतानां यत्र स समवायः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. १-२०)। ४. समवायो णाम अंगं चउसट्ठिसहस्सब्भहियएगलक्खपदेहि १६४००० सव्वपयत्थाणं समवायं वण्णेदि। (धव. पु. १, पृ. १०१)। ५. समवायं इहेदं-प्रत्ययलक्षणम्। (आ. मी. वसु. वृ. ६५)। ६. समिति सम्यक्, अवेत्याधिक्येन, अयनमयः परिच्छेदो जीवाजीवादिविविधपदार्थसार्थस्य यस्मिन्नसौ समवायः, समवयन्ति वा समवतरन्ति संमिलन्ति नानाविधा आत्मादयो भावाः अभिधेयतया यस्मिन्नसौ समवाय इति। स च प्रवचनपुरुषस्याङ्गमिति समवायाङ्गम्। (समवा. वृ. पृ. १); समवायनं समवायः, सम्यक्परिच्छेद इत्यर्थः, तद्धेतुश्च ग्रन्थोऽपि समवायः। (समवा. वृ. १३६)। ७. चतुःषष्टिसहस्रैकलक्षपदपरिमाणं द्रव्यतो धर्माधर्म-लोकाकाशैकजीवानां क्षेत्रतो जम्बूद्वीपाप्रतिष्ठाननरक-नन्दीश्वरवापी-सर्वार्थसिद्धिविमानादीनां कालत उत्सर्पिण्यादीनां भावतः क्षायिकज्ञान-दर्शनादिभावानां साम्यप्रतिपादकं समवायनामधेयम्। (श्रुतभ. टी. ७, पृ. १७३)। ८. सम् एकीभावे, अवशब्दः अपृथक्त्वे, अय् गतौ इण् गतौ वा, ततश्च एकीभावेनापृथग्गमनं समवायः संश्लेषः। (आव. नि. मलय. वृ. ७३८, पृ. ३६४)। ९. सं संग्रहेण सादृश्यसामान्येन अवेयन्ते ज्ञायन्ते जीवादिपदार्था द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानाश्रित्य यस्मिन्निति समवायांगम्। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. ३५६)। १०. धर्माधर्म-लोकाकाशैकजीव-सप्तनरकमध्यबिल-जम्बूद्वीप-सर्वार्थसिद्धिविमान-नन्दीश्वरद्वीप वापिकातुल्यैकलक्षयोजनप्रमाणनिरूपकं भव-भावकथकं चतुःषष्टिपदसहस्राधिकलक्षपदप्रमाणं समवायाङ्गम्। (त. वृत्ति श्रुत. १-२०)। ११. समवायांगं अडकदिसहस्समिगिलक्खमाणुपयमेत्तं। संगहणयेण दव्वं खेत्तं कालं पडुच्च भवं॥ दीवादी अवियंति अत्था णज्जंति सरित्थसामण्णा। दव्वा धम्माधम्मा जीवपदेसा तिलोयसमा॥ सीमंतणरय माणुसखेत उडुइंदयं च सिद्धिसिलं। सिद्धट्ठाणं सरिसं खेत्तासयदो मुणेयव्वं॥ ओहिट्ठाणं जंबूदीवं सव्वटुसिद्धिसम्माणं। णंदीसरवावीओ वाणिदपुराणि सरिसाणि॥ समओ समएण समो आवलिएणं समा हु आवलिया। कालेण पढमपुढवीणारय-भोमाण वी (वा) णाणं॥ सरिसं जहण्णआऊ सत्तमखिदिणारयाण उक्कस्सं। सव्वट्ठाणं आऊ सरिसं उस्सप्पिणीपमुहं॥ भावे केवलणाणं केवलदंसणसमाणयं दिट्ठं। एवं जत्थ सरित्थं वेंति जिणा सव्वअत्थाणं। (अंगप. २६-३५, पृ. २६३-६४)।

१ समवृत्ति, समवाय, अपृथग्भूत और अयुतसिद्ध ये समानार्थक शब्द हैं। अभिप्राय यह है कि गुण व गुणी आदि जो परस्पर में अभिन्नरूप से रहते हैं, यही जैनदर्शन के अनुसार उनका समवाय है। २ समवाय नामक चौथे अंग में सब पदार्थों के समवाय का विचार किया जाता है। वह समवाय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार प्रकार का है। (इनके लिए पृथक् पृथक् 'द्रव्यसमवाय' आदि उन-उन शब्दों को देखना चाहिए)। ६ समवाय में 'सम्' का अर्थ सम्यक्, 'अव' का अर्थ अधिकता और 'अय' का अर्थ जानना है। जिससे जीव, अजीव आदि विविध प्रकार के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होता है वह समवाय अंग कहलाता है। अथवा जिस श्रुत में आत्मा आदि अनेक अभिधेय स्वरूप से समवतरित या सम्मिलित होते हैं उसे समवाय अंग जानना चाहिए। यह परमागमरूप पुरुष के अंग (अवयव) जैसा है।

समवायाङ्ग—देखो समवाय।

समाचार—१. समदा सामाचारो सम्माचारो समो व आचारो। सव्वेसिं सम्माणं सामाचारो दु आचारो॥ (मूला. ४-२, पृ. ११०)। २. समाचरणं

समाचारः शिष्टाचरितः क्रियाकलापः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ५८)। ३. समः समानः सं सम्यगाचारो यः समैर्युतैः। आचार्यत इति प्राज्ञैः स समाचार ईरितः॥ (आचा. सा. २-३)।

१ राग-द्वेष के अभावस्वरूप समता, सम्यक् (निर्दोष) आचरण, अहिंसा परिपालन आदि रूप सबका समान आचार अथवा समान—आत्मगौरव से परिपूर्ण—आचरण, ये सब समाचार के पर्याय शब्द हैं। २ शिष्ट जनों के द्वारा जिस क्रियाकलाप का आचरण किया जाता है उसे समाचार कहते हैं।

समादानक्रिया—१. संयतस्स सतोऽविरतिं प्रत्याभिमुख्यं समादानक्रिया। (स. सि ६-५)। २. संयतस्स सतः अविरतिं प्रत्याभिमुख[ख्यं]समादानक्रिया। (त. वा. ६, ५, ७)। ३. आभिमुख्यं प्रति प्रायः संयतस्याप्यसंयमे। समादानक्रिया प्रोक्ता प्रमादपरिवर्धिनी॥ (ह. पु. ५८-६४)। ४. संयतस्य सतः पुंसोऽसंयमं प्रति यद् भवेत्। आभिमुख्यं समादानक्रिया सा वृत्तघातिनी॥ (त. श्लो. ६, ५, ६)। ५. अपूर्वापूर्वविरतिप्रत्यामुख्यमुत्पद्यते यत् तपस्विनः सा समादानक्रिया। अन्ये व्याचक्षते—द्विविधा समादानक्रिया समादीयते येन विषयस्तत् समादानम्—इन्द्रियम्, तस्य (सर्वोपघातकारि) देशोपघातकारि वा समादानक्रिया। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-६)। ६. संयतस्य सतः अविरत्याभिमुख्यं प्रयत्नेनोपकरणादिग्रहणं वा समादानक्रिया। (त. वृत्ति श्रुत. ६-५)।

१ संयत होकर भी जो अविरति के अभिमुख होना है, इसे समादानक्रिया कहते हैं। ५ तपस्वी के जो अपूर्व अपूर्व विरति के प्रति अभिमुखता उत्पन्न होती है उसका नाम समादानक्रिया है।

समादेश—१. ××× णिग्गंथो त्ति य हवे समादेसो॥ (मूला. ६-७)। २. ××× निग्गंथाणं समाएसं॥ (पिंडनि. २३०)। ३ ये केचन निर्ग्रन्थाः साधव आगच्छन्ति तेभ्यः सर्वेभ्यो दास्यामीत्युद्दिश्य कृतमन्नं निर्ग्रन्था इति च भवेत् समादेशः। (मूला. वृ. ६-७)। ४. साधूंश्च (उद्दिश्य कृतमन्नं) समादेशः। (अन. ध. टी. ५-७)।

३ जो निर्ग्रन्थ साधु आवेंगे उन सबको मैं भोजन दूंगा, इस प्रकार निर्ग्रन्थों के उद्देश से जो भोजन तैयार कराया जाता है वह समादेश नामक औद्देशिक दोष से दूषित होता है।

समाधि—१. यथा भाण्डागारे दहने समुत्थिते तत्प्रशमनमनुष्ठीयते बहूपकारत्वात् तथाऽनेकव्रत-शीलसमृद्धस्य मुनेस्तपसः कुतश्चित् प्रत्यूहे समुपस्थिते तत्सन्धारणं समाधिः। (स. सि. ६-२४)। २. मुनिगणतपःसंधारणं समाधिः भाण्डागाराग्निप्रशमनवत्। यथा भाण्डागारे दहने समुत्थिते तत्प्रशमनमनुष्ठीयते बहूपकारकत्वात् तथानेकव्रत-शीलसमृद्धस्य मुनिगणस्य तपसः कुतश्चित् प्रत्यूहे समुत्थिते तत्संधारणं समाधिरिति समाख्यायते। (त. वा. ६, २४, ८)। ३. समाधिः गुर्वादीनां कार्यकरणेन स्वस्थतापादनम्। (आव. नि. हरि. वृ. १८०); समाधानं समाधिः चेतसः स्वास्थ्यं मोक्षमार्गेऽवस्थितिः। (आव. हरि. वृ. अ. ४, पृ. ६५३)। ४. दंसण-णाण-चरित्तेसु सम्ममवट्ठाणं समाही णाम। (धव. पु. ८, पृ. ८८)। ५. यत्सम्यक्परिणामेषु चित्तस्याधानमञ्जसा। स समाधिरिति ज्ञेयः स्मृतिर्वा परमेष्ठिनाम्॥ (म. पु. २१-२२६)। ६. वैराग्य-प्राप्यसिद्धिगुणानन्तगुणपरिणामादिनवकाचरणपरेण मुमुक्षुणा सिद्धिसुखैकनिष्ठमनस्कतालक्षणः समाधिः। (भ. आ. विजयो. ३२५)। ७. तस्य (चतुर्विधसंघस्य) समाधानं स्वस्थता निरुपद्रवत्वं समाधिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-२३)। ८. सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम्। एतदेव समाधिः स्याल्लोकद्वयफलप्रदः॥ (तत्त्वानु. १३७)। ९. समाधानं समाधिः स्वास्थ्यम्। (आव. नि. मलय. वृ. १०८६, पृ. ५९७)। १०. प्राप्तानां तु (सम्यग्दर्शनादीनां) पर्यन्तप्रापणं समाधिः, ध्यानं वा धर्म-शुक्लं च समाधिः। (रत्नक. टी. २-२)। ११. स्वरूपे चित्तनिरोधलक्षणः समाधिः। (समाधि. टी. २७)। १२. समाधिः समाधानं शुभोपयोगे वा मनस एकताकरणम्। (अन. ध. स्वो. टी. ७-९८)। १३. 'समाही' समाधानं मनस एकाग्रताकरणं शुभ उपयोगे शुद्धे वा। (भ. आ. मूला. ६७); सिद्धिसुखैकनिष्ठमनस्कतालक्षणः समाधिः। (भ. आ. मूला. ३२५)।

१ जिस प्रकार भाण्डागार (खजाना) में अग्नि के लग जाने पर बहुत उपकारक होने से उसे शान्त किया जाता है—बुझाया जाता है—उसी प्रकार अनेक व्रतों व शीलों से सम्पन्न मुनि के तपश्चरण में कहीं से विघ्न के उपस्थित होने पर उसे जो

धारण किया जाता है—शान्त किया जाता है, उसे समाधि कहते हैं। ३ गुरु आदिकों के कार्य के करने से जो चित्त को स्वस्थ—मोक्षमार्ग में स्थित किया जाता है—इसका नाम समाधि है।

समाधिमरण—समाधिमरणं रत्नत्रयैकाग्रतया प्राणत्यागः। (सा. ध. स्वो. टी. ७–५८)।

रत्नत्रय में एकाग्रचित्त होकर जो प्राणों का परित्याग किया जाता है उसे समाधिमरण कहते हैं।

समानजातीय द्रव्य-पर्याय—द्वे त्रीणि वा चत्वारीत्यादिपरमाणुपुद्गलद्रव्याणि मिलित्वा स्कन्धा भवन्तीत्यचेतनस्यापरेणाचेतनेन सम्बन्धात् समानजातीयो भण्यते। (पंचा. का. जय. वृ. १६)।

दो, तीन अथवा चार आदि परमाणु पुद्गल द्रव्य मिल करके स्कन्ध हो जाते हैं, इस प्रकार एक अचेतन से दूसरे अचेतन का सम्बन्ध होने पर उनकी इस अवस्था को समानजातीय द्रव्य-पर्याय कहा जाता है।

समानदत्ति—देखो समदत्ति। कुल-जाति-क्रिया-मन्त्रैः स्वसमाय सधर्मणे। भू-कन्या-हेम-रत्नाऽश्व-रथ-हस्त्यादि निर्वपेत्॥ (धर्मसं. श्रा. ९–२०२)।

कुल, जाति, क्रिया और मंत्र; इनसे जो अपने समान सधर्मा है उसके लिए पृथिवी, कन्या, सुवर्ण, रत्न, घोड़ा, रथ और हाथी आदि को जो दिया जाता है उसे समदत्ति या समानदत्ति कहते हैं।

समाप्तकल्प—समाप्तकल्पो नाम परिपूर्णसहायः। (व्यव. भा. मलय. वृ. ४–१६, पृ. ४)।

परिपूर्ण सहाय युक्त कल्प को समाप्तकल्प कहते हैं।

समारम्भ—१. ××× परिदावकदो हवे समारंभो। (भ. आ. ८१२)। २. साधनसमभ्यासीकरणं समारम्भः। (स. सि. ६–८)। ३. ××× परितापनया भवेत् समारम्भः। (त. भा. ६–९ उद्.)। ४. ××× परितावकारी भवे समारंभो। (व्यव. भा. पी. ४६, पृ. १८)। ५. समारभणं नाम तस्स संघट्टणादिडंडस्स पवत्तणं। (दशवै. चू. पृ. १४२)। ६. साधनसमभ्यासीकरणं समारम्भः। साध्यायाः क्रियायाः साधनानां समभ्यासीकरणं समाहारः समारम्भः इत्याख्यायते। (त. वा. ६, ८, ३)। ७. तत्साधनजनितपरितापकरः समारम्भः। (त. भा. हरि. वृ. ६–९)। ८. क्रियायाः साधनानां समभ्यासीकरणं समारंभः। (त. श्लो. ६–८)। ९. तत्साधनसन्निपातजनितपरितापनादिलक्षणः समारम्भः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–९)। १०. साध्यायाः हिंसादिक्रियायाः साधनानां समाहारः समारम्भः। (भ. आ. विजयो. ८११)। ११. साध्याया क्रियायाः साधनानां समाहारः समारम्भः। (चा. सा. पृ. ३९)। १२. ××× हिंसोपकरणार्जनम् समारम्भो ×××॥ (आचा. सा. ५–१३)। १३. समारम्भः जीवोपमर्दः ××× अथवा समारम्भः परितापनम्। (प्रश्नव्या. १३)। १४. यस्तु परस्य परितापकरो व्यापारः स समारम्भः। (व्यव. भा. पी. मलय. वृ. ४६, पृ. १८)। १५. साध्यायाः हिंसादिक्रियायाः साधनानामभ्यासीकरणं समारम्भः। (अन. ध. स्वो. टी. ४–२७)। १६. प्राणव्यपरोपणादीनाम् उपकरणाभ्यासीकरणं समारम्भः कथ्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ६–८)।

१ दूसरों को सन्ताप करने वाले व्यापार को समारम्भ कहा जाता है। २ हिंसादि क्रिया के साधनों का अभ्यास करना, इसका नाम समारम्भ है।

समास—द्वयोर्बहूनां पदानां मीलनं समासः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ७३)।

दो या बहुत से पदों के मिलाने का नाम समास है।

समिताचार—देखो सम्यगाचार।

समिति—१. प्राणिपीडापरिहारार्थं सम्यगयनं समितिः। (स. सि. ९–२)। २. सम्यगयनं समितिः। परप्राणिपीडापरिहारेच्छया सम्यगयनं समितिः। (त. वा. ९, २, २)। ३. सम्यक् श्रुतज्ञाननिरूपितक्रमेण गमनादिषु वृत्तिः समितिः। (भ. आ. विजयो. १६); प्राणिपीडापरिहारादरवतः सम्यगयनं प्रवृत्तिः समितिः। (भ. आ. विजयो. ११५)। ४. ××× समिदी य पमादवज्जणं चेव। (कार्तिके. ९७)। ५. निश्चयेनानन्तज्ञानादिस्वभावे निजात्मनि सम् सम्यक् समस्तरागादिविभावपरित्यागेन तल्लीनतच्चिन्तनतन्मयत्वेन अयनं गमनं परिणमनं समितिः। (बृ. द्रव्यसं. टी. ३५)। ६. समितिरिति पञ्चानां चेष्टानां तान्त्रिकी संज्ञा। अथवा सं. सम्यक् प्रशस्ता अर्हत्प्रवचनानुसारेण इतिः चेष्टा समितिः ××× सम्यक्प्रवृत्तिलक्षणा समितिः। (योगशा. स्वो. विव. १,

३४) । ७. अभेदानुपचाररत्नत्रयमार्गेण परमधर्मेण स्वात्मनि सम्यगिता परिणतिः समितिः । अथवा निजपरमतत्त्वनिरतसहजपरमबोधादिपरमधर्माणां संहृतिः समितिः । (नि. सा. वृ. ६१) । ८. सम्यक् श्रुतनिरूपितक्रमेण गमनादिष्वयनमिति प्रवृत्तिः समितिः । (भ. आ. मूला. १६) । ९. सम्यगयन तच्छुद्धि प्रतीतिः समितिर्मता । (धर्मसं. श्रा. ६-३) । १०. सम्यगयनं जन्तुपीडापरित्यागार्थं वर्तनं समितिः । (त. वृत्ति श्रुत. ६-२) । ११. प्रमादानां विकथाकषायादिविकाराणां वर्जनं त्यजनं समितिः कथ्यते । (कार्तिके. टी. ६७) ।

१ जन्तुओं को पीड़ा से बचाने के लिए जो भले प्रकार—सावधानी से—प्रवृत्ति की जाती है उसे समिति कहते हैं । ६ समिति यह पांच चेष्टाओं की—गमनादि रूप पांच प्रवृत्तियों की—संज्ञा है, अथवा जिनागम के अनुसार जो चेष्टा या प्रवृत्ति होती है उसका नाम समिति है ।

समीचीनदृष्टिवर्णजनन—मिथ्यात्वपटलविपाटनपटीयसी ज्ञाननैर्मल्यकारिणी अशुभगतिगमनप्रतिबन्धविधायिनी मिथ्यादर्शनविरोधिनीति निगदनं समीचीनदृष्टेर्वर्णजननम् । (भ. आ. विजयो. ४७) ।

समीचीन दृष्टि (सम्यग्दर्शन) मिथ्यात्व को नष्ट करने वाली, ज्ञान की निर्मलता की जनक, दुर्गति गमन की रोधक और मिथ्यादर्शन की विरोधक है; इस प्रकार के कथन को समीचीन दृष्टि का वर्णजनन कहा जाता है ।

समुच्छिन्नक्रियानिवर्ती—१. समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारसर्वकाय-वाङ्-मनोयोगसर्वप्रदेशपरिस्पन्दक्रियाव्यापारत्वात् समुच्छिन्नक्रियानिवर्तीत्युच्यते । (स. सि. ९-४४; त. वा. ९-४४) । २. तस्सेव य सेलेसीगयस्स सेलो व्व णिप्पकंपस्स । वोच्छिन्नकिरियमप्पडिवाइज्झाणं परमसुक्कं ॥ (ध्यानश. ८२) । ३. समुच्छिण्णकिरिया णाम जस्स मूलाओ चेव किरिया समुच्छिण्णा, अजोगि त्ति वुत्तं भवइ, अहवा इमा समुच्छिण्णकिरिया जस्स मूलाओ चेव छिण्णा किरिया, अबंधउत्ति वुत्तं भवति । अपडिवाइ णाम जो जोगनिरोधेण अप्पडिएणं चेव केवली कंमाइं डहडहस्स छिंदिऊण परमणाबाधत्तं गच्छइ, एवं समुच्छिण्णकिरियमपडिवाति त्ति भण्णइ । (दशवै. चू. पृ. ३६) । ४. क्रिया नाम योगः, समुच्छिन्ना क्रिया यस्मिन् तत् समुच्छिन्नक्रियम्, न निवर्तत इत्येवंशीलमनिवर्ति, समुच्छिन्नक्रियं च तदनिवर्ति च समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति । समुच्छिन्नसर्ववाङ्मनस्काययोगव्यापारत्वादप्रतिपातित्वाच्च समुच्छिन्नक्रियस्यायमन्त्य शुक्लध्यानमलेश्यावलाधान कायत्रयबन्धनिर्मोचनैकफलमनुसन्धाय स भगवान् ध्यायतीत्युक्त भवति । (जयध. अ. प. १२४६; धव. पु. १०, पृ. ३२६, टि. नं. २) । ५. स्वप्रदेशपरिस्पन्दयोगप्राणादिकर्मणाम् । समुच्छिन्नतयोक्तं तत्समुच्छिन्नक्रियाख्यया ॥ (ह. पु. ५६-७७) । ६. ततो निरुद्धयोगः सन्नयोगी स विगतास्रवः । समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमनिवर्ति तदा भवेत् ॥ (म. पु. २१, १९६) । ७. ततः स्वयं समुच्छिन्नप्रदेशस्पन्दनं स्थिरः । ध्वस्तनिःशेषयोगेभ्यो ध्यानं ध्यातांतसंवरः (?) ॥ (त. श्लो. ९, ४४, १३) । ८. तत्पुनरत्यन्तपरमशुक्लं समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारसर्वकाय-वाङ्-मनोयोगप्रदेशपरिस्पन्दक्रियाव्यापारतया समुच्छिन्नक्रियानिवर्तीत्युच्यते । (चा. सा. पृ. ६३) । ९. यत्केवल्ययोगी ध्यायति ध्यानं तत्समुच्छिन्नमवितर्कमवीचारमनिवृत्ति निरुद्धयोगमपश्चिमं शुक्लमविचलं मणिशिखावत् । (मूला. वृ. ५-२०८) । १०. योगोऽस्मिन् प्रहतो बभूव हि समुच्छिन्नक्रियं सुस्थिरं ध्यानं ह्यप्रतिपाति तेन तदभूदन्वर्थनामास्पदम् । लेश्यातीतमयोगकेवलिजिने शुक्लं चतुर्थं वरं निर्मूलप्रविलीनसंसृति-पदं स्वात्मोपलब्धिप्रदम् ॥ (आचा. सा. १०-५३) । ११. समुच्छिन्ना क्रिया यत्र सूक्ष्मयोगात्मिका यतः । समुच्छिन्नक्रियं प्रोक्तं तद् द्वारं मुक्तिसद्मनः ॥ (भावसं. वाम. ७५५) । १२. समुच्छिन्नः प्राणापानप्रचारः सर्वकाय-वाङ्-मनोयोगसर्वप्रदेशपरिस्पन्दनक्रियाव्यापारश्च यस्मिन् तत् समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति ध्यानमुच्यते । (त. वृत्ति श्रुत. ९-४४) ।

१ जिस ध्यान के समय प्राण-अपान के संचार (श्वास-उच्छ्वास क्रिया) के साथ समस्त शरीर, वचन और मन योगों के आश्रय से होने वाले आत्मप्रदेशपरिस्पन्दन रूप क्रिया का व्यापार नष्ट हो जाता है उसे समुच्छिन्नक्रियानिवर्ती शुक्लध्यान कहते हैं । २ जो शैलेशी अवस्था को प्राप्त केवली आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दन से रहित हो जाने के कारण शैल (पर्वत) के समान स्थिर हो जाते हैं

उनके व्यवच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती नामक चौथा परम शुक्लध्यान होता है।

समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति—देखो समुच्छिन्नक्रियानिवर्ती।

समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती—देखो समुच्छिन्नक्रियानिवर्ती।

समुच्छेद—एकजात्यविरोधिनि क्रमभुवां भावानां संताने पूर्वभावविनाशः समुच्छेदः। (पंचा. का. अमृत. वृ. १०)।

एक जाति की अविरोधी क्रम से होने वाली अवस्थाओं के समुदाय में पूर्व अवस्था का जो विनाश होता है उसे समुच्छेद कहते हैं। इसे दूसरे शब्द से व्यय कहा जाता है।

समुत्पत्तिककषाय—१. समुप्पत्तिकसाओ णाम कोहो सिया जीवो, सिया णोजीवो, एवमट्ठभंगा। × × × जं पडुच्च कोहो समुप्पज्जदि जीवं वा णोजीवं वा जीवे वा णोजीवे वा मिस्सए वा सो समुप्पत्तियकसाएण कोहो। (कसायपा. चू. पृ. २३)। २. (जीवादो) भिण्णो होदूण जो [कसाए] समुप्पादेदि सो समुप्पत्तिओ कसाओ। (जयध. पु. १, पृ. २८९)।

१ एक जीव, एक नोजीव (अजीव), बहुत जीव, बहुत नोजीव इत्यादि आठ के आश्रय से जो क्रोध उत्पन्न होता है उसे समुत्पत्तिककषाय कहते हैं।

समुत्पाद—(एक जात्यविरोधिनि क्रमभुवां भावानां सन्ताने) उत्तरभावप्रादुर्भावः समुत्पादः। (पंचा. का. अमृत. वृ. १०)।

एक जाति की अविरोधी क्रम से होने वाली अवस्थाओं के समुदाय में अगली अवस्था का जो प्रादुर्भाव होता है उसे समुत्पाद कहते हैं। उत्पाद इसे ही कहा जाता है।

समुद्घात—१. हन्तेर्गमिक्रियात्वात् सम्भूयात्मप्रदेशानां च बहिरुद्हननं समुद्घातः। (त. वा. १, २०, १२)। २. मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स। णिग्गमणं देहादो होदि समुग्घादणामं तु॥ (गो. जी. ६६८)। ३. समुद्घननं समुद्घातः शरीराद् वहिर्जीवप्रदेशप्रक्षेपः। (स्थानां. अभय. वृ. ३८०)। ४. समुद्घात इति सम्यगपुनर्भावेन, उत्प्राबल्येन, हननं घातः शरीराद् बहिर्जीवप्रदेशानां निःसरणम्। (योगशा. स्वो. विव. ११-५०)। ५. समित्येकीभावे, उत्प्राबल्ये, एकीभावेन प्राबल्येन घातः समुद्घातः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३३०)।

१ सम्भूत होकर आत्मप्रदेशों के शरीर से बाहिर जाने का नाम समुद्घात है। ३ शरीर से बाहिर आत्मप्रदेशों के प्रक्षेप को समुद्घात कहते हैं।

समुद्देश—१. × × × पासंडो त्ति य हवे समुद्देसो। (मूला. ६-७)। २. × × × पासंडीणं भवे समुद्देसं। (पिंडनि. २३०)। ३. समुद्देशो व्याख्या, अर्थप्रदानमिति भावः। (व्यव. भा. मलय. वृ. पी. १-११५, पृ. ४०)। ४. ये केचन पाखण्डिन आगच्छन्ति भोजनाय तेभ्यः सर्वेभ्यो दास्यामीत्युद्दिश्य कृतमन्नं स पाखण्डिन इति च भवेत्समुद्देश.। (मूला. वृ. ६-७)। ५. पाषण्डानुद्दिश्य साधितं समुद्देशः। (अन. ध. स्वो. टी. २-७)।

१ पाखण्डियों के उद्देश से जो भोजन तैयार कराया जाता है वह समुद्देश नामक औद्देशिक दोष से दूषित होता है। ३ सूत्र की व्याख्या करना अथवा अर्थ को प्रदान करना, इसका नाम समुद्देश है।

समुद्देशानुज्ञाचार्य—उद्दिष्टगुर्वभावे तदेव श्रुतं समुद्दिशत्यनुजानीते वा यः स समुद्देशानुज्ञाचार्यः। (योगशा. स्वो. विव. ४-९०)।

उपदेष्टा गुरु के अभाव में उसी श्रुत का जो उपदेश करता है अथवा अनुज्ञा देता है उसे समुद्देशानुज्ञाचार्य कहते हैं।

सम्पराय—१. समन्तात्पराभव आत्मनः सम्परायः। कर्मभिः समन्तादात्मनः पराभवोऽभिभवः सम्पराय इत्युच्यते। (त. वा. ६, ४, ४)। २. सम्परैत्यस्मिन्नात्मेति सम्परायः चातुर्गतिकः संसारः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-५)। ३. सम्पर्यन्ते स्वकर्मभिर्भ्राम्यन्ते प्राणिनो यस्मिन् स संपरायः संसारः। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ६, ४६, पृ. १५४)। ४. संपर्येति संसारमनेनेति सम्परायः कषायोदयः। (आव. नि. मलय. वृ. ११४, पृ. १२२)।

१ सब ओर से कर्मों के द्वारा जो आत्मा का पराभव होता है उसे सम्पराय कहते हैं। २ जिसमें जीव परिभ्रमण करता है उसका नाम सम्पराय है। यह चतुर्गतिस्वरूप संसार का समानार्थक है।

सम्पुटकमल्लक— × × × जस्स मज्झम्मि। कूवस्सुवरिं रुक्खो, अह संपुडमल्लओ नाम॥ (बृहत्क. ११०५)।

जिस ग्राम के मध्य में कुआं और कुएं के ऊपर वृक्ष होता है उसका नाम सम्पुटमल्लक है।

सम्पूर्णकुट—यः पुनः सर्वावयवसम्पूर्णः स सम्पूर्णकुटः। (आव. नि. मलय. वृ. १३६)।

जो घट समस्त अवयवों से परिपूर्ण होता है उसे सम्पूर्णकुट कहा जाता है।

सम्पूर्णकुटसमानशिष्य—यस्तु आचार्योक्तं सकलमपि सूत्रार्थं यथावदवधारयति पश्चादपि च तथैव सम्पूर्णं स्मरति स सम्पूर्णकुटसमानः। (आव. नि. मलय. वृ. १३६)।

जो शिष्य आचार्य के द्वारा वर्णित समस्त सूत्रार्थ को उसी रूप में ग्रहण करता है तथा पीछे भी उसी रूप में सबका स्मरण रखता है वह सम्पूर्णकुट समान शिष्य माना जाता है।

सम्प्रत्यय—अतद्गुणे वस्तुनि तद्गुणत्वेनाभिनिवेशः सम्प्रत्ययः। (नीतिवा. ६–१२, पृ. ७१)।

जिस वस्तु में जो गुण नहीं है उसमें उस गुण के होने के अभिप्राय को सम्प्रत्यय कहते हैं।

सम्बन्ध—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकृता हि प्रत्यासत्तिः एकत्वपरिणतिस्वभावा पारतन्त्र्यापरनामा सम्बन्धोऽर्थानाभिप्रेतो जैनैः। (न्यायकु. ७, पृ. ३०६–७)।

पदार्थों में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से जो स्वभावतः एकत्व परिणति होती है, जिसे दूसरे शब्द से परतन्त्रता कहा जा सकता है, इसी का नाम सम्बन्ध है।

सम्भव—सम्भवन्ति प्रकर्षेण भवन्ति चतुस्त्रिंशदतिशयगुणा अस्मिन्निति सम्भवः, शं सुखं भवत्यस्मिन् स्तुते इति शम्भवो वा, तत्र "श-षोः सः" [८।१।२६०] इति सत्वे सम्भवः, तथा गर्भगतेऽप्यस्मिन् अभ्यधिकसस्यसम्भवात्सम्भवः। (योगशा. स्वो. विव. ३–१२४)।

चौंतीस अतिशयों के सम्भव—प्रकर्षप्राप्त—होने से तीसरे तीर्थंकर का नाम सम्भव प्रसिद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त 'शं' का अर्थ सुख होता है, वह उनकी स्तुति करने पर चूंकि स्तोता को प्राप्त होता है, इससे उन्हें सम्भव (व्याकरण के नियमानुसार यहां श के स्थान में स हो गया है) कहा गया है तथा उनके गर्भ में स्थित होने पर धान्य अधिक उत्पन्न हुआ था, इससे भी वे सम्भव कहलाए।

सम्भवयोग—इंदो मेरुं चालइदुं समत्थो त्ति एसो संभवजोगो णाम। (धव. पु. १, पृ. ४३४)।

इन्द्र मेरु पर्वत को चलायमान करने में समर्थ है, इस प्रकार के योग को सम्भवयोग कहा जाता है।

सम्भावनासत्य—देखो संभावनासत्य। १. संभावणा य सच्चं जदि णामेच्छेज्ज एव कुज्जंति। जदि सक्को इच्छेज्जो जंबूदीवं हि पल्लत्थे॥ (मूला. ५–११५)। २. वस्तुनि तथाऽप्रवृत्तेऽपि तथाभूतकार्ययोग्यतादर्शनात् सम्भावनया वृत्तं सम्भावनासत्यम्। (भ. आ. विजयो. ११९३)। ३ संभावनेति सोक्ता वाग्वस्तुसद्भावभावना। शक्रः शक्नोति तर्जन्योद्धर्तुं मेरुमपीति वा॥ (आचा. सा. ५-३९)। ४. ××× दारयेदपि गिरिं शीर्षेण संभावने। (अन. ध. ४–४७)। ५. सम्भावनासत्यं यथा वस्तुनि तथाप्रवृत्तेऽपि तथाभूतकार्ययोग्यतादर्शनात् प्रवृत्तम्, यथा अपि दोर्भ्यां समुद्रं तरेद् देवदत्तः। (भ. आ. मूला. ११९३)।

१ यदि इच्छा करे तो वैसा कर सकता है, इस प्रकार की सम्भावना होने पर जो तदनुरूप वचन बोला जाता है उसे सम्भावनासत्य कहा जाता है। जैसे इन्द्र जम्बूद्वीप को पलट सकता है।

सम्भिन्नबुद्धि—१. सम्यक् श्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमेन भिन्नाः अनुविद्धाः संभिन्नाः, संभिन्नाश्च ते श्रोतारश्च ते संभिन्नश्रोतारः। अणेगाणं सद्दाणं अक्खराणक्खरसरूवाणं कधंचियाणमक्कमेण पयत्ताणं सोदारा संभिण्णसोदारा त्ति णिद्दिट्ठा। ××× एरिसियाओ चत्तारि अक्खोहिणीओ सग-सगभासाहि अक्खराणक्खरसरूवाहि अक्कमेण जदि भणंति तो वि संभिण्णसोदारो अक्कमेण सव्वभासाओ घेत्तूण पदुप्पादेदि। (धव. पु. ९ पृ ६१–६२)। २. चक्रवर्तिस्कन्धावारमध्ये यद्वृत्तमार्या-श्लोक-मात्रा-द्विपद-दंडकादिकमनेकभेदभिन्नं सर्वैः पठितं गेयविशेषादिकं च स्वरादिकं च यच्छ्रुतं यस्मिन् यस्मिन् येन येन पठितं तत्सर्वं तस्मिन् तस्मिन् काले तस्य तस्यानिर्दिष्टं ये कथयन्ति ते सम्भिन्नबुद्धयः। (मूला. वृ. ९–९६)।

१ श्रोत्रेन्द्रियावरण के क्षयोपशम से विशिष्ट जो श्रोता एक साथ उच्चारित अक्षर-अनक्षर स्वरूप अनेक शब्दों को पृथक् पृथक् सुन लिया करते हैं वे सम्भिन्नश्रोता कहलाते हैं। ऐसे सम्भिन्नश्रोता

यदि चार अक्षौहिणी अपनी अपनी अक्षर-अनक्षर रूप भाषाओं के द्वारा एक साथ बोलें तो उनको एक साथ ग्रहण करके सबको कह सकते हैं।

सम्भूतार्थप्रतिषेधवचन—पढमं असंतवयणं संभूदत्थस्स होदि पडिसेहो। णत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति जधेवमादीयं ॥ (भ. आ. ८२४)।

जिस वचन में विद्यमान पदार्थ का निषेध किया जाता है उसे सम्भूतार्थनिषेधवचन कहा जाता । जैसे—'मनुष्य का अकाल में मरण नहीं होता' यह वचन। कारण यह कि कर्मभूमिज मनुष्यों का अकालमरण सम्भव है। यह चार प्रकार के असत्य वचन में प्रथम है।

सम्भोग—साधूनां समानसामाचारीकतया परस्परमुपध्यादिदान-ग्रहणसंव्यवहारलक्षणः। (स्थानां. अभय. वृ. १७३)।

समान सामाचारी सहित होने से साधुओं में जो परस्पर उपधि आदि के देने लेने का व्यवहार होता है उसे सम्भोग कहते हैं।

सम्मतिसत्य—१. गजेन्द्रो नरेन्द्र इत्यादिकाः शब्दाः शुभलक्षणयोगात् केषांचित् स्वतोलक्षणत्वादीश्वरत्वेनाभ्युपगममाश्रित्य क्वचिद् गजे मानवे वा प्रयुज्यमानाः सम्मतिसत्य शब्देनोच्यन्ते। (भ. आ. विजयो. ११९३)। २. लोकाविप्रतिपत्तौ सत्यं सम्मतिसत्यमम्बुजमिति। यथा पङ्काद्यनेककारणत्वेऽपि पद्मस्याम्बुनि जातमम्बुजमिति व्यपदेशः। (अन. ध. स्वो. टी. ४–४७)। ३. संवृत्या कल्पनया सम्मत्या वा बहुजनाभ्युपगमेन सर्वदेशसाधारणं यन्नाम रूढं तत्संवृतिसत्यं सम्मतिसत्यं वा। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. २२३)।

१ गजेन्द्र अथवा नरेन्द्र इत्यादि शब्दों का जो किसी हाथी या मनुष्य के विषय में प्रयोग किया जाता है, इसे सम्मतिसत्य कहा जाता है। यद्यपि उनमें इन्द्रत्व व नरेन्द्रत्व सम्भव नहीं है, पर उत्तम लक्षणों से संयुक्त होने के कारण उसमें जन साधारण की सम्मति रहती है।

सम्मूर्च्छन—देखो संमूर्छन। १. त्रिषु लोकेषूर्ध्वमधस्तिर्यक् च देहस्य समन्ततो मूर्च्छनं सम्मूर्च्छनमवयवप्रकल्पनम्। (स. सि. २–३१)। २. समन्ततो मूर्च्छनं सम्मूर्च्छनम्। त्रिषु लोकेषूर्ध्वमधस्तिर्यक् च देहस्य समन्ततो मूर्च्छनमवयवप्रकल्पनम्। (त. वा. २, ३१, १)। ३. समन्ततो मूर्च्छनं शरीराकारतया सर्वतः पुद्गलानां सम्मूर्च्छनम्। (त. श्लो. २–३१)। ४. सं समन्तात् सर्वदिग्गतस्य शरीरयोग्यपुद्गलपिण्डस्य मूर्छनं गर्भोपपादविलक्षणं शरीराकारेण परिणमनं सम्मूर्च्छनम्। (गो. जी. म. प्र. ८३)। ५. सं समन्तात् मूर्च्छनं जायमानजीवानुग्राहकाणां शरीराकारपरिणमनयोग्यपुद्गलस्कन्धानां समुच्छ्रयणं सम्मूर्च्छनम्। (गो. जी. जी. प्र. ८३)। ६. त्रैलोक्यमध्ये ऊर्ध्व-अधस्तिर्यक् च शरीरस्य समन्तान्मूर्च्छनमवयवप्रकल्पनं सम्मूर्च्छनमुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. २–३१)।

१ तीनों लोकों में ऊपर, नीचे और तिरछे में जो सब ओर से शरीर के अवयवों की रचना होती है उसे सम्मूर्च्छन जन्म कहते हैं।

सम्मूर्च्छनाकुशील — वृक्षगुल्मादीनां पुष्पाणां फलानां च सम्भवमुपदर्शयति, गर्भस्थापनादिकं च करोति यः स संमूर्च्छनाकुशीलः। (भ. आ. विजयो. १९५०)।

जो वृक्ष के गुच्छों, पुष्पों और फलों के सम्भव को दिखलाता है तथा गर्भस्थापन आदि को करता है उसे सम्मूर्च्छनाकुशील कहते हैं।

सम्मूर्च्छिम—समंतात्पुद्गलानां मूर्छनं संघातीभवनं सम्मूर्च्छः, तत्रभवाः सम्मूर्च्छिमाः। (त. वृत्ति श्रुत. २–१४)।

जो जीव सब ओर से पुद्गलों को ग्रहण कर उत्पन्न होते हैं उन्हें सम्मूर्छिम (सम्मूर्छन) जीव कहते हैं।

सम्मोह—१. सम्मोहः अत्यन्तमूढता। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ६९)। २. सम्मोहः किंकर्तव्यत्वमूढता। (अनुयो. मल. हेम. वृ गा. ७०)।

१ अतिशय मूढता का नाम सम्मोह है। प्रकृत में यह रौद्ररस के लिङ्गरूप में व्यवहृत हुआ है।

सम्मोहभावना - उम्मग्गदेसणो मग्गदूसणो मग्गविप्पडिवणी य। मोहेण य मोहितो संमोहं भावणं कुणइ॥ (भ. आ. १८४)।

जो कुमार्ग स्वरूप मिथ्यादर्शन आदि का उपदेश करने वाला, सम्यग्दर्शनादिरूप सन्मार्ग को दूषित करने वाला और सन्मार्ग के विषय में विप्रतिपन्न—मोक्ष के मार्गभूत रत्नत्रय को मोक्ष का मार्ग न मानकर उसके विरुद्ध आचरण करने वाला है—वह सम्मोहभावना को करता है।

सम्यक्—समञ्चति गच्छति व्याप्नोति सर्वान् द्रव्यभावानिति सम्यक् । (त. भा. सिद्ध. वृ. १–१, पृ. ३०) ।

जो समस्त द्रव्य-भावों को व्याप्त करता है उसे सम्यक् कहा जाता है ।

सम्यक्चारित्र—१. चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं ।। (पंचा. का. १०७) । २. रागादीपरिहरणं चरणं × × × ।। (समयप्रा. १६५) । ३. चारित्तं परिहारो पयं णियं जिणवरिंदेहिं । (मोक्षप्रा. ३८) । ४. हिंसानृत-चौर्येभ्यो मैथुनसेवा-परिग्रहाभ्यां च । पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ।। (रत्नक. ३–३) । ५. संसारकारणनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम् । (स. सि. १–१) । ६. संसारकारणविनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतो बाह्याभ्यन्तरक्रियाविशेषोपरमः सम्यक्चारित्रम् । (त. वा. १, १, ३) । ७. यथा कर्मास्रवो न स्याच्चारित्रं संयमस्तथा ।। (म. पु. ४७–३०६) । ८. भवहेतुप्रहाणाय बहिरभ्यन्तरक्रिया- । विनिवृत्तिः परं सम्यक्चारित्रं ज्ञानिनो मतम् ।। (त. श्लो. १, १, ३) । ९. सम्यक्चारित्रं तु ज्ञानपूर्वकं चारित्रावृतिकर्मक्षय-क्षयोपशमसमुत्थं सामायिकादिभेदं सदसत्क्रियाप्रवृत्ति-निवृत्तिलक्षणं मूलोत्तरगुणशाखा-प्रशाखम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. १–१) । १०. तदुक्तव्रतस्य यथावदनुष्ठानं सम्यक्चारित्रम् । (न्यायकु. ७६, पृ. ८६५) । ११. बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणपणासट्ठं । णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं ।। (द्रव्यसं. ४६) । १२. अधर्मकर्मनिर्मुक्तिर्धर्मकर्मविनिर्मितिः । चारित्रं तच्च सागारानगारयतिसंश्रयम् ।।(उपासका. २६२); औदासीन्यं परं प्राहुर्वृत्तं सर्वक्रियोज्झितम् ।। (उपासका. २६७) । १३. दृष्ट-श्रुतानुभूतभोगाकांक्षप्रभृतिसमस्तापध्यानरूपमनोरथजनितसंकल्प-विकल्पजालत्यागेन तत्रैव सुखे रतस्य सन्तुष्टस्य तृप्तस्यैकाकारपरमसमरसीभावे द्रवीभूतचित्तस्य पुनः पुनः स्थिरीकरणं सम्यक्चारित्रम् । (बृ. द्रव्यसं. टी. ४०); परमोपेक्षालक्षणं निर्विकारस्वसंवित्त्यात्मकशुद्धोपयोगाविनाभूतं परमं सम्यक्चारित्रम् । (बृ. द्रव्यसं. टी. ४६) । १४. सर्वसावद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमिष्यते । (योगशा. १–१८; त्रि. श. पु. च. १, ३, ६२०); सर्वे, न तु कतिपये ये सावद्ययोगाः सपापव्यापारास्तेषां त्यागो ज्ञान-श्रद्धानपूर्वकं परिहारः स सम्यक्चारित्रम् । (योगशा. स्वो. विव. १–१८); अथवा पञ्चसमिति-गुप्तित्रयपवित्रितम् । चरित्रं सम्यक्चारित्रमित्याहुर्मुनिपुङ्गवाः ।। (योगशा. १–३४) । १५. संसारहेतुभूतक्रियानिवृत्त्युद्यतस्य तत्त्वज्ञानवतः पुरुषस्य कर्मादानकारणक्रियोपरमणमज्ञानपूर्वकाचरणरहितं सम्यक्चारित्रम् । (त. वृत्ति श्रुत. १–१) ।

१ मोक्षमार्ग पर आरूढ़ महापुरुषों के इन्द्रियविषयों में जो समभाव—राग-द्वेष का अभाव—होता है उसका नाम चारित्र है । ४ हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पापक्रियाओं से जो सम्यग्ज्ञानी को निवृत्ति होती है उसे चारित्र कहते हैं । ९ चारित्रावरण कर्म के क्षय या क्षयोपशम से जो ज्ञानपूर्वक समीचीन क्रियाओं में प्रवृत्ति और असमीचीन क्रियाओं से निवृत्ति होती है उसे सम्यक्चारित्र कहा जाता है । वह सामायिक आदि पांच भेदों स्वरूप है, मूलगुण और उत्तरगुण उसकी शाखा-प्रशाखाओं के समान है ।

सम्यक्त्व—१. सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं × × × । (पंचा. का. १०७); धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं × × × । (पंचा. का. १६०) । २. भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण-पावं च । आसव-संवरणिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ।। (समयप्रा. १५; मूला. ५–६); जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं × × × । (समयप्रा. १६५)। ३. अत्तागम-तच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं । (नि. सा. ५); विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं । (नि. सा. ५१); चल-मलिणमगाढत्तविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं । (नि. सा. ५२) । ४. जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं । ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ।। (दर्शनप्रा. २०) । ५. तच्चरुई सम्मत्तं × × × । (मोक्षप्रा. ३८); हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे । णिग्गंथे पावयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ।। (मोक्षप्रा. ९०) । ६. जं खलु जिणोवदिट्ठं तमेव तत्थित्ति भावदो गहणं । सम्मद्दंसणभावो × × × ।। (मूला. ५–६८) । ७. जीवाऽजीवा य बंधो य, पुन्न-पावाऽऽसवो तहा । संवरो णिज्जरा मोक्खो, संतेए तहिया नव ।। तहि-

याणं तु भावाणं सब्भावे उवएसणं । भावेण सद्दहं-तस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं ॥ (उत्तरा. २८, १४ व १५) । ८. सोच्चा व अभिसमेच्च व तत्तरुई चेव होइ सम्मत्तं । (बृहत्क. १३४) । ९. प्रशम-संवेगा-नुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यक्त्वम् । (धव. पु. १, पृ. १५१; धव. पु. ७, पृ. ७); तत्त्वार्थ-श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । अथवा तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वम् । (धव. पु. ७, पृ. ७); छद्दव्व-णवपयत्थविसयसद्दहणं सम्मद्दंसणं ××× । (धव. पु. १५, पृ. १२) । १०. छप्पंचव-णवविहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं । आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ (प्रा. पंचसं. १-१५६; धव. पु. १, पृ. ३९५ उद्; गो. जी. ५६१) । ११. तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. २-३; गो. जी. जी. प्र. ५६१); सम्यक्त्वं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. ७-६ व ८-१०) । १२. (तत्त्वार्थानां) श्रद्धानं दर्शनं ××× । (त. सा. १-४); सम्यक्त्वं खलु तत्त्वार्थश्रद्धानं तत् त्रिधा भवेत् । (त. सा. २-९१) । १३. धर्मादीनां द्रव्य-पदार्थ-विकल्पवतां तत्त्वार्थश्रद्धानभावस्वभावं भावान्तरं श्रद्धानाख्यं सम्यक्त्वम् । (पंचा. का. अमृत. वृ. १६०) । १४. धर्मादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं ××× । (तत्त्वानु. ३०) । १५. हिंसारहिए धम्मे अट्ठारह-दोसवज्जिए देवे । णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ (भावसं. २६२); तं सम्मत्तं उत्तं जत्थ पयत्थाण होइ सद्दहणं । परमप्पहकहियाणं ××× ॥ (भावसं. २७२); तेणुत्तणवपयत्था अण्णे पंचत्थिकाय-छद्दव्वा । आणाए अधिगमेण य सद्दह-माणस्स सम्मत्तं ॥ संकाइदोसरहियं णिस्संकाई-गुणज्जुअं परमं । कम्मणिज्जरणहेउं तं सुद्धं होइ सम्मत्तं ॥ (भावसं. २७८-७९) । १६. यथा वस्तु तथा ज्ञानं संभवत्यात्मनो यतः । जिनैरभाणि सम्य-क्त्वं तत्क्षमं सिद्धिसाधने ॥ (योगसारप्रा. १-१९)। १७. अत्तागम-तच्चाइयहं जं णिम्मलु सद्धाणु । संकाइयदोसहं रहिउ तं सम्मत्तु वियाणु ॥ (सावयध. १९) । १८. रुचिस्तत्त्वेषु सम्यक्त्वं ××× । (उपासका. २६७) । १९. जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु । (द्रव्यसं. ४१) । २०. तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं प्रशम-संवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं वा । (मूला. वृ. १२-१५६) । २१. अत्तागम-तच्चाणं जं सद्दहणं सुणिम्मलं होइ । संकाइदोस-रहियं त सम्मत्तं मुणेयव्वं ॥ (वसु. श्रा. ६) । २२. शम-संवेग-निर्वेदानुकम्पास्तिक्यलक्षणम् । सम्य-क्त्वं ××× ॥ (त्रि. श. पु. च. १, १, १९३) । २३. तत्त्वार्थान् श्रद्दधानस्य निर्देशाद्यैः सदादिभिः । प्रमाणैर्नयभंगैश्च दर्शनं सुदृढं भवेत् ॥ गृहीतम-गृहीतं च परं सांशयिकं मतम् । मिथ्यात्वं न त्रिधा यत्र तच्च सम्यक्त्वमुच्यते ॥ (धर्मसं. श्रा. ४, ३१ व ३२) । २४. नास्त्यर्हतः परो देवो धर्मो नास्ति दयां विना । तपः परं च नैर्ग्रन्थ्यमेतत्सम्यक्त्वलक्ष-णम् ॥ (पु. उपासका. ११)। २५. यच्छ्रद्धानं जिनो-क्तेरथ नयभजनात्सप्रमाणादबाध्यात्, प्रत्यक्षाच्चानु-मानात् कृतगुण-गुणिनिर्णीतियुक्तं गुणाढ्यम् । तत्त्वा-र्थानां स्वभावाद् ध्रुव-विगम-समुत्पादलक्ष्मप्रभाजां तत्सम्यक्त्वं वदन्ति व्यवहरणनयात् कर्मनाशोप-शान्तेः ॥ (अध्यात्मक. १-७) । २६. या देवे देवताबुद्धिर्गुरौ च गुरुतामतिः । धर्मे च धर्मधीः शुद्धा सम्यक्त्वमिदमुच्यते ॥ (आचारदि. पृ. ४७ उद्.); सम-संवेग-निर्वेदानुकंपास्तिक्यलक्षणैः । लक्षणैः पञ्चभिः सम्यक् सम्यक्त्वमुपलक्ष्यते ॥ (आचारदि. पृ. ४८ उद्.) ।

१ पदार्थों के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहते हैं। २ यथा-र्थरूप से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष का नाम ही सम्य-क्त्व है। ३ आप्त, आगम और पदार्थों के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है। ४ व्यवहार से जीवादि के श्रद्धान को तथा निश्चय से आत्मा के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा जाता है। ७ जीवाजीवादि नौ पदार्थ यथार्थ हैं, इस प्रकार उन परमार्थभूत पदार्थों के सद्भाव के उपदेश से और भावतः श्रद्धान से सम्य-क्त्व जानना चाहिए।

सम्यक्त्वक्रिया—१. चैत्य-गुरु-प्रवचनपूजनादि-लक्षणा सम्यक्त्ववर्धिनी क्रिया सम्यक्त्वक्रिया । (स. सि. ६-५; त. वा. ६, ५, ७) । २. चैत्यप्रवचना-र्हत्सद्गुरुपूजादिलक्षणा । सा सम्यक्त्वक्रिया ख्याता सम्यक्त्वपरिवर्धिनी ॥ (ह. पु. ५८-६१) । ३. तत्र चैत्य-श्रुताचार्यपूजा-स्तवादिलक्षणा । सम्यक्त्ववर्धिनी ज्ञेया विद्भिः सम्यक्त्वसत्क्रिया ॥ (त. श्लो. ६, ५, २) । ४. सम्यक्त्वक्रिया सम्यक्त्वकारणम् । सम्यक्त्वं च मोहशुद्धदलिकानुभवः, प्रायेण तत्प्रवृत्ता

सम्यक्—समञ्चति गच्छति व्याप्नोति सर्वान् द्रव्यभावानिति सम्यक् । (त. भा. सिद्ध. वृ. १–१, पृ. ३०) ।

जो समस्त द्रव्य-भावों को व्याप्त करता है उसे सम्यक् कहा जाता है ।

सम्यक्चारित्र—१. चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं ॥ (पंचा. का. १०७) । २. रागादीपरिहरणं चरणं × × × ॥ (समयप्रा. १६५) । ३. चारित्तं परिहारो पय णियं जिणवरिंदेहिं । (मोक्षप्रा. ३८) । ४. हिंसानृत-चौर्येभ्यो मैथुनसेवा-परिग्रहाभ्यां च । पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥ (रत्नक. ३–३) । ५. संसारकारणनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम् । (स. सि. १–१) । ६. संसारकारणविनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतो वाह्याभ्यन्तरक्रियाविशेषोपरमः सम्यक्चारित्रम् । (त. वा. १, १, ३) । ७. यथा कर्मास्रवो न स्याच्चारित्रं संयमस्तथा ॥ (म. पु. ४७–३०६) । ८. भवहेतुप्रहाणाय वहिरभ्यन्तरक्रिया- । विनिवृत्तिः परं सम्यक्चारित्रं ज्ञानिनो मतम् ॥ (त. श्लो. १, १, ३) । ९. सम्यक्चारित्रं तु ज्ञानपूर्वकं चारित्रावृतिकर्मक्षय-क्षयोपशमसमुत्थं सामायिकादिभेदं सदसत्क्रियाप्रवृत्ति-निवृत्तिलक्षणं मूलोत्तरगुणशाखा-प्रशाखम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. १–१) । १०. तदुक्तव्रतस्य यथावदनुष्ठानं सम्यक्चारित्रम् । (न्यायकु. ७६, पृ. ८६५) । ११. वहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणपणासट्ठं । णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्त ॥ (द्रव्यसं. ४६) । १२. अधर्मकर्मनिर्मुक्तिर्धर्मकर्मविनिर्मितिः । चारित्रं तच्च सागारानगारयतिसंश्रयम् ॥(उपासका. २६२); औदासीन्यं परं प्राहुर्वृत्तं सर्वक्रियोज्झितम् ॥ (उपासका. २६७) । १३. दृष्ट-श्रुतानुभूतभोगाकांक्षप्रभृतिसमस्तापध्यानरूपमनोरथजनितसंकल्प-विकल्पजालत्यागेन तत्रैव सुखे रतस्य सन्तुष्टस्य तृप्तस्यैकाकारपरमसमरसीभावे द्रवीभूतचित्तस्य पुनः पुनः स्थिरीकरणं सम्यक्चारित्रम् । (वृ. द्रव्यसं. टी. ४०); परमोपेक्षालक्षणं निर्विकारस्वसंवित्त्यात्मकशुद्धोपयोगाविनाभूतं परमं सम्यक्चारित्रम् । (वृ. द्रव्यसं. टी. ४६) । १४. सर्वसावद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमिष्यते । (योगशा. १–१८; त्रि. श. पु. च. १, ३, ६२०); सर्वे, न तु कतिपये ये सावद्ययोगाः सपापव्यापारास्तेषां त्यागो ज्ञान-श्रद्धानपूर्वकं परिहारः स सम्यक्चारित्रम् । (योगशा. स्वो. विव. १–१८); अथवा पञ्चसमिति-गुप्तित्रयपवित्रितम् । चरित्रं सम्यक्चारित्रमित्याहुर्मुनिपुङ्गवाः ॥ (योगशा. १–३४) । १५. संसारहेतुभूतक्रियानिवृत्त्युद्यतस्य तत्त्वज्ञानवतः पुरुषस्य कर्मादानकारणक्रियोपरमणमज्ञानपूर्वकाचरणरहितं सम्यक्चारित्रम् । (त. वृत्ति श्रुत. १–१) ।

१ मोक्षमार्ग पर आरूढ़ महापुरुषों के इन्द्रियविषयों में जो समभाव—राग-द्वेष का अभाव—होता है उसका नाम चारित्र है । ४ हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पापक्रियाओं से जो सम्यग्ज्ञानी की निवृत्ति होती है उसे चारित्र कहते हैं । ९ चारित्रावरण कर्म के क्षय या क्षयोपशम से जो ज्ञानपूर्वक समीचीन क्रियाओं में प्रवृत्ति और असमीचीन क्रियाओं से निवृत्ति होती है उसे सम्यक्चारित्र कहा जाता है । वह सामायिक आदि पांच भेदों स्वरूप है, मूलगुण और उत्तरगुण उसकी शाखा-प्रशाखाओं के समान है ।

सम्यक्त्व—१. सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं × × × । (पंचा. का. १०७); धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं × × × । (पंचा. का. १६०) । २. भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण-पावं च । आसव-संवरणिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ (समयप्रा. १५; मूला. ५–६); जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं × × × । (समयप्रा. १६५)। ३. अत्तागम-तच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं । (नि. सा. ५); विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं । (नि. सा. ५१); चल-मलिणमगाढत्तविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं । (नि. सा. ५२) । ४. जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं । ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥ (दर्शनप्रा. २०) । ५. तच्चरुईसम्मत्तं × × × । (मोक्षप्रा. ३८); हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे । णिग्गंथे पावयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ (मोक्षप्रा. ९०) । ६. जं खलु जिणोवदिट्ठं तमेव तत्थित्ति भावदो गहणं । सम्मद्दंसणभावो × × × ॥ (मूला. ५–६८) । ७. जीवाऽजीवा य बंधो य, पुन्न-पावाऽऽसवो तहा । संवरो णिज्जरा मोक्खो, संतेए तहिया नव ॥ तहि-

यार्णं तु भावाणं सब्भावे उवएसणं। भावेण सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं ॥ (उत्तरा. २८, १४ व १५)। ८. सोच्चा व अभिसमेच्च व तत्तरुई चेव होइ सम्मत्तं। (बृहत्क. १३४)। ९. प्रशम-संवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यक्त्वम्। (धव. पु. १, पृ. १५१; धव. पु. ७, पृ. ७); तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। अथवा तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वम्। (धव. पु. ७, पृ. ७); छद्दव्व-णवपयत्थविसयसद्दहणं सम्मद्दंसणं ×××। (धव. पु. १५, पृ. १२)। १०. छप्पंचच-णवविहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं। आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ (प्रा. पंचसं. १-१५९; धव. पु. १, पृ. ३९५ उद्; गो. जी. ५६१)। ११. तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. २-३; गो. जी. जी. प्र. ५६१); सम्यक्त्वं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७-६ व ८-१०)। १२. (तत्त्वार्थानां) श्रद्धानं दर्शनं ×××। (त. सा. १-४); सम्यक्त्वं खलु तत्त्वार्थश्रद्धानं तत् त्रिधा भवेत्। (त. सा. २-६१)। १३. धर्मादीनां द्रव्य-पदार्थविकल्पवतां तत्त्वार्थश्रद्धानभावस्वभावं भावान्तरं श्रद्धानाख्यं सम्यक्त्वम्। (पंचा. का. अमृत. वृ. १६०)। १४. धर्मादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं ×××। (तत्त्वानु. ३०)। १५. हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे। णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ (भावसं. २६२); तं सम्मत्तं उत्तं जत्थ पयत्थाण होइ सद्दहणं। परमप्पहकहियाणं ××× ॥ (भावसं. २७२); तेणुत्तणवपयत्था अण्णे पंचत्थिकाय-छद्दव्वा। आणाए अधिगमेण य सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥ संकाइदोसरहियं णिस्संकाईगुणज्जुअं परमं। कम्मणिज्जरणहेउं तं सुद्धं होइ सम्मत्तं ॥ (भावसं. २७८-७९)। १६. यथा वस्तु तथा ज्ञानं संभवत्यात्मनो यतः। जिनैरभाणि सम्यक्त्वं तत्क्षमं सिद्धिसाधने ॥ (योगसारप्रा. १-१६)। १७. अत्तागम-तच्चाइयहं जं णिम्मलु सद्धाणु। संकाइयदोसहं रहिउ तं सम्मत्तु वियाणु ॥ (सावयध. १९)। १८. रुचिस्तत्त्वेषु सम्यक्त्वं ×××। (उपासका. २६७)। १९. जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु। (द्रव्यसं. ४१)। २०. तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं प्रशम-संवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं वा। (मूला. वृ. १२-१५६)। २१. अत्तागमतच्चाणं जं सद्दहणं सुणिम्मलं होइ। संकाइदोसरहियं तं सम्मत्तं मुणेयव्वं ॥ (वसु. श्रा. ६)। २२. शम-संवेग-निर्वेदानुकम्पास्तिक्यलक्षणम्। सम्यक्त्वं ××× ॥ (त्रि. श. पु. च. १, १, १९३)। २३. तत्त्वार्थान् श्रद्धानस्य निर्देशाद्यैः सदादिभिः। प्रमाणैर्नयभंगैश्च दर्शनं सुदृढं भवेत् ॥ गृहीतमगृहीतं च परं सांशयिकं मतम्। मिथ्यात्वं न त्रिधा यत्र तच्च सम्यक्त्वमुच्यते ॥ (धर्मसं. श्रा. ४, ३१ व ३२)। २४. नास्त्यर्हतः परो देवो धर्मो नास्ति दयां विना। तपः परं च नैर्ग्रन्थ्यमेतत्सम्यक्त्वलक्षणम् ॥ (पु. उपासका. ११)। २५. यच्छ्रद्धानं जिनोक्तेरथ नयभजनात्सप्रमाणादवाप्यात्, प्रत्यक्षाच्चानुमानात् कृतगुण-गुणिनिर्णीतियुक्तं गुणाढ्यम्। तत्त्वार्थानां स्वभावाद् ध्रुव-विगम-समुत्पादलक्ष्मप्रभाजां तत्सम्यक्त्वं वदन्ति व्यवहरणनयात् कर्मनाशोपशान्तेः ॥ (अध्यात्मक. १-७)। २६. या देवे देवताबुद्धिर्गुरौ च गुरुतामतिः। धर्मे च धर्मधीः शुद्धा सम्यक्त्वमिदमुच्यते ॥ (आचारदि. पृ. ४७ उद्.); सम-संवेग-निर्वेदानुकंपास्तिक्यलक्षणैः। लक्षणैः पञ्चभिः सम्यक् सम्यक्त्वमुपलक्ष्यते ॥ (आचारदि. पृ. ४८ उद्.)।

१ पदार्थों के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहते हैं। २ यथार्थरूप से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष का नाम ही सम्यक्त्व है। ३ आप्त, आगम और पदार्थों के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है। ४ व्यवहार से जीवादि के श्रद्धान को तथा निश्चय से आत्मा के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा जाता है। ७ जीवाजीवादि नौ पदार्थ यथार्थ हैं, इस प्रकार उन परमार्थभूत पदार्थों के सद्भाव के उपदेश से और भावतः श्रद्धान से सम्यक्त्व जानना चाहिए।

सम्यक्त्वक्रिया—१. चैत्य-गुरु-प्रवचनपूजनादिलक्षणा सम्यक्त्ववर्धिनी क्रिया सम्यक्त्वक्रिया। (स. सि. ६-५; त. वा. ६, ५, ७)। २. चैत्यप्रवचनार्हत्सद्गुरुपूजादिलक्षणा। सा सम्यक्त्वक्रिया ख्याता सम्यक्त्वपरिवर्धिनी ॥ (ह. पु. ५८-६१)। ३. तत्र चैत्य-श्रुताचार्यपूजा-स्तवादिलक्षणा। सम्यक्त्ववर्धिनी ज्ञेया विद्भिः सम्यक्त्वसत्क्रिया ॥ (त. श्लो. ६, ५, २)। ४. सम्यक्त्वक्रिया सम्यक्त्वकारणम्। सम्यक्त्वं च मोहशुद्धदलिकानुभवः, प्रायेण तत्प्रवृत्ता

क्रिया सम्यक्त्वक्रिया। प्रशम-संवेग-निर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणजीवादिपदार्थविषया श्रद्धा जिन-सिद्ध-गुरूपाध्याय-यति-जनयोग्य-पुष्प-धूप-प्रदीप-चामरातपत्र-नमस्करण-वस्त्राभरणान्नपान-शय्यादानाद्यनेकवैयावृत्त्याभिव्यङ्ग्या च सम्यक्त्वसद्भाव-सम्वर्धनपटुत्वां सद्वेद्यबन्धहेतुर्देवादिजन्मप्रतिलम्भकारणम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-६)। ५. सम्यक्त्वं तत्त्वश्रद्धानम्, तदेव जीवव्यापारत्वात् क्रिया सम्यक्त्वक्रिया। (स्थानां. अभय. वृ. ६०)। ६. चैत्य-गुरुप्रवचनार्चनादिस्वरूपा सम्यग्दर्शनवर्द्धिनी अन्यक्रियाभ्यो विशिष्टा सम्यक्त्वक्रिया। (त. वृत्ति श्रुत. ६-५)।

१ चैत्य, गुरु और प्रवचन (आगम) की जो पूजा आदि रूप क्रिया सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली है उसे सम्यक्त्वक्रिया कहते हैं।

सम्यक्त्व-मिथ्यात्व—मिथ्यात्वमेव सामिशुद्धस्वरसं, ईषन्निराकृतफलदानसामर्थ्यं सम्यग्मिथ्यात्वापरनामधेयं तदुभयम् (सम्यक्त्वमिथ्यात्वम्)। (त. वृत्ति श्रुत. ८-६)।

जिसकी फलदानशक्ति कुछ अंश में रोक दी गई है ऐसी मिश्रित अवस्था में वर्तमान दर्शनमोह कर्मप्रकृति को सम्यक्त्व-मिथ्यात्व कहा जाता है।

सम्यक्त्वमोहनीय—देखो सम्यङ्मिथ्यात्व। १. तदेव सम्यक्त्वं शुभपरिणामनिरुद्धस्वरसं यदौदासीन्येनावस्थितमात्मनः श्रद्धानं न निरुणद्धि, तद्वेदयमानः पुरुषः सम्यग्दृष्टिरित्यभिधीयते। (स. सि. ८-६)। २. अत्तागमपदत्थसद्धाए जस्सोदएण सिथिलत्तं होदि तं सम्मत्तं। (धव. पु. ६, पृ. ३६); उप्पण्णस्स सम्मत्तस्स सिढिलभावुप्पाययं अथिरत्तकारणं च कम्मं सम्मत्तं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३५८)। ३. यस्योदयेनाप्तागम-पदार्थेषु श्रद्धायाः शैथिल्यं तत् सम्यक्त्वं कोद्रवतन्दुलसदृशम्। (मूला. वृ. १२-१६०)।

१ शुभ परिणाम के द्वारा जिसके अनुभाग को रोक दिया गया है तथा जो उदासीन रूप से स्थित जीव के श्रद्धान को नहीं रोक सकता है ऐसा वही मिथ्यात्व सम्यक्त्वमोहनीय कहलाता है। इसके उदय का अनुभव करने वाला जीव सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। २ जिसके उदय से आप्त, आगम और पदार्थों के श्रद्धान में शिथिलता होती है उसे सम्यक्त्वमोहनीय कहा जाता है।

सम्यक्त्वविनय—यत्र निःशंकितत्वादिलक्षणोपेतता भवेत्। श्रद्धाने सप्ततत्त्वानां सम्यक्त्वविनयः स हि॥ (त. सा. ७-२१)।

जहां सात तत्त्वों का श्रद्धान निःशंकितत्व आदि गुणों से संयुक्त होता है उसे सम्यक्त्वविनय कहते हैं।

सम्यक्त्ववेदनीय — देखो सम्यक्त्वमोहनीय। जिनप्रणीततत्त्वश्रद्धानात्मकेन सम्यक्त्वरूपेण यद्वेद्यते तत्सम्यक्त्ववेदनीयम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २६३)।

जिनदेव के द्वारा उपदिष्ट तत्त्वों के श्रद्धानस्वरूप सम्यक्त्व के रूप में जिस दर्शनमोहनीय कर्म का वेदन किया जाता है उसे सम्यक्त्ववेदनीय कहते हैं।

सम्यक्त्वाराधक—धम्माधम्मागासाणि पोग्गला कालदव्व जीवे य। आणाए सद्दहन्तो समत्ताराहओ भणिदो॥ (भ. आ. ३६)।

जो धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, काल और जीव इन द्रव्यों का सर्वज्ञ की आज्ञा के अनुसार श्रद्धान करता है उसे सम्यक्त्वाराधक कहा गया है।

सम्यक्त्वाराधना—भावाणं सद्दहणं कीरइ जं सुत्तउत्तजुत्तीहिं। आराहणा हु भणिया सम्मत्ते सा मुणिदेहिं॥ (भ. आ. ४)।

आगमोक्त युक्तियों के द्वारा जो पदार्थों का श्रद्धान किया जाता है उसे सम्यक्त्वआराधना कहा गया है।

सम्यक्श्रद्धान—१. रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु सम्यक्श्रद्धानमुच्यते। (योगशा. १-१७)। २. रुचिः श्रुतोक्ततत्त्वेषु सम्यक्श्रद्धानमुच्यते। (त्रि. श. पु. च. १, ३, ५८५)।

१ जिन भगवान् के द्वारा निर्दिष्ट तत्त्वों के विषय में जो रुचि उत्पन्न होती है उसे सम्यक् अर्थात् समीचीन श्रद्धान (सम्यक्त्व) कहा जाता है।

सम्यक्श्रुत—१. जं इमं अरहंतेहिं भगवंतेहिं उप्पण्णणाण-दंसणधरेहिं तेलुक्कनिरिक्खिअमहिअ-पूइएहिं तीय-पडुप्पण्णमणागयजाणएहिं सव्वण्णूहिं सव्वदरिसीहिं पणीअं दुआलसंगं गणिपिडगं। जहा—आयारो × × × इच्चेअं दुवालसंगं गणिपिडगं चोद्दसपुव्विस्स सम्मसुअं अभिण्णदसपुव्विस्स सम्मसुअं तेण परं भिण्णेसु भयणा, से तं सम्मसुअं। (नन्दी. सू. ४०, पृ. १६१-६२)। २. सम्यग्दृष्टेः प्रशमादिसम्यक्परिणामोपेतत्वात् स्वरूपेण प्रति-

भासनात् सम्यक्श्रुतं पित्तोदयादभिभूतस्य शर्करादिवदिति। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ८२)।

१ सर्वज्ञ और सर्वदर्शी अरहन्त भगवान् के द्वारा आचारादिरूप जिस द्वादशांगश्रुत का प्रणयन किया गया है उसे सम्यक्श्रुत कहते हैं। यह सम्यक्श्रुत चतुर्दशपूर्वी और अभिन्नदशपूर्वी के होता है, इनसे अन्य जनों के वह भाज्य है।

सम्यगनेकान्त—१. एकत्र स्वप्रतिपक्षानेकधर्मस्वरूपनिरूपणो युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धः सम्यगनेकान्तः। (त. वा. १, ६, ७)। २. एकत्र वस्तुन्यस्तित्व-नास्तित्वादिनानाधर्मनिरूपणप्रवणः प्रत्यक्षानुमानागमाविरुद्धसम्यगनेकान्तः। (सप्तभं. पृ. ७४)।

१ जो युक्ति और आगम के विरोध से रहित होता हुआ एक ही वस्तु में अपने विरोधी धर्म के साथ अनेक धर्मों (जैसे—अस्तित्व-नास्तित्व व नित्यत्व-अनित्यत्वादि) के स्वरूप का निरूपण किया करता है उसे सम्यगनेकान्त कहते हैं।

सम्यगाचार—सम्यक् स्वशास्त्रविहितानुष्ठानादविपरीतः, आचारः अनुष्ठानं येषां ते सम्यगाचाराः, सम्यग्वा इतो व्यवस्थित आचारो येषां ते समिताचाराः। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ५, ३१)।

जिनका आचार अपने शास्त्र में वर्णित अनुष्ठान से विपरीत नहीं है वे सम्यगाचार—समीचीन आचरण वाले कहलाते हैं। अथवा (पाठान्तर का अनुसरण कर) 'सम्' का अर्थ समीचीन और 'इत' का अर्थ व्यवस्थित है। तदनुसार जिनका आचार समीचीनरूप में व्यवस्थित हैं उन्हें समिताचार कहा जाता है।

सम्यगेकान्त—१. सम्यगेकान्तो हेतुविशेषसामर्थ्यापेक्षः प्रमाणप्ररूपितार्थैकदेशादेशः। (त. वा. १, ६, ७)। २. सम्यगेकान्तस्तावत् प्रमाणविषयीभूतानेकधर्मात्मकवस्तुनिष्ठैकधर्मगोचरो धर्मान्तराप्रतिषेधकः। (सप्तभं. पृ. ७३–७४)।

१ जो युक्ति के बल से प्रमाण के द्वारा प्ररूपित पदार्थ के एक देश को प्रमुखता से विषय करता है उसे सम्यगेकान्त कहते हैं।

सम्यग्ज्ञान—१. ××× तेसिमधिगमो णाणं। (पंचा. का. १०७; समयप्रा. १६५)। २. संसयविमोह-विब्भमविवज्जियं होदि सण्णाणं॥ (नि. सा. ५१)। ३. ××× तच्चग्गहणं च हवइ सण्णाणं। (मोक्षप्रा. ३८)। ४. अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्। निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः॥ (रत्नक. ४२)। ५. येन येन प्रकारेण जीवादयः पदार्था व्यवस्थितास्तेन तेनावगमः सम्यग्ज्ञानम्। (स. सि. १–१)। ६. नय-प्रमाणविकल्पपूर्वको जीवाद्यर्थयाथात्म्यावगमः सम्यग्ज्ञानम्। (त. वा. १, १, २)। ७. तेषां जीवादिसप्तानां संशयादिविवर्जनात्॥ याथात्म्येन परिज्ञानं सम्यग्ज्ञानं समादिशेत्। (म. पु. ४७, ३०६–७)। ८. स्वार्थाकारपरिच्छेदो निश्चितो बाधवर्जितः। सदा सर्वत्र सर्वस्य सम्यग्ज्ञानमनेकधा॥ (त. श्लो. १, १, २)। ९. स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानम्। (प्रमाणप. पृ. ५३)। १०. सम्यग्ज्ञानं तु लक्ष्यलक्षणव्यवहाराव्यभिचारात्मकं ज्ञानावरणकर्मक्षयक्षयोपशमसमुत्थं मत्यादिभेदम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–१)। ११. ××× सम्यग्ज्ञानं स्यादवबोधनम्। (त. सा. १–४); सम्यग्ज्ञानं पुनः स्वार्थव्यवसायात्मकं विदुः। मतिश्रुतावधिज्ञानं मनःपर्ययकेवलम्॥ स्वसंवेदनमक्षोत्थं विज्ञानं स्मरणं तथा। प्रत्यभिज्ञानमूहश्च स्वार्थानुमितिरेव वा॥ (त. सा. १, १८–१९)। १२. प्रमाण-नय-निक्षेपैर्यो याथात्म्येन निश्चयः। जीवादिषु पदार्थेषु सम्यग्ज्ञानं तदिष्यते॥ (तत्त्वानु. २६)। १३. सम्यग्ज्ञानं पदार्थानामवबोधः ×××। (प्रद्युम्नच. ६–४७)। १४. यथावदवगमः सम्यग्ज्ञानम्। (न्यायकु. ७६, पृ. ८६५)। १५. संसय-विमोह-विब्भमविवज्जियं अप्प-परसरूवस्स। गहणं सम्मण्णाणं सायारमणेयभेयं च॥ (द्रव्यसं. ४२)। १६. यद् द्रव्यं यथा स्थितं सत्तालक्षणम्, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यलक्षणं वा गुण-पर्यायलक्षणं वा सप्तभङ्ग्यात्मकं वा तत् तथा जानाति य आत्मसम्बन्धी स्व-परपरिच्छेदको भावः परिणामस्तत् संज्ञानं भवति। (परमा. वृ. २–२९)। १७. तस्यैव सुखस्य (रागादिविकल्पोपाधिरहितचिच्चमत्कारभावनोत्पन्नमधुररसास्वादरूपस्य सुखस्य) समस्तविभावेभ्यः स्वसंवेदनज्ञानेन पृथक् परिच्छेदनं सम्यग्ज्ञानम्। (वृ. द्रव्यसं. टी. ४०)। १८. यज्जानाति यथावस्थं वस्तुसर्वस्वमञ्जसा। तृतीयं लोचनं नृणां सम्यग्ज्ञानं तदुच्यते॥ (उपासका. २५६)।

१९. तेषामेव संशय-विमोह-विभ्रमरहितत्वेनाधिगमो निश्चयः परिज्ञानं सम्यग्ज्ञानम् × × × अथवा × × × तेषामेव सम्यक्परिच्छित्तिरूपेण शुद्धात्मनो भिन्नत्वेन निश्चयः सम्यग्ज्ञानम् । (समयप्रा. जय. वृ. १६५) । २०. यथावद् वस्तुनिर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत् ॥ (स्वरूपस. १२) । २१. तत्र जीवादितत्त्वानां संक्षेपाद्विस्तरादपि । यथावदवबोधो यः सम्यग्ज्ञानं तदुच्यते ॥ (त्रि. श. पु. च. १, ३, ५७८) । २२. यथावस्थिततत्त्वानां संक्षेपाद् विस्तरेण वा । योऽवबोधस्तमत्राहुः सम्यग्ज्ञान मनीषिणः ॥ (योगशा. १–१६) । २३. वत्थूण जं सहावं जहट्ठियं णय-पमाण तह सिद्धं । तं तह य जाणणे इह सम्म णाण जिणा बेंति ॥ (द्रव्यस्व. प्र. नयच. ३२६) । २४. × × × स्वार्थविज्ञान सम्यग्ज्ञानमसंशयम् । (जीव. च. ७–१२) । २५. सम्यग्ज्ञानं यथावस्थितवस्तुग्राहि ज्ञानम् । (चारित्रभ. ६, पृ. १८९) । २६. येन येन प्रकारेण जीवादयः पदार्थाः व्यवस्थिताः वर्तन्ते तेन तेन प्रकारेण मोह-संशय-विपर्ययरहितं परिज्ञानं सम्यग्ज्ञानम् । (त. वृत्ति श्रुत. १–१) । २७. जीवादीनां पदार्थानां याथात्म्यं तत्त्वमिष्यते । सम्यग्ज्ञानं हि तज्ज्ञानं × × × ॥ (जम्बू. च. ३–१७) ।

१ जीवाजीवादि पदार्थों के अधिगम का नाम सम्यग्ज्ञान है । २ संशय, अनध्यवसाय और भ्रान्ति से रहित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा जाता है । ५ जिस जिस प्रकार से जीवादि पदार्थ व्यवस्थित हैं उनका उसी रूप से जो ग्रहण होता है उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं । १० लक्ष्य-लक्षण व्यवहार के दोष से रहित जो ज्ञानावरण कर्म के क्षय और क्षयोपशम से मति-श्रुतादि भेदरूप ज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है ।

सम्यग्दर्शन—देखो सम्यक्त्व । १. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । (त. सू. १–२) । २. प्रशस्तं दर्शनं सम्यग्दर्शनम्, सङ्गतं वा दर्शनं सम्यग्दर्शनम् । (त. भा. १–१); तत्त्वानामर्थानां श्रद्धानम्, तत्त्वेन वा अर्थानां श्रद्धानं तत्त्वार्थश्रद्धानम् । तत् सम्यग्दर्शनम् । × × × तदेवं प्रशम-संवेग-निर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमिति । (त. भा. १–२) । ३. एतेष्वध्यवसायो योऽर्थेषु विनिश्चयेन तत्त्वमिति । सम्यग्दर्शनमेतत् × × × ॥ (प्रशमर. २२२) । ४. तत्त्वा[र्था]नां भावानां निसर्गादधिगमाद्वा शुद्धानां रुचिः सम्यग्दर्शनम् । (उत्तरा. चू. पृ २७२) । ५. श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागम-तपोभृताम् । त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥ (रत्नक. ४) । ६. प्रणिधानविशेषाहितद्वैविध्यजनितव्यापारं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । (त. वा. १, १, १) । ७. तत्तत्थसद्दहाणं सम्मत्तं × × × । (श्रा. प्र. ६२) । ८. मिथ्यात्वमोहनीय (क्षय-) क्षयोपशमोपशमसमुत्था तत्त्वरुचिः सम्यग्दर्शनम् । (त. भा. हरि. वृ. १–१, पृ. १४) । ९. यन्मिथ्यास्वभावप्रचितपरिणाम विशेषाद् विशुध्यमानकं सप्रतिघातं सम्यक्त्वकारणं सम्यग्दर्शनम् । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ६३) । १०. तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं दर्शनं सम्यग्दर्शनम् । (श्रा. प्र. टी. ३४१) । ११. सम्यग्दर्शनमभीष्टं तत्त्वश्रद्धानमुज्ज्वलम् । व्यपोढसंशयात्यन्तनिःशेषमलसंकरम् ॥ (ह. पु. ५८–१९) । १२. आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं परया मुदा । सम्यग्दर्शनमाम्नातं तन्मूले ज्ञानचेष्टिते ॥ (म. पु. ९–१२१ व २४–११७) । १३. प्रणिधानविशेषोत्थद्वैविध्यं रूपमात्मनः । यथास्थितार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमुद्दिशेत् ॥ (त. श्लो. १, १, १) । १४. अर्हदभिहिताशेषद्रव्य-पर्यायप्रपञ्चविषया तदुपघातिमिथ्यादर्शनाद्यनन्तानुबन्धिकषायक्षयादिप्रादुर्भूता रुचिर्जीवस्यैव सम्यग्दर्शनमुच्यते । (त. भा. सिद्ध. वृ. १–१, पृ. २६); दृष्टिर्या अविपरीतार्थग्राहिणी जीवादिकं विषयमुल्लिखन्तीव प्रवृत्ता सा सम्यग्दर्शनम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. १–१, पृ. ३०); मुख्यया तु वृत्त्या रुचिरात्मपरिणामो ज्ञानलक्षणः श्रद्धा-संवेगादिरूपः सम्यग्दर्शनम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. १–७, पृ. ५५); प्रशम-संवेग-निर्वेदाऽस्तिक्याऽनुकम्पाभिव्यक्तिलक्षणं सम्यग्दर्शनम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–४) । १५. जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम् । श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ॥ (पु. सि. २२) । १६. श्रद्धानं (तत्त्वार्थानाम्) दर्शनं × × × । (त. सा. १–४) । १७. एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् । सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयम् तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ॥ (समयप्रा. क. १–६) ।

१८. जीवादयो नवाप्यर्था ये यथा जिनभाषिताः। ते तथैवेति या श्रद्धा सा सम्यग्दर्शनं स्मृतम् ॥ (तत्त्वानु. २५)। १६. सर्वज्ञोक्तार्थानाम् इदमित्थमेव इति श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। (न्यायकु. ७६, पृ. ८६५)। २०. सम्यग्दर्शनं तु तत्त्वार्थश्रद्धानरूपम्। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ५, १)। २१. सम्यक्त्वं भावनामाहुर्युक्तियुक्तेषु वस्तुषु। (उपासका. ५); आप्तागम-पदार्थानां श्रद्धानं कारणद्वयात्। मूढाद्यपोढमष्टाङ्गं सम्यक्त्वं प्रशमादिभाक् ॥ (उपासका. ४८)। २२. जिनेन भगवताऽर्हता परमेष्ठिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थलक्षणे मोक्षमार्गे श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। (चा. सा. पृ. २); जिनोपदिष्टे नैर्ग्रन्थ्ये मोक्षवर्त्मनि रुचिः सम्यग्दर्शनम्। (चा. सा. पृ. २४)। २३. जीवाजीवादितत्त्वानां भाषितानां जिनेशिना। श्रद्धानं कथ्यते सद्भिः सम्यक्त्वं व्रतपोषकम् ॥ (धर्मप. १६-१०)। २४. रागादिविकल्पोपाधिरहितचिच्चमत्कारभावनोत्पन्नमधुररसास्वादसुखोऽहमिति निश्चयरूपं सम्यग्दर्शनम्। (बृ. द्रव्यसं. टी. ४०); वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशुद्धजीवादितत्त्वविषये चल-मलिनावगाढरहितत्वेन श्रद्धानं रुचिर्निश्चय इदमेवेत्थमेवेति निश्चयबुद्धिः सम्यग्दर्शनम्। (बृ. द्रव्यसं. टी. ४१)। २५. स्वशुद्धात्मोपादेयभूतरुचिविकल्परूपं सम्यग्दर्शनम्। (प्रव. सा. जय. वृ. ३-३८)। २६. यत् पुनरात्मपरिणतिस्वभावं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यग्दर्शनम् ××× । (आव. नि. मलय. वृ. १२१)। २७. दर्शनं दृग्, दर्शनमोहोपशमादिसन्निधाने सत्याविर्भूततच्छक्तिविशेषस्यात्मनो ज्ञानसम्यक्त्वव्यपदेशहेतुस्तत्त्वार्थश्रद्धानपरिणतिः। (अन. ध. स्वो. टी. १-१, पृ. २)।

१ तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा जाता है। ३ जीवादि पदार्थों के विषय में जो 'यही तत्त्व है' ऐसा निर्धारण होता है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। ५ परमार्थभूत आप्त, आगम और गुरु का जो तीन मूढताओं से रहित और आठ अंगों सहित श्रद्धान होता है उसका नाम सम्यग्दर्शन है। ६ जिस तत्त्वार्थश्रद्धान में बाह्य परिणाम के साथ अन्तरंग परिणामस्वरूप दर्शनमोह के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम से जीवादि पदार्थविषयक अधिगम अथवा निसर्गरूप व्यापार आत्मसात् किया जाता है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं।

सम्यग्दर्शनवाक्—१. सम्यङ्मार्गस्योपदेष्ट्री सा सम्यग्दर्शनवाक्। (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७५; धव. पु. १, पृ. ११७)। २. सम्यग्मार्गे नियोक्त्री या सम्यग्दर्शनवागसौ। (ह. पु. १०-६६)। ३. सम्मग्गोवदेसकं वयणं सम्मदंसणवयण। (अंगप. पृ. २९३)।

१ जिस वचन के द्वारा समीचीन मार्ग का उपदेश किया जाता है उसे सम्यग्दर्शनवाक् कहते हैं।

सम्यग्दर्शनविनय – अर्हत्प्रणीतस्य च धर्मस्याचार्योपाध्याय-स्थविर-कुल-गण-सङ्घ-साधु - संभोगा- (मनोज्ञा-?) नां चानासादना प्रशम-संवेग-निर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्यानि च सम्यग्दर्शनविनयः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-२३)।

अरहन्त के द्वारा उपदिष्ट धर्म, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, संघ, साधु और संभोग (मनोज्ञ) इनकी आसादना न करके प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन गुणों का आश्रय लेना; इसका नाम दर्शनविनय है।

सम्यग्दृष्टि—१. भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥ (समयप्रा. १३)। २. सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण। (मोक्षप्रा. १४)। ३. जो कुणइ सद्दहाणं, जीवाईयाण नवपयत्थाणं। लोइयसुईसु रहिओ, सम्मद्दिट्ठी उ सो भणिओ। (पउमच. १०२-१८१)। ४. अप्पिं अप्पु मुणंतु जिउ, सम्मादिट्ठि हवेइ। (परमा. प्र. १-७६)। ५. अप्पसरूवहँ (-सरूवइ ?) जो रमइ छोंडिवि सहु ववहारु। सो सम्माइट्ठी हवइ लहु पावइ भवपारु ॥ (योगसार ८६)। ६. श्रद्धां कुर्वन्ति ये तस्मिन्नेषन्ते भावतश्च ये। ते सम्यग्दृष्टयः प्रोक्ताः प्रत्ययं ये च कुर्वते ॥ (वरांगच. २६-६१)। ७. सम्यग्दृश्यन्ते परिच्छिद्यन्ते जीवादयः पदार्थाः अनया इति सम्यग्दृष्टिः, सम्यग्दृष्ट्यविनाभावाद् वा सम्यग्दृष्टिः। (धव. पु १३, पृ. २८६-८७)। ८. सम्यक् शोभना दृष्टिर्या सत्पदार्थावलोकिनी सा सम्यग्दृष्टिर्यस्य क्षीणदर्शनमोहनीयस्य स सम्यग्दृष्टिजीवः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-७, पृ. ५५)। ६. एए सत्तपयारा जिणदिट्ठा भासिया य ए तच्चा। सद्दहइ जो हु जीवो सम्मादिट्ठी हवे सो दु ॥ (भाव. सं. दे. ३४८)। १०. सम्यग् अविपर्यस्ता, दृष्टिः जिनप्रणीतवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिर्यस्य स सम्यग्दृष्टिः।

(प्रज्ञाप. मलय. वृ. २४०, पृ. ३८७)। ११. सम्यक्त्वेन हि सम्पन्नः सम्यग्दृष्टिरुदाहृतः। (धर्मसं. श्रा. ४-७८)। १२. स्वतत्त्व-परतत्त्वेषु हेयोपादेयनिश्चयः। संशयादिविनिर्मुक्तः स सम्यग्दृष्टिरुच्यते॥ (पु. उपासका. ६)।

१ जो विवेकी जीव भूतार्थ का यथार्थ वस्तुस्वरूप के प्ररूपक निश्चय नय का आश्रय लेता है वह सम्यग्दृष्टि होता है। ३ जो लौकिक श्रुतियों में मुग्ध न होकर जीवादिक नौ पदार्थों का श्रद्धान करता है उसे सम्यग्दृष्टि कहा गया है।

सम्यग्मिथ्यात्व—१. तदेव मिथ्यात्वं प्रक्षालनविशेषात् क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्रववत्सामिशुद्धस्वरसं तदुभयमित्याख्यायते, सम्यङ्मिथ्यात्वमिति यावत्। (स. सि. ८-९, त. वा. ८, ९, २)। २. यन्मिथ्यात्वस्वभावचितं विशुद्धाविशुद्धश्रद्धाकारि तत्सम्यग्मिथ्यादर्शनम्। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ६३)। ३. मिच्छत्तस्स सव्वघादिफद्दयाणमुदयक्खएण तेसिं चेव संतोवसमेण सम्मत्तस्स देसघादिफद्दयाणमुदयक्खएण तेसिं चेव संतोवसमेण अणुदओवसमेण वा सम्मामिच्छत्तस्स सव्वघादिफद्दयाणमुदएण सम्मामिच्छत्तभावो होदि त्ति ××× । (धव. पु. ५, पृ. १९९); जस्सोदएण अत्तागम-पयत्थेसु तप्पडिवक्खेसु य अक्कमेण सद्धा उप्पज्जदि तं सम्मामिच्छत्तं। (धव. पु. ६, पृ. ३९); सम्मत्त-मिच्छत्तभावाणं संजोगसमुब्भूदभावस्स उप्पाययं कम्मं सम्मामिच्छत्तं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३५९)। ४. तदुभयमिति सम्यग्मिथ्यातत्त्वश्रद्धानलक्षणम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-१०)। ५. सम्यग्मिथ्यात्वपाकेन सम्यग्मिथ्यात्वमिष्यते। (त. सा. २-९२)। ६. सम्मामिच्छुदयेण य जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण। ण य सम्मं मिच्छं पि य सम्मिस्सो होदि परिणामो॥ दहि-गुडमिव वा मिस्सं पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं। एवं मिस्सयभावो सम्मामिच्छो त्ति णादव्वो॥ (गो. जी. २१-२२)। ७. सम्यग्मिथ्यात्वरुचिर्मिश्रः सम्यग्मिथ्यात्वपाकतः। सुदुष्करः पृथग्भावो दधिमिश्रगुडोपमः॥ (पंचसं. अमित. १-२२); सम्यङ्मिथ्यात्वपाकेन परिणामो विमिश्रितः। विषमिश्रामृतस्वादः सम्यङ्मिथ्यात्वमुच्यते॥ (पंचसं. अमित. १-३०३, पृ. ४०)। ८. यस्योदयेनाप्तागम-पदार्थेषु अक्रमेण श्रद्धे उत्पद्येते तत् सम्यङ्मिथ्यात्वम्। (मूला. वृ. १२-१९०)।

१ जिस प्रकार धोने से कोदों (एक तुच्छ धान्य) की मदशक्ति कुछ क्षीण हो जाती है और कुछ बनी भी रहती है उसी प्रकार जिसका रस (अनुभाग) कुछ क्षीण हो चुका है व कुछ बना हुआ है ऐसे उस मिथ्यात्व को उभय या सम्यग्मिथ्यात्व कहते हैं। २ जो मिथ्यात्व स्वभाव से व्याप्त होकर विशुद्ध और अविशुद्ध श्रद्धान का कारण है उसे मिथ्यादर्शन कहा जाता है।

सम्यग्मिथ्यादर्शन—देखो सम्यग्मिथ्यात्व।

सम्यग्मिथ्यादृष्टि—देखो सम्यङ्मिथ्यादृष्टि।

सम्यग्वाद—तथा सम्यग् राग-द्वेषपरिहारेण, वदनं वादः सम्यग्वादः, रागादिपरित्यागेन यथावद्वदनमित्यर्थः। (आव. नि. मलय. वृ. ८९४)।

राग-द्वेष को छोड़कर जो यथार्थ भाषण किया जाता है उसे सम्यग्वाद कहा जाता है।

सम्यङ्मिथ्यादृष्टि—१. सम्यङ्मिथ्यात्वोदयात् सम्यङ्मिथ्यादृष्टिः। सम्यङ्मिथ्यात्वसंज्ञिकायाः प्रकृतेरुदयात् आत्मा क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्रवोपयोगापादितेषत्कलुषपरिणामवत् तत्त्वार्थश्रद्धानाश्रद्धानरूपः सम्यङ्मिथ्यादृष्टिरित्युच्यते। (त. वा. ९, १, १४)। २. दृष्टिः श्रद्धा रुचिः प्रत्यय इति यावत्, समीचीना च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिः। ××× अक्रमेण सम्यग्मिथ्यारुच्यात्मको जीवः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति। (धव. पु. १, पृ. १६६-६७); सम्मामिच्छत्तस्स सव्वघादिफद्दयाणमुदएण सम्मामिच्छादिट्ठी ×××। (धव. पु. ७, पृ. ११०)। ३. सम्यङ्मिथ्यात्वसंज्ञायाः प्रकृतेरुदयाद्भवेत्। मिश्रभावतया सम्यग्मिथ्यादृष्टिः शरीरवान्। (त. सा. २-२०)। ४. सद्दहणासद्दहणं जस्स य जीवस्स होइ तच्चेसु। विरयाविरयेण समो सम्मामिच्छो त्ति णायव्वो॥ (गो. जी. ६५४)। ५. दृष्टिः श्रद्धा रुचिः एकार्थः, समीचीना च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ सम्यङ्मिथ्यादृष्टिः सम्यङ्मिथ्यात्वोदयजनितपरिणामः सम्यक्त्व-मिथ्यात्वयोरुदयप्राप्तस्पर्द्धकानां क्षयात् सतामुदयाभावलक्षणोपशमाच्च सम्यङ्मिथ्यादृष्टिः। (मूला. वृ. १२, १५४)।

१ कोदों की मादकशक्ति के कुछ क्षीण और कुछ

अक्षीण रहने पर जिस प्रकार उसके उपयोग से कुछ ही अंश में कलुषित परिणाम होता है उसी प्रकार सम्यङ्मिथ्यात्व के उदय से जिस जीव का तत्त्वार्थ के श्रद्धान व अश्रद्धानरूप मिश्रित परिणाम होता है उसे सम्यङ्मिथ्यादृष्टि कहा जाता है।

सयोगकेवली—देखो सयोगिकेवली।

सयोगिकेवली—१. केवलणाण-दिवायरकिरण-कलावप्पणासिअण्णाणो। णवकेवललद्धुग्गमपाविय-परमप्पववएसो॥ असहायणाण-दंमणसहिओ वि हु केवली हु जोएण। जुत्तो त्ति सजोइजिणो अणा-इ-णिहणारिसे वुत्तो॥ (प्रा. पंचसं. १-२७ व २९; धव. पु. १, पृ. १९१-९२ उद्.; गो. जी. ६३, ६४)। २. मनोवाक्कायप्रवृत्तिर्योगः। योगेन सह वर्तन्त इति सयोगः। सयोगाश्च ते केवलिनश्च सयोगकेवलिनः। (धव. पु. १, पृ. १९१)। ३. उत्पन्नकेवलज्ञानो घातिकर्मोदयक्षयात्। सयोगश्चायोगश्च स्यातां केवलिनावुभौ॥ (त. सा. २, २९)। ४. घातिकर्मक्षये लब्धा नव-केवललब्धयः। येनासौ विश्वतत्त्वज्ञः सयोगः केवली विभुः। (पंच-सं. अमित. १-४९)। ५. मोहक्षपणानन्तरमन्तर्मुहूर्तकालं स्वशुद्धात्मसंवित्तिलक्षणैकत्ववितर्कावीचार-द्वितीयशुक्लध्याने स्थित्वा तदन्त्यसमये ज्ञानावरण-दर्शनावरणान्तरायत्रयं युगपदेकसमयेन निर्मूल्य मेघपञ्जरविनिर्गतदिनकर इव सकलविमलकेवल-ज्ञानकिरणैर्लोकालोकप्रकाशकास्त्रयोदशगुणस्थानव-र्तिनो जिन-भास्कराः। (बृ. द्रव्यसं. टी. १३)। ६. सयोगिकेवली घातिक्षयादुत्पन्नकेवलः। (योग-शा. स्वो. विव. १-१६, पृ. ११२ उद्.)।

१ असहाय (इन्द्रिय व आलोक आदि की सहायता से रहित) ज्ञान और दर्शन—केवलज्ञान व केवल-दर्शन—से सहित होकर जिसने समस्त अज्ञान को नष्ट कर दिया है तथा जो नौ केवललब्धियों को प्राप्त करके परमात्मा बन चुका है उसे योग से सहित होने के कारण सयोगिकेवली कहा गया है। ६ घातिया कर्मों के क्षय से जिसके केवलज्ञान उत्पन्न हो चुका है उसे सयोगिकेवली कहते हैं।

सयोगिकेवलिकाल—अट्ठहि वस्सेहि अट्ठहि अंतो-मुहुत्तेहि य ऊणपुव्वकोडी सजोगिकेवलिकालो होदि। (धव. पु. ४, पृ. ३५७)।

सयोगिकेवली का काल (उत्कृष्ट) आठ वर्ष और आठ अन्तर्मुहूर्तों से कम एक पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण है।

सयोगिजिनगुणस्थान—सम्प्राप्तकेवलज्ञान-दर्शनो जीवो यत्र भवति तत्सयोगिजिनसंज्ञं त्रयोदशं गुण-स्थानं भवति। (त. वृत्ति श्रुत. ९-१)।

केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त करके जीव जिस गुणस्थान में रहता है उस तेरहवें गुणस्थान को सयोगिकेवलिजिनगुणस्थान कहते हैं।

सयोगिभवस्थकेवलज्ञान—केवलज्ञानोत्पत्तेरारभ्य यावदद्यापि शैलेश्यवस्थां न प्रतिपद्यते तावत् सयोगि-भवस्थकेवलज्ञानम्। (आव. नि. मलय. वृ. ७८, पृ. ८३)।

केवलज्ञान की उत्पत्ति से लेकर जीव जब तक शैलेशी अवस्था को प्राप्त नहीं होता तब तक उसके केवल-ज्ञान को सयोगिभवस्थकेवलज्ञान कहा जाता है।

सरप्रमाण—तत्थ णं जे से बायरबोंदि कलेवरे तओ णं वाससए २ गए एगमेगं गंगावालुयं अवहाय जावतिएणं कालेणं से कोट्ठे खीणे णीरए णिल्लेवे णिट्ठिए भवति, से त्तं सरे सरप्पमाणे। (भगवती १५, खं. ३, पृ. ३८१)।

बादर बोंदि कलेवर रूप उद्धार से सौ सौ वर्ष में एक एक गंगावालुका कण का अपहार करने पर जितने काल में वह खाली होकर नीरज, निर्लेप व निष्ठित हो जाय उतने काल को सरप्रमाणकाल कहते हैं।

सरस्वती—मातेव या शास्ति हितानि पुंसो, रजः क्षिपन्ती ददती सुखानि। समस्तशास्त्रार्थविचार-दक्षा, सरस्वती सा तनुतां मतिं मे॥ (अमित. श्रा. १-७)।

जो माता के समान पुरुषों को हित की शिक्षा देती है, कर्ममल को दूर फेंकती है, तथा सुख को देती है; समस्त शास्त्र के अर्थ के विचार में कुशल ऐसी उस जिनवाणी को सरस्वती कहा जाता है।

सरःशोष—१. सरःशोषः सरःसिन्धु-ह्रदादेरम्बु-संप्लवः॥ (योगशा. ३-११४; त्रि. श. पु. च. १, ३, ३४८)। २. सरःशोषो धान्यवपनाद्यर्थं जला-शयेभ्यो जलस्य सारण्या कर्षणम्। (सा. ध. स्वो. टी. ५-२२)।

१ तालाब, नदी और ह्रद आदि से जल के निकालने को सरःशोष कहते हैं। २ धान्य के बोने आदि

के लिए जलाशयों से जो सारणी के द्वारा जल को खींचा जाता है उसका नाम सरःशोष है।

सराग –१. संसारकारणनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णोऽक्षीणाशयः सराग इत्युच्यते। (स. सि. ६-१२)। २. संपरायनिवारणप्रवणोऽक्षीणाशयः सरागः। पूर्वोपात्तकर्मोदयवशादक्षीणाशयः सन् संपरायनिवारणं प्रत्यागूर्णमनाः सराग इत्युच्यते। (त. वा. ६, १२, ५)। ३. सांपरायनिवारण-प्रवणो अक्षीणाशयः सरागः। (त. श्लो. ६-१२)। ४. रञ्जनाद् रागः संज्वलनलोभादिकषायाः, तत्सहवर्ती सरागः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-१३)।

१ जो संसार के कारणों के छोड़ने में उद्यत है, पर जिसका रागादिरूप अभिप्राय नष्ट नहीं हुआ है उसे सराग कहा जाता है।

सरागचर्या –देखो सरागचारित्र।

सरागचारित्र –१. मूलुत्तरसमणगुणा धारण कहणं च पंच आयारो। सोही तहव सुणिट्ठा सरायचरिया हवइ एवं॥ (द्रव्यस्व. प्र. नयच. ३३४)। २. आदिमकसायबारसखवोवसम संजलण-णोकसायाणं। उदयेण [य] जं चरण सरागचारित्त तं जाण॥ मज्झिमकसायअट्ठउवसमे हु संजलण-णोकसायाणं। खइउवसमदो होदि हु तं चेव सरागचारित्तं॥ (भावत्रि. ११-१२)।

१ मुनियों के मूलगुणों व उत्तरगुणों का धारण, व्याख्यान, पांच प्रकार के आचार का परिपालन, भावशुद्धि व कायशुद्धि आदि आठ शुद्धियों का निर्वाह और अतिशय निष्ठा; यह सब सरागचर्या (सरागचारित्र) स्वरूप है। २ आदि की बारह कषायों के क्षयोपशम तथा संज्वलन और नोकषायों के उदय से जो चारित्र होता है उसे सरागचारित्र जानना चाहिए। अथवा मध्य की आठ कषायों के उपशम तथा संज्वलन और नोकषायों के क्षयोपश से जो चारित्र होता है उसे सरागचारित्र जानना चाहिए।

सरागसम्यक्त्व—१. प्रशम-संवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तलक्षणं प्रथमम्। (स. सि. १-२; त. वा. १, २, ३०)। २. सरागे वीतरागे च तस्य संभवतोऽञ्जसा। प्रशमादेरभिव्यक्तिः शुद्धिमात्राच्च चेतसः॥ ××× प्रशम-संवेगानुकम्पास्तिक्येभ्यः सरागेषु सद्दर्शनस्य (अभिव्यक्तिः)। (त. श्लो. १, २, १२)। ३. प्रशस्तरागसहितानां श्रद्धानं सरागसम्यग्दर्शनम्। (भ. आ. विजयो. ५१)। ४. प्रशम-संवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सरागसम्यक्त्वं भण्यते। (परमा. वृ. २-१७); व्यवहारेण तु वीतराग-सर्वज्ञप्रणीतसद्द्रव्यादि श्रद्धानरूपं सरागसम्यक्त्वं चेति भावार्थः। (परमा. वृ. २-१४३)।

१ जो तत्त्वार्थश्रद्धान प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुणों से प्रगट होता है अथवा इन चिह्नों से जाना जाता है उसे सरागसम्यक्त्व कहते हैं।

सरागसंयम—देखो सरागचर्या सरागचारित्र।

१. प्राणीन्द्रियेष्वशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयमः, सरागस्य संयमः सरागो वा संयमः सरागसंयमः। (स. सि. ६-१२)। २. प्राणीन्द्रियेष्वशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयमः। प्राणिष्वेकेन्द्रियादिषु चक्षुरादिष्विन्द्रियेषु च अशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयम इति निश्चीयते। सरागस्य संयमः सरागो वा संयमः सरागसंयमः। (त. वा. ६, १२, ६)। ३. सरागसंयमः मूल-गुणोत्तरगुणसम्पद्लोभाद्युदयवान् प्राणवधाद्युपरमः। (त. भा. हरि. वृ. ६-१३)। ४. संयमनं संयमः प्राणिवधाद्युपरतिः, सरागस्य संयमः सरागसंयमः, मूलगुणोत्तरगुणसम्पल्लोभाद्युभयभाज इति यावत्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-१३)। ५. संसारकारणनिषेधं प्रत्युद्यतः अक्षीणाशयश्च सराग इत्युच्यते, प्राणीन्द्रियेषु अशुभप्रवृत्तेर्विरमणं संयमः, पूर्वोक्तस्य सरागस्य संयमः सरागसंयमः, महाव्रतमित्यर्थः। अथवा सरागः संयमो यस्य स सरागसंयमः। (त. वृत्ति श्रुत. ६-२०)।

१ प्राणियों व इन्द्रियों के विषय में जो अशुभ प्रवृत्ति होती है उससे विरत होने का नाम संयम है, सराग के संयम को, अथवा सराग—राग सहित—संयम को सरागसंयम कहा जाता है। ३ मूल और उत्तर गुणरूप सम्पत्ति के साथ लोभ आदि के उदय युक्त जो प्राणवध आदि से निवृत्ति होती है उसे सरागसंयम कहते हैं।

सर्पमुद्रा—दक्षिणहस्तं संहताङ्गुलिमुन्नमय्य सर्पफणावत् किञ्चिदाकुञ्चयेदिति सर्पमुद्रा। (निर्वाणक. पृ. ३२)।

परस्पर मिली हुई अंगुलियों से युक्त दाहिने हाथ को ऊपर उठाकर सांप के फण के आकार में संकुचित करने पर सर्पमुद्रा होती है।

सर्पिरास्रवी—१. रिसिपाणितलणिखित्तं रुक्खा-

हारादियं पि खणमेत्ते। पावेदि सप्पिरूवं जीए सा सप्पियासवी रिद्धी॥ अहवा दुःखप्पमुहं सवणेण मुणिददिव्ववयणस्स। उवसामदि जीवाणं एसा सप्पियासवी रिद्धी॥ (ति. प. ४, १०८६–८७)। २. येषां पाणिपात्रगतमन्नं रूक्षमपि सर्पीरस-वीर्य-विपाकानाप्नोति, सर्पिरिव वा येषां भाषितानि प्राणिनां सन्तर्पकाणि भवन्ति ते सर्पिरास्रविणः। (त. वा. ३, ३६, ३)। ३. सर्पिर्घृतम्, जेसिं तवो-महप्पेण अंजलिउडणिवदिदासेसाहारा घदासादसरूवेण परिणमंति ते सप्पिसवीणो जिणा। (धव. पु. ६, पृ. १००)। ४. वीर्यान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षादावि-र्भूताऽसाधारणकायबलत्वान्मासिक-सांवत्सरिकादिप्र-तिमायोग (?) रूक्षमपि [अन्न] सर्पिरस-वीर्यवि-पाकमवाप्नोति, सर्पिरिवं वा येषां भाषितानि प्राणि-नां संतर्पकाणि भवन्ति ते सर्पिरास्रविणः। (चा. सा. पृ. १०१)। ५. येषां पात्रपतितं कदन्नमपि सर्पिरस-वीर्यविपाकं जायते वचनं वा शरीर-मानस-दुःखप्राप्तानां देहिनां सर्पिर्वत्सन्तर्पकं भवति ते सर्पिरास्रविणः। (योगशा. स्वो. विव. १–१६, पृ. ३६)।

१ जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के हाथ में रखा गया रूखा आहार क्षणभर में घृतरूपता को प्राप्त कर लेता है उसे सर्पिरास्रवी ऋद्धि कहते हैं। अथवा जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के दिव्य वचन के सुनने से जीवों के दुख आदि शान्त हो जाते हैं उसे सर्पिरास्रवी ऋद्धि जानना चाहिए।

सर्पिस्स्रावी—देखो सर्पिरास्रवी।

सर्व—सरत्यशेषानवयवानिति सर्वः। सरति गच्छति, अशेषानवयवानिति सर्व इत्युच्यते। (त. वा. ७, २, २)।

जो समस्त अवयवों को प्राप्त होता है उसका नाम सर्व है, यह सर्व शब्द का निरुक्तार्थ है। यह सर्व-विरति की एक विशेषता को प्रगट करता है।

सर्वकरणोपशामना—देखो करणोपशामना व प्रशस्तकरणोपशामना।

सर्वकांक्षा—१. अण्णो पुण सव्वपावादियमयाइं कंखइ सा सव्वकंखा भण्णइ। (दशवै. चू. पृ. ६५)। २. सर्वकांक्षा तु सर्वदर्शनान्येव कांक्षति अहिंसा-प्रतिपादनपराणि सर्वाण्येव कपिल-कणभक्षाक्षपाद-मतानीह लोके च नात्यन्तक्लेशप्रतिपादनपराणि, अतः शोभनान्येवेति। (श्रा. प्र. टी. ८७)। ३. सर्वविषया (कांक्षा) सर्वपाखण्डिधर्माकांक्षा-रूपा। (योगशा. स्वो. विव. २–१७)।

२ कपिल व कणाद आदि के द्वारा प्ररूपित सब ही सम्प्रदाय अहिंसा का प्रतिपादन करते हैं, तथा वे इस लोक में अधिक क्लेश का भी प्रतिपादन नहीं करते, अतः वे सब ही उत्तम हैं; इस प्रकार सब सम्प्रदायों की आकांक्षा को सर्वकांक्षा कहा जाता है।

सर्वज्ञ—१. जो जाणदि पच्चक्खं तियालगुण-पज्जएहिं संजुत्तं। लोयालोयं सयलं सो सव्वण्हू हवे देओ॥ (कार्तिके. ३०२)। २. जो खुह-तिस-भयहीणो दोसो तह राग-मोहपरिचत्तो। चिंता-जराहिं रहिदो सो सव्वण्हू समुद्दिट्ठो॥ (जं. दी. प. १३–८५)। ३. तदयं चेतनो ज्ञाता सवेदनात्मा प्रतिक्षणम्। तत्प्रतिबन्धविश्लेषे सर्वज्ञः सर्वार्थदृक्॥ सर्वज्ञः करणपर्यायव्यवधानातिवर्तिधीः। परिक्षीण-दोषावरणः × × ×॥ (सिद्धिवि. ८, ३७–३८, पृ. ५८०); सर्वज्ञः सकलार्थ [विद्] अशेषदोषा-वृत्तिच्छेदतः। (सिद्धिवि. ८–४३, पृ. ५८७)। ४. सर्वज्ञो यथावन्निखिलार्थसाक्षात्कारी। (रत्नक. टी. १–७)। ५. सर्वं लोकालोकवस्तुजातं जाना-तीति सर्वज्ञः। (लघीय. ५०, पृ. ७३)।

१ जो त्रिकालवर्ती गुण-पर्यायों से सहित समस्त लोक व अलोक को प्रत्यक्ष जानता है उसे सर्वज्ञ कहा जाता है।

सर्वज्ञानावरण—सर्वं ज्ञानं केवलाख्यमावृणोतीति सर्वज्ञानावरणीयम्, केवलावरणं हि आदित्यकल्पस्य केवलज्ञानरूपस्य जीवस्याच्छादकतया सान्द्रमेघ-वृन्दकल्पमिति तत्सर्वज्ञानावरणम्। (स्थाना. अभय. वृ. १०५)।

जो केवलज्ञान स्वरूप समस्त ज्ञान को आच्छादित करता है उसे सर्वज्ञानावरणीय कर्म कहा जाता है।

सर्वतः आहारपोषधव्रत—सर्वतस्तु चतुर्विधस्या-प्याहारस्याहोरात्रं यावत्प्रत्याख्यानम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–८५)।

चारों ही प्रकार के आहार का दिन-रात के लिए परित्याग करना, इसे सर्वतः आहारपोषधव्रत कहते हैं।

सर्वतः कुव्यापारनिषेधपोषध—सर्वतस्तु सर्वे-षामपि कृषि-सेवा-वाणिज्य-पाशुपाल्य-गृहकर्मादीना-

मकरणम् । (योगशा. स्वो. विव. ३–८५) ।
खेती, व्यापार, पशुपालन और गृहकर्म आदि सभी व्यापारों का न करना; इसे सर्वतः कुव्यापारनिषेधपोषधव्रत कहते हैं ।

सर्वतः ब्रह्मचर्यपोषध—सर्वतस्तु अहोरात्रं यावत् ब्रह्मचर्यपालनम् । (योगशा. स्वो. विव. ३–८५) ।
दिन-रात पर्यन्त ब्रह्मचर्य के परिपालन को सर्वतः ब्रह्मचर्यपोषध कहा जाता है ।

सर्वतः स्नानादित्याग—सर्वतस्तु सर्वस्यापि स्नानादेः शरीरसत्कारस्याकरणम् । (योगशा. स्वो. विव. ३–८५) ।
शरीरसंस्कार स्वरूप स्नानादि सभी क्रियाओं का परित्याग करना, इसे सर्वतः स्नानादित्यागपोषध कहते हैं ।

सर्वधत्तासर्व—सा हवइ सव्वधत्ता दुपडोआरा जिया य अजिया य । दव्वे सव्वघडाई सव्वघत्ता पुणो कसिणं ॥ (आव. भा. १८७; हरि. वृ. पृ. ४७७) ।
जो जीव-अजीव स्वरूप सब वस्तुओं के समूह को व्याप्त करके व्यवस्थित है उसे सर्वधत्ता सर्व कहा जाता है । यह नाम-स्थापनादि रूप सात सर्वभेदों में छठा है ।

सर्वपरिक्षेपी नैगम—सर्वपरिक्षेपी—सर्वं सामान्यम् एकं नित्यं निरवयवादिरूपम्, तत् परिक्षेप्तुं शीलमस्य स सर्वपरिक्षेपी, सामान्यगृहीति यावत् । (त. भा. सिद्ध. वृ. १–३५) ।
जो सबको—सामान्य, एक, नित्य और निरवयवादि को—स्वभावतः ग्रहण किया करता है उसे सर्वपरिक्षेपी नैगम कहते हैं ।

सर्वरत्ननिधि—एकेन्द्रियाणि सप्तापि सप्त पंचेन्द्रियाणि च । चक्रिरत्नानि जायन्ते सर्वरत्नाभिधे निधौ । (त्रि. श. पु. च. १, ४, ५७७) ।
जिस निधि में सात एकेन्द्रिय और सात पंचेन्द्रिय ये चक्रवर्ती के चौदह रत्न उत्पन्न होते हैं उसे सर्वरत्ननिधि कहा जाता है ।

सर्वविपरिणामना—जा पयडी सव्वणिज्जराए णिज्जरिज्जदि सा सव्वविपरिणामणा णाम । (धव. पु. १५, पृ. २८३) ।
जो प्रकृति सर्वनिर्जरा से निर्जीर्ण होती है उसका नाम सर्वविपरिणामना प्रकृति है ।

सर्वविरति—स्थूलानामितरेषां च हिंसादीनां विवर्जनम् । सिद्धिसौधैकसरणिः सा सर्वविरतिस्तथा ॥ (त्रि. श. पु. च. १, १, १९५) ।
स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के हिंसादिक पापों का जो परित्याग किया जाता है, इसे सर्वविरति कहते हैं ।

सर्वविषयमिथ्यादृष्टिप्रशंसन—सर्वविषयं सर्वाण्यपि कपिलादिदर्शनानि युक्तियुक्तानीति माध्यस्थ्यसारा स्तुतिः सम्यक्त्वस्य दूषणम् । (योगशा. स्वो. विव. २–१७, पृ. १८९) ।
महर्षि कपिल आदि के द्वारा प्ररूपित सब ही सम्प्रदाय युक्तियुक्त हैं, इत्यादि रूप में जो मध्यस्थ वृत्ति से स्तुति की जाती है उसे सर्वविषयमिथ्यादृष्टिप्रशंसन कहते हैं ।

सर्वविषया कांक्षा—देखो सर्वकांक्षा ।

सर्वविषया शङ्का—देखो सर्वशङ्का ।

सर्वशङ्का—१. सव्वमेयं पागयभासाए वद्धं अण्णेण व कुसलकप्पियं होज्जत्ति एसा सव्वसंका । (दशवै. चू. पृ. ९५) । २. सर्वशंका पुनः सकलास्तिकायव्रात एव किमेवं स्यान्नैवमिति । (श्रा. प्र. टी. ८७) । ३. सर्वविषया अस्ति वा नास्ति वा धर्म्म इत्यादि । (योगशा. स्वो. विव. २–१७) ।
१ यह सब प्राकृत भाषा में निबद्ध अथवा अन्य के द्वारा कुशलता से कल्पित हो सकता है, इस प्रकार की शंका को सर्वशंका कहा जाता है । २ समस्त अस्तिकायों के विषय में शंका रखना कि ऐसा होगा या नहीं होगा, इसे सर्वशंका कहते हैं ।

सर्वसंक्रमण—चरमकाण्डकचरमफालेः सर्वप्रदेशाग्रस्य यत्संक्रमणं तत्सर्वसंक्रमणम् । (गो. क. जी. प्र. ४१३) ।
अन्तिम काण्डक की अन्तिम फाली के समस्त प्रदेशपिण्ड का जो संक्रमण होता है उसे सर्वसंक्रमण कहते हैं ।

सर्वसाधु—णिव्वाणसाधए जोगे सदा जुंजंति साधवो । समा सव्वेसु भूदेसु तह्मा ते सव्वसाधवो ॥ (मूला. ७–११) ।
जो मुक्तिसाधक योग—मूलगुणादि रूप अनुष्ठान में—निरन्तर अपने जो योजित करते हैं तथा समस्त प्राणियों में समान—राग-द्वेष से विहीन—रहते हैं, वे सर्वसाधु कहलाते हैं ।

सर्वस्पर्श—१. जं दव्वं सव्वं सव्वेण फुसदि, जहा परमाणुदव्वमिदि, सो सव्वो सव्वफासो णाम। (षट्खं. ५, ३, २२; धव. पु. १३, पृ. २१)। २. सव्वावयवेहि फासो सव्वफासो णाम। (धव. पु. १३, पृ. ७); जहा परमाणुदव्वमण्णेण परमाणुणा पुसिज्जमाणं सव्वं सव्वप्पणा पुसिज्जदि तहा अण्णो वि जो एवंविहो फासो सो सव्वफासो त्ति दट्ठव्वो। (धव. पु. १३, पृ. २१)।

१ जो द्रव्य परमाणु के समान सबको सर्वात्मकरूप से स्पर्श करता है उस सबको सर्वस्पर्श कहा जाता है।

सर्वानशनतप—१. परित्यागोत्तरकालो जीवितस्य यः सर्वकालः, तस्मिन्ननशनं अशनत्यागः सर्वानशनम्। (भ. आ. विजयो. २०६)। २. सव्वाणसणं सर्वस्मिन् संन्यासोत्तरकालेऽनशनमशनत्यागः। (भ. आ. मूला. २०६)।

१ आहारपरित्याग के बाद का जो जीवित का सब काल है उसमें भोजन के परित्याग को सर्वानशन कहा जाता है।

सर्वानन्त—जं तं सव्वाणंतं तं घणागारेण आगासं पेक्खमाणे अंताभावादो सव्वाणंतं। (धव. पु. ३, पृ. १६)।

आकाश को घनाकार से—सब ओर से—देखने पर उसका अन्त नहीं देखा जाता, इसीलिए अन्त का अभाव होने से उसे सर्वानन्त कहा जाता है।

सर्वानुकम्पा—१. सद्दृष्टयो वापि कुदृष्टयो वा स्वभावतो मार्दवसंप्रयुक्ताः। यां कुर्वते सर्वशरीर[रि] वर्गे सर्वानुकम्पेत्यभिधीयते सा॥ (भ. आ. विजयो. १८३४)। २. सद्दृष्टिभिः कुदृष्टिभिर्वा क्रियमाणा क्लिश्यमानसर्वप्राणिषु अनुकम्पा सर्वानुकम्पेत्युच्यते, यया प्रयुक्तोऽन्यदुःखं स्वात्मस्थमिव मन्यमानस्तत्स्वास्थ्याय प्रत्युपकारनिरपेक्षं प्रयतते सदुपदेशं च ददाति। (भ. आ. मूला. १८३४)।

१ चाहे सम्यग्दृष्टि हों और चाहे मिथ्यादृष्टि हों वे मार्दवगुण से प्रेरित होकर स्वभावतः सब प्राणियों के समूह में जिस दया को किया करते हैं उसे सर्वानुकम्पा कहा जाता है।

सर्वान्त—सर्वान्ताः पुनरशेषधर्मा विशेष-सामान्यात्मकद्रव्य-पर्यायव्यक्तिविधि-व्यवच्छेदाः। (युक्त्यनु. टी. ६२)।

विशेष-सामान्यस्वरूप व द्रव्य-पर्यायरूप व्यक्ति के विधि-निषेधरूप सब धर्मों को सर्वान्त कहा गया है।

सर्वार्थसिद्ध—१. सर्वेष्वभ्युदयार्थेषु सिद्धाः सर्वार्थसिद्धाः, सर्वार्थैश्च सिद्धाः, सर्वे चैव चैषामभ्युदयार्थाः सिद्धा इति सर्वार्थसिद्धाः। (त. भा. ४–२०)। २. आभ्युदयिकसुखप्रकर्षवर्तित्वात् सर्वप्रयोजनेष्वव्याहतशक्तयः सर्वार्थसिद्धाः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४–२१)।

१ जो सभी अभ्युदय सम्बन्धी प्रयोजनों में सिद्ध हैं वे सर्वार्थसिद्ध कहलाते हैं। अथवा जो सभी इन्द्रियविषयों से प्रसिद्ध हैं, अथवा जिनके लौकिक सुख के सब प्रयोजन सिद्ध हो चुके हैं उन्हें सर्वार्थसिद्ध कहा जाता है।

सर्वावधि—सर्वं विश्वं कृत्स्नमवधिर्मर्यादा यस्य स बोधस्सर्वावधिः। × × × अथवा सरति गच्छति आकुञ्चन-विसर्पणादीनि इति पुद्गलद्रव्यं सर्वम्, तमोही जिस्से सा सव्वोही। (धव. पु. ९, पृ. ४७, ४८)।

जिसके विषय की अवधि समस्त विश्व है, अथवा जिसकी अवधि पुद्गल (रूपी द्रव्य) है उसे सर्वावधि कहते हैं।

सर्वावधिजिन—सर्वावधयश्च ते जिनाश्च सर्वावधिजिनाः। (धव. पु. ९, पृ. ५१)।

सर्वावधि स्वरूप जिनों को सर्वावधिजिन कहते हैं।

सर्वावधिमरण—सर्वावधिमरणं नाम यदायुर्यथाभूतमुदेति सांप्रतं प्रकृति-स्थित्यनुभव-प्रदेशैस्तथानुभूतमेवायुः प्रकृत्यादिविशिष्टं पुनर्बध्नाति उदेष्यति च यदि तत्सर्वावधिमरणम्। (भ. आ. विजयो. २५; भावप्रा. टी. ३२)।

जो आयु वर्तमान में प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेश की अपेक्षा जिस रूप में उदय को प्राप्त है उसी रूप में यदि उसे प्रकृति-स्थिति आदि से विशिष्ट बांधता है व भविष्य में उदय को भी प्राप्त होती है तो इसे सर्वावधिमरण कहा जाता है।

सर्वासंख्यात—जं तं सव्वासंखेज्जयं तं घणलोगो। कुदो? घणागारेण लोगं पेक्खमाणे पदेसगणणं पडुच्च संखाभावादो। (धव. पु. ३, ...)

घनलोक को सर्वासंख्यात माना जाता है, कारण यह कि उस घनलोक को घनाकार से देखने पर प्रदेश-गणना की अपेक्षा संख्या संभव नहीं है।

सर्वोदयतीर्थ—सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्यकल्पं सर्वान्त-शून्यं च मिथोऽनपेक्षम्। सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव। (युक्त्यनु. ६२)।

जो तीर्थ—परमागम—सबके अभ्युदय का कारण हो उसे सर्वोदय तीर्थ कहा जाता है। ऐसा वह वीतराग सर्वज्ञ प्ररूपित तीर्थ गौण और मुख्य अथवा विवक्षित-अविवक्षित की अपेक्षा सब अन्तों—विधि-निषेध रूप धर्मों—से सहित होता है, वही उन धर्मों के परस्पर निरपेक्ष होने पर सब धर्मों से शून्य रहता है, वह एकान्तवाद स्वरूप दुर्नयों या मिथ्यादर्शनादि का विघातक होने से समस्त आपत्तियों को दूर करने वाला तथा प्रतिवादियों के द्वारा अखण्डनीय होने से निरन्त भी होता है।

सर्वौषध—देखो सर्वौषधि।

सर्वौषधि—१. जीए पस्स जलाणिल-रोम-णहादीणि वाहिहरणाणि। दुक्करतवजुत्ताणं रिद्धी सव्वोसही-णामा॥ (ति. प. ४-१०७३)। २. अङ्ग-प्रत्यङ्ग-नख-दन्त-केशादिरवयवः, तत्संस्पर्शी वाय्वादिस्सर्व औषधिप्राप्तो येषां ते सर्वौषधिप्राप्ताः। (त. वा. ३, ३६, ३; चा. सा. पृ. ६६)। ३. रस-रुहिर-मांस-मेदट्ठि-मज्ज-सुक्क-पुप्फस-खरीस-कालेज्ज-मुत्त-पित्तंतुच्चारादओ सव्वे ओसहित्तं पत्ता जेसिं ते सव्वोसहिपत्ता। (धव. पु. ६, पृ. ६७)। ४. सर्व-विट्मूत्रादिकमौषधं यस्य स सर्वौषधः। किमुक्तं भवति? यस्य मूत्रं विट् श्लेष्मा शरीरमलो वा रोगोपशमसमर्थो भवति स च सर्वौषधः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २७३)। ५. सर्वे एव विण्मूत्र-केश-नखादयोऽवयवाः सुरभयो व्याध्यपनयनसमर्थत्वादौ-षधयो यस्यासौ सर्वौषधिः, अथवा सर्वा आमर्षौ-षध्यादिका औषधयो यस्य एकस्यापि साधोः स तथा। (आव. नि. मलय. वृ. ६६, पृ. ७८)।

१ जिस ऋद्धि के प्रभाव से दुष्कर तपयुक्त मुनियों का स्पर्श जल, वायु, रोम और नख आदि रोग के विनाशक होते हैं उसका नाम सर्वौषधि ऋद्धि है। २ जिनके अंग-प्रत्यंग, नख-दांत और बाल आदि अवयवों को स्पर्श करने वाली वायु आदि सब औषधि को प्राप्त हो जाते हैं वे सर्वौषधि ऋद्धि के धारक होते हैं।

सर्वौषधिप्राप्त—देखो सर्वौषधि।

सललितगेय—यत् स्वरघोलनाप्रकारेण ललतीव तत् सह ललितेन ललनेन वर्तत इति सललितम्, यदि वा यत् श्रोत्रेन्द्रियस्य शब्दस्पर्शनमतीव सूक्ष्ममुत्पादयति सुकुमारमिव च प्रतिभासते तत् सललितम्। रायप. मलय. वृ. ३२ पृ. १६२-६३)।

जो गेय स्वरघोलना के प्रकार से विलसितसा प्रतीत होता है वह ललित सहित होने से सललित गेय कहलाता है, अथवा जो श्रोत्र इन्द्रिय के शब्द-स्पर्श को अतिशय सूक्ष्म उत्पन्न कराता है उसे सललित गेय जानना चाहिए।

सल्लेखना—देखो संलेखना। १. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे। धर्माय तनुविमोचन-माहुः सल्लेखनामार्याः॥ (रत्नक. ५-१)। २. सम्यक्काय-कषायलेखना सल्लेखना। कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापन-क्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना। (स. सि. ७-२२)। ३. बाह्याभ्यन्तरनैःसंग्याद् गृहीत्वा तु महाव्रतम्। मरणान्ते तनुत्यागः सल्लेखः स प्रकीर्त्यते॥ (वरांग-च. १५-१२५)। ४. सम्यक् काय-कषायलेखना सल्लेखना। × × × कायस्य बाह्यस्य अभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापनया क्रमेण सम्यक् लेखना सल्लेखना। (त. वा. ७, २२, ३)। ५. सम्यक्काय-कषायाणां बहिरन्तर्हि लेखना। सल्लेखनापि कर्तव्या कारणे मारणान्तिकी॥ रागादीनामनुत्पन्नावगमो-दितवर्त्मना। अशक्यपरिहारे हि सान्ते सल्लेखना मता॥ (ह. पु. ५८, १६०-६१)। ६. सम्यक्काय-कषायलेखना, बाह्यस्य कायस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां यथाविधि मरणविभक्त्याराधनोदितक्रमेण तनूकरणमिति यावत्। (त. श्लो. ७-२२)। ७. बाह्यस्य कायस्याभ्यन्तराणां कषायाणां तत्कारण-हापनया क्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना। उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि निःप्रतिक्रियायां धर्मार्थं तनुत्यजनं सल्लेखना। (चा. सा. पृ. २३)। ८. चइऊण सव्वसंगे गहिऊणं तह महव्वए पंच। चरिमंते सण्णासं जं धिप्पइ सा चउत्थिया सिक्खा॥ (धम्मर. १५६)। ९. सल्लेखना कायस्य कषाया-णां च सम्यक्कृशीकरणम्। (अन. ध. स्वो. टी

७–६८)। १०. सल्लेखना सम्यक् लाभाद्यनपेक्षत्वेन, लेखना बाह्येनाभ्यन्तरेण च तपसा कायकषायाणां कृशीकरणम्। (सा. ध. स्वो. टी. १-१२); सल्लेखनां बाह्याभ्यन्तरतपोभिः सम्यक्काय-कषाय-कृशीकरणमाचारम् × × × । (सा. ध. स्वो. टी. ७–५७)। ११. सल्लेहणा सम्यक् कृशीकरणं अर्थात् काय-कषायाणाम्। (भ. आ. मूला. ६८)। १२. दुर्भिक्षे चोपसर्गे वा रोगे निःप्रतिकारके। तनोर्विमोचनं धर्मायाऽऽहुः सल्लेखनामिमाम् ॥ (धर्मसं. श्रा. १०–२१)। १३. सत् सम्यक् लेखना कायस्य कषायाणां च कृशीकरणं तनूकरणं सल्लेखना। (त. वृत्ति श्रुत. ७–२२)। १४. सोऽस्ति सल्लेखनाकालो जीर्णे वयसि चाथवा। दैवाद् घोरोपसर्गेऽपि रोगेऽसाध्यतरेऽपि च ॥ क्रमेणाराधनाशास्त्रप्रोक्तेन विधिना व्रती। वपुश्च कषायाणां जयं कृत्वा तनुं त्यजेत् ॥ (लाटीसं. ६, २३४–३५)।

१ जिसका कुछ प्रतीकार नहीं किया जा सकता है ऐसे उपसर्ग, दुष्काल, बुढ़ापा अथवा रोग के उपस्थित होने पर धर्म के लिए शरीर को छोड़ना, इसे सल्लेखना कहते हैं। २ बाह्य में शरीर को और अभ्यन्तर में कषायों को जो उनके कारणों को कम करते हुए सम्यक् प्रकार से कृश किया जाता है, इसका नाम सल्लेखना है।

सविकल्प—'तद्भावः परिणामः' स्यात् सविकल्पस्य लक्षणम् ॥ (न्यायवि. १२१)।

धर्माधर्मादि द्रव्य जिस स्वरूप से हैं उनके उस स्वरूप का नाम परिणाम है। यह परिणाम सविकल्प का लक्षण है।

सविकल्पचारित्र—तत्रैवात्मनि रागादिविकल्पनिवृत्तिरूपं सविकल्पचारित्रम्। (प्रव. सा. जय. वृ. ३–३८)।

ज्ञानस्वरूप शुद्ध आत्मा में जो राग-द्वेषादिरूप विकल्पों की निवृत्ति होती है, इसे सविकल्प चारित्र कहते हैं।

सविकल्पज्ञान—विशदाखण्डैकज्ञानाकारे स्वशुद्धात्मनि परिच्छित्तिरूपं सविकल्पज्ञानम्। (प्रव. सा. जय. वृ. ३–३८)।

निर्मल अखण्ड एक ज्ञानमय शुद्ध आत्मा के विषय में जो परिच्छित्ति होती है उसे सविकल्प ज्ञान कहते हैं।

सविचार—विचारो नाम अत्थ-वंजण-जोगाण संकमण, सह विचारेण सविचारं, अत्थ-वंजण-जोगाणं जत्थ संकमणं तं सविचारं भण्णइ। (दशवै. चू. पृ. ३५)।

अर्थ, व्यञ्जन (शब्द) और योग का जो संक्रमण (परिवर्तन) होता है उसका नाम विचार है, इस विचार से सहित जो शुक्लध्यान होता है उसे सविचार कहते हैं। अर्थात् जिस शुक्लध्यान में अर्थ, व्यञ्जन और योग का परिवर्तन हुआ करता है उसे सविचार शुक्लध्यान जानना चाहिए।

सविज्ञानदाता—द्रव्यं क्षेत्रं सुधीः कालं भावं सम्यग् विचिन्त्य यः। साधुभ्यो ददते दानं सविज्ञानमिमं विदुः ॥ (अमित. श्रा. ६–७)।

जो बुद्धिमान् दाता द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का भले प्रकार से विचार करके साधुओं के लिए दान देता है उसे सविज्ञान दाता कहते हैं। दाता के श्रद्धादि सात गुणों में यह चौथा है।

सवितर्क-अवीचार-एकत्वध्यान—एकत्वेन वितर्कस्य स्याद् यत्राविचरिष्णुता। सवितर्कमवीचारमेकत्वादिपदाभिधम् ॥ (म. पु. २१–१७१)।

जिस शुक्लध्यान में एकत्व के साथ वितर्क तो रहता है, पर वीचार नहीं रहता है; उस दूसरे शुक्लध्यान को नाम से सवितर्क-अवीचार-एकत्व कहा जाता है।

सवितर्कध्यान—१. जम्हा सुदं वितक्कं जम्हा पुव्वगदअत्थकुसलो य। ज्झायदि ज्झाणं एदं सवितक्कं तेण तं ज्झाणं ॥ (भ. आ. १८८१; धव. पु. १३, पृ. ७८ उद्.)। २. निजशुद्धात्मनिष्ठत्वाद् भावश्रुतावलम्बनात्। चिन्तनं क्रियते यत्र सवितर्कस्तदुच्यते ॥ (भावसं. वाम. ७१६)।

१ श्रुतज्ञान और उसके विषयभूत अर्थ को भी वितर्क कहा जाता है। चूंकि पूर्वगत श्रुत—चौदह पूर्वो के—अर्थ में जो कुशल है वही ध्याता इस शुक्लध्यान को ध्याता है, इसीलिए उस ध्यान को सवितर्क कहा जाता है।

सवितर्क-सवीचार-सपृथक्त्वध्यान—१. पृथक्त्वेन वितर्कस्य वीचारो यत्र विद्यते। सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वं तदिष्यते ॥ (ज्ञाना. ४२–१३, पृ. ४३३)। २. पृथक्त्वेन वितर्कस्य वीचारो यत्र तद् विदुः। सवितर्कं सवीचारं पृथक्त्वादिपदाह्वयम् ॥ (म. पु. २१–१७०)। ३. सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वमुदाहृ-

तम् । त्रियोगयोगिनः साधोः शुक्लमाद्यं सुनिर्मलम् ॥ (भावसं. वाम. ७०१) ।

१ प्रथम शुक्लध्यान में चूंकि पृथक्‍ता के साथ वितर्क और वीचार ये दोनों भी रहते हैं, इसीलिए उसे सवितर्क-सविचार-सपृथक्त्व कहा जाता है ।

सविपाकनिर्जरा—१. अनेहसा या दुरितस्य निर्जरा, साधारणा साऽपरकर्मकारिणी । (अमित. श्रा. ३–६५) । २. सयमेव कम्मगलणं इच्छारहियाण होइ सत्ताणं । सविपक्कणिज्जरा सा × × × ॥ (द्रव्यस्व. प्र. नयच. १५७) । ३. चतुर्गतिभव-महासमुद्रे एकेन्द्रियादिजीवविशेषैः अवघूर्णिते नानाजातिभेदैः संभृते दीर्घकालं पर्यटतो जीवस्य शुभाशुभस्य क्रमपरिपाककालप्राप्तस्य कर्मोदयावलिप्रवाहानुप्रविष्टस्य आरब्धफलस्य कर्मणो या निवृत्तिः सा सविपाकनिर्जरा कथ्यते । (त. वृत्ति श्रुत. ८, २३) । ४. तत्र सविपाका स्वकालप्राप्ता स्वोदयकालेन निर्जरणं प्राप्ता, समयप्रबद्धेन बद्धं कर्म स्वाबाधाकालं स्थित्वा स्वोदयकालेन निषेकरूपेण गलति पक्वाम्रफलवत् । (कार्तिके. टी. १०४) । ५. यथाकालं समागत्य दत्त्वा कर्म रसं पचेत् । निर्जरा सर्वजीवानां स्यात् सविपाकसंज्ञकः[का] ॥ (जम्बू. च. १३–१३६) ।

१ समय के अनुसार जो कर्म की निर्जरा होती है वह सभी जीवों के साधारण है व उसे सविपाकनिर्जरा कहा जाता है । वह नवीन कर्मबन्ध की कारण है । २ इच्छा से रहित जीवों के जो स्वयं कर्मों का गलन होता है उसे सविपाक निर्जरा कहते हैं ।

सवीचार—देखो सविचार । १. अत्थाण वंजणाण य जोगाण य संकमो हु वीचारो । तस्स य भावेण तयं सुत्ते उत्तं सवीचारं ॥ (भ. आ. १८८२) । २. अर्थादर्थान्तरे शब्दाच्छब्दान्तरे च संक्रमः । योगाद् योगान्तरे यत्र सवीचारं तदुच्यते ॥ (भावसं. वाम. ७०४) ।

१ अर्थ (द्रव्य व पर्याय), व्यञ्जन (शब्द) और योग इनका जो संक्रम (परिवर्तन) होता है उसका नाम वीचार है । इस वीचार का सद्भाव होने से प्रथम शुक्लध्यान को सवीचार कहा गया है । २ जिस ध्यान में एक अर्थ से दूसरे अर्थ में, एक शब्द से दूसरे शब्द में तथा एक योग से दूसरे योग में संक्रमण हुआ करता है उसे सवीचार कहा जाता है ।

सवीचार-कायक्लेश—१. सवीचारं ससंक्रमं पूर्वावस्थिताद् देशाद् गत्वाऽपि स्थापितस्थानम् । (भ. आ. विजयो. २२३) । २. सविचारं ससंक्रमं पूर्वस्थानात् स्थानान्तरे गत्वा प्रहर-दिवसादिपरिच्छेदेनावस्थानम् । (भ. आ. मूला. २२३) ।

२ पूर्व स्थान से जाकर पहर अथवा दिन आदि की मर्यादा से अन्य स्थान में रहना, इसे सवीचार कायक्लेश कहते हैं ।

सव्याघातपादपोपगमन—१. सतोऽप्यायुषो यदोपक्रान्तिः क्रियते समुपजातव्याधिनोत्पन्नमहावेदनेन तत् सव्याघातम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–१६) । २. तत्र सतोऽप्यायुषः समुपजातव्याधिविधुरेणोत्पन्नमहावेदनेन वा देहिना यदुत्क्रान्तिः क्रियते तत् सव्याघातम् । (योगशा. स्वो. विव. ४–८६) ।

१ विद्यमान भी आयु का जब उपक्रमण किया जाता है तब उत्पन्न हुई व्याधि के साथ जो मरण होता है उसे सव्याघात पादपोपगमन मरण कहते हैं ।

सव्वकुले—सव्वकुले णामं जेण सव्वतो सव्वसंभवाभावा णो तच्चं सव्वतो सव्वहा सव्वकालं व णत्थित्ति सव्वच्छेदं वदति, से तं सव्वकुले । (ऋषिभा. २०, पृ. १५) ।

सबसे सबकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है, इसलिए सर्वतः, सर्वथा व सब काल तत्त्व नहीं है, इस प्रकार सब का उच्छेद करना, इसे सव्वकुल कहा जाता है ।

सशल्यमरण—माया-निदान-मिथ्यात्वलक्षणशल्यसमेतस्य मरणं सशल्यं मरणम् । (भ. आ. मूला. २५) ।

माया, निदान और मिथ्यात्व स्वरूप शल्य के साथ जो मरण होता है उसे सशल्य मरण कहते हैं ।

सहज मित्र—१. तत्सहजं मित्रं यत्पूर्वपुरुषपरम्परायातः सम्बन्धः । (नीतिवा. २३–३, पृ. २१६) । २. तथा च भागुरिः—सम्बन्धः पूर्वजानां हि यस्तेन योऽत्र समाययौ । मित्रत्वं कथितं तच्च सहजं नित्यमेव हि ॥ (नीतिवा. टी. २३–३) ।

१ जिसके साथ पूर्व पुरुषों का—पिता-पितामह आदि का—संबन्ध परम्परा से चला आया है वह सहज मित्र माना जाता है ।

सहज शत्रु—समाभिजनः सहजशत्रुः। (नीतिवा. २६-३३, पृ. ३२१)।

जो सम्पत्ति आदि का उत्तराधिकारी होता है उसे सहज शत्रु माना गया है, वह कभी भी भलाई का विचार नहीं करता।

सहन—सहनं चास्य क्रियादिवादिनां विचित्रमतश्रवणेऽपि निश्चलचित्ततया धारणम्। (समवा. अभय. वृ. २२)।

क्रिया-अक्रिया आदि वादियों के मत के सुनने पर भी निश्चल चित्त रहना—क्रोध आदि न करना, यह अज्ञानपरीषह का सहन है।

सहसानिक्षेपाधिकरण—१. उपकरणं पुस्तकादि, शरीरं शरीरमलानि वा सहसा शीघ्रं निक्षिप्यमाणानि भयात् कुतश्चित्कार्यान्तरकरणप्रयुक्तेन वा त्वरितेन षड्जीवनिकायबाधाधिकरणतां प्रतिपद्यन्ते। (भ. आ. विजयो. ८१४)। २. पुस्तकाद्युपकरणशरीरतन्मलानि भयादिना शीघ्रं निक्षिप्यमाणानि षड्जीवबाधाधिकरणत्वात् सहसानिक्षेपः। (अन. ध. स्वो. टी. ४-२८)।

१ पुस्तक आदि उपकरण, शरीर अथवा शरीरगत मल इनको सहसा—शीघ्रता से—रखने पर अथवा भय से या किसी अन्य कार्य में दत्तावधान होने से शीघ्रतावश रखे गये उपर्युक्त उपकरण आदि प्राणिसमूह को बाधा के आधार होते हैं। इसलिए इसे सहसानिक्षेपाधिकरण कहा जाता है।

सहसादोष—आलोकन-प्रमार्जनेऽकृत्वा पुस्तकादेरादानं निक्षेपं वा कुर्वत एकः सहसाख्यो दोषः। (भ. आ. मूला. ११६८)।

अवलोकन व प्रमार्जन न करके पुस्तक आदि का ग्रहण करना या रखना, यह एक आदान-निक्षेपणसमिति का सहसा नामक दोष है।

सहसाऽभ्याख्यान—१. सहसा अनालोच्य अभ्याख्यानं सहसाऽभ्याख्यानम्। (आव. हरि. वृ. अ. ६, पृ. ८२१)। २. सहसा अनालोच्याभ्याख्यानमसद्दोषाध्यारोपणं यथा चौरस्त्वं पारदारिको वेत्यादि। (योगशा. स्वो. विव. ३-६१)।

२ समुचित विचार न करके कथन करना तथा अविद्यमान दोषों का आरोप करना—जैसे तुम चोर हो, परस्त्रीगामी हो इत्यादि, इसे सहसाभ्याख्यान कहा जाता है। यह सत्याणुव्रत का एक अतिचार है।

सहानवस्थालक्षण विरोध—सहानवस्थालक्षणो हि विरोधः पदार्थस्य पूर्वमुपलम्भे पश्चात्पदार्थान्तरसद्भावादभावावगतो निश्चीयते शीतोष्णवत्। (प्र. क. मा. परि. ४, सू. ६, पृ. ४६८)।

पदार्थ का पूर्व में उपलम्भ होने पर पश्चात् अन्य पदार्थ के सद्भाव से उसके अभाव का ज्ञान होने पर दोनों में जो विरोध देखा जाता है उसे सहानवस्थारूप विरोध समझना चाहिए।

संकट—१. अइसण्हदेहपमाणेण संकुडदि त्ति संकुडो। (धव. पु. १, पृ. १२०); संहरधर्मत्वात्संकटः। (धव. पु. ६, पृ. २२१)। २. व्यवहारेण सूक्ष्मनिगोदलब्ध्यपर्याप्तकसर्वजघन्यशरीरप्रमाणेन संकुटति संकुचितप्रदेशो भवतीति संकुटः। (गो. जी. जी. प्र. टी. ३३६)। ३. जहण्णेण संकुइदपदेसो संकुडो। (अंगप. २, ८६-८७, पृ. २६५)।

१ जीव अतिशय श्लक्ष्ण (सूक्ष्म) शरीर के प्रमाण आत्मप्रदेशों से संकुचित हो सकता है, इसीलिए उसे संकट या संकुट कहा जाता है।

संकर—१. संकरोऽयोग्यैरसंयतैः सह मिश्रणम्। (भ. आ. विजयो. २३२)। २. संकरोऽसंयतैः सह मिश्रणम्। (भ. आ. मूला. २३२)।

१ अयोग्य और असंयमी जनों से मिश्रण होना, इसका नाम संकर है। क्षपक के लिए निर्दिष्ट विविक्त वसति में इस प्रकार का संकर संभव नहीं है।

संकल्प—१. व्यापादनाभिसंधिः संकल्पः। (श्रा. प्र. टी. १०७)। २. बहिर्द्रव्ये चेतनाचेतन-मिश्रे ममेदमित्यादि परिणामः संकल्पः। (पंचा. जय. वृ. ८)। ३. इष्टाङ्गनादर्शनादिना तां प्रत्युत्कण्ठागर्भो मनोव्यापारः संकल्पः। (अन. ध. स्वो. टी. ४, ६५)।

१ प्राणियों के घात आदि का जो विचार होता है उसे हिंसा-अहिंसा के प्रसंग में संकल्प कहा जाता है। २ चेतन, अचेतन और मिश्र द्रव्यों में जो 'यह मेरा है और मैं इसका स्वामी हूं' इस प्रकार का जीवका अभिप्राय होता है उसे प्रकृत में संकल्प कहते हैं। ३ अभीष्ट स्त्री के देखने आदि से जो उसके प्रति उत्कण्ठा से प्रेरित मन का व्यापार

होता है उसका नाम संकल्प है। इस प्रकार विषय-भेद से संकल्प अनेक प्रकार का है।

संकुचित दोष—कुंचितहस्ताभ्यां शिरः परामर्शं कुर्वन् यो वन्दनां विदधाति जानुमध्ययोर्वा शिरः कृत्वा संकुचितो भूत्वा यो वन्दनां करोति तस्य संकुचितदोषः। (मूला. वृ. ७–१०८)।

संकुचित हाथों से शिर का स्पर्श करते हुए जो वन्दना करता है अथवा घुटनों के बीच में शिर को करके व संकुचित होकर जो वन्दना करता है उसके संकुचित नाम का वन्दना का दोष होता है।

संकुट—देखो संकट।

संक्रम—देखो सङ्क्रमण। सो संकमो त्ति वुच्चइ जं बंधणपरिणओ पओगेणं। पगयंतरत्थदलियं परिणमयइ तयणुभावे जं॥ (कर्मप. सं. क. १)।

जिस प्रकृति के बन्धक स्वरूप से परिणत जीव संक्लेश अथवा विशुद्धिरूप प्रयोग के वश बध्यमान प्रकृति को छोड़कर दूसरी प्रकृति के परमाणुओं को बध्यमान प्रकृति के स्वरूप से परिणमाता है उसे संक्रम कहते हैं।

संक्रमण—देखो सङ्क्रम। १. तत्थ पगति-ट्ठिति-अणुभाग-पदेसाणं अण्णहाभावपरिणामणं अण्णपगति-परिणामणं इह वा संकमणकरणं। (कर्मप्र. चू. २)। २. संकमणमणत्थ गदी ××× ॥ (गो. क. ४३८)। ३. एतदुक्तं भवति—बध्यमानासु प्रकृतिषु मध्येऽबध्यमानप्रकृतिदलकं प्रक्षिप्य बध्यमानप्रकृति-रूपतया यत्तस्य परिणमणं, यच्च वा बध्यमानानां प्रकृतीनां दलकरूपस्येतरेतररूपतया परिणमनं तत् सर्वं संक्रमणमित्युच्यते। (कर्मप. सं. क. मलय. वृ. १)। ४. परप्रकृतिरूपपरिणमनं संक्रमणम्। (गो. क. जी. प्र. ४३८)।

१ प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों का अन्यथा स्वरूप से परिणमाना अथवा यहीं अन्य प्रकृतिरूप परिणमाना, इसका नाम संक्रमणकरण है। २ विवक्षित प्रकृति का जो अन्य प्रकृति में गमन या परिवर्तन होता है उसे संक्रम या संक्रमण कहते हैं।

संक्लिश्यमरण—दर्शन-ज्ञान-चारित्रेषु संक्लेशं कृत्वा मरणं संक्लिश्यमरणम्। (भ. आ. मूला. २५)।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के विषय में संक्लेश को प्राप्त होते हुए जो मरण होता है उसे संक्लिश्य-मरण कहते हैं।

संक्लिष्ट—१. पूर्वजन्मनि सम्भावितेनातितीव्रेण संक्लेशपरिणामेन यदुपार्जितं पापकर्म तस्योदयात् सततं क्लिष्टाः संक्लिष्टाः। (स. सि. ३–५)। २. पूर्वभवसंक्लेशपरिणामोपात्ताशुभकर्मोदयात् सततं क्लिष्टाः संक्लिष्टाः। पूर्वजन्मनि भावितेनातितीव्रेण संक्लेशपरिणामेन यदुपार्जितं पापकर्म तस्योदयात् सततमविरतं क्लिष्टाः संक्लिष्टाः। (त. वा. ३, ५, १)।

१ पूर्व जन्म में सम्भावित अतिशय तीव्र संक्लेश परिणाम से जिस पापकर्म को उपार्जित किया गया है उसके उदय से जो निरन्तर संक्लेश को प्राप्त होते हैं उन्हें संक्लिष्ट (असुरकुमार विशेष) कहते हैं।

संक्लेश—१. आर्त-रौद्रध्यानपरिणामः संक्लेशः। (अष्टशती ९५)। २. असादबंधजोग्गपरिणामो संकिलेसो णाम। (धव. पु. ६, पृ. १८०); असाद-बंधपाओग्गकसाउदयट्ठाणाणि संकिलेसो। (धव. पु. ११, पृ. २०९)। ३. मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-परिणामः संक्लेशः। (त. श्लो. ९–३०)।

१ आर्त और रौद्र ध्यानरूप परिणामों को संक्लेश कहा जाता है। २ असाता वेदनीय के बन्धयोग्य परिणाम का नाम संक्लेश है।

संक्लेशस्थान—असाद-अथिर-असुह-दुभग-दुस्सर-अणादेज्जादीणं परियत्तमाणियाणमसुहपयडीणं बंध-कारणकसाउदयट्ठाणाणि संकिलेसट्ठाणाणि। (धव. पु. ११, पृ. २०८)।

असाता, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर और अनादेय आदि परिवर्तमान अशुभ प्रकृतियों के बन्ध के कारणभूत कषायोदयस्थानों को संक्लेशस्थान कहा जाता है।

संक्षेपरुचि—१. अणभिग्गहियकुदिट्ठी, संखेवरुइ-त्ति होइ नायव्वो। अविसारओ पवयणे, अणभिग्ग-हिओ य सेसेसु॥ (उत्तरा. २८–२६; प्रज्ञाप. गा. १२५, पृ. ५६; प्रव. सारो. ९५९)। २. जीवादि-पदार्थसमाससंबोधनसमुद्भूतश्रद्धानाः संक्षेपरुचयः। (त. वा. ३, ३६, २)। ३. ××× पदार्थान्। संक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधु संक्षेपदृष्टिः॥ (आत्मानु. १३)। ४. ××× पदार्थानां संक्षे-पोक्त्या समुद्गता। या सा संक्षेपजा ××× ॥ (म. पु. ७४–४४५)। ५. आप्त-श्रुत-व्रत-पदार्थ-

समासालापाक्षेपः संक्षेपः। (उपासका. पृ. ११४; अन. ध. स्वो. टी. २-६२)। ६. तत्त्वार्थसूत्रादिसिद्धान्तनिरूपितजीवादिद्रव्यानुयोगद्वारेण पदार्थान् संक्षेपेण ज्ञात्वा रुचिं चकार यः स संक्षेपसम्यक्त्वः पुमानुच्यते। (दर्शनप्रा. टी. १२)।

१ जिसने मिथ्याभाव को ग्रहण नहीं किया है तथा जो प्रवचन—जिनप्रणीत आगम—में यद्यपि निपुण नहीं है फिर भी जो कपिलादिरचित आगमों को उपादेय स्वरूप से नहीं मानता है उसे संक्षेपरुचि जानना चाहिए।

संखडी—संखड्यन्ते प्राणिनामायूंषि यस्यां प्रकरणक्रियायां सा संखडी। (दशवै. सू. हरि. वृ. ३६, पृ. २१६)।

जिस प्रकरण क्रिया में प्राणियों की आयुएँ खण्डित की जाती हैं उसे संखडी कहते हैं।

संख्या—१. संख्या भेदगणना। (स. सि. १-८; गो. जी. म. प्र. ३५)। भेदगणनं संख्या। (न्यायकु. ७६, पृ. ८०३)। ३. प्रमादालापोत्पत्तिनिमित्ताक्षसंचारहेतुविशेषः संख्या। (गो. जी. जी. प्र. ३५)।

१ भेदों की गणना का नाम संख्या है।

संख्यात—१. अहवा जं संखाणं पंचिंदियविसओ तं संखेज्जं णाम। (धव. पु. ३, पृ. २६७)। २. × × × बीयादीया हवंति संखेज्जा। (त्रि. सा. १६)।

१ जो संख्या पांच इन्द्रियों की विषय है उसका नाम संख्यात या संख्येय है। २ दो-तीन आदि संख्या को संख्येय कहा जाता है।

संख्याप्रमाण—सयं सहस्समिदि दव्व-गुणाणं संखाणं धम्मो संखापमाणं। (जयध. १, पृ. ३८)।

सौ व हजार इत्यादि जो द्रव्यों व गुणों का संख्यारूप धर्म है उसे संख्याप्रमाण कहा जाता है।

संख्याभास—प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्याभासम्॥ (परीक्षा. ६-५५)।

प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, अथवा प्रत्यक्ष व अनुमान ये दो ही प्रमाण हैं, इत्यादि प्रकार से प्रमाण की संख्या का जो निर्धारण किया जाता है यह संख्याभास का लक्षण है।

संख्येय—देखो संख्यात।

संगविमुक्ति— × × × संगविमुक्तिः श्रामण्यायोग्यसर्ववस्तुपरित्यागः परिग्रहासक्त्यभावः। (मूला. वृ. १-४)।

जो वस्तुएं मुनिधर्म के योग्य नहीं हैं—उसके विपरीत हैं—उन सबके परित्याग के साथ उनके विषय में आसक्ति के न रखने को संगविमुक्ति कहते हैं। यह परिग्रहत्याग महाव्रत का नामान्तर है।

संग्रह—१. स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपनीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात् संग्रहः। (स. सि. १-३३)। २. अर्थानां सर्वैकदेशग्रहणं सङ्ग्रहः। (त. भा. १-३५, पृ. ११८); एकस्मिन् वा बहुषु वा नामादिविशेषितेषु साम्प्रतातीतानागतेषु घटेषु सम्प्रत्ययः सङ्ग्रहः। (त भा. १-३५, पृ. १२३)। ३. संगहियपिंडियत्थं संगहवयणं समासओ बिंति। (अनुयो. गा. १३७, पृ. २६४; आव नि. १३७)। ४. जं सामन्नग्गाही संगिण्हइ तेण संगहो नियमं। (विशेषा. भा. ७६); संगहणं संगिण्हइ संगिज्झंते व तेणजं भेया। तो संगहो त्ति सगहियपिंडियत्थं वओ जस्स॥ (विशेषा. भा. २६६६)। ५. स्वजात्यविरोधेनैकत्वोपनयात्समस्तग्रहणं संग्रहः। (त. वा. १, ३३, ५)। ६. शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति संग्रहः तदभेदतः। भेदानां नासदात्मैकोऽप्यस्ति भेदो विरोधतः॥ (लघीय. ३२); सर्वमेकं सदविशेषादिति संग्रहः। (लघीय. स्वो. विवृ. ३२); संग्रहः सर्वभेदैक्यमभिप्रैति सदात्मना॥ (लघीय. ३८); सदभेदात्समस्तैक्यसंग्रहात्संग्रहो नयः। (लघीय. ६६)। ७. अर्थानां घटादीनाम्, सर्वैकदेशसंग्रहणं संग्रहः। सर्वं सामान्यं सर्वव्याप्तेः, देशो विशेषः देशत्वादेव, तयोः सर्वैकदेशयोः सामान्यविशेषात्मकयोः एकीभावेन संग्रहणं संग्रहः, सन्मात्राविशेषात् तदतिरिक्तवस्त्वभावादिति। (त. भा. हरि. वृ. १-३५)। ८. सामान्यमात्रसंग्रहणशीलः संग्रहः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ३६)। ९. विधिव्यतिरिक्तप्रतिषेधानुपलम्भाद् विधिमात्रमेव तत्त्वमित्यध्यवसायः समस्तस्य ग्रहणात्संग्रहः, द्रव्यव्यतिरिक्तपर्यायानुपलम्भाद् द्रव्यमेव तत्त्वमित्यध्यवसायो वा संग्रहः। (धव. पु. १, पृ. ८४); सत्तादिना यः सर्वस्य पर्यायकलंकाभावेन अद्वैतत्वमध्यवस्येति शुद्धद्रव्यार्थिकः स संग्रहः। (धव. पु. ६, पृ. १७०); व्यवहारमनपेक्ष्य सत्तादिरूपेण सकलवस्तुसंग्राहकः संग्रहनयः। (धव. पु. १३, पृ. १६६)। १०. आक्रान्तभेदपर्यायमैकध्यमुपनीय यत्। समस्तग्रहणं तस्मात् सद्द्रव्यमिति संग्रहः॥ (ह. पु. ५८-४४)।

११. एकत्वेन विशेषाणां ग्रहणं संग्रहो नयः। स्वजातेरविरोधेन दृष्टेष्टाभ्यां कथंचन ॥ (त. श्लो. १, ३३, ४६)। १२. अभेदेन सङ्ग्रहात् सर्वस्य सङ्ग्रह्णाति इति सङ्ग्रहः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १, ३५); अर्थानां घटादीनां सर्वैकदेशग्रहणमिति—सर्वं सामान्यम्, एकदेशो विशेषः, तयोः सर्वैकदेशयोः सामान्यविशेषात्मकयोरेकीभावेन ग्रहणम् आश्रयणमेवंविधोऽध्यवसायः संग्रहो भण्यते। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–३५)। १३. भेदेनैक्यमुपानीय स्वजातेरविरोधतः। समस्तग्रहणं यस्मात्स नयः संग्रहो मतः ॥ (त. सा. १–४५)। १४. अभेदरूपतया वस्तुजातं संग्रह्णातीति संग्रहः। (आलापप. पृ. १४६)। १५. सम्यक् पदार्थानां सामान्याकारतया ग्रहणं संग्रहः। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ७, ८१, पृ. १८८)। १६. जो संगहेदि सव्वं देसं वा विविह-दव्व-पज्जायं। अणुगमलिंगविसिट्ठं सो वि णयो संगहो होदि ॥ (कार्तिके. २७२)। १७. समस्तस्य जीवाजीवविशेषप्रपञ्चस्यैकेन संग्रहात्कारणात् संग्रहो नयः प्रवर्तते। (न्यायकु. ६६, पृ. ७६०)। १८. स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपनीयार्थानाक्रान्तभेदान् समस्तग्रहणात् संग्रहः। (प्र. क. मा. ६–७४, पृ. ६७७)। १९. सर्वविकल्पातीतं सन्मात्रं तत्त्वमिति संग्रहनयः। (सिद्धिवि. वृ. १०, १३, पृ. ६७८)। २०. स्वजात्यविरोधेन नैकट्यमुपनीय पर्यायानाक्रान्तभेदान् समस्तग्रहणात्संग्रहः। यथासर्वमेकं सदवशेषादिति। (मूला. वृ. १२–६७)। २१. संग्रहणं भेदानां संग्रह्णाति वा तान् संगृह्यन्ते वा ते येन स संग्रहः महासामान्यमात्राभ्युपगमपरः। (स्थानां. अभय. वृ. १८६); संग्रहः समुदायस्तमाश्रित्यैकवचनगर्भशब्दप्रवृत्तिः। (स्थानां. अभय. वृ. २६७)। २२. सामान्यप्रतिपादनपरः संग्रहनयः, संग्रह्णाति अशेषविशेषतिरोधानद्वारेण सामान्यरूपतया समस्तं जगदादत्ते इति संग्रहः। (आव. नि. मलय. वृ. ७५६)। २३. प्रतिपक्षव्यक्षेपः सन्मात्रग्राही संग्रहः। (प्रमेयर. ६–७४)। २४. सजात्यविरोधेन पर्यायानाक्रान्तभेदानैकध्यमुपनीय समस्तग्रहणं संग्रहः। (लघीय. अभय. वृ. ३२, पृ. ५३)। २५. स्वजात्यविरोधेन एकत्रोपनीय पर्यायान् आक्रान्तभेदान् विशेषमकृत्वा सकलग्रहणं संग्रह उच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. १–३३; कार्तिके. टी. २७२)।

१ जो नय अपनी जाति के विरोध से रहित एकरूपता को प्राप्त करके अनेक भेदों से युक्त पर्यायों को सामान्य से समस्त रूप में ग्रहण करता है उसे संग्रहनय कहते हैं। २ घट-पटादि पदार्थों के सामान्य-विशेषात्मक होने पर जो उन्हें एकरूपता में ग्रहण करता है उसे संग्रहनय कहा जाता है।

संग्रहनय—देखो संग्रह।

संग्रहनयाभास—१. ब्रह्मवादस्तदाभासः स्वार्थभेदनिराकृतेः। (लघीय. ३८); दुर्नयो ब्रह्मवादः स्यात् तत्स्वरूपानवाप्तितः। (लघीय. ६९)। २. ब्रह्मवादस्तदाभासः (प्रमेयर. ६–७४)।

१ सत्ता भेदों के निराकरण के कारण ब्रह्मवाद—एक ब्रह्म ही है, अन्य कुछ नहीं है; इस प्रकार का अभिमत—संग्रहाभास के अन्तर्गत है।

संघ—१. संघो गुणसंघाओ संघो य विमोचओ य कम्माणं। दंसण-णाण-चरित्ते संघायंतो हवे संघो ॥ (भ. आ. ७१४; त. वा. ६, १३, ४ उद्.)। २. रत्नत्रयोपेतश्रमणगणः संघः। (स. सि. ६–१३); चातुर्वर्णश्रमणनिवहः संघः। (स. सि. ९–२४)। ३. रत्नत्रयोपेतः श्रमणगणः संघः। सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयभावनापराणां चतुर्विधानां श्रमणानां गणः संघ इति कथ्यते। (त. वा. ६, १३, ३); चतुर्वर्णश्रमणनिवहः संघः। चतुर्वर्णानां श्रमणानां निवहः संघ इति समाख्यायते। (त. वा. ९, २४, १०)। ४. चातुर्वर्ण्यश्रमणनिवहः संघः। (त. श्लो. ९–२४; चा. सा. पृ. ६६)। ५. संघो यतिसमुदायः, साधुविदिरित्तो समुदायावयवयोः कथंचिदव्यतिरेकात् साधव एव संघ इति व्यवह्रियते। (भ. आ. मूला. ३२४)। ६. ऋषि-मुनि-यत्यनगारनिवहः संघः, अथवा ऋष्यार्यिका-श्रावक-श्राविकानिवहः संघः। (भावप्रा. टी. ७८)। ७. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रपात्राणां श्रमणानां परमदिगम्बराणां गणः समूहः संघः उच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ६–१३); ऋषि-मुनि-यत्यनगारलक्षणश्चातुर्वर्ण्यश्रमणसमूहः संघः ऋष्यार्यिका-श्रावक-श्राविकासमूहो वा संघः। (त. वृत्ति श्रुत. ९–२४; कार्तिके. टी. ४५७)।

१ गुणसमूह का नाम संघ है, कर्मों के विमोचक को संघ कहा जाता है। दर्शन, ज्ञान और चारित्र में जो संघात को प्राप्त है उसे संघ कहते हैं। २ रत्नत्रय से संयुक्त मुनिसमूह का नाम संघ है। चार

वर्ण वाले साधुसमूह को संघ कहते हैं।

संघकरमोचनदोष—१. संघस्य करमोचनं संघस्य मायाकरो वृ[वि]ष्टिर्दातव्योऽन्यथा न ममोपरि संघ. शोभनः स्यादिति ज्ञात्वा यो वन्दनादिकं करोति तस्य संघकरमोचनदोषः। (मूला. वृ. ७, १०६)। २. विष्टिः संघस्येयमिति धीः संघकरमोचनम्॥ (इयं विष्टिर्हठात् कर्मविधापनम्—स्वो. टी.)। (अन. ध. ८-१०८)।

१ संघ को बलात् वन्दना कराना है, इस प्रकार की जो वन्दना करते समय बुद्धि होती है, यह वन्दना का संघकरमोचन नाम का एक दोष है।

संघवैयावृत्य—आयरियादिगणपेरंताणं महल्लावईए णिवदिदाणं समूहस्स जं वाहावणयण तं संघवेज्जावच्चं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ६३)।

महती आपत्ति में पड़े हुए आचार्य को आदि लेकर गणपर्यन्त साधुओं के समूह की बाधा को जो दूर किया जाता है उसका नाम संघवैयावृत्य है।

संघात—१. पृथग्भूतानामेकत्वापत्तिः संघातः। (स. सि. ५-२६)। २. विविक्तानामेकीभावः संघातः। पृथग्भूतानामेकत्वापत्तिः संघात इति कथ्यते। (त. वा. ५, २६, २)। ३. परमाणुपोग्गलसमुदयसमागमो संघादो णाम। (धव. पु. १४, पृ. १२१)। ४. बद्धानामपि च पुद्गलानां परस्परं जतु-काष्ठन्यायेन पुद्गलरचनाविशेषः संघातः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-१२)। ५. भिन्नानामेकत्र मेलापकः संघातः। (त. वृत्ति श्रुत. ५-२६)।

१ पृथग्भूत परमाणुओं व स्कन्धों में जो एकीभाव होता है उसे संघात कहते हैं। ४ बन्ध को प्राप्त भी पुद्गलों के लाख और काष्ठ के समान परस्पर में जो विशिष्ट पुद्गलरचना होती है उसे संघात कहा जाता है।

संघातजा वर्गणा—हेट्ठिमाणं वग्गणाणं समागमेण सरिसधणियसरूवेण अण्णवग्गणुप्पत्ती संघादजा णाम। (धव. पु. १४, पृ. १३४)।

नीचे की वर्गणाओं के समागम से जो समान द्रव्यप्रमाणवाली वर्गणाओं के रूप में अन्य अन्य वर्गणाओं की उत्पत्ति है उसे संघातजा वर्गणा कहते हैं।

संघातनकृति—अप्पिदसरीरपरमाणूण णिज्जराए विणा जो संचओ सा संघातणकदी णाम। (धव. पु. ९, पृ. ३२६)।

विवक्षित शरीर के परमाणुओं का निर्जरा के विना जो संचय होता है, इसका नाम संघातनकृति है।

संघातन-परिशातनकृति—अप्पिदसरीरस्स पोग्गलक्खंधाणमागम-णिज्जराओ संघादण-परिसादणकदी णाम। (धव. पु. ९, पृ. ३२७)।

विवक्षित शरीर के पुद्गलस्कन्धों का जो आगमन और निर्जरा होती है, इसका नाम संघातन-परिशातनकृति है।

संघातनामकर्म—१. यदुदयादौदारिकादिशरीराणां विवरविरहितान्योऽन्यप्रदे(मूला. वृ. 'वे')शानुप्रवेशेन एकत्वापादनं भवति तत्संघातनाम। (स. सि. ८-११; मूला. वृ. १२-१९३; भ. आ. मूला. २१२४; गो. क. जी. प्र. ३३)। २. बद्धानामपि संघातविशेषजनकं प्रचयविशेषात् संघातनाम दारुमृत्पिण्डायःपिण्डसंघातवत्। (त. भा. ८-१२)। ३. अविवरभावेनैकत्वकरणं संघातनामकर्म। यदुदयादौदारिकादिशरीराणां विवरविरहितान्योन्यप्रदेशानुप्रवेशेनैकत्वापादनं भवति तत्संघातनाम। (त. वा. ८, ११, ७)। ४. बद्धानामपि च पुद्गलानां परस्परं जतु-काष्ठन्यायेन पुद्गलरचनाविशेषः संघातः, संयोगेनात्मना गृहीतानां पुद्गलानां यस्य कर्मणः उदयादौदारिकादितनुविशेषरचना भवति तत्संघातनामकर्म। (त. भा. हरि. वृ. ८-१२, पृ. ३९१); प्रचयविशेषात् पुद्गलानां विन्यासः पुरुष-स्त्रीशरीरादिकस्तत् संघातनामकर्मनिमित्तकः, यन्निमित्तकश्च विन्यासः तत् संघातनाम। (त. भा. हरि. वृ. ८, १२, पृ. ३९२)। ५. संघातनाम यदुदयादौदारिकादिशरीरयोग्यपुद्गलग्रहेण शरीररचना भवति। (श्रा. प्र. टी. २०)। ६. जेहिं कम्मक्खंधेहि उदयं पत्तेहि बंधणणामकम्मोदएण बंधमागयाणं सरीरपोग्गलक्खंधाणं मट्ठत्तं कीरदे तेसिं सरीरसंघादसण्णा। (धव. पु ६, पृ. ५३); जस्स कम्मस्स उदएण अण्णोण्णसंबद्धाणं वग्गणाणं मट्ठत्तं तं सरीरसंघादणामं। (धव. पु. १३, पृ. ३६४)। ७ यस्योदयाच्छरीराणां नीरन्ध्रान्योन्यसंहतिः। संघातनाम तन्नाम्ना संघातानामनत्ययात्॥ (ह. पु. ५८-२५१)। ८. अविवरभावेनैकत्वकरणं संघातनाम। (त. श्लो.

८-११)। ९. संयोगेनात्मना गृहीतानां पुद्गलानां यस्य कर्मण उदयादौदारिक[कादि] तनुविशेषरचना भवति तत् सङ्घातनामकर्म। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-१२)। १०. तथा संघात्यन्ते पिण्डीक्रियन्ते औदारिकादिपुद्गला येन तत्संघातम्, तच्च तन्नाम च संघातनाम। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७०)। ११. यन्निमित्ताच्छरीराणां छिद्ररहित-परस्परप्रदेशप्रवेशादेकत्त्वभवनं भवति स संघातः। (त. वृत्ति श्रुत. ८-११)।

१ जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों के प्रदेशों में अनुप्रविष्ट होकर परस्पर छिद्र रहित एकरूपता होती है उसे संघातनामकर्म कहते हैं। २ जो बन्ध को प्राप्त हुए भी स्कन्धों में प्रचयविशेष से विशिष्ट संघात को उत्पन्न किया करता है उसे संघातनाम-कर्म कहा जाता है। वह विशिष्ट संघात उनमें दारु-पिण्ड, मृत्पिण्ड और लोहपिण्ड के समान होता है।

संघातश्रुत—१. संखेज्जेहि पदेहि संघाओ णाम सुदणाणं होदि। (धव. पु. ६, पृ. २३); एदस्स (पदसमाससुदणाणस्स) उवरि एगेगक्खरे वड्ढिदे संघादणामसुदणाणं होदि। होंतं पि संखेज्जाणि पदाणि घेत्तूण एगसंघादसुदणाणं होदि। (धव. पु. १३, पृ. २६७)। २. एयपदादो उवरिं एगेगेणक्ख-रेण वड्ढंतो। संखेज्जसहस्सपदे उड्ढे संघादणाम सुदं॥ (गो. जी. ३३७)। ३. चरमस्य पदसमास-ज्ञानोत्कृष्टविकल्पस्योपरि एकस्मिन्नक्षरे वृद्धे सति संघातश्रुतज्ञानं भवति। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. ३३७)।

१ संख्यात पदों से संघात नामक श्रुतज्ञान होता है। २ एक पद के ऊपर एक-एक अक्षर की वृद्धि के क्रम से संख्यात हजार पदों के बढ़ जाने पर संघात नामक श्रुतज्ञान होता है।

संघातश्रुतावरणीय— संघादणाणस्स जमावरयं कम्मं तं संघादणाणावरणीयं। (धव. पु. १३, पृ. २७८)।

संघातश्रुतज्ञान का आवरण करने वाले कर्म को संघातश्रुतज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

संघातसमासश्रुतज्ञान—एदस्स (संघादसुदणाण-स्स) उवरि अक्खरसुदणाणं वड्ढिदे संघायसमासो णाम सुदणाणं होदि। एवं संघायसमासो वड्ढमाणो गच्छदि जाव एयअक्खरसुदणाणेणूणपडिवत्तिसुद-णाणेत्ति। (धव. पु. ६, पृ. २३-२४); संघाद-सुदणाणस्सुवरि एगक्खरे वड्ढिदे संघादसमाससुद-णाणं होदि। × × × एवमेगेगक्खरवड्ढिकमेण संघादसमाससुदणाणं वड्ढमाणं गच्छदि जाव एग-क्खरेणूणगदिमग्गणे त्ति। (धव. पु. १३, पृ. २६९)।

संघातश्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर के बढ़ने पर संघातसमासश्रुतज्ञान होता है। यह संघातसमास-श्रुतज्ञान एक एक अक्षर की वृद्धि के क्रम से बढ़ता हुआ एक अक्षर से कम गतिमार्गणा तक चला जाता है।

संघातसमासावरणीयकर्म—संघादसमासणाणस्स जमावारयं कम्मं तं संघादसमासावरणीयं। (धव. पु. १३, पृ. २७८)।

संघातसमास श्रुतज्ञान के आवारक कर्म को संघात-समासावरणीय कहते हैं।

संघातित अपरिशाटिरूप एकांगिक संस्तर—संघातितो द्वयादिफलकसंघातात्मकः। (व्यव. भा. मलय. वृ. ८-८)।

दो आदि फलकों के संघातरूप संस्तर को संघातित अपरिशाटिरूप एकांगिक संस्तर कहते हैं।

संघातिम—कट्टिमजिणभवण-घर-पायार-थूहादिदव्वं कट्ठिट्ठय-पत्थरादिसंघादणकिरियाणिप्पण्णं संघादिमं णाम। (धव. पु. ९, पृ. २७३)।

काष्ठ, ईंट और पत्थर आदि की संघातन (मिलाना) रूप क्रिया से उत्पन्न कृत्रिम जिनालय, गृह, प्राकार और स्तूप आदि द्रव्य को संघातिम कहा जाता है।

संघावर्णवाद— १. शूद्रत्वाशुचित्वाद्याविर्भाविना संघावर्णवाद। (स. सि. ६-१३)। २. शूद्रत्वा-शुचित्वाद्याविर्भावनं संघे। एते श्रमणाः शूद्राः अस्नानमलदिग्धाङ्गा अशुचयो दिगम्बरा निरपत्रपा इहैवेति दुःखमनुभवन्ति परलोके कुतश्च सुखिन इत्यादिवचनं संघेऽवर्णवादः। (त. वा. ६, १३, १०)।

२ ये साधु शूद्र हैं, इनका शरीर स्नान के विना मल से लिप्त हो रहा है तथा मलिन होने के साथ वे नंगे व निर्लज्ज हैं, ये इसी लोक में दुःख का अनु-भव करते हैं. फिर भला वे परलोक में कहां से सुखी हो सकते हैं, इत्यादि प्रकार मुनिसमूह के सम्बन्ध में

निन्दापूर्ण वचन कहना, इसे संघावर्णवाद कहा जाता है।

संचारगति—सुरा-सौवीरकादीनां संचारगतिः। (त. वा. ५, २४, २६)।

सुरा व सौवीर आदि की जो गति होती है वह संचारगति कहलाती है।

संज्ञा—१. हिताहितप्राप्ति-परिहारयोर्गुण-दोषविचारणात्मिका संज्ञा। इदं हितमिदमहितम्, अस्य प्राप्तौ परिहारे चायं गुणोऽयं दोष इति विचारणात्मिका संज्ञेत्युच्यते। (त. वा. २, २४, २)। २. संज्ञानं संज्ञा, व्यञ्जनावग्रहोत्तरकालभावी मतिविशेषः। (आव. नि. हरि. वृ. १२)। ३. सम्यग्ज्ञायते अनया इति संज्ञा। (धव. पु. १३, पृ. २४४); जेण सद्दकलावेण अत्थो पडिवज्जाविज्जदि सो सद्दकलाओ सण्णा णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३३३)। ४. सा (संज्ञा) हि शिक्षा-क्रियालापग्रहणं मुनिभिर्मता। (त. श्लो. २, २४, १)। ५. तदेवेदमित्याकारं ज्ञानं संज्ञा, प्रत्यभिज्ञा तादृशमेवेदमित्याकारं वा विज्ञानं संज्ञोच्यते। (प्रमाणप. पृ. ६९)। ६. ईहापोह-विमर्शरूपा संज्ञा। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ४, ६६, पृ. ११४)। ७. णोइंदियआवरणखओवसमं तज्जबोहणं सण्णा। (गो. जी. ६६०) ८. संज्ञा असातवेदनीय-मोहनीयकर्मोदयसम्पाद्या आहाराभिलाषादिरूपश्चेतनाविशेषाः। (समवा. अभय. वृ. ४)। ९. संज्ञानं संज्ञा व्यञ्जनावग्रहोत्तरकालभावी मतिविशेषः, आहार-भयाद्युपाधिका वा चेतना संज्ञा, अभिधानं वा संज्ञा। (स्थानां. अभय. वृ. ३०)। १०. संज्ञा मुख-नयन-भ्रूविकाराङ्गुल्याच्छोटनादिका अर्थसूचिकाश्चेष्टाः। (योगशा. स्वो. विव. १-४२)। ११. संज्ञानं संज्ञा व्यञ्जनार्थावग्रहोत्तरकालो मतिविशेषः। (आव. नि. मलय. वृ. १२)। १२. तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि प्रत्यभिज्ञानं संज्ञा। (अन. ध. स्वो. टी. ३-४)। १३. संज्ञा शिक्षा-क्रियालापोपदेशग्राहित्वम्। (सा. ध. स्वो. टी. १-६)। १४. आहारादिवांछारूपाः संज्ञाः। (गो. जी. जी. प्र. १५२)। १५. तदेवेदं तत्सदृशं चेति प्रत्यभिज्ञानं संज्ञा कथ्यते। (त. वृत्ति श्रुत. १-१३)।

१ हित की प्राप्ति और अहित के परिहार में जो गुण-दोष का विचार होता है, इसका नाम संज्ञा है। २ व्यञ्जनावग्रह के पश्चात् जो विशिष्ट मतिज्ञान होता है उसे संज्ञा कहते हैं। ३ जिस शब्दसमूह के द्वारा अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है उसे संज्ञा कहा जाता है। ४ शिक्षा, क्रिया आलाप के ग्रहण को संज्ञा माना गया है। ५ 'यह वही है' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है उसका नाम संज्ञा है। यह प्रत्यभिज्ञान का पर्याय नाम है। ६ ईहा, अपोह और विमर्शरूप ज्ञान को संज्ञा कहते हैं। ७ नोइन्द्रियावरण के क्षयोपशम और उससे होने वाले ज्ञान को संज्ञा कहा जाता है। जीव संज्ञी इसी के आश्रय से होता है। ८ असाता वेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय से जो जीव की आहार के ग्रहणादिरूप परिणति होती है उसका नाम संज्ञा है।

संज्ञाक्षर—१. अक्खरस्स संठाणागिई, सेत्तं सन्नक्खरं। (नन्दी. सू. ३८, पृ. १८७)। २. संठाणमगाराई अप्पाभिप्पायतो व जं जस्स। (बृहत्क. ४४)। ३. संज्ञाक्षरं तत्र अक्षराकारविशेषः। यथा घटिकासंस्थानो घकारः। (आव. नि. हरि. वृ. १९)। ४. संज्ञानं संज्ञा संज्ञायते व अनयेति संज्ञा, तन्निबन्धनमक्षरं सज्ञाक्षरम्। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ७६)। ५. संज्ञाज्ञानं नाम यत्तैरेवेन्द्रियैरनुभूतमर्थं प्राक् पुनर्विलोक्य स एवायं यमहमद्राक्षं पूर्वाह्णे इति संज्ञाज्ञानम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-१४)।

१ अक्षर की जो संस्थानाकृति है उसे संज्ञाक्षर कहते हैं।

संज्ञाज्ञान—देखो संज्ञा।

संज्ञाद्रव्यकरण—अयमत्र भावार्थः—कटनिर्वर्तकमयोमयचित्रसंस्थानं पाइल्लकादि तथा रूतपूणिकानिर्वर्तकं शलाकाशल्यकाङ्कुरुहादि संज्ञाद्रव्यकरणम्, अन्वर्थोपपत्तेः, संज्ञाविशिष्टद्रव्यस्य करणं संज्ञाद्रव्यकरणम्। (आव. भा. मलय. वृ. १५३, पृ. ५५८)।

चटाई के निर्वर्तक लोहमय चित्रसंस्थान पाइल्लकादिकरण को तथा रूतपूणिका के निर्वर्तक शलाका आदि करण को संज्ञाद्रव्यकरण कहा जाता है।

संज्ञासंज्ञा—१. अष्टावुत्संज्ञासंज्ञास्संहृताः संज्ञासंज्ञैका। (त. वा. ३, ३८, ६)। २. ताभि-(अवसंज्ञासंज्ञाभि-)रष्टाभिरप्युक्ता संज्ञासंज्ञादिका × × ×। (ह. पु. ७-३८)।

१ समुदित आठ उत्संज्ञासंज्ञाओं की एक संज्ञासंज्ञा होती है।

संज्ञानी—जीवाजीवविहत्ती जो जाणइ सो हवेइ सण्णाणी। (चारित्रप्रा. ३८)।

जो जीव-अजीव के विभाग को—आत्म-परके भेद को—जानता है वह संज्ञानी(सम्यग्ज्ञानी) होता है।

संज्ञी—१. शिक्षा-क्रियालापग्राही संज्ञी। (त. वा. ६, ७, ११; धव. पु. ७, पृ. ७)। २. सम्यक् जानातीति संज्ञं मनः, तदस्यास्तीति संज्ञी। (धव. पु. १, पृ. १५२)। ३. ××× ईहापोह-विमर्शरूपा संज्ञा विद्यन्ते येषां ते संज्ञिनः। ×××संज्ञानं संज्ञा, सा विद्यते येषां ते संज्ञिनः। (सूत्रकृ. सू. शी वृ. २, ४, ६६, पृ. ११४–१५)। ४. यो हि शिक्षा-क्रियात्मार्थग्राही संज्ञी स उच्यते। (त. सा. २, ६३)। ५. सिक्खा-किरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंबेण। जो जीवो सो सण्णी ×××॥ (गो. जी. ६६०–६१)। ६. सङ्केत-देशनालापग्राहिणः संज्ञिनो मताः। (अमित. श्रा. ३–११)। ७. शिक्षालापोपदेशानां ग्राहको यः स मानसः। स संज्ञी कथितो ×××।- (पंचसं. अमित. ३१६, पृ. ४४)। ८. शिक्षा-क्रियोपदेशालापग्राहिकः संज्ञी। (मूला. वृ. १२–१५६)। ९. संज्ञानं संज्ञा, 'उपसर्गादातः' इत्यङ् प्रत्ययः, भूत-भवद्भाविभावस्वभावपर्यालोचनम्, सा विद्यते येषां ते संज्ञिनः, विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानभाज इत्यर्थः, ××× अथवा संज्ञायते सम्यक् परिच्छिद्यते पूर्वोपलब्धो वर्तमानो भावी च पदार्थो यया सा संज्ञा ××× विशिष्टा मनोवृत्तिरित्यर्थः, सा विद्यते येषां ते संज्ञिनः समनस्का इत्यर्थः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३१५, पृ. ५३३)। १०. शिक्षोपदेशालापान् ये जानते तेऽत्र संज्ञिनः। संप्रवृत्तमनःप्राणाः ×××॥ (योगशा. स्वो. विव. १–१६, पृ. १०६ उद्.; त्रि. श. पु. च. १, १, १६४)। ११. संज्ञा-शिक्षा-क्रियालापोपदेशग्राहित्वम्, संज्ञाऽस्यास्तीति संज्ञी, संज्ञिनो भावः संज्ञित्वम्—मनोऽवष्टम्भतः शिक्षा-क्रियालापोपदेशवित्। येषां ते संज्ञिनो मर्त्या वृष-कीर-गजादयः॥ (सा. ध. स्वो. टी. १-६ उद्.)। १२. नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमः तज्जनितबोधनं च संज्ञा, सा अस्य अस्तीति संज्ञी। (गो. जी. जी. प्र. ७०४)।

१ जो शिक्षा, क्रिया व आलाप को ग्रहण कर सकता है उसे संज्ञी कहते हैं। २ 'सम्यक् जानातीति संज्ञं मनः' इस निरुक्ति के अनुसार 'संज्ञ' नाम मन का है, वह मन जिसके होता है उसे संज्ञी कहा जाता है। ३ ईहा, अपोह और विमर्श का नाम संज्ञा है। वह जिन जीवों के पायी जाती है वे संज्ञी कहलाते हैं।

संज्वलन—१. समेकीभावे वर्तते, संयमेन सहावस्थानादेकीभूय (त. वा. 'देकीभूताः') ज्वलन्ति संयमो वा ज्वलत्येषु सत्स्वपीति संज्वलनाः क्रोध-मान-माया-लोभाः। (स. सि. ८–९; त. वा. ८, ९, ५)। २. ईषत्परीषहादिसन्निपातज्वलनात् संज्वलनाः, सम्-शब्द ईषदर्थे। (श्रा. प्र. टी. १७)। ३. सम्यक् ज्वलतीति संज्वलनम्, चारित्रेण सह ज्वलनम्, चारित्तमविणासेंतो उदयं कुणंति त्ति जं उत्तं होदि। (धव. पु. ६, पृ. ४४); रत्नत्रयाविरोधात् सम्यक् शोभनं ज्वलतीति संज्वलनः। (धव. पु. १३, पृ. ३६०)। ४. चारित्रे तु यथाख्याते कुर्युः संज्वलनाः क्षतिम्॥ (उपासका. ९२६)। ५. संयमेन सहैकीभूय संज्वलन्ति संयमो वा ज्वलत्येषु सत्स्विति वा संज्वलनाः क्रोध-मान-माया-लोभाः इति। (मूला. वृ. १२–१९१)। ६. शब्दादीन् विषयान् प्राप्य सञ्ज्वलन्ति यतो मुहुः। अतः सञ्ज्वलनाह्वानं चतुर्थानामिहोच्यते॥ (स्थानां. अभय. वृ. १९४ उद्.)। ७. संज्वलन इति तृणाग्निवदीषज्ज्वलनात्मकः, परीषहादिसंपाते सपदि ज्वलनात्मको वा। (योगशा. स्वो. विव. ४–७)। ८. तथा परोपहोपसर्गनिपाते सति चारित्रिणमपि सम् ईषज्ज्वलयन्तीति संज्वलनाः। उक्तं च—संज्वलयन्ति यतिं यत्संविग्नं सर्वपापविरतमपि। तस्मात् संज्वलना इत्यप्रशमकरा निरुच्यन्ते॥ अन्यत्राप्युक्तम्—शब्दादीन् विषयान् प्राप्य संज्वलयन्ति यतो मुहुः। ततः संज्वलनाह्वानं चतुर्थानामिहोच्यते॥ (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४६८ उद्.)। ९. संयमेन सहावस्थानादेकीभूता ज्वलन्ति, संयमो वा ज्वलत्येषु सत्स्वपीति संज्वलनाः क्रोधादयः। (भ. आ. मूला. २०९७)। १०. यथाख्यातचारित्रपरिणामं कषन्ति, सं समीचीनं विशुद्धं संयमं यथाख्यातचारित्रनामधेयं ज्वलन्ति दहन्ति इति संज्वलनाः। (गो. जी. मं. प्र. व जी. प्र. २८३)। ११. 'सं' शब्द एकीभावे वर्तते। तेनायमर्थः—संयमेन सह अवस्थानतया एकीभूततया ज्वलन्ति नोकषायवत् यथाख्यातचारित्रं विध्वंसयन्ति ये ते

संज्वलनाः क्रोध-मान-माया-लोभाः। अथवा येषु सत्स्वपि संयमो ज्वलति दीप्तिं प्राप्नोति प्रतिबन्धं न लभन्ते ते संज्वलनाः क्रोध-मान-माया-लोभाः उच्यन्ते। (त. वृत्ति श्रुत. ८-९)।

१ 'संज्वलन' में 'सं' का अर्थ एकीभाव है, तदनुसार जो क्रोध-मानादि संयम के साथ एकीभूत होकर जलते रहते हैं—प्रकाशित होते रहते हैं—उन्हें संज्वलन क्रोधादि कषाय कहा जाता है। अथवा इन संज्वलन कषायों के रहते हुए भी संयम प्रकाशमान रहता है, इससे भी उन्हें संज्वलन कहा जाता है। २ कुछ परीषहादि के उपस्थित रहने पर भी जो चारित्र को प्रकाशित रखते हैं-- उसे नष्ट नहीं होने देते हैं— उन्हें संज्वलन कषाय कहते हैं।

संदंश (अन्तराय)— × × × संदंशः श्वादिदंशने॥ (अन. ध. ५-५४)।

कुत्ते आदि के द्वारा काट लेने पर संदंश नाम का भोजन का अन्तराय होता है।

संदिग्ध—संदिग्धं स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यनवधारणेनोभयकोटिपरामर्शि संशयाकलितं वस्तु। (प्रमेयर. ३-१७)।

यह स्थाणु है या पुरुष, इनमें से किसी एक का निश्चय न होने से उभय कोटियों को विषयभूत संशययुक्त वस्तु को संदिग्ध कहते हैं।

संधना—पूर्वगृहीतविस्मृतस्य पुनः संस्थापनं संधना। (व्यव. भा. मलय. वृ. द्वि. वि. १०२, पृ. ३२)।

पूर्व में ग्रहण किये गए तथा पश्चात् विस्मृत हुए को फिर से स्थापित करना, इसका नाम संधना है।

संधिदोष—सन्धिदोषो विश्लिष्टसंहितत्वं सन्ध्यभावो वा। (आव. नि. मलय. वृ. ८८४, पृ. ४८४)।

विश्लिष्ट पदों में सन्धि का होना अथवा सन्धि का न होना, यह सूत्र का एक सन्धिदोष है। ३२ सूत्रदोषों में यह अन्तिम है।

संध्या—उदयत्थवणकाले पुव्वावरदिसासु दिस्समाणा जो सवणकुसुमसंकाशा संज्झा णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३५)।

सूर्य के उदय और अस्त होने के समय में जो क्रम से पूर्व और पश्चिम दिशाओं में जपाकुसुम के समान आकाश में लालिमा फैलती है, इसका नाम सन्ध्या है।

संनिवेश—विषयाधिपस्य अवस्थानं संनिवेशः। (धव. पु. १३, पृ. ३३६)।

देश के अधिपति का जहां अवस्थान रहता है उसे संनिवेश कहते हैं।

संन्यास—अयोग्यहान-योग्योपादानलक्षणः संन्यासः। आरा. सा. टी. २४)।

अयोग्य को छोड़ना और योग्य को ग्रहण करना, यह संन्यास का लक्षण है।

संप्रच्छनी भाषा—१. निरोध[धे]वेदनास्ति भवतां न वेति प्रश्नवाक् संपृच्छणी। (भ. आ. विजयो. ११९५)। २. संप्रच्छनी यथा त्वां किंचित् पृच्छामि। (भ. आ. मूला. ११९५)।

१ वन्दीगृह में आपको वेदना होती है या नहीं, इस प्रकार के प्रश्नरूप वचन को संप्रच्छनी भाषा कहते हैं।

संप्राप्त्युदय—१. संपत्तिउदयो णाम सभावेण कालपत्तं दलितं वेदिज्जति, सभावोदय इत्यर्थः। (कर्मप्र. चू. स्थिति. उदी. २९)। २. यत् कर्मदलिकं कालप्राप्तं सत् अनुभूयते स संप्राप्त्युदयः। (कर्मप्र. मलय. वृ. स्थिति उद्. २९)।

१ स्वभावतः काल के प्राप्त होने पर जो दलिक उदय को प्राप्त होता है उसे संप्राप्त्युदय कहते हैं।

संभवयोग—इंदो मेरुं चालइदुं समत्थो त्ति एसो संभवजोगो णाम। (धव. पु. १०, पृ. ४३४; पु. १४, पृ. ६७)।

इन्द्र मेरु पर्वत के चलाने से समर्थ है, इसका नाम सम्भवयोग है।

संभावनासत्य—देखो सम्भावनासत्य। संभावनया असंभवपरिहारपूर्वकं वस्तुधर्मविधिलक्षणया यत्प्रवृत्तं वचस्तत्संभावनासत्यम्। यथा शक्रो जम्बूद्वीपं परावर्तयेत्, परिवर्तयितुं शक्नोतीत्यर्थः। (गो. जी. मं. प्र. व जी. प्र. २२४)।

असम्भवता का परिहार करते हुए वस्तुधर्म के विधानस्वरूप सम्भावना से जो वचन प्रवृत्त होता है उसे सम्भावनासत्य कहते हैं। जैसे—इन्द्र जम्बूद्वीप के परिवर्तन में समर्थ है, इस प्रकार का वचन। इस वचन में जम्बूद्वीप के परिवर्तित करने रूप शक्ति की असम्भवता का परिहार करते हुए उस प्रकार की क्रिया से रहित केवल वस्तुधर्म के विधानरूप सम्भावना को प्रगट किया गया है।

संभिन्नश्रोता—देखो संभिन्नबुद्धि। १. सोदिंदिय-सुदणाणावरणाणं वीरियंतरायाए। उक्कस्सखउव-समे उदिदंगोवंगणामकम्मम्मि॥ सोदुक्कस्सखिदीदो वाहिं संखेज्जजोयणपएसे। संठियणर-तिरियाणं बहुविहसद्दे समुट्ठंते॥ अक्खर-अणक्खरमए सोदूणं दसदिसासु पत्तेक्कं। जं दिज्जदि पडिवयणं तं च्चिय संभिण्णसोदित्तं॥ (ति. प. ४, ६८४-८६)। २. जो सुणइ सव्वओ मुणइ सव्वविसए व सव्व-सोएहिं। सुणइ बहुए व सद्दे भिन्ने संभिन्नसोओ सो॥ (विशेषा. ७८६; आव. नि. मलय. वृ ६६ उद्.)। ३. द्वादशयोजनायामे नवयोजनविस्तारे चक्रधरस्कन्धावारे गज-वाजि-खरोष्ट्र-मनुष्यादीनां तपोविशेषबललाभापादितसर्वप्रदेशश्रोत्रेन्द्रियपरिणा-मात् सर्वेषामेककालग्रहणं संभिन्नश्रोतृत्वम्। (त. वा. ३, ३६, ३)। ४. यः सर्वतः शृणोति स संभि-न्नश्रोता, अथवा श्रोतांसि संभिन्नान्येकैकशः सर्व-विषयैरस्य परस्परतो वेति संभिन्नश्रोताः, संभिन्नान् वा परस्परतो लक्षणतोऽभिधानतश्च सुबहूनपि शब्दान् शृणोति संभिन्नश्रोता। (आव. नि. हरि. वृ. ६९)। ५. संभिन्नान् बहुभेदभिन्नान् शब्दान् पृथक् पृथक् युगपच्छृण्वन्तीति संभिन्नश्रोतारः। (औपपा. अभय. वृ. १५, पृ. २८)। ६. सं सम्यक् संकर-व्यतिकर-व्यतिरेकेण भिन्नं विविक्तं शब्दस्वरूपं शृणोतीति संभिन्नश्रोतृ, तस्य भावः संभिन्नश्रोतृता। द्वादशा-याम-नवयोजनविस्तारचक्रवर्तिस्कन्धावारोत्पन्ननर-करभाद्यक्षरानक्षरात्मकशब्दसन्दोहस्यान्योन्यं विभ-क्तस्य युगपत्प्रतिभासो यस्यां सा संभिन्नश्रोतृता। (श्रुतभ. ३, पृ. १७०)। ७. सर्वेन्द्रियाणां विषयान् गृह्णात्येकमपीन्द्रियम्। यत्प्रभावेन सम्भिन्नश्रोतो-लब्धिस्तु सा मता॥ (योगशा. स्वो. विव. १-८, पृ. ३९ उद्.)। ८. यः सर्वैरपि शरीरदेशैः शृणोति स संभिन्नश्रोताः, अथवा श्रोतांसि इन्द्रियाणि सम्भि-न्नानि एकैकशः सर्वविषयैर्यस्य स सम्भिन्नश्रोताः, एकतरेणापीन्द्रियेण समस्तापरेन्द्रियगम्यान् विषयान् योऽवगच्छति स संभिन्नश्रोता इत्यर्थः, अथवा श्रो-तांसि इन्द्रियाणि, सम्भिन्नानि परस्परत एकरूपता-मापन्नानि यस्य स तथा, श्रोत्रं चक्षुः कार्यकारित्वात् चक्षुरूपतामापन्नम्, चक्षुरपि श्रोत्रकार्यकारित्वात् तद्रूपतामापन्नमित्येवं सम्भिन्नानि यस्य परस्पर-मिन्द्रियाणि स सम्भिन्नश्रोता इति भावः, अथवा द्वादशयोजनविस्तृतस्य चक्रवर्तिकटकस्य युगपत् ब्रुवा-णस्य तत्तूर्यसंघातस्य वा युगपदास्फाल्यमानस्य सम्भिन्नान् लक्षणतो विधानतश्च परस्परतो विभि-न्नान् जननिवहसमुत्थान् शङ्ख-काहल-भेरी-माणक-ढक्कादितूर्यसमुत्थान् वा युगपदेव सुबहून् शब्दान् यः शृणोति स सम्भिन्नश्रोताः। (आव. नि. मलय. वृ. ६९, पृ. ७८)।

१ श्रोत्रेन्द्रियश्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म का उदय होने पर श्रोत्र इन्द्रिय के उत्कृष्ट क्षेत्र के बाहर संख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित मनुष्यों और तिर्यंचों के उठते हुए अक्षरात्मक व अनक्षरात्मक बहुत प्रकार के शब्दों को सुनकर जो दसों दिशाओं में से प्रत्येक में प्रतिवचन दिया जाता है, यह संभिन्नश्रोतृत्व ऋद्धि का लक्षण है। २ जो सभी ओर से सुनता है वह संभिन्नश्रोता कहलाता है। अथवा श्रोतस् नाम इन्द्रियों का है, जिसकी इन्द्रियां सब विषयों से संभिन्न हैं—जो एक ही इन्द्रिय के द्वारा सब इन्द्रियों के विषय को ग्रहण कर सकता है, तथा जो परस्पर भिन्न बहुत से शब्दों के सुनने में समर्थ होता है उसे संभिन्नश्रोता कहा जाता है। ३ विशिष्ट तपश्चरण के बल से श्रोत्र इन्द्रिय के प्रदेशों में विशिष्ट परिणमन हो जाने के कारण बारह योजन लम्बे और नौ योजन चौड़े चक्रवर्ती के स्कन्धावार (छावनी) में एक साथ उत्पन्न हुए हाथी, घोड़ा, गधा, ऊँट और मनुष्य आदि के अक्षर अनक्षरात्मक अनेक-प्रकार के शब्दों को एक साथ ग्रहण करने का जो सामर्थ्य प्रकट होता है उसे संभिन्नश्रोतृत्व ऋद्धि कहते हैं।

संभिन्नश्रोतृत्व—देखो संभिन्नश्रोता।

संभिन्नश्रोतोलब्धि—देखो संभिन्नश्रोता।

संमूर्छन—देखो सम्मूर्छन। १. सम्मूर्च्छामात्रं समूर्छनम्, उत्पत्तिस्थानस्थतद्रुचितपुद्गलोपमर्दनं शरीरबद्धसंध्यात्म-परिणामरूपकृम्यादिसंमूर्छनवत्। (त. भा. हरि वृ. २-३२)। २. सम्मूर्च्छा-मात्रं सम्मूर्छनम्, यस्मिन् स्थाने स उत्पत्स्यते जन्तुस्तत्रस्थपुद्गलानुपसृज्य शरीरीकुर्वन् सम्मू-र्छनम् जन्म लभते, तदेव तादृक् सम्मूर्छनं जन्मो-च्यते। (त. भा. सिद्ध. वृ. २-३२)।

२ जीव जिस स्थान में उत्पन्न होने वाला है वहाँ

के पुद्गलों को शरीररूप करना, इसका नाम संमूर्छन जन्म है।

संयत—१. पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेन्दियसंवुडो जिदकसाओ। दंसण-णाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ॥ (प्रव. सा. ३-४०)। २. 'सम्' एकीभावेनाहिंसादिषु यतः प्रयत्नवान् संयतः। (दशवै. नि. हरि. वृ १५८)। ३. सं सम्यग् यताः विरताः संयताः। (धव. पु. १. पृ. १७५)। ४. संयच्छन्ति स्म सर्वसावद्ययोगेभ्यः सम्यगुपरमन्ति स्म अर्थात् निरवद्ययोगेषु चारित्रपरिणामस्फातिहेतुषु वर्तन्त इति संयताः × × × हिंसादिपापस्थाननिवृत्ता इत्यर्थः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३१६)।

१ जो साधु पांच समितियों से सम्पन्न, तीन गुप्तियों से परिपूर्ण, पांचों इन्द्रियों का विजेता, कषाय पर विजय प्राप्त करने वाला तथा दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र से सम्पूर्ण होता है उसे संयत कहा जाता है। २ जो अहिंसा आदि के परिपालन में प्रयत्नशील रहता है वह संयत कहलाता है।

संयतकायपरावर्तन — भूमिस्पर्शलक्षणावनतिक्रियावन्दनामुद्रात्यागेन पुनरुत्थितस्य मुक्ताशुक्तिमुद्राङ्कितहस्तद्वयपरिभ्रमणत्रयं संयतकायपरावर्तनम्। (अन. ध. स्वो. टी. ८-८८)।

भूमि के स्पर्शस्वरूप नमस्कारक्रिया रूप वन्दनामुद्रा को छोड़कर उठते हुए मुक्ताशुक्तिमुद्रा में जो दोनों हाथों को तीन बार घुमाया जाता है, इसे संयतकायपरावर्तन कहते हैं।

संयतमनःपरावर्तन—सामायिकदण्डकस्यादौ क्रियाविज्ञापनविकल्पत्यागेन तदुच्चारणं प्रति मनसः प्रणिधानं संयतमनःपरावर्तनमुच्यते। (अन. ध. स्वो. टी. ८-८८)।

सामायिकदण्डक के प्रारम्भ में क्रियाविज्ञापन के विकल्प को छोड़कर उसके उच्चारण के प्रति मन को स्थिर करना, इसे संयतमनःपरावर्तन कहा जाता है।

संयतवाक्परावर्तन—चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोमीत्याद्युच्चारणविरामेण 'णमो अरहंताणं' इत्याद्युच्चारणकरणं संयतवाक्परावर्तनम्। (अन. ध. स्वो. टी. ८-८८)।

'चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोमि' इत्यादि उच्चारण को छोड़कर 'णमो अरहंताणं' इत्यादि के उच्चारण करने को संयतवाक्परावर्तन कहा जाता है।

संयतासंयत—देखो विरताविरत। १. द्विविषयविरत्यविरतिपरिणतः संयतासंयतः। × × × तल्लोभ्यया (संयमलब्धियोग्यया) प्राणीन्द्रियविषयया विरताविरतवृत्त्या परिणतः संयतासंयत इत्याख्यायते। (त. वा. ६, १, १६)। २. संयताश्च ते असंयताश्च संयतासंयताः। (धव. पु. १, पृ. १७३)। ३. पाकक्षयात् कषायाणामप्रत्याख्यानरोधिनाम्। विरताविरतो जीवः संयतासंयतः स्मृतः ॥ (त. सा. २, २२)। ४. स्थावरघाती जीवस्त्रससंरक्षी विशुद्धपरिणामः। योऽक्षविषयान्निवृत्तः स संयतासंयतो ज्ञेयः ॥ (अमित. श्रा. ६-५)। ५. यस्त्राता त्रसकायानां हिंसिता स्थावराङ्गिनाम्। अपक्वाष्टकषायोऽसौ संयतासंयतो मतः ॥ (पंचसं. अमित. १-२४)। ६. हिंसादीनां देशतो निवृत्ताः संयतासंयताः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३१६, पृ. ४३५)।

१ जो जीव प्राणी और इन्द्रिय उभयविषयक विरति और अविरति से परिणत है उसे संयतासंयत कहा जाता है। ६ जो हिंसादिक पापों से देशतः निवृत्त होते हैं वे संयतासंयत कहलाते हैं।

संयतीदोष—व्रतिनीवत् पटेन शरीरमाच्छाद्य स्थानं संयतीदोषः। (योगशा. स्वो. विव. ३, १३०)।

व्रतिनी के समान शरीर को वस्त्र से आच्छादित करके स्थित होना, यह संयतीदोष का लक्षण है।

संयम—१. वय-समिदि-कसायाणं दंडाणं इंदियाण पंचण्हं। धारण-पालण-णिग्गह-चाय-जओ संजमो भणिओ ॥ (प्रा. पंचसं. १-१२७; धव. पु. १, १४५ उद्.; गो. जी. ४६५)। २. प्राणीन्द्रियेष्वशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयमः। (स. सि. ६-१२)। ३. योगनिग्रहः संयमः। (त. भा. ६-६)। ४. संजमो नाम उवरमो, रागद्दोसविरहियस्स एगिभावे भवइत्ति। (दशवै. चू. पु. १५)। ५. प्राणीन्द्रियेष्वशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयमः। प्राणिष्वेकेन्द्रियादिषु चक्षुरादिष्विन्द्रियेषु च अशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयम इति निश्चीयते। (त. वा. ६, १२, ६); व्रतसमिति-कषाय-दण्डेन्द्रियधारणानुवर्तन-निग्रह-त्याग-जयलक्षणः संयमः × × ×। (त. वा. ६, ७, ११)। ६. आश्रवद्वारोपरमः। (दशवै. सू. हरि. वृ. १-१, पृ. २१)। ७. संयमनं संयमः विषय-कषाययोरुपरमः।

(त. भा. हरि. वृ. ६–२०)। ८. संयमस्तु प्राणातिपातादिनिवृत्तिलक्षणः। (ध्यानश. वृ. ६८)। ९. अथवा व्रत-समिति-कषाय-दण्डेन्द्रियाणां रक्षण-पालन-निग्रह-त्याग-जयाः संयमः। (धव. पु. १, पृ. १४४); संयमो नाम हिंसानृत-स्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिः गुप्ति-समित्यनुरक्षितः। (धव. पु. १, पृ. १७६); बुद्धिपूर्विका सावद्यविरतिः संयमः। (धव. पु. १, पृ. ३७४); सम्यक् यमो वा संयमः। (धव. पु. ७, पृ. ७); ससमिदि-महव्वयाणुव्वयाइं संजमो। (धव. पु. १४, पृ. १२)। १०. संयमनं संयमः प्राणिवधाद्युपरतिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–१३); संयमनं संयमः सम्यग्ज्ञानपूर्विका विरतिः—प्राणातिपातादिपापस्थानेभ्यो निवृत्तिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–२०)। ११. कर्मादाननिमित्तक्रियाभ्य: उपरमः संयमः। (भ. आ. विजयो. ६)। १२. संयमः खलु चारित्रमोहस्योपशमादिभिः। प्राण्यक्षपरिहारः स्यात् ××× ॥ (त. सा. २–८४)। १३. संयमः सम्यग्दर्शन-ज्ञानपुरःसरं चारित्रम्। (प्रव. सा. अमृत. वृ. ३–४१)। १४. कषायेन्द्रिय-दण्डानां विजयो व्रतपालनम्। संयमः संयतैः प्रोक्तः श्रेयः श्रयितुमिच्छताम् ॥ (उपासका. ९२४)। १५. संयमः पंचाणुव्रतप्रवर्तनम्। (चा. सा. पृ. २२); अथवा व्रतधारण-समितिपालन-कषायनिग्रह-दंडत्यागेन्द्रियजयः सयमः॥ (चा. सा. पृ. ३८)। १६. धार्मिकः शमितो गुप्तो विनिर्जितपरीषहः। अनुप्रेक्षापरः कर्म संवृणोति स संयमः॥ (अमित. श्रा. ३–६१)। १७. व्रत-दण्ड-कषायाक्ष-समितीनां यथाक्रमम्। संयमो धारणं त्यागो निग्रहो विजयोऽवनम्। (पंचसं. अमित. १–२३८)। १८. बहिरङ्गेन्द्रिय-प्राणसंयमबलेन स्वशुद्धात्मनि संयमनात्समरसीभावेन परिणमनं संयमः। (प्रव. सा. जय. वृ. १–७९)। १९. संयमो धर्मोपबृंहणार्थं समितिषु वर्तमानस्य प्राणीन्द्रिय-दयाकषायनिग्रहलक्षणः। (मूला. वृ. ११–५)। व्रत-समिति-कषाय-दण्डेन्द्रियाणां रक्षण-पालन-निग्रह-त्यागजन्यः संयमः। (मूला. वृ. १२–१५६)। २०. जन्तुकृपार्दितमनसः समितिषु साधोः प्रवर्तमानस्य। प्राणेन्द्रियपरिहारं संयममाहुर्महामुनयः॥ (पद्म. पं. १–९६)। २१. सं सम्यग्दर्शन-ज्ञानपावनः पापघातनः। यो द्वन्द्वद्वितयस्य स्याद्यमस्त्यागः स संयमः॥ (आचा. सा. ५–१४८)। २२. हिंसाविरतिलक्षणः संयमः। (रत्नक. टी. ३–२५)। २३. संयमः प्राणातिपातविरतिः। (समवा. अभय. वृ. १४६)। २४. संयम इन्द्रियवशीकारः। (योगशा. स्वो. विव. ३–१६); तत्र संयमः प्राणिदया। ××× प्राणातिपातनिवृत्तिरूपः संयमः। (योगशा. स्वो. विव. ४–९३)। २५. इह तु चारित्रपरिणामविशेषः संयमः प्रतिपद्यते, संयमो नाम निरवद्येतरयोगप्रवृत्ति-निवृत्तिरूपः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३१६–उत्थानिका)। २६. सयमः सम्यगनुष्ठानलक्षणः। (आव. नि. मलय. वृ. ८३१)। २७. संयमः सकलेन्द्रियव्यापारपरित्यागः। (नि. सा. वृ. १२३)। २८. समन्तान्मनोवाक्कार्यैः पापादाननिमित्तक्रियाभ्यो यमनमुपरमः संयमः। (भ. आ. मूला ४); संयमो धर्मे प्रयतनम्। (भ. आ. मूला. ४३४)। २९. प्राणिनां रक्षणं त्रेधा तथाक्षप्रसराहृतिः। एकोद्देशमिति प्राहुः संयमं गृहमेधिनाम्॥ भावसं. वाम. ६००)। ३०. सयमः षडिन्द्रिय-षट्प्रकारप्राणिप्राणरक्षणलक्षणः। (भावप्रा. टी. ९८)। ३१. षड्जीवनिकायेषु षडिन्द्रियेषु च पापप्रवृत्तेर्निवृत्तिः संयम उच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ६–१२); धर्मोपचयार्थं धर्मोपबृंहणार्थं समितिषु प्रवर्तमानस्य पुरुषस्य तत्प्रतिपालनार्थं प्राणव्यपरोपण-षडिन्द्रियविषयपरिहरणं संयम उच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ९–६)। ३२. पंचमहाव्रतधारण-पंचसमितिपरिपालन-पंचविंशतिकषायनिग्रह-माया-मिथ्या- निदानदण्डत्रयत्यागः पंचेन्द्रियजयः संयमः। (कार्तिके. टी. ३९९)। ३३. संयमः क्रियया द्वेधा व्यासाद् द्वादशधाऽथवा। शुद्धस्वात्मोपलब्धिः स्यात् संयमो निष्क्रियस्य च॥ (पंचाध्या. २–१११४)।

१ व्रतों के धारण करने, समितियों के पालन करने, कषायों के निग्रह करने, माया-मिथ्या-निदानरूप अथवा पापोपदेशादिरूप दण्डों के त्याग करने और पाँचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने को संयम कहा जाता है। २ प्राणी और इन्द्रियों के विषय में अशुभ प्रवृत्ति को छोड़ना, इसका नाम संयम है। ३ योगों के निग्रह करने को संयम कहते हैं। ७ विषय-कषायों के विश्राम को संयम कहा जाता है।

संयमधर्म—देखो संयम। १. वद-समिदिपालणाए

दण्डच्चाएण इंदियजएण । परिणममानस्स पुणो संजमधम्मो हवे णियमा ॥ (द्वादशानु. ७६) । २. धर्मोपबृंहणार्थं समितिषु वर्तमानस्य प्राणेन्द्रियपरिहारस्संयमः । (स. सि. ९-६) । ३. समितिषु प्रवर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहारः संयमः । ईर्यासमित्यादिषु वर्तमानस्य मुनेस्तत्परिपालनार्थः प्राणीन्द्रियपरिहारः संयम इत्युच्यते । (त. वा. ९-६, १४) । ४. समितिषु प्रवर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहारः संयमः । (त. श्लो. ९-६) । ५. इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं प्राणिनां वधवर्जनम् । समितौ वर्तमानस्य मुनेर्भवति संयमः ॥ (त. सा. ६-१८) । ६. जो जीवरक्खणपरो गमणागमणादिसव्वकम्मेसु । तणछेदं पि ण इच्छदि संजमभावो हवे तस्स ॥ (कार्तिके. ३९९) ।

१ जो जीव व्रतों व समितियों के पालने, दण्डों के छोड़ने और इन्द्रियों के जीतने रूप से परिणत होता है उसके नियम से संयमधर्म होता है। २ धर्म के बढ़ाने के लिए समितियों में प्रवर्तमान साधु के जो प्राणविघात व इन्द्रियविषयों का परिहार होता है, इसे संयम कहते हैं।

संयमविराधना—श्वादयश्च तिष्ठन्तो मार्जारमूषिकादिकमुपहन्युरिति संयमविराधना । (व्यव. भा. मलय. वृ. ४-२५) ।

कुत्ता आदि रहते हुए बिल्ली व चूहों आदि का घात करते हैं, इस प्रकार के विचार से संयम की विराधना होती है।

संयमस्थान—संयमस्थानं संयमाध्यवसायविशेषाः । (उत्तरा. चू. पृ. २४०) ।

संयम के लिए जो उत्तरोत्तर प्रयास किया जाता है, इसे संयमस्थान कहते हैं।

संयमासंयम—१. संयमासंयमः स्थूलप्राणातिपातादिनिवृत्तिरूपः । (त. भा. हरि. वृ. ६-१३) । २. स्थूलप्राणातिपातादिनिवृत्तिः अणुव्रत-गुणव्रत-शिक्षाव्रतविकल्पा । (त. भा. सिद्ध. ६-१३) । ३. विरताविरतत्वेन संयमासयमः स्मृतः । (त. सा. २-८५) । ४. चतुःस्थावरविध्वंसी दशधात्रसरक्षकः । सम्पद्यते परीणामः संयमासंयमोऽस्ति सः ॥ (पंचसं. अमित. १-२४६) । ५. अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानकषायाष्टकस्य उदयस्य क्षये सति तत्सत्तोपलक्षणोपशमे सति प्रत्याख्यान-संज्वलनाष्टकस्योदये सति नोकषायनवकस्य यथासंभवोदये च सति संयमासंयमः संजायते । (त. वृत्ति श्रुत. २-५) ।

१ स्थूल प्राणातिपातादि (हिंसादि) से निवृत्तिरूप परिणति को संयमासंयम कहा जाता है। ४ चार स्थावरों के विघातक और दस प्रकार के त्रस जीवों के रक्षण का जो परिणाम होता है उसे संयमासंयम कहते हैं।

संयुक्तद्रव्यसंयोग—तत्थ संजुत्तदव्वसंजोगो णाम जो पुव्वसंजुत्त एव अण्णेण दव्वेण सह संयुज्जते । (उत्तरा. चू. पृ. १५) ।

पूर्व संयुक्त ही जो द्रव्य अन्य द्रव्य के साथ संयोग को प्राप्त होता है, इसे संयुक्तद्रव्यसंयोग कहते हैं।

संयुक्ताधिकरण—१. संयुक्ताधिकरणम्—अधिक्रियते नरकादिष्वनेनेत्यधिकरणं वास्युदूखल-शिलापुत्रक-गोधूम-यन्त्रादिसंयुक्तम् अर्थक्रियाकरणयोग्यम्, संयुक्तं च तदधिकरणं चेति समासः । (आव. हरि. वृ. अ. ६, पृ ८३१) । २. संयुक्ताधिकरणम्—अधिक्रियते नरकादिष्वनेनेत्यधिकरणं वास्युदूखल-शिलापुत्रक-गोधूमयंत्रकादिषु संयुक्तमर्थक्रियाकरणयोग्यम्, संयुक्तं च तदधिकरणं चेति समासः । (श्रा. प्र. टी. २९१) । ३. अधिक्रियते दुर्गतावात्माऽनेनेत्यधिकरणमुदूखलादि, संयुक्तम् उदूखलेन मुशलम्, हलेन फालः, शकटेन युगम्, धनुषा शराः, एवमेकमधिकरणमधिकरणान्तरेण सयुक्तं संयुक्ताधिकरणम्, तस्य भावस्तत्वम् । (योगशा. स्वो. विव. ३-११५) ।

३ जिसके द्वारा जीव दुर्गति में अधिकृत किया जाता है उसे अधिकरण कहते हैं, संयुक्त जैसे—उदूखल (ओखली) से संयुक्त मूसल, हल से संयुक्त फाल, गाड़ी से संयुक्त युग और धनुष से संयुक्त बाण; इस प्रकार एक अधिकरण जो दूसरे अधिकरण से संयुक्त होता है, इसे संयुक्ताधिकरण कहा जाता है। यह अनर्थदण्डव्रत का एक अतिचार है।

संयोग—१. पुधप्पसिद्धाणं मेलणं संजोगो । (धव. पु. १५, पृ. २४) । २. नैरन्तर्येणावयवप्राप्तिमात्रं संयोगः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ५-२६) ।

१ पृथग्भूत पदार्थों के मेल का नाम संयोग है।

(त. भा. हरि. वृ. ६–२०)। ८. संयमस्तु प्राणातिपातादिनिवृत्तिलक्षणः। (ध्यानश. वृ. ६८)। ९. अथवा व्रत-समिति-कषाय-दण्डेन्द्रियाणां रक्षण-पालन-निग्रह-त्याग-जयाः संयमः। (धव. पु. १, पृ. १४४); संयमो नाम हिंसानृत-स्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिः गुप्ति-समित्यनुरक्षितः। (धव. पु. १, पृ. १७६); बुद्धिपूर्विका सावद्यविरतिः संयमः। (धव. पु. १, पृ. ३७४); सम्यक् यमो वा संयमः। (धव. पु. ७, पृ. ७); ससमिदि-महव्वयाणुव्वयाइं संजमो। (धव. पु. १४, पृ. १२)। १०. संयमनं संयमः प्राणिवधाद्युपरतिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–१३); संयमनं संयमः सम्यग्ज्ञानपूर्विका विरतिः—प्राणातिपातादिपापस्थानेभ्यो निवृत्तिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–२०)। ११. कर्मादाननिमित्तक्रियाभ्यः उपरमः संयमः। (भ. आ. विजयो. ६)। १२. संयमः खलु चारित्रमोहस्योपशमादिभिः। प्राण्यक्षपरिहारः स्यात् × × ×॥ (त. सा. २–८४)। १३. संयमः सम्यग्दर्शन-ज्ञानपुरःसरं चारित्रम्। (प्रव. सा. अमृत. वृ. ३–४१)। १४. कषायेन्द्रिय-दण्डानां विजयो व्रतपालनम्। संयमः संयतैः प्रोक्तः श्रेयः श्रयितुमिच्छताम्॥ (उपासका. ९२४)। १५. संयमः पंचाणुव्रतप्रवर्तनम्। (चा. सा. पृ. २२); अथवा व्रतधारण-समितिपालन-कषायनिग्रह-दंडत्यागेन्द्रियजयः सयमः॥ (चा. सा. पृ. ३८)। १६. धार्मिकः शमितो गुप्तो विनिर्जितपरीषहः। अनुप्रेक्षापरः कर्म संवृणोति स संयमः॥ (अमित. श्रा. ३–६१)। १७. व्रत-दण्ड-कषायाक्ष-समितीनां यथाक्रमम्। संयमो धारणं त्यागो निग्रहो विजयोऽवनम्। (पंचसं अमित. १–२३८)। १८. बहिरङ्गेन्द्रिय-प्राणसंयमबलेन स्वशुद्धात्मनि संयमनात्समरसीभावेन परिणमन संयमः। (प्रव. सा. जय. वृ. १–७९)। १९. संयमो धर्मोपबृंहणार्थं समितिषु वर्तमानस्य प्राणीन्द्रिय-दयाकषायनिग्रहलक्षणः। (मूला. वृ. ११–५)। व्रत-समिति-कषाय-दण्डेन्द्रियाणां रक्षण-पालन-निग्रह-त्यागजन्यः संयमः। (मूला. वृ. १२–१५६)। २०. जन्तुकृपार्द्रितमनसः समितिषु साधोः प्रवर्तमानस्य। प्राणेन्द्रियपरिहारं संयममाहुर्महामुनयः॥ (पद्म. पं. १–९६)। २१. स सम्यग्दर्शन-ज्ञानपावनः पापघातनः। यो द्वन्द्वद्वितयस्य स्याद्यमस्त्यागः स संयमः॥ (आचा. सा. ५–१४८)। २२. हिंसाविरतिलक्षणः संयमः। (रत्नक. टी. ३–२५)। २३. संयमः प्राणातिपातविरतिः। (समवा. अभय. वृ. १४६)। २४. संयम इन्द्रियवशीकारः। (योगशा. स्वो. विव. ३–१६); तत्र संयमः प्राणिदया। × × × प्राणातिपातनिवृत्तिरूपः संयमः। (योगशा. स्वो. विव. ४–९३)। २५. इह तु चारित्रपरिणामविशेषः संयमः प्रतिपद्यते, सयमो नाम निरवद्येतरयोगप्रवृत्ति-निवृत्तिरूपः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३१९–उत्थानिका)। २६. सयमः सम्यगनुष्ठानलक्षणः। (आव. नि. मलय. वृ. ८३१)। २७. संयमः सकलेन्द्रियव्यापारपरित्यागः। (नि. सा. वृ. १२३)। २८. समन्तान्मनोवाक्कायैः पापादाननिमित्तक्रियाभ्यो यमनमुपरमः संयमः। (भ. आ. मूला ४); संयमो धर्मे प्रयतनम्। (भ. आ. मूला. ४३४)। २९. प्राणिनां रक्षण त्रेधा तथाक्षप्रसराहृतिः। एकोद्देशमिति प्राहुः संयमं गृहमेधिनाम्॥ भावसं. वाम. ६००)। ३०. सयमः षडिन्द्रिय-षट्प्रकारप्राणिप्राणरक्षणलक्षणः। (भावप्रा. टी. ९८)। ३१. षड्जीवनिकायेषु षडिन्द्रियेषु च पापप्रवृत्तेर्निवृत्तिः संयम उच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ६–१२); धर्मोपचयार्थं धर्मोपबृंहणार्थं समितिषु प्रवर्तमानस्य पुरुषस्य तत्प्रतिपालनार्थं प्राणव्यपरोपण-षडिन्द्रियविषयपरिहरणं संयम उच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ९–६)। ३२. पंचमहाव्रतधारण-पंचसमितिपरिपालन-पंचविंशतिकषायनिग्रह-माया-मिथ्या- निदानदण्डत्रयत्यागः पंचेन्द्रियजयः संयमः। (कार्तिके. टी. ३९९)। ३३. संयमः क्रियया द्वेधा व्यासाद् द्वादशधाऽथवा। शुद्धस्वात्मोपलब्धिः स्यात् संयमो निष्क्रियस्य च॥ (पंचाध्या. २–१११४)।

१ व्रतों के धारण करने, समितियों के पालन करने, कषायों के निग्रह करने, माया-मिथ्या-निदानरूप अथवा पापोपदेशादिरूप दण्डों के त्याग करने और पाँचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने को संयम कहा जाता है। २ प्राणी और इन्द्रियों के विषय में अशुभ प्रवृत्ति को छोड़ना, इसका नाम संयम है। ३ योगों के निग्रह करने को संयम कहते हैं। ७ विषय-कषायों के विश्राम को संयम कहा जाता है।

संयमधर्म—देखो संयम। १. वद-समिदिपालणाए

दण्डच्चाएण इंदियजएण । परिणममाणस्स पुणो संजमधम्मो हवे णियमा ॥ (द्वादशानु. ७६) । २. धर्मोपबृंहणार्थं समितिषु वर्तमानस्य प्राणेन्द्रियपरिहारस्संयमः । (स. सि. ९–६) । ३. समितिषु प्रवर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहारः संयमः । ईर्यासमित्यादिषु वर्तमानस्य मुनेस्तत्परिपालनार्थः प्राणीन्द्रियपरिहारः संयम इत्युच्यते । (त. वा, ९–६, १४) । ४. समितिषु प्रवर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहारः संयमः । (त. श्लो. ९–६) । ५. इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं प्राणिनां वधवर्जनम् । समितौ वर्तमानस्य मुनेर्भवति संयमः ॥ (त. सा. ६–१८) । ६. जो जीवरक्खणपरो गमणागमणादिसव्वकम्मेसु । तणछेदं पि ण इच्छदि संजमभावो हवे तस्स ॥ (कार्तिके. ३९९) ।

१ जो जीव व्रतों व समितियों के पालने, दण्डों के छोड़ने और इन्द्रियों के जीतने रूप से परिणत होता है उसके नियम से संयमधर्म होता है। २ धर्म के बढ़ाने के लिए समितियों में प्रवर्तमान साधु के जो प्राणविघात व इन्द्रियविषयों का परिहार होता है, इसे संयम कहते हैं।

संयमविराधना—श्वादयश्च तिष्ठन्तो मार्जारमूषिकादिकमुपहन्युरिति संयमविराधना । (व्यव. भा. मलय. वृ. ४–२५) ।

कुत्ता आदि रहते हुए बिल्ली व चूहों आदि का घात करते हैं, इस प्रकार के विचार से संयम की विराधना होती है।

संयमस्थान—संयमस्थानं संयमाध्यवसायविशेषाः । (उत्तरा. चू. पृ. २४०) ।

संयम के लिए जो उत्तरोत्तर प्रयास किया जाता है, इसे संयमस्थान कहते हैं।

संयमासंयम—१. संयमासंयमः स्थूलप्राणातिपातादिनिवृत्तिरूपः । (त. भा. हरि. वृ. ६–१३) । २. स्थूलप्राणातिपातादिनिवृत्तिः अणुव्रत-गुणव्रत-शिक्षाव्रतविकल्पा । (त. भा. सिद्ध. ६–१३) । ३. विरताविरतत्वेन संयमासंयमः स्मृतः । (त. सा. २–८५) । ४. चतुःस्थावरविध्वंसी दशधात्रसरक्षकः । सम्पद्यते परीणामः संयमासंयमोऽस्ति सः ॥ (पंचसं. अमित. १–२४६) । ५. अनन्तानुबन्ध्य-प्रत्याख्यानकषायाष्टकस्य उदयस्य क्षये सति तत्सदुपलक्षणोपशमे सति प्रत्याख्यान-संज्वलनाष्टकस्योदये सति नोकषायनवकस्य यथासंभवोदये च सति संयमासंयमः संजायते । (त. वृत्ति श्रुत. २-५) ।

१ स्थूल प्राणातिपातादि (हिंसादि) से निवृत्तिरूप परिणति को संयमासंयम कहा जाता है। ४ चार स्थावरों के विघातक और दस प्रकार के त्रस जीवों के रक्षक का जो परिणाम होता है उसे संयमासंयम कहते हैं।

संयुक्तद्रव्यसंयोग—तत्थ संजुत्तदव्वसंजोगो णाम जो पुव्वसंजुत्त एव अण्णेण दव्वेण सह संजुज्जति । (उत्तरा. चू. पृ. १५) ।

पूर्व संयुक्त हो जो द्रव्य अन्य द्रव्य के साथ संयोग को प्राप्त होता है, इसे संयुक्तद्रव्यसंयोग कहते हैं।

संयुक्ताधिकरण—१. संयुक्ताधिकरणम्—अधिक्रियते नरकादिष्वनेनेत्यधिकरणं वास्युदूखल-शिला-पुत्रक-गोधूम-यन्त्रादिसंयुक्तम् अर्थक्रियाकरणयोग्यम्, संयुक्तं च तदधिकरणं चेति समासः । (श्राव. हरि. वृ. अ. ६, पृ. ८३१) । २. संयुक्ताधिकरणम्—अधिक्रियते नरकादिष्वनेनेत्यधिकरणं वास्युदूखल-शिलापुत्रक-गोधूमयन्त्रकादिषु संयुक्तमर्थक्रियाकरणयोग्यम्, संयुक्तं च तदधिकरणं चेति समासः । (धा. प्र. टी. २९१) । ३. अधिक्रियते दुर्गतावात्मानेनेत्यधिकरणमुदूखलादि, संयुक्तम् उदूखलेन मुशलम्, हलेन फालः, शकटेन युगम्, धनुषा शराः, एवमेकमधिकरणमधिकरणान्तरेण संयुक्तं संयुक्ताधिकरणम्, तस्य भावस्तत्त्वम् । (योगशा. स्वो. विव. ३-११५) ।

३ जिसके द्वारा जीव दुर्गति में अधिकृत किया जाता है उसे अधिकरण कहते हैं, संयुक्त जैसे—उदूखल (ओखली) से संयुक्त मूसल, हल से संयुक्त फाल, गाड़ी से संयुक्त युग और धनुष से संयुक्त बाण; इस प्रकार एक अधिकरण जो दूसरे अधिकरण से संयुक्त होता है, इसे संयुक्ताधिकरण कहा जाता है। यह अनर्थदण्डव्रत का एक अतिचार है।

संयोग—१. पुधप्पसिद्धाणं मेलणं संजोगो । (धव. पु. १५, पृ. २४) । २. नैरन्तर्येणावयवप्राप्तिमात्रं संयोगः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ५–२६) ।

१ पृथग्भूत पदार्थों के मेल का नाम संयोग है।

संवरः । (त. सू. ९–१; औपपा. अभय. वृ. ३४, पृ. ७९)। ३. आस्रवनिरोधलक्षणः संवरः। (स. सि. १–४)। ४. यथोक्तस्य काययोगादेर्द्विचत्वारिंशद्विधस्यास्रवस्य निरोधः संवरः। (त. भा. ९–१)। ५. वाक्काय-मनोगुप्तिर्निराश्रवः संवरस्तूक्तः॥ (प्रशमर. २२०)। ६. आस्रवनिरोधलक्षणः संवरः। पूर्वोक्तानामास्रवद्वाराणां शुभपरिणामवशान्निरोधः संवरः॥ (त. वा. १, ४, १८); मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययकर्मसंवरणं संवरः। मिथ्यादर्शनादयः प्रत्यया व्याख्याताः, तदुपादनस्य कर्मणः संवरणं संवर इति निश्चियते। (त. वा. ६, १, ६)। ७. संवरो नाम पाणवहादीण आसवाणं निरोहो। (दशवै. चू. पृ. १६२)। ८. आसवनिरोह संवर समिई-गुत्ताइएहि नायव्वो। (श्रा. प्र. ८१)। ९. संवर-इन्द्रिय-नोइन्द्रियगुप्तिः।.(आव. नि. हरि. वृ. ८७२)। १०. आश्रवस्य निरोधो गुप्त्यादिभिः संवरः। (त. भा. हरि. वृ. १–४); तस्य काययोगादेराश्रवस्य द्व्यधिकचत्वारिंशद्भेदस्य निरोधो यः स संवरः, आत्मनः कर्मादानहेतुभूतपरिणामाभावः संवर इत्यभिप्रायः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ९–१)। ११. संवरस्तन्निरोधस्तु × × ×। (षड्द. स. ५१, पृ. १८०)। १२. दंसण-विरमण-णिग्गह-णिरोहया संवरा होंति॥ (धव. पु. ७, पृ. ९ उद्.); आसवपडिवक्खो संवरो णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३५२)। १३. आस्रवस्य निरोधस्तु संवरः परिभाष्यते। (ह. पु. ५८-२९९)। १४. कर्मादानाभावः संवरः। (त. श्लो. ९–१)। १५. संवरो हि कर्मणामास्रवनिरोधः। (आप्तप. १११)। १६. तेषामेवास्रवाणां यो निरोधः स्थगनं गुप्त्यादिभिः स संवरः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–४); संवरोऽप्यास्रवनिरोधलक्षणो देश-सर्वभेद आत्मनः परिणामो निर्वृत्तिरूपः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–४); आश्रवद्वाराणां पिधानमाश्रवदोषपरिवर्जनं संवरः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–७, पृ. २१९)। १७. संव्रियते संरुध्यते मिथ्यादर्शनादिः परिणामो येन परिणामान्तरेण सम्यग्दर्शनादिना गुप्त्यादिना वा स संवरः। (भ. आ. विजयो. ३८); संव्रियन्ते निरुध्यन्तेऽभिनवाः कर्मपर्यायाः पुद्गलानां येन जीवपरिणामेन मिथ्यात्वादिपरिणामो वा निरुध्यते स संवरः। (भ. आ. विजयो. व मूला. १८३४)। १८. मोह-राग-द्वेषपरिणामनिरोधो जीवस्य, तन्निमित्तः कर्मपरिणामनिरोधो योगद्वारेण प्रविशतां पुद्गलानां च संवरः। (पंचा. का. अमृत. वृ. १०८)। १९. यथोक्तानां हि हेतूनामात्मनः सति संभवे। आस्रवस्य निरोधो यः स जिनैः संवरः स्मृतः॥ (त सा. ६–२)। २०. रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरान् धृत्वा परः संवरः, कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुन्धन् स्थितः। (समय. क. ७–१)। २१. तथा तन्निरोधः आस्रवनिरोधः संवरः। (सूत्रकृ. सू. शी वृ. २, ५, १७, पृ. १२८); यः संवरम् आस्रवनिरोधरूपं यावदशेषयोगनिरोधस्वभावं जानीते × × ×। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. १२–२१, पृ. २२९)। २२. कल्मषागमनद्वारनिरोधः संवरो मतः। भाव-द्रव्यविभेदेन द्विविधः कृतसंवरैः। (योगशा. प्रा. ५–१)। २३. अपूर्वकर्मणामास्रवनिरोधः संवरः। (न्यायकु. ७६, पृ ८१२)। २४. आस्रवस्य निरोधो यः संवरः स निगद्यते। (चन्द्र. च. १८–१०६; अमित. श्रा. ३–५९)। २५. कर्मास्रवनिरोधसमर्थस्वसंवित्तिपरिणतजीवस्य शुभाशुभाकर्मागमनसंवरणं संवरः। (बृ. द्रव्यसं. टी. २८)। २६. कर्मागमनद्वारं संवृणोतीति संवरणमात्रं वा संवरोऽपूर्वकर्मागमननिरोधः। (मूला. वृ. ५–६)। २७. भावद्रव्यास्रवद्वन्द्वरोधात्संवरणं मतम्। (आचा. सा. ३–३२)। २८. कर्माश्रवनिरोधोऽत्र संवरो भवति ध्रुवम्। साक्षादेतदनुष्ठानं मनोवाक्कायसंवृतिः॥ (पद्म. पं. ६–५२)। २९. संव्रियते कर्मकारणं प्राणातिपातादि निरुध्यते येन परिणामेन स संवरः, आस्रवनिरोध इत्यर्थः। (स्थानां. अभय. वृ. १४)। ३०. × × × रागादिरूपभावास्रवनिरोधलक्षणः संवरोजायते। (समयप्रा. जय. वृ. १९०)। ३१. आस्रवस्य निरोधो यः संवरः स प्रकीर्तितः। (ज्ञाना. १, पृ. ४४)। ३२. मिच्छादंसणाविरइ-कसाय-पमाय-जोगनिरोहो संवरो। जीतक. चू. पृ. ५)। ३३. संवरश्चाक्ष-मनसां विषयेभ्यो निवर्तनम्। (योगशा. स्वो. विव. १, १३); सर्वेषामेवाश्रवाणां यो रोधहेतुः स संवरः। (योगशा. स्वो. विव. ६–१६, पृ. ११४)। ३४. संवरः इन्द्रिय-नोइन्द्रियगोपनम्। (आव. नि. मलय. वृ. ८७२, पृ. ४८०)। ३५. स संवरः संव्रियते निरुध्यते कर्मास्रवो येन सुदर्शनादिना। गुप्त्यात्मना वात्मगुणेन संवृतिस्तद्योग्यतद्भावनिराकृतिः स वा॥

(अन. ध. २–४१)। ३६. संव्रियते निरुध्यते आस्रवो येन सम्यग्दर्शनादिना गुप्त्यादिना वा जीवपरिणामेन स संवरः, संवरणं संवरः – ज्ञानावरणादिकर्मयोग्यानां पुद्गलानां तद्भावपरिणतिनिवारणम् । (भ. आ. मूला. ३८) । ३७. आस्रवाणामशेषाणां निरोधः संवरः स्मृतः । कर्म संव्रियते येनेत्यन्वयस्यावलोकनात् ।। आस्रवद्वाररोधेन शुभाशुभविशेषतः । कर्म संव्रियते येन संवरः स निगद्यते ।। (धर्मश. २१, ११७–१८) । ३८. द्रव्य-भावास्रवस्यास्य निरोधः संवरः मतः । (धर्मसं. श्रा. १०–६६) । ३९. आस्रवस्य निरोधः संवरः । (भावप्रा. टी. ९५) । ४०. आश्रवनिरोधरूपः संवरः । (त वृत्ति श्रुत. १–४) । ४१. संवरः आगन्तुककर्मनिरोधः । (परमा. त. ५–४) । ४२. आस्रवस्य निरोधो यः स संवर उदाहृतः । (जम्बू. च. ३–५७) ।

१ जिस संयत के मन-वचन-काय के व्यापारस्वरूप योग में जब न शुभ परिणाम रूप पुण्य रहता है और न अशुभ परिणामरूप पाप रहता है तब उसके शुभ-अशुभ परिणाम से किये जाने वाले कर्म का संवर होता है । २ मिथ्यात्व आदि आस्रवों के निरोध का नाम संवर है । ४ काययोगादिरूप व्यालीस (३+३९ त. सू. ६·६) प्रकार के आश्रव का जो निरोध होता है उसे संवर कहते हैं ।

संवरानुप्रेक्षा—देखो संवर । १. यथा महार्णवे नावो विवरापिधाने सति क्रमात् स्रुतजलाभिप्लवे सति तदाश्रयाणां विनाशोऽवश्यंभावी, छिद्रपिधाने च निरुपद्रवमभिलपितदेशान्तरप्रापणं तथा कर्मागमद्वारसंवरणे सति नास्ति श्रेयःप्रतिबन्ध इति संवरगुणानुचिन्तनं संवरानुप्रेक्षा । (स. सि. ९–७; त. वा. ९, ७, ७) । २. यथा वणिङ्महार्णवे यानपात्रविवरद्वारजलास्रवपिधाने निरुपद्रवमभिलपितदेशान्तरं प्राप्नोति तथा मुनिरपि संसार्णवे शरीरपोतस्येन्द्रियविषयद्वारकर्मजलास्रवं तपसा पिधाय मुक्तिवेलापत्तनं निर्विघ्नं प्राप्नोति इत्येवं संवरगुणानुचिंतनं संवराऽनुप्रेक्षा । (चा. सा. पृ. ८७) । ३. दष्टे दुष्टविषाहिनाऽङ्गिनि यथा नष्टप्रचेष्टे विषं पुष्पज्जांगुलिकेन मन्त्रवलिना संस्तम्भितं तिष्ठति । सम्यक्त्व-व्रत-निष्कषायपरिणामाऽयोगताभिस्तथा मिथ्यात्वादिचतुःस्वहेतुविगमान्नूतनैनसां नागमः ।। (आचा. सा. १०–४०) ।

१ जिस प्रकार समुद्र में नाव के भीतर हुए छिद्र के बन्द न करने पर क्रम से उसके द्वारा भीतर आते हुए जल से नाव के डूब जाने पर उसके आश्रित यात्रियों का विनाश अवश्यंभावी है तथा इसके विपरीत उस छिद्र के बन्द कर देने पर वे यात्री सकुशल अपने अभिलषित स्थान में पहुँच जाते हैं उसी प्रकार कर्मों के आने के द्वार को रोक देने पर कल्याण के होने में कुछ बाधा नहीं रहती, इस प्रकार संवर के गुणों का जो विचार किया जाता है उसे संवरानुप्रेक्षा कहते हैं ।

संवासानुमति—१. सावज्जसंकिलिट्ठे ममत्तभावो उ संवासाणुमती । (कर्मप्र. चू. उप. क. २८, २९) । २. यदा पुनः सावद्यारम्भप्रवृत्तेषु पुत्रादिषु केवलं ममत्वमात्रयुक्तो भवति, नान्यत् किंचित् प्रतिशृणोति श्लाघते वा, तदा संवासानुमतिः । (कर्मप्र. उप क. मलय. वृ. २८–२९) ।

२ पापयुक्त आरम्भ कार्य में पुत्रादिकों के प्रवृत्त होने पर जो केवल ममत्वभाव से युक्त होता है, पर न तो उसे स्वीकार करता है—प्रतीकार करता है—और न प्रशंसा भी करता है, इस स्थिति को संवासानुमति कहा जाता है ।

संवाह—१. संवाहणं ति बहुविहरण्णमहासेलसिहरत्थं ।। (ति. प. ४–१४००) । २. यत्र शिरसा धान्यमारोप्यते स संवाहः । (धव. पु. १३, पृ. ३३६) । ३. संवाहः पर्वतनितम्बादिदुर्गे स्थानम् । (औपपा. अभय. वृ. ३२) ।

१ अनेक प्रकार के वनों से व्याप्त पर्वत के ऊपर जो स्थान स्थित होता है उसे संवाह या संवाहन कहते हैं ।

संवाहक—अङ्गमर्दनकलाकुशलो भारवाहको वा संवाहकः । (नीतिवा. १४–३४, पृ. १७४) ।

जो अंगमर्दन—शरीर की मालिश—करने की कला में दक्ष होता है अथवा बोझा ढोता है उसे संवाहक कहा जाता है ।

संवाहन—देखो संवाह ।

संविग्न—१. संविग्नो मोक्षसुखाभिलाषी । (श्रा. प्र. टी. १०८) । २. संविग्नो संसाराद् द्रव्य-भावरूपात् परिवर्तनाद् भयमुपगतः, विपरीतोपदेशे रागात् कोपाद्वा अनन्तकालं संसारपरिभ्रमणं मम मिथ्यादृष्टेः सतो भविष्यति इति यः सभयः । (भ.

भ्रा. विजयो. ३५)। ३. संविग्गो रागाद्वा द्वेषाद्वा सूत्रार्थमन्यथोपदिशतो मम मिथ्यादृष्टेः सतोऽनन्तकालं संसारे परिभ्रमणं भविष्यतीति भयमापन्नः। (भ. आ. मूला. ३५)।

१ जो मोक्षसुख की अभिलाषा करता है उसे संविग्न कहा जाता है।

संवित्ति—लक्खणदो णियलक्खं अणुहवमाणस्स जं हवे सोक्खं। सा संवित्ती भणिया सयलवियप्पाण णिद्दहणा॥ (द्रव्यस्व. प्र. नयच. ३५१)।

लक्षण के आश्रय से अपने लक्ष्य का अनुभव करते हुए जो सुख होता है उसे संवित्ति कहा गया है। यह संवित्ति समस्त विकल्पों को नष्ट करने वाली है।

संवृत (योनि)—१. सम्यग्वृतः संवृतः, संवृत इति दुरुपलक्ष्यप्रदेश उच्यते। (स. सि. २-३२)। २. संवृतो दुरुपलक्षः। सम्यग्वृतः संवृत इति दुरुपक्षः प्रदेश उच्यते। (त. वा. २, ३२, ३)। ३. सम्यग्वृतः संवृतो दुरुपलक्ष्यप्रदेशः। (मूला. वृ. १२-५८)। ४. सम्यक्प्रकारेण वृतः प्रदेशः संवृतः, दुरुपलक्ष्य इत्यर्थः। (त. वृत्ति श्रुत. २-३२)।

१ जो जन्मस्थान रूप प्रदेश भले प्रकार ढका हुआ होता है व जिसका देखा जाना कठिन होता है उसे संवृतयोनि कहते हैं।

संवृतबकुश—प्रच्छन्नकारी संवृतबकुशः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-४६)।

जो साधु गुप्तरूप से कार्य किया करता है उसे संवृतबकुश कहते हैं।

संवृतिसत्य—१. यल्लोके संवृत्यानीतं (चा. सा. 'नीतं') वचस्तत्संवृतिसत्यम्। यथा पृथिव्याद्यनेककारणत्वेऽपि सति पङ्के जातं पङ्कजम् इत्यादि। (त. वा. १, २०, १२)। २. यल्लोके संवृत्याश्रितं वचस्तत्संवृतिसत्यम्। यथा पृथिव्याद्यनेककारणत्वेऽपि सति पङ्के जातं पङ्कजमित्यादि। (धव. पु. १, पृ. ११८)। ३. सामग्रीकृतकार्यस्य वाचकत्वैकदेशतः। वचः संवृतिसत्यं स्यात् भेरीशब्दादिकं यथा॥ (ह. पु. १०-१०२)। ४. या सा सर्वानुमत्या वाक् ख्याता संवृतिसत्यवाक्। कारणान्तरजत्वेऽपि पंकेजमिति वाग्यथा॥ (आचा. सा. ५-३२)। ५. यल्लोकसंवृत्यागतं वचस्तत्संवृतिसत्यम्। यथा पृथिव्याद्यनेककारणत्वेऽपि सति पङ्के जातं पङ्कजमित्यादि। (कार्तिके. टी. ३९८)।

१ लोक में कल्पना से जो वचन व्यवहार में आता है उसे संवृतिसत्य कहते हैं। जैसे—कमल की उत्पत्ति में पृथिवी आदि अनेक कारणों के होने पर भी वह चूंकि कीचड़ में उत्पन्न होता है, इसलिए उसे पङ्कज कहना, इत्यादि। ३ जिस वचन का शरीर अनेक कारण रूप सामग्री से किया गया है; फिर भी वाचकता का एक देश विद्यमान होने से जो वचन कहा जाता है उसे संवृतिसत्य जानना चाहिए। जैसे—भेरी का शब्द, यद्यपि भेरी के शब्द में भेरी के अतिरिक्त पुरुष व दण्ड आदि अनेक कारण हैं, फिर भी भेरी की प्रधानता से भेरी का शब्द कहा जाता है।

संवेग—१. संसारदुःखान्नित्यभीरुता संवेगः। (स. सि. ६-२४)। २. संवेगो नाम संसारभीरुत्वमारम्भ-परिग्रहेषु दोषदर्शनादरतिः धर्मे बहुमानो धार्मिकेषु च। (त. भा. ७-७)। ३. सिद्धी य देवलोगो सुकुलुप्पत्ती य होइ संवेगो। (दशवै. नि. २०३)। ४. संसाराद् भीरुता संवेगः। (त. वा. १, २, ३०); संसारदुःखान्नित्यभीरुता संवेगः। शारीरं मानसं च बहुविकल्पप्रियविप्रयोगाप्रियसंयोगेप्सितालाभादिजनितं संसारदुःखं यदतिकष्टं ततो नित्यभीरुता संवेगः। (त. वा. ६, २४, ५)। ५. संवेगः संसारभीरुत्वादिलक्षणः। (त. भा. हरि. वृ. ७-७)। ६. संवेगो मोक्षाभिलाषः। (दशवै. नि. हरि. वृ. ५७; श्रा. प्र. टी. ५३)। ७. हरिसो संतो संवेगो णाम। (धव. पु. ८, पृ. ८६)। ८. संवेगः परमा प्रीतिर्धर्मे धर्मफलेषु च। (म. पु. १०-१५७)। ९. जन्म-जरामरणभयमानसशारीरदुःखसंभारात्। संसाराद्भीरुत्वं संवेगो विषयतृट्छेदी॥ (ह. पु. ३४-१३६)। १०. द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावपरिवर्तनरूपात् संसाराद्भीरुता संवेगः। (त. श्लो. १-२, पृ. ८६); संसाराद्भीरुताभीक्ष्णं संवेगः सद्भिर्मतः। (त. श्लो. ६, २४, ७)। ११. संवेजनं संवेगो भीतिविचलनं वा संसारदुःखाज्जाति-जरा-मरणस्वभावात् प्रियविप्रयोगादेश्च भयपरिणामः प्रतिक्षणं जगत्कायानित्याशुचित्वादिचिन्तनाच्च सांसारिकसुखेष्वनभिलाषस्तत्प्रवणपरिणामाद् विचलनं संवेगः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-२३)। १२. शारीर-मानसागन्तुवेदनाप्रभवाद् भवात्। स्वप्नेन्द्रजालसंकल्पाद्भीतिः संवेग-

मुच्यते ॥ (उपासका. २२६) । १३. शारीरं मानसं च बहुविकल्पं प्रियविप्रयोगाप्रियसंयोगेप्सितालाभादिजनितं संसारदुःखं यदतिकष्टं ततो नित्यभीरुता संवेगः। (चा. सा. पृ. २५) । १४. तथ्ये धर्मे ध्वस्तहिंसाप्रपञ्चे, देवे राग-द्वेषमोहादिमुक्ते । साधौ सर्वग्रन्थसन्दर्भहीने संवेगोऽसौ निश्चलो योऽनुरागः ॥ (अमित. श्रा. २-७४) । १५. संवेगो मोक्षाभिलापः। ××× अन्ये तु संवेग-निर्वेदयोरर्थविपर्यासमाहुः—संवेगो भवविरागः, निर्वेदो मोक्षसुखाभिलाष इति । (योगशा. स्वो. विव. २-१५, पृ. १८१-८२) । १६. ध्यायतः कर्मविपाकं संसारासारतामपि । यस्स्याद्विषयवैराग्यं स संवेग इतीरितः ॥ (त्रि. श. पु. च. १, ३, ६१३) । १७. ××× संवेगः । भवभयमनुकम्पा ××× ॥ (अन. ध. २-५२) । १८. शारीर-मानसागन्तुवेदनाप्रसारात् संसाराद्भयं संवेगः । (त. वृत्ति श्रुत. १-२); भवदुःखादनिशं भीरुता संवेगः कथ्यते । (त. वृत्ति श्रुत. ६-२४) । १९. संसाराद्भीरुत्वं संवेगः । (भावप्रा. टी. ७७) । २०. धर्मे धर्मफले च परमा प्रीतिः संवेगः । (कार्तिके. टी. ३२६) । २१. संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः । सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ॥ (लाटीसं. ३-७६; पंचाध्या. २-४३१) ।

१ संसार के दुःख से जो निरन्तर भय होता है, इसका नाम संवेग है। २ संसार से भयभीतता, आरम्भ व परिग्रह में दोषों के देखे जाने से अरति तथा धर्म और धार्मिक जन में बहुमान; ये संवेग के लक्षण हैं। ३ सिद्धि, देवलोक और उत्तम कुल में उत्पत्ति यह संवेग है—इनके निमित्त से संवेग होता है। ६ मोक्ष की अभिलाषा का नाम संवेग है।

संवेजनी कथा—१. संवेयणी पुण कहा णाणचरित्तं तव-वीरियइड्ढिगदा । (भ. आ. ६५७) । २. आय-परसरीरगया इहलोए चेव तह य परलोए । एसा चउव्विहा खलु कहा उ संवेयणी होइ ॥ (दशवै. नि. १९९) । ३. संवेजनीं च संसारभयप्रचयबोधनीम् । (पद्मपु. १०६-९३) । ४. संवेयणी णाम पुण्णफलसंकहा । ×××उक्तं च—××× संवेगिनी धर्मफलप्रपञ्चा ××× ॥ (धव. पु. १, पृ. १०५-६) । ५. संवेजनीं प्रथयितुं सुकृतानुभावम् ××× ॥ (अन. ध. ७-८८) । ६. रत्नत्रयात्मक धर्मानुष्ठानफलभूततीर्थंकराद्यैश्वर्य-प्रभावतेजोवीर्य-ज्ञान-सुखादिवर्णनारूपं संवेजनीकथा । (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. ३५७) ।

१ ज्ञान, चारित्र और तप की भावना से जो शक्तिरूप संपत्ति प्रगट होती है उसके निरूपण करने को संवेजनीकथा कहते हैं। २ आत्मशरीर, परशरीर, इहलोक और परलोक के भेद से संवेजनीकथा चार प्रकार की है। सात धातुमय यह हमारा शरीर मल-मूत्रादि का स्थान है, अतः अपवित्र है, इस प्रकार कहने पर श्रोता को संवेग उत्पन्न होता है, इसीलिए इसे आत्मशरीरसंवेजनी कथा कहा जाता है। इसी प्रकार परशरीरसंवेजनी, इहलोकसंवेजनी और परलोकसंवेजनी कथाओं का भी स्वरूप समझना चाहिए। ४ पुण्यफल की चर्चा को संवेजनीकथा कहते हैं।

संवेजनीय रस—वीरिय-विउव्वणिड्ढी नाण-चरण-दंसणाण तह इड्ढी । उवइस्सइ खलु जहियं कहाइ संवेयणीइ रसो ॥ (दशवै. नि. २००) ।

तप के सामर्थ्य से वीर्य ऋद्धि, विक्रिया ऋद्धि, ज्ञान ऋद्धि, चारित्रऋद्धि और दर्शनऋद्धि प्रादुर्भूत होती है; इत्यादि का जो उपदेश दिया जाता है उसे संवेजनीकथा का रस (सार) समझना चाहिए।

संव्यवहरणदोष—संववहरणं किच्चा पदादुमिदि चेल-भायणादीणं। असमिक्ख[विक्ख]य जं देयं संववहरणो हवदि दोसो ॥ (मूला. ६-४८) ।

साधु को आहार देने के लिए वस्त्र व वर्तन आदि का शीघ्रता से व्यवहार करके बिना देखे जो दिया जाता है उसे यदि साधु ग्रहण करता है तो वह संव्यवहरण नामक अशनदोष का भागी होता है।

संव्यवहार—१. समीचीनो व्यवहारः संव्यवहारः, प्रवृत्ति-निवृत्तिलक्षणः संव्यवहारो भण्यते । (वृ. द्रव्यसं. टी. ५) । २. समीचीनप्रवृत्तिरूपो व्यवहारः संव्यवहारः । (लघीय. अभय. वृ. ३, पृ. ११) ।

१ प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप समीचीन व्यवहार को संव्यवहार कहते हैं।

संव्यवहारप्रत्यक्ष—देखो सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष ।

संशय—१. सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयः । (त. वा. १, ६, ८); अनेकार्थानिश्चितापर्युदासात्मकः संशयः ××× । स्थाणुपुरुषाद्यनेकार्थालम्बनसन्निधानादनेकार्थात्मकः संश-

यः, × × × । स्थाणु-पुरुषानेकधर्मानिश्चितात्मकः संशयः । × × ×, स्थाणु-पुरुषानेकधर्माऽपर्युदासात्मकः संशयः । (त. वा. १, १५, ६) । २. स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ज्ञानं संशयः । (सिद्धिवि. वृ. १, ३, पृ. २४); स्थाणुर्वा पुरुषो वा इति विशेषानवधारण संशयः । (सिद्धिवि. वृ, १, १०, पृ. ६३) । ३. शुद्धात्मतत्त्वादिप्रतिपादकमागमज्ञानं किं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतं भविष्यति परसमयप्रणीतं वेति संशयः । तत्र दृष्टान्तः स्थाणुर्वा पुरुषो वेति । (बृ. द्रव्यसं. टी. ४२) । ४. अनवस्थितकोटीनामेकत्र परिकल्पनाम् । शुक्ति वा रजतं किं वेत्येवं संशीतिलक्षणम् ॥ (मोक्षपं. ५) । ५. संशयो नामानवधारितार्थज्ञानम् । (सूर्यप्र. मलय. वृ. २, पृ. ५) । ६. विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति । (न्यायदी. पृ. ६) । ७. एकधर्मिकविरुद्धनानाधर्मप्रकारकं ज्ञानं हि संशयः । (सप्तभं. पृ. ६); एकवस्तुविशेष्यकविरुद्धनानाधर्मप्रकारकज्ञानं हि संशयः । (सप्तभं. पृ. ८०) ।

१ सामान्य धर्म का प्रत्यक्ष, विशेष धर्म का अप्रत्यक्ष और विशेष का स्मरण होने पर जो अनेक पदार्थों में चलात्मक ज्ञान होता है उसे संशय कहते हैं। २ यह स्थाणु है या पुरुष, इस प्रकार कथंचित् सदृशता को प्राप्त दो या अधिक पदार्थों में जो विशेष का निश्चय नहीं होता है, इसे संशय कहा जाता है।

संशयमिथ्यात्व—१. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि किं मोक्षमार्गः स्याद्वा न वेत्यन्यतरपक्षापरिग्रहः संशयः । (स. सि. ८-१) । २. सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः किं स्याद्वा न वेति मतिद्वैधं संशयः । (त. वा. ८, १, २८) । ३. सव्वत्थ संदेहो चेव, णिच्छओ णत्थित्ति अहिणिवेसो संसयमिच्छत्तं । (धव. पु. ८, पृ. २०) । ४. संसयमिच्छादिट्ठी णियमा सो होइ जत्थ सग्गंथो । णिग्गंथो वा सिज्झइ कवलगहणेण सेवडओ ॥ (भावसं. दे. ८५) । ५. संशयमिथ्यात्वं वस्तुस्वरूपानवधारणात्मकम् । (भ. आ. विजयो. २३); एवम्भूतश्रद्धारहितस्य को वेति किमत्र तत्त्वमिति अदृष्टेषु कपिलादिषु सर्वज्ञतैव दुरवधारा, अयमेव सर्वविन्नेतर इति आगमशरणतायां को वस्तुयाथात्म्यानुसारी को वा नेति संशय एवेति यत्तत्वाश्रद्धानं संशयप्रत्ययोपनीतत्वात्तत्संशयमिथ्यात्वमित्युच्यते । (भ. आ. विजयो. ४४); तत्त्वानवधारणात्मकसंशयज्ञानसहचारि अश्रद्धानं संशयितम्, न हि संदिहानस्य तत्त्वविषयं श्रद्धानमस्ति इदमित्थमेवेति । (भ. आ. विजयो. ५६) । ६. सर्वज्ञेन विरागेण जीवाजीवादिभाषितम् । तथ्यं न वेति संकल्पो दृष्टिः सांशयिकी मता । (अमित. श्रा. २-७) । ७. × × × यदा पुनरदृष्टेषु सर्वज्ञतैव दुरवधारा अयमेव सर्वज्ञो नेतर इति, आगमशरणतायामपि आगमेषु को वस्तुयाथात्म्यानुसारी को वा नेति मिथ्यात्वकर्मपाकपारतन्त्र्यात् संशयमभिनिवेशमानस्य तत्त्वाश्रद्धानमुदेति, तदा संशयप्रत्ययोपनीतत्वात्संशयमिथ्यात्वमुच्यते । (भ. आ. मूला. ४४) । ८. सशयो जैनसिद्धान्ते सूक्ष्मे सन्देहलक्षणः । इत्थमेतदथेत्थं वा को वेत्तीति कुहेतुतः ॥ (धर्मसं. श्रा. ४-३८) । ९. सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः किं भवेन्नो वा भवेदिति अन्यतरपक्षस्य अपरिग्रहः संशयमिथ्यादर्शनम् । (त. वृत्ति श्रुत. ८-१) ।

१ सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये मोक्ष के मार्ग हो सकते हैं या नहीं, इस प्रकार से किसी एक पक्ष का निर्णय न होना; इसका नाम संशयमिथ्यात्व या संशयमिथ्यादर्शन है। ५ वस्तुस्वरूप का निश्चय न होना, इसे संशयमिथ्यात्व कहा जाता है।

संशयमिथ्यादर्शन—देखो संशयमिथ्यात्व ।

संशयमिथ्यादृष्टि—देखो संशयमिथ्यात्व ।

संशयवचनीभाषा—१. संशयमव्यक्तं वक्तीति संशयवचनी, सशयार्थ प्रख्यापनानभिव्यक्तार्था यस्माद्वचनात् संदेहरूपादर्थो न प्रतीयते तद्वचनं संशयवचनी भाषेत्युच्यते । (मूला. वृ. ५-११९) । २. संशयवचनी संदेहभाषा किमिदं बलाका पताका वा । (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. २२५) ।

१ जिस भाषा में वस्तु का अस्पष्ट कथन किया जाता है तथा जिस संदिग्ध वचन से अर्थ की प्रतीति नहीं होती है उसे संशयवचनीभाषा कहते हैं।

संशयित मिथ्यात्व—देखो संशयमिथ्यात्व । प्रत्यक्षादिप्रमाणैः परिज्ञातस्यापि वस्तुनः देशान्तरे कालान्तरे च इदमेव ईदृशमेव इत्यवधारयितुमशक्यत्वेन तत्स्वरूपप्ररूपकाणामाप्ताभिमानिनामपि परस्परविरुद्धशास्त्रोपदेशकत्वात् वंचकत्वशंकया च तत्त्वमित्थं भवति वा नवेत्युभयांशावलम्बनरूपसंशयपूर्वकश्रद्धानं संशयितमिथ्यात्वम् । (गो. जी. जी. प्र. १५)।

प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा यद्यपि वस्तु को जान लिया है, फिर भी अन्य देश व अन्य काल में 'यही है व इसी प्रकार की है' ऐसा निर्णय न कर सकने के कारण तथा अपने को आप्त मानने वाले भी जो उसकी प्ररूपणा करते हैं उनके परस्पर विरुद्ध शास्त्र के उपदेष्टा होने से ठगे जाने की प्रशंका से तत्त्व ऐसा है या नहीं है' इस प्रकार उभय पक्ष का आलम्बन करने वाला संशयपूर्वक जो श्रद्धान होता है उसे संशयित मिथ्यात्व कहते हैं।

संश्रय—परस्यात्मार्पणं संश्रयः। (नीतिवा. २६, ४७, पृ. ३२४)।

शत्रु के बल को देखकर जो आत्मसमर्पण किया जाता है, इसे संश्रय कहते हैं।

संश्लेषबन्ध—१. जो सो संसिलेसबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो—जहा कट्ठ-जदूणं अण्णोण्णसंसिलेसिदाणं बंधो संभवदि, सो सव्वो संसिलेसबंधो णाम। (षट्खं. ५, ६, ४३—पु. १४, पृ. ४१)। २. जतु-कष्ठादि संश्लेषबन्धः। (त. वा. ५, २४, १३)। ३. रज्जु-वरत्त-कट्ठादीहि विणा अल्लीवणविसेसेहि विणा जो चिक्कण-अचिक्कणदव्वाणं चिक्कणदव्वाणं वा परोप्परेण बंधो सो संसिलेसबंधो णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३७); लक्खाए कट्ठस्स जो अण्णोण्ण-संसिलेसेण बंधो सो संसिलेसबंधो णाम। (धव. पु. १४, पृ. ४१)।

१ परस्पर संश्लेश को प्राप्त हुए लाख और काठ आदि में जो बंध संभव है उसे संश्लेषबंध कहते हैं। ३ रस्सी, वरत्रा (विशिष्ट रस्सी) और लकड़ी आदि के बिना जो चिक्कण-अचिक्कण व चिक्कण द्रव्यों का परस्पर में बंध होता है उसे संश्लेषबंध कहा जाता है।

संसक्त तपस्वी— आहार-उवहि-पूयासु जस्स भावो उ निच्चसंसत्तो। भावोवहतो कुणइ अ तवोवहाणं तदट्ठाए॥ (बृहत्क. भा. १३१७)।

जिसका परिणाम आहार, उपधि और पूजा में सदा सम्बद्ध रहता है तथा जो रसगौरवादि भाव से अभिभूत होकर उसी के लिए अनशन आदि तप को किया करता है उसे संसक्त तपस्वी कहा जाता है।

संसक्त श्रमण—१. मंत्र-वैद्यक-ज्योतिष्कोपजीवी राजादिसेवकः संसक्तः। (चा. सा. पृ. ६३)। २. संसक्तो वैद्यमंत्रयावनीशसेवादिजीवनः। (आचा. सा. ६–५१)। ३. संसक्तः संसर्गवशात् स्थापितादिभोजी। (व्यव. भा मलय. वृ. ३–१६५); संसक्त इव संसक्तः. पार्श्वस्थादिकं तपस्विनं वासाद्य सन्निहितदोषगुवा(?) इत्यर्थः। (व्यव. भा. मलय. वृ. ३–२०८)।

१ जो साधु मंत्र, वैद्यक और ज्योतिष से आजीविका करता हुआ राजा आदि की सेवा किया करता है उसे संसक्त श्रमण कहा जाता है। ३ संसर्ग के वश जो स्थापित आदि का भोजन किया करता है उसे संसक्त श्रमण कहते हैं।

संसार—१. कर्मविपाकवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः। (स. सि. ६–७)। २. आत्मोपचित-कर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः। आत्मनोपचितं कर्माष्टविधं प्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेशबन्धभेदभिन्नम् तद्वशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसार इत्युच्यते। (त. वा. २, १०, १); द्रव्यादिनिमित्ता आत्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः। (त. वा. ६, ७, ३; त. श्लो. ६–७)। ३. संसरणं संसारः, तिर्यग्नर-नारकामरभवानुभूतिरूपः। (आव. नि. हरि. वृ. ७८६ व १२५१)। ४. तिर्यग्नर-नारकामरभवसंसरणरूपः संसारः। (दशवै. नि. हरि. वृ. ५६)। ५. संसरन्ति अनेन घातिकर्मकलापेन चतसृषु गतिष्विति घातिकर्मकलापः संसारः। (धव. पु. १३, पृ. ४४)। ६. आत्मोपचितकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः। (त. श्लो. २–१०)। ७. स्वोपात्तकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः। (अष्टस. ६)। ८. द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावेषु परिवर्तमानः संसारः। (भ. आ. विजयो. ४४६)। ९. संसारश्चतसृषु गतिषु नानायोनिविकल्पासु परिभ्रमणम्। (चा. सा. पृ. ७६)। १०. एक्कं चयदि सरीरं अण्णं गिण्हेदि णव-णवं जीवो। पुणु पुणु अण्णं अण्णं गिण्हदि मुंचेदि बहुवारं॥ एवं जं संसरणं णाणादेहेसु हवदि जीवस्स। सो संसारो भण्णदि मिच्छ-कसायेहिं जुत्तस्स॥ (कार्तिके. ३२–३३)। ११. ग्रन्थानुबन्धी संसारः ××× । (सूत्रकृ. ६–१७)। १२. संसारं गर्भादिसंचरणम् ×××। (सिद्धिवि. टी. ७-८, पृ. ४६२)। १३. संसारो नानायोनिषु संचरणम्।

यः, × × × । स्थाणु-पुरुषानेकधर्मानिश्चितात्मकः संशयः । × × ×, स्थाणु-पुरुषानेकधर्माऽपर्युदासात्मकः संशयः । (त. वा. १, १५, ६) । २. स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ज्ञानं संशयः । (सिद्धिवि. वृ. १, ३, पृ. २४); स्थाणुर्वा पुरुषो वा इति विशेषानवधारण संशयः । (सिद्धिवि. वृ. १, १०, पृ. ६३) । ३. शुद्धात्मतत्त्वादिप्रतिपादकमागमज्ञानं किं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतं भविष्यति परसमयप्रणीतं वेति संशयः । तत्र दृष्टान्तः स्थाणुर्वा पुरुषो वेति । (बृ. द्रव्यसं. टी. ४२) । ४. अनवस्थितकोटीनामेकत्र परिकल्पनाम् । शुक्ति वा रजतं किं वेत्येवं संशीतिलक्षणम् ॥ (मोक्षपं. ५) । ५. संशयो नामानवधारितार्थज्ञानम् । (सूर्यप्र. मलय. वृ. २, पृ. ५) । ६. विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति । (न्यायदी. पृ. ६) । ७. एकधर्मिकविरुद्धनानाधर्मप्रकारकं ज्ञानं हि संशयः । (सप्तभं. पृ. ६); एकवस्तुविशेष्यकविरुद्धनानाधर्मप्रकारकज्ञानं हि संशयः । (सप्तभं. पृ. ८०) ।

१ सामान्य धर्म का प्रत्यक्ष, विशेष धर्म का अप्रत्यक्ष और विशेष का स्मरण होने पर जो अनेक पदार्थों में चलात्मक ज्ञान होता है उसे संशय कहते हैं । २ यह स्थाणु है या पुरुष, इस प्रकार कथंचित् सदृशता को प्राप्त दो या अधिक पदार्थों में जो विशेष का निश्चय नहीं होता है, इसे संशय कहा जाता है ।

संशयमिथ्यात्व—१. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि किं मोक्षमार्गः स्याद्वा न वेत्यन्यतरपक्षापरिग्रहः संशयः । (स. सि. ८–१) । २. सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः किं स्याद्वा न वेति मतिद्वैधं संशयः । (त. वा. ८, १, २८) । ३. सव्वत्थ संदेहो चेव, णिच्छओ णत्थित्ति अहिणिवेसो संसयमिच्छत्तं । (धव. पु. ८, पृ. २०) । ४. संसयमिच्छादिट्ठी णियमा सो होइ जत्थ सग्गंथो । णिग्गंथो वा सिज्झइ कवलगहणेण सेवडओ ॥ (भावसं. दे. ८५) । ५. संशयमिथ्यात्वं वस्तुस्वरूपानवधारणात्मकम् । (भ. आ. विजयो. २३); एवम्भूतश्रद्धारहितस्य को वेति किमत्र तत्त्वमिति अदृष्टेषु कपिलादिषु सर्वज्ञतैव दुरवधारा, अयमेव सर्वविन्नेतर इति आगमशरणतायां को वस्तुयाथात्म्यानुसारी को वा नेति संशय एवेति यत्तत्त्वाश्रद्धानं संशयप्रत्ययोपनीतत्वात्तत्संशयमिथ्यात्वमित्युच्यते । (भ. आ. विजयो. ४४); तत्त्वानवधारणात्मकसंशयज्ञानसहचारि अश्रद्धानं संशयितम्, न हि संदिहानस्य तत्त्वविषयं श्रद्धानमस्ति इदमित्थमेवेति । (भ. आ. विजयो. ५६) । ६. सर्वज्ञेन विरागेण जीवाजीवादिभाषितम् । तथ्यं न वेति संकल्पो दृष्टिः सांशयिकी मता । (अमित. श्रा. २–७) । ७. × × × यदा पुनरदृष्टेषु सर्वज्ञतैव दुरवधारा अयमेव सर्वज्ञो नेतर इति, आगमशरणतायामपि आगमेषु को वस्तुयाथात्म्यानुसारी को वा नेति मिथ्यात्वकर्मपाकपारतन्त्र्यात् संशयमभिनिवेशमानस्य तत्त्वाश्रद्धानमुदेति, तदा संशयप्रत्ययोपनीतत्त्वात्संशयमिथ्यात्वमुच्यते । (भ. आ. मूला. ४४) । ८. सशयो जैनसिद्धान्ते सूक्ष्मे सन्देहलक्षणः । इत्थमेतदथेत्थं वा को वेत्तीति कुहेतुतः ॥ (धर्मसं. श्रा. ४–३८) । ९. सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः किं भवेन्नो वा भवेदिति अन्यतरपक्षस्य अपरिग्रहः संशयमिथ्यादर्शनम् । (त. वृत्ति श्रुत. ८–१) ।

१ सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये मोक्ष के मार्ग हो सकते हैं या नहीं, इस प्रकार से किसी एक पक्ष का निर्णय न होना; इसका नाम संशयमिथ्यात्व या संशयमिथ्यादर्शन है । ५ वस्तुस्वरूप का निश्चय न होना, इसे संशयमिथ्यात्व कहा जाता है ।

संशयमिथ्यादर्शन—देखो संशयमिथ्यात्व ।

संशयमिथ्यादृष्टि—देखो संशयमिथ्यात्व ।

संशयवचनीभाषा—१. संशयमव्यक्तं वक्तीति संशयवचनी, संशयार्थ प्रख्यापनानभिव्यक्तार्था यस्माद्वचनात् संदेहरूपादर्थो न प्रतीयते तद्वचनं संशयवचनी भाषेत्युच्यते । (मूला. वृ. ५–११९) । २. संशयवचनी संदेहभाषा किमिदं बलाका पताका वा । (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. २२५) ।

१ जिस भाषा में वस्तु का अस्पष्ट कथन किया जाता है तथा जिस संदिग्ध वचन से अर्थ की प्रतीति नहीं होती है उसे संशयवचनीभाषा कहते हैं ।

संशयित मिथ्यात्व—देखो संशयमिथ्यात्व । प्रत्यक्षादिप्रमाणैः परिज्ञातस्यापि वस्तुनः देशान्तरे कालान्तरे च इदमेव ईदृशमेव इत्यवधारयितुमशक्यत्वेन तत्स्वरूपप्ररूपकाणामाप्ताभिमानिनामपि परस्परविरुद्धशास्त्रोपदेशकरत्वात् वंचकत्वशंकया च तत्त्वमित्थं भवति वा नवेत्युभयांशावलम्बनरूपसंशयपूर्वकश्रद्धानं संशयितमिथ्यात्वम् । (गो. जी. जी. प्र. १५)।

प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा यद्यपि वस्तु को जान लिया है, फिर भी अन्य देश व अन्य काल में 'यही है व इसी प्रकार की है' ऐसा निर्णय न कर सकने के कारण तथा अपने को आप्त मानने वाले भी जो उसकी प्ररूपणा करते हैं उनके परस्पर विरुद्ध शास्त्र के उपदेष्टा होने से ठगे जाने की आशंका से तत्त्व ऐसा है या नहीं है' इस प्रकार उभय पक्ष का आलम्बन करने वाला संशयपूर्वक जो श्रद्धान होता है उसे संशयित मिथ्यात्व कहते हैं।

संश्रय—परस्यात्मार्पणं संश्रयः। (नीतिवा. २६, ४७, पृ. ३२४)।

शत्रु के बल को देखकर जो आत्मसमर्पण किया जाता है, इसे संश्रय कहते हैं।

संश्लेषबन्ध—१. जो सो संसिलेसबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो—जहा कट्ठ-जदूणं अण्णोण्णसंसिलेसिदाणं बंधो संभवदि, सो सव्वो संसिलेसबंधो णाम। (षट्खं. ५, ६, ४३—पु. १४, पृ. ४१)। २. जतु-काष्ठादि संश्लेषबन्धः। (त. वा. ५, २४, १३)। ३. रज्जु-वरत्त-कट्ठादीहि विणा अल्लीवणविसेसेहि विणा जो चिक्कण-अचिक्कणदव्वाणं चिक्कणदव्वाणं वा परोप्परेण बंधो सो संसिलेसबंधो णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३७); लक्खाए कट्ठस्स जो अण्णोण्ण-संसिलेसेण बंधो सो संसिलेसबंधो णाम। (धव. पु. १४, पृ. ४१)।

१ परस्पर संश्लेश को प्राप्त हुए लाख और काष्ठ आदि में जो बंध संभव है उसे संश्लेषबंध कहते हैं। ३ रस्सी, वरत्रा (विशिष्ट रस्सी) और लकड़ी आदि के विना जो चिक्कण-अचिक्कण व चिक्कण द्रव्यों का परस्पर में बंध होता है उसे संश्लेषबंध कहा जाता है।

संसक्त तपस्वी—आहार-उवहि-पूयासु जस्स भावो उ निच्चसंसत्तो। भावोवहतो कुणइ अ तवोवहाणं तदट्ठाए॥ (बृहत्क. भा. १३१७)।

जिसका परिणाम आहार, उपधि और पूजा में सदा सम्बद्ध रहता है तथा जो रसगौरवादि भाव से अभिभूत होकर उसी के लिए अनशन आदि तप को किया करता है उसे संसक्त तपस्वी कहा जाता है।

संसक्त श्रमण—१. मंत्र-वैद्यक-ज्योतिष्कोपजीवी राजादिसेवकः संसक्तः। (चा. सा. पृ. ६३)। २. संसक्तो वैद्य-मंत्रावनीशसेवादिजीवनः। (आचा. सा. ६-५१)। ३. संसक्तः संसर्गवशात् स्थापितादिभोजी। (व्यव. भा. मलय. वृ. ३-१६५); संसक्त इव संसक्तः, पार्श्वस्थादिकं तपस्विनां चासाद्य सन्निहितदोषगुणा(?) इत्यर्थः। (व्यव. भा. मलय. वृ. ३-२०८)।

१ जो साधु मंत्र, वैद्यक और ज्योतिष से आजीविका करता हुआ राजा आदि की सेवा किया करता है उसे संसक्त श्रमण कहा जाता है। ३ संसर्ग के वश जो स्थापित आदि का भोजन किया करता है उसे संसक्त श्रमण कहते हैं।

संसार—१. कर्मविपाकवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः। (स. सि. ९-७)। २. आत्मोपचितकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः। आत्मनोपचितं कर्माष्टविधं प्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेशबन्धभेदभिन्नम् तद्वशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसार इत्युच्यते। (त. वा. ९, १०, १); द्रव्यादिनिमित्ता आत्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः। (त. वा. ९, ७, ३; त. श्लो. ९-७)। ३. संसरणं संसारः, तिर्यग्नर-नारकामरभवानुभूतिरूपः। (आव. नि. हरि. वृ. ७८६ व १२५१)। ४. तिर्यग्नर-नारकामरभवसंसरणरूपः संसारः। (दशवै. नि. हरि. वृ. ५६)। ५. संसरन्ति अनेन घातिकर्मकलापेन चतसृषु गतिष्विति घातिकर्मकलापः संसारः। (धव. पु. १३, पृ. ४४)। ६. आत्मोपचितकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः। (त. श्लो. २-१०)। ७. स्वोपात्तकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः। (अष्टस. ६)। ८. द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावेषु परिवर्तमानः संसारः। (भ. आ. विजयो. ४४६)। ९. संसारश्चतसृषु गतिषु नानायोनिविकल्पासु परिभ्रमणम्। (चा. सा. पृ. ७९)। १०. एक्कं चयदि सरीरं अण्णं गिण्हेदि णव-णवं जीवो। पुणु पुणु अण्णं अण्णं गिण्हदि मुंचेदि बहुवारं॥ एवं जं संसरणं णाणादेहेसु हवदि जीवस्स। सो संसारो भण्णदि मिच्छ-कसायेहिं जुत्तस्स॥ (कार्तिके. ३२-३३)। ११. ग्रन्थानुबन्धी संसारः ××× । (क्षत्रचू. ६-१७)। १२. संसारं गर्भादिसंचरणम् ×××। (सिद्धिवि. टी. ७-८, पृ. ४६२)। १३. संसारो नानायोनिषु संचरणम्।

(योगशा. स्वो. विव. ४–६५) ।
१ कर्म के उदयवश जो अन्य अन्य भव की प्राप्ति होती है, इसे संसार कहा जाता है। ३ तिर्यञ्च, मनुष्य, नारक और देव पर्याय का जो अनुभव होता है—उनमें गमनागमन होता है, इसी का नाम संसार है।

संसारपरीत—देखो परीतसंसार व संसारापरीत। यस्तु सम्यक्त्वादिना कृतपरिमितसंसारः स संसारपरीतः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २४७, पृ. ३९४)।
जिसने सम्यक्त्वादि के आश्रय से संसार को परिमित कर दिया है उसे संसारपरीत कहा जाता है।

संसारानुप्रेक्षा— १. तस्मिन्ननेकयोनि-कुलकोटिबहुशतसहस्रसंकटे संसारे परिभ्रमन् जीवः कर्मयन्त्रप्रेरितः पिता भूत्वा भ्राता पुत्रः पौत्रश्च भवति, माता भूत्वा भगिनी भार्या दुहिता च भवति, स्वामी भूत्वा दासो भवति, दासो भूत्वा स्वाम्यपि भवति, नट इव रङ्गे। अथवा किं बहुना ? स्वयमात्मनः पुत्रो भवतीत्येवमादिसंसारस्वभावचिन्तनं संसारानुप्रेक्षा। (स. सि. ९–७)। २. ××× एवमेतस्मिन्ननेकयोनि-कुलकोटिबहुशतसहस्रसंकटे संसारे परिभ्रमन् अयं जीवः कर्म-यंत्रप्रेरितः पिता भूत्वा भ्राता पुत्रः पौत्रश्च भवति, माता भूत्वा भगिनी भार्या दुहिता च भवति। किं बहुना ? स्वयमात्मनः पुत्रो भवतीत्येवमादिसंसारस्वभावचिंतनं संसारानुप्रेक्षा। (त. वा. ९, ७, ३; चा. सा. पृ. ८२–८३)। ३. वृत्या जातिगतिष्वव्याप्तकरणोऽनन्तांगहारः सदा, प्रोद्भूतिप्रलयो नरामर-मृगाद्याहार्यपर्यायवान्। हित्वा सात्त्विकभावजातमितरैर्भावैः स्वकर्मोद्भवैर्जीवोऽयं नटवद्भ्रमत्याभिनवः सर्वत्र लोकत्रये॥ (आचा. सा. १०, ३५)।
१ अनेक योनियों और लाखों कुलकोटियों से कष्टपूर्ण संसार में परिभ्रमण करता हुआ जीव कर्मरूप यंत्र से प्रेरित होता हुआ पिता होकर भाई, पुत्र और पौत्र भी होता है। इसी प्रकार वह माता होकर बहिन, पत्नी और पुत्री भी होता है। वह स्वामी होकर दास और दास होकर स्वामी भी होता है। इस प्रकार से वह रंगभूमि में अभिनय करने वाले नट के समान इस संसार में अनेक रूपों को धारण करता है। अधिक क्या कहा जाय ? वह स्वयं अपना ही पुत्र हो जाता है, इत्यादि प्रकार से संसार के स्वभाव का जो विचार किया जाता है उसे संसारानुप्रेक्षा कहते हैं।

संसारापरीत—देखो अपरीतसंसार। संसारापरीतः सम्यक्त्वादिना अकृतपरिमितसंसारः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २४७, पृ. ३९४)।
जो सम्यक्त्व आदि के आश्रय से संसार को परिमित नहीं कर सका है उसे संसारापरीत कहा जाता है।

संसारी जीव—१. जे संसारी जीवा चउगइपज्जायपरिणया णिच्चं। ते परिणामे गिण्हदि सुहासुहे कम्मसंगहणे॥ (भावसं. दे. ४)। २. अनादिकर्मसंतानसंक्लेशात् क्लेशभाजनम्। संसारी स्यात् त्रसस्थावराद्यैर्भेदैरनेकधा॥ (आचा. सा. ३–१२)। ३. कम्मकलंकालीणा अलद्धसहावभावसब्भावा। गुणमग्गण-जीवट्ठियजीवा संसारिणो भणिया॥ (द्रव्यस्व. प्र. नयच. १०८)। ४. पंचविधेऽत्र संसारे जीवः संसरति स्वयम्। तस्माद्भवति संसारी कृतकर्मप्रचोदितः॥ (भावसं. वाम. ३५०)।
१ जो चार गतिरूप पर्याय से परिणत होकर सदा अपने उपार्जित कर्म के अनुसार शुभ-अशुभ परिणामों को ग्रहण किया करते हैं उन्हें संसारी जीव कहते हैं। ३ जो कर्म-कालिमा से व्याप्त होकर अपने स्वाभाविक भाव को नहीं प्राप्त कर सके हैं तथा गुणस्थान एवं मार्गणारूप जीवस्थानों में स्थित हैं उन्हें संसारी जीव कहा गया है।

संसृति—देखो संसार। अज्ञानात् कायहेतुः स्यात् कर्मागमनमिहात्मनाम्। प्रतीके स्यात्प्रबन्धोऽयमनादिः सैव संसृतिः॥ (क्षत्रचू. ७–१७)।
प्राणियों के अज्ञानता के वश जो कर्म का आस्रव होता है वह शरीर के ग्रहण का कारण है। इस प्रकार अनादि से जो शरीर का ग्रहण, उसके सम्बन्ध से कर्म का ग्रहण तथा उससे पुनः शरीर का ग्रहण, इस प्रकार से जो परम्परा चलती है, इसी का नाम संसृति है।

संसृष्ट—१. संसिट्ठं शाक-कुलमाषादिसंसृष्टमेव। (भ. आ. विजयो. २२०)। २. संसिट्ठं व्यंजनसम्मिश्रम्। (भ. आ. मूला. २२०)।
१ शाक व कुलमाष (कुलथी) आदि से मिश्रित भोजन को संसृष्ट कहते हैं। वृत्तिपरिसंख्यान तप

में इसी प्रकार के भोजन आदि की प्रतिज्ञा की जाती है।

संस्कार—१. संस्कारः सांव्यवहारिकप्रत्यक्षभेदो धारणा। (प्र. क. मा. ३–३, पृ. ३३४); संस्कारश्च कालान्तराविस्मरणकारणलक्षणधारणारूपः। (प्र. क. मा ४–६, पृ. ४६०)। २. संस्काराद् वासनापरनाम्नः × × ×। (सिद्धिवि. टी. १-८, पृ. ३६); ज्ञानजो ज्ञानहेतुश्च संस्कारः। (सिद्धिवि. टी. ८–२६, पृ. ५६६ उद्.)। ३. इदमेव हि संस्कारस्य लक्षणं यत्कालान्तरेऽप्यविस्मरणमिति। (लघीय. अभय. वृ. ५, पृ. १५)।

१ सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का भेदभूत जो धारणा है उसी का नाम संस्कार है। कालान्तर में विस्मरण न होने देने का कारण यही संस्कार है। २ संस्कार और वासना ये समानार्थक हैं। यह ज्ञान से उत्पन्न होता हुआ अन्य ज्ञान का कारण भी है।

संस्कारवत्त्व—संस्कारवत्त्वं संस्कृतादिलक्षणयुक्तत्वम्। (समवा. अभय. वृ. ३५; औपपा. वृ. १०, पृ. २१; रायप. पृ. २७)।

वचन का संस्कृत आदि लक्षण से युक्त होना, इसका नाम संस्कारवत्त्व है। यह ३५ वचनातिशयों में से प्रथम है।

संस्कृत (संखय)—१. उत्तरकरणेण कयं जं किंची संखयं तु नायव्वं। (उत्तरा. नि. १८२)। २. यदुत्तरकरणकृतं तदेव संस्कृतं ज्ञातव्यम्। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १८२)।

१ उत्तर करण के द्वारा जो कुछ किया जाता है उसे संस्कृत कहा जाता है। ('उत्तरकरण' का स्वरूप पीछे उसी शब्द में देखिए)

संस्कृतभाषा—संस्कृतं स्वर्गिणां भाषा शब्दशास्त्रेषु निश्चिता। (अलंकारचि. २–१२०)।

देवों की भाषा को, जिसका स्वरूप शब्दशास्त्र (व्याकरण) में निश्चित है, संस्कृत कहा जाता है।

संस्तव—१. भूताभूतगुणोद्भाववचनं संस्तवः। (स. सि. ७–२३; त. वा. ७, २३, १)। २. संस्तवस्तु सोपधं निरुपधं भूतगुणवचनमिति। (त. भा. ७–१८)। ३. संस्तवो नाम माहात्म्यस्याधिक्यकथनम्। (श्रा. सो. वसु. वृ. १)। ४. विद्यमानानामविद्यमानानां मिथ्यादृष्टिगुणानां वचनेन प्रकटनं संस्तव उच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७–२३; कार्तिके. टी. ३२६)।

१ विद्यमान व अविद्यमान गुणों के वचन के द्वारा प्रगट करने को संस्तव कहा जाता है। २ विद्यमान गुणों का उपधि सहित अथवा विना उपधि के भी जो कथन किया जाता है उसे संस्तव कहते हैं।

संस्तार, संस्तारक—१. संस्तीर्यते यः प्रतिपन्नपौषधोपवासेन दर्भ-कुश-कम्बल-वस्त्रादिः स संस्तारकः। (श्रा. प्र. टी. ३२३)। २. संस्तारः संस्तीर्यते यः प्रतिपन्नपौषधोपवासेन दर्भ-कुश-कम्बली-वस्त्रादिः × × ×। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–२६)।

१ पौषधोपवास को स्वीकार करने वाला गृहस्थ जिस डाभ, कुश, कम्बल और वस्त्र आदि को बिछाता है उसे संस्तार या संस्तारक कहते हैं।

संस्थान—१. यदुदयादौदारिकादिशरीराकृतिनिर्वृत्तिर्भवति तत्संस्थाननाम। (स. सि. ८–११; त. वा. ८, ११, ८; मूला. वृ. १२–१९३; भ. आ. मूला. ३१२४; गो. क. जी. प्र. ३३)। २. संस्थानमाकारविशेषः। (उत्तरा. चू. पृ. २७२)। ३. संतिष्ठते संस्थीयतेऽनेनेति संस्थितिर्वा संस्थानम्। (त. वा. ५, २४, १); यद्धेतुका शरीराकृतिनिर्वृत्तिस्तत्संस्थाननाम। (त. वा. ८, ११, ८; त. श्लो. ८–११)। ४. संस्थितिः संस्थानम् आकारविशेषलक्षणम्। (आव. नि. हरि. वृ. ८२१, पृ. ३३७)। ५. संस्थितिः संस्थानमाकारविशेषः, तच्चेह बद्ध-संहतेषु संस्थानविशेषो यस्य कर्मण उदयाद् भवति तत् संस्थाननाम। (त. भा. हरि. वृ. ८, १२)। ६. आकृतिविशेषः संस्थानम्। (अनु. हरि. वृ. पृ. ५७)। ७. जेसिं कम्मक्खंधाणमुदएण जाइकम्मोदयपरतंतेण सरीरस्स संठाणं कीरदे तं सरीरसंठाणं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ५३); जस्स कम्मस्स उदएण समचउरस-सादिय-खुज्ज-वामण-हुंड-णग्गोहपरिमंडलसंठाणं सरीरं होज्ज तं सरीरसंठाणणामं। (धव. पु. १३, पृ. ३६४)। ८. शरीराकृतिनिर्वृत्तिर्यतो भवति देहिनाम्। संस्थाननाम तत् षोढा संस्थानकारणार्थतः॥ (ह. पु. ५८, २५२)। ९. संस्थितिः संस्थानम् आकारविशेषः, तेष्वेव बध्यमानेषु पुद्गलेषु संस्थानविशेषो यस्य कर्मण उदयाद् भवति तत् संस्थाननाम। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१२)। १०. संस्थानं समचतुरस्रादिलक्षणं यतो भवति तत्संस्थाननाम। (समवा. अभय.

वृ. ४२)। ११. तथा संस्थानम् आकारविशेषस्तेष्वेव गृहीत-संघातित-बद्धेषु औदारिकादिषु पुद्गलेषु संस्थानविशेषो यस्य कर्मण उदयाद् भवति तत् संस्थाननाम। (प्रज्ञाप. मलय वृ. २९३, पृ. ४७२)। १२. संस्थानमवयवसन्निवेशविशेषः। (मूला. वृ. १२-३)। १३. यत्प्रत्ययात् शरीराकृतिनिष्पत्तिर्भवति तत्संस्थानं नाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८-११)।

जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों का आकार निर्मित होता है उसे संस्थान नामकर्म कहते हैं। २ आकारविशेष का नाम संस्थान है। ५ जिस कर्म के उदय से बद्ध और संघात को प्राप्त पुद्गलों में आकारविशेष होता है उसे संस्थान नामकर्म कहा जाता है।

संस्थान नामकर्म—देखो संस्थान।

संस्थानविचय—देखो लोकविचय। १. उड्ढमहतिरियलोए विचिणादि सपज्जए ससंठाणे। एत्थेव अणुगदाओ अणुपेक्खाओ य विचिणादि॥ (मूला. ५-२०५)। २. द्रव्य-क्षेत्राकृत्यनुगमनं संस्थानविचयस्तु॥ (प्रशमर. २४९)। ३. लोकसंस्थानस्वभावविचयाय स्मृतिसमन्वाहारः संस्थानविचयः। (स. सि. ९-३६)। ४. लोकसंस्थानस्वभावावधानं संस्थानविचयः × × × तदवयवानां (लोकावयवानां) च द्वीपादीनां तत्स्वभावावधानं संस्थानविचयः। (त. वा. ९, ३६, १०)। ५. तिण्णं लोगाणं संठाण-पमाणाउयादिचिंतणं संठाणविचयं णाम चउत्थं धम्मज्झाणं। (धव. पु. १३, पृ. ७२)। ६. संस्थानविचयं प्राहुर्लोकाकारानुचिन्तनम्। तदन्तर्भूतजीवादितत्त्वान्वीक्षणलक्षणम्॥ (म. पु. २१-१४८)। ७. सुप्रतिष्ठितमाकाशमाकाशे वलयत्रयम्। संस्थानध्यानमित्यादि संस्थानविचयं स्थितम्॥ (ह. पु. ५६-४८)। ८. लोकसंस्थानस्वभावावधानं संस्थानविचयः। (त. श्लो. ९-३६)। ९. वेत्रासन-झल्लरी-मृदंगसंस्थानो लोक इति लोकत्रयसंस्थाने विचयोऽस्मिन्निति संस्थानविचयता। (भ. आ. १७०८)। १०. लोकसंस्थानपर्यायस्वभावस्य विचारणम्। लोकानुयोगमार्गेण संस्थानविचयो भवेत्॥ (त. सा. ७-४३)। ११. अहउड्ढ-तिरियलोए चिंतेइ सपज्जयं ससंठाणं। विचयं संठाणस्स य भणियं झाणं समासेण॥ (भावसं. दे. ३७०)। १२. संस्थानानि लोक-द्वीप-समुद्राद्याकृतयः, (तेषां विचयो निर्णयो यत्र तत् संस्थानविचयम्)। (औपपा. अभय. वृ. २०, पृ. ४४)। १३. अनाद्यन्तस्य लोकस्य स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मनः। आकृतिं चिन्तयेद्यत्र संस्थानविचयः स तु॥ (त्रि. श. पु. च. २, ३, ४७७)। १४. त्रिलोकसंस्थानस्वभावविचारणप्रणिधानं संस्थानविचयः। (भ. आ. मूला. १७०८)। १५. विचित्रं लोकसंस्थानं पदार्थैर्निचितं महत्। चिन्त्यते यत्र तद् ध्यानं संस्थानविचयं स्मृतम्॥ (भावसं. वाम. ६४२)। १६. त्रिचत्वारिंशद्भिस्त्रिशतमधिकं यस्य घनतः, प्रमाणं रज्जूनां त्रिपवनपुटैर्यो वलयितः। कटीहस्तोर्ध्वस्थप्रभूतपदपुंसाकृतिरसौ, स्थिरश्चिन्त्यो लोकः सततमिति संस्थानविचयः॥ (आत्मप्र. ९३)। १७. त्रिभुवनसंस्थानस्वरूपविचयाय स्मृतिसमन्वाहारो संस्थानविचयः। (त. वृत्ति श्रुत. ९-३६)।

१ जिस धर्मध्यान में भेद व आकृति से सहित अधोलोक, ऊर्ध्वलोक व तिर्यग्लोक का विचार किया जाता है उसे संस्थानविचय धर्मध्यान कहते हैं। इस ध्यान में लोक की विविध अवस्थाओं व आकृतियों के साथ अनुप्रेक्षाओं का भी चिंतन किया जाता है। २ द्रव्य, क्षेत्र और आकार के चिन्तन को संस्थानविचय कहा जाता है।

संहनन—१. यदुदयादस्थिबन्धनविशेषो भवति तत्संहनननाम। (स. सि. ८-११; त. श्लो. ८, ११; गो. क. जी. प्र. ३३)। २. यदुदयादस्थिबन्धनविशेषस्तत् संहननम्। यस्योदयादस्थिबन्धनविशेषो भवति तत् संहननम्। (त. वा. ८, ११, ९)। ३. अस्थिसंचयोपमितः शक्तिविशेषः संहननम्। (आव. नि. हरि. वृ. ८२१)। ४. अस्थ्नां बन्धविशेषः संहननम्। (त. भा. हरि. वृ. ८-१२)। ५. जस्स कम्मस्स उदएण सरीरे हड्डसंधीणं णिप्फत्ती होज्ज तस्स कम्मस्स संघडणमिदि सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ५४); जस्स कम्मस्स उदएण सरीरे हड्डणिप्पत्ती होदि तं सरीरसंघडणं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६४)। ६. यतो भवति सुश्लिष्टमस्थिसंघातबन्धनम्। तत्संहनननामापि नाम्ना षोढा विभज्यते॥ (ह. पु. ५८-२५४)। ७. यस्योदयादस्थिसन्धिबंधविशेषो भवति तत्संहननं नाम। (मूला. वृ. १२-१९४)। ८. अस्थ्नां यतस्तथाविधशक्तिनिमित्तभूतो रचनाविशेषो भवति तत्

संहनननाम। (समवा. अभय. वृ. ४२)। ६. संहननम् अस्थिरचनाविशेषः। आह च मूलटीकाकारः—संहननमस्थिरचनाविशेष इति। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७०)। १०. यदुदयादस्थिबन्धनाबन्धनविशेषस्तत् संहनननाम। (भ. आ. मूला. २१२४)। ११. यदुदयादस्थ्नां बन्धनविशेषो भवति तत्संहननं नाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८–११)।

१ जिसके उदय से हड्डियों का बन्धनविशेष होता है उसे संहनन नामकर्म कहते हैं। ३ हड्डियों के संचय से उपमित शक्तिविशेष को संहनन कहा जाता है। ५ जिसके उदय से शरीर में हड्डियों की सन्धियों अथवा हड्डियों की निष्पत्ति होती है वह संहनन नामकर्म कहलाता है। ८ जिसके आश्रय से हड्डियों की विशिष्ट रचना उस प्रकार की शक्ति की निमित्तभूत होती है उसका नाम संहनन है।

संहार्यमति—संहार्या क्षेप्या परकीयागमप्रक्रियाभिरसमञ्जसाभिर्बुद्धिर्यस्यासौ संहार्यमतिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–१८)।

जिसकी बुद्धि दूसरों—कपिल, कणाद व सुगत आदिकों—की असमीचीन आगमप्रक्रिया से विचलित हो सकती है उसे संहार्यमति कहा जाता है।

संहिता—अस्खलितपदोच्चारणं संहिता, अथवा परः सन्निकर्षः संहिता। (आव. सू. मलय. वृ. पृ. ५६६); तत्रास्खलितपदोच्चारणं संहिता। (आव. सू. मलय. वृ. पृ. ५९१)।

स्खलन के बिना जो पदों का उच्चारण किया जाता है, इसे संहिता कहते हैं। सूत्र की व्याख्या संहिता, पद, पदार्थ, पदविग्रह, चालना और प्रत्यवस्थान के भेद से छह प्रकार की है। इनमें प्रथम उक्त संहिता ही है।

साकल्य—१. साकल्यम् अनन्तधर्मात्मकता। (लघीय. स्वो. वि. ६२, पृ. ६८६)। २. साकल्यं हि नाम कारकाणां धर्मः। (न्यायकु. ३, पृ. ३४); सकलस्यानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनो भावः साकल्यमनन्तधर्मात्मकता। (न्यायकु. ६३, पृ. ६९०)।

१ वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता का नाम साकल्य है। २ कारकों के धर्म का नाम साकल्य है। इसे भट्ट-जयन्त प्रमाण मानता है।

साकल्यव्याप्ति—१. साध्यधर्मिणि अत्र (अन्यत्र) साध्येन साधनस्य व्याप्तिः साकल्येन व्याप्तिः × × ×। (सिद्धिवि. टी. ५, १५, पृ. ३४७)। २. साकल्येन—सकलानां देश-कालान्तरितसाध्य-साधनव्यक्तीनां भावः साकल्यं तेन। (लघीय. अभय. वृ. ४६, पृ. ७०–७१)।

२ देश और काल से व्यवहित समस्त साध्य-साधन व्यक्तियों के स्वरूप से जिस व्याप्ति को ग्रहण किया जाता है उसे साकल्यव्याप्ति कहते हैं।

साकारउपयोग—१. यो विशेषग्राहकः स साकारः, स च ज्ञानमुच्यते। (आव. नि. हरि. वृ. ६५)। २. कम्म-कत्तारभावो आगारो, तेण आगारेण सह वट्टमाणो उवजोगो सागारो त्ति। (धव. पु. १३, पृ. २०७)। ३. आयारो कम्म-कारयं सयलत्थसत्थादो पुध काऊण बुद्धिगोयरमुवणीयं, तेण आयारेण सह वट्टमाणं सायारं। (जयध. १, पृ. ३३८)। ४. आकारो विकल्पः, सह आकारेण साकारः। × × × (मतान्तरम्) तस्मादाकारो लिङ्गम्, स्निग्ध-मधुरादि-शङ्खशब्दादिषु यत्र लिङ्गेन ग्राह्यार्थान्तरभूतेन ग्राह्यैकदेशेन वा साधकेनोपयोगः स साकारः। (त. भा. सिद्ध. वृ. २–९)। ५. विशेषार्थप्रकाशो यो मनोऽवधि-मति-श्रुतैः। उपयोगः स साकारो जायतेऽन्तर्मुहूर्तगः॥ (पंचसं. अमित. ३३३, पृ. ४६)। ६. मदि-सुद-ओहि-मणेहि य सग-सगविसये विसेस-विण्णाणं। अंतोमुहुत्तकालो उवजोगो सो दु सायारो॥ (गो. जी. ६७४)। ७. आकारं प्रति-नियतोऽर्थग्रहणपरिणामः 'आगारो अविसेसो' इति वचनात्। सह आकारेण वर्तत इति साकारः, स चासावुपयोगश्च साकारोपयोगः। किमुक्तं भवति? सचेतने अचेतने वा वस्तुनि उपयुंजान आत्मा यदा सपर्यायमेव वस्तु परिच्छिनत्ति तदा स उपयोगः साकार उच्यते इति। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३१२, पृ. ५२६)।

१ जो उपयोग विशेष को ग्रहण किया करता है उसे साकार कहते हैं। इस साकार उपयोग को ज्ञान कहा जाता है। ३ कर्म-कर्तृत्व का नाम आकार है, उस आकार के साथ जो उपयोग रहता है उसे साकार उपयोग कहते हैं। ४ आकार का अर्थ विकल्प है, उस विकल्प के साथ जो उपयोग होता है उसे साकार उपयोग समझना चाहिए।

साकारत्व—१. साकारत्वं विच्छिन्नवर्ण-पद-वाक्यत्वेनाकारप्राप्तत्वम्। (स्थानां. अभय. वृ.

३५; औपपा. अभय. वृ. १०, पृ. २२)। २. साकारत्वं विच्छिन्नपद-वाक्यता। (रायप. मलय. वृ. पृ. २८)।

१ विच्छिन्न वर्ण, पद और वाक्य स्वरूप से आकार को प्राप्त होना; इसका नाम साकारत्व है। यह ३५ सत्यवचनातिशयों में ३२वां है।

साकारमन्त्रभेद—१. अर्थ-प्रकरणाङ्गविकार-भ्रूनिक्षेपादिभिः पराकूतमुपलभ्य तदाविष्करणमसूयादिनिमित्तं यत्तत्साकारमन्त्रभेद इति कथ्यते। (स. सि. ७-२६)। २. साकारमन्त्रभेदः पैशून्यं गुह्यमन्त्रभेदश्च। (त. भा. ७-२१)। ३. अर्थादिभिः परगुह्यप्रकाशनं साकारमन्त्रभेदः। अर्थ-प्रकरणाङ्गविकार-भ्रूक्षेपादिभिः पराकूतमुपलभ्य तदाविष्करणमसूयादिनिमित्तं यत्तत्साकारमन्त्रभेदः। (त. वा. ७, २६, ४)। ४. साकारमन्त्रभेदोऽसौ भ्रूविक्षेपादिकेङ्गितैः। पराकूतस्य बुद्ध्वाविर्भावनं यदसूयया॥ (ह. पु. ५८-१६६)। ५. अर्थादिभिः परगुह्यप्रकाशनं साकारमन्त्रभेदः। अर्थ-प्रकरणादिभिरन्याकूतमुपलभ्यासूयादिना तत्प्रकाशनवत्॥ (त. श्लो. ७-२६)। ६. आकारः शरीरावयवसमवायिनी क्रियाऽन्तर्गताकूतसूचिका, तेन विशिष्टेनाकारेण सहाविनाभूतोऽभिप्रायः स साकारमन्त्रस्तस्य भेदः प्रकाशनम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७-२१)। ७. अर्थ-प्रकरणांगविकार-भ्रूक्षेपादिभिः पराकूतमुपलभ्य यदाविष्करणमसूयादिनिमित्तं तत्साकारमंत्रभेदः। (चा. सा. पृ. ५)। ८. कार्यकरणमंगविकारं-भ्रूक्षेपादिकं परेषां दृष्ट्वा पराकूतं पराभिप्रायमुपलभ्य ज्ञात्वा असूयादिकारणेन तस्य पराकूतस्य पराभिप्रायस्य अन्येषामग्रे आविष्करणं प्रकटनं यत् क्रियते स साकारमन्त्रभेद इत्युच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७, २६; कार्तिके. टी. ३३३-३४)। ९. दुर्लक्ष्यमर्थं गुह्यं यत्परेषां मनसि स्थितम्। कथंचिदिङ्गितैर्ज्ञात्वा न प्रकाश्यं व्रतार्थिभिः॥ (लाटीसं. ६-२७)।

१ प्रयोजन, प्रकरण, शरीर के विकार और भ्रुकुटियों के विक्षेप आदि से दूसरे के अभिप्राय को जानकर मत्सरता आदि के कारण उसे प्रगट कर देना; इसे साकारमंत्रभेद कहते हैं। २ पिशुनता को और गोपनीय अभिप्राय के प्रगट करने को साकारमंत्रभेद कहा जाता है। यह सत्याणुव्रत का एक अतिचार है।

साकांक्षानशन—१. छट्ठट्ठम-दसम-दुवादसेहिं मासद्ध-मासखमणाणि। कणगेगावलिआदी तवोविहाणाणि णाहारे॥ (मूला. ५-१५१)। २. अशनत्यागोऽनशनं साकांक्षाकांक्षभेदगम्। तदाद्यमेकद्वित्र्यादिषण्मासानशनान्तगम्॥ (आचा. सा. ६-५)।

१ कनकावली और एकावली आदि तपों के विधान स्वरूप जो षष्ठ, अष्टम, दसम और बारहवीं भोजनवेलाओं अर्थात् दो, तीन, चार और पांच उपवासों के साथ अर्ध मास और मास पर्यन्त जो भोजन का परित्याग किया जाता है वह साकांक्ष अनशन के अन्तर्गत है। इस अनशन का उत्कृष्ट काल छह मास है।

सागर—१. दस कोडाकोडीओ पल्लाणं सागरं हवइ एक्कं। (पउमच. २०-६७)। २. तद् (पल्लोपमम्) दशभिः कोटाकोटिभिर्गुणितं सागरोपमम्। (त. भा. ४-१५)। ३. एएसिं पल्लाणं कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिआ। तं सागरोवमस्स उ एगस्स भवे परीमाणं॥ (जम्बूद्वी. १९, पृ. ६२; ज्योतिष्क. ८२; जीवस. १२३)। ४. एदाणं पल्लाणं दहप्पमाणाउ कोडिकोडीओ। सागरउवमस्स पुढं एक्कस्स हवेज्ज परिमाणं॥ (ति. प. १-१३०)। ५. दस-पल्लककोडाकोडीतो एगं सागरोपमं। (अनुयो. चू. पृ. ५७)। ६. पल्योपमानां खलु कोटिकोटी दशाहता सागरमेकमाहुः। (वरांगच. २७-२२)। ७. पल्योपमदशकोटीकोट्यात्मकं सागरम्। (आव. नि. हरि. वृ. ६६३, पृ. २५७)। ८. दसकोडाकोडिपलिदोवमेहि एगं सागरोवमं होदि। वुत्तं च—कोटिकोट्यो दशैतेषां पल्यानां सागरोपमम्। (धव. पु. १३, पृ. ३०१ उद्.)। ९. एदेसिं पल्लाणं कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिदा। तं सागरोवमस्स दु हवेज्ज एक्कस्स परिमाणं॥ (त्रि. सा. १०२)। १०. एदेसिं पल्लाणं कोडाकोडी हवेज्ज दस गुणिदं। तं सागरोवमस्स दु उवमा एक्कस्स परिमाणं। (जं. दी. प. १३-४१)। ११. पल्योपमदशकोटीकोट्यात्मकं सागरोपमम्। (आव. नि. मलय. वृ. ६६६); पल्योपमानां दशकोटीकोट्यः सागरोपमम्। (आव. नि. भा. मलय. वृ. २००, पृ. ५६३)।

१ दस कोडाकोडी पल्यों का एक सागर होता है।

२ दस कोडाकोडी पल्योपमों का एक सागरोपम होता है। ३, ४, ८ दस कोडाकोडी पल्यों का एक सागरोपम होता है।

सागरोपम—देखो सागर।

सागार—१. सागारोऽणुव्रतोऽत्र स्यादनगारो महाव्रतः॥ सागारो रागभावस्थो वनस्थोऽपि कथंचन। (ह. पु. ५८, १३६-३७)। २. अनाद्यविद्यादोषोत्थचतुःसंज्ञा-ज्वरातुराः। शश्वत्स्वज्ञानविमुखाः सागारा विषयोन्मुखाः॥ अनाद्यविद्यानुस्यूतग्रन्थसंज्ञामपासितुम्। अपारयन्तः सागाराः प्रायो विषयमूर्च्छिताः॥ (सा. ध. १, २-३)।

१ जो अणुव्रतों का परिपालन करता है उसे सागार कहा जाता है। २ जो अनादिकालीन अज्ञानता के कारण आहारादि चार संज्ञाओं रूप ज्वर से व्याकुल रहते हैं तथा आत्मज्ञान से विमुख होते हुए जो निरन्तर विषयों में आसक्त रहते हैं व परिग्रह को नहीं छोड़ सकते हैं वे सागार कहलाते हैं।

सागारिक—अगमकरणादगारं तस्सहजोगेण होइ सागारी। (बृहत्क. ३५२२)।

अगमों—गमनागमन न कर सकने वाले वृक्षों—से जो किया जाता है उसका नाम अगार है, इस अगार (गृह) से जिसका सम्बन्ध रहता है उसे सागारिक—वसति का स्वामी—कहा जाता है।

साङ्गार भोजन—तं होइ सइंगालं जं आहारेइ मुच्छिओ संतो। (पिण्डनि. ६५५)।

स्वाद में आसक्त होकर जिस भोजन की प्रशंसा करता हुआ उसका उपभोग करता है वह साङ्गार नामक ग्रासैषणा दोष से दूषित होता है।

साचीसंस्थान—देखो सादिसंस्थान।

सात गौरव—१. निकामभोजने निकामशयनादौ वा आसक्तिः सातगौरवम्। (भ. आ. विजयो. ६१३)। २. सातगारवं भोजन-पानादिसमुत्पन्नसौख्यलीलामदः। (भावप्रा. टी. १५७)।

१ भोजन अथवा शयन आदि में अतिशय आसक्ति का नाम सातगौरव है।

सातवशार्तमरण—शारीरे मानसे वा सुखे उपयुक्तस्य मरणं सातवशार्तमरणम्। (भ. आ. विजयो. २५)।

शारीरिक अथवा मानसिक सुख में उपयोग लगाने वाले के मरण को सातवशार्तमरण कहते हैं।

सातवेदनीय—देखो सद्वेद्य व सातावेदनीय।

साताद्धा—सादबंधणपाओग्गकालो सादद्धा णाम। (धव. पु. १०, पृ. २४३)।

सातावेदनीय के बांधने योग्य काल का नाम साताद्धा है।

सातावेदनीय—१. सादं सुहं, तं वेदावेदि भुंजावेदि त्ति सादावेदणीयं। (धव. पु. ६, पृ. ३५); सत् सुखम्, सदेव सातम्, × × × सातं वेदयतीति सातवेदणीयं, दुक्खपडिकारहेदुदव्वसंपादयं दुक्खुप्पायणकम्मदव्वसत्तिविणासयं च कम्मं सादावेदणीयं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३५७)। २. सुहसरूवयं सादं। (गो. क. १४)। ३. सातं सुखं सांसारिकम्, तद्भोजयति वेदयति जीवं सातवेदनीयम्। (मूला. वृ. १२-१८६)। ४. सातरूपेण यद् वेद्यते तत्सातवेदनीयम्। यस्योदयात् शारीरं मानसं च सुखं वेदयते तत्सातवेदनीयम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २६३, पृ. ४६७)। ५. रतिमोहनीयोदयबलेन जीवस्य सुखकारणेन्द्रियविषयानुभवनं कारयति तत्सातवेदनीयम्। (गो. क. जी. प्र. २५)।

१ सात नाम सुख का है, जो कर्म उसका वेदन कराता है उसे सातावेदनीय या सातवेदनीय कहते हैं। ४ जिसका अनुभवन सातस्वरूप से किया जाता है, अर्थात् जिसके उदय से शारीरिक और मानसिक सुख का वेदन होता है उसे सातवेदनीय कहा जाता है।

सातिचार छेदोपस्थान—देखो छेदोपस्थापन। १. छेदोपस्थानमेव छेदोपस्थाप्यम्, पूर्वपर्यायच्छेदे सति उत्तरपर्याये उपस्थापनं भावे यतो विधानात्। तदपि द्विधा सातिचार-निरतिचारभेदेन × × ×। सातिचारं तु भग्नमूलगुणस्य पुनर्व्रतारोपणात् छेदोपस्थाप्यम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-१८)। २. सातिचारं (छेदोपस्थापनं) यन्मूलगुणघातिनः पुनर्व्रतोच्चारणम्। उक्तं च— × × × मूलगुणघाइणो साइयारमुभयं × × ×॥ (आव. नि. मलय. वृ. ११४)।

१ जिस चारित्र में पूर्व पर्याय को छेदकर महाव्रतों में स्थापना की जाती है उसे छेदोपस्थान या छेदोपस्थाप्य चारित्र कहते हैं। वह सातिचार और निरतिचार के भेद से दो प्रकार का है। जिसका मूलगुण भंग हुआ है उसके व्रत का जो पुनः आरो-

पण किया जाता है उसे सातिचार छेदोपस्थान या छेदोपस्थाप्य कहा जाता है।

सातिप्रयोग (मायाभेद)—अर्थेषु विसंवादः स्वहस्तनिक्षिप्तद्रव्यापहरणं दूषणं प्रशंसा वा सातिप्रयोगः। (भ. आ. विजयो. २५, पृ. ९०)।

अर्थों के विषय में विसंवाद करना, अपने हाथों में रखे गए द्रव्य का अपहरण करना, दोषारोपण करना अथवा प्रशंसा करना; इसे सातिप्रयोग कहा जाता है। यह माया के पांच भेदों में तीसरा है।

सातिशय मिथ्यादृष्टि—सम्यक्त्वोत्पत्तौ अनादिमिथ्यादृष्टिः सादिमिथ्यादृष्टिर्वा जीवः कश्चित् क्षयोपशम-विशुद्धि-देशना-प्रायोग्यलब्धीः प्राप्य प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या वर्धमानविशुद्धिपरिणामः सन् यदा प्रथमोपशमसम्यक्त्वाभिमुखः करणलब्धिं प्राप्तः तदा स सातिशयमिथ्यादृष्टिः × × ×। (गो. जी. म. प्र. ६६)।

सम्यक्त्व को उत्पन्न करते समय चाहे अनादि मिथ्यादृष्टि हो और चाहे सादिमिथ्यादृष्टि हो कोई जीव क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन चार लब्धियों को प्राप्त करके प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि से बढ़ते हुए परिणामों से युक्त होता हुआ जब प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख होकर करणलब्धि को प्राप्त होता है तब वह सातिशय मिथ्यादृष्टि कहलाता है।

सात्त्विकदाता—१ स्वल्पवित्तोऽपि यो दत्ते भक्तिभारवशीकृतः। स्वाद्वाश्चर्यकरं दानं सात्त्विकं तं प्रचक्षते॥ (अमित. श्रा. ९–९)। २. आतिथेयं हितं यत्र यत्र पात्रपरीक्षणम्। गुणाः श्रद्धादयो यत्र तद्दानं सात्त्विकं विदुः॥ (सा. ध. स्वो. टी. ५, ४७ उद्.)।

१ धन के अल्प होने पर भी जो दाता अतिशय भक्ति के वश होकर स्वादिष्ट व आश्चर्यजनक दान को देता है उसे सात्त्विकदाता कहा जाता है।

सादिनित्यपर्यायार्थिकनय — कम्मक्खयादु पत्तो (द्र. स्व. 'दुप्पणो') अविणासी जो हु कारणाभावे। इदमेवमुच्चरंतो भण्णइ सो साइणिच्चणओ॥ (ल. नयच. २८; द्रव्यस्व. प्र. नयच. २००)।

जो सिद्ध पर्याय कर्मक्षय से उत्पन्न होने के कारण सादि होकर भी विनाश के कारणों के अभाव में अविनाशी है—शाश्वतिक है—उसे विषय करने वाले नय को सादि-नित्यपर्यायार्थिक नय कहते हैं।

सादि विस्रसाबन्ध - से तं बंधणपरिणामं पप्प से अब्भाणं वा मेहाणं वा संज्झाणं वा विज्जूणं वा उक्काणं वा कणयाणं वा दिसादाहाणं वा धूमकेदूणं वा इंदाउहाणं वा से खेत्तं पप्प कालं पप्प उडुं पप्प अयणं पप्प पोग्गलं पप्प जे चामण्णे एवमादिया अंगमलप्पहुडीणि बंधणपरिणामेण परिणमंति सो सव्वो सादियविस्ससा बंधो णाम। (षट्खं. ५, ६, ३७—धव. पु. १४, पृ. ३४)।

बन्धन परिणाम को प्राप्त होकर जो अभ्रों, मेघों, सन्ध्याओं, बिजलियों, उल्काओं, ज्योतिपिण्डों, दिशादाहों, धूमकेतुओं अथवा इन्द्रायुधों का देश, काल, ऋतु, अयन और पुद्गल को प्राप्त होकर बन्ध होता है तथा और भी जो अंगमल आदि बन्धन परिणाम से परिणत होते हैं; यह सब सादिविस्रसाबन्ध का लक्षण है।

सादिशरीरिबन्ध—सरीरी णाम जीवो, तस्स जो बंधो ओरालियादिसरीरेहि सो सरीरिबंधो णाम। (धव. पु. १४, पृ. ४५)।

शरीरधारी (जीव) का जो औदारिक आदि शरीरों के साथ बन्ध होता है उसे सादिशरीरिबन्ध कहा जाता है।

सादि-सपर्यवसित श्रुतज्ञान— × × × इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं वुच्छित्तिनयट्ठाए साइअं सपज्जवसिअं। (नन्दी. सू. ४२, पृ. १९५)।

व्युच्छित्ति नय—पर्यायार्थिक नय—की अपेक्षा द्वादशांगस्वरूप गणिपिटक सादि-सपर्यवसित (सादि-सान्त) है।

सादिसंस्थान—देखो स्वातिसंस्थान। १. सादिनामस्वरूपं तु नाभेरधः सर्वात्रयवाः समचतुरस्रलक्षणाविसंवादिनः, उपरितनभागाः पुनर्नाधोऽनुरूपा इति (सिद्ध. वृ. 'उपरि तु तदनुरूपाः')। सादीति शाल्मलीतरुमाचक्षते प्रवचनवेदिनः, तस्य हि स्कन्धो द्राघीयानुपरि तु न (सिद्ध. वृ. 'परितना न') तदनुरूपा विशालतेति। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८–१२)। २. आदिरिहोत्सेधाख्यो नाभेरधस्तनो देहभागो गृह्यते, ततः सह आदिना नाभेरधस्तनभागेन यथोक्तप्रमाणलक्षणेन वर्तते इति सादि, यद्यपि सर्वं शरीरमादिना सह वर्तते तथापि सादित्वविशेषणान्यथानुपपत्त्या विशिष्ट एव प्रमाणलक्षणोपपन्न-

आदिरिह लभ्यते, तत उक्तं यथोक्तप्रमाणलक्षणेनेति। इदमुक्त भवति—यत्संस्थानं नाभेरधः प्रमाणोपपन्नमुपरि च हीनं तत्सादीति। अपरे तु साचीति पठन्ति, तत्र साचीं प्रवचनवेदिनः शाल्मलीतरुमाचक्षते, ततः साचीव यत्संस्थानं तत्साचिसंस्थानम्, यथा शाल्मलीतरोः स्कन्धः काण्डमतिपुष्ठमुपरितना तदनुरूपा न महाविशालता, तद्वदस्यापि संस्थानस्याधोभागः परिपूर्णो भवत्युपरितनभागस्तु नेति। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २६८, पृ. ४१२)।

१ नाभि के नीचे के सब अवयव, समचतुरस्र—संस्थान के समान विसंवाद से रहित होते हैं, परन्तु ऊपर के भाग जो अधस्तन भागों के अनुरूप नहीं होते हैं, यह सादिसंस्थान का स्वरूप है। प्रवचन के ज्ञाता विद्वान् 'सादि' का अर्थ शाल्मलिवृक्ष बतलाते हैं। उसका स्कन्ध अतिशय दीर्घ होता है, परन्तु ऊपर की विशालता उसकी तदनुरूप नहीं होती है। २ 'आदि' से यहां शरीर का उत्सेध नामक अधस्तनभाग ग्रहण किया जाता है, आदि के साथ—नाभि का अधस्तन भाग यथोक्त प्रमाण में रहता है, इससे वह सादि है। अभिप्राय यह है कि जिस संस्थान में नाभि के नीचे का भाग योग्य प्रमाण मे रहता है, और ऊपर का भाग हीन रहता है उसे सादिसंस्थान कहा जाता है। दूसरे कितने ही आचार्य 'सादि' के स्थान में 'साचि' पढ़ते हैं व उसका अर्थ शाल्मली वृक्ष करते हैं.

साधक—१. साधकः स्वयुक् ××× (सा. ध. १–२०); समाधिमरणं साधयतीति साधकः। किंविशिष्टः? 'स्वयुक्' स्वस्मिन्नात्मनि युक् समाधिर्यस्यासौ निष्पन्नदेशसंयम आत्मध्यानतत्परः। (सा. ध. स्वो. टी. १–२०); साधको ज्योतिष-मन्त्रवादादिलोकोपकारकशास्त्रज्ञः। (सा. ध. स्वो. टी. २–५१); देहाहारेहितत्यागात् ध्यानशुद्धयात्मशोधनम्। यो जीवितान्ते सम्प्रीतः साधयत्येव साधकः॥ (सा. ध. ८–१)। २. ज्ञानानन्दमयात्मानं साधयत्येव साधकः। श्रितापवादलिङ्गेन रागादिक्षयतः स्वयुक्॥ (धर्मसं. श्रा. ५–८); सोऽन्ते संन्यासमादाय स्वात्मानं शोधयेद्यदि। तदा साधनमापन्नः साधकः श्रावको भवेत्॥ (धर्मसं. श्रा. ८–८१); भुक्त्यङ्गेहापरित्यागाद् ध्यानशक्त्यात्मशोधनम्। यो जीवितान्ते सोत्साहः साधयत्येव साधकः॥ (धर्मसं. श्रा. १०–१)।

१ जो देशसंयमी श्रावक आत्मध्यान में तत्पर रहता हुआ समाधिमरण को सिद्ध करता है उसे साधक कहा जाता है। ज्योतिष व मन्त्रादि रूप लोकोपकारक शास्त्रों के ज्ञाता को भी साधक कहा जाता है।

साधकतम—यद्भावे हि प्रमितेर्भाववत्ता यदभावे चाऽभाववत्ता तत्तत्र साधकतमम्। भावाभावयोस्तद्वत्ता साधकतमत्वम् इत्यभिधानात्। (न्यायकु. ३, पृ. २९); यद् यत्रोत्पन्नमव्यवधानेन फलमुत्पादयति तदेव तत्र साधकतमम्, यथा अपवरकान्तर्वर्तिपदार्थप्रकाशे प्रदीपः। (न्यायकु. ३, पृ. ३०)।

जिसके सद्भाव में प्रमिति (आदि) का सद्भाव और जिसके अभाव में उसका अभाव पाया जाता है वह उसके प्रति साधकतम होता है। जो वहां उत्पन्न होकर व्यवधान के बिना फल को उत्पन्न करता है उसे वहां साधकतम माना जाता है। जैसे गृह के भीतर स्थित पदार्थों के प्रकाशित करने में दीपक साधकतम है। साधकतम यह करण का लक्षण है।

साधन—१. साधनमुत्पत्तिनिमित्तम्। (स. सि. १–७)। २. साधनं कारणम्। (त. वा. १–७)। ३. साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नम् ×××। (न्यायवि. २–६९; प्रमाणसं. २१)। ४. साधनं साध्याविनाभावित्वनियमनिश्चयैकलक्षणम्। (प्रमाणप. पृ. ७०)। ५. उपयोगान्तरेणान्तर्हितानां दर्शनादिपरिणामानां निष्पादनं साधनम्॥ (भ. आ. विजयो. २)। ६. केन इति कारणप्रकाशनं साधनम्। (न्यायकु. ७६, पृ. ८०२)। ७. साधनं साध्याविनाभावनियमलक्षणम्। (प्रमाणनि. पृ. ३६)। ८. ××× भवेत् साधनम्, त्वन्तेऽन्नेहतनूज्झनाद्विशदया ध्यात्यात्मनः शोधनम्॥ (सा. ध. १–१९)। ९. साधनं उपयोगान्तरेणान्तर्हितानां निष्पादनम्। (भ. आ. मूला. २)। १०. निश्चितसाध्यान्यथानुपपत्तिकं साधनम्। यस्य साध्याभावासम्भवनियमरूपा व्याप्त्यविनाभावाद्यपरपर्याया साध्यान्यथानुपपत्तिस्तर्काख्येन प्रमाणेन निर्णीता तत् साधनमित्यर्थः। (न्यायदी. पृ. ६९)। ११. साधनं

चोत्पत्तिकारणम् । (त. वृत्ति श्रुत. १–७) ।

१ विवक्षित पदार्थ की उत्पत्ति का जो निमित्त है उसे साधन कहते हैं (यह जीवादि तत्त्वों के जानने के उपायभूत निर्देशादि में से एक है।) ३ जो प्रकृत (साध्य) के अभाव में अनुपपन्न है—सम्भव नहीं है—उसे साधन कहा जाता है। यह हेतु या लिंग का नामान्तर है। ४ जिसका नियम से साध्य के साथ अविनाभाव रहता है उसका नाम साधन है। ५ उपयोगान्तर से व्यवहित दर्शनादि परिणामों के—दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के—निष्पादन को साधन कहा जाता है। यह आराधना के लक्षण का एक अंश है। ८ अन्त में—मरण के समय—आहार, शरीर की चेष्टा और शरीर के त्यागपूर्वक ध्यान से आत्मा को शुद्ध करना, इसे साधन कहते हैं। यह तीन प्रकार के श्रावकों में अन्तिम साधक श्रावक के अनुष्ठान के अन्तर्गत है।

सार्धमिक—देखो सम्भोग। सार्धमिकाः समानधर्मिणो द्वादशविधसम्भोगवन्तश्च। (योगशा. स्वो. विव. ४–९०)।

समान धर्मवालों और बारह प्रकार के सम्भोग वालों को सार्धमिक कहा जाता है। सम्भोग से यहाँ एकत्र भोजनादिविषयक उस व्यवहार को ग्रहण किया गया है जो समान समाचारी वाले साधुओं के मध्य हुआ करता है।

साधर्म्य—साधर्म्यं नाम साध्याधिकरणवृत्तित्वेन निश्चितत्वम्। (सप्तभं. पृ. ५३)।

साध्य के आधार में निश्चित रूप से रहना, इसका नाम साधर्म्य है।

साधर्म्य दृष्टान्त—साध्य-साधनयोर्व्याप्तिर्यत्र निश्चीयते तराम्। साधर्म्येण स दृष्टान्तः सम्बन्धस्मरणान्मतः॥ (न्यायाव. १८)।

सम्बन्ध के स्मरणपूर्वक जहां साध्य और साधन की व्याप्ति निश्चित हो उसे साधर्म्य दृष्टान्त कहते हैं। जैसे—धूम के द्वारा अग्नि के सिद्ध करने में रसोईघर का दृष्टान्त।

साधारण (कायक्लेश)—१. साधारणं प्रमृष्टस्तम्भादिकमुपाश्रित्य स्थानम्। (भ. आ. विजयो. २२३)। २. साधारणं प्रमृष्टं स्तम्भादिकमवष्टभ्य स्थानं उद्भूयावस्थानम्। (भ. आ. मूला. २२३)।

१ प्रमृष्ट (प्रमार्जित) स्तम्भ आदि का आश्रय लेकर स्थित होना, यह साधारण कायक्लेश कहलाता है।

साधारण (भोजन व वसतिदोष)—१. काष्ठ-चेल-कण्टक-प्रावरणाद्याकर्षणं कुर्वता पुरोयायिनोपदर्शिता वसतिः साधारणशब्देनोच्यते। (भ. आ. विजयो. व मूला. २३०)। २. यद्दातुं सम्भ्रमाद्वस्त्राद्याकृष्यान्नादि दीयते। असमीक्ष्य तदादानं दोषः साधारणोऽशने॥ (अन. ध. ५–३३); संभ्रमाहरणं कृत्वाऽऽदातुं पात्रादिवस्तुनः। असमीक्ष्यैव यद् देयं दोषः साधारणः स तु॥ (अन. ध. स्वो. टी. ५, ३३ उद्.)।

१ लकड़ी, वस्त्र, कांटे और आच्छादक उपकरण इत्यादि के खींचने वाले पुरोगामी पुरुष के द्वारा उपदर्शित वसति साधारणदोष से दूषित होती है। २ शीघ्रतावश वस्त्र आदि को खींचते हुए जो आहार दिया जाता है उसके ग्रहण करने पर साधु भोजनविषयक साधारण दोष का भागी होता है।

साधारण जीव—१. साहारणमाहारो साहारणमाण-पाणगहणं च। साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं (आचारा. नि. 'एय')॥ (षट्खं. ५, ६, १२२—धव. पु. १४, पृ. २२६; आचारा. नि. १३६, पृ. ५३)। २. साधारणं सामान्यं शरीरं येषां ते साधारणशरीराः। (धव. पु. १, पृ. २६९); जेण जीवेण एगसरीरट्ठियबहूहि जीवेहि सह कम्मफलमणुभवेयव्वमिदि कम्ममुवज्जिदं सो साहारणसरीरो। (धव. पु. ३, पृ. ३३३) ३. जत्थेक्क मरइ जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं। वक्कमइ जत्थ एक्को वक्कमणं तत्थ णंताण॥ (गो. जी. १९२)। ४. साहारणाणि जेसिं आहारुस्सास-काय-आऊणि। ते साहारणजीवा णंताणं तप्पमाणाणं॥ (कार्तिके. १२६)। ५. साधारणः स यस्याङ्गमपरैः बहुभिः समम्॥ एकत्र म्रियमाणे ये म्रियन्ते देहिनोऽखिलाः। जायन्ते जायमाने ते लक्ष्याः साधारणाः बुधैः। (पंचसं. अमित. १–१०५ व १०७)। ६. येषामनन्तजीवानां साधारणनामकर्मोदयवशवर्तिनाम् उत्पन्नप्रथमसमये आहारपर्याप्तिः तत्कार्यम् आहारवर्गणायातपुद्गलस्कन्धखल-रसभागपरिणमनं च साधारणं समकालं च, तथा शरीरपर्याप्तिः तत्कार्यम् आहारवर्गणायातपुद्गलस्कन्धस्य शरीराकारपरिणमनं च, तथा इन्द्रियपर्याप्तिः तत्कार्यं स्पर्शनेन्द्रियाकारपरिणमनं च, तथा आन-पानपर्याप्तिः तत्कार्यम्

उच्छ्वास-निश्वासग्रहणं च साधारणं सदृशरूपं समकालं च भवति ते साधारणजीवाः। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. १९२)।

१, जिन जीवों का आहार--शरीर प्रायोग्य पुद्गलों का ग्रहण--और उच्छ्वास-निःश्वास समान होता है वे साधारण जीव कहलाते हैं। यह साधारण वनस्पतिकायिक जीवों का सामान्य लक्षण है।

साधारणनाम—देखो साधारणशरीर नामकर्म।

साधारण शरीर—१. गूढसिर-संधि-पव्वं समभंगमहीरुहं (जीवस. 'महीरयं') च छिण्णरुहं। साहारणं सरीरं ××× ॥ (मूला. ५-१६; जीवस. ३७; गो. जी. १८६)। २. बहूणं जीवाणं जमेगशरीरं तं साहारणसरीरं णाम। (धव. पु. १४, पृ. २२५)। ३. गूढसंधि-शिरा-पर्व-समभंगमहीरुहं। साधारणं वपुश्छिन्नरोहि ××× ॥ (पंचसं. अमित. १-१०६)। ४. तल्लक्षणं यथा भङ्गे समभागः प्रजायते। तावत्साधारणं ज्ञेयं ××× ॥ (लाटीसं. २-१०९)।

१ जिस जीवशरीरमें सिरायें, सन्धियां और पोर प्रगट नहीं हुए हैं; जिसके तोड़ने पर भंग समान होता है तथा छेदे जाने पर भी जो प्ररोहित होता है उसे साधारण शरीर कहा जाता है। २ बहुत जीवों का जो एक ही शरीर होता है उसे साधारण शरीर कहते हैं।

साधारणशरीर नामकर्म—१. बहूनामात्मनामुपभोगहेतुत्वेन साधारणं शरीरं यतो भवति तत्साधारणशरीरनाम। (स. सि. ८-११; मूला. वृ. १२, १९५; भ. आ. मूला. २०९५; गो. क. जी. प्र. ३३)। २. अनेकजीवसाधारणशरीरनिर्वर्तकं साधारणशरीरनाम। (त. भा. ८-१२)। ३. यतो बह्वात्मसाधारणोपभोगशरीरं तत्साधारणशरीरनाम। बहूनामात्मनामुपभोगहेतुत्वेन साधारणं शरीरं यतो भवति तत्साधारणशरीरनाम। (त. वा. ८, ११, २०)। ४. साधारणनाम यदुदयाद् बहवो जीवा एकं शरीरं निर्वर्तयन्ति। (श्रा. प्र. टी. २३)। ५. अनन्तानां जीवानामेकं शरीरं साधारणं किशलय-निगोद-थोहरि-वज्जि (सिद्ध. वृ. 'निगोदवज्र') प्रभृति, यथैकजीवस्य परिभोगस्तथाऽनेकस्यापि तदभिन्नं सद्यस्य कर्मण उदयान्निर्वर्त्यते तत्साधारणशरीरनाम। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८-१२)। ६. जस्स कम्मस्सुदएण एगसरीरा होदूण अणंता जीवा अच्छंति तं कम्मं साहारणसरीरं। (धव. पु. १३, पृ. ३६५)। ७. यतो बह्वात्मसाधारणोपभोगशरीरता तत्साधारणशरीरनाम। (त. श्लो. ८-११)। ८. यदुदयवशात्पुनरनन्तानां जीवानामेकं शरीरं भवति तत्साधारणनाम। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७४)।

१ जिस कर्म के उदय से बहुत जीवों के उपभोग के हेतुरूप से साधारण शरीर होता है उसे साधारण या साधारणशरीर नामकर्म कहा जाता है। २ जो कर्म अनेक जीवों के लिए साधारण शरीर को निर्मित करता है उसे साधारण शरीर कहते हैं।

साधु—१. वावारविप्पमुक्का चउव्विहाराहणासयारत्ता। णिग्गंथा णिम्मोहा साहू एदेरिसा होंति॥ (नि. सा. ७५)। २. महुगारसमा बुद्धा जे भवंति अणिस्सिया। नाणापिंडरया दंता तेण वुच्चंति साहुणो॥ (दशवै. सू. १-५, पृ. ७२)। ३. थिरधरियसीलमाला ववगयराया जसोहपडहत्था। बहुविणयभूसियंगा सुहाइं साहू पयच्छंतु॥ (ति. प. १-५)। ४. विषयसुखनिरभिलाषः प्रशमगुणगणाभ्यलंकृतः साधुः। द्योतयति यथा सर्वाण्यादित्यः सर्वतेजांसि॥ (प्रशमर. २४२)। ५. चिरप्रव्रजितः साधुः। (स. सि. ९-२४; त. श्लो. ९-२४)। ६. बारसविहेण जुत्ता तवेण साहेन्ति जे उ निव्वाणं। ते साहु तुज्झ वच्छय साहन्तु दुसाहयं कज्जं॥ (पउमच. ८९-२२)। ७. तहा पसंत-गंभीरासया सावज्जजोगविरया पंचविहायारजाणगा परोवयारनिरया पउमाइनिदंसणा झाणज्झयणसंगया विसुज्झमाणभावा साहू सरणं। (पंचसू. पृ. १३)। ८. मानापमानयोस्तुल्यस्तथा यः सुख-दुःखयोः। तृण-कांचनयोश्चैव साधुः पात्रं प्रशस्यते॥ (पद्मपु. १४, ५७)। ९. चिरप्रव्रजितः साधुः। चिरकालभावितप्रव्रज्यागुणः साधुरित्याम्नायते। (त. वा. ९, २४, ११)। १०. अभिलषितमर्थं साधयतीति साधुः। (आव. नि. हरि. वृ. १००० उत्थानिका)। ११. चारित्तजुओ साहू ×××। (पंचाश. ४६६)। १२. अनन्तज्ञानादिशुद्धात्मस्वरूपं साधयन्तीति साधवः। पञ्चमहाव्रतधरास्त्रिगुप्तिगुप्ताः अष्टादशशीलसहस्रधराश्चतुरशीतिशतसहस्रगुणधराश्च साधवः। सीह-गय-वसह-मिय-पसु-मारुद-सूरुवहि-मंदरिंदु-

मणी। खिदि-उरगंबरसरिसा परमपयविमग्गया साहू ॥ (धव. पु. १, पृ. ५१); अणंतणाण-दंसण-वीरिय-विरइ-खइयसम्मत्तादीणं साहया साहू णाम। (धव. पु. ८, पृ. ८७)। १३. ज्ञान-दर्शन-चारित्र-लक्षणाभिः पौरुषेयीभिः शक्तिभिर्मोक्षं साधयन्तीति साधवः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-२३)। १४. साधयन्ति रत्नत्रयमिति साधवः। (भ. आ. विजयो. ४६)। १५. उग्गतवतवियगत्तो तियालजोएण गमिय-अहरत्तो। साहियमोक्खस्स पहो भाओ सो साहुपरमेट्ठी ॥ (भावसं. दे. ३७९)। १६. चिरकालभावितप्रव्रज्यागुणः साधुः। (चा. सा. पृ. ६६)। १७. कषायसेनां प्रतिबन्धिनीं ये निहत्य धीराः शम-शील-शस्त्रैः। सिद्धिं विबाधां लघु साधयन्ते ते साधवो मे वितरन्तु सिद्धिम् ॥ (अमित. श्रा. १, ५)। १८. त्यक्तबाह्याभ्यन्तरग्रन्थो निःकषायो जितेन्द्रियः। परीषहसहः साधुर्जातरूपधरो मतः ॥ (धर्मप. १८-७६)। १९. दंसण-णाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं। साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स ॥ (द्रव्यसं. ५४)। २०. अभ्यन्तरनिश्चयचतुर्विधाराधनाबलेन च बाह्याभ्यन्तरमोक्षमार्गद्वितीयनामाभिधेयेन कृत्वा यः कर्ता वीतरागचारित्राविनाभूतं स्वशुद्धात्मानं साधयति भावयति स साधुर्भवति। (बृ. द्रव्यसं. टी. ५४)। २१. सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो व्याख्यानादिषु कर्मसु। विरक्तो मौनवान् ध्यानी साधुरित्यभिधीयते ॥ (नीतिसा. १७)। २२. चिरदीक्षितः साधुः। (त. वृत्ति श्रुत. ९-२४; कार्तिके. टी. ४५९)। २३. दर्शन-ज्ञान-चारित्रत्रिकं भेदेतरात्मकम्। यथावत्साधयन् साधुरेकान्तपदमाश्रितः ॥ (धर्मसं. श्रा. १०-११८)। २४. मार्गं मोक्षस्य चारित्रं सदृग्ज्ञप्तिपुरस्सरम्। साधयत्यात्मसिद्धचर्थं साधुरन्वर्थसंज्ञकः ॥ (लाटीसं. ४-१८९; पंचाध्या. २-६६७)।

१ जो बाह्य व्यापार से रहित होकर चार प्रकार की आराधना का निरन्तर आराधन करते हैं तथा परिग्रह को छोड़कर ममत्वभाव से रहित हो चुके हैं ऐसे वे साधु कहलाते हैं। २ जो मधुकर (भ्रमर) के समान दाता को कष्ट न पहुंचा कर अनुद्दिष्ट भोजन को प्राप्त करते हैं, तत्त्व के ज्ञाता हैं, आसक्ति से रहित हैं, तथा भिक्षावृत्ति से प्राप्त भोजन में सन्तुष्ट रहते हैं उन्हें साधु कहा जाता है। ५ जो दीर्घ काल से प्रव्रजित (दीक्षित) हो उसे साधु कहते हैं। ७ जो अतिशय शान्त, गम्भीर, सावद्य योग से विरत, पांच प्रकार के आचार के ज्ञाता, परोपकार में विरत, ध्यान-अध्ययन में तत्पर और उत्तरोत्तर विशुद्धि को प्राप्त होने वाले भावों से युक्त होते हैं उन्हें साधु माना जाता है। १२ जो अनन्त ज्ञान-दर्शनादिरूप आत्मा के स्वरूप को सिद्ध करते हुए पांच महाव्रतों के धारक, तीन गुप्तियों से रक्षित, अठारह हजार शीलों के धारक और चौरासी लाख गुणों से सम्पन्न होते हैं उन्हें साधु समझना चाहिए।

साधुवर्णजनन—साधुमाहात्म्यप्रकाशनं साधुवर्णजननम्। (भ. आ. विजयो. व मूला. ४७)।

साधु के माहात्म्य के प्रगट करने को साधुवर्णजनन कहा जाता है।

साधुसमाधि—देखो 'साधु' व 'समाधि'।
१. साहूणं समाहिसंधारणदाए—दंसण-णाण-चरित्तेसु सम्ममवट्ठाणं समाही णाम, सम्मं साहणं धारणं संधारणं, (साहूणं) समाहीए संधारणं (साहु) समाहिसंधारणं। (धव. पु. ८, पृ. ८८)। २. भाण्डागारहुताशोपशमनवज्जातविघ्नमनुपद्य। संधारणं हि तपसः साधूनां स्यात् समाधिरिह ॥ (ह. पु. ३४-१३९)। ३. भाण्डागाराग्निसंशान्तिसमं मुनिगणस्य यत्। तपःसंरक्षणं साधुसमाधिः स उदीरितः ॥ (त. श्लो. ६, २४, १०)।

१ दर्शन, ज्ञान और चारित्र में भली भांति अवस्थित होने का नाम समाधि है, साधुओं की समाधि को साधुसमाधि कहा जाता है।

साध्य—१. साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं × × ×। (प्रमाणसं. २०; न्यायवि. १७२)। २. अव्युत्पत्ति-संशय-विपर्यासविशिष्टोऽर्थः साध्यः। (प्रमाणसं. स्वो. विव. २०)। ३. साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धमनुमेयम्। (सिद्धिवि. वृ. ३-३, पृ. १७७)। ४. इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्। (परीक्षा. ३, १५)। ५. शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं साध्यम्। यत् प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधितत्वेन साधयितुं शक्यम्, वाद्यभिमतत्वेनाभिप्रेतम्, सन्देहाद्याक्रान्तत्वेनाप्रसिद्धम्, तदेव साध्यम्। (न्यायदी. पृ. ६९)।

१ जो साधने के लिए शक्य, वादी को अभीष्ट और

प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाण से सिद्ध न हो उसे साध्य कहा जाता है।

साध्याभास—१. × × × ततोऽपरम्। साध्याभासं यथा सत्ता भ्रान्तेः पुरुषधर्मतः ॥ (प्रमाणसं. २०); ततोऽपरं साध्याभासम्। यथा सत्ता, सदसदेकान्तयोः साधनासम्भवः, तदतदुभयधर्माणामसिद्ध-विरुद्धानैकान्तिकत्वम्। (प्रमाणसं. स्वो. वि. २०)। २. × × × ततोऽपरम्। साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः ॥ (न्यायवि.१७३)। ३. ततोऽपरं साध्याभासम्। (प्रमाणनि. पृ. ६१)।

१ साध्य से विपरीत को—जो साधने के लिए शक्य न हो; वादी को अभीष्ट न हो, अथवा अन्य प्रमाण से सिद्ध हो; उसे साध्याभास कहा जाता है।

साध्ववर्णवाद—अहिंसाव्रतमेवैषां न युज्यते षड्जीवनिकायाकुले लोके वर्तमानाः कथमहिंसकाः स्युः, केशोल्लुंचनादिभिः पीडयतां च कथं नात्मवधः, अदृष्टमात्मनो विषयं धर्मं पापं तत्फलं च गदतां कथं सत्यव्रतम्, इति साध्ववर्णवादः। (भ. आ. विजयो. ४७)।

छह काय के जीवों से व्याप्त लोक में रहते हुए इन साधुओं का अहिंसाव्रत सुरक्षित नहीं रह सकता, केशलुंचन आदि के द्वारा पीड़ित होने से आत्मवध का भी दोष सम्भव है, तथा स्वयं न देखे गये पुण्य-पाप व उनके फल का कथन करते हुए उनका सत्यव्रत भी सुरक्षित नहीं रह सकता; इत्यादि प्रकार से साधुओं के विषय में दोषारोपण करना, यह साधु-अवर्णवाद कहलाता है।

सान—स्यति छिनत्ति हन्ति विनाशयति अनध्यवसायमित्यवग्रहः सानम्। (धव. पु. १३, पृ. २४२)।

जो अनध्यवसाय को नष्ट करता है उसे सान कहा जाता है। 'स्यति छिनत्ति अनध्यवसायम् इति सानम्' इस निरुक्ति के अनुसार यह अवग्रह का सार्थक नामान्तर है।

सान्तरनिरन्तरद्रव्यवर्गणा—अन्तरेण सह णिरन्तरं गच्छदि त्ति सांतर-णिरंतर दव्ववग्गणासण्णा। (धव. पु. १४, पृ. ६४)।

जो वर्गणा निरन्तर अन्तर के साथ जाती है उसका नाम सान्तर-निरन्तरद्रव्यवर्गणा है।

सान्तरबन्धप्रकृति—जिस्से पयडीए अद्धाक्खएण बंधवोच्छेदो संभवइ सा सांतरबंधपयडी। (धव. पु. ८, पृ. १७); × × × परमत्थदो पुण एगसमयं बंधिदूण बिदियसमए जिस्से बंधविरामो दिस्सदि सा सांतरबंधपयडी। (धव. पु. ८, पृ. १००)।

काल के क्षय से जिस प्रकृति के बन्ध की व्युच्छित्ति सम्भव है उसे सान्तरबन्धप्रकृति कहते हैं। यथार्थतः एक समय बन्ध को प्राप्त होकर दूसरे समय में जिसके बन्ध का विश्राम देखा जाता है उसे सान्तरबन्धप्रकृति कहा जाता है।

सापराध—नियतमयमशुद्धं स्वं भजन् सापराधः × × × ॥ (समयक. ६–८)।

जो नियम से अशुद्ध आत्मा का आराधन करता है वह सापराध (अपराधी) है। कारण यह कि इस प्रकार के आचरण से उसके कर्मबन्ध होने वाला है।

सापेक्षत्व—तदनिराकृतेः (अनेकान्तानिराकृतेः) सापेक्षत्वम्। (लघीय. स्वो. विव. ७२)।

अनेकान्त का निराकरण नहीं करना, यही नयोंका सापेक्षत्व है।

सामग्री—सकलकारककलापरूपा किल सामग्री। (न्यायकु. ३, पृ. ३५)।

समस्त कारकों के समूह का नाम सामग्री है। इसका सम्बन्ध कारक-साकल्य प्रकरण से है।

सामानिक—१. आज्ञैश्वर्यवर्जितं यत्समानायुर्वीर्य-परिवार-भोगोपभोगादि तत्समानम्, तस्मिन् समाने भवाः सामानिकाः। (स. सि. ४–४)। २. इन्द्र-समानाः सामानिकाः अमात्य-पितृ-गुरूपाध्याय-महत्तरवत्केवलमिन्द्रत्वहीनाः। (त. भा. ४–४)। ३. तत्स्थानार्हत्वात्सामानिकाः। तेषामिन्द्राणामाज्ञैश्वर्यवर्जितं यत् स्थानं आयुर्वीर्य-परिवार-भोगोपभोगादितस्तेषां समानम्, समाने भवाः सामानिकाः। (त. वा. ४, ४, ४)। ४. आज्ञैश्वर्याद्विनाऽन्यैस्तु गुणैरिन्द्रेण सम्मिताः। सामानिका भवेयुस्ते शक्रेणापि गुरूकृताः ॥ पितृ-मातृ-गुरुप्रख्याः सम्मतास्ते सुरेशिनाम्। लभन्ते सममिन्द्रैश्च सत्कारं मान्यतोचितम् ॥ (म. पु. २२, २३–२४)। ५. आज्ञैश्वर्यवर्जितमायुर्वीर्य-परिवार-भोगोपभोगादिस्थानमिन्द्रैः समानम्, तत्र भवाः सामानिका इन्द्रस्थानार्हत्वात्। (त. श्लो. ४–४)। ६. सामानिकाश्चेन्द्रसमाः परमिन्द्रत्ववर्जिताः। (त्रि. श. पु. च. २, ३, ७७२)। ७. यथा इन्द्रेण सह समाने तुल्ये द्युति-विभवादी

भवाः सामानिकाः, "अध्यात्मादिभ्यः" इतीकण-प्रत्ययः, इन्द्रत्वरहिता इन्द्रेण सह समानद्युति-विभवा इन्द्राणाममात्य-पितृ-गुरूपाध्याय- महत्तरवत्पूजनीया-स्तेऽपि चेन्द्रान् स्वामित्वेन प्रतिपन्नाः। (बृहत्सं. मलय. वृ. २)। ८. आज्ञामैश्वर्यं च विहाय भोगो-पभोग-परिवार-वीर्यायुरास्पदप्रभृतिकं यद्वर्तते तत्स-मानम्, समाने भवाः सामानिकाः महत्तर-पितृ-गुरूपाध्यायसदृशाः। (त. वृत्ति श्रुत. ४-४)।

१ आज्ञा और ऐश्वर्य को छोड़कर आयु, वीर्य, परिवार और भोग-उपभोग की अपेक्षा जिनका स्थान इन्द्र के समान होता है वे सामानिक देव कह-लाते हैं। २ जो देव मंत्री, पिता, गुरु, उपाध्याय और महत्तर के समान इन्द्र जैसे ही होते हैं; वे केवल इन्द्रत्व—आज्ञा व ऐश्वर्य—से रहित होते हुए सामानिक कहे जाते हैं।

सामान्य—देखो तिर्यक्सामान्य व ऊर्ध्वतासामा-न्य। १. तथा चोक्तम्—वस्तुन एव समानः परि-णामो यः स एव सामान्यम्। (अने. ज. प. पृ. ३२)। २. सामान्यं भिन्नेष्वभिन्नकारणम्। (आ. मी. वसु. वृ. ६५)। ३. यो वस्तूनां समानपरिणामः स सामान्यम् × × ×। उक्तं च—वस्तुन एव समानः परिणामो यः स एव सामान्यम्। (आव. नि. मलय. वृ. ७५५)।

१ वस्तु के समान परिणाम का नाम सामान्य है। २ भिन्न अनेक व्यक्तियों में जो अभेद का कारण है उसे सामान्य कहते हैं।

सामान्य आलोचना—देखो सामान्यालोचना।

सामान्य छल—सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगा-दसद्भूतार्थकल्पना सामान्यछलम् [न्यायसू. १, २, १३]। (प्र. क. मा. ५-७३, पृ. ६५०; सिद्धिवि. वृ. ५-२, पृ. ३१)।

सम्भव होने वाले अर्थ की अति सामान्य के योग से असद्भूत अर्थ की जो कल्पना की जाती है उसे सामान्य छल कहा जाता है।

सामान्य शक्ति—सामान्या यथा घटसन्निवेशि-नामुदकाद्याहरणादिकार्यकरणशक्तिः। (अने. ज. प. पृ. ५०)।

घट जैसी रचना वाले पदार्थों में जो जल आदि के ग्रहण रूप कार्य करने की शक्ति है उसे सामान्य-शक्ति कहा जाता है।

सामान्य स्थिति—एक्कम्हि ट्ठिदिविसेसे जम्हि समयपबद्धसेसयमत्थि सा ट्ठिदी सामण्णा त्ति णा-दव्वा। (कसायपा. चू. पृ. ८३५)।

जिस एक स्थिति विशेष में समयप्रबद्ध शेष (और भवबद्ध शेष) पाये जाते हैं, उसे सामान्य स्थिति कहते हैं।

सामान्यालोचना—ओघेणालोचेदि हु अपरिमिद-वराघसव्वघादी वा। अज्जोपाए इत्थं सामण्णमहं खु तुच्छो त्ति॥ (भ. आ. ५३४)।

जिसने अपरिमित अपराध किया है अथवा सम्य-क्त्व आदि सबका घात किया है ऐसा अपराधी साधु सामान्य से परसाक्षिक आलोचना करता हुआ प्रार्थना करता है कि मैं तुच्छ हूं व आज से श्रमण धर्म की इच्छा करता हूं। यह सामान्य (श्रामण्य) आलोचना का लक्षण है।

सामायिक—१. विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ। तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलि-सासणे॥ जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा। तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे॥ जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे। तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे॥ जस्स रागो दु दोसो दु विगडिं ण जणेति दु। तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे॥ जो दु अट्टं च रुद्दं च झाणं व-ज्जेदि णिच्चसा। तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलि-सासणे॥ जो दु पुण्णं च पावं च भावं वज्जेदि णिच्चसा। तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे॥ जो दु हस्सं रई सोगं अरदिं वज्जेदि णिच्चसा। तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे॥ जो दुगंछा भयं वेदं सव्वं वज्जेदि णिच्चसा। तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे॥ जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणं झाएदि णिच्चसा। तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे॥ (नि. सा. १२५-१३३)। २, जीविद-मरणे लाभालाभे संजोय-विप्पओगे य। बंधुरि-सुह-दुक्खादिसु समदा सामाइयं णाम॥ (मूला. १-२३); सम्मत्त-णाण-संजम-तवेहिं जं तं पसत्थसमगमणं। समयं तु तं तु भणिदं तमेव सामा-इयं जाणं॥ (मूला. ७-१८)। ३. आ समयमुक्ति मुक्तं पञ्चाघानामशेषभावेन। सर्वत्र च सामयिकाः सामायिकं नाम शंसन्ति॥ (रत्नक. ४-७)। ४. समेकीभावे वर्तते। तद्यथा—सङ्गतं घृतं

सङ्गतं तैलमित्युच्यते, एकीभूतमिति गम्यते, एकत्वेन अयनं गमनं समयः, समय एव सामायिकम्। समयः प्रयोजनमस्येति वा विगृह्य सामायिकम्। (स. सि. ७-२१)। ५. सामायिकं नामाभिगृह्यकालं सर्वसावद्ययोगनिक्षेपः। (त. भा. ७-१६)। ६. सामाइयं नाम सावज्जजोगपरिवज्जणं निरवज्जजोगपडिसेवणं च। (आव. सू. अ. ६); सावज्जोगविरओ तिगुत्तो छसु संजओ। उवउत्तो जयमाणो आया सामाइयं होई॥ (आव. भा. १४६, पृ. ३२७ हरि. वृ.)। ७. रागद्दोसविरहिओ समो त्ति अयणं अयोत्ति गमणं ति। समगमणं ति समाओ स एव सामाइयं नाम॥ अहवा भवं समाए निव्वत्तं तेण तम्मयं वावि। जं तप्पओयणं वा तेण व सामाइयं नेयं॥ अहवा समाइं सम्मत्त-नाण-चरणाइं तेसु तेहिं वा। अयणं अओ समाओ स एव सामाइयं नाम॥ अहवा समस्स आओ गुणाण लाभोत्ति जो समाओ सो। अहवा समाणमाओ नेओ सामाइयं नाम॥ अहवा सामं मित्ती तत्थ अओ (गमणं) तेण होइ सामाओ। अहवा सामस्साओ लाभो सामाइयं णेयं॥ सम्ममओ वा समओ सामाइयमुभयविद्धिभावाओ। अहवा सम्मस्स आओ लाभो सामाइयं होइ॥ अहवा निरुत्तविहिणा सामं सम्मं समं च जं तस्स। इकमप्पए पवेसणमेयं सामाइयं नेयं॥ (विशेषा. ४२२०-२६)। ८. सावज्जजोगविरओ तिगुत्तो छसु सजओ। उवउत्तो जयमाणो आया सामाइयं होई॥ (आव. भा. १४६, पृ. ३२७ हरि. वृ.)। ९. एकत्वेन गमनं समयः। समेकीभावे वर्तते। तद्यथा—'संगतं घृतम्, संगन तैलम्' इत्युक्ते एकीभूतमिति गम्यते, एकत्वेन गमनं समयः प्रतिनियतकाय-वाङ्मनःकर्मपर्यायार्थ प्रतिनिवृत्तत्वादात्मनो द्रव्यार्थेनैकत्वगमनमित्यर्थः, समय एव सामायिकम्, समयः प्रयोजनमस्येति वा सामायिकम्। (त. वा. ७, २१, ६); सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानपरम्। सर्वस्य सावद्ययोगस्याऽभेदेन प्रत्याख्यानमवलम्ब्य प्रवृत्तमवधृतकालं वा सामायिकमित्याख्यायते। (त. वा. ६, १८, २)। १०. सर्वसावद्ययोगविरतिलक्षणं सामायिकम्। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ६-१८)। ११. समो राग-द्वेषवियुतो यः सर्वभूतान्यात्मवत् पश्यति, आयो लाभः प्राप्तिरिति पर्यायः, समस्या आयः समायः, समो हि प्रतिक्षणमपूर्वैर्ज्ञान-दर्शन-चरणपर्यायैर्भवाटवीभ्रमणसंक्लेशविच्छेदकैर्निरुपमसुखहेतुभिरधःकृतचिन्तामणि-कल्पद्रुमोपमैर्युज्यते, स एव समायः प्रयोजनमस्याध्ययनसंवेदनानुष्ठानवृन्दस्येति सामायिकम्, समाय एव सामायिकम्। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. २६; आव. हरि. वृ. ६, ६, पृ. ८३१); सावद्ययोगविरतिमात्रं सामायिकम्। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १०३)। १२. समभावो सामाइयं तण-कंचण-सत्तु-मित्तविसओ त्ति। णिरभिस्सगं चित्तं उचियपवित्तिप्पहाणं च॥ (पंचाश. ४६६)। १३. सव्वे जोवा णाणमया जो समभाव मुणेइ। सो सामाइउ जाणि फुडु जिणवर एम भणेइ॥ राय-रोस वे परिहरवि जो समभाउ मुणेइ। सो सामाइय जाणि फुडु केवलि एम भणेइ॥ (योगसा. योगीन्दु ९९-१००)। १४. तीसु वि संझासु पक्ख-मास-संधिदिणेसु वा सगिच्छिदवेलासु वा वज्झंतरंगासेसत्थेसु संपरायणिरोहो वा सामाइयं णाम। (जयध. १, पृ. ६८, ६६)। १५. सामायिकमिति—समो राग-द्वेषवियुक्तो यः सर्वभूतान्यात्मवत् पश्यति, आयो लाभः प्राप्तिः, समस्यायः समायः, प्रतिक्षणमपूर्वापूर्वज्ञान-दर्शन-चरणपर्यायैर्युज्यते, स एव समायः प्रयोजनमस्य क्रियानुष्ठानस्येति सामायिकम्। समाय एव वा सामायिकम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७-१६)। १६. सव्वं सावज्जजोगं पच्चक्खामीति वचनाद्धिंसादिभेदमनुपादाय सामान्येन सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिः सामायिकम्। (भ. आ. विजयो. ११६)। १७. राग-द्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य। तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम्॥ (पु. सि. १४८)। १८. सम्यगेकत्वेनायनं गमनं समयः, स्वविषयेभ्यो विनिवृत्य काय-वाङ्मनःकर्मणामात्मना सह वर्तनाद् द्रव्यार्थेनात्मन एकत्वगमनमित्यर्थः। समय एव सामायिकम्, समयः प्रयोजनमस्येति वा सामायिकम्। (चा. सा. पृ. १०); सामायिकं सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिलक्षणम्, चित्तस्यैकत्वेन ज्ञानेन प्रणिधानं वा, शत्रु-मित्र-मणि-पाषाण-सुवर्णमृत्तिका-जीवितमरण - लाभालाभादिषु राग-द्वेषाभावो वेति। (चा. सा. पृ. २६)। १९. जीविते मरणे योगे वियोगे विप्रिये प्रिये। शत्रौ मित्रे सुखे दुःखे साम्यं सामायिकं विदुः॥ (अमित. श्रा. ८-३१)। २०. जीविते मरणे

सौख्ये दुःखे योग-वियोगयोः। समानमानसैः कार्यं सामायिकमतन्द्रितैः॥ (धर्मप. १६–८४)। २१. सद्दृट्ठविवज्जणं वि य समदा सव्वेसु च भूदेसु। सजमसुहभावणा वि सिक्खा सा उच्चये पढमा॥ धम्मर. १५३)। २२. समता सर्वभूतेषु संयमे शुभभावना। आर्त-रौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं विदुः॥ (पद्म. पं. ६–८)। २३. समभेदेन त्यागेतायोऽयनं मतेः। समयः स एव चारित्रं सामायिकमुत्तमम्॥ (आचा. सा. ५–५); स यः स्वार्थनिवृत्त्यात्मनेन्द्रियाणामयोऽयनम्। समयः सामायिकं नाम स एव समताह्वयम्॥ समस्या रागरोषस्य सर्ववस्तुष्वयोऽयनम्। समायः स्यात्स एवोक्तं सामायिकमिति श्रुते॥ (आचा. सा. ६–२०, २१)। २४. समो राग-द्वेषविकल आत्मा, समस्य आयो विशिष्टज्ञानादिगुणलाभः समायः, स एव सामायिकम्। (योगशा. स्वो. विव. २–८); समस्य राग-द्वेषविनिर्मुक्तस्य सतः, आयो ज्ञानादीनां लाभः प्रशमसुखरूपः समायः, समाय एव सामायिकम्, ××× समायः प्रयोजनमस्येति वा सामायिकम् ××× सावद्यव्यापारनिषेधात्मकम् निरवद्यव्यापारविधानात्मकं च। (योगशा. स्वो. विव. ३, ८२, पृ. ५०३–४); तत्र सामायिकमार्त-रौद्रध्यानपरिहारेण धर्मध्यानपरिकरणेन शत्रु-मित्र-तृणकाञ्चनादिषु समता। (योगशा. स्वो. विव. ३-१३०)। २५. त्यक्तार्त्त-रौद्रध्यानस्य त्यक्तसावद्यकर्मणः। मुहूर्तं समतायातं विदुः सामायिकव्रतम्॥ (त्रि. श. पु. च. १, ३, ६३६)। २६. समो राग-द्वेषयोरपान्तरालवर्ती मध्यस्थः, 'इण् गतौ' अयनं अयो गमनमित्यर्थः, समस्य अयः समायः समीभूतस्य सतो मोक्षाध्वनि प्रवृत्तिः, समय एव सामायिकम्, विनयादेराकृतिगणत्वात् 'विनयादिभ्य' इति स्वार्थिक इकण्-प्रत्ययः, एकान्तोपशान्तगमनमिति भावः। (आव. नि. मलय. वृ. ८६४); समो राग-द्वेषरहितः. अयनं गमनम्, समस्यायः समायः, अयनग्रहणं शेषक्रियाणामुपलक्षणम्, सर्वासामपि साधुक्रियाणां समस्य सतस्तत्त्वतो भावात्, समाय एव सामायिकम्। अथवा समानि ज्ञान-दर्शन-चारित्राणि, तेष्वयनं समायः, स एव सामायिकम्। यदि वा सर्वजीवेषु मैत्री साम, साम्न आयो लाभः सामायः, स एव सामायिकम्। अथवा सम्यक्-शब्दार्थः समशब्दः, सम्यगयनं वर्तनं समयः, अथवा सम्यगायो लाभः समायः, यदि वा समस्य भावः साम्यम्, तस्यायः साम्यायः, सर्वत्र स्वार्थिक इकण्प्रत्ययः, पृषोदरादित्वादिष्टरूपनिष्पत्तिः। (आव. भा. मलय. वृ. १८५, पृ. ५७४); आत्मन्येव साम्न इकं प्रवेशनं सामायिकम्, यत्लक्षणेनानुपन्नं तत्सर्वं नैरुक्तिनिपातनादवसेयम्। तथा हि—सामन्-शब्दनकारस्य आय आदेशः, तथा समस्य राग-द्वेषमध्यस्थस्यात्मनि इकं प्रवेशनं सामायिकम् समशब्दात्परः अयागमः, सकारस्य च दीर्घता, तथा सम्यगित्येतस्य सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्रयोजनरूपस्यात्मनि इकं प्रवेशनं सामायिकं, यकारादेरायादेशनिपालनं सकारस्य च दीर्घता। (आव. नि. मलय. वृ. १०४५, पृ. ५७५)। २७. रागाद्यबाधबोधः स्यात् समायोऽस्मिन्निरुच्यते। भवं सामायिकं साम्यं नामादौ सत्यऽसत्यपि॥ समयो दृग्ज्ञानतपोयम-नियमादौ प्रशस्तशमगमनम्। स्यात् समय एव सामायिकं पुनः स्वार्थिकेन ठणा॥ (अन. ध. ८, १६–२०)। २८. सम् एकत्वेन आत्मनि आयः आगमनं परद्रव्येभ्यो निवृत्य उपयोगस्य आत्मनि प्रवृत्तिः समायः, अयमहं ज्ञाता दृष्टा चेत्यात्मविषयोपयोग इत्यर्थः, आत्मन एकस्यैव ज्ञेय-ज्ञायकत्वसम्भवात्। अथवा समे रागद्वेषाभ्यामनुपहते मध्यस्थे आत्मनि, आयः उपयोगस्य प्रवृत्तिः समायः, स प्रयोजनमस्येति सामायिकं नित्य-नैमित्तिकानुष्ठानम्। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. ३६७–६८)। २९. सर्वभूतेषु यत्साम्यमार्त-रौद्रविवर्जनम्। संयमोऽतीवभावश्च विद्धि सामायिकं हितम्॥ (धर्मसं. श्रा. ७–४२)। ३०. सामायिकं सर्वजीवेषु समत्वम्। (भावप्रा. टी. ७७)। ३१. आर्त-रौद्रं परित्यज्य त्रिषु कालेषु सर्वदा। वंद्यो भवति सर्वज्ञस्तच्छिक्षाव्रतमाद्यजम्॥ (पु. उपासका. ३१)। ३२. अर्थात् सामायिकः प्रोक्तः साक्षात् साम्यावलम्बनम्। ××× तत्सूत्रं यथा—समता सर्वभूतेषु सयमे शुभभावना। आर्त्त-रौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकव्रतम्॥ (लाटीसं. ६–१५३)। ३३. एयत्तणेण अप्पे गमणं परदव्वदो दु णिव्वत्ती। उवयोगस्स पइत्ती स समायोऽदो उच्चदे समये॥ णादा चेदा दिट्ठाहमेव इदि अप्पगोचरं झाणं। अह सं मज्झत्थे गदि अप्पे आयो दु सो भणिओ॥ तत्थ भवं सामाइयं ××× ॥ (अंगप. ३, ११–

१२, पृ. ३०५)।
१ जो सर्वसावद्य योग का त्याग कर चुका है, तीनों गुप्तियों से संरक्षित है, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर चुका है, त्रस-स्थावर जीवों में समभाव रखता है; संयम, तप और नियम में निरत रहता है, जिसे राग-द्वेष विकृत नहीं करते हैं, तथा जो आर्त और रौद्र ध्यान से रहित है, ऐसे महापुरुष के सामायिक होता है। २ जीवन और मरण, लाभ और अलाभ, संयोग और वियोग, शत्रु और मित्र तथा सुख और दुःख इनमें समान—हर्ष-विषाद से रहित—रहना, इसका नाम सामायिक है। ५ काल का नियम करके समस्त सावद्य योग का त्याग करना, इसे सामायिक कहते हैं। ११ जो राग-द्वेष से रहित होकर सब प्राणियों को अपने समान देखता है उसे सम कहा जाता है, आय का अर्थ लाभ होता है, सम के आय का नाम समाय है, यह समाय ही जिसका प्रयोजन है उसे सामायिक कहते हैं। यह सामायिक का निरुक्त लक्षण है। इसका अभिप्राय यही है कि राग-द्वेष से रहित होकर जो दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र की प्राप्ति के अभिमुख होना, इसे सामायिक समझना चाहिए। १४ तीनों सन्ध्याकालों में पक्ष, मास व सन्धि के दिनों में अथवा अपनी इच्छानुसार किसी भी समय में बाह्य व अन्तरंग सभी पदार्थों में कषाय का जो निरोध किया जाता है, इसका नाम सामायिक है।

सामायिककाल—देखो सामायिकसमय। पुव्वण्हे मज्झण्हे अवरण्हे तिहि वि णालियाछक्को। सामाइयस्स कालो सविणय णिस्सेस णिद्दिट्ठो॥ (कार्तिके. ३५४)।
सामायिक का काल पूर्वाह्ण, मध्याह्न और अपराह्ण इन तीन सन्ध्याकालों में छह घड़ी तक कहा गया है।

सामायिकक्षेत्र—जत्थ ण कलयलसद्दो बहुजण-संघट्टणं ण जत्थत्थि। जत्थ ण दंसादीया एस पसत्थो हवे देसो॥ (कार्तिके. ३५३)।
जहां कल-कल शब्द न हो, बहुत जनों का आना-जाना न हो, तथा डांस-मच्छर आदि न हों; ऐसा प्रशस्त देश सामायिक के लिए उपयोगी होता है।

सामायिकचारित्र—देखो सामायिक। सर्वे जीवाः केवलज्ञानमया इति भावनारूपेण समतालक्षणं सामायिकम्, अथवा परमस्वास्थ्यबलेन युगपत्समस्त-शुभाशुभसंकल्प-विकल्पत्यागरूपसमाधिलक्षणं वा, निर्विकारस्वसंवित्तिबलेन राग-द्वेषपरिहाररूपं वा, स्वशुद्धात्मानुभूतिबलेनार्त्त-रौद्रपरित्यागरूपं वा, समस्तसुखदुःखादिमध्यस्थरूपं चेति। (बृ. द्रव्यसं. टी. ३५)।
सब जीव केवलज्ञान स्वरूप हैं, इस प्रकार के समताभाव का नाम सामायिकचारित्र है। अथवा शुभाशुभ संकल्प विकल्पों के त्यागरूप समाधि को सामायिकचारित्र का लक्षण जानना चाहिए। राग-द्वेष के परित्यागपूर्वक आर्त-रौद्र का परित्याग भी सामायिक का लक्षण है।

सामायिक प्रतिमा—१ चतुरावर्त्तत्रितयश्चतुः-प्रणामःस्थितो यथाजातः। सामायिको द्विनिषद्यस्त्रि-योगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी॥ (रत्नक. ५-१८)। २. माध्यस्थ्यैकत्वगमनं देवतास्मरणस्थितेः। सुख-दुःखारिमित्रादौ बोध्यं सामायिकं व्रतम्॥ (ह. पु. ५८-१५३)। ३. जो कुणदि काउसग्गं बारस-आवत्तसंजुदो धीरो। णमणदुगं पि करंतो चदुप्पणामो पसण्णप्पा॥ चिंतंतो ससरूवं जिणबिंबं अहव अक्खरं परमं। ज्झायदि कम्मविवायं तस्स वयं होदि सामइयं॥ (कार्तिके. ३७१-७२)। ४. चउरट्ठहं दोसहं रहिउ पुव्वाइरियकमेण। जिणु वंदइ संझइ तिहिंमि सो तिज्जउ णियमेण॥ (सावयध. दो. १२)। ५. आर्त्त-रौद्रपरित्यक्तस्त्रि-कालं विदधाति यः। सामायिकं विशुद्धात्मा स सामायिकवान् मतः॥ (सुभा. सं. ८३५)। ६ रौद्रार्त्त-मुक्तो भवदुःखमोची निरस्तनिःशेषकषायदोषः। सामायिकं यः कुरुते त्रिकालं सामायिकस्थः कथितः स तथ्यम्॥ (अमित. श्रा. ७-६६)। ७ प्रिये-ऽप्रिये विद्विषि बन्धुलोके समानभावो दमितेन्द्रिया-श्वम्। सामायिकं यः कुरुते त्रिकालं सामायिकी स प्रथितः प्रवीणैः॥ (धर्मप. २०-५५)। ८. होऊण सुई चेइयगिहम्मि सगिहे व चेइयाहिमुहो। अण्णत्त सुइपएसे पुव्वमुहो उत्तरमुहो व॥ जिणवयण-धम्म-चेइय परमेट्ठि-जिणालयाण णिच्चं पि। जं वंदणं तियालं कीरइ सामाइयं तं खु॥ (वसु. श्रा. २७४, २७५)। ९. दृङ्मूलोत्तरगुणग्रामाभ्यासविशुद्धधीः।

भजंस्त्रिसंध्यं कृच्छ्रेऽपि साम्यं सामायिकी भवेत् ॥ (सा. ध. ७–१) । १०. चतुस्त्र्यावर्तसंयुक्तश्चतुर्नमस्क्रिया(?) सह । द्विनिषद्यो यथाजातो मनोवाक्कायशुद्धिमान् ॥ चैत्यभक्त्यादिभिः स्तुयाज्जिनं सन्ध्यात्रयेऽपि च । कालातिक्रमणं मुक्त्वा स स्यात् सामायिकव्रती ॥ (भावसं. वाम. ५३२–३३) । ११. मूलोत्तरगुणव्रात पूर्णः सम्यक्त्वपूतधीः । साम्यं त्रिसंध्यं कष्टेऽपि भजन् सामायिकी भवेत् ॥ कुर्वन् यथोक्तं सन्ध्यासु कृतकर्माऽऽसमाप्तितः । समाधेर्जातु नापैति कृच्छ्रे सामायिकी हि सः ॥ (धर्मसं. श्रा. ८, ५–६) । १२. सा च मासत्रयं यावदुभयसन्ध्यं सामायिकं कुर्वतो भवति । नियम-नन्दि-व्रतादिविधिः स एव दण्डकतदभिलापेन इति सामायिक प्रतिमा । (आचारदि. पृ. ५२) ।

१ जो गृहस्थ यथाजात—दिगम्बर वेष में अथवा समस्त प्रकार की परिग्रह में निर्ममत्व होकर कायोत्सर्ग से स्थित होता हुआ—चार बार तीन तीन आवर्त व सिर झुका कर प्रणाम करता है तथा आदि और अन्त में बैठकर प्रणाम करता है वह सामायिक प्रतिमा का धारक होता है। यह क्रिया तीनों योगों की शुद्धिपूर्वक तीनों सन्ध्याओं में —प्रातः(पूर्वाह्न) मध्याह्न और अपराह्न में की जाती है। प्रकारान्तर से इसे कृतिकर्म भी कहा जाता है। देखिए—धवला पु० ६, पृ० १८६ पर 'दुओणदं ····· ' इत्यादि; तथा मूलाचार गाथा ७–१०४। २ देवता—जिनदेव आदि—का स्मरण करते हुए जो सुख-दुःख और शत्रु-मित्र आदि में एक मध्यस्थ भाव को प्राप्त होता है, इसका नाम सामायिकव्रत (एक शिक्षाव्रत) है। ३ जो धीर श्रावक प्रसन्नचित्त होकर बारह आवर्तों से संयुक्त होता हुआ कायोत्सर्गपूर्वक दो नमन और चार प्रणामों को करता है तथा अपने आत्मस्वरूप का स्मरण करता हुआ जिनप्रतिमा, परम अक्षर—'असिआउसा' आदि मंत्राक्षरों या बीजाक्षरों—और कर्मविपाक का ध्यान करता है उसके सामायिक व्रत होता है। १२ सामायिक प्रतिमा दो सन्ध्याओं में तीन मास तक सामायिक करने वाले के होती है।

सामायिकभावश्रुतग्रन्थ — नैयायिक-वैशेषिक-लोकायत-सांख्य-मीमांसक - बौद्धादिदर्शनविषयबोधः सामायिकभावश्रुतग्रन्थः। (धव. पु. ६, पृ. ३२३)।

नैयायिक, वैशेषिक, लौकायत, सांख्य, मीमांसक और बौद्ध आदि दर्शनों के विषयावबोध को सामायिकभावश्रुतग्रन्थ कहते हैं।

सामायिक शिक्षाव्रत—देखो सामायिकप्रतिमा। १. समता सर्वभूतेषु संयमः शुभभावनाः। आर्त्त-रौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम् ॥ (वरांगच. १५–१२२) । २. एकत्वेन गमनं समयः एकोऽहमात्मेति प्रतिपत्तिर्द्रव्यार्थादेशात्, काय-वाङ्मनःकर्मपर्यायार्थार्पणात्, सर्वसावद्ययोगनिवृत्त्येकनिश्चयनं वा व्रतभेदार्पणात्, समय एव सामायिकं समयः प्रयोजनमस्येति वा। (त. श्लो. ७–२१) । ३. राग-द्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य। तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम् ॥ (पु. सि. १५०) । ४. प्रत्याख्यानमभेदेन सर्वसावद्यकर्मणः। नित्यं नियतकालं वा वृत्त सामायिकं स्मृतम् ॥ (त. सा. ६–४५) । ५. बंधित्ता पज्जंकं अहवा उड्ढेण उब्भओ ठिच्चा। कालपमाणं किच्चा इंदियवावारवज्जिओ होउं ॥ जिणवयणे मग्गमणो संवुडकाओ य अंजलिं किच्चा। ससरूवे संलीणो वंदणअत्थं विचिंतंतो ॥ किच्चा देस-पमाणं सव्वं सावज्जवज्जिदो होउं। जो कुव्वदि सामइयं सो मुणि सरिसो हवे ताव ॥ (कार्तिके. ३५६-५७) । ६. यत्सर्वद्रव्यसन्दर्भे राग-द्वेषव्यपोहनम्। आत्मतत्त्वनिविष्टस्य तत्सामायिकमुच्यते ॥ (योगशा. प्र. ५–४७) । ७. त्यक्तार्त-रौद्रयोगो भक्त्या विदधाति निर्मलध्यानः। सामायिकं महात्मा सामायिकसंयतो जीवः ॥ (धर्मप. श्रा. ६–८६) । ८. एकान्ते केशबन्धादिमोक्षं यावन्मुनेरिव। स्वं ध्यातुः सर्वहिंसादित्यागः सामायिकव्रतम् ॥ (सा. ध. ५–२८)। ६. सामायिकमथाद्यं स्याच्छिक्षाव्रतमगारिणाम्। आर्त्त-रौद्रे परित्यज्य त्रिकालं जिनवन्दनात् ॥ (धर्मश. २१–१४६)। १०. सम् शब्दः एकत्वे एकीभावे वर्तते—यथा संगतं घृतं सगतं तैलम्, एकीभूतमित्यर्थः। अयनमयः, सम् एकत्वेन अयनं गमनं परिणमनं समयः, समय एव सामायिकम्। स्वार्थे इकण्। अथवा समय. प्रयोजनमस्येति सामायिकम्, प्रयोजनार्थे इकण्। कोऽर्थः? देववन्दनायां निःसंक्लेशं सर्वप्राणिसमताचिन्तनम्, सामायिकमित्यर्थ। (त. वृत्ति श्रुत. ७–२१)।

१ आर्त्त और रौद्र ध्यान

प्राणियों में समता का भाव रखना, संयम का परिपालन करना, और उत्तम भावनाओं का चिन्तन करना, इसे सामायिक शिक्षाव्रत कहते हैं। ७ द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जो 'मैं एक आत्मा हूं' । इस प्रकार का ज्ञान होता है तथा काय, वचन व मन की क्रियारूप पर्याय की विवक्षा न करके सर्व सावद्ययोग की निवृत्ति रूप जो एक निश्चय होता है, एवं व्रतभेद की अपेक्षा जो भिन्नता का बोध है; इसका नाम समय है, इस समय को ही सामायिक कहा जाता है।

सामायिक शुद्धिसंयम—देखो सामायिकसंयम।

सामायिक श्रुत—१. तत्थ जं सामाइयं तं णामट्ठवणा-दव्व-खेत्त-काल-भावेसु समत्तविहाणं वण्णेदि। (धव. पु. १, पृ. ९६); तत्थ सामाइयं दव्व-खेत्त-काले अस्सिदूण पुरिसजादं आभोगिय परिमिदापरिमिदकालसमाइयं परूवेदि । (धव. पु. ९, पृ. १८८)। २. एवंविहं सामाइयं कालमस्सिदूण भरहादिखेत्ते च संघडणाणि गुणट्ठाणानि च अस्सिदूण परिमिदापरिमिदसरूवेण जेण परूवेदि × × ×। (जयध. १, पृ. ९९)। ३. × × × तत्-(सामायिक-) प्रतिपादकं शास्त्रं सामायिकश्रुतम्। (गो. जी. जी. प्र. ३६७)।

१ जिस अंगबाह्य श्रुत में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय करके तथा पुरुषसमूह को देखकर परिमित या अपरिमित काल पर्यन्त सम्पन्न होने वाले सामायिक अनुष्ठान की प्ररूपणा की जाती है उसे सामायिकश्रुत कहते हैं।

सामायिकसमय—देखो सामायिककाल। मूर्धरुह-मुष्टि-वासोबन्धं पर्यंकबन्धनं चापि । स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञाः ॥ (रत्क. ४-८)।

बालों का बन्धन, मुट्ठी का बन्धन, वस्त्र का बन्धन, पर्यंक आसन का बन्धन, कायोत्सर्ग से अवस्थान अथवा उपवेशन; इनको सामायिककाल माना जाता है, अर्थात् जब तक ये स्वयं न छूटें या कष्टप्रद होने पर बुद्धिपुरःसर उन्हें छोड़ा न जाय तब तक सामायिक में स्थित रहना चाहिए।

सामायिक संयत—१. संगहियसयलसंजममेयजममणुत्तरं दुरवगम्मं। जीवो समुव्वहंतो सामाइयसंजदो होई ॥ (प्रा. पंचसं. १-१२९; धव. पु. १, पृ. ३७२ उद्.; गो. जी. ४७०)। २. सामाइयम्मि उ कए चाउज्जामं अणुत्तरं धम्मं । तिविहेण फासयंतो सामाइयसंजओ स खलु ॥ (भगवती. २५, ७, ६, खण्ड ४, पृ २६२)।

१ जिस एक ही संयम में समस्त संयम का समावेश होता है तथा जो अनुपम होकर दुरवबोध है उस सामायिक संयम के परिपालन करने वाले को सामायिकसंयत कहा जाता है। २ सामायिक के स्वीकार कर लेने पर जो जीव अनुपम चार महाव्रत स्वरूप चातुर्याम धर्म का मन, वचन व काय से स्पर्श करता है—उसका परिपालन करता है— वह सामायिक संयत कहलाता है।

सामायिकसंयम—देखो सामायिकसंयत। १. सम् सम्यक् सम्यग्दर्शन-ज्ञानानुसारेण, यताः बहिरंगान्तरंगास्रवेभ्यो विरताः संयताः। सर्वसावद्ययोगात् विरतोऽस्मीति सकलसावद्ययोगविरतिः सामायिकशुद्धिसंयमो द्रव्यार्थिकत्वात् । (धव. पु. १, पृ. ३६९) ; स्वान्तर्भाविताशेषसंयमविशेषैकयमः सामायिकशुद्धिसंयमः। (धव. पु. १, पृ. ३७०)। २. सामायिकमवस्थानं सर्वसावद्ययोगस्याभेदेन प्रत्याख्यानमवलम्ब्य प्रवृत्तमथवाऽवधृतकालमनवधृतकालं सामायिकमित्याख्यायते। (चा. सा. पृ. ३७)। ३. क्रियते यदभेदेन व्रतानामधिरोपणम्। कषायस्थूलतालीढः स सामायिकसंयमः ॥ (पंचसं. अमित. १-२२९)।

१ 'सम्' का अर्थ सम्यक् अर्थात् सम्यग्दर्शन व ज्ञान का अनुसरण है तथा 'यत्' का अर्थ है बहिरंग और अन्तरंग आस्रवों से विरत, तदनुसार अभिप्राय यह हुआ कि जो सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानपूर्वक समस्त आस्रवों से विरत हो चुके हैं वे संयत कहलाते हैं। 'मैं सर्वसावद्ययोग से विरत हूं' इस प्रकार से समस्त सावद्ययोग से विरत होने का नाम सामायिकशुद्धिसंयम है।

साम्परायिक—१. तत्प्रयोजनं साम्परायिकम्। तत्प्रयोजनं कर्म साम्परायिकमित्युच्यते, यथा ऐन्द्रमहिकमिति। (त. वा. ६, ४, ५); मिथ्यादृष्ट्यादीनां सूक्ष्मसाम्परायान्तानां कषायोदयपिच्छिलपरिणामानां योगवशादानीतं कर्म भावेनोपश्लिष्यमाणं आर्द्रचर्माश्रितरेणुवत् स्थितिमापद्यमानं सांपरायिकमित्युच्यते। (त. वा. ६, ४, ७)। २. सं सम्यक्, पर उत्कृष्टः, अयो गतिः पर्यटनं प्राणिनां यत्र भवति

स संपरायः, संसार इत्यर्थः, संपरायः प्रयोजनं यस्य कर्मणः तत् कर्म सांपरायिकम् कर्म। संसारपर्यटन-कर्म साम्परायिकमित्युच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ६-४)।

१ आत्मा का पराभव करना ही जिसका प्रयोजन है ऐसे कर्म को सांपरायिक कहा जाता है। मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्मसांपरायसंयत तक कषाय के उदयवश उत्पन्न परिणामों के अनुसार योग के द्वारा लाया गया कर्म गीले चमड़े के आश्रित धूलि के समान जो स्थिति को प्राप्त होता है उसे साम्परायिक कर्म कहा जाता है।

साम्प्रत — नामादिषु प्रसिद्धपूर्वाच्छब्दादर्थे प्रत्ययः साम्प्रतः। (त भा. १-३५, पृ. ११६); तेष्वेव साम्प्रतेषु नामादीनामन्यतमग्राहिषु प्रसिद्धपूर्वकेषु घटेषु सम्प्रत्ययः साम्प्रतः शब्दः। (त. भा. १-३५, पृ. १२३)।

नाम व स्थापना आदि में जिसका वाच्य-वाचक सम्बन्ध आदि पूर्व में प्रसिद्ध है उस शब्द से जो घटादि के विषय में ज्ञान होता है उसे साम्प्रत शब्द-नय कहते हैं। ऋजु सूत्र को अभीष्ट नाम स्थापना आदि घटों में से जो अन्यतम को ग्रहण करने वाले शब्द हैं उनके उच्चारण करने पर जिनका वाच्य वाचक सम्बन्ध पूर्व में प्रसिद्ध उन घटादिकों में जो ज्ञान होता है उसे साम्प्रत शब्द कहा जाता है।

साम्भोगिक — सम्भोगः साधूनां समानसामाचारीकतया परस्परमुपध्यादिदान-ग्रहणसव्यवहारलक्षणः, स विद्यते यस्य स साम्भोगिकः। (स्थाना. सू. अभय. वृ. ३, ३, १७३, पृ. १३६)।

समान समाचारी वाले साधुओं के जो परस्पर उपधि आदि का देना लेना होता है उसका नाम सम्भोग है, इस सम्भोग से जो सहित होता है उसे साम्भोगिक कहा जाता है।

साम्य — साम्यं तु दर्शन-चारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोह-क्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः। (प्रव. सा. अमृत. वृ. १-७); साम्यं मोह-क्षोभविहीन आत्मपरिणामः। (प्रव. सा. अमृत. वृ. ३-४१)।

दर्शन और चारित्र मोहनीय के उदय से जो मोह एवं क्षोभ होता है उसके अभाव में जीव का राग-द्वेषादि विकार से रहित निर्मल परिणाम होता है उसे साम्य कहा जाता है।

साम्राज्यक्रिया — साम्राज्यमाधिराज्यं स्याच्चक्र-रत्नपुरःसरम्। निधि-रत्नसमुद्भूतभोगसम्पत्परम्परम्॥ (म. पु. ३६-२०२)।

जिस सर्वोत्कृष्ट राज्य में चक्ररत्न के साथ नौ निधियों और चौदह रत्नों के आश्रय से भोग सम्पत्ति की परम्परा उपस्थित रहती है उसे साम्राज्यक्रिया कहा जाता है।

सारणा — १. दुःखाभिभवान्मोहमुपगतस्य निश्चेतनस्य चेतनाप्रवर्तना सारणा। (भ. आ. विजयो. ७०)। २. सारणा दुःखाभिभवान्मोहं गतस्य चेतनाप्रापणा। (अन. ध. स्वो. टी. ७-६८; भ. आ. मूला. ७०)।

१ दुःख से अभिभूत होकर मूर्छा को प्राप्त हुए को सचेत करना, इसका नाम सारणा है। यह भक्त-प्रत्याख्यानमरण को स्वीकार करने वाले क्षपक के अर्हादि ४० लिंगों में से एक है।

सारस्वत — (लौकान्तिक देवविशेष) सरस्वतीं चतुर्दशपूर्वलक्षणां विदन्ति जानन्ति सारस्वताः। (त. वृत्ति श्रुत. ४-२५)।

जो लौकान्तिक देव चौदह पूर्वस्वरूप सरस्वती को जानते हैं वे सारस्वत कहलाते हैं।

सारार्द्र — सारार्द्रं तु यद्बहिः शुष्काकारमप्यन्तर्मध्ये सार्द्रमास्ते यथा श्रीपर्णी-सोवर्चलादिकम्। (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. १८५, पृ. १३६)।

जो बाहर सूखे आकार में होकर भी मध्य में गीला रहता है उसका नाम सारार्द्र है। जैसे—श्रीपर्णी और सोवर्चल आदि।

सार्व — सार्वः इह-परलोकोपकारकमार्गप्रदर्शकत्वेन सर्वेभ्यो हितः। (रत्नक. टी. १-७)।

जो इस लोक व परलोक में उपकार करने वाले मार्ग को दिखलाने के कारण सभी प्राणियों के लिए हितकर होता है उसे सार्व कहा जाता है। यह वीतराग सर्वज्ञ के अनेक नामों के अन्तर्गत है।

सालम्बध्यान — १. जिनरूपध्यानं खल्वाद्यः (सालम्बनः योगः) × × ×॥ (षोडशक. १४-१)। २. धर्मध्यानं तु सालम्बं चतुर्भेदैर्निगद्यते। आज्ञापाय-विपाकाख्य-संस्थानविचयात्मभिः॥ अथवा जिन-मुख्यानां पंचानां परमेष्ठिनाम्। पृथक् पृथक् तु यद् ध्यानं सालम्बं तदपि स्मृतम्॥ (भावसं. वाम.

६३८ व ६४३)। ३. सह आलम्बनेन चक्षुरादि-ज्ञानविषयेण प्रतिमादिना वर्तत इति सालम्बनः। (योगवि. टी. १९)।

१ जिन (अरहन्त)के रूप के चिन्तन को सालम्ब योग कहा जाता है। २ आज्ञा व अपायविचय आदि चार के आलम्बन से सहित धर्मध्यान को सालम्ब कहा जाता है। अथवा पांच परमेष्ठियों का जो पृथक् पृथक् चिन्तन किया जाता है उसे सालम्बध्यान माना गया है। ३ जो योग चाक्षुष आदि ज्ञान की विषयभूत प्रतिमा आदि के साथ रहता है उसे सालम्बन योग कहते हैं।

सालम्बन योग—देखो सालम्बध्यान।

सावद्ययोग—सर्वशब्देन तत्रान्तर्बहिर्वतिपदार्थतः। प्राणोच्छेदो हि सावद्यं सैव हिंसा प्रकीर्तिता॥ योगस्तत्रोपयोगो वा बुद्धिपूर्वः स उच्यते। सूक्ष्मश्चाबुद्धिपूर्वो यः स स्मृतः योग इत्यपि॥ (लाटीसं. ४, २५०-५१)।

सावद्य का अर्थ प्राणविघातरूप हिंसा है, योग का अर्थ है उसमें बुद्धिपूर्वक उपयोग लगाना, सूक्ष्म जो अबुद्धिपूर्वक योग होता है उसे भी योग माना गया है। अभिप्राय यह है कि प्राणिहिंसा में बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक जो उपयोग किया जाता है वह सावद्ययोग कहलाता है। सर्वसावद्य में सर्व शब्द से अन्तरंग व बहिरंग सभी पदार्थों की विवक्षा रही है।

सावद्य वचन—१. जत्तो पाणवधादी दोसा जायंति सावज्जवयणं च। अविचारित्ता थेणं थेणत्ति जहेव मादीयं॥ (भ. आ. ८३१)। २. छेदन-भेदन-मारण-कर्षण-वाणिज्य-चौर्यवचनादि। तत्सावद्यं यस्मात् प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते॥ (पु. सि. ९७)। ३. आरम्भाः सावद्या विचित्रभेदा यतः प्रवर्तन्ते। सावद्यमिदं ज्ञेयं वचन सावद्यविरतैः॥ (अमित. श्रा. ६-५३)।

१ जिस वचन से प्राणिहिंसा आदि बहुत से दोष उत्पन्न होते हैं उसे सावद्यवचन कहते हैं। जैसे—बिना विचारे चोर को चोर कहना, इत्यादि। २ जो वचन छेदने, भेदने, मारने, खींचने, व्यापार करने और चोरी करने आदि का सूचक होता है वह सावद्यवचन कहलाता है।

सावधिनित्यता — श्रुतोपदेशनित्यतावदुत्पत्ति-प्रलयवत्त्वेऽप्यवस्थानात् पर्वतोदधि-वलयाद्यवस्थान-वच्च सावधिका। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५-४)।

श्रुत के उपदेश की नित्यता के समान उत्पत्ति व विनाश से संयुक्त होने पर भी अवस्थान के बने रहने से जो प्रवाह रूप से नित्यता है उसे सावधि नित्यता कहा जाता है। जैसे पर्वत, समुद्र और वलय आदि के अवस्थान की नित्यता।

सावनसंवत्सर—१ सावनमासस्त्रिंशदहोरात्र एव, एष च कर्ममास ऋतुमासश्चोच्यते। एवंविध-द्वादशमासनिष्पन्नः सावनसंवत्सरः, स चायं त्रीणि शतान्यह्नां षष्ठ्यधिकानि। (३६०)। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४-१५)। २. तथा सवन कर्मसु प्रेरणं 'षू प्रेरणे' इति वचनात्, तत्प्रधानः संवत्सरः सवन-संवत्सरः। तथा चोक्तम्—वे नालिया मुहुत्तो सट्ठी उण नालिया अहोरत्तो। पन्नरस अहोरत्ता पक्खो तीसं दिणा मासो॥ संवच्छरो उ बारस मासा पक्खा य ते चउवीसं। तिन्नेव सया सट्ठा हवंति राइंदियाणं तु॥ एसो उ कमो भणिओ निअमा संवच्छरस्स कम्मस्स। कम्मोत्ति सावणोत्ति य उउ-इत्तिय तस्स नामाणि॥ [ज्योतिष्क ३०-३२]॥ (सूर्यप्र. मलय. वृ. १०, २०, ५७ उद्.)।

२ जिस वर्ष में प्रमुखता से कर्म को प्रेरणा मिलती है उसे सावनसंवत्सर कहा जाता है। उसका क्रम इस प्रकार है—दो नालियों का मुहूर्त, साठ नालियों का दिन-रात, पन्द्रह दिन-रात का पक्ष अथवा तीन सौ साठ रात-दिन का संवत्सर होता है। कर्मसंवत्सर, श्रावण (सावन) संवत्सर और ऋतु-संवत्सर ये उसके नाम हैं।

सावित्रसंवत्सर—सूर्यमासस्त्वमवगन्तव्यः—त्रिंशद् दिनान्यर्धं च (३०½)। एवंविधद्वादशमासनिष्पन्नः संवत्सरः सावित्रः। स चायं त्रीणिशतान्यह्नां षट्षष्ठ्यधिकानि (३६६)। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४-१५)।

साढ़े तीस (३०½) दिन का सूर्यमास होता है। इस प्रकार के बारह मासों से एक सावित्रसंवत्सर होता है। (३०½×१२=३६६)।

सासन—देखो सासादन।

सासादन—१. सम्मत्त-रयणपव्वयसिहरादो मिच्छभावसमभिमुहो। णासियसम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो॥ (प्रा. पंचसं. १-९; धव. पु. १, पृ. १६६ उद्.; गो. जी. २०)। २. उवसमसम्मा-

स संपरायः, संसार इत्यर्थः, संपरायः प्रयोजनं यस्य कर्मणः तत् कर्म सांपरायिकम् कर्म। संसारपर्यटन-कर्म साम्परायिकमित्युच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ६–४)।

१ आत्मा का पराभव करना ही जिसका प्रयोजन है ऐसे कर्म को सांपरायिक कहा जाता है। मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्मसांपरायसंयत तक कषाय के उदयवश उत्पन्न परिणामों के अनुसार योग के द्वारा लाया गया कर्म गीले चमड़े के आश्रित धूलि के समान जो स्थिति को प्राप्त होता है उसे साम्परायिक कर्म कहा जाता है।

साम्प्रत—नामादिषु प्रसिद्धपूर्वाच्छब्दादर्थे प्रत्ययः साम्प्रतः। (त भा. १–३५, पृ. ११६); तेष्वेव साम्प्रतेषु नामादीनामन्यतमग्राहिषु प्रसिद्धपूर्वकेषु घटेषु सम्प्रत्ययः साम्प्रतः शब्दः। (त. भा. १–३५, पृ. १२३)।

नाम व स्थापना आदि में जिसका वाच्य-वाचक सम्बन्ध आदि पूर्व में प्रसिद्ध है उस शब्द से जो घटादि के विषय में ज्ञान होता है उसे साम्प्रत शब्द-नय कहते हैं। ऋजु सूत्र को अभीष्ट नाम स्थापना आदि घटों में से जो अन्यतम को ग्रहण करने वाले शब्द हैं उनके उच्चारण करने पर जिनका वाच्य वाचक सम्बन्ध पूर्व में प्रसिद्ध उन घटादिकों में जो ज्ञान होता है उसे साम्प्रत शब्द कहा जाता है।

साम्भोगिक—सम्भोगः साधूनां समानसामाचारीकतया परस्परमुपध्यादिदान-ग्रहणसव्यवहारलक्षणः, स विद्यते यस्य स साम्भोगिकः। (स्थाना. सू. अभय. वृ. ३, ३, १७३, पृ. १३६)।

समान समाचारी वाले साधुओं के जो परस्पर उपधि आदि का देना लेना होता है उसका नाम सम्भोग है, इस सम्भोग से जो सहित होता है उसे साम्भोगिक कहा जाता है।

साम्य—साम्यं तु दर्शन-चारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोह-क्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः। (प्रव. सा. अमृत. वृ. १–७); साम्यं मोह-क्षोभविहीन आत्मपरिणामः। (प्रव. सा. अमृत. वृ. ३–४१)।

दर्शन और चारित्र मोहनीय के उदय से जो मोह एवं क्षोभ होता है उसके अभाव में जीव का राग-द्वेषादि विकार से रहित निर्मल परिणाम होता है उसे साम्य कहा जाता है।

साम्राज्यक्रिया—साम्राज्यमाधिराज्यं स्याच्चक्ररत्नपुरःसरम्। निधि-रत्नसमुद्भूतभोगसम्पत्परम्परम्॥ (म. पु. ३८–२०२)।

जिस सर्वोत्कृष्ट राज्य में चक्ररत्न के साथ नौ निधियों और चौदह रत्नों के आश्रय से भोग सम्पत्ति की परम्परा उपस्थित रहती है उसे साम्राज्यक्रिया कहा जाता है।

सारणा—१. दुःखाभिभवान्मोहमुपगतस्य निश्चेतनस्य चेतनाप्रवर्तना सारणा। (भ. आ. विजयो. ७०)। २. सारणा दुःखाभिभवान्मोहं गतस्य चेतनाप्रापणा। (अन. ध. स्वो. टी. ७–६८; भ. आ. मूला. ७०)।

१ दुःख से अभिभूत होकर मूर्छा को प्राप्त हुए को सचेत करना, इसका नाम सारणा है। यह भक्त-प्रत्याख्यानमरण को स्वीकार करने वाले क्षपक के अर्हादि ४० लिंगों में से एक है।

सारस्वत—(लौकान्तिक देवविशेष) सरस्वतीं चतुर्दशपूर्वलक्षणां विदन्ति जानन्ति सारस्वताः। (त. वृत्ति श्रुत. ४–२५)।

जो लौकान्तिक देव चौदह पूर्वस्वरूप सरस्वती को जानते हैं वे सारस्वत कहलाते हैं।

साराद्र—साराद्रं तु यद्बहिः शुष्काकारमप्यन्तर्मध्ये सार्द्रमास्ते यथा श्रीपर्णी-सोवर्चलादिकम्। (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. १८५, पृ. १३६)।

जो बाहर सूखे आकार में होकर भी मध्य में गीला रहता है उसका नाम साराद्र है। जैसे—श्रीपर्णी और सोवर्चल आदि।

सार्व—सार्वः इह-परलोकोपकारकमार्गप्रदर्शकत्वेन सर्वेभ्यो हितः। (रत्नक. टी. १–७)।

जो इस लोक व परलोक में उपकार करने वाले मार्ग को दिखलाने के कारण सभी प्राणियों के लिए हितकर होता है उसे सार्व कहा जाता है। यह वीतराग सर्वज्ञ के अनेक नामों के अन्तर्गत है।

सालम्बध्यान—१. जिनरूपध्यानं खल्वाद्यः (सालम्बनः योगः) × × ×॥ (षोडशक. १४–१)। २. धर्मध्यानं तु सालम्बं चतुर्भेदैर्निगद्यते। आज्ञापाय-विपाकाख्य-संस्थानविचयात्मभिः॥ अथवा जिनमुख्यानां पंचानां परमेष्ठिनाम्। पृथक् पृथक् तु यद् ध्यानं तालम्बं तदपि स्मृतम्॥ (भावसं. वाम.

६३८ व ६४३)। ३. सह आलम्बनेन चक्षुरादि-ज्ञानविषयेण प्रतिमादिना वर्तत इति सालम्बनः। (योगवि. टी. १९)।

१ जिन (अरहन्त)के रूप के चिन्तन को सालम्ब योग कहा जाता है। २ आज्ञा व अपायविचय आदि चार के आलम्बन से सहित धर्मध्यान को सालम्ब कहा जाता है। अथवा पांच परमेष्ठियों का जो पृथक् पृथक् चिन्तन किया जाता है उसे सालम्बध्यान माना गया है। ३ जो योग चाक्षुष आदि ज्ञान की विषयभूत प्रतिमा आदि के साथ रहता है उसे सालम्बन योग कहते हैं।

सालम्बन योग—देखो सालम्बध्यान।

सावद्ययोग—सर्वशब्देन तत्रान्तर्बहिर्वर्तिपदार्थतः। प्राणोच्छेदो हि सावद्यं सैव हिंसा प्रकीर्तिता॥ योगस्तत्रोपयोगो वा बुद्धिपूर्वः स उच्यते। सूक्ष्मश्चाबुद्धिपूर्वो यः स स्मृतः योग इत्यपि॥ (लाटीसं. ४, २५०–५१)।

सावद्य का अर्थ प्राणविघातरूप हिंसा है, योग का अर्थ है उसमें बुद्धिपूर्वक उपयोग लगाना, सूक्ष्म जो अबुद्धिपूर्वक योग होता है उसे भी योग माना गया है। अभिप्राय यह है कि प्राणिहिंसा में बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक जो उपयोग किया जाता है वह सावद्य-योग कहलाता है। सर्वसावद्य में सर्व शब्द से अन्तरंग व बहिरंग सभी पदार्थों की विवक्षा रही है।

सावद्य वचन—१. जत्तो पाणवधादी दोसा जायंति सावज्जवयणं च। अविचारित्ता थेणं थेणत्ति जहेव मादीयं॥ (भ. आ. ८३१)। २. छेदन-भेदन-मारण-कर्षण-वाणिज्य-चौर्यवचनादि। तत्सावद्यं यस्मात् प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते॥ (पु. सि. ९७)। ३. आरम्भाः सावद्या विचित्रभेदा यतः प्रवर्तन्ते। सावद्यमिदं ज्ञेयं वचनं सावद्यवित्रस्तैः॥ (अमित. श्रा. ६–५३)।

१ जिस वचन से प्राणिहिंसा आदि बहुत से दोष उत्पन्न होते हैं उसे सावद्यवचन कहते हैं। जैसे—बिना विचारे चोर को चोर कहना, इत्यादि। २ जो वचन छेदने, भेदने, मारने, खींचने, व्यापार करने और चोरी करने आदि का सूचक होता है वह सावद्यवचन कहलाता है।

सावधिनित्यता — श्रुतोपदेशनित्यतावदुत्पत्ति-प्रलयवत्त्वेऽप्यवस्थानात् पर्वतोदधि-वलयाद्यवस्थानवच्च सावधिका। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५–४)।

श्रुत के उपदेश की नित्यता के समान उत्पत्ति व विनाश से संयुक्त होने पर भी अवस्थान के बने रहने से जो प्रवाह रूप से नित्यता है उसे सावधि नित्यता कहा जाता है। जैसे पर्वत, समुद्र और वलय आदि के अवस्थान की नित्यता।

सावनसंवत्सर—१. सावनमासस्त्रिंशदहोरात्र एव, एष च कर्ममास ऋतुमासश्चोच्यते। एवंविध-द्वादशमासनिष्पन्नः सावनसंवत्सरः, स चायं त्रीणि शतान्यह्नां षष्ठ्यधिकानि। (३६०)। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४–१५)। २. तथा सवनं कर्मसु प्रेरणं 'षू प्रेरणे' इति वचनात्, तत्प्रधानः संवत्सरः सवनसंवत्सरः। तथा चोक्तम्—वे नालिया मुहुत्तो सट्ठी उण नालिया अहोरत्तो। पन्नरस अहोरत्ता पक्खो तीसं दिणा मासो॥ संवच्छरो उ बारस मासा पक्खा य ते चउवीसं। तिन्नेव सया सट्ठा हवंति राइंदियाणं तु॥ एसो उ कमो भणिओ निअमा संवच्छरस्स कम्मस्स। कम्मोत्ति सावणोत्ति य उउइत्तिय तस्स नामाणि॥ [ज्योतिष्क ३०–३२]॥ (सूर्यप्र. मलय. वृ. १०, २०, ५७ उद्.)।

२ जिस वर्ष में प्रमुखता से कर्म को प्रेरणा मिलती है उसे सावनसंवत्सर कहा जाता है। उसका क्रम इस प्रकार है—दो नालियों का मुहूर्त, साठ नालियों का दिन-रात, पन्द्रह दिन-रात का पक्ष अथवा तीन सौ साठ रात-दिन का संवत्सर होता है। कर्मसंवत्सर, श्रावण (सावन) संवत्सर और ऋतु-संवत्सर ये उसके नाम हैं।

सावित्रसंवत्सर—सूर्यमासस्त्वमवगन्तव्यः—त्रिंशद् दिनान्यर्धं च (३०½)। एवंविधद्वादशमासनिष्पन्नः संवत्सरः सावित्रः। स चायं त्रीणिशतान्यह्नां षट्षष्ठ्यधिकानि (३६६)। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४–१५)।

साढ़े तीस (३०½) दिन का सूर्यमास होता है। इस प्रकार के बारह मासों से एक सावित्रसंवत्सर होता है। (३०½ × १२ = ३६६)।

सासन—देखो सासादन।

सासादन—१. सम्मत्त-रयणपव्वयसिहारादो मिच्छभावसमभिमुहो। णासियसम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो॥ (प्रा. पंचसं. १–९; धव. पु. १, पृ. १६६ उद्.; गो. जी. २०)। २. उवसमसम्मा-

पडमाणतो उ मिच्छत्तसंकमणकाले । सासायणो छावलितो भूमिमपत्तो व पवडंतो ॥ आसादेउं व गुलं ओहीरंतो न सुट्ठु जा सुयति । सं आवं सायंतो सस्सादो वा वि सासाणो ॥ (बृहत्क. १२७–२८) । ३. यदुदयाभावेऽनन्तानुबन्धिकषायोदयविघेयीकृतः सासादनसम्यग्दृष्टिः । तस्य मिथ्यादर्शनस्योदये निवृत्तेऽनन्तानुबन्धिकषायोदयकलुषीकृतान्तरात्मा जीवः सासादनसम्यग्दृष्टिरित्याख्यायते । (त. वा. ९, १, १३) । ४. आसादनं सम्यक्त्वविराधनम्, सह आसादनेन वर्तत इति ससादनो विनाशितसम्यग्दर्शनोऽप्राप्तमिथ्यात्वकर्मोदयजनितपरिणामो मिथ्यात्वाभिमुखः सासादन इति भण्यते । (धव. पु. १, पृ. १६३) । ५. मिथ्यात्वस्योदयाभावे जीवोऽनन्तानुबन्धिनाम् । उदयेनास्तसम्यक्त्वः स्मृतः सासादनाभिधः ॥ × × × स्यात् सासादनसम्यक्त्वं पाकेऽनन्तानुबन्धिनाम् । (त.सा. २–१९ व ६१) । ६. परिणामियभावगयं विदियं सासायणं गुणट्ठाणं । सम्मत्तसिहरपडियं अपत्तमिच्छत्तभूमितलं ॥ (भावसं. दे. १९७) । ७. आदिमसम्मत्तद्धा समयादो छावलित्ति वा सेसे । अणअण्णदरुदयादो णासियसम्मो त्ति सासणक्खो सो ॥ (गो. जी. १९); ण य मिच्छत्तं पत्तो सम्मत्तादो य जो य परिवडिदो । सो सासणोत्ति णेयो पंचमभावेण संजुत्तो ॥ (गो. जी. ६५४) । ८. आद्यसम्यक्त्वतो भ्रष्टः पाकेऽनन्तानुबन्धिनाम् । मिथ्यादर्शनमप्राप्तः सासनः कथ्यते तराम् ॥ (पंचसं. अमित. १–३०२, पृ. ४०) । ९. पाषाणरेखासदृशानन्तानुबन्धिक्रोध-मान-माया-लोभान्यतरोदयेन प्रथमसौपशमिकसम्यक्त्वात् पतितो मिथ्यात्वं नाद्यापि गच्छतीत्यन्तरालवर्ती ससादनः । (बृ. द्रव्यसं. टी. १३) । १०. आसादनं सम्यक्त्वविघातनम्, सहासादनेन वर्तते इति सासादनो विनाशितसम्यग्दर्शनः अप्राप्तमिथ्यात्वकर्मोदयजनितपरिणामः । (मूला. १२–१५४) । ११. मिथ्यात्वस्यानुदयेऽनन्तानुबन्ध्युदये सति । सासादनः सम्यग्दृष्टिः स्यादुत्कर्षात् षडावली ॥ (योगशा. स्वो. विव. १–१६, पृ. १११) । १२. त्यक्तसम्यक्त्वभावस्य मिथ्यात्वाभिमुखस्य च । तथास्युदीर्णानन्तानुबन्धिकस्य शरीरिणः ॥ यः सम्यक्त्वपरीणामः उत्कर्षेण षडावलिः । जघन्येकसमयस्तत्स्वासादनमीरितम् ॥ (त्रि. श. पु. च. १, ३, ६०, २–३) । १३. असनं क्षेपणं सम्यक्त्वविराधनम्, तेन सह वर्तते यः स सासन इति निरुक्त्या सासन इत्याख्यानं यस्यासौ सासादनाख्यः, सासनसम्यग्दृष्टिरित्यर्थः । (गो. जी. म. प्र. १९) । १४. सम्यक्त्वासादने नाम वर्तनं यस्य विद्यते । सासादन इति प्राहुर्मुनयो भाववेदिनः । (भावसं. वाम. २९३) ।

१ सम्यक्त्व के नष्ट हो जाने पर जो जीव सम्यक्त्वरूप रत्नपर्वत से गिरकर मिथ्यात्व भाव के अभिमुख हुआ है उसे सासादनसम्यग्दृष्टि जानना चाहिए । २ जो मिथ्यात्व के संक्रमणकाल में—मिथ्यात्व के संक्रमण के अभिमुख होकर—उपशमसम्यक्त्व से गिर रहा है वह जघन्य से एक समय व उत्कर्ष से छह आवली काल तक उपरिम स्थान से गिरकर भूमि को न प्राप्त हुए प्राणी के समान अन्तराल में सासादनसम्यग्दृष्टि रहता है । जिस प्रकार कोई मनुष्य गुड़ का स्वाद लेकर कुछ निद्रित होता हुआ अभी पूर्णरूप से नहीं सोया है वह अव्यक्तरूप में उस गुड़ का स्वाद लेता रहता है उसी प्रकार सासादनसम्यग्दृष्टि उपशमसम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर अव्यक्तरूप में उस सम्यक्त्व का स्वाद लेता रहता है । ४ आसादन का अर्थ सम्यक्त्व की विराधना है, इस आसादन से जो सहित है उसे सासादन कहा जाता है । अभिप्राय यह है कि जिसका सम्यग्दर्शन तो नष्ट हो गया है, पर अभी जो मिथ्यात्व के उदय से उत्पन्न होने वाले अतत्त्वश्रद्धानरूप परिणाम को प्राप्त नहीं हुआ है ऐसे मिथ्यात्व के अभिमुख हुए जीव को सासादन कहते हैं ।

सास्वादन—देखो सासादन ।

साहस— साहसं च अद्भुतं कर्म वीरकथायां प्रतिपद्यते । (रत्नक. टी. ३–३३) ।

आश्चर्यजनक कार्य का नाम साहस है, जिसकी चर्चा वीरकथा में की जाती है ।

सांकल्पिकी हिंसा—सांकल्पिकी अमुं जन्तुमासाद्यार्थित्वेन हन्मीति सङ्कल्पपूर्विका । (सा. ध. स्वो. टी. २–८२) ।

इस प्राणी को पाकर मैं प्रयोजन के वश उसका घात करता हूं, इस प्रकार के संकल्प के साथ जो हिंसा की जाती है उसे सांकल्पिकी हिंसा कहते हैं ।

सांतर-निरंतर द्रव्यवर्गणानाम—सांतरणिरन्तर-दव्ववग्गणत्ति व अधुव-अचित्तदव्ववग्गणा त्ति वा एगट्ठं। सांतर-णिरंतरदव्ववग्गणा णाम जहण्णाओ सांतर-णिरंतरदव्ववग्गणाओ आढवेत्तु पतेसुत्तरातो वग्गणातो अणंतातो। (कर्मप्र. चू. १, १८–२०, पृ. ४२)।

जघन्य सान्तर-निरन्तर द्रव्यवर्गणा से लेकर प्रदेशाधिक के क्रम से अनन्त द्रव्यवर्गणाओं का नाम सान्तर-निरन्तरद्रव्यवर्गणा है। सान्तर-निरन्तर-द्रव्यवर्गणा और अध्रुव-अचित्त द्रव्यवर्गणा इनका एक ही अर्थ है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष—१. इंदिय-मणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खं ॥ (विशेषा. ९५)। २. सांव्यवहारिकं इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम्। (लघीय. स्वो. विव. ४, पृ. ७४)। ३. इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम्। (परीक्षा. २–५)। ४. यदिन्द्रियाणां चक्षुरादीनामनिन्द्रियस्य च मनसः कार्यमंशतो विशदं विज्ञानं तत् सांव्यवहारिकम्, गौणप्रत्यक्षमित्यर्थः। (न्यायकु. ४, पृ. ७५)। ५. समीचीनोऽवाधितः प्रवृत्ति-निवृत्तिलक्षणो व्यवहारः संव्यवहारः, स प्रयोजनमस्येति सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षम्। (प्र. क. मा. २–५, पृ. २२९)। ६. समीचीनः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो व्यवहारः संव्यवहारः, तत्र भवं सांव्यवहारिकम्। (प्रमेयर. २–५)। ७. देशतो विशदं सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षम्, यज्ज्ञानं देशतो विशदमीषन्निर्मलं तत्सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमित्यर्थः। (न्यायदी. पृ. ३१)। ८. यदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं मतिज्ञानं तत्सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षमित्युच्यते, देशतो वैशद्यसम्भवात्। (लघीय. अभय. वृ. ३, पृ. ११)।

१ इन्द्रिय और मन के आश्रय से जो ज्ञान होता है उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

सांशयिकमिथ्यात्व—१. सव्वत्थ संदेहो चेव, णिच्छओ णत्थि त्ति अहिणिवेसो संसयमिच्छत्तं। (धव. पु. ८, पृ. २०–२२)। २. किं वा भवेन्न वा जैनो धर्मोऽहिंसादिलक्षणः। इति यत्र मतिर्द्वैधं भवेत् सांशयिकं हि तत् ॥ (त. सा. ५–५)। ३. मिथ्यात्वभूषितस्तत्त्वं नादिष्टं रोचते कुधीः। सदादिष्टमनादिष्टमतत्त्वं रोचते पुनः ॥ जिनेन्द्रभाषितं तत्त्वं किमु सत्यमुतान्यथा। इति द्वयाश्रया दृष्टिः प्रोक्ता सांशयिकी जिनैः ॥ (पंचसं. अमित. १, ३०४–५)। ४. सांशयिकं देव-गुरु-धर्मेष्वयमयं वेति संशयमानस्य भवति। (यो. शा. स्वो. विव. २–३)।

१ सर्वत्र तत्त्व में सन्देह ही बना रहना और निश्चय का नहीं होना, इस प्रकार के अभिप्राय को सांशयिक-मिथ्यात्व कहा जाता है। ४. देव, गुरु और धर्म के विषय में जो संशयालु रहता है उसके सांशयिक-मिथ्यात्व होता है।

सांसारिक सौख्य—१. कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये। पापबीजे सुखेऽनास्थाश्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ॥ (रत्नक. १२)। २. यत्तु सांसारिकं सौख्यं रागात्मकमशाश्वतम्। स्व-परद्रव्यसम्भूतं तृष्णा-सन्तापकारणम् ॥ मोह-द्रोह-मद-क्रोध-माया-लोभ-निबन्धनम्। दुःखकारणबन्धस्य हेतुत्वाद् दुःखमेव तत् ॥ (तत्त्वानु. २४३–४४)। ३. इदमस्ति पराधीनं सुखं बाधापुरस्सरम्। व्युच्छिन्नं बन्धहेतुश्च विषमं दुःखमर्थतः ॥ (पंचाध्या. २–२४५)।

१ जो सुख सातावेदनीय आदि पूर्णकर्म के आधीन है, विनश्वर है, जिसकी उत्पत्ति दुःखों से व्यवहित है, तथा जो पाप का कारण है उसे सांसारिक सुख समझना चाहिए। ऐसे सुख को सुख न समझकर वस्तुतः दुःख ही समझना चाहिए।

सिति—सितिनाम ऊर्ध्वमधो वा गच्छतः सुखोत्तरोवतारहेतुः काष्ठादिमयः पन्थाः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १०–४०८)।

ऊपर अथवा नीचे जाने के लिए जो सुखपूर्वक चढ़ने उतरने का कारणभूत लकड़ी आदि से निर्मित मार्ग (नसैनी) है उसका नाम सिति है।

सिद्ध (परमात्मा)—१. णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा। लोयग्गट्ठिदा णिच्चा सिद्धा जे एरिसा होंति ॥ (नि. सा. ७२)। २. दंसण-अणंतणाणं अणंतवीरियं अणंतसुक्खा य। सासयसुक्ख अदेहा मुक्का कम्मट्ठबंधेहिं। णिरुवममचलमखोहा निम्मियविया जंगमेण रूवेण। सिद्धट्ठाणम्मि ठिया वोसरपडिमाधुवा सिद्धा ॥ (बोधप्रा. १२–१३)। ३. मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विशुद्धप्पा। परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो ॥ (मोक्षप्रा. ६)। ४. णिद्दड्ढ-अट्ठकम्मा विसयविरत्ता जिदिंदिया धीरा। तव-विणय-सील-सहिदा सिद्धा सिद्धिगदिं पत्ता ॥ (शील-

प्रा. ३५) । ५. अट्ठविहकम्म-मुक्के अट्ठगुणड्ढे अणोवमे सिद्धे । अट्ठमपुढविणिविट्ठे णिट्ठियकज्जे य वंदिमो णिच्चं ।। (सिद्धभ. १) । ६. असरीरा जीवघणा उवउत्ता दंसणे य णाणे य । सागारमणागारं लक्खणमेयं तु सिद्धाणं ।। (प्रज्ञाप. २, गा. १६०, पृ. १०६; धव. पु. ६, पृ. १० उद्.) । ७. अट्ठविहेण विमुक्का पुत्तयकम्मेण तिहुयणग्गम्मि । चिट्ठन्ति सिद्धकज्जा ते सिद्धा मङ्गलं देन्तु ।। (पउमच. ८६–१६) । ८. अट्ठविहकम्मवियला णिट्ठियकज्जा पणट्ठसंसारा । दिट्ठसयलट्ठसारा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ।। (ति. प. १–१) । ९. सिद्धानुद्धूतकर्मप्रकृतिसमुदयान् साधितात्मस्वभावान् × × × । (स. सिद्धभ १) । १०. विनष्टकर्माष्टकलब्धसौख्या लोकान्तमाश्रित्य वसन्ति सिद्धाः ।। (वरांगच. १०–३३); सर्वकर्मविनिर्मुक्ताः सर्वभावार्थदर्शिनः । सर्वज्ञाः सर्वलोकार्च्याः सर्वलोकाग्रधिष्ठिताः ।। निर्द्वन्द्वा निःप्रतीकाराः समसौख्यपरायणाः । ये च सर्वोपमातीतास्ते सिद्धाः सम्प्रकीर्तिताः ।। (वरांगच. २६, १२–१३)। ११. सिद्धास्तु अशेषनिष्ठितकर्मांशाः परमसुखिनः कृतकृत्याः । (आव. नि. हरि. वृ.१७६)। १२. तहा पहीणजरा-मरणा अवेअकम्मकलंका पणट्ठवाबाहा केवलनाण-दंसणा सिद्धपुरनिवासी निरुवमसुहसंगया सव्वहा कयकिच्चा सिद्धा सरणं । (पंचसू. पृ. ४) । १३. सिद्धाः निष्ठिताः कृतकृत्याः सिद्धसाध्याः नष्टाष्टकर्माणः । (धव. पु. १, पृ. ४६); णिहयविविहट्ठकम्मा तिहुवणसिरसेहरा विहुवदुक्खा । सुहसायरमज्झगया णिरंजणा णिच्चअट्ठगुणा ।। अणवज्जा कयकज्जा सव्वावयवेहि दिट्ठसव्वट्ठा । वज्जसिलत्थब्भग्गयपडिमं वाऽभेज्जसंठाणा ।। माणुससंठाणा वि हु सव्वावयवेहि णो गुणेहि समा । सव्विंदियाण विसयं जमेगदेसे विजाणंति ।। (धव. पु. १, पृ. ४८ उद्.); अट्ठविहकम्मविजुदा सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा । अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ।। (धव. पु. १, पृ. २०० उद् ; गो. जी. ६८; धम्मर. १६१); सिद्धाणं मिच्छत्तासंजम-कसायजोगकम्मासवविरहियाणं × × × । (धव. पु. ४, पृ. ४७७) । १४. निष्कर्मा विधुताशेषसांसारिकसुखासुखः । चरमाङ्गात् किमप्यूनपरिमाणस्तदाकृतिः ।। अमूर्तोऽप्ययमन्त्याङ्गसमाकारोपलक्षणात् । मूषागर्भनिरुद्धस्य स्थितिं व्योम्नः परामृशन् ।। शारीर-मानसाशेषदुःखबन्धनवर्जितः । निर्द्वन्द्वो निष्क्रियः शुद्धो गुणैरष्टाभिरन्वितः ।। अभेद्यसंहतिर्लोकशिखरैकशिखामणिः । ज्योतिर्मयः परिप्राप्तस्वात्मा सिद्धः सुखायते ।। कृतार्था निष्ठिताः सिद्धाः कृतकृत्याः निरामयाः । सूक्ष्मा निरञ्जनाश्चेति पर्यायाः सिद्धिमीयुषाम् ।। (म. पु. २१, २०२–६) । १५. सिद्धाणि सव्वकज्जाणि जेण णय से असाहियं किंचि । विज्जासुहइच्छाती तम्हा सिद्धोत्ति से सद्दो ।। दीहकालरयं जं तु कम्मं सेसियमट्ठहा । सियं धत्तंति सिद्धस्स सिद्धत्तमुवजायइ ।। (सिद्धप्रा. ६–७) । १६. सिद्धा नाम मिथ्यात्वादिपरिणामोपनीतकर्माष्टकबन्धनिर्मुक्ताः अजराव्याबाधाः उपमातीतानन्तसुखाः जाज्वल्यमाननिरावरणज्ञानतनवः पुरुषाकाराः प्राप्तपरमावस्थाः । (भ. आ. विजयो. ३१७) । १७. नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः । गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः ।। कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा । परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ।। (पु. सि. २२३–२४) । १८ णट्ठट्ठकम्मबंधो अट्ठगुणट्ठो[ड्ढो] य लोयसिहरत्थो । सुद्धो णिच्चो सुहमो झायव्वो सिद्धपरमेट्ठी ।। (भावसं. दे. २७६) । १९. णाणसरीरा सिद्धा सव्वुत्तमसुक्खसंपत्ता ।।(कार्तिके. १६८)। २०. अट्ठविहकम्मरहिए अट्ठगुणसमण्णिदे महावीरे । लोयग्गतिलयभूदे सासयसुहसंठिदे सिद्धे ।। (जं. दी. प. १–२); अट्ठविहकम्ममुक्का परमगदिं उत्तमं अणुप्पत्ता । सिद्धा साविदकज्जा कम्मविमोक्खे ठिदा मोक्खं ।। (जं. दी. प. ११–३६४) । २१. संप्राप्ताष्टगुणा नित्याः कर्माष्टकनिराशि[सि]नः । लोकाग्रवासिनः सिद्धा भवन्ति निहितापदः ।। (पंचसं. अमित. १–५१) । २२. विभिद्यकर्माष्टकशृंखलां ये गुणाष्टकैश्वर्यमुपेत्य पूतम् । प्राप्तास्त्रिलोकाग्रशिखामणित्वं भवन्तु सिद्धा मम सिद्धये ते ।। (अमित. श्रा. १–२)। २३. जर-मरणजम्मरहिओ कम्मविहीणो विमुक्कवावारो । चउगइगमणागमणो णिरंजणो णिरुवमो सिद्धो ।। (ज्ञा. सा. ३२–३३) । २४. येषां वर्णो न गन्धो रस गुरुलघुता स्पर्श-शब्दादयो न, प्रध्वंसातिज्वरेच्छा भव-मरण-जरातङ्कभयादयो वा । यैर्निर्मूलेन धीरैर्बहुविधरिपवो युद्धनिर्नाशितास्ते सिद्धाः

सम्बुद्धबोध्या बुधसमितिनुताः पान्तु पापान्नतान् नः। (प्रद्युम्न. १४-६३)। २५. णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा। लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पाद-वयेहिं संजुत्ता॥ णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा। पुरिसायारो अप्पा सिद्धो ज्झाएह लोयसिहरत्थो॥ (द्रव्यसं. १४ व ५१)। २६. णिद्धोय-सव्वकम्म-मलत्ताउ संमत्त-णाण-चारित्त-तवलक्ख-णेण पुरिसक्कारेण णिरवसेसं णिद्धूय अट्ठविहकम्म-मलकलंकं बारसविहेण तवप्पयावग्गिणा उहित्तु जाइकणगं व देदिप्पमाणो लद्धपयासो कयकिच्चयं पत्तो तत्तो सिद्धो सिद्धत्यसुतो संजाउत्ति। (कर्मप्र. चू. १)। २७. सिद्धः सकलकर्मविप्रमुक्तः। (समाधि. टी. १)। २८. सिध्यति स्म कृतकृत्योऽभवत् सेधति स्म वा अगच्छत् अपुनरावृत्त्या लोकाग्रमिति सिद्धः, सितं वा बद्धं कर्म्म ध्मातं दग्धं यस्य स सिद्धः कर्म्मप्रपञ्चनिर्मुक्तः। (स्थाना. अभय. वृ. ४६)। २६. णट्ठट्ठकम्मसुद्धा असरीराणंतसोक्खणाणड्ढा। परमपहुत्तं पत्ता जे ते सिद्धा हु खलु मुक्का॥ (द्रव्यस्व. प्र. नयच. १०७)। ३०. अपगतसकल-कर्मांशाः परमसुखिन एकान्तकृतकृत्याः सिद्धाः। (आव. नि. मलय. वृ. १७६)। ३१. आप्य द्रव्यादिसामग्रीं भस्मसात्कुरुते स्वयम्। कर्मेन्धनानि सर्वाणि तस्मात् सिद्ध इति स्मृतः॥ (भावसं. वाम. ३५१)। ३२. सिद्धः कर्माष्टनिर्मुक्तः सम्यक्त्वाद्यष्टसद्गुणः। जगत्पुरुषमूर्द्धस्थः सदानन्दो निरञ्जनः॥ (धर्मसं. श्रा. १०-११५)। ३३. सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिर्येषां ते सिद्धाः, सम्यक्त्वाद्यष्टगुणोपेता वाऽनन्तानन्तगुणविराजमाना लोकाग्रनिवासिनश्च। (कार्तिके. टी. १९२)। ३४. मूर्तिमद्देहनिर्मुक्तो लोके लोकाग्रसंस्थितः। ज्ञानाद्यष्टगुणोपेतो निष्कर्मा सिद्धसंज्ञकः॥ (लाटीसं. ४-१३०; पंचाध्या. २-६०८)।

१ जो आठ कर्मों के बन्धन से मुक्त होकर आठ गुणों से सम्पन्न होते हुए लोक के अग्रभाग (सिद्धालय) में स्थित हो चुके हैं व सदा वहीं उसी प्रकार से स्थित रहने वाले हैं उन्हें सिद्ध जीव कहा जाता है। ६ जो पुद्गलमय शरीर से रहित होकर मुख व उदर आदि के रिक्त स्थानों के पूर्ण हो जाने से विशुद्ध ज्ञानमय जीवप्रदेशों से सघन हुए हैं तथा ज्ञान व दर्शन में उपयुक्त हैं वे सिद्ध परमात्मा कहलाते हैं। यह सिद्ध जीवों का लक्षण है।

सिद्ध (प्रभावक पुरुष)—*अञ्जन-पादलेप-तिलक-गुटिका-सकलभूताकर्षण-निष्कर्षण- वैक्रियत्वप्रभृतयः* सिद्धयः, ताभिः सिद्धयति स्म सिद्धः। (योगशा. स्वो विव. २-१६)।

अंजन व पादलेप आदि सिद्धियों से जो सिद्धि को प्राप्त हुआ है उसे सिद्धपुरुष कहा जाता है। ऐसे पुरुष जिन शासन की प्रभावना में समर्थ होते हैं।

सिद्ध (प्रमाणप्रतिपन्न)—संशयादिव्यवच्छेदेन हि प्रतिपन्नमर्थस्वरूपं सिद्धमुच्यते। (प्र. क. मा. ३-२०, पृ. ३६९)।

जिस पदार्थ का स्वरूप संशय आदि को दूर कर किसी अन्य प्रमाण से जाना जा चुका है उसे सिद्ध कहते हैं। ऐसा सिद्ध पदार्थ अनुमान के द्वारा सिद्ध करने के लिए अयोग्य होता है।

सिद्धकेवलज्ञान—यत् (केवलज्ञानम्) पुनरशेषेषु कर्मांशेष्वपगतेषु सिद्धत्वावस्थायां तत् सिद्धकेवलज्ञानम्। (आव. नि. मलय. वृ. ७८, पृ ८३)।

जो केवलज्ञान समस्त कर्मों के क्षीण हो जाने पर सिद्धत्व अवस्था में विद्यमान रहता है उसे सिद्धकेवलज्ञान कहा जाता है।

सिद्धगति—१. जाइ-जरा-मरण-भया संजोय-विओय-दुक्खसण्णाओ। रोगादिगा य जिस्से ण संति सा होदि सिद्धगई॥ (प्रा. पंचसं. १-६४; धव. पु. १, पृ २०४ उद्.; गो. जी. १५२)। २. सिद्धिः स्वरूपोपलब्धिः सकलगुणैः स्वरूपनिष्ठा, सा एव गतिः सिद्धिगतिः। (धव. पु. १, पृ. २०३); गदिकम्मोदयाभावा सिद्धगदी अगदी। अथवा भवाद् भवसंक्रान्तिर्गतिः, असंक्रान्तिः सिद्धगतिः। (धव. पु. ७, पृ. ६)। ३. *जन्म-मृत्यु-जरा-रा[रो]-ग-संयोग-विगमादयः। न यस्यां जातु जायन्ते सा* सैद्धा गदिता गतिः॥ (पंचसं अमित. १-१४१)। ४. अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यादिस्वस्वभावगुणोपलब्धिरूपाया सिद्धेर्गतिः प्राप्तिः जीवस्य भवति, परमप्रकर्षप्राप्तरत्नत्रयपरिणतशुक्लध्यानविशेषसंपादित-परमसंवर-निर्जराभ्यां सकलकर्मक्षयादात्मनो मुक्त-व्यपदेशभाजः स्वाभाविकोर्ध्वगमनसद्भावाल्लोकाग्र-प्राप्तस्य सिद्धपरमेष्ठिपर्यायरूपसिद्धगतिर्भवतीत्य-

र्थः। (गो. जी. म. प्र. १५२); रोगादिविविध-वेदनाश्च यस्यां न सन्ति सा कृत्स्नकर्मविप्रमोक्ष-प्रादुर्भूतसिद्धत्वपर्यायलक्षणा सिद्धगतिः। (गो. जी. जी प्र. १५२)।

१ जीव की जिस अवस्था में जन्म, जरा, मरण, भय, संयोग, वियोग, दुःख एवं आहारादि संज्ञायें और रोग आदि सम्भव नहीं हैं उसे सिद्धगति कहा जाता है। २ गति नामकर्म का अभाव होने पर जो भवान्तर का संक्रमण रुक जाता है, इसी का नाम सिद्धगति है।

सिद्धत्व—१. दीहकालरयं जं तु कम्मं सेसिअ-मट्ठहा। सिअं धंतति सिद्धस्स सिद्धत्तमुवजायइ॥ (आव. नि. हरि. वृ. ९५३)। २. सिद्धत्वं कृत्स्न-कर्मभ्यः पुंसोऽवस्थान्तरं पृथक्। ज्ञान-दर्शन-सम्यक्त्व-वीर्याद्यष्टगुणात्मकम्॥ (पंचाध्या. २-११३६)।

१ अनादि परम्परा की अपेक्षा जिसका स्थितिबन्ध-काल दीर्घ रहा है उस आठ प्रकार के बद्ध कर्म को शोषित किया—अल्प किया, तत्पश्चात् उसे दग्ध कर देने पर मुक्ति को प्राप्त हुए सिद्ध जीव के सिद्धत्वभाव प्रगट होता है। २ समस्त कर्मों से रहित होने पर जो जीव की ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व और वीर्य आदि गुणों स्वरूप पृथक् अवस्था प्रादुर्भूत होती है उसका नाम सिद्धत्व है।

सिद्धवर्णजनन—१. अनन्तज्ञानात्मकेन सुखेन संतृप्ता सिद्धा इति तन्माहात्म्यकथनं सिद्धानां वर्णजननम्। (भ. आ. विजयो. ४७)। २. परमतप्रसिद्धान् सिद्धानपोह्य जिनमतेन तत्स्वरूपनिरूपणं सिद्धानां वर्णजननम्। (भ. आ. मूला. ४७)।

१ सिद्ध जीव अनन्त ज्ञानस्वरूप सुख से सन्तुष्ट होते हैं, इस प्रकार से सिद्धों के माहात्म्य को प्रगट करना, इसे सिद्धों का वर्णजनन कहते हैं। २ अन्य सम्प्रदायों में प्रसिद्ध सिद्धों का निराकरण करके जिनमत के अनुसार उनके स्वरूप के निरूपण को सिद्धों का वर्णजनन कहा जाता है।

सिद्धसौख्य—१. ध्रुवं परमनाबाधमुपमानविवर्जि-तम्। आत्मस्वाभाविकं सौख्यं सिद्धानां परिकीर्ति-तम्॥ (पद्मपु. १०५-१८०)। २. ण वि अत्थि माणुसाणं आदसमुत्थं चिय विप [स]यातीदं। अव्वुच्छिण्णं च सुहं अणोवमं जं च सिद्धाणं॥ (धम्मर. १९०)।

१ आत्मा का जो स्वाभाविक सुख शाश्वतिक, बाधा से रहित और उपमा से रहित (अनुपम) है उसे सिद्धों का सुख कहा गया है।

सिद्धावर्णवाद—१. स्त्री-वस्त्र-गन्ध-माल्यालंका-रादिविरहितानां सिद्धानां सुखं न किञ्चिदतीन्द्रि-याणां तेषां समधिगतौ न निबन्धनमस्ति किञ्चि-दिति सिद्धावर्णवादः। (भ. आ. विजयो. ४७)। २. सिद्धानां सुखं न किंचिदस्ति, तत्कारणकामि-न्यादीनामभावात्। सतोऽपि वा सुखस्य तेषां नानु-भवस्तन्निमित्तानामिन्द्रियाणामतीन्द्रियतया तत्रास-त्वादित्यादिः सिद्धानाम् (अवर्णवादः)। (भ. आ. मूला. ४७)।

१ स्त्री, वस्त्र, गन्धमाल्य और अलंकार आदि से रहित सिद्धों के कुछ भी सुख नहीं है तथा इन्द्रियों से रहित हुए उनके जानने का भी कोई कारण नहीं है, इस प्रकार के कथन को सिद्धों का अवर्ण-वाद कहा जाता है।

सिद्धि—१. सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः प्रगुणगुण-गणोच्छादिदोषापहाराद् योग्योपादानयुक्त्या दृषद् इह यथा हेमभावोपलब्धिः। (सं. सिद्धभ. १)। २. सिद्धिः अविप्रतिपत्तिः अव्युत्पत्ति-संशय-विपर्यास-लक्षणाज्ञाननिवृत्तिः प्रमितिः। (सिद्धिवि. स्वो. वि. १-२३, पृ. ९६)। ३. सिध्यन्ति निष्ठितार्था भवन्त्यस्यां प्राणिन इति सिद्धिः लोकान्तक्षेत्रलक्षणा। ललितवि. पृ. ६५)। ४. सिद्धिस्तत्तद्धर्मस्थाना-वाप्तिरिह तात्त्विकी ज्ञेया। (षोडशक. ३-१०)। ५. सव्वं परत्थसाहगरूवं पुण होइ सिद्धित्ति॥ (योगवि. ६)। ६. सिद्धिः अशेषकर्मच्युतिलक्षणा। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ५, २५, पृ. १३०)। ७. सिध्यन्ति कृतार्था भवन्ति यस्यां सा सिद्धिः, ईषत्प्राग्भाराऽपि सिद्धिः व्यपदिश्यते अथवा कृत-कृत्यत्वं लोकाग्रचमणिमादिका वा सिद्धिः। (स्थाना अभय. वृ. ४६)। ८. सिद्धिः अनन्तज्ञानादिस्वरूपो-पलब्धिः। (गो. जी. म. प्र. ६८)। ९. सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः × × ×। (कार्तिके. टी. १९२)।

१ उत्तमोत्तम गुणों के समूह को नष्ट करने वाले दोषों के दूर होने से जो पाषाण को सुवर्णरूपता के समान अपने आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है उसे सिद्धि कहते हैं। २ अनध्यवसाय, संशय और विपर्ययरूप अज्ञान की निवृत्तिस्वरूप प्रमिति को

सिद्धि कहा जाता है। ३ जिसमें जीव निष्ठितार्थ (कृतकृत्य) होते हैं उसका नाम सिद्धि है। वह लोक के अग्रभाग (सिद्धालय) स्वरूप है। ५ स्थान व ऊर्ण आदि योगविशेषों में विवक्षित योगविशेष से युक्त योगी के समीपवर्ती दूसरों के भी हित को जो साधक होती है, इसे सिद्धि कहते हैं।

सीमविस्मृति—देखो स्मृत्यन्तर्धान। सीमविस्मृतिः नियमितमर्यादाया अज्ञानतो मत्यपाटव-सन्देहादिना प्रमादाद्वाऽतिव्याकुलत्वान्यमनस्कत्वादिना स्मृतिभ्रंशः। तथा हि—केनचित् पूर्वस्यां दिशि योजनशतरूपं प्रमाणं कृतमासीत्, गमनकाले च स्पष्टतया न स्मरति किं शतं परिमाणं कृतमुत पञ्चाशत्, तस्य चैव पञ्चाशतमतिक्रामतोऽतिचारः, शतमतिक्रामतो भङ्गः, सापेक्षत्व-निरपेक्षत्वाच्चेति प्रथमोऽतिचारः। (सा. ध. स्वो. टी. ५-५)।

दिग्व्रत में जो मर्यादा की गई है, उसका अज्ञानता, बुद्धि की अपटुता और सन्देह आदि के कारण अथवा प्रमाद के वश अतिशय व्याकुल होने से, अथवा अन्यमनस्क होने आदि से स्मरण न रहना; इसे स्मृतिभ्रंश कहा जाता है। जैसे किसी ने पूर्वदिशा में सौ योजन का प्रमाण किया, पर जाने के समय वह यह स्मरण नहीं करता कि सौ योजन की मर्यादा की गई है या पचास योजन की। ऐसी स्थिति में यदि वह पचास योजन का अतिक्रमण करता है तो यह सीमविस्मृति नामक अतिचार होगा। पर यदि वह सौ योजन का अतिक्रमण करता है तो उसका वह व्रत ही भंग होगा। इसका कारण सापेक्षता और निरपेक्षता है।

सुख—१. सुखमिन्द्रियार्थानुभवः। (स. सि. ४, २०); सदसद्वेद्योदयेऽन्तरङ्गहेतौ सति बाह्यद्रव्यादिपरिपाकनिमित्तवशादुत्पद्यमानः प्रीति-परितापरूपः परिणामः सुख-दुःखमित्याख्यायते। (स. सि. ५, २०)। २. सद्वेद्योदये सति इष्टविषयानुभवनं सुखम्। सद्वेद्योदयमूलहेतौ सति बाह्यस्येष्टविषयस्योपनिपाते तद्विषयमनुभवनं सुखमिति कथ्यते। (त. वा. ४, २०, ३); बाह्यप्रत्ययवशाद् सद्वेद्योदयादात्मनः प्रसादः सुखम्, यदात्मस्थं सद्वेद्यं कर्म द्रव्यादिबाह्यप्रत्ययवशात् परिपाकमुपयाति तदात्मनः प्रसादः प्रीतिरूपः सुखमित्याख्यायते। (त. वा. ५, २०. १)। ३. दुक्खुवसमो सुहं णाम। (धव. पु. १३, पृ. २०८); इट्ठत्थसमागमो अणिट्ठत्थविओगो च सुहं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३३४); तस्स (दुक्खस्स) उवसमो तदणुप्पत्ती वा दुक्खुवसमहेउदव्वादिसंपत्ती वा सुहंणाम। (धव. पु. १५, पृ. ६)। ४. जीवस्य आह्लादनहेतुर्द्रव्यं सुखम्, यथा क्षुत्तृडार्त्तस्य मृष्टौदनशीतोदके। (जयध. १, पृ. २७१)। ५. सद्वेद्योदये सतीष्टविषयानुभवनं सुखम्। (त श्लो. ४-२०)। ६ ××× तत्सुखं यत्र नासुखम्। (आत्मानु. ४६; उपासका. २६१)। ७ सुखं प्रीतिः। (नीतिवा. ६-१३)। ८. जं णोकसाय-विग्घचउक्काण बलेण सादपहुदीणं। सुहपयडीणुदयभवं इंदियतोसं हवे सोक्खं॥ (ल. सा. ६१५)। ९. परमतृप्तिरूपमनाकुलत्वलक्षणं सुखम्। (प्रव. सा. जय. वृ. १-६८)। १०. इन्द्रियविषयानुभवनं सुखम्। (त. वृत्ति श्रुत. ४-२०)। ११. तथा च हारीतः—मनसश्चेन्द्रियाणां च यथानन्दः प्रजायते। दृष्टे वा भक्षिते वापि तत् सुखं सम्प्रकीर्तितम्॥ (नीतिवा. टी. ६-१३)।

१ इन्द्रियविषयों के अनुभव का नाम सुख है। सातावेदनीय के उदयरूप अन्तरंग हेतु के होने पर बाह्य द्रव्य आदि के परिपाक के निमित्तवश जो प्रीतिरूप परिणाम उत्पन्न होता है उसे सुख कहते हैं। ६ सुख उसे कहना चाहिए जिसमें दुःख का लेश न हो।

सुख-दुःखोपसम्पत्—देखो सुखासुखसंश्रय। सुहदुक्खे उवयारो वसही-आहार-भेसजादीहिं। तुम्ह अहं ति वयणं सुह-दुक्खुवसपया णेया॥ (मूला. ४-२२)। सुख या दुःख के समय में वसति आहार और औषधि आदि के द्वारा उपकार करना तथा 'आपके लिए मैं हूं—मैं आपकी सब प्रकार से सेवा करूंगा' इस प्रकार कहना, इसे सुख-दुःखोपसंपत् जानना चाहिए।

सुखानुबन्ध—१. अनुभूतप्रीतिविशेषस्मृतिसमन्वाहारः सुखानुबन्धः। (स. सि. ७-३७; त श्लो. ७-३७)। २. अनुभूतप्रीतिविशेषस्मृतिसमन्वाहारः सुखानुबन्धः। एवं मया भुक्तं शयितं क्रीडितमित्येवमादिप्रीतिविशेषं प्रति स्मृतिसमन्वाहारः सुखानुबन्ध इत्यभिधीयते। (त. वा. ७, ३७, ५)। ३. अनुभूतप्रीतिविशेषस्मृतिसमाहरणं चेतसि सुखानुबन्धः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७-३२)। ४. एवं मया भुक्तं शयितं क्रीडितमित्येवमादिप्रीतिविशेषं प्रति स्मृति-

समन्वाहारः सुखानुबन्धः। (चा. सा. पृ. २४; सा. ध. स्वो. टी. ८-४५)। ५. दोषः सुखानुबन्धाख्यः यथात्रास्मीह दुःखवान्। मृत्वापि व्रतमाहात्म्याद् भविष्येऽहं सुखी क्वचित्॥ (लाटीसं. ६-२४१)।
१ पूर्व में अनुभव में आए हुए विषयों के अनुराग का बार-बार स्मरण करना, इसका नाम सुखानुबन्ध है।

सुखासुखसंश्रय—देखो सुखदुःखोपसम्पत्। चौर-क्रूर-गदोर्वीशपीडितार्यातिवर्तिनाम्। तोषोत्कर्षण-माहार-भेषजायतनादिभिः॥ स्वात्मार्पणमहं तुभ्य-मस्मीति च सुखेऽसुखे। यत्तच्चित्तप्रसादार्थं तत्सुखा-सुखसंश्रय.॥ (आचा. सा. २, २२-२३)।
चोर, दुष्ट, रोग और राजा आदि के द्वारा पीड़ित होकर दुःख का अनुभव करने वालों को आहार-औषध और स्थान आदि के द्वारा सन्तुष्ट करने तथा यह कहने कि मैं आपके लिए अपने को समर्पित करता हूं; इसे सुखासुखसंश्रय कहा जाता है।

सुगत—१. केवलज्ञानशब्दवाच्यं गतं ज्ञानं यस्य स सुगतः, अथवा शोभनमविनश्वरं मुक्तिपदं गतः सुगतः। (बृ. द्रव्यसं. टी. १४, पृ. ४०-४१)। २. सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं स्थानमात्मस्वभावजम्। प्राप्तं परमनिर्वाणं येनासौ सुगतः स्मृतः॥ (आप्तस्व. ४१)।
१ जिसके केवलज्ञान शब्द के द्वारा कहा जाने वाला गत (ज्ञान) विद्यमान हैं उसे सुगत कहा जाता है, अथवा जो सुन्दर व अविनश्वर मुक्ति पद को प्राप्त कर चुका है उसे सुगत जानना चाहिए।

सुपर्णकुमार—१. अधिकप्रतिरूपग्रीवोरस्काः श्यामावदाता गरुड़चिह्नाः सुपर्णकुमाराः। (त. भा. ४-११)। २. सुपर्णा नाम शुभपक्षाकारविकरण-प्रियाः। (धव. पु. १३, पृ. ३९१)। ३. सुष्ठु शोभनानि पर्णानि पक्षाः येषां ते सुपर्णाः, सुपर्णाश्च ते कुमाराः सुपर्णकुमाराः। (त. वृत्ति श्रुत. ४-१०)।
१ जिनकी ग्रीवा और वक्षस्थल अतिशय सुन्दर होते हैं, वर्ण से जो श्याम व निर्मल होते हैं, तथा चिह्न जिनका गरुड़ होता है; वे सुपर्णकुमार (भवनवासी देवविशेष) कहलाते हैं। २ जो उत्तम पार्श्वभागों के आकार में विक्रिया किया करते हैं उन्हें सुपर्णकुमार कहा जाता है।

सुपार्श्व—शोभनाः पार्श्वः अस्येति सुपार्श्वः, तथा गर्भस्थे भगवति जनन्यपि सुपार्श्वा जातेति सुपार्श्वः। (योगशा. स्वो. विव. ३-१२४)।
पार्श्वभागों के सुन्दर होने तथा भगवान् के गर्भ में स्थित होने पर माता के भी सुन्दर पार्श्वभागों से संयुक्त होने के कारण सातवें तीर्थंकर 'सुपार्श्व' नाम से प्रसिद्ध हुए।

सुभगनाम—१. यदुदयादन्यप्रीतिप्रभवस्तत्सुभग-नाम। (स. सि. ८-११; त. श्लो ८-११)। २. सौभाग्यनिर्वर्तकं सुभगं नाम। (त. भा. ८, १२)। ३. यदुदयादन्यप्रीतिप्रभवस्तत् सुभगनाम। यदुदयात् रूपवानरूपो वा अन्येषां प्रीतिं जनयति तत् सुभगनाम। (त. वा. ८, ११, २३)। ४. सुभगनाम यदुदयात्काम्यो भवति। (श्रा. प्र. टी. २३)। ५. त्थी-पुरिसाणं सोहग्गणिव्वत्तयं सुभगं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ६५); जस्स कम्मस्सुदएण जीवस्स सोहग्गं होदि तं सुहगणामं। (धव. पु. १३, पृ. ३६३)। ६. यदुदयात् स्त्री-पुंसयोरन्योन्यप्रीति-प्रभवं सौभाग्यं भवति तत्सुभगनाम। (मूला. वृ. १२-१९६)। ७. यदुदयवशादनुपकृदपि सर्वस्य मनःप्रियो भवति तत्सुभगनाम। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७४)। ८. परप्रीतिप्रभवफलं सुभगाख्यं नाम। (भ. आ. मूला. २१२१)। ९. यदुदयादन्य-प्रीतिप्रभवः तत्सुभगनाम। (गो. क. जी. प्र. ३३)। १०. यदुदयेन जीवः परप्रीतिजनको भवति दृष्टः श्रुतो वा तत्सुभगनाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८-११)।
१ जिस कर्म के उदय से जीव दूसरों की प्रीति का कारण होता है उसे सुभग नामकर्म कहते हैं। २ जो कर्म सौभाग्य को उत्पन्न करता है वह सुभग नामकर्म कहलाता है। ७ जिसके उदय से अनुपकारी भी सबके मन को प्रिय होता है उसे सुभग नामकर्म कहा जाता है।

सुभिक्ष—सालि-व्रीहि-जव-गोधूमादिधण्णाणं सुल-हत्तं सुभिक्खं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३३६)।
सालि, व्रीहि, जौ और गेहूं आदि का सरलता से प्राप्त हो जाना, इसका नाम सुभिक्ष है।

सुमति—सु शोभना मतिरस्येति सुमतिः तथा गर्भस्थे जनन्याः सुनिश्चिता मतिरभूदिति सुमतिः। (योगशा. स्वो. विव. ३-२४)।
जो निर्मल बुद्धि के धारक थे तथा जिनके गर्भ में स्थित होने पर माता के अतिशय निश्चित मति

उत्पन्न हुई वे (पांचवें तीर्थंकर) नाम से सुमति कहलाए।

सुर—अहिंसाद्यनुष्ठानरतयः सुरा नाम। (धव. पु. १३, पृ. ३९१)।

जो अहिंसा आदि के अनुष्ठान में अनुराग रखते हैं वे सुर कहलाते हैं।

सुरभिगन्धनाम—१. जस्स कम्मस्स उदएण सरीरपोग्गला सुअंधा होंति तं सुरहिगंध णाम। (धव. पु. ६, पृ ७५)। २. यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन शरीरपुद्गलाः सुरभिगन्धयुक्ता भवन्ति तत्सुरभिगन्धनाम। (मूला. वृ. १२–१९४)। ३. यदुदयाज्जन्तुशरीरेषु सुरभिगन्ध उपजायते तत्सुरभिगन्धनाम। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७३)।

१ जिस कर्म के उदय से शरीरगत पुद्गल उत्तम गन्ध से युक्त होते हैं उसे सुरभिगन्ध नामकर्म कहा जाता है।

सुरेन्द्रताक्रिया—या सुरेन्द्रपदप्राप्तिः पारिव्रज्यफलोदयात्। सैषा सुरेन्द्रता नाम क्रिया प्रागनुवर्णिता॥ (म. पु. ३९–२०२)।

पारिव्रज्य के फलस्वरूप जो इन्द्रपद की प्राप्ति होती है, वह सुरेन्द्रताक्रिया कहलाती है।

सुललित दोष—द्वात्रिंशो वन्दने गीत्या दोषः सुललिताह्वयः। (अन. ध. ८–१११)।

गान के साथ—पंचम स्वर से—वन्दना करने पर सुललित नाम का दोष होता है। यह ३२ वन्दनादोषों में अन्तिम है।

सुविधि—शोभनो विधिः सर्वत्र कौशलमस्येति सुविधिः, तथा गर्भस्थे भगवति जनन्यप्येवमिति सुविधिः। (योगशा. स्वो. विव. ३–१२४)।

तीर्थंकर पुष्पदन्त की विधि—सर्वत्र कुशलता—सुन्दर या उत्कृष्ट थी, तथा गर्भ में स्थित रहने पर माता की भी कुशलता इसी प्रकार की रही है, इसी से वे 'सुविधि' इस सार्थक नाम से प्रसिद्ध हुए।

सुषम-दुषमा—१. दोण्णि तदियम्मि × × ×॥ (ति. प. ४–३१८); उच्छेहपहुदिखीणे पविसेदि हु सुसम-दुस्समो कालो। तस्स पमाणं सायरउवमाणं दोण्णि कोडीओ॥ तक्कालादिम्मि णराणुच्छेहो दोसहस्सचावाणि। एक्क-पलिदोवमाऊ पियंगुसारिच्छवण्णधरा॥ चउसट्ठी पुट्ठीए णराण णारीण होंति अट्ठी वि। अच्छरसरिसा णारी अमरसमाणो णरो होदि॥ तक्काले ते मणुआ आमलकपमाणमाहारं। भुंजंति दिणंतरिया समचउरस्संग-संठाणा॥ (ति. प. ४, ४०३–६)। २. दो सागरोवमकोडाकोडीओ कालो सुसमदुसमा। (भगवती ६, ७, ५)।

१ सुषम-दुषमा काल के प्रारम्भ में मनुष्यों के शरीर की ऊंचाई दो हजार धनुष, आयु एक पल्योपम प्रमाण तथा वर्ण पियंगु फल के समान होता है। उनकी पीठ की हड्डियां चौंसठ होती हैं। उस समय में स्त्री अप्सरा के समान और पुरुष देव के समान होता है। इस काल में वे मनुष्य आंवले के बराबर भोजन एक दिन के अन्तर से करते हैं, आकार उनका समचतुरस्रसंस्थान जैसा होता है। इस काल का प्रमाण दो कोडाकोडी सागरोपम है।

सुषम-सुषमा—१. × × × तेसु पढमम्मि। चत्तारिसायरोवमकोडाकोडीओ परिमाणं॥ (ति. प. ४–३१७); सुसम-सुसमम्मि काले भूमी रज-धूम-जलण-हिमरहिदा। कंटय-अब्भसिलाई-विच्छीआदिकीडोवसग्गपरिचत्ता॥ णिम्मलदप्पणसरिसा णिंदिददव्वेहि विरहिदा तीए। सिकदा हुवेदि दिव्वा तणु-मण-णयणाण सुहजणणी॥ (ति. प. ४, ३२०–२१)। २. एएणं सागरोवमपमाणेणं चत्तारि सागरोवमकोडाकोडीओ कालो सुसम-सुसमा। (भगवती ६, ७, ५)।

१ सुषम-सुषमा काल में पृथिवी धूलि, धुआं, अग्नि, बर्फ, कांटे, ओले और बीछू आदि जन्तुओं के उपद्रव रहित होती हुई दर्पण के समान निर्मल होती है। उस समय पृथिवी के ऊपर कोई भी निन्दित द्रव्य नहीं पाये जाते। वहां की दिव्य बालु शरीर, मन और नेत्रों को सुखप्रद होती है। इस काल का प्रमाण चार कोडाकोडी सागरोपम है।

सुषमा—१. सुसमम्मि तिण्णि जलहीउवमाणं होंति कोडकोडीओ। (ति. प. ४–३१८); सुसमस्सादिम्मि णराणुच्छेहो चउसहस्सचावाणि। दोपल्लपमाणाऊ संपुण्णमियंकसरिसपहा॥ अट्ठावीसुत्तरसयमट्ठी पुट्ठीय होंति एदाणं। अच्छरसरिसा इत्थी तिदससरिच्छा णरा होंति॥ तस्सि काले मणुवा अक्खप्फलसरिसममिदआहारं। भुंजति छट्ठभत्ते समचउरस्संगसंठाणा॥ (ति. प. ४, ३९६-९८)। २. तिण्णिसायरोवम-कोडाकोडीओ कालो सुसमा।

समन्वाहारः सुखानुबन्धः । (चा. सा. पृ. २४; सा. ध. स्वो. टी. ८-४५) । ५. दोषः सुखानुबन्धाख्यः यथात्रास्मीह दुःखवान् । मृत्वापि व्रतमाहात्म्याद् भविष्येऽहं सुखी क्वचित् ॥ (लाटीसं. ६-२४१) ।
१ पूर्व में अनुभव में आए हुए विषयों के अनुराग का बार-बार स्मरण करना, इसका नाम सुखानुबन्ध है।

सुखासुखसंश्रय—देखो सुखदुःखोपसम्पत् । चोर-क्रूर-गदोर्वीशपीडितायत्तिवर्तिनाम् । तोषोत्कर्पण-माहार-भेषजायतनादिभिः ॥ स्वात्मार्पणमहं तुभ्य-मस्मीति च सुखेऽसुखे । यत्तच्चित्तप्रसादार्थं तत्सुखा-सुखसश्रय. ॥ (आचा. सा. २, २२-२३) ।
चोर, दुष्ट, रोग और राजा आदि के द्वारा पीड़ित होकर दुःख का अनुभव करने वालों को आहार-औषध और स्थान आदि के द्वारा सन्तुष्ट करने तथा यह कहने कि मैं आपके लिए अपने को समर्पित करता हूं; इसे सुखासुखसश्रय कहा जाता है।

सुगत—१. केवलज्ञानशब्दवाच्यं गतं ज्ञानं यस्य स सुगतः, अथवा शोभनमविनश्वरं मुक्तिपदं गतः सुगतः। (बृ. द्रव्यसं. टी. १४, पृ. ४०-४१) । २. सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं स्थानमात्मस्वभावजम् । प्राप्तं परमनिर्वाणं येनासौ सुगतः स्मृतः ॥ (आप्तस्व. ४१) ।
१ जिसके केवलज्ञान शब्द के द्वारा कहा जाने वाला गत (ज्ञान) विद्यमान है उसे सुगत कहा जाता है, अथवा जो सुन्दर व अविनश्वर मुक्ति पद को प्राप्त कर चुका है उसे सुगत जानना चाहिए।

सुपर्णकुमार—१. अधिकप्रतिरूपग्रीवोरस्काः श्यामावदाता गरुड़चिह्नाः सुपर्णकुमाराः। (त. भा. ४-११) । २. सुपर्णा नाम शुभपक्षाकारविकरण-प्रियाः। (धव. पु. १३, पृ. ३९१) । ३. सुष्ठु शोभनानि पर्णानि पक्षाः येषां ते सुपर्णाः, सुपर्णाश्च ते कुमाराः सुपर्णकुमाराः। (त. वृत्ति श्रुत. ४-१०)।
१ जिनकी ग्रीवा और वक्षस्थल अतिशय सुन्दर होते हैं, वर्ण से जो श्याम व निर्मल होते हैं, तथा चिह्न जिनका गरुड़ होता है; वे सुपर्णकुमार (भवनवासी देवविशेष) कहलाते हैं। २ जो उत्तम पार्श्वभागों के आकार में विक्रिया किया करते हैं उन्हें सुपर्णकुमार कहा जाता है।

सुपार्श्व—शोभनाः पार्श्वः अस्येति सुपार्श्वः, तथा गर्भस्थे भगवति जनन्यपि सुपार्श्वा जातेति सुपार्श्वः। (योगशा. स्वो. विव. ३-१२४) ।
पार्श्वभागों के सुन्दर होने तथा भगवान् के गर्भ में स्थित होने पर माता के भी सुन्दर पार्श्वभागों से संयुक्त होने के कारण सातवें तीर्थंकर 'सुपार्श्व' नाम से प्रसिद्ध हुए।

सुभगनाम—१. यदुदयादन्यप्रीतिप्रभवस्तत्सुभग-नाम। (स. सि. ८-११; त. श्लो ८-११) । २. सौभाग्यनिर्वर्तकं सुभगं नाम। (त. भा. ८, १२) । ३. यदुदयादन्यप्रीतिप्रभवस्तत् सुभगनाम। यदुदयात् रूपवानरूपो वा अन्येषां प्रीतिं जनयति तत् सुभगनाम। (त. वा. ८, ११, २३) । ४. सुभगनाम यदुदयात्काम्यो भवति। (श्रा. प्र. टी. २३) । ५. इत्थी-पुरिसाणं सोहग्गणिव्वत्तयं सुभगं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ६५); जस्स कम्मस्सुदएण जीवस्स सोहग्गं होदि तं सुहगणामं। (धव. पु. १३, पृ. ३६३) । ६. यदुदयात् स्त्री-पुंसयोरन्योन्यप्रीति-प्रभवं सौभाग्यं भवति तत्सुभगनाम। (मूला. वृ. १२-१९६) । ७. यदुदयवशादनुपकृदपि सर्वस्य मनःप्रियो भवति तत्सुभगनाम। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७४) । ८. परप्रीतिप्रभवफलं सुभगाख्यं नाम। (भ. आ. मूला. २१२१) । ९. यदुदयादन्य-प्रीतिप्रभवः तत्सुभगनाम। (गो. क. जी. प्र. ३३) । १०. यदुदयेन जीवः परप्रीतिजनको भवति दृष्टः श्रुतो वा तत्सुभगनाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८-११) ।
१ जिस कर्म के उदय से जीव दूसरों की प्रीति का कारण होता है उसे सुभग नामकर्म कहते हैं। २ जो कर्म सौभाग्य को उत्पन्न करता है वह सुभग नामकर्म कहलाता है। ७ जिसके उदय से अनुपकारी भी सबके मन को प्रिय होता है उसे सुभग नामकर्म कहा जाता है।

सुभिक्ष—सालि-व्रीहि-जव-गोधूमादिधण्णाणं सुल-हत्तं सुभिक्खं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३३६)।
सालि, व्रीहि, जौ और गेहूं आदि का सरलता से प्राप्त हो जाना, इसका नाम सुभिक्ष है।

सुमति—सु शोभना मतिरस्येति सुमतिः तथा गर्भस्थे जनन्याः सुनिश्चिता मतिरभूदिति सुमतिः। (योगशा. स्वो. विव. ३-२४) ।
जो निर्मल बुद्धि के धारक थे तथा जिनके गर्भ में स्थित होने पर माता के अतिशय निश्चित मति

उत्पन्न हुई वे (पांचवें तीर्थंकर) नाम से सुमति कहलाए।

सुर—अहिंसाद्यनुष्ठानरतयः सुरा नाम। (धव. पु. १३, पृ. ३९१)।

जो अहिंसा आदि के अनुष्ठान में अनुराग रखते हैं वे सुर कहलाते हैं।

सुरभिगन्धनाम—१. जस्स कम्मस्स उदएण सरीरपोग्गला सुअंधा होंति तं सुरहिगंध णाम। (धव. पु. ६, पृ ७५)। २. यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन शरीरपुद्गलाः सुरभिगन्धयुक्ता भवन्ति तत्सुरभिगन्धनाम। (मूला. वृ. १२–१९४)। ३. यदुदयाज्जन्तुशरीरेषु सुरभिगन्ध उपजायते तत्सुरभिगन्धनाम। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७३)।

१ जिस कर्म के उदय से शरीरगत पुद्गल उत्तम गन्ध से युक्त होते हैं उसे सुरभिगन्ध नामकर्म कहा जाता है।

सुरेन्द्रताक्रिया—या सुरेन्द्रपदप्राप्तिः पारिव्रज्यफलोदयात्। सैषा सुरेन्द्रता नाम क्रिया प्रागनुवर्णिता॥ (म. पु. ३९–२०२)।

पारिव्रज्य के फलस्वरूप जो इन्द्रपद की प्राप्ति होती है, वह सुरेन्द्रताक्रिया कहलाती है।

सुललित दोष—द्वात्रिंशो वन्दने गीत्या दोषः सुललिताह्वयः। (अन. ध. ८–१११)।

गान के साथ—पंचम स्वर से—वन्दना करने पर सुललित नाम का दोष होता है। यह ३२ वन्दना-दोषों में अन्तिम है।

सुविधि—शोभनो विधिः सर्वत्र कौशलमस्येति सुविधिः, तथा गर्भस्थे भगवति जनन्यप्येवमिति सुविधिः। (योगशा. स्वो. विव. ३–१२४)।

तीर्थंकर पुष्पदन्त की विधि—सर्वत्र कुशलता—सुन्दर या उत्कृष्ट थी, तथा गर्भ में स्थित रहने पर माता की भी कुशलता इसी प्रकार की रही है, इसी से वे 'सुविधि' इस सार्थक नाम से प्रसिद्ध हुए।

सुषम-दुषमा—१. दोण्णि तदियम्मि × × ×॥ (ति. प. ४–३१८); उच्छेहपहुदिखीणे पविसेदि हु सुसम-दुस्समो कालो। तस्स पमाणं सायरउवमाणं दोण्णि कोडीओ॥ तक्कालादिम्मि णराणुच्छेहो दोसहस्सचावाणि। एक्क-पलिदोवमाऊ पियंगुसारिच्छवण्णवरा॥ चउसट्ठी पुट्ठीए णराण णारीण होंति मट्ठी वि। अच्छरसरिसा णारी अमरसमाणो णरो होदि॥ तक्काले ते मणुआ आमलकवमाणमाहारं। भुंजंति दिणंतरिया समचउरस्संग-संठाणा॥ (ति. प. ४, ४०३–६)। २. दो सागरोवमकोडाकोडीओ कालो सुसमदुसमा। (भगवती ६, ७, ५)।

१ सुषम-दुषमा काल के प्रारम्भ में मनुष्यों के शरीर की ऊंचाई दो हजार धनुष, आयु एक पल्योपम प्रमाण तथा वर्ण प्रियंगु फल के समान होता है। उनकी पीठ की हड्डियां चौंसठ होती हैं। उस समय मे स्त्री अप्सरा के समान और पुरुष देव के समान होता है। इस काल में वे मनुष्य आंवले के बराबर भोजन एक दिन के अन्तर से करते हैं, आकार उनका समचतुरस्रसंस्थान जैसा होता है। इस काल का प्रमाण दो कोडाकोडी सागरोपम है।

सुषम-सुषमा—१. × × × तेसु पढमम्मि। चत्तारिसायरोवमकोडाकोडीओ परिमाणं॥ (ति. प. ४–३१७); सुसम-सुसमम्मि काले भूमी रज-धूम-जलण-हिमरहिदा। कंटय-अब्भसिलाई-विच्छीआदिकीडोवसग्गपरिचत्ता॥ णिम्मलदप्पणसरिसा णिदिददव्वेहि विरहिदा तीए। सिकदा हवेदि दिव्वा तणु-मण-णयणाण सुहजणणी॥ (ति. प. ४, ३२०–२१)। २. एएणं सागरोवमपमाणेणं चत्तारि सागरोवमकोडाकोडीओ कालो सुसम-सुसमा। (भगवती ६, ७, ५)।

१ सुषम-सुषमा काल में पृथिवी धूलि, धुआं, अग्नि, वर्फ, कांटे, ओले और बीछू आदि जन्तुओं के उपद्रव रहित होती हुई दर्पण के समान निर्मल होती है। उस समय पृथिवी के ऊपर कोई भी निन्दित द्रव्य नहीं पाये जाते। वहां की दिव्य बालु शरीर, मन और नेत्रों को सुखप्रद होती है। इस काल का प्रमाण चार कोडाकोडी सागरोपम है।

सुषमा—१. सुसमम्मि तिण्णि जलहीउवमाणं होंति कोडकोडीओ। (ति. प. ४–३१८); सुसमस्सादिम्मि णराणुच्छेहो चउसहस्सचावाणि। दोपल्लपमाणाऊ संपुण्णमियंकसरिसपहा॥ अट्ठावीसुत्तरसयमट्ठी पुट्ठीय होंति एदाणं। अच्छरसरिसा इत्थी तिदससरिच्छा णरा होंति॥ तस्सि काले मणुवा अक्खप्फलसरिसममिदआहारं। भुंजंति छट्ठभत्ते समचउरस्संगसंठाणा॥ (ति. प. ४, ३९६-९८)। २. तिण्णिसायरोवम-कोडाकोडीओ कालो सुसमा।

(भगवती ६, ७, ५)।

१ सुषमा काल के प्रारम्भ में मनुष्यों के शरीर की ऊंचाई चार हजार धनुष, आयु दो पल्य प्रमाण तथा शरीर की कान्ति पूर्ण चन्द्र के समान होती है। उनकी पीठ की हड्डियां एक सौ अट्ठाईस होती हैं। स्त्रियां अप्सराओं जैसी सुन्दर और पुरुष देवों के समान होते हैं। इस काल में मनुष्य षष्ठ भक्त में—दो दिन के अन्तर से—अक्षफल (बहेड़ा) के बराबर आहार को ग्रहण करते हैं। शरीर का आकार उनका समचतुरस्रसंस्थान जैसा होता है। इस काल का प्रमाण तीन कोडाकोडी सागरोपम है।

सुषिर—देखो सौषिर। १. सुसिरो णाम वस-संख-काहलादिजणिदो (सद्दो)। (धव. पु. १३, पृ. २२१)। २. सुषिरः शब्दः कम्बु-वेणु-भंभा-काहलादिप्रभवः सुषिर उच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ५–२४)।

१ बांसुरी, शंख और काहल आदि से उत्पन्न शब्द को सुषिर कहा जाता है।

सुसाधु—नाण-दंसणसपन्नसंजमभावेसु जो रतो सो सुसाधु। (दशवै. चू. पृ. २६१)।

जो ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न होता हुआ संयमभावों में रत रहता है वह सुसाधु कहलाता है।

सुस्थित—सुस्थित आचार्यः, परोपकारकरणे स्वप्रयोजने च सम्यक् स्थितत्वात्। (अन. ध. स्वो. टी. ७–९८)।

सुस्थित आचार्य उसे कहते हैं, जो परोपकार के करने में और अपने प्रयोजन में भली भांति स्थित रहता है। यह भक्तप्रत्याख्यान को स्वीकार करने वाले क्षपक के अर्हादि ४० लिंगों में से एक है।

सुस्वरनाम—१. यन्निमित्तं मनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं तत्सुस्वरनाम। (स. सि. ८–११; त. श्लो. ८, ११)। २. सौस्वर्यनिर्वर्तकं सुस्वरनाम। (त. भा. ८–१२)। ३. यन्निमित्तं मनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं तत् सुस्वरनाम। मनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं यन्निमित्तमुपजायते प्राणिनस्तत् सुस्वरनाम। (त. वा. ८, ११, २५)। ४. येन स्वरितेनाकर्णितेन च भूयसां प्रीतिरुत्पद्यते तत् सुस्वरनाम। (त. भा. हरि. वृ. ८–१२)। ५. सुस्वरनाम यदुदयात्सौस्वर्यं भवति श्रोतुः प्रीतिहेतुः। (श्रा. प्र. टी. २३)। ६. जस्सोदएण जीवाणं मद्दुरसरो होदि तं कम्मं सुस्सरं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ६५); जस्स कम्मस्सुदएण कण्णसुहो सरो होदि तं सुस्सरणामं। (धव. पु. १३, पृ. ३३६)। ७. येन शब्देनोच्चरितेनाकर्णितेन च भूयसी प्रीतिरुत्पद्यते तत् सुस्वरनाम। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८, १२)। ८. सूसरकम्मुदएणं सूसरसद्दो य होइ इह जीवो। (कर्मवि. ग. १४५)। ९. यस्योदयात्सुस्वरत्वं मनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं भवति तत्सुस्वरनाम। (मूला. वृ. १२–१९६)। १०. यदुदयवशाज्जीवस्य स्वरः श्रोतॄणां प्रीतिहेतुरुपजायते तत्सुस्वरनाम। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७४)। ११. मनोज्ञस्वरनिर्वर्तकं सुस्वरनाम। (भ. आ. मूला. २१२४)। १२. यस्मान्निमित्तात् मनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं भवति तत्सुस्वरनाम। (गो. क. जी. प्र. ३३)। १३. यदुदयेन चित्तानुरंजकस्वर उत्पद्यते तत्सुस्वरनाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८–११)।

१ जिस कर्म के निमित्त से मनोहर स्वर की रचना होती है उसे सुस्वर नामकर्म कहते हैं। ४ जिसके उदय से स्वर के सुनने पर बहुतों को प्रीति उत्पन्न होती है उसका नाम सुस्वर नामकर्म है।

सुहृदनुराग—देखो मित्रानुराग। सुहृदनुरागो बाल्ये सहपांशुक्रीडनादि व्यसने सहायत्वमुत्सवे सम्भ्रम इत्येवमादेश्च मित्रसुकृतस्यानुस्मरणम्, बाल्याद्यवस्थासहक्रीडितमित्रानुस्मरणं वा। (सा. ध. स्वो. टी. ८–४५)।

बाल्यावस्था में मित्रों के साथ जो धूलि आदि में क्रीडा की है, व्यसन में सहायता की है, तथा उत्सव में साथ-साथ घूमना-फिरना हुआ है; इत्यादि मित्रों के द्वारा किये गये कार्यों का स्मरण करना अथवा बाल्यावस्था में साथ-साथ खेलने वाले मित्रों का स्मरण करना, इसे सुहृदनुराग कहा जाता है। यह सल्लेखना का एक अतिचार है।

सूक्ष्म (पुद्गल)—देखो सौक्ष्म्य। १. पञ्चानां वैक्रियादीनां शरीराणां यथाक्रमम्। मनसश्चापि वाचश्च वर्गणाः याः प्रकीर्तिताः॥ तासामन्तरवर्तिन्यो वर्गणा या व्यवस्थिताः। ताः सूक्ष्मा इति विज्ञेया अनन्तानन्तसंहताः॥ (वरांगच. २६–२०, २१)। २. सूक्ष्मत्वेऽपि हि करणानुपलभ्याः कर्मवर्गणादयः सूक्ष्माः। (पंचा. का. अमृत. वृ. ७६)। ३. सूक्ष्मास्ते कर्मणां स्कन्धाः प्रदेशानन्त्ययोगतः। (म. पु. २४–१५०)। ४. ये तु ज्ञानावरणादिकर्म-

वर्गणायोग्यास्ते सूक्ष्मा इन्द्रियज्ञानाविषयाः। (पंचा. का. जय. वृ. ७६)। ५. कर्म सूक्ष्मम्, यद् द्रव्यं देशावधि-परमावधिविषयं तत्सूक्ष्ममित्यर्थः। (गो. जी. जी. प्र. ६०३। ६. कर्म सूक्ष्मम्, यद् द्रव्यं देशावधि-परमावधिविषयं तत् सूक्ष्ममित्यर्थः। (कार्तिके. टी. २०६)। ७. तत्र धर्मादयः सूक्ष्माः सूक्ष्माः कालाणवोऽणवः। (लाटीसं. ४-७)। ८. सूक्ष्मास्ते कार्मणस्कन्धाः प्रदेशानन्तयोगतः॥ (जम्बू. च. ३-४६)।

१ वैक्रियिक आदि पाँच शरीरों, मन और वचन की जो वर्गणायें कही गई हैं वे यथाक्रम से सूक्ष्म हैं तथा इनके मध्यवर्ती जो अनन्तानन्त संहत वर्गणायें हैं उन्हें भी सूक्ष्म जानना चाहिए। २ सूक्ष्म होने पर भी जो कार्मणवर्गणा आदि इन्द्रियगोचर नहीं हैं उन्हें सूक्ष्म माना गया है। ४ कर्म सूक्ष्म है, कारण यह है कि जो द्रव्य देशावधि और परमावधि का विषय है उसे सूक्ष्म कहा जाता है। यह पुद्गल के सूक्ष्म-स्थूल आदि छह भेदों में पांचवां है।

सूक्ष्म-अद्धापल्योपम—तथा स एव पल्यस्तावत्प्रमाणः प्राग्वद्वालाग्राणि प्रत्येकमसंख्येयखण्डानि कृत्वा तैराकीर्णं भृतो निचितश्च तथा क्रियते यथा न वह्न्यादिकं तत्राक्रामति, ततो वर्षशते वर्षशतेऽतिक्रान्ते सत्येकैकवालाग्रापहारेण यावता कालेन स पल्यः सर्वात्मना निर्लेपीभवति तावान् कालविशेषः सूक्ष्ममद्धापल्योपमम्। (बृहत्सं. मलय. वृ. ४)।

एक योजन प्रमाण लम्बे चौड़े पल्य के बालाग्रों में से प्रत्येक के असंख्यात खण्ड करे व उनसे उसे इस प्रकार से ठसाठस भरे कि जिससे अग्नि आदि भी प्रवेश न कर सके। पश्चात् सौ सौ वर्षों के बीतने पर एक एक बालाग्र को उसमें से निकाले, इस प्रकार जितने काल में वह पल्य रिक्त होता है उतने कालविशेष को सूक्ष्म अद्धापल्योपम कहा जाता है।

सूक्ष्म-अद्धासागरोपम—तेषां च सूक्ष्माद्धापल्योपमानां दश कोटीकोट्य एकं सूक्ष्ममद्धासागरोपमम्। (बृहत्सं. मलय. वृ. ४)।

दश कोडाकोडी सूक्ष्म अद्धापल्योपमों का एक सूक्ष्म अद्धासागरोपम होता है।

सूक्ष्म-उद्धारपल्योपम—तथा स एवोत्सेधाङ्गुलप्रमितयोजनप्रमाणायाम-विष्कम्भावगाहः पल्यो मुण्डिते शिरसि यानि संभाव्यमानान्येकाहोरात्रप्ररूढानि वालाग्राणि तेषामेकैकं वालाग्रमसंख्येयानि खण्डानि क्रियन्ते। किंप्रमाणमसंख्येयखण्डमिति चेदुच्यते—इह विशुद्धलोचनश्छद्मस्थः पुरुषो यदतीव सूक्ष्मं द्रव्यं चक्षुषा पश्यति तदसंख्येयभागमात्रमसंख्येयं खण्डम्। इदं द्रव्यतोऽसंख्येयस्य खण्डस्य प्रमाणम्। क्षेत्रतः पुनरिदम्—सूक्ष्मस्य पनकजीवस्य या जघन्यावगाहना तया यत् व्याप्तं क्षेत्रं तदसंख्येयगुणक्षेत्रावगाहिद्रव्यप्रमाणमसंख्येयं खण्डम्। तथा चार्षोऽनुयोगद्वारसूत्रम्—तत्थ णं एगमेगे वालग्गे असंखिज्जाइं खण्डाइ कज्जति, ते णं वालग्गा दिट्ठिओगाहणाओ असखेज्जतिभागमेत्ता सुहुमस्स पणगजीवस्स सरीरोगाहणाओ असंखेज्जगुणा इति। अत्र वृद्धाः पूर्वपुरुषपरम्परायातसंप्रदायवशादेव निर्वचन्ति—बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकशरीरप्रमाणमसंख्येयं खण्डमिति। तथा चानुयोगद्वारटीकाकृदाह हरिभद्रसूरिः—बादरपृथिवीकायिकपर्याप्तशरीरतुल्यान्यसंख्येयानि खण्डानीति वृद्धवादः। एवंप्रमाणासंख्येयखण्डीकृतैर्वालाग्रैः स पल्यः प्राग्वदाकर्णभृतो निचितश्च तथा विधीयते यथा न किमपि तत्र वह्न्यादिकमाक्रमति। ततः समये समये एकैकवालाग्रापहारेण यावता कालेन स पल्यः सर्वात्मना निर्लेपो भवति तावान् कालविशेषः सूक्ष्ममुद्धारपल्योपमम्। (बृहत्सं. मलय. वृ. ४)।

उत्सेधांगुल प्रमित योजन प्रमाण लम्बे, चौड़े व गहरे पल्य को शिर के मूड़ने पर एक दिन-रात में उगे हुए, दो दिन-रातों में उगे हुए, इस प्रकार सात दिन-रात तक के उगे हुए बालाग्रों में से प्रत्येक के असंख्यात खण्ड करे और उनसे इस प्रकार से ठसाठस भरे कि उसमें अग्नि आदि न प्रविष्ट हो सके। पश्चात् उनमें से एक एक समय में एक एक बालाग्र के निकालने पर जितने काल में वह पूर्णतया रिक्त होता है उतने कालविशेष को सूक्ष्म उद्धारपल्योपम कहा जाता है।

सूक्ष्म-उद्धारसागरोपम—एवंरूपाणां च सूक्ष्मोद्धारपल्योपमानां दश कोटीकोटच एकं सूक्ष्ममुद्धारसागरोपमम्। (बृहत्सं. मलय. वृ. ४)।

दश कोडाकोडी सूक्ष्म उद्धारपल्योपमों का एक सूक्ष्म उद्धारसागरोपम होता है।

सूक्ष्म-ऋजुसूत्र- देखो ऋजुसूत्रनय। १. जो एयसमयवट्टी गिण्हइ दव्वे धुवत्तपज्जाओ। सो रिउसुत्तो

सुहुमो सव्वं पि सदं (द्रव्य. 'सद्दं') जहा खणियं ॥ (ल. नयच. ३८; द्रव्यस्व. प्र. नयच. २१०)। २. सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयः यथा एकसमयावस्थायी पर्यायः। (कार्तिके. टी. २७४)।

१ जो द्रव्य में एक समयवर्ती अध्रुव पर्याय—अर्थ-पर्याय—को ग्रहण करता है उसे सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय कहते हैं। जैसे—समस्त सत् क्षणिक है।

सूक्ष्मकाय—ण य जेसिं पडिखलणं पुढवी-तोएहिं अग्गि-वाएहिं। ते जाण सुहुमकाया × × × ॥ (कार्तिके. १२७)।

जिन जीवों का पृथिवी, जल, अग्नि और वायु के द्वारा प्रतिस्खलन (प्रतिघात) नहीं होता है उन्हें सूक्ष्मकाय जानना चाहिए।

सूक्ष्मक्रियानिवर्तक—१. सुहुमकिरियं सजोगी झायदि झाणं तदियसुक्कं तु। (मूला. ५-२०८)। २. अवितक्कमवीचारं सुहुमकिरियबंधण तदियसुक्कं। सुहुमम्मि कायजोगे भणिदं तं सव्वभावगदं ॥ (भ. आ. १८८६)। ३. स यदाऽन्तर्मुहूर्तशेषायुष्कस्तत्तुल्यस्थितिवेद्य-नाम-गोत्रश्च भवति, तदा सर्वं वाङ्मनसयोगं बादरकाययोगं च परिहाप्य सूक्ष्मकाययोगालम्बनः सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानमास्कन्दितुमर्हतीति। यदा पुनरन्तर्मुहूर्तशेषायुष्कस्ततोऽधिकस्थितिशेषकर्मत्रयो भवति सयोगी तदाऽऽत्मोपयोगातिशयस्य सामायिकसहायस्य विशिष्टकरणस्य महासंवरस्य लघुकर्मपरिपाचनस्याशेषकर्मरेणुपरिशातनशक्तिस्वाभाव्याद्दण्ड - कपाट-प्रतर - लोकपूरणानि स्वात्मप्रदेशविसर्पणतश्चतुर्भिः समयैः कृत्वा पुनरपि तावद्भिरेव समयैः समुपहृतप्रदेशविसरणः समीकृतस्थितिशेषकर्मचतुष्टयः पूर्वशरीरप्रमाणो भूत्वा सूक्ष्मकाययोगेन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानं ध्यायति। (स. सि. ९-४४; त. वा. ९-४४)। ४. समस्तं वाङ्मनोयोगं काययोगं च बादरम्। प्रहाप्यालम्ब्य सूक्ष्मं तु काययोगं स्वभावतः ॥ तृतीयं शुक्लसामान्यात् प्रथमं तु विशेषतः। सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानमास्कन्तुमर्हति ॥ (ह. पु. ५६, ७०-७१)। ५. पुनरन्तर्मुहूर्तेन निरुन्धन् योगमास्रवम्। कृत्वा वाङ्मनसे सूक्ष्मे काययोगव्यपाश्रयात् ॥ सूक्ष्मीकृत्य पुनः काययोगं च तदुपाश्रयम्। ध्यायेत् सूक्ष्मक्रियाध्यानं प्रतिपातपराङ्मुखम् ॥ (म. पु. २१-९४, ९५)। ६. ततो निर्दग्धनिःशेषघातिकर्मेन्धनः प्रभुः। केवली सदृशाघातिकर्मस्थितिरशेषतः ॥ संत्यज्य वाङ्मनोयोगं काययोगं च बादरम्। सूक्ष्मं तु तं समाश्रित्य मन्दस्पन्दोदयस्त्वरम् ॥ ध्यानं सूक्ष्मक्रियं नष्टप्रतिपातं तृतीयकम्। ध्यायेद् योगी यथायोगं कृत्वा करणसन्ततिम् ॥ (त. श्लो. ९, ४४, १० से १२)। ७ अवितर्कमवीचारं सूक्ष्मकायावलम्बनम्। सूक्ष्मक्रियं भवेद् ध्यानं सर्वभावगतं हि तत् ॥ (त. सा. ७-५१)। ८. सुहुमो खाइयभावो अवियप्पो णिच्चलो जिणिंदस्स। अत्थि तया तं झाणं सुहुमकिरिया अपडिवाई ॥ (भावसं. दे. ६६८)। ९. केवलणाणसहावो सुहुमे जोगम्मि संठिओ काए। जं झायदि सजोगिजिणो तं तिदियं सुहुमकिरियं च ॥ (कार्तिके. ४८६)। १० सूक्ष्मक्रियामवितर्कमवीचारं श्रुतावष्टम्भरहितमर्थ-व्यञ्जन-योसंक्रान्तिवियुक्तं सूक्ष्मकायक्रियाव्यवस्थितं तृतीयं शुक्लं सयोगी ध्यायति ध्यानम्। (मूला. वृ. ५-२०८)। ११. सूक्ष्मा कुण्ठिगता क्रियेति तनुगो योगोऽत्र सूक्ष्मक्रियं ध्यानं ह्यप्रतिपात्यनश्वरमिदं नामास्य तत्सार्थकम्। तत्रात्युद्धतराधघातनसमुद्घातक्रियाऽनन्तरं योगिन्यर्हति जीविते समुदभूदन्तर्मुहूर्ते स्थिते ॥ (आचा. सा. १०-५२)। १२. आत्मस्पन्दात्मयोगानां क्रिया सूक्ष्माऽनिवर्तिका। यस्मिन् प्रजायते साक्षात्सूक्ष्मक्रियानिवर्तकम् ॥ (भावसं. वाम. ७४६)।

२ वितर्क और वीचार से रहित होकर सूक्ष्म क्रिया से सम्बन्ध रखने वाला तीसरा शुक्लध्यान सूक्ष्म काययोग में अवस्थित सयोग केवली के होता है। ३ केवली की आयु जब अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रह जाती है तब वेदनीय, नाम और गोत्र इन कर्मों की स्थिति यदि आयु के बराबर होती है तब वे समस्त वचनयोग और मनोयोग का पूर्णतया निरोध करके और बादर काययोग को कृश करते हुए जब सूक्ष्म काययोग का आलम्बन लेते हैं तब वे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नाम के तीसरे शुक्लध्यान पर आरूढ होने के योग्य होते हैं। किन्तु जब आयु की स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रहती है और वेदनीय आदि उक्त तीन कर्मों की स्थिति आयु से अधिक शेष रहती है तो वे आत्मोपयोग के अतिशय से युक्त होकर विशिष्ट परिणाम के वश स्वभावतः शीघ्र ही कर्म के परिपाचन में समर्थ होते

हुए क्रम से चार समयों में दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूर्ण समुद्घातों को करके फिर उतने ही—चार समयों में ही—फैले हुए आत्मप्रदेशों को क्रम से संकुचित करते हैं। इस प्रकार से उक्त चारों अघातिया कर्मों की जब स्थिति समान हो जाती है तब वे पूर्व शरीर के प्रमाण होकर सूक्ष्म काययोग के द्वारा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपात नामक तृतीय शुक्लध्यान को ध्याते हैं।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती—देखो सूक्ष्मक्रियानिवर्तक।

सूक्ष्मक्रियाबन्धन- देखो सूक्ष्मक्रियानिवर्तक।

सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम—तथा स एव पल्यः उत्सेधाङ्गुलप्रमितयोजनप्रमाणायाम-विष्कम्भावगाहः पूर्ववदेकैकं वालाग्रमसंख्येयखण्डं कृत्वा तैराकीर्णं भृतो निचितश्च तथा क्रियते यथा मनागपि वह्न्यादिकं न तत्राक्रमति। एवं भृते च तस्मिन् पल्ये ये आकाशप्रदेशास्तैर्वालाग्रैर्व्याप्ता ये च न व्याप्तास्ते सर्वेऽप्येकैकस्मिन् समये एकैकाशप्रदेशापहारेण समुद्ध्रियमाणा यावता कालेन सर्वात्मना निष्ठामुपयान्ति तावान् कालविशेषः सूक्ष्मं क्षेत्रपल्योपमम्। (बृहत्सं. मलय. वृ. ४)।

उत्सेधांगुल प्रमित एक योजन प्रमाण लम्बे-चौड़े उस व्यवहार पल्य के एक एक बालाग्र के असंख्यात खण्ड करके उनसे उसे ठसाठस इस प्रकार से भरे कि उसका अग्नि आदि अतिक्रमण न कर सकें। इस प्रकार से भरने पर उसमें से एक एक समय में एक एक बालाग्र के निकालने पर जितने समय में वह पल्य रिक्त होता है उतने कालविशेष को सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम कहते हैं।

सूक्ष्म क्षेत्रसागरोपम—एवंभूतानां च सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमानां दश कोटीकोट्य एकं सूक्ष्मक्षेत्रसागरोपमम्। (बृहत्सं. मलय. वृ. ४)।

दस कोड़ाकोड़ि क्षेत्रपल्योपमों का एक सूक्ष्म क्षेत्रसागरोपम होता है।

सूक्ष्म जीव—सूक्ष्मकर्मोदयवन्तः सूक्ष्माः। (धव. पु. १, पृ. २५०); सूक्ष्मनामकर्मोदयोपजनितविशेषाः सूक्ष्माः। (धव. पु. १, पृ. २६७); अण्णेहि पोग्गलेहि अपडिहम्ममाणसरीरो जीवो सुहुमो। (धव. पु. ३, पृ. ३३१)।

सूक्ष्म नामकर्म के उदय से युक्त जीवों को सूक्ष्म जीव कहा जाता है। जिन जीवों का शरीर दूसरे पुद्गलों के द्वारा रोका नहीं जा सकता है वे सूक्ष्म जीव कहलाते हैं।

सूक्ष्मत्व—अतीन्द्रियज्ञानविषयं सूक्ष्मत्वम्। (परमा. वृ. १–६१)।

इन्द्रियजन्य ज्ञान का विषय न होना, इसका नाम सूक्ष्मत्व है। यह सिद्धों के आठ गुणों में से एक है जो नामकर्म के क्षय से प्रादुर्भूत होता है।

सूक्ष्मदोष—१. महादुश्चरप्रायश्चित्तभयान्महादोषसंवरणं कृत्वा तनुप्रमादाचारनिवेदनं पञ्चमः। (त. वा. ६, २४, २)। २. महादुश्चरप्रायश्चित्तभयाद्वाऽहो (?) सूक्ष्मदोषपरिहारकोऽयमिति स्वगुणाख्यापनचिकीर्षया वा महादोषसंवरणं कृत्वा तनुप्रमादाचारनिवेदनं पंचमः सूक्ष्मदोषः। (चा. सा. पृ. ६१)। ३. सूक्ष्मं च सार्द्रहस्तपरामर्शादिकं सूक्ष्मदोषं प्रतिपादयति महाव्रतादिभंगं स्थूलं तु नाचष्टे यस्तस्य पञ्चमं सूक्ष्मं नामालोचनादोषजातं भवेत्। (मूला. वृ. ११–१५)। ४. सूक्ष्मागःकीर्तनं सूक्ष्मदोषस्यापि विशोधकः। इति ख्यात्यादिहेतोः स्यात् सूक्ष्मं स्थूलोपगूहनम्॥ (आचा. सा. ६–३२)। ५. सूक्ष्मं वा दोषजातमालोचयति, न बादरम्, यः किल सूक्ष्ममालोचयति स कथं बादरं नालोचयिष्यतीत्येवरूपभावसम्पादनार्थमाचार्यस्येत्येष पञ्चमः (सूक्ष्मः) आलोचनादोषः। (व्यव. भा. मलय. वृ. ३४२, पृ. १६)। ६. ××× सूक्ष्मं सूक्ष्मस्य केवलम्॥ (अन. ध. ७–४१); सूक्ष्माख्य आलोचनादोषः स्यात् ××× गुरोरग्रे ×××सूक्ष्मस्यैव दूषणस्य प्रकाशनम्, स्थूलस्य प्रच्छादनमित्यर्थः। (अन. ध. स्वो. टी. ७–४१)। ७. सूक्ष्मं अल्पं पापं प्रकाशयति, स्थूलं पापं न प्रकाशयतीति सूक्ष्मदोषः। (भावप्रा. टी. ११८)।

१ कठोर प्रायश्चित्त के भय से भारी दोष को छिपाकर क्षुद्र प्रमादाचरण के निवेदन करने पर आलोचना का पांचवां (सूक्ष्म) दोष होता है। ५ सूक्ष्म दोषों की आलोचना करता है, पर 'जो सूक्ष्म दोष की आलोचना करता है, वह भला स्थूल दोष की आलोचना कैसे नहीं करेगा—अवश्य करेगा' आचार्य के प्रति इस प्रकार के अभिप्राय के सम्पादन करने के लिए स्थूल दोष की जो आलोचना नहीं

करता है वह सूक्ष्म नामक आलोचनादोष का भागी होता है।

सूक्ष्मनाम—१. सूक्ष्मशरीरनिर्वर्तकं सूक्ष्मनाम। (स. सि. ८–११; त. भा. ८–१२; त. श्लो. ८–११; गो. क. जी. प्र. ३३)। २ सूक्ष्मशरीरनिर्वर्तकं सूक्ष्मनाम। यदुदयादन्यजीवानुपग्रहोपघातायोग्यसूक्ष्मशरीरनिर्वृत्तिर्भवति तत्सूक्ष्मनाम। (त. वा. ८, ११, २९)। ३. सूक्ष्मं श्लक्ष्णं अदृश्य नियतमेव यस्य कर्मण उदयाद्भवति शरीरं पृथिव्यादीनां केषांचिदेव तत् सूक्ष्मशरीरनाम। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८–१२)। ४. सूक्ष्मनाम यदुदयात्सूक्ष्मो भवति अत्यन्तश्लक्ष्णः, अतीन्द्रिय इत्यर्थः। (श्रा. प्र टी. २२)। ५. सौक्ष्म्यनिर्वर्तकं कर्म सूक्ष्मम्। (धव. पु. १, पृ. २५०); जस्स कम्मस्स उदएण जीवो सुहुमत्तं पडिवज्जदि तस्स कम्मस्स सुहुममिदि सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ६२)। ६. यस्य कर्मण उदयेन सूक्ष्मेपूत्पद्यते जीवस्तत्सूक्ष्मशरीरनिर्वर्तकम् (सूक्ष्मनाम)। (मूला. वृ. १२–१९५)। ७. सूक्ष्मनाम यदुदयाद् बहूनामपि समुदितानां जन्तुशरीराणां चक्षुर्ग्राह्यता न भवति। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७४)। ८. सूक्ष्मसंज्ञं परानुपघातकसूक्ष्मशरीरनिर्वर्तकं नामकर्म। (भ. आ. मूला. २०९५)। ९. यदुदयेन सूक्ष्मशरीरं भवति तत्सूक्ष्मनाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८–११)।

१ सूक्ष्म शरीर की रचना करने वाले कर्म को सूक्ष्मनामकर्म कहा जाता है। ३ जिस कर्म के उदय से किन्हीं पृथ्वी आदि जीवों का श्लक्ष्ण या अदृश्य नियत ही शरीर होता है उसे सूक्ष्म नामकर्म कहते हैं। ७ जिसके उदय से समुदित हुए बहुत भी जीवशरीर चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने के योग्य नहीं होते उसका नाम सूक्ष्म नामकर्म है।

सूक्ष्मपुलाक—किञ्चित्प्रमादात् सूक्ष्मपुलाकः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–४६)।

कुछ थोड़े से प्रमाद से युक्त मुनि सूक्ष्मपुलाक होता है। यह पांच पुलाकभेदों में अन्तिम है।

सूक्ष्मप्राभृतदोष — पुव्वपर-मज्झवेलं परियत्तं दुविह सुहुमं च। (मूला. ६–१४)।

पूर्वाह्न, अपराह्न और मध्यम वेला में परिवर्तन कर देने पर सूक्ष्म प्राभृतदोष होता है। अभिप्राय यह है कि यदि पूर्वाह्न में देने का स्थिर किया है तो उसमें परिवर्तन करके मध्याह्न में या अपराह्न में देने पर उक्त दोष होता है। वह हीनाधिकता के अनुसार दो प्रकार का है।

सूक्ष्मबकुश—किञ्चित्प्रमादी सूक्ष्मबकुशः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–४९)।

किञ्चित् प्रमाद वाला मुनि सूक्ष्मबकुश होता है।

सूक्ष्मबादर—देखो सूक्ष्मस्थूल।

सूक्ष्म बुद्धि—सूक्ष्मा अत्यन्तदुःखाववोधसूक्ष्म-व्यवहितार्थपरिच्छेदसमर्था। (आव. नि. हरि. वृ. ९३७)।

जो बुद्धि अतिशय दुरवबोध सूक्ष्म और व्यवहित पदार्थों के जानने में समर्थ होती है उसे सूक्ष्मबुद्धि कहते हैं।

सूक्ष्म लोभ — पूर्वापूर्वाणि विद्यन्ते स्पर्धकानि विशेषतः। संज्वलस्यानुभागस्य यानि तेभ्यो व्यपेत्य यः॥ अनन्तगुणहीनानुभागो लोभे व्यवस्थितः। अणीयसि यथार्थाख्यः सूक्ष्मलोभः स संमतः॥ (पंचसं. अमित. १, ४१–४२)।

संज्वलन सम्बन्धी अनुभाग के जो पूर्व और अपूर्व स्पर्धक हैं उनसे हट करके जो अनन्तगुणा हीन अनुभाग अतिशय अल्प लोभ में अवस्थित है उसे सूक्ष्म लोभ माना गया है।

सूक्ष्मसम्पराय – देखो सूक्ष्मसाम्पराय।

सूक्ष्मसाम्पराय—१. अतिसूक्ष्मकपायत्वात् सूक्ष्मसाम्परायचारित्रम्। (स. सि. ९–१८)। २. लोभाणू वेयंतो जो खलु उवसामओ व खवओ वा। सो सुहुमसंपराओ अहखाया ऊणओ किंचि॥ (भगवती २५, ७, ६, पृ. २६२; आव. नि. ११७)। ३. अणुलोह वेयंतो जीओ उवसामगो व खवगो वा। सो सुहुमसंपराओ जहखादेणूणओ किंचि॥ (प्रा. पंचसं. १–१३२; गो. जी ६०)। ४. सुहमहँ लोहहँ जो विलउ जो सुहमु वि परिणामु। सो सुहुमु वि चारित्त मुणि सो सासयसुहधामु॥ (योगसार १०३)। ५. अतिसूक्ष्मकपायत्वात् सूक्ष्मसाम्परायम्। (त. वा. ९, १८, ९); सूक्ष्म-स्थूलसत्त्ववधपरिहाराप्रमत्तत्वात् (चा. सा. 'हारप्रवृत्तत्वात्') अनुपहतोत्साहस्य अखण्डितक्रियाविशेषस्य सम्यग्दर्शन-ज्ञानमहामारुतसंधुक्षितप्रशस्ताध्यवसायाग्निशिखोपश्लुष्टकर्मेन्धनस्य ध्यानविशेषविशिखीकृतकपाय-विषांकुरस्य अपचयाभिमुखालीनस्तोक-

(चा. सा. 'भिमुखस्तोक') मोहबीजस्य तत एव परिप्राप्तान्वर्थसूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयतस्य सूक्ष्मसांपरायचारित्रमाख्यायते । (त. वा. ६, १८, ६)। ६. सवर्येति संसारमेभिरिति सपराय: क्रोधादय:, लोभांशावशेषतया सूक्ष्म: संपरायो यत्रेति सूक्ष्मसपराय: । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १०४)। ७ सूक्ष्मत्वेन कपायाणां शमनात् क्षपणात्तथा । स्यात् सूक्ष्मसाम्परायो हि सुक्ष्मलोभोदयानुग: ॥ (त. सा. २, २७); कपायेपु प्रशान्तेपु प्रक्षीणेष्वखिलेपु वा । स्यात् सूक्ष्मसाम्परायाख्यं सूक्ष्मलोभवतो यते: ॥ (त. सा. ६-४८)। ८. जह कोसुंभयवत्थं होइ सया सुहुमरायसंजुत्तं । एवं सुहुमकसाओ सुहुमसराओ त्ति णिद्दिट्ठो ॥ (भावसं. दे ६५४)। ९ लोभसंज्वलन: सूक्ष्म: शमं यत्र प्रपद्यते । क्षयं वा संयत: सूक्ष्म: संपराय: स कथ्यते ॥ (पंचसं अमित. १-४३); वर्तते सूक्ष्मलोभे य: शमके क्षपके गुणे । स सूक्ष्मसाम्परायाख्य: संयम: सूक्ष्मलोभत: ॥ (पंचसं. अमित. १-२४२)। १०. सूक्ष्मपरमात्मतत्त्वभावनाबलेन सूक्ष्मकिलष्ट [कृष्टि] गतलोभकपायस्योपशामका: क्षपकाश्च दशमगुणस्थानवर्तिन: । (बृ. द्रव्यसं. टी. १३); सूक्ष्मातीन्द्रियनिजशुद्धात्मसंवित्तिबलेन सूक्ष्मलोभाभिधानसाम्परायस्य कपायस्य यत्र निरवशेपोपशमनं क्षपणं वा तत्सूक्ष्मसांपरायचारित्रम् । (बृ. द्रव्यसं. टी. ३५)। ११. सूक्ष्मोऽल्प: सांपराय: कषायोऽस्मिन्निति संयम: । स्यात् सूक्ष्मसांपरायसामायिकद्वितयात्मक: ॥ (आचा. सा. ५-१४६)। १२. लोभाभिध: सम्पराय: सूक्ष्म: किट्टीकृतो यत: । स सूक्ष्मसम्पराय: स्यात् क्षपक: शमकोऽपि च ॥ (योगशा. स्वो. विव. १-१६, पृ. ११२)। १३. सूक्ष्मसम्परायं चतुर्थं चारित्रम्, तत्र सम्पर्येति संसारमनेनेति सम्पराय: कपायोदय:, सक्ष्मो लोभांशावशेष: सम्परायो यत्र तत् सूक्ष्मसम्परायम् । (आव. नि. मलय. वृ. ११४, पृ. १२२)। १४. रागेण यथाख्यातचारित्रप्रतिबन्धिना कपायरंजनेन सह वर्तते य: स सराग: विशुद्धिपरिणाम:, सूक्ष्म: सूक्ष्मकृष्ट्यनुभागोदयसहचरित: सरागो यस्य असौ सूक्ष्मसराग: सूक्ष्मसाम्पराय: । (गो. जी. मं. प्र. ५८); यथाख्यातचारित्रात्किंचिदून: अलक्ष्यसूक्ष्मरागकलंकितत्वेन सूक्ष्मसांपराय: । (गो. जी. मं. प्र. ६०)। १५. सूक्ष्म: कृष्टिगत: सांपरायो लोभकपायो यस्यासौ सूक्ष्मसांपराय: । (गो. जी. जी. प्र ६०)। १६ अतीव सूक्ष्मलोभो यस्मिन् चारित्रे तत्सूक्ष्मसांपरायचारित्रम् । (त. वृत्ति श्रुत. ९-१८)।

१ जिस चारित्र में अतिशय सूक्ष्म कषाय का अस्तित्व रहता है उसे सूक्ष्मसाम्परायचारित्र कहते हैं। २, ३ लोभ की सूक्ष्मता के वेदन करने वाले उपशामक अथवा क्षपक को सूक्ष्मसांपराय या सूक्ष्मसाम्परायसंयत कहा जाता है। वह यथाख्यातसंयम से कुछ ही हीन होता है।

सूक्ष्मसाम्परायकृष्टि—बादरसांपराइयकिट्टीहिंतो अणंतगुणहाणीए परिणमियलोभसंजलणाणुभागस्सावट्ठाणं सुहुमसांपराइयकिट्टीणं लक्खणमवहारेयव्वं । (जयध.—कषायपा. पृ ८६२ टि.)।

संज्वलनलोभकषाय के अनुभाग को बादरसाम्परायिक कृष्टियों से अनन्तगुणित हानि के रूप से परिणमित कर अत्यन्त सूक्ष्म या मन्द अनुभाग के रूप से अवस्थित करने को सूक्ष्मसाम्परायकृष्टि कहते हैं।

सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान—देखो सूक्ष्मसाम्पराय।

सूक्ष्मसाम्परायचारित्र—देखो सूक्ष्मसाम्पराय।

सूक्ष्मसांपरायसंयत—देखो सूक्ष्मसाम्पराय।

सूक्ष्मसूक्ष्म—१. असंयुक्तास्त्वसंबद्धा एकैका: परमाणव: । तेषां नाम समुद्दिष्टं सूक्ष्मसूक्ष्मं तु तद्बुधै: ॥ (वरांगच. २६-२२)। २. सूक्ष्मसूक्ष्मोऽणुरेक: स्याददृश्योऽस्पृश्य (जम्बू. 'श्यो दृश्य') एव च । (म. पु. २४-१५०; जम्बू. च. ३-४६)। ३. अत्यन्तसूक्ष्मा: कर्मवर्गणाभ्योऽधो द्व्यणुकस्कन्धपर्यन्ता: सूक्ष्मसूक्ष्मा इति । (पंचा. का. अमृत. वृ. ७६)। ४. ये चात्यन्तसूक्ष्मत्वेन कर्मवर्गणातीतास्ते सूक्ष्मसूक्ष्मा: । (पंचा. का. जय. वृ. ७६)। ५. परमाणु: सूक्ष्मसूक्ष्मम्, यत् सर्वावधिविषय तत् सूक्ष्मसूक्ष्मम् । (गो. जी. जी प्र. ६०३; कार्तिके. टी. २०६)।

१ जो परमाणु संयोग व सम्बन्ध से रहित एक-एक हैं उन्हें सूक्ष्मसूक्ष्म कहा जाता है। ३ कर्मवर्गणा स्कन्धों के नीचे द्व्यणुक पर्यन्त जो अतिशय सूक्ष्म स्कन्ध हैं उन्हें सूक्ष्मसूक्ष्म कहते हैं। ५ परमाणु सूक्ष्मसूक्ष्म है, जो सर्वावधि का विषय है उसे सूक्ष्म कहते हैं।

सूक्ष्मस्थूल—१. शब्द-स्पर्श-रसा गन्धः शीतोष्णे वायुरेव च। अचक्षुर्ग्राह्यभावेन सूक्ष्मस्थूलं तु तादृशम् ॥ (वरांगच. २६–१६)। २ शब्दः स्पर्शो रसो गन्धः सूक्ष्मस्थूलो निगद्यते। अचाक्षुषत्वे सत्येषामिन्द्रियग्राह्यतेक्षणात् ॥ (म. पु. २४–१५२; जम्बू. च. ३–५०)। ३. सूक्ष्मत्वेऽपि स्थूलोपलम्भः स्पर्श-रस-गन्ध-शब्दाः सूक्ष्मबादराः। (पंचा. अमृत. वृ. ७६)। ४. ये पुनर्लोचनविषया न भवन्ति ते सूक्ष्मस्थूलाश्चतुरिन्द्रियविषयाः। (पंचा. का जय. वृ. ७६)। ५. यः चक्षुर्वजितचतुरिन्द्रियविषयो बाह्यार्थः तत्सूक्ष्मस्थूलम्। (गो. जी. जी. प्र. ६०३; कार्तिके. टी. २०६)।

१ शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध, शीत, उष्ण और वायु इन्हें चक्षु के द्वारा ग्रहण करने के योग्य न होने से सूक्ष्मस्थूल कहा जाता है। ५ जो बाह्य पदार्थ चक्षु इन्द्रिय के बिना शेष चार इन्द्रियों से ग्रहण किया जाता है उसे सूक्ष्मस्थूल कहते हैं।

सूक्ष्मार्थ—१. सूक्ष्माः स्वभावविप्रकृष्टाः। (आ. मी. वसु. वृ. ५)। २. सूक्ष्माः स्वभावविप्रकृष्टाः परमाण्वादयः। (न्यायदी पृ. ४१)।

२ जो पदार्थ स्वभावतः दूरवर्ती (अदृश्य) हैं—जैसे परमाणु आदि, उन्हें स्वभावविप्रकृष्ट कहा जाता है।

सूच्यंगुल—१. अद्धारपल्लच्छेदो × × ×। पल्ल × × × वग्गिदसंवग्गिदयम्मि सूइ × × × ॥ (ति. प. १–१३१)। २. अद्धापल्यस्यार्धच्छेदेन शलाका विरलीकृत्य प्रत्येकमद्धापल्यप्रदानं कृत्वा अन्योन्यगुणिते कृते यावन्तश्छेदास्तावद्भिराकाशप्रदेशैर्मुक्तावलीकृताः सूच्यंगुलमित्युच्यते। (त. वा. ३ ३८, ७)। ३. परमाणुआदिएहि य आगंतूणं तु जो समुप्पण्णो। सो सूचिअंगुलो त्ति य णामेण य होइ णिद्दिट्ठो ॥ (जं. दी. प. १३–२६)। ४. अद्धापल्योपममर्द्धेनार्द्धेन तावत्कर्तव्यं यावदेकरोम, तत्र यावन्त्यर्द्धच्छेदनानि अद्धापल्योपमस्य तावन्मात्राण्यद्धापल्योपमानि परस्पराभ्यस्तानि कृत्वा यत्प्रमाणं भवति तावन्मात्रा आकाशप्रदेशा ऊर्ध्वमावल्याकारेण रचितास्तेषां यत्प्रमाणं (तत्) सूच्यंगुलम्। (मूला. वृ. १२–८५)।

१ अद्धार या अद्धापल्य के जितने अर्द्धच्छेद हों उतने स्थान में पल्य को रखकर परस्पर गुणित करने पर उत्पन्न राशि के प्रमाण सूच्यंगुल होता है।

सूत्र—१. सुत्तं गणधरकथिदं तहेव पत्तेयबुद्धिकथिदं च। सुदकेवलिणा कथिदं अभिण्णदसपुव्वकथिदं च ॥ (मूला. ५–८०)। २. अप्पग्गंथमहत्थं बत्तीसादोसविरहियं जं च। लक्खणजुत्तं सुत्तं अट्ठेहि च गुणेहि उववेयं ॥ (आव. नि. ८८०); अप्पक्खरमसंदिद्धं च सारवं विस्सओ मुहं। अत्थोत्रमणवज्जं च सुत्तं सव्वण्णुभासियं ॥ (आव. नि. ८८६)। ३. सूत्रं हि नाम यल्लघु गमकं च। (त. वा. ७, १४, ५)। ४. अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् गूढनिर्णयम्। निर्दोषं हेतुमत् तथ्यं सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥ (धव. पु. १, पृ. २५६ उद्.; जयध. १, पृ. १५४ उद्.); सुत्तं बारहंगसद्दागमो। (धव. पु. १४, पृ. ८)। ५. अर्थस्य सूचनात्सम्यक् सूतेर्वार्थस्य सूरिणा। सूत्रमुक्तमनल्पार्थं सूत्रकारेण तत्वतः ॥ (जयध. १, पृ. १७१ उद्.)।

१ जो गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्नदशपूर्वी, इनके द्वारा कहा गया है उसे सूत्र कहते हैं। २ जो ग्रन्थप्रमाण से अल्प अर्थ की अपेक्षा महान्, बत्तीस दोषों से रहित तथा लक्षण और आठ गुणों से सम्पन्न होता हुआ सारवान् विश्वतो मुख—अनुयोगों से सहित, व्याकरणविहित निपातों से रहित, अनिन्द्य और सर्वज्ञ कथित है, उसे सूत्र जानना चाहिए।

सूत्र (दृष्टिवाद का एक भेद)—१. सुत्तं अट्ठासीदिलक्खपदेहि ८८०००००० अबंधओ अलेवओ अकत्ता अभोत्ता णिग्गुणो सव्वगओ अणुमेत्तो णत्थि जीवो जीवो चेव अत्थि पुढवियादीणं समुदएण जीवो उप्पज्जइ णिच्चेयणो णाणेण विणा सचेयणो णिच्चो अणिच्चो अप्पेति वण्णेदि। तेरासियं णियदिवादं विण्णाणवादं सद्दवादं पहाणवादं दव्ववादं पुरिसवादं च वण्णेदि। (धव पु. १, पृ. ११०, १११); सूत्रे अष्टाशीतिशतसहस्रपदैः ८८०००००० पूर्वोक्तसर्वदृष्टयो निरूप्यन्ते, अबन्धकः अलेपकः अभोक्ता अकर्ता निर्गुणः सर्वगतः अद्वैतः नास्ति जीवः समुदयजनितः सर्वं नास्ति बाह्यार्थो नास्ति सर्वं निरात्मकं सर्वं क्षणिकं अक्षणिकमद्वैतमित्यादयो दर्शनभेदाश्च निरूप्यन्ते। (धव. पु. ६, पृ. २०७)। २. जं सुत्तं णाम तं जीवो अबंधओ अलेवओ अकत्ता णिग्गुणो अभोत्ता सव्वगओ अणुमेत्तो णिच्चेयणो

सपयासप्रो परप्पयासप्रो णत्थि जीवो त्ति य णत्थि-यत्तादं किरियावादं अकिरियावादं अण्णाणवादं णाणवादं वेणइयवादं अणेयपयारं गणिदं च वण्णेदि। (जयध. १, पृ. १३३-१३४)। ३. अष्टाशीतिलक्षपदपरिमाणं जीवस्य कर्मकर्तृत्व-तत्फलभोक्तृत्वासर्वगतत्वादिधर्मविधायकं पृथिव्यादिप्रभवत्वाणुमात्रत्व-सर्वगतत्वादिधर्मनिषेधकं च सूत्रम् ८८०००००। (सं. श्रुतभ. टी. ६)। ४. जीवस्य कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिस्थापकं भूतचतुष्टयादिभवनस्योद्घापकमष्टाशीतिलक्षपदप्रमाणं सूत्रम्। (त. वृत्ति श्रुत. १-२०)।

२ जो अबन्धक, अलेपक, अकर्ता, निर्गुण, अभोक्ता, सर्वगत, अणुप्रमाण, अचेतन, स्वप्रकाशक और परप्रकाशक इत्यादि जीवविषयक मतभेदों के साथ नास्तिप्रवाद, क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद, ज्ञानवाद, वैनयिकवाद और अनेक प्रकार के गणित की भी प्ररूपणा करता है उसे सूत्र कहा जाता है।

सूत्रकल्पिक—सुत्तस्स कप्पितो खलु आवस्सगमादि जाव आयारो। (बृहत्क. भा. ४०६)।

आवश्यक से लेकर आचार तक सूत्र का कल्पिक होता है—इसे पढ़ने के लिए किसी को रोका नहीं जाता है।

सूत्रकृताङ्ग—१. सूयगडे णं ससमया सूइज्जंति, परसमया सूइज्जंति ससमय-परसमया सूइज्जंति जीवा सूइज्जंति अजीवा सूइज्जंति जीवाजीवा सूइज्जंति लोगो सूइज्जंति अलोगो सूइज्जंति लोगालोगो सूइज्जंति, सूयगडे णं जीवाजीव-पुण्ण-पावासव-संवर-निज्जरण-बंध-मोक्खावसाणा पयत्था सूइज्जंति, समणाणं अचिरकालपव्वइयाणं कुसमयमोहमोहमइयोहियाणं संदेहजायसहजबुद्धिपरिणामसंमइयाणं पावकरमलिनमइगुणविसोहणट्ठं असीअस्स किरियावाइयसयस्स··· से त्तं सूयगडे। (समवा. १३७)। २. सूअगडे णं लोए सूइज्जइ अलोए सूइज्जइ लोआलोए सूइज्जइ जीवा सूइज्जन्ति अजीवा सूइज्जन्ति जीवाजीवा सूइज्जंति ससमए सूइज्जइ परसमए सूइज्जइ ससमय-परसमए सूइज्जइ सूअगडे णं असीअस्स किरियावाइसयस्स चउरासीइए अकिरिआवाईणं सत्तट्ठीए अण्णाणिअवाईणं बत्तीसाए वेणइअवाईणं तिण्हं तेसट्ठाणं पासंडिअसयाणं वूहं किच्चा ससमए ठाविज्जइ, सूअगडे णं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखेज्जा वेढा संखेज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ, से णं अंगट्ठयाए बिइए अंगे दो सुअक्खंधा तेवीसं अज्झयणा तित्तीसं उद्देसणकाला तित्तीसं समुद्देसणकाला छत्तीस पयसहस्साणि पयग्गेणं संखिज्जा अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति, से एवं आया से एवं नाया से एवं विण्णाया एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ से त्तं सूअगडे। (नन्दी. सू. ४६, पृ. २१२-१३)। ३. सूत्रकृते ज्ञानविनयप्रज्ञापना कल्प्याकल्प्यच्छेदोपस्थापना व्यवहारधर्मक्रियाः प्ररूप्यन्ते। (त. वा. १, २०, १२)। ४. सूत्रीकृताः अज्ञानिकादयो यत्र वादिनस्तत् सूत्रकृतम्। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. १-२०)। ५. सूदयदं णाम अंगं छत्तीसपयसहस्सेहि ३६००० णाणविणय-पण्णावणा-कप्पाकप्प-च्छेदोवट्ठावण-ववहारधम्मकिरियाओ परूवेइ, ससमय-परसमयसरूवं च परूवेइ। (धव. पु. १, पृ. ९९); सूत्रकृते षट्त्रिंशत्पदसहस्रे ३६००० ज्ञान-विनय-प्रज्ञापना-कल्प्याकल्प्य-छेदोपस्थापना-व्यवहार-धर्मक्रियाः दिगन्तरशुद्धया प्ररूप्यन्ते। (धव. पु. ९, पृ. १९७-१९८)। ६. सूदयदं णाम अंगं ससमयं परसमयं थीपरिणामं क्लैव्यास्फुटत्वमदनावेशविभ्रमाऽऽस्फालनसुखपुंस्कामितादिस्त्रीलक्षणं च प्ररूपयति। (जयध. पु. १, पृ. १२२)। ७. षट्त्रिंशत्पदसहस्रपरिमाणं ज्ञानविनयादिक्रियाविशेषप्ररूपकं सूत्रकृतम्। (सं. श्रुतभ. टी. ७, पृ. १७२)। ८. सूत्रयति संक्षेपेणार्थं सूचयतीति सूत्रं परमागमः, तदर्थकृतं करणं ज्ञानविनयादि निर्विघ्नाध्ययनादिक्रिया। अथवा प्रज्ञापना-कल्पाकल्प-छेदोपस्थापना-व्यवहारधर्मक्रियाः स्वसमय-परसमयस्वरूपं च सूत्रैः कृतं करणं क्रियाविशेषो यस्मिन् वर्ण्यते तत्सूत्रकृतं नाम। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. ३५६)। ९. ज्ञानविनय-छेदोपस्थापनाक्रियाप्रतिपादकं षट्त्रिंशत्सहस्रपदप्रमाणं सूत्रकृताङ्गम्। (त. वृत्ति श्रुत. १-२०)। १०. सूदयडं विदियंगं छत्तीससहस्सपयपमाणं खु। सूचयदि सुत्तत्थं संखेवा तस्स करणं तं॥ णाणविणयादिविग्घातीदाभ्रयणादिसव्वसक्किरिया॥ पण्णायणा (य) सुकथा कप्पं ववहारविस-

सूक्ष्मस्थूल—१. शब्द-स्पर्श-रसा गन्धः शीतोष्णे वायुरेव च। अचक्षुर्ग्राह्यभावेन सूक्ष्मस्थूलं तु तादृशम् ॥ (वरांगच. २६-१६)। २ शब्दः स्पर्शो रसो गन्धः सूक्ष्मस्थूलो निगद्यते। अचाक्षुपत्वे सत्येषामिन्द्रियग्राह्यतेक्षणात् ॥ (म. पु. २४-१५२; जम्बू. च. ३-५०)। ३. सूक्ष्मत्वेऽपि स्थूलोपलम्भः स्पर्श-रस-गन्ध-शब्दाः सूक्ष्मबादराः। (पंचा. अमृत. वृ. ७६)। ४. ये पुनर्लोचनविषया न भवन्ति ते सूक्ष्मस्थूलाश्चतुरिन्द्रियविषयाः। (पंचा. का. जय. वृ. ७६)। ५. यः चक्षुर्वर्जितचतुरिन्द्रियविषयो बाह्यार्थः तत्सूक्ष्मस्थूलम्। (गो. जी. जी. प्र. ६०३; कार्तिके. टी. २०६)।

१ शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध, शीत, उष्ण और वायु इन्हें चक्षु के द्वारा ग्रहण करने के योग्य न होने से सूक्ष्मस्थूल कहा जाता है। ५ जो बाह्य पदार्थ चक्षु इन्द्रिय के बिना शेष चार इन्द्रियों से ग्रहण किया जाता है उसे सूक्ष्मस्थूल कहते हैं।

सूक्ष्मार्थ—१. सूक्ष्माः स्वभावविप्रकृष्टाः। (आ. मी. वसु. वृ. ५)। २. सूक्ष्माः स्वभावविप्रकृष्टाः परमाण्वादयः। (न्यायदी पृ. ४१)।

२ जो पदार्थ स्वभावतः दूरवर्ती (अदृश्य) हैं—जैसे परमाणु आदि, उन्हें स्वभावविप्रकृष्ट कहा जाता है।

सूच्यंगुल—१. अद्धारपल्लच्छेदो × × ×। पल्ल × × × वग्गिदसंवग्गिदयम्मि सूइ × × × ॥ (ति. प. १-१३१)। २. अद्धापल्यस्यार्धच्छेदेन शलाका विरलीकृत्य प्रत्येकमद्धापल्यप्रदानं कृत्वा अन्योन्यगुणिते कृते यावन्तश्छेदास्तावद्भिराकाशप्रदेशैर्मुक्तावलीकृताः सूच्यंगुलमित्युच्यते। (त. वा. ३ ३८, ७)। ३. परमाणुआदिएहि य आगंतूणं तु जो समुप्पण्णो। सो सूचिअंगुलो त्ति य णामेण य होइ णिद्दिट्ठो ॥ (जं. दी. प. १३-२६)। ४. अद्धापल्योपममर्द्धेनार्द्धेन तावत्कर्तव्यं यावदेकरोम, तत्र यावन्त्यर्द्धच्छेदनानि अद्धापल्योपमस्य तावन्मात्राण्यद्धापल्योपमानि परस्पराभ्यस्तानि कृत्वा यत्प्रमाणं भवति तावन्मात्रा आकाशप्रदेशा ऊर्ध्वमावल्याकारेण रचितास्तेषां यत्प्रमाणं (तत्) सूच्यंगुलम्। (मूला. वृ. १२-८५)।

१ अद्धार या अद्धापल्य के जितने अर्द्धच्छेद हों उतने स्थान में पल्य को रखकर परस्पर गुणित करने पर उत्पन्न राशि के प्रमाण सूच्यंगुल होता है।

सूत्र—१. सुत्तं गणधरकथिदं तहेव पत्तेयबुद्धिकथिदं च। सुदकेवलिणा कथिदं अभिण्णदसपुव्वकथिदं च ॥ (मूला. ५-८०)। २. अप्पग्गंथमहत्थं बत्तीसादोसविरहियं जं च। लक्खणजुत्तं सुत्तं अट्ठेहि च गुणेहिं उववेयं ॥ (आव. नि. ८८०); अप्पक्खरमसंदिद्धं च सारवं विस्सओ मुहं। अत्थोभमणवज्जं च सुत्तं सव्वण्णुभासियं ॥ (आव. नि. ८८६)। ३. सूत्रं हि नाम यल्लघु गमकं च। (त. वा. ७, १४, ५)। ४. अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् गूढनिर्णयम्। निर्दोषं हेतुमत् तथ्यं सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥ (धव. पु. १, पृ. २५६ उद्.; जयध. १, पृ. १५४ उद्.); सुत्तं गणहरकहियं तहेव पत्तेयबुद्धकहियं च। सुदकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्विकहियं च ॥ (धव. पु. १४, पृ. ८)। ५. अर्थस्य सूचनात्सम्यक् सूतेर्वार्थस्य सूरिणा। सूत्रमुक्तमनल्पार्थं सूत्रकारेण तत्त्वतः ॥ (जयध. १, पृ. १७१ उद्.)।

१ जो गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्नदशपूर्वी इनके द्वारा कहा गया है उसे सूत्र कहते हैं। २ जो ग्रन्थप्रमाण से अल्प अर्थ की अपेक्षा महान्, बत्तीस दोषों से रहित तथा लक्षण और आठ गुणों से सम्पन्न होता हुआ सारवान् विश्वतोमुख—अनुयोगों से सहित, व्याकरणविहित निपातों से रहित, अनिन्द्य और सर्वज्ञ कथित है, उसे सूत्र जानना चाहिए।

सूत्र (दृष्टिवाद का एक भेद)—१. सुत्तं अट्ठासीदिलक्खपदेहि ८८०००० अबंधओ अलेवओ अकत्ता अभोत्ता णिग्गुणो सव्वगओ अणुमेत्तो णत्थि जीवो जीवो चेव अत्थि पुढवियादीणं समुदएण जीवो उप्पज्जइ णिच्चेयणो णाणेण विणा सचेयणो णिच्चो अणिच्चो अप्पेत्ति वण्णेदि। तेरासियं णियदिवादं विण्णाणवादं सद्दवादं पहाणवादं दव्ववादं पुरिसवादं च वण्णेदि। (धव पु. १, पृ. ११०, १११); सूत्रे अष्टाशीतिशतसहस्रपदैः ८८०००००
पूर्वोक्तसर्वदृष्टयो निरूप्यन्ते, अबन्धकः अलेपकः अभोक्ता अकर्ता निर्गुणः सर्वगतः अद्वैतः नास्ति जीवः समुदयजनितः सर्वं नास्ति बाह्यार्थो नास्ति सर्वं निरात्मकं सर्वं क्षणिकं अक्षणिकमद्वैतमित्यादयो दर्शनभेदाश्च निरूप्यन्ते। (धव. पु. ९, पृ. २०७)। २. जं सुत्तं णाम तं जीवो अबंधओ अलेवओ अकत्ता णिग्गुणो अभोत्ता सव्वगओ अणुमेत्तो णिच्चेयणो

सपयासओ परप्पयासओ णत्थि जीवो त्ति य णत्थि-यवादं किरियावादं अकिरियावादं अण्णाणवादं णाणवादं वेणइयवादं अणेयपयारं गणिदं च वण्णेदि। (जयध. १, पृ. १३३-१३४)। ३. अष्टाशीतिलक्ष-पदपरिमाणं जीवस्य कर्मकर्तृत्व-तत्फलभोक्तृत्वासर्व-गतत्वादिधर्मविधायकं पृथिव्यादिप्रभवत्वाणुमात्रत्व-सर्वगतत्वादिधर्मनिषेधकं च सूत्रम् ८८०००००। (सं. श्रुतभ. टी. ६)। ४. जीवस्य कर्तृत्व-भोक्तृ-त्वादिस्थापकं भूतचतुष्टयादिभवनस्योद्घापकमष्टा-शीतिलक्षपदप्रमाणं सूत्रम्। (त. वृत्ति श्रुत. १-२०)।

२ जो अबन्धक, अलेपक, अकर्ता, निर्गुण, अभोक्ता, सर्वगत, अणुप्रमाण, अचेतन, स्वप्रकाशक और परप्रकाशक इत्यादि जीवविषयक मतभेदों के साथ नास्तिप्रवाद, क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद, ज्ञानवाद, वैनयिकवाद और अनेक प्रकार के गणित की भी प्ररूपणा करता है उसे सूत्र कहा जाता है।

सूत्रकल्पिक—सुत्तस्स कप्पितो खलु आवस्सगमादि जाव आयारो। (बृहत्क. भा. ४०६)।

आवश्यक से लेकर आचार तक सूत्र का कल्पिक होता है—इसे पढ़ने के लिए किसी को रोका नहीं जाता है।

सूत्रकृताङ्ग—१. सूयगडे णं ससमया सूइज्जंति, परसमया सूइज्जंति ससमय-परसमया सूइज्जंति जीवा सूइज्जंति अजीवा सूइज्जंति जीवाजीवा सू-इज्जंति लोगो सूइज्जंति अलोगो सूइज्जंति लोगा-लोगो सूइज्जंति, सूयगडे णं जीवाजीव-पुण्ण-पावासव-संवर-निज्जरण-बंध-मोक्खावसाणा पयत्था सूइज्जंति, समणाणं अचिरकालपव्वइयाणं कुसमयमोहमोह-मइयोहियाणं संदेहजायसहजबुद्धिपरिणामसंमइयाणं पावकरमलिनमइगुणविसोहणट्ठं असीअस्स किरिया-वाइयसयस्स··· से त्तं सूयगडे। (समवा. १३७)। २. सुअगडे णं लोए सूइज्जइ अलोए सूइज्जइ लोआ-लोए सूइज्जइ जीवा सूइज्जन्ति अजीवा सूइज्जन्ति जीवाजीवा सूइज्जंति ससमए सूइज्जइ परसमए सूइज्जइ ससमय-परसमए सूइज्जइ सुअगडे णं असी-अस्स किरियावाइसयस्स चउरासीइए अकिरिआ-वाईणं सत्तट्ठीए अण्णाणिअवाईणं बत्तीसाए वेणइ-अवाईणं तिण्हं तेसट्ठाणं पासंडिअसयाणं वूहं किच्चा ससमए ठाविज्जइ, सूअगडे णं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखेज्जा वेढा संखेज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ पडि-वत्तीओ, से णं अंगट्ठयाए बिइए अंगे दो सुअक्खंधा तेवीसं अज्झयणा तित्तीसं उद्देसणकाला तित्तीसं समुद्देसणकाला छत्तीस पयसहस्साणि पयग्गेणं संखि-ज्जा अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिण-पन्नत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति, से एवं आया से एवं नाया से एवं विण्णाया एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ से त्तं सूअगडे। (नन्दी. सू. ४६, पृ. २१२-१३)। ३. सूत्रकृते ज्ञानविनयप्रज्ञापना कल्प्याकल्प्यच्छेदोपस्थापना व्यवहारधर्मक्रियाः प्र-रूप्यन्ते। (त. वा. १, २०, १२)। ४. सूत्रीकृताः अज्ञानिकादयो यत्र वादिनस्तत् सूत्रकृतम्। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. १-२०)। ५. सूदयदं णाम अंगं छत्तीसपयसहस्सेहि ३६००० णाणविणय-पण्णावणा-कप्पाकप्प-च्छेदोवट्ठावण-ववहारधम्मकिरियाओ परू-वेइ, ससमय-परसमयसरूवं च परूवेइ। (धव. पु. १, पृ. ६६); सूत्रकृते षट्त्रिंशत्पदसहस्रे ३६००० ज्ञान-विनय-प्रज्ञापना-कल्प्याकल्प्य-छेदोपस्थापना-व्यवहार-धर्मक्रियाः दिगन्तरशुद्धया प्ररूप्यन्ते। (धव. पु. ६, पृ. १९७-१९८)। ६. सूदयदं णाम अंगं ससमयं परसमयं थीपरिणामं क्लैब्यास्फुटत्वमदनावेशवि-भ्रमाऽऽस्फालनसुखपुंस्कामितादिस्त्रीलक्षणं च प्ररूप-यति। (जयध. पु. १, पृ. १२२)। ७. षट्त्रिंश-त्पदसहस्रपरिमाणं ज्ञानविनयादिक्रियाविशेषप्ररूपकं सूत्रकृतम्। (सं. श्रुतभ. टी. ७, पृ. १७२)। ८. सूत्रयति संक्षेपेणार्थं सूचयतीति सूत्रं परमागमः, तदर्थकृतं करणं ज्ञानविनयादि निर्विघ्नाध्ययनादि-क्रिया। अथवा प्रज्ञापना-कल्पाकल्प-छेदोपस्थापना-व्यवहारधर्मक्रियाः स्वसमय-परसमयस्वरूपं च सूत्रैः कृतं करणं क्रियाविशेषो यस्मिन् वर्ण्यते तत्सूत्रकृतं नाम। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. ३५६)। ९. ज्ञानविनय-छेदोपस्थापनाक्रियाप्रतिपादकं - षट्-त्रिंशत्सहस्रपदप्रमाणं सूत्रकृताङ्गम्। (त. वृत्ति श्रुत. १-२०)। १०. सूदयडं विदियंगं छत्तीससहस्स-पयपमाणं खु। सूचयदि सुत्तत्थं संखेवा तस्स करणं तं॥ णाणविणयादिविग्घातीदाज्झयणादिसव्वसक्कि-रिया॥ पण्णायणा (य) सुकथा कप्पं ववहारविस-

सूक्ष्मस्थूल—१. शब्द-स्पर्श-रसा गन्धः शीतोष्णे वायुरेव च। अचक्षुर्ग्राह्यभावेन सूक्ष्मस्थूलं तु तादृशम् ॥ (वरांगच. २६–१६)। २ शब्दः स्पर्शो रसो गन्धः सूक्ष्मस्थूलो निगद्यते। अचाक्षुषत्वे सत्येषामिन्द्रियग्राह्यतेक्षणात् ॥ (म. पु. २४–१५२; जम्बू. च. ३–५०)। ३. सूक्ष्मत्वेऽपि स्थूलोपलम्भः स्पर्श-रस-गन्ध-शब्दाः सूक्ष्मबादराः। (पंचा. अमृत. वृ. ७६)। ४. ये पुनर्लोचनविपया न भवन्ति ते सूक्ष्मस्थूलाश्चतुरिन्द्रियविपयाः। (पंचा. का. जय. वृ. ७६)। ५. यः चक्षुर्वर्जितचतुरिन्द्रियविपयो बाह्यार्थः तत्सूक्ष्मस्थूलम्। (गो. जी. जी. प्र. ६०३; कार्तिके. टी. २०६)।

१ शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध, शीत, उष्ण और वायु इन्हें चक्षु के द्वारा ग्रहण करने के योग्य न होने से सूक्ष्मस्थूल कहा जाता है। ५ जो बाह्य पदार्थ चक्षु इन्द्रिय के बिना शेष चार इन्द्रियों से ग्रहण किया जाता हैं उसे सूक्ष्मस्थूल कहते हैं।

सूक्ष्मार्थ—१. सूक्ष्माः स्वभावविप्रकृष्टाः। (आ. मी. वसु. वृ. ५)। २. सूक्ष्माः स्वभावविप्रकृष्टाः परमाण्वादयः। (न्यायदी पृ. ४१)।

२ जो पदार्थ स्वभावतः दूरवर्ती (अदृश्य) हैं—जैसे परमाणु आदि, उन्हें स्वभावविप्रकृष्ट कहा जाता है।

सूच्यंगुल—१. अद्धारपल्लच्छेदो × × × । पल्ल × × × वग्गिदसंवग्गिदयम्मि सूइ × × × ॥ (ति. प. १–१३१)। २. अद्धापल्यस्यार्धच्छेदेन शलाका विरलीकृत्य प्रत्येकमद्धापल्यप्रदानं कृत्वा अन्योन्यगुणिते कृते यावन्तश्छेदास्तावद्भिराकाशप्रदेशैर्मुक्तावलीकृताः सूच्यंगुलमित्युच्यते। (त. वा. ३ ३८, ७)। ३. परमाणुआदिएहि य आगंतूर्ण तु जो समुप्पण्णो। सो सूचिअंगुलो त्ति य णामेण य होइ णिद्दिट्ठो ॥ (जं. दी. प. १३–२६)। ४. अद्धापल्योपममर्द्धेनार्द्धेन तावत्कर्तव्यं यावदेकरोम, तत्र यावन्त्यर्द्धच्छेदनानि अद्धापल्योपमस्य तावन्मात्राण्यद्धापल्योपमानि परस्पराभ्यस्तानि कृत्वा यत्प्रमाणं भवति तावन्मात्रा आकाशप्रदेशा ऊर्ध्वमावल्याकारेण रचितास्तेपां यत्प्रमाणं (तत्) सूच्यंगुलम्। (मूला. वृ. १२–८५)।

१ अद्धार या अद्धापल्य के जितने अर्द्धच्छेद हों उतने स्थान में पल्य को रखकर परस्पर गुणित करने पर उत्पन्न राशि के प्रमाण सूच्यंगुल होता है।

सूत्र—१. सुत्तं गणधरकधिदं तहेव पत्तेयबुद्धिकथिदं च। सुदकेवलिणा कधिदं अभिण्णदसपुव्वकधिदं च ॥ (मूला. ५–८०)। २. अप्पग्गंथमहत्थं बत्तीसादोसविरहियं जं च। लक्खणजुत्तं सुत्तं अट्ठेहि च गुणेहि उववेयं ॥ (आव. नि. ८८०); अप्पक्खरमसंदिद्धं च सारवं विस्सओ मुहं। अत्थोवमणवज्जं च सुत्तं सव्वण्णुभासियं ॥ (आव. नि. ८८६)। ३. सूत्रं हि नाम यल्लघु गमकं च। (त. वा. ७, १४, ५)। ४. अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् गूढनिर्णयम्। निर्दोपं हेतुमत् तथ्यं सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥ (धव. पु. १, पृ. २५६ उद्.; जयध. १, पृ. १५४ उद्.); सुत्तं बारहंगसद्दागमो। (धव. पु. १४, पृ. ८)। ५. अर्थस्य सूचनात्सम्यक् सूतेर्वार्थस्य सूरिणा। सूत्रमुक्तमनल्पार्थं सूत्रकारेण तत्त्वतः ॥ (जयध. १, पृ. १७१ उद्.)।

१ जो गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्नदशपूर्वी, इनके द्वारा कहा गया है उसे सूत्र कहते हैं। २ जो ग्रन्थप्रमाण से अल्प अर्थ की अपेक्षा महान्, बत्तीस दोषों से रहित तथा लक्षण और आठ गुणों से सम्पन्न होता हुआ सारवान् विश्वतो मुख—अनुयोगों से सहित, व्याकरणविहित निपातों से रहित, अनिन्द्य और सर्वज्ञ कथित है, उसे सूत्र जानना चाहिए।

सूत्र (दृष्टिवाद का एक भेद)—१. सुत्तं अट्ठासीदिलक्खपदेहि ८८०००८० अबंधओ अलेवओ अकत्ता अभोत्ता णिग्गुणो सव्वगओ अणुमेत्तो णत्थि जीवो जीवो चेव अत्थि पुढवियादीणं समुदएण जीवो उप्पज्जइ णिच्चेयणो णाणेण विणा सचेयणो णिच्चो अणिच्चो अप्पेति वण्णेदि। तेरासियं णियदिवादं विण्णाणवादं सद्दवादं पहाणवादं दव्ववादं पुरिसवादं च वण्णेदि। (धव पु. १, पृ. ११०, १११); सूत्रे अष्टाशीतिशतसहस्रपदैः ८८०००००० पूर्वोक्तसर्वदृष्टयो निरूप्यन्ते, अबन्धकः अलेपकः अभोक्ता अकर्ता निर्गुणः सर्वगतः अद्वैतः नास्ति जीवः समुदयजनितः सर्वं नास्ति बाह्यार्थो नास्ति सर्वं निरात्मकं सर्वं क्षणिकं अक्षणिकमद्वैतमित्यादयो दर्शनभेदाश्च निरूप्यन्ते। (धव. पु. ६, पृ. २०७)। २. जं सुत्तं णाम तं जीवो अबंधओ अलेवओ अकत्ता णिग्गुणो अभोत्ता सव्वगओ अणुमेत्तो णिच्चेयणो

सपयासओ परप्पयासओ णत्थि जीवो त्ति य णत्थियवादं किरियावादं अकिरियावादं अण्णाणवादं णाणवादं वेणइयवादं अणेयपयारं गणिदं च वण्णेदि। (जयध. १, पृ. १३३-१३४)। ३. अष्टाशीतिलक्षपदपरिमाणं जीवस्य कर्मकर्तृत्व-तत्फलभोक्तृत्वासर्वगतत्वादिधर्मविधायकं पृथिव्यादिप्रभवत्वाणुमात्रत्व-सर्वगतत्वादिधर्मनिषेधकं च सूत्रम् ८८००००००। (सं. श्रुतभ. टी. ६)। ४. जीवस्य कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिस्थापकं भूतचतुष्टयादिभवनस्योद्धापकमष्टाशीतिलक्षपदप्रमाणं सूत्रम्। (त. वृत्ति श्रुत. १-२०)।

२ जो अबन्धक, अलेपक, अकर्ता, निर्गुण, अभोक्ता, सर्वगत, अणुप्रमाण, अचेतन, स्वप्रकाशक और परप्रकाशक इत्यादि जीवविषयक मतभेदों के साथ नास्तिप्रवाद, क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद, ज्ञानवाद, वैनयिकवाद और अनेक प्रकार के गणित की भी प्ररूपणा करता है उसे सूत्र कहा जाता है।

सूत्रकल्पिक—सुत्तस्स कप्पितो खलु आवस्सगमादि जाव आयारो। (बृहत्क. भा. ४०६)।

आवश्यक से लेकर आचार तक सूत्र का कल्पिक होता है—इसे पढ़ने के लिए किसी को रोका नहीं जाता है।

सूत्रकृताङ्ग—१. सूयगडे णं ससमया सूइज्जंति, परसमया सूइज्जंति ससमय-परसमया सूइज्जंति जीवा सूइज्जंति अजीवा सूइज्जंति जीवाजीवा सूइज्जंति लोगो सूइज्जंति अलोगो सूइज्जंति लोगालोगो सूइज्जंति, सूयगडे णं जीवाजीव-पुण्ण-पावासव-संवर-निज्जरण-बंध-मोक्खावसाणा पयत्था सूइज्जंति, समणाणं अचिरकालपव्वइयाणं कुसमयमोहमोहमइमोहियाणं संदेहजायसहजबुद्धिपरिणामसंसइयाणं पावकरमलिनमइगुणविसोहणट्ठं असीअस्स किरियावाइयसयस्स··· से त्तं सूयगडे। (समवा. १३७)। २. सूअगडे णं लोए सूइज्जइ अलोए सूइज्जइ लोआलोए सूइज्जइ जीवा सूइज्जन्ति अजीवा सूइज्जन्ति जीवाजीवा सूइज्जंति ससमए सूइज्जइ परसमए सूइज्जइ ससमय-परसमए सूइज्जइ सूअगडे णं असीअस्स किरियावाइसयस्स चउरासीइए अकिरिआवाईणं सत्तट्ठीए अण्णाणिअवाईणं बत्तीसाए वेणइअवाईणं तिण्हं तेसट्ठाणं पासंडिअसयाणं वूहं किच्चा ससमए ठाविज्जइ, सूअगडे णं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखेज्जा वेढा संखेज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ, से णं अंगट्ठयाए विइए अंगे दो सुअक्खंधा तेवीसं अज्झयणा तित्तीसं उद्देसणकाला तित्तीसं समुद्देसणकाला छत्तीस पयसहस्साणि पयग्गेणं संखिज्जा अक्खरा अणंता गया अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति, से एवं आया से एवं नाया से एवं विण्णाया एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ से त्तं सूअगडे। (नन्दी. सू. ४६, पृ. २१२-१३)। ३. सूत्रकृते ज्ञानविनयप्रज्ञापना कल्प्याकल्प्यच्छेदोपस्थापना व्यवहारधर्मक्रियाः प्ररूप्यन्ते। (त. वा. १, २०, १२)। ४. सूत्रोकृताः अज्ञानिकादयो यत्र वादिनस्तत् सूत्रकृतम्। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. १-२०)। ५. सूदयदं णाम अंगं छत्तीसपयसहस्सेहि ३६००० णाणविणय-पण्णावणा-कप्पाकप्प-च्छेदोवट्ठावण-ववहारधम्मकिरियाओ परूवेइ, ससमय-परसमयसरूवं च परूवेइ। (धव. पु. १, पृ. ९९); सूत्रकृते षट्त्रिंशत्पदसहस्रे ३६००० ज्ञान-विनय-प्रज्ञापना-कल्प्याकल्प्य-छेदोपस्थापना-व्यवहार-धर्मक्रियाः दिगन्तरशुद्धया प्ररूप्यन्ते। (धव. पु. ९, पृ. १९७-१९८)। ६. सूदयदं णाम अंगं ससमयं परसमयं थीपरिणामं क्लैव्यास्फुटत्वमदनावेशविभ्रमाऽऽस्फालनसुखपुंस्कामितादिस्त्रीलक्षणं च प्ररूपयति। (जयध. पु. १, पृ. १२२)। ७. षट्त्रिंशत्पदसहस्रपरिमाणं ज्ञानविनयादिक्रियाविशेषप्ररूपकं सूत्रकृतम्। (सं. श्रुतभ. टी. ७, पृ. १७२)। ८. सूत्रयति संक्षेपेणार्थं सूचयतीति सूत्रं परमागमः, तदर्थकृतं करणं ज्ञानविनयादि निर्विघ्नाध्ययनादि-क्रिया। अथवा प्रज्ञापना-कल्पाकल्प-छेदोपस्थापना-व्यवहारधर्मक्रियाः स्वसमय-परसमयस्वरूपं च सूत्रैः कृतं करणं क्रियाविशेषो यस्मिन् वर्ण्यते तत्सूत्रकृतं नाम। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. ३५६)। ९. ज्ञानविनय-छेदोपस्थापनाक्रियाप्रतिपादकं - षट्त्रिंशत्सहस्रपदप्रमाणं सूत्रकृताङ्गम्। (त. वृत्ति श्रुत. १-२०)। १०. सूदयडं विदियंगं छत्तीससहस्सपयपमाणं खु। सूचयदि सुत्तत्थं संखेवा तस्स करणं तं॥ णाणविणयादिविग्घातीदाभयणादिसव्वसक्किरिया॥ पण्णायणा (य) सुकथा कप्पं ववहारविस-

सूक्ष्मस्थूल—१. शब्द-स्पर्श-रसा गन्धः शीतोष्णे वायुरेव च। अचक्षुर्ग्राह्यभावेन सूक्ष्मस्थूलं तु तादृशम्॥ (वरांगच. २६–१६)। २ शब्दः स्पर्शो रसो गन्धः सूक्ष्मस्थूलो निगद्यते। अचाक्षुषत्वे सत्येषामिन्द्रियग्राह्यतेक्षणात्॥ (म. पु. २४–१५२; जम्बू. च. ३–५०)। ३. सूक्ष्मत्वेऽपि स्थूलोपलम्भः स्पर्श-रस-गन्ध-शब्दाः सूक्ष्मबादराः। (पंचा. अमृत. वृ. ७६)। ४. ये पुनर्लोचनविषया न भवन्ति ते सूक्ष्मस्थूलाश्चतुरिन्द्रियविषयाः। (पंचा. का. जय. वृ. ७६)। ५. यः चक्षुर्वर्जितचतुरिन्द्रियविषयो बाह्यार्थः तत्सूक्ष्मस्थूलम्। (गो. जी. जी. प्र. ६०३; कार्तिके. टी. २०६)।

१ शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध, शीत, उष्ण और वायु इन्हें चक्षु के द्वारा ग्रहण करने के योग्य न होने से सूक्ष्मस्थूल कहा जाता है। ५ जो बाह्य पदार्थ चक्षु इन्द्रिय के विना शेष चार इन्द्रियों से ग्रहण किया जाता है उसे सूक्ष्मस्थूल कहते हैं।

सूक्ष्मार्थ—१. सूक्ष्माः स्वभावविप्रकृष्टाः। (आ. मी. वसु. वृ. ५)। २. सूक्ष्माः स्वभावविप्रकृष्टाः परमाण्वादयः। (न्यायदी पृ. ४१)।

२ जो पदार्थ स्वभावतः दूरवर्ती (अदृश्य) हैं—जैसे परमाणु आदि, उन्हें स्वभावविप्रकृष्ट कहा जाता है।

सूच्यंगुल—१. अद्धारपल्लच्छेदो × × ×। पल्ल × × × वग्गिदसंवग्गिदयम्मि सूइ × × ×॥ (ति. प. १–१३१)। २. अद्धापल्यस्यार्धच्छेदेन शलाका विरलीकृत्य प्रत्येकमद्धापल्यप्रदानं कृत्वा अन्योन्यगुणिते कृते यावन्तश्छेदास्तावद्भिराकाशप्रदेशैर्मुक्तावलीकृताः सूच्यंगुलमित्युच्यते। (त. वा. ३ ३८, ७)। ३. परमाणुआदिएहि य आगंतूणं तु जो समुप्पण्णो। सो सूचिअंगुलो त्ति य णामेण य होइ णिद्दिट्ठो॥ (जं. दी. प. १३–२६)। ४. अद्धापल्योपममर्द्धेनार्द्धेन तावत्कर्तव्यं यावदेकरोम, तत्र यावन्त्यर्द्धच्छेदनानि अद्धापल्योपमस्य तावन्मात्राण्यद्धापल्योपमानि परस्पराभ्यस्तानि कृत्वा यत्प्रमाणं भवति तावन्मात्रा आकाशप्रदेशा ऊर्ध्वमावल्याकारेण रचितास्तेषां यत्प्रमाणं (तत्) सूच्यंगुलम्। (मूला. वृ. १२–८५)।

१ अद्धार या अद्धापल्य के जितने अर्द्धच्छेद हों उतने स्थान में पल्य को रखकर परस्पर गुणित करने पर उत्पन्न राशि के प्रमाण सूच्यंगुल होता है।

सूत्र—१. सुत्तं गणधरकथिदं तहेव पत्तेयबुद्धिकथिदं च। सुदकेवलिणा कथिदं अभिण्णदसपुव्वकथिदं च॥ (मूला. ५–८०)। २. अप्पग्गंथमहत्थं बत्तीसादोसविरहियं जं च। लक्खणजुत्तं सुत्तं अट्ठेहि य गुणेहि उववेयं॥ (आव. नि. ८८०); अप्पक्खरमसंदिद्धं च सारवं विस्सओ मुहं। अत्थोवमणवज्जं च सुत्तं सव्वण्णुभासियं॥ (आव. नि. ८८६)। ३. सूत्रं हि नाम यल्लघु गमकं च। (त. वा. ७, १४, ५)। ४. अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् गूढनिर्णयम्। निर्दोषं हेतुमत् तथ्यं सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥ (धव. पु. १, पृ. २५९ उद्.; जयध. १, पृ. १५४ उद्.); सुत्तं बारहंगसद्दागमो। (धव. पु. १४, पृ. ८)। ५. अर्थस्य सूचनात्सम्यक् सूतेर्वार्थस्य सूरिणा। सूत्रमुक्तमनल्पार्थं सूत्रकारेण तत्त्वतः॥ (जयध. १, पृ. १७१ उद्.)।

१ जो गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्नदशपूर्वी, इनके द्वारा कहा गया है उसे सूत्र कहते हैं। २ जो ग्रन्थप्रमाण से अल्प अर्थ की अपेक्षा महान्, बत्तीस दोषों से रहित तथा लक्षण और आठ गुणों से सम्पन्न होता हुआ सारवान् विश्वतोमुख—अनुयोगों से सहित, व्याकरणविहित निपातों से रहित, अनिन्द्य और सर्वज्ञ कथित है, उसे सूत्र जानना चाहिए।

सूत्र (दृष्टिवाद का एक भेद)—१. सुत्तं अट्ठासीदिलक्खपदेहि ८८०००० अबंधओ अलेवओ अकत्ता अभोत्ता णिग्गुणो सव्वगओ अणुमेत्तो णत्थि जीवो जीवो चेव अत्थि पुढवियादीणं समुदएण जीवो उप्पज्जइ णिच्चेयणो णाणेण विणा सचेयणो णिच्चो अणिच्चो अप्पेति वण्णेदि। तेरासियं णियदिवादं विण्णाणवादं सद्दवादं पहाणवादं दव्ववादं पुरिसवादं च वण्णेदि। (धव पु. १, पृ. ११०, १११); सूत्रे अष्टाशीतिशतसहस्रादैः ८८००००० पूर्वोक्तसर्वदृष्टयो निरूप्यन्ते, अबन्धकः अलेपकः अभोक्ता अकर्ता निर्गुणः सर्वगतः अद्वैतः नास्ति जीवः समुदयजनितः सर्वं नास्ति बाह्यार्थो नास्ति सर्वं निरात्मकं सर्वं क्षणिकं अक्षणिकमद्वैतमित्यादयो दर्शनभेदाश्च निरूप्यन्ते। (धव. पु. ६, पृ. २०७)। २. जं सुत्तं णाम तं जीवो अबंधओ अलेवओ अकत्ता णिग्गुणो अभोत्ता सव्वगओ अणुमेत्तो णिच्चेयणो

सपयासओ परप्पयासओ णत्थि जीवो त्ति य णत्थि-यवादं किरियावादं अकिरियावादं अण्णाणवादं णाणवादं वेणइयवादं अणेयपयारं गणिदं च वण्णेदि। (जयध. १, पृ. १३३–१३४)। ३. अष्टाशीतिलक्ष-पदपरिमाणं जीवस्य कर्मकर्तृत्व-तत्फलभोक्तृत्वासर्व-गतत्वादिधर्मविधायकं पृथिव्यादिप्रभवत्वाणुमात्रत्व-सर्वगतत्वादिधर्मनिषेधकं च सूत्रम् ८८०००००। (सं. श्रुतभ. टी. ६)। ४. जीवस्य कर्तृत्व-भोक्तृ-त्वादिस्थापकं भूतचतुष्टयादिभवनस्योद्यापकमष्टा-शीतिलक्षपदप्रमाणं सूत्रम्। (त. वृत्ति श्रुत. १–२०)।

२ जो अबन्धक, अलेपक, अकर्ता, निर्गुण, अभोक्ता, सर्वगत, अणुप्रमाण, अचेतन, स्वप्रकाशक और परप्रकाशक इत्यादि जीवविषयक मतभेदों के साथ नास्तिप्रवाद, क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद, ज्ञानवाद, वैनयिकवाद और अनेक प्रकार के गणित की भी प्ररूपणा करता है उसे सूत्र कहा जाता है।

सूत्रकल्पिक—सुत्तस्स कप्पितो खलु आवस्सगमादि जाव आयारो। (बृहत्क. भा. ४०६)।

आवश्यक से लेकर आचार तक सूत्र का कल्पिक होता है—इसे पढ़ने के लिए किसी को रोका नहीं जाता है।

सूत्रकृताङ्ग—१. सूयगडे णं ससमया सूइज्जंति, परसमया सूइज्जंति ससमय-परसमया सूइज्जंति जीवा सूइज्जंति अजीवा सूइज्जंति जीवाजीवा सूइज्जंति लोगो सूइज्जंति अलोगो सूइज्जंति लोगालोगो सूइज्जंति, सूयगडे णं जीवाजीव-पुण्ण-पावासव-संवर-निज्जरण-बंध-मोक्खावसाणा पयत्था सूइज्जंति, समणाणं अचिरकालपव्वइयाणं कुसमयमोहमोह-मइयोहियाणं संदेहजायसहजबुद्धिपरिणामसंसइयाणं पावकरमलिनमइगुणविसोहणट्ठं असीअस्स किरिया-वाइयसयस्स··· से त्तं सूयगडे। (समवा. १३७)। २. सूअगडे णं लोए सूइज्जइ अलोए सूइज्जइ लोआ-लोए सूइज्जइ जीवा सूइज्जन्ति अजीवा सूइज्जन्ति जीवाजीवा सूइज्जंति ससमए सूइज्जइ परसमए सूइज्जइ ससमय-परसमए सूइज्जइ सूअगडे णं असी-असस किरियावाइसयस्स चउरासीइए अकिरिआ-वाईणं सत्तट्ठीए अण्णाणिअवाईणं वत्तीसाए वेणइ-अवाईणं तिण्हं तेसट्ठाणं पासंडिअसयाणं वूहं किच्चा ससमए ठाविज्जइ, सूअगडे णं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखेज्जा वेढा संखेज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ पडि-वत्तीओ, से णं अंगट्ठयाए विइए अंगे दो सुअक्खंधा तेवीसं अज्झयणा तित्तीसं उद्देसणकाला तित्तीसं समुद्देसणकाला छत्तीस पयसहस्साणि पयग्गेणं संखि-ज्जा अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिण-पन्नत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति, से एवं आया से एवं नाया से एवं विण्णाया एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ से त्तं सूअगडे। (नन्दी. सू. ४६, पृ. २१२–१३)। ३. सूत्रकृते ज्ञानविनयप्रज्ञापना कल्प्याकल्प्यच्छेदोपस्थापना व्यवहारधर्मक्रियाः प्र-रूप्यन्ते। (त. वा. १, २०, १२)। ४. सूत्रीकृताः अज्ञानिकादयो यत्र वादिनस्तत् सूत्रकृतम्। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. १–२०)। ५. सूदयदं णाम अंगं छत्तीसपयसहस्सेहि ३६००० णाणविणय-पण्णावणा-कप्पाकप्प-च्छेदोवट्ठावण-ववहारधम्मकिरियाओ परू-वेइ, ससमय-परसमयसरूवं च परूवेइ। (धव. पु. १, पृ. ९९); सूत्रकृते षट्त्रिंशत्पदसहस्रे ३६००० ज्ञान-विनय-प्रज्ञापना-कल्प्याकल्प्य-छेदोपस्थापना-व्यवहार-धर्मक्रियाः दिगन्तरशुद्धया प्ररूप्यन्ते। (धव. पु. ६, पृ. १९७–१९८)। ६. सूदयदं णाम अंगं ससमयं परसमयं थीपरिणामं क्लैब्यास्फुटत्वमदनावेशवि-भ्रमाऽऽस्फालनसुखपुंस्कामितादिस्त्रीलक्षणं च प्ररूप-यति। (जयध. पु. १, पृ. १२२)। ७. षट्त्रिंश-त्पदसहस्रपरिमाणं ज्ञानविनयादिक्रियाविशेषप्ररूपकं सूत्रकृतम्। (सं. श्रुतभ. टी. ७, पृ. १७२)। ८. सूत्रयति संक्षेपेणार्थं सूचयतीति सूत्रं परमागमः, तदर्थकृतं करणं ज्ञानविनयादि निर्विघ्नाध्ययनादि-क्रिया। अथवा प्रज्ञापना-कल्पाकल्प-छेदोपस्थापना-व्यवहारधर्मक्रियाः स्वसमय-परसमयस्वरूपं च सूत्रैः कृतं करणं क्रियाविशेषो यस्मिन् वर्ण्यते तत्सूत्रकृतं नाम। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. ३५६)। ९. ज्ञानविनय-छेदोपस्थापनाक्रियाप्रतिपादकं - षट्-त्रिंशत्सहस्रपदप्रमाणं सूत्रकृताङ्गम्। (त. वृत्ति श्रुत. १–२०)। १०. सूदयडं विदियंगं छत्तीससहस्स-पयपमाणं खु। सूचयदि सुत्तत्थं संखेवा तस्स करणं तं॥ णाणविणयादिविग्घातीदाज्झयणादिसव्वसक्कि-रिया॥ पण्णायणा (य) सुकथा कप्पं ववहारविस-

किरिया ।। छेदोवट्ठावणं जइण समयं यं परूवदि। परस्स समयं जत्थ किरियाभेया अणेयसे ।। (अंगप. १, २०-२२, पृ. २६१)।

२ सूत्रकृतांग में लोक, अलोक, लोकालोक जीव, अजीव, जीवाजीव, स्वसमय, परसमय और स्व-समय-परसमय इनकी सूचना की जाती है। सूत्र-कृतांग में एक सौ अस्सी क्रियावादियों, चौरासी अक्रियावादियों, सड़सठ अज्ञानवादियों और बत्तीस वैनयिकवादियों, इस प्रकार तीन सौ तिरेसठ (१८०+८४+६७+३२=३६३) पाखण्डियों की रचना करके उनके अभिमत को दिखलाते हुए उसका निराकरण करके अपने समय को प्रतिष्ठित किया जाता है। सूत्रकृतांग में परिमित वाचनायें, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढ (छन्दविशेष), संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तियां और संख्यात प्रतिपत्तियां होती हैं। वह दूसरा अंग है जो दो श्रुतस्कन्धों और तेईस अध्ययनों आदि में विभक्त है। ३ सूत्रकृतांग में ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्प्य-अकल्प्य, छेद-उपस्थापना और व्यवहारधर्मक्रिया इनकी प्ररूपणा की जाती है।

सूत्रग्राहणविनय—उद्युक्तः सन् शिष्यं सूत्रं ग्राह-यति। एष सूत्रग्राहणविनयः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १०-३१३)।

प्रयत्नपूर्वक शिष्य के लिए जो सूत्र को ग्रहण कराया जाता है, इसे सूत्रग्राहणविनय कहते हैं। यह श्रुत-विनय के चार भेदों में प्रथम है।

सूत्ररुचि—१. जो सुत्तमहिज्जंतो, सुएण ओगाहई उ सम्मत्तं। अंगेण बाहिरेण व, सो सुत्तरुई त्ति नायव्वो ।। (उत्तरा. २८-२१; प्रज्ञाप. गा. १२०, पृ. ५६)। २. प्रव्रज्या-मर्यादाप्ररूपणाचारसूत्रश्रवण-मात्रसमुद्भूतसम्यग्दर्शनाः सूत्ररुचयः। (त. वा. ३, ३६, २)। ३. आचाराख्यादिमांगोक्ततपोभेदश्रुते-र्द्रुतम् ।। प्रादुर्भूता रुचिस्तज्ज्ञैः सूत्रजेति निरूप्यते। (म. पु ७४, ४४३-४४)। ४. आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्दधानः सूक्तासौ सूत्रदृष्टिः ××× । (आत्मानु. १३)। ५. यतिजनाचरण-निरूपणपा-[मा-]त्रं सूत्रम्। (उपासका. पृ. ११४)। ६. सूत्रं यतिजनाचरणनिरूपणमात्रम्। (अन. ध. स्वो. टी. २-६२)। ७. मुनीनामाचारसूत्रं मूला-चारशास्त्रं श्रुत्वा यदुत्पद्यते तत्सूत्रसम्यक्त्वम्। (दर्शनप्रा. टी. १२)।

१ जो सूत्र का अध्ययन करता हुआ अंगश्रुत से अथवा बाह्य—अनंगप्रविष्ट—श्रुत से सम्यक्त्व का अवगाहन करता है उसे सूत्ररुचि जानना चाहिए। २ प्रव्रज्या (दीक्षा) व मर्यादा के प्ररूपक आचार-सूत्र के सुनने मात्र से जिनके सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ है उन्हें सूत्ररुचि कहा जाता है। ३ आचारांग नामक प्रथम अंग में प्ररूपित तप के भेदों के सुनने से जो शीघ्र रुचि (तत्त्वश्रद्धा) उत्पन्न होती है उसे सूत्ररुचि कहते हैं।

सूत्रसम—देखो सूत्र। ××× इति वयणादो तित्थयरवयणविणिग्गयबीजपदं सुत्तं। तेण सुत्तेण समं वट्टदि उप्पज्जदि त्ति गणहरदेवम्मि ठिदसुद-णाणं सुत्तसमं। (धव. पु. ९, पृ. २५९); विभक्त्यंत-भेदेन पठनं सूत्रसमं ××× इदि केवि आइरिया परूवेंति। (धव. पु. ९, पृ. २६१); जिणवयण-विणिग्गयबीजपदादो अणंतत्थावगहणेण अक्खरणिद्दे-सत्तणेण य पत्तसुत्तणामादो गणहरदेवेसुप्पण्णकदिअ-णियोगो सुत्तेण सह वुत्तीदो सुत्तसमं। (धव. पु. ९, पृ. २६८); सुत्त सुदकेवली, तेण समं सुदणाणं सुत्तसमं। अथवा सुत्तं बारहंगसद्दागमो, आयरियोव-देसेण विणा सुत्तादो चेव जं उप्पज्जदि सुदणाणं तं सुत्तसमं। (धव. पु. १४, पृ. ८)।

तीर्थंकर के मुख से निकले हुए बीजपद को सूत्र कहते हैं। उस सूत्र के साथ चूंकि वह रहता है उत्पन्न होता है, इस प्रकार गणधर देव में स्थित श्रुतज्ञान को सूत्रसम कहा जाता है। सूत्र से अभिप्राय श्रुत-केवली का है, उसके समान श्रुतज्ञान को सूत्रसम कहते हैं; अथवा सूत्र का अर्थ बारह अंगरूप शब्दा-गम है, आचार्य के उपदेश के बिना सूत्र से ही जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह सूत्रसम कहलाता है।

सूत्रसंश्रय—संविन्त्येति स्थितस्थानं तपः काल गुरुं कुलम्। पृष्ट्वा श्रुतं श्रुतं नाम स्वं प्रतिक्रमणादि-कम् ।। शयनाशन-यानादौ प्रेक्ष्य वृत्तं दिनत्रयम्। निश्चित्य गुरुश्चारित्रशुद्धिं तत्सूरिसम्मतः ।। स्व-शक्तिमुक्त्वा व्याख्यादौ तद्व्याख्यातं पठेच्छ्रुतम्। स्वस्येष्टं प्रश्रयादेतत्पठनं सूत्रसंश्रयः ।। (आचा. सा. २, ४६-४८)।

इस प्रकार आकर स्थान में स्थित हुए अभ्यागत साधु से उसके स्थान, तप, काल, ...

श्रुतनाम और प्रतिक्रमण आदि के विषय में पूछ कर तीन दिन तक उसके शयन, आसन और गमनादि विषयक आचरण को देखकर गुरु उसकी चारित्र-शुद्धि का निश्चय करके आचार्य की सम्मति से श्रुत का व्याख्यान करे तथा नवागत शिष्य, साधु गुरु के द्वारा व्याख्यात श्रुत को विनयपूर्वक पढ़े। इस प्रकार के पठन का नाम सूत्रसंश्रय है।

सूनृत—१. सुष्ठु ऊन्यतेऽप्रियमानाश्रयणं मितीक्रियते इति सून्, सून् च तद् ऋतं च सूनृतं प्रियं सत्यं च। तच्च पारुष्य-पैशून्यासभ्यत्व-चापलाविलत्व-विरलत्व-संभ्रातत्व-संदिग्धत्व-ग्राम्यत्व - रागद्वेषयुक्तत्वोपधावद्य-विकत्थनपरिहारेण माधुर्यौदार्यस्फुटत्वाभिजात्यपदार्थाभिव्याहाराऽर्हद्वचनानुसारार्थत्वार्थिजनभावग्राहकत्वदेश-कालोपपन्नत्वयतमितहितत्वैर्युक्तं वाचन-प्रच्छन-प्रश्न-व्याकरणादिरूपमिति मृषावादपरिहाररूपं सूनृतम्। (योगशा. स्वो. विव. ४–९३)। २. प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं सूनृतव्रतमुच्यते। तत्तथ्यमपि नो तथ्यमप्रियं चाहितं च यत्॥ (त्रि. श. पु. च. १, ३, ६२३)। ३. सत्यं प्रियं हितं चाहुः सूनृतं सूनृतव्रताः। (अन. ध. ४–४२)।

१ 'सुष्ठु ऊन्यते मितीक्रियते इति सून्' इस निरुक्ति के अनुसार 'सून्' का अर्थ परिमित होता है, सून् ऐसा जो ऋत अर्थात् प्रिय व सत्य वचन है उसे, सूनृत कहा जाता है। कठोरता, पिशुनता, असभ्यता चंचलता, आविलता (मलिनता), विरलता, भ्रान्ति, सन्दिग्धता, ग्रामीणता, राग-द्वेषयुक्तता और उपधि (कपट), अवद्य व निन्दा को छोड़कर जो मधुरता, उदारता, स्पष्टता और कुलीनता आदि का व्यवहार करते हुए जिनवचन के अनुसार वचन बोला जाता है उसे सूनृत वचन कहते हैं।

सूरि—देखो आचार्य। १. प्रव्रज्यादायकः सूरिः संयतानां निगीर्यते। (योगसा. प्रा. ८–९)। २. छत्तीसगुणसमग्गो णिच्चं आयरइ पंच आयारो। सिस्साणुग्गहकुसलो भणिओ सो सूरि परमेट्ठी॥ (भाव. दै. ३७७)।

१ संयतों को जो दीक्षा दिया करता है उसे सूरि कहा जाता है। २ जो छत्तीस गुणों से परिपूर्ण होकर पांच आचारों का पालन करता हुआ शिष्यों के अनुग्रह में दक्ष होता है उसे सूरि कहते हैं।

सूर्यप्रज्ञप्ति—१. सूर्यचरितप्रज्ञापनं यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा सूर्यप्रज्ञप्तिः। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ६१)। २. सूरपण्णत्ती पंचलक्ख तिण्णिसहस्सेहि ५०३००० सूरस्साउ भोगोवभोग-परिवारिद्धि-गइ बिंबुस्सेह-दिणकिरणुज्जोववण्णणं कुणइ। (धव पु. १, पृ. ११०); सूर्यप्रज्ञप्तौ त्रिसहस्राधिकपंचशतसहस्रपदायां सूर्यबिम्बमार्ग-परिवारायु:प्रमाणं तत्प्रभावृद्धिह्रासकारणं सूर्यदिन-मास-वर्ष-युगायनविधानं राहु-सूर्यबिम्बप्रच्छाद्य-प्रच्छादकविधानं तद्गतिविशेषग्रहच्छाया-काल-राश्युदयविधानं च निरूप्यते। (धव. पु. ९, पृ. २०६)। ३ सूराउ-मंडल-परिवारिड्ढि-पमाण-गमणायणुप्पत्तिकारणादीणि सूरसंबंधाणि सूरपण्णत्ती वण्णेदि। (जयध. १, पृ. १३२)। ४. त्रिसहस्र पंचलक्षपदपरिमाणा सूर्यविभवादिप्रतिपादिका सूर्यप्रज्ञप्तिः। (त. श्रुतभ. टी ६, पृ. १७४)। ५. सूर्यप्रज्ञप्तिः सूर्यस्यायुर्मण्डल-परिवार-ऋद्धि-गमनप्रमाणग्रहणादीनि वर्णयति। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र ३६२)। ६. सूर्यायुर्गति-विभवनिरूपिका त्रिसहस्राधिकपंचलक्षपदप्रमाणा सूर्यप्रज्ञप्तिः। (त. वृत्ति श्रुत. १–२०)। ७. सहस्सतियं पणलक्खा पयाणि पण्णत्तियाक[क]स्स॥ सूरस्सायुविमाणे परिया रिद्धी य अयणपरिमाणं। तत्ताव-तमे [मग्ग] गहणं वण्णेदि वि सूरपण्णत्ती॥ (अंगप. २, ३–४, पृ. २७४)।

१ जिस ग्रन्थ प्रकरण में सूर्य के वृत्तान्त का ज्ञापन कराया जाता है उसे सूर्यप्रज्ञप्ति कहा जाता है। २ सूर्यप्रज्ञप्ति पाँच लाख तीन हजार (५०३०००) पदों के द्वारा सूर्य की आयु, भोग-उपभोग, परिवार, ऋद्धि, गति, बिम्ब की ऊंचाई, दिन, किरण, और उद्योत की प्ररूपणा करती है।

सूर्यमास—१. सूर्यमासस्त्वयमवगन्तव्यः—त्रिंशद् दिनान्यर्धं च (३०½)। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४, १५)। २. सार्द्धत्रिंशताऽहोरात्रैरेकः सूर्यमासः। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १२–७५, पृ. २१९)।

१ साढ़े तीस (३०½) दिनों का एक सूर्यमास होता है।

सृपाटिकानाम—सृपाटिकानाम कोटिद्वयसंगते यत्रास्थिनी (सिद्ध. 'ये अस्थिनी') चर्म-स्नायु-मांसावनद्धे ('सिद्ध वद्धे') तत्सृपाटिकानाम कीर्त्यते। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८–१२)।

दोनों ओर संगत जिस संहनन में दोनों ओर की

किरिया ।। छेदोवट्ठावणं जइण समयं यं परूवदि । परस्स समयं जत्थ किरियाभेया अणेयसे ।। (अंगप. १, २०–२२, पृ. २६१) ।

२ सूत्रकृतांग में लोक, अलोक, लोकालोक जीव, अजीव, जीवाजीव, स्वसमय, परसमय और स्व-समय-परसमय इनकी सूचना की जाती है। सूत्र-कृतांग में एक सौ अस्सी क्रियावादियों, चौरासी अक्रियावादियों, सड़सठ अज्ञानवादियों और बत्तीस वैनयिकवादियों, इस प्रकार तीन सौ तिरेसठ (१८०+८४+६७+३२=३६३) पाखण्डियों की रचना करके उनके अभिमत को दिखलाते हुए उसका निराकरण करके अपने समय को प्रतिष्ठित किया जाता है। सूत्रकृतांग में परिमित वाचनायें, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढ (छन्दविशेष), संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तियां और संख्यात प्रतिपत्तियां होती हैं। वह दूसरा अंग है जो दो श्रुतस्कन्धों और तेईस अध्ययनों आदि में विभक्त है। ३ सूत्रकृतांग में ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्प्य-अकल्प्य, छेद-उपस्थापना और व्यवहारधर्मक्रिया इनकी प्ररूपणा की जाती है।

सूत्रग्राहणविनय—उद्युक्तः सन् शिष्यं सूत्रं ग्राह-यति । एप सूत्रग्राहणविनयः । (व्यव. भा. मलय. वृ. १०–३१३) ।

प्रयत्नपूर्वक शिष्य के लिए जो सूत्र को ग्रहण कराया जाता है, इसे सूत्रग्राहणविनय कहते हैं। यह श्रुत-विनय के चार भेदों में प्रथम है।

सूत्ररुचि—१. जो सुत्तमहिज्जंतो, सुएण ओगाहई उ सम्मत्तं । अंगेण बाहिरेण व, सो सुत्तरुई त्ति नायव्वो ।। (उत्तरा. २८–२१; प्रज्ञाप. गा. १२०, पृ. ५६) । २. प्रव्रज्या-मर्यादाप्ररूपणाचारसूत्रश्रवण-मात्रसमुद्भूतसम्यग्दर्शनाः सूत्ररुचयः । (त. वा. ३, ३६, २) । ३. आचाराख्यादिमांगोक्ततपोभेदश्रुते-र्द्रुतम् ।। प्रादुर्भूता रुचिस्तज्ज्ञैः सूत्रजेति निरूप्यते । (म. पु ७४, ४४३–४४) । ४. आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्दधानः सूक्तासौ सूत्रदृष्टिः ××× । (आत्मानु. १३) । ५. यतिजनाचरण-निरूपणपा-[मा-]त्रं सूत्रम् । (उपासका. पृ. ११४)। ६. सूत्रं यतिजनाचरणनिरूपणमात्रम् । (अन. ध. स्वो. टी. २–६२) । ७. मुनीनामाचारसूत्रं मूला-चारशास्त्रं श्रुत्वा यदुत्पद्यते तत्सूत्रसम्यक्त्वम् । (दर्शनप्रा. टी. १२) ।

१ जो सूत्र का अध्ययन करता हुआ अंगश्रुत से अथवा बाह्य—अनंगप्रविष्ट—श्रुत से सम्यक्त्व का अवगाहन करता है उसे सूत्ररुचि जानना चाहिए। २ प्रव्रज्या (दीक्षा) व मर्यादा के प्ररूपक आचार-सूत्र के सुनने मात्र से जिनके सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ है उन्हें सूत्ररुचि कहा जाता है। ३ आचारांग नामक प्रथम अंग में प्ररूपित तप के भेदों के सुनने से जो शीघ्र रुचि (तत्त्वश्रद्धा) उत्पन्न होती है उसे सूत्ररुचि कहते हैं।

सूत्रसम—देखो सूत्र । ××× इति वयणादो तित्थयरवयणविणिग्गयबीजपदं सुत्तं । तेण सुत्तेण समं वट्टदि उप्पज्जदि त्ति गणहरदेवम्मि ठिदसुद-णाणं सुत्तसमं । (धव. पु. ६, पृ. २५६); विभक्त्यंत-भेदेन पठनं सूत्रसमं ××× इदि केवि आइरिया परूवेंति । (धव. पु. ६, पृ. २६१); जिणवयण-विणिग्गयबीजपदादो अणंतत्थावगहणेण अक्खरणिद्दे-सत्तणेण य पत्तसुत्तणामादो गणहरदेवेसुप्पण्णकदिअ-णियोगो सुत्तेण सह वुत्तीदो सुत्तसमं । (धव. पु. ६, पृ. २६८); सुत्त सुदकेवली, तेण समं सुदणाणं सुत्तसमं । अथवा सुत्तं बारहंगसद्दागमो, आयरियोव-देसेण विणा सुत्तादो चेव जं उप्पज्जदि सुदणाणं तं सुत्तसमं । (धव. पु. १४, पृ. ८) ।

तीर्थंकर के मुख से निकले हुए बीजपद को सूत्र कहते हैं। उस सूत्र के साथ चूंकि वह रहता है उत्पन्न होता है, इस प्रकार गणधर देव में स्थित श्रुतज्ञान को सूत्रसम कहा जाता है। सूत्र से अभिप्राय श्रुत-केवली का है, उसके समान श्रुतज्ञान को सूत्रसम कहते हैं; अथवा सूत्र का अर्थ बारह अंगरूप शब्दा-गम है, आचार्य के उपदेश के बिना सूत्र से ही जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह सूत्रसम कहलाता है।

सूत्रसंश्रय—संचिन्त्येति स्थितस्थानं तपः काल गुरु कुलम् । पृष्ट्वा श्रुतं श्रुतं नाम स्वं प्रतिक्रमणादि-कम् ।। शयनाशन-यानादौ प्रेक्ष्य वृत्तं दिनत्रयम् । निश्चित्य गुरुश्चारित्रशुद्धि तत्सूरिसम्मतः ।। स्व-शक्तिमुक्त्वा व्याख्यादौ तद्व्याख्यातं पठेच्छ्रुतम् । स्वस्येष्टं प्रश्रयादेतत्पठनं सूत्रसंश्रयः ।। (आचा. सा. २, ४६–४८) ।

इस प्रकार आकर स्थान में स्थित हुए अभ्यागत साधु से उसके स्थान, तप, काल, गुरु, कुल, श्रुत,

श्रुतनाम और प्रतिक्रमण आदि के विषय में पूछ कर तीन दिन तक उसके शयन, आसन और गमनादि विषयक आचरण को देखकर गुरु उसकी चारित्र-शुद्धि का निश्चय करके आचार्य की सम्मति से श्रुत का व्याख्यान करे तथा नवागत शिष्य, साधु गुरु के द्वारा व्याख्यात श्रुत को विनयपूर्वक पढ़े। इस प्रकार के पठन का नाम सूत्रसंश्रय है।

सूनृत—१. सुष्ठु ऊन्यतेऽप्रियमात्राश्रयणं मितीक्रियते इति सून्, सून् च तद् ऋतं च सूनृतं प्रियं सत्यं च। तच्च पारुष्य-पैशून्यासभ्यत्व-चापलाविलत्व-विरलत्व-संभ्रान्तत्व-संदिग्धत्व-ग्राम्यत्व - रागद्वेषयुक्तत्वोपधावद्य-विकत्थनपरिहारेण माधुर्यौदार्य-स्फुटत्वाभिजात्यपदार्थाभिव्याहाराऽर्हद्वचनानुसारार्थ-त्वार्थिजनभावग्राहकत्वदेश-कालोपपन्नत्वयतमितहित-त्वैर्युक्तं वाचन-प्रच्छन-प्रश्न-व्याकरणादिरूपमिति मृषावादपरिहाररूपं सूनृतम्। (योगशा. स्वो. विव. ४-९३)। २. प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं सूनृतव्रतमुच्यते। तत्तथ्यमपि नो तथ्यमप्रियं चाहितं च यत्॥ (त्रि. श. पु. च. १, ३, ६२३)। ३. सत्यं प्रियं हितं चाहुः सूनृतं सूनृतव्रताः। (अन. ध. ४-४२)।

१ 'सुष्ठु ऊन्यते मितीक्रियते इति सून्' इस निरुक्ति के अनुसार 'सून्' का अर्थ परिमित होता है, सून् ऐसा जो ऋत अर्थात् प्रिय व सत्य वचन है उसे, सूनृत कहा जाता है। कठोरता, पिशुनता, असभ्यता चंचलता, आविलता (मलिनता), विरलता, भ्रान्ति, सन्दिग्धता, ग्रामीणता, राग-द्वेषयुक्तता और उपधि (कपट), अवद्य व निन्दा को छोड़कर जो मधुरता, उदारता, स्पष्टता और कुलीनता आदि का व्यवहार करते हुए जिनवचन के अनुसार वचन बोला जाता है उसे सूनृत वचन कहते हैं।

सूरि—देखो आचार्य। १. प्रव्रज्यादायकः सूरिः संयतानां निगीर्यते। (योगसा. प्रा. ८-९)। २. छत्तीसगुणसमग्गो णिच्चं आयरइ पंच आयारो। सिस्साणुग्गहकुसलो भणिओ सो सूरि परमेट्ठी॥ (भाव. दे. ३७७)।

१ संयतों को जो दीक्षा दिया करता है उसे सूरि कहा जाता है। २ जो छत्तीस गुणों से परिपूर्ण होकर पांच आचारों का पालन करता हुआ शिष्यों के अनुग्रह में दक्ष होता है उसे सूरि कहते हैं।

सूर्यप्रज्ञप्ति—१. सूर्यचरितप्रज्ञापनं यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा सूर्यप्रज्ञप्तिः। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ९१)। २. सूरपण्णत्ती पंचलक्ख तिण्णिसहस्सेहि ५०३००० सूरस्साउ-भोगोवभोग-परिवारिद्धि-गइ-बिंबुस्सेह-दिणकिरणुज्जोववण्णणं कुणइ। (धव. पु. १, पृ. ११०); सूर्यप्रज्ञप्तौ त्रिसहस्राधिकपंचशतसहस्रपदायां सूर्यबिम्बमार्ग-परिवारायुःप्रमाणं तत्प्रभावृद्धि-ह्रासकारणं सूर्यदिन-मास-वर्ष-युगायनविधानं राहु-सूर्यबिम्बप्रच्छाद्य-प्रच्छादकविधानं तद्गतिविशेष-ग्रहच्छाया-काल-राशुदयविधानं च निरूप्यते। (धव. पु. ९, पृ. २०६)। ३. सूराउ-मंडल-परिवारिद्धि-पमाण-गमणायणुप्पत्तिकारणादीणि सूरसंबंधाणि सूरपण्णत्ती वण्णेदि। (जयध. १, पृ. १३२)। ४. त्रिसहस्र पंचलक्षपदपरिमाणा सूर्यविभवादिप्रतिपादिका सूर्यप्रज्ञप्तिः। (तं. श्रुतभ. टी. ८, पृ. १७४)। ५. सूर्यप्रज्ञप्तिः सूर्यस्यायुर्मण्डल-परिवार-ऋद्धि-गमनप्रमाणग्रहणादीनि वर्णयति। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र ३६२)। ६. सूर्यायुर्गति-विभव-निरूपिका त्रिसहस्राधिकपंचलक्षपदप्रमाणा सूर्य-प्रज्ञप्तिः। (त. वृत्ति श्रुत. १-२०)। ७. सहस्सतियं पणलक्खा पयाणि पण्णत्तियाक[क्क]स्स॥ सूरस्सायुविमाणे परिया रिद्धी य अयणपरिमाणं। तत्ताव-तमे [मग्ग] गहणं वण्णेदि वि सूरपण्णत्ती॥ (अंगप. २, ३-४, पृ. २७४)।

१ जिस ग्रन्थ प्रकरण में सूर्य के वृत्तान्त का ज्ञापन कराया जाता है उसे सूर्यप्रज्ञप्ति कहा जाता है। २ सूर्यप्रज्ञप्ति पांच लाख तीन हजार (५०३०००) पदों के द्वारा सूर्य की आयु, भोग-उपभोग, परिवार, ऋद्धि, गति, बिम्ब की ऊंचाई, दिन, किरण, और उद्योत की प्ररूपणा करती है।

सूर्यमास—१. सूर्यमासस्त्वयमवगन्तव्यः—त्रिंशद् दिनान्यर्धं च (३०½)। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४, १५)। २. सार्धत्रिंशताऽहोरात्रैरेकः सूर्यमासः। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १२-७५, पृ. २१९)।

१ साढ़े तीस (३०½) दिनों का एक सूर्यमास होता है।

सृपाटिकानाम—सृपाटिकानाम कोटिद्वयसंगते यत्रास्थिनी (सिद्ध. 'ये अस्थिनी') चर्म-स्नायु-मांसावनद्धे ('सिद्ध वद्धे') तत्सृपाटिकानाम कीर्त्यते। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८-१२)।

दोनों ओर संगत जिस संहनन में दोनों ओर की

हड्डियां चमड़ा, स्नायु और मांस से सम्बद्ध हों उसका नाम सृपाटिकासंहनन है। तत्त्वार्थवार्तिक में उसे असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन कहा गया है। उसके लक्षण में वहां कहा गया है कि जिस संहनन में हड्डियां भीतर परस्पर में सन्धि को प्राप्त नहीं होतीं और बाहिर सिर, स्नायु और मांस से संघटित रहती हैं उसे असंप्राप्तासृपाटिका संहनन कहते हैं (८, ११, ९)।

सेतुक्षेत्र— तत्र सेतुक्षेत्रं यदरघट्टादिजलेन सिच्यते। (योगशा. स्वो. विव. ३–९५; सा. ध. स्वो. टी. ४–६४)।

जो खेत अरहट आदि के जल से सींचा जाता है उसे सेतुक्षेत्र कहते हैं।

सेनापति—सेनापतिः नरपतिनिरूपितोष्ट्र-हस्त्यश्व-रथ-पदातिसमुदायलक्षणायाः सेनायाः प्रभुः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १६)।

राजा के द्वारा प्रदर्शित ऊंट, हाथी, घोड़ा, रथ और पादचारियों के समुदायरूप सेना का जो स्वामी होता है उसे सेनापति कहा जाता है।

सेवार्तसंहनन—यत्र पुनः परस्परपर्यन्तमात्रसंस्पर्शलक्षणां सेवामागतानि अस्थीनि नित्यमेव स्नेहाभ्यंगादिरूपां परिशीलनामाकांक्षति तत्सेवार्तं सहननं (एतन्निबन्धनं संहनननामापि)। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७२)।

जिस संहनन में परस्पर पर्यन्त मात्र के स्पर्शरूप सेवा को प्राप्त हड्डियां सदा चिकनाहट के मर्दनरूप परिशीलना की इच्छा किया करती हैं उसे सेवार्तसंहनन कहते हैं। इसके कारणभूत नामकर्म को भी सेवार्तसंहनन कहा जाता है।

सेवीका—सेवीकातो णाम संपय-समये पदेसग्गं अणुदिन्नं जासु ट्ठितिसु उदीरणातो आणेउं उदयसमये दिज्जति तातो ट्ठितितो सेवीकातो भन्नई। (कर्मप्र. चू. उदय. ४)।

इस समय जो प्रदेशाग्र उदय को नहीं प्राप्त है उसको उदीरणा के वश लाकर जिन स्थितियों में दिया जाता है उन स्थितियों को सेवीका कहा जाता है।

सेव्यार्थाधिकता—देखो उपभोग-परिभोगानर्थक्य और उपभोगाधिकत्व। सेव्यस्य भोगोपभोगलक्षणस्य जनको यावानर्थस्ततोऽधिकस्य तस्य करणं भोगोपभोगानर्थक्यमित्यर्थः। (सा. ध. स्वो. टी. ५–१२)।

भोग-उपभोगरूप सेव्य पदार्थ का जितना प्रयोजन हो उससे अधिक के करने का नाम सेव्यार्थाधिकता है। यह अनर्थदण्डव्रत का एक अतिचार है। दूसरे शब्द से उसे भोगोपभोगानर्थक्य कहना चाहिए।

सोपक्रमायु— देखो उपक्रम। उपक्रम्यत इति उपक्रमः विष-वेदना-रक्तक्षय-भय-संक्लेश-शस्त्रघातोच्छ्वासनिःश्वासनिरोधैरायुषो घातः, सह उपक्रमेण वर्तत इति सोपक्रमायुः। (मूला. वृ. १२–८३)।

विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, संक्लेश, शस्त्रघात और उच्छ्वास-निःश्वास का निरोध; इनके द्वारा जो आयु का घात होता है उसका नाम उपक्रम है। जो आयु इस उपक्रम से सहित होती है उसे सोपक्रमायु कहा जाता है।

सौक्ष्म्य—लिङ्गेनात्मानं सूचयति सूच्यतेऽसौ सूच्यतेऽनेन सूचनमात्रं वा सूक्ष्मः, सूक्ष्मस्य भावः कर्म वा सौक्ष्म्यम्। (त. वा. ५–२४)।

जिस लिंग के द्वारा अपने को सूचित करता है (कर्ता), जो सूचित किया जाता है (कर्म), जिसके द्वारा सूचित किया जाता है (करण), अथवा सूचनामात्र (भाव) का नाम सूक्ष्म है, सूक्ष्म का जो स्वभाव अथवा कर्म है उसे सौक्ष्म्य कहा जाता है।

सौख्य—किं सौख्यं सर्वसंगविरतिर्या। (प्रश्नो. र. १३)।

सुख का वास्तविक स्वरूप समस्त परिग्रह का परित्याग है।

सौजन्य—१. तत्सौजन्यं यत्र नास्ति परोद्वेगः। (नीतिवा. २७–५४, पृ. २९१)। २. हेत्वन्तरकृतोपेक्षे गुण-दोष-प्रवर्तिते। स्यातामादानहाने चेत्तद्धि सौजन्यलक्षणम्॥ (क्षत्रचू. ५–१९)। ३. तथा च बादरायण—यस्य कृत्येन कृत्स्नेन सानन्दः स्याज्जनोऽखिलः। सौजन्यं तस्य तज्ज्ञेयं विपरीतमतोऽन्यथा॥ (नीतिवा. टी. २७–५४)।

१ जिस कृत्य में किसी दूसरे को उद्वेग नहीं होता उसका नाम सौजन्य है। २ अन्य कारणों की उपेक्षा करके केवल गुण के आश्रय से जो वस्तु को ग्रहण किया जाता है और दोष के निमित्त से जो उसे छोड़ा जाता है, यह सौजन्य का लक्षण है।

सौध—धौत-पादाम्भसा सिक्तं साधूनां सौधमुच्यते। (अमित. श्रा. ९–२३)।

सौध—यथार्थ गृह—उसे कहा जाता है जो साधुओं के धोए गये पांवों के जल से सिंचित होता है।

सौभाग्य—१. तत्सौभाग्यं यत्रादानेन वशीकरणं। (नीतिवा. २७–५६, पृ. २६१)। २. तथा च गौतमः—दानहीनोऽपि वशगो जनो यस्य प्रजायते। सुभगः स परिज्ञेयो न यो दानादिनिर्भरः॥ (नीतिवा. टी. २७-५६)।

१ जिसके होने पर दान के बिना भी लोगों को वश में किया जाता है उसका नाम सौभाग्य है।

सौभाग्यमुद्रा—परस्पराभिमुखौ ग्रथिताङ्गुलीकौ करौ कृत्वा तर्जनीभ्यामनामिके गृहीत्वा मध्यमे प्रसार्य तन्मध्येऽङ्गुष्ठद्वयं निक्षिपेदिति सौभाग्यमुद्रा। (निर्वाणक. पृ ३३)।

गूंथी हुई अंगुलियों से युक्त दोनों हाथों को एक दूसरे के अभिमुख करके व दोनों तर्जनी अंगुलियों के द्वारा दोनों अनामिकाओं को ग्रहण करके मध्य-अंगुलियों को फैलाते हुए उनके मध्य में दोनों अंगूठों को रखना चाहिए। इस स्थिति में सौभाग्य-मुद्रा बनती है।

सौम्य—तथा सौम्योऽक्रूराकारः। (योगशा. स्वो. विव. १-५५, पृ. १५६)।

क्रूरता के सूचक शरीर के आकार का न होना, इसका नाम सौम्य है।

सौम्या व्याख्या—क्वचित्क्वचित्स्खलितवृत्तेर्व्याख्या सौम्या। (धव. पु. ६, पृ. २५२)।

कहीं कहीं स्खलित होते हुए जो व्याख्या की जाती है उसका नाम सौम्या व्याख्या है। यह वाचना के नन्दा आदि चार भेदों में अन्तिम है।

सौषिर—देखो सुषिर। १. वंश-शंखादिनिमित्तः शौषिरः। (स. सि. ५–२४; त. वा. ५, २४, ५)। २. सुसिरो णाम वंस-संख-काहलादिजणिदो सद्दो। (धव. पु. १३, पृ. २२१)।

१ बांस (बांसुरी) व शंख आदि के निमित्त से जो शब्द होता है उसे सौषिर कहते हैं।

स्कन्ध—१. खंधं सयलसमत्थं × × ×। (पंचा. का. ७५; मूला. ५–३४; ति. प. १–९५; गो. जी. ६०४)। २. स्थूलभावेन ग्रहण-निक्षेपणादिव्यापार-स्कन्धनात् स्कन्धा इति संज्ञायन्ते। (स. सि. ५-२५)। ३. खंधोऽणंतपएसो अत्थे गइओ जयम्मि छिज्जेज्जा। भिज्जेज्ज व एवइओ (एगयरो) नो छिज्जे नो य भिज्जेज्जा॥ (जीवस. ९७)। ४. स्थौल्याद् ग्रहण-निक्षेपणादिव्यापारास्कन्दनात् स्कन्धाः। स्थौल्यभावेन ग्रहण-निक्षेपणादिव्यापारस्कन्द-(न्ध-)नात् स्कन्धा इति संज्ञायन्ते। (त. वा. ५, २५, २); परिप्राप्तबन्ध-परिणामाः स्कन्धाः। × × × अनन्तानन्तपरमाणु-बन्धविशेषः स्कन्धः। (त. वा. ५, २५, १६)। ५. स्निग्धरूक्षात्मकाणूनां सङ्घातः स्कन्ध इष्यते॥ (म. पु. २४–१४६; जम्बू. च. ३–४६)। ६. अनन्तानन्तपरमाण्वारब्धोऽप्येकः स्कन्धनामपर्यायः। (पंचा का. अमृत. वृ ७५)। ७. णिद्धिल्लावयवं च खंधा × × ×। (भावसं. दे. ३०४)। ८ बद्धाः स्कन्धाः गन्ध-शब्द-सौक्ष्म-स्थौल्याकृतिस्पृशः। अन्ध-कारातपोद्योत-भेदच्छायात्मका अपि॥ कर्म-काय-मनोभाषाचेष्टितोच्छ्वासदायिनः। सुख-दुःखजीवि-तव्य-मृत्यूपग्रहकारिणः॥ (योगशा. स्वो. विव. १–१६, पृ. ११३)। ९. स्कन्धं सर्वांशसम्पूर्णं भणन्ति। (गो. जी. जी. प्र. ६०४)। १०. स्थूल-त्वेन ग्रहण निक्षेपणादिव्यापारं स्कन्धन्ति गच्छन्ति ये ते स्कन्धाः। (त. वृत्ति श्रुत. ५–२५)।

१ जो समस्त अंशों से परिपूर्ण हो उसे स्कन्ध कहते हैं। ३ अनन्त प्रदेशों से युक्त स्कन्ध होता है जो लोक में छेदा भेदा जा सकता है। ४ जो स्थूलता के आश्रय से ग्रहण करने व रखने रूप व्यापार का कारण होता है उसे स्कन्ध कहा जाता है।

स्कन्धदेश—१. तस्स (खंदस्स) दु (ति. प. 'य') अद्धं भणंति देसोत्ति। (पंचा. का. ७५; मूला. ५–३४; ति. प. १–९५; गो. जी. ६०४)। २. तदर्धं देशः। (त वा. ५, २५, १६)। ३. × × × तस्स य अद्धं च वुच्चदे देसो। (भावसं. दे. ३०४)।

१ विवक्षित स्कन्ध के अर्ध भाग को स्कन्धदेश कहते हैं।

स्कन्धप्रदेश—१. (खंधस्स) अद्धद्धं च पदेसो × × ×॥ (पंचा. का. ७५; मूला. ५–१३४; ति. प. १–९५; भावसं. दे. ३०४; गो. जी. ६०४)। २ अर्धार्धं प्रदेशः। (त. वा. ५, २५, १६)।

१ स्कन्ध के आधे के आधे को स्कन्धप्रदेश कहा जाता है।

स्तनदृष्टिदोष— १. यस्य कायोत्सर्गस्थस्य स्तनयोर्दृष्टिरात्मीयौ स्तनौ यः पश्यति तस्य स्तनदृष्टिनामा दोषः। (मूला. वृ. ७–१७१)। २. दंशादिवारणार्थमज्ञानाद् वा स्तने चोलपट्टकं निबध्य स्थानं स्तनदोषः। धात्रीवद् बालार्थं स्तनावुन्नमय्य स्थानं वा इत्येके। (योगशा स्वो. विव. ३–१३०)।

१ कायोत्सर्ग में स्थित रहते हुए जिसकी दृष्टि स्तनों पर रहती है – जो अपने स्तनों को देखता है, उसके स्तनदृष्टि नाम का दोष होता है। २ डांस, मच्छरों आदि के निवारण के लिए अथवा अज्ञानता से स्तनों को चोलपट्ट से बांध कर कायोत्सर्ग में स्थित होना, यह एक स्तनदोष नाम का कायोत्सर्ग का दोष है।

स्तनदोष—देखो स्तनदृष्टिदोष।

स्तनितकुमार— १. स्निग्धाः स्निग्ध-गम्भीरानुनादमहास्वनाः कृष्णा वर्धमानचिह्नाः स्तनितकुमाराः। (त. भा. ४–११)। २. स्तनन्ति शब्दं कुर्वन्ति स्तनः शब्दः संजातो वा येषां ते स्तनिताः, × × × स्तनिताश्च ते कुमाराः स्तनितकुमाराः। (त. वृत्ति श्रुत. ४–१०)।

१ जो देव स्निग्ध, गम्भीर व अनुनाद (प्रतिध्वनि) रूप महान् शब्द से संयुक्त होते हुए श्यामवर्ण व वर्धमान (स्वस्तिक) चिह्न से सहित होते हैं वे स्तनितकुमार (भवनवासी) देव कहलाते हैं।

स्तनोन्नतिदोष—देखो स्तनदोष। उन्नमय्य स्थितिर्वक्षः स्तनदावत् स्तनोन्नतिः॥ (अन. ध. ८, ११५)।

बालक को स्तनपान कराने वाली स्त्री के समान वक्षस्थल को ऊंचा उठाकर कायोत्सर्ग मे स्थित होने पर स्तनोन्नति नाम का दोष होता है।

स्तब्धदोष— १. विद्यादिगर्वेणोद्धतः सन् यः करोति क्रियाकर्म तस्य स्तब्धनामा दोषः। (मूला. वृ ७, १०६)। २. स्तब्धं मदाष्टकवशीकृतस्य वन्दनम्। (योगशा. ३–१३०)। ३. × × × वन्दनायां मदोद्धृतिः। स्तब्धं × × ×॥ (अन. ध. ८, ६८)।

१ ज्ञान आदि के मद से उद्धत होकर जो कृतिकर्म को करता है उसके स्तब्ध नामक दोष उत्पन्न होता है। यह वन्दनाविषयक ३२ दोषों के अन्तर्गत है।

स्तम्भदोष— १. स्तम्भमाश्रित्य यस्तिष्ठति कायोत्सर्गेण तस्य स्तम्भदोषः, स्तम्भवत् शून्यहृदयो वा, तत्साहचर्येण स एवोच्यते। (मूला. टी. ७–१७१)। २. स्तम्भः स्तम्भाद्यवष्टम्य × × × स्थितिः॥ (अन. ध. ८–११३)। ३. स्तम्भमवष्टभ्य स्थानं स्तम्भदोषः। (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०)।

१ खम्भे का आश्रय लेकर जो कायोत्सर्ग से स्थित होता है उसके स्तम्भ नामक दोष होता है। अथवा जो स्तम्भ के समान शून्य हृदय होकर कायोत्सर्ग से स्थित होता है उसके उक्त दोष समझना चाहिए।

स्तव— १. उसहादिजिणवराणं णामणिरुत्तिं गुणाणुकित्तिं च। काऊण अच्चिदूण य तिसुद्धिपणमो थवो णेओ॥ (मूला. १–२४)। २. देविंदथयमादी तेणं तु परं थया होई॥ (व्यव. भा. ७–१८३)। ३. तीताणागद-वट्टमाणकालविसयपंचपरमेसराणं भेदमकाऊण णमो अरहंताणं णमो जिणाणमिच्चादिणमोक्कारो दव्वट्ठियणिबन्धणो थवो णाम। (धव. पु. ८, पृ. ८४); बारसंगसंघारो सयलंगविसयप्पणादो थवो णाम। × × × कदीए उवसंहारस्स सयलाणियोगद्दारेसु उवजोगो थवो णाम। (धव. पु. ९, पृ. २६३); सव्वसुदणाणविसओ उवजोगो थवो णाम। (धव. पु. १४, पृ. ९)। ४. कृत्वा गुणगणोत्कीर्तिनामव्युत्पत्तिपूजनम्। वृषभादिजिनाधीशस्तवनं स्तवनं मतम्॥ (आचा. सा. १-१५)। ५. रत्नत्रयमयं शुद्धं चेतनं चेतनात्मकम्। विविक्तं स्तुवतो नित्यं स्तवज्ञैः स्तूयते स्तवः॥ (योगसा. प्रा. ५–४८)। ६. सयलंगेक्कंगेक्कंगहियार सवित्थरं ससंखेवं। वण्णणसत्थं थय-थुइ-धम्मकहा होइ णियमेण॥ (गो. क. ८८)। ७. स्तवः चतुर्विंशतितीर्थकरस्तुतिः। (मूला. वृ. १–२२)। ८. परतश्चतुःश्लोकादिकः स्तवः। अन्येषामाचार्याणां मतेन × × × ततः परमष्टश्लोकादिकाः स्तवाः। (व्यव. भा. मलय. वृ. ७–१८३)। ९. चतुर्विंशतिजिनानां स्तुतिः स्तवः। (भावप्रा. टी. ७७)। १०. चतुर्विंशतितीर्थंकरस्तुतिरूपः स्तवः। (त. वृत्ति श्रुत. १–२०)। ११. परमोरालियदेहसम्मोसरणाण धम्मदेसस्स। वण्णणमिह तं थवणं तप्पडिवद्धं च सत्थं च॥ (अंगप. ३–१५)।

१, ४ ऋषभादि जिनेन्द्रों की नामनिरुक्ति और गुणानुवाद के साथ जो पूजा की जाती है तथा मन, वचन व काय की शुद्धिपूर्वक उन्हें प्रणाम किया

जाता है, इसे स्तव—चतुर्विंशतिस्तव—जानना चाहिए। २, ८ एक, दो व तीन श्लोक रूप स्तुति के आगे चौथे अथवा मतान्तर के अनुसार आठवें श्लोक को आदि लेकर स्तव जानना चाहिए, जैसे देवेन्द्रस्तव आदि। ३ भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल विषयक पांच परमेष्ठियों में भेद न करके द्रव्यार्थिक नय के अनुसार जो 'अरहन्तों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो', इत्यादि रूप से नमस्कार किया जाता है इसका नाम स्तव है। ६ जिस शास्त्र में संपूर्ण अंग का संक्षेप अथवा विस्तार से वर्णन किया जाता है उसे स्तव कहते हैं।

स्तिबुक संक्रम—१. × × × थिवुग्रो अणुदग्राए उ जं उदये ॥ (कर्मप्र. सं. क. ७१)। २. उदयसरूवेण समट्ठिदीए जो संकमो सो त्थिवुक्कसंकमो त्ति भण्णदे। (जयध.—कसायपा. पृ. ७०० टि.)। ३. पिंडपगईण जा उदयसंगया तीए अणुदयगयाओ। संकामिऊण वेयइ जं एसो थिवुगसकामो ॥ (पंचसं. सं. क. ८०)। ४. थिवुगसंकमो वुच्चति—अणुदिण्णाणं कम्माणं दलितं उदयवति कम्मे पाडिवज्जति। जहा मणूसस्स, मणुयगतीए वेतिज्जमाणीए णरगगति-तिरियगति-देवगतिकम्मदलितं अणुदिण्णं मणुअगतिए समं वेदिज्जति। (कर्मप्र. चू. सं. क. ७१)। ५. अनुदीर्णाया अनुदयप्राप्तायाः सत्कं यत्कर्मदलिकं सजातीयप्रकृतावुदयप्राप्तायां समानकालस्थितौ संक्रमयति, संक्रमय्य चानुभवति, यथा मनुजगतावुदयप्राप्तायां शेषं गतित्रयम्, एकेन्द्रियजातौ जातिचतुष्टयमित्यादि, स स्तिवुकसंक्रमः। (कर्मप्र. मलय. वृ. ७१)।

१ अनुदीर्ण प्रकृति के दलिक का जो उदयप्राप्त प्रकृति में विलय होता है उसे स्तिवुकसंक्रम कहते हैं। २ विवक्षित प्रकृति का समान स्थिति वाली अन्य प्रकृति में जो संक्रमण होता है उसका नाम स्तिवुकसंक्रम है। ३ गति, जाति आदि पिण्ड-प्रकृतियों में जो अन्यतम प्रकृति उदय को प्राप्त है उस समान कालस्थिति वाली अन्यतम प्रकृति में अनुदयप्राप्त अन्य प्रकृतियों को संक्रान्त कराकर जो वेदन किया जाता है उसे स्तिवुकसंक्रम कहा जाता है। जैसे- उदयप्राप्त मनुष्यगति में शेष तीन नरकगति आदि का व एकेन्द्रिय जाति में शेष चार जातियों का इत्यादि।

स्तुति—देखिये स्तव। १. गुणस्तोकं सदुल्लंघ्य तद्बहुत्वकथा स्तुतिः। (स्वयम्भू. ८६)। २. याथात्म्यमुल्लंघ्य गुणोदयाख्या लोके स्तुतिः × × ×। (युक्त्यनु. २)। ३. एग-दुग-तिसिलोका कतीसु अन्नेसि होइ जा सत्त। (व्यव भा. ७-१८३)। ४. बारसंगेसु एक्कंगोवसंघारो थुदी णाम। × × × तत्थेगणियोगद्दारुवजोगो थुदी णाम। (धव. पु. ६, पृ. २६३); एयंगविसग्रो एयपुव्वविसग्रो वा उवजोगो थुदी णाम। (धव. पु. १४, पृ. ६)। ५. स्तुतिः पुण्यगुणोत्कीर्तिः × × ×। (म. पु. २५, ११)। ६ स्तुतिः स्तुत्यानां सद्भूतगुणोत्कीर्तनम्। (त. भा. सिद्ध वृ. ७-६)। ७. एकश्लोका द्विश्लोका त्रिश्लोका वा स्तुतिर्भवति। × × × अन्येषामाचार्याणां मतेन एकश्लोकादिसप्तश्लोकपर्यन्ता स्तुतिः। (व्यव. भा. मलय. वृ. ७-१८३)।

१ थोड़े से गुणों का अतिक्रमण करके जो बहुत से गुणों का निरूपण किया जाता है उसे स्तुति कहते हैं। ३, ७ एक, दो और तीन श्लोक तक स्तुति कहलाती है। ४ बारह अंगों में एक अंग के उपसंहार को स्तुति कहा जाता है। एक अंगविषयक अथवा एक पूर्वविषयक उपयोग का नाम स्तुति है।

स्तेनप्रयोग—देखो चौरप्रयोग। १. मुष्णन्तं स्वयमेव वा प्रयुङ्क्तेऽन्येन वा प्रयोजयति प्रयुक्तमनुमन्यते वा यतः स स्तेनप्रयोगः। (स. सि. ७-२७)। २. मोषकस्य त्रिधा प्रयोजनं स्तेनप्रयोगः। मुष्णन्तं स्वयमेव वा प्रयुंक्ते अन्येन वा प्रयोजयति, प्रयुक्तमनुमन्यते वा यतः (चा. सा. 'यः') स स्तेनप्रयोगो वेदितव्यः। (त. वा. ७, २७, १; चा सा. पृ. ६)। ३. स्तेनाः चौराः, तान् प्रयुंक्ते 'हरत यूयम्' इति हरणक्रियायां प्रेरणमनुज्ञानं वा प्रयोगः, अथवा परस्वादानोपकरणानि कर्तरी-घर्घरकादीनि। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७-२२)। ४. कश्चित् पुमान् चौरीं करोति, अन्यस्तु कश्चित्तं चोरयन्तं स्वयं प्रेरयति मनसा वाचा कायेन, अन्येन वा केनचित्पुंसा तं चोरयन्तं प्रेरयति मनसा वाचा कायेन, स्वयमन्येन वा प्रेर्यमाणं चौरीं कुर्वन्तं अनुमन्यते मनसा वाचा कायेन, एवंविधाः सर्वेऽपि प्रकाराः स्तेनप्रयोगशब्देन लभ्यन्ते। (त. वृत्ति श्रुत. ७-२७)। ५. परस्य प्रेरणं लोभात् स्तेयं प्रति मनीषिणा। स्तेनप्रयोग इत्युक्तः स्तेयातीचारसंज्ञकः ॥ (लाटीसं.

६–४६)।

१ जिसके आश्रय से चोरी करने वाले को स्वयं ही उसमें उद्यत करता है, अन्य से प्रेरणा कराता है अथवा चोरी में प्रवृत्त हुए चोर की अनुमोदना करता है उसे स्तेनप्रयोग कहा जाता है। ३ चोरों को 'तुम चोरी करो' इस प्रकार चोरी के लिए प्रेरित करना अथवा अनुमोदन करना, इसका नाम स्तेनप्रयोग है। अथवा परधनहरण के जो कैंची व घर्घरक आदि उपकरण हैं उनके देने आदि को स्तेनप्रयोग जानना चाहिए। यह अचौर्याणुव्रत का एक अतिचार है।

स्तेनानीतादान—देखो तदानीतादान व तदाहृतादान।

स्तेनानुज्ञा—देखो स्तेनप्रयोग। स्तेनाश्चौरास्तेषामनुज्ञा 'हरत यूयम्' इति हरणक्रियायां प्रेरणा, अथवा स्तेनोपकरणानि कुशिका-कर्तरिका-घर्घरिकादीनि तेषामर्पणं विक्रयणं वा स्तेनानुज्ञा। (योगशा. स्वो. विव. ३–९२)।

'तुम चोरी करो' इस प्रकार से चोरी की क्रिया में प्रेरित करने का नाम स्तेनानुज्ञा है। अथवा कुशिका, कैंची और घर्घरिक आदि चोरी के उपकरणों का देना, इसे स्तेनानुज्ञा कहा जाता है। यह अचौर्याणुव्रत का एक अतिचार है।

स्तेनानुबन्धी—देखो चौर्यानन्द। तेणाणुबन्धी णाम जो अहो या राईय परदव्वहरणपसत्तो जीवघाती य एस तेणाणुबंधी। (दशवै. चू. पृ. ३१)।

दिन-रात प्राणिहिंसा के कारणभूत दूसरे के द्रव्य के हरण में जो चित्त संलग्न रहता है, इसे स्तेनानुबन्धी रौद्रध्यान कहा जाता है।

स्तेनितदोष—१. स्तेनितं चौरबुद्ध्या यथा गुर्वादयो न जानन्ति वन्दनादिकमपवरकाभ्यन्तरं प्रविश्य वा परेषां वन्दनां चोरयित्वा यः करोति वन्दनादिकं तस्य स्तेनितदोषः। (मूला. वृ. ७–१०८)। २. स्याद्वन्दने चोरिकया गुर्वादेः स्तेनितं मलः। (अन. ध. ८–१०४)।

१ गुरु आदि नहीं जानते, इस प्रकार चोरी की बुद्धि से कोठरी के भीतर प्रविष्ट होकर अथवा दूसरों की वन्दना को चुराकर जो वन्दना आदि करता है उसके वन्दना का स्तेनितदोष होता है।

स्तेय—१. अदत्तादानं स्तेयम्। (त. सू. दि. ७-१५, श्वे. ७–१०)। २. प्रमत्तयोगाददत्तादानं यत् तत्स्तेयम्। (स. सि. ७–१५)। ३. स्तेयबुद्ध्या परैरदत्तस्य परिगृहीतस्य वा तृणादेर्द्रव्यजातस्यादानं स्तेयम्। (त. भा. ७–१०)। ४. आदानम् ग्रहणम्, अदत्तस्याऽऽदानम् अदत्तादानं स्तेयमित्युच्यते। (त. वा. ७–१५); ××× प्रमत्तस्य सत्यसति च परकीयद्रव्यादाने त्रेधाऽपि तदादानाद्यर्थोद्यतत्वात् स्तेयम्। (त. वा. ७, १५, ६)। ५. परपरिगृहीतस्य स्वीकरणमाक्रान्त्या चौर्येण शास्त्रप्रतिषिद्धस्य वा स्तेयम्। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ७–१)। ६. स्तेयबुद्ध्या कषायादिप्रमादकलुषितधिया करणभूतया कर्तुः परिणन्तुराददानस्य स्तेयमिति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–१०)। ७. प्रमत्तयोगतो यस्यादत्तार्थपरिग्रहः। प्रत्येयं तत्खलु स्तेयं सर्वं संक्षेपयोगतः॥ (त. सा. ४–७६)। ८. अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्। तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात्॥ (पु. सि. १०२)। ९. परैरदत्तस्यादाने मनः स्तेयं ×××। (आचा. सा. ५–४२)। १०. यल्लोकैः स्वीकृतं सर्वलोकाप्रवृत्तिगोचरः तद्वस्तु अदत्तम्, तस्य ग्रहणं जिघृक्षा वा ग्रहणोपायचिंतनं च स्तेयमुच्यते। (त. वृ. श्रुत. ७–१५)।

१ बिना दी हुई किसी वस्तु को ग्रहण करना, इसका नाम स्तेय है। २ कषायविशिष्ट आत्मपरिणाम के योग से जो बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण किया जाता है, इसे स्तेय कहते हैं। ३ दूसरों के द्वारा नहीं दिये गये अथवा दूसरों के द्वारा गृहीत तृण आदि द्रव्यसमूह को जो चोरी के अभिप्राय से ग्रहण किया जाता है, यह स्तेय कहलाता है।

स्तेयत्यागव्रत—देखो अचौर्याणुव्रत। ग्रामादौ वस्तु चान्यस्य पतितं विस्मृतं धृतम्। गृह्यते यन्न लोभात्तत्स्तेयत्यागमणुव्रतम्॥ (धर्मसं. श्रा. ६–५४)।

जो दूसरों की वस्तु ग्राम आदि में गिर गई है, विस्मृत है, अथवा रखी गई है उसे लोभ के वशीभूत होकर ग्रहण न करना; यह स्तेयत्याग अणुव्रत कहलाता है। यह अचौर्याणुव्रत का नामान्तर है।

स्तेयानन्द—देखो स्तेनानुबन्धी। १. प्रतीक्षया प्रमादस्य परस्वहरणं प्रति। प्रसह्य हरणं ध्यानं स्तेयानन्दमुदीरितम्॥ (ह. पु. ५६–२४)। २. स्तेयानन्दः परद्रव्यहरणे स्मृतियोजनम्। (म. पु.

२१-५१)। ३. परविसयहरणसीलो ×××। (कार्तिके. ४७६)। ४ स्तेयानन्दमवाप्य यत्परधनं बन्धादिनिन्द्यैर्हितैरानन्दितवमवाप्तुमुत्सुकतरं चेतश्च तैस्तद्भवेत्॥ (आचा. सा. १०-२१)। ५. स्तेनस्य चौरस्य कर्म स्तेयं तीव्रक्रोधाद्याकुलतया तदनुबन्धवत् स्तेयानुबन्धिः। (स्थाना. अभय. वृ. २४७)। ६. परविषयहरणशीलः, परेषां विषयाः रत्न-सुवर्ण-रूप्यादि-धन-धान्य-कलत्र-वस्त्राभरणादयः तेषां हरणे चौर्यकर्मणि ग्रहणे अदत्तादाने शीलं स्वभावो यस्य स स्तेयानन्दः। (कार्तिके. टी. ४७६)।

१ परधनहरण के प्रति प्रमादी होकर हठात् उसका ग्रहण करना, इसे स्तेयानन्द रौद्रध्यान कहा गया है। ५ चोर की क्रिया का नाम स्तेय है, तीव्र क्रोधादि से व्याकुल होकर जो निरन्तर स्तेय का विचार रहता है, इसे स्तेयानुबन्धी रौद्रध्यान कहा जाता है।

स्तेयानुबन्धी—देखो स्तेनानुबन्धी।

स्तैनिक—देखो स्तेनितदोष। स्तैनिकं मम लाघवं भविष्यतीति परेभ्य आत्मानं निगूहयतो वन्दनम्। (योगशा. स्वो. विव. ३-१३०)।

मेरी लघुता प्रगट होगी, इस विचार से दूसरों से अपने को छिपाते हुए वन्दना करने पर स्तैनिक दोष होता है।

स्तोक—१. सत्त पाणूणि से थोवे ×××। (भगवती ६, ७, गा. २—सुत्तागमे पृ. ५०३; अनुयो. गा. १०५, पृ. १७९; जम्बूद्वी. गा. २-२, पृ. ८६; ध्यानश. हरि. वृ. ३ उद्.)। २. सत्तुस्सासो थोवं ×××। (ति. ४-२८७; जं. दी. प. १३, ५)। ३. ते सप्त स्तोक.। (त. भा ४-१५)। ४. पाणा य सत्त थोवा ××× ॥ (ज्योतिष्क. ९)। ५. पाणू य सत्त थोवो ××× ॥ (जीवस. १०७)। ६. ××× सप्तभिः स्तोकमुदाहरन्ति। (वरांगच. २७-४)। ७. सप्त प्राणाः स्तोकः। (त. वा. ३, ३८, ८)। ८. थोवे सत्तुस्सासा। (अनुयो चू. पृ. ५७)। ९. सत्तपाणूकालो एगो थोवो। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ५४)। १०. सत्त उस्सासे घेत्तूण एगो थोवो हवदि। ××× उक्तं च—××× सत्तुस्सासो थोवो ××× ॥ (धव. पु. ३, पृ. ६५; गो. जी. ५७४)। ११. ××× सत्तुसासहि थोवउ लेक्खहि॥ (म. पु. पुष्प. २-५, पृ. २२)। १२. ते (प्राणाः) सप्तसङ्ख्याकाः स्तोको नाम कालविशेषः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४-१५)। १३. प्राणाः सप्त पुनः स्तोकः ×××। (ह. पु. ७-२०)। १४. सत्तुस्सासे थोवो ×××। (भावसं. ३१३)। १५. सप्तानप्राणप्रमाणः स्तोकः। (सूर्यप्र. मलय. वृ. २०-७६, पृ. २९२)। १६. सप्तोच्छ्वासाः स्तोकः। (कार्तिके. टी. २२०)।

१ सात प्राण का एक स्तोक होता है। २ सात उच्छ्वास का एक स्तोक होता है।

स्त्यानगृद्धि—देखो स्त्यानर्द्धि। १. स्वप्नेऽपि यया वीर्यविशेषाविर्भावः सा स्त्यानगृद्धिः। (स. सि. ८-७)। २. स्वपित्युत्थापितो भूयः स्वपत्कर्म करोति च। अबद्धं लभते किञ्चित् स्त्यानगृद्धिक्रमो मतः॥ (वरांगच. ४-५२)। ३. स्वप्ने यया वीर्यविशेषाविर्भावः स्त्यानगृद्धिः। यत्सन्निधानाद्रौद्रकर्मकरणं बहुकर्मकरणं च भवति सा स्त्यानगृद्धिः। (त. वा. ८, ७, ६)। ४. स्त्यायतीति स्त्यानं स्तिमितचित्तो नातीव विकस्वरचेतन आत्मा (सिद्ध. वृ. 'बाहुलकात् कर्तरि ल्युट्') स्त्यानस्य स्वापविशेषे सति गृद्धिः आकांक्षा मांस-मोदक-दन्ताद्युदाहरणप्रसिद्धा। स्त्यानर्द्धिरिति वा पाठः, तदुदयाद्धि महाबलोऽर्द्धचक्रवर्तितुल्यबलः प्रकर्षप्राप्तो भवति, अन्यथा जघन्य-मध्यमावस्थाभाजोऽपि संहननापेक्षया महत्त्वेयेति (सिद्ध. 'सम्भवत्येवेति') स्त्यानस्य ऋद्धिः स्त्यानर्द्धिरिति। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८-८)। ५. थीणगिद्धीए णिद्दोदएण उट्ठाविदो वि पुणो सोवदि, सुत्तो वि कम्मं कुणदि, सुत्तो वि झंखइ, दंते कडकडावेइ। (धव. पु. ६, पृ. ३२); जिस्से णिद्दाए उदएण जंतो वि थंभियो व णिच्चलो चिट्ठदि, ठियो वि बइसदि, बइट्ठओ वि णिवज्जदि, णिवण्णओ वि उट्ठाविदो वि ण उट्ठदि, सुत्तओ चेव पंथे वहदि कसदि लुणदि परिवादि कुणदि सा थीणगिद्धी णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३५४)। ६. स्त्यानगृद्धिर्यया स्त्याने स्वप्ने गृद्धचति दीप्यते। आत्मा यदुदयाद्रौद्रं बहुकर्म करोति सा॥ (ह. पु. ५८-२२९)। ७. स्वप्ने वीर्यविशेषाविर्भावः सा स्त्यानगृद्धिः ××× यदुदयादात्मा रौद्रं बहुकर्म करोति स्त्यानगृद्धिः। (मूला. वृ. १२-८८)। ८. स्त्याना पिण्डीभूता, ऋद्धिः आत्मशक्तिरूपा यस्यां स्वापावस्थायां सा स्त्यानर्द्धिः, तद्भावे हि प्रथमसंहननस्य केशवार्द्धबलसदृशी शक्तिरुपजायते। तथा च श्रूयते प्रवचने को-

६–४६)।

१ जिसके आश्रय से चोरी करने वाले को स्वयं ही उसमें उद्यत करता है, अन्य से प्रेरणा कराता है अथवा चोरी में प्रवृत्त हुए चोर की अनुमोदना करता है उसे स्तेनप्रयोग कहा जाता है। ३ चोरों को 'तुम चोरी करो' इस प्रकार चोरी के लिए प्रेरित करना अथवा अनुमोदन करना, इसका नाम स्तेनप्रयोग है। अथवा परधनहरण के जो कैंची व घर्घरक आदि उपकरण हैं उनके देने आदि को स्तेनप्रयोग जानना चाहिए। यह अचौर्याणुव्रत का एक अतिचार है।

स्तेनानीतादान—देखो तदानीतादान व तदाहृतादान।

स्तेनानुज्ञा—देखो स्तेनप्रयोग। स्तेनाश्चौरास्तेषामनुज्ञा 'हरत यूयम्' इति हरणक्रियायां प्रेरणा, अथवा स्तेनोपकरणानि कुशिका-कर्तरिका-घर्घरिकादीनि तेषामर्पणं विक्रयण वा स्तेनानुज्ञा। (योगशा. स्वो. विव. ३–९२)।

'तुम चोरी करो' इस प्रकार से चोरी की क्रिया में प्रेरित करने का नाम स्तेनानुज्ञा है। अथवा कुशिका, कैंची और घर्घरिक आदि चोरी के उपकरणों का देना, इसे स्तेनानुज्ञा कहा जाता है। यह अचौर्याणुव्रत का एक अतिचार है।

स्तेनानुबन्धी—देखो चौर्यानन्द। तेणाणुवन्धी णाम जो अहो या राईय परदव्वहरणपसत्तो जीवघाती य एस तेणाणुवंधी। (दशवै. चू पृ. ३१)।

दिन-रात प्राणिहिंसा के कारणभूत दूसरे के द्रव्य के हरण में जो चित्त संलग्न रहता है, इसे स्तेनानुबन्धी रौद्रध्यान कहा जाता है।

स्तेनितदोष—१. स्तेनितं चोरबुद्ध्या यथा गुर्वादयो न जानन्ति वन्दनादिकमपवरकाभ्यन्तरं प्रविश्य वा परेषां वन्दनां चोरयित्वा यः करोति वन्दनादिकं तस्य स्तेनितदोषः। (मूला. वृ. ७–१०८)। २. स्याद्वन्दने चोरिकया गुर्वादेः स्तेनितं मलः। (अन. ध. ८–१०४)।

१ गुरु आदि नहीं जानते, इस प्रकार चोरी की बुद्धि से कोठरी के भीतर प्रविष्ट होकर अथवा दूसरों की वन्दना को चुराकर जो वन्दना आदि करता है उसके वन्दना का स्तेनितदोष होता है।

स्तेय—१. अदत्तादानं स्तेयम्। (त. सू. दि. ७-१५, श्वे. ७–१०)। २. प्रमत्तयोगाददत्तादानं यत् तत्स्तेयम्। (स. सि. ७–१५)। ३. स्तेयबुद्ध्या परैरदत्तस्य परिगृहीतस्य वा तृणादेर्द्रव्यजातस्यादानं स्तेयम्। (त. भा. ७–१०)। ४. आदानम् ग्रहणम्, अदत्तस्याऽऽदानम् अदत्तादानं स्तेयमित्युच्यते। (त. वा. ७–१५); ××× प्रमत्तस्य सत्यसति च परकीयद्रव्यादाने त्रेधाऽपि तदादानाद्यर्थोद्यतत्वात् स्तेयम्। (त. वा. ७, १५, ९)। ५. परपरिगृहीतस्य स्वीकरणमाक्रान्त्या चौर्येण शास्त्रप्रतिषिद्धस्य वा स्तेयम्। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ७–१)। ६. स्तेयबुद्ध्या कषायादिप्रमादकलुषितधिया करणभूतया कर्तुः परिणन्तुराददानस्य स्तेयमिति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–१०)। ७. प्रमत्तयोगतो यत्स्याददत्तार्थपरिग्रहः। प्रत्येयं तत्खलु स्तेयं सर्वं संक्षेपयोगतः॥ (त. सा. ४–७६)। ८. अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्। तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात्॥ (पु. सि. १०२)। ९. परैरदत्तस्यादाने मनः स्तेयं ×××। (आचा. सा. ५–४२)। १०. यल्लोकैः स्वीकृतं सर्वलोकाप्रवृत्तिगोचरः तद्वस्तु अदत्तम्, तस्य ग्रहणं जिघृक्षा वा ग्रहणोपायचिंतनं च स्तेयमुच्यते। (त. वृ. श्रुत. ७–१५)।

१ बिना दी हुई किसी वस्तु को ग्रहण करना, इसका नाम स्तेय है। २ कषायविशिष्ट आत्मपरिणाम के योग से जो बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण किया जाता है, इसे स्तेय कहते हैं। ३ दूसरों के द्वारा नहीं दिये गये अथवा दूसरों के द्वारा गृहीत तृण आदि द्रव्यसमूह को जो चोरी के अभिप्राय से ग्रहण किया जाता है, वह स्तेय कहलाता है।

स्तेयत्यागव्रत—देखो अचौर्याणुव्रत। ग्रामादौ वस्तु चान्यस्य पतितं विस्मृतं धृतम्। गृह्यते यन्न लोभात्तत्स्तेयत्यागमणुव्रतम्॥ (धर्मसं. श्रा. ६–५४)।

जो दूसरों की वस्तु ग्राम आदि में गिर गई है, विस्मृत है, अथवा रखी गई है उसे लोभ के वशीभूत होकर ग्रहण न करना; यह स्तेयत्याग अणुव्रत कहलाता है। यह अचौर्याणुव्रत का नामान्तर है।

स्तेयानन्द—देखो स्तेनानुबन्धी। १. प्रतीक्षया प्रमादस्य परस्वहरणं प्रति। प्रसह्य हरणं ध्यानं स्तेयानन्दमुदीरितम्॥ (ह. पु. ५६–२४)। २. स्तेयानन्दः परद्रव्यहरणे स्मृतियोजनम्। (म. पु.

२१–५१)। ३. परविसयहरणसीलो × × ×। (कार्तिके. ४७६)। ४ स्तेयानन्दमवाप्य यत्परधनं वन्ध्यादिनिन्द्येहितैरानन्दित्वमवाप्तुमुत्सुकतरं चेतश्च तैस्तद्भवेत् ॥ (आचा. सा. १०–२१)। ५. स्तेनस्य चौरस्य कर्म स्तेयं तीव्रक्रोधाद्याकुलतया तदनुबन्धवत् स्तेयानुबन्धि। (स्थाना. अभय. वृ. २४७)। ६. परविषयहरणशीलः, परेषां विषयाः रत्न-सुवर्ण-रूप्यादि-धन-धान्य-कलत्र-वस्त्राभरणादयः तेषां हरणे चौर्यकर्मणि ग्रहणे अदत्तादाने शीलं स्वभावो यस्य स स्तेयानन्दः। (कार्तिके. टी ४७६)।

१ परधनहरण के प्रति प्रमादी होकर हठात् उसका ग्रहण करना, इसे स्तेयानन्द रौद्रध्यान कहा गया है। ५ चोर की क्रिया का नाम स्तेय है, तीव्र क्रोधादि से व्याकुल होकर जो निरन्तर स्तेय का विचार रहता है, इसे स्तेयानुबन्धी रौद्रध्यान कहा जाता है।

स्तेयानुबन्धी —देखो स्तेनानुबन्धी।

स्तैनिक—देखो स्तेनितदोष। स्तैनिकं मम लाघवं भविष्यतीति परेभ्य आत्मानं निगूहयतो वन्दनम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०)।

मेरी लघुता प्रगट होगी, इस विचार से दूसरों से अपने को छिपाते हुए वन्दना करने पर स्तैनिक दोष होता है।

स्तोक—१. सत्त पाणूणि से थोवे × × ×। (भगवती ६, ७, गा. २—सुत्तागमे पृ. ५०३; अनुयो. गा. १०५, पृ. १७९; जम्बूद्वी. गा. २–२, पृ. ८९; ध्यानश. हरि. वृ. ३ उद्.)। २. सत्तुस्सासो थोवं × × ×। (ति. ४–२८७; जं. दी. प. १३, ५)। ३. ते सप्त स्तोक.। (त. भा ४–१५)। ४. पाणा य सत्त थोवा × × × ॥ (ज्योतिष्क. ९)। ५. पाणू य सत्त थोवो × × × ॥ (जीवस. १०७)। ६. × × × सप्तभिः स्तोकमुदाहरन्ति। (वरांगच. २७–४)। ७. सप्त प्राणाः स्तोकः। (त. वा. ३, ३८, ८)। ८. थोवे सत्तुस्सासा। (अनुयो चू. पृ. ५७)। ९. सत्तपाणूकालो एगो थोवो। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ५४)। १०. सत्त उस्सासे घेत्तूण एगो थोवो हवदि। × × × उक्तं च— × × × सत्तुस्सासो थोवो × × × ॥ (धव. पु. ३, पृ. ६५; गो. जी. ५७४)। ११. × × × सत्तूसासहिं थोवउ लेक्खहि ॥ (म. पु. पुष्प. २–५, पृ. २२)। १२. ते (प्राणाः) सप्तसङ्ख्याकाः स्तोको नाम कालविशेषः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४–१५)। १३. प्राणाः सप्त पुनः स्तोकः × × ×। (ह. पु. ७–२०)। १४. सत्तुस्सासे थोओ × × ×। (भावसं. ३१३)। १५. सप्तानप्राणप्रमाणः स्तोकः। (सूर्यप्र मलय. वृ. २०–७६, पृ. २९२)। १६. सप्तोच्छ्वासाः स्तोकः। (कार्तिके. टी. २२०)।

१ सात प्राण का एक स्तोक होता है। २ सात उच्छ्वास का एक स्तोक होता है।

स्त्यानगृद्धि – देखो स्त्यानर्द्धि। १. स्वप्नेऽपि यया वीर्यविशेषाविर्भावः सा स्त्यानगृद्धिः। (स. सि. ८–७)। २. स्वपित्युत्थापितो भूयः स्वपत्कार्यं करोति च। अबद्धं लभते किञ्चित् स्त्यानगृद्धिक्रमो मतः ॥ (वरांगच. ४–५२)। ३ स्वप्ने यया वीर्यविशेषाविर्भावः स्त्यानगृद्धिः। यत्सन्निधानाद्रौद्रकर्मकरण बहुकर्मकरणं च भवति सा स्त्यानगृद्धिः। (त. वा. ८, ७, ६)। ४. स्त्यायतीति स्त्यान स्तिमितचित्तो नातीव विकस्वरचेतन आत्मा (सिद्ध. वृ. 'बाहुलकात् कर्तरि ल्युट्') स्त्यानस्य स्वापविशेषे सति गृद्धिः आकांक्षा मांस-मोदक-दन्ताद्युदाहरणप्रसिद्धा। स्त्यानर्द्धिरिति वा पाठः, तदुदयाद्धि महाबलोऽर्द्धचक्रवर्तितुल्यबलः प्रकर्षप्राप्तो भवति, अन्यथा जघन्य-मध्यमावस्थाभाजोऽपि संहननापेक्षया महत्येयेति (सिद्ध. 'सम्भवत्येवेति') स्त्यानस्य ऋद्धिः स्त्यानर्द्धिरिति। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८–८)। ५. थीणगिद्धीए तिव्वोदएण उट्ठाविदो वि पुणो सोवदि, सुत्तो वि कम्मं कुणदि, सुत्तो वि झंखइ, दंते कडकडावेइ। (धव. पु. ६, पृ. ३२); जिस्से णिद्दाए उदएण जंतो वि थम्भियो व णिच्चलो चिट्ठदि, ठियो वि वइसदि, वइट्ठओ वि णिवज्जदि, णिवण्णओ वि उट्ठाविदो वि ण उट्ठदि, सुत्तओ चेव पंथे वहदि कसदि लुणदि परिवादि कुणदि सा थीणगिद्धी णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३५४)। ६. स्त्यानगृद्धिर्यया स्त्याने स्वप्ने गृद्ध्यति दीप्यते। आत्मा यदुदयाद्रौद्रं बहुकर्म करोति सा ॥ (ह. पु. ५८–२२९)। ७. स्वप्ने वीर्यविशेषाविर्भावः सा स्त्यानगृद्धिः × × × यदुदयादात्मा रौद्रं बहुकर्म करोति स्त्यानगृद्धिः। (मूला. वृ. १२–८८)। ८. स्त्याना पिण्डीभूता, ऋद्धिः आत्मशक्तिरूपा यस्यां स्वापावस्थायां सा स्त्यानर्द्धिः, तद्भावे हि प्रथमसंहननस्य केशवार्द्धबलसदृशी शक्तिरुपजायते। तथा च श्रूयते प्रवचने को,

ऽपि प्राप्तः क्षुल्लकः स्त्यानर्द्धिनिद्रासहितो द्विरदेन दिवा खलीकृतः, ततस्तस्मिन् द्विरदे बद्धाभिनिवेशो रजन्यां स्त्यानर्द्ध्युदये प्रवर्तमानः समुत्थाय तद्दन्त-मुसलमुत्पाट्य स्वोपाश्रयद्वारि च प्रक्षिप्य पुनः प्रसुप्त-वानित्यादि। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४६७)। ९. स्वप्ने यया वीर्यविशेषाविर्भावः सा स्त्यानगृद्धि-र्दर्शनावरणकर्मविशेषः। स्त्याने स्वप्ने गृद्ध्यति यदु-दयादात्मा रौद्रं बहुकर्म करोति। (भ. श्रा. मूला. २०९४)। १०. स्वप्ने यया वीर्यविशेषाविर्भावः सा स्त्यानगृद्धिः। स्त्याने स्वप्ने गृध्यते दीप्यते यदु-दयादात्मा रौद्रं च बहु च कर्मकरण सा स्त्यानगृद्धिः। (गो. क. जी. प्र. ३३)। ११. यस्यां बलविशेष-प्रादुर्भावः स्वप्ने भवति सा स्त्यानगृद्धिरुच्यते। × × × स्त्याने स्वप्ने गृद्ध्यति दीप्यते यो निद्रा-विशेषः सा स्त्यानगृद्धिरुच्यते × × × यदुदया-ज्जीवो बहुतरं दिवाकृत्यं रौद्रकर्म करोति सा स्त्यान-गृद्धिरुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ८-७)।

१ जिसके द्वारा सुप्त अवस्था में भी विशेष सामर्थ्य प्रगट होता है उसे स्त्यानगृद्धि कहते हैं। ४ सोने की एक विशेष अवस्था का नाम स्त्यान और गृद्धि का अर्थ आकांक्षा है, इसमें आत्मा स्थिर चित्त वाला होता हुआ अतिशय विकसित स्वर वाला नहीं होता। इसके लिए मांस, मोदक और दन्त आदि के उदाहरण का निर्देश किया गया। यहां 'स्त्यानर्द्धि' यह पाठभेद भी प्रगट किया गया है। तदनुसार प्राणी उसके उदय में प्रगट हुई शक्ति से अर्धचक्री के समान बलवान् होता है। ५ स्त्यानगृद्धि का तीव्र उदय होने पर प्राणी उठाये जाने पर भी फिर से सो जाता है, सोता हुआ भी कार्य करता है व सन्तप्त होता हुआ विलाप करता है। ८ जिस सुप्तावस्था में आत्मशक्ति रूप ऋद्धि पिण्डीभूत होती है उसे स्त्यानर्द्धि कहा जाता है। उसके सद्भाव में प्रथम संहनन वाले के अर्धचक्री के समान शक्ति उत्पन्न होती है। यहां प्रवचनोक्त एक उदाहरण देते हुए कहा गया है कि हाथी से पीड़ित एक क्षुल्लक ने उसके प्रतीकार स्वरूप स्त्यानगृद्धि के उदय में सोते हुए उठकर व उस बलिष्ठ हाथी के दांत को उखाड़ कर अपने उपाश्रय के द्वार पर रख दिया और फिर से सो गया।

स्त्यानर्द्धि—देखो स्त्यानगृद्धि।

स्त्री—१. स्त्रीवेदोदयात् स्त्यायत्यस्यां गर्भ इति स्त्री॥ (स. सि. २-५२; त. वा. २, ५२, १; मूला. वृ. १२-८७)। २. छादयदि सयं दोसेण जदो (धव. व गो जी. 'दोसेण यदो') छादयदि परंपि दोसेण। छादणसीला णियदं तम्हा सा वण्णिया इत्थी॥ (प्रा. पंचसं. १-१०५; धव. पु. १, पृ. ३४१ उद्.; गो. जी. २७४)। ३. दोषैरात्मानं परं च स्तृणाति छादयतीति स्त्री। × × × अथवा पुरुषं स्तृणाति आकाङ्क्षतीति स्त्री पुरुषकाङ्क्षेत्यर्थः। (धव. पु. १, पृ. ३४०); स्तृणाति याच्छादयति दोषैरात्मानं परं चेति स्त्री। (धव. पु. ६, पृ. ४६; मूला. वृ. १२-१९२)। ४. गर्भः स्त्यायति यस्यां या दोषैश्छादयति स्वयम्। नराभिलाषिणी नित्यं या सेह स्त्री निरुच्यते॥ (पंचसं. अमित. १-१९९)। ५. स्त्यायति संघातीभवत्यस्यां गर्भ इति स्त्री। (न्यायकु. ४७, पृ. ६४८)। ६. यस्मात् कारणात् यः स्तृणाति स्वयं आत्मानं दोषैः मिथ्यादर्शनाज्ञाना-संयम-क्रोध-मान-माया-लोभादिभिः छादयति संवृ-णोति, नयतः मृदुभाषित स्निग्धविलोकनानुकूलवर्त-नादिकुशलव्यापारैः परमपि पुरुषमपि स्ववश्यं कृत्वा हिंसानृत-स्तेयाब्रह्म-परिग्रहादिपातकेन छादयति तस्मात् छादनशीला द्रव्य-भावाभ्यां महिला सा स्त्रीति वर्णिता। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. २७४)।

१ स्त्रीवेद के उदय से जिसमें गर्भ संघात को प्राप्त होता है वह स्त्री कहलाती है। २ जो दोष से स्वयं को तथा पर (पुरुष) को भी आच्छादित करती है उसे स्त्री कहा जाता है।

स्त्रीकथा—तथा स्त्रीकथा स्त्रीणां नेपथ्याङ्गहार-हाव-भावादिवर्णनरूपा "कर्णाटी सुरतोपचारकुशला लाटी विदग्ध (सा. ध 'विदग्धा') प्रिया" इत्यादि-रूपा वा। (योगशा. स्वो. ३-७९; सा. ध. स्वो. टी. ४-२२)।

स्त्रियों के वेषभूषा, नृत्य व हाव-भाव आदि का वर्णन करना अथवा कर्णाटक देश की स्त्री सुरत-व्यवहार में कुशल होती है, लाट देश की स्त्री चतुर व प्रिय होती है, इत्यादि प्रकार से चर्चा करना; यह स्त्रीकथा कहलाती है।

स्त्रीपरीषहसहन—१. एकान्तेष्वाराम-भवनादि-प्रदेशेषु नवयौवन-मद-विभ्रम-मदिरापानप्रमत्तासु प्रम-दासु बाधमानासु कूर्मवत्संहृतेन्द्रियहृदयविकारस्य

ललित-स्मित-मृदुकथित-सविलासवीक्षण-प्रहसन-मद-मन्थरगमन-मन्मथशरव्यापारविफलीकरणस्य स्त्रीबाधापरिषहसहनमवगन्तव्यम्। (स. सि. ९–९)। २. वराङ्गनारूपदर्शन-स्पर्शनादिविनिवृत्तिः स्त्रीपरीषहजयः। (त. वा. ९, ९, १३); एकान्ते आराम-भवनादि (चा. सा. 'भवनारामादि') प्रदेशे राग-द्वेष-यौवन-दर्प-रूप-मद-विभ्रमोन्माद-मद्यपानाऽऽवेशादिभिः प्रमदासु बाधमानासु तदक्षि-वक्त्र-भ्रूविकार-शृंगाराकार-विहार-हाव-विलास-हास-लीलाविजृंभितकटाक्षविक्षेप सुकुमार-स्निग्ध-मृदुपीनोन्नतस्तनकलश-नितान्तताम्रोदर- (चा. 'ताम्राधर') पृथुजघनरूपगुणाभरणगन्ध-माल्य-वस्त्रादीन् प्रतिनिगृहीतमनोविप्लुतेर्दर्शनस्पर्शनाभिलापनिरुत्सुकस्य स्निग्धमृदुविशदसुकुमाराभिधानतंत्रीवंशमिश्रातिमधुरगीतश्रवणनिवृत्तादरश्रोत्रस्य संसारार्णवव्यसन-पातालावगाढदुःख-रौद्राऽऽवर्तकुटिलाध्यायिनः स्त्रैणार्थनिवृत्तिः स्त्रीपरीषहजय इति कथ्यते। (त. वा. ९, ९, १३; चा. सा. पृ. ५१–५२)। ३. स्त्रीकटाक्षेक्षणादिभिर्योपिद्बाधा × × × सहनम्। (मूला. वृ. ५–५८)। ४. जेता चित्तभवस्त्रयस्य जगतां यासामपाङ्गेषुभिस्ताभिर्मत्तनितम्बिनीभिरभितः संलोभ्यमानोऽपि यः। तत्फल्गुत्वमवेत्य नैति विकृतिं तं वर्यधर्मान्दिरं (?) वन्दे स्त्र्यार्त्तिजयं जयन्तमखिलानर्थं कृतार्थं यतिम्॥ (आचा. सा. ७–१७)। ५. रागाद्युपप्लुतमतिं युवतीं विचित्रांश्चित्तं विकर्तुमनुकूलविकूलभावान्। संतन्वतीं रहसि कूर्मवदिन्द्रियाणि, संवृत्य लघ्वपवदेत गुरूक्तियुक्त्या॥ (अन. ध. ७–७६); स्त्रीदर्शन-स्पर्शनालापाभिलापादिनिरुत्सुकस्य तदक्षि-वक्त्र-भ्रूविकार-रूप-गति-हासलीलाविजृम्भितपीनोन्नतस्तन-जघनोरुमूलकक्षा-नाभिनिरीक्षणादिभिरविप्लुतचेतसस्त्यक्तवंशगीतादिश्रुतेः स्त्रीपरीषहजयः स्यादित्यर्थः। (अन. ध. स्वो. टी. ६–९६)। ६. स्त्रीदर्शन-स्पर्शनालापाभिलापादिनिरुत्सुकस्य तदक्षि-वक्त्र-भ्रूविकार-शृंगाराकार-रूप-गति-हासलीलाविजृम्भितपीनोन्नतस्तन-जघनोरु-मूल-कक्षा-नाभिनिरीक्षणादिभिरविकृतचेतसस्त्यक्तवंश गीतादिश्रुतेः स्त्रीपरीषहजयः। (आरा. सा. टी. ४०)।

१ उद्यान व भवन आदि एकान्त स्थानों में यौवन-मद एवं मदिरापान आदि से उन्मत्त स्त्रियों के द्वारा बाधा के करने पर भी जो कछुए के समान अपनी इन्द्रियों व मन के विकार को रोककर उनके मन्द हास्य व हाव-भाव आदि रूप कामव्यापार को निरर्थक कर देता है उसके स्त्रीपरीषहसहन जानना चाहिए।

स्त्रीभाववेद—मार्दवास्फुटत्व-बहुमदनावेश-नेत्रविभ्रमादिसुख-पुंस्कामतादिः स्त्रीभाववेदः। (अन. ध. स्वो. टी. ४–६४)।

मृदुलता, अस्पष्टता, बहुत कामाभिप्राय, नेत्र, विलासादि सुख एवं पुरुष आकांक्षा आदि ये स्त्रीभाववेद के लक्षण हैं।

स्त्रीलिंगसिद्धकेवलज्ञान—स्त्रीलिंगे वर्तमाना ये सिद्धास्तेषां केवलज्ञानं स्त्रीलिंगसिद्धकेवलज्ञानम्। (आव. नि. मलय. वृ. ७८, पृ. ८५)।

स्त्रीलिंग में रहते हुए जो सिद्धि को प्राप्त हुए हैं उनके केवलज्ञान को स्त्रीलिंगसिद्धकेवलज्ञान कहा जाता है।

स्त्रीवेद—देखो स्त्री व स्त्रीलिंग। १. यदुदयात्स्त्रैणान् भावान् प्रतिपद्यते स स्त्रीवेदः। (स. सि. ८, ९)। २. यस्योदयात् स्त्रैणान् भावान् मार्दवास्फुटत्व-क्लैब्य-मदनावेश-नेत्रविभ्रमास्फालनसुख-पुंस्कामनादीन् प्रतिपद्यते स स्त्रीवेदः। (त. वा. ८, ९, ४)। ३. स्त्रियः स्त्रीवेदोदयात्पुरुषाभिलापः। (श्रा. प्र. टी. १८)। ४. स्त्रियं विन्दतीति स्त्रीवेदः। अथवा वेदनं वेदः, स्त्रियो वेदः स्त्रीवेदः। (धव. पु. १, पृ. ३४०–३४१); जेसिं कम्मक्खंधाणमुदएण पुरुसम्मि आकंखा उप्पज्जइ तेसिमित्थिवेदोत्ति सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ४७); इत्थिवेदोदएण इत्थिवेदो। (धव. पु. ७, पृ. ७९); जस्स कम्मस्स उदएण पुरिसाभिलासो होदि त कम्मं इत्थिवेदो णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६१)। ५. येषां पुद्गलस्कन्धानामुदयेन पुरुष आकांक्षोत्पद्यते तेषां स्त्रीवेद इति संज्ञा। (मूला. वृ. १२–१९२)। ६. वेद्यते इति वेदः, स्त्रियो वेदः स्त्रीवेदः, स्त्रियः पुमांसं प्रत्यभिलाप इत्यर्थः, तद्विपाकवेद्यं कर्मापि स्त्रीवेदः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४६८)। ७. यदुदयात् स्त्रीपरिणामानङ्गीकरोति स स्त्रीवेदः। (त. वृत्ति श्रुत. ८–९)।

१ जिसके उदय से जीव स्त्री सम्बन्धी भावों को प्राप्त होता है उसे स्त्रीवेद कहते हैं। ३ जिसके

उदय से स्त्री के पुरुष की अभिलाषा होती है वह स्त्रीवेद कहलाता है।

स्थण्डिलसम्भोगियति—१. यत्र भिक्षा कृता तत्र स्थंडिलान्वेषणं कुर्यात् कायशोधनार्थम्, संभोगयोग्यं यतिं संघाटकत्वेन गृह्णीयात् स्वयं वा तस्य संघाटको भवेत्। एवं स्थंडिलान्वेषण(णे) संभोगयोग्ययतिना सह वृत्तो च यो यत्नपरः स्थंडिलसम्भोगी यतिरित्युच्यते। (भ. आ. विजयो. ४०३)। २. थंडिलसंभोगिजदो यत्र भिक्षा कृता तत्र स्थण्डिलं प्रासुकस्थानं कायशोधनार्थमन्वेषते। समाचारात्मकः संभोगः। योग्यं यतिं संघाटकत्वेन गृह्णीयात्, स्वयं वा तस्य संघाटको भवेत्। एवं स्थंडिलान्वेषणे संभोगयोग्ययतिना सह वृत्तो च यो यत्नपरः स स्थंडिलसंभोगियतिरित्युच्यते। (भ. आ. मूला. ४०३)।

१ जहाँ भिक्षा की है वहाँ शरीर शुद्धि के लिए प्रासुक स्थान को खोजता है, संभोग योग्य—समान समाचार वाले—यति को संघाटक (सहायक) के रूप से ग्रहण करना चाहिए, अथवा स्वयं उसका संघाटक हो जाना चाहिए। इस प्रकार प्रासुक स्थान के खोजने और संभोग योग्य यति के साथ रहने में जो उद्यत रहता है उसे स्थण्डिलसंभोगियति कहते हैं।

स्थलगता चूलिका—१. थलगया णाम तेत्तिएहि चेव पदेहि (दोकोडि-णवलक्ख-एऊणणवुइसहस्स-वेसदपदेहि) २०८९८२०० भूमिगमणकारण-मंत-तंत-तवच्छरणाणि वत्थुविज्जं भूमिसंबंधमण्णं पि सुहासुहकारणं वण्णेदि। (धव. पु. १, पृ. ११३); स्थलगतायां द्विकोटि-नवशतसहस्रैकान्नवतिसहस्रद्विशतपदायां २०९८९२०० योजनसहस्रादिगतिहेतवो विद्या-मन्त्र-तन्त्रविशेषा निरूप्यन्ते। (धव. पु. ९, पृ. २०९–१०)। २. स्थलगताप्येतावत्पद-(२०९८९२००) परिमाणैव भूगमनकारण-तंत्रादि-सूचिका, पृथिवीसंबन्धवास्तुविद्याप्रतिपादिका च। (सं. श्रुतभ. टी. ६, पृ. १७४)। ३. स्थलगता मेरु-कुलशैल-भूम्यादिषु प्रवेशन-शीघ्रगमनादिकारणमंत्र-तंत्र तपश्चरणादीनि वर्णयति। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. ३६१–६२)। ४. स्तोककालेन बहुयोजन-गमनादिहेतुभूतमंत्रतन्त्रादिनिरूपिका पूर्वोक्तपदप्रमाणा स्थलगता चूलिका। (त. वृत्ति श्रुत. १–२०)। ५. मेरु-कुलसेल-भूमीपमुहेसु पवेस-सिग्घगमणादि। कारणमंतं तंतं तत्तचरणगिहवया रम्मा॥ तित्तियपयमेत्ता हु थलगयतण्णामचूलिया भणिया (अंगप. ३, ३–४, पृ. ३०३)।

१ जिसमें पृथिवी पर गमन के कारणभूत मंत्र-तंत्र और तपश्चरण के साथ वास्तुविद्या एवं पृथिवी से सम्बद्ध अन्य भी शुभ-अशुभ के कारण की प्ररूपणा की जाती है उसे स्थलगता चूलिका कहा जाता है। उसका पदप्रमाण दो करोड़, नौ लाख, नवासी हजार दो सौ (२०९८९२००) है।

स्थलचर—सीह-वय-वग्घादयो थलचरा। (धव. पु. १, पृ. ९०); वृक-व्याघ्रादयः स्थलचराः। (धव. पु. १३, पृ. ३९१)।

सिंह, वृक (भेड़िया) और व्याघ्र आदि तिर्यंच जीवों को स्थल में गमन करने के कारण स्थलचर कहा जाता है।

स्थविर—१. स्थविरो वृद्धः। (योगशा. स्वो. विव. ४–९०)। २. धर्मे विषीदतां प्रोत्साहकः स्थविरः। (व्यव. भा. मलय. वृ. ३४, पृ. १३); स्थविरो जरसा वृद्धशरीरः। (व्यव. भा. मलय. वृ. ७४, पृ. ७४)।

१ स्थविर वृद्ध को कहा जाता है। २ धर्म में खेद-खिन्न होने वालों को जो प्रोत्साहित किया करता है उसे स्थविर कहते हैं।

स्थविरकल्प—१. एए चेव दुवालस मत्तग अइरेग-चोलपट्टो य। एसो चउद्दसविहो उवही पुण थेर-कप्पम्मि। (ओघनि. ६७१)। २. थविरकप्पो वि कहिओ अणयाराणं जिणेण सो एसो। पंचच्चेल-च्चाओ अकिंचणत्तं च पडिलिहणं॥ पंचमहव्वय-धरणं ठिदिभोयण एयभत्तकरपत्तो। भत्तिभरेण य दत्तं काले य अजायणे भिक्खं॥ दुविहतवे उज्जमणं छव्विहआवासएहिं अणवरयं। खिदिसयणं सिरलोओ जिणवरपडिरूवपडिगहणं॥ संहणणस्स गुणेण य दुस्समकालस्स तवपहावेण। पुर-णयर-गामवासी थविरे कप्पे ठिया जाया॥ उवयरणं तं गहियं जेण ण भंगो हवेइ चरियस्स। गहियं पुत्थयदाणं जोग्गं जस्स तं तेण॥ समुदाएण विहारो धम्मस्स पहावणं ससत्तीए। भवियाण धम्मसवणं सिस्साण य पालणं गहणं॥ (भावसं. १२४–२८)।

१ पात्र व पात्रबन्ध आदि बारह प्रकार की उपधि जो जिनकल्पिकों के होती है उसमें मात्रक और

चोलपट्ट के सम्मिलित करने पर चौदह प्रकार की उपधि वाला स्थविरकल्प होता है। २ पांच प्रकार के वस्त्रों का परित्याग करके दिगम्बर होना, प्रतिलेखन (पिच्छी) रखना, पाँच महाव्रतों का धारण करना, बिना याचना के योग्य समय में भक्तिपूर्वक दिए गये भोजन को खड़े रहकर हाथों के द्वारा दिन में एक ही बार ग्रहण करना, दोनों प्रकार के तप में उद्यत रहना, छह आवश्यकों का निरन्तर पालन करना, पृथिवी पर सोना, केशलोंच करना, जिनेन्द्ररूप का ग्रहण करना; दुषमा काल के प्रभाव से हीन संहनन होने के कारण पुर, नगर अथवा गांव में रहना; जिससे चारित्र भंग न हो ऐसे उपकरण को रखना, जो जिसके योग्य हो उसे पुस्तक देना, समुदाय में विहार करना, शक्ति के अनुसार धर्म की प्रभावना करना, भव्यों को धर्म सुनाना तथा शिष्यों का पालन करना; यह सब स्थविरकल्प है।

स्थान—१. उप्पत्तिहेऊ ठाणं। (धव पु ५, पृ. १८९); एगजीवम्मि एक्कम्हि समए जो दीसदि कम्माणुभागो तं ठाणं णाम। (धव. पु. १२, पृ. १११); समुद्रावरुद्धः व्रजः स्थानं नाम, निम्नगावरुद्धं वा। (धव. पु. १३, पृ. ३३६)। २. स्थानमवगाहनालक्षणम्। (आव. भा. मलय. वृ. २०५, पृ. ५९४)। ३. तिष्ठन्ति स्वाध्यायव्यापृता अस्मिन्निति स्थानम्। (व्यव. भा. मलय. वृ. पृ. ५४)।

प्रसंग के अनुसार स्थान के लक्षण अनेक देखे जाते हैं। यथा—१ उत्पत्ति के हेतु का नाम स्थान है। यह औदयिक भाव के प्रसंग में कहा गया है। प्रकृत स्थान की अपेक्षा उसके गति-लिंगादिरूप आठ भेद निर्दिष्ट किए गये हैं। एक जीव में एक समय में जो कर्म का अनुभाग दिखता है उसका नाम स्थान है। यह अनुभागाध्यवसानस्थान की प्ररूपणा के प्रसंग में कहा गया है। समुद्र व नदी से अवरुद्ध व्रज (गायों के स्थान) को स्थान कहा जाता है। यह मनःपर्ययज्ञान के विषय के प्रसंग में कहा गया है। २ स्थान का लक्षण अवगाहना है। यह पर्यायलोक के प्रसंग में कहा गया है। ३ स्वाध्याय में होकर जहाँ अवस्थित होते हैं उसे स्थान कहा जाता है।

स्थानक्रिया—एकपाद-समपादादिका स्थानक्रिया। (भ. आ. विजयो. व मूला. पृ. ८६)।

कायोत्सर्ग में एक पाद अथवा समपादरूप से स्थित होना, इसे स्थानक्रिया कहा जाता है।

स्थानसमुत्कीर्तन—तिष्ठत्यस्यां संख्यायामस्मिन् वा अवस्थाविशेषे प्रकृतय इति स्थानम्। ठाणं ठिदि अवट्ठाणमिदि एयट्ठो। समुक्कित्तणं परूवणमिदि उत्तं होदि। ठाणस्स समुक्कित्तणा ठाणसमुक्कित्तणा। (धव. पु. ६, पृ. ७९)।

जिस संख्या में अथवा अवस्थाविशेष में कर्मप्रकृतियां रहती हैं उसका नाम स्थान है, समुत्कीर्तन का अर्थ वर्णन करना है, इस प्रकार जिस अधिकार में उक्त स्थान की प्ररूपणा की गई है उसका नाम स्थानसमुत्कीर्तना है। यह षट्खण्डागम के प्रथम खण्डस्वरूप जीवस्थान की नौ चूलिकाओं में दूसरी है।

स्थानाङ्ग—१. से किं तं ठाणे? ठाणे णं ससमया ठाविज्जंति परसमया ठाविज्जंति ससमय-परसमया ठाविज्जंति जीवा ठाविज्जंति अजीवा ठाविज्जंति जीवाजीवा० लोगा० अलोगा० लोगालोगा ठाविज्जंति। ठाणे णं दव्व-गुण खेत्त-काल-पज्जव-पयत्थाणं सेला सलिला य समुद्दा सूर-भवणविमाण-आगार-णदीओ। णिहिओ पुरिसज्जाया सरा य गोत्ता य जोइसंचाला ॥१॥ एक्कविहवत्तव्वयं दुविह जाव दसविहवत्तव्वयं जीवाण पोग्गलाण य लोगट्ठाइं च णं परूवणया आघविज्जंति, ठाणस्स णं परित्ता वायणा ······से त्तं ठाणे। (समवा. १३८)। २. से किं तं ठाणे? ठाणे णं जीवा ठाविज्जंति अजीवा ठाविज्जंति [जीवाजीवा ठाविज्जंति] ससमए ठाविज्जइ परसमए ठाविज्जइ ससमय-परसमए ठाविज्जइ लोए ठाविज्जइ अलोए ठाविज्जइ लोयालोए ठाविज्जइ। ठाणे णं टंका कूडा सेला सिहरिणो पब्भारा कुंडाइं गुहाओ आगरा दहा नईओ आघविज्जंति। ठाणे णं परित्ता वायणा ····· से तं ठाणे ॥३॥ (नन्दी. सू. ८९)। ३. स्थाने अनेकाश्रयाणामर्थानां निर्णयः क्रियते। (त. वा. १, २०, १२)। ४. यत्रैकादीनि पर्यायान्तराणि वर्ण्यन्ते तत् स्थानम्। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. १-२०)।

उदय से स्त्री के पुरुष की अभिलाषा होती है वह स्त्रीवेद कहलाता है।

स्थण्डिलसम्भोगियति—१. यत्र भिक्षा कृता तत्र स्थंडिलान्वेषणं कुर्यात् कायशोधनार्थम्, संभोगयोग्यं यतिं संघाटकत्वेन गृह्णीयात् स्वयं वा तस्य संघाटको भवेत्। एवं स्थंडिलान्वेषणं(णे) संभोगयोग्ययतिना सह वृत्तो च यो यत्नपरः स्थंडिलसम्भोगो यतिरित्युच्यते। (भ. आ. विजयो. ४०३)। २. थंडिलसंभोगिजदो यत्र भिक्षा कृता तत्र स्थण्डिलं प्रासुकस्थानं कायशोधनार्थमन्वेषते। समाचारात्मकः संभोगः। योग्यं यतिं संघाटकत्वेन गृह्णीयात्, स्वयं वा तस्य संघाटको भवेत्। एवं स्थंडिलान्वेषणे संभोगयोग्ययतिना सह वृत्तो च यो यत्नपरः स स्थंडिलसंभोगियतिरित्युच्यते। (भ. आ. मूला. ४०३)।

१ जहां भिक्षा की है वहाँ शरीर शुद्धि के लिए प्रासुक स्थान को खोजता है, संभोग योग्य—समान समाचार वाले—यति को संघाटक (सहायक) के रूप से ग्रहण करना चाहिए, अथवा स्वयं उसका संघाटक हो जाना चाहिए। इस प्रकार प्रासुक स्थान के खोजने और संभोग योग्य यति के साथ रहने में जो उद्यत रहता है उसे स्थण्डिलसंभोगियति कहते हैं।

स्थलगता चूलिका—१. थलगया णाम तेत्तिएहि चेव पदेहि (दोकोडि-णवलक्ख-एऊणणवुइसहस्स-वेसदपदेहि) २०९८९२०० भूमिगमणकारण-मंत-तंत-तवच्छरणाणि वत्थुविज्जं भूमिसंबंधमण्णं पि सुहासुहकारणं वण्णेदि। (धव. पु. १, पृ. ११३); स्थलगतायां द्विकोटि-नवशतसहस्रैकान्नवतिसहस्रद्विशतपदायां २०९८९२०० योजनसहस्रादिगतिहेतवो विद्या-मन्त्र-तन्त्रविशेषा निरूप्यन्ते। (धव. पु. ९, पृ. २०९-१०)। २. स्थलगताप्येतावत्पद-(२०९८९२००) परिमाणैव भूगमनकारण-तंत्रादि-सूचिका, पृथिवीसंबन्धवास्तुविद्याप्रतिपादिका च। (सं. श्रुतभ. टी. ९, पृ. १७४)। ३. स्थलगता मेरु-कुलशैल-भूम्यादिषु प्रवेशन-शीघ्रगमनादिकारणमंत्र-तंत्र तपश्चरणादीनि वर्णयति। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. ३६१-६२)। ४. स्तोककालेन बहुयोजन-गमनादिहेतुभूतमंत्रतंत्रादिनिरूपिका पूर्वोक्तपदप्रमाणा स्थलगता चूलिका। (त. वृत्ति श्रुत. १-२०)। ५. मेरु-कुलसेल-भूमीपमुहेसु पवेस-सिग्घगमणादि कारणमंतं तंतं तवच्चरणणिह्नवया रम्मा॥ तित्तियपयमेत्ता हु थलगयसण्णामचूलिया भणिया (अंगप. ३, ३-४, पृ. ३०३)।

१ जिसमें पृथिवी पर गमन के कारणभूत मंत्र-तंत्र और तपश्चरण के साथ वास्तुविद्या एवं पृथिवी से सम्बद्ध अन्य भी शुभ-अशुभ के कारण की प्ररूपणा की जाती है उसे स्थलगता चूलिका कहा जाता है। उसका पदप्रमाण दो करोड़, नौ लाख, नवासी हजार दो सौ (२०९८९२००) है।

स्थलचर—सीह-वय-वग्घादओ थलचरा। (धव. पु. १, पृ. ९०); वृक-व्याघ्रादयः स्थलचराः। (धव. पु. १३, पृ. ३९१)।

सिंह, वृक (भेड़िया) और व्याघ्र आदि तिर्यंच जीवों को स्थल में गमन करने के कारण स्थलचर कहा जाता है।

स्थविर—१. स्थविरो वृद्धः। (योगशा. स्वो. विव. ४-९०)। २. धर्मे विषीदतां प्रोत्साहकः स्थविरः। (व्यव. भा. मलय. वृ. ३४, पृ. १३); स्थविरो जरसा वृद्धशरीरः। (व्यव. भा. मलय. वृ. ७४, पृ. ७४)।

१ स्थविर वृद्ध को कहा जाता है। २ धर्म में खेद-खिन्न होने वालों को जो प्रोत्साहित किया करता है उसे स्थविर कहते हैं।

स्थविरकल्प—१. एए चेव दुवालस मत्तग अइरेग-चोलपट्टो य। एसो चउद्दसविधो उवधी पुण थेर-कप्पम्मि। (ओघनि. ६७१)। २. थविरकप्पो वि कहिओ अणयाराणं जिणेण सो एसो। पंचच्चेल-च्चाओ अकिंचणत्तं च पडिलिहणं॥ पंचमहव्वय-धरणं ठिदिभोयण एयभत्तकरपत्तो। भत्तिभरेण य दत्तं काले य अजायणे भिक्खं॥ दुविहतवे उज्जमणं छव्विहआवासएहिं अणवरयं। खिदिसयणं सिरलोओ जिणवरपडिरूवपडिगहणं॥ संहणणस्स गुणेण य दुस्समकालस्स तवपहावेण। पुर-णयर-गामवासी थविरे कप्पे ठिया जाया॥ उवयरणं तं गहियं जेण ण भंगो हवेइ चरियस्स। गहियं पुत्थयदाणं जोग्गं जस्स तं तेण॥ समुदाएण विहारो धम्मस्स पहावणं ससत्तीए। भवियाण धम्मसवणं सिस्साण य पालणं गहणं॥ (भावसं. १२४-२९)।

१ पात्र व पात्रबन्ध आदि बारह प्रकार की उपधि जो जिनकल्पिकों के होती है उसमें मात्रक और

चोलपट्ट के सम्मिलित करने पर चौदह प्रकार की उपधि वाला स्थविरकल्प होता है। २ पांच प्रकार के वस्त्रों का परित्याग करके दिगम्बर होना, प्रतिलेखन (पिच्छी) रखना, पांच महाव्रतों का धारण करना, बिना याचना के योग्य समय में भक्तिपूर्वक दिए गये भोजन को खड़े रहकर हाथों के द्वारा दिन में एक ही वार ग्रहण करना, दोनों प्रकार के तप में उद्यत रहना, छह आवश्यकों का निरन्तर पालन करना, पृथिवी पर सोना, केशलोंच करना, जिनेन्द्ररूप का ग्रहण करना; दुषमा काल के प्रभाव से हीन संहनन होने के कारण पुर, नगर अथवा गांव में रहना; जिससे चारित्र भंग न हो ऐसे उपकरण को रखना, जो जिसके योग्य हो उसे पुस्तक देना, समुदाय में विहार करना, शक्ति के अनुसार धर्म की प्रभावना करना, भव्यों को धर्म सुनाना तथा शिष्यों का पालन करना; यह सब स्थविरकल्प है।

स्थान—१. उप्पत्तिहेऊ ठाणं। (धव पु ५, पृ. १८९); एगजीवम्मि एक्कम्हि समए जो दीसदि कम्माणुभागो तं ठाणं णाम। (धव. पु. १२, पृ. १११); समुद्रावरुद्धः व्रजः स्थानं नाम, निम्नगावरुद्धं वा। (धव. पु. १३, पृ. ३३६)। २. स्थानमवगाहनालक्षणम्। (आव. भा. मलय. वृ. २०५, पृ. ५६४)। ३. तिष्ठन्ति स्वाध्यायव्यापृता अस्मिन्निति स्थानम्। (व्यव. भा. मलय. वृ. पृ. ५४)।

प्रसंग के अनुसार स्थान के लक्षण अनेक देखे जाते हैं। यथा—१ उत्पत्ति के हेतु का नाम स्थान है। यह औदयिक भाव के प्रसंग में कहा गया है। प्रकृत स्थान की अपेक्षा उसके गति-लिंगादिरूप आठ भेद निर्दिष्ट किए गये हैं। एक जीव में एक समय में जो कर्म का अनुभाग दिखता है उसका नाम स्थान है। यह अनुभागाध्यवसानस्थान की प्ररूपणा के प्रसंग में कहा गया है। समुद्र व नदी से अवरुद्ध व्रज (गायों के स्थान) को स्थान कहा जाता है। यह मनःपर्ययज्ञान के विषय के प्रसंग में कहा गया है। २ स्थान का लक्षण अवगाहना है। यह पर्यायलोक के प्रसंग में कहा गया है। ३ स्वाध्याय में प्रवृत्त होकर जहाँ अवस्थित होते हैं उसे स्थान कहा जाता है।

स्थानक्रिया—एकपाद-समपादादिका स्थानक्रिया। (भ. आ. विजयो. व मूला. पृ. ८६)।

कायोत्सर्ग में एक पाद अथवा समपादरूप से स्थित होना, इसे स्थानक्रिया कहा जाता है।

स्थानसमुत्कीर्तन—तिष्ठन्त्यस्यां सत्त्वायामस्मिन् वा अवस्थाविशेषे प्रकृतय इति स्थानम्। ठाणं ठिदि अवट्ठाणमिदि एयट्ठो। समुक्कित्तणं परूवणमिदि उत्तं होदि। ठाणस्स समुक्कित्तणा ठाणसमुक्कित्तणा। (धव. पु. ६, पृ. ७९)।

जितनी संख्या में अथवा अवस्थाविशेष में कर्मप्रकृतियां रहती हैं उसका नाम स्थान है, समुत्कीर्तन का अर्थ वर्णन करना है, इस प्रकार जिस अधिकार में उक्त स्थान की प्ररूपणा की गई है उसका नाम स्थानसमुत्कीर्तना है। यह षट्खण्डागम के प्रथम खण्डस्वरूप जीवस्थान की नौ चूलिकाओं में दूसरी है।

स्थानाङ्ग—१. से किं तं ठाणे? ठाणे णं ससमया ठाविज्जंति परसमया ठाविज्जंति ससमय-परसमया ठाविज्जंति जीवा ठाविज्जंति अजीवा ठाविज्जंति जीवाजीवा० लोगा० अलोगा० लोगालोगा ठाविज्जंति। ठाणे णं दव्व-गुण खेत्त-काल-पज्जव-पयत्थाणं सेला सलिला य समुद्दा सूर-भवणविमाण-आगार-णदीओ। णिहिओ पुरिसज्जाया सरा य गोत्ता य जोइसंचाला ॥१॥ एक्कविहवत्तव्वयं दुविह जाव दसविहवत्तव्वयं जीवाण पोग्गलाण य लोगट्ठाइं च णं परूवणया आघविज्जंति, ठाणस्स णं परित्ता वायणा ......से त्तं ठाणे। (समवा. १३८)। २. से किं तं ठाणे? ठाणे णं जीवा ठाविज्जंति अजीवा ठाविज्जंति [जीवाजीवा ठाविज्जंति] ससमए ठाविज्जइ परसमए ठाविज्जइ ससमय-परसमए ठाविज्जइ लोए ठाविज्जइ अलोए ठाविज्जइ लोयालोए ठाविज्जइ। ठाणे णं टंका कूडा सेला सिहरिणो पब्भारा कुंडाइं गुहाओ आगरा दहा नईओ आघविज्जंति। ठाणे णं परित्ता वायणा ..... से त्तं ठाणे ॥३॥(नन्दी. सू. ८९)। ३. स्थाने अनेकाश्रयाणामर्थानां निर्णयः क्रियते। (त. वा. १, २०, १२)। ४. यत्रैकादीनि पर्यायान्तराणि वर्ण्यन्ते तत् स्थानम्। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. १-२०)।

५. ठाणं णाम श्रंगं बादालीसपदसहस्सेहि ४२००० एगादिएगुत्तरट्ठाणाणि वण्णेदि। तस्योदाहरणम् — एक्को चेव महप्पा सो दुवियप्पो तिलक्खणो भणिदो। चदुचंकमणाजुत्तो पंचग्गगुणप्पहाणो य॥ छक्कापक्कमजुत्तो उवजुत्तो सत्तभंगसब्भावो। अट्ठासवो णवट्ठो जीवो दसठाणियो भणिदो॥ (पंचा. का. ७१-७२; धव. पु. १, पृ. १०० उद्.); स्थाने द्वाचत्वारिंशत्पदसहस्रे ४२००० एकाद्योत्तरक्रमेण जीवादिपदार्थानां दश स्थानानि प्ररूप्यन्ते। (धव. पु ६ पृ. १९८)। ६. द्विचत्वारिंशत्पदसहस्रसंख्यं जीवादिद्रव्यैकाऽद्येकोत्तरस्थानप्रतिपादकं स्थानम् ४२०००। (सं. श्रुतभ. टी. ७, पृ. १७२)। ७. षट्द्रव्यैकाद्युत्तरस्थानव्याख्यानकारकं द्वाचत्वारिंशत्पदसहस्रप्रमाणं स्थानाङ्गम्। (त. वृत्ति श्रुत. १-२०)। ८. बादालसहस्सपदं ठाणंगं ठाणभेयसंजुत्तं। चिट्ठंति ठाणभेया एयादी जत्थ जिणदिट्ठा॥ (अंगप. १-२३, पृ. २६१)।

१ जिस अंगश्रुत में स्वसमय, परसमय, स्व परसमय, जीव, अजीव, जीव-अजीव, लोक, अलोक और लोक-अलोक; इनको यथावत् स्वरूप के प्रतिपादन के लिए स्थापित किया जाता है, जिसके द्वारा जीवादि पदार्थों का द्रव्य, गुण, क्षेत्र, काल और पर्याय के आश्रय से निरूपण किया जाता है; जहाँ पर्वत, जल (गंगा आदि नदियां), समुद्र, सूर्यविमान, भवनवासिविमान, सुवर्ण-चांदी आदि की खानें, निधियां, पुरुषप्रकार, षड्ज-ऋषभादि स्वर, गोत्र और ज्योतिषियों के संचार; इनकी व्यवस्था की गई है, तथा अध्ययन क्रम के अनुसार एक से लेकर दस प्रकार के वक्तव्य की स्थापना की जाती है उसे स्थानांग कहा जाता है। यह तीसरा अंगश्रुत है। ३ स्थानांग में अनेकाश्रयस्वरूप पदार्थों का निर्णय किया जाता है। ५ जिसमें एक से लेकर एक अधिक के क्रम से स्थानों की प्ररूपणा की जाती है उसे स्थानांग कहते हैं। जैसे—महात्मा (जीव) एक ही है, वह ज्ञान-दर्शन अथवा संसारी व मुक्त के भेद से दो प्रकार का है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-स्वरूप तीन लक्षण वाला है, चार गतियों में संक्रमण किया करता है, औपशमिकादिरूप प्रमुख पांच गुणों से युक्त है, चार दिशाओं के साथ ऊपर-नीचे इनके भेद से छह अपक्रमों या उपक्रमों से संयुक्त है, सात भंगों के सद्भावस्वरूप है, आठ कर्मों के आस्रव से युक्त है, नौ पदार्थों को विषय करने वाला है; पृथिवी आदि चार, प्रत्येक व साधारण वनस्पति तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इन दस स्थानों वाला है।

स्थानान्तर—हेट्ठिमट्ठाणमुवरिमट्ठाणम्हि सोहिय रूवूणे कदे जं लद्धं तं ठाणंतरं णाम। (धव. पु. १२, पृ. ११४)।

उपरिम स्थान में से अधस्तन स्थान को कम कर देने पर जो प्राप्त हो उसका नाम स्थानान्तर है। यह लक्षण अनुभागाध्यवस्थानप्ररूपणता के प्रसंग में किया गया है।

स्थानी—स्थानम् ऊर्ध्वकायोत्सर्गः, तद्विद्यते येषां ते स्थानिनः। (प्रा. योगभ. टी. १२, पृ. २०२)।

स्थान नाम कायोत्सर्ग का है, वह जिन योगियों के है वे स्थानी कहलाते हैं।

स्थापनस्थापन—स्थापनस्थापनं यो यस्य स्थापनार्हो यथाऽऽचार्यगुणोपेत आचार्यः स्थाप्यते। (उत्तरा. चू. पृ. २४०)।

जो जिसकी स्थापना के योग्य हो उसे स्थापनस्थापन कहते हैं। जैसे—जो आचार्य के गुणों से युक्त है उसकी आचार्य के रूप में स्थापना की जाती है।

स्थापना—१. काष्ठ-पुस्त-चित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना। (स. सि. १-५)। २. जं पुण तयत्थसुन्नं तयभिप्पाएण तारिसागारं। कीरइ व निरागारं इत्तरमियरं व सा ठवणा॥ (विशेषा. २६)। ३ आहितनामकस्य द्रव्यस्य सदसद्भावात्मना व्यवस्थापना स्थापना। (लघीय. स्वो. विव. ७४); आहितनामकस्य द्रव्यस्य सोऽयमिति सकल्पेन व्यवस्थाप्यमाना स्थापना। (लघीय. अभय. वृ. ७६, पृ. ९८)। ४ सोऽयमित्यभिसम्बन्धत्वेन अन्यस्य व्यवस्थापनामात्रं स्थापना। यथा परमैश्वर्यलक्षणो यः शचीपतिरिन्द्रः 'सोऽय' इत्यन्यवस्तु प्रतिनिधीयमानं स्थापना भवति। (त. वा. १, ५, २)। ५. आहिदणामस्स अण्णस्स सोयमिदि ट्ठवणं ट्ठवणा णाम। (धव. पु. १, पृ. १९); सो एसो इदि अण्णम्हि बुद्धीए अण्णारोवणं ठवणा णाम। (धव. पु. ४, पृ. ३१४); सोऽयमित्यभेदेन स्थाप्यतेऽन्योऽन्यां स्थापनयेति प्रतिनिधिः स्थापना। (धव. पु.

१३, पृ. २०१); स्थाप्यतेऽनया निर्णीतरूपेण अर्थ इति स्थापना। (धव. पु. १३, पृ. २४३)। ६. वस्तुनः कृतसंज्ञस्य प्रतिष्ठा स्थापना मता। सद्भावेतरभेदेन द्विधा तत्त्वाधिरोपतः॥ स्थाप्यत इति स्थापना प्रतिकृतिः, सा चाहितनामकस्येन्द्रादेर्वास्तवस्य तत्त्वाध्यारोपात् प्रतिष्ठा, सोऽयमित्यभिसम्बन्धेनान्यस्य व्यवस्थापना, स्थापनामात्रं स्थापनेति वचनात्। (त. श्लो. १, ५, ५४, पृ. १११)। ७. सोऽयमित्यक्षकाष्ठादेः सम्बन्धेनान्यवस्तुनि। यद्व्यवस्थापनामात्रं स्थापना साभिधीयते॥ (त. सा. २–११)। ८. साकारे वा निराकारे काष्ठादौ यन्निवेशनम्। सोऽयमित्यभिधानेन स्थापना सा निगद्यते॥ (उपासका. ८२६; गो. क. जी. प्र. ५१ उद्.)। ९. स्थाप्यते इति स्थापना प्रतिकृतिः, सा च आहितनामकस्य अध्यारोपितनामकस्य, द्रव्यस्य इन्द्रादेः सोऽयमित्यभिधानेन व्यवस्थापना। (न्यायकु. ७४, पृ. ८०५)। १०. यत्सेयमित्यभेदेन सदृशेतरवस्तुषु॥ स्थापनं स्थापनं वार्हत्प्रतिकृत्यक्षतादिषु॥ (आचा. सा. ९–६)। ११. तदाकृतिशून्यं वाऽक्षनिक्षेपादि तत्स्थापना। (आव. नि. मलय. वृ. पृ. ६); स्थापना नाम द्रव्यस्याकारविशेषः। (आव. नि. मलय. वृ. ८९०, पृ. ४८७)। १२. काष्ठकर्मणि पुस्तकर्मणि लेपकर्मणि अक्षनिक्षेपे, कोऽर्थः? सारनिक्षेपे वराटकादिनिक्षेपे च सोऽयं मम गुरुरित्यादिस्थाप्यमाना या सा स्थापना कथ्यते। (त. वृत्ति श्रुत. १–५)। १३. सोऽयं तत्समरूपे तद्बुद्धिस्थापना यथा प्रतिमा॥ (पंचाध्या. ७४३)। १४. अन्यत्र सोऽयमिति व्यवस्थापनं स्थापना। (परमा. त. १–९)।

१ काष्ठकर्म, पुस्तककर्म, चित्रकर्म और अक्षनिक्षेप आदि में जो 'वह यह है' इस प्रकार से अध्यारोप किया जाता है, इसका नाम स्थापना है। २ विवक्षित वस्तु (इन्द्र आदि) के अर्थ से रहित उसके आकारयुक्त काष्ठकर्म आदि अथवा उसके आकार से रहित अक्ष-निक्षेप जैसे सतरंज की गोटों में हाथी-घोड़ा आदि—की जो कल्पना अल्पकाल के लिए अथवा यावद्द्रव्यभावी की जाती है उसे स्थापना कहते हैं। ३ जिसके नाम का अध्यारोप किया जा चुका है ऐसे विवक्षित द्रव्य की सद्भाव (तदाकार) या असद्भाव (अतदाकार) स्वरूप से व्यवस्था की जाती है, इसे स्थापना कहा जाता है। ५ जिसके द्वारा निर्णीत रूप से अर्थ को स्थापित किया जाता है उसे स्थापना कहते हैं। यह धारणा ज्ञान का पर्यायनाम है। ११ द्रव्य के आकारविशेष का नाम स्थापना है।

स्थापना-उद्गमदोष देखो स्थापित। साधुयाचितस्य क्षीरादेः पृथक्कृत्य स्वभाजने स्थापनं स्थापना। (योगशा. स्वो. विव. १–३८, पृ. १३३)।

साधु के द्वारा याचित दूध आदि को पृथक् करके अपने पात्र में स्थापित करने पर स्थापना-उद्गमदोष होता है।

स्थापनाकर्म—१. जं तं ठवणकम्मं णाम॥ तं कट्ठकम्मेसु वा चित्तकम्मेसु वा पोत्तकम्मेसु वा लेप्पकम्मेसु वा लेणकम्मेसु वा सेलकम्मेसु वा गिहकम्मेसु वा भित्तिकम्मेसु वा दंतकम्मेसु वा भेंडकम्मेसु वा अक्खो वा वराडओ वा जे चामण्णे एवमादिया ठवणाए ठविज्जंति कम्मेत्ति तं सव्वं ठवणकम्मं णाम। (षट्ख. ५, ४, ११, १२—धव. पु. १३, पृ. ४१)। २. सरिसासरिसे दव्वे मदिणा जीवट्ठियं खु जं कम्मं। तं एदं त्ति पदिट्ठा ठवणा तं ठावणाकम्मं॥ (गो. क. ५३)।

१ काष्ठकर्म, चित्रकर्म, पोतकर्म, लेप्यकर्म, लयनकर्म, शैलकर्म, गृहकर्म, भित्तिकर्म, दन्तकर्म और भेंड कर्म तथा अक्ष, वराटक एवं और भी जो इनको आदि लेकर कर्मरूप से स्थापना द्वारा स्थापित किए जाते हैं, इस सबको स्थापनाकर्म कहा जाता है। २ सदृश अथवा विसदृश द्रव्य में जो बुद्धि से 'यह जीवस्थित कर्म है' इस प्रकार की प्रतिष्ठा या अध्यारोप किया जाता है उसे स्थापनाकर्म कहते हैं।

स्थापनाकायोत्सर्ग — पापस्थापनाद्वारेणागतातीचारशोधननिमित्तकायोत्सर्गपरिणतप्रतिबिम्बस्य स्थापनाकायोत्सर्गः। (मूला. वृ. ७–१५१)।

पाप की स्थापना से आए हुए अतीचार को शुद्ध करने के लिए प्रतिबिम्बस्वरूप से कायोत्सर्ग में परिणत होने का नाम स्थापनाकायोत्सर्ग है।

स्थापनाकृति—जा सा ठवणकदी णाम सा कट्ठकम्मेसु वा चित्तकम्मेसु वा पोत्तकम्मेसु वा लेप्पकम्मेसु वा लेणकम्मेसु वा सेलकम्मेसु वा गिह-

स्थापनाप्रतिक्रमणम्। × × × प्रतिक्रमणपरिणतस्य प्रतिबिम्बस्थापना स्थापनाप्रतिक्रमणम्। (मूला. वृ. ७-११५)।

१ विशिष्ट जीवद्रव्य से अनुगत शरीर के आकार की अपेक्षा से जो चित्र आदि के रूप में अशुभ परिणामों की स्थापना की जाती है उसे स्थापनाप्रतिक्रमण कहते हैं। २ सराग स्थापनाओं से परिणामों के हटाने का नाम स्थापनाप्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण में परिणत जीव के प्रतिबिम्ब की स्थापना को स्थापनाप्रतिक्रमण कहा जाता है।

स्थापनाप्रत्याख्यान—आप्ताभासानां प्रतिमा न पूजयिष्यामीति, योगत्रयेण त्रस-स्थावरस्थापनापीडां न करिष्यामीति प्रणिधानं मनसा स्थापनाप्रत्याख्यानम्। अथवा अर्हदादीनां स्थापनां न विनाशयिष्यामि नैवानादरं तत्र करिष्यामि इति वा। (भ. आ. विजयो. ११६, पृ. २७६)।

मैं आप्ताभासों की प्रतिमाओं की पूजा न करूंगा तथा मन-वचन-काय से त्रस व स्थावर जीवों की स्थापना को पीड़ित न करूंगा, इस प्रकार मन से चिन्तन करने का नाम स्थापनाप्रत्याख्यान है। अथवा अर्हदादिकों की स्थापना को न नष्ट करूंगा और न अनादर करूंगा, इस प्रकार के विचार का नाम स्थापनाप्रत्याख्यान है।

स्थापनाबन्ध—अण्णबंधम्मि अण्णबंधस्स सो एसो त्ति बुद्धीए ट्ठवणा ट्ठवणबंधो णाम। (धव. पु. १४, पृ. ४)।

'वह यह है' इस प्रकार की बुद्धि से जो अन्य बन्ध में अन्य बन्ध की स्थापना की जाती है उसे स्थापनाबन्ध कहा जाता है।

स्थापनाबन्धक—कट्ठ-पोत्त-लेप्पकम्मादिसु सब्भावासब्भावभेएण जे ठविदा बंधया त्ति ते ठवणबंधया णाम। (धव. पु. ७, पृ. ३)।

काष्ठकर्म, पोतकर्म और लेप्यकर्म आदि में सद्भाव और असद्भाव के भेद से जिन बन्धकों की स्थापना की जाती है वे स्थापनाबन्धक कहलाते हैं।

स्थापनामंगल—१. ठावणमंगलमेदं अकट्टिमाकट्टिमाणि जिणबिंबा। (ति. प. १-२०)। २. जा मंगल त्ति ठवणा विहिता सब्भावतो व असतो वा। (बृहत्क. १)। ३. ठवणमंगलं णाम आहिदणामस्स अण्णस्स सोयमिदि ठवणं ठवणा णाम। (धव. पु. १, पृ. १६)।

१ अकृत्रिम और कृत्रिम जिनप्रतिमाओं को स्थापनामंगल माना जाता है। २ सद्भाव अथवा असद्भाव रूप से जो 'वह यह मंगल है' इस प्रकार की स्थापना की जाती है उसे स्थापनामंगल कहते हैं।

स्थापनालक्षण—स्थापनालक्षणं लकारादिवर्णनामाकारविशेषः, अथवा लक्षणानां स्वस्तिक-शङ्ख-चक्र-ध्वजादीनां यो मंगलपट्टादावक्षतादिभिर्न्यासस्तत् स्थापनालक्षणम्। (आव. नि. मलय. वृ. ७५१, पृ. ३६७)।

'लक्षण' शब्दगत लकार आदि वर्णों का अथवा स्वस्तिक, शंख, चक्र और ध्वजा आदि लक्षणों (चिह्नों) का मंगलपट्ट आदि में जो अक्षतों आदि के द्वारा निक्षेप किया जाता है उसे स्थापनालक्षण कहते हैं।

स्थापनालेश्या—सब्भावासब्भावट्ठवणाए ठविददव्वं ठवणलेस्सा। (धव. पु. १६, पृ. ४८४)।

सद्भाव या असद्भाव स्थापना द्वारा लेश्या के रूप में स्थापित द्रव्य को स्थापनालेश्या कहा जाता है।

स्थापनालोक—ठविदं ठाविदं चावि जं किंचि अत्थि लोगम्हि। ठवणालोगं वियाणाहि अणंत जिणदेसिदं॥ (मूला. ७-४६)।

लोक में जो कुछ भी स्थित है और स्थापित है उसे स्थापनालोक जानना चाहिए।

स्थापनाल्पबहुत्व—एदम्हादो एदस्स बहुत्तमप्पत्तं वा एदमिदि एयत्तज्झारोवेण ठविदं ठवणप्पाबहुगं। (धव. पु. ५, पृ. २४१)।

इसकी अपेक्षा यह अधिक है अथवा यह अल्प है, इस प्रकार से जो एकता के अध्यारोपपूर्वक स्थापित किया जाता है उसे स्थापनाअल्पबहुत्व कहते हैं।

स्थापनावश्यक—जण्णं कट्ठकम्मे वा पोत्थकम्मे वा चित्तकम्मे वा लेप्पकम्मे वा गंथिमे वा वेढिमे वा पूरिमे वा संघाइमे वा अक्खे वा वराडए वा एगो वा अणेगो वा सब्भावठवणा वा असब्भावठवणा वा आवस्सएत्ति ठवणा ठविज्जइ से तं ठवणावस्सयं। (अनुयो. सू. १०, पृ. १२)।

काष्ठकर्म, पुस्तकर्म अथवा पोतकर्म, चित्रकर्म, लेप्यकर्म, ग्रन्थिम, वेष्टिम, पूरिम, संघातिम, अक्ष अथवा

वराटक इनमें 'यह आवश्यक है' इस प्रकार से सद्भावस्थापना अथवा असद्भावस्थापना के द्वारा एक अथवा अनेक की स्थापना की जाती है उसे स्थापनावश्यक कहा जाता है। यहां स्थाप्यमान आवश्यक से अभेदोपचारसे आवश्यकवान् को ग्रहण किया गया है।

स्थापनावेदना—सा वेयणा एस त्ति अभेएण अज्झवसियत्थो ठवणवेयणा। (धव. पु. १०, पृ. ७)।

'वह वेदना यह है' इस प्रकार अभेद के साथ जो पदार्थ का निश्चय किया जाता है उसे स्थापनावेदना कहते हैं।

स्थापनाश्रुत—जं णं कट्ठकम्मे वा जाव ठवणा ठविज्जइ से तं ठवणासुयं। (अनुयो. सू. ३१, पृ. ३२)।

काष्ठकर्म आदि में श्रुत के पठन आदि में व्यापृत एक-अनेक साधुओं आदि की जो श्रुत के रूप से स्थापना की जाती है उसे स्थापनाश्रुत कहा जाता है।

स्थापनासत्य—१. × × × ठवणा ठविदं जह देवदादि × × ×। (मूला. ५-११२)। २. असत्यर्थे यत्कार्यार्थं स्थापितं द्यूताक्षनिक्षेपादिषु (धव. 'द्यूताक्षादिषु', चा. व कार्ति. 'द्यूताक्षसारिका') तत् स्थापनासत्यम्। (त. वा. १, २०, १२; धव. पु. १, पृ. ११७-१८; चा. सा. पृ. २६; कार्तिके. टी. ३९८)। ३. अर्हन्निन्द्रः स्कन्द इत्येवमादयः सद्भावासद्भावस्थापनाविषयाः स्थापनासत्यम्। (भ. आ. विजयो. ११९३)। ४. आकारेणाक्ष-पुस्तादौ सता वा यदि वाऽसता। स्थापितं व्यवहारार्थं स्थापनासत्यमुच्यते॥ (ह. पु. १०-१००)। ५. धर्मोऽन्यवस्तुनः स्थाप्यतेऽन्यस्मिन्ननुरूपिणि। अन्यस्मिन् वा यया सत्या स्थापना सा तया वचः॥ सत्यं स्यात् स्थापनासत्यं प्रतिबिम्बाक्षतादिषु। चन्द्रप्रभजिनेन्द्रोऽयमित्यादि वचनं यथा॥ (आचा. सा. ५, २७ व २८)। ६. × × × स्थापने देवोक्षादिषु × × ×। (अन. ध. ४-४७)। ७ स्थापनासत्यं यथा पाषाणप्रतिमादिष्विदं चक्रेश्वरी, अयमर्हन् इति तदिदमिति बुद्धिपरिग्रहणम्। (भ. आ. मूला. ११९३)। ८. अन्यत्रान्यवस्तुनः समारोपः स्थापना, तदाश्रितं मुख्यवस्तुनो नाम स्थापनासत्यम्। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. २२३)।

१ स्थापना में जो देवता आदि की कल्पना की जाती है—जैसे मूर्ति में ऋषभादि की, तदनुरूप वचन को स्थापनासत्य कहते हैं। २ पदार्थ के न रहते हुए भी पांसों आदि में कार्य के वश जो हाथी आदि की कल्पना करके वैसा कहा जाता है, यह स्थापनासत्य कहलाता है।

स्थापनासंक्रम—सो एसो त्ति अप्पणस सरूवं बुद्धीए णिवत्तो ठवणसंकमो। (धव पु. १६, पृ. ३३९)।

'वह यह है' इस प्रकार ग्रन्थ के स्वरूप को बुद्धि में स्थापित करना, यह स्थापनासंक्रम है।

स्थापनासंख्या—देखो स्थापनावश्यक। जण्णं कट्ठकम्मे वा पोत्थकम्मे वा जाव से तं ठवणसंखा। (अनुयो. सू. १८६, पृ. २३०)।

काष्ठकर्म आदि में जो सद्भाव अथवा असद्भाव स्थापना के द्वारा 'यह संख्या है' इस प्रकार से अध्यारोप किया जाता है उसे स्थापनासंख्या कहते हैं।

स्थापनासंख्यात—जं तं ठवणासंखेज्जयं तं कट्ठकम्मादिसु सब्भावासब्भावट्ठवणाए ठविदं असंखेज्जमिदि। (धव. पु. ३, पृ. १२३)।

काष्ठकर्म आदि में सद्भाव व असद्भाव स्वरूप से 'यह असंख्यात है' इस प्रकार से जो स्थापना की जाती है उसे स्थापनासंख्यात कहा जाता है।

स्थापनासामायिक— १. सर्वसावद्यनिवृत्तिपरिणामवता आत्मना एकीभूतं शरीरं यत्तदाकारसादृश्यात्तदेवेदमिति स्थाप्यते यच्चित्र-पुस्तादिकं तत्स्थापनासामायिकम्। (भ. आ. विजयो. ११६)। २. काश्चन स्थापनाः सुस्थिताः सुप्रमाणाः सर्वावयवसम्पूर्णाः सद्भावरूपा मनआह्लादकारिण्यः, काश्चन पुनः स्थापना दुःस्थिताः प्रमाणरहिताः सर्वावयवैरसम्पूर्णाः सद्भावरहितास्तासाम् उपरि राग-द्वेषयोरभावः स्थापनासामायिकं नाम। × × × अथवा × × × सामायिकावश्यकेन परिणतस्याकृतिमत्यनाकृतिमति च वस्तुनि गुणारोपणं स्थापनासामायिक नाम। (मूला. वृ. ७-१७)। ३. स्थापनासामायिकं मानोन्मानादिगुणमनोहरास्वितरासु च स्थापनासु राग-द्वेषनिषेधः। × × × सामायिकावश्यकपरिणतस्य तदाकारेऽतदाकारे वा वस्तुनि गुणारोपणं स्थापनासामायिकम्। (अन. ध. स्वो. टी. ८-१९)। ४. मनोज्ञामनोज्ञासु स्त्री-पुरुषाद्याकारस्थापनासु काष्ठ-लेप्य-चित्रादिप्रतिमासु राग-द्वेषनिवृत्तिः इदं सामायिकमिति स्थाप्यमानं यत्किंचिद्वस्तु वा स्थापनासामायिकम्। (गो. जी. म.

वराटक इनमें 'यह आवश्यक है' इस प्रकार से सद्भावस्थापना अथवा असद्भावस्थापना के द्वारा एक अथवा अनेक की स्थापना की जाती है उसे स्थापनावश्यक कहा जाता है। यहां स्थाप्यमान आवश्यक से अभेदोपचारसे आवश्यकवान् को ग्रहण किया गया है।

स्थापनावेदना—सा वेयणा एस त्ति अभेएण अज्झवसियत्थो ठवणवेदणा। (धव. पु. १०, पृ. ७)।

'वह वेदना यह है' इस प्रकार अभेद के साथ जो पदार्थ का निश्चय किया जाता है उसे स्थापनावेदना कहते हैं।

स्थापनाश्रुत—जं णं कट्ठकम्मे वा जाव ठवणा ठविज्जइ से तं ठवणासुयं। (अनुयो. सू. ३१, पृ. ३२)।

काष्ठकर्म आदि में श्रुत के पठन आदि में व्यापृत एक-अनेक साधुओं आदि की जो श्रुत के रूप से स्थापना की जाती है उसे स्थापनाश्रुत कहा जाता है।

स्थापनासत्य—१. ××× ठवणा ठविदं जह देवदादि ×××। (मूला. ५-११३)। २. असत्यप्यर्थे यत्कार्यार्थं स्थापितं द्यूताक्षनिक्षेपादिषु (धव. 'द्यूताक्षादिषु', चा. व कार्ति. 'द्यूताक्षसारिका') तत् स्थापनासत्यम्। (त. वा. १, २०, १२; धव. पु. १, पृ. ११७-१८; चा. सा. पृ. २६; कार्तिके. टी. ३६८)। ३. अर्हन्निन्द्रा स्कन्द इत्येवमादयः सद्भावासद्भावस्थापनाविषयाः स्थापनासत्यम्। (भ. आ. विजयो. ११६३)। ४. आकारेणाक्ष-पुस्तादौ सता वा यदि वाऽसता। स्थापितं व्यवहारार्थं स्थापनासत्यमुच्यते॥ (ह. पु. १०-१००)। ५. धर्मोऽन्यवस्तुनः स्थाप्यतेऽन्यस्मिन्ननुरूपिणि। अन्यस्मिन् वा यया सत्यः स्थापना सा तया वचः॥ सत्यं स्यात् स्थापनासत्यं प्रतिबिम्बाक्षतादिषु। चन्द्रप्रभजिनेन्द्रोऽयमित्यादि वचनं यथा॥ (आचा. सा. ५, २७ व २८)। ६. ××× स्थापने देवोक्षादिषु ×× ×। (अन. ध. ४-४७)। ७ स्थापनासत्यं यथा पाषाणप्रतिमादिष्विदं चक्रेश्वरी, अयमर्हन् इति तदिदमिति बुद्धिपरिग्रहणम्। (भ. आ. मूला. ११९३)। ८. अन्यत्रान्यवस्तुनः समारोपः स्थापना, तदाश्रितं मुख्यवस्तुनो नाम स्थापनासत्यम्। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. २२३)।

१ स्थापना में जो देवता आदि की कल्पना की जाती है—जैसे मूर्ति में ऋषभादि की, तदनुरूप वचन को स्थापनासत्य कहते हैं। २ पदार्थ के न रहते हुए भी पांसों आदि में कार्य के वश जो हाथी आदि की कल्पना करके वैसा कहा जाता है, यह स्थापनासत्य कहलाता है।

स्थापनासंक्रम—सो एसो त्ति अण्णस्स सरूवं बुद्धीए णिवत्तो ठवणसंकमो। (धव पु. १६, पृ. ३३६)।

'वह यह है' इस प्रकार अन्य के स्वरूप को बुद्धि में स्थापित करना, यह स्थापनासंक्रम है।

स्थापनासंख्या—देखो स्थापनावश्यक। जण्णं कट्ठकम्मे वा पोत्थकम्मे वा जाव से तं ठवणसंखा। (अनुयो. सू. १४६, पृ. २३०)।

काष्ठकर्म आदि में जो सद्भाव अथवा असद्भाव स्थापना के द्वारा 'यह संख्या है' इस प्रकार से अध्यारोप किया जाता है उसे स्थापनासंख्या कहते हैं।

स्थापनासंख्यात—जं तं ठवणासंखेज्जयं तं कट्ठकम्मादिसु सब्भावासब्भावट्ठवणाए ठविदं असंखेज्जमिदि। (धव. पु. ३, पृ. १२३)।

काष्ठकर्म आदि में सद्भाव व असद्भाव स्वरूप से 'यह असंख्यात है' इस प्रकार से जो स्थापना की जाती है उसे स्थापनासंख्यात कहा जाता है।

स्थापनासामायिक—१. सर्वसावद्यनिवृत्तिपरिणामवता आत्मना एकीभूतं शरीरं यत्तदाकारसादृश्यात्तदेवेदमिति स्थाप्यते यच्चित्र-पुस्तादिकं तत्स्थापनासामायिकम्। (भ. आ. विजयो. ११६)। २. काश्चन स्थापनाः सुस्थिताः सुप्रमाणाः सर्वावयवसम्पूर्णाः सद्भावरूपा मनआह्लादकारिण्यः, काश्चन पुनः स्थापना दुःस्थिताः प्रमाणरहिताः सर्वावयवैरसम्पूर्णाः सद्भावरहितास्तासाम् उपरि राग-द्वेषयोरभावः स्थापनासामायिकं नाम। ××× अथवा ××× सामायिकावश्यकेन परिणतस्याकृतिमत्यनाकृतिमति च वस्तुनि गुणारोपणं स्थापनासामायिक नाम। (मूला. वृ. ७-१७)। ३. स्थापनासामायिकं मानोन्मानादिगुणमनोहरास्वितरासु च स्थापनासु राग-द्वेषनिषेधः। ××× सामायिकावश्यकपरिणतस्य तदाकारेऽतदाकारे वा वस्तुनि गुणारोपणं स्थापनासामायिकम्। (अन. ध. स्वो. टी. ८-१९)। ४. मनोज्ञामनोज्ञासु स्त्री-पुरुषाद्याकारस्थापनासु काष्ठ-लेप्य-चित्रादिप्रतिमासु राग-द्वेषनिवृत्तिः इदं सामायिकमिति स्थाप्यमानं यत्किंचिद्वस्तु वा स्थापनासामायिकम्। (गो. जी. म.

प्र. व जी. प्र. ३६७–६८) । ५: मणुऽण्णमणुण्णासु इत्थि-पुरिसाइग्रायारठावणासु कट्ठ-लेव-चित्तादि-पडिमासु राय-दोसणियट्टी, इणं सामाइयमिदि ठाइज्जमाणयं किंचि वत्थु वा ठावणासामाइयं। (अंग-प. पृ. ३०५)।

१ समस्त सावद्य की निवृत्तिरूप परिणाम से युक्त आत्मा के साथ एकता को प्राप्त हुआ जो शरीर है उसके आकार की समानता से जो 'वही यह सामायिक है' इस प्रकार चित्र अथवा पुस्तक आदि में स्थापना की जाती है उसका नाम स्थापनासामायिक है। २ कुछ स्थापनाएं व्यवस्थित समुचित प्रमाण से संयुक्त, समस्त अवयवों से परिपूर्ण एवं सद्भावरूप होकर सबको अभिनन्दन करने वाली तथा इसके विपरीत कुछ योग्य प्रमाणादि से रहित होने के कारण मनको खेदजनक भी होती हैं। उनके विषय में राग-द्वेष नहीं करना, इसे स्थापनासामायिक कहते हैं।

स्थापनासिद्ध—पूर्वभावप्रज्ञापननयापेक्षया चरमशरीरानुप्रविष्टो य आत्मा क्षीरानुप्रविष्टोदकमिव संस्थानवत्तामुपगतः, शरीरापायेऽपि तमात्मानं चरमशरीरात् किञ्चिन्न्यूनात्मप्रदेशसमवस्थानं बुद्धावारोप्य तदेवेदमिति स्थापिता मूर्तिः स्थापनासिद्ध। (भ. आ. विजयो. १)।

पूर्वभावप्रज्ञापन नय की अपेक्षा जो आत्मा दूध में प्रविष्ट पानी के समान अन्तिम शरीर में प्रविष्ट होकर उसके आकार को प्राप्त हुआ है शरीर के विनष्ट हो जाने पर भी उक्त अन्तिम शरीर से किंचित् हीन आत्मप्रदेशों में अवस्थित उस आत्मा को बुद्धि में आरोपित करके 'वही यह है' इस प्रकार से जो मूर्ति की स्थापना की जाती है, उसे स्थापनासिद्ध कहते हैं।

स्थापनास्तव—१. चतुर्विंशतितीर्थकराणामपरिमितानां कृत्रिमाकृत्रिमस्थापनानां स्तवनं चतुर्विंशतिस्थापनास्तवः। × × × अथवा × × × चतुर्विंशतितीर्थंकराणां साकृत्यनाकृतिवस्तुनि गुणानारोप्य स्तवनं स्थापनास्तवः। (मूला. वृ. ७–४१)। २. कृत्रिमाकृत्रिमावर्णप्रमाणायतनादिभिः। व्यवर्ण्यन्ते जिनेन्द्रार्चा यदसौ स्थापनास्तवः॥ (अन. ध. ८–४०)।

१ चौबीस तीर्थंकरों की कृत्रिम-अकृत्रिम अपरिमित प्रतिमाओं की जो स्तुति की जाती है उसे स्थापनास्तव कहते हैं। तदाकार अथवा अतदाकार वस्तु में जो चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का आरोप करके उनकी स्तुति की जाती है उसे भी स्थापनास्तव कहा जाता है।।

स्थापनास्थापन—देखो स्थापनस्थापन।

स्थापनास्पर्श—देखो स्थापनाकर्म और स्थापनाकृति। १. जो सो ठवणफासो णाम सो कट्ठकम्मेसु वा चित्तकम्मेसु वा पोत्तकम्मेसु वा लेप्पकम्मेसु वा लेण्णकम्मेसु वा सेलकम्मेसु वा गिहकम्मेसु वा भित्तिकम्मेसु वा दंतकम्मेसु वा भेंडकम्मेसु वा अक्खो वा वराडओ वा जे चामण्णे एवमादिया ठवणाए ठविज्जदि फासे त्ति सो सव्वो ठवणफासो णाम। (षट्ख. ५, ३, १०—धव. पु. १३, पृ. ८-९)। २. सोयमिदि बुद्धीए अण्णदव्वेण अण्णदव्वस्स एयत्तकरणं ठवणफोसणं णाम। (धव. पु. ४, पृ. १४२)।

१ काष्ठकर्म व चित्रकर्म आदि में जो 'स्पर्श है' इस प्रकार से स्थापना के द्वारा जो अध्यारोप किया जाता है उस सबका नाम स्थापनास्पर्श है।

स्थापनीमुद्रा—देखो आवाहनीमुद्रा। इयमेव (आवाहन्येव) अधोमुखी स्थापनी। (निर्वाणक. पृ. ३२)।

अधोमुख वाली आवाहनीमुद्रा को ही स्थापनीमुद्रा कहा जाता है।

स्थापनोद्देश—यत्तु सामान्येन देवताया इयं स्थापनेत्यभिधानं स स्थापनोद्देशः। (आव. नि. मलय. वृ. १४०)।

यह सामान्य से देवता की स्थापना है, इस प्रकार जो कथन किया जाता है उसे स्थापना-उद्देश कहते हैं।

स्थापित—देखो स्थापना-उद्गम दोष। १. पागादु भायणाओ अण्णम्हि य भायणह्मि पक्खविय। सघरे व परघरे वा णिहिदं ठविदं वियाणाहि॥ (मूला. ६–११)। २ स्वार्थमेव कृतं संयतार्थमिति स्थापितम्। (भ. आ. विजयो. व मूला. २३०)। ३. स्वगृहेऽन्यगृहे वा यत् स्थापितं पाकभाजनात्। अन्यस्मिन् भाजनेऽन्नादि निक्षिप्य स्थापितं मतम्॥ (आचा. सा. ८–२६)। ४. स्थापितं यत्संयतार्थं स्वस्थाने परस्थाने वा स्थापितम्। (व्यव. भा. मलय. वृ. ४–१९५)। ५. पाकभाजनाद् गृहीत्वा यदन्नं स्वगृहेऽन्यगृहे वा स्थापितम्। (भावप्रा. टी. ९९)।

१ पाक के लिए प्रयुक्त पात्र से देय आहार को निकालकर और अन्यपात्र में रखकर अपने ही घर

घटिता प्रतिमा स्थावरा। (दर्शनप्रा. टी. ३५)।
१ जिनेन्द्रदेव एक हजार आठ लक्षणों और चौंतीस अतिशयों से संयुक्त होकर जब तक विहार करते हैं उसे स्थावर प्रतिमा कहा गया है। २ व्यवहार में चन्दन, सुवर्ण, महामणि और स्फटिक आदि से निर्मित प्रतिमा को स्थावरप्रतिमा कहते हैं।

स्थित—अवधृतमात्रं स्थितम्। जो पुरिसो भावागमम्मि बुड्ढओ गिलाणोव्व सणि सणि संचरदि सो तारिससंसकारजुत्तो पुरिसो तब्भावागमो च स्थित्वा वृत्तेः ठिदं णाम। (धव. पु. ६, पृ. २५१-५२); तत्थ सणि सणि सगविसए वट्टमाणो कदि-अणियोगो ट्ठिदं णाम। (धव. पु. ६, पृ. २६८); अवधृतमात्रं स्थितं नाम। (धव. पु. १४, पृ. ७)।
अवधारण किए गये मात्र का नाम स्थित है। जो वृद्ध अथवा रुग्ण मनुष्य के समान भावागम में धीरे-धीरे संचार करता है, उस प्रकार के संस्कार से युक्त उस पुरुष को और उस भावागम को भी रुक रुक करके प्रवृत्ति होने के कारण स्थित कहा जाता है। यह आगम के नौ अर्थाधिकारों में प्रथम है।

स्थितकल्प—'आचेलक्कु' इत्येवरूपेषु दशसु स्थानेषु ये स्थिताः साधवः तेषां कल्पः स्थितकल्पः। (आव. नि. मलय. वृ. ११४)।
जो साधु आचेलक्य आदि दस स्थानों (कल्पों) में स्थित हैं उनके कल्प को स्थितकल्प कहा जाता है।

स्थितश्रुतज्ञान—जेण बारह वि अंगाणि अवहारिदाणि सो साहू ट्ठिदसुदणाणं होदि। (धव. पु. १४, पृ. ८)।
जो साधु बारहों अंगों का अवधारण कर चुका है वह साधु स्थितश्रुतज्ञान स्वरूप है।

स्थिति—१. स्थितिः कालपरिच्छेदः। (स. सि. १–७)। २. स्थितिः कालावस्थानम्। (उत्तरा. चू. पृ. २७७)। ३ स्थितिः कालकृता व्यवस्था। (त. वा. १–७), स्वेनात्तस्य देवायुषः उदयात् तस्मिन् भवे तेन शरीरेण स्थानं स्थितिरित्युच्यते। (त. वा. ४, २०, १); तद्विपरीता स्थितिः। द्रव्यस्य स्वदेशादप्रच्यवनहेतुर्गतिनिवृत्तिरूपा स्थितिरवगन्तव्या। (त. वा. ५, १७, २)। ४. स्वोपात्तायुष उदयात्तस्मिन् भवे तेन शरीरेणावस्थानं स्थितिः। (त. श्लो. ४–२०)। ५. स्थितिरात्मरूपादनपगमः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–७); तद्विपरीतः (गतिस्वरूपविपरीतः) परिणामः स्थितिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५–१७)। ६. कियच्चिरमिति (अनुयोगे) कालकृतावस्थाव्यवस्थापनं स्थितिः। (न्यायकु. ७५, पृ. ८०२)। ७. निकर्षोत्कर्षतः कालनियमः कर्मणां स्थितिः। (योगशा. स्वो. विव. १–१६, पृ. ११४)। ८. कियच्चिरमिति प्रश्ने अनन्तकालमिति कालप्ररूपणं स्थितिः। (लघीय. अभय. वृ. ७५, पृ. ९५)। ९. स्थितिश्च कालावधारणम्। (त. वृत्ति श्रुत. १–७); निजायुरुदयात् तद्भवे सार्द्धमेव स्थानं स्थितिरुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ४–२०)।
१ काल के प्रमाण का नाम स्थिति है। २ विवक्षित वस्तु के काल के अवस्थान को स्थिति कहते हैं। ३ अपने द्वारा बांधी गई आयु (प्रकृत में देवायु) के उदय से उस भव में उस शरीर के साथ अवस्थित रहना, यह आयु की स्थिति का लक्षण है। गति के विपरीत—अपने देश से च्युत होने का कारण न मिलना यह स्थिति का लक्षण है। ५ अपने स्वरूप से च्युत न होना, इसे स्थिति कहा जाता है।

स्थितिकरण—१. उम्मग्गं गच्छंतं सिवमग्गे जो ठवेदि अप्पाणं। सो ठिदिकरणेण जुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥ (समयप्रा. २५२)। २. दंसण-चरणुवभट्ठे जीवे दट्ठूणध म्मबुद्धीए। हिद-मिदमवगूहिय ते खिप्पं तत्तो णियत्तेइ॥ (मूला. ५–६५)। ३. दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः। प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते॥ (रत्नक. १–१६)। ४. कषायोदयादिषु धर्मपरिभ्रंशकारणेषु उपस्थितेष्वात्मनो धर्माऽप्रच्यवनं परिपालनं स्थितिकरणम्। (त. वा. ६–२४)। ५. काम-क्रोध-मदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्यायात्। श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम्॥ (पु. सि. २८)। ६. धम्मादो चलमाणं जो अण्णं संठवेदि धम्मम्मि। अप्पाणं पि सुदिढयदि ठिदिकरणं होदि तस्सेव॥ (कार्तिके. ४२०)। ७. कषायोदयादिषु धर्मपरिभ्रंशकारणेषूपस्थितेषु स्व-परयोर्धर्म[धर्मा]प्रच्यवन परिपालनं स्थितिकरणम्। (चा. सा. पृ. ३)। ८. निवर्तमानं जिननाथवर्त्मनो निपीडयमानं विविधैः परीषहैः। विलोक्य यस्तत्र करोति निश्चलं निरुच्यतेऽसौ स्थितिकारकोत्तमः॥ (अमित. श्रा. ३–७८)। ९. प्रस्थिरः स्थिरः क्रियते सम्यक्त्व-चारित्रादिषु स्थिरीकरण

रत्नत्रये शिथिलस्य दृढयनं हित-मितोपदेशादिभिः। (मूला. वृ. ५-४)। १०. आत्मनोऽन्यस्य वा चेतो धर्माद्विलं परीषहैः। सम्बोध्य तत्र तच्चित्तस्थापनं स्थात् स्थितिक्रिया ॥ (आचा. सा. ३-६२)। ११. हितपथाद्दर्शनचर्याद् भ्रष्टस्य प्रच्युतस्य संस्थापनं हेतु-नय-दृष्टान्तैः स्थिरीकरणम्। (चारित्रभ. टी. ३, पृ. १८७)। १२. दैव-प्रमादवशतः सुपथश्चलन्तं स्वं धारयेल्लघुविवेकसुहृद्बलेन। तत्प्रच्युतं परमपि दृढयन् बहुस्वं, स्याद्धारिषेणवदलं महतां महार्हः ॥ (अन. ध. २-१०६)। १३. ठिदिकरणं स्वस्य परस्य वा सम्यक्त्वाच्चरणमात् प्रच्यवमानस्य पुनस्तत्रैव युक्तिबलाद् दृढमवस्थापनम्। (भ. आ. मूला. ४५)। १४. दर्शनाज्ज्ञानतो वृत्ताच्चलतां गृहमेधिनाम्। यतीनां स्थापनं तद्वत् स्थितीकरणमुच्यते। (भावसं. वाम. ४१५)। १५. क्रोध-मान-माया-लोभादिषु धर्मविध्वंसकारणेषु विद्यमानेष्वपि धर्मादच्यवनं (का. टी. 'स्वपरयोर्धर्मप्रच्यवनपरिपालनं') स्थितिकरणम्। (त. वृत्ति श्रुत. ६-२४; कार्तिके. टी. ३२६)। १६. कषाय-विषयादिभिर्धर्मविध्वंसकारणेषु सत्स्वपि धर्मप्रच्यवनरक्षणं स्थितिकरणम्। (भावप्रा. टी. ७७)। १७. सुस्थितीकरणं नाम गुणः सद्दर्शनस्य यः। धर्माच्च्युतस्य धर्मे तं ना धर्मे धर्मिणः (पंचा. 'ऽधर्मणः') क्षतेः ॥ (लाटीसं. ४-२६१; पंचाध्या. २-७८७)।

१ जो कुमार्ग में जाते हुए अपने को मोक्षमार्ग में स्थापित करता है उसे स्थितीकरण से युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। ३ दर्शन व चारित्र से भ्रष्ट होते हुए प्राणियों को जो धर्मानुरागियों के द्वारा धर्म में प्रतिष्ठित किया जाता है, इसे स्थितीकरण कहा जाता है।

स्थितिक्षय— ट्ठितिक्खओ णाम ट्ठितिक्खतेण वेदिज्जति त्ति, सभावोदतो जं भणियं होति। (कर्मप्र. चू. उदय. ४)।

स्थिति के क्षय से जो कर्म का वेदन किया जाता है, इसे स्थितिक्षय कहा जाता है।

स्थितिनामनिधत्तायु—स्थितिर्यत् स्थातव्यं तेन भावेनायुर्दलिकस्य, सैव नाम—परिणामो धर्म इत्यर्थः, स्थितिनाम, गति-जात्यादिकर्मणां च प्रकृत्यादिभेदेन चतुर्विधानां यः स्थितिरूपो भेदस्तत् स्थितिनाम, तेन सह निधत्तमायुः स्थितिनामनिधत्तायुरिति। (समवा. अभय. वृ. १५४)।

आयु कर्म के प्रदेश पिण्ड का उस रूप से रहना, इसे स्थिति कहते हैं, नाम का अर्थ परिणाम या धर्म है, प्रकृति आदि के भेद से जो चार प्रकार के गति-जाति आदि कर्म हैं उनका जो स्थितिरूप है उसे स्थितिनाम कहते हैं। उसके साथ निषिक्त आयु को स्थितिनामनिधत्तायु कहा जाता है।

स्थितिबन्ध— १. तत्स्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः। यथा अजा-गो-महिष्यादिक्षीराणां माधुर्यस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः तथा ज्ञानावरणादीनामर्थानवगमादिस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः। (स. सि. ८, ३)। २. तत्स्वभावाप्रच्युतिः स्थितिः। तस्य स्वभावस्य अप्रच्युतिः स्थितिरित्युच्यते। यथा अजा-गो-महिष्यादिक्षीराणां माधुर्यस्वभावादप्रच्युतिः, तथा ज्ञानावरणादीनामर्थानवगमादिस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः। (त वा. ८, ३, ५)। ३. कर्मपुद्गलराशेः कर्त्रा परिगृहीतस्यात्मप्रदेशेष्ववस्थानं स्थितिः अध्यवसायनिर्वर्तितः कालविभागः। ××× तस्यैव विपाकगन्ध-रसादेरविनाशितत्वेनावस्थानं स्थितिः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८-४)। ४. जोगवसेण कम्मसरूवेण परिणदाणं पोग्गलक्खंधाणं कसायवसेण जीवे एगसरूवेणावट्ठाणकालो ठिदी णाम। (धव. पु. ६, पृ. १४६); कम्मरूवेण परिणदाणं कम्मइयपोग्गलक्खंधाणं कम्मभावमछंडिय अच्छणकालो ठिदी णाम। ... अवट्ठाणं अवट्ठाणकारणं च ट्ठिदी णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३४८)। ५. ××× तत्स्वभावस्य तथैवाप्रच्युतिः स्थितिः ॥ यथाऽजा-गो-महिष्यादिक्षीराणां स्व-स्वभावतः। माधुर्यादप्रच्युतिस्तद्वत् कर्मणां प्रकृतिस्थितिः ॥ (ह. पु. ५८, २१०-११)। ६. स्वभावाप्रच्युतिः स्थितिः। (त. श्लो. ८-३)। ७. स्थितिबन्धस्तु तस्यैवंप्रविभक्तस्य अध्यवसाय-विशेषादेव जघन्य-मध्यमोत्कृष्टा स्थितिं निर्वर्तयति ज्ञानावरणादिकस्यैव स्थितिबन्धः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-३)। ८. ××× स्थितिः कालावधारणम्। (अमित. श्रा. ३-५६)। ९ तेषामेव कर्मरूपेण परिणतानां पुद्गलानां जीवप्रदेशैः सह यावत्कालमवस्थितिः स स्थितिबन्धः। (मूला. वृ. ५, ४७)। १०. उत्कर्षणापकर्षण स्थितिर्या कर्मणां मता। स्थितिबन्धः स विज्ञेयः ×××। (ज्ञाना. ६-४८, पृ. १०१)। ११. स्थितिः तासामेवावस्थानं जघन्यादिभेदभिन्नम्, तस्या बन्धो निवर्तनं स्थिति-

बन्धः। (स्थाना. अभय. वृ. २६६; समवा. अभय. वृ. ४)। १२. × × × अविच्युतिस्तस्मात्। (अन. ध. २–३६); अविच्युतिरप्रच्यवनम्। कस्मात्? तस्माद् ज्ञानावरणादिलक्षणादात्मनः स्वभावात्। केषाम्? कर्मणाम्। (अन. ध. स्वो. टी. २-३६)। १३. × × × स्थितिः कालावधारणम्॥ (पंचाध्या. २–६३३)।

१ कर्म का अपने स्वभाव से च्युत न होना, इसका नाम स्थिति है। जिस प्रकार बकरी, गाय और भैंस आदि के दुध की स्थिति अपने मधुरता रूप स्वाद से च्युत न होना है उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मों की स्थिति पदार्थ का ज्ञान आदि न होने देना है। ३ कर्ता के द्वारा ग्रहण की गई कर्मराशि का अपने आत्मप्रदेशों में अवस्थित रहना, इसे स्थिति कहा जाता है। इसके काल का विभाग जीव के परिणामानुसार होता है।

स्थितिबन्धस्थान—बध्यत इति बन्धः, स्थितिरेव बन्धः स्थितिबन्धः, स्थितिबन्धस्य स्थानमवस्थाविशेषः इति यावत्। (धव. पु. ११, पृ. १४२); बध्नाति इति बन्धः, स्थितिश्चासौ बन्धश्च स्थितिबन्धः, तस्य स्थान विशेषः स्थितिबन्धस्थानम्, आबाधास्थानमित्यर्थः। अथवा बन्धनं बन्धः, स्थितेर्बन्धः स्थितिबन्धः, सोऽस्मिन् तिष्ठतीति स्थितिबन्धस्थानम्। (धव. पु. ११, पृ. १६२); स्थितयो बध्यन्ते एभिरिति करणे घञुत्पत्तेः कर्मस्थितिबन्धकारणपरिणामाना स्थितिबन्ध इति व्यपदेशः। तेषां स्थानानि अवस्थाविशेषाः स्थितिबन्धस्थानानि। (धव. पु. ११, पृ. २०५); बध्यते इति बन्धः, स्थितिश्चासौ बन्धश्च स्थितिबन्धः, तस्य स्थानमवस्थाविशेषः स्थितिबन्धस्थानम्। (धव. पु. ११, पृ. २०५)।

जो बांधा जाता है उसे बन्ध या स्थितिबन्ध और उसके स्थान (विशेष) को —आबाधा-स्थान को —स्थितिबन्धस्थान कहते हैं। अथवा जिन परिणामों के द्वारा स्थितियां बांधी जाती हैं उन परिणामों का नाम स्थितिबन्ध है, उनके स्थानों —अवस्थाविशेषों—को स्थितिबन्धस्थान कहा जाता है।

स्थितिभोजन—१. अंजलिपुडेण ठिच्चा कुड्डाइविवज्जणेण समपायं। पडिसुद्धे भूमितिए असणं ठिदिभोयणं णाम॥ (मूला. १–३४)। २. स्वपादातृशुद्धोर्व्यां स्थित्वा समपदद्वयम्। निरालम्बं करद्वन्द्वभोजनं स्थितिभोजनम्॥ (आचा. सा. १-४५)।

१ भित्ति आदि के आश्रय के बिना समान पांवों से खड़े रहकर अपने पादप्रदेशरूप, उत्सृष्टपतनप्रदेशरूप और परोसने वाले के स्थानस्वरूप तीन प्रकार की शुद्ध भूमि में पाणिपात्र से भोजन को ग्रहण करना; इसे स्थितिभोजन कहा जाता है।

स्थितिमोक्ष—ओकड्डिदा वि उक्कड्डिदा वि अण्णपयडि संकामिदा अधट्ठिदीए णिज्जरिदा वि ट्ठिदी ठिदिमोक्खो। (धव. पु १६, पृ. ३३८)।

अपकर्षित, उत्कर्षित, अन्य प्रकृति में संक्रामित की गई और अधःस्थिति से निर्जीर्ण भी स्थिति को स्थितिमोक्ष कहा जाता है।

स्थितिविपरिणामना—ठिदी ओवट्टिज्जमाणा वा उव्वट्टिज्जमाणा वा अण्णंपयडि संकामिज्जमाणा वा विपरिणामिदा होदि। (धव. पु १५, पृ. २८३)।

अपवर्तमान, उद्वर्तमान अथवा अन्य प्रकृतियों में संक्रमण कराई जाने वाली स्थिति विपरिणामित कहलाती है।

स्थितिसंक्रम—१. ठिइसंकमो त्ति वुच्चइ मूलुत्तरपगईउ य जा हि ठिई। उव्वट्टियाउ ओवट्टिया व पगइं निया वऽण्णं॥ (कर्मप्र. सं. क. २८)। २. जा ट्ठिदी ओकड्डिज्जदि वा उक्कड्डिज्जदि वा अण्णपयडि संकामिज्जइ वा सो ठिदिसंकमो। (कषायपा. चू. पृ. ३१०)। ३. ओकड्डिदा वि ट्ठिदी ट्ठिदिसंकमो, उक्कड्डिदा वि ट्ठिदी ट्ठिदिसंकमो, अण्णपयडि णीदा वि ट्ठिदी ट्ठिदिसंकमो होदि। (धव. पु. १६, पृ. ३४७)। ४. जा ट्ठिति उव्वट्टण-ओवट्टण-अण्णपगतिसंकमणपाओग्गा सा उवट्टिता ठिति ठितिसंकमो वुच्चति। (कर्मप्र. चू. सं. क. २८)। ५. मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां वा स्थितेर्यदुत्कर्षणं अपकर्षणं वा प्रकृत्यन्तरस्थितौ वा नयनं स स्थितिसंक्रमः। (स्थानां. अभय. वृ २९६)।

१ मूल व उत्तर प्रकृतियों की जो स्थिति उद्वर्तित या अपवर्तित की जाती है अथवा अन्य प्रकृति को प्राप्त कराई जाती है उसे स्थितिसंक्रम कहा जाता है।

स्थित्यावीचिकामरण—तस्याः (स्थितेः) वीचय इव क्रमेणावस्थितायाः विनाशादात्मनो भवति स्थित्यावीचिकामरणम्। (भ. आ. विजयो. २५)।

समुद्र की तरंगों के समान निषेकक्रम से अवस्थित

उस आयुस्थिति का जो प्रत्येक समय में विनाश होता है—एक-एक निषेक क्रम से निर्जीर्ण होता है, इसे आत्मा का स्थिति आवीचिमरण कहा जाता है।

स्थिरत्व—तह चेव एयव्वाहगचितारहियं थिरत्तणं नेयं। (योगवि. ६)।

स्थानादि योगों का परिपालन करते हुए शुद्धिविशेष के आश्रय से बाधक चिन्ता से मुक्त हो जाना, इसका नाम स्थिरत्व है। स्थानादि ५ योगों में से जो प्रत्येक के इच्छा व प्रवृत्ति आदि ४-४ भेद निर्दिष्ट किए गए हैं उनमें यह तीसरा है।

स्थिरनामकर्म—१. स्थिरभावस्य निर्वर्तकं स्थिर नाम। (स. सि. ८-११; त. श्लो. ८-११; भ. आ. मूला. २१२४)। २. स्थिरत्वनिर्वर्तकं स्थिरनाम। (त. भा. ८-१२)। ३. स्थिरभावस्य निवर्तकं स्थिरनाम। यदुदयात् दुष्करोपवासादितपस्करणेऽपि अङ्गोपाङ्गानां स्थिरत्वं जायते तत्स्थिरनाम। (त. वा. ८, ११, ३४)। ४ यस्योदयात् शरीरावयवानां स्थिरता भवति शिरोऽस्थि-दन्तादीनां तत् स्थिरनाम। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८-१२; श्रा. प्र. टी. २३; प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७४)। ५. जस्स कम्मस्स उदएण रस-रुहिर-मेद-मज्जट्ठि-मांस-सुक्काणं थिरत्तमविणासो अगलणं होज्ज तं थिरणामं। (धव. पु. ६, पृ. ६३); जस्स कम्मस्सुदएण रसादीणं सगसरूवेण केत्तियं पि कालमवट्ठाणं होदि तं थिरणामं। (धव. पु. १३, पृ. ३६५)। ६. यस्य कर्मण उदयात् रस-रुधिर-मेद-मज्जास्थि-मांस-शुक्राणां सप्तधातूनां स्थिरत्वं भवति तत् स्थिरनाम। (मूला. वृ. १२-१९५)। ७. यतः स्थिराणां दन्ताद्यवयवानां निष्पत्तिर्भवति तत्स्थिरनाम। (समवा. अभय. वृ. ४२)। ८. स्थिरत्वकारणं स्थिरनाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८-११)।

१ स्थिरता के उत्पादक कर्म को स्थिरनामकर्म कहते हैं। ३ जिसके उदय से दुष्कर तप का आचरण करने पर भी अंग-उपांगों की स्थिरता रहती है उसे स्थिरनामकर्म कहा जाता है। ४ जिसके उदय से शरीर के अवयवभूत शिर, हड्डियों और दांतों आदि में स्थिरता होती है वह स्थिरनामकर्म कहलाता है।

स्थिरीकरण—देखो स्थितिकरण। १. स्थिरीकरणं तु धर्मात्प्रिषीदतां सतां तत्रैव स्थापनम्। (दशवै. नि. हरि. वृ. १८२)। २. एतेष्वेव क्षपणादिषु सीदतां तत्रैव विशेषतः स्थापना स्थिरीकरणम्। (व्यव. भा. मलय. वृ. १-६५)।

१ धर्म से खेद को प्राप्त होते हुए जीवों को उसी में स्थापित करना, इसे स्थिरीकरण कहा जाता है।

स्थूल—१. तनुत्वरहितं भावाच्च छिन्नमानानुवर्ति यत्। तैलोदक-रस-क्षीर-घृतादि स्थूलमुच्यते॥ (वरांगच. २६-१७)। २. द्रवद्रव्यं जलादि स्यात् स्थूलभेदनिदर्शनम्। (म. पु. २४-१५३; जम्बू. च. ३-५२)।

१ जो तेल, पानी, रस, दूध और घी आदि कृशता और पतलेपन के कारण छेदे जाने पर भी फिर से सम्बद्ध हो जाते हैं उन्हें स्थूल कहा जाता है।

स्थूल ऋजुसूत्रनय—१. मणुयाइयपज्जाओ मणुसु त्ति सगट्ठिदीसु वट्टंतो। जो भणइ तावकालं सो थूलो होइ रिउसुत्तो॥ (ल. नयच. ३९; द्रव्यस्व. प्र नयच. २११)। २. स्थूल ऋजुसूत्रः - यथा मनुष्यादिपर्यायस्तदायुःप्रमाणकालं तिष्ठति। (कार्तिके. टी. २७४)।

१ जो नय अपनी स्थितियों में रहने वाली मनुष्य आदि पर्याय को उतने काल तक मनुष्य कहता है वह स्थूल ऋजुसूत्रनय कहलाता है।

स्थूलकाय—× × × इयरा पुण थूलकाया य॥ (कार्तिके. १२७)।

सूक्ष्मकाय जीवों से भिन्न स्थूलकाय जीव होते हैं, अर्थात् जो जीव पृथिवी, जल, अग्नि और वायु के द्वारा रोके जा सकते हैं वे स्थूलकाय कहलाते हैं।

स्थूलदोष—देखो बादर आलोचनादोष।

स्थूलवधादि—स्थूलहिंस्याद्याश्रयत्वात् स्थूलानामपि दुर्दृशाम्। तत्त्वेन वा प्रसिद्धत्वाद्वधादि स्थूलमिष्यते॥ (सा. ध. ४-६)।

जो वध (हिंसा) आदि स्थूल हिंस्य—मारे जाने वाले प्राणियों—आदि (भाष्य व मोष्य आदि) के आश्रित हैं अथवा जो स्थूल मिथ्यादृष्टियों के यहां भी उस रूप से प्रसिद्ध हैं उन वध आदि को स्थूल माना जाता है।

स्थूलसूक्ष्म—१. चक्षुर्विषयमागम्य ग्रहीतुं यन्न शक्यते। छायातप-तमोज्योत्स्नं स्थूलसूक्ष्मं च तद्भवेत्॥ (वरांगच. २६-१८)। २. स्थूलसूक्ष्माः पुनर्ज्ञेयाश्छाया-ज्योत्स्नातपादयः। चाक्षुषत्वेऽप्यसंहार-

र्यरूपत्वादविघातका: ॥ (म. पु. २४–१५२; जम्बू. च. ३–५१)।

१ जो छाया, आतप (धूप), अन्धकार और चांदनी आदि चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य होकर भी ग्रहण नहीं किये जा सकते हैं उन्हें स्थूलसूक्ष्म कहा जाता है।

स्थूलस्तेय—स्थूलं चौरादिव्यपदेशनिबन्धनं स्तेयम्। (योगशा. स्वो. विव. २–६५)।

जिस अपहरण से चोर कहलाते हैं ऐसे परकीय वस्तु के अपहरण को स्थूल स्तेय कहा जाता है।

स्थूलस्थूल—१. भूम्यद्रि-वन-जीमूत-विमान-भवनादयः। कृत्रिमाकृत्रिमद्रव्यं स्थूलस्थूलमुदाहृतम् ॥ (वरांगच. २६–१६)। २. स्थूलस्थूल: पृथिव्यादिः भेदैः स्कन्धः प्रकीर्तितः ॥ (म. पु. २४–१५३; जम्बू. च. ३–५२)।

१ पृथिवी, पर्वत, वन, मेघ, विमान और भवन आदि जो कृत्रिम और अकृत्रिम द्रव्य हैं उन्हें स्थूल-स्थूल कहा गया है।

स्थैर्य—१. स्थैर्यं पुनः अभ्युपगतापरित्यागः। (दशवै. नि. हरि. वृ. ५७)। २. स्थैर्यं तु जिनशासने निष्प्रकम्पता। (ध्यानश. हरि. वृ. ३२)। ३. स्थैर्यं जिनधर्मं प्रति चलितचित्तस्य परस्य स्थिरत्वापादनं स्वयं वा परतीर्थिकर्द्धिदर्शनेऽपि जिनशासनं प्रति निष्प्रकम्पता। (योगशा. स्वो. विव. २–१६)।

१ स्वीकृत को न छोड़ना, इसका नाम स्थैर्य है। ३ जिसका चित्त धर्म के प्रति चलायमान हो रहा है ऐसे दूसरे को उसमें स्थिर करना अथवा स्वयं मिथ्यादृष्टियों की ऋद्धि के देखने पर भी जिन-शासन के प्रति अडिग रहना, इसे स्थैर्य कहा जाता है। यह सम्यक्त्व के पांच भूषणों में प्रथम है।

स्थौल्य—देखो स्थूल। स्थूलयते परिवृंहयति, स्थूल्यतेऽसौ, स्थूल्यतेऽनेन, स्थूलनमात्रं स्थूलः, स्थूलस्य भावः कर्म वा स्थौल्यम्। (त. वा. ५–२४)।

जो बढ़ता है या जिसके द्वारा स्थूल किया जाता है वह स्थूल कहलाता है। स्थूल के भाव को अथवा क्रिया का नाम स्थूल या स्थौल्य है।

स्नातक—१. प्रक्षीणघातिकर्माणः केवलिनो द्विविधाः स्नातकाः। (स. सि. ६–४६; त. श्लो. ९–४६)। २. सयोगाः शैलेशीप्रतिपन्नाश्च केवलिनः स्नातका इति। (त. भा. ९–४८)। ३. प्रक्षीणघातिकर्माणः केवलिनः स्नातकाः। ज्ञानावरणादिघातिकर्मक्षयादाविर्भूतकेवलज्ञानाद्यतिशयविभूतयः संयोगिशैलेशिनो लब्धास्पदाः केवलिनः स्नातकाः। (त. वा. ९, ४६, ५)। ४. प्रक्षीणघातिकर्माणः स्नातकाः केवलीश्वराः ॥ (ह. पु. ६४–६४)। ५. सह योगेन सयोगः त्रयोदशगुणस्थानवर्तिनो निरस्तघातिकर्मचतुष्टयाः केवलिनः स्नातकाः, प्रक्षालितसंकलघातिकर्ममलपटला इत्यर्थः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–४८); स्नातकाः सयोगायोगकेवलिनः। (त. भा सिद्ध. वृ. ९–४९)। ६. ज्ञानावरणादिघातिकर्मक्षयादाविर्भूतकेवलज्ञानाद्यतिशयविभूतयः सयोगिशैलेशिनो नवलब्धास्पदाः केवलिनः स्नातकाः। (चा सा. पृ. ४५)। ७. तीर्थंकरकेवलीतरकेवलिभेदाद् द्विप्रकारा अपि केवलिनः स्नातका उच्यन्ते। (त. वृत्ति श्रुत. ९–४६)।

१ जिनके घातिया कर्म नष्ट हो चुके हैं ऐसे दोनों—सयोग व अयोग—केवलियों को स्नातक कहा जाता है। २ सयोग केवली और शैलेशी अवस्था को प्राप्त (अयोग) केवली स्नातक कहलाते हैं।

स्निग्ध—१. बाह्याभ्यन्तरकारणवशाद् स्नेहपर्यायाविर्भावात् स्निह्यते स्मेति स्निग्धः। (स. सि. ५–३३)। २. स्नेहपर्यायाविर्भावात् स्निह्यते स्मेति स्निग्धः। बाह्याभ्यन्तरकारणवशात् स्नेहपर्यायाविर्भावात् स्निह्यते स्मेति स्निग्धः। (त. वा. ५, ३३, १)। ३. संयोगे सति संयोगिनां बन्धकारणं स्निग्धः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ६०; त. भा. सिद्ध. वृ. ५–२३)। ४. स्निह्यति स्म बहिरभ्यन्तरकारणद्वयवशात् स्नेहपर्यायप्रादुर्भावाच्चिक्कणः संजातः स्निग्ध इत्युच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ५–३३)।

१ बाह्य और अभ्यन्तर दोनों कारणों के वश स्नेह पर्याय के प्रादुर्भूत होने से जो स्नेह को प्राप्त हो चुका है उसका नाम स्निग्ध है। ३ जो स्पर्श संयोग के होने पर संयोगी पदार्थों के बन्ध का कारण होता है उसे स्निग्ध कहते हैं।

स्निग्ध नामकर्म—एवं सेसफासाणं पि अत्थो वत्तव्वो (जस्स कम्मस्स उदएण सरीरपोग्गलाणं णिद्धभावो होदि तं णिद्धं णामं)। (धव. पु. ६, पृ. ७५)।

जिस कर्म के उदय से शरीरगत पुद्गलों के स्निग्धता होती है उसे स्निग्ध नामकर्म कहते हैं।

स्नेहदोष—उड्ढे सग्रंकवड्ढियबालें अज्जाउ तह अणाहाओ। पासंतस्स सिणेहो हवेज्ज अच्चंतिय-विओगे ॥ (भ. आ. ३६३)।

वृद्ध यतियों, अपनी गोद में वर्धित बाल यतियों और अनाथ आर्यिकाओं को देखने वाले समाधिस्थ आचार्य के आत्यन्तिक वियोग में स्नेह हो सकता है, यह अपने गण में रहने पर दोष होगा। इस विचार से समाधिमरण से उद्यत आचार्य अपने गण से चले जाते हैं।

स्नेहप्रत्ययस्पर्धक—१. णेहणिमित्त फड्डगं णाम एगेगरूवेणं वड्ढिताणं वग्गणाणं समुदाओ। × × × अविभागाणं वग्गणाणं अणंताणंतसमुदाओ फड्डगं। (कर्मप्र चू. ब. क. २२)। २. स्नेहप्रत्ययं स्नेह-निमित्तम् एकैकस्नेहाविभागवृद्धानां पुद्गलवर्गणानां समुदायरूपं स्पर्धकं स्नेहप्रत्ययस्पर्धकम्। तच्चैकमेव भवति। (कर्मप्र. मलय. वृ. वं. क. २२)।

२ स्नेह (चिक्कणता) निमित्तक एक-एक स्नेहविभाग से वृद्धिगत पुद्गल वर्गणाओं के समूह को स्नेहप्रत्यय-स्पर्धक कहा जाता है।

स्नेहराग—स्नेहरागस्तु विषयादिनिमित्तविकलो ऽविनीतेष्वप्यपत्यादिषु यो भवति। (आव. नि. हरि. वृ. ६१८, पृ. ३८८)।

विषयादि के निमित्त बिकल होता हुआ जो विनय से रहित भी पुत्रादिकों में राग होता है उसे स्नेह-राग कहा जाता है। यह अप्रशस्त नोआगमभाव-राग के तीन भेदों में तीसरा है।

स्पर्धक—१. फद्दयपरूवणाए असंखेज्जाओ वग्ग-णाओ सेढीए असंखेज्जदिभागमेत्तीयो तमेगं फद्दयं होदि। (षट्खं. ४, २, ४, १८२ - धव. पु १०, पृ. ४५२)। २. अविभागपरिच्छिन्नकर्मप्रदेशरस-भागप्रचयपंक्तेः क्रमवृद्धिः क्रमहानिः स्पर्धकम्। (त. वा. २, ५, ४; त. श्लो. २-५)। ३. क्रमवृद्धिः क्रमहानिश्च यत्र विद्यते तत्स्पर्धकम्। (धव. पु. १०, पृ. ४५२); एगवग्गोलीए दव्वट्ठियणयावलंबणेण संगतोखित्तासेसवग्गाए कमवड्ढि-कमहाणीहि ट्ठिद-सेढीए असंखेज्जदिभागमेत्तवग्गणाहि एगं फद्दयं होदि। (धव. पु. १०, पृ. ४५३-५४); क्रमेण स्पर्धते वर्धत इति स्पर्धकम्। (धव. पु. १२, पृ. ६५)। ४. वर्गणानां समूहस्तु स्पर्धकं स्पर्धकापहैः। (पंचसं. अमित. १-४५; समयप्रा. जय. वृ. ५२ उद्.)। ५. वर्गणासमूहलक्षणानि स्पर्द्धकानि × × × अथवा कर्मशक्तेः क्रमेण विशेषवृद्धिः स्पर्द्धकलक्षणम्। (समयप्रा. जय. वृ. ५२)। ६. कर्मपुद्गलशक्तीनां क्रमवृद्धः क्रमहानिश्च स्पर्धकं तावदुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. १-२१)।

१ श्रेणि के असंख्यातवें भाग मात्र असंख्यात वर्ग-णाओं को लेकर एक स्पर्धक होता है।

स्पर्धक (अवधिज्ञानविशेष)—स्पर्द्धकं च नामा-वधिज्ञानप्रभाया गवाक्षजालादिद्वारविनिर्गतप्रदीपप्र-भाया इव प्रतिनियतो विच्छेदविशेषः। तथा चाह जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः स्वोपज्ञटीकायाम्—स्पर्द्धक-मवधिविच्छेदविशेष इति। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३१७)।

जिस प्रकार झरोखे आदि के द्वार में से निकलती हुई दीपक की प्रभा के प्रतिनियतविच्छेद (अविभाग-प्रतिच्छेद) होते हैं उसी प्रकार अवधिज्ञान की प्रभा के जो प्रतिनियत विच्छेदविशेष होते हैं उनके समुदित रूप का नाम स्पर्धक है। इसका सम्बन्ध स्पर्धक रूप से उत्पन्न होने वाले अन्तगत अवधि-ज्ञान से है।

स्पर्शन (इन्द्रिय)—१. आत्मना स्पृश्यतेऽनेनेति स्पर्शनम्, स्पृशतीति स्पर्शनम्। (स. सि. २-१६)। २. वीर्यान्तराय-प्रतिनियतेन्द्रियावरणक्षयोपशमांगो-पांगनामलाभावष्टम्भात् स्पर्शयत्यनेनात्मेति स्पर्श-नम्। (त. वा. २, १६, १)। ३. वीर्यान्तराय-स्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्ट-म्भात्स्पृशत्यनेनेति स्पर्शनम्। (धव. पु. १, पृ. २३७); वीर्यान्तराय-स्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वघातिस्पर्धकोदये चैकेन्द्रियजाति-नामकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां स्पर्शनमिन्द्रिय-माविर्भवति। (धव. पु १, पृ. २४०)। ४. वीर्या-न्तराय-मतिज्ञानावरणक्षयोपशमांगोपांगनामलाभावष्ट-म्भबलादात्मना स्पृश्यतेऽनेनेति स्पर्शनम्। (मूला. वृ. १-१५)।

२ वीर्यान्तराय और प्रतिनियत इन्द्रियावरण के क्षयोपशम तथा आंगोपांग नामकर्म के लाभ के आश्रय से जिसके द्वारा स्पर्श किया जाता है उसे स्पर्शन इन्द्रिय कहते हैं।

स्पर्शन (एक विशेष अनुयोगद्वार)—१. तदेव स्पर्शनं त्रिकालगोचरम्। (स. सि. १-८)। २.

अवस्थाविशेषस्य वैचित्र्यात् त्रिकालविषयोपश्लेष-निश्चयार्थं स्पर्शनम्। (त. वा. १, ८, ५)। ३. तदेव त्रिकालगोचरं स्पर्शनम्। (न्यायकु. ७६, पृ. ८०३; लघीय. अभय. वृ. ७६, पृ. ६६)। ४. क्षेत्रमेव त्रिकालगोचरं स्पर्शनम्। (त. वृत्ति श्रुत. १-८)।

२ अवस्थाविशेष की विचित्रता से जीव का तीनों कालों में कहाँ तक जाना-आना सम्भव है, इसका विचार जिस अनुयोगद्वार में किया जाता है उसे स्पर्शन कहा जाता है।

स्पर्शनक्रिया—देखो जीवस्पर्शन व अजीवस्पर्शन क्रिया। १. प्रमादवशात्स्पृष्टव्यसञ्चेतनानुबन्धः स्पर्शनक्रिया। (स. सि ६-५; त. वा. ६, ५, ६)। २. सचेतनानुबन्धो यः स्पृष्टव्येऽनिप्रमादिनः। सा स्पर्शनक्रिया ज्ञेया कर्मोपादानकारणम्॥ (ह. पु. ५८-७०)। ३. × × × स्पर्शे स्पृष्टधीः स्पर्शनक्रिया॥ (त. श्लो. ६, ५, १२)। ४. प्रमादपरतन्त्रस्य कमनीयकामिनीस्पर्शनानुबन्धः स्पर्शनक्रिया। (त वृत्ति श्रुत. ६-५)।

१ प्रमाद के वश होकर स्पर्श करने के योग्य—चेतन-अचेतन—पदार्थ के चिन्तन की निरन्तरता का नाम स्पर्शनक्रिया है।

स्पर्शनाम—१. यस्योदयात्स्पर्शप्रादुर्भावस्तत्स्पर्शनाम। (स. सि. ८-११; त. वा. ८, ११, १०)। २. औदारिकादिशरीरेषु यस्य कर्मण उदयात् कठिनादिः स्पर्शविशेषः समुपजायते तत् स्पर्शनामाष्टविधम्। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८-१२)। ३. जस्स कम्मक्खंधस्स उदएण जीवसरीरे जाइपडिणियदो पासो उप्पज्जदि तस्स कम्मक्खंधस्स पाससण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ५५)। ४. स्पर्शनस्योदयाद्यस्य प्रादुर्भावेन भूयते। स्पर्शनाम भवत्येतत् प्रविभक्तमिवाष्टधा॥ (ह. पु. ५८-२५६)। ५. यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन जीवशरीरे जातिप्रतिनियतः स्पर्शः उत्पद्यते तत्स्पर्शनाम। (मूला. वृ. १२, १९४)। ६. यदुदयात्स्पर्शोत्पत्तिस्तत्स्पर्शनाम। (भ. आ. मूला. २१२४)। ७. यत्पाकेन स्पर्श उत्पद्यते स स्पर्श अष्टप्रकारो भवति। (त. वृत्ति श्रुत. ८-११)। ८. यस्योदयात् स्पर्शप्रादुर्भावः तत् स्पर्शनाम। (गो. क. जी. प्र ३३)।

१ जिस कर्म के उदय से शरीर में स्पर्श उत्पन्न होता है उसे स्पर्श नामकर्म कहते हैं। २ जिस कर्म के उदय से औदारिक आदि शरीरों में कठिन आदि स्पर्शविशेष उत्पन्न होता है वह स्पर्श नामकर्म कहलाता है।

स्पर्शनेन्द्रियनिरोध—१. जीवाजीवसमुत्थे कक्कडमउगादिअट्ठभेदजुदे। फासे सुहे य असुहे फासणिरोहो असंमोहो॥ (मूला. १-२१)। २. जीवाजीवोभयस्पर्शे कर्कशाद्यष्टभेदके। शुभेऽशुभेतिमध्यस्थं मनःस्पर्शाक्षनिर्जयः॥ (आचा. सा. १-३२)।

१ जो आठ प्रकार का स्पर्श जीव-अजीव में सम्भव है वह चाहे सुखकर हो अथवा दुःखकर, उसमें संमोह—हर्ष या विषाद—को प्राप्त न होना; इसे स्पर्शन इन्द्रिय का निरोध कहा जाता है।

स्पर्शनेन्द्रियव्यञ्जनावग्रह—कक्खड-मउअ-गरुअ-लहुअ-णिद्ध-लुक्ख-सीदुण्हदव्वाणि फासिदियस्स विसओ। एदेसु दव्वेसु संपत्त-फासिदियसु जं णाणमुप्पज्जदि तं फासिदियवंजणोग्गहो। (धव. पु. १३, पृ. २२५)।

कर्कश आदि आठ प्रकार का स्पर्श स्पर्शन इन्द्रिय का विषय है, इन द्रव्यों के स्पर्शन इन्द्रिय को प्राप्त होने पर जो ज्ञान होता है उसे स्पर्शनेन्द्रियव्यञ्जनावग्रह कहते हैं।

स्पर्शनेन्द्रियव्यञ्जनावग्रहावरणीय—तस्स (फासिदियवंजणोग्गहस्स) जमावारयं कम्मं तं फासिदियवंजणोग्गहावरणीयं। (धव. पु. १३, पृ. २२५)।

स्पर्शनेन्द्रियव्यञ्जनावग्रह के आवारक कर्म को स्पर्शनेन्द्रियव्यञ्जनावग्रहावरणीय कहते हैं।

स्पर्शनेन्द्रियार्थावग्रह—फासिदियदो एत्तियमद्धाणमंतरिय ट्ठिददव्वम्हि जं णाणमुप्पज्जदि फासविसयं तं फासिदिय-अत्थोग्गहो। (धव. पु. १३, पृ. २२८)।

स्पर्शन इन्द्रिय से इतने अध्वान का अन्तर करके स्थित द्रव्य के विषय में जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह स्पर्शनेन्द्रिय-अर्थावग्रह कहलाता है।

स्पर्शनेन्द्रियार्थावग्रहावरणीय—तस्स (फासिदियअत्थोग्गहस्स) जमावारयं कम्मं तं फासिदियअत्थोग्गहावरणीयं णाम। (धव. पु. १३, पृ. २२८)।

स्पर्शनेन्द्रियार्थावग्रह के आवारक कर्म को स्पर्शनेन्द्रियार्थावग्रहावरणीयकर्म कहा जाता है।

स्पर्शनेन्द्रियेहाज्ञान—फासिदिएण णिद्धादिफासमादाय किमेसो मयणफासो कि वज्जलेवफासो कि कुमारिगिरफासो कि विसिदमासफासो त्ति एदेसु

अण्णदमस्स लिंगण्णेसणं फासिंदियपदईहा। (धव. पु. १३, पृ. २३१)।

स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा स्निग्ध आदि स्पर्श को ग्रहण करके क्या यह मदन स्पर्श है, क्या वज्रलेपस्पर्श है, क्या कुमारिमिरस्पर्श है, अथवा क्या पिशित-मांस-स्पर्श है, इस प्रकार इनमें से किसी एक के हेतु का अन्वेषण करना, इसे स्पर्शनेन्द्रियजन्य ईहाज्ञान कहा जाता है।

स्पर्शनेन्द्रियेहावरणीय तिस्से (फासिंदिय-ईहा-याः) आवारयं कम्मं फासिंदियईहावरणीयं। (धव. पु. १३, पृ २३२)।

स्पर्शनेन्द्रिय-ईहाज्ञान के आवरक कर्म का नाम स्पर्शनेन्द्रियेहावरणीय कर्म है।

स्फोट—स्फुटति प्रकटीभवत्यर्थोऽस्मिन्निति स्फोट-श्चिदात्मा। (न्यायकु. ६५, पृ. ७५४)।

जहां अर्थ प्रकट होता है उस चेतन आत्मा को जैन दृष्टिकोण से स्फोट कहा जा सकता है।

स्फोटजीविका—१. फोडिकम्म उदत्तेणं हलेण वा भूमीफोडणं। (आव. हरि. वृ. ६–७, पृ. ८२६)। २. सरःकूपादिखननं शिलाकुट्टनकर्मभिः। पृथि-व्यारम्भसंभूतैर्जीवनं स्फोटजीविका॥ (योगशा. ३–१०६; त्रि. श. पु. च. ६, ३, ३४०)। ३. स्फोट-जीविका उडादिकर्मणा पृथिवीकायिकाद्युपमर्दहेतुना जीवनम्। (सा. ध. स्वो. टी. ५–२१)।

१ उदत्त अथवा हल से पृथिवी को फोड़कर जो आजीविका की जाती है उसे स्फोटकर्म या स्फोट-जीविका कहते हैं। २ तालाब व कुएं के खोदने आदि शिलाओं को तोड़ने अथवा चिनने आदि की क्रियाओं के द्वारा आजीविका करने का नाम स्फोटजीविका है। यह क्रिया पृथिवी के आरम्भ से सम्पन्न होती है। ३ पृथिवीकायिकादि-जीवों के उपमर्दन की हेतुभूत उडादि क्रिया के द्वारा जीविकायापन करने को स्फोटजीविका कहा जाता है।

स्मय—परापराधसहनप्रायत्वात् स्मयः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१०)।

परकृत अपराध के सहनप्राय होने से स्मय होता है। यह मान के पर्यायनामों के अन्तर्गत है।

स्मरण—देखो स्मृति।

स्मरणाभास—१. अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणा-भास जिनदत्ते स देवदत्तो यथा। (परीक्षा. ६–८)। २ अतस्मिंस्तदिति परामर्शः स्मृत्याभासः। (लघीय. अभय. वृ. २५, पृ. ४६)।

१ जो 'यह' नहीं है उसमें जो 'यह' का ज्ञान होता है उसे स्मरणाभास माना जाता है। जैसे—जो जिनदत्त देवदत्त नहीं है उसमें 'यह देवदत्त है', इस प्रकार का ज्ञान।

स्मरतीव्राभिनिवेश—देखो कामतीव्राभिनिवेश व कामतीव्राभिलाष। स्मरतीव्राभिनिवेशः कामेऽतिमा-त्रम ग्रहः, परित्यक्तान्यसकलव्यापारस्य तदध्यवसायि-तेत्यर्थः। (सा. ध. स्वो. टी. ४–५८)।

काम के विषय में अतिशय आग्रह रखना अर्थात् अन्य समस्त व्यापार को छोड़कर काम में ही प्रवृत्त रहना, इसे स्मरतीव्राभिनिवेश कहा जाता है। यह ब्रह्मचर्याणुव्रत का एक अतिचार है।

स्मृति—१. प्रमाणमर्थसंवादात् प्रत्यक्षान्वयिनी स्मृतिः। (प्रमाणसं. १०)। २. स्मृतिज्ञानं प्राक् परिच्छिन्नेन्द्रियार्थग्राहि मानसं। (त. भा. हरि. वृ. १–१३)। ३. दिट्ठ-सुदाणुभूदट्ठविसयणाणमिदिसिद-जीवो सदी णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३३३)। ४. तदित्याकारानुभूतार्थविषया स्मृतिः। (प्रमाणप. पृ. ६६)। ५. स्मरणं स्मृतिः, सैव ज्ञानं स्मृतिज्ञानम्, तैरेवेन्द्रियैर्यः परिच्छिन्नो विषयो रूपादिस्तं यत् कालान्तरेण विनष्टमपि स्मरति तत् स्मृतिज्ञानम्, अतीतवस्त्वालम्बनमेककर्तृकं चैतन्यपरिणतिस्वभावं मनोज्ञानमिति यावत्। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-१३); स्मर्यतेऽनेनेति स्मृतिर्मनोऽभिधीयते, स्मृतिहेतुत्वाद् वा स्मृतिर्मनः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–३१)। ६. संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः। स देवदत्तो यथा। (परीक्षा. ३, ३–४)। ७. ज्ञान-विशेष एव हि संस्कारविशेषप्रभवः तदित्याकारो-ऽनुभूतार्थविषयः स्मृतिरित्युच्यते। (न्यायकु. १०, पृ. ४०६)। ८. तदित्याकारानुभूतार्थविषया हि प्रतीतिः स्मृतिः। (प्र. क. मा. ३–४)। ९. किमि-दं स्मरणं नाम? तदित्यतीतावभासी प्रत्ययः। (प्रमाणनि. पृ. ३३)। १०. ततः कालान्तरे कुत-श्चित्तादृशार्थदर्शनादिकात् संस्कारस्य प्रबोधे यद्-ज्ञानमुदयते तदेवेदं यन्मया प्रागुपलब्धम् इत्यादिरूपा सा स्मृतिः। (आव. नि. मलय. वृ. २, पृ. २३);

स्मरणं स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थालम्बनप्रत्ययः। (आव. नि. मलय. वृ १२)। ११. तदिति स्वयमनुभूतातीतार्थग्राहिणी प्रतीतिः स्मृतिः। (अन. ध. स्वो. टी. ३-४)। १२. धारणाबलोद्भूताऽतीतार्थविषया तदिति परामर्शिनी स्मृतिः। (लघीय. अभय. वृ. ३-१, पृ. २६)। १३. तदित्याकारा प्रागनुभूतवस्तुविषया स्मृतिः। यथा—स देवदत्त इति। (न्यायदी. पृ. ५३)। १४. 'तत्' इति अतीतार्थग्राहिणी प्रतीतिः स्मृतिरुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. १-१३)।

१ प्रत्यक्ष से अन्वय रखने वाली—अनुभूत पदार्थ को विषय करने वाली—स्मृति यथार्थ होने से प्रमाण है। २ जो मानसज्ञान पूर्वमें जाने गये इन्द्रिय के विषयभूत पदार्थ को ग्रहण किया करता है उसका नाम स्मृति है। ३ दृष्ट, श्रुत व अनुभूत पदार्थ को विषय करने वाले ज्ञान से जो जीव विशेषता को प्राप्त है उसे स्मृति कहा जाता है। ४ जिसका आकार 'तत् (वह)' है ऐसे अनुभूत पदार्थ के विषय करने वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं।

स्मृत्यनुपस्थान—१. अनैकाग्र्यं स्मृत्यनुपस्थानम्। (स. सि. ७-३३; त. श्लो. ७-३३)। २. अनैकाग्र्य स्मृत्यनुपस्थानम्। अनैकाग्र्यमसमाहितमनस्कता स्मृत्यनुपस्थानमित्याख्यायते। (त. वा. ७, ३३, ४)। ३. अनैकाग्र्यमसमाहितमनस्कता स्मृत्यनुपस्थानम्, अथवा रात्रिंदिव प्रमादिकस्य संचिन्त्यानुपस्थानं स्मृत्यनुपस्थानम्। (चा. सा. पृ. ११)। ४. स्मृतौ स्मरणे सामायिकस्याऽनुपस्थापनं स्मृत्यनुपस्थापनं सामायिकं मया कर्तव्यं न कर्तव्यमिति वा, सामायिकं मया कृतं न कृतमिति वा प्रबलप्रमादाद्यदा न स्मरति तदा अतिचारः, स्मृतिमूलत्वान्मोक्षसाधनानुष्ठानस्य। (योगशा. स्वो. विव. ३-११६); स्मृत्यनुपस्थापनं तद्विषयमेवेति पञ्चमः। (योगशा. स्वो. विव. ३-११८)। ५. स्मृतेरनुपस्थापनं सामायिकेऽनैकाग्र्यमित्यर्थः। (सा. ध. स्वो. टी. ५-३३)। ६. स्मृतेरनुपस्थापनं विस्मृतिः, न ज्ञायते किं मया पठितं किं वा न पठितम्, एकाग्रतारहितमित्यर्थः। (त. वृत्ति श्रुत. ७-३३); स्मृतेरनुपस्थापनं विस्मरणं स्मृत्यनुपस्थानम्। (त. वृत्ति श्रुत. ७-३४)। ७. अस्ति स्मृत्यनुपस्थापनं दूषणं प्रकृतस्य यत्। न्यूनं वर्णैः पदैर्वाक्यैः पठ्यते यत्प्रमादतः॥ (लाटीसं. ६-१६४)।

१ सामायिक के विषय में एकाग्रता न रहना, यह सामायिक का स्मृत्यनुपस्थान नाम का एक अतिचार है। ४ सामायिक मुझे करना है या नहीं करना है, अथवा सामायिक मैं कर चुका हूं या अभी नहीं की है; इस प्रकार प्रबल प्रमाद के कारण स्मृति में उपस्थित न रहने पर स्मृत्यनुपस्थान नामक सामायिक का अतिचार होता है। स्मृत्यनुपस्थापन यह स्मृत्यनुपस्थान का नामान्तर है। इसी प्रकार पोषधव्रत के विषय में स्मरण न रहने पर पोषधव्रत का भी उक्त नाम का अतिचार होता है।

स्मृत्यनुपस्थापन—देखो स्मृत्यनुपस्थान।

स्मृत्यन्तराधान—१. अननुस्मरणं स्मृत्यन्तराधानम्। (स. सि. ७-३०)। २. अननुस्मरणं स्मृत्यन्तराधानम्। अनुस्मरणं परामर्शनं प्रत्यवेक्षणमित्यनर्थान्तरम्, इदमिदं मया योजनादिभिरभिज्ञानं कृतमिति, तदभावः स्मृत्यन्तराधानम्। (त. वा. ७, ३०, ५)। ३. स्मृतेर्भ्रंशोऽन्तर्धानं स्मृत्यन्तर्धानं किं मया परिगृहीतं कया वा मर्यादयेत्येवमननुस्मरणमित्यर्थः। (श्रा. प्र. टी. २८३)। ४. प्रमाद-मोह-व्यासंगादिभिः अननुस्मरणं स्मृत्यन्तराधानम्। (त. श्लो. ७-३०)। ५. इदमिदं मया योजनादिभिरभिज्ञानं कृतमिति, तदभावः स्मृत्यन्तराधानम्। (चा. सा. पृ. ८)। ६. स्मृतेर्योजनशतादिरूपदिक्परिमाणविषयाया अतिव्याकुलत्व-प्रमादित्व-मत्यपाटवादिनाऽन्तर्धानं भ्रंशः। (योगशा. स्वो. विव. ३-९७)। ७. स्मृतेरन्तरं विच्छित्तिः स्मृत्यन्तरम्, तस्य आधानं विधानं स्मृत्यन्तराधानम्, अननुस्मरणं योजनादिकृतावधेर्विस्मरणमित्यर्थः। (त. वृत्ति श्रुत. ७-३०; कार्तिके. टी. ३४२)। ८. स्मृतं स्मृत्यन्तराधानं विस्मृतं च पुनः स्मृतम्। दूषणं दिग्विरतेः स्यादनिर्णीतमियत्तया॥ (लाटीसं. ६-१२१)।

२ दिग्व्रत में मैंने इतने इतने योजन जाने का नियम किया है, इसका स्मरण न रहना, यह दिग्व्रत का स्मृत्यन्तराधान नाम का अतिचार है।

स्यन्दन—चक्कवट्टि-बलदेवाणं चउणजोग्गा सव्वाउहावुण्णा णिमण-पवणवेगा अच्छिं भंगे वि चक्कवट्टणगुणेण अपडिहयगमणा संदणा णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३९)।

चक्रवर्ती और बलदेव के चढ़ने योग्य, सब आयुधों से परिपूर्ण एवं गंभीर पवनके समानवेग वाले जो विशेष जाति के रथ होते हैं उन्हें स्यन्दन कहा जाता है। उनके पहियों की रचना इस प्रकार की होती है कि अक्ष (धुरा) के टूट जाने पर भी उनके गमन में बाधा नहीं होती।

स्यात् शब्द—१. सर्वथानियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षकः। स्याच्छब्दस्तावके न्याये ××× ॥ (स्वयम्भू. १८-१७)। २. णियमणिसेहणसीलो णिपादणादो य जो हु खलु सिद्धो। सो सियसद्दो भणियो जो सावेक्खं पसाहेदि॥ (द्रव्यस्व. प्र. नयच. २५३)।

१ सर्वथा सत् ही है या असत् ही है, एक ही है या अनेकही है तथा भिन्न ही है या अभिन्न ही है, इत्यादि परस्पर विरुद्ध दिखने वाले धर्मों मे से 'सर्वथा सत् ही है असत् किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है' इत्यादि प्रकार से एकान्त पक्ष का निराकरण करता हुआ जो जैसा वस्तु का स्वरूप देखा गया है उसकी अपेक्षा करने वाला है—नयविवक्षा के अनुसार—मुख्यता व गौणता के अनुसार—उभय धर्मों की व्यवस्था करने वाला है वह 'स्यात्' शब्द है, जिसे जैन न्याय में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

स्याद्वाद—देखो स्यात् शब्द। १. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः। सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः॥ (आ. मी. १०४)। २. स्याद्वादः सकलादेशः ××× ॥ (लघीय. ६२); अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः। (लघीय. स्वो. विव. ६२)। ३. कथञ्चित् केनचित् कश्चित् कुतश्चित् कस्यचित् क्वचित्। कदाचिच्चेति पर्यायात् स्याद्वादः सप्तभंगभृत्॥ (जयध. १, पृ. २०६ उद्.)। ४. अनेकधर्मस्वभावस्यार्थस्य जीवादेः कथनं स्याद्वादः। ××× तस्य (अर्थस्य) अनेकान्तात्मकत्वनिरूपणं स्याद्वादः। (न्यायकु. ६२, पृ. ६८६)। ५. निर्दिश्यमानधर्मव्यतिरिक्ताशेषधर्मान्तरसूचकेन स्याता युक्तो वादोऽभिप्रेतधर्मवचनं स्याद्वादः। (न्यायाव. वृ. ३०)। ६. सर्वथा सदसदेकानेकनित्यानित्यादिसकलैकान्तप्रत्यनीकानेकान्ततत्त्वविषयः स्याद्वादः (आप्त मी. वसु. वृ १०१)। ७. अस्तीत्यादिसप्तभङ्गमयो वादः स्याद्वादः। (लघीय. अभय. वृ. ५१, पृ. ७४); स्यात् कथंचित् प्रतिपक्षापेक्षया वचनं स्याद्वादः। (लघीय. अभय. वृ. ६२, पृ. ८३-८४)।

१ जो सर्वथा एकान्त को छोड़कर किंवृत्तचिद्विधि—किंचित् व कथंचित् आदि के आश्रय से वस्तुतत्त्व का विधान करता है, सात भंगों व नयों की अपेक्षा करता है तथा हेय-आदेय की व्यवस्था करता है उसका नाम स्याद्वाद है। अनेकान्त स्वरूप अर्थ के कथन को स्याद्वाद कहते हैं। २ जो सब अंशों से परिपूर्ण—अनेकान्तात्मक—वस्तु का कथन करता है, ऐसे वचन का नाम स्याद्वाद है। ५. निर्दिश्यमान धर्म से भिन्न समस्त धर्मों के सूचक 'स्यात्' शब्द से युक्त वाद को—अभीष्ट धर्म के कथन को—स्याद्वाद कहा जाता है।

स्याद्वादश्रुत—देखो स्याद्वाद। १. नयानामेकनिष्ठानां प्रवृत्तेः श्रुतवर्त्मनि। सम्पूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वादश्रुतमुच्यते॥ (न्यायाव. ३०)। २. तदात्मकं (स्याद्वादात्मकं) श्रुतं स्याद्वादश्रुतम्॥ (न्यायाव. वृ. ३०)॥

१ एक धर्म में चरितार्थ नयों की प्रवृत्ति से आगममार्ग में जो सम्पूर्ण पदार्थ का निश्चय कराने वाला—उसके निश्चय का कारणभूत वचन है—उसे स्याद्वादश्रुत कहा जाता है।

स्वकचरितचर—देखो स्वचरितचर।

स्वकीयवधू—बन्धु-पित्रादिसाक्षिकेण स्वकीया स्वीकृता वधू। दया-शौच-क्षमा-शील-सत्यादिगुणभूषिता॥ (धर्मसं. श्रा. ५-६१)।

जिसे बन्धुजन एवं माता-पिता आदि की साक्षी में स्वीकार किया जाता है तथा जो दया, शौच, क्षमा, शील और सत्य आदि गुणों से विभूषित होती है वह स्वकीयवधू (पत्नी) कहलाती है।

स्वकृत संहरण—स्वकृतं चारणानां विद्याधराणां चेच्छातो विशिष्टस्थानाश्रयणम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. १०-७)।

चारण ऋषि और विद्याधर जो स्वेच्छा से विशिष्ट स्थान का आश्रय करते हैं, इसे स्वकृत संहरण कहा जाता है।

स्वक्षेत्रपरिवर्तन—कश्चिज्जीवः सूक्ष्मनिगोदजघन्यावगाहनेनोत्पन्नः स्वस्थितिं जीवित्वा मृतः, पुनः प्रदेशोत्तरावगाहनेन उत्पन्नः, एवं द्वयादिप्रदेशोत्तरक्रमेण महामत्स्यावगाहनपर्यन्ताः संख्यातघनांगुल-

प्रमितावगाहनविकल्पाः तेनैव जीवेन यावत्स्वीकृताः, तत्सर्वं समुदितं स्वक्षेत्रपरिवर्तनम् । (गो. जी. जी. प्र. ५६०) ।

कोई जीव सूक्ष्म निगोद जीव की जघन्य अवगाहना से उत्पन्न होकर अपनी स्थिति प्रमाण जीवित रहने के पश्चात् मरा और एक-एक प्रदेश अधिक के क्रम से पूर्वोक्त अवगाहना से उत्पन्न हुआ, इसी प्रकार दो तीन आदि उत्तरोत्तर अधिक प्रदेशों के क्रम से जन्म को ग्रहण करते हुए महामत्स्य की अवगाहना पर्यन्त जो संख्यात घनांगुल प्रमाण अवगाहना के विकल्प हैं उनको उक्त जीव ने स्वीकार किया। इस सबके समुदाय का नाम स्वक्षेत्रपरिवर्तन है।

स्वक्षेत्रसंसार — लोकाकाशतुल्यप्रदेशस्यात्मनः कर्मोदयवशात् संहरण-विसर्पणधर्मणः हीनाधिकप्रदेशपरिमाणावगाहित्वं स्वक्षेत्रसंसारः । (त. वा. ९, ७, ३; चा. सा. पृ. ८०) ।

जीव लोकाकाश के समान असंख्यात प्रदेशों वाला है, उसके कर्मोदय के अनुसार स्वभावतः इन प्रदेशों में संकोच व विस्तार हुआ करता है, इस प्रकार हीनाधिक अवगाहना से युक्त होना, इसका नाम स्वक्षेत्रसंसार है।

स्वगुणस्तव—१. स्वतप-श्रुत-जात्यादिवर्णनं स्वगुणस्तवः । (आचा. सा. ८—४३) । २. स्वकीयतप-श्रुत-जाति-कुलादिवर्णनं स्वगुणस्तवनम् । भावप्रा. टी. ९९) ।

१ अपने तप, श्रुत और जाति आदि के वर्णन को स्वगुणस्तव कहा जाता है। इस प्रकार से यदि साधु भोजन प्राप्त करता है तो वह स्वगुणस्तव नामक उत्पादनदोष से दूषित होता है।

स्वचरितचर—जो सव्वसंगमुक्को णण्णमणो अप्पणं सहावेण । जाणदि पस्सदि णियदं (ति. प. 'आदं') सो सगचरियं चरदि जीवो ।। (पंचा. का. १५८; ति. प. ९ २२) ।

जो जीव समस्त परिग्रह से रहित होता हुआ पर पदार्थों की ओर से मन को हटाकर उसे एक मात्र आत्मा में ही स्थिर करता है तथा स्वभाव से सदा आत्मा को ही जानता है देखता है वह स्वचरितचर—वीतराग परम सामायिक का आराधन करने वाला होता है।

स्वजाति-उपचरित-असद्भूत व्यवहारनय—दट्ठूणं पडिबिंबं भणदि (द्रव्यस्व 'लवदि') हु तं चेव एस पज्जाओ । सज्जाइ असब्भूओ उवयरिओ णियजाति पज्जाओ ।। (ल. नयच. ५६; द्रव्यस्व. प्र. नयच. २२७) ।

प्रतिबिंब को देखकर 'यह वही (मुखादि रूप) पर्याय है' इस प्रकार जो कहा जाता है, इसे स्वजातिपर्याय में—दर्पणगत मुख पर्याय में—स्वजाति पर्याय—साक्षात् मुखपर्याय—का आरोपण करने वाला असद्भूत व्यवहार नय कहा जाता है।

स्वदारमन्त्रभेद—देखो साकारमन्त्रभेद । १. स्वदारमन्त्रभेदं च स्वकलत्रविश्रब्धभाषितान्यकथनं चेत्यर्थः । (श्रा. प्र. टी. २६३) । २. स्वदारे मन्त्रभेदः स्वदारमन्त्रभेद —स्वदारमन्त्र (भेद) प्रकाशनम्, स्वकलत्रविश्रब्धविशिष्टावस्थामन्त्रितान्यकथनमित्यर्थः । (आव. हरि. वृ. अ. ६, पृ. ८२१) ।

१ अपनी पत्नी के विश्वासपूर्ण कथन को दूसरों से कहना, इसका नाम स्वदारमन्त्रभेद है। यह सत्याणुव्रत का एक अतिचार है।

स्वदारसन्तोषव्रत—देखो ब्रह्मचर्य-अणुव्रत । १. स्वसृ-मातृ-सुताप्रख्या दृष्ट्वाः परयोषितः । स्वदारैरेव सन्तोषः स्वदारव्रतमुच्यते ।। (वरांगच. १५-११५) । २. माया-बहिणिसमाओ दट्ठ्वाओ परस्स महिलाओ । सयदारे संतोसो अणुव्वयं तं चउत्थं तु ।। (धम्मर. १४६) । ३. सोऽस्ति स्वदारसन्तोषी योऽन्यस्त्री-प्रकटस्त्रियौ । न गच्छत्यंहसो भीत्या नान्यैर्गमयति त्रिधा ।। (सा. ध. ४-५२); स्वदारसन्तोषं स्वदारेषु स्वभार्यायां स्वदारैर्वा सन्तोषो मैथुनसंज्ञावेदनाशान्त्या देह-मनसोः स्वास्थ्यापादनम् । (सा. ध. स्वो. टी. ४-५१) ।

१ पर स्त्रियों को बहिन, माता और पुत्री के समान देख कर अपनी पत्नी से ही सन्तोष करना, इसे स्वदारसन्तोषव्रत कहा जाता है।

स्वदेहपरितापकारिणी क्रिया—स्वदेहपरितापकारिणी पुत्र-कलत्रादिवियोगदुःखभाराद्यतिपीडितस्यात्मनस्ताडन-शिरस्फोटनादिलक्षणा । (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-६) ।

पुत्र अथवा स्त्री आदि के वियोग जनित दुःख के भार आदि से अतिशय पीड़ित प्राणी जो अपने को ताड़ित करता है व सिर को फोड़ता है, इत्यादि स्वदेह-

परितापकारिणी क्रिया के लक्षण हैं।

स्वद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिकनय — सद्दव्वादिचउक्के संतं दव्वं खु गिण्हए जो खु (द्र. 'उ')। णियदव्वादिसु गाही सो × × × ॥ (ल. नयच. २५; द्रव्यस्व. प्र. नयच. १९७)।

जो स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार से सत् द्रव्य को अपने द्रव्य क्षेत्रादि चार में ग्रहण करता है उसे स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय कहते हैं।

स्वप्ननिमित्त — १. वातादिदोसचत्तो पच्छिमरत्ते मुयंक-रविपहुदिं। णियमुहकमलपविट्ठं देक्खिय सउणम्मि सुहसउणं॥ घड-तेलब्भंगादिं रासह-करभादिएसु आरुहणं। परदेसगमणसव्वं जं देक्खइ असुहसउणं तं॥ जं भासइ दुक्खसुहप्पमुहं कालत्तए वि संजादं। तं चिय सउणणिमित्तं चिण्हो मालो त्ति दोभेदं॥ करि-केसरिपहुदीणं दंसणमेत्तादि चिण्ह- [छिण्ण-]सउणं तं। पुव्वावरसंबंध सउणं तं मालसउणो त्ति॥ (ति. प. ४, १०१३-१६)। २. वात-पित्त-श्लेष्मदोषोदयरहितस्य पश्चिमरात्रिभागे चन्द्र-सूर्य-धरादि-समुद्रमुखप्रवेशनसकलमहीमण्डलोपगूहनादि शुभ-(चा. सा. 'शुभस्वप्नदर्शनात्') घृत-तैलाक्तात्मीयदेहखर-करभारूढादिगमनाद्यशुभस्वप्नदर्शनादागामिजीवितमरण-सुख-दुःखाद्याविर्भावकः स्वप्नः। (त. वा. ३, ३६, ३; चा. सा. पृ. ६६)। ३. छिण्ण-मालासुमिणाणं सव्वं दट्ठूण भाविकज्जावगमो सुमिणं णाम महाणिमित्तं। (धव. पु. ९, पृ. ७३-७४)। ४. यं स्वप्नं दृष्ट्वा पुरुषस्यान्यस्य वा शुभाशुभं परिच्छिद्यते तत्स्वप्ननिमित्तम्। (मूला. वृ. ६-३०)।

१ वात-पित्तादि दोषों से रहित होते हुए पिछली रात में चन्द्र व सूर्य आदि को अपने मुख-कमल के भीतर प्रवेश करते हुए स्वप्न में देखना, यह शुभ स्वप्न है तथा घी अथवा तेल से स्नान करना, गधा अथवा ऊंट आदि के ऊपर सवार होना और परदेश गमन करना इत्यादि को जो स्वप्न में देखा जाता है वह अशुभ स्वप्न है। इनको देख-सुनकर जो तीनों कालों में सम्भव दुःख-सुख आदि की सूचना की जाती है, इसे स्वप्ननिमित्त कहा जाता है।

स्वप्नमहानिमित्त — देखो स्वप्ननिमित्त।

स्वप्रत्ययोत्पाद — स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानानां षट्स्थानपतितया वृद्ध्या हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेतेषामुत्पादो व्ययश्च। (स. सि. ५-७; त. वा. ५, ७, ३)।

आगम के प्रमाण से स्वीकार किये गये जो अनन्तानन्त अगुरुलघु गुण हैं वे छह स्थान पतित वृद्धि और हानि से प्रवर्तमान हैं, उनके स्वभाव से जो धर्माधर्मादि द्रव्यों में उत्पाद होता है वह स्वप्रत्यय उत्पाद कहलाता है।

स्वप्राणातिपातजननी — स्वप्राणातिपातजननी गिरिशिखरप्रपात-ज्वलनप्रवेश-जलप्रवेशास्त्रपाटनादिका (प्राणव्यपरोपणलक्षणा)। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-६)।

पर्वत के शिखर से गिरना, अग्नि में प्रवेश करना, जल में प्रवेश करना और शस्त्र के द्वारा विदारण करना, इत्यादि के करने को स्वप्राणातिपातजननी क्रिया कहा जाता है।

स्वभाव — स्वेनात्मना भवनं स्वभावः। स्वेनात्मना असाधारणेन धर्मेण भवनं स्वभाव इत्युच्यते। (त. वा. ७, १२, २)।

अपने असाधारण स्वभाव से होना, इसे स्वभाव कहा जाता है।

स्वभाव-अनित्य-अशुद्धद्रव्यार्थिक — जो गहइ एक्कसमए उप्पाय-वयद्धुवत्तसजुत्तं। सो सब्भाव-अणिच्चो असुद्धओ पज्जयत्थीओ॥ (ल. नयच. ३०; द्रव्यस्व. प्र. नयच. २०२)।

जो एक समय में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से संयुक्त पर्याय को ग्रहण किया करता है उसे स्वभाव अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

स्वभाव-अनित्य-शुद्धपर्यायार्थिक — सत्ताअमुक्खरूवे उप्पाद-वयं हि गिण्हए जो हु। सो दु सहाव-अणिच्चो भण्णइ (द्र. 'गाही') खलु सुद्धपज्जायो॥ (ल. नयच. २९; द्रव्यस्व. प्र. नयच. २०१)।

जो सत्ता को मुख्य न करके उत्पाद और व्यय को ग्रहण किया करता है उसे स्वभाव-अनित्य-शुद्धपर्यायार्थिक नय कहते हैं।

स्वभावगति — मारुत-पावक-परमाणु-सिद्ध-ज्योतिष्कादीनां स्वभावगतिः। (त. वा. ५, २४, २१)।

वायु, अग्नि, परमाणु, सिद्ध और ज्योतिषी आदि की गति स्वभावगति होती है।

स्वभावज्ञान — केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणं त्ति । (नि. सा. ११) ।

इन्द्रियों से रहित (अतीन्द्रिय) व असहाय—आलोक आदि किसी बाह्य निमित्त की अपेक्षा न करने वाला—जो केवलज्ञान है उसे स्वभावज्ञान कहा जाता है ।

स्वभावदर्शन—केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं । (नि. सा. १३) ।

इन्द्रियों से रहित (अतीन्द्रिय) व असहाय जो केवल-दर्शन है उसे स्वभावदर्शन कहा जाता है ।

स्वभावपर्याय—१. कम्मोपाधिविवज्जियपज्जाया ते सहावमिदि भणिदा ॥ (नि. सा. १५); अण्ण-णिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जावो । (नि. सा. २८) । २. अगुरुलघुविकाराः स्वभावपर्यायाः । ते द्वादशधा षड्वृद्धिरूपाः षड्हानिरूपाः । (आलाप. प. पृ. १३४) ;

१ कर्म की उपाधि से रहित जो भी पर्यायें हैं वे सब स्वभावपर्याय कहलाती हैं । २ अगुरुलघु गुणों के छह प्रकार की हानि व छह प्रकार की वृद्धिरूप विकारों को स्वभावपर्याय कहा जाता है ।

स्वभावमार्दव—१. मृदोर्भावः मार्दवम्, स्वभावेन मार्दवं स्वभावमार्दवम्, उपदेशानपेक्षम् । (स. सि. ६–१८) । २. उपदेशानपेक्षं स्वभावमार्दवम् । मृदो-र्भावः कर्म व मार्दवम्, स्वभावेन मार्दवं स्वभावमार्द-वम्, उपदेशानपेक्षमित्यर्थः । (त. वा. ६, १८, १) । ३. उपदेशानपेक्षं मार्दवं स्वभावमार्दवम् । (त. श्लो. ६–१८) ।

१ उपदेश की अपेक्षा न करके जो स्वभाव से मृदुता (सरलता) हुआ करती है उसे स्वभावमार्दव कहा जाता है ।

स्वभाववाद—१. को करइ कंटयाणं तिक्खत्तं मिय-विहंगमादीणं । विविहत्तं तु सहाओ इदि सव्वं पि य सहाओत्ति ॥ (गो. क. ८८३) । २. सव्वं सहाववदो खलु तिक्खत्तं कंटयाण को करई । विवि-हत्तं णर-मिय-पसु-विहंगमाणं सहावो य ॥ (अंगप. २–२३, पृ. २७८) ।

१ कांटों की तीक्ष्णता को कौन करता है, तथा मृग और पक्षियों आदि की विविधता को कौन करता है ? कोई भी नहीं, वह सब स्वभाव से ही हुआ करता है । इस प्रकार के कथन को स्वभाववाद कहा जाता है ।

स्वभावविप्रकृष्ट—१. स्वभावविप्रकृष्टा मन्त्रौषधि-शक्ति-चित्तादयः । (आ. मी. वसु. वृ. ५) । २. सूक्ष्माः स्वभावविप्रकृष्टाः परमाण्वादयः । (न्यायदी. पृ. ४१) ।

१ मंत्र, औषधि, शक्ति और चित्त आदि स्वभाव-विप्रकृष्ट—स्वभावतः दूरवर्ती—माने जाते हैं । २ सूक्ष्म परमाणु आदि को स्वभावविप्रकृष्ट कहा जाता है ।

स्वभावहीन – स्वभावहीनं यद्वस्तुनः प्रत्यक्षादि-प्रसिद्धं स्वभावमतिरिच्यान्यथावचनम् । यथा—शीतो-ऽग्निः, मूर्तिमदाकाशमित्यादिः । (आव. नि. मलय. वृ. ८८२, पृ. ४८३) ।

वस्तु के प्रत्यक्षादि प्रमाण से सिद्ध स्वभाव को छोड़ कर अन्य प्रकार से कथन करने को स्वभावहीन कहा जाता है । जैसे –अग्नि शीतल है, आकाश मूर्तिक है, इत्यादि । यह सूत्र के ३२ दोषों में १६वां है ।

स्वभ्रपूरण—येन केनचित्प्रकारेण स्वभ्रपूरणवदु-दरगर्तमनगारः पूरयति स्वादुनेतरेण वेति स्वभ्रपूरण-मिष्यते । (त. वा. ६, ६, १६) ।

जिस प्रकार गड्ढे को कंकड़, पत्थर अथवा मिट्टी आदि जिस किसी भी वस्तु के द्वारा भर दिया जाता है—उसके भरने के लिए अमुक वस्तु ही होना चाहिए, ऐसी अपेक्षा नहीं रहती—उसी प्रकार साधु उदर रूप गड्ढे को निर्दोष किसी भी भोजन से पूरा करता है—वह स्वादिष्ट अथवा नीरस आदि का विचार नहीं करता । इसलिए स्वभ्र (गड्ढे) के समान भरे जाने के कारण उसके भोजन को स्वभ्रपूरण कहा जाता है ।

स्व-मनोज्ञ—स्वस्य मनोज्ञाः समानसमाचारीकतया अभिरुचिताः स्वमनोज्ञाः । (स्थाना. अभय. वृ. १७४) ।

समान समाचारी वाले होने से जो अपने लिए रुचि-कर होते हैं वे स्व-मनोज्ञ कहलाते हैं ।

स्वयंबुद्ध—स्वयम् आत्मनैव सम्यग्वरबोधिप्राप्त्या बुद्धा मिथ्यात्व-निद्रापगमसम्बोधेन स्वयं सम्बुद्धाः । (ललित. वि. पृ. २०) ।

मिथ्यात्वरूप निद्रा के विनष्ट हो जा

समीचीन वोध से जो स्वयं ही प्रबुद्ध हुए हैं उन्हें स्वयंबुद्ध कहा जाता है।

स्वयंबुद्धसिद्ध—स्वयं बुद्धा सन्तो ये सिद्धाः ते स्वयंबोधसिद्धाः, स्वयंबुद्धा हि बाह्यप्रत्ययमन्तरेण बुध्यन्ते, उपधिस्तु स्वयंबुद्धानां पात्रादिर्द्वादशधा, स्वयंबुद्धानां पूर्वाधीतश्रुतेऽनियमः, लिङ्गप्रतिपत्तिस्तु स्वयंबुद्धानां गुरुसन्निधावपि भवति। (योगशा. स्वो. विव. ३–१२४)।

जो स्वयं ही प्रबुद्ध होकर सिद्धि को प्राप्त हुए हैं वे स्वयंबुद्धसिद्ध कहलाते हैं। ये बाह्य कारण के विना ही बोधि को प्राप्त होते हैं।

स्वयंबुद्धसिद्धकेवलज्ञान—स्वयंबुद्धाः सन्तो ये सिद्धास्तेषां केवलज्ञानं स्वयंबुद्धसिद्धकेवलज्ञानम्। ××× स्वयंबुद्धा बाह्यप्रयत्नमन्तरेणैव बुध्यन्ते, स्वयमेव—बाह्यप्रयत्नमन्तरेणैव निजजातिस्मरणादिना बुद्धाः स्वयंबुद्धाः। (आव. नि. मलय. वृ.७८)।

जो अपने जातिस्मरण आदि के द्वारा स्वयं प्रबुद्ध होकर सिद्धि को प्राप्त हुए हैं उनके केवलज्ञान को स्वयंबुद्धसिद्धकेवलज्ञान कहा जाता है।

स्वयंभू—१. स्वयमेव भूतवानिति स्वयम्भूः। (धव. पु. १, पृ. ११६–२०; पु. ६, पृ. २२१)। २. मङ्क्षु ज्ञानत्रयेणात्र तृतीयभवभाविना। स्वयं भूतो यतोऽतस्त्वं स्वयंभूरिति भाष्यसे॥ (ह. पु. ८–२०७)। ३. स्वयं परोपदेशमन्तरेण मोक्षमार्गमवबुद्धयानुष्ठाय चानन्तचतुष्टयरूपतया भवतीति स्वयंभूः। (अन. ध. स्वो. टी. ८–३९)। ४. स स्वयम्भूः स्वयं भूतं संज्ञानं यस्य केवलम्। विश्वस्य ग्राहकं नित्यं युगपद् दर्शनं तदा॥ (आप्तस्व. २२)। ५. सयं भवणसीलो सयंभू। (अंगप. २, ८६-८७)।

१ जो अन्य की अपेक्षा न करके स्वयं विशिष्ट ज्ञानादि को प्राप्त होता है उसे स्वयंभू कहा जाता है। यह जीव के कर्ता-भोक्ता आदि अनेक पर्याय नामों के अन्तर्गत है। २ भगवान् आदिनाथ ने अपने पूर्व तृतीय भव में तीन ज्ञानों को प्राप्त कर लिया था, उन्हीं तीन ज्ञानों के साथ वे यहां स्वयं हुए थे, इसी से इन्द्र के द्वारा प्रार्थना में उन्हें स्वयंभू कहा गया है।

स्वर—स्वरं जीवाजीवादिकाश्रितस्वस्वरूपफलाभिधायकम्। (समवा. अभय. वृ. २९)।

जो जीव-अजीव आदि के आश्रित अपने स्वरूप व फल का वर्णन करने वाला है उसे स्वर कहा जाता है। यह २९वें पापश्रुत के अन्तर्गत है।

स्वरनिमित्त—१. णर-तिरियाण विचित्तं सद्दं सोदूण दुक्ख-सोक्खाइं। कालत्तयणिप्पण्णं जं जाणइ तं सरणिमित्तं॥ (ति. प १००८)। २. अक्षरानक्षरशुभाशुभशब्दश्रवणेनेष्टानिष्टफलाविर्भावनं महानिमित्तं स्वरम्। (त. वा. ३, ३६, ३)। ३. खर-पिंगलोलुव-वायस-सिव-सियाल-णर-णारीसरं सोऊण लाहालाह-सुह-दुक्ख-जीविद-मरणादीणं अवगमो सरमहाणिमित्तं णाम। (धव. पु. ९, पृ. ७२)। ४. नर नारी-खर-पिंगलोलूक-कपि-वायस-शिवा-शृगालादीनामक्षरानक्षरात्मकशुभाशुभशब्दश्रवणेनेष्टानिष्टफलाविर्भावकः स्वरः। (चा. सा. पृ. ९४)। ५. य स्वरं शब्दविशेषं श्रुत्वा पुरुषस्यान्यस्य वा शुभाशुभं जानाति तत्स्वरनिमित्तम्। (मूला. वृ. ६–३०)।

१ मनुष्य व तिर्यंचों के विचित्र शब्दों को सुनकर तीनों कालों से सम्बन्धित दुख सुख को जान लेना, इसे स्वरनिमित्त कहा जाता है।

स्वरमहानिमित्त—देखो स्वरनिमित्त।

स्वरूपासिद्धहेत्वाभास—स्वरूपाभावनिश्चये स्वरूपासिद्धः। ××× यथा परिणामी शब्दः, चाक्षुषत्वात्। (न्यायदी. पृ. १००)।

जिस हेतु के स्वरूप का अभाव निश्चित है उसे स्वरूपासिद्धहेत्वाभास कहा जाता है। जैसे—शब्द परिणामी है, क्योंकि वह चक्षु इन्द्रिय का विषय है। यहां शब्द में चाक्षुषत्व का अभाव निश्चित है, क्योंकि वह चक्षु का विषय न होकर श्रोत्र का विषय है। इसीलिए यह स्वरूपासिद्ध है।

स्वलक्षण—१. स्वलक्षणमसंकीर्णं समानं सविकल्पकम्। समर्थं स्वगुणैरेकं सह-क्रमविवर्तिभिः॥ (न्यायवि. १–१२२); अन्वयोऽन्यव्यवच्छेदो व्यतिरेकः स्वलक्षणम्। (न्यायवि. १२९)। २. स्वं स्वरूपं लक्षणं यस्य तत् स्वलक्षणम्। (न्यायवि. वि. १–१२२)।

१ जो संकर से रहित, समान, विकल्पसहित, समर्थ और सहवर्ती व क्रमवर्ती अपने गुणों से—गुण-पर्यायोंसे—एक होता है वह स्वलक्षण कहलाता है। २ अपनास्वरूप ही जिसका लक्षण है उसे स्वलक्षण कहा जाता है।

स्वलिङ्ग — रजोहरण-मुखवस्त्रिका-चोलपट्टकादि स्वलिङ्गम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. १०-७) ।

रजोहरण, मुखवस्त्रिका और चोलपट्टक इन्हें स्वलिङ्ग माना गया है ।

स्वलिङ्गसिद्ध—स्वलिङ्गेन रजोहरणादिना द्रव्यलिङ्गेन सिद्धाः स्वलिङ्गसिद्धाः । (योगशा. स्वो. विव. ३-१२४) ।

पूर्वभावप्रज्ञापनीय की अपेक्षा जो रजोहरणादि द्रव्यलिंग स्वरूप स्वलिंग से सिद्ध हुए हैं उन्हें स्वलिंगसिद्ध कहा जाता है ।

स्वलिङ्गसिद्धकेवलज्ञान—स्वलिंगे रजोहरणादौ सिद्धानां केवलज्ञानं स्वलिङ्गसिद्धकेवलज्ञानम् । (आव. नि. मलय. वृ. ७८, पृ. ८५) ।

जो जीव रजोहरणादिरूप स्वलिंग में सिद्ध हुए हैं उनके केवलज्ञान को स्वलिंगसिद्धकेवलज्ञान कहा जाता है ।

स्वव्यवसाय—स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः । (परीक्षा. १-६) ।

प्रमाण में जो अपने अभिमुख होकर प्रकाश होता है, वह उसका स्वव्यवसाय कहलाता है ।

स्वशरीरसंस्कार—१. स्वमात्मीयम् तच्च तच्छरीरं च स्वशरीरं निजशरीरम्, तस्य संस्कारः दन्त-नख-केशादिश्रृंगारः स्वशरीरसंस्कारः । (त. वृत्ति श्रुत. ७-७) । २. स्नेहाभ्यङ्गादिस्नानानि माल्यं स्रक्-चन्दनानि च । कुर्यादित्यर्थमात्रं चेद् ब्रह्मातीचारदोषकृत् ॥ स्वशरीरसंस्काराख्यो दोषोऽयं ब्रह्मचारिणः । (लाटीसं. ६, ६९-७०) ।

१ दांत, नाखून और बालों आदि के श्रृंगार करने को स्वशरीरसंस्कार कहा जाता है । ब्रह्मचर्यव्रत की भावनाओं में इसके परित्याग का चिंतन किया जाता है । २ तेल का मर्दन करना तथा माला व चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्य का उपयोग करना, यह सब स्वशरीरसंस्कार कहलाता है ।

स्वसमय—१. जीवो चरित्त-दंसण-णाणट्ठिद तं हि ससमयं जाण । (समयप्रा. २) । २. × × × स्वरूपादप्रच्यवनात् टङ्कोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थः स समयः, समयत एकत्वेन युगपज्जानाति गच्छति चेति निरुक्तेः । अयं खलु यदा सकलस्वभावभासनसमर्थविद्यासमुत्पादकविवेकज्योतिरुद्गमनात् समस्तपरद्रव्यात् प्रच्युत्य दृशि-ज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्तिरूपात्मतत्त्वैकत्वगतत्वेन वर्तते तदा दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्थितत्वात् स्वमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च स्वसमय इति । (समयप्रा. अमृत. वृ. २) । ३. तस्यैवानादिमोहनीयोदयानुवृत्तिपरत्वमपास्यात्यन्तशुद्धोपयोगस्य सतः समुपात्तभावैक्यरूप्यत्वान्नियतगुण-पर्यायत्वं स्वसमयः । (पंचा. का. अमृत. वृ. १५५) ।

१ जीव जब चारित्र, दर्शन और ज्ञान में स्थित होता है तब उसे स्वसमय जानना चाहिए ।

स्वसमयवक्तव्यता —जम्हि सत्थम्हि ससमयो चेव वण्णिज्जदि परूविज्जदि पण्णाविज्जदि तं सत्थं ससमयवत्तव्वं, तस्स भावो ससमयवत्तव्वदा । (धव. पु. १, पृ. ८२) ।

जिस शास्त्र में स्वसमय की ही प्ररूपणा की जाती है—उसका परिज्ञान कराया जाता है—उसे स्वसमयवक्तव्य कहा जाता है । इस स्वसमयवक्तव्य के स्वरूप का नाम ही स्वसमयवक्तव्यता है ।

स्वस्थान—उप्पण्णपदेसो घर गामो देसो वा सत्थाणं × × × । (धव. पु. ४, पृ. १२१) ।

जिस प्रदेश— घर, ग्राम अथवा देश में उत्पन्न हुआ है—उसका नाम स्वस्थान है ।

स्वस्थान-स्वस्थान—सत्थाण-सत्थाणं णाम अप्पणो उप्पण्णगामे णयरे रण्णे वा सयण-णिसीयण-चंकमणादिवावारजुत्तेणच्छणं । (धव. पु. ४, पृ. २६) ।

जिस अपने ग्राम, नगर अथवा जंगल में उत्पन्न हुआ है वहां सोने, बैठने अथवा गमन करने आदि के व्यापार से युक्त होकर रहना; इसका नाम स्वस्थान-स्वस्थान है ।

स्वस्थानाप्रमत्त—१. णट्ठासेसपमादो वय-गुणसीलोलिमंडिओ णाणी । अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अपमत्तो ॥ (गो. जी. ४६) । २. व्रत-गुण-शीलानां पङ्क्तिभिरलंकृतः ज्ञानी निरन्तरदेहात्मभेदज्ञानपरिणतः, ध्याननिलीनः मोक्षहेतुधर्मध्याने निलीनः निरतः, बहिर्व्यापारमपश्यन्नित्यर्थः, एवंविधः अप्रमत्तसंयतो यावदनुपशमकः अक्षपकश्च-उपशमक-क्षपकश्रेण्यभिमुखो न भवति तावत्स्वस्थानाप्रमत्तः—निरतिशयाप्रमत्तः । (गो. जी. म. प्र. ४६) । ३. यो नष्टाशेषप्रमादः व्रत-गुण-शीलावलीभिर्मण्डितः सम्यग्ज्ञानोपयोगयुक्तः धर्मध्याननिलीनमनाः अप्रमत्तसंयतो यावदुपशमश्रेण्यभिमुखः क्षपक-

स्वलिङ्ग — रजोहरण-मुखवस्त्रिका-चोलपट्टकादि स्वलिङ्गम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. १०-७) ।
रजोहरण, मुखवस्त्रिका और चोलपट्टक इन्हें स्वलिङ्ग माना गया है ।

स्वलिङ्गसिद्ध—स्वलिङ्गेन रजोहरणादिना द्रव्यलिङ्गेन सिद्धाः स्वलिङ्गसिद्धाः । (योगशा. स्वो. विव. ३-१२४) ।
पूर्वभावप्रज्ञापनीय की अपेक्षा जो रजोहरणादि द्रव्यलिंग स्वरूप स्वलिंग से सिद्ध हुए हैं उन्हें स्वलिंगसिद्ध कहा जाता है ।

स्वलिङ्गसिद्धकेवलज्ञान—स्वलिंगे रजोहरणादौ सिद्धानां केवलज्ञानं स्वलिङ्गसिद्धकेवलज्ञानम् । (आव. नि. मलय. वृ. ७८, पृ. ८५) ।
जो जीव रजोहरणादिरूप स्वलिंग में सिद्ध हुए हैं उनके केवलज्ञान को स्वलिंगसिद्धकेवलज्ञान कहा जाता है ।

स्वव्यवसाय—स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः । (परीक्षा. १-६) ।
प्रमाण में जो अपने अभिमुख होकर प्रकाश होता है, वह उसका स्वव्यवसाय कहलाता है ।

स्वशरीरसंस्कार—१. स्वमात्मीयम् तच्च तच्छरीरं च स्वशरीरं निजशरीरम्, तस्य संस्कारः दन्त-नख-केशादिशृंगारः स्वशरीरसंस्कारः । (त. वृत्ति श्रुत. ७-७) । २. स्नेहाभ्यङ्गादिस्नानानि माल्यं स्रक्-चन्दनानि च । कुर्यादस्पर्शमात्रं चेद् ब्रह्मातीचारदोषकृत् ॥ स्वशरीरसंस्काराख्यो दोषोऽयं ब्रह्मचारिणः । (लाटीसं. ६, ६९-७०) ।
१ दांत, नाखून और बालों आदि के शृंगार करने को स्वशरीरसंस्कार कहा जाता है । ब्रह्मचर्यव्रत की भावनाओं में इसके परित्याग का चिन्तन किया जाता है । २ तेल का मर्दन करना तथा माला व चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्य का उपयोग करना, यह सब स्वशरीरसंस्कार कहलाता है ।

स्वसमय—१. जीवो चरित्त-दंसण-णाणट्ठिद तं हि ससमयं जाण । (समयप्रा. २) । २. ××× स्वरूपादप्रच्यवनात् टङ्कोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थः स समयः, समयत एकत्वेन युगपज्जानाति गच्छति चेति निरुक्तेः । अयं खलु यदा सकलस्वभावभासनसमर्थविद्यासमुत्पादकविवेकज्योतिरुद्गमनात् समस्तपरद्रव्यात् प्रच्युत्य दृशि-ज्ञप्ति-स्वभावनियतवृत्तिरूपात्मतत्त्वैकत्वगतत्वेन वर्तते तदा दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्थितत्वात् स्वमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च स्वसमय इति । (समयप्रा. अमृत. वृ. २) । ३. तस्यैवानादिमोहनीयोदयानुवृत्तिपरत्वमपास्यात्यन्तशुद्धोपयोगस्य सतः समुपात्तभावैक्यरूप्यत्वान्नियतगुण-पर्यायत्वं स्वसमयः । (पंचा. का. अमृत. वृ. १५५) ।
१ जीव जब चारित्र, दर्शन और ज्ञान में स्थित होता है तब उसे स्वसमय जानना चाहिए ।

स्वसमयवक्तव्यता—जम्हि सत्थम्हि ससमयो चेव वण्णिज्जदि परूविज्जदि पण्णाविज्जदि तं सत्थं ससमयवत्तव्वं, तस्स भावो ससमयवत्तव्वदा । (धव. पु. १, पृ. ८२) ।
जिस शास्त्र में स्वसमय की ही प्ररूपणा की जाती है—उसका परिज्ञान कराया जाता है—उसे स्वसमयवक्तव्य कहा जाता है । इस स्वसमयवक्तव्य के स्वरूप का नाम ही स्वसमयवक्तव्यता है ।

स्वस्थान—उप्पण्णपदेसो घरं गामो देसो वा सत्थाणं ××× । (धव. पु. ४, पृ. १२१) ।
जिस प्रदेश—घर, ग्राम अथवा देश में उत्पन्न हुआ है—उसका नाम स्वस्थान है ।

स्वस्थान-स्वस्थान—सत्थाण-सत्थाणं णाम अप्पणो उप्पण्णगामे णयरे रण्णे वा सयण-णिसीयण-चंकमणादिवावारजुत्तेणच्छणं । (धव. पु. ४, पृ. २६) ।
जिस अपने ग्राम, नगर अथवा जंगल में उत्पन्न हुआ है वहां सोने, बैठने अथवा गमन करने आदि के व्यापार से युक्त होकर रहना; इसका नाम स्वस्थान-स्वस्थान है ।

स्वस्थानाप्रमत्त—१. णट्ठासेसपमादो वय-गुण-सीलोलिमंडिओ णाणी । अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अपमत्तो ॥ (गो. जी. ४६) । २. व्रत-गुण-शीलानां पंक्तिभिरलंकृतः ज्ञानी निरन्तरदेहात्मभेदज्ञानपरिणतः, ध्याननिलीनः मोक्षहेतुधर्मध्याने निलीनः निमग्नः, बहिर्व्यापारमपश्यन्नित्यर्थः, एवंविधः अप्रमत्तसंयतो यावदनुपशमकः अक्षपकश्च-उपशमक-क्षपकश्रेणिद्वयाभिमुखो न भवति तावत्स्वस्थानाप्रमत्तः—निरतिशयाप्रमत्तः । (गो. जी. म. प्र. ४६) । ३. यो नष्टाशेषप्रमादः व्रत-गुण-शीलावली-निर्मण्डितः सम्यग्ज्ञानोपयोगयुक्तः धर्मध्याननिलीनमनाः अप्रमत्तसंयतो यावदुपशमकश्रेण्यभिमुखः क्षपक-

श्रेण्यभिमुखो वा चरितुं न वर्तते तावत् स खलु स्वस्थानाप्रमत्तः। (गो. जी. जी. प्र. ४६)।

१ समस्त प्रमादों से रहित तथा व्रत, गुण एवं शील से सुशोभित सम्यग्ज्ञानी अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती जीव जब तक उपशम अथवा क्षपक श्रेणि पर आरूढ नहीं होता तब तक ध्यान में निमग्न वह स्वस्थान-अप्रमत्त कहलाता है।

स्वस्थितिकरण- तत्र मोहोदयोद्रेकाच्च्युतस्यात्मस्थितेश्चितः। भूयः संस्थापनं स्वस्य स्थितीकरणमात्मनि ॥ (लाटीसं. ४-२६७; पंचाध्या. ७६३)।

मोह के तीव्र उदय के वश आत्मस्थिति से —रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग से — भ्रष्ट जीव जो अपने को पुनः उस आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित करता है, इसे स्वस्थितिकरण कहते हैं। *यह सम्यग्दर्शन के अंगभूत स्थितिकरण के दो भेदों में पहला है।*

स्वहस्तक्रिया—१. यां परेण निर्वर्त्यां क्रियां स्वयं करोति सा स्वहस्तक्रिया। (स. सि. ६-५; त. वा. ६, ५, १०)। २. परेणैव तु निर्वर्त्या या स्वयं क्रियते क्रिया। सा स्वहस्तक्रिया बोध्या पूर्वोक्तास्रववर्तिनी ॥ (ह. पु. ५८-७४)। ३. परनिर्वर्त्यकार्यस्य स्वयं करणमत्र यत्। सा स्वहस्तक्रियाऽवद्यप्रधाना धीमतां मता ॥ (त. श्लो ६, ५, १७)। ४. स्वहस्तक्रिया अभिमानारूषितचेतसाऽन्यपुरुषप्रयत्ननिर्वर्त्या या स्वहस्तेन क्रियते। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-६)। ५. कर्मकरादिकरणीयायाः क्रियायाः स्वयमेव करणं स्वकरणक्रिया। (त. वृत्ति श्रुत. ६-५)।

१ जो क्रिया दूसरों से कराने योग्य है उसे स्वयं करना, इसे स्वहस्तक्रिया कहते हैं। ४ अभिमान अथवा क्रोध के वश होकर अन्य पुरुष के प्रयत्न से की जाने वाली क्रिया को जब अपने हाथ से किया जाता है तब उसे स्वहस्तक्रिया कहा जाता है।

स्वहस्तपारितापनिकी—स्वहस्तेन स्वदेहस्य परदेहस्य वा परितापनं कुर्वतः स्वहस्तपरितापनिकी। (स्थानां. अभय. ६०, पृ. ४१)।

अपने हाथ से अपने ही शरीर को अथवा अन्य के शरीर को सन्तप्त करना, इसे स्वहस्तपरितापनिकी क्रिया कहा जाता है।

स्वहस्तप्राणातिपातक्रिया—स्वहस्तेन स्वप्राणान् निर्वेदादिना, परप्राणान् वा क्रोधादिना अतिपातयतः स्वहस्तप्राणातिपातक्रिया। (स्थानां. अभय. वृ. ६०, पृ ४१)।

निर्वेद आदि के द्वारा अपने हाथ से अपने प्राणों को अथवा क्रोध आदि के द्वारा दूसरे के प्राणों के नष्ट करने को स्वहस्तप्राणातिपातक्रिया कहते हैं।

स्वाङ्गुल—देखो आत्माङ्गुल। स्वे स्वे काले मनुष्याणामङ्गुलं स्वाङ्गुलं मतम्। मीयते तेन तच्छत्र-भृङ्गार-नगरादिकम् ॥ (ह. पु. ७-४४)।

अपने अपने समय में मनुष्य का जो अंगुल होता है उसे स्वाङ्गुल या आत्माङ्गुल कहा जाता है। इससे छत्र, झारी व नगर आदि का प्रमाण किया जाता है।

स्वातिसंस्थाननाम— १. तद्विपरीत (न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननामविपरीत) नन्निवेशकर स्वातिसंस्थाननाम वल्मीकतुल्याकारम्। (त. वा. ८, ११, ८)। २. स्वातिर्वल्मीकः शाल्मलिर्वा, तस्य संस्थानमिव संस्थानं यस्य शरीरस्य तत्स्वातिशरीरसंस्थानम्, अहो विसालं उवरि सण्णमिदि जं उत्तं होदि। (धव. पु. ६, पृ. ७१); स्वातिर्वल्मीकः, स्वातिरिव शरीरसंस्थानं स्वातिशरीरसंस्थानम्। एतस्य यत् कारणं कर्म तस्याप्येषैव संज्ञा, कारणे कार्योपचारात्। (धव. पु. १३, पृ. ३६८)। ३. स्वातिसंस्थानं शरीरस्य नाभेरधः कटि-जंघा-पादाद्यवयवपरमाणूनामधिकोपचयः। (मूला. वृ. १२-४६)। ४. तस्मात् (न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थानात्) विपरीतसंस्थानविधायकं स्वातिसंस्थानं वल्मीकापरनामधेयम्। (त. वृत्ति-श्रुत. ८-११)।

१ न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान से विपरीत जो शरीर के अवयवों की रचना होती है उसे स्वातिसंस्थान कहते हैं। यह शरीरावयवों की रचना वल्मीक के आकार जैसी होती है। इस प्रकार की शरीराकृति जिस कर्म के उदय से होती है उसे स्वातिसंस्थाननामकर्म कहा जाता है। ३ शरीर में नाभि के नीचे कटि, जंघा और पांव आदि अवयवों में जो परमाणुओं का अधिक उपचय होता है उसे स्वातिसंस्थान कहते हैं।

स्वाधिगमहेतु—स्वाधिगमहेतुर्ज्ञानात्मकः प्रमाण-नयविकल्पः। (त. वा. १, ६, ४)।

प्रमाण और नय के विकल्परूप जो ज्ञानस्वरूप हेतु है उसे स्वाधिगमहेतु कहते हैं।

स्वाध्याय—१. ज्ञानभावनाऽऽलस्यत्यागः स्वाध्यायः। (स. सि. ९-२०)। २. प्रज्ञातिशयप्रशस्ताध्यवसायाद्यर्थः स्वाध्यायः। प्रज्ञातिशयः प्रशस्ताध्यवसायः प्रवचनस्थितिः संशयोच्छेदः परवादिशंकाभावः परमसंवेगः तपोवृद्धिरतिचारविशुद्धिरित्येवमाद्यर्थः स्वाध्यायोऽनुष्ठेयः। (त. वा ९, २०, ६)। ३. यत्तु खलु वाचनादेरासेवनमत्र भवति विधिपूर्वम्। धर्मकथान्तं क्रमशस्तत्स्वाध्यायो विनिर्दिष्टः॥ (षोडशक. १३-३)। ४. अंगंगबाहिरआगमवायण-पुच्छणाणुपेहापरियट्टण-धम्मकहाओ सज्झाओ णाम। (धव. पु. १३, पृ. ६४)। ५. प्रज्ञातिशय-प्रशस्ताध्यवसायाद्यर्थं स्वाध्यायः। × × × स्वाध्यायः पंचधा प्रोक्तो वाचनादिप्रभेदतः। अन्तरङ्गश्रुतज्ञानभावनात्मत्वतस्तु सः॥ (त. श्लो. ९, २५, १)। ६. सुष्ठु मर्यादया कालवेलापरिहारेण पौरुष्यपेक्षया वाऽऽध्यायः (योग. शा. 'ऽध्ययनं) स्वाध्यायः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-२०; योगशा स्वो. विव. ४-९०)। ७. परतत्तीणिरवेक्खो दुट्ठवियप्पाण णासणसमत्थो। तच्चविणिच्छयहेदू सज्झाओ झाणसिद्धिपरो॥ (कार्तिके. ४६१)। ८. अनुयोग-गुणस्थान-मार्गणास्थान-कर्मसु। अध्यात्मतत्त्वविद्यायाः पाठः स्वाध्याय उच्यते॥ (उपासका. ९१५)। ९. स्वाध्यायस्तत्त्वज्ञानस्याध्ययनमध्यापनं स्मरणं च। (चा. सा. पृ. २२); स्वस्मै योऽसौ हितोऽध्यायः स्वाध्यायः। (चा. सा. पृ. ६७)। १०. स्वस्मै योऽसौ हितोऽध्यायः स्वाध्यायो वाचनादिकः। (आचा. सा. ६-९५)। ११. स (स्वाध्यायः) हि स्वस्मै हितोऽध्यायः सम्यग्वाध्ययनं श्रुतः॥ (अन. ध. ७-८२)। १२. शोभनो लाभ-पूजा-ख्यातिनिरपेक्षतया आध्यायः पाठः स्वाध्यायः। (सं. चारित्रभ. टी. ५, पृ. १९८)। १३. चतुर्णामनुयोगानां जिनोक्तानां यथार्थतः। अध्यापनमधीतिर्वा स्वाध्यायः कथ्यते हि सः॥ (भावसं. वाम. ५९९)। १४. स्वाध्यायोऽध्ययनं स्वस्मै जैनसूत्रस्य युक्तितः। अज्ञानप्रतिकूलत्वात्तपःस्वेष परं तपः॥ (धर्मसं. श्रा. ६, २१२)। १५. नैरन्तर्येण यः पाठः क्रियते सूरिसन्निधौ। यद्वा सामायिकी पाठः स्वाध्यायः स स्मृतो बुधैः॥ (लाटीसं. ७-८५)। १६. ज्ञानभावनायामलसत्वपरिहारः स्वाध्याय उच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ९-२०)। १७. स्वाध्यायः सुष्ठु पूर्वापराऽविरोधेन, अध्ययनं पठनं पाठनम् आध्यायः, सुष्ठु शोभनं आध्यायः स्वाध्यायो वा। (कार्तिके. टी. ४६१)।

१ ज्ञान की भावना में आलस्य न करना, इसका नाम स्वाध्याय है। ३ धर्मकथा (धर्मोपदेश) तक जो क्रम से वाचना आदि का आराधन किया जाता है उसे स्वाध्याय कहते हैं।

स्वाध्यायकुशलता—१. स्वाध्यायं कृत्वा गव्यूतिद्वयं गत्वा गोचरक्षेत्रवसतिं गत्वा तिष्ठति, यत्र विप्रकृष्टो मार्गस्तत्र सूत्रपौरुष्यामर्थपौरुष्यां वा मंगलं कृत्वा याति, एवं स्वाध्यायकुशलता। (भ. आ. विजयो. ४०३)। २. स्वाध्यायकुशलस्तु यः स्वाध्यायं कृत्वा गोचरक्षेत्रवसतिं च गत्वा तिष्ठति, यत्र विप्रकृष्टो मार्गस्तत्र सूत्रपौरुष्यामर्थपौरुष्यां [वा] मंगलं कृत्वा याति। (भ. आ. मूला. ४०३)।

१ समाधिमरण का इच्छुक निर्यापक के अन्वेषण में उद्युक्त होता हुआ दो कोस जाकर गोचरक्षेत्रवसति आहार की सुविधाजनक स्थान में—ठहर जाता है। जहां मार्ग लंबा होता है वहां सूत्रपौरुषी अथवा अर्थपौरुषी में मंगल करके जाता है। इस प्रकार से स्वाध्यायकुशलता होती है।

स्वानवकाङ्क्षा — स्वानवकाङ्क्षा जिनोक्तेषु कर्तव्यविधिषु प्रमादवशवर्तितानादरः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-६)।

जिनप्ररूपित कर्तव्य अनुष्ठानों के विषय में प्रमाद के वश होकर अनादर करना, इसे स्व-अनवकांक्षा-क्रिया कहते हैं।

स्वाप—१. इन्द्रियात्ममनोमरुतां सूक्ष्मावस्था स्वापः। (नीतिवा. २५-२०, पृ. २५२)। २. स्वापः सुस्वप्नदर्शिन्यवस्था। (सिद्धिवि. टी. १-२३, पृ. १००); कोऽयं स्वापो नाम? चैतन्यरहिता सिद्धदशा। (सिद्धिवि. टी. ९-११, पृ. ६१६)।

१ इन्द्रिय, आत्मा, मन और मरुत् इनकी सूक्ष्म अवस्था का नाम स्वाप है। २ सुन्दर स्वप्न को दिखलाने वाली अवस्था को स्वाप कहा जाता है।

स्वामित्व—१. स्वामित्वमाधिपत्यम् । (स. सि. १–७; त. वा. १–७; त. वृत्ति श्रुत. १–७) । २ उक्कस्सादिचदुण्णं पदाणं पाओग्गजीवपरूवणं जत्थ कीरदि तमणियोगद्दारं सामित्तं णाम । (धव. पु. १०, पृ. १९) । ३. कस्य इत्याधिपतित्वख्यापनं स्वामित्वम् । (न्यायकु. ७६, पृ. ८०२) ।

१ विवक्षित वस्तु के आधिपत्य का नाम स्वामित्व है। २ जिस अनुयोगद्वार में उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य इन चार पदों के योग्य जीवों की प्ररूपणा की जाती है उसका नाम स्वामित्व अनुयोगद्वार है।

स्वामी—धार्मिकः कुलाचाराभिजनविशुद्धः प्रतापवान् नयानुगतवृत्तिश्च स्वामी । (नीतिवा. १७–१, पृ. १८०) ।

जो धर्मात्मा, कुलाचार व अभिजन से विशुद्ध; प्रतापशाली और नीति के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला होता है उसे स्वामी कहा जाता है।

स्वाम्यदत्त—तत्र स्वाम्यदत्तं तृणोपल-काष्ठादिकं तत्स्वामिना यददत्तम् । (योगशा. स्वो. विव. १–२२) ।

जो तृण, पाषाण और लकड़ी आदि उसके अधिकारी के द्वारा नहीं दी गई है उसे स्वाम्यदत्त कहा जाता है।

स्वार्थ—देखो स्वास्थ्य । स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां स्वार्थः × × × । (स्वयम्भू. ३१) ।

पुरुषों (जीवों) की जो आत्यन्तिक स्वस्थिति है—अनन्तचतुष्टयस्वरूप आत्मा में अवस्थान है—वही उनका स्वार्थ है।

स्वार्थश्रुत—आद्यं (भावश्रुतं) विकल्पनिरूपणरूपं स्वविप्रतिपत्तिनिराकरणफलत्वात्स्वार्थम् । (अन. ध. स्वो. टी. ३–५) ।

अपनी विप्रतिपत्ति (अज्ञानता) का निराकरण करने वाला जो विकल्प निरूपण स्वरूप ज्ञान है उसे स्वार्थश्रुत कहा जाता है।

स्वार्थाधिगम—स्वार्थाधिगमो ज्ञानात्मको मति-श्रुतादिरूपः । (सप्तभं. पृ. १) ।

मति-श्रुतादिरूप ज्ञान को स्वार्थाधिगम कहा जाता है।

स्वार्थानुमान—स्वयमेव निश्चितात् साधनात्साध्यज्ञानं स्वार्थानुमानम् । परोपदेशमनपेक्ष्य स्वयमेव निश्चितात्प्रागवतर्कानुभूतव्याप्तिस्मरणसहकृताद्धूमादेः साधनादुत्पन्नं पर्वतादौ धर्मिण्यग्न्यादेः साध्यस्य ज्ञानं स्वार्थानुमानमित्यर्थः । (न्यायदी. पृ. ७१–७२) ।

स्वयं ही निश्चित साधन से जो साध्य का ज्ञान होता है उसे स्वार्थानुमान कहते हैं। जैसे—किसी दूसरे के उपदेश के बिना स्वयं निश्चित धूम हेतु से जो पर्वतादिमें अग्नि आदि साध्य का ज्ञान होता है उसे स्वार्थानुमान समझना चाहिए।

स्वास्थ्य—१. दुःखहेतुकर्मणां विनष्टत्वात् स्वास्थ्यलक्षणस्य सुखस्य जीवस्य स्वाभाविकत्वात् । (धव. पु. ६, पृ. ४६१) । २. आत्मा ज्ञातृतया ज्ञानं सम्यक्त्वं चरितं हि सः । स्वस्थो दर्शन-चारित्रमोहाभ्यामनुपप्लुतः ॥ (त. सा. उपसं. ७) । ३. आत्मोत्थमात्मना साध्यमव्याबाधमनुत्तरम् । अनन्तं स्वास्थ्यमानन्दमतृष्णमपवर्गजम् ॥ (क्षत्रचू. ७–१३) ।

१ दुःख के कारणभूत कर्मों के विनष्ट हो जाने पर जो निर्बाध स्वाभाविक सुख उत्पन्न होता है वही स्वास्थ्य का लक्षण है।

स्वेद—१. अंगैकदेशप्रच्छादकं स्वेदः । (मूला. वृ. १–३१) । २. अशुभकर्मविपाकजनितशरीरायाससमुपजातपूतिगन्धसम्बन्धवासनावासितवार्बिन्दुसन्दोहः स्वेदः । (नि. सा. वृ. ६) ।

१ शरीर के एक देश को आच्छादित करने वाले मल को (स्वेद—पसीना) कहते हैं। २ अशुभ कर्म के उदय से जो शरीर के द्वारा परिश्रम किया जाता है उससे जो दुर्गन्धित जलबिन्दुओं का प्रादुर्भाव होता है वह स्वेद कहलाता है।

स्वोपकार—१. स्वोपकारः पुण्यसंचयः । (स. सि. ७–३८; त. वा. ७, ३८, १) । २. विशिष्टगुणसंचयलक्षणं स्वोपकारः । (त. वृत्ति श्रुत. ७-३८) ।

१ दान के आश्रय से जो दाता के पुण्य का संचय होता है वह दानजनित उसका स्वोपकार है।

हतसमुत्पत्तिक कर्म—१. हते समुत्पत्तिर्येषां तानि हतसमुत्पत्तिकानि । (जयध.—कसायपा. पृ. १७५ टि.) । २. हते घातिते समुत्पत्तिर्यस्य तदुत्तरसमुत्पत्तिकं कर्म अणुभागसंतकम्मे धा जमुव्वरिदं जहण्णाणुभागसंतकम्मं तस्स हदसमुप्पत्तियकम्ममिदि सण्णा ॥ (जयध. अ. प्र. ३२२)। ३. हदसमुप्पत्तियकम्मेणेत्ति वुत्ते पुव्विल्लमणुभागसंतकम्मं सव्वं

घादिय अणंतगुणहीणं कादूण ट्ठिदेणेत्ति वुत्तं होदि। (धव. पु. १२, पृ. २६)।
१ अनुभागसत्कर्म का घात कर देने पर जिनकी उत्पत्ति होती है उन्हें हतसमुत्पत्तिककर्म कहते हैं।

हतसमुत्पत्तिक सत्कर्मस्थान — देखो हतोत्पत्तिकस्थान। जाणि अणुभागट्ठाणाणि घादादो चेव उप्पज्जति, ण बंधादो, ताणि अणुभागसंतकम्मट्ठाणाणि भण्णति। तेसिं चेव हदसमुप्पत्तियट्ठाणाणि त्ति विदिया सण्णा। (धव. पु १२, पृ. २१६)।
जो अनुभागस्थान घात से ही उत्पन्न होते हैं, बन्ध से उत्पन्न नहीं होते, उन्हें अनुभागसत्कर्मस्थान कहा जाता है। उनका दूसरा नाम हतसमुत्पत्तिकस्थान भी है।

हतहतिसमुत्पत्तिक सत्कर्मस्थान — देखो हतहतोत्पत्तिकस्थान। हतस्य हतिः हतहतिः, ततः समुत्पत्तिर्येषां तानि हतहतिसमुत्पत्तिकानि। (जयध.—कसायपा. पृ. १७५ टि.)।
घातित अनुभाग के घात से जिन अनुभागसत्कर्मस्थानों की उत्पत्ति होती है उन्हें हतहतिसमुत्पत्तिकस्थान कहते हैं।

हतहतोत्पत्तिकस्थान—देखो हतहतिसमुत्पत्तिकस्थान। यानि पुनः स्थितिघातेन रसघातेन चान्यथाऽन्यथाभवनादनुभागस्थानानि जायन्ते तानि च हतहतोत्पत्तिकान्युच्यन्ते। हते उद्वर्तनापवर्तनाभ्यां घाते सति, भूयोऽपि हतात् स्थितिघातेन रसघातेन घातादुत्पत्तिर्येषां तानि हतहतोत्पत्तिकानि। (कर्मप्र. मलय. वृ. सत्ता २४)।
जो अनुभागस्थान स्थिति के घात से और रस (अनुभाग) के घात से अन्य अन्य प्रकार से परिणत होते हैं उन्हें हतहतोत्पत्तिक कहा जाता है। कारण यह कि उद्वर्तना और अपवर्तना के द्वारा घात के होने पर पुनरपि स्थिति के घात और रस के घात से वे उत्पन्न होते हैं। इससे उनकी यह हतहतोत्पत्तिक संज्ञा सार्थक है।

हतोत्पत्तिकस्थान — देखो हतसमुत्पत्तिकसत्कर्मस्थान। तथा उद्वर्तनापवर्तनाकरणवशतो वृद्धि-हानिभ्यामन्यथाऽन्यथा यान्यनुभागस्थानानि वैचित्र्यभाञ्जि भवन्ति तानि हतोत्पत्तिकान्युच्यन्ते। हतात् घातात् पूर्वावस्थाविनाशरूपादुत्पत्तिर्येषां तानि हतोत्पत्तिकानि। (कर्मप्र. मलय. वृ. सत्ता. २४)।
उद्वर्तना और अपवर्तना करणों के वश होने वाली वृद्धि और हानि से अन्य अन्य प्रकार से परिणत विचित्र अनुभागस्थानों को हतोत्पत्तिक कहा जाता है। कारण यह कि वे पूर्व अवस्था के विनाशरूप हत (घात) से उत्पन्न होते हैं। इससे उनकी यह हतोत्पत्तिक संज्ञा सार्थक है।

हत्थिसुंडी — १. हत्थिसुंडी हस्तिहस्तप्रसारणमिव एकं पादं प्रसार्यासनम्। (भ. आ. विजयो. २२४)। २. हत्थिसुंडि हस्तिहस्तप्रसारणमिव एकं पादं संकोच्य तदुपरि द्वितीयं पादं प्रसार्यासनम्। (भ. आ. मूला. २२४)।
२ हाथी की सूंड के समान एक पांव को संकुचित करके व उसके ऊपर दूसरे पांव को फैलाकर स्थित होना, इसे हत्थिसुंडी कहा जाता है। यह कायक्लेश तप के अन्तर्गत आसन का एक प्रकार है।

हन्ता—हन्ता शस्त्रादिना प्राणिनां प्राणापहारकः। (योगशा. स्वो. विव. ३–२०)।
जो शस्त्र आदि के द्वारा प्राणियों के प्राणों का अपहरण किया करता है उसे हन्ता कहा जाता है।

हरि— × × × हरिः दुःखापनोदनात्। (लाटीसं. ४–१३२)।
प्राणियों के दुःखों का अपहरण करने के कारण अरहन्त को हरि कहा जाता है।

हर्ष—निर्निमित्तमन्यस्य दुःखोत्पादनेन स्वस्यार्थसंचयेन वा मनःप्रतिरञ्जनो हर्षः। (नीतिवा. ४-७); तथा च भारद्वाजः— प्रयोजनं विना दुःखं यो दत्वान्यस्य हृष्यति। आत्मनोऽनर्थसंदे[दो] हः स हर्षः प्रोच्यते बुधैः॥ (नीतिवा. टी. ४–७)।
जो अकारण ही दूसरे को दुःख उत्पन्न करके अथवा अपने अर्थसंचय के द्वारा मन को अनुरंजायमान किया जाता है, इसे हर्ष कहते हैं। यह राजाओं के काम-क्रोधादिरूप अन्तरंग अरिषड्वर्ग में अन्तिम है।

हस्त—१. दोण्णि विहत्थी हत्थो × × ×॥ (ति. प. १–११४)। २. द्विवितस्तिः हस्तः। (त. वा. ३, ३८, ६)। ३. × × ×तद्द्वयं (वितस्तिद्वयं) हस्तः × × ×॥ (ह. पु. ७–४५)। ४. वेहि विहत्थीहि तहा हत्थो पुण होइ णायव्वो॥ (जं. दी. प. १३–३२)। ५. चतुर्विंशत्यङ्गुलो हस्तः। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३८)।

१ दो वितस्तियों—चौबीस अंगुलों—का एक हस्त होता है।

हस्तग्रहणान्तराय—१. ××× करेण वा (किंचि गहणं) जं च भूमीए ॥ (मूला. ६-८०)। २. ××× पाणिना पुनः। हस्तग्रहणमादाने मुक्तिविघ्नोऽस्तिनो मुनेः ॥ (अन. ध. ५-५८)।

१ यदि मुनि आहार के समय पृथिवी पर से हाथ के द्वारा कुछ ग्रहण करते हैं तो यह उनके लिए करग्रहण या हस्तग्रहण नामक भोजन का अन्तराय होता है। यह बत्तीस भोजनान्तरायों में अन्तिम है।

हस्तपादादिसंस्कार—१ शोभार्थं हस्त-पादादिप्रक्षालनम् औषधविलेपनादिर्वा संस्कार आदिशब्देन गृहीतः। (भ. आ. विजयो. ९३)। २. शोभार्थं प्रक्षालनमौषधलेपनादिकं च हस्त-पादादिसंस्कारः। (भ. आ. मूला. ९३)।

१ सुन्दरता के लिए हाथ-पांवों आदि को धोना अथवा औषध का लेपन आदि करना, यह सब हस्तपादादिसंस्कार कहलाता है।

हंससमानशिष्य—यथा हंसः क्षीरमुदकमिश्रितमपि उदकमपहाय क्षीरमापिवति तथा शिष्योऽपि यो गुरोरनुपयोगादिसम्भवात् दोषानवधूय गुणानेव केवलानादत्ते स हंससमानः। (आव. नि. मलय. वृ. १३६, पृ. १४३)।

जिस प्रकार हंस पानी से मिश्रित दूध को उस पानी से पृथक् करके पीता है उसी प्रकार जो शिष्य गुरु के अनुपयोग आदि से सम्भव दोषों को दूर करके केवल गुणों को ही ग्रहण किया करता है वह हंस समान शिष्य कहलाता है।

हास्य—१. यस्योदयाद्धास्याविर्भावस्तद्धास्यम्। (स. सि. ८-९; त. वा. ८, ९, ४)। २. हसनं हासः, जस्स कम्मक्खंधस्स उदएण हस्सणिमित्तो जीवस्स रागो उप्पज्जइ तस्स कम्मक्खंधस्स हस्सोत्ति सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ४७); जस्स कम्मस्स उदएण अणेयविहो हासो समुप्पज्जदि तं कम्मं हस्सं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६१)। ३. हास्यनोकषायमोहोदयात् सनिमित्तमनिमित्तं वा हसति स्मयते रङ्गावतीर्णनटवत्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-१०)। ४. हसनं हासो यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन हास्यनिमित्तो जीवस्य राग उत्पद्यते तस्य हास इति संज्ञा। (मूला. वृ. १२-१९२)। ५. क्वचित्कदाचित्किंचित् परजनविकाररूपमवलोक्य श्रुत्वाकर्ण्य च हास्याभिधाननोकषायसमुपजनितमीषच्छुभमिश्रितमप्यशुभकर्मकारणं पुरुषमुखविकारजनितं हास्यकर्म। (नि. सा. वृ. ६२)। ६. हास्याविर्भावफलं हास्यम्। (भ. आ. मूला. २०६५)। ७. हास्यं वक्रोक्त्यादिस्वरूपं यदुदयादाविर्भवति तद्धास्यम्। (त. वृत्ति श्रुत. ८-९)।

१ जिस कर्म के उदय से हास्य का आविर्भाव होता है उसे हास्य नोकषाय कहते हैं। २ जिसके उदय से जीव के हास्य का कारणभूत राग उत्पन्न होता है उसका नाम हास्य है। ३ जिसके उदय से सकारण या अकारण भी प्राणी रंगभूमि में आए हुए नट के समान हँसता है उसे हास्य नोकषाय कहा जाता है।

हास्यमोहनीय—यदुदयात् सनिमित्तमनिमित्तं वा हसति स्म हासयते वा तत् हास्यमोहनीयम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४६९)।

जिसके उदय से सनिमित्त या अनिमित्त हँसा जाता है वह हास्य मोहनीय कर्म है।

हितनोआगमद्रव्यपेज्ज — व्याध्युपशमनहेतुर्द्रव्यं हितम्। (जयध. १, पृ. ३७१)।

व्याधि की उपशान्ति के कारणभूत द्रव्य का नाम हितनोआगमद्रव्यपेज्ज है।

हितप्रदानविनय—परिणामकादीनां यत् यत् यस्य भवति योग्यं तत्तु तस्य हितं सूत्रतोऽर्थतश्च ददाति। एष हितप्रदानविनयः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १०-३१३)।

परिणामक आदिकों में जो जो जिसके योग्य है उसके लिए सूत्र से व अर्थ से उसे देना, इसे हितप्रदानविनय कहा जाता है।

हितभाषण — मोक्षपदप्रापणप्रधानफलं हितम्। (त. वा. ९, ६, ५)।

जिस भाषण का प्रमुख फल मोक्ष पद की प्राप्ति रहता है उसे हितभाषण कहा जाता है।

हिरण्य—१. हिरण्यं रूप्यादिव्यवहारतन्त्रम्। (स. सि. ७-२९; त. वा. ७-२९)। २. हिरण्यं रूप्यताम्रादिघटितद्रव्यव्यवहारप्रवर्तनम्। (कार्तिके. टी. ३४०)।

१ जिसके आधीन रुपया आदि का व्यवहार चलता है उसे हिरण्य कहा जाता है। २ जो चांदी अथवा

घादिय अणंतगुणहीणं कादूण ट्ठिदेणेत्ति वुत्तं होदि। (धव. पु. १२, पृ. २९)।

१ अनुभागसत्कर्म का घात कर देने पर जिनकी उत्पत्ति होती है उन्हें हतसमुत्पत्तिककर्म कहते हैं।

हतसमुत्पत्तिक सत्कर्मस्थान—देखो हतोत्पत्तिकस्थान। जाणि अणुभागट्ठाणाणि घादादो चेव उप्पज्जंति, ण बंधादो, ताणि अणुभागसंतकम्मट्ठाणाणि भण्णंति। तेसिं चेव हदसमुप्पत्तियट्ठाणाणि त्ति विदिया सण्णा। (धव. पु. १२, पृ. २१६)।

जो अनुभागस्थान घात से ही उत्पन्न होते हैं, बन्ध से उत्पन्न नहीं होते, उन्हें अनुभागसत्कर्मस्थान कहा जाता है। उनका दूसरा नाम हतसमुत्पत्तिकस्थान भी है।

हतहतिसमुत्पत्तिक सत्कर्मस्थान—देखो हतहतोत्पत्तिकस्थान। हतस्य हतिः हतहतिः, ततः समुत्पत्तिर्येषां तानि हतहतिसमुत्पत्तिकानि। (जयध.—कसायपा. पृ. १७५ टि.)।

घातित अनुभाग के घात से जिन अनुभागसत्कर्मस्थानों की उत्पत्ति होती है उन्हें हतहतिसमुत्पत्तिकस्थान कहते हैं।

हतहतोत्पत्तिकस्थान—देखो हतहतिसमुत्पत्तिकस्थान। यानि पुनः स्थितिघातेन रसघातेन चान्यथाऽन्यथाभवनादनुभागस्थानानि जायन्ते तानि च हतहतोत्पत्तिकान्युच्यन्ते। हते उद्वर्तनापवर्तनाभ्यां घाते सति, भूयोऽपि हतात् स्थितिघातेन रसघातेन घातादुत्पत्तिर्येषां तानि हतहतोत्पत्तिकानि। (कर्मप्र. मलय. वृ. सत्ता २४)।

जो अनुभागस्थान स्थिति के घात से और रस (अनुभाग) के घात से अन्य अन्य प्रकार से परिणत होते हैं उन्हें हतहतोत्पत्तिक कहा जाता है। कारण यह कि उद्वर्तना और अपवर्तना के द्वारा घात के होने पर पुनरपि स्थिति के घात और रस के घात से वे उत्पन्न होते हैं। इससे उनकी यह हतहतोत्पत्तिक संज्ञा सार्थक है।

हतोत्पत्तिकस्थान—देखो हतसमुत्पत्तिकसत्कर्मस्थान। तथा उद्वर्तनापवर्तनाकरणवशतो वृद्धि-हानिभ्यामन्यथाऽन्यथा यान्यनुभागस्थानानि वैचित्र्यभाञ्जि भवन्ति तानि हतोत्पत्तिकान्युच्यन्ते। हतात् घातात् पूर्वावस्थाविनाशरूपादुत्पत्तिर्येषां तानि हतोत्पत्तिकानि। (कर्मप्र. मलय. वृ. सत्ता. २४)।

उद्वर्तना और अपवर्तना करणों के वश होने वाली वृद्धि और हानि से अन्य अन्य प्रकार से परिणत विचित्र अनुभागस्थानों को हतोत्पत्तिक कहा जाता है। कारण यह कि वे पूर्व अवस्था के विनाशरूप हत (घात) से उत्पन्न होते हैं। इससे उनकी यह हतोत्पत्तिक संज्ञा सार्थक है।

हत्थिसुंडी—१. हत्थिसुंडी हस्तिहस्तप्रसारणमिव एकं पादं प्रसार्यासनम्। (भ. आ. विजयो. २२४)। २. हत्थिसुंडि हस्तिहस्तप्रसारणमिव एकं पादं संकोच्य तदुपरि द्वितीयं पादं प्रसार्यासनम्। (भ. आ. मूला. २२४)।

२ हाथी की सूंड के समान एक पांव को संकुचित करके व उसके ऊपर दूसरे पांव को फैलाकर स्थित होना, इसे हत्थिसुंडी कहा जाता है। यह कायक्लेश तप के अन्तर्गत आसन का एक प्रकार है।

हन्ता—हन्ता शस्त्रादिना प्राणिनां प्राणापहारकः। (योगशा. स्वो. विव. ३-२०)।

जो शस्त्र आदि के द्वारा प्राणियों के प्राणों का अपहरण किया करता है उसे हन्ता कहा जाता है।

हरि—× × × हरिः दुःखापनोदनात्। (लाटीसं. ४-१३२)।

प्राणियों के दुःखों का अपहरण करने के कारण अरहन्त को हरि कहा जाता है।

हर्ष—निर्निमित्तमन्यस्य दुःखोत्पादनेन स्वस्यार्थसंचयेन वा मनःप्रतिरञ्जनो हर्षः। (नीतिवा. ४-७); तथा च भारद्वाजः—प्रयोजनं विना दुःखं यो दत्त्वान्यस्य हृष्यति। आत्मनोऽनर्थसंदे[दो] हः स हर्षः प्रोच्यते बुधैः॥ (नीतिवा. टी. ४-७)।

जो अकारण ही दूसरे को दुःख उत्पन्न करके अथवा अपने अर्थसंचय के द्वारा मन को अनुरंजायमान किया जाता है, इसे हर्ष कहते हैं। यह राजाओं के काम-क्रोधादिरूप अन्तरंग अरिषड्वर्ग में अन्तिम है।

हस्त—१. दोण्णि विहत्थी हत्थो × × ×॥ (ति. प. १-११४)। २. द्विवितस्तिः हस्तः। (त. वा. ३, ३८, ६)। ३. × × × तद्द्वयं (वितस्तिद्वयं) हस्तः × × ×॥ (ह. पु. ७-४५)। ४. वेहि विहत्थीहि तहा हत्थो पुण होइ णायव्वो॥ (जं. दी. प. १३-३२)। ५. चतुर्विंशत्यंगुलो हस्तः। (त. वृत्ति श्रुत. ३-३८)।

१ दो वितस्तियों—चौबीस अंगुलों—का एक हस्त होता है।

हस्तग्रहणान्तराय—१. ××× करेण वा (किंचि गहणं) जं च भूमीए॥ (मूला. ६-८०)। २. ××× पाणिना पुनः। हस्तग्रहणमादाने मुक्तिविघ्नोऽन्तिमो मुनेः॥ (अन. ध. ५-५८)।

१ यदि मुनि आहार के समय पृथिवी पर से हाथ के द्वारा कुछ ग्रहण करते हैं तो यह उनके लिए करग्रहण या हस्तग्रहण नामक भोजन का अन्तराय होता है। यह बत्तीस भोजनान्तरायों में अन्तिम है।

हस्तपादादिसंस्कार—१ शोभार्थं हस्त-पादादि-प्रक्षालनम् औषधविलेपनादिर्वा संस्कार आदि-शब्देन गृहीतः। (भ. आ. विजयो. ९३)। २. शोभार्थं प्रक्षालनमौषधलेपनादिकं च हस्त-पादादि-संस्कारः। (भ. आ. मूला. ९३)।

१ सुन्दरता के लिए हाथ-पांवों आदि को धोना अथवा औषध का लेपन आदि करना, यह सब हस्त-पादादिसंस्कार कहलाता है।

हंससमानशिष्य—यथा हंसः क्षीरमुदकमिश्रितमपि उदकमपहाय क्षीरमापिबति तथा शिष्योऽपि यो गुरोरनुपयोगादिसम्भवान् दोषानवधूय गुणानेव केवलानादत्ते स हंससमानः। (आव. नि. मलय. वृ. १३६, पृ. १४३)।

जिस प्रकार हंस पानी से मिश्रित दूध को उस पानी से पृथक् करके पीता है उसी प्रकार जो शिष्य गुरु के अनुपयोग आदि से सम्भव दोषों को दूर करके केवल गुणों को ही ग्रहण किया करता है वह हंस समान शिष्य कहलाता है।

हास्य—१. यस्योदयाद्धास्याविर्भावस्तद्धास्यम्।(स. सि. ८-९; त. वा. ८, ९, ४)। २. हसनं हासः, जस्स कम्मक्खंधस्स उदएण हस्सणिमित्तो जीवस्स रागो उप्पज्जइ तस्स कम्मक्खंधस्स हस्सोत्ति सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ४७); जस्स कम्मस्स उदएण अणेयविहो हासो समुप्पज्जदि तं कम्मं हस्सं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६१)। ३. हास्यनोकषायमोहोदयात् सनिमित्तमनिमित्तं वा हसति स्मयते रङ्गावतीर्णनटवत्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-१०)। ४. हसनं हासो यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन हास्यनिमित्तो जीवस्य राग उत्पद्यते तस्य हास इति संज्ञा। (मूला. वृ. १२-१९२)। ५. क्वचित्कदाचित्किंचित् परजनविकाररूपमवलोक्य त्वाकर्ण्य च हास्याभिधाननोकषायसमुपजनितमौपच्छुभमिश्रितमप्यशुभ-कर्मकारणं पुरुषमुखविकारजनितं हास्यकर्म। (नि. सा. वृ. ६२)। ६. हास्याविर्भावफलं हास्यम्। (भ. आ. मूला. २०९५)। ७. हास्यं वर्करादिस्वरूपं यदुदयादाविर्भवति तद्धास्यम्। (त. वृत्ति श्रुत. ८-९)।

१ जिस कर्म के उदय से हास्य का आविर्भाव होता है उसे हास्य नोकषाय कहते हैं। २ जिसके उदय से जीव के हास्य का कारणभूत राग उत्पन्न होता है उसका नाम हास्य है। ३ जिसके उदय से सकारण या अकारण भी प्राणी रंगभूमि में आए हुए नट के समान हँसता है उसे हास्य नोकषाय कहा जाता है।

हास्यमोहनीय—यदुदयात् सनिमित्तमनिमित्तं वा हसति स्म हासयते वा तत् हास्यमोहनीयम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४६९)।

जिसके उदय से सनिमित्त या अनिमित्त हँसा जाता है वह हास्य मोहनीय कर्म है।

हितनोआगमद्रव्यपेज्ज — व्याध्युपशमनहेतुर्द्रव्य हितम्। (जयध. १, पृ. २७१)।

व्याधि की उपशान्ति के कारणभूत द्रव्य का नाम हितनोआगमद्रव्यपेज्ज है।

हितप्रदानविनय—परिणामकादीनां यत् यत् यस्य भवति योग्यं तत्तु तस्य हितं सूत्रतोऽर्थतश्च ददाति। एष हितप्रदानविनयः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १०-३१३)।

परिणामक आदिकों में जो जो जिसके योग्य है उसके लिए सूत्र से व अर्थ से उसे देना, इसे हितप्रदानविनय कहा जाता है।

हितभाषण — मोक्षपदप्रापणप्रधानफलं हितम्। (त. वा. ६, ६, ५)।

जिस भाषण का प्रमुख फल मोक्ष पद की प्राप्ति रहता है उसे हितभाषण कहा जाता है।

हिरण्य—१. हिरण्यं रूप्यादिव्यवहारतन्त्रम्। (स. सि. ७-२९; त. वा. ७-२९)। २. हिरण्यं रूप्यताम्रादिघटितद्रव्यव्यवहारप्रवर्तनम्। (कार्तिके. टी. ३४०)।

१ जिसके आधीन रुपया आदि का व्यवहार चलता है उसे हिरण्य कहा जाता है। २ जो चांदी अथवा

तांबे आदि से निर्मित द्रव्य—सिक्कों आदि के द्वारा व्यवहार का प्रवर्तक होता है—वह हिरण्य कहलाता है।

हिरण्यगर्भ — हिरण्यवृष्टिरिष्टाभूद् गर्भस्थेऽपि यतस्त्वयि। हिरण्यगर्भ इत्युच्चैर्गीर्वाणैर्गीयसे ततः ॥ (ह. पु. ८–२०६)।

जब भगवान् ऋषभदेव गर्भ में स्थित हुए तभी से अभीष्ट सुवर्ण रत्नादि की वर्षा हुई, इसीलिए इन्द्रों ने उनकी स्तुति करते हुए उन्हें 'हिरण्यगर्भ' इस सार्थक नाम से सम्बोधित किया।

हिंसक—देखो हिंसा। १. रत्तो वा दुट्ठो वा मूढो वा जं पयुंजदि पओगं। हिंसा वि तत्थ जायदि तह्मा सो हिंसगो होइ ॥ ××× हिंसगो इदरो (पमत्तो) ॥ (भ. आ. विजयो. ८०१)। २. जो य पमत्तो पुरिसो तस्स य जोगं पडुच्च जे सत्ता। वावज्जंते नियमा तेसिं सो हिंसओ होइ। जे वि न वावज्जंती नियमा तेसिं पि हिंसओ सो उ। सावज्जो उ पओगेण सव्वभावओ सो जम्हा ॥ (ओघनि. ७५२–५३)। ३. पमत्तो हिंसकः ×××। (सा. ध. ४–२२)। ४. स्यात्तदव्यपरोपेऽपि हिंस्रो रागादिसंश्रितः। (अन. ध. ४–२३)।

१ राग से युक्त, द्वेष से युक्त अथवा मोह से युक्त प्राणी जो प्रयोग करता है उसमें हिंसा होती है, इसीलिए रक्त (रागी), द्विष्ट (द्वेषी) और मूढ (मोही) जीव हिंसक होता है। २ प्रमाद युक्त पुरुष के कायादि योग के आश्रय से चूंकि जीव नियम से मरण को प्राप्त होते हैं, इसीलिए वह उनका हिंसक होता है। यदि जीव नहीं भी मरते हैं तो भी वह पापयुक्त उपयोग के रहने से उनका नियम से हिंसक होता है।

हिंसा—१.अपयत्ता या चरिया सयणासण-ठाण-चंकमादीसु। समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संततत्ति मदा ॥ मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा। (प्रव. सा. ३, १६–१७)। २. हिंसा पुण जीववहो ×××। (पउमच. २६–३५)। ३. हिंसादो अविरमणं वहपरिणामो य होइ हिंसा हु। तम्हा पमत्तजोगे पाणव्ववरोवओ णिच्चं। (भ. आ. ८०१)। ४. प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा। (त. सू. ७–१३)। ५. हिंसा णाम पाण-पाणिवियोगो। (धव. पु. १४, पृ. ८९)। ६. इन्द्रियाद्या दश प्राणाः प्राणिभ्योऽत्र प्रमादिना। यथासम्भवमेषां हि हिंसा तु व्यपरोपणम् ॥ (ह. पु. ५८–१२७)। ७. प्राणानां परस्य च द्रव्य-भावप्राणानां वियोजका इति हिंसेत्युच्यते। (भ. आ. विजयो. ८०१)। ८. यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्य-भावरूपाणाम्। व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥ (पु. सि. ४३)। ९. द्रव्य-भावस्वभावानां प्राणानां व्यपरोपणम्। प्रमत्तयोगतो यत्स्यात् सा हिंसा सम्प्रकीर्तिता ॥ (त. सा. ४–७४)। १०. अतः श्रमणस्याशुद्धोपयोगाविनाभाविनी शयनासन-स्थान-चङ्क्रमणादिष्वप्रयता या चर्या सा खलु तस्य सर्वकालमेव संतानवाहिनी छेदानर्थान्तरभूता हिंसैव। (प्रव. सा. अमृत. वृ. ३–१६)। ११. ××× अपि त्विन्द्रियादिव्यापत्त्या (हिंसोच्यते)। तथा चोक्तम्—पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च उच्छ्वास-निश्वासमथान्यदायुः। प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥ (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ५, ७, पृ. १२२)। १२. एकेन्द्रियादयः प्राणिनः, प्रमत्तपरिणामयोगात् प्राणिप्राणव्यपरोपणं हिंसा। (चा. सा. पृ. ३८)। १३. यत्स्यात्प्रमादयोगेन प्राणिषु प्राणहापनम्। सा हिंसा ××× ॥ (उपासका. ३१८)। १४. तत्पर्यायविनाशो दुःखोत्पत्तिः परश्च संक्लेशः। यः सा हिंसा सद्भिर्वर्जयितव्या प्रयत्नेन ॥ प्राणी प्रमादकलितः प्राणव्यपरोपणं यदाधत्ते। सा हिंसाऽकथि दक्षैर्भव-वृक्षनिषेकजलधारा ॥ (अमित. श्रा. ६, २३, २४)। १५. प्रमादवता योगेन काय-वाङ्मनोव्यापारात्मना यत्प्राणिभ्यः प्राणानामिन्द्रियादीनां प्रच्यावनं सा हिंसा। (न्यायवि. विव. ३–४, पृ. २५६)। १६. प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणलक्षणा हिंसा। (प्रश्नव्या. अभय. वृ. पृ. ३४२)। १७. दुःखमुत्पद्यते जन्तोर्मनः संक्लिश्यतेऽस्यते। तत्पर्यायश्च यस्यां सा हिंसा हेया प्रयत्नतः ॥ (सा. ध. ४–१३)। १८. सा हिंसा व्यपरोप्यन्ते यत् त्रस-स्थावराङ्गिनाम्। प्रमत्तयोगतः प्राणा द्रव्य-भावस्वभावकाः ॥ हिंसा रागाद्युद्भूतिः ××× ॥ (अन. ध. ४–२२ व २६)। १९. यतः प्राणमयो जीवः प्रमादात्प्राणनाशनम्। हिंसा तस्यां महद्दुःखं तस्य तद्वर्जनं ततः ॥ (धर्मसं. श्रा. ६–९)। २०. हिंसनं हिंसा प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणम्। (त. वृत्ति श्रुत.

७–१); ये प्राणिनां दश प्राणास्तेषां यथासंभवं व्यपरोपणं वियोगकरणं चिन्तनं व्यपरोपणाभिमुख्यं वा हिंसेत्युच्यते । (त. वृत्ति श्रुत. ७–१३) । २१. हिंसा प्रमत्तयोगाद्धि यत् प्राणव्यपरोपणम् । लक्षणाल्लक्षिता सूत्रे लक्षशः पूर्वसूरिभिः ॥ (लाटी-सं. ५–६०) । २२. प्राणच्छेदो हि सावद्यं सैव हिंसा प्रकीर्तिता ॥ (पंचाध्या. २–७४६); हिंसा स्यात् संविदादीनां धर्माणां हिंसनाच्चितः ॥ अर्थाद् रागादयो हिंसा × × × । (पंचाध्या. २, ७५३, ७५४) । २३. पञ्चस्थावरजीवानां षष्ठस्यापि त्रसस्य च । प्राणापरोपणं हिंसा षोढा सा चेति संमता ॥ (जम्बू. च. १३–११६) ।

१ सोने, बैठने, खड़े होने और गमन करने आदि में जो साधु की प्रयत्न से रहित—असावधानी-पूर्वक—सदा प्रवृत्ति होती है उसे हिंसा माना गया है। कारण यह कि चाहे जीव मरे अथवा जीवित रहे, किन्तु अयत्नपूर्वक आचरण करने वाले के हिंसा निश्चित हुआ करती है। २ जीववध का नाम हिंसा है। ३ हिंसा से विरत न होना तथा वध का अभिप्राय रखना, इसे हिंसा कहा जाता हैं। ६, ११ प्रमाद के वश प्राणी के इन्द्रिय आदि दस प्राणों के वियोग करने को हिंसा कहते हैं। ८ कषाय के योग से जो द्रव्यरूप व भावरूप प्राणों का विनाश होता है, इसे निश्चित हिंसा समझना चाहिए।

हिंसादान—देखो हिंस्रप्रदान। १. परशु-कृपाण-खनित्र-ज्वलनायुध-शृंगिशृंखलादीनाम् । वध-हेतूनां दानं हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः ॥ (रत्नक. ३–३१) । २. विष-कण्टक-शस्त्राग्नि-रज्जु-कशा-दण्डादिहिंसोपकरणप्रदानं हिंसाप्रदानम् । (स. सि. ७–२१; त. वा. ७, २१, २१) । ३. विष-कण्टक-शस्त्राग्नि-रज्जु-दण्ड-कषादिनः । दानं हिंसाप्रदानं हि हिंसोपकरणस्य वै । (ह. पु. ५८–१५१) । ४. विष-शस्त्रादिप्रदानलक्षणं हिंसाप्रदानम् । (त. श्लो. ७–२१) । ५. असि-धेनु-विष-हुताशन-लाङ्गल-करवाल-कार्मुकादीनाम् । वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात् ॥ (पु. सि. १४४) । ६. विष-शस्त्राग्नि-रज्जु - कशा - दण्डादिहिंसोपकरणप्रदानं हिंसाप्रदानम् । (चा. सा. पृ. १०) । ७. मज्जार-पहुदिधरणं आउहलोहादिविक्कणं जं च । लक्खा-खलादिगहणं अणत्थदंडो हवे तुरिओ ॥ (कार्तिके. ३४७) । ८. हिंसोपकारिणां शस्त्रादीनां दानमिति तृतीयः (अनर्थदण्डः) । (योगशा. स्वो. विव. ३–७३) । ९. हिंसादानं विषास्त्रादिहिंसाङ्ग-स्पर्शनं त्यजेत् । पाकाद्यर्थं च नाग्न्यादि दाक्षिण्या-विषयेऽर्पयेत् ॥ (सा. ध. ५–८) । १०. शस्त्र-पाश-विशालाक्षीनीलीलोहमनःशिला । नर्माद्यं नविष-क्ष्माद्या दानं हिंसाप्रदानकम् । (धर्मसं. श्रा. ७-११)। ११. परप्राणिघातहेतूनां शुनक-मार्जार-सर्प-श्येना-दीनां विष-कुठार-खड्ग-खनित्र-ज्वलन-रज्ज्वादि-बन्धन-शृंखलादीनां हिंसोपकरणानां यो विक्रयः क्रियते व्यवहारश्च क्रियते स्वयं वा संग्रहो विधीयते तत् हिंसाप्रदानमुच्यते । (त. वृत्ति श्रुत. २१) ।

१ फरसा, तलवार, गेंती कुदाली आदि खोदने के उपकरण, आग, अस्त्र-शस्त्रादि, रस्सी, चाबुक और दण्ड (लाठी) इत्यादि जीवहिंसा के कारणभूत उपकरणों को दूसरों के लिए देना, इसे हिंसादान कहा जाता है।

हिंसानन्दरौद्रध्यान—देखो हिंसानुबन्धी । १. हिंसायां रंजनं तीव्रं हिंसानन्दं तु नन्दितम् ॥ (ह. पु. ५६–२२) । २. वध-बन्धाभिसन्धानमङ्गच्छेदोप-तापने । दण्डपारुष्यमित्यादि हिंसानन्दः स्मृतो बुधैः ॥ (म. पु. २१–४५) । ३. हते निष्पीडिते ध्वस्ते जन्तुजाते कदर्थिते । स्वेन चान्येन यो हर्षस्त-द्धिसारौद्रमुच्यते ॥ (ज्ञाना. २६–४, पृ. २६२) । ४. षड्विधे जीवमारणारम्भे कृताभिप्रायश्चतुर्थं रौद्रम् । (मूला. वृ. ५–१९९) । ५. हिंसानन्दम-सातकारणगणैर्हिंसारुचिर्देहिनाम् । भेदच्छेद-विदा-रणासुहरणैरन्यैश्च तैर्दारुणैः । (आचा. सा. १०, २०) । ६. हिंसायां जीववधादौ जीवानां बन्धन-तर्जन-ताडन-पीडन - परदारातिक्रमणादिलक्षणायाम्, परपीडायां संरम्भ-समारम्भारम्भलक्षणायाम्, आन-न्दः हर्षः, तेन युक्तः सहितः परपीडायाम् अत्यर्थं संकल्पाध्यवसानं तीव्रकषायानुरंजनम्, इदं हिंसा-नन्दाख्यं रौद्रध्यानम् । जन्तुपीडने दृष्टे श्रुते स्मृते यो हर्षः हिंसानन्दः परेषां गाधादिचिंतने हिंसानन्दः । (कार्तिके. टी. ४७५) ।

१ हिंसा में अतिशय अनुराग रखना, इसे हिंसा-नन्दरौद्रध्यान कहा जाता है। २ वध-बन्धन का अभिप्राय रखना, प्राणी के अंगों का छेदन करना,

उन्हें सन्ताप देना और कठोर दण्ड देना, इत्यादि हिंसानन्दरौद्रध्यान के लक्षण हैं।

हिंसानुबन्धी—देखो हिंसानन्दरौद्रध्यान। हिंसा सत्त्वानां वध-बन्धनादिभिः प्रकारैः पीडाम् अनुबध्नाति सततप्रवृत्तं करोतीत्येवशीलं यत्प्रणिधानं हिंसानुबन्धो वा यत्रास्ति तद्धिंसानुबन्धि रौद्रध्यानमिति। (स्थाना. अभय. वृ. २४७)।

वध-बन्धन आदि विविध उपायों से प्राणियों को पीडा पहुंचाने रूप हिंसा में स्वभावतः निरन्तर प्रवृत्त रहना, इसे हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान कहते हैं। अथवा जहां भी हिंसा का सम्बन्ध रहता है उसे हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान कहा जाता है।

हिंसाप्रदान—देखो हिंसादान।

हिंसोपकारिदान—देखो हिंसादान।

हिंस्रप्रदान—हिंस्रस्य खड्गादेः प्रदानम् अन्यस्यार्पणं निष्प्रयोजनमेवेति हिंस्रप्रदानम्। (औपपा. अभय. वृ. ४०, पृ. १०१)।

दूसरे के लिए निष्प्रयोजन हिंसाजनक खड्ग आदि का देना, इसे हिंस्रप्रदान अनर्थदण्ड कहा जाता है।

हीनदोष—१. ग्रन्थार्थ-काल-प्रमाणरहितां वन्दनां यः करोति तस्य हीनदोषः। (मूला. वसु. वृ. ७-१०६)। २. हीनं न्यूनाधिकं ××× ॥ (अन. ध. ८-१०६)।

१ ग्रन्थ, अर्थ और काल प्रमाण से रहित वन्दना के करने पर हीन दोष होता है। यह वन्दना के ३२ दोषों के अन्तर्गत है।

हीनाधिकमानोन्मान—१. प्रस्थादि मानम्, तुलाद्युन्मानम्, एतेन न्यूनेनान्यस्मै देयमधिकेनात्मनो ग्राह्यमित्येवमादिकूटप्रयोगो हीनाधिकमानोन्मानम्। (स. सि. ७-२७; त. वा. ७, २७, ४; चा. सा. पृ. ६)। २. कूटप्रस्थ-तुलादिभिः क्रय-विक्रयप्रयोगो हीनाधिकमानोन्मानः। (त. वा. ७, २७, ४)। ३. न्यूनेन मानादिनाऽन्यस्मै ददाति, अधिकेनात्मनो गृह्णातीत्येवमादिकूटप्रयोगो हीनाधिकमानोन्मानमित्यर्थः। (सा. ध. स्वो. टी. ४-५०)। ४. मानं हि प्रस्थादि, उन्मानं तुलादि, तच्च हीनाधिकं हीनेनान्यस्मै ददाति अधिकेन स्वयं गृह्णातीति। (रत्नक. टी. ३-१२)। ५. प्रस्थः चतुसेरमानम्, तत् काष्ठादिना घटितं मानमुच्यते, उन्मानं तु तुलामानम्, मानं चोन्मानं च मानोन्मानम् एताभ्यां न्यूनाभ्यां ददाति अधिकाभ्यां गृह्णाति हीनाधिकमानोन्मानमुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७-२७)। ६. क्रेतुं मानाधिकं मानं विक्रेतुं न्यूनमात्रकम्। हीनाधिकमानोन्माननामातीचारसंज्ञकः ॥ (लाटीसं. ६-५४)।

प्रस्थ (एक धान्य का मापविशेष) आदि मान और तराजू आदि उन्मान कहलाते हैं। हीन मान-उन्मान के आश्रय से दूसरे को देना तथा अधिक मान उन्मान के आश्रय से दूसरे से लेना, इस प्रकार की धोखादेही का नाम हीनाधिकमानोन्मान है। यह अचौर्याणुव्रत का एक अतीचार है।

हीयमान अवधि—१. अपरोऽवधिः परिच्छिन्नोपादानसन्तत्यग्निशिखावत्सम्यग्दर्शनादिगुणहानिसंक्लेशपरिणामवृद्धियोगाद्यत्परिमाण उत्पन्नस्ततो हीयते आ अङ्गुलस्यासंख्येयभागात्। (स. सि. १-२२; त. वा. १, २२, ४)। २. किण्हपक्खचंदमंडलं व जमोहिणाणमुप्पण्णं संतं वड्ढि-अवट्ठाणेहि विणा हायमाणं चेव होदूण गच्छदि जाव णिस्सेसं विणट्ठं ति तं हायमाणं णाम। (धव. पु. १३, पृ. २९३)। ३. हीयमानोऽवधिः शुद्धेर्हीयमानत्वतो मतः। सद्देशावधिरेवात्र हानेः सद्भावसिद्धितः ॥ (त. श्लो. १, २२, १४)। ४. तत्र तथाविधसामग्र्यभावतः पूर्वावस्थातो हानिमुपगच्छन् हीयमानकः। उक्तं च—हीयमाणयं पुव्वावत्थातो अहोहो हस्समाणंति। हीयमानकः पूर्वावस्थातोऽधोधो हानिमुपगच्छन्नभिधीयते। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३१७, पृ ५३८-३९)। ५. यत्कृष्णपक्षचन्द्रमण्डलमिव स्वक्षयपर्यन्तं हीयते तत् हीयमानम्। (गो. जी म. प्र. व जी. प्र. ३७२)। ६. कश्चिदवधिः सम्यग्दर्शनादिगुणहान्याऽऽर्त्त-रौद्रपरिणामवृद्धिसंयोगात् यावत्परिमाण उत्पन्नस्तस्माद् हीयते अंगुलस्यासंख्येयभागो यावत् नियतेन्धनसन्ततिसंलग्न वह्निज्वालावत्। (त. वृत्ति श्रुत. १-२२)।

१ उत्तरोत्तर हानि को प्राप्त होने वाली उपादानसन्तति—इन्धन की परम्परा से—जिस प्रकार अग्नि उत्तरोत्तर हानि को प्राप्त होती है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादि गुणों की हानि और संक्लेश परिणाम की वृद्धि के योग से जो अवधिज्ञान जिस प्रमाण में उत्पन्न हुआ था उससे उत्तरोत्तर हानि को ही प्राप्त होता जाता है वह हीयमान अवधिज्ञान कहलाता है।

हीलितदोष—१. वचनेनाचार्यादीनां परिभवं कृत्वा यः करोति वन्दनां तस्य हीलितदोषः। (मूला. वृ. ७–१०८)। २. हीलितं हे गणिन् वाचक किं भवता वन्दितेनेत्यादिना अवजानतो वन्दनम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०)। ३. ×× × अन्येषामुपहासादि हेलितम्। (अन. ध. ८–१०६)।

१ जो वचन द्वारा आचार्य आदि का तिरस्कार करके वन्दना करता है उसके हीलित नाम का वन्दनादोष होता है। इसे हेलित दोष भी कहा जाता है। २ हे गणिन् वाचक, आपको वन्दना से क्या लाभ है? इस प्रकार से अपमान करते हुए वन्दना करना, यह एक हीलित नाम का वन्दनादोष है।

हुण्डकसंस्थान—१. सर्वाङ्गोपाङ्गानां हुण्डसंस्थितत्वात् हुण्डसंस्थाननाम। (त. वा. ८, ११, ८)। २. विसमपासाणभरियदइओ व्व विस्सदो विसमं हुंडं, हुंडस्स सरीरं हुंडसरीरं, तस्स संठाणमिव संठाणं जस्स तं हुंडसरीरसंठाणं णाम। जस्स कम्मस्सुदएण पुव्वुत्तपंचसंठाणेहिंतो वदिरित्तमण्णसंठाणमुप्पज्जइ एक्कत्तीसभेदभिण्णं तं हुंडसंठाणसण्णिदं होदि त्ति णादव्वं। (धव. पु. ६, पृ. ७२); विषमपाषाणभृतदृतिवत् समन्ततो विषमं हुण्डम्, हुण्डं च तत् शरीरसंस्थानं हुण्डशरीरसंस्थानम्। एतस्य कारणकर्मणोऽप्येषैव संज्ञा। (धव. पु. १३, पृ. ३६९)। ३. हुंडसंस्थानं सर्वशरीरावयवानां बीभत्सता परमाणूनां न्यूनाधिकता सर्वलक्षणासंपूर्णता च। (मूला. वृ. १२–४९)। ४. यत्र तु सर्वेऽप्यवयवाः प्रमाणलक्षणपरिभ्रष्टास्तद् हुण्डसंस्थानम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २६८, पृ. ४१२)। ५. अवच्छिन्नावयवं हुण्डसंस्थानं नाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८–११)।

१ जिसके उदय से शरीर के सब अंग-उपांग विरूप (बेडौल) आकार में अवस्थित होते हैं उसे हुण्डसंस्थान नामकर्म कहते हैं। ४ जहां शरीर के सब ही अवयव प्रमाण लक्षण से रहित होते हैं उसे हुण्डसंस्थान कहते हैं।

हृदयग्राहित्व—हृदयग्राहित्वं दुर्गमस्याप्यर्थस्य परहृदयप्रवेशकरणम्। (रायप. मलय. वृ. पृ. १६)। दुरवबोध भी अर्थ का दूसरे के हृदय में प्रवेश करा देना, इसका नाम हृदयग्राहित्व है। यह ३५ वचनातिशयों में १३वां है।

हेतु—१. साध्यार्थासम्भवाभावनियमनिश्चयैकलक्षणो हेतुः। (प्रमाणसं. स्वो. विव. २१)। २. अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोरेकलक्षणम्। (सिद्धिवि. ५–२३, पृ. ३६१)। ३. हेतुः साध्याविनाभावि लिङ्गम्, अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणोपलक्षितः। (धव. पु. १३, पृ. २८७)। ४. साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः। (परीक्षा. ३–१०)। ५. अन्यथानुपपत्तिनिर्णीतो हेतुः। (सिद्धिवि. वृ. ६–३२, पृ. ४३०)। ६. साध्ये सत्येव भवति साध्याभावे च न भवत्येवं साध्यधर्मान्वय-व्यतिरेकलक्षणो हेतुः। (आव. नि. मलय. वृ. ८६, पृ. १०१)। ७. साध्याविनाभाविसाधनवचनं हेतुः। यथा—धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेः इति, तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेः इति वा। (न्यायदी. पृ. ७६)।

१ साध्य अर्थ की असम्भावना में जिसके अभाव के नियम का निश्चय होता है वह हेतु कहलाता है। ६ जो साध्य के रहते हुए ही होता है और उसके अभाव में नहीं होता है, इस प्रकार जिसका साध्य के साथ अन्वय-व्यतिरेक रहता है उसे हेतु कहा जाता है।

हेतुवाद—हिनोति गमयति परिच्छिनत्त्यर्थमात्मानं चेति प्रमाणपञ्चकं वा हेतुः, स उच्यते कथ्यते अनेनेति हेतुवादः श्रुतज्ञानम्। (धव. पु. १३, पृ. २८७)।

जो अर्थ और आत्मा का ज्ञान कराता है उसे हेतु कहा जाता है, अथवा प्रत्यक्षादि पांच प्रमाणों को हेतु समझना चाहिए। इस हेतु का जिसके द्वारा निरूपण किया जाता है उसका नाम हेतुवाद है जो श्रुतज्ञान स्वरूप है।

हेतुविचय—१. तर्कानुसारिणः पुंसः स्याद्वादप्रक्रियाश्रयात्। सन्मार्गाश्रयणध्यानं यद्धेतुविचयं तु तत्॥ (ह. पु. ५६–५०)। २. हेतुविचयमागमविप्रतिपत्तौ नय(काति. 'नैगमादिनय') विशेषगुण-प्रधानभावोपनयदुर्धर्षस्याद्वादप्रति (काति. 'स्याद्वादशक्तिप्रति') क्रियाऽवलम्बिनस्तर्कानुसारिरुचेः पुरुषस्य स्वसमयगुण-परसमयदोषविशेषपरि-

च्छेदेन यत्र गुणप्रकर्षस्तत्राभिनिवेशः श्रेयानिति स्याद्वादतीर्थकरप्रवचने पूर्वापराविरोधहेतुपरिग्रहण-सामर्थ्येन समवस्थानगुणानुचिन्तनं हेतुविचयं दशमं धर्म्यम् । (चा. सा. पृ. ९०; कार्तिके. टी. ४८२)।

१ तर्क (ऊहापोह) का आश्रय लेने वाले पुरुष के द्वारा स्याद्वादप्रक्रिया—अनेकान्तवाद के आश्रय से—समीचीन मार्ग (मोक्षमार्ग) के आश्रयण का जो विचार किया जाता है वह हेतु-विचय धर्मध्यान कहलाता है। यह आध्यात्मिक धर्मध्यान के अपायविचयादि दस भेदों में अन्तिम है।

हेत्वाभास—१. अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये विडम्बिताः ।। हेतुत्वेन परैस्तेषां हेत्वाभासत्वमीक्ष्यते । (न्यायवि. २, १७४–७५, पृ. २१०)। २. हेतु-लक्षणरहिता हेतुवदवभासमाना हेत्वाभासाः । (न्यायदी. पृ. ९९–१००)।

१ जो अन्यथानुपपन्नत्व (अविनाभाव) से रहित होते हुए दूसरे एकान्तवादियों के द्वारा हेतुरूप से कल्पित हैं वे हेत्वाभास कहलाते हैं। २ जिनमें हेतु का लक्षण तो घटित नहीं होता है, पर हेतु के समान प्रतीत होते हैं उन्हें हेत्वाभास कहा जाता है।

हेलितदोष—देखो हीलितदोष।

होता—अध्यात्माग्नौ दया-मन्त्रैः सम्यक्कर्मसमिच्चयम् । यो जुहोति स होता स्यान्न बाह्याग्नि-मेधकः ।। (उपासका. ८८१)।

जो अध्यात्मरूप अग्नि में दयारूप मन्त्रों के द्वारा भलीभांति कर्मरूप हव्य सामग्री का होम करता है वह वास्तव में होता है, बाह्य अग्नि में समिधा का होम करने वाला यथार्थ में होता नहीं है।

ह्रस्व—एकमात्रो ह्रस्वः। (धव. पु. १३, पृ. २४०)।

एक मात्रा वाले वर्ण को ह्रस्व कहा जाता है।

इस ग्रन्थ के संयोजक

स्व० आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तार

सन् १९३८ में किये गये संकल्प के फल स्वरूप आज ४० वर्ष पश्चात् यह ग्रन्थ पूर्ण होकर पाठकों के सम्मुख है। तत्त्व-जिज्ञासुओं और अनुसन्धान करने वालों के लिए यह अनमोल निधि स्व० मुख्तार साहब की एक बहुत उपयुक्त स्मारिका है।

दिगम्बर व श्वेताम्बर सभी जैन सम्प्रदायों के ४०० से अधिक प्राकृत व संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन करके इस प्रामाणिक पारिभाषिक शब्दकोश की रचना उस महान् व्यक्तित्व की लगन और निष्ठा का ही फल है, जिसके बिना इस अभीष्ट लक्ष्य का पूर्ण होना अशक्य था।

१२२०, जैन-लक्षणावली

स्व० मुख्तार साहब का जन्म २० दिसम्बर १८७७ को सरसावा, जिला सहारनपुर, उत्तर प्रदेश में हुआ था। सन् १९३६ में उन्होंने "वीर सेवा मन्दिर" की स्थापना की। इस संस्था के माध्यम से स्व० मुख्तार साहब ने तथा अन्य समकालीन विद्वानों ने जैन वाङ्मय के अनेक दुर्लभ, अपरिचित और अप्रकाशित ग्रन्थों की खोज की तथा प्राचीन पाण्डुलिपियों के सम्यक् परीक्षण-पर्यालोचन और सम्पादन की नींव डाली।

मुख्तार साहब ने "अनेकान्त" नाम से जिस शोध पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया था वह 'वीर सेवा मन्दिर' के मुख-पत्र के रूप में अब भी चल रहा है। अनुसन्धान के क्षेत्र में इस पत्र ने जो शोध-सामग्री विद्वत् समाज के सामने प्रस्तुत की, उससे अनेक नये तथ्य उद्घाटित हुए और अनुसन्धान कार्य को नई दिशा-दृष्टि प्राप्त हुई।

मुख्तार साहब का सम्पूर्ण जीवन जैन-साहित्य और समाज के लिए समर्पित हुआ। मुख्तार का कार्य तो उन्होंने केवल एक अल्प काल के लिए ही किया। जैन समाज के उस पुनर्जागरण के युग में मुख्तार साहब ने समाज सुधार का बीड़ा उठाया और सामाजिक क्रान्ति को सुदृढ़ शास्त्रीय आधार दिए।

वर्षों तक मुख्तार साहब ने "जैन गजट" तथा "जैन हितैषी" के सम्पादन का कार्य किया। उनके द्वारा रचित 'मेरी भावना' तो एक ऐसी अभूतपूर्व रचना है जो जैन समाज ने स्थायी रूप से अपना ली है और उसके द्वारा आचार्य सदा-सदा जन-जन के मानस पर स्थापित रहेंगे।

ऐतिहासिक अनुसन्धान, आचार्यों का समय-निर्णय, प्राचीन पाण्डुलिपियों का सम्यक् परीक्षण तथा विश्लेषण करने की उनकी अद्भुत क्षमता थी। उनके प्रमाण अकाट्य होते थे। उनकी साहित्य सेवा अर्धशताब्दी से भी अधिक के दीर्घकाल में व्याप्त है। वे जीवन के अन्तिम क्षण तक अध्ययन और अनुसन्धान के कार्य में लगे रहे। अन्त में वह अनवरत स्वाध्यायी, प्रतिभा-सम्पन्न, बहुश्रुत, विद्वान २२ दिसम्बर, १९६८ को स्वर्गारोही हुए।

१-१-१९७९